अयोध्याकाण्ड (पूर्वार्द्ध)

विषय	पृष्ठ-संख्या
मङ्गलाचरण	८८७—८९०
यौवराज्याभिषेक	८९०—९१५
राज-रस-भंग	९१५—९९६
पुरवासी-विरह-विषाद	९९७–१०४५
श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद	१०४५–१०५२
विपिन-गवन	१०५२–१११३
श्रीलक्ष्मण-गीता	१०६१–१११२
सुरसरि उतरि निवास प्रयागा	१११३–११२३
वाल्मीकि-प्रभु-मिलन	११२३–११६२
मुख्य वाल्मीकि प्रभु-मिलन	११४१–११५७
चौदह स्थान-प्रदर्शन	११५७–११६२
चित्रकूट जिमि बस भगवाना	११६२–११७६
सचिवागवन नगर नृप मरना ...	११७६–११९६

अयोध्याकाण्ड (उत्तरार्द्ध)

विषय	पृष्ठ-संख्या
भरतागवन-प्रेम-बहु	११९६–१२१६
करि-नृप क्रिया	१२१६–१२१८
... संग पुरवासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी। ...	१२१८–१३७२
पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये। ...	१३७२–१३७९
चित्रकूट-प्रथम दरबार (सार्वजनिक सभा) ...	१३७९–१४०३
भरत-भाषण [१] ...	१२८५–१३३८
भरत-भाषण [२] ...	१३३८–१४०३
श्रीजनक-आगमन	१४०३–१४४४
श्रीजनक-भरत-गोष्ठी	१४४४–१४५२

विषय	पृष्ठ-संख्या
चित्रकूट द्वितीय दरबार (सार्वजनिक सभा) ...	१४५२–१४७८
श्रीरामजी का भाषण ...	१४६१–१४७६
भरतजी का तीर्थ-जल-स्थापन तथा चित्रकूट-भ्रमण ...	१४७८–१४८२
चित्रकूट तृतीय दरबार (सार्वजनिक सभा) ...	१४८२–१४९९
भरतजी का अयोध्या लौटना ...	[illegible]–१४९५
भरतजी के द्वारा पादुका की स्थापना ...	[illegible]
भरत-रहनि	१४९९–१५०६

अरण्यकाण्ड

विषय	पृष्ठ-संख्या
मङ्गलाचरण	१५०७–१५११
बन बसि कीन्हे चरित अपारा	१५११–१५१३
सुरपति-सुत-करनी	१५१४–१५२२
प्रभु अरु अत्रि भेंट	१५२२–१५४०
बिराध-बध	१५४०–१५४२
सरभंग-देह-त्याग	१५४२–१५४६
बरनि सुतीछन-प्रीति पुनि	१५४६–१५६०
प्रभु-अगस्ति-सत्संग	१५६०–१५६७
दंडक-बन-पावनता, गीध-मैत्री एवं पंचवटी-प्रसंग ..	१५६७–१५६९
पुनि लछिमन उपदेश अनूपा (श्रीराम-गीता) ...	१५६९–१५८३
सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा	१५८३–१५८६
खर-दूषन-बध	१५८६–१६०२
जिमि सब मरम दसानन जाना	१६०२–१६०९
पुनि माया सीता कर हरना	१६०९–१६२८
सीता-हरण के हेतु	१६२८–१६३६
श्रीरघुबीर-बिरह-वर्णन	१६३७–१६४१
पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्ही	१६४१–१६५०
कबंध-बध	१६५०–१६५३
सबरी गति दीन्ही ... ... -	१६५३–१६६३
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा । जेहि बिधि गये सरोबर-तीरा ॥	१६६३–१६७४
प्रभु-नारद-संवाद	१६७४–१६९०

किष्किंधाकाण्ड

विषय	पृष्ठ संख्या
मङ्गलाचरण	१६९१–१६९९
मारुति-मिलन	१६९९–१७०३
श्रीहनुमान्‌जी की कथा	१७०४–१७०९
सुग्रीव-मिताई	१७०९–१७१५
बालि और सुग्रीव	१७१५
मायावी और दुंदुभी	१७१५–१७१८
बालि-प्रान-भंग	१७१८–१७४०
मानस में पञ्चसंस्कार	१७४०–१७४४
सुग्रीव-राज्याभिषेक	१७४५–१७४९
शैल-प्रवर्षण-वास	१७४९–१७५१
बरनत बरषा	१७५१–१७६०
शरद्-वर्णन	१७६०–१७६७
वर्षा और शरद्-ऋतु के वर्णन में विविध विषय ...	१७६७–१७६८
राम-रोष कपित्रास	१७६८–१७७८
जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये	१७७८–१७८६
सीता-खोज सकल दिसि धाये	१७८६
विवर-प्रवेस	१७८७–१७९०
संपाति-मिलाप	१७९०–१७९९
सुनि सब कथा समीर कुमारा	१७९९–१८०६

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय

आ०—अरण्यकांड

उ०—उत्तरकांड

क०—कवितावली रामायण

कि०—किष्किंधाकांड

गी०—गीतावली रामायण

गीता—श्रीमद्भगवद्गीता

चौ०—चौपाई

तै०+तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्

दो०—दोहा

बा०—बालकांड

ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)

बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्

का०, कठ०—कठोपनिषत्

छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्

मु०, मुंड०—मुण्डकोपनिषत्

भाग०; श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत

वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्

कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्

मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण

लं०—लङ्काकांड

सुं०—सुन्दरकांड

सो०—सोरठा

मनु०—मनुस्मृति

स०—सर्ग

वि०—विशेष
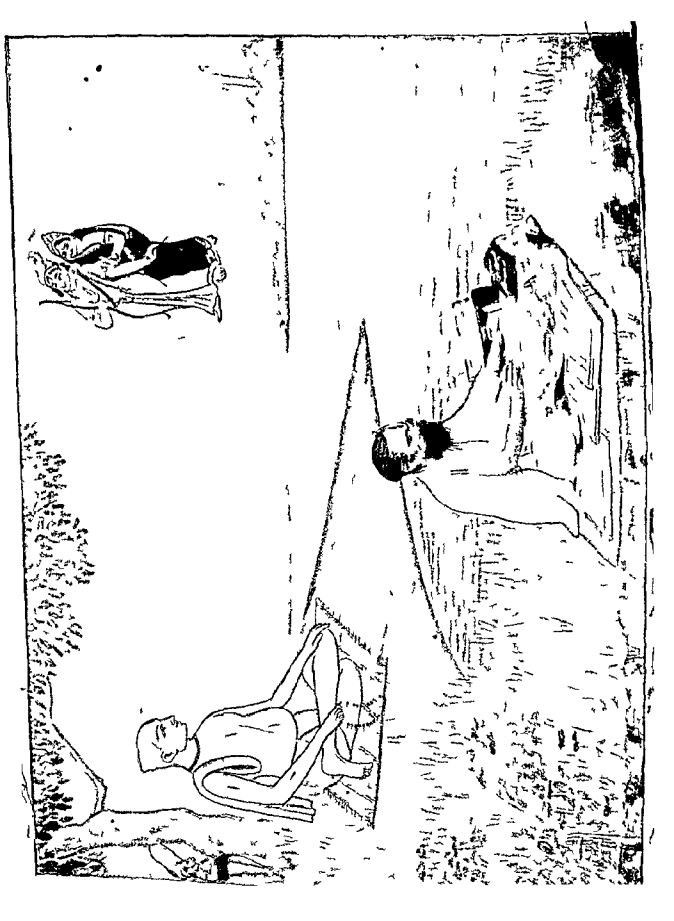
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड)

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥१॥

शब्दार्थ—शर्वः—शृणाति सर्वाः प्रजाः संहरति प्रलयं संहारयति वा भक्तानां पापानि अर्थात् जो प्रलय में सम्पूर्ण प्रजा का संहार करता है, अथवा भक्तों के पापों का संहार करता है। सर्वगतः=व्यापक, जो सबमें प्राप्त हो। निभः=तुल्य, समान वा प्रकाश प्रभा।

अन्वय—यस्याङ्के भूधरसुता, मस्तके देवापगा, भाले बालविधुः च गले गरल विभाति, यस्योरसि व्यालराट् (शोभते), सः अयं भूतिविभूषण सुरवर· सर्वदा सर्वाधिपः शर्व. सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः सर्वदा माम् पातु ॥

अर्थ—जिनकी बाईं गोद में श्रीपार्वतीजी, मस्तक पर गंगाजी, ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा और कंठ में हलाहल विष सुशोभित है, जिनके वक्षःस्थल पर सर्पराज सोहते हैं, ऐसे वे भस्म-विभूषित देवताओं में श्रेष्ठ, सर्वकाल में सबके स्वामी, सबके संहारकर्त्ता एवं भक्तों के पापों के नाशक, व्यापक, कल्याण-स्वरूप चन्द्रमा के समान कान्तिवाले श्रीशंकरजी सदा मेरी रक्षा करें ॥१॥

विशेष—इस कांड में बहुत-से सम-विषम तथा सुख-दुःखकर प्रसंग स्थान-स्थान पर आवेंगे, जो चित्त को अधीर करनेवाले हैं, जैसे राज्याभिषेक की तैयारी, फिर वनवास, राजा की प्रीति और कैकेयी की कठोरता इत्यादि प्रसंगों में अधीरता हो जाने से ग्रन्थकार को उनकी निर्विघ्न समाप्ति असम्भव-सी जान पड़ी, इनमें सावधानता के लिये शिवजी की वन्दना साभिप्राय विशेषणों से करते हैं। पर्वत जड़ है, उसकी पुत्री को गोद में रक्खा और देवता चेतन हैं, उनकी नदी (गंगाजी) को शिर पर शोभित किया, ये दोनों सम-विषम हैं। जटा-भस्म आदि से विरक्त-वेष सूचित है, साथ ही दो स्त्रियों को गोद में और शिर पर रक्खा है। 'चन्द्रमा' अमृतमय और 'गरल' मृत्युमय है अर्थात् एक शीतल और दूसरा गर्म है। 'विभूति-भूषण' से त्याग 'सुरवर' से ऐश्वर्य, 'सर्वगत' से अगुणत्व और 'शशिनिभ' से सगुणत्व इत्यादि सभी सम विषम साज एक साथ धारण किये हुए शिवजी सावधान रहते हैं। ऐसे समर्थ के मंगलाचरण से ग्रन्थकार अपने में वही शक्ति चाहते हैं; जिससे उक्त सम विषम के वर्णन में सावधानता रहे। 'शंकर' शब्द विशेष्य है, मुख्य नाम है, इसका अर्थ 'कल्याण करनेवाला' है, अर्थात् कवि निर्विघ्न चरित वर्णन में कल्याण मानते हैं।

'भूधरसुता' और 'देवापगा' दोनो शिवजी की शक्तियाँ हैं, यथा—"देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु ! दास तुलसी त्रास हरणि भवभामिनी ।" (वि० १८), यहाँ गंगाजी का प्रसंग है। पार्वतीजी तो प्रसिद्ध ही हैं। इस तरह दोनो शक्तियों के साथ शिवजी की वंदना की गई है। इस श्लोक के आधे में शिवजी के आश्रितों का और आधे में शिवजी का वर्णन है, वैसे ही मानस के इस कांड के आधे में (१५६ दोहों में) श्रीराम-यश और आधे में (१५६ दोहों में) श्रीभरतजी के चरित हैं। इनके बीच के १४ दोहों में 'पितु क्रिया प्रसंग' है। इसके अनुसार ही मंगलाचरण है।

यह श्लोक 'शार्दूल-विक्रीडित' छन्द का है। इसके लक्षण बा० मं० श्लोक ६ में देखिये। इससे जनाया कि मेरी रक्षा में शिवजी श्रीरामजी की तरह रक्षा करने में समर्थ हैं। 'वामाङ्के' की जगह 'यस्यांके' भी पाठान्तर मिलता है, पर इसमें पुनरुक्ति संभावित होती है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुज-श्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

अन्वय—या अभिषेकतः प्रसन्नतां न गता, तथा वनवास-दुःखतः न मम्ले (मम्लौ), सा श्रीरघुनन्दनस्य मुखाम्बुजश्रीः मे सदा मंजुलमंगलप्रदा अस्तु ॥

अर्थ—जो राज्याभिषेक (की खुशी) से न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई, और न वनवास के दुःख से मलिन ही हुई; वही रघुनन्दन श्रीरामजी के मुख-कमल की श्री (कान्ति) मुझको सदा सुन्दर मंगलों को देनेवाली हो।

विशेष—'यह श्लोक 'वंशस्थवृत्त' का है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ अक्षर होते हैं, प्रत्येक चरण में क्रमशः 'ज, त, ज, र' गण रहते हैं। ग्रन्थकार प्रथम मानस के आचार्य-रूप शिवजी की वन्दना करके इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीरामजी का वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण करते हैं।

इस कांड में राज्याभिषेक और वनवास दोनों का वर्णन है, इनमें पुरवासियों ने प्रथम अत्यन्त सुख और पीछे अत्यन्त दुःख माना, पर श्रीरामजी की ही मुख-कान्ति एकरस रही, अतः वही ध्यान ग्रन्थकार चाहते हैं कि इन दोनों सम-विषम के वर्णन में मुझे इस ध्यान से दृढ़ता रहेगी और उभय लीलाओं के वर्णन में उदासीनता न होगी, यह सामर्थ्य मुझे यथार्थ-रूप में उन्हीं से मिलेगा।

'मम्ले' की जगह 'मम्लौ' भी पाठांतर है, 'म्लै' धातु का प्रयोग प्रचलित व्याकरण में प्रायः परस्मैपदी में ही होता है, तदनुसार 'मम्लौ' चाहिये, इसीसे सम्भवतः पाठांतर किया गया हो। श्रीगोस्वामीजी ऋषि हैं, महर्षि वाल्मीकिजी के अवतार हैं, वाल्मीकिजी के बहुत-से आर्ष प्रयोगों की तरह इनका भी यह आर्ष प्रयोग है। इन्होंने इस धातु को आत्मनेपदी मानकर 'मम्ले' पाठ रक्खा है। अथवा यह भी हो सकता है कि लेखकों की भूल से 'मम्लौ' का 'मम्ले' हो गया हो।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

अर्थ—नील-कमल के समान श्याम और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनके बायें भाग में विराजमान हैं और दोनो हाथों में अमोघ बाण और सुन्दर धनुष हैं; उन रघुकुल के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

विशेष—यह श्लोक 'उपजाति वृत्त' का है, इसके चारो चरण ११-११ वर्णों के होते हैं। इसमें शक्ति-सहित श्रीरामजी की वन्दना है, इसके प्रत्येक चरण में एक-एक लीला कहकर संक्षेप में सब लीलाएँ कह दी हैं।

'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्ग'—इसमें बाल-रूप वर्णित है, क्योंकि कोमल अंग जन्म-समय पर रहता है, साथ ही बाल-लीला भी सूचित की।

'सीतासमारोपितवामभागम्' इसमें श्रीसीताजी का वाम भाग में विराजमान होना कहकर विवाह-लीला भी जना दी। यहाँ तक बाल-कांड हुआ।

'पाणौ महासायकचारुचापं'—इसमें वीर-रूप के संबंध की वन-लीला आ गई। अतः, अयोध्या-कांड से लंका-कांड तक के चरित्र आ गये।

'नमामि रामं रघुवंशनाथम्'—इसमें राज्यासीन-रूप के वर्णन से उत्तर-कांड के भी चरित आ गये। इस तरह सम्पूर्ण चरितों के साथ ध्यान है।

इस कांड के मंगलाचरण में तीन श्लोक दिये गये हैं, क्योंकि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये तीनों साथ-साथ वन को गये और बराबर साथ रहे हैं। आगे श्रीसीताजी का हरण होने पर आरण्य और किष्किंधा में दो-दो ही श्लोक रहेंगे। फिर सुन्दर से तीन देंगे, क्योंकि उसमें ही श्रीजानकी का पता लग जायगा। यह ग्रंथकार का उपासानात्मक गुह्य रहस्य है।

दोहा—श्रीगुरु - चरन - सरोजरज, निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर-बिमल-जस, जो दायक फल चारि॥

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की रज से अपने मन-रूपी दर्पण को स्वच्छ करके मैं रघुवर का निर्मल यश बर्णन करता हूँ, जो चारो (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) फलों का देनेवाला है॥

विशेष—(१) गुरुपद-रज की वंदना एक बार बाल-कांड के प्रारंभ में हो चुकी है, इस कांड में फेर की गई, आगे और किसी कांड में नहीं है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि इस कांड के 'का सुनाइ बिधि काह सुनावा।' आदि के बिषम-विषम चरित-चित्रण पर ग्रन्थकार के हृदय में बार-बार खलबली होती है कि कैसे पार लगेगा; इसलिये प्रथम श्रीशिवजी की वन्दना की, फिर श्रीरामजी की मुखश्री का उदयकर उनकी सशक्ति वन्दना की, इतने पर आगे के श्रीभरत-चरित की भी अगमता दृष्टिगोचर हुई। यथा—"पुर नर भरत प्रीति मैं गाई।" (अ० दो० १); अर्थात् इस कांड के पूर्वार्द्ध में पुरजनों के प्रेम के साथ श्रीरामचरित है और उत्तरार्द्ध में श्रीभरतचरित है; अतः, सम्पूर्ण कांड में भागवतचरित का ही प्राधान्य है। भागवतचरित अगम है और श्रीभरतजी भागवत-शिरोमणि हैं, इनका चरित तो बहुत ही अगम है, यथा—"धरमराज नय ब्रह्म बिचारू।..." से "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (अ० दो० २८७-८८) तक अर्थात् जब श्रीरामजी भी नहीं वर्णन कर सकते, तब बेचारे कवि का साहस कैसे पड़े? इसलिये फिर से गुरु-चरण-रज की शरण ली, क्योंकि "जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥" (अ० दो० २); इस बल से श्रीभरतचरित-वर्णन का भय भी वश में होगा; अर्थात् प्राप्त होगा। हुआ भी, क्योंकि इस कांड की रचना का सा सौंदर्य अन्य कांडों में नहीं आया। फल-श्रुति देखिये—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम - पद - प्रेम, अवसि होइ

भव रस विरति ॥" अर्थात्—'सीय-राम-पद-प्रेम' साथ ही 'भव-रस-विरति' भी होगी, यह भी 'अवसि हो' अर्थात् अवश्य होगी ऐसा महत्त्व अन्य कांडों का नहीं है।

(२) 'रघुबर बिमल-जस'—यहाँ रघुबर शब्द श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनों के लिये है क्योंकि उत्तरार्द्ध के चरित का भी मंगलाचरण तो यहाँ ही होना चाहिये। 'रघुबर' शब्द चारों भाइयों का भी वाचक है, यथा—"नामकरन रघुबरन्हि के नृप सुदिन सोधाये।" (गी० बा० ६); इसलिये यह व्यापक शब्द दिया गया है। श्रीरामचरित-वर्णन के लिये एकबार श्रीगुरु पद-रज से मन को निर्मल कर चुके हैं, यथा—"जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।···तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम चरित भवमोचन॥" (बा० दो० १); अब यहाँ श्रीरामयश की अपेक्षा गुरुतर श्रीभरतचरित के लिये 'मन मुकुर' को और भी साफ किया कि जिससे उसकी सूझ हो। भागवत सेवन का फल तत्काल ही प्राप्त होता है। इसलिये तुरत ही उसका फल देना भी कहा गया है—'जो दायक फल चारि'। यह भी भाव है कि यह फल का देना पूर्वार्द्ध के श्रीरामचरित परक है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के भरत-चरित की फल-श्रुति अंत में कही गई है—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम ' "—पूर्वार्द्ध की फल-श्रुति आदि में ही कह दी गई।

'श्री गुरु'—'श्री' विशेषण गुरु-वंदना के प्रकरण में पूर्व भी दिया था—"श्रीगुरु पद नख" (बा० दो०१) वैसे यहाँ भी है। दूसरे यह 'श्री' का देनेवाला है—'सकल विभव बस करहीं' ऊपर कहा गया।

श्रीगोस्वामीजी के चरित के अनुसार ग्रंथकार के इस रामचरित-मानस के प्रथमाचार्य श्रीशिवजी हैं, दूसरे श्रीस्वामी नरहरिदासजी हैं, यहाँ प्रथम श्लोक में श्रीशिवजी की वंदना है, यथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।" (बा० मं०); और यहाँ भाषा के प्रारंभ में श्रीस्वामी नरहरिदासजी की वंदना है।

यौवराज्याभिषेक-प्रकरण

जब ते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥१॥

शब्दार्थ—मंगल = बाह्य आनन्द सम्बन्धी उत्सव। मोद = मानसिक आनन्द। बधाये = मंगल गान।

अर्थ—जबसे श्रीरामजी ब्याह करके घर आये, तबसे नित्य नये मंगल, आनन्द और उत्सव होते हैं॥१॥

विशेष (१) मानस के रूपक में कहा गया है—"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।" (बा० दो० ३६) तदनुसार घाट-रचना में नीचे की सीढ़ी को दबाकर दूसरी सीढ़ी बनाई जाती है। यहाँ प्रथम सोपान के चरित-प्रसंग से मिलाकर दूसरे के चरित्र की रचना, दूसरी सीढ़ी का बनाना है। बालकांड में—"आये ब्याहि राम घर जबते" (दो० ३६०); पर चरित-प्रसंग छूटा था, वहीं से और उन्हीं शब्दों को लेकर यहाँ से प्रारम्भ किया गया है—"जबते राम ब्याहि घर आय।" अतः, वहाँ से सम्बन्ध मिलाया और बीच का वर्णित-प्रसंग दबाव में चला गया।

इस कांड में प्रायः आठ-आठ चौपाइयों पर दोहे दिये गये हैं और २४-२४ दोहों के पीछे पचीसवें पर हरिगीतिका छंद और एक सोरठा दिया है। केवल एक स्थल पर अर्थात् १२५ वें दोहे को छोड़कर १२६ वें पर छंद और सोरठा दिया गया है, वह क्रम-भंग भी साभिप्राय है। वहाँ श्रीरामजी का श्रीवाल्मीकिजी से संवाद है, यथा—"तात बचन पुनि मात हित···।" यह श्रीरामजी का वचन है और "श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह···" यह श्रीवाल्मीकिजी का वचन है, केवल इसी छन्द में 'तुलसी' शब्द संभोग-सूचक नहीं है

विशेष—(१) 'भुवन चारि दस'''—राजा दशरथ परम सुकृती हैं, इनके पुण्याचरण एवं शासन से सारी प्रजा धर्माचरण में निरत है, इसी से सर्वत्र सुख पूर्ण है। इनकी राजधानी श्रीअवध तो मानों सुखका अधिष्ठान ही है। इनकी ऋद्धि-सिद्धि का थाह नहीं है। इसे ही रूपक द्वारा कवि विस्तार से कहते हैं। 'भूधर भारी' भुवन भारी हैं, तदनुसार भूधर भी भारी कहा; पुनः, इन्हीं से नदियों का निकलना कहेंगे, जो नदियाँ भारी पहाड़ से निकलती हैं, वे ही समुद्र तक जा पाती हैं।

'सुकृत मेघ बरषहि...'—श्रीचक्रवर्तीजी के सुकृत पुण्य मेघ-रूप हैं, वे ही चौदहो भुवनों में सुख बरसा रहे हैं; अतः,' इनके सुकृत भारी हैं, यथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेऊँ नाहीं॥" (बा० दो० २९१)

(२) 'रिधि-सिधि संपति ''—धर्ममय सम्पत्ति सुहाई होती है, अधर्ममय अर्थात् औरों को दुःख देकर बटोरी हुई संपत्ति भयावनी होती है, यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥" (दो० ३३)

'उमगि अवध अंबुधि'''—मेघ-द्वारा भारी वर्षा होने पर पृथिवी के गड्ढे, तालाव आदि भर जाते हैं, पृथिवी भी प्रयोजन भर सोख लेती है, शेष जल उमड़कर नदियों-द्वारा बह चलता है और समुद्र में जा पहुँचता है। यद्यपि समुद्र पूर्ण रहता है, वैसे ही श्रीचक्रवर्त्तीजी को प्रजा से धन-संचय की कामना नहीं रहती। तथापि प्रजा प्रयोजन भर धन रखकर शेष सब स्वयं राजा को पहुँचाती है। इसी लिये 'आई' कहा गया है, यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥ जिमि सरिता सागर पहँ जाहीं। यद्यपि ताहि कामना नाहीं॥ तिमि सुख संपति बिनहि बुलाये। धरम-सील पहिं जाहिं सुभाये॥" (बा० दो० २९३)। 'आई' से यह भी भाव है कि समुद्र ही का जल अप्रकट रीति से मेघ बनकर सर्वत्र वृष्टि के रूप में प्राप्त होता है, फिर सबको तृप्तकर नदियों-द्वारा समुद्र ही में आ मिलता है, वैसे ही राजा के ही सुकृत से सर्वत्र सुख हुआ और यहाँ भी आया। यहाँ तक बाहर की आय का रूपक कहा, अब भीतर की बात कहते हैं—

(३) 'मनिगन पुर-नर-नारि''''''—समुद्र में रत्न होते हैं, उनमें वर्ण-भेद होता है, कितने दूषित भी होते हैं और कितने अमूल्य भी, क्योंकि समुद्र प्राकृत है और अयोध्या दिव्य है, यहाँ के स्त्री-पुरुष सभी श्रेष्ठ आचरणवाले, पवित्र और अमूल्य (प्रतिष्ठित) एवं सभी प्रकार से सुन्दर हैं। अयोध्या में पापाचरण का लेश भी नहीं है। इसीसे सभी 'सुजाति' ही कहे गये हैं। वाल्मी० १।५-७ में विस्तार से राजा दशरथ की दिव्य राज्य-श्री का वर्णन है। इस ग्रंथ में भी उ० दो० २०-२३ में दिव्य विभूति का वर्णन है।

(४) 'कहि न जाइ''''''जनु इतनिय''''''—उपर्युक्त ऋद्धि-सिद्धि आदि को यहाँ 'विभूती' पद से व्यक्त किया। जगत् के रचयिता ब्रह्माजी हैं, अतः, कवि कहते हैं कि बस, अब आगे ब्रह्मा की करतूत नहीं है। श्रीअवधजी की रचना में ही इति-श्री हो गई। इस रीति से विभूति को अकथनीय सूचित किया। यह वर्णन प्राकृत दृष्टि से है, यथार्थ में श्रीअवध में त्रिपाद विभूति का ऐश्वर्य है, इसमें ब्रह्मा की गति ही नहीं है, यथा—"देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥ नगर रचना सिखन को बिधि तकत बहु बिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरन्हि गमन सुछंद॥" (गी० उ० २३)।

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद - मुख - चंद निहारी॥६॥
मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ-बेली॥७॥
राम - रूप - गुन - सील - सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥८॥

दोहा—सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस ।
आप अछत जुवराज-पद, रामहिं देउ नरेस ॥१॥

शब्दार्थ—सखी = बराबरवाली, संगिनी । सहेली = अनुचरी, सेवा भाव के साथ संगिनी । अछत = रहते हुए । जुवराज-पद = भावी राज्याधिकार । देउ = दे दें, (जैसे होउ, करउ = हो, करे होता है ।)

अर्थ—सब पुरवासी श्रीरामजी का चन्द्र-रूपी मुख देखकर सब तरह से सुखी हैं ॥६॥ सब माताएँ और उनकी सखियाँ तथा सहेलियाँ (अपनी) मनोरथ-रूपी बेलि (लता) को फली हुई देखकर आनंदित हैं ॥७॥ श्रीरामजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख-सुनकर राजा उत्कृष्ट आनंद को प्राप्त होते हैं ॥८॥ सबके हृदय में ऐसी अभिलाषा है, सब महादेवजी को मनाकर प्रार्थना करते हैं कि अपने रहते हुए राजा श्रीरामजी को युवराज-पद दे दें ।

विशेष—(१) ऊपर विभूति (भोग्य) को कहकर अब उसके भोक्ताओं का वर्णन करते हैं । 'सब विधि सब'······रामचन्द्र मुख चन्द्र निहारी ।'—श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है, पुरजनों के साथ नगर समुद्र-रूप है । समुद्र नदियों के जल से नहीं बढ़ता, किन्तु पूर्ण चन्द्र देखकर बढ़ता है, वैसे ही नगर के लोग 'रिधि सिधि संपति' से सुखी नहीं हैं, किन्तु श्रीरामजी के मुख-चन्द्र-दर्शन से सुखी हैं, यथा—"राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान । बढ़ेउ कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान ॥" (उ० दो० ३) । 'मुख चंद्र' मात्र से यह संदेह रहता कि मुख ही भर आह्लाद-कारक है, शेष अंग नहीं, इसलिये 'राम' नाम के साथ भी 'चंद्र' शब्द दिया गया है कि आपका सर्वांग आह्लादमय है, क्योंकि 'चदि—आह्लादने' धातु से चंद्रमा शब्द बनता है, इसीसे चन्द्रमा आह्लाद-रूप है ।

ऊपर पुर-नर-नारि 'मनिगन' कहे गये थे, यहाँ वे समुद्र कहे गये—यह विरोध नहीं है, क्योंकि वह रूपक वहीं अर्द्धाली ४ पर ही समाप्त हो गया । यह दूसरा रूपक है ।

(२) 'मुदित मातु सब ······'—पुर-लोगों के सुख कहकर अब रनिवास और राजा के सुख कहते हैं । माताओं का मनोरथ है । अतः, स्त्री-वाचक 'बेलि' का रूपक लिखा है । बेलि किसी वृक्ष आदि के आश्रित होकर फूलती-फलती है, वैसे ही माताओं ने मनोरथ-पूर्त्ति के लिये बहुत-सी मनौतियाँ मानी थीं, यथा—"देव-पितर पूजे बिधि नीकी । पूजी सकल बासना जी की ॥" (बा० दो० ३५०) । प्रथम आगमों-द्वारा माताओं ने सुन रक्खा था—"कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो ।" (गी० बा० १४); पुनः विश्वामित्रजी ने भी कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (बा० दो० २०७); तब से माताओं के मनोरथ होते थे कि पुत्रों के अनुरूप दुलहिनें मिलें, वे कामनाएँ पूरी हुईं । ये ही मनोरथ रूपी—लता में फल लगना है, यथा—"राम सीय-छवि देखि जुवति जन कहहिं परसपर बाता । अब जानेउँ साँचहू सुनहु, सखि कोबिद बड़ो बिधाता ॥" (गी० बा० १०८); "उमँगि उमँगि आनंद बिलोकति बधुन्ह सहित सुतचारी ।" (गी० बा० १०७)।

बहुओं के सहित पुत्रों को देखना ही फल लगना और मुदित होना राजा के प्रति भी कहा गया है, यथा—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये । तनु पुलक पुनि-पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु फल नये ॥···मुदित अवध पति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि । जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि ॥" (बा० दो० ३२५) । राजा को यह आनंद जनकपुर में ही मिल चुका था, रानियों को यहाँ आने पर मिला । अतः, उनके लिये भी वही 'मुदित' शब्द दिया गया ।

कोई-कोई 'फलित' की जगह 'फुलित' पाठ उत्तम मानते हैं । कारण यह कि बेलों में फूल लगना

और वृक्षों में फल लगना उत्तम है। पुनः फलना संतान होना है, वह इस कांड में नहीं कहा गया। इसका उत्तर यह है कि 'फलित' शब्द इस ग्रंथ भर में कहीं नहीं है। राजा के प्रति फल लगना और मुदित होना कहा गया था, वही सुख माताओं का ज्यों-का-त्यों दिखाना है। पुनः त्रेतायुग में कलियुग की तरह तुरंत ही ब्याह के पीछे संतान नहीं होती थी कि उनका मनोरथ अभी से किया जाय। राजा के साठ हजार वर्ष और श्रीरामजी आदि के दस हजार वर्ष बीतने पर सन्तानें हुई थीं। लताओं के फूलने पर थोड़े ही काल पीछे फल लगते हैं। अतः, मनोरथ रूपी बेलों में बहुओं का अनुकूल होना फूलना और सन्तान होना फलना, यह रूपक यहाँ नहीं है। 'फलित' ही पाठ समीचीन है।

(३) 'राम-रूप गुन-सील ···'—रानियों को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहा गया है, क्योंकि वे रूप एवं जोड़ी की शोभा पर दृष्टि रखती थीं और राजा गुण, शील, स्वभाव को भी देखते थे। पुनः तीनों भाइयों को रूप आदि से 'मुदित' और श्रीरामजी के रूप आदि पर 'प्रमुदित' होते थे, क्योंकि—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १६७); पुनः श्रीरामजी के गुण आदि से इनमें राज्याधिकार की योग्यता देखकर भी 'प्रमुदित' होते हैं, यथा—"राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू।" (दो० १), आगे कहा है। इन रूप आदि का विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।१।६ से २।२।४५ तक है।

पुरजनों को 'सुखारी' माताओं को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहकर उत्तरोत्तर अधिक सुखी होना दिखाया गया है।

(४) 'सबके उर अभिलाष····'—पहले सबके सुख पृथक्-पृथक् कहे गये, यहाँ इस मनोरथ में सब का एकमत कहते हैं। 'मनाइ महेस' अर्थात् वे महान् ईश (समर्थ) हैं, अतः, सब कुछ कर सकते हैं और थोड़े ही में प्रसन्न भी होते हैं, यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे।" (वि० ७); 'जुवराज पद रामहि ···'—श्रीरामजी ही को युवराज पद चाहते हैं, क्योंकि—(क) श्रीरामजी के रूप, गुण आदि की अधिकता का प्रभाव इनपर भी है। (ख) ये सबके प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहुँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। (ग) कुल रीति से भी इन्हें ही योग्य समझते हैं—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल-रीति सुहाई॥" (दो० १४); (घ) अभी यदि राजा इन्हें युवराज पद दे देंगे, तो फिर राजा के पीछे ये ही राजा होंगे, इसलिये "आप अछत' भी कहा है।

'देउ नरेस' अर्थात् राजा के ही देने से मिलेगा, तो फिर महेश से क्यों मनाकर कहते हैं, राजा ही से क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह है कि प्रजा को राजा से कहने में संकोच है। कहीं ऐसा कहने से राजा यह न समझें कि हमसे प्रजा को दुःख है, तब तो दूसरे को राजा बनाना चाहती है। यथा—"कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति। भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥" (वाल्मी० २।२।१५), यद्यपि राजा का यह वचन परीक्षा के लिये है, तो भी इस तरह का संदेह होना युक्त है।

दूसरा उत्तर यह भी कहा जाता है कि दशरथ महाराज कैकय राज से प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि कैकेयी के पुत्र को राज-पद दिया जायगा। प्रजा डरती है कि उसके विरुद्ध श्रीरामजी के लिये कहने से राजा हमें अधर्मी समझेंगे और भरत के प्रतिकूल मानेंगे। इससे सब हृदय में ही शिवजी से मनाते हैं कि वे राजा ही की मति ऐसी कर दें। परन्तु यह भाव इस ग्रंथ के विरुद्ध है, इसमें कहीं भी उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं है। यदि प्रतिज्ञा रहती तो क्या मन्थरा और कैकेयी को इसका पता नहीं था? प्रत्युत इन्हें तो इससे बड़ा आश्रय मिलता, पर इन दोनों ने कहीं उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं की, केवल दो वरदानों ही पर बल दिखाया है। जब इन दो को नहीं मालूम था तो प्रजा कैसे जान सकती थी?

एक समय सब सहित समाजा । राजसभा रघुराज बिराजा ॥१॥
सकल - सुकृत - मूरति नरनाहू । रामसुजस सुनि अतिहि उछाहू ॥२॥
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे । लोकप करहिं प्रीति रुखराखे ॥३॥
तिभुवन तीनिकाल जगमाहीं । भूरि - भाग दसरथ-सम नाहीं ॥४॥
मंगलमूल राम सुत जासू । जो कछु कहिय थोर सब तासू ॥५॥

अर्थ—एक समय रघुकुल के राजा दशरथ महाराज अपने संपूर्ण समाज के साथ राज-सभा में बैठे थे ॥१॥ राजा समस्त पुण्यों की मूर्त्ति थे, उन्हें श्रीरामजी का सुयश सुनकर अत्यन्त ही उत्साह (आनंद) होता था ॥२॥ (उस समय) सब राजा इनकी कृपा के अभिलाषी रहते थे, लोकपाल-गण इनका रुख रखते हुए प्रीति करते थे, (क्योंकि इनकी संतान से उनकी रक्षा होगी यह वे लोग जानते थे) ॥३॥ तीनों लोकों में, भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल में एवं जगत् भर में दशरथजी के समान अत्यन्त भाग्यवान् (दूसरा) नहीं ॥४॥ मंगल के मूल श्रीरामजी इनके पुत्र थे, अतः, इनके लिये जो कुछ कहा जाय, सब थोड़ा ही है ॥५॥

विशेष—(१) 'एक समय···'—जनकपुर से आने पर बारह वर्ष तक श्रीअवध में बसने के अनन्तर चैत महीने में जिस दिन पुनर्वसु के चन्द्रमा थे और उसके दूसरे दिन पुष्य पड़ता था, यथा—"श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः । रामो ··" (वाल्मी० २।४।२), "चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पित काननः ।" (वाल्मी० २।३।४); चैत के शुक्लपक्ष में प्रायः सप्तमी से दशमी तक पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र पड़ते हैं। तथा—"उषित्वा द्वादश समा···तत्र त्रयोदशे वर्षे··· अभिषेचयितुं रामं ··।" (वाल्मी० ३।४७।४-५)।

'राज सभा रघुराज···'—इसमें विशेष रघुवंशी थे। सब 'राजते' थे, पर राजा विशेष राजते (सोहते) थे; राजा दशरथ के जीते जी रघुवंशियों की यह अंतिम सभा है।

(२) 'सकल सुकृत मूरति···'—राजा का जीवन सुकृतमय है और इनमें सब सुकृतों का फल-रूप उत्कृष्ट श्रीराम-स्नेह भी है, यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू ।" (बा० दो० २१); इससे ये सुकृत की मूर्त्ति कहे गये। राजा सुकृत-मूर्त्ति होने ही से आनंदित थे, पर उन्हें श्रीराम-सुयश सुन-सुनकर अत्यन्त आनन्द होता था, क्योंकि यह राजा का अभीष्ट था कि मेरा पुत्र ऐसा यशस्वी हो और इन बातों से उसमें राज्याधिकार की योग्यता हो।

(३) 'नृप सब रहहिं कृपा···'—इससे राजा का आतंक लोकपालों पर भी दिखाया कि वे इनका रुख रखकर प्रीति करते थे; अर्थात् स्वतंत्र होते हुए भी राजा से दबते रहते थे। प्रीति बराबर में हो होती है। 'रुख राखे'—से राजा के प्रभाव से लोकपालों को अधीनता जनाई, यथा—"सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥" (दो० २४); अर्थात् रुख रखकर प्रीति स्वामी में होती है। 'नृप सब' से भूलोक और 'लोकप करहिं···' से स्वर्ग लोक की अधीनता कही, पातालवासियों की नहीं कही, क्योंकि वे तामसी स्वभाव के हैं। अतः, वे न तो कृपा के अधिकारी हैं और न प्रीति के।

शंका—रावण ने सारे संसार को जीत रक्खा था, यथा—"भुजबल बिस्वबस्य करि" (बा० दो० १८२); तथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्त्ती···" (बा० दो० १८१)। फिर उसके रहते हुए, राजा दशरथ का उपर्युक्त आतंक कैसे संभव है ?

समाधान—सब राजा लोग रावण से डरते थे, पर वे हृदय से उसके अधीन न थे, रावण जिन्हें नहीं जीत सका था, उनमें एक चक्रवर्त्ती दशरथजी भी थे। इससे भी राजाओं का इनकी कृपा

का अभिलाषी होना योग्य ही था। लोकपालों को तो यह मालूम ही था कि अब शीघ्र ही इनकी ही संतान से रावण का विनाश होगा, इससे वे प्रीति करते थे।

(४) 'त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं।'—त्रिभुवन कहकर फिर जगत् भी कहा गया, क्योंकि तीन भुवनों से यहाँ—भूः (भूलोक) भुवः (पितृलोक) और स्वः (स्वर्ग = देवलोक) ही अभीष्ट हैं। प्रथम तीन भुवन कहकर फिर चौदहो भुवन सूचक जगत् भी कहा है कि कहीं भी इनके समान बड़-भागी नहीं है। यथा—"दशरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं।" (दो० २०८)। प्रथम राजा को सुकृत की मूर्ति कहा, उससे अधिक अन्य राजाओं का इनके वशवर्त्ती होने में जनाया, उससे भी अधिक महत्त्व लोकपालों की अधीनता में सूचित किया, आगे इससे भी अधिकता कहते हैं कि—"मंगल मूल राम सुत···" अर्थात् प्रभु ने भी वश होकर इनका पुत्रत्व स्वीकार किया तब इनके तुल्य बड़भागी कोई नहीं है।

'मंगल मूल राम···' यथा—"मंगल भवन अमंगल-हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर-बिहारी॥" (बा० दो० १११) अर्थात् परात्पर ब्रह्म का अवतार इन्हीं चक्रवर्त्ती के आँगन में हुआ है।

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥६॥
श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥७॥
नृप जुवराज राम कहँ देहू। जीवन-जनम-लाहु किन लेहू॥८॥

दोहा—यह बिचार उर आनि नृप, सुदिन सुअवसर पाइ।
प्रेम पुलकि तनु मुदित मन, गुरहिं सुनायेउ जाइ॥२॥

शब्दार्थ—सुभाय = स्वाभाविक। सम = सीधा। कहँ = को। लाहु = लाभ। किन = क्यों नहीं।

अर्थ—राजा ने सहज ही हाथ में शीशा ले लिया और मुख देखकर मुकुट को सीधा किया॥६॥ (देखा कि) कानों के पास बाल सफेद हो गये हैं, मानों बुढ़ापा ऐसा उपदेश कर रहा है॥७॥ कि राजन्! रामजी को युवराज पद देकर अपने जीवन और जन्म का लाभ क्यों नहीं ले लेते?॥८॥ यह विचार हृदय में निश्चित करके राजा ने अच्छा दिन और अच्छा अवसर पा प्रेम से पुलकित शरीर हो, प्रसन्न मन से गुरुजी के पास जाकर सुनाया॥२॥

विशेष—(१) 'राय सुभाय मुकुर कर ···'—पूर्व कहा था—'एक समय सब सहित समाजा। राजसभा···' वह प्रसंग छोड़कर राजा का विभव कहने लगे, वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'सुभाय' अर्थात् बिना किसी की प्रेरणा के, शीशा दृष्टि में पड़ा, तो उसे उठा लिया और देखने लगे। हो सकता है कि किसी ने मुकुट कुछ टेढ़ा देखा हो, तो शीशा रख दिया हो और उसपर दृष्टि पड़ने पर राजा ने उठाकर देखा हो। राजसभा में राजकार्य का समय है, वहाँ दर्पण देखने का समय नहीं, प्रभु की इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, इसी से 'सुभाय' कहा गया।

(२) 'श्रवन समीप भये···'—कहा जाता है कि बुढ़ापे में प्रथम कान के पास के बाल सफेद होते हैं, यथा—"कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकप्रवादः॥" ऐसा ही रघुवंश में भी कहा गया है—"तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीन्यस्यतामिति। कैकेयी शंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥"

(सर्ग ११) इस श्लोक में 'जरा' का उपदेश करना और यहाँ 'जरठपन' का उपदेश करना कहा गया है 'नृप' और 'राय' के सम्बन्ध से 'जरठपन' इस पुँल्लिंग शब्द का प्रयोग उत्तम हुआ है; फिर सभा में इतने बड़े महाराज को स्त्री से उपदेश किया जाना भी ठीक नहीं होता, यहाँ 'जरा' स्त्रीलिंग न देने में मंमकार की विलक्षण सावधानता है। कान के पास ही गुप्त मंत्र दिया जाता है, यथा—"कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥" (लं॰ दो॰ १०)। पुनः उपदेश देना जरठ का काम है, यथा—जाना जरठ जटायू एहा ।··· कह सुनु रावण मोर सिखावा ॥" (आ॰ दो॰ २८) ; इसलिये यहाँ भी 'जरठपन' ने उपदेश दिया।

(३) 'नृप जुवराज राम···'—यही उपदेश है, 'देहू' और 'लेहू' से दोनों कामों को अपने अधीन जनाया। 'किन लेहू' अर्थात् आप ही ने ढील दे रक्खी है। यदि जीवन और जन्म की सफलता चाहते हैं तो अब विलम्ब न करें। केश देखकर राजा के हृदय में ये विचार आप-ही-आप व्यक्त हुए, इसे ही उपदेश मान लिया।

(४) 'यह विचार उर आनि···'—कोई नई बात सहसा प्रकट नहीं करनी चाहिये, इसलिये अभी इसे राजा ने हृदय ही में रक्खा। पुरवासियों ने भी ऐसा विचार हृदय में रक्खा है—"सबके उर अभिलाष अस" (दो॰ १) 'सुदिन'—श्रीरामजी के राज्याभिषेक के योग्य और 'सुअवसर'—गुरुजी के सावकाश का, अथवा उक्त दोनों ही कामों के लिये गुरुजी के पास जाने का विचार किया। श्रीगुरुजी से सम्मत करके कोई भी उत्तम कार्य करना इस कुल की रीति है। 'प्रेम पुलकि तनु ···'—प्रेम और मोद मन में है, पुलक तन में है और प्रेम से भरे हुए वचन भी कहने आये। इस तरह यहाँ राजा के मन, वचन और कर्म (तन) तीनों की प्रवृत्ति दिखाई गई।

'मुदित मन'—इस ग्रंथ में प्रायः सर्वत्र उत्तम कार्यारंभ में हर्ष तथा उत्साहसूचक शब्द 'मुदित' 'हरषि' आदि कहे गये हैं, यह कार्यारंभ में शकुन है।

कहइ भुआल सुनिय मुनिनायक। भये राम सब बिधि सब लायक ॥१॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥२॥
सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु-असीस जनु तनु धरि सोही ॥३॥
बिप्र सहित परिवार गोसांई। करहिं छोह सब रउरेहि नांई ॥४॥

शब्दार्थ—उदासी = शत्रु-मित्र-भाव से रहित, विरक्त। सोही = सोह रही है।

अर्थ—राजा कहते हैं—हे मुनिराज ! सुनिये, राम सब प्रकार से सब (कामों) में योग्य हो गये ॥१॥ सेवक, मंत्री एवं सभी पुरवासी और जो कोई भी हमारे शत्रु, मित्र एवं उदासीन हैं ॥२॥ रामजी सभी को वैसे ही प्रिय हैं, जैसे हमको। हे प्रभो ! मानों आपकी आशिष ही शरीर धारण करके सोह रही है ॥३॥ हे गोसाईं ! सब ब्राह्मण सपरिवार आपके समान ही उनपर स्नेह करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कहइ भुआल···'—'मुनिनायक' यह विशेषण स्वार्थ-दृष्टि से भी यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि वसिष्ठजी में यथार्थ ही है, क्योंकि ये ब्रह्मर्षि हैं और ब्रह्माजी के पुत्र हैं। विश्वामित्रजी ब्रह्माजी से ब्रह्मर्षि पद पाकर भी इनके मुख से कहलाने में गौरव समझते थे—"ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु···" (वाल्मी॰ १।६५।१७)।

'भये राम सब बिधि···'—'भये' यह भूतकालिक क्रिया है; अर्थात् बहुत पहले ही से योग्य हो चुके हैं। श्रीजनकपुर-यात्रा के कार्यों से ही इनकी योग्यता प्रसिद्ध हो गई। परशुराम से साम और ताड़का, सुबाहु, मारीच आदि के वध से दंड-विधि की निपुणता प्रसिद्ध है। दान और भेद पूर्ण समर्थ के लिये

नहीं हैं, आगे प्रसंगवशात् विभीषण आदि के प्रसंग में मर्यादा के साथ इन्हें भी दिखावेंगे। विवाह से अभी तक १२ वर्ष हो चुके। 'सब लायक'—राज्य के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है, उनसे ये पूर्ण हैं, यथा—"संमतस्त्रिपु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः। बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः॥ तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः। गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।३२-३३)।

(२) 'सेवक सचिव सकल···'—पहले अपना सम्मत कहकर तब सब मंत्री, प्रजा आदि की प्रसन्नता भी कहते हैं। इसका भाव यह कि जिसपर ये सब अनुकूल हों, वही राज्याधिकार के योग्य होता है। 'जे हमरे अरि मित्र उदासी।'—शत्रु आदि हमारे हैं, राम से तो सभी स्नेह करते हैं, यथा—"जासु सुभाय अरिहु अनुकूला।" (दो० ३१)। "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५) राक्षस शत्रु हैं, इन्द्रादि देवता, मित्र और संत लोग उदासीन हैं।

(३) 'सबहिं राम प्रिय···' यथा—"कोसलपुरवासी नर, नारि वृद्ध अरु बाल। प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। 'प्रभु असीस जनु···'—हमारे भाग्य ऐसे कहाँ थे? यह तो आपके आशीर्वाद का फल है कि सर्व-प्रिय और सुयोग्य पुत्र हुए। असीस—"धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी॥" (बा० दो० १८८)। आपकी असीस सर्व-प्रिय है, वैसे पुत्र भी हुए, मानों वे आशीर्वाद ही मूर्त्तिमान् हैं।

(४) 'बिप्र सहित परिवार···'—ब्राह्मणों को उपर्युक्त—'सेवक सचिव सकल पुरबासी' से पृथक कहा, क्योंकि गुरु और विप्र तो साक्षात् भगवान के रूप ही हैं, यथा—"मम मूरति महिदेवमयी है।" (वि० १३६)। "बंदउँ गुरु पद···कृपासिंधु नर रूप हरि।" (बा० मं०)। इस तरह गुरु-विप्र का भी स्नेह कहकर बड़ाई की, प्रत्यक्ष नहीं कहा।

ब्राह्मणों का स्नेह करना बहुत बड़ी बड़ाई है, यह क्योंकर प्राप्त हुई, इसका साधन आगे कहते हैं—

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥५॥
मोहि सम यहु अनुभयेउ न दूजे। सब पायेउँ रज पावनि पूजे॥६॥
अब अभिलाष एक मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे॥७॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेस रजायसु देहू॥८॥

दोहा—राजन राउर नाम जस, सब अभिमतदातार।
फल अनुगामी महिपमनि, मन-अभिलाष तुम्हार॥३॥

अर्थ—जो लोग गुरु-चरण की धूल को शिर पर धारण करते हैं, वे मानों सभी ऐश्वर्यों को अपने वश में कर लेते हैं॥५॥ इसका अनुभव मेरे समान और किसी ने नहीं किया, (मैंने जो कुछ पाया है वह) सब आपके पवित्र चरणों की धूल के पूजने ही से पाया है॥६॥ अब मेरे मन में एक ही अभिलाषा है, (यह भी) हे नाथ! आपके ही अनुग्रह से पूरी होगी॥७॥ राजा का स्वाभाविक स्नेह देखकर मुनि प्रसन्न हुए और बोले कि हे राजन्! आज्ञा दीजिये॥८॥ हे राजन्! आपके नाम और यश ही सब (वा, सब-के-सब) मनोरथों को देनेवाले हैं। हे महीपमणि! आपके मन की अभिलाषा (तो) फल की अनु-
गामिनी है॥३॥

विशेष—(१) 'ते जनु सकल बिभव···'—सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के लिये समस्त साधन हैं, वे सब विभव जब इस एक ही से वश में हो जाते हैं, तब यह एक ही सब सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि अन्य साधनों से प्राप्त ऐश्वर्य समय पर नष्ट भी हो जाते हैं, पर इससे—'बस करहीं' अर्थात् सदा अक्षय रूप में बना रहना बनाया। अतः, इस रज में वशीकरण शक्ति है, यथा—"किये तिलक गुन गन बस करनी।" (बा० दो० १)। यहाँ 'विभव' का प्रसंग है, अतः, यही कहा है।

(२) 'मोहि सम यहु अनुभयेउ···'—यहाँ अपनेको उदाहरण में रखकर उक्त वचनों को प्रमाणित करते हैं। अनुभयेउ = अनुभव किया। 'सब पायेउ'—ऐश्वर्य, क्षेम, राम ऐसे पुत्र एवं उनके योग्य बहुएँ इत्यादि। 'न दूजे' अर्थात् मेरे समान भाग्यवान् और नहीं है. यथा—"राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥" (दो० २५८)। तात्पर्य यह कि मेरे समान गुरु-कृपा-पात्र दूसरा शिष्य नहीं हुआ और न आप ऐसे कृपालु गुरु ही किसी को मिले हैं।

(३) 'अब अभिलाष एक···'—बस, यही एक वांछा और रह गई है, जिसके लिये श्रीचरणों को कष्ट देने आया हूँ। 'एक' से इसकी प्रधानता भी ध्वनित है, क्योंकि इसकी ही प्राप्ति पर राजा अपनेको कृतार्थ मानते हैं। यथा—"पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ।" (दो० ३)। इसके विपर्यय रूप में भी संसार का कार्य हुआ, पुनः सिद्धि पर ११ हजार वर्ष प्रजा सुखी होकर कृतार्थ रही। 'पूजिहि'—राजा का दृढ़ विश्वास है।

(४) 'मुनि प्रसन्न लखि···'—राजा ने बिना मुनि की प्रसन्नता पाये मनोरथ नहीं कहा। वे मुनि का रुख देख रहे हैं। मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि प्रेम एवं आनन्द की रोमांच आदि दशाएँ देखने में आई। वे राजा के सहज स्नेह से प्रसन्न होकर बोले कि हे राजन्! जो कहिये, वही करें। 'नरेस' सम्बोधन के अनुसार 'नर' के संबंध से वसिष्ठजी इन्हें राजा मानकर 'आयसु' कहकर उनकी इच्छा पूरी करने के लिये प्रस्तुत हैं कि हमारे योग्य जो कार्य हो, कहिये। राजा ने गुरु को ईश्वरतुल्य माना, तो गुरु ने भी 'नरेस' कहकर नरमात्र पर शासक सिद्ध करते हुए, 'रजायसु' देना कहा है, जिसका अर्थ है—'राज-आयसु' अर्थात् राजा की आज्ञा। अतः, यही अर्थ ठीक है। पुनः अरबी के 'रजा' शब्द से बने हुए 'रजाय' और 'रजायस' शब्द भी पद्यों में कहे जाते हैं। यहाँ इसके दो अर्थ हैं—१. आज्ञा, २. मरजी, इच्छा। इसका दूसरा अर्थ लेने में उपर्युक्त अर्थ (गुरु होकर आज्ञा कैसे माँगी ?) की खटक मिट जाती है।

(५) 'राजन राउर नाम जस···'—वसिष्ठजी गुरु होते हुए राजा के मंत्री भी हैं, मंत्रियों के लिये नीति है कि राजा की प्रशंसा करके तब मंत्र कहें। इस नीति का पालन इस ग्रन्थ में वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी, जाम्बवान्‌जी एवं हनुमान्‌जी आदि सभी ने किया है। तदनुसार वसिष्ठजी ने यहाँ कहा है कि आपके नाम लेने और यश-स्मरण से सब-के-सब मनोरथ पूरे होते हैं, फिर आपके लिये क्या कहना है ? आपकी अभिलाषा होने के पहले ही फल प्राप्त रहता है, यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है। यह बात राजा में चरितार्थ भी है, जैसे इनकी पुत्र की अभिलाषा साठ हजार वर्ष पर हुई और अंधतापस का शाप इन्हें युवराज-अवस्था में ही हो चुका था 'कि तुम्हारी मृत्यु पुत्र के वियोग से होगी' जिसका आशय यह था कि पुत्र होगा, तब तो उससे वियोग की दशा आवेगी। राजा ने इस प्रशंसा को गुरु का अनुग्रह माना और निश्चय किया कि गुरुजी अनुकूल हैं। मुझे मनोरथ कहना चाहिये।

यहाँ 'अनुगामी' को 'अभिलाष' का ही विशेषण मानना चाहिये, क्योंकि जब राजा के नाम-यश में ही संसार के मनोरथ की पूर्ति का महत्त्व है, तब साक्षात् स्वरूप में कितनी विशेषता चाहिये, यह उपर्युक्त अर्थ में बनती है।

सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदुबानी ॥१॥
नाथ राम करिअहिं जुबराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू ॥२॥
मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन-लाहू ॥३॥
प्रभुप्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं ॥४॥
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥५॥

शब्दार्थ—रहसि =(सं० रहस्) गुप्त भेद, क्रीड़ा। सुख, (क्रि० अ०—रहसना, रहस-ना)= आनन्दित होना, हर्षित होकर। समाज = सामग्री, तैयारी। रहउ = रहे।

अर्थ—अपने हृदय में सब प्रकार गुरुजी को प्रसन्न जान राजा हर्षित होकर कोमल वाणी बोले ॥१॥ हे नाथ! राम को युवराज बनाइये, कृपा करके कहिये कि तैयारी करो ॥२॥ मेरे जीते जी यह उत्सव हो जाय, जिससे सब लोग नेत्रों का लाभ उठावें ॥३॥ आपके अनुग्रह से शिवजी ने सभी कुछ निबाह दिया, यही एक लालसा मन में (रह गई) है ॥४॥ फिर मुझे चिन्ता नहीं, शरीर रहे—चाहे जाय, जिससे पीछे मुझे पछतावा न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'सब बिधि गुरु प्रसन्न······'—गुरुजी मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं—'मुनि प्रसन्न लखि······'—मन, रजायसु देहूँ (सो करूँ)'—कर्म और प्रशंसा की—यह वचन की प्रसन्नता है।

'बोलेउ राउ रहसि······'—'रहसि' शब्द का मूल रूप यदि 'रभस्' एवं 'रभसः' संस्कृत का लिया जाय, तब 'हर्ष से' अर्थ होगा, अथवा 'हरषि' के वर्ण-विपर्यय द्वारा 'रहसि' शब्द माने, तब भी 'हर्ष से' होगा। वर्ण-विपर्यय द्वारा बने हुए शब्द का होना यहाँ युक्त है। इस कांड में यह शब्द कई बार आया है और सर्वत्र परिणाम में हर्ष का विपर्यय ही हुआ है, यथा—"सुनि रहसेउ रनिवास।" (दो० ७); "रहसी चेरि घात भलि फाबी।" (दो० १९); "रहसी रानि राम रुख पाई।" (दो० ४१)। इन सब स्थलों पर मनोरथ-सिद्धि नहीं ही हुई।

(२) 'नाथ राम करिअहिं······'—'नाथ' अर्थात् स्वामी। आप स्वामी हैं, मैं आपकी आज्ञानुसार कार्य करनेवाला हूँ। राम को युवराज आप ही करें और मुझे आज्ञा दें। 'कृपा करि'—आपकी कृपा ही से सिद्ध होगा, यथा—"पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।" (दो० २), 'करिय समाजू'—'समाजू' शब्द 'साँज' का पर्याय है इसका अर्थ है, सामग्री, साज-सामान, उपकरण, यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।" (दो० १८६)।

(३) 'मोहि अछत यह होइ···'—उपर्युक्त—'नाथ रामु करिअहिं······' का अर्थ इसमें स्पष्ट किया कि राजा गुरुजी के द्वारा युवराज दिया जाना पुष्ट करते हैं, नहीं तो कहते कि मैं जीते-जी उन्हें युवराज बना दूँ। यद्यपि यह कार्य राजा ही का है—जैसे आगे वसिष्ठजी कहेंगे—"भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहिं युवराजू॥" (दो० ९); तथापि यह राजा की गुरु-भक्ति है कि वे गुरु को ही सब कार्य में प्रधान रखते हैं, यथा—"विदितं ते महाराज इक्ष्वाकु कुलदैवतम् ॥ वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः॥" (वाल्मी० १।१००।१६-१७)। पूर्व पुरवासियों ने शिवजी से प्रार्थना की थी, वह शिवजी ने पूरी की। अतः, उन्हीं शब्दों से कहा है। यथा—"आप अछत युवराज पद, रामहिं देउ नरेस॥" (दो० १); वही यहाँ—'मोहि अछत यह···लहहिं लोग सब···' है।

'मोहि अछत······'—का तात्पर्य यह कि इस समय राजा को बहुत अशकुन हो रहे हैं, इसीसे वे शीघ्रता कर रहे हैं, यथा—"अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्नान्पश्यामि राघव। सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः॥ अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः। आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः॥ प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे। राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति॥" (वाल्मी० २।४।१७–१९); अर्थात् मैंने आज अशुभ स्वप्न देखा है, वज्रपात के साथ बड़े शब्द से उल्का को गिरते देखा है। मेरा जन्म-नक्षत्र सूर्य, मंगल और राहु, इन दारुण ग्रहों से आक्रान्त हो गया है—यह ज्योतिषियों ने बतलाया है। प्रायः ऐसे निमित्तों के उत्पन्न होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा और कोई भारी विपत्ति आती है। इसीसे राजा ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल का मुहूर्त्त तिलक के लिये ठीक किया।

(४) 'प्रभु प्रसाद सिव······'—गुरु की कृपा से ईश्वर की भी कृपा होती है, वैसे ही कहते हैं।

'यह लालसा एक······'—यही 'एक' लालसा है, वह भी आपके अनुग्रह से पूर्ण होगी, यह पूर्व ही कह चुके हैं –'पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।' इससे फिर नहीं कहा।

(५) 'पुनि न सोच तनु······'—अर्थात् राम-राज्य होने पर शरीर जाय तो पछतावा नहीं होगा, अन्यथा रहेगा, यथा—"तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥" (दो० ३५)।

सुनि मुनि दसरथ-बचन सुहाये। मंगल - मोद - मूल मन भाये॥६॥
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥७॥
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत - प्रेम - अनुगामी॥८॥

दोहा—बेगि बिलंब न करिय नृप, साजिय सबइ समाज।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुवराज॥४॥

अर्थ—दशरथजी के मंगल और आनंद के मूल सुहावने वचन सुनकर मुनि के मन को अच्छे लगे॥६॥ हे राजन्! सुनिये, जिसके विमुख (होने से लोग) पछताते हैं और जिसके भजन के विना (हृदय को) जलन नहीं जाती॥७॥ वे ही स्वामी आपके पुत्र हुए हैं, श्रीरामजी पवित्र प्रेम के अनुगामी हैं॥८॥ हे राजन्! विलंब न कीजिये, शीघ्र ही सब सामग्री सजाइये। सुदिन और सुमंगल तभी है, जब श्रीरामजी युवराज हों॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि दसरथ-बचन······'—वचन कोमल होने से 'सुहाये' हैं, इसके होने से मंगल होगा, इस उत्सव के स्मरण से मुनि के हृदय में आनंद भर गया, इससे 'मंगल मोद मूल' कहा।

(२) 'सुनु नृप जासु बिमुख······' यथा—"मन पछितैहै अवसर बीते। दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु करम बचन अरु हीते।" (वि० १९८); जिससे जलन जाती है, वह श्रीराम-नाम का जप-रूप भजन है, यथा—"राम-नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।" (वि० १८४)।

(३) 'भयेउ तुम्हार तनय······'—आपके पवित्र प्रेम के कारण भगवान् आपके पुत्र होकर अनुगामी हुए हैं, यथा—"जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आइ।" (दो० २०९); तथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे" (बा० दो० १४१)। 'पुनीत प्रेम' इनके मनु-रूप की अनन्य भक्ति को कहा है, क्योंकि उसीसे भगवान् पुत्र हुए हैं।

इन वचनों के अनुसार ही श्रीरामजी से विमुख होने से कैकेयी और मंथरा को पछताना पड़ेगा, यथा—"अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीच विधि मीच न देई॥" (दो० २५१), "गरइ गलानि कुटिल कैकेई।" (दो० २७२)।

(४) 'वेगि विलंब न करिय ···' राजा ने कहा था कि—'कहिय कृपा करि करिय समाजू।' उसपर गुरुजी कहते हैं कि—'वेगि विलंब न···' अर्थात् शीघ्रता कीजिये, क्योंकि राम-राज्याभिषेक देखने की लालसा इनकी भी तो है, यथा—"महाराज भलो काज विचाखो वेगि विलंब न कीजै। विधि दाहिनो होइ तो सब मिलि जनम लाहु लुटि लीजै॥" (गी० अ० १), 'सुदिन सुमंगल तवहिं जब ·'—पहले श्रीरामजी का महत्त्व कह आये कि ये सबके स्वामी हैं, तो ग्रह आदि के भी स्वामी हैं। अतः, इनकी इच्छा के अनुकूल कार्य में कोई बाधक नहीं हो सकते। अतः, इनके विषय में सुदिन-सुमंगल-संग्रह की आवश्यकता ही क्या? ये जब ही युवराज हों, तभी सुदिन आदि अनुकूल रहेंगे, यथा—"जोग लगन ग्रह वार तिथि, सकल भये अनुकूल।" (बा० दो० १९०)।

यहाँ गुरुजी के वचन संदिग्ध निकल रहे हैं, वशिष्ठजी सर्वज्ञ हैं, पर ईश्वर के मर्म के जानने में नहीं, क्योंकि जीव हैं, जीव की सर्वज्ञता ईश्वर-सापेक्ष और परिमित होता है, अपरिमित और स्वतंत्र नहीं। जैसे नारदजी शीलनिधि की कन्या (देवी-माया) के मर्म को नहीं जान पाये और लक्ष्मणजी श्रीहनुमानजी की लंका दाह आदि लीलाओं को उनके आने के प्रथम ही जान लिया, गी० लं० १६ देखिये, पर माया सीता के मर्म को नहीं जाना। तथा—"विधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (दो० १२६); यह वाल्मीकिजी ने कहा है। गुरुजी यदि आगे की लीला का मर्म जानते तो श्रीदशरथजी जैसे—शुद्ध भक्त से कुछ नहीं छिपाते, आगे स्वयं भरतजी से कहा है—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।" (दो० १७१)। हाँ, इस आगे की विषम घटना से कुछ सावधान हो गये, तभी आगे कहा है—"राखें राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५४); श्रीरामजी की माया से प्रेरित गुरुजी के वचन ऐसे निकल रहे हैं कि जिससे उनका ऋषित्व भी बना रहे और अपनी लीला भी बने, क्योंकि ऋषियों के वचन अन्यथा हो जायँ तो उनका ऋषित्व नहीं रहता, इसीलिये नारदजी के शाप को भगवान् ने स्वीकार किया है।

यहाँ गुरुजी के वचनों में यह भाव भी गर्भित है कि अभी जो सुदिन आदि शोधे गये हैं, इसमें श्रीरामजी युवराज न होंगे। जब वे होंगे, तभी के सुदिन आदि जानिये।

मुदित महीपति मंदिर आये। सेवक सचिव सुमंत्र बोलाये॥१॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल बचन सुनाये॥२॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू॥३॥
जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥४॥

शब्दार्थ—जयजीव = जय हो और जियो, यह एक प्रकार का अभिवादन है। पाँचहिं = पंच, सर्वसाधारण, लोक, समाज आदि, वा, जिससे सलाह ली जाय। मत = सलाह।

अर्थ—राजा आनंद-पूर्वक घर आये और सेवकों से सुमंत्र आदि मन्त्रियों को बुलवाया॥१॥ उन्होंने 'जयजीव' कहकर राजा को प्रणाम किया, राजा ने सुन्दर मंगल के वचन सुनाये॥२॥ कि गुरुजी ने आज बहुत प्रसन्न होकर मुझसे कहा है कि राजन्! राम को युवराज-पद दो॥३॥ जो यह मत आप सब पंचों को अच्छा लगे तो हृदय से हर्ष-पूर्वक रामजी का तिलक करें॥४॥

विशेष—(१) 'मुदित महीपति मंदिर···'—राजा ने गुरुजी से आज्ञा माँगी थी कि—'कहिय कृपा करि करिय समाजू' वैसी ही आज्ञा मिली—'साजिय सबइ समाज' अतः मनोरथ-सिद्धि समझकर मुदित हैं। 'सेवक सचिव···'—यहाँ सलाह लेनी है। सेवकों से सलाह नहीं ली जाती। अतः, 'सेवकों से सचिव आदि को बुलवाया' यह अर्थ किया गया है। 'सुमंत' भी मंत्री ही हैं। किंतु सबमें प्रधान हैं, अतः इनका नाम पृथक् भी लिया गया।

'भूप सुमंगल बचन सुनाये'—रामजी के यौवराज्याभिषेक-सम्बन्धी वचन ही सुमंगल-वचन हैं, यथा—"सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुबराज।" (दो० ४); एवं—"सुदिन सुमंगल दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥" (दो० १४)।

(२) 'प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु···'—'प्रमुदित' यथा—"सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी।" (दो० ३); यद्यपि गुरुजी ने इनके विचार के अनुसार आज्ञा दी है, तथापि उत्तम कार्य में अहंभाव नहीं चाहिये और उन्हें गुरुओं की आज्ञा से करना चाहिये, यथा—"कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन। नहछू आइ करावहु···गोद लिये कौसल्या बैठीं रामहि वर हो।" (रामलला नहछू १)। मंत्री लोग इस भाव को जान गये कि युवराज-पद देना राजा ही का कार्य है, बिना इनकी रुचि जाने गुरुजी ने नहीं कहा होगा, इसीसे उन्होंने कहा है—"जग मंगल भल काज बिचारा।" इसमें मंत्री लोग राजा का ही विचार कह रहे हैं।

(३) 'जौं पाँचहिं मत लागइ···'—राजा ने प्रथम स्वयं विचार करके निश्चय किया, फिर उसे गुरुजी से भी पूछा, अब मंत्रियों से परामर्श कर रहे हैं, यहाँ भी निर्णय करके तब सभा में प्रकाशित करेंगे—"राम राज अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ।" (दो० ५); यह राजा की नीति-निपुणता है, कहा भी है—"यद्यपि नीति निपुन नर नाहू।" (दो० २६); गुरुजी की आज्ञा लेकर मंत्रियों से परामर्श का प्रयोजन यह है कि अभी यह विचार एक पक्ष का है, मध्यस्थ विचार दूसरा है, वह उत्तर-प्रतिउत्तर से मँजा होने से अधिक उज्ज्वल होता है, गुरु की आज्ञा सुनकर मंत्री लोग उसी के अनुरूप कुछ विशेषता का ही विचार करेंगे, यथा—"यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥" (वाल्मी० २।२।१६), इसमें 'एषा' से युवराज देना अभीष्ट है।

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी ॥५॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी ॥६॥
जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिहि नाथ न लाइय बारा ॥७॥
नृपहिं मोद सुनि सचिव सुभाखा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा ॥८॥

दोहा—कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज-अभिषेक-हित, बेगि करहु सोइ सोइ ॥५॥

शब्दार्थ—बिरव (सं० विरुद, वीरुध) = छोटा पौधा। बारा (सं० वार) = विलंब। बौंड़ = लता।

अर्थ—इस प्रिय वाणी को सुनते ही मंत्री आनन्दित हो गये, मानों मनोरथ-रूपी पौधे में पानी पड़ गया ॥५॥ मंत्री लोग हाथ जोड़कर बिनती करते हैं कि हे जगत्-पति! आप करोड़ों वर्ष जियें! ॥६॥

आपने जगत्-भर के मंगल का अच्छा कार्य विचारा है, हे नाथ ! शीघ्र ही कीजिये, विलंब न लगाइये ॥७॥ मंत्रियों का सुन्दर भाषण सुनकर राजा को आनन्द हुआ, मानों लता बढ़ते समय सुन्दर शाखा (का आश्रय) पा गई ॥८॥ राजा ने कहा कि मुनिराज वसिष्ठजी की जो-जो आज्ञाएँ हों, राम-राज्याभिषेक के लिये उन सबको शीघ्र करो ॥९॥

विशेष—(१) 'मंत्री मुदित सुनत···'—पूर्व कहा गया-'सेवक सचिव सुमंत बोलाये' और यहाँ मुदित होना मंत्रियों का कहा गया, इससे सेवकों से मंत्रियों का बुलवाना ही अर्थ पुष्ट हुआ, जो वहाँ किया गया था। *'अभिमत बिरव परेउ···'—इन सबका अभिमत पूर्व कहा गया—"सबके उर अभिलाष अस···"* वही बिरवा उनके हृदय-स्थल पर प्रथम ही से लगाया हुआ था, पर वह सूख रहा था, राजा के अनुकूल वचन-रूपी जल से फिर लहलहा उठा और मारे हर्ष के राजा को आशीर्वाद और धन्यवाद देने लगे। 'परेउ जनु पानी'—'पानी पड़ना' वर्षा के जल पड़ने को कहते हैं और यह मनोरथ-भंग का मुहावरा भी है, यथा—'अमुक के मनोरथ पर पानी पड़ गया' वैसे ही यह चर्चा चलना ही विघ्न का कारण हुआ, नहीं तो अभी तक मनोरथ कर-करके आनंदित होते थे। यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहि राम होइ चित चेता॥" (दो० १०)।

(२) 'बिनती सचिव करहिं···'—'बिनती'—राजा ने इनसे सलाह पूछी थी, ये विनय-पूर्वक अपनी स्वीकृति हार्दिक प्रसन्नता, आशीर्वाद और धन्यवाद से प्रकट करते हैं। 'जियहु जगत पति···' आप करोड़ों वर्ष जियें यह दीर्घायु के लिये मुहावरा है, यथा—"जियहु सुखी सय लाख बरीसा।" (दो० १४५)। भाव यह कि बहुत आयु हो और मरने पर भी युग-युग यश जागता रहे, यशस्वी मनुष्य मरने पर भी जीता ही रहता है। यथा—"कीर्त्तिर्यस्य स जीवति।" प्रसिद्ध है।

'जगतपति' क्योंकि—'जगमंगल भल काज बिचारा।' है, जिससे जगत्-भर का पालन (विशेष रूप में) होगा। अथवा पुत्र के जगत् भर के राज्य करते हुए भी वह राज्य आपका ही है। 'बेगिहि'—गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा था, वैसे ही इन्होंने भी कहा।

'बिनती' शब्द से वाल्मी० २।२।२३ से ५४ तक का अभिप्राय जना दिया, अर्थात् जब श्रीरामजी को युवराज-पद देने में सभी एक साथ सहमत हो गये, तब राजा ने सबका अभिप्राय प्रकट करने के लिये ऊपर से रुष्ट होकर कहा कि क्या हमारे शासन में आपलोगों को कष्ट था कि दूसरे राजा के लिये तुरत स्वीकृति मिल गई ? इसपर सबने प्रार्थना-पूर्वक कहा कि आप लोकोत्तर गुणी हैं, किन्तु आपके पुत्र में तो बहुत ही कल्याणकारी गुण हैं, उन्हें हमलोग कहते हैं, आप सुनें। उन गुणों के सुनने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

(३) 'नृपहि मोद सुनि···'—गुरुजी के वचन से यह लता बढ़ रही थी, अब मंत्रियों के वचन-रूप सुन्दर शाखा का सहारा भी मिल गया, अतः वृत्ति की अधिक आशा होने से प्रसन्नता हो रही है। मंत्रियों के अभिमत को 'बिरवा' और राजा के अभीष्ट-सुख को 'बौंड़' कहा गया, ये दोनों चौमासे भर रहते हैं, वैसे ही यह आनन्द भी थोड़े ही काल का है।

(४) 'बेगि करहु सोइ सोइ'—प्रथम गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा, तब मंत्रियों ने भी 'बेगिहि नाथ' कहा, वैसे ही यहाँ राजा भी कहते हैं—'बेगि करहु' यह क्यों ? इसपर करुणासिंधुजी ने लिखा है—ब्रह्माजी ने श्रीनारदजी के द्वारा श्रीरामजी के पास सँदेशा भेजा कि अवतार कार्य का स्मरण किया जाय, तब श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि अब कुछ ही दिनों में देखिये; अतः, दैवी प्रेरणा से यह शीघ्रता सबके वचनों में हो रही है।

हरषि मुनीस कहेउ मृदुबानी । आनहु सकल सुतीरथ-पानी ॥१॥
औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मंगल नाना ॥२॥
चामर चरम बसन बहु भाँती । रोम पाट पट अगनित जाती ॥३॥
मनिगन मंगलबस्तु अनेका । जो जग जोग भूप-अभिषेका ॥४॥

शब्दार्थ—औषध = सर्वौषधि, यथा—"मुरा मांसी वचा कुष्टं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटीचम्पकमुस्तञ्च सर्वौषधिगणः स्मृतः ॥" (पुरोहित दर्पण) अर्थात् जटामसी, बच, कूट, शिलाजीत, हलदी, दारुहलदी, कचूर, चम्पा और मोथा। प्रत्येक शुभ कर्म में सर्वौषधि के जल से स्नान करने का विधान है। मूल = मोथी, मुरेठी (मुलहठी), शतावर आदि। फूल = गुलाब, चमेली, चम्पा आदि समयानुसार। फल = जायफल, इलायची आदि। पाना (पर्ण) = तुलसी, आम, पान आदि पत्ते। चामर = चँवर, मुरछल। रोम-पाट-पट = रोमपट, पाटपट और पट (ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र।)

अर्थ—मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर कोमल वाणी से कहा—सब श्रेष्ठ तीर्थों के जल लाओ ॥१॥ (नाना) ओषधि, मूल, फूल, फल, पत्र एवं पान आदि अनेक मंगल-पदार्थों के नाम गिनाकर बतलाये ॥२॥ चँवर, मृग आदि के चर्म, बहुत प्रकार के वस्त्र, अगणित जातियों (प्रकार) के ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र ॥३॥ अनेकों मांगलिक मणिगण, और भी बहुत प्रकार के मांगलिक पदार्थ (बतलाये), जो संसार में राज्याभिषेक के योग्य हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'हरषि मुनीस कहेउ···'—हर्ष-पूर्वक कार्यारंभ शकुन है, इसलिये मुनि हर्ष के साथ कोमल वाणी से कहते हैं, क्योंकि इस कार्य में इनकी हार्दिक प्रीति है। 'पानी'—सुतीर्थ के संबंध से 'जल' कहना चाहिये, पर 'पानी' कहा गया, क्योंकि यह अभिषेक में नहीं लगेगा, पानी ही (कूप) में डाला जायगा।

(२) 'औषध मूल फूल···'—'नाना' सबके साथ है। 'चरम'—चर्म पर सातों द्वीपों का नक़शा बनाया जाता है, उसे सिंहासन पर रखकर और उसपर राजा को बैठाकर राज-तिलक किया जाता है। 'मनिगन मंगल···'—मोती, विद्रुम, पन्ना, पुखराज, फिरोजा आदि दोष-रहित, यथा—"मंगलमय मुकुता मनि गाये।" (बा० दो० ३२१)।

यहाँ के पदार्थ प्रयोजन के क्रम से कहे गये हैं, जैसे प्रथम तीर्थ जल से स्नान, फिर औषधि मय जल से स्नान तब तिलक की वस्तुएँ, मंगल पदार्थ, भूषण, वस्त्र आदि।

बेदबिदित कहि सकल बिधाना । कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना ॥५॥
सफल रसाल पूँगफल केरा । रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा ॥६॥
रचहु मंजु मनि-चौकइं चारू । कहहु बनावन बेगि बजारू ॥७॥
पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा । सब बिधि करहु भूमि-सुर-सेवा ॥८॥

दोहा—ध्वज पताक तोरन कलस, सजहु तुरग रथ नाग ।
सिर धरि मुनिबर बचन सब, निज निज काजहिं लाग ॥६॥

शब्दार्थ—रोपहु (आरोपय) = लगाओ। तोरन = १ बन्दनवार, २ बाहरी फाटक, जो राजा की सवारी जाने के मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर सजाये जाते हैं। यहाँ दोनों ही अर्थ हैं।

अर्थ—वेदों से प्रसिद्ध सब विधान कहकर, तब कहा कि नगर में अनेकों प्रकार के मंडपों की (चित्र-विचित्र) रचना करो ॥५॥ फलदार आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर के चारों ओर और गलियों में लगाओ ॥६॥ सुंदर मणियों से सुंदर चौकें पूरे, शीघ्र ही बाजार सजाने को कहो ॥७॥ गणेशजी, गुरु और कुल देवता की पूजा करो और सब प्रकार एवं सब विधानों से ब्राह्मणों की सेवा करो ॥८॥ ध्वजा, पताका, तोरण, कलश, घोड़े, रथ और हाथी सजाओ। मुनिराज वशिष्ठजी के वचनों को शिरोधार्य कर सब अपने-अपने कामों में लगे ॥९॥

विशेष—(१) 'वेदबिदित कहि···'—ऊपर वेद-विधि कह चुके, अब यहाँ से लोक रीति कहते हैं, क्योंकि दोनों ही कहना है, यथा—"लोक-वेद-मत मंजुल कूला।" (बा० दो० ३८)।

'सफल रसाल पूग फल केरा'—मनोरथ की सफलता के उद्देश्य से सफल वृक्ष लगाये जाते हैं, यथा—"सफल पूग फल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला।" (बा० दो० ३४३)।

(२) 'रचहु मंजु मनि-चौकइं चारू'—'चौकइं' (चौकें) बहुवचन है, क्योंकि ये बहुत प्रकार की और जगह-जगह पर पूरी जाती हैं, यथा—"चौकइं चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥" (दो० ७)। 'मंजु मनि' से सुंदर गजमुक्ता का अर्थ है, यथा—"गज मनि रचि बहु चौक पुराई।" (उ० दो० ८)। 'कहहु बनावन बेगि···'—बाजार पंचायती एवं बहुत बड़ा है। अतः, अपने-अपने द्वार पर सब सजा लें, ऐसा कहने को कहा गया और 'बेगि' भी कहा गया, क्योंकि समय थोड़ा है, प्रातःकाल ही मुहूर्त है।

(३) 'पूजहु गनपति गुरु···'—गणेशजी प्रथम पूज्य हैं और विघ्न विनाशक हैं। अतः, प्रथम ही कहा है। 'गुरु' वशिष्ठजी स्वयं हैं, एवं और भी गुरु वर्ग के लोग। 'कुल देवा'—श्रीरंगजी हैं, यथा—"आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।" (वाल्मी० ७।१०८।२७)। देवता लोग परोक्ष हैं, अतएव 'पूजहु' कहा है और 'भूमि सुर' प्रत्यक्ष हैं। अतः, इनकी सेवा करना कहा गया है। 'सब बिधि'—भोजन, वस्त्राभूषण, दान, मान आदि से प्रसन्न करना, क्योंकि—"मंगल मूल बिप्र परितोषू।" (दो० १२५)।

(४) 'निज-निज काजहिं···' यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा।" आगे कहा है; अर्थात् सबको उनके अधिकार के योग्य आज्ञा दी गई थी।

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा ॥१॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगलकाजा ॥२॥
सुनत राम-अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा ॥३॥

कह रहे हैं। 'करत राम हित···'—विप्र—साधु सुर की पूजा ही मंगल कार्य है, यथा—"मुद मंगल मय संत समाजू ।" (बा० दो० १); "मंगल मूल विप्र परितोषू ।" (दो० १२५)। यहाँतक बाहर का वर्णन है।

राम-सीय-तनु सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये ॥४॥
पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत-आगमन-सूचक अहहीं ॥५॥
भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥६॥
भरत-सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुनफल दूसर नाहीं ॥७॥
रामहिं बंधु-सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥८॥

दोहा—येहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचिबिलास ॥७॥

शब्दार्थ—जनाये = प्रकट हुए, सूचना दी, यथा—"फरकि बाम अँग जनु कहि देही।" (सुं० दो० ३४)। अवसेरी = चिन्ता, प्रतीक्षा, विलंब। रहसेउ = हर्षित हुआ।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी के शरीर शकुन को प्रकट कर रहे हैं, उनके शुभ अंग फड़क रहे हैं ॥४॥ पुलकित होकर प्रेम से वे आपस में कहते हैं कि ये शकुन भरत के आगमन के सूचक हैं ॥५॥ बहुत दिन होने से अत्यंत चिन्ता थी, इन शकुनों से विश्वास होता है कि प्यारे से मिलन होगा ॥६॥ भरत के समान जगत् में हमें कौन प्रिय है ? अतः, शकुन का फल यही है, दूसरा नहीं ॥७॥ श्रीरामजी को भाई की चिन्ता रातों दिन रहती है, जैसे कछुए के हृदय में अपने अंडों की हो ॥८॥ इस अवसर पर यह परम मंगल (—समाचार) सुनकर रनिवास हर्षित हुआ, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र की लहरों का विलास बढ़ता हुआ सोहता है ॥७॥

विशेष—(१) 'राम-सीय-तनु सगुन···'—श्रीरामजी का मंगल अंग दाहिना और श्रीसीताजी का बायाँ है, यथा—"फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।" (बा० दो० २३०); "मंजुल मंगल मूल, बाम अंग फरकन लगे।" (बा० दो० २३६)। इन उभय पक्षों के शुभ अंग फड़कने से प्रिया-प्रियतम का मिलाप हुआ है। ऐसे ही—"प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देही ॥" (सुं० दो० ३४); तथा—"भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।" (उ० दो० १); का फल भी प्रिय-मिलाप ही है। इससे निश्चय होता है कि शुभ अंगों के फड़कने का फल यही होता है, इसीसे आगे कहते हैं—'इहइ सगुन फल' है। 'दूसर नाहीं'—राज्य-तिलक प्राप्ति आदि नहीं।

शकुन श्रीसीताराम के शरीर में ही हुए और इन्हीं को जान पड़े, क्योंकि इसका फल इन्हीं को मिलना है, नगर के लोगों का मनोरथ भंग होगा। अतः, उन्हें शकुन नहीं देख पड़े।

(२) 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी' में अतिव्याप्ति (दोष) थी कि किस प्रिय से भेंट होगी ? इसे आगे अर्द्धाली से निवृत्त किया—'भरत सरिस प्रिय को···' यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ ते प्यारे ॥" (दो० १८८); "प्रान समान राम-प्रिय अहहू ॥" (दो० १८३)। "सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।

प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥" (दो० २०७); "भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम-राम जपु जेही ॥" (दो० २१७); इत्यादि कौशल्याजी, वसिष्ठजी, भरद्वाजजी और बृहस्पतिजी के वचन हैं।

(३) 'अंडन्हि कमठ हृदय……'—कछुआ अपने अंडों को पानी से बाहर बालू में रखता है और स्वयं जल में रहते हुए, स्मरण से ही उनका सेवन करता है—यथा—"कुटिल करम लै जाय मोहि जहँ-जहँ अपनी बरियाई। तहँ-तहँ जिनि छिन छोह छाड़िये कमठ अंड की नाई ॥" (वि० १०३)। इसी तरह श्रीरामजी श्रीअवध में रहते हैं और श्रीभरतजी ननिहाल (केकय देश) में रहते हैं, पर यहीं से उन्हें क्षण भर को नहीं भूलते और कृपा से उनका पालन करते हैं। (यह माधुर्य-दृष्टि का प्रीति-पूर्वक भक्त पर स्नेह है, अन्यथा वे तो सबके अंतर्यामी ही हैं, उन्हीं के आधार पर संसार है।)

प्रीति के तीन भेद हैं—मकट, मार्जार और कमठ की तरह। मर्कट (बंदर) से मार्जार (बिल्ली) की प्रीति श्रेष्ठ और उससे भी श्रेष्ठ कमठ (कछुए) की प्रीति कही गई है। जैसे श्रीभरत का प्रेम उच्च कोटि का है, वैसे ही श्रीरामजी का स्मरण भी है।

(४) 'सोभत लखि बिधु बढ़त……'—समुद्र का जल नित्य दो बार चढ़ता-उतरता है, इसे ज्वार-भाटा कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्य का आकर्षण ही इसका कारण है। अमावस्या और पूर्णिमा को दोनों की शक्तियाँ परस्पर अनुकूल रहती हैं, इसलिये इन तिथियों में ज्वार अधिक उठता है। पूर्णिमा को सूर्य और चन्द्रमा पृथिवी के आमने-सामने रहते हैं, इससे उस दिन आकर्षण-शक्ति विशेष होती है। सप्तमी और अष्टमी को दोनों शक्तियों के परस्पर प्रतिकूल होने से बहुत कम ज्वार उठता है। यहाँ एक साथ ही सब रनिवास का उत्साह विविध मनोरथों के साथ बढ़ना और शोभा देना उत्प्रेक्षा का विषय है। श्रीराम-राज्याभिषेक-सम्बन्धी परममंगल पूर्णचन्द्रमा है। सब रनिवास समुद्र और उनका विविध मनोरथ के साथ रहना (उत्साहित होना, हर्षना) विविध-तरंगों की वृद्धि का बिलास है। जैसे पूर्णिमा को समुद्र सोहता है, वैसे ही रनिवास सोहता है। पीछे कैकेयी राहु की तरह ग्रसेगी और वन-यात्रा-रूप कृष्ण पक्ष हो जायगा। यहाँ उपमा का इतना ही तात्पर्य है।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये ॥१॥
प्रेम-पुलकि तनु मन अनुरागीं। मंगलकलस सजन सब लागीं ॥२॥
चौकइँ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥३॥

अर्थ—पहले जाकर जिन्होंने यह समाचार सुनाया, उन्होंने बहुत भूषण और वस्त्र पाये ॥१॥ (रानियों का) शरीर प्रेम से पुलकित है और उनके मन में अनुराग पूर्ण है, वे सब मंगल-कलश सजने लगीं ॥२॥ श्रीसुमित्राजी ने सुन्दर चौकें पूरीं, जो तरह-तरह की मणियों की और अत्यन्त सुन्दर थीं ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रथम जाइ जिन्ह……भूषन बसन भूरि……'—रानियाँ बहुत हैं और समाचार सुनानेवाले भी 'जिन्ह' और 'तिन्ह' से बहुत कहे गये हैं। सबको श्रीरामजी समान प्रिय हैं। अतः, जिनके पास जिसने पहले पहुँचकर मंगल समाचार कहा, उसीने बहुत भूषण-वस्त्र पाये। रनिवास को ऊपर समुद्र कहा गया है, समुद्र तरंगों के द्वारा रत्नों को बाहर डाल देता है, यथा—"सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं ॥" (उ० दो० २२); इसी तरह रनिवास आनन्द और उत्साह के साथ भूषण-वस्त्र लुटा रहा है।

(२) 'मंगलकलस सजन सब लागीं।'—यह 'परम मंगल' है और समय थोड़ा है, और भी बहुत मंगल सजना है। सभी को उत्साह है, इससे 'सब' का लगना कहा है।

(३) 'चौकइँ चारु सुमित्रा·····'—चौकें आटा-अबीर और लाल चावल से भी पूरी जाती हैं, पर यहाँ 'मनिमय' कहा है अर्थात् रंग-बिरंग की मणियों के चूर्ण से पूरी गईं। 'अविहुरी'—क्योंकि ऐसी ही गुरुजी की आज्ञा है—'रचहु मंजु मनि चौकइं चारू।" (दो० ५)।

शंका—गुरुजी ने प्रथम—'रचहु मंजु मनि चौकइँ चारू।' कहकर तब 'कलस सजहु' कहा था, पर यहाँ पहले 'कलस' का ही सजना कहा गया, पीछे चौकें पूरना, यह क्यों ?

समाधान—श्रीसुमित्राजी मंगल-रचना में आचार्या एवं अग्रगण्या हैं, यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे।" (बा० दो० ३७५); वहाँ इन्हीं के प्रारंभ करने पर सब लगी थीं, वैसे ही कलश सजने से मंगल साज प्रारंभ हुआ तो सुमित्राजी ने प्रारंभ करवाया। फिर ये चौक पूरने में लगीं, क्योंकि इसकी रचना में इनसे निपुण कोई न थी और चौकों को विशेष विचित्र रचने को गुरुजी ने कहा है।

आनँद - मगन राममहतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी ॥४॥
पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा ॥५॥
जेहि बिधि होइ राम-कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू ॥६॥
गावहिं मंगल कोकिलबयनी। बिधुबदनी मृग-सावक-नयनी ॥७॥

दोहा—राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि।
लगे सुमंगल सजन सब, बिधि अनुकूल बिचारि ॥८॥

शब्दार्थ—नागा = अष्टकुल नाग देव, ये मांगलिक समझे जाते हैं, इनके नाम—ऐरावत, अनन्त (शेष), पद्म, शंकु, अशुकम्बल, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक। मंगल कार्यों में इनके पूजन का विधान है। ग्रामदेवि = वह देवी-देवता जो ग्राम स्थापन के समय बाहर प्रायः पश्चिम ओर स्थापित किये जाते हैं। इस तरह का अयोध्याजी में 'छुटकी देवी' का स्थान है। बलि भागा = देवताओं के यज्ञ का भाग, नैवेद्य, यथा—"बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहइ नाग अरि भागू॥" (बा० दो० २६६); "बलि पूजा चाहैं नहीं।" (वि० १०७)।

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौसल्याजी आनंद में मग्न हैं, उन्होंने बहुत-से ब्राह्मणों को बुलाकर बहुत दान दिये ॥४॥ ग्राम-देवियों, देवताओं और नागों की पूजा की और फिर (कार्य सफलता पर) भी बलि-भाग देने को कहा ॥५॥ (पूजा करके वर माँगती हैं—) जिस तरह श्रीरामजी का कल्याण हो, दया करके वही वरदान दीजिये ॥६॥ कोकिला की-सी सरस माधुरी वाणीवाली, चन्द्रमुखी और हिरण के बच्चों की-सी आँखोंवाली स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं ॥७॥ श्रीरामजी का राज्याभिषेक सुनकर (नगर के) स्त्री-पुरुष हृदय से हर्षित हुए। ब्रह्माजी को अपने अनुकूल समझकर सब सुन्दर मंगल सजाने लगे ॥८॥

विशेष—(१) 'आनंद मगन राम'······'—और माताओं को 'हरषेउ' कहा गया कि उन्हें हर्ष हुआ, कौसल्याजी तो श्रीरामजी की अपनी माँ हैं, अतएव आनंद में डूब ही गईं। इससे दान ही देना अच्छा समझा।

(२) 'पूजी ग्रामदेवि सुर नागा ।'—राजा 'विप्र साधु सुर' पूजते हैं और ये 'ग्रामदेवि···' आदि। स्त्रियाँ देवों की पूजा प्रायः करती ही हैं। 'ग्राम देवि' से भूलोक, 'सुर' से स्वर्ग और 'नागा' से पाताल लोक, इस तरह तीनों लोकों के देवताओं की पूजा की और मनौती मानी। यथा—"तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् । वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥···प्राणायामेनपुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥" (वाल्मी० २।४।३०-३३); अर्थात् अभिषेक की बात सुनकर श्रीरामजी ने माता को देखा कि वे देवालय में बैठी हुई रेशमी वस्त्र पहने मौन होकर प्रणाम करती हुई कल्याण की याचना कर रही हैं। ···जनार्दन पुरुष का प्राणायाम के द्वारा ध्यान कर रही हैं।

(३) 'जेहि बिधि होइ···'—'कल्यानू' से यहाँ राज्य-श्री की प्राप्ति ही का तात्पर्य है, जैसे उपर्युक्त 'अयाचतीं श्रियम्' है, उसे ही वहीं पर आगे—"येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥" (वाल्मी० २।४।४१) से स्पष्ट किया है।

बालकांड दो ३५० में कहा गया है—"देव पितर पूजे बिधि नीकी ।···सबहिं बंदि माँगहि बरदाना । भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥ अंतरहित सुर आसिष देहीं । मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥" पर यहाँ आशीर्वाद नहीं मिल रहा है, क्योंकि इस समय देवता लोग अपने स्वार्थ के वश होकर प्रतिकूल हैं— "बिघन मनावहिं देव कुचाली ।" (दो० १०) । लीला के अनुरोध से श्रीरामजी की प्रेरणा तो प्रधान है ही, नहीं तो सर्वत्र सूचना पहुँच गई, पर श्रीरामजी को प्राणों से अधिक प्रिय माननेवाली कैकेयी माता के यहाँ प्रथम-प्रथम कुटिला मंथरा ही ने समाचार क्यों कहा।

(४) 'गावहिं मंगल कोकिल···'—पूर्व बा० दो० ३९५ में भी रानियों का मंगल सजना, पुनः— 'मुदित करहिं कल मंगल गाना ।' कहा गया था, यहाँ 'बिधु बदनी' भी कहा गया है, क्योंकि यहाँ देवी के मंडप में मुँह खोले बैठकर गा रही हैं।

(५) 'राम राज अभिषेक सुनि···' पूर्व—"सुनत राम अभिषेक सुहावा । बाज गहागह अवध बधावा ॥" (दो० ६) पर जो प्रसंग छोड़ा था, वहीं से पुनः मिलाते हैं। पूर्व इनलोगों ने—"सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेश ।" (दो० १); पर जो मनौती मानी थी, उसके लिये अब मुहूर्त भी निश्चित होना सुन रहे हैं, अतः विधाता को अपने अनुकूल समझते हैं। (पर वास्तव में विधाता इनके प्रतिकूल हैं)।

तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये । रामधाम सिख देन पठाये ॥१॥
गुरु आगमन सुनत रघुनाथा । द्वार आइ पद नायेउ माथा ॥२॥
सादर अरघ देइ घर आने । सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥३॥
गहे चरन सियसहित बहोरी । बोले राम कमल-कर जोरी ॥४॥

अर्थ—तब राजा ने वसिष्ठजी को बुलवाया और श्रीरामजी के महल में शिक्षा देने को भेजा ॥१॥ गुरुजी का आना सुनते ही रघुनाथजी ने द्वार पर आकर चरणों में शिर नवाया ॥२॥ आदरसहित अर्घ्य देकर उनको घर में लाये और सोलहो प्रकार से पूजन करके सम्मान किया ॥३॥ फिर श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी ने उनके चरण पकड़े (प्रणाम किया) और कमल समान हाथों को जोड़ कर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'तब नरनाह बसिष्ठ···'—वसिष्ठजी राजा के गुरु, मंत्री और पुरोहित भी हैं, गुरुत्व कार्य में वसिष्ठजी के पास राजा स्वयं जाते हैं। मंत्री के कार्य में मुनि ही नियत समयपर सभा में आते

हैं और पुरोहिती के काम में वे बुलाये जाते हैं, यथा—"गुरु वसिष्ट कहँ गयेउ हँकारा।" (बा० दो० १६२) "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी ॥" (बा० दो० १६६); वैसे ही यहाँ भी पुरोहिती का ही कार्य है, यथा—"पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥" (वाल्मी० २।५।१)। 'तब' अर्थात् जब 'विप्र साधु सुर' के पूजन से निवृत्त हुए। 'नरनाह'—नरमात्र को बुला सकते हैं। 'रामधाम'—यह 'कनक भवन' है, इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २। १५। ३०–४८ में है। 'सिख देन'—आज के उपयुक्त नियम की शिक्षा देने के लिये।

(२) 'गुरु आगमन सुनत···'—'रघुनाथा'—रघुकुल धर्मिष्ट है, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं, फिर क्यों न ऐसा धर्माचरण करें। अतः, इन्होंने द्वार पर आकर प्रणाम किया, इसमें शील स्वभाव भी दिखाया, यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू ॥ चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला ॥···दंड प्रनाम करन प्रभु लागे ॥" (दो० २४१)।

(३) 'सादर अरघ देइ···'—'सादर'—"स्वयं हाथ पकड़कर रथ से उतारा।" (वाल्मी० २।५।७); और पट पाँवड़े देते हुए लिवा लाये। 'षोरह भाँति' यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ॥ मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च। सुगंधं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम् ॥" ये षोड़शोपचार पूजा के भेद हैं।

(४) 'गहे चरन सिय सहित···'—'बहोरी' एक बार पहले द्वार पर प्रणाम कर चुके हैं, अब श्रीसीताजी के साथ प्रणाम किया। श्रीसीताजी रानी हैं, अतः बाहर नहीं आ सकीं, गुरुजी के आने पर पूजा की सामग्री में लगी थीं। पूजा हो जाने पर श्रीरामजी के साथ प्रणाम किया।

सेवक - सदन स्वामि - आगमनू। मंगलमूल अमंगल - दमनू ॥५॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असि नीती ॥६॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयेउ पुनीत आजु यह गेहू ॥७॥
आयसु होइ सो करउँ गोसांई। सेवक लहइ स्वामि - सेवकाई ॥८॥

दोहा—सुनि सनेह-साने वचन, मुनि रघुवरहिं प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस ॥९॥

अर्थ—(यद्यपि) सेवक के घर स्वामी का आना मङ्गलों की जड़ और अमङ्गलों का नाशक है ॥५॥ तो भी उचित तो यह था कि हे नाथ! सेवक को कार्य के लिये प्रीति पूर्वक बुला भेजते, ऐसी ही नीति है ॥६॥ हे प्रभो! आपने अपनी प्रभुता छोड़कर मुझपर स्नेह किया, जिससे आज यह घर पवित्र हुआ ॥७॥ हे गोसाईं! जो आज्ञा हो वह करूँ, (क्योंकि) सेवक स्वामी की सेवा से ही शोभा पाता है ॥८॥ स्नेह में सने हुए वचनों को सुनकर वसिष्ठ मुनि रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की प्रशंसा करने लगे—हे राम! ऐसा तुम क्यों न कहो? तुम इस सूर्यवंश के भूषण हो ॥९॥

विशेष—(१) 'तदपि उचित जन बोलि सप्रीती'—गुरु को अधिकार है कि वे शिष्य को डाँटकर भी बुलावें, पर गुरु जब प्रीति के साथ बुलावें तो उनकी बड़ी कृपा एवं प्रसन्नता है।

(२) 'प्रभुता तजि प्रभु···'—'प्रभुता', यथा—"बड़ बसिष्ठ समको जगमाहीं।" (दो० २४१); श्रीवसिष्ठजी माधुर्य दृष्टि से इनके पुरखों (बाप-दादों) के भी गुरु हैं और ऐश्वर्य दृष्टि से अखिलेश्वर के गुरु हैं। आपने स्नेहवश अपनी प्रभुता को छोड़कर वात्सल्य भाव से शिष्य के घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'आजु'—इस घर में आज प्रथम ही आये हैं। नीति तो यह है कि सेवक स्वामी के घर जाय, पर प्रेम में इस नियम को आपने त्याग दिया।

(३) 'हंस-बंस अवतंस'—सूर्यवंश सदा से विवेकी होता आया, तुम उस कुल के भूषण हो, ऐसे उत्तमाचरण एवं नम्रता तुम्हारे योग्य ही है। दोनों ओर के प्रेम और प्रशंसा के वर्त्ताव सराहनीय हैं।

बरनि राम-गुन - सील - सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥१॥
भूप सजेउ अभिषेक - समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुवराजू ॥२॥
राम करहु सब संयम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके मुनिराज प्रेम से पुलकित होकर बोले ॥१॥ राजा ने तिलक का सामान सजाया है, वे तुमको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥२॥ हे राम! आज सब प्रकार का संयम (परहेज) करो, जो (जिससे) विधाता कुशलपूर्वक कार्य निबाह दे ॥३॥

विशेष—(१) 'भूप सजेउ अभिषेक···'—तिलक के लिये प्रस्ताव राजा ने ही किया है, गुरुजी ने अनुमोदन मात्र किया है; अतः, राजा का ही सजना कहा।

(२) 'राम करहु सब संजम आजू।'—'संयम'—गुरुजी ने मंत्र के द्वारा श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी को उपवास का संकल्प कराया। गुरुजी के जाने पर श्रीरामजी ने पत्नी के साथ स्नान करके विधिपूर्वक हवन किया, बचे हुए हवि का भोजन किया। कुश के बिछौने पर मौनी एवं पवित्र चित्त होकर पत्नी-सहित लेटे और पहर रात रहे उठे, इत्यादि। ऐसा वाल्मी० २।६।१-४ में लिखा है। 'आजू'—आज ही से संयम करो कल प्रात काल तो मुहूर्त्त ही है। 'जौं बिधि···' क्योंकि ऐसे कार्यों में प्रायः विघ्न हुआ ही करते हैं। यह गुरुजी ने वात्सल्य-वश ब्रह्मा से एक तरह से प्रार्थना की है। परन्तु भावी-वश वचन ऐसे निकले कि जिससे कार्य में संदेह प्रकट हो रहा है, क्योंकि श्रीरामजी की हार्दिक रुचि कुछ और ही है।

गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयेऊ ॥४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥
करनबेध उपबीत बिवाहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥
बिमलबंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥७॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय-बचन कहि, रघुकुल - कैरव - चंद ॥१०॥

शब्दार्थ—बिसमय=आश्चर्य, इससे शंका और आश्चर्य दोनों ही मिले रहते हैं। केलि=खेल।

अर्थ—गुरुजी शिक्षा देकर राजा के पास गये, (इधर) श्रीरामजी के हृदय में ऐसा विस्मय हुआ ॥४॥ कि हम सब भाई एक साथ उत्पन्न हुए, भोजन करना, सोना, लड़कपन के खेल, कनछेदन, जनेऊ और ब्याह सभी उत्सव साथ-साथ हुए ॥५-६॥ इस निर्मल (सूर्य) वंश में यह एक (बड़ी) अनुचित बात हो रही है कि भाई को छोड़कर (या, हटाकर) बड़े ही का तिलक होता है ॥७॥ प्रभु का प्रेम साथ यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरण करे ॥८॥ उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये, रघुकुल रूपी कुईं के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा-रूप श्रीरामजी ने प्रिय-वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥१०॥

विशेष—(१) 'जनमे एक संग सब "संग-संग सब···'—और सब संस्कार तो साथ-साथ हुए, स्पष्ट हैं, जन्म के विषय में पायस के विभाग को लेना चाहिये, जिसे राजा ने एक साथ ही किया था।

(२) 'बिमल बंस यह अनुचित एकू।'—'एकू' अर्थात् अभी तक इस वंश में और कोई अनुचित कार्य नहीं हुआ, परन्तु यही 'एक' ऐसा बड़ा अनुचित है जिससे यह वंश कलंकित होगा कि एक भाई भरत को सूचना तक नहीं दी गई, जिससे लोकापवाद होगा कि भाई को बिहाइ (हटाकर) चुपके-से राज्य ले लिया, जिससे हमारी भी निन्दा होगी।

भाव यह कि चारो भाई रहते, हमें युवराज, भरतजी को सहायक, लक्ष्मणजी को कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्न को सेनाध्यक्ष आदि के पद साथ ही दिये जाते तो अच्छा होता।

देखिये, भावी की चाल कि एकाएक राजा को श्वेत केश देखकर युवराज-पद देने की वृत्ति हुई। "साथ ही घोर अशकुन होने लगे, जिससे वे घबराकर अत्यन्त शीघ्रता के कारण भरतजी के मामा एवं भरत-शत्रुघ्न तथा जनकजी को न बुला सके। (यही अनर्थ का कारण हो गया), राजा ने सोचा कि ये लोग पीछे सुनकर प्रसन्न होंगे।" (वाल्मी० २।१।४१-४८)। इधर श्रीरामजी सोचने लगे कि ऐसे दूषित पद को हम न ग्रहण करेंगे। पार्वतीजी ने कहा था—"राज तजा सो दूषन काहीं।" (बा० दो० १०८); इसका उत्तर यही अर्द्धाली है—'बिमल बंस यह अनुचित एकू।···' श्रीरामजी अपनी लीला-विधान के अनुरूप सबकी प्रवृत्ति कर देते हैं, जैसे नारदजी को मोहवश किया और उनसे शाप लेकर लीला की। कहा भी है—"त्वदाश्रितानां ··" (आलवन्दार स्तोत्र)।

(३) 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ···'—प्रभु के इस प्रेम-पूर्वक पछताने को सुन्दर कहकर ग्रंथकार सराहना कर रहे हैं, साथ ही इसका फल भी कह रहे हैं कि यह भक्तों के मन की कुटिलता को हरेगी। वह इस प्रकार कि भगवान् का श्रीमुख वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २३३); "नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥······साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयंत्वहम्। मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि॥" (श्रीमद्भा० ९।५।६४-६८); इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि भगवान् भक्तों के हृदय के अनुकूल ही उनके सम्मुख रहते हैं। भरतजी श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य सहित अपनेको व्यर्थ मानते हैं—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई।" (दो० १७७); उसी तरह श्रीभरतजी के बिना श्रीरामजी इस राज्यश्री को व्यर्थ मानते हैं। भक्त भगवान् के साथ (अर्पण करके) ही कोई वस्तु ग्रहण करते हैं। वैसे भगवान् भी भक्तों के साथ ही कोई भी सुख ग्रहण करते हैं। यह अन्योन्य सापेक्ष्य है।

यह व्यवस्था इस 'पछितानि' से रह जाती है, अन्यथा भक्तों के मन में यह कुटिलता आती कि

(२) 'प्रभुता तजि प्रभु···'—'प्रभुता', यथा—"बड़ बसिष्ठ समको जगमाहीं।" (दो० २४१); श्रीवसिष्ठजी माधुर्य दृष्टि से इनके पुरुषों (बाप-दादों) के भी गुरु हैं और ऐश्वर्य दृष्टि से अखिलेश्वर के गुरु हैं। आपने स्नेहवश अपनी प्रभुता को छोड़कर वात्सल्य भाव से शिष्य के घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'आजु'—इस घर में आज प्रथम ही आये हैं। नीति तो यह है कि सेवक स्वामी के घर जाय, पर प्रेम में इस नियम को आपने त्याग दिया।

(३) 'हंस-बंस अवतंस'—सूर्यवंश सदा से विवेकी होता आया, तुम उस कुल के भूषण हो, ऐसे उत्तमाचरण एवं नम्रता तुम्हारे योग्य ही है। दोनों ओर के प्रेम और प्रशंसा के वर्त्ताव सराहनीय हैं।

बरनि राम-गुन - सील - सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥१॥
भूप सजेउ अभिषेक - समाजू। चाहत देन तुम्हहिं जुवराजू ॥२॥
राम करहु सब संयम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके मुनिराज प्रेम से पुलकित होकर बोले ॥१॥ राजा ने तिलक का सामान सजाया है, वे तुमको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥२॥ हे राम! आज सब प्रकार का संयम (परहेज) करो, जो (जिससे) विधाता कुशलपूर्वक कार्य निबाह दे ॥३॥

विशेष—(१) 'भूप सजेउ अभिषेक···'—तिलक के लिये प्रस्ताव राजा ने ही किया है, गुरुजी ने अनुमोदन मात्र किया है; अतः, राजा का ही सजना कहा।

(२) 'राम करहु सब संजम आजू।'—'संयम'—गुरुजी ने मंत्र के द्वारा श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी को उपवास का संकल्प कराया। गुरुजी के जाने पर श्रीरामजी ने पत्नी के साथ स्नान करके विधिपूर्वक हवन किया, बचे हुए हवि का भोजन किया। 'कुश के बिछौने पर मौनी एवं पवित्र चित्त होकर पत्नी-सहित लेटे और पहर रात रहे उठे, इत्यादि। ऐसा वाल्मी० २।६।१–५ में लिखा है। 'आजू'—आज ही से संयम करो कल प्रातःकाल तो मुहूर्त्त ही है। 'जौं बिधि···' क्योंकि ऐसे कार्यों में प्रायः विघ्न हुआ ही करते हैं। यह गुरुजी ने वात्सल्य-वश श्रद्धा से एक तरह से प्रार्थना की है। परन्तु भावी-वश वचन ऐसे निकले कि जिससे कार्य में संदेह प्रकट हो रहा है, *क्योंकि श्रीरामजी की हार्दिक रुचि कुछ और ही है।*

गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयेऊ ॥४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥
करनबेध उपबीत बिबाहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥
बिमलबंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ॥७॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय- बचन कहि, रघुकुल - कैरव - चंद ॥१०॥

शब्दार्थ—बिसमय=आश्चर्य, इसमें शंका और आश्चर्य दोनों ही मिले रहते हैं। केलि=खेल।

अर्थ—गुरुजी शिक्षा देकर राजा के पास गये, (इधर) श्रीरामजी के हृदय में ऐसा विस्मय हुआ ॥४॥ कि हम सब भाई एक साथ उत्पन्न हुए, भोजन करना, सोना, लड़कपन के खेल, कनछेदन, जनेउ और ब्याह सभी उत्सव साथ-साथ हुए ॥५-६॥ इस निर्मल (सूर्य) वंश में यह एक (बड़ी) अनुचित बात हो रही है कि भाई को छोड़कर (या, हटाकर) बड़े ही का तिलक होता है ॥७॥ प्रभु का प्रेम साथ यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरण करे ॥८॥ उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये, रघुकुल रूपी कुईं के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा-रूप श्रीरामजी ने प्रिय-वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥१०॥

विशेष—(१) 'जनमे एक संग सब ··संग-संग सब···'—और सब संस्कार तो साथ-साथ हुए, स्पष्ट हैं, जन्म के विषय में पायस के विभाग को लेना चाहिये, जिसे राजा ने एक साथ ही किया था।

(२) 'बिमल बंस यह अनुचित एकू।'—'एकू' अर्थात् अभी तक इस वंश में और कोई अनुचित कार्य नहीं हुआ, परन्तु यही 'एक' ऐसा बड़ा अनुचित है जिससे यह वंश कलंकित होगा कि एक भाई भरत को सूचना तक नहीं दी गई, जिससे लोकापवाद होगा कि भाई को बिदाइ (हटाकर) चुपके-से राज्य ले लिया, जिससे हमारी भी निन्दा होगी।

भाव यह कि चारो भाई रहते, हमें युवराज, भरतजी को सहायक, लक्ष्मणजी को कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्न को सेनाध्यक्ष आदि के पद साथ ही दिये जाते तो अच्छा होता।

देखिये, भावी की चाल कि एकाएक राजा को श्वेत केश देखकर युवराज-पद देने की वृत्ति हुई। "साथ ही घोर अशकुन होने लगे, जिससे वे घबराकर अत्यन्त शीघ्रता के कारण भरतजी के मामा एवं भरत-शत्रुघ्न तथा जनकजी को न बुला सके। (यही अनर्थ का कारण हो गया), राजा ने सोचा कि वे लोग पीछे सुनकर प्रसन्न होंगे।" (वाल्मी० २।४।४२-४८)। इधर श्रीरामजी सोचने लगे कि ऐसे दूषित पद को हम न ग्रहण करेंगे। पार्वतीजी ने कहा था—"राज तजा सो दूषन काही।" (बा० दो० १०८); इसका उत्तर यही अर्द्धाली है—'बिमल बंस यह अनुचित एकू।···' श्रीरामजी अपनी लीला-विधान के अनुकूल सबकी प्रवृत्ति कर देते हैं, जैसे नारदजी को मोहवश किया और उनसे शाप लेकर लीला की। कहा भी है—"त्वदाश्रितानां ··" (आलवन्दार स्तोत्र)।

जब भरत ऐसे भक्त के साथ भी श्रीरामजी ने प्रीति का निर्वाह नहीं किया, उनसे छिपकर पिता को प्रसन्न कर अकेले राज्य ले लिया तब हमलोगों को कौन भरोसा है ? कि वे प्रीति निवाहेंगे स्वामी को स्वार्थी समझना ही कुटिलता है ।

श्रीरामजी ने सर्वत्र भक्तों के साथ उत्तम प्रीति का निर्वाह किया है, जैसे आपको प्रिया-वियोग का अत्यन्त दु ख था, पर पहले भक्त सुग्रीव का स्त्री-विरह छुड़ा, उसे सुखी करके तब पीछे अपने सुख का उपाय किया, ऐसे ही विभीषणजी को प्रथम राज्य-श्री देकर तब आपने श्रीसीताजी को बुलाया । और पीछे अपना राज्य ग्रहण किया ।

यह भी भाव है कि भक्तों के मन में यदि कभी अपने भाई-बंधु के प्रति स्वार्थ-साधना रूप कुटिलता आ जायगी, यथा—"स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह" (बा० दो० १६६); अर्थात् स्वार्थ-साधता ही कुटिलता है । तब वे अपने इष्ट के इस स्वभाव का स्मरण करेंगे तो वह कुटिलता दूर हो जायगी, क्योंकि भक्तों को स्वामी का-सा आचरण रखना चाहिये, यथा—"रामति रामभक्ताः" "कृष्णाति कृष्णभक्ताः" अर्थात् श्रीराम-कृष्ण के भक्त उनके से आचरणवाले होते हैं, ये व्याकरण में उदाहरण हैं ।

(४) 'तेहि अवसर आये लखन ·· ··'—यहाँ श्रीरामजी की दृष्टि कुल-व्यवहार सुधार पर है—'विमल वंस यह अनुचित · ·· ' अतएव 'रघुकुल कैरव चंद' कहा है, ऐसे ही कुल-सम्बन्धी व्यवस्था पर अन्यत्र भी कहा है—"राम कहन तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस ।" (दो० ६); "सनमाने सब रवि कुल दीपा ।" (दो० २६५) । 'प्रिय बचन', यथा—"श्रीरामजी मुसकाते हुए श्रीलक्ष्मणजी से बोले— "लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो, तुम मेरे दूसरे अंतरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है । लक्ष्मण ! वांछित भोग और राज्य फल भोगो । मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये है ।" (वाल्मी० २।४।४३–४४) ।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना । पुर-प्रमोदु नहिं जाइ बखाना ॥१॥
भरत-आगमन सकल मनावहिं । आवहु बेगि नयन-फल पावहिं ॥२॥
हाट बाट घर गली अथाई । कहहिं परस्पर लोग लोगाई ॥३॥
कालि लगन भलि केतिक बारा । पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा ॥४॥
कनक - सिंहासन सीयसमेता । बैठहि राम होइ चित - चेता ॥५॥

शब्दार्थ—आवहु=यह विधि क्रिया का रूप है, पर इसमें इंगित बोधक क्रिया का अर्थ लिया जाता है, जैसे 'देउ'=दें । 'हरउ'=हरें, वैसे 'आवहु'=आवें, ऐसे प्रयोग प्रायः सर्वत्र हैं । लोगाई=स्त्रियाँ । अथाई=चबूतरा या बैठक ; यथा—"गोप अथाइन्ह ते उठे···" (बिहारी-सतसई) केतिक बारा= कितनी देर है, वा किस समय है ।

अर्थ—तरह-तरह के बाजे अनेकों प्रकार से बज रहे हैं, नगर के अत्यन्त आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सभी भरतजी का आगमन मना रहे हैं कि शीघ्र आवें और नेत्रों का फल पावें ॥२॥ बाजार, मार्ग, घर, गली और अथाई में स्त्री-पुरुष एक दूसरे से (यही) कह रहे हैं ॥३॥ कि सुन्दर लग्न कल किस समय है ? (वा, उसको कितनी देर है ?) जिस समय विधाता हमारी अभिलाषा पूरी करेगा ॥४॥ जब सोने के सिंहासन पर सीताजी के साथ श्रीरामजी बैठेंगे और हमारा चित-चेता (मन भाई बात एवं चित्त का चाहा) होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'बाजहिं बाजन बिबिध···'—पुर जनों का प्रसंग—"राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर-नारि। ···" (दो० ८); पर छोड़ा था, वहीं से यह प्रसंग मिलाया। 'बिबिध बिधाना'—'भेरि शंख···झाँझ बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥" (बा० दो० ३२३); तथा—"बिबिध बिधान बाजने बाजे।" (बा० दो० ३४५); भी देखिये।

(२) 'आवहु बेगि···'—क्योंकि रात ही भर में आ जाना चाहिये, पर वे कैकय देश में हैं, और बुलावा नहीं जा सका, तो दैवी गति से ही आवें तो आ सकते हैं, इसलिये सब देवताओं को मनाते हैं।

(३) 'कालि लगन भलि···'—यह लगन भली है, यथा—"कर्राह लगन मुद मंगल कारी॥ सुकृत सील सुख सीव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥" (दो० ५१)।

(४) 'कनक सिंहासन सीय···'—यही इनकी उपर्युक्त अभिलाषा है, सिंहासन राजा या देवताओं के बैठने का आसन या चौकी, इसके 'हत्थों' पर सिंह का आकार बना हुआ होता है। यह काठ, सोना, चाँदी, पीतल आदि का होता है, यहाँ का सुवर्ण और रत्नों का है, इसलिये 'कनक' विशेषण भी कहा गया है। इसी को रत्न-सिंहासन भी कहते हैं। उत्तरकांड में इसका विशेष वर्णन होगा, क्योंकि वहीं इसपर बैठेंगे भी, यहाँ तो बैठेंगे नहीं, इसलिये नाम मात्र कह दिया गया है।

राज-रस-भंग-प्रकरण

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥६॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चंदिनि राति न भावा॥७॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं॥८॥

दोहा—बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिय सोइ आज।
राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर-काज॥११॥

अर्थ—सभी (आपस में) कह रहे हैं कि (वह) कल कब होगा ? (और) कुचाली देवता विघ्न मना रहे हैं॥६॥ उन्हें अयोध्याजी का बधावा (उत्सव) नहीं अच्छा लग रहा है, जैसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती॥७॥ सरस्वती को बुलाकर (आवाहन करके) देवता विनय करते हैं, बार-बार उसके पैरों पर पड़ते हैं॥८॥ (कहते हैं कि) हे माता! हमारी बड़ी विपत्ति देखकर आज वही कीजिये, जिससे श्रीरामजी राज्य छोड़कर वन को जायँ जिससे सब देवताओं का काम हो॥११॥

विशेष—(१) 'कब होइहि काली'—यथा—"तदाऽयोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः॥" (वाल्मी० २।५।१४); अर्थात् अयोध्यावासी अत्यंत उत्सुकता से अकुला गये हैं। रात का बीतना भारी हो रहा है।

'देव कुचाली'—सब तो उत्सव को चाह रहे हैं और ये देवता विघ्न। अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के मंगल कार्य को नष्ट करके अमंगल चाहते हैं, अतः 'कुचाली' हैं।

(२) 'तिन्हहिं सोहाइ न ··चोरहिं चंदिनि···'—पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय और उत्तरार्द्ध उपमान रूप है। चाँदनी रात सबको भाती है, पर चोरों को नहीं भाती, क्योंकि उसमें वे पकड़े जाकर जेल में पड़ेंगे।

जब भरत ऐसे भक्त के साथ भी श्रीरामजी ने प्रीति का निर्वाह नहीं किया, उनसे छिपकर पिता को प्रसन्न कर अकेले राज्य ले लिया तब हमलोगों को कौन भरोसा है? कि वे प्रीति निबाहेंगे स्वामी को स्वार्थी समझना ही कुटिलता है।

श्रीरामजी ने सर्वत्र भक्तों के साथ उत्तम प्रीति का निर्वाह किया है, जैसे आपको प्रिया-वियोग का अत्यन्त दुःख था, पर पहले भक्त सुग्रीव का स्त्री-विरह छुड़ा, उसे सुखी करके तब पीछे अपने सुख का उपाय किया, ऐसे ही विभीषणजी को प्रथम राज्य-श्री देकर तब आपने श्रीसीताजी को बुलाया। और पीछे अपना राज्य ग्रहण किया।

यह भी भाव है कि भक्तों के मन में यदि कभी अपने भाई-बंधु के प्रति स्वार्थ-साधना रूप कुटिलता आ जायगी, यथा—"स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह" (बा० दो० १६६); अर्थात् स्वार्थ-साधता ही कुटिलता है। तब वे अपने इष्ट के इस स्वभाव का स्मरण करेंगे तो वह कुटिलता दूर हो जायगी, क्योंकि भक्तों को स्वामी का-सा आचरण रखना चाहिये, यथा—"*रामति रामभक्ताः*" "*कृष्णति कृष्णभक्ताः*" अर्थात् श्रीराम-कृष्ण के भक्त उनके से आचरणवाले होते हैं, ये व्याकरण में उदाहरण हैं।

(४) 'तेहि अवसर आये लखन ···'—यहाँ श्रीरामजी की दृष्टि कुल-व्यवहार सुधार पर है—'बिमल बंस यह अनुचित ···' अतएव 'रघुकुल कैरव चंद' कहा है, ऐसे ही कुल-सम्बन्धी व्यवस्था पर अन्यत्र भी कहा है—"राम कसन तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस।" (दो० ६); "सनमाने सब रबि कुल दीपा।" (दो० २६५)। 'प्रिय बचन', यथा—'श्रीरामजी मुसकाते हुए श्रीलक्ष्मणजी से बोले—"लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो, तुम मेरे दूसरे अंतरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। लक्ष्मण! वांछित भोग और राज्य फल भोगो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये है।" (वाल्मी० २।४।४३-४४)।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर-प्रमोद नहिं जाइ बखाना॥१॥
भरत-आगमन सकल मनावहिं। आवहु बेगि नयन-फल पावहिं॥२॥
हाट बाट घर गली अथाईं। कहहिं परस्पर लोग लोगाईं॥३॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा॥४॥
कनक-सिंहासन सीयसमेता। बैठहिं राम होइ चित-चेता॥५॥

शब्दार्थ—आवहु=यह विधि क्रिया का रूप है, पर इसमें इंगित बोधक क्रिया का अर्थ लिया जाता है, जैसे 'देउ'=दें। 'हरउ'=हरें, वैसे 'आवहु'=आवें, ऐसे प्रयोग प्रायः सर्वत्र हैं। लोगाईं=स्त्रियाँ। अथाई=चबूतरा या बैठक; यथा—"गोप अथाइन्ह से उठे···" (बिहारी सतसई) केतिक बारा=कितनी देर है, वा किस समय है।

अर्थ—तरह-तरह के बाजे अनेकों प्रकार से बज रहे हैं, नगर के अत्यन्त आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता॥१॥ सभी भरतजी का आगमन मना रहे हैं कि शीघ्र आवें और नेत्रों का फल पावें॥२॥ बाजार, मार्ग, घर, गली और अथाई में स्त्री-पुरुष एक दूसरे से (यही) कह रहे हैं॥३॥ कि सुन्दर लग्न कल किस समय है? (वा, उसको कितनी देर है?) जिस समय विधाता हमारी अभिलाषा पूरी करेगा॥४॥ जब सोने के सिंहासन पर सीताजी के साथ श्रीरामजी बैठेंगे और हमारा चित चेता (मन भाई बात एवं चित्त का चाहा) होगा॥५॥

यहाँ राम-राज्याभिषेक का उत्सव सबको भाता है, पर देवताओं को नहीं, क्योंकि इससे श्रीरामजी राज्य के कार्य में लग जायँगे, ये लोग रावण के बंदीगृह में ही पड़े रहेंगे। चाँदनी रात स्वच्छ होती है, वैसे ही राम-राज यश की विरुद से उज्ज्वल है। यश की उपमा चद्रमा से दी जाती है।

(३) 'सारद बोलि बिनय···'—अपनेसे कुछ उपाय बनते न देखकर सरस्वती का आवाहन किया। पहले प्रार्थना की, पर उसका रुख न पाया, तब पाँव पकड़कर पड़ जाते हैं, उसे संकोच में लाने के लिये उपाय कर रहे हैं। 'पाँव लै पढ़ना' मुहावरा है जो उपर्युक्त अर्थ में ही कहा जाता है।

(४) 'बिपति हमारि बिलोकि ···'—सरस्वती इनके स्वार्थ के लिये नगर-भर को विपत्ति देना नहीं चाहती, इसलिये उसे दिखाते हैं कि अवधवासियों से हमारी विपत्ति बड़ी है, क्योंकि वे लोग इस विपत्ति में अपने घर में तो रहेंगे और हमलोगों को तो कहीं ठिकाना नहीं मिल रहा है, यथा—"सुर पुर नितहिं परावन होई।" (बा० दो० १७६); रावण को बेगारी करनी पड़ती है—"दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० १७); "लोकप जाके बंदीखाना।" (लं० दो० ८१)। 'सकल सुरकाज'—अयोध्यावासी थोड़े हैं और देवता हम लोग ३३ कोटि हैं। अतः, उनकी अपेक्षा हमारी विपत्ति बड़ी है। बड़ों के समक्ष में छोटों पर ध्यान न दो। 'राम जाहिं बन राज तजि'—एक तो राज्य त्याग करें, दूसरे वन को जायँ, तभी देव-कार्य होगा। 'मातु'—ब्रह्मा जगत् मात्र के पितामह हैं, शारदा उनकी पत्नी है। अतः, देवताओं की भी माता है। माता के जब बच्चे दोनों पाँव पकड़कर विनती करें और दुःख सुनावें, तब उसे दया एवं संकोच आ ही जाता है। 'आज'—क्योंकि रात ही भर में सब कुछ करना है। यथा—"होइ अकाज आज निसि बीते।" (दो० ११); सबेरे तिलक हो जाने पर कुछ न हो सकेगा।

सुनि सुरबिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज-बिपिन-हिमराती ॥१॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी ॥२॥
बिसमय - हरष - रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम - प्रभाऊ ॥३॥
जीव करमबस-सुख-दुख-भागी। जाइय अवध देवहित लागी ॥४॥

अर्थ—(सरस्वती) देवताओं की विनती सुनकर खड़ी पछता रही है, (कि हा!) मैं कमल-वन के लिये हिम (हेमन्त ऋतु की) रात हुई ॥१॥ यह देखकर देवता लोग फिर प्रार्थना पूर्वक कृतज्ञता दिखाते हुए कहते हैं कि माता! तुम्हें कुछ भी दोष नहीं लगेगा ॥२॥ (क्योंकि) श्रीरामजी तो दुःख-सुख से रहित हैं, ऐसी श्रीरामजी की सब महिमा को तो तुम (स्वयं) जानती हो ॥३॥ और जीव कर्म-वश दुःख-सुख के भोक्ता होते ही हैं। अतः, देव-हित के लिये अवध जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'ठाढ़ि पछताती'—देवता लोग स्वार्थ-वश अकुला उठे हैं। इससे आवाहन करके इसे आसन भी नहीं दिया और दुःख सुनाने लगे, वह खड़ी ही रह गई। पछता रही है कि मैं बेकार आई, अब न तो ऐसा निष्ठुर कार्य ही करते और न इन दुखियों को कोरा उत्तर ही देते बनता है।

'भइउँ सरोज बिपिन हिम राती।'—अवधपुर-वासी कमल वन हैं और वे श्रीरामरूप सूर्य के द्वारा प्रफुल्ल हैं। श्रीरामजी का दक्षिण दिशा के वन को जाना सूर्य का दक्षिणायन होना है। इससे पुरवासियों को विरह से जलाना पाला डालना है, ये सब हिमऋतु की रात्रि की उपमा के भाव हैं।

(२) 'देखि देव पुनि कहहिं···'—'देखि' सरस्वती को पश्चात्ताप करते देखकर देवों ने समझा कि

यह लौटना ही चाहती है। अतः, फिर से निहोरा प्रकट करते हुए कहने लगे कि हम सब आजन्म कृतज्ञ रहेंगे, फिर हे माता, इसमें तुम्हारी कुछ भी बुराई न होगी।

(३) 'बिसमय हरष रहित '—बिसमय (विषाद) और हर्ष आदि विकार अज्ञ जीव में होते हैं, श्रीरामजी तो ब्रह्म हैं, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥ राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥" (बा० दो० ११५), 'तुम्ह जानहु सब राम-प्रभाऊ'—श्रीरामजी के सब-प्रभाव को सरस्वती ही क्या, ब्रह्मादि देवता भी नहीं जान सकते, वेद भी नेति-नेति कहकर रह जाते हैं, यथा—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति-नेति ···" (बा० दो० १२) और गीता १०। १२–१५ एवं—उ० दो० ६०–६१ भी देखिये। पर यहाँ देवता लोग स्वार्थांध होने से चाटु (चापलूसी) वचन स्तुति रूप में कह गये, सरस्वती को प्रशंसा आदि से अनुकूल करना है, श्रीरामजी के विषय में कहकर अब प्रजा के विषय में कहते हैं।

'जीव करम बस दुख···'—प्रकृति के गुणों से प्रकृति ही के परिणाम-रूप देह-द्वारा जीवों के कर्म होते हैं। पूर्व कर्मानुसार और वह भी ईश्वर की प्रेरणा से जीव इच्छा मात्र करता है, इसीसे कर्त्ता कहा भी जाता है। पर वह जीव अहंकार से मोहित होने से, अपनेको स्वतंत्र कर्त्ता मान लेता है, इसीसे दुःख-सुख का भागी होता है, यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि···" (गीता ३।२७); यथा—"कार्यकरण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥" (गीता १३।२०); पुन.—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८) यथा—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१)। सुख दुःखों के अनुभव होने का कारण भी अज्ञान ही है, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १५१)। 'देव हित लागी'—हम सब देवता हैं और तुम देवी हो, इस सजातीय सम्बन्ध से भी हमारा ही हित करना आपका कर्त्तव्य है।

बारबार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध-मति पोची॥५॥
ऊँच निवास नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥६॥
आगिल काज बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥७॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥८॥

दोहा—नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस-पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥१२॥

शब्दार्थ—सँकोची = सकोच में डाला। पोचि = नीच, ओछी। पेटारी (सं० पेटिका) = प्रायः बाँस की खँपाचियों के बने हुए सन्दूकनुमा कुन्डायुक्त ढक्कनदार डब्बे। फेरि = पलटकर।

अर्थ—बार-बार चरण पकड़-पकड़कर उसे संकोच में डाल दिया। वह यह सोचकर चली कि देवताओं की बुद्धि ओछी है॥५॥ इनका निवास तो ऊँचा (लोकों में) है, पर करनी नीच; ये दूसरे के ऐश्वर्य को नहीं देख सकते॥६॥ (परन्तु) फिर आगे का कार्य विचार कर कि चतुर कवि लोग मेरी चाह करेंगे॥७॥ वह हृदय से हर्षित हो दशरथजी के नगर में आई, मानों दुःसह दुःख देनेवाली ग्रहदशा

आई हो ॥८॥ मंथरा नाम की मंद बुद्धि कैकेयी के एक दासी थी, सरस्वती उसे अपयश की पिटारी बनाकर और उसकी बुद्धि फेर कर चली गई ॥१२॥

विशेष— (१) 'बार-बार गहि चरन…'—बार-बार चरण पकड़ना अत्यन्त दीनता एवं शरणागति है, अतः वह संकोच में पड़ गई, क्योंकि—"सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि॥" (सुं० दो० ४३)। 'बिबुध मति पोची'—कहने को विबुध (विशेष-बुद्धिमान्) हैं, पर इनकी बुद्धि बड़ी ओछी है।

(२) 'ऊँच निवास नीच…'—देवता ऊँचे अर्थात् स्वर्ग मे तो रहते हैं, पर मत्सर से भरे हैं, मत्सर आसुरी वृत्तिवाले असुरों (पातालवासियों) की प्रकृति का विकार है।

(३) 'आगिल काज बिचारि …'—प्रथम इसे भय था कि ऐसा करने से जगत् में मेरी पूजा-प्रतिष्ठा उठ जायगी; इससे देवताओं को बुरा-भला कहा, परन्तु विचार करने पर अनुभव हुआ कि श्रीरामजी के वन जाने से विस्तृत लीला होगी, उसे चतुर कवि लोग लिखना चाहेंगे, तब मेरा आवाहन करेंगे और मैं उनकी जिह्वा पर बैठकर श्रीराम-चरित्र कहूँगी, इससे जगत् में मेरा भी यश होगा, तब वह हर्ष पूर्वक चली।

(४) 'दसरथ पुर आई'—यह दशा दशरथजी और उनके पुर पर ही बीतेगी, इसलिये दशरथ पुर कहा, राम पुर न कहा, क्योंकि उसमे अनर्थ नहीं हो सकता। 'ग्रह दसा दुसह……'—सरस्वती मंगल रूपा है, किंतु आज क्रूर बनकर आई है, इसलिये उसे दुस्सह ग्रह दशा की उपमा दी गई। 'ग्रह दसा' किसी भी ग्रह की एवं किसी भी क्रूर ग्रह की दशा में लग सकती है, पर 'दुसह' कहने से शनि की साढ़े साती दशा से तात्पर्य है, आगे कहा भी है—"अवध साढ़ साती जनु बोली।" (दो० १६)।

'नाम मंथरा मंद मति……'—इसका नाम और मति दोनों ही मंद हैं। 'चेरी कैकइ केरि'—वह कैकेयीजी के पिता के घर से आई हुई दासी है। कैकेयी के साथ ही कैकय देश से आई थी और सदा कैकेयीजी के साथ ही रहती थी, यथा—"ज्ञाति दासी यतो जाता कैकेय्या सुसहोषिता।" (वाल्मी० २।७।१)। इस प्रकार की दासी का बर्ताव घर के लोगों के साथ कैसा रहता है, यह भारतवर्ष के गृहस्थों से छिपा नहीं है। इसका तो नाम ही मंथरा था, जिसका अर्थ है, मथने (बिलोने) वाली, उथल-पुथल मचानेवाली, मंद बुद्धि। फिर इसके लक्षण भी वैसे ही थे, यथा—"काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि……" (दो० १४); अपने नीच स्वभाव के कारण इसे कौशल्याजी से चिढ़ थी। अतः, सरस्वती ने इसे ही योग्य पात्र चुना, क्योंकि बुद्धि के योग्य ही माया भी लगती है, यथा—"भरत जनक मुनि जन सचिव, साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ॥" (दो० ३०२)। अवध में यही एक कुजाति एवं कुबुद्धि थी और दूसरे देश की थी, इसीसे इसे ही अपयश की पिटारी बनाई। पिटारी का ऊपरी ढक्कन कूबर युक्त (उठा हुआ) होता है, वैसे यह भी कुब्जा (कूबरी) थी। पिटारी में स्त्रियाँ भूषण-वस्त्र रखती हैं, इसके पेट में सरस्वती ने अपयश के (देनेवाले) अवगुण भर दिये।

शंका—ऐसी कुरूपा को कैकेयीजी ने दासी क्यों बनाया था?

समाधान—रानियाँ प्रायः सुन्दरी दासी नहीं रखतीं, कि ऐसा न हो कभी सौत बन बैठे। कैकेयीजी की और भी दासियाँ कुरूपा थीं, यथा—"कैकय्या गृह …कुब्जा वामनिका युतम्।" (वाल्मी० २।१०।११-१२)। 'गई गिरा'—सरस्वती चली गई, क्योंकि वह अवध पर विपत्ति देख न सकती थी।

'चेरी कैकइ केरि' का यह भी भाव है कि "कैकेयी की माता ने अपने पति के मारने में कसर नहीं उठा रक्खी थी, इसीसे अंत में वह निकाली गई। माँ के गुण कैकेयी में भी होने ही चाहिये।" (वाल्मी० २।३५।१७-२८); [इसीसे सरस्वती ने दूसरा पात्र इसे ही चुना है—"गई गिरामति धूति।" (दो० २०६);] पुनः जैसी कैकेयी है, वैसी उसकी दासी को भी होनी ही चाहिये।

दीख मंथरा नगर बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा ॥१॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू ॥२॥
करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाज कवनि बिधि राती ॥३॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती ॥४॥

अर्थ—मन्थरा ने देखा कि नगर सजाया हुआ है, सुन्दर मांगलिक बधावे बज रहे हैं ॥१॥ लोगों से पूछा कि क्या उत्सव है ? जब सुना कि रामजी का तिलक है, तब उसके हृदय में जलन हुई ॥२॥ वह दुर्बुद्धि कुजातिवाली विचार करने लगी कि किस उपाय से आज रात ही में कार्य हानि (विघ्न) हो ? ॥३॥ जैसे कोई कुटिला किरातिनी (भीलनी) मधु (शहद) का छत्ता लगा हुआ देखकर दाँव (घात) विचारे कि इसे किस तरह से ले लूँ ? ॥४॥

विशेष—(१) 'पूछेसि लोगन्ह'—लोग रचना कर रहे थे, उन्हीं से पूछा। यह स्त्री है, स्त्रियों से ही पूछती, पर स्त्रियाँ महलों के भीतर थीं। 'कुबुद्धि कुजाती'—एक तो यह स्वयं 'मंदमति' थी, फिर सरस्वती ने और भी मंद कर दिया। अयोध्या में यही एक कुजाती थी, और तो सब सुजाति थे, यथा—"मनिगन पुर-नरनारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर···" (दो० १)

(२) 'देखि लागि मधु कुटिल······'—'कुटिल' दोप देहली है। 'मधु कुटिल' यह मधु सारंग मक्खियों का होता है। यह बड़ी सावधानी से रात में निकाला जाता है। 'कुटिल किराती'—किराती अवध में दो कही गई हैं—मथरा और कैकेयी। कैकयी सीधी किरातिनी है—"बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।" (दो० ८३), और मंथरा टेढ़ी किरातिनी है, क्योंकि कुबड़ी है।

यहाँ राजमहल छत्ता है, राम-राज्याभिषेक मधु (जो सब सुकृत रूप फूलों का रस है), पुरवासी लोग मधुमक्खियाँ हैं—"बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।" (दो० ७५)। मंथरा कुटिल किरातिनी है (टेढ़ी अंग और तिरछी निगाह से घात ताकना अच्छा बनता है) 'गँव तकइ'—दाँव ताक रही है, इतने में दाँव चित्त में आ गई कि भरतजी ननिहाल में हैं। अतः, कहने की दाँव है। उन्हें बाहर भेजकर कौशल्या चुपके से अपने पुत्र को राज्य दिलाती हैं। सारंग मधु बड़े गँव से कम्बल ओढ़कर रात में निकाली जाती है, वैसे ही यह रात में कैकेयी रूप कम्बल की ओट से गुरु मंत्री एवं पुरवासियों की आँखें बचाकर राम-राज्य रूपी मधु निकाल भरतजी को देने का प्रयत्न विचारती है।

भरतमातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी ॥५॥
ऊतर देइ न लेइ उसासू। नारि-चरित करि ढारइ आँसू ॥६॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्हि लखन सिख अस मन मोरे ॥७॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि ॥८॥

दोहा—सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल ।
लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी-उर साल ॥१३॥

शब्दार्थ—अनमनि (अन्यमनस्क)=उदास, दुःखी । हसि=है (तू)। उदास=ऊर्ध्व श्वास । गाल=बड़बड़ाने का स्वभाव । गाल बड़ तोरे=गर्व सहित बकवाद करने की आदत तेरी है । साल=दुःख ।

अर्थ—भरत की माता के पास मुँह लटकाये हुए गई । रानी ने हँसकर पूछा—क्यों दुःखी है ? ॥५॥ वह कुछ उत्तर नहीं देती, ऊर्ध्व साँस ले रही है और स्त्री-चरित्र करके आँसू बहा रही है ॥६॥ हँसकर रानी ने कहा कि तेरे बड़े गाल हैं, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि लक्ष्मण ने तुझे शिक्षा दी है (दंड दिया है) ॥७॥ इतने पर भी चेरी न बोली, क्योंकि वह बड़ी पापिनी है, ऐसी साँस छोड़ रही है, मानों काली सर्पिणी हो ॥८॥ रानी ने डरकर कहा, अरी, बोलती क्यों नहीं ? (अपने बिलखाने का कारण क्यों नहीं कहती ?) राम, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं ? (इन सबकी) कुशल क्यों नहीं कहती ? यह सुनकर कुबड़ी के हृदय में बड़ी पीड़ा हुई ॥१३॥

विशेष—(१) 'भरतमातु पहिं······'—भरत की माता कहा है, क्योंकि अभी इसका हृदय भरत के हृदय की तरह शुद्ध है । 'बिलखानी' का ही अर्थ 'अनमनि' है, अर्थात् मन का और भाँति हो जाना । दुःख से मुँह बनाये हुए उदास रहना ।

(२) 'दीन्ह लखन सिख अस······'—इसने कुछ अंड-बंड बका होगा, इसपर लक्ष्मण ने ठोंका-पीटा होगा, यह रानी का अनुमान है । वह जानती है कि मेरी दासी पर आँख उठानेवाला और कोई नहीं हो सकता । राम तो परम सुशील हैं । हाँ, लक्ष्मण किसी के अन्याय को नहीं सह सकते । अतः, उन्होंने दंड दिया होगा ।

(३) 'तबहुँ न बोल चेरि······'—सर्पिणी मर्मस्थल देखकर डँसती है, वैसे ही यह सोचती है कि जब रानी को हमारी दशा से भय हो, तब मेरे वचनों का प्रभाव पड़ेगा, इसी से अभी नहीं बोलती, क्योंकि अभी तो रानी हँस रही है । अतः, मेरे वचन हँसी में उड़ा देगी । 'बड़ि पापिनि'—क्योंकि अपने अन्नदाता का ही नाश करेगी । 'छाड़इ स्वास कारि ··'—काले सर्प अधिक विषैले होते हैं, उनसे भी अधिक काली नागिन होती है । अभी लंबी साँस लेती हुई फुफकार रही है, रानी को डँसेगी । अपयश होना एवं विधवा होना उसका मरना है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (दो० ९४) ।

नागिन की फुफकार से लोग डर जाते हैं, वैसे ही रानी भी भयभीत हो गई—'सभय रानि कह···' ।

(४) 'भा कुबरी उर-साल'—रानी तो उसकी दशा देखकर और उसके न बोलने पर डर गई कि कोई भारी दुर्घटना तो नहीं हो गई । अतः, प्रथम प्राणों से भी अधिक प्रिय श्रीरामजी का, तब पति का एवं और पुत्रों का कुशल पूछा, इससे उसे और भी पीड़ा हुई, क्योंकि जिनसे प्रतिकूल होकर यह आई है, रानी उन्हीं राम और राजा का कुशल प्रथम पूछ रही है ।

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई । गाल करब केहि कर बल पाई ॥१॥
रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू । जेहि जनेस देइ जुवराजू ॥२॥

भयेउ कौसिलहि विधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन ॥३॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा ॥४॥

अर्थ—(मंथरा ने कहा) हे माई! मुझे कोई क्यों शिक्षा देगा? मैं किसका-बल पाकर गाल करूँगी? ॥१॥ राम को छोड़कर आज और किसका कुशल है, जिन्हें राजा युवराज-पद दे रहे हैं।॥२॥ (अब तो) कौशल्याजी को विधाता अत्यन्त दाहिने हो गये हैं जिसे देखते हुए गर्व उनके हृदय में नहीं समाता ॥३॥ (नगर की) सब शोभा क्यों नहीं जाकर देखती हो जिसे देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया है? ॥४॥

विशेष—(१) 'कत सिख देइ हमहिं······'—'माई' का भाव यह कि आप माता की तरह हमारा पोषण एवं पक्ष करती थीं, तो मैं किसी को कुछ कह भी डालती थी, अब किसके बल पर गाल करूँगी? और क्यों मारी जाऊँगी? भाव यह कि अब तो तुम्हारा बल रह ही नहीं गया। तुम तो स्वयं दासी बनने जा रही हो, पर यह स्पष्ट नहीं कहती, क्योंकि रुख अनुकूल नहीं पाती। अभी ईर्ष्या उपजाने का उपाय कर रही है, यह—'दीन्हि लखन सिख ····' का उत्तर है।

(२) 'रामहि छाँड़ि कुसल केहि ·····' यह—'कहसि किन, कुसल राम महिपाल' का विषैला उत्तर है। इसमें भरतजी का अकुशल गुप्त है।

(३) 'भयेउ कौसिलहि विधि अति······'—'अति दाहिन' अर्थात् विधाता दाहिने तो पूर्व से ही थे कि वे सबमें जेठी पटरानी थीं, फिर उनका पुत्र भी सब पुत्रों में बड़ा हुआ और अब तो उन्हीं के पुत्र का राज्याभिषेक भी हो रहा है। अतः, उनके विधाता 'अति दाहिन' हो गये। इससे उनका गर्व हृदय में नहीं समाता। 'देखत'—विधि के दाहिने होने का कार्यरूप-राज-तिलक की सजावट देखकर। अभी तक तुम्हें गर्व था—"गरबित भरत मातु बल पी के।" (दो० १७)। अब उनको गर्व हुआ और वह इतना अधिक है कि उनके हृदय में नहीं समाता।

प्रायः स्त्रियाँ सौत का उत्कर्ष नहीं सह सकतीं, उसपर भी सौत के गर्व को तो किसी तरह सह ही नहीं सकतीं। मंथरा ने द्वेष उपजाने में यही सामने रक्खा, इसी में सफल भी होगी—"अस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका ॥" (दो० २१)।

'मोर मन छोभा', यथा—"राम-तिलक सुनि भा उर दाहू।" (दो० १२)।

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानतिहहु बस नाह हमारे ॥५॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप-कपट-चतुराई ॥६॥
सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥७॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी ॥८॥

दोहा—काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि, भरतमातु मुसुकानि ॥१४॥

शब्दार्थ—तुराई (तूल + आई) = रुई भरी वस्तु, तोशक, दुलाई। झुकी = क्रोध आने पर 'मतिझन्दी

की तरफ को झुकना, झुक पड़ना, क्रुद्ध होना, यह मुहावरा है। अरगानी = चुप, अलग, यथा—"अस कहि राम रहे अरगाई।" (दो० २५८), "तहँ धारै जननी अरगाई।" (बा० दो० ६१)। घर-फोरी = घर में फूट लगाने-वाली। खोरा = लँगड़ा, दोष-युक्त (खोटा)।

अर्थ—पुत्र (भरत) परदेश में है और तुम्हें कुछ चिन्ता नहीं। जानती हो कि पति (राजा) तो मेरे वश में हैं ही ॥५॥ तुम्हें पलँग और तोशक पर सोना बहुत प्रिय है, राजा की कपट-चातुरी को लक्ष्य नहीं करती हो ॥६॥ प्रिय वचन सुन उसे मलिन मनवाली जानकर रानी उसपर क्रुद्ध हुई (और बोली) बस, अब चुप रह ॥७॥ अरी घर-फोड़ी! फिर कभी ऐसा कहा, तो तेरी जीभ पकड़कर खिंचवा लूँगी ॥८॥ काने, लँगड़े और कुबड़े (स्वभावतः) कुटिल और कुचाली जाने जाते हैं, उनमें भी विशेषकर स्त्री और फिर चेरी!—इतना कहकर भरत की माता मुसकुराने लगीं ॥१४॥

विशेष—(१) 'पूत बिदेस न सोच······'—कौशल्याजी से ईर्ष्या का ढंग बाँधकर अब राजा में कपट आरोपण करती हुई, भरत के प्रति वात्सल्य जगा रही है। भाव यह कि तुम्हारी सौत (कौशल्या) की सम्मति से राजा ने भरत को ननिहाल भेज दिया है—'पठये भरत भूप···' आगे कहेगी। भरत को हटा दिया कि न तो वह रहेगा, न कोई झगड़ा उठेगा। तुम्हें चिन्ता ही नहीं है, तब भरत बेचारे किसी ओर के न हुए। इस तरह ईर्ष्या और क्रोध को दृढ़ कर रही है। 'जानति हहु····'—तुम जानती भर हो कि राजा मेरे वश में हैं, पर बात ऐसी नहीं है, राजा तुम्हारी सौत के वश हैं—"रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई॥" (दो० १७)।

(२) 'नींद बहुत प्रिय सेज···'—बहुत सोना प्रमाद है, राजाओं को सावधान रहना चाहिये। यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहि तव सिर पर आराती॥" (आ० दो० २०)।

'लखहु न भूप-कपट···'—कपट बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है, पर तुम तो भोली-भाली ठहरी और राजा कपट में चतुर हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ।" (दो० १७)। अर्थात् राजा ऊपर से ही मीठी-मीठी बातें करते हैं, पर मन के मैले हैं, कपट से भरे हैं।

(३) 'सुनि प्रिय बचन···'—"रामहि छाड़ि कुसल·· जेहि जनेस देइ जुवराजू॥" यह प्रिय वचन है, क्योंकि राम-तिलक तो ये चाहती ही थीं, यथा—"भामिनि भयेउ तोर मन भावा।" (दो० २६); "राम तिलक जौ साँचेहु काली। देउँ मागु मनभावत आली॥" (दो० १४)। घर फोड़ने के ढंग में कहा और उसका प्रबन्ध बाँधा, इससे 'मलिन मन' जाना।

(४) 'पुनि अस···तव धरि जीभ····'—'घर फोरी' सम्बोधन है, यथा—"धरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।" (दो० १६)। घर फोड़नेवाले की जीभ उखाड़ लेनी चाहिये, यह नीति भी जनाई।

(५) 'काने खोरे कूबडे··'—ये तीनों मन के कुटिल और तन से कुचाली होते हैं। 'मुसुकानि'—क्योंकि यह कूबड़ी, स्त्री और चेरी तीनों दोषों से युक्त है। 'तिय बिसेषि···'—पुरुष में ये दोष हों, तो वे कुटिल कुचाली होते हैं, स्त्री में हों तो और अधिक। वह स्त्री भी यदि चेरी हो, तब तो कहना ही क्या! 'भरत मातु'—क्योंकि अभी भरत के अनुकूल हृदयवाली हैं।

रानी का अंत में मुसकाना ही दासी के जाल में फँसने का कारण हुआ, नहीं तो इसी फटकार पर सारी लीला ही समाप्त हो जाती। यहाँ 'हँसा सो फँसा' यह कहावत सिद्ध हुई। देखिये, मय-सभा में द्रौपदी के हँस देने पर ही सारा महाभारत हुआ, वैसे ही इस 'मुसकानि' से ही सारी रामायण की रचना होगी।

प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही ॥१॥
सुदिन सुमंगल-दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥२॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल-रीति सुहाई ॥३॥
राम-तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन-भावत आली ॥४॥

अर्थ—हे प्रिय बोलनेवाली मंथरे! मैंने तुझे शिक्षा दी है, मुझे स्वप्न में भी तेरे ऊपर क्रोध नहीं है ॥१॥ वही दिन सुंदर दिन और सुन्दर मंगलों का देनेवाला है, जिस दिन तेरा वचन (कि राजा राम को युवराज पद दे रहे हैं) सत्य होगा ॥२॥ बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई सेवक हो, यह इस सूर्य-वंश की सुहावनी रीति है ॥३॥ सत्य ही यदि श्रीरामजी का तिलक है, तो सखी! तू मनभाया पदार्थ माँग ले, मैं दे दूँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रियबादिनि'—क्योंकि राम-तिलक-रूप प्रिय वचन सुनाया। 'सिख'—कि मालिक के घर में फूट नहीं डालनी चाहिये, इतने ही के लिये हमने डाँटा है और जो तूने प्रिय वचन सुनाया, उससे अब मैं तुमपर कभी भी कुपित नहीं होने की। 'फुर जेहि दिन होई' आगे भी—'जौं साचेहु काली' कहती है, क्योंकि इन्हें विश्वास नहीं हो रहा है। ऐसी प्रसन्नता की बात होती तो राजा मुझसे पहले ही कहते, क्योंकि यही तो मेरा अभीष्ट था।

(२) 'जेठ स्वामि सेवक लघु···' यथा—"ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥" (मनुस्मृति अ० ९)। 'सुहाई' से यह भी सूचित किया कि—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो० १७४) की रीति सामान्य है। इस कुल में 'सुहाई' ही रीति चली आ रही है। अतः, यह कुल दोष-रहित है।

(३) 'देउँ माँगु मन-भावत आली'—और माताओं ने प्रथम यह समाचार सुनानेवालों को बहुत-बहुत 'भूषन बसन' दिये थे। कौशल्याजी ने—'दिये दान बहु बिप्र हँकारी।' पर इनकी तरह किसी ने 'मनभावत' देने को नहीं कहा। क्यों न हो, इन्हें तो श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" आगे कहती हैं। 'आली'—प्रिय संदेश देने के कारण दासी को 'सखी' का पद दिया।

कौसल्या-सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥५॥
मो पर करहिं सनेह बिसेषी। मैं करि प्रीति-परीछा देखी ॥६॥
जौं बिधि जनम देइ करि छोहू। होहु राम-सिय पूत-पतोहू ॥७॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे ॥८॥

दोहा—भरत-सपथ तोहि सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमय करसि, कारन मोहि सुनाउ ॥१५॥

अर्थ--राम को कौशल्याजी के ही समान सब माताएँ सहज स्वभाव से प्यारी हैं ॥५॥ मुझपर तो वे विशेष स्नेह करते हैं, मैंने परीक्षा करके उनकी प्रीति देख ली है ॥६॥ यदि विधाता कृपा करके जन्म दें, तो कृपा करके यह भी दें कि रामजी पुत्र और सीताजी पतोहू हों ॥७॥ मुझे श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, फिर उनके तिलक से तुझे दुःख कैसे हो रहा है ॥८॥ तुझे भरतजी की शपथ है, कपट और छिपाव छोड़कर सत्य कह। हर्ष के समय तू खेद कर रही है, मुझे इसका कारण सुना ॥१५॥

विशेष--(१) 'कौसल्या-सम सब ···'--यह--'भयेउ कौसिलहिं बिधि अति दाहिन।' का उत्तर है।

'सहज सुभाव'--जन्म-काल से ही स्वाभाविक (बनावट नहीं)।

(२) 'मो पर करहिं सनेह बिसेखी', यथा--"मानी राम अधिक जननी ते। जननी गस न गही।" (गी० उ० १७); "कहैं मोहिं मैया, कहउँ मैंन, मैया भरत की, बलैया लेहौं भैया तेरी भैया कैकेई है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है॥" (क०अ० ३)।

शंका--श्रीरामजी की प्रीति तो परीक्षा करके देखी, सीताजी की कैसे जानी ?

समाधान--सीताजी पतिव्रता हैं, इससे पति के अनुसार ही वृत्तवाली जानकर, यथा--"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥" (दो० २५१)। "सीय लखन रिपु दवन राम-रुख लखि सबकी निबही॥" (गी० उ० १७)।

(३) 'जौं बिधि जनम···'--भाव यह कि जन्म-जन्म इनका यह सुख मुझे बना रहे।

(४) 'तिन्हके तिलक छोभ कस तोरें'--तू मेरी दासी है, तो तुझे भी राम प्राणों से प्रिय होने चाहिये। उनका तिलक सुनकर हर्ष होना चाहिये था, पर क्षोभ हुआ, यह क्यों ? यही पूछने में रानी चूक गई, अन्यथा उसे उत्तर देने की कोई बात ही नहीं मिलती, यहीं कैकेयीजी में 'सुर-माया' का स्पर्श हुआ।

(५) 'भरत सपथ तोहि···'--यह (मंथरा) भरत के ननिहाल की है और उनका पक्ष भी लिये हुए है--'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे।' अभी वह आई, इसीसे 'भरत सपथ' कहा कि जिससे सत्य कहे। यहाँ 'सुरमाया' का अंकुर समझना चाहिये जो मंथरा के वचन-रूपी जल से बढ़ेगा।

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥१॥
फोरइ जोग कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥२॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥३॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती ॥४॥

अर्थ--(मंथरा बोली) एक ही बार (के कथन) में सारी आशा पूरी हो गई, अब तो दूसरी जीभ लगाकर कुछ कह सकूँगी ॥१॥ मेरा अभागा शिर फोड़ने ही योग्य है, जो भले के लिये भी कहते हुए तुमको दुःख लगा ॥२॥ जो झूठी-साँची बातें बनाकर कहते हैं, हे माई ! वे ही तुम्हें प्रिय हैं और मैं तो कड़वी हूँ ॥३॥ मैं भी अब से ठकुरसुहाती कहूँगी, और नहीं तो दिन-रात चुप ही रहा करूँगी ॥४॥

विशेष--(१) 'जीभ करि दूजी'--का भाव यह कि जैसी बात से जीभ कढ़वाने की आज्ञा हुई थी, वैसी ही बातें मुझे फिर कहनी हैं, तो एक जीभ तो निकाली ही जायगी, दूसरी बनवाकर रख लूँ तब तो कहने का साहस करूँ !

(२) 'फोरइ जोग कपार अभागा'— यह वस्तुतः कैकयी का ही अभाग कह रही है, पर उसको कैसे कहे ? इसलिये अपना ही अभाग कहती है कि अभागा कपाल तो तभी हो गया कि जब राम-तिलक सुना, अब मैं तुम्हें भी नहीं सुहाती, तब यह फोड़ने ही योग्य है। इसे रखकर क्या करूँगी (स्त्री-स्वभाव से दोनों हाथ शिर पर पटककर कहा है) अर्थात् मैंने तो तुम्हारे हित का वचन कहा, पर फल उलटा मिला। तुम्हारा दोष नहीं, मेरा ही अभाग्य है।

(३) 'कहहिं झूठि फुरि···'—जो झूठ को सत्य बनाकर कहते हैं, वे तुम्हें प्रिय हैं, पर मैं तो सत्य ही कहती हूँ, इसीसे कडुवी (अप्रिय) हूँ। झूठ-फुर = झूठ-सच—यह मुहावरा है।

(४) 'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती'—'ठकुरसोहाती' अर्थात् उपर्युक्त झूठ-सच, मुँह देखी, खुशामदी। यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती॥" (लं० दो० ८); भाव यह कि मैं भी अब तुम्हारी-सी कहूँगी, जिसमें भला देखूँगी, उसे कहूँगी और जिसमें बुरा देखूँगी, उसके विषय में सदा चुप लगाये रहूँगी, क्योंकि दिन-रात रहना तो तुम्हारे पास है। अनभल कहने से मौन रहूँगी, क्योंकि—"अनभल देखि न जाइ तुम्हारा···।" आगे कहा है। 'दिन-राती' में यह भी आशय है कि बस, यही आज का दिन और रात मौन रहूँगी, फिर तो राम-राज्य हो जाने पर न तुम्हारी ठकुराई रहेगी और न मुझे ठकुरसुहाती कहने की नौबत ही आवेगी।

इस तरह मंथरा ने अपनेको सत्यवादिनी सिद्ध करने एवं रानी को अपने पर प्रतीति उत्पन्न कराने के लिये विषाद प्रकट करते हुए अपना अभाग्य कथन किया। यह कैकेयी के 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ' का उत्तर है। कैसे ढंग से पुष्ट कर रही है ? नारि-चरित देखने योग्य है !

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा॥५॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥६॥
जारइ जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥७॥
ताते कछुक बात अनुसारी। छमिय देवि बड़ि चूक हमारी॥८॥

दोहा—गूढ़ कपट-प्रिय बचन सुनि, तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया-बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि॥१६॥

शब्दार्थ—होब कि = इसमें 'कि' का अर्थ संस्कृत किम् का रूप मानें तो 'क्या' होता है और फारसी 'कि' का रूप मानें तो 'अथवा' 'या' होता है। अनुसारी = चलाई, छेड़ी, कही। अधरबुधि = अधर (नीच) बुद्धिवाली। पतियानि = विश्वास किया।

अर्थ—ब्रह्मा ने कुरूप बनाकर मुझे पराये के वश किया, जो बोया सो काटा, जो दिया सो पाया॥५॥ कोई भी राजा हो, मेरी क्या हानि है ? हे रानी ! चेरी छोड़कर अब मैं और क्या होऊँगी॥६॥ मेरा स्वभाव ही जलाने योग्य है कि तुम्हारा अहित मुझसे देखा नहीं जाता॥७॥ इससे कुछ चर्चा चलाई। हे देवि ! मेरी बड़ी भूल हुई, क्षमा करो॥८॥ स्त्री, नीच बुद्धि एवं देव माया वश होने के कारण, गूढ़, कपट भरे हुए एवं प्रिय वचनों को सुना और रानी ने वैरिणी मंथरा को सुहृद (हितैषिणी) जानकर उसपर विश्वास किया॥१६॥

विशेष—(१) 'करि कुरूप विधि···'—एक तो विधाता ने मुझे टेढ़ी-कुबड़ी बनाया, फिर स्त्री और उसपर चेरी करके आप ऐसी स्वामिनी के वश किया जो हित कहने पर भी दंड देने को कहे। क्या करूँ? परवश होकर सुनना ही पड़ता है, सब अपने बुरे कर्मों का फल है। यह—'काने खोरे कूबरे, कुटिल···' का उत्तर है।

(२) 'कोउ नृप होउ···' यह—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर···" का उत्तर है। 'चेरि छाड़ि अब···'—चेरी से नीची और कौन पदवी है, जो मिलने पर मेरी हानि होगी। भाव चाहे राम राजा हों, चाहे भरत, मैं तो चेरी ही रहूँगी। 'रानी' सम्बोधन से जनाती है कि राम के राजा होने पर क्या तुम रानी रहोगी? अर्थात् तुम रानी न रहोगी, किंतु चेरी होगी, तब हानि तुम्हारी ही होगी। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि भरत भी राजा हों, तो क्या, मैं अब चेरी से रानी हूँगी? चेरीपने में ही आयु बीत चली। तब रामजी ही राजा हों, मेरी तो हानि नहीं है। हाँ, तुम्हारी हानि अवश्य है, जो रानी से चेरी बनोगी।

(३) 'जारइ जोग सुभाव···'—इससे सूचित करती है, तुम्हारा भारी अनहित होनेवाला है, जिसे मैं रोकना चाहती हूँ। स्वभाव को दोष देने का भाव यह कि जिसका अनहित हो, वह उसीमें हित मानता है, तो दूसरे को क्या पड़ी है जो उसके लिये बुरी-भली सुने? पर यह मेरा स्वभाव ही जलाने योग्य है। 'तातें'—उसी स्वभाव वश। 'कछुक बात'—भाव, अभी तो उसमें बहुत कहना है, तुम थोड़े ही में बिगड़ पड़ी। इससे भारी अनिष्ट का भय दिखाया। 'छमिय देबि···' क्षमा चाहकर सूचित करती है कि अब न कहूँगी और न आप पूछें, जो हो गया, हो गया। इस दोष को क्षमा करें। प्रतीति कराने का पूरा ढंग बना लिया।

(४) 'गूढ़ कपट प्रिय बचन···'—रानी ने कहा था कि 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ', उसीका उत्तर यहाँ तक दिया कि कपट को गुप्त कर अर्थात् वचनों में गुप्त करके कपट के वचनों को सत्य की तरह प्रिय बनाकर कहा। कपट की बातें कितनी भी छिपाकर कही जायँ, पर वे उघर जाती हैं, यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन परवास। कियो दुराव चहै चातुरी, सो सठ तुलसीदास॥" (दोहावली ३१०); तब कैकेयी ने क्यों न जाना? इसका कारण उसे—'तीय अधरबुधि' और 'सुरमाया बस' कहकर बतलाया है। 'सुरमाया' अर्थात् देवमाया वश। देवता ब्रह्माजी भी हैं, उनकी माया सरस्वती है, उसे आगे स्पष्ट भी कहा गया है, यथा—"गई गिरा मति धूति" (दो० २०६)। जान पड़ता है कि जब रानी ने कहा—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे।' तब देवताओं ने फिर इसपर भी माया डालने का प्रबंध किया होगा। 'अधर बुधि' का अर्थ नीच बुद्धि है, इसीसे तो नीच के मत में पड़ी॥ यथा—"कोन कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई।" (दो० २१)।

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरी-गान मृगी जनु मोही॥१॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। रहसी चेरि घात जनु फाबी॥२॥
तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ॥३॥
सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि-छोली। अवध - साढ़साती तब बोली॥४॥

शब्दार्थ—ओही = उससे। फाबी = (फबना अनुकूल होना) = अनुकूल हुई। सजि = जमाकर, जमाकर। गढ़ि छोली = सुडौल बनाकर, अपने अनुकूल बनाकर। साढ़साती = शनैश्चर की दुःखद दशा।

अर्थ—आदर पूर्वक फिर-फिर उससे पूछ रही है, मानों शबरी के गान पर हरिनी मोह गई हो ॥१॥ जैसी भावी है, वैसी ही बुद्धि भी फिर गई है। चेरी प्रसन्न हुई, मानों दाँव (गर) अनुकूल हुई ॥२॥ तुम पूछती हो और मैं कहते डरती हूँ, क्योंकि तुमने मेरा नाम 'घरफोड़ी' रक्खा है ॥३॥ बहुत प्रकार से अपने अनुकूल बनाकर, बहुत तरह से विश्वास जमाकर, तब अवध के लिये 'साढ़साती' दशा रूपिणी मंथरा बोली ॥४॥

विशेष—(१) 'सादर पुनि पुनि···'—कहाँ तो पहले भारी निरादर किया था—'झुकी रानि··· 'पुनि अस कबहुँ ···' और कहाँ अब इतना आदर से पुनः पुनः पूछ रही है, यही उसमें मोहना है। उसीको उत्तरार्द्ध में उपमा से कहते हैं—'सबरी गान···'—मृगी को फँसाने के लिये भीलनी हिरन के ही सींग को घिसकर उससे मीठे राग अलापती है। उस राग से मोहित होकर मृग पास में आकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें यह सुध नहीं रह जाती कि यह हमें फँसा लेगी, पीछे भीलनी गुप्त रक्खे हुए फंदे से उन्हें फँसा लेती है। वैसे ही रानी मंथरा के 'गूढ़ कपट प्रिय वचन' सुनकर मोह गई है और फिर-फिर पूछ रही है। उसे यह ध्यान नहीं है कि इन वचनों में पड़ने से मुझे दुःख होगा। यथा—"अनृतर्वत् मा सान्त्वैः सान्त्वयन्तीस्म भाषसे। गीतशब्देन संरुध्य लुब्धी मृगमिवावधीः॥" (वाल्मी० २।११ ७७)।

(२) 'तसि मति फिरी अहइ ···'—पहले निरादर किया था, फिर इतना आदर क्यों करने लगी? इसीका समाधान करते हैं कि जैसी भावी है, वैसी ही बुद्धि फिर गई। यथा—"हरिइच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५)। 'जनु फाबी'—बुद्धि तो भावी से फिरी, पर मंथरा ने यही जाना कि मेरी दाँव लग गई, मेरे फेरने से रानी की मति फिरी है, इसी सफलता पर उसे हर्ष हुआ।

(३) 'सजि प्रतीति बहु बिधि···'—मंथरा ने अपने वचनों की प्रतीति कैकेयी के हृदय में बहुत तरह से सज दी। प्रथम प्रतीति कुडौल थी, तभी रानी ने फटकारा था। उसे बुद्धि रूपी बसूले से—मेरा अभागा कपाल फोड़ने योग्य है कि भला कहने पर भी तुम्हें दुःख हुआ। कोई राजा हो, तो मेरी क्या हानि? इत्यादि वचन रूपी छेनी से गढ़ छीलकर सुडौल किया। पुनः मेरा स्वभाव जलाने योग्य है कि तुम्हारा अनभल नहीं देखा जाता, इत्यादि वचनों से खरादकर साफ किया, पुनः 'छमवि देवि···' इस साधु भाव से रानी के उर में प्रतीति को सज दिया। 'अवध साढ़साती तब बोली।'—फलित ज्योतिष के अनुसार जन्मराशि, दूसरे स्थान और बारहवें स्थान में अर्थात् इन तीन राशियों में शनि-ग्रह की स्थिति साढ़े सात वर्षों तक रहती है, क्योंकि शनि प्रत्येक राशि को ढाई-ढाई वर्षों तक भोगते हैं। इस विपत्ति के काल को 'साढ़े साती' कहते हैं। शनैश्चर की दशा चढ़ते-उतरते में ६ महीने शांत रहती है। सात वर्ष दुःसह दुःखदायी रहती है। ये ही, दोनों वरों के योग से (७+७=१४) वर्ष हुए। यह अवध को उजाड़ने पर है, यथा—"अवध उजारि कीन्ह कैकेई।" (दो० २८)। यह भी गुप्त ध्वनि है कि साढ़े सात ही दिनों पर राजा की मृत्यु होने से अयोध्या अनाथ होगी।

प्रिय सियराम कहा तुम्ह रानी। रामहिं तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥५॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समय फिरे रिपु होहिं पिरीते ॥६॥
भानु कमल-कुल - पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा ॥७॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाय बर बारी ॥८॥

दोहा—तुम्हहिं न सोच सोहागबल, निज बस जानहु राउ ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ ॥१७॥

शब्दार्थ—फिरे = पलटने पर, बुरे होने पर । पिरीते = प्यारे, मित्र । सोहाग (सौभाग्य) = पति का स्नेह ।

अर्थ—रानी ! जो तुमने कहा कि सीताजी और रामजी मुझे प्रिय हैं, और रामजी को तुम प्रिय हो—यह वचन सत्य है ॥५॥ (परन्तु ऐसा) पहले था । वे दिन अब गये, समय पलटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥६॥ (देखो) सूर्य कमल के कुल का पोषण करनेवाला है; पर बिना जल के वह उसीको जलाकर राख कर देता है ॥७॥ सौत (सपत्नी) तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है, उसे उपाय रूपी श्रेष्ठ बारी लगाकर रूँधो (रक्षा करो) ॥८॥ तुमको सौभाग्य (पति-सनेह) के बल पर सोच नहीं है (क्योंकि) राजा को अपने वश में समझती हो । (पर) राजा मन के मैले और मुँह के मीठे हैं, और तुम्हारा स्वभाव सीधा है ॥१७॥

विशेष—(१) 'प्रिय सिय राम कहा ···'—रानी ने कहा था कि—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे' और 'मो पर करहिं सनेह बिसेषी ।' इन वचनों का समर्थन करते हुए युक्ति से फिर खण्डन करेगी, अन्यथा एकबारगी खंडन से रानी चिढ़ जाती ।

(२) 'रहा प्रथम अब ते दिन···'—पहले राम बच्चे थे, तब प्रीति करते थे, अब वे दिन गये । अब तो राजा हो रहे हैं तो राजनीति से काम लेंगे, जिसे कंटक समझेंगे, उसकी प्रीति दूर कर देंगे । जब अपने बुरे दिन आते हैं, तब प्रिय भी शत्रु हो जाते हैं । यथा—"कुदिना हितजन अनहित रे थिक जगत सुभाय ।" (विद्यापति-पदावली) ।

(३) 'भानु कमल कुल ···'—यह वचन—'यह दिनकर कुलरीति सुहाई ।' का उत्तर है, यहाँ 'भानु' श्रीरामजी । कैकेयी, भरत और मंथरा कमलकुल तथा कैकेयी का सोहाग बल (पति स्नेह) जल है । जब श्रीरामजी युवराज होंगे तब राजा का स्नेह उनकी माता कौशल्याजी में होगा । तब ये ही रामजी तुम्हें क्रोधाग्नि से भस्म कर देंगे । जैसे सूर्य जलहीन कमल को किरणों से भस्मकरते हैं ।

कैकेयीजी ने 'दिनकर कुल रीति' को 'सुहाई' कहा था, वही बात लेकर मंथरा इस कुल के पुरुषा सूर्य का ही दृष्टान्त देती है कि कमल सूर्य का परम मित्र है । यह सूर्य के उदय में प्रफुल्लित और अस्त में सपुटित होता है, अर्थात् सुख में सुखी और दुःख में दुखी होता है । तो भी बिना जल के कमल को सूर्य भस्म ही कर देते हैं, यह तो स्वयं पुरुषा की चाल है, तब भानुकुल भानु श्रीरामजी का व्यवहार समझ लो ।

(४) 'जरि तुम्हारि चह···'—सब सौतें कौशल्याजी की सेवा करती हैं, केवल तुम्हीं पति-स्नेह-बल से नहीं करती हो । इससे कौशल्याजी को ईर्ष्या है ।-यथा—"राजहिं तुम्ह पर प्रेम बिसेषी । सवति सुभाव सकइ नहिं देखी ॥" (दो० १७) । तुम्हारा गर्वरूप वृक्ष पति स्नेह रूपी जड़ के आधार पर है, उसे तुम्हारी सौत उखाड़ना चाहती है । यथा—"गरबित भरत मातु बल पी के ॥" (दो० १७) । वे अपने पुत्र को राज्याधिकार दिलाकर राजा को अपने वश में कर लेंगी, तब राजा का स्नेह तुमपर नहीं रह जायगा, बस, तुम्हारी जड़ गई । उस समय तुम्हारा गर्व रूप वृक्ष नहीं रह जायगा, फिर दासी बन कर सौत की सेवा करनी पड़ेगी ।

यदि अपने गर्व रूप वृक्ष की रक्षा चाहो, तो काँटेदार बारी (टट्टर) से इसे रूँधो अर्थात् घेर दो । भरतजी को युवराज और रामजी को वन देना, यही श्रेष्ठ बारी है, सौतें आप ही विपत्ति में [illegible]ंगी ।

भरत युवराज की माता होने से राजा भी तुम्हारे ही अधीन रहेंगे तब सौतें तुम्हारी ही दासी बनकर सेवा करेंगी।

(५) 'तुम्हहिं न सोच सोहाग बल···'—तुम राजा को अपने वश जानती भर हो, पर वे मन के मैले (कपटी) हैं। अपने मन की एक बात भी तुम्हें नहीं बताते, केवल मुँह के मीठे हैं, ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातों से तुम्हें रिझाये रहते हैं। तुम सीधे स्वभाव की हो, इससे उनके कपट को नहीं लख पाती और उनके विश्वास में आ जाती हो।

चतुर गँभीर राम - महतारी। बीच पाइ निज बात सँवारी ॥१॥
पठये भरत भूप ननिऔरे। राम - मातु मत जानव रौरे ॥२॥
सेवहि सकल सवति मोहि नीके। गरवित भरत-मातु बल पी के ॥३॥
साल तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई ॥४॥

शब्दार्थ—बीच पाइ = अवसर पाकर। रउरे = आप। साल = कसक, दुःख, (सालना = दुःख देना।)

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौशल्या चतुर और गंभीर हैं, अवसर पाकर उन्होंने अपनी बात सँवार ली ॥१॥ राजा ने (जो) भरत को ननिहाल भेजा है, इसमें तुम रामजी की माता कौशल्या का मत (सलाह) समझो ॥२॥ (कौशल्याजी के मन में है कि) सब सौतें अच्छी तरह मेरी सेवा करती हैं, पर केवल भरतजी की माता पति के बल पर गर्वित (अहंकार में भरी) रहती हैं ॥३॥ हे माई ! इसीसे कौशल्या को तुम्हारी कसक है (तुम उन्हें खटक रही हो)। वे कपट में चतुर हैं, इससे खुल नहीं पड़तीं, अर्थात् उनकी सौतिया डाह वा कसक जान नहीं पड़ती ॥४॥

विशेष—(१) 'बीच पाइ निज बात ···'—रामजी की माता भीतर से चतुर हैं, कार्य का प्रबन्ध करती हैं, और ऊपर से गंभीर हैं, कोई लख नहीं पाता। देखो न, अवसर पाते ही अपना मतलब गाँठ लिया। बीच पाना आगे कहती हैं—

(२) 'पठये भरत भूप ननिऔरे ···'—यह मंथरा अपना पक्ष साधने के लिये झूठ कह रही है। भरतजी के मामा युधाजित ब्याह के समय ही उन्हें लेने को आये और उन्होंने चक्रवर्तीजी से बड़ा आग्रह किया, तब (कैकेयी की भी सम्मति से) राजा ने भेजा है, यथा—"बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।" (वाल्मी० २।८।२८)। राजा का भरत-शत्रुघ्न पर पूर्ण प्रेम था। वाल्मी० २।१।४–५ देखिये।

(३) 'सेवहिं सकल सवति मोहि ···'—कौशल्या जेठी और पटरानी हैं, इससे सब सौतें धर्म समझकर उनकी सेवा करती हैं, कुबड़ी ईर्ष्या बढ़ाने के लिये नीचता दिखा रही है।

यहाँ तक मन्थरा ने क्रमशः श्रीरामजी, राजा और कौशल्याजी के प्रति कैकेयी का स्नेह दूर करने का प्रयास किया ; क्योंकि तीनों से विरोध हुए विना उसका पक्ष-पोषण नहीं हो सकता था। बार-बार 'राम मातु', 'राम महतारी' आदि से जनाती है कि जैसे रामजी हैं, वैसी ही उनकी माता भी। श्रीरामजी पर कैकेयीजी का अत्यन्त प्रेम है, इसलिये कपट-सम्बन्ध में बार-बार उन्हें दिखाती है।

राजहि तुम्ह पर प्रेम बिसेखी। सवति-सुभाव सकइ नहिं देखी ॥५॥
रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई ॥६॥

यह कुल उचित राम कहँ टीका। सबहिं सुहाइ मोहि सुठि नीका ॥७॥
आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैव फिरि सो फल ओही ॥८॥

दोहा—रचिपचि कोटिक कुटिलपन, कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सवति कै, जेहि बिधि बाढ़ बिरोध ॥१८॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु)=अत्यंत, बहुत ही। फिरि=फिर कर। ओही=उसी को। रचिपचि=गढ़कर बैठाकर। कोटिक=करोड़ों, बहुत-से। सत=सैकड़ों, बहुत। शत, कोटि एवं सहस्र शब्द अनन्तवाची हैं, बहुत के अर्थ में इनका प्रयोग होता है।

अर्थ—राजा का तुमपर बहुत प्रेम है, सौत के स्वभाव से कौशल्या उसे नहीं देख सकतीं ॥५॥ (इसलिये) आडंबर रचकर राजा को अपना करके उन्होंने श्रीरामजी के लिये तिलक का लग्न निश्चय कर लिया ॥६॥ इस कुल में श्रीरामजी को तिलक होना उचित है, यह सभी को रुचता है और मुझे भी बड़ा अच्छा लगता है ॥७॥ (परन्तु) आगे की बात विचारकर मुझे डर है, वह फल विधाता फिरकर उसी को दे ॥८॥ बहुत-सी कुटिलपन की बातें गढ़कर जमाकर उसने कैकेयी को कपट का प्रकर्ष बोध कराया अर्थात् समझाया-बुझाया और, सैकड़ों सौतों की कथाएँ कहीं, जिस तरह वैर बढ़े ॥१८॥

विशेष—(१) 'रचि प्रपंच भूपहि ·····' भरत को अलग भेजवाकर रामजी से सेवा करवा कर उनमें राजा की प्रीति दृढ़ कराई, फिर धर्म का आडंबर बाँधा कि राम ज्येष्ठ हैं, कुल-रीति एवं धर्म-शास्त्र से इन्हें ही राज्य का अधिकार है। आप धर्मात्मा हैं। अतः, उचित कर्तव्य करें। भरत के आने पर पत्ता-पत्ती न हो जाय। अतः, चुपके से रामजी को युवराज पद दे दें।

भावीबस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई ॥१॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना ॥२॥
भयेउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥३॥
खाइय पहिरिय राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोष हमारे ॥४॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई ॥५॥

अर्थ—होनहार के वश कैकेयी के हृदय में (मंथरा पर) प्रतीति हुई, तब रानी फिर शपथ दिलाकर पूछने लगी ॥१॥ (मंथरा ने कहा) क्या पूछती हो ? अहो ! तुमने अब भी नहीं जाना ? अपना भला-बुरा (मित्र और शत्रु) तो पशु भी पहचान लेते हैं ॥२॥ तिलक की सामग्री सजते पाख (पक्ष = १५) दिन हो गये, और तुमने आज मुझसे सूचना पाई ॥३॥ मैं तुम्हारे राज्य में खाती-पहनती हूँ, (इसलिये) मुझे सत्य कहने में दोष नहीं (लगेगा) ॥४॥ जो मैं कुछ झूठ बनाकर कहूँ तो विधाता मुझे दंड देंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'भावीबस प्रतीति……'—प्रथम भावीवश मति का फिरना कहा गया—"तसि मति फिरी अहइ जसि भावी…।" अब उसीसे विश्वास भी होना कहा।

'पुनि सपथ'—वही 'भरत सपथ' जिसकी चर्चा पूर्व में एक बार कर आये हैं।

(२) 'का पूछहु तुम्ह……'—राजा के मन में कपट न होता और वे तुम्हारे हित होते तो इतनी बड़ी तैयारी भी तुमसे छिपा रखते ! अर्थात् मैं ही तुम्हारी हितकारिणी हूँ।

(३) 'भयेउ पाख दिन……'—तैयारी तो आज ही से हो रही है, पर आग भड़काने के लिये १५ दिन कह रही है, यह झूठ है, या जितनी तैयारी उसने देखी है, वह उसकी समझ में १५ दिनों से कम में नहीं हो सकती। पाख का अर्थ दो भी हो सकता है, जैसे मुनि से सात का, वेद से चार का और रस से छः का बोध होता है, उसी प्रकार पाख (पक्ष) से भी दो का बोध होता है। पर यहाँ राजा पर एकदम क्रोध जगाने के विचार से एक पखवारा (१५ दिन) ही अर्थ है।

'मोहि सन आजू'—राजा यदि तुम्हारे सुहृद होते तो पहले ही तुमसे स्वयं कहते और १५ दिन हो गये, उन्होंने अभी तक नहीं कहा। कहें क्यों ? उन्हें तो चुपके-से कार्य साधना था। मैं न कहती तो तिलक हो भी जाता, तब तुम जानती, फिर क्या कर लेती ? इसी में हित-अनहित जान लो। यथा—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।" "…हित-अनहित पसु पंछिउ जाना।……" (दो० ११२)।

(४) 'खाइय पहिरिय राज…… '—ये वचन—'भरत सपथ तोहिं…' एवं—'पुनि सपथ देवाई' के उत्तर में हैं। 'सत्य कहे नहि दोष…' अर्थात् सत्य कहने में भी दोष होता है। यथा—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" यह मनु का वाक्य प्रसिद्ध है। अर्थात् सत्य भी प्रिय बोलना चाहिये, अप्रिय हो तो न कहना चाहिये। इसमें कौशल्या का अहित है, पर मैं तो तुम्हारा खाती-पहनती हूँ, तुम्हारे राज्य में हूँ, इस सत्य से तुम्हारा हित होगा। यह मेरी स्वामि-भक्ति है; दोष नहीं। दूसरे की हानि हो, तो हो।

(५) 'जौं असत्य कछु…'—बहुत झूठ भी कह रही है। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं, शत्रुघ्नजी के

द्वारा दंड देंगे। यथा—"हुमगि लात तकि कूबर मारा।''''''लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी॥" (दो० १६२)।

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥६॥
रेख खचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥७॥
जौं सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥८॥

दोहा—कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहिं कौसिला देब।
भरत बंदि-गृह सेइहहिं, लखन राम के नेब॥१९॥

शब्दार्थ—देब=देंगी। नेब=नायब, सहायक। सेइहहिं=भोगेंगे।

अर्थ—यदि कल श्रीरामजी को तिलक हो गया तो निश्चय है कि ब्रह्मा ने तुम्हारे लिये विपत्ति का बीज बो दिया॥६॥ मैं रेखा खींचकर बल-पूर्वक कहती हूँ कि हे भामिनि! तुम दूध की मक्खी हो जाओगी॥७॥ तब फिर यदि पुत्र सहित सेवा करोगी, तो घर में रह सकेगी, और उपाय से नहीं॥८॥ (जैसे) कद्रू ने विनता को दुःख दिया था, (वैसे ही) कौशल्या तुमको दुःख देंगी, भरतजी बंदीगृह में पड़े रहेंगे और लक्ष्मणजी रामजी के सहायक होंगे॥१९॥

विशेष—(१) 'रामहि तिलक कालि जौं ''''''—'जौं' यह संदिग्ध है, अर्थात् तिलक होने न पावेगी, मैंने उपाय सोच रक्खा है, कदाचित् हो जाय, तो'''।

(२) 'रेख खचाइ कहउँ '' '—रेखा खींचकर, वा पत्थर की लीक, इत्यादि मुहावरा है, जिसका भाव है कि यह बात अमिट एवं अखंडनीय है—"पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।" (दो० १०); भामिनि भइहु दूध की 'माखी'—'भामिनि' प्रायः मानवती स्त्री को कहते हैं। भाव यह कि अब तक तुम मानवती रही, अब मान गया, दूध की माखी हो जाओगी। जैसे उजले दूध में पड़ी हुई काली मक्खी दूर से देख पड़ती है और तुरत निकालकर फेंक दी जाती है, फेंकते हुए भी उसके कितने अंग-भंग हो जाते हैं, वैसे सब एक रंग हैं, राम-तिलक की तैयारी में लगे हैं, एक तुम्हीं भिन्न हो, तुम उसी तरह सब की दृष्टि में खटकोगी और उसी तरह निकालकर बाहर की जाओगी।

रात को दूध में पड़ी हुई जीती मक्खी पी जाने से वह विष हो जाती है, वैसे ही स्नेह-रूप दूध में रात को तुम्हारे प्रेम पान द्वारा राजा के प्राण जायँगे—यह सरस्वती की उक्ति गुप्त है।

(३) 'जौं सुत सहित करहु'''''' '—'जौं' अर्थात् तुमसे सेवा न हो सकेगी, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥" (दो० २०); भाव यह कि कौशल्याजी ने तुम्हें अपनी दासी बनाने के लिये ही यह राम-तिलक का प्रपंच रचा है, इसी के अनुकूल यह दृष्टान्त भी देती है।

(४) 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख'''''' ' कद्रू-विनता की कथा—ये दोनों कश्यप ऋषि की स्त्रियों में से थीं। कद्रू नागों की और विनता गरुड़ और अरुण की माता थीं। दोनों में उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ के रंग के विषय में वाद हुआ। कद्रू उसे काली कहती थी और विनता उजली। निदान, यह ठहरा कि जिसकी बात झूठी हो, वह दूसरी की दासी होकर रहे। परीक्षा के समय कद्रू के पुत्र नाग उस घोड़े की पूँछ में जाकर लिपट गये, जिससे वह काली देख पड़ी, इस छल से कद्रू ने विनता को दासी बनाया।

एक समय गरुड़ ने माता विनता से पूछा कि मैं नागों की आज्ञा मानने को क्यों बार-बार विवश किया जाता हूँ। माता ने छल से हराई जाने की बात कह दी। गरुड़ ने नागों से कहा कि अपनी माता को दासीत्व से छुड़ाने के बदले में मैं आप लोगों का कौन-सा काम कर दूँ? उन्होंने कहा, हमें अमृत ला दो। ये माता से आज्ञा ले और माता-पिता से आशिष पा अमृत लेने चले।······देवताओं से युद्ध कर उन्हें हरा अमृत लाकर माता को दासीत्व से छुड़ाया। इन्द्र ने गरुड़ से मित्रता कर ली और नागों के खा जाने का वर दिया। गरुड़ ने जैसे ही अमृत का घड़ा नागों के सामने रक्खा और माता को दासीत्व से छुड़ाया, त्यों ही इन्द्र वह घड़ा उठा ले गये। नागों को पीने को न मिला, नागों ने जैसे छल किया था वैसा ही फल पाया। यह कथा महाभारत आदि पर्व (अ० १०-२७) के अनुसार है।

इस दृष्टान्त से जनाया कि वहाँ तो गरुड़ समर्थ थे। अतः, उन्होंने माता को दासीत्व से छुड़ाया, पर यहाँ तो भरत प्रथम ही जेल में डाल दिये जायँगे। लक्ष्मण 'नायन' होंगे। वे यही सलाह देंगे कि शत्रु को कभी स्वतंत्र न रहने दो। उनके डर से कोई भरत के छुड़ाने की पैरवी भी नहीं कर सकेगा। तब तो तुम्हें आजन्म दासीत्व में ही रहना पड़ेगा।

कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ॥१॥
तनु पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी ॥२॥
कहि कहि कोटिक कपट-कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥३॥
कीन्हिसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवइ जिमि उकठि कुकाठू ॥४॥
फिरा करम प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ॥५॥

शब्दार्थ—सहमि = डरकर। पसेउ = पसीना। कुपाठ = बुरी बातें। 'पाठ पढ़ाना' मुहावरा है। उकठि कुकाठू = जो बबूल आदि कुत्सित वृक्ष खड़े-खड़े सूखकर ऐंठ जाय, वह काठ किसी तरह भी नहीं झुकाया जा सकता, उसे 'उकठा-कुकाठ' कहते हैं।

अर्थ—कैकेयीजी यह कड़वी वाणी सुनते ही डरकर सूख गईं, कुछ कह नहीं सकतीं ॥१॥ शरीर में पसीना हो आया और वे केले की तरह काँपने लगीं। तब कुबड़ी ने दाँतों तले जीभ दबाई ॥२॥ फिर उसने अनेकों कपट की कहानियाँ कह-कह कर रानी को प्रबोध किया और कहा कि धैर्य धरो ॥३॥ रानी को कुपाठ पढ़ाकर ऐसा कठिन कर दिया जैसे उकठा हुआ कुकाठ फिर नहीं झुकता ॥४॥ रानी का कर्म (भाग्य) फिर गया, इसी से इसे कुचाल (वा, कुचाली मंथरा) प्रिय लगी और यह उस बगुली को हंसिनी मानकर सराहने लगी ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकय सुता सुनत कटु ······'—जब तक कैकेयीजी की भरतजी के प्रति अनुकूल बुद्धि थी, तब तक ग्रंथकार उसे 'भरत मातु' कहते आये, अब वह मंथरा के अनुकूल हुई, मंथरा कैकय देश की है और अवधवासियों के प्रतिकूल है, इससे कैकय राज-सम्बन्धी नाम देने लगे। 'कटु बानी'—पुत्र के साथ तुम्हें कौशल्याजी की सेवा करनी होगी। कौशल्याजी दुःख देंगी, भरत बंदी गृह में डाले जायँगे, ये सब कटु वचन हैं और भयंकर; इसीसे रानी डरी।

(२) 'दसन जीभ तब चाँपी'—डर के मारे रानी पवन लगने से केले की तरह काँप उठी, पसीना चल पड़ा, इसपर मंथरा ने दाँतों तले जीभ दबाई, इसका भाव—अरे, क्या आश्चर्य हो

गया ! मंथरा डर गई कि कहीं रानी रो उठे, तो लोग दौड़ पड़ें और मेरा भंडा फूटे, अथवा इसके प्राण ही न निकल जायँ। इस मुद्रा से कैकेयीजी को भी सावधान करती है कि अभी किसी तरह बात प्रकट होने से काम बिगड़ जायगा।

(३) 'कहि-कहि कोटिक···'—धैर्य धरने के लिये समझाया और उदाहरण के रूप में बहुत-सी कपट की कहानियाँ कहीं कि अमुक-अमुक ने धैर्य किया तब उनके काम बने और अमुक-अमुक अधीर हो गये, तब उनके काम बिगड़े। मैं सब काम सुधार लूँगी।

(४) 'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ···'—पाठ पढ़ाना' मुहावरा है, इसका अर्थ है कि अपने स्वार्थ के अनुकूल किसी को बहकाना। दृढ़ कर दिया कि जिससे राजा के समझाने से नम्र न हो और भेद न खोल दे, नहीं तो मेरे प्राण जायँगे। पुनः अभीष्ट भी सिद्ध न होगा। उकठा हुआ काठ जल में भिगाने से तथा आँच दिखाने से भी नहीं झुकता, वैसे ही यह रानी राजा एवं सखियों की विनती एवं शिक्षा से न दया करेगी और न वसिष्ठ आदि के शापभय से ही नम्र होगी।

(५) 'फिरा करम प्रिय लागि···'—पहले बुद्धि फिरी—'बसि मति फिरी अहइ···' अब 'करम फिरा' अर्थात् भाग्य भी फिरा, तभी कुचाल प्रिय लगी। 'फिरा करम' यह कर्म, 'प्रिय लागि कुचाली' यह मन और 'बकिहिं सराहइ' यह वचन है; अर्थात् रानी मन, वचन, कर्म इन तीनों से नष्ट हुई।

'मानि मराली'—वह हिंसा रत होने से बकी है, पर रानी उसे हंसिनी की तरह विवेकिनी कहकर सराहती है कि तू बड़ी सूक्ष्म-दर्शिनी है कि सबके कपट को भाँप लिया, इत्यादि।

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी ॥६॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने ॥७॥
काह करउँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ॥८॥

दोहा—अपने चलत न आज लगि, अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि, दैव दुसह दुख दीन्ह ॥२०॥

अर्थ—(कैकेयी ने कहा) ऐ मन्थरा ! सुन, तेरी बात सत्य है, मेरी दाहिनी आँख नित्य ही फड़कती है ॥६॥ मैं प्रत्येक दिन रात में कुत्सित स्वप्न देखती हूँ, पर अपने अज्ञानवश तुमसे नहीं कहती ॥७॥ हे सखी ! मैं क्या करूँ ? मेरा सीधा स्वभाव है, इसीसे मैंने कभी किसी को दाहिना बायाँ (हित-अहित) नहीं जाना ॥८॥ मैंने अपनी चलती में आज तक किसी का अहित नहीं किया, न जाने किस पाप से ब्रह्मा ने मुझे एक बार ही यह असह्य दुःख दिया ॥२०॥

विशेष—(१) 'कुसपने'—पति से रहित और पुत्र से विमुख होने के लिये कुत्सित स्वप्न सत्य-सत्य हो रहे हैं, और दाहिनी आँख भी फड़कती है, पर ये अज्ञान से उसका कारण राम तिलक मान रही हैं। स्त्री का दाहिना अंग फड़कना अशुभ है। 'मोहबस अपने' अर्थात् अपने अज्ञानवश, अज्ञान यह कि आँख वात आदि कारण से फड़कती होगी, स्वप्न झूठे होंगे। अतः, अमंगल की कल्पना क्यों करूँ ?

(२) 'काह करउँ सखि सूध···'—मंथरा ने कहा था—'रावर सरल सुभाउ' और 'निज हित

अनहित पसु पहिचाना' उन्हीं बातों को प्रमाणित करती हुई कहती हैं कि मेरा सूधा स्वभाव है, मैं दाहिना-बायाँ (हित-अहित) किसी को न जाना, भाव, अपनी तरह सबको निष्कपट शुद्ध स्वभाव जानती रही।

(३) 'अपने चलत न आज···'—राजा इनके वश थे, इससे इनका पूर्ण अधिकार था, उस अपनी चलती को कह रही हैं। 'दुसह दुख'—सवति की अधीनता एवं उसकी सेवा करना।

नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति-सेवकाई ॥१॥
अरिबस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही ॥२॥
दीन बचन कह बहु बिधि रानी। सुनि कुबरी तिय-माया ठानी ॥३॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना ॥४॥
जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका ॥५॥

शब्दार्थ—भरब = बिताऊँगी, गँवाऊँगी। बरु = भले ही। ठानी = की, फैलाया। ऊना = न्यूनता, हीनता।

अर्थ—मैं नैहर में भले ही जाकर जन्म के दिन बिताऊँगी, पर जीते जी सौत की सेवकाई न करूँगी ॥१॥ विधाता जिसे शत्रु के वश करके जिलाता है, उसके जीने से बढ़कर मरना भला है (वा, उसे जीना न चाहिये) ॥२॥ रानी ने बहुत तरह के दीन वचन कहे, सुनकर कुबड़ी ने त्रिया-चरित्र फैलाया ॥३॥ (और बोली कि मन में हीनता मानकर ऐसा कैसे कहती हो ? तुम्हें सुख-सोहाग दिन-दूना होगा ॥४॥ जिसने आपका ऐसा अनभल सोचा है, वही इसका परिपक्व फल भोगेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'नैहर जनम भरब···'—'भरब' अर्थात् जन्म का सुख रूप फल तो गया, अब केवल दिन काटना है, क्योंकि नैहर में ससुराल का-सा सुख एवं अधिकार कहाँ ? वहाँ तो भावज आदि वचन मारेंगी। यह—'जौ सुत सहित करहु सेवकाई।' का उत्तर है। 'जीवन चाही' अर्थात् जीवन से बढ़कर, यथा—"कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि कठोरा।" (बा० दो० २५७); देखिये। यह अव्यय बँगला भाषा का है। इसका शुद्ध रूप 'चाहिया' है जिसका अर्थ है 'अपेक्षा' या 'बढ़कर।'

'तिय-माया ठानी'—त्रिया-चरित्र यह है कि स्त्रियाँ आँचल उठाकर शत्रु को शाप देती हुई कोशती (कोसती) हैं। वैसी ही मुद्रा करके आगे के वचन कहती है—

(२) 'अस कस कहहु···'—सीधा अर्थ कहा गया, उसपर सरस्वती की सत्य वाणी सिद्धि के लिये विविध प्रकार के अर्थ किये जाते हैं; पर उनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह त्रिया-चरित्र अर्थात् स्त्रियों की माया है। अतः, सब वचन सरासर मूठ हैं। 'दिन-दूना' पर कहा जाता है कि दो दिन भी नहीं; अर्थात् बस, आज ही भर है, वा 'दिन' अर्थात् भोर होते-होते ही (सुख-सोहाग) दोनों न रहेंगे, इत्यादि अर्थ केवल वाग्विलास हैं।

(३) 'जेहि राउर अति···'—जो तुम्हारे लिये गढ़ा खोदा, वह स्वयं उसमें पड़ेगा। यथा—"जो-जो कूप खनैगो पर को सोइ पामर तेहि कूप परै" (वि० १३७)।

जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि ॥६॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं येहु साँची ॥७॥
भामिनि करहु त कहउँ उपाऊ। है तुम्हरी सेवा-बस राऊ ॥८॥

दोहा—परउँ कूप तुअ बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि ॥२१॥

अर्थ—हे स्वामिनि ! जबसे मैंने यह कुमत सुना है, तबसे न दिन में भूख लगती है और न रात में नींद ही आती है ॥६॥ मैंने गुणियों (गणकों, ज्योतिषियों) से पूछा, तो उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा कि भरत भुआल (राजा) होंगे, यह सत्य है ॥७॥ हे भामिनि ! आप कहें तो मैं उपाय कहूँ। राजा आपकी सेवा से आपके वश में हैं ॥८॥ (रानी ने कहा)—मैं तेरे कहने पर कुँए में गिर सकती हूँ और अपने पुत्र और पति को भी त्याग सकती हूँ। तू मेरा बड़ा दुःख देखकर कह रही है, (फिर भला) अपने हित के लिये उसे क्यों न करूँगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'भूख न बासर नींद न···'—इसे सुने हुए अभी कुछ ही घड़ियाँ हुईं, तब ये सब वचन कैसे सत्य होंगे ? दिन के ही घंटे दो घंटे बीते हैं, यामिनी (रात) तो आई ही नहीं। त्रिया-चरित्र रूपी माया में सब बातें युक्त हैं। 'पूछेउँ गुनिन्ह · '—अयोध्या में राम-विमुख ज्योतिषी कोई नहीं है और न यह कहीं पूछने ही गई, तिलक सुनते ही तो आग-बबूला होकर यहाँ दौड़ी आई। अतः, 'भरत भुआल' होना भी झूठा ही है। इसपर भी कहा जाता है कि 'भू' (पृथिवी) 'आल' (आलयवाले)= नंदिग्राम में भूमि खोदकर रहेंगे, यह सत्य है।

(२) 'परउँ कूप तुअ···'—ऊपर त्रिया-चरित्र से कौशल्या को शाप और कैकयी को आशिष दे चुकी, (इस तरह रानी को धैर्य दिया) अब आगे के लिये कर्तव्य कहती है, किन्तु पहले वचनबद्ध करा लेती है कि जिससे कहे हुए उपाय व्यर्थ न जायँ। प्रथम 'भामिनि' संबोधन से ध्वनित कर दिया है कि तुम मानवती हो, मान-लीला से ही काम बनेगा। रानी उसके लिये कहती है—'किसी के कहने से कुँए में गिरना' यह मुहावरा है, भाव यह कि प्राण तक दे सकती हूँ, रानी ने प्राण से कम पुत्र और उससे कम पति का प्रेम माना है, वैसे ही वे क्रमशः कह रही हैं। यद्यपि ये वचन कटिबद्ध होने के सूचक कहे गये हैं, पर कैकेयी में यथार्थ घटित होंगे। मंथरा के कहने पर कोप-भवन में जाना और अपयश होना, कुँए में गिरना और मरना है, पति और पुत्र ने भी आगे त्याग ही दिये हैं। यथा—"कैकेयि···केवलार्थपरां हित्वां त्यक्तधर्मांत्यजाम्यहम् ॥" (वाल्मी॰ २।१२।६–७)—यह राजा के त्यागने का प्रमाण है, तथा—"तब्यो···भरत महतारी।" (वि॰ १७४); "कैकई जब लौं जियत रही। तब लौं बात मातु सौं मुँह भरि कबहुँ न भरत कही॥" (गी॰ उ॰ ३७)। यह पुत्र भरतजी के त्यागने का प्रमाण है।

कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट-छुरी उर-पाहन टेई ॥१॥
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलिपसु जैसे ॥२॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहु मधु माहुर घोरी ॥३॥

शब्दार्थ—करि = कसाइन, गोमरी—(वररुचि कोश); या, करके। कबुली = कबूली हुई, मनौती मानी हुई बलि, राजी किया हुआ बलिपशु। टेई = तेज करती, पईंरती। बलिपसु = देवी को माना हुआ पशु।

अर्थ—कसाइन कुबड़ी मंथरा ने कैकयी को मनौती मानी हुई (बलि पशु) करके कपट-रूपी छूरी को हृदय-रूपी पत्थर पर तेज करती है ॥१॥ पर, रानी अपने निकट के (भावी) दुःख को इस तरह नहीं

देखती है कि जैसे बलि-पशु हरी घास चरता है (पर यह नहीं जानता कि अभी ही उसका बलिदान रूप में वध होगा) ॥२॥ उसकी बातें सुनने में तो कोमल हैं, पर वे कठोर परिणामवाली हैं, मानों वह शहद में विष को घोलकर इसे दे रही है ॥३॥

विशेष—'कुबरी करि कबुली…'—'करि' शब्द श्लेषार्थी है। 'कसाइन' अर्थ से 'कुबरी' का विशेषण है और दूसरा 'करके' यह क्रियात्मक अर्थ भी है। 'कबुली' के साथ 'बलिपसु' भी अध्याहार से आवेगा, आगे स्पष्ट भी लिखा है। 'कबुली' का भाव—'परउँ कूप…' इस दोहा के अर्थ में है। कपट-उपदेश छूरी है और हृदय में उसका विचार करना देखना है। यह कैकेयीजी को नहीं सूझता है कि इस उपदेश से यह मेरा नाश करेगी। भरत-राज के सुख का अनुभव हरी घास का चरना है, वह इसी में मग्न है। यहाँ पर आशा देवी है, यथा—"तुलसी अदभुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समरपई, बिमुख भये अभिराम॥" (दोहावली २५८); बलिदान में मृत्यु होती है, वैसे इसे अपयश होगा, यही मृत्यु है, यथा—"संभावित कहँ अपयश लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९४); 'निकट'—देखने भर की देर है, कोप साज सजते ही बलि का कार्य प्रारम्भ हो जायगा। मंथरा का निष्ठुर हृदय पाषाण है। 'मधु माहुर'—कोमल वाणी 'मधु' और विषवत् उपदेश 'माहुर' है।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं ॥४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आज जुड़ावहु छाती ॥५॥
सुतहि राज रामहिं बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥६॥
भूपति राम-सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥७॥
होइ अकाज आज निसि बीते। बचन मोर प्रिय मानहु जीते ॥८॥

दोहा—बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप-गृह जाहु।
काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥२२॥

शब्दार्थ—थाती = धरोहर, अमानत। 'छाती जुड़ाना' मुहावरा है, चित्त प्रसन्न करने का। कोपगृह = कोप-भवन, जिसमें रानियाँ मान करने पर जा पड़ती हैं, यह शयनागार के पास रहता है, इसकी सजावट भी कोप प्रकट करने के योग्य ही होती है। सहसा = एकाएक। पतियाहु (सं० प्रत्ययन) = प्रतीति करो वा कर लेना।

अर्थ—चेरी मंथरा कहती है कि हे स्वामिनि! आपको स्मरण है कि नहीं? जो आपने एक कथा मुझसे कही थी ॥४॥ अपने धरोहरवाले दो वरदान राजा से आज माँग लो और अपनी छाती ठंडी करो ॥५॥ पुत्र को राज्य और राम को वनवास दो और सौतों का सब आनंदोल्लास ले लो ॥६॥ राजा जब रामजी को सौगंध कर लें तब वर माँगना, जिसमें वचन न टले ॥७॥ आज की रात बीत जाने से कार्य बिगड़ जायगा, मेरी बात प्राणों से भी प्रिय मानना ॥८॥ उस पापिनी मंथरा ने कैकेयी पर बुरी घात लगाकर उससे कहा कि कोप-भवन में जाओ, एकाएक (बिना राम-शपथ के) राजा पर विश्वास न कर लेना (अन्यथा वे इनकार कर देंगे) ॥२२॥

विशेष—(१) 'दुइ बरदान भूप'''—'थाती' प्रथम धरोहर को स्मरण कराना, तब माँगना। 'माँगहु आज'''—आज ही भर उसका मिलने का समय है, राम-तिलक हो जाने पर फिर न हो सकेगा। 'जुड़ावहु छाती'—क्योंकि—"कैकय सुता हृदय अति दाहू।" (दो० २२); दुइ बरदान—"दक्षिण दिशा के दंडक वन में वैजयन्त नाम का नगर है, जहाँ तिमि ध्वज (संवर) नाम का असुर रहता था, वह बड़ा वीर एवं मायावी था। देवताओं से पराजित न होकर इन्द्र से लड़ने को तैयार हुआ। इन्द्र ने राजा दशरथ से सहायता माँगी, वहाँ घोर युद्ध हुआ, राजा घायल हुए और बेहोश हो गये। उस समय सारथी बनकर तुम उनको रणभूमि से दूर ले गई (क्योंकि तुम साथ गई थी) और घायल पति की रक्षा की। उस समय प्रसन्न होकर राजा ने तुम्हें दो वर देने को कहा। तुमने कहा कि जब चाहूँगी, माँग लूँगी, महात्मा राजा ने भी तुम्हारी बात मान ली। हे देवि, यह तुम्हीं ने हमसे कहा था।" (वाल्मी० २।९।११-१८)।

(२) 'सुतहि राज रामहिं'''—पहले श्रीभरतजी के लिये राज्य माँगकर तब श्रीरामजी के लिये वनवास माँगना, नहीं तो श्री रामजी के वनवास की बात सुनते ही राजा मूर्च्छित हो जायँगे, तब दूसरा वर कौन देगा ? श्रीरामजी के वन जाने से सौतों का आनन्दोल्लास सब चला जायगा। पुनः श्रीरामजी के यहाँ रहने पर प्रजा बहुत उनके पक्ष में होकर भरत-राज में बाधक होगी, इसलिये उन्हें वन भेजने को कहा।

(३) 'भूपति राम-सपथ जब'''—'जब' अर्थात् वे राम-शपथ शीघ्र न करेंगे, क्योंकि राम उन्हें प्राण-प्रिय हैं, यथा—"तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (दो० २७); इसमें 'करि आई' अर्थात् भावी वश मुख से कही गई, नहीं तो—"राम-सपथ मैं कीन्ह न काऊ।" (दो० २८२); 'तब माँगेहु'–शपथ किये बिना मौन ही रहना।

(४) 'होइ अकाज आज'' '—तुमको—'नींद बहुत प्रिय'' ' है, ऐसा न हो कि कहीं सो जाओ। 'बचन मोर प्रिय'''—प्रथम राम-तिलक के विषय में कहा था कि—'तोर कहा फुर जेहि दिन होई।' अर्थात् उस बचन के फुर होने में संदेह था, वैसा इस वचन को न समझना, किंतु प्राणों से भी अधिक प्रिय समझकर इसकी रक्षा करना; अर्थात् इसके अनुसार ही चलना। अथवा पूर्व की तरह मुझे 'घरफोरी' न मान लेना जिससे मेरे वचन व्यर्थ हो जायँगे।

(५) 'बड़ कुघात करि पातकिनि'''—पापिनी है, क्योंकि इसने अपने अन्नदाता पर ही बुरा घात किया है। कोप-भवन में जाने को कहा, जिससे राजा स्वयं वहाँ आयँ और प्रसन्न करने की चेष्टा करें, तब थाती का स्मरण कराना एवं वर माँगना ठीक होगा। 'सहसा जनि पतियाहु' क्योंकि राजा कपट में चतुर हैं, यथा–"लखहु न भूप कपट चतुराई।" (दो० १३) अतएव कार्य की पूर्णता बिना शीघ्र विश्वास न कर लेना।

कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥१॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥२॥
जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चखपूतरि आली॥३॥
बहु बिधि चेरिहि आदर देई। कोप - भवन गवनी कैकेई॥४॥

शब्दार्थ—चखपूतरि = आँख की पुतली, आँख की पुतली की तरह अति प्रिय मानकर रक्षा करना। यथा—"राखेहु नयन पलक की नाईं।" (बा० दो० ३५४); "नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।" (दो० ५८)।

अर्थ—कुबड़ी मन्थरा को रानी ने प्राणप्रिय समझकर बार-बार उसकी बड़ी बुद्धि का बखान

किया ॥१॥ कि तेरे समान मेरा कोई भी हितैषी संसार में नहीं है, तू मुझ बही जाती हुई को अधार हुई ॥२॥ यदि विधाता कल मेरा मनोरथ पूरा करें, तो हे सखी ! मैं तुझे अपने आँख की पुतली करूँगी ॥३॥ (इस तरह) बहुत प्रकार से चेरी का आदर करके कैकेयी कोप-भवन को गई ॥४॥

विशेष—(१) 'तोहि सम हित न मोर···' यथा—"त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥" (वाल्मी० २।९।२१)।

(२) 'बहे जात कइ भइसि अधारा'—सौतों के ईर्ष्या एवं कपट बर्ताव रूपा नदी में पड़कर मैं विपत्ति सागर को बही जाती थी, तूने ही हाथ पकड़ कर बचाया। बहते हुए को तृण का सहारा भी बहुत कहा जाता है, तू तो सम्यक् आधार हुई। कहा भी है—"तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ॥" (दोहावली ५२४)। तृण की तरह तू भी यद्यपि कोई विशेष पदवाली न थी, पर तो भी तूने ही मुझे बचाया।

(३) 'करउँ तोहि चखपूतरि···'—मनोरथ तो बुरी तरह से पूरा हुआ, उसी तरह मंथरा चख-पूतरि भी बनाई गई। आँख की पुतली काली होती है, वैसे इसके मुख में कालिख लगा।

(४) 'बहु बिधि चेरिहि···'—आदर देना, यथा—"कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना ·" से "पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥" (वाल्मी० २।९।३७–५१)। आदर देना कृतज्ञता रूप में है, यह भी हेतु है कि जिससे यह मंत्र अभी गुप्त रक्खे, जब तक कि कार्य-सिद्धि न हो। नीच के आदर करने का दुःखद फल होता है, वही इन्हें मिलेगा।

बिपति बीज बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकइ केरी ॥५॥
पाइ कपट-जल अंकुर जामा। बर-दोउ दल दुख फल परिनामा ॥६॥
कोप-समाज साजि सब सोई। राज करत निज कुमति बिगोई ॥७॥
राउर नगर कोलाहल होई। यह कुचालि कछु जान न कोई ॥८॥

दोहा—प्रमुदित पुरनर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार।
एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं, भीर भूप दरबार ॥२३॥

शब्दार्थ—बिगोई = बिगड़ गई, नष्ट हुई। राउर (सं०–राजपुर) = अंतःपुर, राजमहल, रावल। यथा—"गे सुमंत्र तब राउर माँहीं।" (दो० ३७); यह बदपुर की बोली है। सुमंगल चार = ध्वजा, पताका, कलश, चौक मंगल गान, दधि-दूर्वादि सब मंगल साज। चार = रीति। निरगमहिं (निर्गमन) = बाहर निकलते हैं। दरबार = राजद्वार जहाँ ड्योढ़ी लगती है। देखिये बा० दो० २०६।

अर्थ—विपत्ति बीज है, दासी (मंथरा) वर्षा ऋतु है, कैकेयी की दुर्बुद्धि (उस बीज के उगने के लिये) भूमि हुई ॥५॥ कपट रूपी जल पाकर अंकुर जमा (उगा) है, दोनों वर उस अंकुर के दोनों दल हैं, परिणाम (अंत) में जो दुःख होनेवाला है, वही इसका फल है ॥६॥ कैकेयी कोप का सब साज सजकर (कोप-भवन में) लेट गई, राज्य करते हुए अपनी दुर्बुद्धि से स्वयं नष्ट हुई ॥७॥ राजमहल और नगर में (उत्सव का) कोलाहल मच रहा है, इस कुचाल को कोई कुछ भी नहीं जानता ॥८॥ प्रकर्ष आनंद पूर्वक नगर के

सब स्त्री-पुरुष सुन्दर मांगलिक साज सज रहे हैं, कोई भीतर जाते हैं और कोई बाहर आते हैं, राजद्वार पर बड़ी भीड़ है ॥२३॥

विशेष—'बिपति बीज···पाइ कपट···'—यहाँ वृक्ष का सांग रूपक है। यह विपत्ति-रूप बीज कैकेयी की दुर्बुद्धि रूपी भूमि में बोया गया। कुमति से विपत्ति होती ही है, यथा—"जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।" (सुं० दो० ३६)। चेरी वर्षा ऋतु हुई, क्योंकि इसी के वचन रूपी बूँदों से कपट रूपी जल की वर्षा हुई। तब कैकेयी की कुमति-भूमि में वर-माँगने का मनोरथ रूपी अंकुर जमा, जमा तो; पर अभी कुमति रूपी भूमि में ही गुप्त है। इसीसे दिव्य-चक्षु कवि ने भी अंकुर का उपमेय नहीं खोला है। जब वचन द्वारा दोनों वर प्रकट कहेगी, तब वे दो दल रूप में देखे भी जायँगे। अतः, दोनों दल कहे गये। बीज और फल का एक ही तत्व होता है, वैसे ही यहाँ विपत्ति और दुःख भी एक पर्याय है। यह भी कहा जाता है कि जो विपत्ति प्रथम श्रवण के शाप द्वारा बीज रूप में पड़ी थी, वही बीज कर्म-प्रवर्तक ब्रह्मा की शक्ति के द्वारा बोया गया। उस शाप का परिणाम रूप फल दुःख मुख्यतया राजा पर पड़ा, फिर साथ ही उनका शरीर-रूप प्रजा-समूह भी पीड़ित हुआ।

(२) 'सोई' अर्थात् लेट गई, यथा—"भूमि-सयन पट मोट पुराना।" (दो० २४); पुनः आगे—"बिहँसि उठीं मतिमंद" (दो० २६); भी कहा है। 'राज करत', यथा—"प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥" (दो० २५)।

(३) 'राउर नगर कोलाहल···'—नगर के आनन्द कोलाहल का प्रसंग—"सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० १०) से छूटा था। बीच में सरस्वती का आना एवं मंथरा-कैकेयी-संवाद कहा गया। अब वही पूर्ववाला नगर का प्रसंग फिर कहते हैं कि सब उसी आनन्द में डूबे हैं 'जानन कोई' अर्थात् वसिष्ट, आदि ने भी न जाना, नहीं तो उपाय कर लेते।

(४) 'प्रमुदित पुर-नर···'—मुदित तो प्रथम ही थे, यथा—"सब बिधि सब पुर लोग सुखारी।" (दो० १)। अब राम-तिलक सुनकर प्रमुदित हैं। 'एक' अर्थात् ऐसी भीड़ है कि दो आदमी एक साथ नहीं आ जा सकते। एक-एक करके (अलग-अलग होकर) ही आते जाते हैं। यों भी अर्थ कहा जाता है कि दरबार में राजाओं की भीड़ है, जो एक-एक करके आते जाते हैं। "शीघ्रता के कारण कैकय-नरेश और जनक महाराज को न बुला सके थे, शेष सब पृथिवी के राजा लोगों को चक्रवर्तीजी ने बुलाया भी था।" (वाल्मी० २।१।४५-४७)। उन्हीं राजाओं की भीड़ है।

बाल-सखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं ॥१॥
प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी ॥२॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परस्पर राम-बड़ाई ॥३॥
को रघुबीर-सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा ॥४॥

शब्दार्थ—दस पाँच = कई मिलकर, अकेले-दुकेले नहीं। कुसलखेम (कुशल क्षेम) = कुशल-मंगल, राजी-खुशी। कुशल और क्षेम का एक ही अर्थ है, पर दोनों साथ कहने का मुहावरा है।

अर्थ—(श्रीरामजी के) बाल-सखा (राज्याभिषेक) सुनकर हृदय में प्रसन्न होते हैं और दश-पाँच मिल-मिल कर श्रीरामजी के पास जाते हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी उनके प्रेम को पहचान कर उनका

आदर करते हैं और कोमल वाणी से उनका कुशलक्षेम पूछते हैं ॥२॥ प्रिय (श्रीरामजी) की आज्ञा पाकर घर को लौटते हैं, (मार्ग में वे) श्रीरामजी की बड़ाई एक दूसरे से करते हुए जाते हैं ॥३॥ कि श्रीरघुनाथजी के समान संसार में शील-स्नेह का निर्वाह करनेवाला कौन है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु आदरहिं प्रेम···'—आगे से उठकर लेना आदर है, यह कर्म है, प्रेम पहचानना मन से है। और कुशलक्षेम पूछना वचन से है। इस तरह मन, वचन, कर्म तीनों से आदर करना जनाया। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, पुनः प्रभुता भी पा रहे हैं, फिर भी किंचित् मद नहीं है, पूर्व की तरह शील-स्नेह का निर्वाह करते हैं, इसी गंभीरता को सराहते जाते हैं। यह गुण दुर्लभ है। यथा—"नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥" (बा० दो० ५६)। 'प्रिय आयसु पाई'—सखा लोग स्वतः फिरना नहीं चाहते; पर श्रीरामजी अपनी ओर से बार-बार कहते हैं तब अपने प्रिय की आज्ञा पालन करते हुए फिरते हैं। इस तरह सखाओं का प्रेम दिखाया गया, यथा—"कहि बातें मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई (बा० दो० २२५)। 'सील सनेह···'—शील नेत्रों का व्यवहार है। अतः, बाहर का धर्म हुआ और स्नेह अंतःकरण का धर्म है; अर्थात् भीतर-बाहर दोनों की सराहना करते हैं। इसी स्वभाव पर रीझकर वे आगे भक्ति माँगते हैं—

जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं ॥५॥
सेवक हम स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू ॥६॥
अस अभिलाष नगर सब काहू। कैकय-सुता-हृदय अति दाहू ॥७॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई ॥८॥

दोहा—साँझ समय सानंद नृप, गयेउ कैकई-गेह।
गवन निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह ॥२४॥

शब्दार्थ—ओर = ओर-छोर, अंत तक। ईस = शिवजी, विधाता। मते = मत में पड़ने से।

अर्थ—हे ईश ! हम अपने कर्मवश जिस-जिस योनि में जन्म लें उस-उस योनि में हमको यही दीजिये ॥५॥ कि हम सेवक हों और सीतापति श्रीरामजी हमारे स्वामी हों, और इसी नाते में अंत तक निर्वाह हो जाय ॥६॥ सब किसी के हृदय में ऐसी अभिलाषा है, (परन्तु) कैकेयी के हृदय में अत्यन्त जलन हो रही है ॥७॥ कुसंगति में पड़कर कौन नहीं नष्ट होता ? नीच के मत में पड़ने से चतुरता नहीं रह जाती ॥८॥ संध्या समय राजा दशरथ आनंद-पूर्वक कैकेयी के महल में गये, मानों निष्ठुरता के समीप साक्षात् स्नेह देह धरकर गया ॥२४॥

विशेष—(१) 'जेहि जेहि जोनि ···'—'जेहि जोनि' से योनि का नियम नहीं, 'तहँ-तहँ' से स्थल का भी। अर्थात् चाहे किसी भी योनि में और कहीं भी कर्मवश जन्म हो। ये मुक्ति आदि नहीं चाहते, केवल भक्ति चाहते हैं। यथा—"अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥" (उ० दो० ११८); तथा—"मो को अगम, सुगम तुम्ह को प्रभु ! तउ फल चारि न चहिहौं॥ खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१)। 'ईस' अर्थात् शिवजी, क्योंकि ये राम-भक्ति के दाता हैं,

"संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि।" (उ० दो० ४५)। 'सिय नाहू' का भाव यह कि श्रीसीताजी का जैसे पति में अनन्य भाव है, वैसी ही सर्वात्मना अनन्यता मुझमें भी हो। यथा—"मन-क्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (आ० दो० १)। 'होउ नात'—क्योंकि—"मानउँ एक भगति कर नाता॥" (आ० दो० ३४) यह श्रीमुख वचन है। 'यहि ओर' का दूसरा भाव भी है कि जैसे श्रीरामजी निबाहते हैं, वैसे इस (मेरी) ओर से भी निबहे।

इन सखाओं की इस प्रार्थना से स्पष्ट है कि सख्य-भाव में भी सेवक-स्वामी का नाता और सेवा करना होता है। यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस।" (वाल्मी ६।४०।१०)। यह सख्य भाववाले सुग्रीव का वचन रावण से है।

(२) 'कैकय-सुता-हृदय······'—'सब काहू' से पृथक् उत्तरार्द्ध में कैकेयी को कहा, अवधवासियों से पृथक् किया, उसका नाम भी कैकय देश सम्बन्धी दिया।

(३) 'को न कुसंगति पाइ······'—कैकेयी के पतन का कारण नीति की दृष्टि से कवि कहते हैं। यथा—"संत संत अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३१)। सुसंग-कुसंग का प्रसंग विस्तार सहित बा० दो० १ से ७ तक में कहा गया है। यहाँ कैकेयीजी भी नीच की संगति एवं सलाह से नष्ट हुईं। इससे प्रथम ये बुद्धिमती थीं और श्रीरामजी को प्राण-समान प्रिय माननेवाली थीं। तब और कौन है, जो कुसंग से नष्ट न हो?

(४) 'साँझ समय सानंद ·····'—निष्ठुरता के पास जाने से स्नेह का नाश होता है, वैसे ही राजा का भी नाश होगा। क्योंकि निष्ठुरता तलवार की धार के समान है। यथा—"मूठि कुबुद्धि धार निठुराई।" (दो० ३०)।

राजा कैकेयी के महल में आज सन्ध्या समय को क्यों गये? उत्तर—श्रीराम-राज्याभिषेक का प्रिय संवाद स्वयं प्रथम इन्हीं से कहने के लिये आये। यथा—"प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी।" (वाल्मी० २।१०।१०); तथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहि देउँ कालि जुबराजू।" (दो० २६) यह आगे इन्होंने कहा भी है। राजा ने समझा कि यह सुनकर रानी प्रसन्न होकर मान छोड़कर तुरत मिलेगी, क्योंकि राम-तिलक के लिये इसने कई बार कहा था। पुनः भावी के अनुसार प्रवृत्ति होना भी है ही। यथा—"आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ॥" (बा० दो० १५६)। पुनः प्रायः नित्य ही इस समय यहीं पर भोजन-शयन होता था; इससे भी गये।

कोप-भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥१॥
सुरपति बसइ बाँह-बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥२॥
सो सुनि तिय-रिस गयेउ सुखाई। देखहु काम-प्रताप-बड़ाई॥३॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥४॥

शब्दार्थ—अगहुड़ = अगाड़ी, आगे। अँगवनिहारे (अंग ग्रहण हारे) अंगीकार करनेवाले, सहनेवाले।

अर्थ—(रानी का) कोप-भवन (में होना) सुनकर राजा सकुच (सूख) गये, डर के मारे आगे उनका पैर ही नहीं पड़ता॥१॥ जिनके बाहु-बल के भरोसे इन्द्र (राक्षसों से निर्भय) बसते हैं, पृथिवी के सभी राजा लोग जिनका रुख देखते रहते हैं॥२॥ वे ही (राजा दशरथ) स्त्री का कोप (क्रोध)

सुनकर सूख गये। यह कामदेव के प्रताप की बड़ाई तो देखिये ? ॥३॥ कि जो शूल, वज्र और तलवार (के घाव) अपने शरीर पर लेने और सहनेवाले हैं, वे कामदेव के पुष्प-बाण से भी मारे गये ॥४॥

विशेष—(१) 'भय बस'—डर का कारण कवि आगे कहते हैं—'ते रति नाथ सुमन सर······' तथा—"तुलसी नृपति भवितव्यता बस काम-कौतुक लेखई।" (दो० २५); तथा—"समुद्रस्तदणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥" (वाल्मी० ३।१०।२३)। कामी को प्रिया के कोप का भय होता ही है। 'देखहु काम······'—यहाँ प्रत्यक्ष बीत रही है। अतः, सुनने एवं प्रमाण आदि से समझाने की आवश्यकता नहीं।

(२) 'सूल कुलिस असि···' राजा राक्षसों के युद्ध में इन शस्त्रों को सहनेवाले हैं, 'कुलिस' से वज्र के समान आयुधों से तात्पर्य है। वा, त्रिशूल के सहनेवाले जलंधर आदि, वज्र के सहनेवाले मेघनाद और विष्णु की तलवार को सहनेवाले रावण आदि भी इस कामबाण से मार गिराये गये हैं, एक ये (राजा दशरथ) ही नहीं कि आश्चर्य हो।

सभय नरेस प्रिया पहिं गयेऊ। देखि दसा दुख दारुन भयेऊ ॥५॥
भूमि-सयन पट मोट पुराना। दिये डारि तनु भूषन नाना ॥६॥
कुमितिहि कसि कुबेषता फाबी। अनअहिवात सूच जनु भाबी ॥७॥
जाइ निकट नृप कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी ॥८॥

अर्थ—डरते हुए राजा अपनी प्रिया कैकेयीजी के पास गये, उसकी दशा देखकर उन्हें भारी दुःख हुआ ॥५॥ (देखते हैं कि) भूमि पर लेटी हुई हैं, मोटा-पुराना वस्त्र पहने हैं, शरीर पर के नाना प्रकार के भूषण उतारकर डाल (बिथरा) दिये हैं ॥ ६ ॥ दुर्बुद्धि कैकेयी का यह कुवेष धारण करना कैसा शोभ रहा है, मानों भावी इसके विधवापन की सूचना दे रही है ॥७॥ राजा उसके पास जाकर कोमलवाणी से बोले कि हे प्राण प्रिये ! किसलिये रिसाई हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'सभय नरेस···'—उपर्युक्त—'भयबस अगहुड़···' से प्रसंग मिलाया। प्रथम कोपभवन में जाना सुनकर भय था, अब दशा देखकर दारुण दुःख हुआ।

(२) 'दिये डारि तनु···'—क्रोध के मारे भूषण इधर-उधर फेंक दिये गये हैं। 'अनअहिवात' अर्थात् रानी विधवा की तरह पड़ी हैं, इस तरह विधवाओं का लक्षण भी जनाया।

(३) 'प्रान प्रिया केहि···'—रिसाने का कारण पति की प्रतिकूलता एवं कोई प्रयोजन की पूर्ति करना होता है, उसमें 'प्रानप्रिया' शब्द से अपनी अनुकूलता जनाई। पुनः प्रयोजन के लिये 'केहि हेतु' कहते हैं, इसपर भी आगे कहेंगे कि सर्वस्व तो तुम्हारे अधीन है।

···

छंद—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग-भामिनि बिषम भाँति निहारई ॥
दोउ वासना रसना दसन बर मरम ठाहर देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यता-बस काम-कौतुक लेखई ॥

सो०—बार बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक-बचनि ।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर ॥२५॥

शब्दार्थ—निवारई = निवारण करती है, झटक देती है, मना करती है कि हमें न छुओ । मरम ठाहर = मर्मस्थान, सुकुमार अंग जहाँ आघात लगने से अधिक पीड़ा होती है । लेखई = समझते हैं, मानते हैं, यथा— "मयउँ एक मैं इन्द्र के लेखे ।" (लं० दो० १५) ।

अर्थ—हे रानी ! किसलिये रिसानी हो, (ऐसा कहते हुए राजा ने हाथ से स्पर्श किया) हाथ से छूते ही वह पति को (उनके हाथ को) झटककर रोकती है और ऐसे देखती है, मानों नागिनि क्रोध के साथ तीक्ष्ण दृष्टि से देख रही हो ॥ दोनों वासनाएँ जीभ हैं, दोनों वर दाँत हैं, वह काटने के लिये मर्मस्थल देख रही है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा भावीवश होने से इसे (हाथ झटकने आदि को) कामदेव की क्रीड़ा ही समझ रहे हैं ॥ राजा बार-बार कह रहे हैं, हे सुमुखि ! हे सुलोचनि !! हे कोकिलबयनी !!! हे गजगामिनि !!! अपने क्रोध का कारण मुझे सुना ॥२५॥

विशेष—(१) 'निवारई । मानहु सरोष'···'—जैसे क्रुद्ध नागिनि छूते ही फुफकार मारकर काटने की चेष्टा करती और जीभ लपलपाती है । वैसे ही यह झुँझलाकर बोली, हमको न छुओ और न बोलो, पुनः हाथ झटक दिया, विषम तरह से देखना, जीभ लपलपाना है । दोनों वरों की वासनाएँ दो रसनाएँ हैं, और दोनों वर दाँत हैं, दाँतों में एक तालु के दाँत ही में विष रहता है, वैसे ही राम-वनवासे एक ही वर से राजा के प्राण जायँगे । नागिनि के और दाँतों से थोड़ा घाव हो जाता है, वैसे ही भरत राज्य से थोड़ा ही दुःख होगा । 'मरम ठाहर'—'भूपति राम-सपथ जब करई ।' का अवसर है । 'काम कौतुक लेखई'—राजा ने मान-लीला का खेल समझा, पर यहाँ कुछ और ही है । भावीवश यथार्थ न जान पाया ।

(२) 'सुमुखि सुलोचनि'···'—यहाँ रानी के लिये चार विशेषण दिये गये हैं कि तुम्हारा मुख सुन्दर है, नेत्र, बोली एवं चाल भी सुन्दर हैं; अर्थात् तुम पतिव्रता हो । अतः, तुम्हें चाहिये कि आगे चलकर सुन्दर मुख दिखाकर मधुर प्रिय वचन बोलो और सुन्दर अवलोकन से पति को प्रसन्न करो, यथा— "उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय वचन कहे ।" (गी० आ० १०); रानी नित्य इस रीति से वर्त्ताव करती थीं, पर आज एक वर्त्ताव भी नहीं किया । राजा इन्हीं बातों को कह रहे हैं कि इनके त्याग के कारण कहो ।

पूर्व मंथरा को किरातिनि कहा गया और पुरवासियों को मधुमक्खी । राम-तिलक रूपी मधु के छीन जाने से वे सब दुखी हुए । मधु के पुनः होने से दूसरे छत्ते में मक्खियाँ फिर सुखी हो जाती हैं, वैसे ही १४ वर्ष पर राम-तिलक होने से वे सब फिर सुखी हो जायँगे । पर नागिन का डसा हुआ मर जाता है, वैसे ही यहाँ नागिनि रूपा कैकेयी के द्वारा राजा के प्राण ही जायँगे ।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा । केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ॥१॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू । कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥२॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी । काह कीट बपुरे नर-नारी ॥३॥
जानसि मोर सुभाव बरोरू । मन तव आनन चंद चकोरू ॥४॥
प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे । परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥५॥

अर्थ—हे प्रिये ! तेरा अहित किसने किया है ? किसके दो शिर हैं ? किसे यमराज लेना चाहते हैं ? ॥१॥ कहो, किस दरिद्र को राजा बना दूँ ? कहो, किस राजा को देश से बाहर निकाल दूँ ? ॥२॥ तेरा शत्रु अमर भी हो, तो उसे मार सकता हूँ, कीड़ों-मकोड़ों की तरह बेचारे स्त्री-पुरुष (मनुष्य) क्या हैं ? ॥३॥ हे वरोरु (श्रेष्ठ जंघोंवाली, सुन्दरी) ! तुम मेरा स्वभाव जानती हो कि मेरा मन तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा का चकोर है ॥४॥ हे प्रिये ! प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा और जो कुछ मेरे हैं, वे सब तेरे वश में हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'अनहित तोर···'—कई बार पूछने पर भी कारण न कहा, क्योंकि वह तो राम-शपथ की प्रतीक्षा कर रही है, जैसा कि मंथरा ने सिखा रक्खा है, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥" (दो० २१); तब राजा ने अनुमान से कहा—'केहि दुइ सिर···' अर्थात् एक शिरवाला तो तुम्हारा अहित कर नहीं सकता, क्योंकि वह जानता है कि मैं उसका शिर तुरत काट लूँगा। हाँ, दो शिर हों, तो चाहे वह उतनी देर बच जाय, जब तक मैं उसका दूसरा शिर भी न काट लूँ। यथा—"हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।" (वि० १३७ ;) "दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ···" (बा० दो० ८४)।

'केहि जम चह लीन्हा'—अर्थात् उसकी मौत आ गई, यमराज का प्रतिकार नहीं हो सकता, वैसे ही वह एवं उसके पक्ष का कोई भी मुझसे प्रतिकार नहीं कर सकता, उसे अवश्य ही मार डालूँगा।

(२) 'सकउँ तोर अरि···'—तुम्हारा अहित करनेवाला अमर ही क्यों न हो, वा देवताओं में से भी कोई क्यों न हो, मैं उसे भी मार सकता हूँ, यथा—"जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाये।···लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाये। सूखि गे गात चले नभ जात, परे भ्रम बात न भूतल आये ॥" (क० लं० ३७)।

'कहु केहि रंकहि···' अर्थात् तुम्हारी रीझ और खीझ दोनों का पालन कर सकता हूँ।

पहले अहित करनेवाले का अनुमान करके दंड देना कहा, फिर प्रसन्नता-पूर्ति के लिये रंक को राजा करना। पुनः खीझ के प्रतिकार को कहते हैं, पर वह नहीं बोली, तब अपने पुरुषार्थ की दृढ़ता एवं सत्यता के लिये—'सकउँ तोर अरि ' अर्थात् अगम बात भी कर सकता हूँ।

'जानसि मोर सुभाव ·'—अब अपनी बात कहते हैं, सब मेरे वश में हैं, और मैं तुम्हारे मुखचन्द्र में अनन्य हूँ कौसल्या आदि नक्षत्रों में नहीं। मैं को कह आगे मम (मेरा) की बात कहते हैं—

'प्रिया प्रान सुत ·'—मुख्य प्राण, उससे कम पुत्र, फिर क्रमशः सर्वस्व, परिजन और प्रजा को कम बनाया कि ये सब तुम्हारे वश में हैं। यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" से "सब सुत-प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।" तक (बा० दो० २०७)।

जौ कछु कहउँ कपट करि तोहीं। भामिनि राम-सपथ सत मोहीं ॥६॥
बिहँसि माँगु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता ॥७॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू ॥८॥

दोहा—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फंद ॥२६॥

अर्थ—जो मैं कुछ कपट करके कहता हूँ तो, हे भामिनि! मुझे रामजी की सौ शपथ है॥६॥ हँसकर (प्रसन्नता से) मन को भानेवाली बात माँग लो और सुन्दर शरीर पर भूषण सजो॥७॥ अपने हृदय में विचार कर घरी-कुघरी (अवसर-कुअवसर) तो देखो, हे प्रिये! कुवेष को शीघ्र त्याग करो॥८॥ यह सुनकर और मन में इस शपथ को बहुत बड़ी समझकर मदबुद्धि कैकेयी हँसकर उठी और शरीर पर भूषन सजने लगी, मानों भीलनी मृग को देखकर फंदा सज रही हो॥२६॥

विशेष—(१) 'जौं कछु कहउँ कपट······'—राजा बहुत कह गये, तब विचारे कि कहीं रानी इन्हें चाटु वचन ही न समझे, इसलिये पुष्टि के लिये शपथ करते हैं कि रामजी की सैकड़ों शपथ हैं; अर्थात् जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे रामजी की सौ शपथ का पाप हो। और मेरे सुकृत स्नेह नाश हो जायँ, यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (दो० २०); 'भामिनि' पद मानवती स्त्री का बोधक है, वह यहाँ यथार्थ है।

(२) 'बिहँसि माँगु···भूषन सजहि···'—वह रुष्ट है, अतः, राजा ने उसे सब कुछ अर्पण कर उसे राम-शपथ द्वारा पुष्ट किया, तब कहते हैं कि अब तो हँसकर माँगो। 'मनोहर गाता'—तुम्हारे शरीर तो यों ही मेरे मन को हरते हैं, फिर भी अपनी प्रसन्नता से भूषण सजो (पहनो)। प्रथम राजा ने 'सुमुखि' आदि चार विशेषणों से चार अंगों की ही सुन्दरता कही थी। अब सर्वांग की मनोहरता कहते हैं। इस तरह अपनी पूर्ण आसक्ति एवं दीनता दिखाई। 'मनभावति बाता' अर्थात् जो तुम सदा से चाहा करती थी, वही माँग लो, राजा जानते हैं कि यह राम-तिलक ही चाहती थी, उसी के लिये रूठी है, यथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहि देउँ कालि जुबराजू॥" आगे कहते ही हैं। भावीवश राजा को धोखा हुआ, इसीसे राम-शपथ मुख से निकल आया और मन भाया माँगने को भी साथ ही कहा। इसी पर तो रानी कहेगी—"माँगेउँ जो कछु मोहि सुहाना।" (दो० ३१)।

(३) 'घरी कुघरी समुझि···'—राम-तिलक का शुभ अवसर है। अतः, यह शुभ घड़ी है, यह मंगल सजाने के योग्य है। इसमें क्रोध नहीं किया जाता, इसमें शृंगार सजो, क्रोध और कुवेष के लिये कुघड़ी होती है। राजा शुभ घड़ी की सूचना देते हुए कुवेष छुड़ाना चाहते हैं। इसीसे उन्होंने आगे कहा ही है—'भामिनि भयउ तोर···'। 'बेगि प्रिया परि हरहि कुबेषू।'—क्योंकि इससे मुझे दारुण दुःख हो रहा है, यथा—"देखि दसा दुःख दारुन भयऊ।" (दो० २४)।

(४) 'यह सुनि मन गुनि सपथ ····'—शपथ को 'बड़ि' कहा, क्योंकि मंथरा ने एक ही बार की राम-शपथ का बहुत महत्त्व समझाया था और यहाँ सौ बार की शपथ की गई। इस शपथ का महत्त्व वाल्मी० अ० स० ११ में उत्तम रीति से कहा है। ऐसी शपथ पर भी स्वामी का सद्भाव न मानकर उन्हें नाश करने चली, इससे 'मति मंद' कहा है। क्योंकि राजा ने सब कुछ तो दे ही दिया था और उसे शपथ से पुष्ट भी कर दिया, तो माँगने को रहा क्या? जो माँगेगी। 'बिहँसि उठी'—लेटी थी, हँसकर उठी, क्योंकि मन चाही बात हुई। 'बिहँसि माँगु' के अनुसार 'बिहँसि उठी'। 'भूषन सजति बिलोकि ···'—राजा मृग, कैकेयी किरातिनि और उसके भूषण फंद हैं, इन्हीं भूषणों के पहनने से राजा प्रसन्न होंगे, सभी वर देने के लिये वचनबद्ध होंगे, यहाँ फँसना होगा। स्त्री के भूषण पुरुष के लिये फाँसी हैं ही। कहा भी है—"वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः। प्रचस्कंद विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः॥" (वाल्मी २।११।२२)। (प्रचस्कंद विनाशाय=अपने विनाश के लिये)।

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥१॥
भामिनि भयेउ तोर मन भावा। घर-घर नगर अनंद बधावा॥२॥

रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू ॥३॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू ॥४॥
ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोर-नारि जिमि प्रगटि न रोई ॥५॥

शब्दार्थ—दलकि उठेउ = चौंक उठी, उद्विग्न हो उठी, दलकना = असह्य ठेस लगना। बरतोर = रगड़ आदि से शरीर का रोम (बाल) टूटने से प्रायः उस जगह फोड़ा हो जाता है, वही बलतोड़ है। यह छू जाने से पूर्व इसमें किंचित् ठेस लगने से असह्य दुःख होता है, वेदना होती है। गोई = छिपाई।

अर्थ—अपने हृदय में कैकेयी को सुहृद जानकर प्रेम से पुलकित हो सुन्दर कोमल वाणी से राजा पुनः बोले ॥१॥ हे भामिनि! तुम्हारा मनभाया हुआ, नगर में घर-घर आनद बधावे बज रहे हैं ॥२॥ राम को कल ही युवराज पद दे रहा हूँ, हे सुलोचनी! मंगल साज सजो ॥३॥ यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दलक उठा, मानों पका हुआ बलतोड़ छू गया हो ॥४॥ ऐसी भारी पीड़ा भी उसने हँसकर छिपा ली, जैसे 'चोर नारि' प्रत्यक्ष नहीं रोती ॥५॥

विशेष—(१) 'सुहृद जिय जानी'—राजा ने उसे जो-जो आज्ञा दी, वही-वही उसने किया, इन्होंने 'बिहँसि माँगु' कहा था, तब वह 'बिहँसि उठी' पुनः 'भूषन सजहि' कहा तब वह 'भूषन सजति...' इससे अपने अनुकूल जानकर राजा ने उसे सुहृद जाना। 'जिय जानी'—राजा ने जाना है, पर वह सुहृद भाव से नहीं हँसी है और न भूषण ही सजती है किंतु राजा को फँसाने के लिये यह कर रही है—'···बिलोकि मृग मनहुँ किरातिनि फंद' कहा ही है।

(२) 'भामिनि भयउ तोर·······'—राजा प्रसन्न होकर उसका मनभाया स्वयं कह रहे हैं, उसे 'मन भावत' माँगने को कहा था, उसने कहने में देरी की, तब अपने अनुमान से राजा स्वयं कह रहे हैं—'रामहि देउँ···' यही तो पहले सदा से वह चाहती थी। यथा—"राम-तिलक जौं साँचेहुँ काली। माँगु देउँ मन भावत आली ॥" (दो० १४); 'घर-घर नगर···' सब कोई सज रहे हैं, तुम्हारे तो प्रिय पुत्र का ही तिलक है।

(३) 'रामहि देउँ कालि··· · सजहि······'—राजा अपनी तरफ से उसे अत्यन्त प्रसन्नता की बात सुना रहे हैं कि बस, कल ही देता हूँ, विलंब नहीं है। अतः, आज तुम मंगल-साज सजो। प्रथम कहा था—"प्रमुदित पुरनर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार।" (दो० १३); वैसे यहाँ रानी को सजने को कहते हैं। इससे 'सुमंगल चार' ही 'मंगल साज' है।

राजा ने पहले कहा था—'भूषन सजहि······' तब रानी भूषन सजने लगी थी, किन्तु अभी मंगल साज सजने को कहा, तब उसने न किया। इसपर राजा समझ जाते कि भूषण सजना इसका कपट से है, इसलिये बिहँसकर इस मर्म को छिपाया कि जिससे राजा समझें कि राम-राज्य को सुनकर प्रसन्न हुई है, पीछे मंगल भी सजेगी। उसीको आगे ग्रंथकार कहते हैं—

(४) 'दलकि उठेउ सुनि हृदय······'—उसका कठोर हृदय ही 'पाक बरतोर' है जो अभी थोड़ा ही समय का है, इससे कठोर है, बलतोड़ भी प्रथम कठोर ही होता है, पीछे पकने पर गुल-गुलाता है। दूसरे की हानि करनेवाले का हृदय निर्दयता से कठोर होता ही है। बलतोड़ में पीड़ा पहले भी रहती है, पर छू जाने पर असह्य पीड़ा होती है, जिससे मनुष्य काँप उठता है, वैसी ही पीड़ा हुई और वह काँप उठी, सामान्य पीड़ा तो पहले से ही थी। मंथरा ने कहा था—"रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ ॥" (दो० १८); उसीको राजा ने सुनाया, जिससे असह्य पीड़ा हुई।

(५) 'ऐंचित पीर बिहँसि तेहि गोई।'—असह्य पीड़ा में रोया जाता है, पर इसने मर्म छिपाने के लिये बिहँस दिया। अन्यथा राजा राम-तिलक की विरोधिनी जान जाते और वे सावधान हो जाते। हँसने से जाना कि राम-तिलक पर प्रसन्न हुई है।

'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'—यहाँ कैकेयी पति से ही हृदय की पीड़ा छिपा रही है। अतः, 'चोर नारि' का अर्थ यह है कि जो स्त्री चोरी करके परपति पर आसक्त होकर उससे सुख भोगना चाहती हो, परन्तु किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाय, तो उस समाचार को सुनकर वह भीतर-ही-भीतर रोती है, क्योंकि प्रकट रोने से चोरी खुल जाय और वह अपने पति से दंड-भागिनी हो। वैसे ही कैकेयी अपने पति राजा दशरथ से चोरी करके राज्य-वैभव पर प्रेमासक्त होकर उसकी प्राप्ति से सुख उठाना चाहती है। जब राजा ने कहा—"रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥" तब उक्त राज्य वैभव रूपी उपपति की मृत्यु जान उसे असह्य पीड़ा हुई, परन्तु पति राजा यदि इस पीड़ा को जान जायँ, तो इसका कपट खुल जाय और यह दंडनीय हो। अतएव बिहँसकर इसने उस भाव को छिपा लिया, जिससे राजा न जान सके। यथा—"लखहि न भूप कपट चतुराई।" आगे कहा ही है—

लखहि न भूप कपट चतुराई। कोटि-कुटिल-मनि गुरू पढ़ाई॥६॥
जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू। नारि-चरित जलनिधि अवगाहू॥७॥
कपट-सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥८॥

दोहा—माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु॥२७॥

शब्दार्थ—नयन मुँह मोरी = नेत्रों से कटाक्ष करके मुख से भी नाज-नखरे के साथ मटक कर। कबहुँ न = कभी भी नहीं। यथा—"नाहिन राम राज के भूखे।" (दो० ४१); 'नाहिन' = नहीं ही। देहु न लेहु = देते लेते नहीं, यह मुहावरा है। इसका अर्थ 'देते नहीं' इतना ही होता है।

अर्थ—राजा उसकी कपट चातुरी को नहीं लख (लक्ष्य कर) पाते, क्योंकि वह करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि (कुबड़ी ऐसी) गुरु की पढ़ाई हुई है॥६॥ यद्यपि राजा नीति में निपुण हैं, फिर भी स्त्री-चरित्र समुद्र की तरह अथाह है॥७॥ फिर कपट (झूठा) स्नेह बढ़ाकर नेत्र और मुँह मोड़कर (मटकाकर) हँसती हुई वह बोली॥८॥ हे प्रिय (प्रिय-स्वामिन्)! आप 'माँगु, माँगु' तो कहा ही करते हैं; पर कभी देते लेते नहीं। आपने दो वर देने को कहा था, उनके भी पाने में (मुझे) संदेह है॥२७॥

विशेष—(१) 'लखहि न भूप कपट ......'—इसकी कपट चातुरी राजा भी नहीं लख पाते। क्यों? इसका उत्तर उत्तरार्द्ध में है कि यह ऐसे गुरु की पढ़ाई हुई है कि जो करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि है, तन और मन दोनों से टेढ़ी है। पढ़ाया है—"काज सँवारेहु सजग होइ, सहसा जनि पतिआहु॥" (दो० २२)। यदि कहा जाय कि नीत-निपुण राजा से तो कपट नहीं छिप सकता तो इसपर आगे कहते हैं—

(२) 'जद्यपि नीतिनिपुन...'—नीतिज्ञ से कपट नहीं छिपता, पर यहाँ छिप रहा है। राम-तिलक सुनकर इसके भीतर पीड़ा हुई और ऊपर से हँस दिया, यही 'कपट चतुराई' है। इसे नीति की दृष्टि से

राजा लख सकते थे कि जिस-जिसने राम-तिलक सुना है, सब प्रसन्न होकर मंगल सजाने लगे हैं। यथा—"तेहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।" तथा—"प्रेम पुलकि तन मन अनुरागी। मंगल साज सजन सब लागी॥" (दो० ७)। तथा—"राम राज अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब, विधि अनुकूल बिचारि॥" (दो० ८) परन्तु कैकेयी ने राजा के कहने पर भी—"सजहि सुलोचनि मंगल साजू।" इसकी चर्चा न की और न इसपर राजा को धन्यवाद ही दिया। तब लख लेते कि इसका हृदय अवश्य मैला है, पर न लख सके, क्योंकि—'नारिचरित जलनिधि अवगाहू।' 'नारि चरित' वही उपर्युक्त 'कपट कुटिलाई' है और—'बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी।' है कि जिससे मोहित होने से राजा चूक गये। यही नारि-चरित की अगाधता में डूब जाना है। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ सरल सुसील धरम-रत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ॥" (दो० १६१)।

(३) 'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी'''—स्नेह ऊपर दिखाने भर को है कि जिससे राजा प्रसन्न होकर वर दे दें। 'कपट सनेह बढ़ाइ'— मन का धर्म है, 'बोली बिहँसि'—वचन का और 'नयन मुँह मोरी'—कर्म का कपट है। तीनों में कपट ही भरा है। 'बोली बिहँसि'—इस प्रसंग में इसका कई बार हँसना कहा गया है—"बिहँसि उठी मति मंद", "ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई", "बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी।", "बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली" इत्यादि हँस-हँसकर इसने राजा को मोह लिया और अपना प्रयोजन साध लिया॥

'तउ पावत संदेहु'—ऐसा कहकर यह राजा से निस्संदेह होने के लिये उन्हें वचनबद्ध कराना चाहती है, भावीवश वैसा ही होगा। पुनः जो दो वर यह माँगेगी उसमें एक वर (राम-वनवास) का राजा ने खुशी से नहीं ही दिया, श्रीरामजी ने बलात् पूरा किया कि हठ करके चले गये। कैकेयी जानती है कि राजा का सुकृत-सुयश भले ही चला जाय, पर वे राम को वन जाने को न कहेंगे। यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ।''''' लोचन ओट राम जनि होहीं॥" (दो० ४४) यह राजा के वचन हैं। पुनः—"सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥" (दो० ७८)। ये कैकेयी के वचन हैं। अतः, संदेह करना उसके हृदय से युक्त भी है।

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहिं कोहाब परमप्रिय अहई॥१॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयेउ मोहि भोर सुभाऊ॥२॥
झूठेहु हमहि दोष जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू॥३॥
रघुकुल - रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥४॥

शब्दार्थ—कोहाब = रूठना। मकु = चाहे, भले ही। कै = के बदले में। बरु = चाहे, भले ही।

अर्थ—राजा हँसकर कहने लगे—मैंने तुम्हारा अभिप्राय समझा, तुम्हें रूठना (मान करना) अत्यन्त प्रिय है (रूठती हो कि जिससे हम मनावें)॥१॥ थाती रखकर तुमने कभी माँगा ही नहीं, भोला स्वभाव होने के कारण मैं भूल गया॥२॥ मुझे झूठा ही दोष न दो, चाहे दो के बदले में चार माँग लो। रघुकुल की रीति सदा से चली आती है कि प्राण भले ही चले जायँ, पर वचन नहीं टलता॥४॥

विशेष—(१) 'जानेउँ मरम राउ हँसि...'—राजा हँसे कि रानी ने क्रोध इतना किया था, पर

इसका कारण तो कुछ नहीं है। रक्खी हुई थाती तो जब चाहती यों ही माँग लेती। 'कोहाब परम प्रिय' से जनाया कि और भी बहुत बार इन्होंने मान किया था, राजा ने जाना कि अब की भी वैसा ही (क्रीड़ा का) मान है, नहीं तो दो के चार देने को न कहते।

(२) 'थाती राखि न···'—तुम्हें कोहाना (मान करना) परम प्रिय है, इसीसे नहीं माँगा कि माँग लेंगी, तो फिर किस बहाने से मान करेंगी। अन्यथा थाती किसी की भी कोई नहीं रोकता, मैं कैसे न देता? 'मोहि भोर सुभाऊ'—मुझे भी भूल गया था, नहीं तो मैं ही स्मरण कराता। 'भोर सुभाऊ' का यह भी भाव है कि हम जानकर वचन का त्याग नहीं करते।

(३) 'झूठेहुँ हमहि दोष···'—रानी ने कहा था कि—"माँगु माँगु पै···" उसी पर कहते हैं कि न देने का दोष मुझपर झूठा ही आरोपण करती हो। तुमने थाती माँगी नहीं और हम भूल गये तो झूठा होने का दोष हममें नहीं लग सकता। अच्छा, लो, दो तो तुम्हारे ही हैं, दो और हम अपनी ओर से अपनी भूल के बदले में देते हैं, इस तरह चार ले लो। दोष देने से हमारे कुल में कलंक लगेगा।

(४) 'रघुकुल-रीति सदा···'—जबसे यह कुल उत्पन्न हुआ तबसे इसमें परंपरा से सत्य का आदर होता आया, अन्यत्र ऐसा असंभव है, पर इस कुल की रीति निबहती ही आई। भाव यह कि हम रघुवंशी हैं; अतः, वचन से न टलेंगे, 'प्रान जाहु बरु···'—वचन प्राणों से अधिक प्रिय है, देखिये, भावीवश राजा स्वयं अपनेको बाँधते जाते हैं, वचन से न हटने के कारण आगे कहते हैं—

नहिं असत्य सम पातक-पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥५॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये ॥६॥
तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत-सनेह-अवधि रघुराई ॥७॥
बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहँग कुलह जनु खोली ॥८॥

दोहा—भूप-मनोरथ सुभग बन, सुख-सुबिहंग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, बचन भयंकर बाज ॥२८॥

शब्दार्थ—गुंजा=घुँघची। करिआई=कर पड़ा (क्योंकि तू और तरह प्रसन्न नहीं होती थी)। कुबिहँग=बाजपक्षी। कुलह (फा० कुलाह)=टोपी, बाज की आँख का ढकन। सुबिहंग=शुक-सारिका आदि।

अर्थ—झूठ के समान पापों का समूह भी नहीं, क्या करोड़ों घुँघचियाँ (मिलकर भी) पर्वत के समान हो सकती हैं ॥५॥ सत्य ही समस्त सुहावने पुण्यों की जड़ है, यह बात वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और मनुजी ने (मनुस्मृति में) भी कहा है ॥६॥ इतने पर भी मैं श्रीरामजी को शपथ कर पड़ा हूँ, जो रघुराई श्रीरामजी सुकृत और स्नेह की सीमा हैं ॥७॥ बात पक्की कराके दुर्बुद्धि कैकेयी हँसकर बोली, मानों कुमत-रूपी बाज की टोपी खोल दी ॥८॥ राजा का मनोरथ सुन्दर वन है, सुख सुन्दर पक्षियों का झुंड है, भीलनी रूपा कैकेयी अपना वचन रूपी भयङ्कर बाज छोड़ना चाहती है ॥२८॥

विशेष—(१) 'नहिं असत्य सम पातक······'—घुघचियों की ढेरी पर्वत के समान नहीं हो सकती। अथवा, गुंजा रत्ती के तौल में बर्त्ता जाता है, वह सेर, पसेरी और मन के बराबर तो हो ही नहीं

सकता, फिर पहाड़ की बराबरी कैसे कर सकता है? सब पाप रत्ती-रत्ती भर है, तो असत्य पहाड़ के समान भारी है, इतना अन्तर है।

(२) 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये'—असत्य का स्वरूप कहकर अब सत्य को कहते हैं कि यह सब पुण्यों से बड़ा एवं सबकी जड़ है, जड़ के बिना वृक्ष नहीं रह सकता, वैसे ही सत्य के बिना सुकृत नहीं रह सकता, यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।" (बा० दो० २५१)।

सत्य परमात्मा का स्वरूप है, सत्ता-विद्यमानता, सर्वत्र उपस्थितिः, तस्य भावं सत्यम्ः अर्थात् सर्वत्र व्यापक ब्रह्म ही सत्य रूप है, असत्य में आत्मा का हरण एवं हनन का दोष है। पुनः 'धृञ —धारणे,' धातु से धर्म शब्द बनता है, अर्थात् जिससे प्रजाओं का धारण हो, वह धर्म है, सत्य के बिना प्रजा नहीं रह सकती, राजा, एवं उसके कर्मचारी न्यायाधीश, पुलिस एवं साक्षी आदि सभी सत्य छोड़ दें, तो प्रजा न रह सके, क्योंकि सत्य के बिना कोई भी पारस्परिक व्यवहार ही नहीं चल सकता। इससे भी सत्य, धर्म एवं सुकृत का मूल कहाता है।

(३) 'तेहि पर राम सपथ······'—'करि आई' अर्थात् अचानक दैवात् मुँह से निकल आई। जैसे असत्य और सत्य की बड़ाई की—"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।" "सत्य मूल सब सुकृत······" वैसे ही राम शपथ की भी बड़ाई करते हैं—"सुकृत सनेह अवधि···'—सब सुकृत का फल राम-स्नेह है—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६)। स्नेह से श्रीरामजी प्राप्त होते हैं। अतः, वे इसके भी फलरूप हैं। जैसे नदियों की अवधि समुद्र है, वैसे ही सुकृत और स्नेह की अवधि श्रीरामजी हैं। यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (बा० दो० ३०१)। "परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चारो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० १६)। 'तेहि पर'—'रघुवंशी यों भी झूठ नहीं बोलते, फिर असत्य के भारी पाप का भय है, पुनः सुकृत मूल सत्य की रक्षा के लिये वेद-पुराण एवं मनु की आज्ञा है, उसपर भी राम-शपथ की गई, जो अन्तिम पुष्टि है।

(४) 'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि···'—'बात दृढ़ाइ'—श्रीरामजी की शपथ कराना, बात का दृढ़ करना है, क्योंकि अब वचन टल नहीं सकता, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥" (दो० २१), वह इसी घात में थी, इसीसे दुर्बुद्धि कही गई। 'हँसि बोली'—मन-मानी संयोग बना हुआ देखकर प्रसन्न होकर बोली, इसी पर उत्प्रेक्षा है कि वह हँसकर बोली, ओष्ठ खुला, मानों हिंसा के लिये बाज की कुलही खुली। कुमति कैकेयी-कुमत—"सुतहिं राज रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥" (दो० २१); यही कुविहग (बाज) है, दोहे में इसे ही 'बचन भयंकर बाज' कह कर स्पष्ट करेंगे। इनको कपट से छिपाये थी, अब प्रकट करेगी। शिकार के सम्मुख आने पर बाज की टोपी खोली जाती है, यहाँ राजा शिकार हैं, उनका राम-शपथ करके प्रतिज्ञा-बद्ध होना सम्मुख आना है। इन वचनों से जो दशा होगी, उसे दोहे में स्पष्ट करते हैं—

(५) 'भूप मनोरथ सुभग बन···'—'सुभग बन' कल्पवृक्ष का बन है, यथा—"मोर मनोरथ सुर तरु फूला।" (दो० २८); राम-तिलक का मनोरथ है। अतः, 'सुभग' है। इस मनोरथ में जो नाना प्रकार के सुख हैं (अर्थात् राम राज्य में अमुक-अमुक सुख होंगे) यही नाना प्रकार के शुक, सारिका, चातक, कोकिल आदि पक्षियों का समाज है। जैसे भीलनी नाना पक्षियों को लेने के लिये भयंकर बाज छोड़ती है, वैसे ही कैकेयी राजा के सुखों को लेने के लिये भयंकर वचन छोड़ती है। बाज दो पक्ष युक्त होता है, वैसे इसके वचन में दो वर रूपी दो पक्ष हैं। कैकेयी वर माँग कर राजा के सुखों को लेगी।

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका ॥१॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥२॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी ॥३॥

अर्थ—हे प्राण प्यारे ! सुनिये, मेरे जी को भानेवाला एक वर तो यह दीजिये कि भरतजी को राज्य-तिलक हो ॥१॥ दूसरा वर मैं हाथ जोड़कर माँगती हूँ, हे स्वामिन्! मेरी अभिलाषा पूरी कीजिये ॥२॥ कि रामजी तपस्वी वेष में विशेष उदासीन रहते हुए, चौदह वर्ष तक वन में रहें ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रान प्रिय भावत···'—राजा ने कैकेयी को—'प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।' कहा था, इसीसे उसने भी 'प्रान प्रिय' कहा। पुनः राजा ने कहा था—'बिहँसि माँगु मन भावति बाता।' इसी से उसने भी—'भावत जी का' कहा और बिहँसकर बोली भी—'कुमति हँसि बोली' ऊपर कहा ही है। 'देहु एक बर भरतहि टीका'—'एक' और 'दूसर' गिनती से माँग रही है, क्योंकि राजा ने चार माँगने को कहा था, तो दो पीछेवाले उन्होंने स्वयं बढ़ा दिये। अतः, वे निर्बल हैं। पहला—दूसरा तो उसके प्रथम की थाती हैं और सेवा से प्राप्त हैं। अतः, अपने ही दो वरों को गिनकर माँगती है। प्रथम भरतजी का राज माँगा, क्योंकि राम-वनवास सुनते ही तो राजा अचेत हो जायँगे, तो फिर भरत-राज्य नहीं ही मिलेगा। मंथरा ने इसी क्रम से कहा भी था, यथा—"सुतहि राज रामहि बन बासू।" (दो० २१)।

(२) 'माँगउँ दूसर बर कर जोरी।'—दूसरा वर कठिन है, इसलिये स्वार्थ-साधन के लिये हाथ जोड़ा और विशेष प्रार्थना की। पहले वर से धन लिया और इस दूसरे से तन (प्राण) लेना चाहती है, प्राण देना कठिन है, इसलिये विशेष प्रार्थना करती है। हाथ जोड़कर यह भी दिखाती है कि ये वे ही हाथ हैं, जिनसे सारथ्य कर्म करके मैंने देवासुर-संग्राम में आपके प्राण बचाये हैं, उनके बदले के दोनों वर देकर आप मेरे प्राण बचावें, क्योंकि—"होत प्रात मुनि-बेष धरि, जो न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माँहि ॥" (दो० ३३)।

(३) 'तापस बेष बिसेषि उदासी···'—पहले वर से योग (राज्य प्राप्ति) किया, अब उसके क्षेम का प्रबन्ध कर रही है कि रामजी विशेष उदासीन वृत्ति से १४ वर्ष वन में रहें। वह सोचती है कि केवल वनवास माँगने से काम न चलेगा। सब प्रजा उनके पक्ष में हैं, सब-के-सब वहीं जाकर रहेंगी, तो अवध उजाड़ हो जायगा और वन ही अवध हो जायगा। फिर भरतजी यहाँ किसे लेकर राज्य करेंगे? इसलिये विशेष-उदासीन वृत्ति से रहने का वर माँगती है, क्योंकि भरद्वाज, वसिष्ठ आदि भी उदासीन एवं तपस्वी हैं, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (दो० २०६); पर ये सब नगर में जाते हैं, शिष्यों एवं अन्य मुनियों के साथ भी रहते हैं और आवश्यक सामग्री भी सब रखते हैं, कैकेयी चाहती है कि ये विशेष उदासीन रहें, न विशेष लोगों में रहें और न किसी ग्राम-नगर में जायँ। यथा—'पिता वचन मैं नगर न आवउँ' (लं० दो० १०४)।

कैकेयी के हृदय में डर है कि राम यदि ग्राम-नगर में जायँगे, तो इनके बहुत-से मित्र हो जायँगे। उनसे वे कहीं भरत का अनिष्ट न करा दें। इसलिये एकान्त में और वन में रहें, किसी से प्रीति और विरोध के भाव मन में न लावें और राज्य-सुख की चेष्टा से भी रहित रहें। इस तरह १४ वर्ष तक रहने से राज्य की चाह न रह जायगी और कोई उनका साथी भी न रह जायगा। फल-मूलादि भोजन एवं कभी-कभी उनके भी न मिलने पर उपवास से निर्बल भी हो जायँगे, तो लड़ाई करने के योग्य न रहेंगे। और इधर

इतने दिनों में भरत का पूर्ण अधिकार प्रजा पर हो जायगा। प्रजा, मंत्री और अनुयायी राजा लोग अनुकूल हो जायँगे। भरत राज्य-कार्य में भी निपुण हो जायँगे। पुनः नीति-शास्त्र की दृष्टि से इतने दिनों के पीछे रामजी का पैत्रिक संपत्ति पर अधिकार भी न रह जायगा। यथा—"चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्। रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥"'एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति। भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥ येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति। अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥ संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्।" (वाल्मी० २।९।३१-३५); अर्थात् १४ वर्ष में भरतजी जम जायँगे, उनका प्रजा पर प्रभाव हो जायगा, आगे आनन्द से रहेंगे। रामजी प्रजा के अप्रिय हो जायँगे, उन्हें प्रजा भूल जायगी, शत्रु के न रहने पर भरतजी राजा हो जायँगे। फिर जब तक रामजी लौट कर आवेंगे, भीतर-बाहर भरतजी की जड़ जम जायगी। भरतजी भी आत्मवान् हैं, वे प्रजा को अपने पक्ष में मिला लेंगे, इत्यादि।

चौदह वर्ष ही के लिये वन क्यों माँगा ? इसपर और भी मत है—(क) कैकेयी सरस्वती की प्रेरणा से कह रही है, "गई गिरा मति धूति।" (दो० २०६); वह (सरस्वती) जानती है कि रावण-वध इतने ही काल में होगा तो अधिक के लिये क्यों कहलावे, उसे तो इतने ही के लिये पछतावा था—"मइहँ सरोज बिपिन हिम राती।" (दो० ११); उसे अवधवासियों का दुःख असह्य था। (ख) मंथरा ने कहा था—"भयेउ पाख दिन सजत समाजू।" अर्थात् १५ वें दिन इसे खबर मिली थी। अतः, बीते हुए १४ दिन की चोरी से उत्सवानंद भोगने के बदले १४ वर्ष के लिये वन का दुःख देती है। (ग) जब राजा कैकेयी के पास गये, तब से १४ घड़ी अभिषेक का मुहूर्त शेष रहा, उन एक-एक घड़ी के बदले में एक-एक वर्ष के लिये वनवास दिया।

(४) 'मनोरथ मोरी'—यद्यपि मनोरथ पुँल्लिंग शब्द है, पर ग्रंथकार ने प्रायः प्रश्न और मनोरथ को स्त्रियों के सम्बन्ध में स्त्रीलिंग के रूप में ही कहा है, यथा—"प्रश्न उमा कइ सहज सुहाई।"(बा० दो० ११०) "फलित बिलोकि मनोरथ बेली।" (दो० १); पुनः कहीं-कहीं अनुप्रास के योग से एवं दीनतापरक होने से उसमें नाजुक भाव रखते हुए भी 'मनोरथ' को स्त्रीलिंग के रूप में कहा है, यथा—"मंजु मनोरथ मोरि।" (बा० दो० १२)।

सुनि मृदु बचन भूप-हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥४॥
गयेउ सहमि नहि कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥५॥
बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥६॥

शब्दार्थ—सचान = बाज। लावा = बटेर। बिबरन = बदरंग, शरीर का रंग उड़ जाना।

अर्थ—राजा के हृदय में कोमल वचन सुनकर शोक हुआ, जैसे चन्द्र-किरण के स्पर्श से चकवा व्याकुल हो जाता है॥४॥ राजा डर गये, कुछ कहते न बना, मानों वन में बटेर पर बाज टूट पड़ा हो॥५॥ राजा बिलकुल बदरंग (फीके) हो गये, मानों ताल (ताड़) के वृक्ष पर बिजली गिरी हो॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु बचन भूप···'—कैकेयी ने राजा से दो वर माँगे हैं, उनसे राजा की क्या-क्या दशाएँ हुईं, उन्हीं को कवि तीन दृष्टान्तों से कहते हैं—'मृदु बचन' से प्रथम वर का वचन भरतजी के लिये तिलक लिया जायगा। क्योंकि भरतजी राजा को श्रीरामजी की तरह प्रिय हैं, यथा—"मोरे भरत राम दोउ आँखी। सत्य कहउँ···" (दो० ३०); अतः इनका तिलक सुनने में मृदु लगा, फिर उससे ही

हृदय में शोक हुआ, जैसे चन्द्रमा की किरणें चकवा को तन में शीतल लगती हैं, पर उनसे उसके हृदय में शोक होता है, क्योंकि उसमें उसका चकवी से वियोग होता है और वह चकवी के साथ रहने में सुख मानता है, उसकी हानि का शोक होता है (रात में चकवा-चकवी एक साथ नहीं रहते, यह उनका प्राकृतिक नियम है, चन्द्र किरण भी रात में होती है)। वैसे ही राजा ने श्रीरामजी को राज्य देने में सुख माना था—'सुख सुबिहँग समाज' ऊपर कहा गया। भरत का तिलक माँगने से उस सुख की हानि का शोक हुआ, अतः, राजा चकवा की तरह विकल हुए, प्रमाण—"भरतजी कि राउर पूत न हो ही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥ जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे।" (दो० ११)।

शंका—इसका खंडन तो राजा ने आगे किया है—"एकहि बात मोहिं दुःख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥" (दो० ३१); अर्थात् दूसरे वर से दुःख है।

समाधान—कैकेयी ने सब दुःख का कारण भरत राज्य के वर को ही कहा है, उसका खंडन राजा ने किया है। सामान्य दुःख के पीछे विशेष दुःख होता है तब पहला भूल जाता है। भरत-राज्य माँगने पर सामान्य दुःख हुआ, उसे भी राजा ने जनाया है, यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति।" (दो० ३१), अर्थात्—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४) के अनुसार कुल-रीति एवं राज-नीति के विरोध का दुःख है। पुनः—"तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे।" (दो० ३१); अर्थात्—"भूपमनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहंग समाज।" (उपर्युक्त) के सुख की हानि 'छूछे' शब्द से सूचित की है, स्पष्ट न कहने का कारण यह है कि इसके प्रारम्भ में ही—'बानी सबिनय तासु सुहाती' कहा है, इसीसे तो—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।' कहने में छोटे 'भरत' का नाम पहले कहा है। यदि कहा जाय कि एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु मृदु और शोककर कैसे हुई ? तो उत्तर यह है, ऐसा होता है, यथा—"तन सँकोच मन परम उछाहू।" (बा० दो० १६२)।

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥७॥
मोर मनोरथ सुरतरु-फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥८॥
अवध उजारि कीन्ह कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई ॥९॥

दोहा—कवने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिस्वास।
जोग-सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अबिद्या नास ॥२९॥

अर्थ—शिर पर हाथ रख दोनों नेत्रों को मूंदकर राजा सोचने लगे, मानों सोच ही शरीर धारण करके सोच रहा हो ॥७॥ (सोचते हैं कि) मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था, (परन्तु) फलते समय जैसे हथिनी ने उसे जड़-समेत नाश किया हो वैसे कैकेयी ने उसे जड़-समेत नाश कर दिया ॥८॥ (कैकेयी ने अवध को उजाड़ कर दिया) और विपत्ति की अचल (दृढ़) नींव डाल दी ॥९॥ किस अवसर में यह क्या हो गया ? स्त्री पर विश्वास रखने से मैं गया (नाश हुआ)। (मेरी वही दशा हुई) जैसे योग की सिद्धि एवं फल-प्राप्ति के समय यती (योगी) को अविद्या माया नाश करती है ॥२९॥

विशेष—(१) 'माथे हाथ मूँदि दोउ···'—यह अत्यंत शोक की मुद्रा है, शोक एवं भय की व्याकुलता में प्रायः ऐसा ही लोग करते हैं, यथा—"हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मगमाहीं ॥" (बा० दो० ५४); "मूँदे नयन सहमि सुकुमारी।" (दो० २३५); "मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयेऊ।" (उ० दो० ७१); शिर पर हाथ धरने का भाव यह कि भाग्य और अभाग्य भाल पर और हस्त में लिखा रहता है, इसीसे शिर पर हाथ धरकर सोचते हैं कि मैं अभागी हूँ, मैं हतभाग्य हो गया।

'तनु धरि सोच लाग ···'—ऊपर राजा का मन, वचन, तन (कर्म) से शोकमय होना कहा गया, अब शिर पर हाथ धर और आँख मूँदकर शोचने लगे, तब मूर्त्तिमान शोक की तरह हो गये। शोक का रूप नहीं होता। अतः, उत्प्रेक्षा से उसकी अधिकता कही गई।

यहाँ करुणारस की दशा क्रमशः बढ़ी, पहले रानी को कोप-भवन में सुनकर राजा के मन में भावी अमङ्गल का खटका हुआ, तब शोक का भाव इस अवलंबन से उभरा, फिर वरदान उद्दीपन का कारण हुआ, तब विकलता का संचार हुआ, राजा सहम गये, फिर सात्त्विक भावों के उदय होने से बदन फीका एवं छविहीन हो गया, और यहाँ इस मुद्रा से शोक की मूर्त्ति ही हो गये।

(२) 'मोर मनोरथ सुर तरु···'—राजा के हृदय में राम-तिलक का मनोरथरूपी कल्पवृक्ष अंकुरित हुआ। उसके विषय में गुरु, मंत्री, परिजनों की सम्मति होना, उस वृक्ष का बढ़ना है—"अभिमत बिरव परेउ जनुपानी।" (दो० ४); तिलक की तैयारी होना फूलना और तिलक होना फलना है। फल (राम-राज्याभिषेक) से सबकी मनोवांछा की पूर्त्ति होती एवं आगे सब दिन हुआ करती, यथा—"माँगे बारिद देहि जल, रामचंद्र के राज।" (उ० दो० २३); इत्यादि विस्तार से कहा गया है। परन्तु फलने न पाया। 'हतेउ समूला'—जड़ या ठूँठ रहता है, तो वृक्ष में फिर से अंकुर फूटते हैं और बढ़कर फिर उसमें डाल-पत्ते आदि होते हैं, पर यहाँ जड़-समेत उखाड़ डाला गया; अर्थात् अब मेरे आगे राम-तिलक किसी तरह नहीं हो सकता। क्योंकि राम-वन-गमन से तो मैं जीता रहूँगा नहीं, यह निश्चित है। अतः, मनोरथ-सहित मैं नाश हुआ। 'समूला' इसके मूल राजा स्वयं हैं, क्योंकि पहले इन्होंने इसकी चर्चा गुरुजी के यहाँ की है। अतः, 'समूला' से अपना भी नाश स्पष्ट कह रहे हैं, यथा—"व्याकुल राउ

सिथिल सब गाता। करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता॥" (दो० ३४); इसमें राजा स्वयं कल्पतरु कहे गये हैं और यहाँ उनका मनोरथ कल्पतरु है, दोनों जगह नाश करनेवाली कैकेयी 'करिनि' कही गई, क्योंकि इसने पशु का-सा काम किया। विचार का लेश भी इसमें नहीं है, नहीं तो अपने घर में लगा हुआ कल्पवृक्ष फिर फूलते-फलते समय देवता और मनुष्य की तो बात ही क्या, राक्षस भी न उखाड़ेगा और न दूसरे को उखाड़ने देगा। इस घरवाली ही ने उखाड़ फेंका। राजा को वचनबद्ध करके बल प्राप्त किया, इसी से हथिनी की तरह उखाड़ फेंकने में समर्थ हुई।

(३) 'अवध उजारि कीन्हि···'—मेरा ही मनोरथ नाश हुआ हो, सो नहीं, प्रत्युत् अवध-भर को उजाड़ कर डाला, क्योंकि राम-वन-गमन से अवधवासी उनके ही पीछे भागेंगे, अवध में कोई न रह जाएगा। जब वे किसी तरह रहेंगे भी तब भूषण-भोग आदि त्यागकर रहेंगे, जिससे शोक-पूर्ण अयोध्या चौदह वर्ष तक उजाड़ ही रहेगी। 'दीन्हिसि अचल बिपति···'—उजाड़ करके विपत्ति की नींव डाल दी, अचल नींव दी, क्योंकि मैं वचन छोड़ूँगा नहीं, राम अवश्य वन जायँगे और मेरा मरन होगा, यह सब अचल है, तब क्रमशः विपत्ति बढ़ती ही जायगी। यही दीवार (नेई के ऊपर) का उठाया जाना है। इसपर भरतजी ने भी कहा है—"मिटइ कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहि आन उपाये॥" (दो० २११)।

(४) 'कवने अवसर का भयेउ···'—मंगल के समय में अमंगल हुआ, राम-तिलक के समय उनको वनवास हुआ, परम लाभ के समय परम हानि हुई, झँखते हैं कि स्त्री पर विश्वास करने से मैं नाश हुआ, जैसे योग-सिद्धि के समय यती को अविद्या नाश करती है। यहाँ राजा यती, राम-तिलक होना योग, अभिषेक हो जाना फल और कैकेयी अविद्या है, अविद्या यती को छल से बिगाड़ती है, यथा—"कल बल छल करि जाइ समीपा। अँचल बात बुझावे दीपा॥" (उ० दो० ११७); वैसे ही कैकेयी ने भी छल से ही बिगाड़ा, यथा—"कपट सनेह बढ़ाइ···" से "लखी न भूप कपट चतुराई।" तक (दो० २६); कैकेयी को अविद्या की उपमा भी युक्त है, यथा—"तिन्ह महँ अति दारुन दुःखद, माया रूपी नारि॥" (आ० दो० ४३); ऊपर राजधानी का उजड़ना कहकर यहाँ अपना भी नाश कहा—यही झँख रहे हैं।

येहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माँखा॥१॥
भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥२॥
जो सुनि सर-अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन सँभारे॥३॥
देहु उतर अनुकरहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥४॥

शब्दार्थ—झाँखा = (झींखना = कुढ़ना, दुखड़ा रोना) = पछताते रहे। मोल बेसाहि = दाम देकर खरीद लाये। अनुकरहु (अनुकारः सदृशीकरणम् अनुहारः इत्यमरः) = अनुकूल करते हो।

अर्थ—इस प्रकार राजा मन-ही-मन झींखते (पछताते) रहे, राजा के इस बुरे ढंग को देखकर दुर्बुद्धि (कैकेयी) मन में बेतरह क्रुद्ध हुई॥१॥ (और बोली) भरत क्या आपके पुत्र नहीं हैं? या कि मुझे ही दाम देकर खरीद लाये हैं!॥२॥ जो (मेरा माँगना) सुनकर आपको बाण की तरह लगा, सँभालकर वचन क्यों न बोले थे? ॥३॥ उत्तर दीजिये, अनुकूल करते हैं कि नहीं? आप तो सत्यप्रतिज्ञ हैं और रघुकुल में हैं॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राउ···'—इसका उपक्रम—'तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।' से हुआ, यहाँ 'येहि बिधि···झाँखा।' पर उपसंहार करके झींखना और सोचना पर्याय-वाचक जनाया। 'येहि बिधि'

अर्थात् सीखने की विधि भर यहाँ कही गई, इसी प्रकार से बहुत पछताया है, वाल्मी० २।१२।१-३७ देखिये। एवं अन्यत्र के भी इस प्रसंग के वचन आ गये। 'कुभाँति' दीप देहली है। राजा को अपने 'कुभाँति' (प्रतिकूल) देखा, तो वह भी 'कुभाँति' रीति से मन में माँखी (क्रुद्ध हुई) और कुभाँति वचन भी कहेगी। यथा—"प्रिया वचन कस कहसि कुभाँती।" (दो० ३०); कैकेयी ने राजा की कुभाँति दशा से उन्हें अपने प्रतिकूल और कौशल्या के अनुकूल समझा, तो उसे मंथरा के वचन 'मन मलीन मुँह मीठ नृप' सत्य प्रतीत हुए।

(२) 'कुमति मन माँखा'—यहाँ इसका मन नष्ट हुआ—'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली' में वचन नष्ट हुआ और—'कोपसमाज साजि सब सोई। राज करत निज कुमति बिगोई॥' में इसने कर्म नष्ट किया। इस तरह इसके तीनों नष्ट हुए, तीनों प्रसंगों में 'कुमति' कही गई, क्योंकि इसकी दुर्बुद्धि ही से तीनों नष्ट हुए।

(३) 'भरत कि राउर-पूत न'''—भरत राज्य के अनधिकारी तभी हो सकते हैं, जब कि वे आपके पुत्र न हों, अथवा वे मोल से खरीदी हुई स्त्री (दासी) की कोख से उत्पन्न हुए हों। यदि ऐसा नहीं है; अर्थात् वे आपके पुत्र हैं और मैं पटरानी ही हूँ, तो आपको भरत-राज्य माँगने से दुःख क्यों हुआ? (क्या राम ही आपके पुत्र और कौशल्या ही पटरानी हैं?)। 'मोल लाना' और 'बेसाहि लाना' पर्याय शब्द हैं। पर जोर देने के लिये साथ ही बोलने का मुहावरा है कि क्या यह आपने 'दाम देकर बेसाहा' है, आपकी 'जर खरीद' है? अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

(४) 'जो सुनि सर अस लाग'''—बाण लगने से जो दशा होती है, वैसी दशा राजा की हो गई है, रंग फीका पड़ गया, पीले हो गये, शोक से वचन बंद हो गया, आँखें मूँदे हुए सिर पर हाथ धरे हुए हैं। इसीसे कहती है कि—'सर अस लाग'''।

(५) 'देहु उतर अनु-करहु'''—राजा की दशा देखकर रानी डर रही है कि कहीं बिना हाँ किये प्राण छोड़ दिये, तो मेरा काम बिगड़ जायगा, इसलिये शीघ्र उत्तर चाहती है, इसीसे प्रचारती है—'हमारे वचन बाण से लगे' 'सँभाल कर क्यों न बोले थे' इत्यादि। 'अनु-करहु' अर्थात् जैसा हमने माँगा है, उसके अनुकूल करते हो कि नहीं? 'सत्यसंध तुम्ह'''—जब उसने कहा कि करते हो तब हाँ, कहो अथवा नहीं कर दो, तब फिर डरी कि कहीं नाहीं न कर दें, इसलिये फिर कहती है कि तुम्हें अपने कुल पर दृष्टि देनी चाहिये, रघुकुल में हो, अभी-अभी आपही कह चुके हैं—"रघुकुल रीति सदा'''बचन न जाई॥" अब नाहीं करने से कुल में कलंक लगेगा। पुनः आपने ही अभी वेद-पुराण और मनु आदि के प्रमाण से अपनी सत्य की निष्ठा कही है, सत्यसंध बने हैं, अब प्रतिज्ञा से हटने से भ्रष्टप्रतिज्ञ होकर मृत जीवन भोगोगे, क्योंकि संसार में अपयश होगा जो मरने से भी निकृष्ट है।

देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥५॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥६॥
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धन तजेउ बचन पन राखा॥७॥
अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई॥८॥

दोहा—धरमधुरंधर धीर धरि, नयन उघारे राय।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि, मारेसि मोहि कुठाय॥३०॥

अर्थ—(आपने) वर देने को कहा था, अब न दीजिये, सत्य छोड़ दीजिये और जगत् में अपयश लीजिये ॥५॥ सत्य की सराहना करके आपने वर देने को कहा था। समझते थे कि (रानी) चबेना माँग लेगी ॥६॥ राजा शिवि, ऋषि दधीचि और राजा बलि ने जो कुछ कहा, उस वचन एवं प्रतिज्ञा की उन्होंने रक्षा की, (उसमें) तन, धन (भले ही) त्याग दिया ॥७॥ कैकेयी अत्यन्त कड़वे वचन कह रही है, मानों जले पर नमक लगाती है ॥८॥ धर्म की धुरी धारण करनेवाले (श्रेष्ठ धर्मिष्ठ) राजा ने धैर्य धरकर नेत्रों को खोला, शिर पीटकर आह भरी ऊर्ध्व श्वास लिया (मन में कहा कि) इसने मुझे कुठौर (मर्मस्थल) में तलवार से मारा ॥३०॥

विशेष—(१) 'देन कहेहु अब जनि'''—उपर्युक्त—'देहु उतर अनु-करहु कि नाहीं' का लक्ष्य लेकर नाहीं करने पर अपयश का भय दिखाती है कि जिससे राजा नाहीं न करें।

(२) 'सत्य सराहि''' सत्य की सराहना, यथा—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। वेद-पुरान बिदित मनु गाये ॥" (दो० २७); आपने समझा था कि यह चबेना एवं वैसी कोई तुच्छ वस्तु माँग लेगी इसी धोखे से आप सत्य-संध बने बैठे थे, कोई भूखा दरिद्री हो, तो भले ही चबेना माँग ले, पर रानी तो जब माँगेगी, तब राज्य ही माँगेगी ॥ फिर आगे शिवि आदि के उदाहरण देकर सूचित करती है कि दानी तो वे लोग थे, आप तो मुट्ठी भर चबेना ही देने वालों में हैं, अर्थात् कृपणों में हैं, दानी वे ही थे, जिन्होंने तन, धन सब दे डाले।

(३) 'सिबि दधीचि बलि'''—राजा शिवि—ये उशीनर महाराज के पुत्र थे, इनकी साधुता और उदारता की परीक्षा के लिये इन्द्र और अग्नि आये। अग्नि कबूतर और इन्द्र बाज बनकर शिवि की राज-सभा में आये, कबूतर भागता हुआ शिवि की गोद में जा गिरा और बाज पीछा करता हुआ, वहाँ आ पहुँचा। कबूतर ने राजा से कहा कि मैं आपकी शरण हूँ, मैं वस्तुतः कबूतर नहीं हूँ, एक तपस्वी श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। इसपर बाज शिवि से बोला कि आप मेरे आहार में विघ्न न डालिये। इन दोनों की मनुष्य-भाषा में बातें सुनकर राजा असमंजस में पड़ गये। शरणागतरक्षा धर्म विचारकर राजा ने बाज को और तरह मांस देना चाहा, अथवा जिस तरह मेरी कीर्ति रहे और तुम्हारा प्रिय भी हो, यह भी कहा। बाज ने कबूतर के बराबर अपनी दाहिनी जंघा का मांस राजा को देने के लिये कहा। तराजू मँगा एक तरफ कबूतर को बैठाकर दूसरी ओर अपनी जंघा का मांस काट-काटकर रखने लगे। सारे शरीर का मांस चढ़ा दिया, पर पूरा न पड़ा, तब सारा शरीर ही अर्पण किया, यह देखकर बाज ने कहा कि राजा के लिये कुछ असाध्य नहीं है और वह अंतर्धान हो गया। पीछे कबूतर ने सारा हाल कहा और वर दिया, कि जो मांस तुमने मेरी रक्षा के लिये दिया है, यह तुम राजाओं का स्वर्ण-वर्ण अत्यन्त पवित्र सुगंध युक्त राज-चिह्न होगा और तुम्हारे दक्षिण भाग से यशस्वी कपोत-रोमा पुत्र होगा, यह कहकर वह भी अंतर्धान हो गया। यह कथा महाभारत वन पर्व अ० १९७ के अनुसार है, कहीं-कहीं के लेख में भेद भी है, वह कल्प भेद से है।

दधीचि ऋषि—ये अथर्वण ऋषि के पुत्र थे, उदार बुद्धि और महातपस्वी थे, इनका आश्रम सरस्वती नदी के पार था। इन्द्र जब वृत्रासुर को न मार सके, तब देवताओं ने विष्णु भगवान् से पुकार की। भगवान् ने सबको दधीचि ऋषि के पास भेजा कि जाकर विद्या, व्रत एवं तप के प्रभाव से अत्यन्त दृढ़ उनका शरीर उनसे माँगो।'''वे अपना शरीर दे देंगे। उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा जो अस्त्र बना देंगे, उससे तुम मेरे तेज से युक्त होकर वृत्रासुर का शिर काटोगे। देवताओं के साथ इन्द्र ऋषि के पास गया और प्रार्थना की।'''ऋषि ने धर्म की व्यवस्था से स्वीकार कर लिया। उन्होंने शरीर

त्याग दिया विश्वकर्मा ने उनकी हड्डियों से वज्र बनाया, जिससे वृत्रासुर मारा गया। यह कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ६ अ० ६-१० के अनुसार है। महाभारत वन पर्व अ० १०० में लिखा है कि देवताओं को ब्रह्माजी ने महर्षि के पास भेजा था।...पुनः पुराणों में यों भी कहा है कि ऋषि ने शरीर पर चार लगाकर मांस गौओं से चटवा दिया और देवताओं को हड्डियाँ दीं। उसीसे पिनाक और विष्णु का धनुष भी बना था, इत्यादि कल्प-भेद है।

राजा बलि—ये दैत्यराज प्रह्लादजी के पौत्र थे, देवताओं को इन्होंने जीत लिया। ये बड़े धर्मज्ञ और दानी थे। देवताओं का राज्य छिन जाने से उनकी माता अदिति ने कश्यपजी से प्रार्थना की। उन्होंने उसे भगवान् की उपासना बतलाई जिससे भगवान् प्रसन्न होकर वामन-रूप से उसके पुत्र हुए। भादो शुक्ला १२ को यह अवतार हुआ। (उस समय बलि इन्द्र बनने के लिये ९९ यज्ञ कर चुका था, १०० वाँ यज्ञ कर रहा था,) यज्ञशाला में बैठे हुए राजा बलि ने वामन-रूप ब्रह्मचारी को आया हुआ देखा, इनका सम्मान कर चरणामृत लेकर उनसे अभीष्ट माँगने को कहा। भगवान् ने तीन पग पृथिवी माँगी। गुरु शुक्राचार्य ने बलि को बहुत समझाया और कहा कि ये भगवान् हैं, छल से तुम्हारा राज्य लेना चाहते हैं। तुम नाहीं कर दो, पर ये प्रतिज्ञा से नहीं डिगे। वामन ब्रह्मचारी ने पग बढ़ाया, तो एक पग से बलि की पृथिवी नाप ली और दूसरे चरण में स्वर्ग आदि सभी आ गये। तीसरे चरण के लिये कुछ न बचा। भगवान् ने कहा कि तेरा वचन असत्य हो रहा है। नहीं तो १ पग और पूरा कर। उसने कहा कि राजा का शरीर आधे राज्य के बराबर है। अतः, इसे ही नाप लीजिये, मैं झूठ नहीं बोलता और अपकीर्ति से डरता हूँ। भगवान् तीसरा चरण उनके शिर पर रखकर उनको भी नाप लिया। (भा० स्कं० ८ अ० १६-२२)।

'जो कछु भाषा'—अर्थात् इन लोगों ने जो कुछ कहा, वही किया, तन-धन बचाने की चेष्टा नहीं की और न शोक ही किया। शिवि-दधीचि ने तन और बलि ने धन दिया। यहाँ भरत को राज्य देने में धन और श्रीरामजी को वन देने में तन का त्याग करना होगा, इसलिये इन्हीं उदाहरणों को कहा।

(४) 'अति कटु बचन कहति...'—कैकेयी के वचन यद्यपि धर्ममय हैं, पर वह इन उदाहरणों को प्रशंसा रूप में रखकर राजा की निन्दा कर रही है कि ये दानी थे और आप तो चबेना ही देना जानते हैं, अतः कृपण हैं। आप तन-धन के त्यागने में मोह कर रहे हैं, इत्यादि निन्दा करना अति कटु वचन कहना जले में नमक लगाना है। प्रथम जलना कहा गया—"बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥" (दो० २८); प्रथम जलाया; अब अधर्मी भी बनाती है। अति कटु वचन कह रही है, क्योंकि अत्यन्त क्रुद्धा है। यथा—"आगे दीखि जरति रिसि भारी।" (दो० ३०); इसीसे अति कटु वचन कह रही है, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि।" (आ० दो० ३८) किसी दुःखी को और भी दुखाना जले पर निमक छिड़कना कहा जाता है। राजा राम-वनवास के वरदान से अति दुःखी थे, उसपर अधर्मी, कृपण आदि भी कहकर निन्दा करती हुई और दुखाती है। यही जले पर निमक छिड़कना है। यहाँ (सिद्धास्पद) फलोत्प्रेक्षा अलंकार है।

(५) 'धरम धुरंधर धीर...'—यद्यपि रानी वामांगी है, अत्यन्त स्नेही होती हुई भी शत्रुवत् वचन कह रही है। पति को स्त्री पर दंड देने का स्वतः अधिकार है। फिर भी ये राजा हैं, सब तरह के दंड दे सकते हैं, पर सह रहे हैं, यह धर्म की मर्यादा दिखाते हैं। अतः, कवि राजा के इस गुण की प्रशंसा करते हैं कि राजा धर्म-धुरंधर हैं, कैकेयी का अधर्मी बनाना सर्वथा झूठा है। राजा को यद्यपि शोक से नेत्र खोलने एवं बोलने का भी सामर्थ्य नहीं है, तब भी धैर्य धारण कर आँख खोली कि न बोलने से मुझे झूठा कहेगी।

(६) 'सिर धुनि लीन्हि'''—भारी दुःख में लोग शिर पीटते हैं, वैसे ही राजा भी कर रहे हैं और कोई उपाय न बनने से ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं। 'असि' मारना कहते हैं, इसी से आगे असि (तलवार) का ही रूपक कहा जायगा। 'कुठाय'—हम राम को राज्य देते रहे और यह वनवास माँग रही है। यह मर्म-स्थल पर तलवार मारना है। अब तो सत्य जायगा अथवा जीवन—यही तलवार का लगना है। ऐसी जगह आघात किया, जहाँ उपाय भी नहीं हो सकता; क्योंकि राम-शपथ करवाकर दृढ़ कर लिया है, अब मंत्री आदि भी क्या कर सकते हैं? भरत को बुलाकर भी इसे समझाने का समय नहीं है, क्योंकि इसने 'होत प्रात मुनि वेष धरि, जौं न राम बन जाँहि''' (दो० ३३), ऐसी हठ की है, इसीसे ऊर्ध्व-श्वास ले रहे हैं।

आगे दीखि जरति रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी ॥१॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥२॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा ॥३॥
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती ॥४॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती ॥५॥

शब्दार्थ—मूठि=मुठिया, हथियार का वह भाग जो हाथ में रहता है। सान (शाण)=वह पत्थर की चक्की जिस पर शस्त्र आदि तेज किये जाते हैं, शाण धरना=तेज करना। हाँती=तोड़कर।

अर्थ—भारी क्रोध से जलती हुई कैकेयी को आगे देखा, (वह ऐसी जान पड़ती थी कि) मानों रोष-रूपी नंगी तलवार है ॥१॥ जिसकी कुबुद्धि मूठ और निष्ठुरता धार है, जिसे कूबरी ने अच्छी तरह शाण पर धरकर तेज किया है ॥२॥ राजा ने लख लिया कि यह बड़ी कराल (भयंकर) और कठोर है। अतः, मेरा सत्य अथवा जीवन लेगी ॥३॥ राजा छाती कड़ी करके विनय-सहित (विशेष नम्रतापूर्वक) वाणी से बोले, जो उसको रुचे ॥४॥ हे प्रिये! तुम डर, विश्वास और प्रीति को तोड़ करके कुत्सित प्रकार के वचन कैसे कह रही हो ॥५॥ ?

विशेष—(१) 'आगे दीखि जरति रिस भारी।'—कटु वचन सुनकर राजा ने आँख खोली, तो देखा कि उसकी भौंहें चढ़ीं, आँखें लाल, ओष्ठ फड़कते और मुख-चेष्टा लाल है। इस प्रकार भारी क्रोध से जलती है। 'मनहुँ रोष तरवारि उघारी।'—रोष तलवार है, प्रणय (प्रीति) रूप म्यान है, जिसमें रक्खी हुई थी। अब म्यान से पृथक् हो गई, यथा—"भीर प्रतीति प्रीति करि हाती।" आगे कहा है। रोष भारी है, अतः भारी तलवार है, इसीसे मारेगी। म्यान है ही नहीं, इससे नहीं कहा गया। ऊपर 'असि मारेसि मोहि कुठाय'—उसमें इसके वचन को तलवार कहा गया और यहाँ 'मनहुँ रोष तलवार'''' से इसके तन (रूप) को तलवार कहा गया। रूप से कर्म हुआ, इस तरह कर्म और वचन को तलवार कहा गया, मन को नहीं, क्योंकि उससे प्रहार नहीं होता; अतः, दो ही को 'असि' कहा।

(२) 'मूठि कुबुद्धि धार'''—'कुबुद्धि' यह कि सौत के पुत्र को राज्य न होने पावे, प्रत्युत वन भेजकर उसे दुःखी करूँ यही दृढ़-रूप से पकड़े हुए है। रोष तलवार है। पति, सौत-पुत्र एवं परिवार आदि किसी के दुःख की पीड़ा इसे नहीं है, यही निष्ठुरता धार है। मंथरा शाण धरनेवाली है, क्योंकि उसीको कर्त्ता कहा गया है, यथा—"कोन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" "कुबरी'''कपट छुरी उर पाहन टेई।" "कोटि कुटिल मनि गुरु पढ़ाई॥" इत्यादि। "कहि कहि कोटिक कपट कहानी।" शाण का यंत्र और "काज

सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥" यह शाण धरने की क्रिया है; क्योंकि कपट कहानियों के उदाहरण से निष्ठुरता दृढ़ की गई है और इस इस तरह तुम कार्य सँवारना, यह शाण धरना, (उस धार को) तेज करना है।

(३) 'लखी महीप कराल'''—जब प्रीति-रूप म्यान से पृथक् हो गई, तब राजा ने देखा। देखने में कराल (भयंकर) है और काटने में कठोर है। 'भारी रिसि' को ही 'भारी असि' कहा गया था। भारी क्रोध देखकर भय लगता ही है। कठोरता यह कि समझाने-बुझाने से नम्र न होगी। समझाना-बुझाना आदि ढाल हैं, इन्हें काट बहावेगी।

(४) 'सत्य कि जीवन लेइहि '''—पहले आशा थी कि सामान्य मान होगा तो मना लेंगे, पर अब निश्चय हो गया कि यदि रामजी को रक्खें तो सत्य लेगी, अन्यथा जीवन (प्राण) लेगी। करालता देखकर संभव है कि पीठ दिखानी पड़े; अर्थात् सत्य छूटे, यदि सामना करें, तो कठोरता से प्राण ही लेगी, क्योंकि रामजी को वन देने में दया न करेगी।

(५) 'बोले राउ कठिन करि'''—राजा धर्मवीर हैं। अतः, सोचा कि सत्य न जाय, जीवन भले ही चला जाय। इससे तलवार की चोट सहने के लिये छाती कड़ी की कि प्राण दे दूँगा पर सत्य न छोड़ूँगा। पहले कैकेयी ने धोखा देकर भारी आघात किया, श्रीरामजी के वनवास का वर माँगना ही प्रहार है, तब राजा घायल हो गये थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।" कहा गया, अब सावधान हुए, इस तरह कि जब कैकेयी शिवि आदि के उदाहरण देकर अधर्मी बनाने लगी तब छाती कड़ी करके बोले। उसने कहा कि दो, या तो 'नहीं' करो, यदि राजा नहीं बोलते तो 'नहीं' होती है, इससे बोले। 'बानी सबिनय तासु सुहाती'—राजा ने साम नीति से काम लिया। इसलिये कि कहे सुने मान जाय तो दूसरा वर और कुछ माँग ले तो मेरा सत्य और जीवन दोनों रह जायँ।

(६) 'प्रिया बचन'''भीरु प्रतीति'''—'प्रिया' अर्थात् तुम तो प्रियवादिनी हो, तुम्हें कुभाँति वचन नहीं कहना चाहिये, किन्तु जो हमें प्रिय लगे वही बोलना चाहिये। 'भीरु' शब्द संस्कृत के 'भी' शब्द से बना हुआ है। डर के अर्थ में यहाँ संगत है। कटु वचन ही कुभाँति वचन है। इनसे डर, प्रतीति और प्रीति का नाश होता है। स्वामी से तीनों का बर्त्ताव चाहिये, यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८); पहले तुम तीनों प्रकार बर्त्तनेवाली प्रिया थी, पर आज निडर, अविश्वासिनी और निष्ठुर होकर और भाँति वचन बोल रही हो, यह क्यों? अथवा हमारा डर, कौशल्याजी की प्रतीति और रामजी की प्रीति को नष्ट करके—यह भी भाव कहा जाता है।

मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी ॥६॥
अवसि दूत मैं पठउब प्राता। अइहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ॥७॥
सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई ॥८॥

दोहा—लोभ न रामहि राज कर, बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति ॥३१॥

अर्थ—मेरे तो भरतजी और रामजी दो नेत्र हैं। मैं शिवजी को साक्षी करके सत्य कहता हूँ॥६॥ मैं अवश्य ही प्रातःकाल दूत भेजूँगा, दोनों भाई सुनते ही शीघ्र आवेंगे॥७॥ सुन्दर दिन (मुहूर्त) शोधकर सब सामग्री सजाकर डंके की चोट पर (धूमधाम से) भरतजी को राज दूँगा॥८॥ रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, भरतजी पर उनको बहुत प्रीति है। मैं ही बड़े-छोटे का मन में विचार करके राजनीति (का वर्त्ताव) कर रहा था॥३१॥

विशेष—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।'—आँखवालों को दाहिनी और बाईं आँखें समान प्रिय होती हैं, वैसे भरतजी और रामजी दोनों ही मुझे समान प्रिय हैं। यह वचन—'भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल···' के उत्तर में है। कैकेयी के विश्वास के लिये शिवजी की साक्षी देते हैं कि वे त्रिनेत्र हैं, सूर्य-चन्द्रमा नेत्र से दिन-रात देखते हैं और अग्नि नेत्र से दंड देते हैं, यदि मैं बनाकर कहता हूँगा, तो वे दंड देंगे, संहारकर्त्ता देव हैं। अतः, शील न करेंगे। 'भरत' छोटे हैं तब भी प्रथम उन्हें कहा, क्योंकि यहाँ 'तासु सुहाती' कह रहे हैं और उसने भरतजी को राज्य माँगकर उन्हें ज्येष्ठ की जगह में मान लिया है। अतः, उसकी सिद्धि जान वह प्रसन्न होगी।

(२) 'अवसि दूत मैं पठइब···'—उसके विश्वास के लिये 'अवसि' और 'प्रात' कहा। पुनः उत्तरार्द्ध में—'अइहहिं बेगि सुनत···' कहा अर्थात् शीघ्र ही आवेंगे तब तो तुम्हें प्रतीति हो ही जायगी। हम ऐसी चिट्ठी लिखेंगे कि शीघ्र ही दोनों भाई आ जायँगे। 'दोउ भ्राता'—क्योंकि दोनों सदा साथ ही रहते हैं, यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु-सेवक जस प्रीति बढ़ाई॥" (बा० दो० १९७); दोनों साथ ही गये भी हैं। अथवा यह भी भाव है कि पहले एक (भरतजी) के विना बुलाये शीघ्रता से कार्य ठान दिया गया तो सिद्ध न हुआ। अतः, अब उन दोनों को ही साथ बुलावेंगे कि किसी तरह के विघ्न की शंका न रहे।

(३) 'सुदिन सोधि सब साज···'—कल प्रातःकाल के मुहूर्त्त में वे दोनो यहाँ नहीं आ सकते, क्योंकि दूर कैकेय देश में हैं। बस, सुदिन प्राप्ति का ही विलंब समझो, शोधकर उत्तम मुहूर्त्त में भरतजी का तिलक करेंगे जिससे उसमें कोई विघ्न न हो। 'सब साजि सजाई' अर्थात् भरत के अभिषेक में कम उत्साह नहीं है, बड़े उत्साह से तैयारी करके तिलक करेंगे। 'बजाई'—यह न समझो—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); का स्मरण करके छिपकर चुपचाप तिलक कर दें, सो नहीं, धूम-धाम से गाजे-बाजे के साथ राज-तिलक करेंगे, हम इस अपयश एवं कुल-कलंकित होने से न डरेंगे।

(४) 'लोभ न रामहिं राज कर···'—पहले वर का सुन्दर विधान-पूर्वक देना कहकर अब दूसरे वर के प्रति कहते हैं—वह समझती है कि भरतजी के राजा होने पर रामजी ईर्ष्या करेंगे, क्योंकि उन्हें राज्य छूटने का दुःख होगा। उसपर कहते हैं कि रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, प्रत्युत भरतजी पर उनकी बहुत प्रीति है; अतः, भरतजी के राजा होने पर वे प्रसन्न होंगे, ईर्ष्या न करेंगे। 'बहुत भरत पर प्रीति'—प्रीति और भाइयों पर भी है पर भरतजी पर बहुत प्रीति है। यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥" (दो० २०७); यह भरद्वाजजी ने श्रीभरतजी से कहा है। "तात भरत प्रान समान राम प्रिय अहहू॥" (दो० १८१)। 'मैं बड़ छोट बिचारि···'—'मैं' अर्थात् कौशल्याजी एवं रामजी की सम्मति इसमें नहीं थी। मैं ही केवल राजनीति के अनुकूल तिलक करता था, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु·" अच्छा, अब श्रीरामजी का तिलक न सही, श्रीभरतजी ही का होगा।

राम-सपथ-सत कहउँ सुभाऊ। राम-मातु कछु कहेउ न काऊ॥१॥
मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे॥२॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गये भरत जुवराजू॥३॥
एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥४॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचहु साँचा॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी की सौ शपथ करके मैं स्वभाव से ही कहता हूँ कि श्रीरामजी की माता ने (तिलक के विषय में) कभी कुछ नहीं कहा ॥१॥ मैंने तुमसे बिना पूछे ही यह सब कुछ किया, इसीसे मेरे सब मनोरथ निष्फल हुए ॥२॥ अब क्रोध छोड़ो और मंगल साज़ साजो, कुछ ही दिन बीतने पर भरत युवराज हो जायँगे ॥३॥ एक ही बात से मुझे दुःख हुआ कि तुमने दूसरा वर बड़ी अड़चन का माँगा है ॥४॥ उसीकी आँच से अब भी मेरा हृदय जल रहा है, यह तुम्हारा क्रोध है या हँसी है या सत्य ही सत्य है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम-सपथ-सत कहउँ······'—कैकेयी को तीन व्यक्तियों पर शंका है—राजा, कौशल्याजी और श्रीरामजी पर, इसे राजा समझ गये हैं। अतः, तीनों की सफाई देते हैं, अपनी और श्रीरामजी की सफाई दे चुके। अब कौशल्याजी के विषय में श्रीरामजी की सैकड़ों शपथ करके कहते हैं, क्योंकि सौत समझ इनपर उसे भारी संदेह होगा, राम-शपथ से वह सत्य समझेगी, क्योंकि वह जानती है कि श्रीरामजी राजा को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। अतः, उनकी झूठी शपथ राजा न करेंगे। 'राम मातु' अर्थात् जैसे श्रीरामजी किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, वैसे उनकी माता भी शुद्ध हैं। उन्होंने कभी और कुछ भी इसकी चर्चा तक नहीं की।

(२) 'मैं सब कीन्ह तोहि···'—श्रीरामजी और कौशल्याजी का दोष नहीं, दोष सब मेरा ही है कि मैंने तुमसे न पूछ लिया। इससे मनोरथ ही निष्फल हुआ। 'सब कीन्ह'—तिलक का निश्चय, मंगल सजाना आदि। डर के मारे राजा उसे दोष नहीं देते, सब दोष अपने ही शिर ले लेते हैं, क्योंकि 'दाहु सुहावी' प्रथम ही कहा गया।

(३) 'रिसि परिहरु अब मंगल······'—रिस से जर रही है—'आगे दीखि जरत रिस भारी।' अतः, इसे त्यागने को कहते हैं, क्योंकि जिसपर क्रोध होता है, उसके गुण भी अवगुण की तरह भासते हैं, भाव रिस छोड़ देगी, तब कौशल्याजी और श्रीरामजी में अवगुण न जान पड़ेंगे। राजा अपने सबकी सफाई देकर इसे ही दोषी सूचित करते हैं कि तू रिस के वश है, इसीसे सबमें दोष देखती है। 'मंगल-साजू'—मंगल साज सजाने में कई दिन लगेंगे, अभी से मंगल सज चलो, जिससे भरतजी के आने पर तिलक में विलंब न हो। 'कछु दिन गये ···'—थोड़े ही दिनों में शीघ्र ही तिलक होगा।

(४) 'एकहि बात मोहि दुख······'—उसने कहा था—'भरत कि राउर···जो सुनि···' उसपर कहते हैं कि भरतजी के लिये राज्य माँगने से दुःख नहीं लगा, किंतु दूसरे वर से ही दुःख है। इसने तो 'असमंजस' पैदा कर दिया। इस वर से राजा इतना डरे हैं कि इसका नाम तक जिह्वा से नहीं कहते। असमंजस के विषय में वाल्मी० २।१२–१३ में बहुत कुछ कहा है कि लोक मुझे क्या कहेगा। सब निन्दा करेंगे। स्त्रीजित् कहकर व्यंग कहेंगे। पुत्र पिता में स्नेह छोड़ देंगे और पिता पुत्र में। श्रीरामजी के वन जाने से कोई भी अयोध्यावासी न जियेगा, इत्यादि।

(५) 'अजहूँ हृदय जरत ……'—भाव यह कि प्रथम इसे सुनते ही जल गये, यथा—"दामिनि हनेहुँ मनहुँ तरु तालू।" अब भी उसे समझकर हृदय जल ही रहा है। 'रिस परिहास की…'—कैकेयी के लक्षणों से राजा को तीनों बातें जान पड़ीं, उन्हीं का निर्णय करते हैं, 'रिस' यथा—"आगे दीखि जरत रिस भारी॥" 'परिहास'—"बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।" 'साचेहुँ साँचा'—"देन कहेहु अब जनि वर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥" इत्यादि से तीन तरह की प्रतीति हुई। 'रिस' प्रत्यक्ष है। अतः, प्रथम कहा। रिस के आवेश में लोग अनुचित कह डालते हैं, यथा—"जेहि बस जन अनुचित करहिं…" (बा० दो० २७७); अथवा हमारी परीक्षा लेने के लिये कि देखें इनका भरतजी में कैसा प्रेम है हँसी की हो, या सत्य ही माँग रही हो। राजा प्रथम के दो (रिस, परिहास) हेतुओं से रानी को हठ छोड़ने का अवसर देते हैं।

'कि साँचेहु साँचा'—यथा—"नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम। अकारीस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते॥" (वाल्मी० २।१२।२०); अर्थात् मुझे विश्वास नहीं होता (कि तुम ऐसा माँग रही हो), क्योंकि तुमने आज तक मेरा कोई अपराध नहीं किया और न कोई प्रतिकूल वर्ताव ही किया है।

कहु तजि रोष राम-अपराधू। सब कोउ कहइ राम सुठि साधू॥६॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहिं भयेउ संदेहू॥७॥
जासु सुभाव अरिहु-अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥८॥

दोहा—प्रिया हास रिस परिहरहि, माँगु बिचारि बिबेक।
जेहि देखउँ अब नयन भरि, भरत - राज- अभिषेक॥३२॥

अर्थ—क्रोध छोड़कर रामजी का अपराध कहो। सभी कोई कहते हैं कि रामजी अत्यन्त साधु हैं॥६॥ तू भी सराहती और स्नेह करती थी। अब तेरा वचन सुनकर मुझे संदेह हुआ॥७॥ जिसका स्वभाव शत्रु को भी अनुकूल है, वह माता के प्रतिकूल कैसे कर सकता है?॥८॥ हे प्रिये! हँसी और क्रोध छोड़ो, विवेक से विचार-पूर्वक वर माँगो, जिससे मैं अब नेत्र भरके भरतजी का राज्याभिषेक देख सकूँ॥३२॥

विशेष—(१) 'कहु तजि रोष राम…'—क्रोध अंधकारमय रात की तरह है, उसमें कुछ नहीं सूझता, यथा—"घोर क्रोध तम निसि जो जागा।" (कि० दो० २०); क्रोधवश अनुचित कहकर लोग पछताते हैं। अतः, क्रोध छोड़कर रामजी का अपराध कहो। क्रोध छोड़कर विचारने से रामजी में अपराध न देख पड़ेंगे, क्योंकि—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।' अर्थात् सामान्य साधु से कभी अपराध हो भी जाता है, यथा—"काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृत बस चुकइ भलाई॥" (बा० दो० ६); पर 'सुठि साधू' से तो अपराध होता ही नहीं, यथा—"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं (बा० दो० ३)। तथा—"सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा।… तस्मिन्नार्जवसंपन्ने देवि देवोपमे कथम्। पापमाशससे रामे महर्षि-सम-तेजसि॥ क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता। ……" (वाल्मी० २।१२।२८–३२)।

(२) 'तुहूँ सराहसि करसि……'—मुख से सराहती थी और हृदय से स्नेह करती थी। अब इस दूसरे वर का माँगना सुनकर मुझे तेरे पूर्व स्वभाव पर संदेह हो गया कि तेरी वह सराहना झूठी थी

और स्नेह भी झूठा ही था, क्या ? किस कारण से तूने रामजी के लिये वनवास माँगा। हाँ, यह हो सकता है कि रामजी ने कुछ तुम्हारे प्रतिकूल बर्ताव किया हो, पर यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि—

(३) 'जासु सुभाव अरिहु अनुकूला। सो···'—रामजी का स्वभाव शत्रु के साथ भी अनुकूल ही है, यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८३), "बैरिहु राम बड़ाई करहीं।" (दो० ११६); "उमा राम मृदु चित करुना कर। बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर॥ देहि परम गति सो जिय जानी॥ अस कृपालु को कहहु भवानी॥" (लं० दो० ४४); तब वे माता के प्रतिकूल कैसे करेंगे ? इस तरह राजा ने श्रीरामजी की शुद्धि साधुता पुष्ट की और जनाया कि तू ही क्रोधवश वनमें दोष देख रही है।

(४) 'प्रिया हास रिसि परिहरहि···'—जब रामजी का कोई दोष नहीं सिद्ध हुआ, तब उपर्युक्त—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' को लेकर कहते हैं कि हँसी से हो वा रिसि से यह हठ हो तो उसे छोड़ो, क्योंकि तुम प्रिया हो और इस दूसरे वर से मुझे असह्य दुःख हो रहा है। हमारा अप्रिय तुम्हें न करना चाहिये। यदि 'साँचेहु साँचा' ही हो तो विवेक से विचार कर माँगो, क्योंकि वन को निकाला जाना, वध की जगह में दंड विधान है, वैसा रामजी का कोई दोष नहीं, तब तो यह अविवेक है। इससे तुम्हारी और हमारी भी निन्दा होगी। रानी वर माँग चुकी है, बदलने में संकोच होगा, इसलिये हँसी का हेतु दिखाते हैं कि इस बहाने हठ छोड़ दे और दूसरे वर में और कुछ माँग ले।

(५) 'जेहि देखउँ अब···'—अब तो भरतजी का तिलक पक्का ही हो गया, किन्तु दूसरा वर नहीं बदलोगी तो फिर तुम्हारे प्रिय पुत्र भरतजी का राज्याभिषेक हम कैसे देखेंगे ? अपने पुत्र का अभिषेक देखने के लिये मुझे जीवनदान दो, इसलिये दूसरा वर बदल दो। क्योंकि राम वनवास से तुम्हारा कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः, यह माँगना तो निरा अविवेक है। यदि यही माँगोगी तो फिर मैं तो किसी तरह भी जीता न रहूँगा, फिर भरतजी का राज-तिलक कैसे देखूँगा ? 'नयन-भरि' अर्थात् पूर्ण-उत्साह-सहित देखना चाहता हूँ, मेरी पूर्ण रुचि है।

जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना॥१॥
कहउँ सुभाव न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥२॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवन राम - दरस - आधीना॥३॥
सुनि मृदुबचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥४॥

अर्थ—चाहे बिना पानी के मछली भले ही जिये और सर्प बिना मणि के दुःख से दीन होकर जीता रहे॥१॥ (परन्तु) मैं स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, मन में छल नहीं है। मेरा जीवन राम (दर्शन) के बिना नहीं है॥२॥ हे चतुर प्रिये ! हृदय में विचारकर देखो, मेरा जीवन राम दर्शन के अधीन है॥३॥ राजा के कोमल मधुर वचन सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी अत्यन्त जल रही है, मानों अग्नि में घृत की आहुतियाँ पड़ रही हों॥४॥

विशेष—(१) 'जियइ मीन बरु बारि···'—मछली जल बिना नहीं जी सकती, यथा—"जल बिनु थल कहाँ मीच बिनु मीन की।" (वि० १७८), सर्प मणि बिना तड़पते हुए जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये व्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७), यही पूर्व-जन्म का वर है—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥" (बा० दो० १५०); अतः, स्वभावतः मुख

गया। इनकी प्रकृति चाहे बदल जाय; अर्थात् पानी बिना मछली जिये और मणि बिना सर्प आनन्द-पूर्वक जिये। पर—

(२) 'कहउँ सुभाव न छल···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों की सत्यता में संदेह करेगी कि मुझे वैधव्य का भय देकर स्वार्थ साधते हैं, उसपर कहते हैं कि मैं छल से नहीं कहता, किन्तु यह यथार्थ ही है, यद्यपि और मनुष्य के लिये मीन की तरह वियोग में तुरत मरना भले ही असम्भव हो, पर मेरे विषय में सत्य ही है।

(३) 'समुझि देख जिय प्रिया···'—चतुरों के लिये संकेत-मात्र पर्याप्त है, वे स्वयं समझ लेते हैं, ऐसे ही तुम तो प्रिया प्रवीणा हो, मेरी प्रवृत्ति रामजी के विषय में जैसी है इसको विचारकर जान सकती हो कि मैं राम-विना नहीं जी सकता, यथा—"नृप कि जिइहि बिनु राम।" (दो० ४१); यह पुरवासियों का अनुमान है और तुम तो प्रवीणा हो फिर क्यों न समझोगी।

मीनवाले दृष्टान्त को उपर्युक्त—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' से जनाया और सर्प के दृष्टान्त को यहाँ—'जीवन राम दरस आधीना' से कहा कि मैं राम के दर्शन से ही जीता हूँ।

अभी तक राजा ने इसे 'प्रिया' कहा और प्रवीणा कहकर समझने को कहा, पर इसने नहीं समझा तो अब आगे प्रिया न कहेंगे। इस प्रसंग में तीन बार इसे 'प्रिया' कह चुके।

(४) 'सुनि मृदु बचन कुमति···'—राजा ने मृदु वचनों से प्रवीणा आदि कहकर समझना कहा, इसने न सुनी तो कवि उसे 'कुमति' कहते हैं और तदनुसार 'अति जरई' ठीक ही है। पहले जलती थी—'आगे दीखि जरत रिस भारी।' फिर मृदु वचनों को सुनकर अत्यन्त जलने लगी। 'मनहुँ अनल आहुति···' कैकेयी का क्रोध अग्नि है, राजा के मृदु वचन (स्नेह भरे) घृत हैं जो घृत की तरह गुणद, पवित्र, चिकने और कोमल हैं। आहुति पाने से अग्नि की तरह इसका क्रोध बढ़ा, यथा—"लखन उतर आहुति सरिस, भृगुवर कोप कृसानु। बढ़त देखि···" (बा० दो० २७६)।

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया ॥५॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं ॥६॥
राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने ॥७॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका ॥८॥

दोहा—होत प्रात मुनि-बेष धरि, जौ न राम बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माहिं ॥३३॥

शब्दार्थ—माया = छल, चालबाजी। प्रपंच = झंझट, माया, टालमटोल के वाग्जाल। भल ताका = बुरा चाह (व्यंग्य से ऐसा कहने का मुहावरा है)। साका = ख्याति, कीर्ति-स्मारक।

अर्थ—वह कहने लगी कि आप करोड़ों उपाय क्यों न करें, यहाँ आपकी माया नहीं लगेगी ॥५॥ वर दीजिये या तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये, मुझे बहुत प्रपंच नहीं अच्छा लगता ॥६॥ श्रीरामजी साधु हैं, तुम सयाने साधु हो और श्रीरामजी की माता भली (साधु) हैं, मैंने सबको पहचान लिया ॥७॥ कौशल्याजी ने

जैसा मेरा भला ताका है वैसा ही फल मैंने उन्हें साका (ख्याति) करके दूँगी (संसार भर में प्रकट करके दूँगी कि वे जन्म-भर न भूलें) ॥८॥ प्रात होते ही मुनि वेष धारण करके जो रामजी वन को न जायँगे तो हे नृप! मन में समझ रखिये कि मेरी मृत्यु और आपका अपयश होगा ॥३३॥

विशेष—(१) 'कहइ करहु किन कोटि···'—राजा ने अपनी, श्रीरामजी की और श्रीकौशल्याजी की सफाई में जो-जो बातें कही हैं, उन्हीं को 'कोटि उपाया' कहती है। भरतजी रामजी के समान ही प्रिय हैं, बिना राम के मैं नहीं जी सकता, राम-वन के बदले और कुछ माँग ले, इत्यादि माया है।

'इहाँ न लागिहि राउरि माया'—जो जिसका भेद न जाने उसपर उसकी माया लगती है। हम तुम्हारी चालें जान चुकी हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप।" (दो० १७); यह गुरु मंथरा ने सिखा रक्खा है। इसपर कहा जाता है कि इसपर ब्राह्मी माया (सरस्वती) लगी हुई है तो नर-माया उसपर नहीं लग सकती, वह ठीक नहीं क्योंकि न तो कैकेयी ही अपने को माया मोहित मानती है और न राजा के वचन ही मायामय हैं, राजा ने तो शुद्ध भाव से यथार्थ कहा है।

(२) 'देहु कि लेहु अजस···'—इसे प्रयोजन से ही काम है, इससे 'देहु' प्रथम कहती है। ऊपर 'माया' कही थी, उसीको यहाँ 'प्रपंच' कहा है; अर्थात् हमें बहुत वाग्जाल फैलाने से काम नहीं है या दो या नहीं कर दो, बस।

'राम साधु तुम साधु ···'—यह—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू' के प्रति है, 'सब पहिचाने'—मन्थरा ने सबकी पहचान करवाई है, यथा—"प्रिय सिय राम कहा ···" से "बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥" (दो० १६) तक अर्थात् रामजी बैरी हैं। "अरि तुम्हारि यह सौति उरारी।" (दो० १६); अर्थात् कौशल्या वैरिणी हैं। "मन मलीन मुँह मीठ नृप।" (दो० १७) अर्थात् राजा कपटी हैं। रामजी साधु हैं तभी तो भाई को बंदीखाने में डालने के विचार से उससे चुराकर अपना तिलक कराते थे। तुम सयाने,साधु हो तभी तो कपटमय व्यवहार है कि ऊपर से हमसे मीठे बने थे और भीतर गला काटने के प्रबंध में थे। कौशल्या हमसे चुराकर बेटे के तिलक का मंगल-साज सजाती थीं, ऐसे लोग शीघ्र पहचान में नहीं आते, पर मैंने अच्छी तरह पहचान लिया कि सब गँव के साधु हैं। यहाँ पदार्थावृत्ति अलंकार है।

(३) 'जस कौसिला मोर भल···'—जैसा उन्होंने मेरे साथ किया वैसा ही मैं उनके साथ करूँगी। वे मेरी जड़ उखाड़ना, मुझे दासी बनाना और मेरे पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दिलाना चाहती थीं। वैसा ही सब मैं भी उनके प्रति करूँगी, उनके पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दूँगी। 'करि साका' यह अधिक करूँगी कि उन्होंने चोरी से सब कुछ मेरे साथ किया है और मैं डंके की चोट पर उसका फल चखाऊँगी कि सर्वदा संसार में कीर्ति बनी रहेगी। यह मंथरा की बातों को लेकर कह रही है, यथा—"जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका॥" (दो० २०)।

(४) 'होत प्रात मुनि वेष···'—राजा ने कहा था—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' उसी पर कहती है कि तुम रामजी के बिना नहीं जी सकते और मैं रामजी के घर रहने से न जीऊँगी। राजा ने कहा था—'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना' उसी पर कहती है—'नृप समझिय मन माहिं।' राजा ने कहा था—'जीवन राम दरस आधीना' उसपर कहती है—'होत प्रात मुनि ···' अर्थात् मैं उन्हें न देखूँ, ऐसी शीघ्रता से वे बन को जायँ। 'मोर मरन राउर अजस'—मेरे मरने के साथ ही आपका अपयश होगा, जिससे मुझसे कोटि गुणा फल भोगोगे, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९७); अतः, 'नृप समझिय' अर्थात् मन में समझ लीजिये कि आपके लिये क्या अच्छा है। सत्य की रक्षा में एक ही बार मरना होगा और भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होकर जीने से कोटि मरण का दुःख होगा। राजा अपयश को डरते हैं, इसीसे यह इसक

भय बार-बार दिखाती है—"देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥" (दो० ३१); "देहु कि लेहु अजस करि नाहीं।" (दो० ३२); पुनः यहाँ भी 'राउर अजस' कहा है।

> अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥१॥
> पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥२॥
> दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन-प्रचारा॥३॥
> ढाहत भूप-रूप तरुमूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला॥४॥

शब्दार्थ—तरंगिनि = लहर लेनेवाली अर्थात् नदी। जोई = देखी। प्रचार = प्रेरणा, रह-रहकर स्मरण होना।

अर्थ—ऐसा कहकर कुटिला कैकेयी उठकर खड़ी हुई, मानों क्रोध की नदी बढ़ी॥१॥ वह नदी पाप-रूपी पहाड़ से निकली है, क्रोध-रूपी जल से भरी हुई देखी नहीं जाती (अर्थात् भयंकर है)॥२॥ दोनों वरदान दोनों किनारे हैं, कैकेयी का कठिन हठ कठिन धारा है, कुबड़ी मंथरा के वचनों की प्रेरणा भँवर है॥३॥ यह नदी भूप-रूपी वृक्ष को जड़ से ढाहती (गिराती) हुई, विपत्ति-सागर की ओर (उससे मिलने) को सीधी चली॥४॥

विशेष—(१) *'अस कहि कुटिल भई···'—यहाँ कैकेयी के कर्म की भीषणता दिखाने के लिये* कवि ने नदी का सांग रूपक बाँधा है। नदी टेढ़ी होती है, वैसे ही यह भी 'कुटिल' है। 'भई उठि ठाढ़ी' अर्थात् मुझे जो कुछ कहना था, कह दिया, अब उसमें अदल-बदल नहीं हो सकता। व्यर्थ प्रपंच की बातें कौन सुने, ऐसी जगह से टल जाना ही भला है, इससे मैं जाती हूँ, ऐसा कहती हुई, उठ खड़ी हुई। इसका क्रोध-पूर्वक उठकर खड़ा होना, उत्प्रेक्षा का विषय है।

(२) 'मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी'—उठकर खड़ी होने से ऊँची हो गई, इससे नदी की बाढ़ से उपमा है। नदी जलमय और कैकेयी रोषमय है। बढ़ी हुई नदी में बार-बार तरंगें उठती हैं, वैसे इसके रोष की तरंगें क्षण-क्षण में उठती हैं, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामि बिषिमय भाँति निहारई।" (दो० २५); "देखि कुभाँति कुमति मन माँखा।" (दो० २९), "आगे दीखि जरत रिस भारी।" (दो० ३०); पुनः यहाँ—"मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।" कहा है। 'भई उठि ठाढ़ी' और 'रोष तरंगिनि' कहने से नख से शिखा तक रोष से भरी सूचित किया। 'बाढ़ी' से स्वच्छंद-गामिनी भी जनाया।

(३) 'पाप-पहार प्रगट भइ सोई'—भारी नदी भारी पहाड़ से निकलती है, वैसे ही रोष-नदी इस (कैकेयी) को पाप-वासना से हुई कि कौशल्या मेरा अमुक-अमुक बुरा चाहती हैं, यह इसका निर्मूल मानसी पाप है। [कोई-कोई राजा के पाप को पहाड़ कहते हैं—"सो सब मोर पाप परिनामू।" (दो० ३५); यह पाप पूर्व का है—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५४);] यहाँ तो पाप से क्रोध का होना कहा है और—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।" (बा० दो० २७७); अर्थात् क्रोध से पाप होता है। दो जगह परस्पर विरोधी बातें हैं, इनका तात्पर्य यह कि क्रोध से पाप और पाप से क्रोध होते हैं, यहाँ बीज-वृक्ष न्याय है। ये दोनों ही अन्योन्य सापेक्ष्य हैं। 'भरी क्रोध जल जाइ न जोई'—रोष नदी है और वह क्रोध-जल से भरी है, रोष और क्रोध एक ही हैं, तात्पर्य यह कि इसके सर्वांग में क्रोध पूर्ण है, नदी जलमय होती है, वैसे ही यह क्रोध से भरी है। नदी की भारी बाढ़ देखकर डर लगता है, वैसे क्रोधी को देखकर भी डर लगता है, इसीसे 'जाइ न जोई' कहा है।

(४) 'दोउ बर कूल कठिन हठ धारा ।'—नदी दोनों किनारों के बीच में चलती है, वैसे ही इसका क्रोध दोनों वरों की प्राप्ति के लिये है, वर मिल जायँ, तब शांत हो जायगी। 'कठिन हठ'—यह हठ किसी के समझाने से छूटनेवाली नहीं है, ऐसे ही नदी को प्रबल धारा भी कोई नहीं रोक सकता। कठिन धारा दोनों कूलों (किनारों) से टकराई हुई चलती है, वैसे ही इसका हठ दोनों वरों के अनुरोध में है। 'भँवर कूबरी बचन प्रचारा'—कुबड़ी के वचनों को स्मरण कर-करके हठ और भयंकर हो जाती है, जैसे भँवर से धारा भीषण हो जाती है। 'कूबरी बचन, यथा—"काज सँवारेहु सजग होइ, सहसा जनि पतिआहु।" (दो० २२); "बचन मोर प्रिय मानेहु जीते।" (दो० २१), तथा उसने जो राजा, श्रीरामजी और श्रीकौशल्या के विषय में कपट-द्वेष आदि की बातें कही हैं।

(५) 'ढाहत भूप रूप तरुमूला'—धारा के वेग से तट के वृक्ष जड़-समेत उखड़कर नदी के साथ बह चलते हैं। यहाँ राजा ही इस नदी के तट के वृक्ष हैं, उनकी जड़ श्रीरामजी हैं, क्योंकि इनका 'जीवन राम दरस आधीना।' है। श्रीरामजी को वन भेजना और उससे राजा को मृत्यु होना, जड़-समेत वृक्ष का ढहाना है। रोष तरंगिनी-रूप से कैकेयी विपत्ति सागर में गिरने चली, राजा रूप वृक्ष को भी बहा ले गई। यह विधवा होगी, पुत्र त्यागेगा, राज्य छूटेगा और कोई इसका मुह न देखना चाहेगा। अपयश से मरने से भी अधिक दुःखी होगी। यथा—"भरनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच विधि मीच न देई ॥" (दो० २५१); 'अनुकूला'—अर्थात् सीधी चली, जिससे शीघ्र ही दुःखसागर में गिरेगी, प्रातः काल ही भर में सब कुछ होगा।

लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची ॥५॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ॥६॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम-बिरह जनि मारसि मोही ॥७॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहित जरिहि जनम भरि छाती ॥८॥

दोहा—देखी ब्याधि असाधि नृप, परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ ॥३४॥

अर्थ—राजा ने समझ लिया कि बात 'साँचेहु साँची' ही है, सत्य ही स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु शीश पर नाच रही है ॥५॥ चरण पकड़ उसे बैठाकर विनती की कि सूर्यवंश (रूपी वृक्ष) के लिये कुल्हाड़ी मत हो ॥६॥ मेरा शिर माँग ले, मैं अभी दे दूँ, पर राम विरह से मुझे मत मार ॥७॥ जैसे-तैसे रामजी को रख ले, नहीं तो तेरी छाती जन्म भर जलेगी ॥८॥ राजा ने देखा कि रोग असाध्य है, तब वे शिर पीटकर पृथिवी पर गिर पड़े और बड़े आर्त स्वर से राम, राम, रघुनाथ, ये वचन कहने लगे ॥३४॥

विशेष—(१) 'लखी नरेस बात फुरि साँची'—पहले राजा ने तीन प्रकार के अनुमान किये थे—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' उनमें यहाँ की इसकी बातों से अब निश्चय कर लिया कि न तो रिस की है और न परिहास ही किया है। यह तो 'साँचेहु साँचा' वाली बात है। जैसे वहाँ 'साँचेहु साचा' कहा गया था, वैसे यहाँ 'फुरि साँची' है। अथवा 'साँची' को उत्तरार्द्ध के साथ ही रक्खें, तब भी ठीक ही है, पर उपर्युक्त अर्थ में 'साँची' को दीपदेहली मानकर 'फुरि' और उत्तरार्द्ध, दोनों के

साथ अर्थ किया गया है, यह अधिक संगत है, पुनरुक्ति नहीं है, किंतु विषय को विशेष पुष्टि के लिये दोहराया गया है, ऐसा मुहावरा है। यहाँ कैतवापह्नुति अलंकार का दूसरा भेद है।

(२) 'गहि पद विनय कीन्हि बैठारी।'—पूर्व कहा गया—'कुटिल भई उठि ठाढ़ी।' अतः, पैर पकड़कर बैठाना कहा गया। विनय उत्तरार्द्ध में करते हैं, कि दिनकर कुल रूप वृक्ष से जगत् भर का उपकार होता है। अतः, इसे न काट। प्रथम विनय की थी, तो अपने जीने के लिये कहा था—'जियइ मीन बरु ···' इसपर वह अधिक जल उठी थी—'सुनि मृदु वचन कुमति अति जरई।' इससे इस विनय में कुल की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, इसपर यदि वह कहे कि आपने स्वयं तो सत्य की प्रशंसा करके वर देने को कहा और अब नहीं देते हैं, मिथ्यावादी हैं और मुझे कुल-कुठारी बनाते हैं, उसपर अपनी सत्यता के प्रति कहते हैं—'माँगु माथ अब हीं ·· ' 'गहि पद' यथा—"अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते। शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥" (वाल्मी० २।१२।३६)।

इस प्रसंग में कैकेयी को राजा के रूप, मनोरथ, अयोध्या और कुल को नाश करनेवाली कहा गया, क्रमशः प्रमाण, यथा—"बिबरन भयेउ निपट नर पालू। दामिनि हनेउ···", "मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥", "अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" और "जनि दिनकर कुल होसि कुठारी।"

(३) 'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही'—श्रीराम-वनवास के बदले मेरा शिर माँग ले। यदि वह कहा चाहे कि एक बार देने को कहा था, वह दिया नहीं जाता, तो शिर कैसे दिया जायगा ? उसपर कहते हैं—'अबहीं देउँ' अर्थात् तुम्हारे कहने भर की देर है, देने में नहीं। क्योंकि राम-वनवास से तो दिनकर कुल भर का नाश होगा और मुझे भी तड़प-तड़प कर मरना होगा। राजा ने लख लिया—'तिय मिस मीच सीस पर ··' इससे कहते हैं कि तू मृत्यु रूपा है ही, अतएव मेरा शिर माँग ले। मैं प्रसन्न होकर तुरत देता हूँ। भाव यह कि सत्य धर्म की रक्षा में प्राण देना मुझे सुगम है। राम-वनवास तो दिया ही नहीं जाता—'बर दूसर असमंजस माँगा॥ अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। अतः, राम-विरह से मुझे मत मार।

(४) 'राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती।'—भाव यह कि आदर से चाहे निरादर से रख, यथा—"गुरु गृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥" (दो० ३६); 'राखु' अर्थात् तेरे रखने से ही रह सकते हैं, क्योंकि वे धर्मात्मा हैं। वरदान की बात सुनते ही वन को चल देंगे। अतः, तू ही उन्हें घर में रख एवं रक्षा कर।

(५) 'देखी ब्याधि असाधि··· '—रोग की चिकित्सा प्रथम की जाती है, वैसे ही राजा ने की, उसके पैरों पड़े, विनती की, शिर तक देने को कहा, पर उसका हठ रूप रोग असाध्य जान पड़ा, क्योंकि अंत में अपना मरना और जन्म भर उसकी छाती जलना कहा कि इस भय से भी हठ छोड़ दे, पर वह टस-से-मस न हुई। तब राजा ने समझ लिया कि यह महौषधि भी व्यर्थ हुई, तो यह रोग असाध्य है। अतः, भावी विरह समझकर शोक से पश्चात्ताप करते हुए शिर पीट कर पृथिवी पर गिर पड़े और परम करुण स्वर से राम, राम, रघुनाथ—यह आर्त वचन कहने लगे। ऐसे अवसर पर प्रायः लोग शिर पीटते हैं (भाग्य एवं कर्म को दोष कहते हैं), पृथिवी पर लोटते हैं और परमात्मा का स्मरण करते ही हैं। यहाँ उपर्युक्त—'ढाहति भूप रूप तरु मूला' का चरितार्थ हुआ।

व्याकुल राउ सिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ॥१॥
कंठ सूख मुख आव न बानी । जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥२॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई । मनहुँ घाय महँ माहुर देई ॥३॥

शब्दार्थ—पाठीन = पढ़िना, पढ़िना नाम की मछली । कटु-कठोर = मर्म वचन आगे दोहे में स्पष्ट है ।

अर्थ—राजा व्याकुल हो गये । उनका सब शरीर ढीला पड़ गया, मानों हथिनी ने कल्प वृक्ष को उखाड़ डाला ॥१॥ गला सूख गया, मुख से वचन नहीं निकलता, मानों बिना पानी के पढ़िना मछली व्याकुल (तड़प रही) हो ॥२॥ कैकेयी फिर कड़वे और कठोर (मर्म वचन) बोली, मानों वह घाव में विष दे रही है ॥३॥

विशेष—(१) 'व्याकुल राउ सिथिल ···करिनि ·····'—कैकेयी ने राजा को कृपण बनाया था—'जानेहु लेइहि माँगि चबेना ।' आगे भी कहेगी—'दानि कहाउब अरु कृपिनाई ।' इसपर कवि ने उसे असत्यवादिनी ठहराते हुए राजा को राम-विरह की व्याकुलता में भी कल्पवृक्ष कहा, क्योंकि वे सब-के-सब मनोरथ पूरक हैं, यथा—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला ।" (दो० २८); पर कहा गया । इस (कैकेयी) के भी मनोरथ को पूरा किया ही है, क्योंकि 'नहीं' न किया और श्रीरामजी से घर रहने को वाणी से न कहा । अतः, सत्य-प्रतिज्ञ हैं । यहाँ राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा, और कैकेयी को हथिनी, क्योंकि जैसे हथिनी का प्रयोजन पेट भरने से रहता है, वह डाल-पत्ते आदि से ही हो जाता है, पर वह पशु-स्वभाव से पेड़ को ही उखाड़ फेंकती है, पेड़ बना रहे तो आगे भी उससे डाल, पत्ते, फल-फूल हों, उसे भी खाने को मिलें औरों का भी हित हो, यह बात पशु होने से वह नहीं जानती । वैसे ही कैकेयी का पहले वर था, उससे अपना पेट भरती; पर इसने कल्पवृक्ष रूप राजा को ही मारकर जगत् भर को हानि पहुँचाई और स्वयं तो विपत्ति में पड़ेगी ही । (पहले कल्प-तरु पृथिवी पर भी रहता था) ।

(२) 'कंठ सूख मुख आव न······'—प्रथम राजा को व्याकुल कहा, अब व्याकुलता की दशा कहते हैं कि शोक से कंठ सूख गया है, इससे वाणी नहीं निकलती, यहाँ राजा पाठीन हैं, रामजी जल हैं, राजा व्याकुल हैं, मानों श्रीरामजी अभी ही चले गये । मीन के दृष्टान्त से राजा को मरण दशा जनाई, क्योंकि मछली जल बिना नहीं जीती ।

'पुनि कह कटु कठोर ···'—जब प्रथम वर की बात पर राजा सहम गये और कुछ न बोल सके थे—"गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा ।" (दो० २८); तब कैकेयी रुष्ट होकर कटु वचन कहने लगी थी, यथा—"देखि कुभाँति कुमति मन माखा ।" "अति कटु बचन कहति कैकेयी ।" वैसे ही इस समय भी जब राजा कुछ न बोल सके—'मुख आव न बानी' तब फिर 'कटु-कठोर' कहने लगी । तात्पर्य यह कि राजा के चुप रह जाने पर वह समझती है कि वर देना नहीं चाहते, इसीसे कटु वचनों से पीड़ित करके 'हाँ' कराना चाहती है । पहले जले पर निमक छिड़काना कहा गया था—"मानहु लोन जरे पर देई" क्योंकि उससे प्रथम जलना कह चुके थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ।" (दामिनि अग्नि रूपा है ।) फिर उस जले पर निमक छिड़कना कहा—"तजहु सत्य जग अपजस लेहू ।" वैसे ही यहाँ घाव पर माहुर देना कहते हैं, यहाँ भी घाव का रूपक प्रथम कहा गया है—"मनहुँ रोष तरवारि उघारी ।" उसका प्रभाव पड़ा कि रामवनवास का निश्चय हो गया । यही राजा के मर्म स्थल में घाव होना है । अब राजा की शोक-ममता पर इन्हें कृपण बनाती है—"दानि कहाउब अरु कृपनाई ।" यही उस घाव पर

माहुर देना है, ये वचन राजा को घाव में माहुर के समान कटु लगेंगे। घाव में माहुर लगने से असह्य पीड़ा होती है, घाव सड़ जाता है और रोगी शीघ्र ही मरता है। वही हाल इन वचनों से राजा का होगा। वज्रवत् कठोर हृदय से ये वचन निकल रहे हैं। उसे राजा के शोक का कुछ भी ध्यान नहीं है। अतः, उसके वचन कठोर कहे गये हैं।

जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥४॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥५॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रउताई ॥६॥
छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू ॥७॥
तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी ॥८॥

दोहा—मरम बचन सुनि राउ कह, कहुँ कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर ॥३५॥

अर्थ—जो परिणाम में यही करना था, तो तुमने किस बल पर 'माँगो, माँगो' कहा था? ॥४॥ हे राजन्! क्या दो (विरोधी) बातें एक ही समय हो सकती हैं—ठट्ठा मारकर हँसना और गाल फुलाना ॥५॥ दानी कहाना और कृपणता करना, क्षेम-कुशल और रावतपना (वीरता), ये क्या एक साथ हो सकते हैं? ॥६॥ या तो वचन ही छोड़िये और या तो धैर्य धारण कीजिये, स्त्रियों की तरह विलाप न कीजिये ॥७॥ सत्य प्रतिज्ञ के लिये शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथिवी तृण के समान कहे गये हैं ॥८॥ मर्म भेदी वचन सुनकर राजा ने कहा (जो चाहे) कह, तेरा कुछ दोष नहीं है, मेरा काल तुझे पिशाच की तरह लगा है, वही यह कहलाता है ॥३५॥

विशेष—(१) 'जौं अंतहु अस ···'—'अंतहु' भाव आदि में भी आपका ऐसा ही न देने का स्वभाव था, यथा—"माँगु-माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।" (दो० २७); अंत में भी अर्थात् माँगने पर भी जो नहीं ही देना था, तो 'माँगु-माँगु' क्यों कहा? यह भी कहा जाता है। पर उपर्युक्त अर्थ में 'अंतहु' का अर्थ 'परिणाम' है, वह अधिक संगत है।

(२) 'दुइ कि होइ एक समय भुआला ···'—ठट्ठा मारकर हँसने में मुँह खुल जाता है, गाल पचक जाते हैं और ओष्ठ खुल जाते हैं। गाल फुलाने में ओष्ठ मिले रहते हैं, मुँह बंद हो जाता है। गाल पचके रहें और फूलें भी, ओष्ठ मिले रहें और अलग भी, मुँह बंद भी रहे और खुला भी, ये सब द्वन्द्व बातें एक साथ नहीं होतीं, ऐसे ही दानी बनना और कृपण होना और वीर बनना फिर कुशल-क्षेम चाहना भी एक साथ नहीं हो सकते। एक समय में दो में से एक ही हो सकता है, अर्थात् हम और कौसल्या एक साथ प्रसन्न नहीं हो सकतीं। दानी बनते हो तो भरतजी को राज्य दीजिये और वीर बनते हो तो प्राण का लोभ छोड़िये और राम को वनवास दीजिये। रोइये नहीं, धैर्य धरिये। 'भुआला'—जब से क्रुद्ध हुई, इसने 'पिय' आदि मधुर सम्बोधन छोड़ दिया। स्वार्थान्ध क्रोधी को अपना-पराया नहीं सूझता, यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयेउँ काल बस बीर।" (लं० दो० ६१)। इसीसे यह राजा को 'तुम' 'राउर' 'भुआल' इत्यादि ही कहती है।

(३) 'छाँड़हु वचन कि धीरज···'—वचन छोड़ो तो राम को रख लो और जो वचन रक्खो तो धैर्य धारण करो, स्त्रियों की तरह रोओ मत। स्त्रियाँ सहज में ही रो देती हैं, क्योंकि 'अबला' हैं, बलहीन रोवेगा ही। वैसे राजा का—"कहत परम आरत वचन, राम, राम रघुनाथ॥" (दो० ३१); पर अभी रोना है। उसी पर तिरस्कार करती है।

(४) 'तनु तिय तनय धाम···'—कैकेयी ने जो कहा कि—'छाड़हु वचन कि धीरज धरहू।' उसी पर डरी कि कहीं वचन छोड़ने ही पर न उद्यत हो जायँ। इसलिये वचन रखने ही को पुष्ट करती है—"सत्य संध कहँ तृन सम बरनी" और "सत्य संध तुम रघुकुल माहीं।" (दो० ३१); अर्थात् आप रघुवंशी हैं फिर स्वयं भी सत्यसंध हैं, आपने स्वयं कहा है—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचन न जाई॥" (दो० २७); तब आपको तन, तिय, तनय आदि पर ममता नहीं चाहिये, 'तन' को प्रथम कहा, क्योंकि शेष सब इसके ही आश्रित हैं। सत्यसंध राजा ऐसा ही करेंगे भी, यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।" (बा० दो० १६); तन त्याग के साथ तत्सम्बन्धियों का त्याग स्वतः हो गया।

(५) 'मरम वचन सुनि राउ···'—इस वचन के उपक्रम में—'पुनि कह कटु कठोर···' कहा गया, वैसे ही उपसंहार में 'मरम वचन' कहा गया। मर्म अर्थात् घाव कर देनेवाले वचन वे हैं, जिनसे राम-वनवास पुष्ट किया, उनसे राजा के हृदय में घाव हो गया, क्रपण बनाना नासूर भरना हुआ, अब उससे राजा की मृत्यु होगी, इसी पर कहते हैं—

(६) 'लागेउ तोहिं पिसाच···'—अर्थात् हमारा काल ही ऐसे कटु-कठोर एवं उल्टे-पुलटे वचन कहा रहा है, जैसे पिशाच वश होने से लोग बकते हैं, यथा—"बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥" (बा० दो० ११४); यथा—"भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे। शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा॥" (वाल्मी० २।१२।५७); अर्थात् भूत लगे हुए के समान तुम मेरे सामने ऐसी बातें बोल रही हो, लज्जित नहीं होती। तुम्हारे शील का इतना नाश हो गया है। यह बात मैं पहले नहीं जानता था।

चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे॥१॥
सो सब मोर पाप-परिनामू। भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू॥२॥
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम'-प्रभुताई॥३॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम-बड़ाई॥४॥
तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥५॥

शब्दार्थ—भूपतहि=भूपता को, भूपपने को, राज्य-पद को। सुबस=स्वतंत्र-रूप से, शोभा-सुख सहित।

अर्थ—भरतजी भूपता को भूलकर भी नहीं चाहते, विधिवश तेरे हृदय में ही कुमति बसी है॥१॥ यह मेरे पाप का फल है, जिससे बिना अवसर विधाता टेढ़े हो गये॥२॥ अयोध्यापुरी फिर भी स्वतंत्र-रूप से शोभायुक्त होकर बसेगी और सब गुणों के धाम श्रीरामजी की प्रभुता होगी (वे राजा होंगे)॥३॥ सभी भाई उनकी सेवा करेंगे, तीनों लोकों में रामजी की बड़ाई होगी॥४॥ परन्तु तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी न मिटेगा (और) कभी भी न जायगा॥५॥

विशेष—(१) 'चहत न भरत भूप तिहि भोरे···'—कैकेयी के वर माँगने पर राजा ने कहा था—"देवँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०); क्योंकि राजा ने सोचा था कि यह जो दूसरा न माँगे, तो मैं जीता रहूँगा और भरतजी को राज्य दूँगा, पर भरतजी न लेंगे तो इसे भी विरोध न रहेगा और मेरा वचन भी रह जायगा। जब कैकेयी ने नहीं ही माना तब राजा ने ठीक-ठीक कह दिया।

(२) 'सो सब मोर पाप परिनामू···'—पाप के फल भोगाने के लिये विधाता वाम हो गये, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१); विधि के वाम होने से तेरे हृदय में कुमति बस गई, यथा—"विधि बस कुमति बसी जिय तोरे।" और इसी कुमति से मेरा काल मुझसे ऐसे वचन कहला रहा है। यह 'पाप' कौन है ? यह आगे सुधि होने पर राजा स्वयं कहेंगे—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५४); काल पर किसी का वश नहीं चलता। वैसे ही इसपर राजा का वश नहीं चलता। 'कुठाहर'—तिलक की तैयारी हो चुकी, प्रातःकाल ही तिलक करना मात्र शेष था, ऐसे अवसर पर विधि को विपरीत न होना था, पर परम हर्ष के अवसर पर महान शोक कर दिया। पुनः भरतजी भी इस अवसर पर नहीं हैं और मुहूर्त्त के भीतर आ भी नहीं सकते, नहीं तो अवरेव मिट जाता।

(३) 'सुबस बसिहि फिरि···'—पहले अयोध्या सुहावनी थी, किंतु अब उजाड़ हो जायगी, यथा—"अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" (दो० २८); वही दशा आगे होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥" (दो० ८२); फिर श्रीरामजी के लौटने पर 'सुहाई' होगी, यथा—"अवध-पुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥" (उ० दो० २); 'सब गुन धाम राम···'—श्रीरामजी दिव्य गुणों के धाम हैं, यथा—"दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः···" (वाल्मी २।१।२८)। उनका राज्य होगा और तीनों लोकों में उनकी बड़ी बड़ाई होगी, यथा—"राम राज बैठे त्रयलोका। हर्षित भयेउ···" (उ० दो० १९); "सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं।" (गी० उ० १३)।

(४) 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।'—भाव इस कुल की उत्तम रीति ही बरती जायगी, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); यही होगा, यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥" (उ० दो० २४)।

(५) 'तोर कलंक मोर पछिताऊ···'—पछतावा यह कि मैं रामजी को राज्य न दे पाया, यथा—"पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥" (दो० ३); 'मुयेहु' अर्थात् जीते-भर तो रहेगा ही, मरने पर भी बना रहेगा, यह लंका विजय पर दिव्य रूप से आने पर राजा ने स्वयं कहा है, यथा—"कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥" (वाल्मी० ६।११९।१७) अर्थात् आप (श्रीराम) के वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो-जो वचन कहे हैं, वे मेरे हृदय में आज भी बैठे हैं (अर्थात् हम बराबर पछताते ही रहे)। 'न जाइहि काऊ'—कीर्ति-रूप से कल्पान्त में भी बना रहेगा तथा हमारे हृदय में सदा बना रहेगा, जैसे काकभुशुंडीजी को गुरुजी के अपमान का शूल २७ कल्प तक बना रहा, यथा—"एक सूल मोहिं बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥" (उ० दो० १०९)। तथा—"सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहिं पछिताय।" (वि० २२०)।

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन-ओट बैठु मुँह गोई॥६॥
जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥७॥
फिरि पछितइहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारु लागी॥८॥

दोहा—परेउ राउ कहि कोटि बिधि, काहे करसि निदान।
कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसान ॥३६॥

शब्दार्थ—निदान = अंत, नाश, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना।" (सुं० दो० ११)।

अर्थ—अब तुझे जो अच्छा लगे वही कर, आँखों की ओट में मुँह छिपाकर जा बैठ (अर्थात् मैं तेरा मुह देखना नहीं चाहता) ॥६॥ मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जबतक जीता रहूँ, तबतक फिर कुछ न कहना ॥७॥ अरी अभागिनी ! फिर तू अंत में पछतायगी कि जो तू 'नहारू' के लिये गाय को मारती है ॥८॥ राजा करोड़ों प्रकार से यह कहकर कि क्यों नाश करती है, पृथिवी पर गिर पड़े, वह कपट में प्रवीणा है, इससे कुछ बोलती नहीं, मानों श्मशान जगा रही है ॥३६॥

विशेष—(१) 'अब तोहि नीक लाग···'—जो अच्छा लगा एवं लगे वही कर; अर्थात् भरतजी को राज्य दे और रामजी को वन भेज। 'लोचन ओट' अर्थात् जिस मुँह से राम-वनवास माँगा है वह मेरी आँख के सामने न पड़े, भाव राम-विमुख का मुख न देखना चाहिये। अब इसे राजा ने त्याग दिया—

राजा ने कैकेयी को चारो नीतियों से समझाया, यथा—"गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।"—साम, "माँगु माथ अबही देउँ ··"—दाम, "चहत न भरत भूपतिहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥" —भेद और—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।"—दंड है, क्योंकि सज्जनों की दृष्टि में त्याग और वध समान है, यथा—"त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्॥" (वाल्मी० ७।१०६।१३)।

(२) 'जब लगि जियउँ कहउँ···'—यदि तू हठात् यहाँ से नहीं ही हटे तो जबतक जीऊँ फिर न कुछ कहना। त्याग देने से अब आज्ञा न देकर हाथ जोड़ा। 'जब लगि जियउँ' अर्थात् अब अल्पकाल में ही मरण होगा। भाव इसपर भी कदाचित् हठ छोड़ दे। बार-बार इसने कटु वचन कहा है, इसलिये अब हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि जैसे तेरा मुँह देखना नहीं चाहता, वैसे ही मैं तेरी बोली भी सुनना नहीं चाहता।

(३) 'फिरि पछितइहसि अंत···'—राजा का यह अंतिम वचन इसे शाप की तरह लगा, यथा—"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥" (दो० २५१); 'अभागी'—क्योंकि विधवा होगी, पुत्र भी त्यागेगा, राज्य-सुख भी गया।

(४) 'मारसि गाइ नहारू लागी।'—कैकेयी ने कहा है—"सुतु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्य संध कहँ तृन सम बरनी॥" (दो० ३४); अर्थात् वर देकर फिर प्राणों का लोभ कैसा ? इसके उत्तर में राजा ने कहा है—"चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस···" यही प्रसंग यहाँ तक है, तदनुसार अर्थ होगा कि तू नहारू (नाहर) अर्थात् सिंह के खाने के लिये गाय को मार रही है। अंत में तुझे पछताना पड़ेगा। सिंह गाय का मांस खाता है, यथा—"गोमुख नाहरनिके न्याय" (वि० २२०); अर्थात् गाय-बाघ (सिंह) का विरुद्ध भाव कहा भी जाता है। यहाँ भरतजी सिंह, राजा गाय, श्रीरामजी गाय के प्राण और राजा का शरीर-रूप राज्य ही मांस है। सिंह अपना ही मारा हुआ शिकार खाता है, वह मुर्दाखोर नहीं होता। इसी प्रकार श्रीभरतजी अपने ही भाग (प्रारब्ध) को भोगनेवाले हैं, वे दूसरे का भाग राज्य न ग्रहण करेंगे। अतएव भरत-रूपी सिंह के लिये मुझ गऊ के प्राण-रूपी श्रीरामजी को निकालकर राज्य-रूपी मांस देना चाहती है। भरतजी जब राज्य न ग्रहण करेंगे, तब तुझे पछताना ही पड़ेगा। सिंह स्वयं शिकार मार सकता है, वैसे भरतजी स्वयं बाहु-बल से और राज्य ग्रहण कर सकते हैं। 'गाइ' की उपमा में लिंग विरोध है पर इसकी तरह अन्यत्र भी बहुत उपमाएँ हैं। यथा—"फनिकन्ह जनु···" (प० दो० ३५७)।

इसके और भी बहुत तरह के अर्थ किये जाते हैं, पर मुझे उपर्युक्त ही ठीक जान पड़ा है। और अर्थ अन्य टीकाओं में देखे जा सकते हैं, विस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं लिखा।

(५) 'परेउ राउ कहि कोटि बिधि ···' राजा का एक बार पहले भी भूमि में गिरना कहा गया है— "परेउ धरनि धुनि माथ" (दो० ३१), उसके पीछे कैकेयी ने फिर कटु-कठोर वचन कहा, तब उसे भावी व्यवस्था कहकर समझाने को बैठ गये थे। पुनः व्याकुल होकर गिर पड़े। अतः, फिर—'परेउ राउ' कहा गया। अब सुमंत्रजी आवेंगे तो पड़े हुए ही पावेंगे—'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।' फिर वे उठाकर बैठावेंगे—'सचिव उठाइ राउ बैठारे।' यह कहा जायगा।

(६) 'कपट सयानि न कहति ···'—'मसान जगाना' मुहावरा है, योगिनी या भूत-प्रेत सिद्ध करनेवाले श्मशान (मरघट) में जाकर तंत्र-शास्त्र के अनुसार मुर्दे की खोपड़ी या शव पर बैठकर मौन रहकर रात-भर मंत्र जपते हैं, वहाँ प्रेत बहुत तरह से शब्द करते हैं, डरवाते और प्रार्थना भी करते हैं। इन बाधाओं में साधक असावधान हो गया, एवं बोल दिया, तो कार्य-सिद्धि के बदले वह प्रायः पागल हो जाता है। निर्विघ्न समाप्ति पर योगिनी एवं भूत-प्रेत आदि के वश होने की सिद्धि होती है।

यहाँ घर श्मशान है, यथा—"घर मसान परिजन जनु भूता।" (दो० ८२); राजा प्रेत हैं, यथा—"भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत निवास।" (दो० १४७)। श्मशान जगानेवाले से प्रेत विनती करते हैं, वैसे यहाँ राजा कैकेयी से विनती करते हैं—"परेउ राउ कहि कोटि बिधि ···" पर श्मशान जगानेवाला नहीं बोलता, वैसे कैकेयी नहीं बोलती। प्रेत की प्रार्थना जगानेवाला मान ले, तो उसका विघ्न हो, वैसे ही कैकेयी राजा की विनय मान ले तो इसके भी मनोरथ में विघ्न हो। वहाँ रात-भर के अनुष्ठान से सिद्धि होती है, वैसे यहाँ भी सन्ध्या समय ही राजा इसके महल में आये, थोड़ी ही देर में इसने वर माँगा, तब से रात पूरी होते ही सवेरे इसकी भी अभीष्ट-सिद्धि होगी। 'कपट सयानि'—राजा ने कहा है—"जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥" ऊपर से तो इस आज्ञा का पालन करना जनाती है और भीतर से इसका अभिप्राय यह है कि हमारा काम तो उसीसे हो गया, जो राजा ने कहा है—'अब तोहि नीक लाग करु सोई।' अब फिर कुछ बोलने का प्रयोजन ही नहीं। बस, राम यहाँ आवें और मैं उन्हें वन भेजूँ, इसीसे चुप साधे बैठी है। राजा के कहने पर भी (लोचन ओट बैठु,) नहीं हटी, क्योंकि सोचती है कि मेरे हट जाने पर ऐसा न हो कि राजा किसी तरह मंत्रियों को जना दें और वे बाहर ही चुपके से राम को गादी दे दें अथवा उन्हें सावधान कर दें, इत्यादि कारणों से उसे 'कपट सयानि' कहा है।

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥१॥
हृदय मनाव भोर जनि होई। रामहि जाइ कहइ जनि कोई॥२॥
उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुरु। अवध बिलोकि सूल होइहि उरु॥३॥
भूप-प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥४॥

अर्थ—राजा राम-राम रटते हुए व्याकुल हैं और बिना पंख के पक्षी की तरह बेचैन हैं॥१॥ हृदय में मनाते हैं कि सवेरा न हो, कोई रामजी को जाकर कह न दे॥२॥ हे रघुकुल में श्रेष्ठ सूर्य! आप अपना उदय न करें, (अन्यथा) अयोध्या को देखकर आपके हृदय में शूल (दुःख) होगा॥३॥ राजा

की प्रीति और कैकेयी की निष्ठुरता, दोनों ही सीमा (को प्राप्त) हैं। ब्रह्मा ने दोनों को रचकर बनाया है ॥४॥

विशेष—(१) 'जनु बिनु पंख बिहंग …'—राजा सब उपाय करके हार गये, तब अत्यंत दीन हो गये, वही दशा इस उपमा से दिखाई, यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ५६)।

(२) 'हृदय मनाव भोर …'—मनाते हैं कि भोर न हो, क्योंकि भोर होते ही कैकेयी रामजी को वन भेजेगी, वह कह चुकी है—"होत प्रात मुनि बेष…" हृदय की प्रार्थना विशेष होती है, राजा व्याकुल होने से बोल भी नहीं सकते। पुनः कैकेयी पास बैठी है और वह भोर होने की प्रतीक्षा में है। अतः, प्रकट में उसके विरुद्ध कहने पर वह फिर कटु वचन कहेगी।

'कहइ जनि कोई' अर्थात् मैं तो वचन से न कहूँगा, न अवधवासी ही कोई कहेगा, रही कैकेयी, वही कहेगी अथवा कहलायेगी, किंतु वह शत्रु है, इससे उसका नाम न लेकर 'कोई' से सूचित करते हैं। किसे मनाते हैं? यह आगे स्पष्ट है—

(३) 'उदउ करहु जनि रबि…'—आप इस कुल के गुरु (पुरुषा) हैं। अतः, कुल की रक्षा करनी चाहिये, इसलिये आप अपना उदय न करें, जिससे दिन ही न हो, क्योंकि दिनकर आप ही हैं। अन्यथा इस अपने कुल की व्याकुलता को देखकर आपके भी हृदय में विशेष पीड़ा होगी। कुल-मात्र ही नहीं, किंतु 'अवध बिलोकि…' अर्थात् अयोध्या-भर व्याकुल हो जायगी, जिसे आप देख न सकेंगे, (जिस अवध के कौतुक-आनन्द में एक मास का बीतना नहीं जान पड़ा, वह कसर निकल जायगी)।

(४) 'भूप-प्रीति कैकइ…'—यहाँ रात्रि-भर के चरित्र का उपसंहार कर रहे हैं, यथा—"बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा।" आगे कहते हैं। इसका उपक्रम—"गवनु निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह ॥" (दो० २५); और उपसंहार में भी—"भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि …" कहा है। 'उभय अवधि'—तात्पर्य यह कि ऐसी प्रीति के प्रति निष्ठुरता नहीं रह सकती। पुनः ऐसी निष्ठुरता के प्रति प्रीति नहीं रह सकती। किंतु दोनों पक्ष की दोनों ही बातें आदि से अन्त तक निबह गईं। इसी पर कहते हैं कि इन्हें ब्रह्माजी ने रचकर बनाया है।

बिलपत नृपहि भयेउ भिनुसारा। बीना - बेनु - संख-धुनि द्वारा ॥५॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहि सायक ॥६॥
मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे ॥७॥
तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। राम–दरस – लालसा – उछाहू ॥८॥

दोहा—द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रबि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति, कारन कवन बिसेखि ॥३७॥

शब्दार्थ—भिनुसारा (सं० भानु सरण)=सवेरा। सहगामिनि=पति के साथ परलोक को गमन करनेवाली, सती, पकज आदि की तरह योग रूढ़ि-द्वारा यह अर्थ है।

अर्थ—राजा को विलाप करते-करते सवेरा हो गया, द्वार पर बीणा, बाँसुरी और शंख की ध्वनि

हो रही है ॥५॥ भाट विरुदावली पढ़ते और गवैये गुण-गान कर रहे हैं, सुनते ही राजा को वे मानों बाण-सरीखे लगते हैं ॥६॥ राजा को ये सब मंगल कैसे नहीं सुहाते जैसे पति के साथ सती होने के लिये जानेवाली स्त्री को भूषणादि (साज शृंगार) नहीं प्रिय लगते ॥७॥ उस रात में किसी को नींद नहीं पड़ी, (क्योंकि) सबको रामजी के दर्शन की लालसा और उत्साह है ॥८॥ द्वार पर सेवक मंत्री आदि की भीड़ है, सूर्योदय देखकर वे कह रहे हैं कि अवधपति दशरथजी महाराज अभी तक नहीं उठे, क्या विशेष कारण है ? ॥३७॥

विशेष—(१) 'मंगल सकल सोहाहिं न···'—वीणा, वेणु, और शंख-ध्वनि; भाट आदि का पढ़ना एवं गायकों का गाना, ये सब मंगल हैं। राजा इन्हें सुनना नहीं चाहते, पर परवस कान में पड़ते हैं, तो बाण के समान लगते हैं, हृदय से नहीं सुहाते, जैसे सहगामिनो को विभूषण।

पति के मृतक होने पर सती होनेवाली स्त्री को और लोग सोलहो शृंगार सजाते हैं, पर उसे नहीं सुहाता, क्योंकि जिसके लिये भूषणादि सजना था, वह तो चला (मर) ही गया। वैसे, और लोग मंगल कर रहे हैं, पर वे राजा को नहीं सुहाते, क्योंकि वे जानते हैं कि जिसके लिये मंगल हो रहे थे, वे रामजी तो वन को चलेंगे। पुनः परिणाम में सती को अग्नि में जलकर मरना है, वैसे राजा को विरह-अग्नि में जलकर मरना है, तो सती के भूषण साज की तरह इन्हें मंगल कैसे सुहावें ?

(२) 'तेहि निसि नींद परी नहिं···'—राम-दर्शन की लालसा है और उनके राज्याभिषेक देखने का उत्साह है, यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होहि चित चेता॥ सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० १०); इससे किसी को भी नींद नहीं पड़ी। 'सब काहू' से यहाँ प्रजा-गण-मात्र से प्रयोजन है, कैकेयी-मंथरा और राजा को छोड़कर। नींद तो इन्हें भी नहीं हो पड़ी, पर इनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न थे; राजा विलपते हुए रात भर जगे, कैकेयी श्मशान जगाने की तरह जगी और मंथरा भी चिता में रात-भर जगी होगी, यथा—"सो किमि सोव सोच अधिकाई।" (बा० दो० १६६); अर्थात् ऐसा न हो कि भंडा फूटे और मेरी जान जाय।

किन्तु यहाँ—'राम दरस लालसा उछाहू' की दृष्टि से इन तीन से भिन्न लोग हैं, इस तरह कथन को प्रायोवाद कहते हैं, जैसे 'मल्लग्राम' आदि शब्दों का अभिप्राय होता है।

(३) 'द्वार भीर सेवक सचिव···'—इसका उपक्रम—"एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।" (दो० २३); से है, वहाँ 'दरबार' का जो अर्थ हुआ, वही यहाँ के 'द्वार' का भी है। यहाँ सवेरा हो गया, इसी समय राम-राज्याभिषेक का मुहूर्त्त है, इसीसे राज-द्वार पर भीड़ है। सेवक-मंत्री आदि नियत कार्य के लिये उत्सुक हैं, पर विना राजा की आज्ञा के कुछ कर नहीं सकते, यथा—"जाहु सुमंत जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई॥" आगे कहते ही हैं। 'अजहुँ'—सूर्य उदय हो गये और वे नित पहर-भर रात रहे ही जागा करते थे—"पछिले पहर भूप···" आगे कहा है। 'अवधि पति'—अवध की रक्षा उनके जागने से होती है, यथा—"जानेउ सती जगत पति जागे।" (बा० दो० ५१); "गुरु ते पहिलेहि जगत पति, जागे राम सुजान॥" (बा० दो० २२६); शिवजी और श्रीरामजी ईश्वर हैं, इससे उन्हें 'जगत-पति' कहा और ये जीव हैं। अतः, 'अवध-पति' कहा है। पुनः अवध-भर के लोग जगे हैं, और ये तो अवध-भर के पति हैं, फिर कैसे न जगे ? इसका कोई विशेष कारण है, क्योंकि सामान्य कारणों से ऐसा मोहित नहीं हो सकते। भीड़ का वर्णन वाल्मी० २।१४।१० तथा २।१५।१-२, १२-१३ में है।

पछिले पहर भूप नित जागा । आज हमहि बड़ अचरज लागा ॥१॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई । कीजिय काज रजायसु पाई ॥२॥
गये सुमंत्र तब राउर माँहीं । देखि भयावन जात डेराहीं ॥३॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा । मानहुँ बिपति - बिषाद - बसेरा ॥४॥

अर्थ—राजा नित्य ही पिछले पहर (ब्राह्म-मूहूर्त्त) में जागते थे, आज हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥१॥ सुमंत्र ! जाओ और जाकर राजा को जगाओ, आज्ञा पाकर कार्य किया जाय ॥२॥ तब सुमंत्रजी अन्तः पुर में गये । उसे भयावन देखकर भीतर जाते हुए डरते हैं ॥३॥ मानों वह दौड़कर खा लेगा, देखा नहीं जाता, मानों विपत्ति और विषाद ने वहाँ निवास किया है ॥४॥

विशेष—(१) 'आज हमहि बड़ अचरज'''—आज तो और सावधानता चाहती थी, क्या कारण है ?

(२) 'जाहु सुमंत्र'''—वृद्ध सुमंत्रजी ही अंतःपुर में बेरोक-टोक जा सकते थे, यथा—"तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राज-संमताः । न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥" (वाल्मी० २।१४।४४) ।

'कीजिय काज'''—अर्थात् यह कार्य बिना महाराज की आज्ञा के मंत्री लोग नहीं कर सकते थे ।

'जाहु सुमंत्र'''—जाओ और जाकर जगाओ, ऐसा मुहावरा है, यथा—"बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥ जनक सुता कहँ खोजहु जाई ।" (कि० दो० २१) ।

(३) 'देखि भयावन'''—राजा की व्याकुलता से महल भयानक हो गया था, जैसे पुरवासियों की व्याकुलता से आगे अवधपुरी होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी ।" (दो० ८२) ।

(४) 'धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा'—'धाइ खाइ'—यह मुहावरा है, अर्थात् काल के समान अत्यन्त भयंकर है । पुनः मंत्री अभी कुछ ही दूरी पर है; अर्थात् धावने-भर की जगह अभी कुछ बीच में है ।

'मानहुँ बिपति-बिषाद ......'—विपत्ति-रूपा कैकेयी है, यथा—"बिपति बीज बरषा-रितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥" (दो० २२); और विषाद-रूप राजा हैं, यथा—"तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ।" (दो० २८) ; इस भवन में पहले कैकेयी आई, तब राजा आये, उसी क्रम से विपत्ति और विषाद कहे गये ।

पूछे कोउ न ऊतर देई । गये जेहि भवन भूप कैकेई ॥५॥
कहि जयजीव बैठ सिर नाई । देखि भूपगति गयेउ सुखाई ॥६॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ । मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ ॥७॥
सचिव सभीत सकइ नहिं पूछी । बोली असुभभरी सुभ-छूछी ॥८॥

दोहा—परी न राजहि नींद निसि, हेतु जान जगदीस ।
राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस ॥३८॥

आनहु रामहि बेगि बुलाई । समाचार तब पूछेहु आई ॥१॥

अर्थ—पूछने पर कोई उत्तर नहीं देता। जिस घर में राजा और कैकेयी थे, वहाँ गये ॥५॥ 'जय-जीव' कह शिर नवाकर (प्रणाम करके) बैठ गये, राजा की दशा देखकर सूख गये ॥६॥ (देखा कि राजा) सोच से व्याकुल कान्ति-हीन पृथिवी पर पड़े हैं। मानों जड़ से छूटा हुआ (जड़-रहित) कमल पड़ा है ॥७॥ मंत्री डर के मारे पूछ नहीं सकता, अशुभ से भरी हुई और शुभ से रहित कैकेयी बोली ॥८॥ राजा को रात में नींद नहीं पड़ी, इसका कारण जगत् के ईश्वर ही जानें। राजा ने राम-राम रटकर भोर कर दिया, भेद नहीं कहते ॥३८॥ रामजी को शीघ्र बुला लाओ, तब आकर हाल पूछना ॥१॥

विशेष—(१) 'पूछे कोउ न ऊतर देई।...'—राजा और रानी एकान्त में हैं, इससे किसीने उत्तर न दिया कि कहीं बतलाकर वहाँ भेजने से हमें दंड न मिले। मंत्री ने किसी लक्ष्य से जाना, तो वे कोप भवन में गये, (यह भवन राजा के शयनागार के एक भाग में ही रहता है) 'कहि जय जीव ...'—वाणी से 'जय जीव' कहा, तन से प्रणाम किया और 'गयउ सुखाई'—शोक से सूख गये, शोक मन का धर्म है। राजा ने व्याकुलता से कुछ न कहा।

(२) 'सोच बिकल बिबरन ...'—पहले राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा था—"करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता।" क्योंकि वहाँ राजा की उदारता दिखानी थी। यहाँ तन की सुन्दरता कही गई है कि वह शरीर कमल के समान सुन्दर था, पर कांति-हीन होकर काला पड़ गया है। जैसे कमल जड़-हीन होने से सूखकर काला पड़ जाता है। यहाँ राजा कमल, श्रीरामजी मूल, उनका वियोग होना उखड़ना और विरह-ताप से विवरण होना सूखना है।

(३) 'सचिव सभीत सकइ...'—मंत्रीजी राजा की दशा देखकर डर गये हैं। पूछने में भी डरते हैं कि समाचार पूछने के योग्य है कि नहीं। 'असुभ भरी' अर्थात् अशुभ ही कहेगी, सब झूठ ही कहेगी। तथा राम-तिलक-रूप शुभ से खाली है, वनवास देना-रूप अशुभ की इच्छा से भरी है। मंत्री चिन्ता के कारण शिर नीचा करके बैठे हैं, वे सोचते हैं कि यदि कोई रोग आदि होता तो रानी उदास होती, वह तो रूठी-सी है, पुनः कोप-भवन में है। अतः, परस्पर कुछ अनबन है। इससे पूछ न सके, पर अपना कार्य साधने के लिये वह स्वयं बोली।

(४) 'परी न राजहि नींद निसि ...'—केवल राम-राम रट रहे थे, और कोई बात बोले ही नहीं, इससे हमें भी नहीं मालूम हो सका। 'महीस' हैं, अतः, अपना मर्म छिपाये हुए हैं। हम उनकी प्राण-प्रिया हैं, जब हमसे नहीं कहा, तब तुमसे क्या कहेंगे, भाव यह कि व्यर्थ पूछने का प्रयास न करो। महीश के भीतर की बात जगदीश जाने, क्योंकि वे सबके अंतर्यामी हैं। यह सरासर झूठ बोलकर मर्म छिपाती है, क्योंकि राजा ने सभा में राम-तिलक की आज्ञा दे ही दी है। ये प्रधान मंत्री हैं, कहीं बाहर ही रामजी को तिलक न कर दें, क्योंकि सभी एक-मत हैं।

(५) 'आनहुँ रामहि बेगि...'—रामजी ही को बुला लाओ; अर्थात् वे राजा को प्राणों से अधिक प्रिय हैं, उन्हीं को रटते थे, अतः उन्हींसे मर्म कहेंगे। वह चाहती है कि राजा के सामने में उन्हें सब सुना दूँ और अंगीकार करा लूँ, अन्यथा ये लोग बीमार जानकर कहीं राजा ही को बाहर ले जायँ, या राजा को बीमार कहकर बाहर रामजी को तिलक ही कर दें, तिलक का समय भी आ पहुँचा है, इसीसे 'बेगि' भी कहती है। 'आवहु' अर्थात् तुम भी साथ आओ। वह चाहती है कि ये प्रधान मंत्री हैं। इस संवाद को सुन लें, अन्यथा रामजी वन को जायँगे, तो राजा प्राण ही छोड़ देंगे। राजा के सामने वरदान की सत्यता इन्हें भी मालूम हो जाय, तो ये ही लोग फिर पीछे भरतजी को तिलक करेंगे। 'बेगि' का यह भी भाव है कि राजा को पीड़ा अधिक जान पड़ती है, देर होने से न जाने क्या हो जाय। रामजी कोई उपाय कर सकें तो आकर करें।

चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ॥२॥
सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहिं बोलि कहिहि का राऊ ॥३॥
उर धरि धीरज गयेउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मन मारे ॥४॥
समाधान करि सो सब ही का। गयेउ जहाँ दिनकर-कुल-टीका ॥५॥

अर्थ—राजा का रुख पाकर सुमंत्रजी चले, उन्होंने समझ लिया कि रानी ने कुछ कुचाल की है ॥२॥ सुमंत्रजी शोक से व्याकुल हो गये हैं, मार्ग में पैर नहीं पड़ता, (मन में सोचते हैं) कि रामजी को बुलाकर राजा क्या कहेंगे ? ॥३॥ हृदय में धैर्य धरकर द्वार पर गये, सब लोग इन्हें उदास देखकर पूछने लगे ॥४॥ वे सबका संदेह निवारण करके वहाँ गये; जहाँ सूर्यकुल के तिलक श्रीरामजी थे ॥५॥

विशेष—(१) 'चलेउ सुमंत्र राय-रुख'''—रानी ने श्रीरामजी को शीघ्र बुलाना कहा, तब सुमंत्रजी ने राजा की ओर देखा तो उनकी कुछ वैसी चेष्टा से रुख जान गये, क्योंकि दिन-रात राजा का रुख देखते रहते थे, इससे जान गये। पर कुचाल को यथार्थ न जान पाया। वनवास देने को उसको नियत जानते तो ये कभी श्रीरामजी को वहाँ लाकर सामना न कराते, जरा-भर कोई उपाय करते।

वाल्मी० २।१४।६१-६२ में कहा है कि कैकेयी के कहने पर सुमंत्रजी ने राजा की आज्ञा के लिये अनुरोध किया, तब राजा ने भी अनुमति दे दी, तब गये।

राजा तो मनाते थे, भोर न हो, रामजी को मालूम न हो, फिर श्रीरामजी को बुलाने में रुख क्यों दिया ? इसका उत्तर यह है कि वे सोचते हैं कि अब तो रामजी जानेंगे ही और फिर वन जायँगे ही। भला आवें, देख तो लूँ, यथा—"सुमंत्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।" (वाल्मी० २।१४।६१); 'लखी'—भाव यह कि रानी तो राजा को परम प्रिय थी, इससे मर्म क्यों छिपाते, फिर वहाँ कोई और भी नहीं था। अतः, इसकी बातों में कपट मालूम होता है। 'कछु'—क्योंकि मंत्री ठीक न जान सके।

(२) 'सोच बिकल'—राजा की दशा, रानी की कुचाल और नियम-विरुद्ध श्रीरामजी के बुलाये जाने को सोचते जाते हैं, इससे व्याकुल हो गये हैं।

(३) 'उर धरि धीरज गयउ '''—द्वार पर गये, क्योंकि वहीं से भेजे गये थे। सब इनकी राह देख रहे थे। इसीलिये 'दुआरे' लिखा गया, अन्यथा श्रीरामजी के यहाँ जाना लिखा जाता। 'पूछहिं सकल'—इन्हें पहले केवल न जागने ही का शोच था, अब सुमंत्रजी को उदास देख अधिक डर गये। अतः, सभी पूछने लगे। 'मन मारे'—पहले 'मग परइ न पाऊ' से तन के द्वारा भी चिह्न था। पर धैर्य धरकर द्वार पर आये तो केवल मन की उदासीनता रह गई। वही देखी गई।

(४) 'समाधान करि सो'''—वाल्मी० २।१४।१६-१८ में सुमंत्रजी ने इस तरह सबको समाधान किया है कि मैं राजा की आज्ञा से श्रीरामजी को बुलाने जाता हूँ।'''तो आकर राजा के अभी तक यहाँ न आने का कारण पूछता हूँ'''।

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा ॥६॥
निरखि बदन कहि भूप-रजाई। रघुकुल-दीपहि चलेउ लिवाई ॥७॥
राम कुभाँति सचिव संग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ॥८॥

दोहा—जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाज।
सहमि परेउ लखि सिंहिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराज ॥३९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सुमंत्रजी को आते देखा तो उन्हें पिता के समान समझकर उनका आदर किया ॥६॥ मुख देखकर राजा की आज्ञा कही और रघुकुल के दीपक-रूपी श्रीरामजी को लिवा ले चले ॥७॥ श्रीरामजी बुरी तरह से मंत्री के साथ जा रहे हैं, यह देखकर लोग जहाँ-तहाँ दुःखी हो रहे हैं ॥८॥ रघुकुल के शिरोमणि श्रीरामजी ने जाकर देखा कि राजा बिल्कुल कुसाज (अस्त-व्यस्त) पड़े हैं। मानों सिंहनी को देखकर कोई बूढ़ा गजराज डरकर गिर पड़ा हो ॥३९॥

विशेष—(१) 'आवत देखा'—जहाँ से सुमंत्रजी देख पड़े, वहीं चलकर मिले और पिता के समान सम्मान करते हुए लाये, क्योंकि ये पिता के सखा हैं। अतः, उनके समान हैं।

(२) 'निरखि बदन कहि...'—इनमें सुमंत्रजी का वात्सल्य भाव है, इससे मुख देखना कहा गया, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (बा० दो० २५७); मुख देखकर ही राजा की आज्ञा सुनाई; अर्थात् शीघ्रता की आज्ञा है; अतः, बैठे नहीं।

(३) 'राम कुभाँति सचिव...'—श्रीरामजी संयम से थे, वैसे ही पैदल चल पड़े, मंत्री आगे हैं, श्रीरामजी ने कुछ शृंगार भी नहीं किया है। इसीसे लोग दुखी होते हैं कि आज तो इन्हें सवारी पर शृंगार-सहित आना चाहिये। मंत्री आदि पीछे-पीछे चलते, क्या बात है, कुछ अनर्थ जान पड़ता है। कुभाँति का भाव वाल्मी०' २।२६।१२-१७ में स्पष्ट है।

(४) 'जाइ दीख रघुबंस-मनि ...'—ऊपर 'रघुकुल दीपहि' कहा गया, वैसे यहाँ 'रघुबंस मनि' कहा है, मणि और दीप का थोड़ा प्रकाश होता है, उससे थोड़ी दूर का अँधकार दूर होता है, वैसे राजा का शोक-रूपी तम थोड़ा ही दूर करेंगे, सम्पूर्ण नहीं, इनके दर्शनों से कुछ क्षणों को सुख होगा। सूर्य नहीं कहा, क्योंकि सम्पूर्ण शोक-रूपी तम नहीं निवृत्त करेंगे। सूर्य स्वतः उदय होते एवं चलते हैं, दीप और मणि दूसरे के द्वारा लाये जाते हैं, वैसे इन्हें सुमंत्रजी लाये हैं। दीपक के चले जाने से अँधेरा हो जाता है, वैसे इनके वन जाने से अब रघुकुल में अँधेरा हो जायगा। 'कुसाज'—छत्र, चँवर, पलँग आदि नहीं हैं, पृथिवी पर पड़े हैं। कैकेयी सिंहनी है, राजा बड़े शरीरवाले हाथी के समान हैं, वृद्ध भी हैं ही। पुनः प्रतिज्ञा में फँसने से भागकर भी बच नहीं सकते, युवा हाथी हो तो भागे भी।

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहु दीन मनिहीन भुअंगू ॥१॥
सरुख समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीच घरी गनि लेई ॥२॥
करुनामय मृदु राम-सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ ॥३॥
तदपि धीर धरि समय बिचारी। पूछी मधुर बचन महतारी ॥४॥

अर्थ—राजा के ओंठ सूख रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है, मानों मणि-हीन होने से सर्प दीन हो ॥१॥ समीप में ही क्रोध से भरी हुई कैकेयी को देखा, मानों वह मृत्यु है, (राजा के मरने की) घड़ियाँ गिन रही है, (समय पूरा होने पर प्राण) लेगी ॥२॥ श्रीरामजी का स्वभाव कोमल और करुणामय है,

उन्होंने पहले-पहल दुःख देखा जो कभी सुना भी न था ॥३॥ तो भी उन्होंने समय विचारकर धैर्य धारण किया और माता कैकेयी से मीठे वचनों से पूछा ॥४॥

विशेष—(१) 'सूखहिं अधर जरइ सब······'—राम-विरह अग्नि रूप है, उससे अंग जलते हैं और ओष्ठ सूख रहे हैं, यथा—"विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा ॥" (सुं० दो० ३०)। मणि सर्प का धन है, उसके बिना वह दीन हो जाता है, वैसे राजा भी दीन हैं। राजा ने कैकेयी से कहा था—"जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना ॥" (दो० ३३); उसे यहाँ अपनेमें चरितार्थ किया, यथा—"कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥" (दो० ३४); "सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू ॥"

(२) 'सरुष समीप····· मानहुँ मीचु····'—राजा ने कैकेयी से कहा था—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।" (दो० ३५); पर उसने नहीं माना, समीप बैठी ही है। मानों वह मृत्यु है, समीप आ गई है, बस, कुछ ही घड़ियों में लेगी; अर्थात् राजा अल्पकाल ही जियेंगे। बिना घड़ी पूरी हुए मृत्यु मार नहीं सकती, इसलिये गिन रही है। घड़ी अल्पकाल का वाचक है, यथा—"मुए मरत मरि हैं सकल, घड़ी पहर के बीच।" (दोहावली २२४)।

(३) 'करुनामय मृदु राम······'—करुणा मन का वह विकार है, जिससे आश्रित एवं दूसरे के दुःख को देखकर अपनेको दुःख हो और उसकी पीड़ा-निवारण का तुरत उपाय करे। श्रीरामजी का स्वभाव तो करुणामय है, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई ॥" (दो० ८५); रामजी अपने आपको मृदु हैं और आश्रितों के लिये करुणामय हैं। 'प्रथम दीख दुख ···'—महाराजाओं के लड़कों के लिये बचपन से ही ऐसा प्रबंध रहता है कि वे खेद-जनक बातें देखने सुनने न पावें। इससे महाराज कुमार को आज पहले-ही-पहल एकाएक महान् खेद-जनक दुःख का दृश्य आ पड़ा। फिर स्वयं करुणामय और मृदु-स्वभाव भी हैं। अतः, असह्य दुःख हुआ, यथा—"अब एक दुख मोहि बिसेषी ॥ निपट बिकल नर नायक देखी ॥" (दो० ४१); 'तदपि धीर धरि'—यद्यपि धैर्य धरना कठिन था, तो भी 'समय बिचारी' अर्थात् इस समय पिता दुःखित हैं, हमें धैर्य करके उनके दुःख दूर करने का उपाय करना चाहिये। महतारी से ही पूछा, क्योंकि पिता तो बिकल ही हैं, नहीं तो उन्हीं से पूछते। 'मधुर वचन'—क्योंकि आप सदा मधुर ही बोलते हैं। पुनः, मधुर वचनों से पूछने पर माताजी अच्छी तरह कहेंगी।

मोहि कहु मातु तात-दुख-कारन। करिय जतन जेहि होइ निवारन ॥५॥
सुनहु राम सब कारन एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥६॥
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥७॥
सो सुनि भयेउ भूप-उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू ॥८॥

दोहा—सुत-सनेह इत बचन उत, संकट परेउ नरेस।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेस ॥४०॥

अर्थ—हे माता! पिता के दुःख का कारण मुझसे कहो, यत्न किया जाय, जिससे वह निवृत्त

हो ॥५॥ (कैकेयी ने कहा) हे राम ! सुनो, सब कारण ये ही हैं कि राजा का तुमपर बहुत स्नेह है ॥६॥ उन्होंने मुझे दो वरदान देने को कहा, मुझे जो कुछ अच्छा लगा, वह मैंने माँगा ॥७॥ उसे सुनकर राजा के हृदय में शोच हुआ, (क्योंकि) वे तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते ॥८॥ इधर तो पुत्र-स्नेह है और उधर वचन, राजा संकट में पड़े हैं, (आज्ञा-पालन) कर सकते हो, तो उसे शिरोधार्य करो और उनके कठिन क्लेश को मिटाओ ॥४०॥

विशेष—(१) 'मोहि कहु मातु तात······'—श्रीरामजी ने दुःख का कारण पूछा और उसका उपाय करने को कहा। 'मृदु स्वभाव' से दुःख का कारण पूछा और 'करुणामय स्वभाव' से उसे निवारण करने को कहते हैं।

(२) 'सुनहु राम सब कारन ·····'—कैकेयी उत्तर देती है, सारांश यह कि दुःख के कारण तुम्हीं हो और उसका मिटाना भी तुम्हारे ही हाथ है। 'सब कारन'—दुःख के कई कारण हैं। उन सबका कारण तुम्हारे प्रति अति-स्नेह ही है। उन कारणों को आगे कहती है—

(३) 'देन कहेन्हि मोहि ·····'—'देन कहेन्हि' अर्थात् अपनी ओर से देने को कहा था, तब मैंने माँगा। 'मोहि सुहाना'—दूसरे को भले ही न सुहायँ, पर मुझे तो वे ही सुहाये।

(४) 'सो सुनि भयेउ भूप·······'—भाव यह कि तुम अपनी ओर से कर चलो, तो वह पूरा हो सकेगा, अन्यथा तुम्हारा संकोच छोड़कर वे तुमसे वह करने को नहीं कह सकते। संकोच का कारण ऊपर कह आई—'तुम्ह पर बहुत सनेहू' अर्थात् स्नेह ही से संकोच में पड़कर वे वचन पूरा करने के संकट में पड़े हैं।

(५) 'सुत-सनेह इत बचन····· '—न तो पुत्र-स्नेह ही छोड़ सकें और न अपने वचन मिटा सकें। 'सकहु त'—इसे विश्वास नहीं है कि ये अपनी इच्छा से राज्य छोड़कर वन जाना स्वीकार करेंगे, इसीलिये पहले ही इन्हें भी वचन-बद्ध करके तब उसे स्पष्ट करना चाहती है। 'आयसु धरहु सिर'—पिता की आज्ञा-पालन बड़ा धर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४); इसे करो, यह परम धर्म होगा। 'सुत सनेह' इस लोक का सुख है और 'वचन' का पालन (सत्य धर्म) परलोक सुख का साधन है, तुम्हें छोड़ते हैं, तो इस लोक का सुख जाता है और वचन छोड़ने से परलोक। दोनों कैसे बनें, राजा इस असमंजस में पड़े हैं। सुपूत हो तो आज्ञा मानकर उनका परलोक बनाओ और संकट दूर करो। कैकेयी के वचनों में अंतर्भाव यह है कि राजा इस संकोच से तुमसे नहीं कहते कि न जाने तुम उसे करो या न करो, इस तरह वह इन्हें प्रतिज्ञा-बद्ध कराना चाहती है।

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥१॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ॥२॥
जनु कठोरपन धरे सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू ॥३॥
सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥४॥
मन मुसुकाइ भानु-कुल-भानू। राम सहज - आनंद - निधानू ॥५॥

अर्थ—कैकेयी बेधड़क (निडर) बैठी हुई कड़वे वचन बोल रही है, जिन्हें सुनकर (मूर्त्तिमान) कठिनता भी अत्यन्त अकुला गई ॥१॥ जीभ धनुष है, वचन उनके तीर हैं, मानों राजा ही कोमल निशाने

के समान हैं ॥२॥ मानों कठोरपन ही श्रेष्ठ वीर का शरीर धारण करके धनुष-विद्या सीख रहा है ॥३॥ सब प्रसंग (ब्योरा) श्रीरघुनाथजी को सुनाकर बैठ गई, मानों शरीर धारण किये हुए निष्ठुरता बैठी है ॥४॥ सूर्य-कुल के (प्रकाशक) सूर्य श्रीरामजी मन में मुस्कुराते हैं, वे तो स्वाभाविक ही आनंद के कोश हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निधरक बैठि कहइ···'—राजा का कुछ भी डर नहीं है, वह कटु वाणी बोलती जाती है। मंथरा ने इसे कुपाठ पढ़ाकर कठिन कर दिया है—"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" (दो० १९); इसीसे इतनी कठोर हो गई है कि इसके वचनों को सुनकर मूर्त्तिमान् कठिनता भी अत्यन्त घबड़ा जाती है। कटु वाणी का रूपक आगे कहते हैं—

(२) 'जीभ कमान वचन सर नाना···'—धनुष से तीर निकलते हैं, वैसे जीभ से वचन निकल रहे हैं। तीर चलाने में धनुष लचता है, वैसे बोलने में जीभ भी लचती है। 'बचन सर' यथा—"तुलसी सेत खल बचन सर, हये न गये पराइ।" (दोहावली ४०१)। "लगे बचन जनु बान।" (बा० दो० २५१), "बचन बान-सम लागहिं ताही।" (दो० ४८)। 'मनहु महिप मृदु लच्छ'—पहले कोमल निशाने पर ही तीर चलाना सीखा जाता है। वह तृण आदि से बनी हुई पुरुषाकार प्रतिमा टट्टी की होती है और उसके पीछे एक कठोर दीवार आड़ के लिये होती है। तीर टट्टी को वेधकर दीवार में अड़ जाता है। यहाँ मृदु लक्ष्य (तृण का) राजा हैं और कठोर लक्ष्य (दीवार) श्रीरामजी हैं। वचन श्रीरामजी के प्रति कह रही है, पर उनसे राजा का कोमल हृदय वेधा जाता है। श्रीरामजी को उन वचनों का कुछ भी आघात नहीं होता, यथा—"रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाये॥" (दो० ४२)।

(३) 'जनु कठोरपन धरे सरीरू।···'—कठोरपन के दया नहीं होती, वैसे ही कैकेयी के हृदय में दया नहीं है। सीखने में बार-बार तीर चलाया जाता है, वैसे यह बार-बार कटु-वचन कह रही है। कठोरपन ही इसके मुख से ऐसे निष्ठुर वचन कहला रहा है। 'बर बीरू'—अर्थात् तीक्ष्ण और अत्यन्त कठोर प्रहार होते हैं, एक बार भी खाली नहीं जाते। कठोरपन के शरीर नहीं होता। अतः, शरीर धरना कहा, नहीं तो धनुषवाण लेना कैसे कहा जा सकता ?

(४) 'सब प्रसंग रघुपतिहिं···'—यह इस उद्देश्य में थी कि ये भी पिता की आज्ञा पालन की प्रतिज्ञा कर लें, तब कहूँ, इसीसे पहले—'माँगेउँ जो कछु मोहि सुहाना।' यह कपट से कहा था। पर जब श्रीरामजी सब कारण सुनने की प्रतीक्षा से चुप ही रहे, तब इसने सब प्रसंग सुनाया। 'तनु धरि निठुराई' *अर्थात् पूर्ण निष्ठुरता बिना यह प्रसंग कहा जाना असम्भव था। यहाँ कैकेयी के मन, वचन, कर्म, तीनों में* निष्ठुरता प्रकट हुई, यथा—"निधरक बैठि ··"—निडर होना, मन की निष्ठुरता, "सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।"—यह वचन की और "बैठि मनहु तनु धरि निठुराई।"—यह तन (कर्म) की निष्ठुरता है।

(५) 'मनु मुसुकाइ भानु-कुल-भानू।···'—श्रीरामजी स्वाभाविक आनंद के निधान हैं, उन्हें भी दुःखी करना चाहती है कि तिलक से सुखी रहे होंगे, वह कसर निकाल लूँ। इसपर श्रीरामजी मन में मुसकाते हैं कि कैसी अनधिकार चेष्टा है। वा, सरस्वती के कौतुक पर हँसे कि कैसा मोहित किया है। इसपर भी हँसे कि मेरा तो मनभाया हुआ। कुल भी अनुचित है यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू।" (दो० ६); पर इसका मनोरथ नहीं सिद्ध होगा, कलंक-भर ही हाथ लगेगा।

'भानुकुल भानू'—श्रीरामजी के विशेषण क्रमशः अधिकता-बोधक कहे गये हैं, यथा—'दिनकर कुल टीका' 'रघुकुल दीपहि ··' 'रघुबंसमनि' और 'भानुकुल भानू।' इनमें टीका से दीप में और उससे अधिक मणि की उपमा में श्रेष्ठता है। जब अंतःपुर में रहे, तब 'टीका', वहाँ से बाहर चले, तब 'दीप' और राजा के पास पहुँचे, तब 'मणि' कहा गया। अब यहाँ संसार-भर के कल्याण-कार्य में नियुक्त हो रहे हैं, तब

'भानु' कहे गये। क्योंकि दीपक और मणि से घर ही में प्रकाश होता है और सूर्य से संसार-भर में। वैसे ही वनवास से जगत्-भर का कल्याण करेंगे।

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग-बिभूषन ॥६॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी ॥७॥
तनय मातु-पितु-तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥८॥

दोहा—मुनिगन मिलन बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥४१॥

अर्थ—श्रीरामजी सब दोषों से रहित वचन बोले। वे वचन ऐसे कोमल और सुन्दर हैं कि मानों सरस्वती के भूषण ही हैं ॥६॥ हे माता! सुनो, वही पुत्र बड़ा भाग्यवान् है, जो पिता-माता के वचनों में प्रेम रखता है ॥७॥ माता-पिता को संतुष्ट करनेवाला पुत्र, हे माता! सारे संसार-भर में मिलना दुर्लभ है ॥८॥ हे माता! वन में विशेष रूप से मुनि लोगों से मिलना होगा, जिसमें मेरा सब प्रकार से भला है। उसमें भी पिता की आज्ञा और फिर आपकी सम्मति है, (यह तो सर्वश्रेष्ठ है) ॥४१॥

विशेष—(१) 'बोले बचन बिगत सब'''—कैकेयी के तीक्ष्ण वचनों से श्रीरामजी के हृदय में कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ। इसीसे उनके वचनों में दोष नहीं आया, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८)। किन्तु वचन मृदु-मंजुल ही कहे गये। ऐसे ही वचनों से वाणी की शोभा होती है। अतः, ये वचन वाग्विभूषण अर्थात् वाग्देवी के सौभाग्य-तिलक हैं। 'मृदु' सुनने में और 'मंजुल' अर्थ समझने में हैं। इनमें कैकेयी के कठोर वचनों की अपेक्षा में मृदुता है और निष्ठुरता की अपेक्षा में मंजुलता है। पुनः—'जीभ कमान बचन सर नाना' की अपेक्षा में ये वचन 'बाग्-बिभूषन' हैं।

(२) 'सुनु जननी सोइ सुत'''—'बड़भागी' अर्थात् सामान्य धर्म करनेवाला 'भागी' (भाग्यवान्) है और सर्वश्रेष्ठ धर्म पिता की आज्ञा पालनेवाला 'बड़भागी' है। यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५); 'बचन अनुरागी' अर्थात् जो चाहता रहता है कि मुझे कुछ आज्ञा हो, 'सोइ'—वही, दूसरा नहीं।

(३) 'तनय मातु-पितु'''—पुत्र तो माता-पिता की आज्ञा पालने से बड़भागी होता है। माता-पिता को संतुष्ट करनेवाला पुत्र हो। यह बात माता-पिता को भी दुर्लभ है; अर्थात् ऐसे पुत्र से उसके माता पिता भी बड़भागी होते हैं। इस तरह अन्योन्य-भाग्य-सापेक्ष्य कहा है। 'सकल संसारा' अर्थात् ग्राम, जिला, प्रान्त, देश की कौन गिनती, सारे संसार में दुर्लभ है।

(४) 'मुनिगन मिलन बिसेषि''' मुनि वशिष्ठ-वामदेव आदि यहाँ भी रहते हैं, पर वन में विशेष मिलेंगे। दिन-रात उन्हीं का संग रहेगा। 'सबहि भाँति हित', यथा—"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सत संग प्रभाऊ।" (बा० दो० २); तथा—"बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।" आगे कहते ही हैं। 'तेहि महँ' अर्थात् उससे भी श्रेष्ठ 'पितु आयसु' है। 'बहुरि' अर्थात् फिर उससे भी श्रेष्ठ तुम्हारी सम्मति है। भाव यह कि मुनियों से अधिक पिता और पिता से अधिक

माता का गौरव है। यथा—"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितॄन् माता गौरवेणाति रिच्यते ॥" (मनुस्मृति)। इस प्रकार अपना उत्तरोत्तर अधिक हित होना कहा है।

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू ॥१॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा ॥२॥
सेवहिं अरँड कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिष माँगी ॥३॥
तेउ न पाइ अस समय चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं ॥४॥

अर्थ—प्राण-प्रिय भरत राज्य पावें, आज विधाता सब तरह मुझे सम्मुख (अनुकूल) हैं ॥१॥ जो ऐसे भी कार्य (लाभ) के लिये वन को न जाऊँ तो मुझे मूढ़ों की समाज में सबसे बड़ा मूढ़ समझना चाहिये ॥२॥ जो कल्पवृक्ष को छोड़कर रेंड़ की सेवा करते हैं। अमृत को छोड़कर विष माँग लेते हैं ॥३॥ वे भी ऐसा समय पाकर नहीं चूकते, हे माता! इसे मन में विचार कर देखो ॥४॥

विशेष—(१) 'भरत प्रान प्रिय पावहिं···'—'प्रान प्रिय' यथा—"भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥" (वाल्मी० ३।२६।३३); लोग प्राणों के सुख के लिये यत्न करते हैं, मेरे प्राण-प्रिय के लिये मेरे यत्न किये विना ही राज्य-सुख प्राप्त होगा। सब प्रकार से यही ब्रह्मा की अनुकूलता है। यहाँ श्रीरामजी ने चार बातों से चारों फल की प्राप्ति दिखाई। १—'मुनिगन मिलन' से मोक्ष, यथा—"संत संग अपवरग कर" (उ० दो० ३३); २—'पितु आयसु' से धर्म, यथा—"पितु आयसु सब धर्मक टीका" (दो० ५४); ३—'जननी का सम्मत'—वन-यात्रा है, इस कामना की सिद्धि एवं भूभार हरण होगा। अतः, काम और 'भरत पावहिं राजू'—से अर्थ; क्योंकि प्राण-प्रिय का सुख अपना ही है। यों भी है कि १४ वर्ष पर लौटेंगे तो दशगुणा कोश (खजाना) पावेंगे वाल० ६।१२७।५३ देखिये। यह अर्थ-वृद्धि भरतजी के शासन से होगी, 'आजू' अर्थात् ये चारों बातें आज ही घटित हुई हैं, नहीं तो हम तो पछताते थे—'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'

(२) 'जौं न जाउँ बन···'—पहले वन जाने के गुण कहे, अब न जाने के दोष कहते हैं। 'मूढ़ समाजा' अर्थात् हजार पाँच सौ की टोल में सबों से अधिक अर्थात् मूढ़तम समझा जाऊँ। आगे मूढ़ का लक्षण कहते हैं—

(३) 'सेवहिं अरँड···'—इन मूढ़ों को कल्पतरु और अमृत के गुण एवं लाभ न समझ पड़े और रेंड़ और विष के अवगुण एवं हानि न समझ पड़ी। ऐसे मूढ़ भी समय पाकर नहीं चूकते तो मैं क्यों चूकूँ। रेंड़ प्रवृत्ति मार्ग है। उसका फल विष अर्थात् विषय है। यह फल बहुत थोड़ा है, यथा—"स्वर्गौ स्वल्प···" (उ० दो० ४३); कल्पतरु निवृत्ति मार्ग है उसका फल अमृत-रूप ज्ञानोपासना है। प्रवृत्ति मार्गवाले भी थोड़े प्रयास में बहुत लाभ होता देख नहीं चूकते तो मैं ऐसे परम लाभ को जिसमें चारो फल प्राप्त हो रहे हैं क्यों छोड़ूँगा; अर्थात् अवश्य वन जाऊँगा। यह—'कछु त आयसु धरहु सिर' का उत्तर है।

अंब एक दुख मोहि बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी ॥५॥
थोरिहि बात पितहिं दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥६॥
राउ धीर गुन-उदधि-अगाधू। भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू ॥७॥
जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ ॥८॥

दोहा—सहज सरल रघुबर-बचन, कुमति कुटिल करि जान ।
चलइ जोंक जिमि बक्रगति, जद्यपि सलिल समान ॥४२॥

अर्थ—हे माता ! राजा को अत्यन्त व्याकुल देखकर मुझे एक बड़ा दुःख हो रहा है ॥५॥ थोड़ी ही बात के लिये पिता को भारी दुःख हो, यह मुझे विश्वास नहीं होता, हे माता ! ॥६॥ राजा बड़े धीर और गुणों के अथाह समुद्र हैं, मुझसे कोई बड़ा भारी अपराध (अवश्य) हो गया है ॥७॥ जिससे राजा मुझसे कुछ नहीं कहते, तुम्हें मेरी शपथ है, सत्य ही कहो ॥८॥ रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी के सहज ही सीधे वचनों को दुर्बुद्धि कैकेयी ने टेढ़ा करके जाना । जैसे, यद्यपि जल समान ही रहता है, तथापि जोंक उसमें टेढ़ी ही चाल से चलती है ॥४२॥

विशेष—(१) 'अंब एक दुख मोहि'…'—राज्य छूटने और वन जाने का दुःख नहीं है, केवल एक ही बात का दुःख है कि राजा अत्यन्त व्याकुल हैं।

(२) 'थोरिहि बात पितहिं'…'—श्रीरामजी ने वन जाने में अपना बड़ा लाभ कहा है। तदनुसार पिता के लिये विदेश जाने पर जो वियोग मात्र का दुःख है, वह थोड़ा है, क्योंकि चार भाइयों में तीन तो यहाँ रहेंगे, फिर मैं प्रसन्नता पूर्वक बड़े लाभ की दृष्टि से जाता हूँ। सत्य रक्षा के लिये तो पूर्वजों ने बड़े-बड़े दुःख उठाये हैं, पिताजी को एक पुत्र के थोड़े दिन विदेश जाने मात्र के वियोग का थोड़ा ही दुःख है। इस धर्म की अपेक्षा में पुत्र आदि तृण समान कहे गये हैं। 'दुख भारी'—ऊपर 'निपट विकल' कहा था। वही यहाँ भारी दुःख कहकर जनाया।

(३) 'राउ धीर गुन उदधि अगाधू।'—(क) समुद्र उछलता है, शब्द करता है, राजा गुणों के समुद्र होते हुए भी अपनेको नहीं जनाते, ऐसे धीर हैं। (ख) राजा धीर हैं, फिर मेरे त्यागने में अधीर कैसे होंगे ? पुनः गुणों के अगाध समुद्र हैं तो असत्य रूप अवगुण को कैसे ग्रहण करेंगे ? अतः, तुम्हारे इस उत्तर में मुझे प्रतीति नहीं होती। 'भा मोहि ते कछु'…' अर्थात् मुझसे भूल में कोई बड़ा अपराध हो गया है, पर राजा धीर एवं अगाध-गुणवाले होने से नहीं कह रहे हैं, *यथा*—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।।" (बा॰ दो॰ ५७; *मुझसे नहीं कहते, पर तुमसे कहा होगा। अतः, तुम सत्य-*सत्य कह दो। मुझसे हुए अपराध से ही भारी दुःख है, इसीसे हमसे नहीं बोल रहे हैं, यह भाव श्रीरामजी ने—'जाते मोहि न'…' से जनाया है।

(४) 'सहज सरल बघुबर बचन'…'—श्रीरामजी के वचन शुद्ध सत्य हैं, बनाकर नहीं कहे गये, क्योंकि रघुवंशी झूठ नहीं बोलते, *यथा*—"सत्य संध तुम्ह रघुकुल माहीं।" (दो॰ २६)। ये तो 'रघुबर' हैं अर्थात् रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। पर कैकेयी अपनी दुर्बुद्धि से उन वचनों को कुटिल करके ही मानती है। उदाहरण रूप में जोंक को दिखाते हैं कि जल तो समान ही रहता है, पर वह अपनी प्रकृति से टेढ़ी चलती है।

सीधे वचनों में उसने *क्या कुटिलता जानी ?* उत्तर—(क) मुझे प्रिय वचनों से रिझाकर वनवास से बचना चाहते हैं, पर मैं भूलनेवाली नहीं हूँ। (ख) दंड-रूप वनवास को सुख-रूप कह रहे हैं, अपने अधिकार छीननेवाले पट्टीदार भरतजी को प्राण-प्रिय कह रहे हैं। यह सब मुझे ठगने की छल-चातुरी है कि जिससे मैं वर की बातें उलट दूँ। इन्हें राज्य और अपने पुत्र भरत को वनवास माँग लूँ, पर यह होने का नहीं। मैं तुम्हारी चातुरी जानती हूँ। (ग) वन जाने में प्रसन्नता होती, तो मुझसे हो

सुनकर चल देते। राजा की आज्ञा क्यों चाह रहे हैं? इनका भाव यह है कि न राजा कहेंगे और न मुझे जाना पड़ेगा, पर मैं तो भेजूँगी ही।

रहसी रानि राम-रुख पाई। बोली कपट सनेह जनाई ॥१॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना ॥२॥
तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी - जनक - बंधु-सुख-दाता ॥३॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु-बचन-रत अहहू ॥४॥

शब्दार्थ—आना = शपथ। जोग = योग्य। रत = अनुरक्त, माननेवाले, अनुरागी।

अर्थ—रानी रामजी के रुख (रुचि) को पाकर हर्षित हुई और कपटमय स्नेह दिखाती हुई बोली ॥१॥ तुम्हारी सौगंध और भरत की शपथ, मैं दूसरा कोई कारण नहीं जानती ॥२॥ हे तात! तुम अपराध के योग्य नहीं हो, (क्योंकि) माता, पिता और बंधु को सुख देनेवाले हो ॥३॥ हे श्रीरामजी! तुम जो कुछ कह रहे हो, सब सत्य है, तुम ठीक हो पिता-माता के वचनों में अनुरक्त रहनेवाले हो ॥४॥

विशेष—'रहसी रानि राम···'—रानी को पहले संदेह था कि श्रीरामजी वन जाना न स्वीकार करेंगे, तो उनका कोई क्या कर सकता है? राजा तो भीतर से यही चाहते भी हैं—"बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥" (दो० ४४)। जब श्रीरामजी का रुख वन जाने का पाया, तो बहुत हर्षित हुई। 'कपट सनेह'—भीतर से पूरा द्वेष है; पर ऊपर से स्नेह प्रकट करती है कि जिससे मेरा कहा हुआ करें।

(२) 'सपथ तुम्हार ···'—श्रीरामजी ने कहा था 'मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ' उसपर अपनी सचाई दिखाने के लिये भरतजी की भी साथ ही शपथ करती है और ऊपर से यह भी दिखाती है कि हमें तुम भरत के समान ही प्रिय हो।

(३) 'तुम्ह अपराध जोग नहिं ···'—श्रीरामजी ने कहा था—'भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू।' उसका उत्तर देती है कि तुम ऐसे हो कि तुमसे अपराध हो ही नहीं सकता। पुनः—"तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥ "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।" को पुष्ट करती हुई—'जननी जनक बंधु सुख दाता।' कहती है कि पिता-माता के वचन मान कर वन जाओ और उन्हें सुखदाता हो और भरतजी के राज्य में बाधक न होकर बंधु-सुख-दाता हो। 'राम सत्य सब जो कछु···'—श्रीरामजी ने—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। ···" से—"जौं न वन जाउँ···" तक के सब वचनों के सत्य कहकर पुष्ट करती है कि फिर वे पलटें नहीं। 'तुम्ह' तुम झूठे नहीं हो, जो कहते हो, वह करते हो, पर—

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजस न होई ॥५॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे ॥६॥
लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥७॥
रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाये ॥८॥

छंद—गइ मुरछा रामहिं सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह ।
सचिव-राम आगमन कहि, बिनय समय-सम कीन्ह ॥४३॥

शब्दार्थ—कुमुख = कुत्सित (निकम्मा) मुख । मगह = बा० दो० ३० चौ० ३ देखिये । करवट = दूसरी ओर फिरकर लेटना ।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम पिता को समझाकर वही बात कहो कि उन्हें जिससे अब बुढ़ापे में अपयश न हो ॥५॥ जिस पुण्य ने तुम्हारे समान पुत्र दिये हैं, उसका निरादर करना उचित नहीं है ॥६॥ कैकेयी के निकम्मे मुख के ये वचन कैसे शुभ लगते हैं कि जैसे मगह देश मे गया आदि तीर्थ (शुभ) हैं ॥७॥ श्रीरामजी को माता के सब वचन अच्छे लगे, जैसे गंगाजी में (अशुद्ध एवं अशुभ) जल प्राप्त होने से शुभ हो जाता है ॥८॥ राजा की मूर्च्छा निवृत्त हुई, उन्होंने रामजी का स्मरण (राम, राम कह) कर फिरकर करवट ली । मंत्री ने श्रीरामजी का आना कहकर समय के अनुसार प्रार्थना की ॥४३॥

विशेष—(१) 'पितहि बुझाइ कहहु बलि······'—'सोई' अर्थात् जो तुमने हमसे कहा है, वही धर्म की बात पिता को भी समझाकर कहो । तुम धर्म को समझते हो । वे तुम्हारे स्नेह की विकलता से धर्म की ओर उदासीन हो रहे हैं । अत, उन्हें समझाओ, इसलिये मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ । (भीतर से यह स्वार्थ के लिये व्याकुल है । अतः, बलिहारी जा रही है) ।

'चौथेपन ······'—तीनपन धर्म से बीते, चौथे में अब धर्म न छोड़ें, अन्यथा पाप होगा और उससे अपयश, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावे कोई ।" (उ० दो० १११) ।

(२) 'तुम्ह सम सुवन सुकृत ······'—राजा के सुकृत अत्यन्त श्रेष्ठ है, तभी तो उससे तुम ऐसे श्रेष्ठ पुत्र मिले । यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही ।" (बा० दो० ३०१) । जिस सुकृत ने इतना बड़ा उपकार किया है, उसका अपमान करना योग्य नहीं है । सब सुकृतों का मूल सत्य है—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये । बेद पुरान बिदित मनु गाये ॥" (दो० २७) । अतएव सत्य के त्याग से सब सुकृतों का अपमान होता है । इससे वे सुकृत नहीं रहते । यथा—"सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे ।" (दो० ४०), तथा सुकृत का निरादर यों भी हो रहा है कि दान हर्षपूर्वक देना चाहिये, राजा दुःख से दे रहे हैं, जैसे तुम हर्ष और उत्साह के साथ करते हो, (वैसे) करने को पिता से भी कहो ।

(३) 'लागहिं कुमुख बचन सुभ ······'—कैकेयी के वचन हैं—"तुम्ह अपराध जोग नहिं···" से "उचित न तासु निरादर कीन्हें ॥" तक, ये वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं । कैकेयी का कुमुख मगह और उसके वचन गया आदि तीर्थ हैं । कैकेयी के मुख में वचनों का जो वास्तविक अभिप्राय है, वह मगह देश की तरह अशुभ है, इसके भाव मगह की तरह अधोगति देनेवाले हैं । पर वचनों का शब्दार्थ लोक शिक्षात्मक तीर्थ-रूप है । "तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता । जननी जनक बंधु सुखदाता ॥" इसका भाव यह है कि माता-पिता को तुम्हारे वन जाने में सुख है और भरतजी को राज्य निर्विघ्न भोगने का सुख दो । इसलिये वन को जाओ । पुन.—"राम सत्य सब जो ··" का भी वही अभिप्राय है कि तुम उपर्युक्त सब वचन सत्य करो और वन को जाओ, हमको इसी में सुख है । पुनः ऐसी आज्ञा पिता से भी समझा-बुझाकर प्राप्त करो, यह—"पितहिं बुझाइ···तुम्ह सम···" का भाव है । मुख के इन्हीं कुत्सित भावों को लेकर श्रीभरतजी ने कहा है—"बर माँगत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥" (दो० १६१); अर्थात् श्रीरामजी के प्रति ऐसा बर्त्ताव मगह की तरह अधोगति का देनेवाला है ।

कैकेयी के वचनों का जो शब्दार्थ है, जो ऊपर अक्षरार्थ में लिखा गया, वह तीर्थ रूप ऊर्ध्वगति का देनेवाला है। मगह में 'गयादिक' चार तीर्थ हैं, यथा—"कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्। विषयश्चारणः पुण्यो नदीनां च पुनः पुनः॥" (गरुड़पुराण अ० ८३ श्लोक १); वैसे यहाँ कैकेयी के मुख के भी चार वचन हैं—"तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक···", "राम सत्य सब···तुम्ह···", "पितहिं बुझाइ···" "तुम्ह सम सुअन···" इत्यादि चारो अर्द्धालियों में चार बातें कही गई हैं। ये ही चारो तीर्थ हैं। इनका प्रभाव श्रीरामजी पर जैसा पड़ा वह आगे उपमा से प्रकट है।

(४) 'रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि···'—जैसे नालों, मोरियों एवं कर्मनाशा नदी के अशुभ जल भी गंगाजी में पड़ने से शुद्ध हो जाते हैं, वैसे कैकेयी के कुमुख वचन (उपर्युक्त मगह के रूप में कहे हुए) भी श्रीरामजी को अच्छे लगे, अर्थात् इनका अभिप्राय समझते हुए भी प्रिय लगे, उद्वेग न हुआ। जैसे उपर्युक्त अशुभ जल भी गंगाजी में प्राप्त होने से शुभ होकर सुहावने हो जाते हैं।

(५) 'गइ मुरछा रामहि सुमिरि··'—पूर्व राजा की विकलता कही गई—"राम राम रट बिकल भुआलू।" (दो० ३६); व्याकुलता में ही सुमंत्रजी आये, फिर वे श्रीरामजी को बुला लाये, इनसे जब कैकेयी निधड़क वही कटु वाणी कहने लगी—"जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदुलच्छ समाना॥" (दो० ४०); तब राजा को गाढ़ मूर्च्छा आ गई। वह मूर्च्छा इतनी देर में निवृत्त हुई, तब वे राम राम स्मरण करने लगे, यथा—"राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५६); और उलटकर करवट ली, तब मंत्री ने श्रीरामजी का आगमन कहकर समयानुसार प्रार्थना की कि हे राजन्! रामजी आये हैं, धैर्य धरकर देखिये और उचित आज्ञा दीजिये। विनय का यही भाव आगे चौपाई—'धरि धीरजु तब नयन उघारे।' से प्रकट है।

अवनिप अकनि राम पगुधारे। धरि धीरज तब नयन उघारे॥१॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप राम निहारे॥२॥
लिये सनेहबिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई॥३॥
रामहिं चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि-प्रबाहू॥४॥
सोकबिबस कछु कहइ न पारा। हृदय लगावत बारहि बारा॥५॥

शब्दार्थ—अवनिप = राजा। अकनि (आकर्ण्य) = सुनकर। बिलोचन = नेत्र।

अर्थ—राजा ने यह सुनकर कि श्रीरामजी आये हैं, तब वे धैर्य धारण करके नेत्र खोले॥१॥ मंत्री ने सँभालकर राजा को बैठाया, (तब) राजा ने चरणों पर पड़ते (प्रणाम करते) हुए श्रीरामजी को देखा॥२॥ और स्नेह से व्याकुल होकर उन्होंने इनको हृदय से लगा लिया, मानों सर्प ने खोई हुई मणि को फिर से पाया हो॥३॥ राजा श्रीरामजी को देखते ही (यकटक) रह गये, उनके दोनों नेत्रों से जल (आँसू) की धारा बह चली॥४॥ शोक के विशेष वश होने के कारण कुछ कह नहीं सकते, बार-बार उन्हें हृदय से लगाते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'अवनिप अकनि·····धरि धीरज···'—पृथिवी का नाम क्षमा है, क्योंकि उसमें धैर्य धारण करने की विशेष शक्ति है, राजा के विशेष धैर्य धारण करने के संबंध से अवनिप (अवनि = पृथिवी, प = पति) पद दिया गया, यथा—"धरनि सुता धीरज धरेउ" (दो० २८६)।

(२) 'सचिव सँभारि राउ···'—पूर्व कहा गया—"सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥" (दो० ३७); उसी तरह अभी तक पड़े थे, विकलता से स्वयं उठकर बैठ भी नहीं सकते थे। मंत्री ने सँभालकर बैठाया, आँख खोलने को भी बड़ा धैर्य धरना पड़ा, वह भी श्रीरामजी को देखने की लालसा से, अन्यथा इसमें भी असमर्थ थे। 'राम निहारे'—क्योंकि इन्हें देखने पर दुःख भूल जाता है, यथा—"दुख न रहइ रघुपतिहि बिलोकत" (गो० म० ५२); "कहँ दुख समउ प्रान पति पेखे।" (दो० ६६)। पुनः इसलिये भी कि अब इनका वियोग हो रहा है। आँखों भर देख तो लूँ।

(३) 'लिये सनेह···मैं मनि मनहुँ ····'—गई हुई मणि पर सर्प का स्नेह बढ़ जाता है, फिर पाते ही वह उसे हृदय से लगाता है। राजा सर्प हैं, श्रीरामजी मणि हैं, राम-वनवास का वर माँगा जाना, मानों मणि का खो जाना है, यथा—"सूखहि अधर जरहिं सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥" (दो० २६); यहाँ आकर श्रीरामजी का मिलना मणि का मिलना है।

(४) 'रामहि चितइ रहेउ ···'—वियोग की सम्भावना से यकटक देखते रह गये और इसीसे आँसू की धारा बह चली।

(५) 'सोकबिबस कछु कहइ···'—'सोक-बिबस'—मन की, 'हृदय लगावत बारहिं बारा'—तन की और 'कछु कहइ न पारा'—वचन की विवशता है। वनवास की बात से हृदय जल रहा है, "अजहुँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। उसे शीतल करने के लिये बार-बार हृदय में लगाते हैं, यथा—"हृदय लगाइ जुड़ावहि छाती।" (बा० दो० ३४४); बार-बार हृदय लगाते हैं, क्योंकि तृप्ति नहीं होती।

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥६॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥७॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी ॥८॥

दोहा—तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥४४॥

शब्दार्थ—अवढर दानी = जिस ओर मन में आया, उसी ओर ढल पड़नेवाले, मनमौजी दानी, यथा—"अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥" (वि० ६); पात्रापात्र का विचार न करनेवाले दानी। प्रेरक = प्रेरणा करनेवाले।

अर्थ—राजा मन में ब्रह्माजी को मनाते हैं कि जिसमें रघुनाथजी वन को न जायँ ॥६॥ शिवजी का स्मरण करके उनसे निहोरापूर्वक प्रार्थना करते हैं, हे सदा शिव! आप मेरी विनती सुनिये ॥७॥ आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले और औढर दानी हैं। अतः, मुझे दीन जन जानकर मेरे दुःख को हरण कीजिये ॥८॥ आप सबके हृदय के प्रेरक हैं। रामजी को वह बुद्धि दीजिये कि जिससे मेरे वचन को त्यागकर और मेरे शील-स्नेह को छोड़कर वे घर में रहें ॥४४॥

विशेष—(१) 'बिधिहि मनाव राउ ·····'– ब्रह्माजी को मनाते हैं, क्योंकि वे सृष्टि-कर्त्ता हैं, हर तरह के संयोग ये ही करते हैं, यथा—"जो बिधि बस अस बनइ सँजोगू।" (बा॰ दो॰ २२१); इन्होंने वनवास की रचना भी की है, यथा—"जो जगदीस इन्हें बन दीन्हा।" (दो॰ ११०), "वन इनको तो वाम विधि के बनाये हैं।" (गी॰ अ॰ २८)। श्रीरामजी की सुकुमारता देखकर चाहते हैं कि ये वन के दुःख न सह सकेंगे। अतः, घर ही में रहें। मन ही में मनाते हैं, क्योंकि श्रीरामजी और कैकेयी भी समीप ही में हैं।

(२) 'सुमिरि महेसहि कहइ···'—भाव यह कि आप 'महेस' अर्थात् महान् ईश हैं। इससे इस महान् कार्य के लिये विनती करता हूँ। 'सदासिव' अर्थात् आप सदा ही कल्याण-स्वरूप हैं, हमारा भी कल्याण करें। आप 'आसुतोष' हैं; अतः, शीघ्र संतुष्ट होइये, क्योंकि मुझे ऐसा ही कार्य आ पड़ा है। 'अवढर-दानी' हो; अतः, 'रामजी घर में रहें' यही बड़ा दान मुझे दीजिये। आप औढरदान से दुःसाध्य घटना भी कर सकते हैं। यहाँ यही भाव है कि मेरा सत्य भी रहे; अर्थात् मुझे वरदान की 'नाहीं' न करना पड़े और श्रीरामजी घर में रह जायँ। 'दीन जन जानी' कहा, क्योंकि दीन पर शिवजी शीघ्र ही अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि॰ ६), 'आरति हरहु' और 'जन' शब्द से अपनेको आर्त भक्तों में कहा। अब वन से रोकने की विधि कहते हैं।

(३) 'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय···'—श्रीरामजी घर में तभी रह सकते हैं, जब हमारे वचन (जो कैकेयी ने श्रीरामजी से वन जाने को कहा है) का त्याग करें, वचन का त्याग हमारा शील-स्नेह छोड़े बिना न होगा, पर श्रीरामजी शील-स्नेह छोड़ते नहीं, प्रत्युत आजन्म निर्वाह करते हैं, यथा—" को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा॥" (दो॰ २३); इसीलिये ब्रह्माजी और शिवजी से विनती करते हैं कि आप प्रेरणा करके उनसे ऐसा करायें। राजा की यह विह्वलता श्रीराम-स्नेह का महत्त्व प्रकट कर रही है, यथा—"मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (दो॰ २८५)।

> अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥१॥
> सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन-ओट राम जनि होहीं॥२॥
> अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर-पात-सरिस मन डोला॥३॥
> रघुपति पितहि प्रेम-बस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी॥४॥
> देस काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥५॥

अर्थ—जगत् में अपयश भले ही हो, सुयश भले ही नाश कर बैठूँ, नरक में भले ही पड़ूँ, स्वर्ग भले ही चला जाय॥१॥ सभी दुःसह दुःख मुझे सहन करा लीजिये, पर राम मेरे नेत्रों से ओझल (दूर) न हों॥२॥ राजा ऐसा मन में विचार कर रहे थे, बोले नहीं। उनका मन पीपल के पत्ते के समान डोल (काँप) रहा है॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने पिता को प्रेम के वश जाना और अनुमान किया कि माता फिर कुछ कहेगी॥४॥ (पिता को दुःख न दे) अतः, देश, काल और अवसर के अनुकूल विचारकर नम्र वचन बोले॥५॥

विशेष—(१) 'अजस होउ जग सुजस···'—पहले चाहते थे कि सत्य और श्रीरामजी दोनों ही रहें, इसलिये ब्रह्मा-शिव को मनाया था, पर अब कहते हैं कि दोनों न हों तो न सही, पर श्रीरामजी घर में रहें

तो मैं सत्य भी छोड़ दूँ जिसका परिणाम होगा—जगत्-भर में अपकीर्त्ति होगी, बना-बनाया सुयश नाश होगा, नरक में पड़ूँगा और स्वर्ग भी नाश हो जायगा—यह सब भी मैं सह लूँगा, पर रामजी का वियोग न हो।

अयश हो और सुयश नष्ट हो, इससे इस लोक का और नरक में पड़ूँ, स्वर्ग नाश हो, इससे परलोक का नाश होना स्वीकार किया, पर रामजी न जायँ, यह—"चितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन लेहिं···" के प्रति है।

(२) 'सब दुख दुसह सहावहु···' अर्थात् श्रीराम-विरह का दुःख सब दुःखों से अधिक है, यथा—"माँगु माथ अबहीं देउँ तोहीं। राम-बिरह जनि मारसि मोहीं॥" (दो० ३२); सब दुसह दुःख भारी पाप के फल हैं। राम-वनवास के बदले में उन सबों को मुझसे भोगाइये, अर्थात् भारी पाप से ही श्रीरामजी का वियोग होता है। यह भी प्रकट हुआ।

राजा श्रीरामजी के समक्ष में सुकृत को तुच्छ मानते हुए त्यागने को भी सन्नद्ध हैं, पर शिव-ब्रह्मा को मना रहे हैं कि वे श्रीरामजी को प्रेरणा करके घर में रहने की रुचि कर दें, नहीं तो मैं सत्य भी छोड़ूँ और वे रहें भी नहीं तो एक भी बात न रहेगी।

(३) 'अस मन गुनइ राउ···'—इसका उपक्रम—'बिधिहि मनाव राउ···' है और यहाँ उपसंहार है। पीपल के पत्ते थोड़ी भी वायु से सर्वांग हिलने लगते हैं, वैसे ही राजा का मन स्थिर नहीं होता। चंचलता यह कि उन्होंने ब्रह्मा-शिव को भी मनाया, पर यह विश्वास स्थिर नहीं होता कि रघुनाथजी हमारा शील-स्नेह छोड़कर घर में रहेंगे। इसीसे कुछ बोल न सके। 'पीपर पात सरिस···' में पूर्णोपमा है।

अर्थ—हे तात ; मैं कुछ कहता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ। मेरा लड़कपन समझकर इस अनुचित को क्षमा कीजियेगा ॥६॥ अत्यन्त तुच्छ बात के लिये आपने दुःख पाया, किसीने भी मुझे प्रथम ही (यह बात) कहकर नहीं जनाया, (नहीं तो मैं आकर कह देता कि मुझे वन जाने में दुःख न होगा, आप दुःखी न हों) ॥७॥ आपको (दुःखी) देखकर मैंने माता से पूछा। सब प्रसंग सुनकर शरीर शीतल हुआ ॥८॥ हे तात ! मंगल के समय स्नेह-वश होकर शोच करना छोड़िये। हृदय से प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये। ऐसा कहकर प्रभु श्रीरामजी शरीर से पुलकित हो गये ॥४५॥

विशेष—(१) 'तात कहउँ कछु'''—बिना पूछे बड़ों के समक्ष में कुछ कहना एवं समझाना मेरी ढिठाई है। मेरा लड़कपन समझकर यह अनुचित क्षमा करना कि लड़के अज्ञान होते ही हैं।

(२) 'अति-लघु-बात लागि'''—पिता समझते होंगे कि वन जाने और वहाँ १४ वर्ष रहने में बड़ा कष्ट होगा, इसीसे उसे 'अति लघु' कहते हैं कि इसमें हमें दुःख न होगा।

(३) 'देखि गोसाँइहिं पूछिउँ'''—'देखि', यथा—"जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाज।" (दो० ३९); 'पूछिउँ माता'—यथा—"पूछी मधुर बचन महतारी।" (दो० ३९); 'सुनि प्रसंग', यथा—"सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।'''" (दो० ४०)। 'भये सीतल गाता' अर्थात् हाल जानने के पूर्व हमारे गात जलने लगे थे, यथा—"अंब एक दुख मोहिं बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी॥" (दो० ४१); किंतु जब हाल जाना, तो शरीर शीतल हुआ कि मेरे महान् भाग्य का उदय है कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने को मिली और प्राण-प्रिय श्रीभरतजी राज्य पावेंगे, इत्यादि पूर्व दो० ४१ में कहा गया है।

'पूछिउँ माता'—माता से मैंने पूछा तब उसने कहा। इस तरह श्रीरामजी ने माता को उस प्रसंग के कहने में निर्दोष किया।

(४) 'मंगलसमय सनेहबस'''—माता-पिता की आज्ञा पालन-रूप परम धर्म के लिये यात्रा है। अतः, मेरे मंगल का समय है। आपका सत्य धर्म रहेगा और कैकेयी से उऋण होंगे। अतः, आपको भी मंगल का समय है। कैकेयीजी भी अभीष्ट पा रही हैं। इससे उनका भी मंगल समय ही है। मंगल के समय शोच न चाहिये, किंतु हर्ष चाहिये। अतः, हर्ष-सहित आज्ञा दीजिये। 'पुलके' अर्थात् त्याग वीरता से हार्दिक उत्साह जनाया। 'प्रभु', ऐसा दुःसाध्य कार्य भी हर्ष-पूर्वक करने में एक आप ही समर्थ हैं, यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।" (श्रीमद्भागवत)।

धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥१॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु-मातु प्रान-सम जाके ॥२॥
आयसु पालि जनमफल पाई। अइहउँ बेगिहि होउ रजाई ॥३॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी ॥४॥
अस कहि राम गवन तब कीन्हा। भूप सोकबस उतर न दीन्हा ॥५॥

शब्दार्थ—रजाई = आज्ञा, 'रजा' अर्बी शब्द से बना है, यथा—"राम-रजाइ सीस सब ही के।" (दो० २५४)।

अर्थ—पृथिवीतल पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित सुनकर पिता को अतीव आनन्द

हो ॥१॥ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ उसकी हथेली में हैं, जिसे पिता-माता प्राण के समान प्रिय हों ॥२॥ आज्ञा पालन कर, जन्म लेने का फल पाकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। अतः, शीघ्र ही आज्ञा हो ॥३॥ माता से विदा माँग आऊँ, फिर आपके चरणों में लगकर (प्रणाम करके) वन को चल दूँगा ॥४॥ ऐसा कहकर तब श्रीरामजी चल दिये, राजा ने शोक-वश होने से उत्तर न दिया ॥५॥

विशेष —(१) 'धन्य जनम जगतीतल'''—श्रीरामजी का चरित ठीक ऐसा ही है, यथा—"राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥" (दो० १); यहाँ श्रीरामजी कहते हैं कि इस श्रेष्ठ धर्माचरण में मुझे उत्साह है। अतः, इस मेरे चरित पर आपको प्रमोद चाहिये, तभी तो हमारा जन्म धन्य होगा।

(२) 'चारि पदारथ करतल'''—ये चारों यद्यपि और साधनों से बहुत प्रयास एवं बहुत काल में भी अगम हैं। तथापि माता-पिता की भक्ति से अल्पायास में ही और अतिशीघ्र प्राप्त हो जाते हैं, मानों हथेली में रक्खे हुए हैं। इसीसे कवि ने भी प्रथम चरण में ही प्राप्ति कहकर तब दूसरे चरण में साधन कहा है। किन्तु *माता-पिता प्राण समान प्रिय हों,* यह इस भक्ति का स्वरूप है। प्राण से अधिक प्रिय कुछ नहीं होता। इस तरह चार फलों को भी साधन से न्यून दिखाया कि जिससे साधन में ही प्रीति रहे, स्वार्थ में नहीं।

(३) 'आयसु पालि जनमफल'''—पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठधर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" ((दो० ५४)। अतः, धर्म-पालन से जन्म की सफलता है। 'अइहउँ बेगिहि' अर्थात् एक दिन भी अधिक न लगाऊँगा। इस तरह आज्ञा पालन में श्रद्धा दिखाई। पिता के संतोष के लिये यह सब कहा, अब माता के संतोष के लिये जाते हैं।

(४) 'बिदा मातु सन आवउँ माँगी।'—श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है कि माता आज्ञा दे देगी, क्योंकि आपने उसे अलौकिक विवेक पूर्ण हो से दे रक्खा है। यथा—"मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥" (बा० दो० १५०); 'बहुरि पगलागी'—क्योंकि एक बार प्रणाम कर चुके हैं—"चरन परत नृप राम निहारे।" (दो० ४१)। श्रीरामजी को यहीं पर कैकेयीजी से मुनि-साज मिलेगा और उसीके सामने उसे सजकर जाना होगा, क्योंकि वह यही चाहती है—"होत प्रात मुनि बेप धरि'''" (दो० ३३)। इसलिये लौटकर यहाँ आने का प्रयोजन भी है।

(५) 'अस कहि राम गवन '''—ऐसा कहकर जाने से आशा बनी है कि अभी फिरकर आवेंगे। अन्यथा राजा को बड़ा दुःख होता कि हमने व्याकुलता में कुछ कह न पाया और श्रीरामजी मुझे छोड़कर चल दिये। 'भूप सोकबस '''—राजा को उत्तर देने की इच्छा थी, यही आगे वन-यात्रा के समय कहेंगे—"सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।'''" (दो० ७६); पर यहाँ शोक-वश न कह पाया।

इसके उपक्रम में—'देस काल अवसर अनुसारी' वचन की प्रतिज्ञा है, वह, यथा—"बिनु पूछे कछु '''—यह देशानुसार है, क्योंकि महाराज यदि राज्य-सिंहासन पर होते, तो ऐसी धृष्टता न कर सकते, किंतु यहाँ कोप-भवन में खेद-युक्त एकान्त में हैं। अतः, बोले हैं।"अति लघु बात लागि''''''— से "मंगल समय सनेह बस''' तक कालानुसार वचन है कि मैं पहले जानता तो आपका दुःख इतनी देर न रह पाता। "धन्य जनम जगतीतल'''" से "अइहउँ बेगिहि होउ रजाई।" तक वचन अवसर के अनुसार है, क्योंकि इस अवसर पर इस कार्य में हर्ष एवं भाग्य मानने से लोगों को खेद न होगा। 'विनीत' तो सभी वचन हैं ही।

राज-रस-भंग-प्रकरण समाप्त

पुरवासि-विरह-विषाद-प्रकरण

नगर व्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी ॥६॥
सुनि भये बिकल सकल नरनारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी ॥७॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई ॥८॥

दोहा—मुख सुखाहिं लोचन श्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।
मनहुँ करुन-रस-कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥४६॥

शब्दार्थ—सुतीछी = बहुत तीक्ष्ण। दवारी = वनाग्नि, वन में लगनेवाली आग। कटकई = सेना।

अर्थ—यह बड़ी ही तीक्ष्ण बात नगर में फैल गई। मानों (बिच्छी का डंक) स्पर्श होते ही सारे शरीर में बिच्छी (अर्थात् उसके विष की पीड़ा) चढ़ गई ॥६॥ सुनकर सब स्त्री-पुरुष व्याकुल हो गये, जैसे लताएँ और वृक्ष दावानल (वनाग्नि) देख व्याकुल होकर (मुरझा) जाते हैं ॥७॥ जो जहाँ ही सुनता है, वह वहीं पर शिर धुनने (पीटने) लगता है, बड़ा दुःख है, धैर्य नहीं होता ॥८॥ (सबके) मुख सूख रहे हैं, आँखों से आँसू गिरते हैं, शोक हृदय में नहीं समाता। मानों करुणा रस की सेना अवध पर डंका बजाकर चढ़ आई हो, (अर्थात् आनंद को दुःख ने जीत लिया) ॥४६॥

विशेष—(१) 'नगर व्यापि गइ बात····'—कैकेई ने सब प्रसंग श्रीरामजी से कहा, उनके साथ के लोगों ने सुना। फिर कानों-कान यह बात थोड़ी ही देर में नगर-भर में व्याप्त हो गई। जैसे बिच्छी एक अंग में डंक मारती है और शीघ्र ही शरीर-भर में विष चढ़ जाता है। साँप की उगली हुई बिच्छी अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। वैसी ही यहाँ 'सुतीछी' अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बात की उपमान-रूपा अत्यन्त तीक्ष्ण बिच्छी है, कैकेयी सर्पिणी ने इसे उगला है, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि ··दोउ बासना रसना दसन बर···" (दो॰ २५); नगर-रूपी शरीर का एक अंग-रूप कोप-भवन स्थल है, वहाँ डंक-स्पर्श हुआ, फिर क्षण में सर्वत्र विष चढ़ गया। अर्थात् इसके वरदान की बात नगर-भर में फैलते देर न लगी। श्रीरामजी के साथ सुमंत्रजी निकले, तब उनसे द्वार की भीड़ को मालूम हुई, फिर सर्वत्र फैल गई। यह भी कहा जाता है कि उपर्युक्त सुतीछी-बिच्छी जिसे डंक मारती है, उसे तो विष चढ़ता ही है, उसे जो छूता है, उसे भी चढ जाता है।

(२) 'सुनि भये बिकल सकल···'—यहाँ नारी बेलि और नर बिटप हैं। दावाग्नि से बेलि-विटप झुलस जाते हैं, वैसे ही ये सब विरह-अग्नि से काले पड़ गये। ऊपर बिच्छी के विष की उपमा थी, वही यहाँ दावाग्नि-रूप से कही गई। बिच्छी का विष अग्नि के समान ही दाहक होता है। तीक्ष्ण बिच्छी के डंक मारने से भी शरीर काला पड़ जाता है।

शंका—बेलि-विटप के तो आँख नहीं होती, फिर उनका देखना कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) यहाँ बेलि-विटप के अभिमानी देवता के देखने का तात्पर्य है, यथा—"बन सागर सब नदी तलावा।·· काम-रूप सुन्दर तनु धारी।····· गये सकल···" (बा॰ दो॰ ६३)। (ख) विज्ञान-दृष्टि से देखा जाता है कि बेलि-विटप स्थावर प्राणी हैं, अचर हैं, विपत्ति के पास आने का इन्हें

भी पता लग जाता है, ये बेचारे भाग नहीं सकते, किंतु पास दावाग्नि देखकर मुरझा जाते हैं एवं दूर पर की भी लताएँ भय से सूख जाती हैं, जिससे अग्नि को जलाने में और भी सुगमता हो जाती है। यहाँ नगर-वासी स्थावर की तरह जड़वत हो रहे हैं, क्योंकि उपाय चल नहीं सकता, राजा और श्रीरामजी सत्यव्रती हैं। कैकेयी की हठ भी वैसी ही दृढ़ है।

(३) 'जो जहँ सुनइ धुनइ'' '—जो जहाँ सुनता है, वहीं शिर पीटने लगता है, उपर्युक्त वेलि-विटप की तरह इधर-उधर नहीं जा पाता, क्योंकि जायँ कहाँ ? अभी तो श्रीरामजी यहीं (नगर में ही) हैं। जब श्रीरामजी वन को चलेंगे, तब भी दावाग्नि की ही उपमा देंगे, परन्तु नर-नारी को खग-मृग कहेंगे, क्योंकि वहाँ इनका भाग चलना है, यथा—"नगर सफल बन ''खग मृग बिपुल सकल नर-नारी ॥ बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो॰ ८१)। शोक में शिर पीटना स्वाभाविक है, मानों हाथ और भाल की भाग्य-रेखा को ताड़ना करते हैं कि हमारे भाग्य फूट गये।

(४) 'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं ···'—ऊपर—'भइ बिषाद नहिं धीरज होई।' कहा गया। उसीकी दशा यहाँ कहते हैं कि लोग अधीर हो गये, मुख सूख गये, आँसू की धारा चल रही है, शोक हृदय में नहीं समाता, तो हा-हाकार के द्वारा निकलता है। मानों करुणा रस (प्रिय-वियोग दुःख) चतुरंगिणी सेना सहित अवध के आनंद कटक को जो जन्म-विवाह आदि से आ जुड़े थे, डंका बजाकर जीतना चाहता है।

यहाँ राम वियोग विभाव है—यही गज हैं। आँसू गिराना, मुख सूखना, शिर पीटना आदि अनुभाव घोड़े हैं। ग्लानि, भ्रम, शंका, अपस्मार, चिन्ता, उन्माद आदि संचारी पैदल हैं। अत्यन्त शोक स्थायी रथ हैं और शीघ्र ही सर्वत्र दुःख व्याप्त हो गया, हा-हाकार हो गया; यही डंका का शब्द है।

मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी। जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी ॥१॥
येहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥२॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिष चाहत चीखा ॥३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस-बेनु बन आगी ॥४॥
पालव बैठि पेड़ येहि काटा। सुख महँ सोक ठाठ धरि ठाटा ॥५॥

शब्दार्थ—मिलेहि माँझ = मेल ही में। चीखना = स्वाद लेना, खाना। ठाटा (स्थापू) = रचा, खड़ा किया।

अर्थ—मेल ही में ब्रह्मा ने बात बिगाड़ दी, लोग जहाँ तहाँ कैकेयी को गाली देते हैं ॥१॥ इस पापिनी को क्या समझ पड़ा ? कि इसने घर को छाकर उसपर आग धर लगा दी ॥२॥ अपने हाथों से अपनी आँख निकालकर देखना चाहती है और अमृत को गिराकर विष चखना चाहती है ॥३॥ यह कुटिला, कठोर, दुर्बुद्धि और अभागिनी है। रघुवंश-रूपी बाँस के वन को अग्नि-रूपा (जलानेवाली, नाश करनेवाली) हुई ॥४॥ पल्लव-डाल पर बैठकर इसने पेड़ को काटा, इसने सुख में शोक का ठाट बनाकर खड़ा किया ॥५॥

विशेष—(१) 'मिलेहि माँझ बिधि···'—मेल ही में बिगाड़ हो गया। राजा रानी और पुत्रों में मेल था। परस्पर प्रीति थी, अचानक महा विरोध हो गया। ऐसी घटना दैव-कृत कही जाती है, इसीसे विधि का

बिगाड़ना कहते हैं कि मेल ही में मात बिगाड़ दो, यथा—"मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी ॥" (गी० बा० ४); 'गारी' यथा—पापिनि, कुटिल, कठोर, कुबुद्धि आदि आगे कहा है।

(२) 'येहि पापिनिहि बूझि का···'—कैकेयी ने बालपन से ही श्रीरामजी का पालन-पोषण किया, यही मकान उठाना है। मकान उठाने में बहुत समय लगता है। वैसे बालपन से कुमारावस्था-पर्यंत पालने में भी बहुत-समय लगा है। मकान छाने में समय कम लगता है, वैसे ही इसने श्रीरामजी का विवाह कराया। उसमें भी समय कम लगा। घर में सुख-सामग्री जुटाना, इसका राम-तिलक के लिये राजा से बार-बार कहना है। (क्योंकि इससे सब सुख मिलते) अब इस सम्पन्न घर-रूप श्रीसीतारामजी से इसे सुख उठाना चाहिये था। पर इसने उल्टे उनको वनवास दे दिया, यही मानों उसपर आग धर (लगा) दी। आग लगाने में बहुत-से जीव जलते हैं वैसे ही यहाँ समस्त प्रजा विरह-रूपी अग्नि में जलेगी—"सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८४); आग लगानेवाला आततायी अर्थात् महापापी कहा जाता है, यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्र-दारापहर्त्ता च षडैतेह्याततायिनः ॥"—वशिष्ठ स्मृति (३।१९) वैसे ही वनवास देनेवाली कैकेयी 'पापिनि' कही गई।

(३) 'निज कर नयन काढ़ि···'—यहाँ नेत्र-रूप श्रीरामजी हैं, उन्हें वनवास देना उस आँख का निकालना है। स्वयं वर माँगकर निकाला। यही अपने हाथ से निकालना है। अब भरत-राज्य देखना चाहती है, यह असंभव है, क्योंकि श्रीरामजी के घर रहने पर राजा जीते रहते तो भरत को राज्य देते और यह देखती—"देउँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०); यह राजा ने कहा ही है। पर श्रीरामजी के वन जाने पर यह देखना असम्भव है।

(४) 'हारि सुधा बिष चाहत चीखा।'—अमृतरूपी श्रीरामजी का प्रेम है, यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह ··" (दो० २३८); राज्य-सुख विषय विष-रूप है; अर्थात् श्रीभरतजी को राज्य देकर राजमाता होकर विषय-सुख अनुभव करना चाहती है, यथा—"हौं लहिहउँ सुख राजमातु होइ सुत सिर छत्र धरैगो।" (गी० अ० ६०); यह असम्भव है, क्योंकि पहले अमृत पी लेवे तब तो विष का स्वाद ले सकती है। वैसे यह श्रीरामजी का प्रेम पान करे; अर्थात् उन्हें घर में रखकर प्रेम करे, तब राजा जीते रहें और श्रीभरतजी को राज्य दें और यह उसका स्वाद भी ले सकती है। पर श्रीरामजी को वनवास देना अमृत का फेंकना है। अब उपर्युक्त विष-पान करने से चीखते ही मर जायगी; अर्थात् राजा की मृत्यु होगी और यह विधवा होगी। यही इसका मरना है। अब श्रीभरतजी के राज्य के सुख का अनुभव कैसे करेगी?

(५) 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।'—'कुटिल' है, क्योंकि ऊपर से श्रीरामजी से स्नेह करती थी, किन्तु भीतर से द्वेष था, तभी तो उनके राज्य-तिलक से क्षोभ हुआ। 'कठोर' है, इसी से श्रीरामजी ऐसे कोमल को वनवास दिया। 'कुबुद्धि' है, तभी तो विचार न किया कि श्रीरामजी के वन जाने से तो राजा की ही मृत्यु हो जायगी, फिर विधवा होकर मैं कौन सुख भोगूँगी। 'अभागी' है, तभी तो श्रीरामजी-से विमुख हुई। इसके भाग्य में श्रीरामजी की अमृतरूपा भक्ति नहीं है, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०)। 'भइ रघुबंस बेनु बन आगी।'—वन में बाँस की परस्पर रगड़ से अग्नि लग जाती है, वैसे ही यह (कैकेयी) इसी कुल में है और कौशल्याजी से ईर्ष्यारूपी रगड़ की कल्पना करके अग्निरूपा हो गई कि इसने राम-विरह-रूपी अग्नि में वंश-भर को जलाया।

(६) 'पालव बैठि पेड़···'—यहाँ पेड़-रूप राजा हैं, पेड़ के भी प्राण होते हैं। वैसे राजा के प्राण-रूप श्रीरामजी हैं। पल्लव श्रीभरतजी हैं, जो पेड़-रूप राजा से जायमान हैं। यह श्रीभरतजी का आधार लेकर श्रीरामजी को वनवास दे रही है। अर्थात् राजा के प्राण ले रही है, यही पल्लव पर बैठकर पेड़ का

काटना है। जैसे पेड़ के कटकर गिरने से पल्लव पर बैठे हुए काटनेवाले की भी मृत्यु होती है, वैसे ही राजा की मृत्यु से कैकेयी की भी मृत्यु है, क्योंकि स्त्री के प्राण पतिदेव ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह · तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (दो० ६४); ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी कहा है—"पेड़ काटि तैं पालव सींचा। मीन जियन निति बारि उलीचा ॥" (दो० १६०)।

'सुख महँ सोक ठाट···'—पहले सुख के ठाट में आग लगाना ऊपर कहा गया है—"छाइ भवन पर पावक धरेऊ।" अब उसकी जगह शोक का ठाट (समाज) ठाटा अर्थात् रचा, बाँधा। ठाट—किसान लोग फूस से घर छाने के लिये बाँस की फट्ठियों को सीधी-तिर्छी रख बाँधकर ठाट बनाते हैं। इसपर कास-फूस आदि बिछाकर ऊपर से बाँस की फट्ठी रखकर बाँधते हैं। इसमें आग लगने से तुरत फैल जाती है। इसने राम-राज्य-रूपी सुख की छावनी को जला दिया। वनवास-रूपी शोक का ठाट बाँधा है, जिसमें नाना प्रकार के शोक की भेदरूपी सीधी-तिर्छी फट्ठियाँ हैं।

सदा राम येहि प्रान - समाना। कारन कवन कुटिलपन ठाना ॥६॥
सत्य कहहिं कबि नारि - सुभाऊ। सब बिधि अगह अगाध दुराऊ ॥७॥
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥८॥

दोहा—काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥४७॥

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा ॥१॥

शब्दार्थ—ठानना = अनुचित करना, स्थिर, दृढ़ संकल्प करना। अगह = अग्राह्य, जो पकड़ा एवं जाना न
जा सके।

अर्थ—श्रीरामजी इसे सदा प्राण के समान (प्रिय) थे, किस कारण से इसने यह कुटिलपन ठाना
है (कि श्रीरामजी के वन जाने की हठ ठानी) ॥६॥ कवि लोग स्त्री का स्वभाव कहते हैं कि इनका
दुराव (कपट) सब प्रकार अग्राह्य है और अगाध (अत्यन्त गहरा एवं अथाह) है, यह सत्य है ॥७॥
अपनी परछाँई चाहे पकड़ी जा सके,. पर हे भाई ! स्त्रियों की गति (चाल, चरित, दशा) नहीं जानी
जा सकती ॥८॥ आग क्या नहीं जला सकती ? समुद्र में क्या नहीं समा सकता ? अबला ऐसी प्रबला
होती है कि यह क्या नहीं कर सकती ? जगत् में काल किसको नहीं खाता ? ॥४७॥ ब्रह्मा ने क्या सुनाकर
क्या सुनाया (अर्थात् राज्य-तिलक सुनाकर वनवास सुनाया), क्या दिखाकर और अब क्या दिखाना
चाहता है (अर्थात् पहले से भूषण-वस्त्रयुक्त श्रीरामजी को देखते रहे अब जटा-वल्कल के साथ दिखाना
चाहता है, वा आनंद-उत्सव दिखाकर अब विषाद एवं शोक दिखाना चाहता है) ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य कहहिं कबि···'—भाव यह है कि अभी तक पुस्तकों में लिखा हुआ ही
पाते थे और कवियों को कहते हुए भी सुनते थे। आज प्रत्यक्ष देखा, तब उसकी सत्यता पर विश्वास
हुआ। स्त्रियों के स्वभाव में जो दुराव (कपट) है, उसे ही अगह और अगाध कहा है। इन्हीं दोनों के भाव
क्रमशः आगे 'निज प्रतिबिंब ···' और 'काह न पावक···' में उपमा से प्रकट करेंगे।

(२) 'निज प्रतिबिंब'''जानि न जाइ'''—'नारि गति' उपर्युक्त दुराव को ही कहा है, यथा—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥" (दो० १६१); अर्थात् यह भीतर से श्रीरामजी से द्वेष रखती थी, उसे ऐसा छिपा रक्खा था कि आज तक किसी ने न लख पाया। जैसे अपना प्रतिबिंब पकड़ में नहीं आता। 'भाई' यह अवधवासियों के परस्पर का संबोधन है। अपने मन को भी ऐसे प्रसंग में भाई कहा जाता है। यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" (सुं० दो० ८) इसमें उपर्युक्त 'अगह' का भाव है।

(३) 'काह न पावक जारि'''—इसने विरह-अग्नि में सबको जलाया, शोकसागर में डुबाया और राजा को कालवश किया, इसी लक्ष्य पर ये उपमाएँ दी गई हैं। 'का न करइ' अर्थात् अग्नि, समुद्र एवं काल के-से कार्य करने में अकेली अबला समर्थ है। है तो अबला, पर माया (कपट) के द्वारा प्रबल है, उसी कपट की अगाधता से यह अग्नि के समान दाहक, समुद्र के समान बोरक और काल के समान मारक हुई। अग्नि, समुद्र और काल तीनों जड़ हैं, इनकी उपमा दी गई, क्योंकि अबला भी जड़-जाति कही गई है—"अधम अबल सहज जड़ जाती।" (अ० दो० ११४); 'अबला प्रबल', यथा—"नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः॥" (भर्तृहरिशतक)। पावक कहकर साथ ही समुद्र कहा है, इससे समुद्र-शोषक अग्नि बड़वानल की तरह इसे जनाया है कि जलाने में बड़वानल और गंभीरता में समुद्र के समान है। बड़वानल समुद्र में रहता है और उसीको जलाता है। वैसे ही यह अयोध्यारूपी समुद्र में रहती है और अब इसीको जलाने लगी।

'बिधि काह सुनावा'—अर्थात् विधि होकर भी अविधि ही करता है, यह ठीक नहीं।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥२॥
जो हठि भयेउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ज्ञान गुन गा जनु॥३॥
एक धरमपरमिति पहिचाने। नृपहिं दोष नहिं देहिं सयाने॥४॥
सिबि-दधीचि-हरिचंद-कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥५॥

शब्दार्थ—हठि=बलात्, निश्चय करके। भाजन=पात्र, बर्तन। परमिति=सीमा, मर्यादा।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा नहीं किया, दुर्बुद्धि कैकेयी को विचारकर वर न दिया॥२॥ जो निश्चय करके सब दुःख का पात्र हो गया, स्त्री के विशेष वश होने से मानों (उनका) ज्ञान और गुण जाता रहा॥३॥ एक (कोई जो) धर्म की मर्यादा को जाने हुए हैं, वे सयाने राजा को दोष नहीं देते॥४॥ शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र की कहानी (कथा) एक दूसरे से बखान कर कहते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'एक कहहि भल भूप न'''—प्रथम बहुत लोगों ने कैकेयी को दोष दिया था तब किसी-किसी ने राजा को भी दोष दिया।

(२) 'जो हठि भयेउ सकल'''''—राजा ने स्वयं उसपर मोहित होकर वर माँगने को कहा। फिर सत्य की सराहना करके राम-शपथ भी कर ली, वे इसीसे बँध गये। विचार न किया, इसीसे वह घर सब दुःखों का पात्र हो गया। 'सकल दुःख'—राम-राज्य-रस-भंग का, राम-वन-वास का, प्रजा के नाश का और अपने मरने का दुःख।

'अबला बिबस'—राजा अपने से ही उसके वश हुए, अन्यथा उसे कोई बल न था कि ऐसा अनर्थ कर सकती। 'ज्ञान-गुन गा'—ज्ञान के जाने ही पर उसमें मोहित हुए, नीतिज्ञता आदि गुण न चले जाते तो उसके छल में फँसे पड़ते ?

(३) 'एक धरमपरमिति····'—कैकेयी के दोषों का खंडन किसीने नहीं किया, क्योंकि लोक-दृष्टि से वह पापिनी है। उसने रामजी को वनवास दिया, पति को मारा और सभी को दुःख दिया। पर राजा को दोष देना धर्मज्ञ-सयाने न सह सके। अतः, उन्होंने खंडन किया। पुनः राजा के गुणों की बड़ाई करते हुए आगे शिवि आदि के उदाहरण दिये। इससे यह भी जनाया कि जिन्होंने राजा को दोष दिया है, वे धर्म को मर्यादा नहीं जानते और वे सयाने भी नहीं हैं।

(४) 'सिवि-दधीचि-हरिचंद-कहानी।····'—राजा शिवि और दधीचि ऋषि की कथाएँ पूर्व लिखी गईं। हरिश्चन्द्रजी की कथा बहुत प्रसिद्ध है—सारांश यह है कि ये रघुवंशी राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। वसिष्ठजी ने इन्द्र की सभा में इनकी प्रशंसा की। सुनकर विश्वामित्रजी विप्र रूप से परीक्षा के लिये आये। राजा हरिश्चन्द्र से सम्पूर्ण राज्य माँग लिया और फिर दक्षिणा माँगी। राजा स्त्री-पुत्र-सहित राज्य से निकले, स्त्री-पुत्र वेचकर कुछ दिया, शेष के लिये काशी में वीरबाहक चांडाल के हाथ स्वयं बिके। फिर भी विश्वामित्रजी ने उनके पुत्र रोहित को सर्प बनकर काटा, वह मर गया और उसे जलाने के लिये उसकी माता श्मशान पर आई। तब मालिक के लिये उससे भी श्मशान का कर माँगा। उसके परिचय देने और निर्धनता कहने पर भी न माना और उसकी आधी साड़ी लेनी चाही, त्यों ही भगवान् ने उसका हाथ पकड़ लिया। मुनि अति प्रसन्न हुए, उन्होंने उनके पुत्र को जिला दिया। स्त्री के साथ उन्हें पुनः अयोध्या का राज्य सौंप दिया।

इन कथाओं से दिखाया कि राजा का ज्ञान-गुण नहीं गया, किन्तु उन्होंने सत्य-धर्म का पालन किया है। जैसे कि इन सब धर्मात्मा लोगों ने दुःख सहकर प्रतिज्ञा की रक्षा की है। बहुत लोग कहनेवाले हैं, कोई शिवि की, कोई दधीचि आदि की कथाएँ कहते हैं।

एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं ॥६॥
कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा ॥७॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहँ प्रानपियारे ॥८॥

दोहा—चंद चवइ बरु अनल-कन, सुधा होइ बिप-तूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु, भरत राम-प्रतिकूल ॥४८॥

शब्दार्थ—संमत = सलाह, अनुमति। अलीहा (अलीक) = असत्य। उदास = निरपेक्ष।

अर्थ—एक (कैकेयी के क ंव्य मे) श्रीभरतजी की सम्मति कहते हैं, एक (कोई) यह सुनकर उदास भाव से (मौन) रह जाते हैं ॥६॥ एक (कोई) हाथ से कान मूँदकर और दाँत तले जीभ दबा-कर कहते हैं कि यह बात असत्य है ॥७॥ ऐसा कहने से तुम्हारे सब सुकृत नाश हो जायँगे, श्रीभरतजी श्रीरामजी को प्राणों के समान प्यारे हैं ॥८॥ चन्द्रमा चाहे आग के कण चुवावे (गिरावे), अमृत विष के समान हो जाय, पर श्रीरामजी के प्रतिकूल (विरुद्ध) श्रीभरतजी कभी स्वप्न में भी कुछ नहीं करेंगे ॥४८॥

विशेष—(१) 'कान मूँदि कर रद गहि···'—अर्थात् ऐसी बात का कहना और सुनना दोनों ही पाप हैं। अतः, हम न कान से सुनेंगे और न जीभ से कहेंगे। अप्रिय बात के प्रति ऐसी रीति है।

(२) 'सुकृत जाहिं अस···'—सुकृत के साथ ही उसके फल रूप सुख और सुगति भी नाश हो जाते हैं। अन्यत्र यह भी कहा है, यथा—"मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥" (दो० १६८); सुख इस लोक में और सुगति परलोक में नहीं पाते, यथा—"हर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥" (दो० २६२)।

(३) 'चंद चवइ बरु अनल···'—चन्द्रमा रस-मय है, किरणों द्वारा अमृत की वृष्टि करके वनस्पतियों को पोसता और भूमि की ताप हरण करता है। वह चाहे अपना स्वभाव छोड़कर चिनगारियाँ बरसावे। अमृत चाहे मृत्युकर विषवत् हो जाय; अर्थात् ये सब असंभव बातें चाहे हो जायँ, पर श्रीभरतजी श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं हो सकते।

इस प्रसंग में तीन प्रकार की वार्त्ता है—"एक भरत कर संमत कहहीं।" ये अधम; "एक उदास भाय सुनि रहहीं।" ये मध्यम और "कान मूँदि ··" से "चंद चवइ···" तक की वार्त्ता उत्तम लोगों की है।

एक विधातहि दूषन देहीं। सुधा दिखाइ दीन्ह विष जेहीं॥१॥
खरभर नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू॥२॥
विप्रवधू कुल-मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥३॥
लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान-सम लागहिं ताही॥४॥

शब्दार्थ—मान्य = प्रतिष्ठित, पूज्य। जठेरी = बड़ी बूढ़ी। सील (शील) = अच्छा स्वभाव।

अर्थ—एक विधाता को दोष देते हैं कि जिसने अमृत दिखाकर विष दिया॥१॥ नगर में खलबली मच गई, सब किसी को शोच है, हृदय में असह्य जलन है, आनंदोत्साह मिट गया॥२॥ ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुल की मान्या और बड़ी बूढ़ी एवं जो कैकेयी की परम प्रिय हैं॥३॥ वे सब कैकेयी के शील की प्रशंसा करके उसे शिक्षा देने लगीं, पर उनके वचन उसको बाण के समान लगते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सुधा दिखाइ दीन्ह विष···'—राम-तिलक सुधा और वनवास विष है।

(२) 'खरभर नगर सोच···'—पूर्व—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं···" से नगर की खलबली और शोच कहकर फिर पुरवासियों की वार्त्ता कहने लगे थे। अब वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'दुसह दाह'—राम-राज्य न हुआ, इससे दाह और उसपर भी वनवास हुआ, इससे दुस्सह दाह हुआ। 'उर' शब्द दीप-देहली है। 'मिटा उछाहू'—उछाह पूर्व कहा गया था—"तेहि निसि नींद परी नहि काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥" (दो० २१); वह मिट गया।

(३) 'विप्र वधू कुल मान्य···'—ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुलमान्या क्षत्रिय वर्ण की, जठेरी वैश्य वर्ण की और परम प्रिय दासियाँ शूद्रवर्ण की भी उपदेश करने में थीं, क्रमशः न्यून कही गई। अथवा विप्र-वधू और कुलमान्याओं में जो बड़ी-बूढ़ी और कैकेयी की परम प्रिय हैं, वे सब शिक्षा देने लगीं।

(४) 'सील सराही'—शील (मुलाहिज़ा) की सराहना करती है कि जिससे हमारा शील मानकर शिक्षा को सुनें, ये सब अच्छे स्वभाववाली है, मिलकर आई हैं कि हमारे लिहाज में पड़कर मान जाय। पर उसके अभीष्ट के विरुद्ध कहती है, इससे उसे बाण की-सी चोट पहुँचती है।

भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना ॥५॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आज बन देहू ॥६॥
कबहुँ न कियेहु सवतिआरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू ॥७॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥८॥

दोहा—सीय कि पिय सँग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम।
राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥४९॥

अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि जनि होहू ॥१॥

शब्दार्थ—आरेसू=ईर्ष्या, डाह, विरोध। पारा=गिराया, डाला। भूँजब=भोग करेंगे। कोठि=कोठी, कोठिला, जिसमें किसान अनाज रखते हैं।

अर्थ—श्रीभरतजी मुझे श्रीरामजी के समान प्रिय नहीं हैं, यह सदा कहती आई हो। इसे सब जगत् जानता है ॥५॥ श्रीरामजी पर स्वाभाविक स्नेह करती रही हो, आज किस अपराध से उन्हें वनवास देती हो ॥६॥ तुमने कभी भी सौतियाडाह नहीं की, तुम्हारी (पारस्परिक) प्रीति और प्रतीति को सारा देश जानता है ॥७॥ अब कौसल्याजी ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जिसके कारण तुमने नगर-भर पर वज्रपात किया, अर्थात् एक कौशल्याजी के कारण सारे नगर को महान् दुःख दिया ॥८॥ सीताजी क्या पति का साथ छोड़ेंगी? श्रीलक्ष्मणजी क्या घर में रहेंगे? श्रीभरतजी क्या राज्य भोग करेंगे? और राजा क्या बिना श्रीरामजी के जीवित रहेंगे? अर्थात् न तो श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी घर रहेंगे, न श्रीभरतजी राज्य भोगेंगे और न राजा जियेंगे ॥४९॥ ऐसा हृदय में विचारकर क्रोध छोड़ो, शोक और कलंक की कोठी न बनो ॥१॥

विशेष—(१) 'भरत न मोहि प्रिय''' बन देहू।'—सखियों ने पहले श्रीरामजी पर इसका प्रेम कहा कि मुख से कहती थी और हृदय से भी प्रेम करती थी। न बोली, तब अपराध पूछा कि हो तो समाधान किया जाय, पर न बोली, तब अनुमान किया कि कौशल्याजी से कोई विरोध न हुआ हो, इसलिये कहा कि—'कबहुँ न कियेहु ···' अर्थात् कौशल्याजी बड़ी हैं, उनसे कोई वैर माने होती तो प्रीति-प्रतीति का नाश हो गया होता, किंतु उनमें तो तुम्हारी प्रीति-प्रतीति जगत्प्रसिद्ध है।

(२) 'कौसल्या अब काह···'—अभी यदि कौशल्याजी ने कुछ बिगाड़ किया हो तो कहो, क्योंकि तुम्हारी इस करनी से तो नगर-भर का नाश हो रहा है। अब आगे दोहे में वज्र गिराने का स्वरूप एवं भावी अनर्थ शृङ्खला दिखाती हैं—'सीय कि पिय···' अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी पर प्रेम हो तो संभवतः मान जाय फिर भी नहीं बोली, तब दिखाया कि इस तरह रक्त-सना हुआ राज्य-भोग श्रीभरतजी न करेंगे तब तो तुम्हें केवल शोक और कलंक ही की कोठी बननी होगी।

भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू ॥२॥
नाहिन राम राज के भूखे। धरमधुरीन बिषय-रस रूखे ॥३॥

गुरुगृह बसहु राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू ॥४॥
जौं नहिं लगिहहु कहे हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ॥५॥
जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौ कहि प्रगट जनावहु सोई ॥६॥
राम सरिस सुत कानन जोगू। काह कहिहि सुनि तुम्ह कहँ लोगू ॥७॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोक कलंक नसाई ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी को अवश्य युवराज पद दो, पर वन में श्रीरामजी का क्या काम है ? ॥२॥ श्रीरामजी राज्य के भूखे नहीं हैं। वे धर्म की धुरी धारण करनेवाले हैं, (अतः पिताजी श्रीभरतजी को राज्य दे देंगे तो वे कभी उसमें बाधा न करेंगे। पिता की आज्ञा भंग-रूप अधर्म न करेंगे) वे विषय के आनंद से उदासीन रहनेवाले हैं ॥३॥ 'श्रीरामजी घर छोड़कर गुरुजी के घर में रहें' ऐसा दूसरा वर राजा से ले लो ॥४॥ जो हमारे कहे पर न चलोगी तो कुछ भी तुम्हारे हाथ न लगेगा ॥५॥ जो कुछ हँसी की हो तो खोलकर कह दो कि हमने हँसी की है ॥६॥ श्रीरामजी के समान पुत्र क्या वन के योग्य हैं ? यह सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे ? ॥७॥ शीघ्र उठो और वही उपाय करो, जिस विधि (उपाय) से शोक और कलंक दूर हो ॥८॥

विशेष—(१) 'कानन काह राम कर काजू'—अर्थात् श्रीभरतजी को युवराज करने में तो स्वार्थ है, पर श्रीरामजी को वन भेजने में कोई स्वार्थ नहीं है। यदि यह डर हो कि ये श्रीभरतजी के राज्य में उपद्रव करेंगे उसपर कहती हैं—'नाहिन राम ···' अर्थात् कोई अधर्मी और विषय लोलुप होता तो ऐसी शंका ठीक होती। यदि राम-वनवास माँग चुकने की हठ हो कि मेरी बात रहे तो उसका उपाय कहती हैं—'गुरु गृह बसहु ···' अर्थात् गुरु मुनि हैं, उनका घर वन के समान है, वहाँ श्रीरामजी के रहने से तुम्हारा वचन राजा का सत्य और जीवन रहेगा और श्रीरामजी का वनवास भी।

(२) 'नहिं लागिहि कछु हाथ···' अर्थात् न श्रीभरतजी का राज्य ही होगा, न राजा जियेंगे। तुम विधवा होगी और कलंक की कोठी बनोगी। सखियों का यह वचन शाप के समान है।

(३) 'राम सरिस सुत कानन जोगू।'—अर्थात् वे तो नेत्रों में रखने योग्य हैं, फिर वनवास देने से—'काह कहहिं सुनि···' अर्थात् लोक में निन्दा होगी, यथा—"आँखिन में, सखि ! राखिबे जोग, इन्हें किमि कै वन बास दियो है।" "रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।" (क॰ अ॰ २०;) 'जौं परिहास कीन्ह···' से उसे हठ छोड़ने का अवसर दिया है। 'उठहु बेगि सोइ···'—अर्थात् श्रीरामजी वन जाने को तैयार हो रहे हैं। अतः, जल्दी उठो और स्वयं उन्हें रोकने का उपाय करो। उठना कहा, क्योंकि पहले से बैठी है, यथा—"सम प्रसंग···बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥" (दो॰ ४०)।

छंद—जेहि भाँति सोक कलंक जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहिं जात बन जनि बात दूसरि चालही।
जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी ॥
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी ॥

सो०—सखिन्ह सिखावन दीन्ह, सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइँ कछु कान न कीन्ह, कुटिल प्रबोधी कूबरी ॥५०॥

शब्दार्थ—चालही=(सं० चालन)=प्रसंग चला, कह। धौं (सं० ध्रुव का अपभ्रंश है)=निश्चय ही।

अर्थ—जिस तरह (सबका) शोक और (तुम्हारा) कलंक दूर हो, उस तरह का उपाय करके कुल का पालन कर। हठ करके श्रीरामजी को वन जाने से लौटा (रोक), वे वन को जाते हैं। बस, अब दूसरी बात ही न चला। जैसे सूर्य के बिना दिन, प्राण के बिना शरीर और चन्द्रमा के बिना रात (अशोभित) हैं। वैसे ही तुलसीदास के प्रभु (या, तुलसीदासजी कहते हैं कि सखियाँ कहती हैं कि प्रभु) श्रीरामजी के बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनि! यह निश्चय ही हृदय में समझो (या, हृदय में जरा समझ तो!)॥ सखियों ने शिक्षा दी, जो सुनने में मधुर और परिणाम (अन्त) में हितकर है, परन्तु उसने उसपर कुछ भी कान न दिया (न सुना, न माना), क्योंकि वह तो कुटिला कुबड़ी मंथरा की सिखाई हुई है ॥५०॥

विशेष—(१) 'जेहि भाँति सोक कलंक'''हठि फेरु'''—श्रीरामजी वन जाने को कह चुके हैं—"बिदा मातु सन आवउँ'''" (दो० ४५); वे अवश्य जायँगे, उससे 'सोक-कलंक' भी अवश्य ही होगा। अतः, हठ करके रोको कि हम न जाने देंगी, तभी रुकेंगे अन्यथा वे किसी की भी न सुनेंगे, क्योंकि धर्म धुरीण हैं। यही शोक-कलंक मिटने का उपाय है।

(२) 'जनि बात दूसरि चाल ही'—अर्थात् हठात् रोकने के अतिरिक्त दूसरी बात ही न करो। श्रीरामजी से यही कहो कि हम किसी तरह वन न जाने देंगी। उनसे और बात ही न करो।

(३) 'जिमि भानु बिनु दिन'''—बादलों की सघन घटा में सूर्य के प्रकाश बिना दिन मलीन रहता है, उसी तरह श्रीरामजी के वन जाने से अवध के पुरुष मलीन रहेंगे। चन्द्रमा (राकेश) बिना रात मलीन (अँधेरी) रहती है, वैसे ही श्रीरामजी के बिना अवध की स्त्रियाँ मलीन रहेंगी। प्रमाण—"श्री हत सीय-बिरह दुति हीना। जथा अवध नर-नारि मलीना॥" (दो० १२८)। श्रीरामजी सूर्य और चन्द्र रूप हैं, यथा—"भानु कुल भानू" (दो० ४०); "निरखि राम राकेस" (उ० दो० ३)।

जैसे बादलों के हट जाने से दिन और शुक्लपक्ष की (चन्द्रमा के साथ होने पर) रात—ये दोनों फिर सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामजी के लौटकर घर आने पर ये नर-नारी पुनः सुशोभित होंगे। पुनः जैसे प्राण बिना तन अशोभित, वैसे श्रीरामजी के वन जाने और राजा के प्राण छोड़ देने पर श्रीरामजी की सब माताएँ अशोभित हो जायँगी। जैसे मृत देह फिर सुशोभित नहीं होता, वैसे माताएँ फिर सुशोभित नहीं होंगी, क्योंकि इनके प्राण-रूप तो राजा ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह'' तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥" (दो० ६४); इस तरह सम्पूर्ण अयोध्या का अंग आ गया। सामान्य नर-नारी में राजा-रानी नहीं कहे जा सकते, इसलिये रानियों को प्रजा-गण (की स्त्रियों) से पृथक् कहा गया।

(४) 'प्रभु बिनु'—दिन के स्वामी सूर्य, रात के चन्द्रमा और तन के प्राण हैं, वैसे अवध के नर-नारियों के स्वामी श्रीरामजी हैं और रानियों के स्वामी राजा के भी प्राणाधार श्रीरामजी ही हैं। श्रीरामजी के लौटने पर समष्टि में अवधपुरी की शोभा कही गई है, यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥" (उ० दो० २)।

उतर न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥१॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी ॥२॥

राज करत येहि दैव विगोई । कीन्हेसि अस जस करइ न कोई ॥३॥
येहि विधि विलपहिं पुर-नर-नारी । देहि कुचालिहि कोटिक गारी ॥४॥

शब्दार्थ—रूखी=स्नेह रहित, उदासीन । दैव=विधाता । विगोई=बिगाड़ दिया ।

अर्थ—कैकेयी उत्तर नहीं देती । अत्यन्त क्रोध के कारण स्नेह रहित (रुष्ट) हो गई है (उन्हें इस तरह देखती है), मानों भूखी बाघिन हिरनियों को ओर देख रही हो ॥१॥ रोग को असाध्य जानकर (कि इसकी हठ रूप-व्याधि नहीं निवृत्त होगी) उन्होंने इसे छोड़ दिया और कहते हुए चलीं कि यह मंद-बुद्धि और अभागिनी है ॥२॥ राज्य करते हुए इसे दैव ने बिगाड़ दिया । इसने ऐसा किया कि जैसा कोई न करे ॥३॥ इस तरह नगर के स्त्री-पुरुष विलाप कर रहे हैं । कुचाली कैकेयी को करोड़ों (बहुत) गालियाँ दे रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'दुसह रिस रूखी'—रुष्ट तो पहले ही से थी । यहाँ अपने विरुद्ध शिक्षा से अत्यन्त क्रुद्ध होकर रुष्ट हो गई । अतः, 'दुसह' कहा । 'मृगिन्ह चितव जनु'''—बाघिन बूढ़े मृगों का मांस नहीं खाती, वैसे ही कैकेयी ने इन्हें बूढ़ी (जठेरी) जानकर छोड़ दिया । मुख से उत्तर न देती हुई, उन्हें क्रोध से देखा ।

(२) 'व्याधि असाधि'''—असाध्य जानकर वैद्य दवा बन्द कर देते हैं, वैसे इन सखियों ने उपदेश देना बन्द कर दिया कि यह हमारे वश की नहीं ।

'मति मंद अभागी'—बुद्धि की मंद है । इसीसे इसने उपदेश न समझा और न उत्तर दिया, उल्टे क्रोध किया । अभागी है, क्योंकि पति-पुत्र आदि सबसे विमुख हुई और विधवा भी होगी । श्रीरामजी के विमुख होने से तो अभागिनी है ही ।

(३) 'येहि विधि विलपहिं'''—विलाप का प्रसंग—"सुनि भये विकल सकल नर-नारी ।" (दो० ४५) ; से प्रारंभ हुआ था, बीच में और-और प्रसंग चल पड़े । अब फिर वही प्रसंग फिर लेते हैं । 'देहिं कुचालिहि'''—कुचाली को प्रायः सामान्य लोग, उनमें विशेष कर स्त्रियाँ गाली देती ही हैं, यथा—"नर भर देखि विकल पुर नारी । सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥" (बा० दो० २६७) ; "सब मिलि देहिं रावनहिं गारी ।" (लं० दो० ४०) ।

जरहिं विषमजर लेहिं उसासा । कवनि रामबिनु जीवनआसा ॥५॥
विपुल वियोग प्रजा अकुलानी । जनु जलचरगन सूखत पानी ॥६॥
अति विषाद बस लोग लोगाई । गये मातु पहिं राम गोसाँई ॥७॥
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखइ राऊ ॥८॥

दोहा—नवगयंद रघुवीर मन, राज अलान - समान ।
छूट जानि बन-गवन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥५१॥

शब्दार्थ—विषमजर=विषम ज्वर, यह सामान्य ज्वर के बिगड़ने पर अथवा ज्वर अच्छा होने के

कुपथ्य करने पर होता है। इसमें नाड़ी की गति बदलती रहती है, ताप भी सदा एक रस नहीं रहता। उसास=ऊँची श्वास, आह। चाऊ=उत्साह। नवगयंद=नया पकड़ा हुआ हाथी। अलान=लकड़ी की बनी हुई तिकोनी बेड़ी, जिसके भीतर लोह के काँटे होते हैं। यह नये हाथी के पाँव में लगाई जाती है कि जिससे वह उछल-कूद नहीं सकता— "आलानं गजबंधनमित्यमरः"

अर्थ—वे (पुरवासी) विषम ज्वर से जल रहे हैं, ऊर्ध्व श्वास (लंबी श्वास) ले रहे हैं (और कहते हैं कि) श्रीरामजी के विना जीने की कौन आशा है॥५॥ भारी वियोग समझकर प्रजागण व्याकुल हैं, मानों जलचर समूह पानी के सूखते हुए अकुलाते (छटपटाते) हैं॥६॥ स्त्री-पुरुष सभी अत्यन्त विषादवश हो रहे हैं। गोस्वामी श्रीरामजी माता कौशल्याजी के पास गये॥७॥ उनका मन प्रसन्न है, चित्त में चौगुना उत्साह है, (अब) यह शोच दूर हो गया कि कहीं राजा रख न लें॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी का मन नये पकड़े हुए हाथी के समान है और राज्य 'अलान' के समान है। वन का जाना सुन उस 'अलान' का छूटना जानकर हृदय में आनन्द बढ़ गया॥५१॥

विशेष—(१) 'जरहिं बिषमजर ···'—विषम ज्वर में पहले कम्प होता है, फिर दाह और श्वासा बहुत चलती है, और जीने की आशा नहीं रहती, वैसे इन्हें वियोग भय से कम्प है। विरह से अत्यन्त ताप है, ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं और जीने की आशा छूट गई है, क्योंकि विषम ज्वर बहुत काल तक रहता है, वैसे इनका यह वियोग १४ वर्ष का है।

(२) 'बिपुल बियोग प्रजा···'—वियोग १४ वर्ष का है। अतः, 'बिपुल' कहा है। श्रीरामजी का वन जाना जल का सूखना है। प्रजागण जलचर है, मछली न कहकर जलचर ही कहा है, क्योंकि जल सूखने पर मछली मर जाती है, पर अन्य जलचर जीते रहते हैं। फिर जल पाने पर सुखी हो जाते हैं, वैसे ही पुरवासी तड़पते हुए जीते रहेंगे। श्रीरामजी के फिर आने पर सुखी होंगे। ऊपर 'बिषम जर' से हृदय की दशा कही गई है और यहाँ शरीर की।

(३) 'अति बिषाद बस लोग···'—यथा—"जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥" (दो० ४५)। 'गोसाईं' अर्थात् पृथिवी के स्वामी हैं, उसका भार उतारने पर सन्नद्ध हैं, अतः माता रखना चाहेंगी, तो भी आप न रहेंगे, यथा—"तुलसिदास जौं रहउँ मातु-हित को सुर-बिप्र-भूमि-भय टारे॥" (गी० अ० २)। पुनः गोस्वामी का अर्थ इन्द्रियजित् एवं स्नेहजित् भी है। अतः, गृह-सुख एवं मातृ-स्नेह में न रुकेंगे। सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हैं, पर ये सावधान हैं। इसका उपक्रम—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी।" (दो० ४५); है और यहाँ—'गये मातु पहँ राम गोसाईं।' उपसंहार है।

(४) 'मुख प्रसन्न चित···'—सबके तो मुख सूख रहे हैं और सभी चित्त से व्याकुल हैं, यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं···" (दो० ४६); पर श्रीरामजी का मुख प्रसन्न है और चित्त में चौगुना चाव है। सबके हृदय में पहले चाव था—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥" (दो० १०); उससे श्रीरामजी का चौगुना चाव वन जाने में है। इसे ही आगे दृष्टान्त से कहते हैं।

(५) 'मिटा सोच जनि···'—कैकेयी ने सब प्रसंग सुनाया तब इतना ही शोच रह गया था कि कहीं राजा रख न लें, नहीं तो अभीष्ट कार्य (मुनिगन मिलन बिसेषि बन···' पर कहा हुआ) की हानि होगी। जब श्रीरामजी ने कहा—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं ··" इसपर राजा नहीं बोले, तब 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' की दृष्टि से उनकी भी स्वीकृति मान ली और उक्त शोच मिट गया।

(६) 'नवगयंद रघुबीर मन···'—बहुत दिनों का पकड़ा हुआ हाथी फिर वन जाने की इच्छा नहीं करता और नवीन हाथी बंधन में पड़ने से दुःखी रहता है और वन जाकर स्वतंत्र रहने की इच्छा करता है, इसीसे 'नवगयंद' कहा है। क्योंकि श्रीरामजी वन जाने को उसी तरह उत्सुक हैं और राज्य-तिलक को बंधन समझते हैं। इसपर तो ये पहले ही पछताते थे—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई···" (दो० १); यथा—"पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत। पश्चात् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥" (रघुवंश); पुनः देवता लोग वनचर-देह से वन में इनकी राह देख रहे हैं। उनके संबंध से भी 'नवगयंद' उपमा अधिक उपयुक्त है।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातुपद नायेउ माथा ॥१॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन-बसन निछावर कीन्हे ॥२॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता ॥३॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाये ॥४॥
प्रेमप्रमोद न कछु कहि जाई। रंक धनद-पदवी जनु पाई ॥५॥

अर्थ—रघुकुल के तिलक श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नता-पूर्वक माता के चरणों में शिर नवाया (प्रणाम किया) ॥१॥ माता ने आशिष दी और उनको हृदय से लगा लिया। पुनः भूषण-वस्त्र निछावर किया ॥२॥ माता बार-बार मुख चूमती है, स्नेह के आँसू आँखों में भर आये और उसका शरीर पुलकायमान हो गया ॥३॥ गोद में ले (बिठा) कर फिर हृदय लगाया, सुन्दर छाती से प्रेम के कारण दूध टपकता है ॥४॥ इतना प्रेम और आनन्द है कि कुछ कहा नहीं जाता। मानों कंगाल ने कुबेर की पदवी पाई हो ॥५॥

विशेष—(१) 'रघुकुल तिलक जोरि ··'—सभी रघुवंशी माता-पिता के भक्त होते आये, ये तो उस कुल के तिलक (सुशोभित करनेवाले, श्रेष्ठ) हैं, फिर क्यों न ऐसे भक्त हों। हाथ जोड़कर शिर नवाना प्रसन्न करने का कृत्य है, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है॥" (वि० १३५)।

(२) 'दीन्हि असीस लाइ उर···'—आशिष दी, यथा—"वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥" (वाल्मी० २।२०।२१); अर्थात् धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान तुम आयु पाओ, कीर्ति पाओ और कुलोचित धर्म का पालन करो। हृदय से लगाकर छाती ठंडी की। 'भूषन बसन निछावरि ··'—माता ने राज्याभिषेक सुनने पर भी निछावर की थी, यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषनबसन भूरि तिन्ह पाये॥" (दो० ७); वैसे ही श्रीरामजी के आने पर भी किया।

(३) 'गोद राखि पुनि ··'—प्रथम आशिष देना, हृदय से लगाना और निछावर करना आदि खड़े-खड़े ही हुए थे। यहाँ कहते हैं कि बैठकर गोद में लिया और फिर अत्यन्त प्रेम के साथ हृदय से लगाया। 'स्रवत प्रेम-रस पयद···'—बालक के वात्सल्य-स्नेह के कारण स्तन में दूध आता है, बालक के बड़ा होने पर स्तन सूख जाते हैं। पर इनका श्रीरामजी में अत्यन्त वात्सल्य है, इसीसे उन्हें गोद में लेने और हृदय लगाने से स्तनों में दूध आ गया और टपकने लगा। अतः, 'पयद' (जो दूध दे) कहा गया है और दूध देने से ही स्तनों की शोभा है। अतएव, 'सुहाये' भी कहा है।

(४) 'प्रेम प्रमोद न कछु ···'—प्रेम के कारण आनन्द है और आनन्द के अंश को ही आगे उत्प्रेक्षा है कि कंगाल को कुबेर को पदवी प्राप्ति की सीमा है, वैसे ही श्रीरामजी भी प्राप्ति की अवधि हैं, यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। ··यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।···" (*गीता ६।२१-२२*); *तथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी।* तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (दो० १०६)। पहले वह स्वयं कंगाल था, अब धनद अर्थात् और सभी को धन देनेवाला हो गया तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना ? यहाँ पहले प्रेम-प्रमोद की दशा दिखाई गई कि नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे हैं, शरीर पुलकित है, स्तनों से दूध टपक रहा है, पर प्रेम-प्रमोद का तो कुछ अंश भी नहीं कहा जा सकता, इसलिये उत्प्रेक्षा से लक्षित कराया गया।

सादर सुन्दर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥६॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुदमंगलकारी॥७॥
सुकृत सील सुखसींव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥८॥

दोहा—जेहि चाहत नरनारि सब, अति आरत येहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सरद रितु स्वाति॥५२॥

अर्थ—आदर के साथ सुन्दर मुख देखकर माता मीठे कोमल वचन बोली॥६॥ हे तात ! माता बलिहारी जाती है। कहो, आनद और मंगल करनेवाला लग्न कब है॥७॥ जो पुण्यात्मा पुरुषों के सुख की सुन्दर सीमा है और जन्म-लाभ की परिपूर्ण सीमा है॥८॥ जिस लग्न को सब स्त्री-पुरुष अति आर्त होकर इस प्रकार चाह रहे हैं, जिस प्रकार चातक चातकी प्यासे होकर शरद-ऋतु में स्वाती नक्षत्र की वृष्टि चाहते हैं॥५२॥

विशेष—(१) 'सादर सुंदर बदन···'—पहले—'बार-बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल···' में माता के स्नेह की प्रधानता थी। यहाँ—'सादर सुंदर बदन ··' में श्रीरामजी की सुन्दरता प्रधान है, इसी से उसे सादर देख रही हैं। ऊपर 'नयन नेह जल पुलकित गाता।' में 'स्नेह' से मन का स्नेह और 'पुलकित गाता' से तन का स्नेह और यहाँ 'बोली मधुर बचन' से वचन का स्नेह दिखाया। श्रीरामजी की सुंदरता से माता को सुख हुआ, वैसा ही माता के मधुर वचनों से श्रीरामजी को सुख होगा।

(२) 'कहहु तात जननी बलि हारी ··'—लग्न बतलाने पर माता बलिहारी जाती है, यह लग्न तो सभी को प्रिय है। आगे दोहे में कहेंगे, फिर माता को 'अतिप्रिय' हुआ ही चाहे। इसपर 'बलिहारी' जाती हैं। 'बलिहारी' शब्द दीपदेहली न्याय से लग्न के साथ भी है। बलिहारी का अर्थ मोहित होकर अपनेको निछावर करना होता है।

(३) 'सुकृत सील सुख ···'—सुकृत का फल सुख है, सुकृत-शील पुरुषों को जो सुख मिलता है, यह लग्न उसकी सीमा है। जन्म-लाभ अर्थात् जन्म-साफल्य की भी पूर्ण सीमा है।

(४) 'जेहि चाहत नरनारि · ·'-शरद्-ऋतु में हस्त, चित्रा और विशाखा नक्षत्र की भी वृष्टि होती है। पर चातक-चातकी केवल स्वाती के ही जल को चाहते हैं। अर्थात् जब शरद और स्वाती दोनों का योग हो तब चातक

को तृप्ति होवे। वैसे प्रजागण राम-राज्य के ही अनुरागी हैं। चाहे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न से भी राज्य कार्य चल जाय। स्वाती की वृष्टि अर्थात् अधिक बूँदों की वर्षा दैवाधीन है, वैसे श्रीराम-राज्य भी अति दुर्लभ है।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥१॥
पितु समीप तब जायेहु भैया। भै बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥२॥
मातुबचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह-सुरतरु के फूला ॥३॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। निरखि राममन-भँवर न भूला ॥४॥

अर्थ—हे तात! मैं बलिहारी जाऊँ, तुम जल्दी नहाओ और जो मन में अच्छा लगे, वह कुछ मीठी वस्तु खाओ ॥१॥ हे भैया! तब पिताजी के पास जाना, बड़ी विलंब हुई, माता बलिहारी जाती है ॥२॥ माता के बड़े ही अनुकूल वचनों को सुनकर जो मानों स्नेह-रूपी कल्पवृक्ष के फूल थे। सुख-रूपी मकरंद से भरे हुए और लक्ष्मी-रूपी राज्य-श्री के मूल इन वचन-रूपी फूलों को देखकर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर न लुभाया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो मन भाव मधुर कछु ...'— सूर्योदय पर सुमंत्रजी राजा के पास गये, फिर श्रीरामजी को बुला लाये, उनसे बातें हुईं, तब माता के पास आये। अतः, लगभग एक प्रहर दिन चढ़ गया। अभी अभिषेक के कृत्य में भी एक पहर लगेंगे और दोपहर हो जायगा। कल भी एक ही समय भोजन किया था, क्योंकि संयम किये हुए थे। इसीसे माता भोजनार्थ कह रही हैं। यद्यपि अभिषेक के प्रथम भोजन करना न चाहिये, पर माता अत्यन्त वात्सल्य में भूल रही हैं और इन्हें नियम की सुधि नहीं है। प्रेमातिशय के कारण यहाँ कई बार बलि जाना कहा गया है। 'बोली मधुर बचन' कहा गया है, वही 'भैया' कहकर जनाया, यथा—"तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥ भैया कहहु कुसल दोउ बारे।" (बा० दो० २९०)।

(२) 'मातु बचन सुनि अति ...सुख मकरंद भरे ...'—यहाँ सुखपूर्ण राज्यश्रीदायक माता के स्नेह-पूर्ण मधुर वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं। वचन की अनुकूलता से स्नेह को कल्पतरु कहा गया। वचन फूल, और सुख उसके मकरंद है। कल्पवृक्ष के फूल श्री (लक्ष्मी) देते हैं, वैसे इनमें राज्य-श्री की प्राप्ति सन्निहित है। अनुकूल (कृपायुक्त) वचन पुष्प के समान कहे जाते हैं, यथा—"बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥" (बा० दो० २७१); कल्पवृक्ष अनुकूल वस्तु देता है। माता भी स्नेह से इनके अनुकूल ही कह रही हैं। अतः, स्नेह को कल्पतरु कहा है, क्योंकि स्नेह ही से मधुर वचन निकल रहे हैं। इस वचन-रूपी पुष्प में सुख ही रस है, क्योंकि माता ने लग्न पूछा है। वह सुख की सीमा है, यथा—"सुकृत सील सुख सींव सुहाई।" कहा गया है। फूल पर भ्रमर बैठता है। यहाँ श्रीरामजी का मन ही भ्रमर है। भ्रमर तो सामान्य पुष्प पर भी लुभा जाता है, पर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर कल्पतरु के रसीले फूल पर भी न लुभाया; अर्थात् पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को छोड़कर इस सुख की इच्छा न की, न भूला, क्योंकि श्रीरामजी धर्मधुरीण हैं, आगे कहते ही हैं। इस सुख में भूलना लोलुपों का काम है, यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १७८)।

धरमधुरीन धरमगति जानी। कहेउ मातु सन अति-मृदु-बानी ॥५॥
पिता दीन्ह मोहि कानन-राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥६॥

आयसु देहि मुदित-मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता ॥७॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरे। आनँद अंब अनुग्रह तोरे ॥८॥

दोहा—बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु-बचन-प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान ॥५३॥

अर्थ—धर्म का बोझ सँभालनेवाले (धर्मात्मा)-श्रीरामजी धर्म की गति जानकर माता से बहुत ही कोमलवाणी से बोले ॥५॥ पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है, जहाँ सब प्रकार से मेरा बड़ा काम है ॥६॥ हे माता! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये कि जिससे वन जाते हुए आनंद-मंगल हो ॥७॥ मेरे स्नेह-वश होकर भूलकर भी नहीं डरना; क्योंकि हे माता! आपकी कृपा से आनंद ही होगा ॥८॥ चार और दस (चौदह) वर्ष वन में रहकर पिता के वचन प्रमाणित (पूर्ण) करके फिर आकर आपके चरणों के दर्शन करूँगा। अपने मन को मैला (दुखी) न करना ॥५३॥

विशेष—(१) 'धरमधुरीन धरम गति···'—आप धर्मधुरीण हैं, अर्थात् कैसा भी कठिन धर्म हो, उसका पालन कर सकते हैं। धर्म की गति भी जानते हैं कि यहाँ राज्य के ग्रहण करने से पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म की हानि है। अतः, स्वधर्म पर स्थित रहेंगे। 'अति मृदु बानी' बोले, क्योंकि दुःसह बात कहनी है, जिससे वह घबड़ा न जाय।

(२) 'पिता दीन्ह मोहिं ···'—आप धर्मधुरीण हैं। अतः, धर्म समझकर कठोर वनवास को भी सुख-रूप शब्दों में कहते हैं। इस तरह उसमें श्रद्धा दिखाते हैं, क्योंकि—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।" (उ० दो० ८९); कहा है। पुनः—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५); 'कानन राजू'—माताजी राज्याभिषेक पर प्रसन्न हैं, अतएव आप वही उसे सुना रहे हैं कि राज्य ही मिला है, किन्तु वन का राज्य मिला है। इस तरह 'अति मृदु बानी' न कहते, तो संभव था कि राजा की तरह ये भी सहम (डर) जातीं, यथा—"गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।" (दो० २८)।

'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'—यह बड़ा कार्य कैकेयी के प्रति कहा गया है—"मुनि गन मिलन बिसेषि बन ··भरत प्रान-प्रिय पावहिं···" (दो० ४१); वही सब यहाँ भी कहा गया है। घर में रहकर राज्य का कार्य छोटा कार्य है और उक्त वन के कार्य बड़े हैं। 'मोर' अर्थात् अवध राज्य में और लोगों का कार्य होगा, पर वन के राज्य में मेरा बड़ा हित होगा। 'सब भाँति'—यहाँ राज्य-सुख-भोग रूप एक ही भाँति का कार्य है और वन के राज्य से राज्य शत्रु-हीन होगा, बड़े-बड़े राजा मित्र हो जायँगे, इत्यादि। पुनः बड़े कार्य रावणादि का वध, भू-भार-हरण, सुर-नर-नाग आदि की स्वतंत्रता स्थिर करना इत्यादि भी हैं।

(३) 'आयसु देहि मुदित···'—सुनते ही माता के मुख पर उदासी छा गई। इसलिये कहते हैं कि प्रसन्न मन से आज्ञा दो, जिससे इस राज्य में तो विघ्न हुआ, किंतु वन के राज्य में जाते हुए आनंद-मङ्गल हो। जानते हैं कि हमारे मुद-मंगल होने के लिये माता प्रसन्न होकर आज्ञा दे देंगी। क्योंकि यात्रा में हर्ष भी शकुन है। अतः, माताजी अवश्य करेंगी।

(४) 'जनि सनेहबस डरपसि भोरे।···'—वास्तव में मुझे तुम्हारी अनुग्रह से आनंद ही होगा तो डरने की कोई बात नहीं है। अतः, मेरे स्नेह-वश होकर कि वहाँ पुत्र को दुःख होगा, ऐसा भूल कर भी न समझना और न डरना।

(५) 'बरष चारि दस···'—प्रथम ही कहा गया कि 'अति मृदु बानी' कह रहे हैं, इसलिये वनवास की अवधि बतलाने में प्रथम 'चार' (अल्प काल वाचक) कहा, तब 'दश' कहकर चौदह वर्ष कहा कि जिससे प्रथम थोड़ा सहन हो जाय, तो फिर दश कहने से क्रमशः सह सकेंगी। साथ ही संयोग की आशा देते हैं—'आइ पाइ पुनि···' अर्थात् १४ वर्ष पूरा होते ही लौटकर फिर चरण देखूँगा, इस तरह भावी भी जनाई। यह बात पिता के यहाँ नहीं कही, यथा—"चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी।" मात्र ही कहा है, क्योंकि पिताजी जीवित न रहेंगे तो वैसा क्यों कहें?

वचन विनीत मधुर रघुवर के। सर सम लगे मातु-उर करके ॥१॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास पर पावस पानी ॥२॥
कहि न जाइ कछु हृदय-विषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरिनादू ॥३॥
नयन सजल तनु थरथर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु माँपी ॥४॥

शब्दार्थ—करके (करकन, कसकना) = रुक-रुककर पीड़ा होना, कसकना। माँजा = प्रथम वर्षा का फेन जो मछलियों के लिये मादक होता है। मापना = मतवाला होना।

अर्थ—रघुवर के बहुत ही नम्र और मीठे वचन माता के हृदय में बाण के समान लगे और कसकने लगे ॥१॥ शीतल वाणी सुनकर वह डरकर सूख गई, जैसे वर्षा का जल पड़ने से जवासा सूख जाता है ॥२॥ हृदय का दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानों सिंह की गरजन सुनकर हरिणी दुःखित हुई हो ॥३॥ नेत्रों में जल भर आया। शरीर थर-थर काँपने लगा, मानों मछली माँजा को खाकर मतवाली हुई हो ॥४॥

विशेष—(१) 'सर सम लगे···'—बाण लगने से जैसे पीड़ा होती है और बोला नहीं जाता, वैसी ही दशा है। 'उर करके'—बाहर कोई घाव आदि चिह्न नहीं है, पर असह्य वेदना है। यहाँ हृदय की दशा कही, आगे शरीर की कहते हैं।

(२) 'सहमि सूखि सुनि··'—सूखना गरम से होता है और वचन शीतल हैं, फिर कैसे सूख गई। उसके लिये दृष्टान्त दिया कि वर्षा के ठंढे जल से ही जवासे की पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। फिर वर्षा बीतने पर वह पनपता है, वैसे माताजी भी चौदह वर्ष के पीछे श्रीरामजी के दर्शन पाकर हरी (प्रसन्न) होंगी।

(३) 'कहि न जाइ कछु···'—ऊपर की दशा तो कुछ कही गई कि जवासे की तरह सूख गई, थर-थर काँपने लगीं, उनका कंठ रुक गया, पर भीतर का दुःख तो अकथनीय है। 'मनहुँ मृगी···'—सिंह मृगी का घातक नहीं, तो भी मृगी उसके गर्जन सुनकर वह डर जाती ही है। वैसे ही श्रीरामजी ने अधर्म-गज-विदारण के लिये धर्म-वीरता लिये हुए सिंह के समान निर्भय वचन कहा। पर माताजी पुत्र-वियोग के भय से मृगी की तरह स्वयं डर गईं।

(४) 'नयन सजल तन···'—वचन हृदय में बाण के समान लगे, पीड़ा हुई। शरीर जवासे की तरह सूख गया। वे मृगी की तरह डर गईं और माँजा खाई हुई मीन की तरह थर-थर काँपने लगीं। माँजा खाने से मछलियाँ मतवाली होकर काँपती हुई उतरा जाती हैं, बहुत मर भी जाती हैं।

धरि धीरज सुत-बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी ॥५॥
तात पितहि तुम्ह प्रान-पियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥६॥
राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥७॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर-कुल भयेउ कृसानू ॥८॥

दोहा—निरखि रामरुख सचिवसुत, कारन कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ ॥५४॥

शब्दार्थ—साधा = निश्चित किया। निदान = कारण, आदि कारण। मूक = गूँगा।

अर्थ—धैर्य धरकर पुत्र के मुख को देखकर माता गद्गद वचन कहती हैं ॥५॥ हे तात ! तुम तो पिता के प्राण-प्रिय हो, वे तुम्हारे चरित्र देखकर नित्य ही प्रसन्न रहते हैं ॥६॥ (तुम्हें) राज्य देने के लिये उन्होंने शुभ मुहूर्त्त निश्चित किया। अब किस अपराध से वन जाने को कहा ? ॥७॥ हे तात ! मुझे इसका कारण सुनाओ कि कौन इस सूर्यकुल के लिये अग्नि हुआ ? ॥८॥ श्रीरामजी का रुख देख मंत्री के पुत्र ने सब कारण समझाकर कहा। वृत्तान्त सुनकर गूँगी की तरह रह गईं। उनकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥५४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज सुत······'—पूर्व—"कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।" में मन की व्याकुलता, "नयन सजल तन थर-थर काँपी।" में तन की और यहाँ—"गद्गद बचन······" में वचन की व्याकुलता, इस वन के समाचार सुनने से हुई। 'धरि धीरज'—क्योंकि वचन बाण के समान लगने से अधीर हो गई थीं। इसीसे धैर्य धरने पर भी ठीक से बोलते नहीं बनता, गद्गद वचन कहती हैं। 'सुत बदन निहारी'—प्रथम भी—'सादर सुन्दर बदन निहारी।' कहा गया है, किंतु वहाँ राज्य-प्राप्ति की प्रसन्नता देखने में और यहाँ वन जाने के प्रति विषाद देखने में है माता को कुछ भी अन्तर न जान पड़ा। वात्सल्य में माता की दृष्टि स्वाभाविक बच्चे के मुख पर जाती है कि कोई विकार तो नहीं है।

'राज देन कहँ सुभ······'—इसमें अपह्नुति अलंकार है।

(२) 'तात सुनावहुँ मोहि निदानू।'—उपर्युक्त बातों से निश्चय ही कोई भारी दुर्घटना हुई होगी, अन्यथा ऐसा असंभव है, इसलिये कारण पूछती हैं कि यदि कोई उपाय हो सके, तो किया जाय। कारण सुनने पर यथावकाश उपाय भी करेंगी, यथा—"तुम्ह बितु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेस ॥ जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥" (दो० ५५)। 'को दिनकर कुल······'—प्रथमोक्त बातों का उत्तर न पाकर माता ने निश्चय किया कि न तो राजा का इनपर प्रेम ही घट सकता है और न इनसे कोई वैसा अपराध ही हो सकता है। यह कुछ और ही कारण है कि जिससे यह सूर्यवंश ही नाश होगा। अतः, पूछती हैं।

(३) 'निरखि राम रुख···'—श्रीरामजी ने स्वयं न कहा, मंत्री-पुत्र से कहलाया। क्योंकि उसमें पिता का स्त्री-वश होना, माता कैकेयी की कुचाल और अपनी प्रशंसा भी है। यह सब स्वयं कैसे कहें ? आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं। पुनः पूरा कारण जानने के लिये माता ने पूछा है, उसे भी सब बतलाना है। 'कारन कहेउ बुझाइ'—राजा का राम-शपथ करके वचन-बद्ध होना, कैकेयी के बातीवाते

वरदान की कथा, जो शंबरासुर के संग्राम की थी, इत्यादि, कही। समझाकर कहा, क्योंकि माता तन, मन, वचन से विकल है। ऊपर लिखा गया, सुनि-प्रसंग रहि'''' '—प्रथम कारण पूछा था, तब आशा थी कि पिता ने वनवास दे दिया है तो मैं माता हूँ, अपनी आज्ञा से इन्हें घर रख सकूँगी, क्योंकि पुत्र के लिये पिता से दश गुणा माता का गौरव है। पर मंत्री-पुत्र से कैकेयी के द्वारा वनवास होना सुना, तो चुप हो गईं, क्योंकि विमाता का अपनेसे भी दश गुणा गौरव शास्त्र में है। क्या करूँ? यही शोच रही है, माता की दशा पर करुणा आ जाती है, इससे वह कही नहीं जाती।

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥१॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू ॥२॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ॥३॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधुबिरोधू ॥४॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोच-बिबस भइ रानी ॥५॥

शब्दार्थ—सुधाकर = चन्द्रमा। गति = चाल, कर्त्तव्य। अनुरोध = विनय-पूर्वक अपनी अनुकूलता के लिये हठ।

अर्थ—न तो रख ही सकें और न यही कह सकें कि जाओ; दोनों ही तरह से हृदय में कठिन जलन हो रही है ॥१॥ (सोचती हैं कि) ब्रह्मा की चाल सदा ही सबके लिये टेढ़ी होती है, (देखो तो) चन्द्रमा लिखते हुए लिख गया राहु ॥२॥ धर्म और स्नेह, दोनों ने कौशल्याजी की बुद्धि को घेर लिया जिससे उनकी दशा साँप और छुछूँदर के समान हो गई ॥३॥ (वे सोचती हैं कि) पुत्र को रक्खूँ और अनुरोध करूँ तो धर्म जाता है और भाई से विरोध होता है ॥४॥ यदि वन जाने के लिये कहती हूँ तो बड़ी हानि है। इस तरह रानी संकट और शोच के वश हो गईं ॥५॥

विशेष—(१) 'राखि न सकइ'''दुहूँ भाँति''''—प्रथम रोकने का विचार है, इसीसे 'राखि' प्रथम कहा गया। फिर समझने से दोनों प्रकार में कठिन जलन है। दोनों प्रकार की व्याख्या आगे करती हैं—"राखउँ सुतहिं''''''कहउँ जान बन तौ''''''" अर्थात् रखने में धर्म-हानि और जाने को कहूँ, तो स्नेह-हानि है।

(२) 'लिखत सुधाकर गा लिखि ''''''—राज्य-तिलक चन्द्रमा है, सबको सुखदाता है। सुधाकर कहा है, क्योंकि राम-राज्य में लोग सुधा पीनेवालों की अपेक्षा से भी अधिक सुखी होनेवाले थे, (जैसा आगे होगा, उत्तरकाण्ड में लिखा है)। वन राहु है, सबको दुःख-दाता है। 'सदा सब काहू'—सतयुग में राजा नल के ऊपर, त्रेता में श्रीरामजी पर, द्वापर में युधिष्ठिर इत्यादि पर। 'सब काहू' अर्थात् छोटे-बड़े सबके ऊपर। 'विधि गति'—कैकेयी तो सदा राम-राज्य ही माँगती थी, किंतु एकाएक मति पलट जाना, यही, तो दैवगति कहाती है। यथा—"विधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।" (दो० २००), 'गा लिखि'—से विधि का भी भावी-वश होना जनाया। वह भावी श्रीरामजी की इच्छा है—"हरि इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५); ऐसा ही राहु लिख जाने की कथा से स्पष्ट है—हिरण्यकशिपु की लड़की सिंहिका विप्रचित्ती दैत्य को ब्याही गई। ब्रह्मा ने प्रथम ही सोचा था कि चन्द्रमा और सूर्य का जन्म इसके उदर से कर दूँ तो दैत्य हिरण्यकश्यप इनका नाना होगा। इस नाते से देवता-दैत्य का विरोध मिट जायगा। सिंहिका के शिर पर 'राकेश' लिखने लगे, भावी-वश 'रा' लिख चुकने पर 'केश' की

जगह 'हु' लिखा गया। तो 'राहु' इसका पुत्र हुआ, जो सूर्य-चन्द्रमा को अत्यन्त दुःख देने लगा। वैसे यहाँ सबकी बुद्धि के देवता ब्रह्माजी ही हैं, उन्होंने सबके द्वारा श्रीराम-राज्य की ही अभिलाषा प्रकट की पर भावी-वश वनवास हो गया, जिससे श्रीरामजी घर में भी न रह पाये, एवं और भी अनर्थ शृंखला हुई। इसमें विषाद अलंकार है।

(३) 'धरम सनेह उभय'''—धर्म और स्नेह पुँल्लिंग हैं, मति स्त्रीलिंग है, दो पुरुष जैसे एक स्त्री को घेर लें, वैसे ही बुद्धि इन दोनों के फेर में पड़ी है, कुछ निश्चय नहीं कर पाती। 'भइ गति साँप छुछुंदरि केरी'—यह बात प्रसिद्ध है कि साँप चूहे के धोखे में जो कहीं छुछूँदर को पकड़ लेता है, तो वह उसे न तो निगल ही सकता है और न उगल ही। यदि निगल जाय, तो उसकी मृत्यु हो और उगल दे, तो अंधा हो जाय। वैसी ही दशा कौशल्याजी की है। ये यदि श्रीरामजी को घर रख लें तो धर्म जाना और अपयश (बंधु विरोध) होना मृत्यु के समान हो, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ६४); और जो वन जाने को कहती हैं तो स्नेह-हानि है और १४ वर्ष रोते-रोते आँख फोड़ना अंधा होना है। अतः, दोनों ही पक्ष में आपत्ति ही देखती हैं। घर रखना निगलना और वन को आज्ञा देना उगलना है।

(४) 'राखउँ सुतहि'''—'धरम जाइ' पुत्र से माता-पिता की आज्ञा भंग कराना और स्वयं पति की आज्ञा भंग करना, यह धर्म-हानि है और बंधु भरतजी से राज्य के लिये भी विरोध होगा, जिससे अर्थ-हानि भी होगी। 'कहेउँ जान वन तौ बड़ि हानी' अर्थात् धर्म-हानि और स्वार्थ-हानि की अपेक्षा वन देकर स्नेह हानि करना बड़ी हानि है। ऐसा विचारती हुई, रानी धर्म-संकट और स्नेह-शोच के विशेष वश हो गईं।

बहुरि समुझि तियधरम सयानी। राम-भरत दोउ सुत सम जानी॥६॥
सरल सुभाव राममहतारी। बोली बचन धीरधरि भारी॥७॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥८॥

दोहा—राज देन कहि दीन्ह बन, मोहिं न सो दुखलेस।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहिं प्रचंड कलेस॥५५॥

शब्दार्थ—तियधरम = पातिव्रत-धर्म। टीका = श्रेष्ठ, सर्वोपरि। लेस (लेश) = थोड़ा भी।

अर्थ—फिर प्रवीणा श्रीकौशल्याजी ने पातिव्रत-धर्म समझकर, श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनों पुत्रों को समान जाना (अर्थात् हमारे ही पति देव के दोनों ही पुत्र हैं। अतः, दोनों को हमें समान ही मानना चाहिये)॥६॥ तब सीधे (कपट-रहित स्वभाववाली श्रीरामजी की माता भारी धैर्य धरकर बोलीं॥७॥ हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुमने अच्छा किया, पिता की आज्ञा का पालन करना सब धर्मों में श्रेष्ठ है॥८॥ राज्य देने को कहकर वन दिया गया। इसका मुझे कुछ भी न शोच है और न दुःख; पर तुम्हारे बिना भरतजी को, राजा को और प्रजा को अत्यन्त तीक्ष्ण कष्ट होगा (इसी का मुझे दुःख और शोच है)॥५५॥

विशेष—(१) 'बहुरि समुझि तिय धरम···'—पहले धर्म और स्नेह में 'मति' घिरी थी। अब वह धर्म की ओर झुकी, उसी मार्ग से निकल आई, इसी से मति को 'सयानी' कहा गया। स्नेह से रामजी के रखने में केवल स्वार्थ ही था और धर्म के रखने में परमार्थ तो है ही, भरत को राम तुल्य मानने में स्वार्थ भी है। 'सरल सुभाव राम महतारी'—श्रीरामजी का सरल स्वभाव है, यथा—"सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥" (बा० दो० २३६); ये उनकी माता हैं। अतः, इनका भी स्वभाव वैसा होना ही चाहिये, क्योंकि उत्तम पदार्थ उत्तम ही क्षेत्र में होता है। कहा भी है—"रावरो सुभाव राम जन्म ही ते जानियत···" (क० अ० ४)। 'धीर धरि भारी'—वन के लिये आज्ञा देना चाहती हैं, यह बड़ा कठिन काम है। अतः, भारी धीर धरना पड़ा।

(२) 'तात जाउँ बलि···'—बड़ा नीक (अच्छा) कार्य किया। इसके प्रति निछावर करने के योग्य और पदार्थ न पाकर अपना शरीर ही निछावर करती हुई, बलिहारी जाती हैं।

'राज देन कहि दीन्ह बन···'—इसमें आक्षेप अलंकार का तीसरा भेद है।

(३) 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि···'—माता श्रीरामजी के रखने का उपाय करती हैं। यदि अपने दुःख बचाव के लिये रक्खें, तो धर्म नाश होगा, यथा—"धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू।" ऊपर कहा गया। यदि भरतजी, राजा और प्रजा के प्राण-रक्षार्थ रक्खें तो हो सकता है। भरतजी के लिये ही रखने में बंधु विरोध न होगा। पति की ही प्राण-रक्षा के लिये रखने में धर्म-विरोध नहीं, पुनः प्रजा की रक्षा के लिये रखने में पति को ही नरक से बचाना है, यथा—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (दो० ७०); यह सब कथन श्रीरामजी के वचन—'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू' के अनुसार है। किंतु मंत्री-पुत्र के वचनों से कैकेयी द्वारा वनवास होना सुना गया। उसपर लक्ष्य करके आगे कहती हैं।

जौ केवल पितु-आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥१॥
जौ पितुमातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत-अवध-समाना॥२॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खगमृग चरनसरोरुह-सेवी॥३॥
अंतहु उचित नृपहिं बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥४॥
बड़ भागी बन अवध अभागी। जो रघुबंस-तिलक तुम्ह त्यागी॥५॥

अर्थ—हे तात! जो केवल पिता की आज्ञा है तो माता को बड़ी जानकर वन को मत जाओ॥१॥ और जो पिता-माता दोनों ने वन जाने को कहा है, (तब) तो वन सैकड़ों अवध के समान है॥२॥ वन के देवता पिता के और वन की देवी माता के समान होंगे, अर्थात् रक्षा करेंगे, पक्षी और पशु तुम्हारे चरण-कमलों के सेवक होंगे॥३॥ अंत में राजा को वनवास करना उचित है, पर तुम्हारी (सुकुमार एवं नवीन) अवस्था देखकर हृदय में खेद होता है॥४॥ वन बड़ा भाग्यवान् है अवध अभागी है, जिसे रघुकुल-श्रेष्ठ! तुमने त्याग दिया॥५॥

विशेष—(१) 'जौ केवल पितु आयसु···'—ऊपर रानी ने अपना धर्म बचाकर श्रीरामजी को रखने का उपाय किया है और यहाँ की धर्म-रक्षा समेत रहने का उन्हें उपाय बतला रही हैं कि जो (तुम्हारे

कथनानुसार) केवल पिता की आज्ञा हो तो मुझे बड़ी जानकर वन न जाओ, यथा:—"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।" (मनुस्मृति); अर्थात् पुत्र के लिये पिता की अपेक्षा माता का गौरव दशगुणा है। मेरी आज्ञा से घर रहने में तुम्हें दशगुणा धर्म होगा।

(२) 'जौं पितु मातु कहेउ···'—अर्थात् जो कैकेयी समेत पिता की आज्ञा है तो वन सौ अवध के समान होगा, क्योंकि माता से भी दशगुणा विमाता (सौतेली माता) का गौरव है, "मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा।" (मनुस्मृति); अतः, पिता के राज्य से सौ गुना वन सुखदाई होगा ही। उनकी आज्ञा के पालने में बहुत धर्म का लाभ है, धर्म से ही सुख होता है। अतः, वन सौ अवध के समान सुखदायी होगा, क्योंकि—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (बा० दो० २११); ऐसा कहा है।

(३) 'पितु बन देव मातु...'—ऊपर कहा गया कि पुण्यात्मा के लिये पृथिवी मात्र सुख से छाई हुई है, उसी का विवरण यहाँ है कि वन के देवी-देवता माता-पिता का कार्य करेंगे, यथा—"देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहु नयन पलक की नाईं॥" (दो० ५६); और सेवकों का कार्य खग-मृग करेंगे, जैसे कि खग गीधराज ने इनकी सेवा में शरीर ही अर्पण किया है और मृग (वन्य पशु) वानर-भालु सुग्रीव आदि सेवक हुए हैं।

(४) 'अंतहु उचित नृपहिं बन बासू', यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६); 'बय बिलोकि'—तुम्हारी तो बाल्यावस्था ही है।

(५) 'बड़ भागी बन' यथा—"जे पुर गाँव बसहिं मग···" से "भूरि निज भागा॥" (दो० ११२) तक। तथा—"सो बनु सैल सुभाय सुहावन।···"से "कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन।" (दो० ११८) तक।

जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू ॥६॥
पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के ॥७॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥८॥

दोहा—यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ ॥५६॥

अर्थ—हे पुत्र ! जो मैं कहूँ कि मुझे साथ ले चलो, तो तुम्हारे हृदय में संदेह होगा ॥६॥ हे पुत्र ! तुम सभी के परम प्रिय हो, प्राणों के प्राण और जीवों के जीवन हो ॥७॥ वही तुम मुझसे कहते हो—"माता ! मैं वन जाता हूँ"—और मैं इन वचनों को सुनकर बैठी हुई पछताती हूँ ॥८॥ यह विचार कर झूठा स्नेह बढ़ा कर हठ नहीं करती, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। माता का नाता मानकर मेरी सुधि न भूल जाय ॥५६॥

विशेष—(१) 'तुम्हरे हृदय होइ संदेहू।'—यह संदेह होगा कि माता को संग कैसे लूँ, क्योंकि पिता उपस्थित हैं, उन्हें ऐसी दशा में छोड़कर इन्हें न जाना चाहिये। यह पातिव्रत धर्म के विरुद्ध है, यथा—"चरिमन्पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथं

विदन्या विधवेव नारी ॥" (वाल्मी० २।२।६१) । और यदि संग मे नहीं लेता हूँ, तो आज्ञा-भंग दोष होता है, तुम इस दुविधा रूप संदेह में पड़ोगे ।

(२) 'पूत परमप्रिय तुम...' यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी ।" (बा० दो० २१५); 'प्रान-प्रान के' यथा—"कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।" (तैत्ति० २।७); अर्थात् प्राणों की सत्ता ब्रह्म से है । 'जीवन जी के' यथा—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुप जीवन्ति ।" (बृह० ४।३।३२) ; अर्थात् इसी आनन्द रूप ब्रह्म की आनन्द-मात्रा से अन्य जीव जीते हैं । तथा—"प्रान-प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम ।" (दो० २९०) ।

(३) 'ते तुम कहहु...मैं सुनि...'—जो अन्य प्राणी मात्र के परम-प्रिय आदि हैं, वे ही मुझसे वन जाने कहते हैं, मैं माता बनी हुई भी जीती बैठी हूँ; अर्थात् इसपर तो हृदय फट जाना चाहता था, यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान ।" (दो० ६०) ; पर न फटा, तो कैसी माता ? यथा—"राम लषन सिय बनहि सिधाये ।...तजा न तन प्रान अभागे ।...मोर हृदय सत कुलिस समाना ॥" (दो० १६५) । (माता बैठी पछताती हैं । इन्होंने पूर्व ही अलौकिक विवेक वर पाया है, वही इन्हें जिलाता है ।)

(४) 'यह बिचारि नहि करउँ हठ ''''—यदि तुम्हारा वन-गमन सुनकर भी प्राण न निकले, तो स्नेह झूठा है और इसीसे मेरा मातृभाव झूठा है । किंतु हे तात ! जो तुमने अपनी ओर से मुझमें मातृभाव माना है, उससे मेरी सुधि बनाये रखना । कहा है—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।" इस दृष्टि से मेरा स्नेह सर्वथा झूठा ही है ।

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं । राखहु नयन-पलक की नाईं ॥१॥
अवधि अंबु प्रियपरिजन मीना । तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥२॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई । सबहि जियत जेहि भेंटहु आई ॥३॥
जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ । करि अनाथ जन-परिजन गाऊँ ॥४॥

अर्थ—हे गोसाईं ! सब देवता और पितर पलक-नयन की तरह तुम्हारी रक्षा करें ॥१॥ अवधि (१४ वर्ष की) जल है, प्रिय लोग और कुटुंबी मछली हैं, तुम करुणा की खान और धर्मधुरीण हो ॥२॥ ऐसा विचार कर वही उपाय करो, जिससे सबको जीते-जी आकर मिलो ॥३॥ मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम सेवक, कुटुंबी और नगर-भर को अनाथ करके, सुख-पूर्वक वन को जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'देव पितर सब तुम्हहिं...'—'गोसाईं' अर्थात् तुम पृथिवी के स्वामी हो, पृथिवी की रक्षा के लिये जाते हो, (धर्म से पृथिवी की रक्षा होती है, तुम श्रेष्ठ धर्म के मार्ग पर जा रहे हो ।) अतः, इन्द्र आदि ३३ कोटि देवता ऊपर की पलक की तरह और अर्यमा आदि पितृगण नीचे की पलक की तरह तुम्हारी रक्षा करें, यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे । पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥" (दो० १४१) ; क्योंकि अपने धर्माचरण से तुम सबको नेत्र के समान प्रिय हो । नेत्र सब अंगों की अपेक्षा अत्यन्त कोमल हैं । उनकी रक्षा भी पलकें निरंतर करती हैं । जाग्रत् में तृण भी नहीं पड़ने देतीं और सोते समय ढँके रहती हैं । प्रथम वन के देवी-देवता को माता-पिता की तरह कहा गया था । यहाँ स्वर्गस्थ देवताओं को कहा है ।

(२) 'अवधि अनु प्रिय ''' '—प्रिय परिजन १४ वर्ष किसी तरह जियेंगे। इस अवधि की पूर्त्ति पर प्रथम दिन ही न आने पर सब तुरत प्राण त्याग देंगे, यथा—"तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु-चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि पैहौ॥" (गी० बा० ७१)। यह श्रीभरतजी ने कहा है। 'धरमधुरीन' हो, अतएव पिता की आज्ञा के पालन करने को वन जाओ और 'करुनाकर' हो, अतः, प्रिय-परिजन पर दया करके ठीक अवधि पर आ जाओ, अन्यथा ये न जियेंगे।

(३) 'अस बिचारि' अर्थात् उपर्युक्त 'करुनाकर' के हेतुभूत भावों को। 'सोइ करहु ''''''—अवधि पर ठीक-ठीक आने का उपाय, अन्यथा ये प्रिय परिजन जीते न मिलेंगे।

(४) 'जाहु सुखेन बनहिं''' '—श्रीरामजी ने कहा था—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद-मंगल कानन जाता॥" (दो० ५२); उसके प्रति माता कहती हैं 'जाहु सुखेन'—क्योंकि वन जाना धर्म है, उसका फल सुख है। 'बलि जाऊँ'—इसका सम्बन्ध आगे से है कि जिससे इन—'जन परिजन गाउँ' को शीघ्र आकर सनाथ करो। 'करि अनाथ जन'''—इन सबके एकमात्र तुम ही नाथ हो—"जेहि चाहत नर नारि सब'''जिमि चातकि चातक ''" पर कहा गया। जन, परिजन, गाँव का अनाथ होना कहा, क्योंकि ये सब श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" "जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। ' अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ॥" (उ० दो० ३); अतः, इनके स्नेह से शीघ्र लौटेंगे। आगे भी कहेंगे—"चलत राम लखि अवध अनाथा।" (दो० ८२); इस समय राजा अचेत ही हैं, ये दो भाई वन ही जायँगे तो अयोध्या अनाथ होती ही है।

सबकर आजु सुकृतफल बीता। भयेउ कराल काल बिपरीता॥५॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥६॥
दारुन-दुसह-दाह उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलापकलापा॥७॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदुबचन बहुरि समुझाई॥८॥

दोहा—समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु-पद-कमल-जुग, बंदि बैठि सिर नाइ॥५७॥

अर्थ—आज सबके पुण्यों का फल समाप्त हो गया और उलटा कठिन काल हो गया॥५॥ इस तरह बहुत प्रकार से विलाप करके चरणों में लपट गई और अपनेको परम अभागिनी जाना॥६॥ हृदय में कठिन और दुःख से सहने योग्य पूर्ण दाह हो गया। विलाप का कलाप (समूह) वर्णन नहीं किया जा सकता॥७॥ श्रीरामजी ने माताजी को उठाकर हृदय से लगाया और फिर कोमल वचनों से कहकर समझाया॥८॥ उसी समय समाचार सुनकर सीताजी अकुला उठीं पुन. सास के पास जा उनके दोनों चरण-कमलों की वंदना की और शिर नीचे करके बैठ गईं॥५७॥

विशेष—(१) 'सबकर आजु सुकृत'''—पूर्व कर्म (धर्म) के अनुसार ही काल होता है। अतः, कराल काल का उदय देखकर सुकृत फल का बीतना कहा है। 'बिपरीता'—क्योंकि राज्य होते हुए वन हुआ, सुख की जगह दुःख हुआ।

(२) 'बहु बिधि बिलपि चरन···'—'बिलपि' अर्थात् उपर्युक्त बातें रोकर कही गईं। अयोध्या को अभागी कहा है—"बड़भागी बन अवध अभागी।" (दो॰ ५५); और यहाँ अपनेको 'परम अभागिनि, कहा; अर्थात् अयोध्या-भर में मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई नहीं है। व्याकुलता से चरण में लपट गईं। यद्यपि यह माधुर्य दृष्टि से ठीक नहीं है, पर यहाँ आर्त दशा है। अतः, दोष नहीं, क्योंकि—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो॰ २६८); कहा है।

(३) 'दारुन दुसह दाह उर ब्यापा···'—'उर ब्यापा' से भीतर की दशा कही और 'बिलाप कलापा' से बाहर का हाल कहा। विलाप को स्मरण से ही कवि का हृदय दुखित हो जाता है। अतः, कहा नहीं जाता।

(४) 'कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई।'—'बहुरि' अर्थात् पूर्व की तरह, यथा—"बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥" (दो॰ ५३); उसी को यहाँ संकेत से जना दिया।

(५) 'समाचार तेहि समय···'—'तेहि समय' अर्थात् जिस समय माता का विलाप हुआ—'बरनि न जाइ बिलाप कलापा' तभी किसी से कारण पूछने पर जाना। पति के समक्ष में सास के पास आईं, क्योंकि आपत्काल में मर्यादा पर ध्यान नहीं रहता। 'पद कमल जुग' पद से 'बंदि' भिन्न कहा गया, क्योंकि ये इन चरणों से अब पृथक् होंगी।

दीन्हि असीस सासु मृदुबानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥१॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति-प्रेम-पुनीता॥२॥
चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥३॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि-करतब कछु जाइ न जाना॥४॥

अर्थ—सास ने कोमल वाणी से आशिष दी, (सीताजी को) अति सुकुमारी देखकर वे घबड़ा गईं (क्योंकि चेष्टा से एवं पूर्व धृति से जान गईं कि ये अवश्य साथ जायँगी तो वन के क्लेश कैसे सहेंगी ?)॥१॥ रूप की राशि और पति में पवित्र प्रेमवाली श्रीसीताजी शिर झुकाये हुए बैठी सोचती हैं॥२॥ जीवन के स्वामी वन को चलना चाहते हैं, किस सुकृती (पुण्यात्मा) से उनका साथ होगा ?॥३॥ क्या तन और प्राण दोनों (सुकृती) से या कि केवल प्राण ही से ? ब्रह्मा का कर्त्तव्य क्या है, कुछ जाना नहीं जाता॥४॥

विशेष—(१) 'बैठि नमित मुख सोचति सीता।'—पूर्व दोहे में कहा गया—'बैठि सिर नाइ' उसी मुद्रा से बैठी हुई सोच रही हैं। यहाँ उसकी क्रिया कहते हुए प्रसंग मिलाया। 'रूप राशि' से शरीर की शोभा और 'पति प्रेम पुनीता' से हृदय एवं प्राण की शोभा कही। कवि सूचित करते हैं कि ये दोनों ही सुकृती हैं और साथ जायँगे। इसपर सीताजी का विचार आगे है।

(२) 'चलन चहत बन जीवन···'—'जीवन नाथू' अर्थात् मेरा जीवन पति के साथ बिना नहीं है। 'केहि सुकृती' यदि साथ ले गये तो मानों तन और प्राण दोनों ही सुकृती हैं, अन्यथा समझूँगी कि केवल प्राण ही सुकृती है; अर्थात् प्राण छोड़ दूँगी। इस तरह प्राणों को तो साथ कर ही दूँगी, यथा—"गइउँ न संग न प्रान पठाये।" (दो॰ १९५) 'कि तनु प्रान कि···'—इसमें विकल्प अलंकार है।

(३) 'बिधि करतब कछु जात न जाना।'—संयोग-वियोग करना विधि का कर्तव्य है, उसे दूसरा नहीं जान सकता, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)। अतः, तन-प्राण का संयोग अथवा प्राणमात्र का संयोग होगा, इसे विधाता ही जाने, मुझसे तो कुछ भी जाना नहीं जाता।

चारु चरननख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥५॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीयपद जनि परिहरहीं॥६॥
मंजुबिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम - महतारी॥७॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहिं पिआरी॥८॥

दोहा—पिता जनक भूपालमनि, ससुर भानु - कुल - भानु।
पति रबि - कुल - कैरव - बिपन - बिधु गुन-रूप-निधानु॥५८॥

अर्थ—अपने सुन्दर चरणों के नखों से पृथिवी पर लिखती हैं (यह शोच की मुद्रा है), नूपुरों में जो मधुर शब्द हो रहा है, उसे कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं॥५॥ कि मानों प्रेम के वश वे (श्रीरामजी से) विनती करते हैं कि हमें सीताजी के चरण न त्यागें॥६॥ सुन्दर नेत्रों से जल बहा रही हैं, यह देखकर श्रीरामजी की माता बोलीं॥७॥ हे तात! सुनो, सीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं। सास, ससुर और कुटुम्बी सभी को प्यारी हैं॥८॥ इनके पिता जनकजी राजाओं में शिरोमणि हैं, श्वसुर सूर्य कुल के सूर्य (चक्रवर्त्ती श्रीदशरथजी) हैं और पति सूर्य कुल रूपी कुईं के वन के (प्रफुल्लित करने के) लिये चन्द्रमा और गुण एवं रूप के निधान हैं॥५८॥

विशेष—(१) 'लेखति धरनी'—यह स्त्रियों के शोच की मुद्रा है कि वे सहज ही नखों से भूमि खोदने लगती हैं। 'हमहिं सीय पद····'—भाव यह कि आप जो साथ ले चलें, तो श्रीसीताजी हमें चरणों में रक्खेंगी, अन्यथा वे विरह में निकालकर फेंक देंगी। 'लेखति धरनी' यथा—"पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥ जनु करुनाबहु बेष बिसूरति (दो० १८०)।

'मनहुँ प्रेमबस ···'—इसमें सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) 'मंजु बिलोचन····'—पहले जानकीजी को रूप राशि कह आये। अब प्रसंगत उनके प्रत्येक अंग की शोभा पृथक्-पृथक् कहते हैं। यहाँ नेत्रों की शोभा कही है कि ये पति-वियोग भय से आँसू गिरा रहे हैं। आगे 'चंद बदनि दुख कानन भारी।' में मुख की एवं—'चारु चरन नख लेखति धरनी।' में साथ चलने की आतुरी में चरणों की और साथ के लिये विनय करने के संबंध से नूपुर के शब्दों को मधुर कहा है। 'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।'—पूर्व—"अति सुकुमारि देखि अकुलानी।" पर से प्रसंग छोड़ा था यहीं से पुनः लेते हैं। 'राम महतारी'—क्योंकि श्रीरामजी की तरह धीर हैं।

(३) 'पिता जनक भूपाल···'—'भूपाल मनि', यथा—"पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पद पीठा॥" (दो० ९७), 'पति रबि कुल कैरव बिपिन, बिधु ···'—राजा को सूर्य कहा, तो श्रीरामजी को चन्द्रमा, क्योंकि चन्द्रमा सूर्य का अंश है, वैसे ही राजा के पुत्र रूप अंश श्रीरामजी हैं। इनको भी सूर्य कहने से पिता की बराबरी होगी, यह सँभाल है। 'गुन रूप निधान'—चन्द्रमा अवगुण

का निधान है—"अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।" (बा० दो० २३७); पर श्रीरामजी में अवगुण नहीं हैं, प्रत्युत ये गुण के निधान हैं। चन्द्रमा के क्षयी रोग है, इससे वह मलीन रहता है, पर श्रीरामजी रूप के निधान हैं। 'रविकुल कैरव बिपिन' से 'बिधु' शब्द को भिन्न चरण में रखकर कवि दिखाते हैं कि अब ये इस कुल से पृथक होकर वन को जा रहे हैं। इनसे कुल रूपी कुई का वन तबतक संपुटित (उदास) रहेगा।

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई ॥१॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥२॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥३॥
फूलत फलत भयेउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा ॥४॥

अर्थ—फिर मैंने रूप की राशि सुन्दर गुणवती और शीलवती प्यारी बहू पाई ॥१॥ मैंने जानकीजी को आँखों की पुतली बनाकर इसमें प्रीति बढ़ाई है और अपने प्राण इसमें हो लगा रक्खे हैं ॥२॥ कल्पलता की भाँति (इसका) मैंने बहुत प्रकार से लालन पालन किया और स्नेह रूपी जल से सींच कर इसका प्रतिपालन किया ॥३॥ फूलते-फलते समय ब्रह्मा टेढ़े (उल्टे) हो गये, जाना नहीं जाता कि क्या परिणाम होगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि पुत्र बधू ···'—जैसी बहू मैंने पाई, वैसी औरों को दुर्लभ है। 'रूपरासि' कहकर 'गुन सील सुहाई' कहा, क्योंकि बिना गुण-शील के रूप की शोभा नहीं। 'पुनि' शब्द मैं के साथ जोर देने के लिये भी होता है, इसका कुछ अर्थ नहीं होता। ऐसा मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी।" (दो० ११); इत्यादि। रूप और गुण से प्रायः अहंकार होता है, पर यह शीलवती है। इसमें यह दुर्लभता है।

(२) 'नयन पुतरि करि प्रीति ···'—'नयन पुतरि करि' अर्थात् अत्यन्त प्रिय बनाकर, यथा—"बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥" (बा० दो० ३५४); यह राजा की आज्ञा थी, वैसा ही इन्होंने रक्खा है। तथा—"जौ बिधि पुरव मनोरथ काली। करउँ तोहि चख पूतरि आली॥" (दो० १२)। 'प्रीति बढ़ाई' अर्थात् प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ाती ही थी। 'नयन पुतरि करि'—तन से प्रीति करना है, 'प्रीति बढ़ाई'—मन से और 'राखेउँ प्रान···'—यह प्राण से प्रीति करना है; अर्थात् तन, मन, प्राण, इन तीनों से प्रीति करती थी।

(३) 'बहु बिधि लाली'—श्रीजानकीजी ब्याह कर आईं, तब बालिका थीं। अतः, लालन (दुलार) करना एवं पालन करना कहा है। उपर्युक्त तन, मन, प्राण से स्नेह के साथ पालन करने को 'बहु बिधि' कहा है।

(४) 'फूलत फलत भयेउ···'—राज्य सुख भोगतीं, रानी होतीं, यह फूलना और संतान होना फलना है। 'जानि न जाइ···' अर्थात् अब वन जाने से न जाने क्या हो ? यह फूलने-फलने का सुख देखने को मिले या नहीं।

पलँग-पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ॥५॥
जिवनमूरि जिमि जोगवत रहेउँ। दीपबाति नहिं टारन कहेउँ ॥६॥

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा ॥७॥
चंद - किरन - रस-रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी ॥८॥

दोहा—करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिषबाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवनि मूरि ॥५९॥

शब्दार्थ—पलँग-पीठ = पलँग की कोमल शय्या, पीठमासनमिति—अमरकोशे। पीठ का पीढ़ा अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ कोमलता का प्रसंग है—पलँग और सिंहासन भी।

अर्थ—सीताजी ने पलँग के (कोमल) आसन, गोद और हिंडोला छोड़कर कभी कठोर भूमि पर चरण नहीं रक्खा ॥५॥ जीवन मूरि की तरह मैं इनकी रक्षा करती रही हूँ, दीपक की बत्ती उसकाने (घटाने-बढ़ाने) तक को नहीं कहा ॥६॥ वही सीताजी तुम्हारे साथ वन को चलना चाहती हैं, हे रघुनाथजी! क्या आज्ञा होती है? ॥७॥ चन्द्रमा की किरणों के रस को भोगनेवाली चकोरी (भला) सूर्य के सामने कैसे आँख मिला सकती है; अर्थात् ये सदा राज्य सुख भोगनेवाली वन की विपत्ति कैसे सहेंगी? ॥८॥ हाथी, सिंह, निशाचर (एवं) और भी बहुत दुष्ट जन्तु वन में विचरते रहते हैं। हे पुत्र! क्या विष की वाटिका में सुन्दर संजीवनी बूटी सोहती है? (कभी नहीं) ॥५९॥

विशेष—(१) पलँग-पीठ तजि '''''—बाल्यावस्था में गोद और हिंडोले पर क्रीड़ा करती थीं। सयानी होने पर पलँग की कोमल शय्या पर रहती थीं, पुनः पैदल भी चलती थीं, तो गुल-गुले वस्त्रों के पाँवड़े पर ही, कठोर भूमि पर तो इन्होंने कभी पैर ही नहीं रक्खा, फिर वन की कठोर कँकरीली एवं कँटीली भूमि पर ये कैसे चलेंगी?

(२) 'जिवन मूरि जिमि''''''—पहले कल्पवेलि की उपमा दी थी, फिर जीवन-मूरि की, भाव यह कि हमारे मनोरथ-पूर्ति के लिये कल्पलता और मुझे जीवित रखने के लिये सञ्जीवनी बूटी के समान हैं। 'दीप बाति नहिं'''—दिया की बाती उसकाना, यह मुहावरा है; अर्थात् अत्यन्त हलका काम भी करने को नहीं कहा।

(३) 'सोइ सिय चलन चहति''''''—'सोइ' अर्थात् उपर्युक्त सुकुमारी एवं लाड़िली, सुकुमारता दिखाकर आज्ञा पूछने का भाव यह कि हमारी रुचि तो है कि ये घर ही में रहें, जैसा आगे स्पष्ट कहा है—"जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। मोहिं कहँ होइ बहुत अवलंबा॥" (दो० ५६); यही आज्ञा दो, ऐसा नहीं कहतीं, अन्यथा माता के अनुरोध से श्रीरामजी को हठात् वैसी ही आज्ञा देनी पड़े। पर कहती हैं—'आयसु काह' अर्थात् तुम अपने विचार से जो रुचे, वैसी आज्ञा दो।

(४) 'चंद-किरन-रस रसिक''''''—यहाँ अयोध्या चन्द्रमा, यहाँ के अनेक सुख चन्द्र-किरण-रस और श्रीजानकीजी उसकी रसिक चकोरी हैं। वन-रवि, दुःख-सूर्य-किरण के ताप और वहाँ को जाना सम्मुख दृष्टि करना है।

(५) 'करि केहरि निसिचर''''''—विष-वाटिका विषैले वृक्षों से पूर्ण है, वैसे वन करि, केहरि, निशाचर और दुष्ट जन्तु (बिच्छू, साँप आदि) से पूर्ण है। विषैले वृक्षों के बीच में संजीवनी बूटी नहीं सोहती, वैसे ही उक्त दुष्ट जीवों के बीच में श्रीजानकीजी न सोहेंगी। सजीवनी बूटी विष की झाड़ से सूख जाती है, वैसे ही ये उक्त करि-केहरि आदि के भय से सूख जायँगी; अर्थात् अत्यन्त डर जायँगी।

घृत छोटे-बड़े दो प्रकार के होते हैं, वैसे करि, केहरि और निशाचर, इन दुष्ट जीवों को एक कोटि कही गई। ये बड़े घृत हैं और छोटे-छोटे जन्तु साँप-बिच्छू आदि दूसरी कोटि के छोटे घृत हैं। 'चरहिं' अर्थात् वे विचरते रहते हैं, जहाँ रहो, वहीं पर आकर घात करते हैं। 'सुभग' अर्थात् संजीवनी में गुण होते हैं, पर वह सुन्दर नहीं होती, ये सुन्दरी भी हैं। इसलिये 'सुभग-सजीवन-मूरि' कहकर उपमा दी।

बनहित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय सुख-भोरी ॥१॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेस न कानन काऊ ॥२॥
कै तापसतिय काननजोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू ॥३॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती ॥४॥

शब्दार्थ—हित=लिये। किसोरी (किशोरी)=लड़की। पाहन कृमि=पत्थर का कीड़ा, जो पत्थर को खाता है। लिखित=खिंची हुई, उतरी हुई। भोरी=अज्ञान।

अर्थ—वन के लिये कोल-किरात की लड़कियाँ बनाई गई हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने विषय (भोग-विलास) को न जाननेवाली बनाया है ॥१॥ उनका पत्थर के कीड़े की तरह कठोर स्वभाव होता है। अतः, उन्हें वन में कभी दुःख नहीं होता ॥२॥ अथवा तपस्वियों की स्त्रियाँ (वा, तपस्विनी स्त्रियाँ) वन के योग्य हैं, जिन्होंने तपस्या के लिये सब भोग (ऐश्वर्य-सुख) को त्याग दिया है ॥३॥ हे तात ! सीताजी वन में किस तरह बसेंगी ? जो तसवीर के बने हुए बन्दर को देखकर डरती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'पाहन कृमि जिमि कठिन''''''—पत्थर का कीड़ा उसी में पैदा होता है, वही खाता है और सहज ही में गर्मी, सर्दी, वर्षा सहता है। वैसे ही वे कोल-किरात की लड़कियाँ वन में ही पैदा होती हैं, उनका कठिन स्वभाव होता है; वे उत्तम भोगों की व्यवस्था जानती ही नहीं, वन की ही वस्तुओं से निर्वाह करने में सुख मानती हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा सहज ही सहती हैं। 'काऊ'—जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि कभी भी। कीड़ा पत्थर काटता है, ये जाड़ा आदि। इनमें स्वभावतः सहन-शक्ति है। श्रीजानकीजी तो भूमिजा हैं, इनका उत्पत्तिस्थान कोमल है, फिर ये कैसे सहेंगी ?

(२) 'कै तापस तिय ···'—इन्होंने युवा अवस्था के सब भोगों को भोग लिया है, तब चौथेपन में तप करने गई हैं। भोगों को जानती हैं, पर तप के लिये भोगों को त्याग करती हैं, यथा—"बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥" (दो० १७२); अर्थात् भोग तप का बाधक है। ये उपर्युक्त कोल-किरात की लड़कियों से सहन में नीचे हैं, क्योंकि वे तो वन के क्लेश को क्लेश जानती ही नहीं और इन्हें क्लेश का ज्ञान है, पर उसे सहकर निवास करती हैं। वैसे क्रम से नीचे लिखी गई हैं। श्रीजानकीजी ने भोगों का त्याग नहीं किया है, तो ये कैसे वन जा सकती हैं ?

(३) 'सिय बन बसिहि तात''' ''—जो बन्दर का चित्र देखकर डरती हैं, वे साक्षात् सिंह, व्याघ्र आदि को कैसे देख सकेंगी ? अर्थात् तन कोमल और स्वभाव-भीरु है। अतः, ये वन के योग्य नहीं हैं।

सुर-सर-सुभग बनज-बन चारी। डाबर-जोग कि हंसकुमारी ॥५॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥६॥
जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥७॥

सुनि रघुबीर मातु - प्रिय - बानी । सील सनेह सुधा जनु सानी ॥८॥

दोहा—कहि प्रियबचन बिवेकमय, कीन्ह मातु - परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहि, प्रगटि बिपिन-गुन-दोष ॥६०॥

शब्दार्थ—चारी = विचरनेवाली । सुरसर = देवसर, जैसे मानससर, नारायणसर आदि । ठावर = गड्ढा ।

अर्थ—सुन्दर मानस-सर के सुन्दर कमल वन में विचरनेवाली हंस-कुमारी क्या गड्ढे में रहने के योग्य है ? ॥५॥ ऐसा विचार कर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो, वैसी ही शिक्षा मैं जानकीजी को दूँ ॥६॥ माताजी कहती हैं (अर्थात् फिर बोलीं) कि जो श्रीसीताजी घर रहें तो मुझको बहुत सहारा हो जाय ॥७॥ रघुबीर श्रीरामजी ने मानों शील स्नेह-रूपी अमृत में सनी हुई माताजी की प्रियवाणी सुनकर ॥८॥ विवेक से भरे हुए प्रिय वचन कहकर माता को संतुष्ट किया । फिर वन के गुण-दोष प्रकट कहकर श्रीजानकीजी को प्रबोध करने लगे ॥६०॥

विशेष—(१) 'सुर-सर-सुभग बनज ...'—हंस-कुमारी मानससर में रहती है, कमलवन में विचरती और मोती चुनती है । वैसे ही अयोध्या मानससर है । अनेक प्रकार के फर्श, गलीचा आदि कमल वन हैं और अनेकों प्रकार के भोग मोती हैं, श्रीजानकीजी हंस-कुमारी हैं । डाबर में शूकर लोटते हैं, उसमें साफ जल भी नहीं मिलता तो वहाँ हंस-कुमारी के चुनने को क्या है ? वैसे वन में पहाड़ी जल पीना, कंदमूल फल आदि खाना होता है और काँटे-कंकड़ों में चलना होता है सो वहाँ इनका निर्वाह नहीं हो सकता ।

यहाँ कौशल्याजी बार-बार 'सिय' शब्द का प्रयोग करके इनकी कोमलता सूचित करती हैं । पुनः यहाँ चार उपमाओं से श्रीजानकीजी के क्रमशः मन, त्वचा, नेत्र और जिह्वा के दुःख वन में कहे गये । १—कोल-किरात की लड़कियों के 'पाहन कृमि जिमि स्वभाव' से इनके मन का, २—'तापस तिय' से सहने में त्वचा का, ३—कपि चित्र' से नेत्र का और 'हंस-कुमारी' से जिह्वा का दुःख कहा, अर्थात् किसी तरह ये वन के योग्य नहीं हैं ।

(२) 'अस बिचारि जस आयसु ...'—अर्थात् इस विषय में इसपर मैं आज्ञा नहीं दे सकती, किन्तु तुम्हारी आज्ञानुसार शिक्षा दे सकती हूँ ।

(३) 'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'—अर्थात् जहाँ कोई अवलंब नहीं, वहाँ इनसे बहुत आधार होगा, क्योंकि ये श्रीरामजी के समान प्रिय हैं, इसीलिये चक्रवर्त्तीजी ने भी कहा है—"एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा । फिरइ त होइ प्रान अवलंबा ॥" (दो० ८१) । 'बहुत' का भाव यह अवलंब तो सबको तथा राजा को भी होगा, पर हमको बहुत अवलंब होगा, क्योंकि ये अधिकतर मेरे ही पास रहेंगी ।

(४) 'सुनि रघुबीर मातु ...'—'प्रिय'—क्योंकि वचन धर्म के अनुकूल हैं । 'सील'—क्योंकि माता होती हुई भी आज्ञा नहीं देती, किन्तु कहती हैं—'जस आयेसु होई, 'मैं सिख देउँ' । 'स्नेह'—"जौं सिय भवन रहै ... मोहि कहँ होइ ..." इत्यादि, सब वाणियों में शील-स्नेह भरा है ।

(५) 'कहि प्रिय बचन बिबेकमय' ...'—प्रिय वचन से उपदेश धारण होता है । माता ने भी प्रिय वचन ही कहा था । विवेकमय वचन कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने माताजी को अलौकिक विवेक पहले ही से दे रक्खा है—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे । कबहुँ न मिटिहि ..." (बा० दो० १५०) उसीका उद्दीपन कराया । इससे माता को संतोष हुआ । 'लगे प्रबोधन...' 'लगे' से जनाया कि इन्हें बड़ी देर तक

समझाना पड़ेगा। माता ने वन के दोष कहे थे, वैसे ही श्रीरामजी भी वन जाने में दोष और न जाने में गुण दिखाते हुए समझाते हैं। माता का मन तो विवेक से स्थिर कर दिया, पर इन्हें नर-नाट्य की रीति से कह रहे हैं, इन्हें साथ जाना ही है।

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं ॥१॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू ॥२॥
आपन मोर नीक जौ चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू ॥३॥
आयसु मोरि सासु-सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥४॥

अर्थ—माताजी के पास में श्रीजानकीजी से बोलने में सकुचते हैं (लज्जा लगती है), किन्तु मन में यह समझ कर कि बोलने ही का अवसर आ पड़ा है, वे बोले ॥१॥ हे राजकुमारी! मेरी शिक्षा सुनो, हृदय में कुछ और प्रकार न विचारो ॥२॥ अपना और मेरा जो भला चाहती हो तो मेरा वचन मानकर घर में रहो ॥३॥ मेरी आज्ञा (पालने से) और सास की सेवा से, हे भामिनि! घर में रहने में सब तरह से भलाई है ॥४॥

विशेष—(१) 'मातु समीप कहत...'—माता के सामने पत्नी से बात करना लोक-मर्यादा की दृष्टि से अनुचित है। यही संकोच है; पर यह आपत्ति का समय है। माता के सामने ही यदि हम उनका दुःख कहकर इन्हें समझावें और रोकें तो ठीक होगा। इससे बोले।

(२) 'राजकुमारि'—सम्मानार्थ सम्बोधन है। पुनः यह भी भाव है कि राजा धीर होते हैं, तो राजकुमारी को भी धीर होना चाहिये। 'आन भाँति...' अर्थात् इन निवारण की बातों से यह न समझो कि हम तुम्हें त्याग रहे हैं। वा, जो प्राण-त्याग का विचार करता हो, वह न करो। यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" किन्तु मैं जो कहूँ, उसे सुनो।

(३) 'आपन मोर नीक...'—घर में तुम्हारे रहने से हम-तुम दोनों का भला है। इस तरह कि तुम सास की सेवा करोगी तो हमारा-तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा। पुनः तुम वन के क्लेश से बचोगी और हम तुम्हारी रक्षा की झंझट से बचेंगे। परदा भी बना रहेगा और हमारी आज्ञा के पालन से उत्तम धर्म को भी पाओगी।

(४) 'आयसु मोरि सासु...'—'भामिनि' पद का अर्थ मानवती एवं क्रोधवती स्त्री है। इससे वाल्मीकि के वचन—"चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्। क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत् ॥" (२।२९।२४) एवं इसके सम्बन्ध की बातें आ गई। इसी प्रसंग में श्रीजानकीजी ने प्रणय के अभिमान से कहा है—"किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः। राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥" (२।३०।३) अर्थात् मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनकजी ने आपको पुरुष शरीरधारी स्त्री नहीं समझा था, अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया, इत्यादि भामिनि शब्द से ग्रंथकार ने युक्ति से सूचित कर दिया।

एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥५॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी ॥६॥

तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझायेहु मृदु बानी ॥७॥
कहउँ सुभाव सपथ सत मोही। सुमुखि मातुहित राखउँ तोही ॥८॥

दोहा—गुरु श्रुति-संमत धरम फल, पाइय बिनहिं कलेस।
हठबस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस ॥६१॥

अर्थ—आदरपूर्वक सास-ससुर के चरणों की पूजा से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है ॥५॥ जब-जब माता मेरी सुधि करेंगी तब-तब वे प्रेम से व्याकुल हो जायँगी, क्योंकि वे मति की भोरी हैं ॥६॥ हे सुंदरी! तब-तब तुम पुराण की कथाएँ कह-कहकर कोमल वाणी से उन्हें समझाना ॥७॥ हे सुमुखि! मैं स्वभाव से ही कहता हूँ (बनाकर नहीं), मुझे सैकड़ों शपथ है कि मैं तुम्हें माता के लिये घर पर रखता हूँ ॥८॥ गुरु और वेद की सम्मति से जो धर्म का फल है, वह बिना क्लेश के ही प्राप्त हो जाता है। हठ के वश होने से गालव मुनि और राजा नहुष आदि सबों ने संकट सहा है ॥६१॥

विशेष—(१) 'येहि ते अधिक धरम ...'—श्रीजानकीजी पातिव्रत-धर्म की दृष्टि से पति-सेवा के लिये वन को चला चाहती हैं। उसपर आप कहते हैं कि हमारे भी पूज्य हमारे माता-पिता हैं। हमारी सेवा से उनकी सेवा का अधिक फल है। सास-ससुर तुम्हारे देव के भी देव हैं। 'सादर' अर्थात् केवल मेरी आज्ञा मान विवश होकर नहीं, किंतु श्रद्धा-भक्ति सहित सेवा करना।

(२) 'जब जब मातु करिहि सुधि ...'—माता की व्याकुलता दूर करने के लिये पुराणों की कथा कहकर समझाना। तुम्हारी मृदु वाणी से माता को धैर्य हो जायगा। तुम्हारे वचनों से विशेष धैर्य होगा, क्योंकि तुम उन्हें प्रिय हो। यही समझाने की सेवा करना और और सेवाओं के लिये तो दास-दासी हैं ही। 'मति भोरी'—क्योंकि भोरी मति को सावधान करनेवाली (ऐश्वर्य देश में) तुम्हीं हो। यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (बा० दो० १७)।

(३) 'सपथ सत मोही'—श्रीजानकीजी कहीं यह न मान लें कि माता के समझाने को गुरु-पत्नी आदि मुनियों की स्त्रियाँ बहुत हैं, यह मुझे त्यागने का बहाना-मात्र है। अतः विश्वास कराने के लिये शपथ करते हैं। सैकड़ों शपथ में सबकी शपथ आ गईं, जितनी हो सकती हैं। अतः, नाम लेकर करने से उतनी ही (परिमित) होतीं। 'सुमुखि'—इस सुंदर मुख से समझाकर माता का हित करना, इसी में मुख की सुंदरता है।

'गुरु श्रुति संमत ...'—पति का आज्ञा-पालन और सास-ससुर की सेवा करना—यही गुरु और वेद का सिद्धान्त है। केवल वेद-वाक्य में संदेह का भ्रम रहता है, गुरु के द्वारा वह असंदिग्ध हो जाता है। इसलिये दोनों के द्वारा उक्त धर्म को पुष्ट किया। इस धर्म का फल स्वर्ग है। वह बिना क्लेश के ही सास-ससुर की सेवा से प्राप्त हो रहा है। अन्यथा ऐसे फल के लिये अन्य धर्मों में बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। यथा—"सिबि दधीचि हरिचन्द नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥" (दो० ६४)।

(४) 'हठ बस सब संकट सहे ...'—गालव मुनि की कथा महाभारत उ० प० अ० १०६–११९ के अनुसार इस तरह है—गालव मुनि विश्वामित्र मुनि के शिष्य थे। इनकी सेवा से गुरुजी संतुष्ट हुए और कहा कि तुम, जहाँ इच्छा हो, जाओ। मैं प्रसन्न हूँ; पर गालव मुनि ने हठ की कि कुछ गुरु दक्षिणा के लिये आज्ञा दो। पुनः-पुनः कहने पर विश्वामित्रजी ने कहा अच्छा, ८०० श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो। तब तो गालव मुनि चिंतित हुए और उन्होंने विष्णु भगवान् का आश्रय लिया। गरुड़जी ने इस कार्य में सहायता की।

राजा नहुष—महाभारत उ० प० अ० ११–१९ के अनुसार कथा इस प्रकार है कि राजा नहुष महा तेजस्वी और धर्मिष्ठ एवं यशस्वी थे। जब इन्द्र को वृत्रासुर के वध से ब्रह्म-हत्या लगी, तब देवताओं ने इन्हें इन्द्र बनाया और अप्रतिम तेज दिया। इन्होंने इन्द्राणी को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाने के लिये हठ की। बृहस्पति की सम्मति से इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा। इन्होंने उसको व्रत रक्षा के लिये उपाय बतलाया कि तुम उससे कहो कि आप तेजस्वी महर्षियों को पालकी में लगाकर उस नई सवारी पर मेरे पास आवें तो मैं सहर्ष अधीन हो जाऊँगी। नहुष ने वही उपाय किया। अंत में थक जाने पर अगस्त्यजी ने वाद-विवाद किया तब नहुष ने क्रोधान्ध होकर उनके शिर पर लात चलाई, तब वह अगस्त्यजी के शाप से तेजहत होकर पृथिवी पर गिरा और फिर दस सहस्र वर्ष तक अजगर बनकर रहा।

गालव मुनि ने इसी शरीर से संकट सहा और राजा नहुष ने दूसरे (अजगर) शरीर से संकट सहा। यहाँ वैसी ही हठ करने से श्रीजानकीजी भी पहले इसी शरीर से वन-मार्ग के क्लेश एवं शूर्पणखा से डराई जाने के क्लेश सहेंगी। फिर दूसरे तन (छाया रूप) से लंका जाने के क्लेश सहेंगी। दोनों शरीरों से संकट दिखलाने के लिये क्रमशः दो दृष्टान्त हैं।

मैं पुनि करि प्रमान पितुबानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥१॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवन सुनहु हमारा ॥२॥
जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा ॥३॥
कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी ॥४॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना ॥५॥

शब्दार्थ—प्रमान (प्रमाण) = पूरा। बारा = देर। बामा = स्त्री। पदत्राना = खड़ाऊँ, जूता आदि।

अर्थ—हे सुमुखी! हे सयानी! सुनो, फिर मैं पिता के वचनों को पूरा करके शीघ्र ही लौटूँगा ॥१॥ दिन जाते देर न लगेगी, हे सुन्दरी! मेरी यह शिक्षा सुनो ॥२॥ हे वामा! जो तुम प्रेम-वश होकर हठ करोगी तो अंत में दुःख पाओगी ॥३॥ वन कठिन और भारी भयावन है। घाम (धूप), जाड़ा, जल और पवन सब वहाँ बड़े तीक्ष्ण हैं ॥४॥ मार्ग में कुश, काँटे और कंकड़ बहुत तरह के हैं। तुम्हें पैदल और विना जूतों के चलना होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि करि प्रमान पितु...'—तुम माता-पिता की सेवा करो और मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँ। 'बेगि'—अवधि के बीतने पर एक दिन भी न रुकूँगा। 'सुमुखि'—मुख की सुन्दरता इसी में है कि स्वामी की आज्ञा सुनकर उत्तर न दे, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २९८); 'सयानी'—इन सब धर्मों की व्यवस्था तुम जानती हो।

(२) 'दिवस जात नहिं लागिहि...'—१४ वर्ष कैसे कटेंगे? इसपर कहते हैं, दिन जाते देर न लगेगी। 'सुंदरि'—अर्थात् सीख मानने में ही तुम्हारी सुन्दरता है।

(३) 'जौं हठ करहु प्रेमबस ...'—श्रीजानकीजी प्रेम-वश हठ करेंगी ही। अतः, 'बामा' संबोधन

आज्ञा उल्लंघन एवं पति के प्रतिकूल हठ के संबंध से ठीक ही दिया गया है। अंत में दुःख पाओगी; अर्थात् वन के क्लेश सहोगी। पुनः हरण होने पर वर्ष-भर हमसे वियोग होगा (यह भी गर्भित है)।

(४) 'कानन कठिन भयंकर भारी।'—वन की भूमि कठिन है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" (कि॰ दो॰ १); 'भयंकर'—"दरपहिं घोर गहन सुधि आये।" (दो॰ ६२) 'भारी'—दंडक वन ४०० कोस का है। अतः, भारी भयकर है। 'घोर घाम हिम बारि बयारी'—'घोर' शब्द आदि में होने से सबों के साथ है। यहाँ अभी ग्रीष्म ऋतु में चलना है। अतः, 'घोर घाम' प्रथम कहा। बीच में वर्षा को छोड़कर हिम कहा, क्योंकि घोर-घाम के समान ही घोर जाड़ा का भी दुःख होता है। 'घोर बारि'—से वर्षा का दुःख कहा। अंत में 'बयारी' कहकर इसे भी सबों के साथ सूचित किया। 'घोर बयारी' के सम्बन्ध से उक्त तीनों अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं।

(५) 'कुस कटक मग काँकर नाना'''—कुश काँटे से भी अधिक दुःखद होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। 'चलब पयादेहि'—भयंकरता कहकर अब मार्ग का कष्ट कहते हैं कि पालकी आदि में चलने से उक्त घोर-घाम आदि उतने बाधक नहीं होते, पर हमारे साथ पैदल चलना होगा। पुनः जूता आदि के विना ही चलने में कुश, काँटे आदि भी गड़ेंगे। ये सब सहने पड़ेंगे।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहि निहारे ॥७॥
भालु बाघ वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥८॥

दोहा—भूमिसयन बलकलबसन, असन कंद - फल - मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

शब्दार्थ—अगम=दुर्गम, पहुँच के बाहर, विकट। भूमिधर=पहाड़। कंदर=गुफा, पर्वत की सुरंग। खोह=दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग। नद=बड़ी नदी। वृक=भेड़िया, बीग। बलकल=वृक्षों की छाल, भोजपत्र आदि। कंद=जो पृथिवी में गोल-गोल निकलते हैं। जैसे जिमी कंद (सूरन) आदि। मूल=भूमि में जो लंबे-लंबे निकलते हैं। असन=भोजन।

अर्थ—तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं, रास्ता दुर्गम है, उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं ॥६॥ कंदराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि देखे नहीं जाते; अर्थात् देखने से डर लगता है ॥७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी, ऐसे शब्द करते हैं (गर्जते हैं) कि सुनकर धैर्य भाग (छूट) जाता है ॥८॥ पृथिवी पर सोना होगा, बलकल के वस्त्र पहनने और कंद-मूल-फल के भोजन करने पड़ेंगे, वे भी क्या सब दिन मिलते हैं? नहीं, सभी समय के अनुकूल मिलेंगे ॥६२॥

विशेष—(१) क्रमशः मार्ग की दुर्गमता अधिक दिखाते हैं। पहले कुश, काँटा आदि पर मंजु चरण कमल से कैसे चलोगी? फिर बड़े-बड़े पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी, चढ़ाव-उतार होने से कठिन भूमि जल्दी चुकने नहीं आती, अतएव अगम है। पुनः उसमें भी कंदराओं और खोहों में होकर चलना होगा।

नदी, नद, नाले उतरने पड़ेंगे, जो बड़े गहरे होते हैं। उतरने की बात तो कठिन है, उनका देखना भी कठिन है। पुनः उसपर भी उन कंदर-खोह आदि में रीछ, बाघ आदि हिंसक-भयंकर जीव रहते-गर्जते हैं। इससे वे और भी अगम्य होते हैं।

यहाँ थल, जल और नभ तीनों की अगमता दिखाई है—"कुश कंटक मग···" से स्थल की, "नदी नद नारे" से जल की और "भूमि धर भारे" से नभ (ऊँचे) की अगमता कही है।

पहले कंदर-खोह आदि स्थल कहा, तब उनमें रहनेवाले भालू, बाघ आदि को कहा। फिर उनका गर्जना और फिर उससे लोगों का धैर्य छूटना कहा। 'भालू' को प्रथम कहा है, क्योंकि इससे वृक्षों पर चढ़ने पर भी नहीं बच सकते और यह धोखा देकर भी घात करता है, पुनः बड़ा क्रूर होता है। यह पहले आँख ही नोच लेता है।

(२) 'भूमि सयन ···'—भूमि पर ही सोना होगा, कभी शीत पकड़ लेती है तो असह्य पीड़ा होती है। वलकल वस्त्र भोजपत्र आदि से शीत-उष्ण का बचाव नहीं होता। केवल शरीर ढकना-भर होता है। १४ वर्ष तक बराबर कंद-मूल-फल, आदि ही भोजन करने पड़ेंगे, वे भी सब दिन न मिलेंगे, कभी-कभी उपवास हो कर जाना पड़ेगा है। फल भी समय के अनुकूल ही अर्थात् जिस ऋतु में जो फल होते हैं, वे ही मिलते हैं, जो कि जाड़े में शीत, वर्षा में कफ और गर्मी में पित्त के बढ़ानेवाले होते हैं। ये सब भोजन के कष्ट हैं।

नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं ॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ॥२॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा ॥३॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुहाये ॥४॥

शब्दार्थ—नर-अहार = मनुष्यों को खानेवाले। लागइ = लगता है, 'पानी लगना' मुहावरा है; अर्थात् रोग पैदा करता है। बखानना = विस्तृत वर्णन। गहन = वन।

*अर्थ—मनुष्यों को खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं, करोड़ों (अनेकों) प्रकार के छल (बनावटी)-*वेष धारण करते हैं ॥१॥ पहाड़ों का पानी बहुत लगता है। वन के दुःख बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ वन में भयंकर सर्प और घोर (भयंकर) पक्षी रहते हैं। राक्षसों के समूह हैं। वे स्त्री-पुरुषों को चुरा लेते हैं ॥३॥ वन की सुधि आने पर धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और हे मृगलोचनी! तुम तो स्वाभाविक ही डरनेवाली हो ॥४॥

विशेष—(१) 'नर-अहार रजनीचर ·····'—रजनीचर रात में भोजन के लिये निकलते हैं और विचरते रहते हैं। अतः, रक्षा के लिये रात-भर जागना पड़ता है। एक तो रात में सूझता नहीं, फिर वे मायावी होते हैं। इससे कपट-वेष से आते हैं। वे छल से ले जाकर मनुष्यों को खा लेते हैं। 'वेष विधि कोटिक'—जैसे कि मारीच मृग, रावण यती और काल नेमि मुनि बना, इत्यादि।

(२) 'लागइ अति पहार कर···'—भोजन के दुःख पहले कह आये हैं। अब जल पीने के दुःख कहते हैं कि पहाड़ीजल अन्न खानेवालों को भी लगता है, पर फल खानेवालों को तो अत्यन्त लगता है।

आज्ञा उल्लंघन एवं पति के प्रतिकूल हठ के संबंध से ठीक ही दिया गया है। अंत में दुःख पाओगी; अर्थात् वन के क्लेश सहोगी। पुनः हरण होने पर वर्ष-भर हमसे वियोग होगा (यह भी गर्भित है)।

(४) 'कानन कठिन भयंकर भारी।'—वन की भूमि कठिन है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" (कि॰ दो॰ १); 'भयंकर'—"दरपहिं धीर गहन सुधि आये।" (दो॰ ६२) 'भारी'—दंडक वन ४०० कोस का है। अतः, भारी भयंकर है। 'घोर घाम हिम बारि बयारी'—'घोर' शब्द आदि में होने से सबों के साथ है। यहाँ अभी ग्रीष्म ऋतु में चलना है। अतः, 'घोर घाम' प्रथम कहा। बीच में वर्षा को छोड़कर हिम कहा, क्योंकि घोर-घाम के समान ही घोर जाड़ा का भी दुःख होता है। 'घोर बारि'—से वर्षा का दुःख कहा। अंत में 'बयारी' कहकर इसे भी सबों के साथ सूचित किया। 'घोर बयारी' के सम्बन्ध से उक्त तीनों अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं।

(५) 'कुस कंटक मग काँकर नाना'''—कुश काँटे से भी अधिक दुःखद होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। 'चलब पयादेहि'—भयंकरता कहकर अब मार्ग का कष्ट कहते हैं कि पालकी आदि में चलने से उक्त घोर-घाम आदि उतने बाधक नहीं होते, पर हमारे साथ पैदल चलना होगा। पुन जूता आदि के बिना ही चलने में कुश, काँटे आदि भी गड़ेंगे। ये सब सहने पड़ेंगे।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥७॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥८॥

दोहा—भूमिसयन बलकलबसन, असन कंद - फल - मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

शब्दार्थ—अगम=दुर्गम, पहुँच के बाहर, विकट। भूमिधर=पहाड़। कंदर=गुफा, पर्वत की सुरंग। खोह=दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग। नद=बड़ी नदी। बृक=भेड़िया, चीता। बलकल=वृक्षों की छाल, भोजपत्र आदि। कंद=जो पृथिवी में गोल-गोल निकलते हैं। जैसे जिमी कंद (सूरन) आदि। मूल=भूमि में जो लंबे-लंबे निकलते हैं। असन=भोजन।

अर्थ—तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं, रास्ता दुर्गम है, उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं ॥६॥ कंदराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि देखे नहीं जाते; अर्थात् देखने से डर लगता है ॥७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी, ऐसे शब्द करते हैं (गर्जते हैं) कि सुनकर धैर्य भाग (छूट) जाता है ॥८॥ पृथिवी पर सोना होगा, वल्कल के वस्त्र पहनने और कंद-मूल-फल के भोजन करने पड़ेंगे, वे भी क्या सब दिन मिलते हैं? नहीं, सभी समय के अनुकूल मिलेंगे ॥६२॥

विशेष—(१) क्रमशः मार्ग की दुर्गमता अधिक दिखाते हैं। पहले कुश, काँटा आदि पर मंजु चरण कमल से कैसे चलोगी? फिर बड़े-बड़े पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी, चढ़ाव-उतार होने से कठिन भूमि जल्दी चुकने नहीं आती, अतएव अगम है। पुनः उनमें भी कंदराओं और खोहों में होकर चलना होगा।

नदी, नद, नाले उतरने पड़ेंगे, जो बड़े गहरे होते हैं। उतरने की बात तो कठिन है, उनका देखना भी कठिन है। पुनः उसपर भी उन कंदर-खोह आदि में रीछ, बाघ आदि हिंसक-भयंकर जीव रहते-गर्जते हैं। इससे वे और भी अगम्य होते हैं।

यहाँ थल, जल और नभ तीनों की अगमता दिखाई है—"कुस कंटक मग···" से स्थल की, "नदी नद नारे" से जल की और "भूमि धर भारे" से नभ (ऊँचे) की अगमता कही है।

पहले कंदर-खोह आदि स्थल कहा, तब उनमें रहनेवाले भालू, बाघ आदि को कहा। फिर उनका गर्जना और फिर उससे लोगों का धैर्य छूटना कहा। 'भालू' को प्रथम कहा है, क्योंकि इससे वृक्षों पर चढ़ने पर भी नहीं बच सकते और यह धोखा देकर भी घात करता है, पुनः बड़ा क्रूर होता है। यह पहले आँख ही नोच लेता है।

(२) 'भूमि सयन···'—भूमि पर ही सोना होगा, कभी शीत पकड़ लेती है तो असह्य पीड़ा होती है। वलकल वस्त्र भोजपत्र आदि से शीत-उष्ण का बचाव नहीं होता। केवल शरीर ढकना-भर होता है। १४ वर्ष तक बराबर कंद-मूल-फल, आदि ही भोजन करने पड़ेंगे, वे भी सब दिन न मिलेंगे, कभी-कभी उपवास ही कर जाना पड़ेगा है। फल भी समय के अनुकूल ही अर्थात् जिस ऋतु में जो फल होते हैं, वे ही मिलते हैं, जो कि जाड़े में शीत, वर्षा में कफ और गर्मी में पित्त के बढ़ानेवाले होते हैं। ये सब भोजन के कष्ट हैं।

नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं ॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ॥२॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा ॥३॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुहाये ॥४॥

शब्दार्थ—नर-अहार = मनुष्यों को खानेवाले। लागइ = लगता है, 'पानी लगना' मुहावरा है; अर्थात् रोग पैदा करता है। बखानना = विस्तृत वर्णन। गहन = वन।

अर्थ—मनुष्यों को खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं, करोड़ों (अनेकों) प्रकार के छल (बनावटी)-वेष धारण करते हैं ॥१॥ पहाड़ों का पानी बहुत लगता है। वन के दुःख बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ वन में भयंकर सर्प और घोर (भयंकर) पक्षी रहते हैं। राक्षसों के समूह हैं। वे स्त्री-पुरुषों को चुरा लेते हैं ॥३॥ वन की सुधि आने पर धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और हे मृगलोचनी! तुम तो स्वाभाविक ही डरनेवाली हो ॥४॥

विशेष—(१) 'नर-अहार रजनीचर ·····'—रजनीचर रात में भोजन के लिये निकलते हैं और विचरते रहते हैं। अतः, रक्षा के लिये रात-भर जागना पड़ता है। एक तो रात में सूझना नहीं, फिर वे मायावी होते हैं। इससे कपट-वेष से आते हैं। वे छल से ले जाकर मनुष्यों को खा लेते हैं। 'वेष बिधि कोटिक'—जैसे कि मारीच मृग, रावण यती और काल नेमि मुनि बना, इत्यादि।

(२) 'लागइ अति पहार कर···'—भोजन के दुःख पहले कह आये हैं। अब जल पीने के दुःख कहते हैं कि पहाड़ीजल अन्न खानेवालों को भी लगता है, पर फल खानेवालों को तो अत्यन्त लगता है।

(३) 'ब्याल कराल विहँग······'—सर्प कराल हैं, अजगर आदि मनुष्यों को निगल जाते हैं। पक्षी भयानक होते हैं, शार्दूल आदि पक्षी जीवों को पकड़कर उठा ले जाते हैं। यहाँ तीनों स्थलों के जीवों का बाधा करना कहा गया, 'ब्याल' भूमि के, 'विहँग' आकाश के और 'निसिचर' पाताल के हैं।

यहाँ कहा गया—'निसिचर निकर नारि नर चोरा।' और ऊपर—'नर अहार रजनीचर चरहीं।' कहा है। इनमें पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'चरहीं' में उनका आहार के लिये विचरना-फिरना कहा गया है कि पाते हैं, तो नरों का आहार करते हैं। 'नारि-नर चोरा' में कहा गया कि वे चोरी से नर-नारी को उठा ले जाते हैं। अतः, एक में आहार के लिये फिरना और दूसरे में उठा ले जाना, ये दो बातें हैं। 'चरहीं' के अर्थ में विचरना और खाना दोनों ही अर्थ ले सकते हैं, यथा—'चर गति भक्षणयोः' धातु है।

यहाँ श्रीसीताजी के डराने के लिये 'नारि' मात्र के चार ही कह सकते थे, पर नर को चुराना कहा। इससे उपर्युक्त 'नर-आहार' का अर्थ खोला गया है कि चुराकर ले जाते हैं और नरों को तो खा ही जाते हैं। कालकेतु निशाचर का प्रतापभानु के पुरोहित को माया से चुरा ले जाना कहा भी गया है।

(४) 'डरपहिं धीर·· मृग लोचनि तुम्ह···'—जब बड़े-बड़े धीर लोग वन की सुधि आने पर डर जाते हैं, तब तुम इन मृगा के से डराउल नेत्रों से प्रत्यक्ष देखोगी कैसे ? तुम तो स्वभाव से ही भीरु हो। अतः, समझ लो कि कैसे जी सकोगी ?

हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू। सुनि अपजस मोहिं देइहि लोगू ॥५॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली। जियइ कि लवनपयोधि मराली ॥६॥
नव - रसाल - बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥७॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुख कानन भारी ॥८॥

दोहा—सहज सुहृद-गुरु-स्वामि-सिख, जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि ॥६३॥

अर्थ—हे हंसगामिनी ! तुम वन के योग्य नहीं हो, (तुम्हारा वन जाना) सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे ॥५॥ मानस-सर के अमृत जल से पाली हुई हंसिनी क्या खारे समुद्र में जी सकती है ? अर्थात् नहीं जी सकती ॥६॥ नवीन आम के वन मे विहार करनेवाली कोयल क्या करील के वन में शोभा पाती है ? अर्थात् वह वहाँ नहीं सोहती ॥७॥ ऐसा हृदय में विचारकर घर में रहो, हे चन्द्र-मुखी ! वन में भारी दुःख है ॥८॥ स्वाभाविक मित्र, गुरु और स्वामी की शिक्षा जो शिर पर धारण करके नहीं करता, वह पीछे हृदय में भरपूर पछताता है और अवश्य ही उसके हित की हानि होती है ॥६३॥

विशेष—(१) 'हंस गवनि तुम्ह नहिं······'—हंस की-सी चाल से पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी ? वन की कठोर भूमि पर काँटों में कैसे चल सकोगी ? लोग अपयश देंगे कि ऐसी सुकुमारी स्त्री को वन

में ले गये। वह वहाँ न रह सकी, जैसा कि आगे कहते हैं—'जियइ कि···' उपर्युक्त—"सुरसर सुभग वनज वनचारी।···" भी देखिये।

(२) 'मानस सलिल सुधा प्रति······'—ऊपर 'हंस गवनि' कहकर गमन में अयोग्यता दिखाई। अब दिखाते हैं कि वहाँ रह न सकोगी, जीना ही दुर्लभ होगा। श्रीमिथिलाजी और श्रीअयोध्याजी मानस-सर के समान हैं। यहाँ के उत्तम भोग 'सलिल-सुधा' के समान और श्रीजानकीजी मराली हैं। वन खारा समुद्र के समान और उसके दुःख खारे जल हैं। भाव यह कि जो सदा से सुन्दर भोगों को भोग आया है और कोमल है, वह भारी दुःख पड़ने पर जी नहीं सकता। यहाँ जीवन का अभाव दिखाया, आगे शोभा का अभाव दिखाते हैं।

(३) 'नव रसाल वन बिहरन ···'—आम के नये वृक्ष सुहावने होते हैं, सुंदर छाया, स्वादिष्ठ फल और सुगंधित फूल होते हैं। वैसे ही तुम यहाँ कनक भवन के स्नग-सुगंध एवं सम्पूर्ण दिव्य भोगों को भोगने-वाली हो। करील का वन जिसमें पत्ते भी नहीं होते और फूल-फल भी किसी योग्य नहीं, उसमें कोयल के रहने की शोभा नहीं। वैसे तुम्हारी शोभा वन जाने और वहाँ रहने में नहीं है, (करील के वन व्रजदेश में बहुत हैं)।

(४) 'रहहु भवन अस हृदय····'—ऐसे वन के भारी दुःखों को हृदय में विचारो और घर में रहो। सामान्य दुःख होता तो ले भी चलते। वहाँ तुम्हारा चन्द्रवदन मलिन पड़ जायगा। इसलिये वन जाना ठीक नहीं।

(५) 'सहज सुहृद गुरु स्वामि ·· ··'—इनकी शिक्षा मानना परम धर्म है, अतएव शिरोधार्य करना चाहिये, यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (बा० दो० ७१); जो इनकी शिक्षा पर चलता है, वह क्लेश-विना ही धर्मों का फल पाता है, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल ·····" (दो० ६१); पर जो इनकी शिक्षा नहीं मानता उसकी अवश्य हित-हानि होती है, क्योंकि ये हित ही की शिक्षा देते हैं और इनके वचन अमोघ (सफल) होते हैं। अतः, उसके लिये पीछे पछताना पड़ता है, अपनी ही भूल समझकर किसी से कहता भी नहीं, उर में ही पछतावा है।

यहाँ तो तुम्हारे लिये तीनों का एक ही उपदेश है। हम तुम्हारे सहज-सुहृद और स्वामी हैं। माताजी तुम्हारी गुरु (श्रेष्ठ) हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि" (सु० दो० ५०)। तथा—"अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥" (वाल्मी० २।३०।३३); यहाँ इसी प्रसंग में श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से ही माता-पिता को गुरु कहा है। अतः, इस शिक्षा को श्रद्धा-पूर्वक मानना चाहिये।

> सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥१॥
> सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥२॥
> उतर न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥३॥
> बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥४॥

अर्थ—प्रिय-पति के कोमल और मनोहर वचन सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्र जल (आँसू) से भर गये॥१॥ शीतल शिक्षा उन्हें कैसी जलानेवाली हुई कि जैसी शरद-ऋतु की चाँदनी रात चकवी को

(दाहक होती है) ॥३॥ श्रीजानकीजी के मुख से उत्तर नहीं निकलता, वे व्याकुल हो गईं कि पवित्र एवं पवित्र-स्नेही स्वामी मुझे छोड़ना चाहते हैं। नेत्रों के जल को हठात् रोककर पृथिवी की पुत्री श्रीसीताजी हृदय में धैर्य धरकर ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु बचन मनोहर'''—वचन सुनने में कोमल एवं मधुर और अर्थ समझने में मनोहर (सुन्दर) हैं, पर इन वचनों से पति का वियोग होगा। इससे समझने से नेत्रों में आँसू भर आये। इसीसे इन नेत्रों की शोभा 'ललित' शब्द से कही गई; क्योंकि यह उचित है।

(२) 'सीतल सिख दाहक भइ '''—चाँदनी रात सबको शीतल और सुखदाई होती है। पर उसमें चकवी का चकवे से वियोग होता है, इससे उसके हृदय में जलन होती है। वैसे ही श्रीरामजी के वचन सबके लिये मृदु-मनोहर और शीतल ही हैं, पर श्रीजानकीजी को पति-विरह की सम्भावना से दाहक हुए। यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन किरण हैं।

(३) 'उतर न आव बिकल बैदेही।'—'वैदेही'—क्योंकि व्याकुलता से देह सुधि न रह गई। 'सुचि स्वामि सनेही'—शुचि हैं, इसीसे वैसा ही पवित्र उपदेश दिया, यथा—"येहि ते अधिक धरम नहि दूजा। सादर सास ससुर पद पूजा॥" (दो० ६०); स्नेही हैं, इसीसे हमारा वन का क्लेश सहन करना नहीं देखना चाहते। पुनः माताजी पर स्नेह है, इससे उनके अवलंब के लिये मुझे रखते हैं और अपनी आज्ञा-रूपी सेवा से मेरा पातिव्रतधर्म भी निबाहते हैं। किन्तु ऐसे स्वामी का वियोग मैं कैसे सह सकूँगी? इसपर विकल हो गईं।

(४) 'बरबस रोकि बिलोचन बारी।'—पहले कहा गया—"लोचन ललित भरे जल सिय के।" वह रुकता नहीं, अतएव बरबस रोकना पड़ा। 'धरि धीरज'''—शीत उष्ण सहने के गुण पृथ्वी में हैं, यथा—"क्षमया पृथिवी समा" (गुण रा० वाल्मी०), वैसे ही यहाँ शीतल शिक्षा से दाह उत्पन्न हुआ, उसे सहकर धैर्य धरने से 'अवनि कुमारी' कही गईं। माता के गुण कन्या में होने ही चाहिये।

लागि सासुपग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥५॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परमहित होई॥६॥
मैं पुनि समुझि दीख मन-माहीं। पिय-बियोग-सम दुख जग नाहीं॥७॥

दोहा—प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक-समान॥६४॥

अर्थ—सास के पैर लगकर हाथ जोड़कर कहने लगीं कि हे देवि! मेरी इस बड़ी ढिठाई को क्षमा कीजिये॥५॥ प्राणनाथ ने मुझे वही शिक्षा दी है जिस प्रकार से मेरा परम-हित हो॥६॥ फिर मैंने मन में विचार कर देखा कि पति-वियोग के समान संसार में कोई दुःख नहीं है॥७॥ मेरे प्राणों के स्वामी, करुणा के स्थान, सुन्दर सुख के दाता, सुजान और हे रघुकुल-रूपी कुईं के चन्द्रमा (रूप प्रफुल्लित करनेवाले)! आपके बिना मुझे स्वर्ग भी नरक के समान है॥६४॥

विशेष—(१) 'लागि सासुपग '''—चरणों पर पड़कर हाथ जोड़कर क्षमा माँगती हैं, क्योंकि सास के सामने पति से वार्ता करना पड़ रहा है, श्रीरामजी भी सकुचे थे—"मातु समीप कहत सकुचाहीं।"

(दो० ६०); यह बड़ी ढिठाई है, (क्योंकि आपने ही उनसे अपने सामने कहलाया, तब मुझे भी कहना पड़ा अन्यथा न बोलती)।

(२) 'दीन्हि प्रानपति मोहिं···'—'प्रानपति'—अर्थात् ये ही मेरे प्राणों के स्वामी और रक्षक हैं तो इनके बिना मेरे प्राण कैसे रहेंगे ? इन्होंने ही शिक्षा दी है, जिसमें मेरा परम हित हो; अर्थात् लोक-परलोक दोनों बने, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल, पाइय बिनहि कलेस।" (दो० ६१); उसकी विधि भी बतलाई है—"येहिते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सास ससुर पद पूजा॥" (दो० ६०); यही परमहित का अंग भी है, यथा—"सब बिधि भामिनि भवन भलाई।" (दो० ६१); इत्यादि।

(३) 'मैं पुनि समुझि दीखि ···'—श्रीजानकीजी अब अपने हृदय की बात कहती हैं—'प्रिय वियोग सम···' इसी पर कौशल्याजी को निरुत्तर कर दिया, क्योंकि वे भी पातिव्रत-धर्म को जानती हैं। प्रथम उन्हींने ही कहा था। अतः, उन्हें उत्तर देकर आगे श्रीरामजी से कहती हैं—श्रीजानकीजी की व्याकुलता में कवि भी व्याकुल हो गये। अतः, ७ ही अर्द्धाली पर दोहा कर दिया।

(४) 'प्रान नाथ करुनाय तन···'—प्राणनाथ हैं। मेरे प्राणों के सुखदाता हैं। अतः, प्राणों की रक्षा कीजिये, आपके वियोग में मेरे प्राण न रहेंगे। करुणायतन हैं, करुणा करके साथ लें, वियोग की निष्ठुर बात न कहें। सुन्दर हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का आनन्द देते रहें। सुखद और सुजान हैं। अतः, मेरे हृदय का भाव जानकर कि आपके बिना स्वर्ग भी मुझे नरक के समान है। मुझे अपने साथ रखकर सुख दें। 'रघुकुल कुमुद बिधु···'—रघुवंश-भर के प्रफुल्ल करनेवाले हैं, फिर मैं तो आपकी निज पाणिगृहीता दासी हूँ। अतः, मुझे संग रखकर प्रफुल्ल रखना ही चाहिये। आपके साथ में मुझे वन ही स्वर्ग है, अन्यथा स्वर्ग भी नरक के समान दुःखद है। यह श्रीरामजी के वचन—"आपन मोर नीक ·· घर रहहू। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥" (दो० ६०); का उत्तर है। यथा—"यस्त्वयासह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना। इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मयासह॥" (वाल्मी० २।३०।१८)।

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद-समुदाई॥१॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥२॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥३॥
तनु धन धाम धरनि पुरराजू। पतिबिहीन सब सोकसमाजू॥४॥

अर्थ—माता, पिता, बहन और प्यारा भाई, प्यारा परिवार, मित्रों का समूह॥१॥ सास, ससुर, गुरु एवं गुरुजन तथा ज्येष्ठ (पति का बड़ा भाई), सजन (स्वजन = सम्बन्धी = दामाद, बहनोई आदि) सहायक, सुन्दर सुशील और सुखदायी पुत्र॥२॥ इत्यादि जहाँ तक हे नाथ! प्रेम और नाते हैं, वे सब स्त्री को पति के बिना सूर्य से भी अधिक तप्त (ताप देनेवाले) हैं॥३॥ शरीर, धन, घर, पृथिवी, नगर और राज्य पति-रहित स्त्री के लिये ये सब शोक की सामग्री हैं; अर्थात् इन्हें देखकर उसे शोक उत्पन्न होता है॥४॥

विशेष—(१) 'मातु पिता भगिनी···'—इस अर्द्धाली में सब नैहर के कहे गये। इनमें माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता का स्नेह पुत्री में सबसे अधिक होता है। फिर क्रमशः न्यून स्नेहवाले कहे गये। ऊपर स्वर्ग का खंडन करके यहाँ से इस लोक के सुखों का खंडन करती हैं। इसमें प्रथम नैहर के नातों को

कहा। फिर—'सासु ससुर ···' से ससुराल के नातों को गिनाया। यहाँ तक विशेष नातेवालों को कहकर—'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। · ' से समष्टि में सामान्य स्नेहियों और नातेवालों को भी कह दिया। फिर सबको साथ ही खंडन करती हैं कि पति के साथ में सभी सुखदायक हैं। पर पति के विना सूर्य से भी अधिक ताप देनेवाले हैं, यथा—"न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखी जनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥" (वाल्मी० २।२७।६)। 'पिय बिनु तियहिं···'—जैसे जबतक जल रहता है, तब-तक सूर्य कमल को सुख देता है। जल न रहने से जला डालता है वैसे ही पति के न रहने से सब कोई ताप देते हैं, देखकर जलते हैं, चाहते हैं कि यह मर जाय। सूर्य १२ हैं, वैसे ही १२ नाते भी गिनाये गये हैं। 'तनु धन धाम···'—इसमें 'तनु' प्रथम कहा गया, क्योंकि शेष सब इसी के लिये हैं।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू ॥५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥६॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल - बिधु-बदन निहारे ॥८॥

दोहा—खग मृग परिजन नगरु बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन-सम, परनसाल सुखमूल ॥६५॥

अर्थ—भोग रोग के समान, भूषण बोझ के समान और संसार यमयातना (नरक की पीड़ा) के समान है ॥५॥ हे प्राणनाथ! आपके विना मुझे संसार में कहीं भी कुछ सुखदायक नहीं है ॥६॥ जैसे जीव के बिना देह और जल के विना नदी, वैसे ही हे नाथ! पुरुष के विना स्त्री है ॥७॥ हे नाथ! आपके साथ रहते हुए शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान आपका मुख देखने से मुझे सब सुख प्राप्त हैं ॥८॥ हे नाथ! आपके साथ पक्षी, वन्यपशु कुटुम्बी के समान, वन नगर के समान, बकले के वस्त्र (भोजपत्र आदि) निर्मल महीन कपड़े के समान और पर्णकुटी देवताओं के (स्वर्गीय) महल के समान सुख देनेवाले होंगे ॥६५॥

विशेष—(१) 'भोग रोगसम भूषन···'—भोगों से सुख होता है, पर वही भोग पति के विना रोग के समान दुःखद होता है। भूषणों से शोभा होती है। विधवा पहने तो दर्शकों को नहीं सुहाता। अतः, भूषण भार के समान हो जाता है। 'जम-जातना सरिस···'—संसार का हँसना, बोलना, क्रीड़ा आदि उसे अत्यंत दुःखद हो जाते हैं।

(२) 'मातु पिता भगिनी···से यहाँ तक सामान्य स्त्रियों की व्यवस्था कही। आगे—'प्रान नाथ तुम्ह बिनु···' से विशेष करके अपने लिये कहती हैं—'मो कहँ' तो कहीं कोई भी सुखद नहीं है, भाव और स्त्रियों को उपर्युक्त नातों में कोई चाहे सुखद हो भी, पर मुझे नहीं है।

(३) 'जिय बिनु देह नदी ···'—यहाँ पुरुष रहित स्त्री के लिये दो उदाहरण दिये गये हैं—एक प्राणों के विना देह और दूसरा जल के विना नदी। इनका भाव यह है कि जब स्त्री का पति से वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो पति के साथ ही प्राण दे देती है; अर्थात् सती हो जाती है। यदि यह न हुआ तो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके अशोभित रूप से देहावसान कर देती है। यह

दूसरी क्रिया है। अतः, पहली क्रिया के लिये 'जिय बिनु देह' कहा और दूसरी के लिये बिना जल की नदी। पर इनका अपना निश्चय पहली के रूप में ही है, यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" (दो० ५७)।

(४) 'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे···'—पहले पति बिना सब सुखों को दुःख रूप कहा। अब उन्हीं सबके समान मुखचन्द्र के अवलोकन से वन में सुख होना आगे कहती हैं—

(५) 'खग मृग परिजन नगर बन···'—'पर्नसाल सुखमूल'—अर्थात् सुरसदन में रहने से क्रमशः पुण्य क्षीण होते हैं; पीछे वह प्राणी सुख रहित होकर नीचे गिरता है। पर आपके साथ पर्णशाला में रहने से सुकृत बढ़ेंगे और उनसे सुख भी बढ़ेंगे। 'बिमल दुकूल'—मैला एवं अशुद्ध वस्त्र पहनना मना है। इसपर कहती हैं कि वल्कल तो स्वयं निर्मल एवं पवित्र वस्त्र है, फिर आपके साथ से वह महीन वस्त्रों का-सा सुख देगा।

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु-ससुर-सम सारा ॥१॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु-सँग मंजु मनोज-तुराई ॥२॥
कंद मूल फल अमिय अहारू। अवध-सौध-सत-सरिस पहारू ॥३॥
छिन छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥४॥

शब्दार्थ—उदार = श्रेष्ठ, निर्हेतु-दानी। सार = पालन-पोषण। किसलय = कोमल नया पत्ता। साथरी = नये पत्तों को सुखाकर उनसे बनी हुई मोटी कोमल तोशक। सौध = राज-महल।

अर्थ—वन की देवी और देवता उदार हैं। वे सास-ससुर की तरह मेरा पालन-पोषण करेंगे ॥१॥ कुश और पेड़ों के पत्तों की सुन्दर साथरी आपके साथ में सुन्दर कामदेव की तोशक के समान होगी ॥२॥ कंद, मूल और फल का आहार अमृत के समान है और अवध के सौ राजमहल के समान पहाड़ हैं ॥३॥ क्षण-क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखकर मैं प्रसन्न रहूँगी, जैसे दिन में चकवी प्रसन्न रहती है ॥४॥

विशेष—(१) 'बनदेवी बनदेव उदारा।···'—मनुष्य आदि चेतनों के स्थलों के देवता पूजा आदि पाते हैं, तब उनका पालन-पोषण करते हैं। पर वन-पर्वत आदि जड़ हैं, इनके देवता निःस्वार्थ भाव से रहकर वनों का पोषण कर उनके फल-फूलों से अनन्त जीवों का उपकार करते हैं। अतः, उसी स्वभाव से वे मेरा तो सास-ससुर की तरह पालन करेंगे। वन परोपकारी होते हैं और उनके देवताभी वैसे स्वभाव के होते हैं।

(२) 'कुस-किसलय-साथरी······'—बड़ी कोमल होने से साथरी को कामदेव की तोशक के समान कहा है। यह श्रीरामजी के—'भूमि सयन···' इस वचन का उत्तर है।

(३) 'कंद मूल फल अमिय अहारू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"असन कंद फल मूल" यह उसीका उत्तर है और जो कहा था—"मारग अगम भूमि धर भारे।" उसका उत्तर देती हैं—"अवध सौध सत सरिस पहारू।" अर्थात् जैसे यहाँ के दो महलों आदि पर चढ़ती थीं, वैसे ही किंतु उससे सौ गुने उत्साह से पहाड़ों पर चढ़ूँगी। श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"तौ कानन सत अवध समाना॥" उसीके अनुसार यह कथन भी है।

"नाथ साथ सुर सदन सम······" से अमिय अहारू॥" तक स्वर्ग के सुख की ही उपमाएँ हैं। 'अवध सौध सत···' यह पृथिवी की उपमा है।

कहा। फिर—'सासु ससुर···' से ससुराल के नातों को गिनाया। यहाँ तक विशेष नातेवालों को कहकर—'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। ··' से समष्टि में सामान्य स्नेहियों और नातेवालों को भी कह दिया। फिर सबको साथ ही खंडन करती हैं कि पति के साथ में सभी सुखदायक हैं। पर पति के विना सूर्य से भी अधिक ताप देनेवाले हैं, यथा—"न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखी जनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥" (वाल्मी० २।२७।६)। 'पिय बिनु तियहिं···'—जैसे जबतक जल रहता है, तब-तक सूर्य कमल को सुख देता है। जल न रहने से जला डालता है वैसे ही पति के न रहने से सब कोई ताप देते हैं, देखकर जलते हैं, चाहते हैं कि यह मर जाय। सूर्य १२ हैं, वैसे ही १२ नाते भी गिनाये गये हैं। 'तनु धन धाम···'—इसमें 'तनु' प्रथम कहा गया, क्योंकि शेष सब इसी के लिये हैं।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू ॥५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥६॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल - बिधु-बदन निहारे ॥८॥

दोहा—खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन-सम, परनसाल सुखमूल ॥६५॥

अर्थ—भोग रोग के समान, भूषण बोझ के समान और संसार यमयातना (नरक की पीड़ा) के समान है ॥५॥ हे प्राणनाथ ! आपके विना मुझे संसार में कहीं भी कुछ सुखदायक नहीं है ॥६॥ जैसे जीव के विना देह और जल के विना नदी, वैसे ही हे नाथ ! पुरुष के विना स्त्री है ॥७॥ हे नाथ ! आपके साथ रहते हुए शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान आपका मुख देखने से मुझे सब सुख प्राप्त हैं ॥८॥ हे नाथ ! आपके साथ पक्षी, वन्यपशु कुटुम्बी के समान, वन नगर के समान, वक्कले के वस्त्र (भोजपत्र आदि) निर्मल महीन कपड़े के समान और पर्णकुटी देवताओं के (स्वर्गीय) महल के समान सुख देनेवाले होंगे ॥६५॥

विशेष—(१) 'भोग रोगसम भूषन···'—भोगों से सुख होता है, पर वही भोग पति के विना रोग के समान दुःखद होता है। भूषणों से शोभा होती है। विधवा पहने तो दर्शकों को नहीं सुहाता। अतः, भूषण भार के समान हो जाता है। 'जम-जातना सरिस···'—संसार का हँसना, बोलना, क्रीड़ा आदि उसे अत्यंत दुःखद हो जाते हैं।

(२) 'मातु पिता भगिनी···से यहाँ तक सामान्य स्त्रियों को व्यवस्था कही। आगे—'प्रान नाथ तुम्ह बिनु···' से विशेष करके अपने लिये कहती हैं—'मो कहँ' तो कहीं कोई भी सुखद नहीं है, भाव और स्त्रियों को उपर्युक्त नातों में कोई चाहे सुखद हो भी, पर मुझे नहीं है।

(३) 'जिय बिनु देह नदी···'—यहाँ पुरुष रहित स्त्री के लिये दो उदाहरण दिये गये हैं—एक प्राणों के विना देह और दूसरा जल के विना नदी। इनका भाव यह है कि जब स्त्री का पति से वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो पति के साथ ही प्राण दे देती है; अर्थात् सती हो जाती है। यदि यह न हुआ तो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके अशोभित रूप से देहावसान कर देती है। यह

तब अवश्य ही रक्षा करेंगे। जिससे रक्षा चाहती हैं, उस दुःख की भीषणता भी कहती हैं। उपर्युक्त सब दुःख उसके किंचित् अंश भी नहीं, तब तो समझ लीजिये कि इस प्रभु-वियोग से मेरे प्राण नहीं ही रह सकते।

(३) 'अस जिय जानि सुजान'……'— आप सुजान गुण से सब जानते ही हैं, तो बहुत कहना दोष-रूप है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (दो० ३००); सुजानता से जानने का विषय आगे—"राखिय अवध जो…" इस दोहे में है। 'बिनती बहुत करउँ का…'—आप हृदय की बात जानने में अंतर्यामी हैं। ऊपर की जानने में सुजान हैं। 'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें और कृपा निधानता से सन्नद्ध होकर प्रभुता से मुझे साथ लेकर दुःख दूर करेंगे ही, तो बहुत विनती क्या करूँ?

(४) 'राखिय अवध जो अवधि लगि'……'—श्रीजानकीजी ने साथ ले चलने को बहुत कहा और श्रीरामजी ने बार-बार घर में ही रहने को कहा। उसके विरुद्ध यह इनकी हठ समझी जाती और हठ करने को श्रीरामजी ने मना किया है—"हठबस सब संकट सहे।" "जो हठ करहु प्रेम बस बामा।" (दो० ६१); इत्यादि, उसका सँभाल यहाँ करती हैं कि यदि आप मेरे प्राण रहते जानें, तो अवध में रक्खें, अन्यथा 'दीनबंधु सुन्दर……' कहकर प्रार्थना करती हैं कि घर पर रखना और न रखना आप की ही रुचि पर है, तो यह हठ न रह गई।

प्रार्थना—आप दीन-बंधु हैं और मैं दीन हूँ। अतः, दया करें। सुंदर-सुखद हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का सुख दें। शील-निधान हैं। अतः, मेरा मान रक्खें। स्नेह-निधान हैं। अतः, मेरे स्नेह की ओर देखें और अपना स्नेह न छोड़ें।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥१॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल श्रम हरिहउँ ॥२॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥३॥
श्रम-कन-सहित श्याम तनु देखे। कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥४॥

शब्दार्थ—हारी = थकावट। श्रमकन = पसीने की बूँदें। पेखे (प्रेक्षण) = देखने से।

अर्थ—क्षण-क्षण आपके चरण-कमलों को देखकर मुझे मार्ग में थकावट न होगी ॥१॥ हे प्राणपति! सभी प्रकार से मैं आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने की सब थकावट दूर करूँगी ॥२॥ चरण धोकर पेड़ की छाया में बैठकर प्रसन्न मन से आपको हवा करूँगी ॥३॥ पसीनेकी बूँदों के साथ आपका श्याम शरीर देखकर और प्राण-नाथ के (मेरी ओर) देखने से दुःख का समय कहाँ होगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि मग चलत न…'—श्रीरामजी ने कहा था—"चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥" (दो० ६१); उसपर कहती हैं कि क्षण-क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखते हुए हर्ष-वश श्रम होगा ही नहीं, क्योंकि स्वेच्छित कार्य में श्रम नहीं होता, यह प्रसिद्ध है।

(२) 'सबहि भाँति पिय-सेवा…'—सब प्रकार की सेवा आगे—'पाय पखारि बैठि…' से कहती हैं; अर्थात् पद-प्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या डासन और पाय-पलोटन आदि सेवा

(४) 'छिन छिन-प्रभु-पद ·· '—मार्ग में चलते हुए एवं हर समय पास में रहते हुए अहर्निशि चरणकमलों के दर्शन हुआ करेंगे। यह उपासकों का भाव भी सहज में बना रहेगा। यथा—"सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि निहारहि।" (वि० ८५)। 'दिवस जिमि कोकी'—शिक्षा सुनकर वियोग-भय से आप विकल हो गई थीं, यथा—"सीतल सिख-दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥" (दो० ६२); अब संयोग में उसके विरुद्ध प्रसन्न रहना युक्त ही है।

वन में अवध की अपेक्षा सौ गुना सुख कह रही है, क्योंकि सुख का कारण है—प्रभु का सहवास। वह यहाँ की अपेक्षा वहाँ अधिक रहेगा। वहाँ शरीर निर्वाह की आवश्यक बातें अपने हाथों पूरी करनी होंगी। इस प्राकृतिक जीवन में प्रीतम के सहयोग का जितना अवसर मिलेगा। उतना यहाँ के कृत्रिम जीवन में नहीं हो सकता। इसीसे ग्रंथकार ने प्राकृतिक जीवनवाले वनवासियों के द्वारा ही प्रेम का अधिक प्रदर्शन कराया है। श्रीजानकीजी के सम्बन्ध में भी कहा है—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो, पिय ! छाँह घरीक है ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलकेउ तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)।

बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥५॥
प्रभु - बियोग - लवलेस-समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥६॥
अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइय संग मोहि छाँड़िय जनि॥७॥
बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुनामय उर - अंतर-जामी॥८॥

दोहा—राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद, सील-सनेह-निधान॥६६॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने वन में बहुत-से दुःख भय, विषाद और परिताप कहे॥५॥ पर, हे कृपानिधान ! ये सब दुःख भय आदि मिलकर भी आपके वियोग-दुःख के लवलेश (अत्यंत अल्पांश) के समान भी नहीं हो सकते॥६॥ ऐसा जी में जानकर, हे सुजान-शिरोमणि ! मुझे संग लीजिये, छोड़िये नहीं॥७॥ हे स्वामी ! मैं बहुत क्या विनती करूँ। आप करुणामय और हृदय की बात जाननेवाले हैं॥८॥ जो मेरे प्राणों को अवधि (१४ वर्ष) तक रहते जानिये, तो मुझे अयोध्या में रखिये। आप दीन-बंधु हैं, सुन्दर और सुखद हैं, शील और स्नेह के निधान हैं॥६६॥

विशेष—(१) 'बनदुख नाथ कहे ··· '—'भय', यथा—"भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥" (दो० ६१); इत्यादि, 'बिषाद', यथा—"सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू।" (दो० ६२); 'परिताप' यथा—"घोर-घाम हिम बारि बयारी॥ कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना॥ चरन-कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमि धर भारे॥" (दो० ६१)।

(२) 'प्रभु-बियोग-लवलेस······'—'प्रभु-बियोग'—जैसे आप प्रभु (समर्थ) हैं, वैसे ही आपका वियोग भी समर्थ है। उससे रक्षा करने में आप ही समर्थ हैं और कृपानिधान भी हैं,

तब अवश्य ही रक्षा करेंगे। जिससे रक्षा चाहती हैं, उस दुःख की भीषणता भी कहती हैं। उपर्युक्त सब दुःख उसके किंचित् अंश भी नहीं, तब तो समझ लीजिये कि इस प्रभु वियोग से मेरे प्राण नहीं ही रह सकते।

(३) 'अस जिय जानि सुजान······'—आप सुजान गुण से सब जानते ही हैं, तो बहुत कहना दोष-रूप है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (दो० ३००); सुजानता से जानने का विषय आगे—"राखिय अवध जो ··" इस दोहे में है। 'बिनती बहुत करउँ का ·· ··'—आप हृदय की बात जानने में अंतर्यामी हैं। ऊपर की जानने में सुजान हैं। 'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें और कृपा निधानता से सन्नद्ध होकर प्रभुता से मुझे साथ लेकर दुःख दूर करेंगे ही, तो बहुत विनती क्या करूँ ?

(४) 'राखिय अवध जो अवधि लगि······'—श्रीजानकीजी ने साथ ले चलने को बहुत कहा और श्रीरामजी ने बार बार घर में ही रहने को कहा। उसके विरुद्ध यह इनकी हठ समझी जाती और हठ करने को श्रीरामजी ने मना किया है—"हठवस सब संकट सहे। जो हठ करहु प्रेम बस बामा।" (दो० ६१); इत्यादि, उसका सँभाल यहाँ करती हैं कि यदि आप मेरे प्राण रहते जानें, तो अवध में रक्खें, अन्यथा 'दीनबंधु सुन्दर ·· ' कहकर प्रार्थना करती हैं कि घर पर रखना और न रखना आप की ही रुचि पर है, तो यह हठ न रह गई।

प्रार्थना—आप दीन-बंधु हैं और मैं दीन हूँ। अतः, दया करें। सुंदर-सुखद हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का सुख दें। शील निधान हैं। अतः, मेरा मान रक्खें। स्नेह-निधान हैं। अतः, मेरे स्नेह की ओर देखें और अपना स्नेह न छोड़ें।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥१॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल श्रम हरिहउँ ॥२॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित तन माहीं ॥३॥
श्रम-कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥४॥

शब्दार्थ—हारी = थकावट। श्रमकन = पसीने की बूँदें। पेखे (प्रेक्षण) = देखने से।

अर्थ—क्षण-क्षण आपके चरण कमलों को देखकर मुझे मार्ग में थकावट न होगी ॥१॥ हे प्राणपति ! सभी प्रकार से मैं आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने की सब थकावट दूर करूँगी ॥२॥ चरण-धोकर पेड़ की छाया में बैठकर प्रसन्न मन से आपको हवा करूँगी ॥३॥ पसीनेकी बूँदों के साथ आपका श्याम शरीर देखकर और प्राण-नाथ के (मेरी ओर) देखने से दुःख का समय कहाँ होगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि मग चलत न ··'—श्रीरामजी ने कहा था—"चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥" (दो० ६१), उसपर कहती हैं कि क्षण क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखते हुए हर्ष-वश श्रम होगा ही नहीं, क्योंकि स्वेच्छित कार्य में श्रम नहीं होता, यह प्रसिद्ध है।

(२) 'सबहि भाँति पिय-सेवा ··'—सब प्रकार की सेवा आगे—'पाय पखारि बैठि····' से कहती हैं, अर्थात् पद-प्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या डासन और पाय-पलोटन आदि सेवा

करूँगी। 'पिय-सेवा'—प्रिय की सेवा मुझे अत्यंत प्रिय है। सेवा से मैं आपकी भी थकावट दूर करूँगी, मुझे श्रम कहाँ ?

(३) 'पाय पखारि बैठि तरु···'—पहले चरण धोकर मार्ग का श्रम हरण करूँगी, तब वायु करके शरीर की गर्मी दूर करूँगी। 'बैठि' अर्थात् यह बैठने की सेवा है। शयन की सेवा आगे—'श्रम महि तृन तरु···' से कहेंगी। 'मुदित मन माहीं'—उत्साह-पूर्वक सेवा करूँगी, यही उत्तम भक्ति है, यथा—"मारुत सुत तब मारुत करई। पुलक वपुष लोचन जल भरई॥" (उ० दो० ५१), भाव यह कि मन में कुछ भी उदास न हूँगी कि जो देखकर आपको खेद हो।

(४) 'श्रम-कन-सहित श्याम तन···'—स्त्रियों को शृंगार प्रिय होता है और शृंगार का रंग श्याम है। इससे श्याम-तन देखने में आनंद कहा है, अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—"सीता चितव श्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥" (आ० दो० २०), "कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि श्याम मृदु गाता॥" (सु० दो० १३)। 'श्याम तन देखे' से अपना देखना और 'प्रान पति पेखे' से श्रीरामजी का देखना है। भाव यह कि आपके कृपावलोकन से मुझे फिर दुःख कहाँ रह जायगा ? आगे रात की सेवा कहती हैं—

सम महि तृन तरु-पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥५॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥६॥
को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा। सिंहबधुहि जिमि ससक सियारा॥७॥
मैं सुकुमारि नाथ बनजोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहँ भोगू॥८॥

दोहा—ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौ न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु-बिषम-बियोग दुख, सहिहहिं पामर प्रान॥६७॥

शब्दार्थ—पलोटन (सं० प्रलोठन)=पैर दबाना। ससक=खरगोश। बिलगान=फट गया।

अर्थ—समान भूमि पर तृण और पेड़ों के पल्लव बिछाकर यह दासी सारी रात आपके चरण दाबेगी॥५॥ बार-बार आपकी कोमल मूर्ति को देख देखकर मुझे गर्म हवा भी न लगेगी॥६॥ प्रभु के साथ मुझे कौन देखनेवाला है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरगोश और सियार (नहीं ताक सकते)॥७॥ क्या मैं सुकुमारी हूँ और हे नाथ ! आप वन के योग्य हैं ? आपको तपस्या उचित है और मुझे भोग ?॥८॥ ऐसे भी कठोर वचनों को सुनकर जो मेरा हृदय न फटा, तो हे प्रभो ! आपके वियोग का कठिन दुःख ये नीच प्राण सहेंगे॥६७॥

विशेष—(१) 'सम महि तृन तरु···'—पहले कहा था—"कुस किसलय साथरी सुहाई।" यहाँ—'तृन तरु पल्लव' कहती हैं, क्योंकि कुश सर्वत्र नहीं रहता और तृण सर्वत्र मिलता है। जहाँ कुश न मिलेगा, वहाँ तृण से ही वह काम चल जायगा। पाय पलोटने के सम्बन्ध से अपनेको दासी कहा, क्योंकि यह दासी का काम है। 'सब निसि' अर्थात् जितने दिन साथ रहूँगी, सारी रात बराबर यह चर्या रहेगी, यथा—"कोशलेंद्रपदकंज मंजुलौ कोमलावजमहेशवंदितौ। जानकीकरसरोजलालितौ।" (उ० म०)।

(२) 'बार-बार मृदु मूरति जोही।'''—श्रीरामजी ने कहा था—"घोर घाम हिम बारि बयारी।" उसका उत्तर देती हैं कि मुझे 'तात बयारि' न लगेगी। अभी चैत्र का महीना है, प्रथम गरम हवा मिलेगी, इससे यही कहा। अथवा, 'तात बयारि' अत्यन्त अल्प दुःख का वाचक है, यथा—"मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती।" (दो० ११६), अर्थात् मुझे आपके दर्शनों से वन में कुछ भी दुःख न होगा। 'बार-बार' अर्थात् इनके दर्शनों से तृप्ति नहीं होती, यथा—"छिन छिन प्रभु पद कमल बिलोकी।" एवं—"छिन-छिन चरन सरोज निहारी।" यह पूर्व कह आई हैं।

(३) 'को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा।'''—'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ आपके संग में मुझे कौन कुदृष्टि से देख सकता है? जैसे सिंह की स्त्री को खरहा और सियार नहीं देख सकते, क्योंकि उन्हें जाते ही मृत्यु का भय रहता है। वैसे तुच्छ राक्षस मेरे समीप आते ही नाश होंगे। यह—"निसिचर निकर नारि नर चोरा॥" का उत्तर है। सिंहनी स्वयं भी शशक-सियार क्या मत्तगजों को भी मार सकती है। वैसे श्रीजानकीजी स्वयं भी राक्षसों को मार सकती हैं, यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥" (वाल्मी० ५।२२।२०); तथा—"तपसा धारयेल्लोकान्क्रुद्धा वा निर्दहेदपि। ''न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती। जनकस्य सुता कुर्याद्यत्क्रोधकलुषी कृता॥" (वाल्मी० ५।५६।२५)।

शंका—तब विराध ने स्पर्श किया (वाल्मीकीय रामायण मे कहा है) और रावण ने हरण किया, तब श्रीसीताजी ने स्वयं क्यों न उन्हें नाश किया?

समाधान—श्रीरामजी ने ललित नर-लीला करने का परामर्श किया है और तदनुसार ही श्रीजानकीजी भी करना चाहती हैं, यथा—"मैं कछु करबि ललित नर लीला।" (आ० दो २३), यही बात उपर्युक्त—'असंदेशात्तु रामस्य ''' का भी अभिप्राय है। ललित नर-लीला के ही अनुरोध से आप विवशा, दीना की तरह रहीं, यथा—"अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती॥" (वाल्मी० ५।२७।६३); यह श्रीसीताजी ने ही कहा है। पुनः—'को प्रभु संग ''' पर ऐसा ही वाल्मी० २।२६।६ में भी कहा है—"नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव। सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा॥"

यहाँ शशक-सियार दोनों उपमाएँ चोर निशाचरों के ही लिये हैं। जयंत को इसमें नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह बुरी दृष्टि से नहीं आया; किंतु श्रीरामजी का बल देखने के लिये ही श्रीसीताजी पर आघात किया है।

(४) 'मैं सुकुमारि नाथ'''—भाव यह कि जैसे आप सुकुमार हैं, वैसे मैं भी। यदि आपको तप उचित है तो मुझे भी उचित है ही। इस अर्द्धाली में वक्रोक्ति अलंकार है।

(५) 'ऐसेउ बचन कठोर'''—श्रीरामजी ने जो कहा था—"रहहु भवन अस हृदय बिचारी।" यही वियोग-सूचक वचन अत्यंत कठोर है, उसी पर कहती हैं कि जो ऐसे कठोर वचन पर भी हृदय न फटा तो संभव है कि मेरे प्राण भी वियोग-दुःख भोगेंगे और सहेंगे। अतः, ये प्राण नीच हैं। (यह भावी भी कही गई कि जो एक वर्ष का वियोग लंका में छाया तन से सहेंगी)। यहाँ दोहे में कारणमाला अलंकार है।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचनबियोग न सकी सँभारी॥१॥

देखि दसा रघुपति-जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥२॥

कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा। परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥३॥
नहि बिषाद कर अवसर आजू। बेगि करहु बन-गवन-समाजू ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गईं, वे वचन का भी वियोग न सह सकीं ॥१॥ उनकी दशा देखकर श्रीरघुनाथजी ने जी में जान लिया कि हठ करके इनको घर पर रखने से ये प्राण न रक्खेंगी ॥२॥ तब सूर्य कुल के स्वामी कृपालु श्रीरामजी ने कहा कि शोक छोड़कर मेरे साथ वन को चलो ॥३॥ आज शोक का अवसर नहीं है, शीघ्र ही वन चलने की तयारी करो ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय बिकल भइ भारी'—श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीसीताजी पूर्व ही विकल हो गई थीं, यथा—"उतर न आव बिकल बैदेही।" अब 'भारी विकल' हो गईं, क्योंकि इन्हें ग्लानि हो रही है कि वियोग के वचन सुनते ही मृत्यु क्यों न हो गई ?

(२) 'देखि दसा रघुपति जिय ...'—पूर्व श्रीजानकीजी ने कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि..." उसका यहाँ चरितार्थ हुआ कि दशा देखकर श्रीरामजी ने हृदय से जान लिया कि हठात् रखने से ये प्राण ही न रक्खेंगी। दशा का वर्णन वाल्मी० २।३०।२३–२६ में है।

(३) 'कहेउ कृपाल भानु कुलनाथा। '—कृपा करके साथ ले जाना स्वीकार किया। अतएव 'कृपालु' कहा। 'भानुकुलनाथा'—साथ न लेने से श्रीसीताजी प्राण छोड़ देतीं तो श्रीरामजी दूसरा ब्याह न करते, क्योंकि आप एकपत्नीव्रत हैं, यथा—"एक पत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचि. (भाग० ९।१०।५५' फिर आगे सन्तान न होने से कुल की वृद्धि न होती। साथ लेकर आपने कुल की रक्षा की; इसीसे 'भानु कुल नाथा' कहा।

(४) 'नहिं बिषादकर अवसर ...'—ऊपर—'परिहरि सोच चलहु....' कहा था, उसका कारण कहते हैं कि आज विषाद (शोक) करने का अवसर नहीं है। लोग कहेंगे कि वनजाने के दुःख से रो रही हैं। तब पिता की आज्ञा के पालन में न्यूनता समझी जायगी। पुनः हमारे अभीष्ट-साधन की यात्रा का समय है। अतः, मंगल करना चाहिये, रोना न चाहिये, क्योंकि रोना अमंगल है। 'बेगि'—शीघ्र करो, अन्यथा कोई विघ्न न आ पड़े, वा देर करने से पिता के वचन-पालन की श्रद्धा में न्यूनता पाई जायगी।

कहि प्रियबचन प्रिया समुझाई। लगे मातुपद आसिष पाई ॥५॥
बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥६॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ॥७॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जियत बदनबिधु जोइहि ॥८॥

दोहा—बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहि बोलाइ लगाइ हिय, हरषि निरखिहउँ गात ॥६८॥

अर्थ—प्रिय वचन कहकर अपनी प्यारी पत्नी को समझाया और माता के चरणों में लगकर आशिष पाई ॥५॥ (माता ने कहा कि) शीघ्र आकर प्रजा का दुःख दूर करना, निष्ठुर (हृदय) माता

तुम्हें भूल न जाय ॥६॥ हे विधाता ! क्या मेरी दशा फिर लौटेगी ? आँखों से इस सुन्दर मनोहर जोड़ी को फिर देखूँगी ? ॥७॥ हे तात ! वह सुन्दर दिन, सुन्दर घड़ी कब होगी कि जब माता जीतेजी तुम्हारा चन्द्र-मुख देखेगी ॥८॥ फिर कभी 'बच्छ' कहकर 'लाल' कहकर 'रघुपति' 'रघुबर' 'तात' कह बुलाकर और हृदय से लगाकर हर्ष-पूर्वक तुम्हारा शरीर अर्थात् तुमको देखूँगी ॥६८॥

विशेष—(१) 'कहि प्रियबचन प्रिया···'—पहले घर में रहने की शिक्षा दी थी, वे वचन श्रीसीताजी के लिये कठोर थे, यथा—"ऐसेउ बचन कठोर सुनि···"। अब जो—"परिहरि सोच चलहु बन साथा।" कहा है। यह उन्हें प्रिय है। इससे उन्हें आश्वासन दिया, समझाया। प्रिय वचनों से ही माताजी को भी समझाया था—"कहि प्रिय बचन बिबेक मय ··" (दो० ६०)। 'प्रिय बचन'—वाल्मीकिजी ने अ० स० ३० श्लोक २६ से ४२ तक में विस्तार से कहा है कि श्रीरामजी ने विश्वास दिलाते हुए श्रीसीताजी से कहा कि हे देवि ! मैं उस स्वर्ग को भी नहीं चाहता, जहाँ तुम्हारे वियोग का दुःख हो। मुझे भय किसी का नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्माजी को। शुभानने ! तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक बिना जाने, मुझे रक्षा में सामर्थ्य रहते हुए भी तुम्हारा वनवास न रुचता था। तुम मेरे साथ वनवास के लिये ही उत्पन्न हुई हो। मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता। प्रिये ! तुम्हारा यह अभिप्राय तुम्हारे पिता के और मेरे कुल के योग्य है, इत्यादि।

(२) 'बेगि प्रजा दुख मेटब · '—श्रीकौशल्याजी ने प्रथम कहा था—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।···" (दो० ५६); फिर श्रीसीताजी आ गई, उनका संवाद हो गया। तब माता वहाँ से फिर प्रसंग लेती हैं—'बेगि प्रजा दुख···'। वहाँ 'परिजन' और यहाँ 'प्रजा' कहकर दोनों को एक समान जनाया। 'जननी निठुर बिसरि···'—ऐसे पुत्र-पतोहू वन को जाते हैं, तो भी मैं देखती हुई जीती हूँ, अतएव निष्ठुर हूँ, निष्ठुर की लोग सुधि नहीं लेते। इसलिये प्रार्थना करती हैं कि जननी का स्मरण रखना, यथा—"मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ।" (दो० ५६)।

(३) 'फिरिहि दसा बिधि बहुरि · '—अभी तक श्रीसीतारामजी की जोड़ी आँखों के सामने थी, यह दशा अच्छी थी। अब वे आँख-ओट हो रहे हैं, यह बुरी-दशा आ रही है। जब ये बुरे दिन जायँगे और भले दिन आयेंगे। तब इनकी अपनी पूर्व की भली दशा का लौटना होगा। 'बुरी दशा'—"जनु यह दसा दुसह दुखदाई॥" (दो० ११); यह श्रीराम-वनवास के लिये ही आई है—"राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुरकाज।" (दो० ११)।

(४) 'सुदिन सुघरी तात कब···'—अभी १४ वर्ष हैं, न जाने तब तक जीती रहूँ या नहीं, कैसे जिऊँगी ?

(५) 'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि·· '—माताजी अत्यन्त स्नेह के कारण आतुर हैं और प्यार के संबोधन 'बच्छ' 'लाल' आदि कह रही हैं। 'बच्छ' आदि कहना वचन का स्नेह है। 'लगाइ हिय'—तन का और 'हरषि' यह मन का स्नेह है। माताजी तीनों से स्नेहमय हो रही हैं।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचन न आव बिकल भइ भारी॥१॥
राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना। समय सनेह न जाइ बखाना॥२॥
तब जानकी सासुपग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी॥३॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा॥४॥

छोभ जनि छाड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥५॥

अर्थ—माता स्नेह से अधीर हो गईं, मुख से वचन नहीं निकलता और भारी व्याकुल हो गईं—यह देखकर ॥१॥ श्रीरामजी ने अनेकों प्रकार से समझाया। उस समय का प्रेम-वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ तब श्रीजानकीजी सास के चरणों में लगीं (प्रणाम कीं) और बोलीं, हे माता ! सुनिये, मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ ॥३॥ सेवा के समय दैव ने वनवास दिया, मेरा मनोरथ पूरा न किया ॥४॥ छोभ (मन का उद्वेग) छोड़ियेगा, पर स्नेह एवं दया न छोड़ियेगा, कर्म कठिन है, इसमें मेरा दोष नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि सनेह कातरि···'—ऊपर कहा गया कि माता कहती हैं कि मुझे यह जोड़ी कब देखने को मिलेगी। जीती रहूँ कि नहीं, कब परछ आदि करूँगी, इत्यादि अधीरता वृत्ति कातरि होना है।

(२) 'राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना'— भारी व्याकुलता थी। अतः, अनेकों प्रकार से समझाना पड़ा। कहा कि वनवास का नाश बहुत शीघ्र ही हो जायगा। १४ वर्ष आपको सोते हुए की तरह बीत जायँगे। शीघ्र ही आप सुनेंगी कि मैं मित्रों के साथ आ गया, यथा—"त्वयाऽपि च नवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नववर्षाणि पंच च। समग्रमिह सम्प्राप्तं मा द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥" (वाल्मी॰ २।२४। ३४-३५)। 'न जाइ बखाना'—उस समय की सुधि आने से चित्त करुणामय हो जाता है, इससे कहा नहीं जाता।

(३) 'तब जानकी सासु पग···'—'तब' अर्थात् जब श्रीरामजी के प्रबोध करने से सावधान हुईं, तब कहती हैं कि इन चरणों से पृथक् होने से मैं परम अभागिनी हूँ।

(४) 'सेवा समय दैव बन···' 'दैव'—अपने कर्मानुसार प्रवृत्त ईश्वर की शक्ति को दैव कहते हैं, यथा—"यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तमयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥" (वाल्मी॰ २।२२।२०); अर्थात् जो चिंतवन से बाहर है, वही दैव है, उसका प्रभाव सब प्राणियों पर पड़ता है, उसे कोई नहीं जान सकता। यह मेरे और कैकेयी के विषय में प्रत्यक्ष है, कैसा उलट-पलट हो गया। ये किसी को दोष नहीं देतीं। श्रीसीताजी अपने कर्म ही से वनवास कहती हैं, यही कौशल्याजी ने भी कहा है, यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥" (दो॰ २८१); श्रीजानकीजी भी दैव का अर्थ आगे यहीं पर स्वयं कहती हैं—"करम कठिन कछु दोष न मोहू।" अर्थात् कर्म ही दैव है। 'छोभ'—यह कि सीताजी अत्यंत सुकुमारी हैं, वन में कैसे रहेंगी ? इत्यादि। 'जनि छाड़िय छोहू'—आपके छोह से हमें कुशल-मंगल रहेगा। यथा—"तुम्हरे अनुग्रह तात···" (दो॰ १५१)।

सुनि सियबचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहउँ बखानी ॥६॥
बारहि बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरजु सिख आसिष दीन्ही ॥७॥
अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन-जल-धारा ॥८॥

दोहा—सीतहि सासु असीस सिख, दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदुम सिर, अति हित बारहिं बार ॥६९॥

अर्थ—श्रीसीताजी के वचन सुनकर सास सकुचा गईं। उनकी दशा मैं किस प्रकार बखानकर कहूँ ॥६॥ बार-बार हृदय से लगाया और धैर्य धरकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया ॥७॥ जबतक गंगा और यमुना में जल की धारा रहे तबतक तुम्हारा सोहाग अचल रहे ॥८॥ सास ने श्रीसीताजी को अनेक प्रकार से आशीर्वाद और शिक्षा दी। तब श्रीसीताजी अत्यन्त प्रेम से बार-बार चरण-कमलों में शिर नवाकर चलीं ॥६९॥

विशेष—(१) 'सुनि सिय बचन सासु'''—सास की व्याकुलता के कारण श्रीजानकीजी के साधु वचन हैं कि ऐसी साधु-स्वभाव बहू का वियोग हो रहा है। 'दसा कवनि बिधि कहउँ''' अर्थात् संवाद तो कहा पर दशा कहते नहीं बनती, क्योंकि वे व्याकुलता से कुछ कह नहीं सकती। बिना अक्षर एवं अर्थ का बल पाये कवि कैसे कहे ? यथा—"कबिहि अरथ आखर बल साँचा।" (दो० २४०); अतएव—

(२) 'बारहिं बार लाइ उर'''—बार-बार हृदय में लगाया, फिर धैर्य धारण करके पातिव्रत धर्म की शिक्षा और आशिष दी। अन्यथा श्रीसीताजी के चली जाने पर पछतावा रहता। इसलिये बड़े कष्ट से धैर्य किया।

(३) 'अचल होउ अहिवात'''—श्रीजानकीजी ने सब नातों का खंडन करके पति का ही नाता मुख्य माना है, यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु''" (दो० ६४); उसीके अनुकूल सास ने आशिष दी है कि अहिवात अचल हो। पुनः श्रीसीताजी ने कहा था—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी'''" तदनुसार ही यहाँ—'गंग जमुन जल धारा।' कहा है। गंगा यमुना की धारा कल्प-भर इस लोक में फिर देवलोक में पुनः वैकुंठ में रहती है। अतएव अचल है। पुनः यह दोनों धारा एकत्र-गामिनी है और इस जोड़ी से वर्ण में भी समान है। अतः, उपमा दी है।

(४) 'सीतहि सासु असीस'''—पहले—'धरि धीरजु सिख आसिष दीन्ही।' कहा गया। यहाँ फिर कहा है, क्योंकि सास का अत्यन्त स्नेह है। इसीसे फिर आशिष और शिक्षा देती हैं। यहाँ पातिव्रत-धर्म की शिक्षा दी गई है। यह वाल्मी० २।३६।२०–३२ में है और ग्रंथकार को आ० दो० ४–५ में कहना है। अतः, यहाँ उसे नाममात्र कहा है। अनेक प्रकार से शिक्षा और आशीर्वाद मिला। अतएव अत्यंत प्रेम से बार-बार प्रणाम करती हैं।

भुशुंडीजी की मूल रामायण के अनुसार—'पुर बासिन्ह कर बिरह बिषादा।' प्रसंग यहाँ तक है। श्रीकौशल्याजी का एवं श्रीजानकी का श्रीरामजी से संवाद भी इसीमें अंतर्भूत है। ठीक-ठीक से तो यह प्रसंग—"अति बिषाद बस लोग लोगाई।" (दो० ५०) पर ही समाप्त हो गया था।

श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद-प्रकरण

समाचार जब लछिमन पाये। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाये ॥१॥
कंप पुलक तनु नयन सनीरा। गहे चरन अतिप्रेम अधीरा ॥२॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल तें काढ़े ॥३॥
सोच हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा ॥४॥

अर्थ—जब श्रीलक्ष्मणजी ने यह समाचार पाया तब वे उदास मुख व्याकुल होकर उठ दौड़े ॥१॥ उनका शरीर काँप रहा है, आँखों में आँसू भरे हुए हैं और पुलक से रोएँ खड़े हैं, अत्यन्त प्रेम से अधीर होकर उन्होंने श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये ॥२॥ कुछ कह नहीं सकते, खड़े (उनको) देख रहे हैं, मानों जल से निकाले जाने पर मछली अत्यन्त दीन-दशा में हो ॥३॥ हृदय में सोचते हैं कि हे विधाता! क्या होनेवाला है? हमारा तो सब सुख और पुण्य समाप्त हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार जब लछिमन पाये ......'—समाचार देनेवाले ने उचित अवसर पर कहा कि जब कौशल्याजी और श्रीजानकीजी का संवाद हो चुका। श्रीरामजी द्वार पर आ गये। तब लक्ष्मणजी भी आ पहुँचे। 'लछिमन' पद देकर ग्रथकार ने इनके विषय में पूर्वोक्त—"लच्छन धाम राम-प्रिय...लछिमन नाम उदार।" और—"बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम..." (बा० दो० १९७)। इन सब गुणों का स्मरण कराया है कि उन्हीं गुणों से ये स्वामी का वियोग होता हुआ देखकर व्याकुल हो गये।

कान से हाल सुना, मुख से उदास चेष्टा कर, पाँव से दौड़े और शरीर से पुलके हैं, नेत्रों में आँसू भरे हैं, हाथों से चरण पकड़े हैं, हृदय में अत्यन्त प्रेम है और शरीर काँप रहा है। अत्यन्त प्रेम के कारण इनके आठो अंगों में यही दशा है। अतः, सर्वांग से व्याकुल हो गये हैं।

(२) 'कहि न सकत कछु ...... '—ऊपर अत्यन्त प्रेम से अधीरता कही गई, उसीसे बोल नहीं सकते। 'चितवत'—स्वामी का रुख देख रहे हैं कि रुख पावें तो कुछ कहें। 'ठाढ़े'—पहले आकर चरण पकड़े। अब हाथ जोड़कर खड़े हो गये—'राम बिलोकि बंधु कर जोरे।' आगे कहा ही है। 'मीन दीन ...' अर्थात् श्रीरामजी से पृथक् रहने पर जी नहीं सकते। यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१)।

(३) 'सोच हृदय बिधि .. '—इनके सुख रूप श्रीरामजी ही हैं, क्योंकि उन्हीं से इनको माता, पिता, गुरु, स्वामी सभी नातों का सुख था, आगे कहेंगे ही। श्रीरामजी की प्राप्ति सब सुकृत का फल है, यथा—"को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी ॥" (बा० दो० ३३४); "लोचन गोचर सुकृत फल, मनहुँ किये बिधि आनि ॥" (दो० १०६); सुकृत समाप्त होने से ही सुख का अंत होता है, यहाँ सुख-रूप श्रीरामजी की वियोग-कल्पना से सुकृत का समाप्त होना कह रहे हैं। सुकृत का फल ब्रह्माजी देते हैं। अतः 'बिधि का ' कहा है।

मो कहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेइहहिं साथा ॥५॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृनतोरे ॥६॥
बोले बचन राम नयनागर। सील-सनेह-सरल-सुख-सागर ॥७॥
तात प्रेमबस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू ॥८॥

दोहा—मातु-पिता गुरु-स्वामि सिख, सिर धरि करहि सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनम जग जाय ॥७०॥

शब्दार्थ—तृनतोरें = नाता तोड़े हुए, सम्बन्ध तोड़े हुए; अर्थात् तृण तोड़ने में ममता नहीं होती है, वैसे ममता रहित होकर।

अर्थ—मुझे श्रीरामजी क्या कहेंगे ? घर पर रक्खेंगे कि साथ लेंगे ? ॥५॥ श्रीरामजी ने भाई को हाथ जोड़े और देह-गेह (अर्थात् सुत-वित्त-देह-गेह स्नेह इति जगत्, ऐसे जगत् मात्र) सभी से सम्बन्ध तोड़े हुए देखकर ॥६॥ नीति में चतुर, शील, स्नेह, सरलता और सुख के सागर श्रीरामजी ये वचन बोले ॥७॥ हे तात ! अंत में आनंदोत्साह होगा, ऐसा हृदय में समझकर प्रेम के वश होकर कादर (कातर-भीरु) मत हो ॥८॥ जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा शिरोधार्य करके स्वाभाविक ही उसे करते हैं, उन्हीं ने जन्म लेने का फल पाया, नहीं तो संसार में जन्म ही व्यर्थ है ॥७०॥

विशेष—(१) 'रखिहहिं भवन कि ······'—यहाँ भवन रखना प्रथम कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी 'रघुनाथ' हैं, वे रघुकुल की रक्षा के लिये मुझे घर रक्खेंगे, यथा—"गुरु-पितु-मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सबकर परितोषू।" यह आगे कहा है। 'मो कहँ' अर्थात् श्रीजानकीजी तो अर्द्धांगिनी हैं। ब्याह में अग्नि की साक्षी सहित उन्हें साथ रखने की प्रतिज्ञा की थी ; अतः, साथ लिया। मैं तो दास हूँ ; अतः, उनके अधीन हूँ।

(२) 'राम बिलोकि बंधु ·· '—'राम' शब्द से जनाया कि ये सबके हृदय में रमण करते हैं। अतः, श्रीलक्ष्मणजी के हृदय की व्यवस्था भी जानते हैं। 'देह-गेह' के साथ 'स्नेह' शब्द भी देकर उससे तृण-तोरना कहना था, किंतु स्नेह शब्द का नाम भी न लिखा, क्योंकि लक्ष्मणजी के हृदय में और किसी का ममत्व है ही नहीं। देह-गेह से जगत् का अर्थ है, देखिये बा० मं० श्लोक ६, तथा बा० दो० ११७, वहाँ विस्तार से कहा गया है। 'कर जोरे' से दीनता दिखाई है, यथा—"ठाढ़े हैं लखनकमलकर जोरे। उर धकधकी न कह कछु सकुचनि्ह प्रभु परि हरत सबहि तृनतोरे॥ कृपासिंधु अवलोकि बंधु तनु प्रान कृपान बीर-सी छोरे।" (गी० अ० ११)।

(३) 'बोले बचन राम नयनागर'····'—यहाँ नीति का उपदेश प्रधान है। अतः, नय-नागर कहा है। माता-पिता ने वनवास दिया है। उस अपकार पर दृष्टि न देकर उन्हीं की रक्षा का यत्न करेंगे। अतः, शील और सरलता है। उन्हें सुख देने में परायण हैं, अतः, सुखसागर हैं। श्रीलक्ष्मणजी को भी वन का कष्ट न झेलना पड़े, यह स्नेह है, अतः, स्नेहसागर हैं।

(४) 'मातु-पिता गुरु-स्वामि ···· '—यहाँ स्वामी से गुरु, गुरु से पिता और पिता से भी माता को श्रेष्ठ मानकर प्रथम कहा है और फिर वैसा ही क्रम रक्खा है। (गुरु से यहाँ मोक्ष साधक गुरु का तात्पर्य नहीं है किंतु धर्म गुरु एवं विद्या गुरु का अर्थ है।) 'सुभाय' अर्थात् किसी के कहने पर नहीं, स्वतः स्वभाव से ही करते हैं। पहले—"सहज सुहृद गुरु स्वामि ······" (दो० ६३); पर कहा गया है कि इन सबकी शिक्षा पर न चलने से हित की हानि होती है और यहाँ कहते हैं कि इनकी शिक्षा पर चलने से जन्म सफल होता है। तात्पर्य यह कि हम तुम्हारे स्वामी हैं, अतः, हमारा कहना मानो।

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु-पितु-पद-सेवकाई ॥१॥

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं ॥२॥

मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ॥३॥

गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह-दुख-भारू ॥४॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥५॥

अर्थ—हे भाई! ऐसा जी में जानकर मेरी शिक्षा सुनो और माता-पिता के चरणों की सेवा करो ॥१॥ घर पर श्रीभरत-शत्रुघ्नजी नहीं हैं, राजा बूढ़े हैं और उनके मन में मेरा दुःख है ॥२॥ मैं तुमको (भी) साथ लेकर वन जाऊँ, तो अयोध्या सभी तरह से अनाथ हो जायगी ॥३॥ गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार सभी पर भारी दुःख का भार पड़ेगा ॥४॥ यहीं रहो और सबको सब तरह संतोष करो, अन्यथा हे तात! बड़ा दोष होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'अस जिय जानि सुनहुँ···'—'भाई' अर्थात् मैं माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ, तुम उनकी सेवा करो, क्योंकि भाई हो। अतः, हमारी तरह तुम्हें भी करना ही चाहिये। ऐसा ही श्रीभरतजी से भी आपने कहा है—"पितु आयसु पालिय दुहुँ भाई।" (दो० ३१४), 'सुनहु सिख'—तुम हमारे छोटे भाई हो। अतः, सेवक के समान हो, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १५)। अतः, तुम हमारी शिक्षा मानो। माता आदि चारों नातों में एक की भी सेवा से जन्म सफल होता है, फिर तुम्हें तो यहाँ चारो प्राप्त होंगे (हमारी आज्ञा का पालन करने से स्वामि-सेवा भी होगी)।

(२) 'भवन भरत रिपु सूदन ··'—राजा बूढ़े हैं, फिर उन्हें हमारे वियोग का दुःख भी है, जिसे वे नहीं सह सकेंगे। हम चार भाइयों में से यहाँ कोई एक तो उनके सँभालने के लिये रहना चाहिये, क्या जाने इस भारी विरह में उनकी क्या दशा हो। अतः, तुम्हें यहाँ रहना आवश्यक है। नगर भी सूना हो जायगा। कोई शत्रु न चढ़ाई कर दे। अतः, रक्षा के लिये तुम्हें रहना ही चाहिये। यही आगे कहते हैं—'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा।'—'सबहि बिधि'—श्रीभरत-शत्रुघ्नजी नहीं हैं, राजा वृद्ध हैं, मैं वन जाता हूँ, तुम भी साथ चलना चाहते हो, तब इसका रक्षक कोई न रहेगा। अवध श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय है। अतः, इसकी रक्षा के लिये चिंतित हैं, यथा—"जद्यपि सब बैकुंठ···अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ॥" (उ० दो० ३)

(३) 'दुसह-दुख-भारू'—मेरा वियोग सभी को असह्य है। क्योंकि मैं सबको प्राणों से अधिक प्रिय हूँ। यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ रामकृपाल।" (बा० दो० २०४); ऐसे दुसह दुःख में समझाने के लिये तुम्हें यहाँ रहना चाहिये। 'बड़ दोषू'—एक पर भी दुःख पड़ने पर दोष होता है और यहाँ तो सभी पर पुनः दुस्सह दुःख पड़ेगा, इससे बड़ा दोष होना कहा है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ॥६॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखन भये ब्याकुल भारी ॥७॥
सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ॥८॥

दोहा—उतर न आवत प्रेमबस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ ॥७१॥

अर्थ—जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुःखी हो। वह राजा अवश्य नरक का भागी है ॥६॥ ऐसी नीति विचार कर, हे तात ! (घर पर) रहो। यह सुनते ही श्रीलक्ष्मणजी भारी व्याकुल हो गये ॥७॥ शीतल वचनों से कैसे सूख गये ; जैसे पाले के स्पर्श से कमल ॥८॥ प्रेम के वश उत्तर नहीं निकलता। अकुला कर श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये (और बोले कि) हे नाथ ! मैं दास हूँ, आप स्वामी हैं। आप त्याग दें, तो मेरा क्या वश है ? ॥७१॥

विशेष—(१) 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।···'—भाव यह कि राजा का धर्म है कि वह प्रजा को प्रिय माने और उसे दुःखी न होने दे। यदि प्रिय प्रजा दुखी हुई, तो वह राजा अवश्य नरक का भागी होता है। श्रीरामजी को तो प्रजा अत्यन्त प्रिय है, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'प्रिय प्रजा' का यह भी भाव है कि चोर, खल आदि अपने अन्याय से दुखी हों तब राजा को नरक नहीं होता, किंतु सदाचारी धर्मात्मा प्रजा, प्रिय प्रजा हैं। उनके दुखी होने से उक्त हानि होती है। 'अवसि' का भाव यह कि राजा के लिये अन्य अधर्म सब इससे नीचे हैं। प्यारी प्रजा का दुखी होना उसके लिये भारी पाप है।

(२) 'रहहु तात असि नीति ···'—'नीति'—यह कि हमलोगों के रहते हुए, उपर्युक्त रीति से राजा नरक के अधिकारी न हों। 'बोले वचन राम नयनागर'—यह उपक्रम है और यहाँ उसका उपसंहार है। 'व्याकुल भारी'—श्रीरामजी का वन जाना सुनकर ही श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो गये थे, यथा—"व्याकुल विलख बदन उठि धाये।" अब श्रीरामजी ने घर रहने की आज्ञा देकर इनको वियोग का निश्चय कर दिया, इससे 'भारी' व्याकुल हो गये।

(३) 'सियरे वचन सूखि गये कैसे···'—श्रीरामजी ने धर्म का उपदेश किया, धर्म शीतल है। अतः, वचनों को शीतल कहा। श्रीलक्ष्मणजी की देह कमल के समान कोमल है, वह ऐसा सूख गई, जैसे पाला पड़ने से कमल सूख जाता है। इनकी व्याकुलता मीन के दृष्टान्त से कही गई थी। यहाँ शरीर सूखने के लिये 'तुहिन तामरस' कहा है। श्रीलक्ष्मणजी विशेष धर्म में निरत हैं। श्रीरामजी ने उनके लिये सामान्य धर्म कहा। इसीसे वे व्याकुल हुए। कारण वे आगे स्वयं कहेंगे।

(४) 'उतर न आवत प्रेमबस ···'—प्रेमवश अधीरता से उत्तर नहीं निकलता, न बोलने से उपदेश की स्वीकृति सिद्ध होती। अतः, अकुलाकर चरण पकड़ लिये, पहले भी कहा है—'गहे चरन अति प्रेम अधीरा।' इससे सूचित करते हैं कि मैं इन चरणों को नहीं छोड़ना चाहता। यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥" (वाल्मी० २।३१।२)।

(५) 'तजहु त कहा बसाइ···'—भाव यह कि सेवक को स्वामी की आज्ञा पर उत्तर देने का भी अधिकार नहीं है। यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८) ; तो और कौन-सा वश है। जिसका भरोसा करूँ।

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराई ॥१॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी। निगम नीति कहँ ते अधिकारी ॥२॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥३॥

अर्थ—हे गोसाईं ! आपने मुझे भली भाँति शिक्षा दी, पर मुझे अपनी कायरता से वह कठिन लगी ॥१॥ जो मनुष्य श्रेष्ठ हैं, धीर हैं और धर्म की धुरी के धारण करनेवाले हैं, वे ही वेद धर्म और

नीति के अधिकारी हैं ॥२॥ मैं तो बच्चा हूँ, और हे प्रभो! आपके स्नेह में पला हूँ, क्या हंस मंदराचल और सुमेरु उठा सकता है? ॥३॥

विशेष—(१) 'दीन्हि मोहि सिख नीकि···'—शिक्षा को 'नीकि' कहते हैं। क्योंकि श्रीरामजी ने इसकी प्रशंसा की है। यथा—"मातु पिता गुरु···लहेउ लाभ तिन्ह ·" (दो० ७०)।

(२) 'नरबर धीर धरम धुर···'—वेद में धर्म वर्णित है और नीति शास्त्र में राजनीति कही गई है। इनके करनेवाले नर-श्रेष्ठ धीर लोग हैं। वे धर्म के लिये बड़े-बड़े कष्ट सहने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें आप ही समर्थ हैं।

(३) 'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला···'—अपनेको शिशु कहकर फिर मराल से भी उपमित किया। यथा—"बाल मराल कि मंदर लेहीं।" (बा० दो० २५५); यहाँ वैदिक-धर्म और माता-पिता-गुरु की सेवा सुमेरु है और राजनीति मंदराचल है। मैं शिशु इन दोनों का अधिकारी नहीं हूँ। भाव यह कि जिनपर श्रीरामजी का स्नेह रहता है, उन्हें 'निगम नीति' 'मंदर मेरु' की तरह भार लगते हैं। अर्थात् मुझ मराल को पालकर फिर इसपर पहाड़ न रखिये। 'सिसु' धर्माधर्म को जानता ही नहीं। अत:, उसे विधि-निषेध के त्याग का दोष नहीं। अतएव उपर्युक्त 'नतरु तात होइहि बड़ दोषू।' का दोष मुझे नहीं होगा। मराल विवेक के लिये होता है, बोझा ढोने को नहीं। वैसे मैं शिशु आपके स्नेह का पात्र हूँ। 'निगम नीति' रूप बोझ का नहीं।

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू ॥४॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजगाई ॥५॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर - अंतरजामी ॥६॥

अर्थ—मैं गुरु, पिता, माता किसी को नहीं जानता। हे नाथ! मैं स्वभाव से ही कहता हूँ, विश्वास कीजिये ॥४॥ जहाँ तक जगत् में स्नेह, नाते, प्रीति और प्रतीति वेदों ने स्वयं गान किया है ॥५॥ हे स्वामी! हे दीनबन्धु!! हे हृदय के जाननेवाले!!! एक आप ही मेरे सब हो ॥६॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु ··" उसका उत्तर यहाँ दिया है। 'कहउँ सुभाव नाथ '—यह मैं वेद-पुराण से सुनकर नहीं कहता हूँ। किन्तु स्वाभाविक जन्म से ही यह वृत्ति है, यथा—"बारेहि ते निज हित पति···" (बा० दो० १६७); ऐसा होना तो असम्भव-सा है। इसीलिये कहते हैं कि हे नाथ! विश्वास कीजिये। कुछ साथ चलने के लिये बनाकर नहीं कहता हूँ।

(२) 'मोरे सबइ एक तुम्ह ··'—प्रथम गुरु आदि का न जानना (मानना) कहने में नास्तिकता समझी जाती, पर जब यह कहा गया कि उन नातों के रूप से वस्तुतः आप ही हैं, तब यह परम धर्म हो गया, क्योंकि इसमें—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); का भाव है कि भगवान् ही चराचर रूप से जीवों के पालक हैं।

(३) 'दीनबंधु उर अंतरजामी'—मैं दीन हूँ और आप दीनबंधु हैं। इनकी दीनता, यथा—"मीन दीन जनु जलते काढ़े।" यह ऊपर कही गई। यह जो मैं झूठा कहता हूँ तो आप अन्तर्यामी हैं। अतः, जान ही लेंगे।

धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति-भूति-सुगति-प्रिय जाही ॥७।
मन-क्रम-बचन चरनरत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥८॥

दोहा—करुन सिंधु सुबंधु के, सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥७२॥

अर्थ—धर्म और नीति का उपदेश उसे करना चाहिये, जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य और सुगति प्यारी हो ॥७॥ जो मन, कर्म, वचन से चरणों में प्रेम रखता है, हे कृपासिंधु ! क्या उसका त्याग किया जाता है ? ॥८॥ करुणा के समुद्र प्रभु श्रीरामजी ने सुन्दर भाई के कोमल और विशेष नम्र वचन सुन, स्नेह के कारण डरा हुआ जान उन्हें हृदय से लगाकर समझाया ॥७२॥

विशेष —(१) 'धरम नीति उपदेसिय···'—श्रीरामजी ने इन्हें माता, पिता, गुरु स्वामी के सेवा-धर्म और प्रजा-पालन की नीति का उपदेश किया था। उसका उत्तर देते हैं कि यह उन्हें प्रिय होनी चाहिये कि जो धर्म के फल रूप कीर्ति आदि को चाहते हों। यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू॥ साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूति मय वेनी ॥" (दो० १०५); अर्थात् जिसे इन कीर्ति आदि की इच्छा हो, उसे उक्त धर्म-नीति प्रिय लगेगी।

(२) 'मन-क्रम-बचन चरन रत···'—मन, कर्म, वचन से अनुरक्त व्यक्ति को निष्ठुर भी नहीं त्याग करता, फिर आप तो कृपासिंधु हैं तब त्यागना नहीं ही चाहिये, यथा—"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥" (सुं० दो० १०)।

(३) 'करुनासिंधु सुबंधु के '—'करुनासिंधु'—श्रीलक्ष्मणजी के कृपासिंधु कहने के अनुसार आपने कृपा की। अतः, 'करुनासिंधु' कहा है। 'सुबंधु'—क्योंकि विपत्ति में सहायक हुए। यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (दो० ३००); 'उरलाई'—अर्थात् हमने तुमको त्यागा नहीं है। 'समुझाये'—कि डरो नहीं, मैं तुम्हें माता-पिता की सेवा के लिये ही रखता था, त्यागा नहीं, किंतु तुमपर मेरा प्रेम है। 'जानि सनेह सभीत'—सभीत को अभय देना आपका व्रत है, यथा- "अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अतएव इन्हें भी अभय दिया।

मांगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥१॥
मुदित भये सुनि रघुबर-बानी। भयेउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी ॥२॥

अर्थ—जाकर माता से विदा माँगो। हे भाई ! शीघ्र आओ और वन को चलो ॥१॥ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर (लक्ष्मणजी) आनन्दित हुए, बड़ा लाभ हुआ और बड़ी हानि दूर हुई ॥२॥

विशेष—(१) 'आवहु बेगि चलहु···'—'आवहु'—क्योंकि निश्चय है कि सुमित्राजी आज्ञा देंगी। वहाँ भेजने का प्रयोजन यह कि माता इन्हें प्रपत्ति में और दृढ़ कर देंगी, यह भी भाव है कि इन्हें तो पिता की आज्ञा नहीं है। अतः, माताजी ने हर्ष पूर्वक कहा, तब ले जाने में उसे दुःख न होगा। यथा— "तात बिदा मागिये मातुसन बनि है बात उपाय न और।" (गी० अ० ११); 'बेगि'—क्योंकि विलंब

करने से यह समझा जायगा कि घर छोड़ा नहीं जाता। 'भयउ लाभ बड़ गइ।' साथ जाने से सेवा रूपा भक्ति होगी, वही परम लाभ है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० दो० ५५); श्रीरामजी के साथ विना सेवा न मिलती, यही हानि होती, यथा—"हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि ···"— (उ० दो० ११२)।

विपिन-गवन-प्रकरण

हरषित हृदय मातु पहिं आये। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाये ॥३॥
जाइ जननि-पग नायेउ माथा। मन रघुनंदन - जानकि - साथा ॥४॥
पूछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी ॥५॥

अर्थ—हृदय में प्रसन्न हो माताजी के पास आये। मानों अंधे ने फिर से नेत्र पाया हो ॥३॥ जाकर माता के चरणों में प्रणाम किया। उनका मन श्रीरघुनाथजी और श्रीजानकीजी के साथ है ॥४॥ माता ने लक्ष्मणजी को उदास देखकर (कारण) पूछा। श्रीलक्ष्मणजी ने सब कथा विस्तार से कही ॥५॥

विशेष—(१) 'हरषित हृदय मातु पहिं···'—इनकी दृष्टि श्रीसीतारामजी की सेवा पर ही रहती थी। वह वन-यात्रा सुनने पर मानों चली गई, क्योंकि आपको कुछ नहीं सूझता था—'विधि का होनिहारा' कहा ही है। अब साथ जाने की आज्ञा पर उक्त सेवा मानों फिर से प्राप्त हुई। अब सब कुछ सूझने लगा कि मैं ऐसा करूँगा। ऊपर 'मुदित भये' कहा गया था। उसी का अर्थ यहाँ 'हरषित हृदय' से स्पष्ट हुआ।

(२) 'जाइ जननि-पग'—श्रीरामजी की आज्ञा के पालने के लिये शरीर से माता के यहाँ आये हैं, पर मन वहीं है, क्योंकि इनका सिद्धान्त है—"गुरु पितु मातु न जानउँ···" श्रीरामजी से क्षण-भर का भी वियोग इन्हें असह्य है।

(३) 'पूछे मातु मलिन मन···'—प्रथम इन्हें 'मुदित भये' पुनः 'हरषित हृदय' कहा; फिर इन्हें ही यहाँ 'मलिन मन' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह कि श्रीरामजी ने साथ लिया। इसका सुख तो है, पर उनके वनवास होने का दुःख तो है ही जो कि वाल्मीकीय अ० स० २२–२३ में विस्तार से कहा गया है। इस मानस में भी—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी।" (दो० ६५) "कहँ लगि सहिअ रहिये मन मारे।" (दो० २२८); इत्यादि प्रसंगों से स्पष्ट है। मन की मलिनता से चेष्टा भी मलिन पड़ गई। अतः, देखकर जाना। 'बिसेषी'—जिसमें बार-बार शंका-समाधान करना न पड़े।

गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा ॥६॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू। येहि सनेहबस करब अकाजू ॥७॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ॥८॥

दोहा—समुझि सुमित्रा राम-सिय, रूप-सुसील-सुभाव।
नृप-सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिनि दीन्ह कुदाव ॥७३॥

अर्थ—कठोर वचन सुनकर वे डर गईं, मानों चारों तरफ बनाग्नि देखकर हरणी डर गई हो ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने देखा कि आज अनर्थ हुआ, यह स्नेह-वश कार्य बिगाड़ेगी ॥७॥ माता से विदा माँगते हुए भय सहित सकुचाते हैं, विचारते हैं कि हे विधि ! यह (श्रीरामजी के) साथ जाने को कहेगी कि नहीं ॥८॥ सुमित्राजी ने श्रीराम-सीताजी का रूप, सुन्दर शील और स्वभाव समझकर और उनपर राजा का स्नेह लख (विचार) कर अपना शिर पीटा (और सोचने लगीं) कि इस पापिनी (कैकेयी) ने बुरा दाँव दिया, (जिसमें राजा की हार ही होगी) ॥७३॥

विशेष—(१) 'गई सहमि सुनि बचन ······'—श्रीरामजी के वन जाने की बात कठोर है, 'चहुँ ओरा'-श्रीसीतारामजी वन को जायँगे, श्रीभरतजी राज्य न ग्रहण करेंगे, श्रीलक्ष्मणजी भी वन जायँगे और राजा की मृत्यु होगी, यथा—"सीय कि पियसँग परिहरिहि, लखन कि रहिहहिं धाम। राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥" (दो० ४१); जैसे बनाग्नि से मृगी निकलने का मार्ग न पाकर डरे, वैसे इन्होंने सभी ओर की उपर्युक्त विपत्ति को अनिवार्य देखा तो डर गईं।

(२) 'लखन लखेउ भा अनरथ ······'—श्रीलक्ष्मणजी ने समझा कि माताजी की यह दशा हमारे वन जाने के कारण हुई। अतः, यह प्रेम-वश मुझे वन की आज्ञा न देंगी तो यही अनर्थ होगा, क्योंकि अभी तक कभी मेरा श्रीरामजी से वियोग नहीं हुआ 'आज' ही होगा। यहाँ 'लखन' लखने में चूक गये। वास्तव में वह बात न थी, आगे स्पष्ट ही है। इनके भूलने का कारण प्रथम ही कहा गया—"मन रघुनंदन जानकि साथा।" जब मन ही अन्यत्र है, तो लखें कैसे ?

(३) 'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं'—भय है कि यह यदि न आज्ञा देंगी, तब श्रीरामजी साथ न ले जायँगे। सकुचते हैं कि आज्ञा माँगू तो न जाने हाँ करें अथवा नहीं। 'बिधि'—क्योंकि ब्रह्मा ही संयोग-वियोग के कर्त्ता हैं। यथा—"यह संजोग बिधि रचा बिचारी।" (आ० दो० १६); "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (दो० १७१); पुनः ब्रह्मा बुद्धि के देवता भी हैं। अतः, ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि में ठीक निश्चय कराना चाहते हैं।

(४) 'समुझि सुमित्रा राम सिय ······'—सुमित्राजी ने विचारा कि राजा श्रीसीतारामजी के रूप, शील और स्वभाव के वश हैं। अतः, इनके विरह में प्राण छोड़ देंगे, यथा—"राम-रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि-सुमिरि उर सोचत राऊ ॥" (दो० १४८); इसपर शिर पीटा कि हम सब विधवा होंगी। 'पापिनि'—क्योंकि ऊपर से पतिव्रता बनी थी और श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम करती थी। अंत में पति के प्राण ले रही है और श्रीरामजी को वनवास दे रही है।

वाले हैं ॥२॥ जहाँ रामजी रहें वहीं अयोध्या है, जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहीं दिन है ॥३॥ जो निश्चय ही श्रीसीतारामजी वन जा रहे हैं तो अवध में तुम्हारा कुछ काम नहीं है ॥४॥ गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबकी सेवा प्राण की तरह करनी चाहिये ॥५॥

विशेष—(१) 'धीरज धरेउ कुअवसर जानी ।'—कुअवसर यह कि इस समय अधीर होने से पुत्र को शिक्षा कौन देगा ? पुत्र की विदेश यात्रा में रोना अमंगल है ; अतः, न चाहिये । पुनः धैर्य धरने के अतिरिक्त कोई उपाय भी तो नहीं है—'पापिनि दीन्हि कुदाँव ।' कहा ही गया । 'सहज सुहृद बोली ···'—जैसे सुंदर हृदय है वैसे ही स्वच्छ वाणी बोलीं । सुहृद को ऐसा ही सदुपदेश देना चाहिये । इनका हृदय जन्म से ही ऐसा सुन्दर है, कुछ विद्या-सत्संगादि से सुहृद नहीं हुईं । 'मृदु बानी'—क्योंकि ऐसी ही वाणी से उपदेश लगता है ।

(२) 'तात तुम्हारि मातु बैदेही ।···'—अर्थात् इन्हीं को माता-पिता समझना, हमारी ओर चित्त वृत्ति न करना । श्रीरामजी सब प्रकार के स्नेही हैं, वे ही तुम्हारे प्रति गुरु, पिता, स्वामी सब प्रकार से स्नेह करेंगे । तुम जो वृत्ति यहाँ पर और स्नेहियों में करते थे, वह सब उन्हीं में करना—यह तात्पर्य है ।

तथा—"रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् । अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम् ।" (वाल्मी० २।४०।६), अर्थ श्रीगोस्वामीजी से मिलता है, पर यहाँ (मानस में) इतनी विशेषता है कि यहाँ नाता तोड़ने का प्रसंग है । अतः, माता प्रथम अपना ही नाता तोड़ती हैं । मैं तुम्हारी माता नहीं हूँ, किंतु वैदेही हैं ।

(३) 'अवध तहाँ जहँ राम···'—अर्थात् अयोध्या के सब सुख तुम्हें वन में भी प्राप्त होंगे । अवध का स्मरण भी न करना, श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है, यथा—"छिन छिन लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेह । करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु मातु पितु गेह ॥" (दो० १३९); 'तहँई दिवस जहँ··' जैसे सूर्य के प्रकाश से दिन वैसे ही श्रीरामजी के ही प्रभाव से अवध का आनंद है, यथा—"लागति अवध भयावन भारी । मानहुँ काल राति अँधियारी ॥" (दो० ८२), अर्थात् श्रीराम बिना अयोध्या प्रभाहीन होकर भयानक हो गई ।

(४) 'जौं पै सीयराम बन ···'—अर्थात् स्वामी के साथ ही सेवक को सेवा सहित ही रहना चाहिये ।

'प्रान की नाईं'—प्राण की रक्षा के लिये लोग नाना यत्न करते हैं, वैसे ही प्रीति सहित इनकी सेवा करनी चाहिये । ऐसा ही श्रीलक्ष्मणजी ने किया भी है, यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं । जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (दो० १४१) ।

राम प्रानप्रिय जीवन जी के । स्वारथरहित सखा सबही के ॥६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते । सब मानियहि राम के नाते ॥७॥
अस जिय जानि संग बन जाहू । लेहु तात जग जीवनलाहू ॥८॥

दोहा—भूरि भागभाजन भयेहु, मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ ॥७४॥

अर्थ—श्रीरामजी प्राण-प्रिय हैं और जी के (जीवों के) जीवन हैं और सबके स्वार्थ-रहित सखा हैं ॥६॥ जहाँ तक पूजा के योग्य और परम प्रिय (व्यक्ति) हैं, सब श्रीरामजी के नाते से माने जाते हैं, (इसलिये कि उन-उन रूपों से श्रीरामजी ने ही उपकार किया है, तदनुसार कृतज्ञता रूप से उन-उन की पूजा श्रीरामजी की ही उपासना होती है और इस दृष्टि से श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं) ॥७॥ ऐसा जी में जानकर (उनके) साथ वन जाओ और हे तात ! जगत् के जीवन का लाभ लो ॥८॥ मुझ समेत तुम बड़े भाग्यवान् हुए, मैं बलिहारी जाती हूँ कि छल छोड़कर तुम्हारे मन ने श्रीरामजी के चरणों में जगह बनाई अर्थात् उनका आश्रय लिया ॥७४॥

विशेष—(१) 'राम प्रान-प्रिय जीवन जीके।...' यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय..." (दो० २९०); गुरु, पिता, माता आदि प्राणों के समान हैं और श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक हैं। अतः, इन्हें सबसे अधिक मानकर इनकी सेवा करनी चाहिये। 'स्वारथ रहित सखा सबही के।'—प्रायः संसार के और सब लोग स्वार्थ सहित ही प्रीति करते हैं, यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० १); पर श्रीरामजी स्वार्थ-रहित सबके सखा (सहायक) हैं, यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥" (उ० दो० ४६); तथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (श्वे० ४।६)। अर्थात् ब्रह्म निःस्वार्थ जगत् का हित करता है, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता ९।४); इन बातों से श्रीरामजी को ब्रह्मरूप कहा है।

(२) 'पूजनीय प्रिय परम ...' यथा—"नातो नेह राम सो,मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥" (वि० १७४) तथा—" न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥" (बृह० २।४।५); अर्थात् सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्मा के लिये ही सब प्यारे होते हैं।

(३) 'अस जिय जानि संग...'—'अस' अर्थात् उपर्युक्त रीति से श्रीरामजी का स्वरूप और ऐश्वर्य जानकर साथ जाओ; अर्थात् सेवक बनकर जाओ, भाई (बराबरी) का भाव रखकर नहीं।

(४) "भूरि भाग भाजन भयेहु..."—श्रीरामचरण में मन लगना बड़े भाग्य की बात है, यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा ६३); यह तुम बहुत भारी कार्य कर रहे हो। अतः, इसके योग्य और वस्तु न पाकर मैं अपनापन निछावर करती हूँ, बलि जाती हूँ। माता से सब वृत्तान्त कहते हुए लक्ष्मणजी ने अपनी बात भी कह दी थी, इससे माताजी सराहना करती हैं। 'छाँड़ि छल'—अर्थात् निःस्वार्थ, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००); तन से वन को अवध मानकर वहाँ रहो और मन से निष्काम होकर श्रीरामचरण में अनुराग करो। श्रीरामचरणानुरागी को बड़भागी सातो कांडों में कहा है, देखिये—'अतिशय बड़भागी चरनन लागी।' (बा० दो० २१०)।

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई ॥१॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। रामबिमुख सुत ते हित जानी ॥२॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥३॥
सकल सुकृत कर बड़ फल येहू। राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥४॥

अर्थ—संसार में वही स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजी का भक्त हो ॥१॥ नहीं तो बाँझ

भली थी, उसने राम-विमुख पुत्र से अपना हित जानकर व्यर्थ ही उसे पैदा किया ॥२॥ तुम्हारे ही भाग्य से श्रीरामजी वन को जा रहे हैं। हे तात! (उनके वन जाने का) और कोई कारण नहीं है ॥३॥ सब पुण्यों का बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजी के चरणों में स्वाभाविक स्नेह हो ॥४॥

विशेष—(१) 'पुत्रवती जुबती जग सोई।···'—पुत्र शब्द का अर्थ है कि जो पितरों को नरक से बचावे, यथा—"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुत। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥" (वायुपुराण); श्रीराम-भक्त होने से उसके पितर तर जाते हैं और श्रीराम-विमुख के पितर पश्चात्ताप करते हैं कि मेरी संतान राम-भक्त न हुई। ऐसे पुत्र से बिना पुत्र ही होना भला है। 'बियानी' शब्द पशुओं के बच्चा पैदा करने को कहा जाता है। अतः, 'बादि' शब्द के साथ ठीक पड़ा है, यथा—"तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिखान न द्वै॥ जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै॥ जरि जाउ सो जीवन, जानकि नाथ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥" (क० उ० ६०); अर्थात् उसने मनुष्य की जगह पशु पैदा किया।

(२) 'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।'—पहले दोहे में दोनों का भाग्य साथ ही कहा था, फिर 'पुत्रवती जुबती···' में अपना भाग्य और यहाँ पुत्र का भाग्य कहती हैं, यह पृथक् पृथक् भी कहा गया है। 'तुम्हरेहि भाग' अर्थात् श्रीरामजी अयोध्या में रहे, तो सबका भाग्य रहा, सभी दर्शन पाते थे और सबको उनकी सेवा मिलती थी। अब वन में तुम्हारा ही भाग्य है, सब सेवा तुम अकेले ही पाओगे, यथा—"अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देव-संकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्। एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥" (वाल्मी० २।४०।२५-२६)।

(३) 'सकल सुकृत कर बड़···'—सुकृत से स्वर्ग भी प्राप्त होता है, पर यह छोटा फल है। यथा—"स्वर्गौ स्वल्प अंत दुख दाई।" (उ० दो० ४३); श्रीराम-स्नेह बड़ा फल है। यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६); तथा—"तीर्थाटन साधन··नाना करम धरम··भूत-दया द्विज···जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)। सहज सनेहू'—स्वतः चित्त अनुराग में रंगा रहे।

> राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू ॥५॥
> सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥६॥
> तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम-सिय जासू ॥७॥
> जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥८॥

अर्थ—राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्न में भी न होना ॥५॥ सब प्रकार से विकार को छोड़कर मन, कर्म, वचन से सेवा करना ॥६॥ तुमको वन में सब तरह का सुख है कि जिसके संग में पिता-माता-रूप श्रीरामजी और श्रीसीताजी हैं ॥७॥ हे पुत्र! तुम वही करना, जिससे श्रीरामजी वन में दुःख न पावें, यही हमारा उपदेश है ॥८॥

विशेष—(१) 'राग रोष इरिषा मद मोहू।··'—प्रथम श्रीराम-स्नेह का महत्त्व कहकर अब उसके बाधकों से बचना कह रही हैं कि राग (देह संबंधी प्रेम), क्रोध, ईर्ष्या (डाह) मद और

मोह, ये भक्ति के बाधक हैं। यथा—"तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ०दो० ३८); 'सकल प्रकार बिकार'''—पाँच का नाम गिना कर शेष और विकारों को तई समष्टि में छोड़ना कहती हैं कि मन, कर्म, वचन तीनो शुद्ध रखकर सेवा करना। मन से प्रेम, वचन से प्रिय और अनुकूल भाषण तथा कर्म से कैंकर्य करना।

'राग' छोड़ना यह कि वहाँ रहते हुए घर की स्त्री, भाई, एवं यहाँ की माता और पिता में प्रेम न करना। 'रोष' उनकी कोई बात प्रतिकूल भी हो, तो रुष्ट नहीं होना, जैसे—"मरम बचन जब सीता बोला।" (आ० दो० २७); "आयेहु तात बचन मम पेली।" (आ० दो० ३१); इन वचनों पर श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है कि वे कुछ भी रुष्ट नहीं हुए। 'ईर्ष्या'—यह कि हम भी तो राजकुमार ही हैं। फिर इनकी गुलामी क्यों करें? यह न होने पावे। 'मद'—यह कि मेरे समान बली, गुणी आदि न हो तो इनकी रक्षा हो न हो, यह छोड़ना। 'मोह'—घर का मोह न करना एवं अपनापन भुला देना, इत्यादि मोह छोड़ना है।

(२) 'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू।'—वन में बहुत क्लेश होते हैं। यथा—"बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी।" (दो० ६१) ; श्रीरामजी को क्लेश न हो, यह श्रीसुमित्राजी को बहुत ध्यान है। इस पर गीतावली लं० पद १३ पूरा देखने योग्य है कि श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर उनका शोक नहीं, किंतु शोक इसी बात का है कि श्रीरामजी शत्रु के देश में अकेले हैं। फिर शत्रुघ्नजी को भी भेजती हैं।

छंद—उपदेसु यहु जेहि तात तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं।
पितु-मातु-प्रिय-परिवार-पुर-सुख-सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई॥

सो०—मातुचरन सिरु नाइ, चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भागबस॥७५॥

अर्थ—हमारा यही उपदेश है कि जिसमें तुम्हारे साथ जाने से श्रीराम-जानकीजी सुख पावें। पिता, माता, प्रिय-परिवार और अवधपुर की सुधि वन में भुला दें॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि माताजी ने हमारे) प्रभु श्रीलक्ष्मणजी को शिक्षा देकर आज्ञा दी और फिर आशिष दी कि श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में नित्य-नित्य नवीन, अविरल (सघन=तैल धारवत्) और निर्मल प्रीति हो॥ माता के चरणों में शिर नवाकर मन में डरते हुए शीघ्र चले (कि कहीं देरी होने से श्रीसीतारामजी चल न दिये हों) मानों भाग्यवश हिरण कठिन फंदा छुड़ाकर (तोड़ कर) भागा जाता हो॥७५॥

विशेष—(१) 'उपदेसु यहु जेहि जात'''—ऊपर क्लेश न हो, यह कहा। अब यहाँ सुख देना कहती हैं, कैसा सुख देना—'जेहि न राम''पितु-मातु प्रिय'''।

(२) 'सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई'—'सिख'—'उपदेसु यहु'' से 'बिसरावहीं।'

तक, 'आयसु'—'अस जिय जानि संग बन जाहू।' और 'आसिष'—'रति होउ अबिरल···नई।' पूर्व कहा था—"सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। सीय-राम-पद सहज सनेहू॥" यहाँ उसी की आशिष भी दी।

(३) 'मातु चरन सिर नाइ ··बागुर बिषम···'—माता ने अनुकूल शिक्षा, आज्ञा और आशिष दीं। अतएव श्रीलक्ष्मणजी ने चरणों में प्रणाम किया। माताजी ने विदा के समय पुत्र को हृदय से न लगाया, क्योंकि इनको श्रीसीताजी और श्रीरामजी के लिये अर्पण कर चुकीं और अपना मातृत्व-भाव श्रीजानकीजी को दे चुकी हैं; उसीको चरितार्थ किया। वन से लौटने पर भी श्रीराम-भक्ति के नाते से ही भेटेंगी—"भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि।" (उ० दो० ६)।

'बागुर बिषम'—माताजी की आज्ञा मिलना भारी फंदे का टूटना है, यह भारी बंधन था, यथा—"तात बिदा माँगिये मातु सन बनि है बात उपाय न औरे। ··तुलसी सिख सुनि चले चकित चित, उड़्यो मानों बिहँग बधिक भये भोरे॥" (गी० अ० ११); श्रीलक्ष्मणजी इस आज्ञा-प्राप्ति को अपना बड़ा भाग्य मानते हैं, क्योंकि अपनी ओर से तो ये सब नाते छोड़ चुके थे, पर यहाँ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा थी। यदि माता आज्ञा न देती तो वे साथ न लेते।

गये लखन जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय-साथू॥१॥
बंदि राम-सिय-चरन सुहाये। चले संग नृपमंदिर आये॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गये, जहाँ पर श्रीजानकीजी और उनके नाथ श्रीरामजी थे। प्यारा (अभीष्ट) साथ पाकर मन में प्रसन्न हुए॥१॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के सुहावने चरणों की वंदना करके उनके साथ चले और राज-मंदिर में आये॥२॥

विशेष—(१) 'गये लखन जहँ···'—'जहँ' अर्थात् श्रीकौशल्याजी के महल से निकलने पर श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता-रामजी से मिले थे, फिर ये माता से आज्ञा लेने गये और वे (दोनों) वहीं पर ठहरे हुए, इनका मार्ग देखते थे। इनके आते ही चल दिये, तब राज मंदिर पहुँचे। 'जानकि नाथू'—अर्थात् श्रीजानकीजी और उनके स्वामी, इस तरह का एक शब्द देकर ग्रंथकार ने दोनों को अपृथक् जनाया और श्रीलक्ष्मणजी की दोनों में बराबर प्रीति सूचित की, अन्यथा एक का नाम देने से दूसरे में इनको स्नेह-न्यूनता पाई जाती। 'भे मन मुदित पाइ ···'—प्रथम साथ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा पाकर प्रसन्न हुए थे, यथा—"मुदित भये सुनि रघुबर बानी।" (दो० ७२); फिर माता के यहाँ जाने पर भय और सकोच हुआ था, यथा—'मांगत बिदा सभय सकुचाहीं।' अब माता की भी आज्ञा पाकर पुनः प्रसन्न हुए 'पाइ' अर्थात् भाग्य से साथ मिला। 'प्रिय-साथू'—क्योंकि श्रीसीतारामजी का ही साथ इन्हें प्रिय है और सब नाते अप्रिय हो गये हैं।

(२) 'बंदि राम-सिय-चरन···'—इन्होंने चरण-वंदना से ही सूचित कर दिया कि जिसलिये मैं गया था, वह सिद्ध कर आया। इन्हें अब किसी और से विदा होना नहीं है। श्रीरामजी को तो अभी पिता से भी विदा होना है, पर इन्हों ने सब नाता श्रीरामजी में ही माना है, माताजी ने भी ऐसा ही सिखाया है। अतएव यह वंदना इनके वन-यात्रा के मंगलाचरण की भी है। भाग्यवश छूटकर आये और कुछ देर बाहर जाकर आये। अतः, वंदना करनी ही चाहिये। पुनः माता ने—'रति होउ अबिरल···' की आशिष दी थी, तुरत ही उसको चरितार्थ भी किया। यह चरण-वंदना ही चरण-रति है।

कहहिं परसपर पुर-नर-नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी ॥३॥
तनु कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने ॥४॥
कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥५॥
भइ बड़ि भीर भूप-दरबारा। बरनि न जाइ बिषाद अपारा ॥६॥

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से कहते हैं कि विधाता ने अच्छी तरह बात बनाकर बिगाड़ दी ॥३॥ उनके शरीर दुबले, मन दुःखी और मुख उदास हैं, ऐसे विकल हैं कि मानों मधु-मक्खी मधु छीन (निकाल) लेने से ॥४॥ हाथ मलते हैं, शिर पीटकर पछताते हैं, मानों बिना पंख के पक्षी व्याकुल हो रहे हों ॥५॥ राजा के द्वार पर बड़ी भीड़ हो गई है, विषाद अपार है। अतः, वर्णन नहीं किया जाता ॥६॥

विशेष—(१) 'कहहिं परस्पर पुरनर नारी।''''—पूर्व पुर-नर-नारियों का प्रसंग—"अति बिषाद बस लोग लोगाई।" (दो० ५०); पर छूटा था, वहीं से फिर प्रसंग उठाते हैं।

'भलि बनाइ बिधि ''—राज्य-तिलक की तैयारी हो चुकने पर वनवास दिया गया। यही भली बनाकर बात बिगाड़ना है या खूब बनाकर बिगाड़ा कि जिसका सुधार हो ही नहीं सकता। 'कहहिं परस्पर' यह वचन से दुःखी हैं और—"तन कृस मन दुःख ''"—यह तन और मन से दुःखी है, इत्यादि रीति से तन-मन-वचन तीनों से दुखी हैं।

(२) 'बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।'—इसका विशेष रूपक पूर्व—"देखि लागि मधु कुटिल किराती ''" (दो० १२); पर कहा गया। छत्ता तैयार होने पर मधु निकाला जाता है, वैसा ही, राज्य-तिलक की तैयारी होने पर उसे छीन कर वनवास दिया गया।

(३) 'कर मीजहिं सिर धुनि ''''—कुछ उपाय नहीं चलता। अतः, हाथ मीजते हैं। शिर पीटते हैं कि हमारे कर्म फूट गये। पक्षियों की गति पंख से होती है, वैसे ही श्रीसीताजी और श्रीरामजी ही इन सबकी गति (आश्रय) हैं, वे चले जाते हैं, इससे अकुलाते हैं, अत्यन्त दीन हैं—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ६०)।

(४) 'भइ बड़ि भीर'' ''—इसमें 'बरनि न जाइ' दीपदेहली है, भीड़ और विषाद दोनों ही का वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी पुरवासी आ गये हैं; अतः, भारी भीड़ है।

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन राम पगु धारे ॥७॥
सियसमेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भयेउ भूमिपति भारी ॥८॥

दोहा—सीयसहित सुत सुभग दोउ, देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस, राउ लेइ उर लाइ ॥७६॥

अर्थ—श्रीरामजी आये हैं, यह प्रिय-वचन कहकर मंत्रीजी ने राजा को उठाकर

श्रीसीताजी के साथ दोनों पुत्रों को देखकर राजा बहुत व्याकुल हो गये ॥८॥ श्रीसीताजी के साथ सुंदर दोनों पुत्रों को देख देखकर राजा व्याकुल हो जाते हैं और स्नेह के वश बार-बार उन्हें हृदय से लगा लेते हैं ॥७६॥

विशेष—(१) 'कहि प्रिय बचन राम पगु धारे।'—पूर्व 'चले संग नृप मंदिर आये।' से फिर प्रसंग लेते हैं कि तीनों मूर्ति राज-मंदिर में आये, तब इनका आगमन कहकर मंत्री ने राजा को बैठाया। श्रीरामजी राजा को प्रिय हैं। अतएव इनके आगमन का वचन उनके लिये 'प्रिय बचन' है। उससे धैर्य धरकर बैठेंगे, इसलिये ऐसा कहा।

'सिय समेत दोउ तनय '''—कैकेयी ने केवल श्रीरामजी को ही वनवास माँगा था, पर दो और जाते हैं। अतः, 'भारी' व्याकुल हो गये। यद्यपि 'भूमि-पति' हैं; पृथिवी से कहीं अधिक सहिष्णुता है और धैर्यवान् हैं, पर क्या करें? अपार दुःख है; इससे भारी व्याकुल हो गये।

(३) 'सीय सहित सुत सुभग दोउ''''' 'देखि-देखि' अर्थात् पृथक्-पृथक् एक-एक की सुकुमारता देखते हुए अकुलाते हैं। ऊपर समष्टि में और यहाँ व्यष्टि में देखना है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है। अत्यंत दुःख से बोला नहीं जाता। अतः, हृदय में लगा-लगा कर ही प्रीति प्रकट करते हैं।

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोकजनित उर दारुन दाहू ॥१॥
नाइ सीस पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा ॥२॥
पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमय कत कीजै॥३॥
तात किये प्रिय प्रेमप्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपवादू ॥४॥
सुनि सनेहबस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥५॥

अर्थ—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं सकते। उनके हृदय में शोक से उत्पन्न अत्यन्त कठिन जलन है ॥१॥ अत्यन्त प्रीति-पूर्वक चरणों में सिर नवाकर रघुकुल-वीर श्रीरामजी ने उठकर तब विदा माँगी ॥२॥ पिताजी! मुझे आशिष और आज्ञा दीजिये, हर्ष के समय में आप दुःख क्यों करते हैं ॥३॥ हे तात! प्रिय के विषय में प्रेम करने से असावधानता (अंतःकरण की दुर्बलता) प्रकट होगी। जिससे जगत् में यश जाता रहेगा और निन्दा होगी ॥४॥ यह सुनकर स्नेह के वश उठकर राजा ने श्रीरघुनाथजी को हाथ पकड़ कर बैठाया ॥५॥

विशेष—(१) 'नाइ सीस पद अति '''' जब राजा शोक के कारण बोल न सके। तब 'श्रीरघुबीर' अर्थात् धर्म-वीर, जो कि १४ वर्ष के वनवास पर भी कादरता से उदास न हुए, किंतु पिता की आज्ञा के पालन को परम धर्म मानकर अति अनुराग-पूर्वक आज्ञा माँगते हैं। बड़ों की बंदना में अनुराग चाहिये ही; पर आज महावन के लिये प्रस्थान कर रहे हैं; इसलिये 'अति अनुराग' है।

(२) 'पितु असीस आयसु मोहि'''—क्योंकि पिता-माता की आज्ञा और कृपा से मुद-मंगल होता है। यथा—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुदमंगल कानन जाता॥" (दो० ५२); "तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं।" (दो० १५१); 'हर्ष समय' अर्थात् आपके सत्य की रक्षा से जगत् में आपका सुयश होगा और मुझे भी इस कार्य में उत्साह है। "मंगल समय सनेह '''" (दो० ४५); भी देखिये।

(३) 'जस जग जाइ होइ अपवादू ।'—सत्य पालन श्रेष्ठ धर्म है, उसके छोड़ने से पाप होगा। यथा—"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।" (दो० २७); उस पाप से अपयश होगा, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११); आपका विस्तृत यश है। यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (दो २०८); वह नाश हो- जायगा। पुनः संसार-भर में अपयश होगा ; यथा—"पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजस न होई॥" (दो० ४१); यह कैकेयीजी ने कहा था, तदनुसार यहाँ पर—"तात किये प्रिय प्रेम ··जसु जग जाइ ··" यह श्रीरामजी का वचन है।

(४) 'सुनि सनेह बस उठि···' यद्यपि उठने की शक्ति नहीं है, फिर भी स्नेह से शक्ति आ गई। इससे उठ पड़े। 'नरनाहा'—राजनीति के अनुसार जिस तिस उपाय से राजा को प्रयोजन साधना चाहिये, तदनुसार श्रीरामजी के रखने के लिये अनेको उपाय करेंगे ; अतः, 'नरनाहा' कहा है। 'गहि बाँहा—जाने के लिये खड़े हैं, कहीं यों ही चल न दें; इससे पकड़कर बिठा लिया।

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ करम-अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥७॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥८॥

दोहा—और करइ अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति बिचित्र भगवंत-गति, को जग जानइ जोग॥७७॥

अर्थ— (राजा ने कहा कि) हे तात ! सुनो, तुमको मुनि कहते हैं कि श्रीरामजी चराचर के नायक हैं॥६॥ शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर हृदय में विचार कर फल देता है॥७॥ जो कर्म करता है, वही उसका फल पाता है। ऐसा वेद और नीति तथा सब कोई कहते हैं॥८॥ अपराध तो कोई और करे और दूसरा कोई उसका फल भोग पावे। भगवान् की गति बड़ी ही विचित्र है। उसके जानने के योग्य संसार में कौन है ? अर्थात् कोई नहीं॥७७॥

विशेष—(१) 'सुनहु राम तुम्ह कहँ ···'—यहाँ से श्रीरामजी को रखने के लिये राजा उपाय कर रहे हैं। उपसंहार पर कहेंगे—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥" पहला उपाय इस अर्द्धाली में है कि आपको मुनि लोग कहते हैं कि तुम चराचर के मालिक हो, यथा—"सुनु नृप जासु बिमुख···भयो तुम्हार तनय सोइ ···"(दो० ३), "तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥" (बा० दो० २०७) तब आपको कर्मों का भोक्ता न होना चाहिये। आप हमारे और कैकेयी के बीच में उचित न्याय कीजिये। तात्पर्य यह कि आप वन को न जायँ। इसपर श्रीरामजी ने ध्यान न दिया, तब फिर राजा ने कहा—

(२) 'सुभ अरु असुभ करम···'—अर्थात् हमारे कर्म का फल ऐसा उग्र भी न होना चाहिये कि जिसके परिणाम में मृत्यु हो, किंतु हृदय में विचार करके कर्म के सदृश ही फल दिया जाय। यह दूसरा उपाय भी व्यर्थ हुआ, क्योंकि इसपर भी श्रीरामजी ने कुछ न कहा। तब फिर कहते हैं—

(१) 'करइ जो करम पाव फल ''और करइ अपराध कोउ'''—इस राज्याभिषेक के विषय में कैकेयीजी ने समझा था कि इसमें श्रीकौशल्याजी की सम्मति है, यथा—"ग्रस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥" (दो० १२), वह इसी ईर्ष्या से श्रीरामजी को वन दे रही है। उसी पर राजा कहते हैं कि हे तात ! जो कर्म करता है, वही फल पाता है, इसको वेद और नीति सभी कोई ऐसा ही कहते हैं। परन्तु यहाँ तो अपराध और किसीने किया है और उसका फल और कोई भोग रहा है, अर्थात् कर्म तो हमने किया है, जो विना कैकेयी के पूछे, राजगद्दी की तैयारी की है। अत', इसका परिणाम हमको ही मिलना चाहिये, पर ऐसा न होकर उस कर्म का फल आपको मिल रहा है, जिससे निरपराधिनी श्रीकौशल्याजी को भारी दु ख मिल रहा है। कैकेयी जो चाहे हमें दण्ड देवे, पर हमारे कर्म से और आपसे सम्बन्ध न होना चाहिये। यदि है तो यही भगवान् की अति विचित्र गति है, जिसे कोई नहीं जान सकता। इसपर भी श्रीरामजी का उत्तर न पाया तब निराश हुए—श्रीरामजी के न बोलने का कारण इसी प्रसंग पर वाल्मीकीय रामायण में खोला गया है, यथा—"वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदित॥ न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम। अपानृतं कथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि॥" (२।३४।३७-३८), अर्थात् कैकेयी के कहने में पड़कर धोखा मुझे हुआ और फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है।'''कारण यह कि तुम हमारे ज्येष्ठ पुत्र हो, अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो।

राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥१॥
लखी रामरुख रहत न जाने। धरम धुरंधर धीर सयाने॥२॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अतिहित बहुत भाँति सिख दीन्ही॥३॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये। सासु ससुर पितु सुख समुझाये॥४॥
सिय - मन रामचरन अनुरागा। घर न सुगम बन बिषम न लागा॥५॥

ही रखना चाहते हैं। यही प्रकट करने को आगे 'धरम-धुरंधर' कहा गया है। पुनः ऊपर वाल्मी० २ । ४४ । ३०-३८ से दिखाया गया है। 'धीर' हैं; अतः, वन के दुःख समझकर घबड़ाते नहीं हैं। 'सयाने' हैं; अर्थात् धर्म की गति को जानते हैं।

(३) 'बहुत भाँति सिख दीन्हीं।'—अर्थात् विस्तार से शिक्षा दी, जैसे श्रीरामजी ने दी थी। 'कहि वन के दुख दुसह···'—वन का दुःख सुनाया कि जिससे न जायँ और सास आदि के यहाँ के सुख सुनाया कि जिससे घर में रहें, यथा—"पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥" (दो० ८१)।

(४) 'सिय मन रामचरन···'—श्रीराम-चरणानुराग से विषय सुख की इच्छा ही नहीं रही, यथा—"सुमिरत रामहि तजहि जन, तृन सम बिषय बिलास। राम प्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरज तासु॥" (दो० १४०); "रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥" (दो० ८३); पुनः वन विषम न लगा, यथा—"सिय मन रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥" (दो० १३६)।

औरउ सबहि सीय समुझाई। कहि-कहि बिपिन-बिपति अधिकाई॥६॥
सचिवनारि गुरुनारि सयानी। सहित सनेह कहहि मृदु बानी॥७॥
तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहि ससुर-गुरु-सासू॥८॥

दोहा—सिख सीतलि हित मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
सरद - चंद - चंदनि लगत, जनु चकई अकुलानि॥७८॥

अर्थ—और सबों ने भी वन के बहुत-से दुःख कह-कहकर श्रीसीताजी को समझाया॥६॥ मंत्री (सुमंत्रजी) की स्त्री, गुरु वशिष्ठजी की स्त्री अरुन्धतीजी एवं और भी सयानी स्त्रियाँ स्नेह-सहित कोमल वाणी से कह रही हैं॥७॥ तुमको तो वनवास नहीं दिया गया, जो ससुर, गुरु और सास कहती हैं, वही करो॥८॥ यह शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल शिक्षा सुनकर श्रीसीताजी को अच्छी न लगी। मानों शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी लगते (स्पष्ट होते) ही चकई व्याकुल हो गई हो॥७८॥

विशेष—(१) 'औरउ सबहिं सीय··'—जब राजा के समझाने में न हरीं, तब औरों ने भी वन की विपत्ति कही और अधिक कहकर समझाया। राजा ने सुनाया-भर था, औरों ने उसे समझा-समझाकर कहा। सास आदि का सुख राजा ने ही समझाकर कहा था, इससे इन्होंने उसे न समझाया।

(२) 'सचिव नारि गुरु नारि···'—उन स्त्रियों के समझाने का प्रभाव न पड़ा। तब मंत्री की स्त्री और गुरु-पत्नी आदि बड़ी बूढ़ी समझाने लगीं जिनका विशेष दबाव है। सहित सनेह'—'मृदु बानी'—अर्थात् हृदय से स्नेह है और बाहर से मृदुवाणी है।

(३) 'तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह ··'—श्रीरामजी को माता-पिता ने वनवास दिया है तो वे आज्ञा मानकर वन को जाते हैं। वे ही तुम्हारे ससुर आदि तुम्हें घर रहने की आज्ञा देते हैं तो पति की तरह तुम भी आज्ञा का पालन करो। 'गुरु'—हम सब तुम्हारे गुरु वर्ग में हैं। ससुर और सास के मध्य में गुरु को कहकर उक्त कथन को गुरु-सम्मत जनाया।

(४) 'सिय सीतलि हित मधुर मृदु ···'—चाँदनी शीतल और हितकर होती है। वैसे ही इन स्त्रियों के वचन स्नेहमय हैं। अतएव मधुर हैं, मृदु वाणी से कहे गये हैं, अतएव मृदु हैं। चाँदनी अमृतमय होती है, वैसे वचन भी स्नेहमय हैं। शरद ऋतु की चाँदनी के लगने से चकवी अकुला उठती है, क्योंकि उससे उसका पति से वियोग होता है। वैसे ही इन वचनों से श्रीजानकीजी का पति से वियोग होगा, इससे ये भी अकुल हैं।

सीय सकुचवस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥१॥
मुनि-पट-भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी ॥२॥
नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥३॥
सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी संकोच के मारे उत्तर नहीं देतीं, (परन्तु) इन बातों को सुनकर कैकेयी तमककर (क्रोध सहित तेजी से) उठी ॥१॥ और मुनियों के वस्त्र (वलकल), भूषण (माला-मेखला आदि) और पात्र (कमंडल) ले आई और श्रीरामजी के आगे रखकर उनसे कोमल वाणी से बोली ॥२॥ हे रघुवीर ! तुम राजा को प्राण-प्रिय हो, कादर लोग शील और स्नेह नहीं छोड़ेंगे ॥३॥ चाहे पुण्य, सुन्दर यश और परलोक नष्ट हो जाँय, पर वे कभी भी तुम्हें वन जाने को न कहेंगे ॥७८॥

विशेष—(१) 'सकुच बस उतर···'—उत्तर दे सकती हैं, पर गुरुजनों के प्रति उत्तर देने में संकोच है। 'तमकि उठी कैकेई'—राजा ने श्रीरामजी के रखने के लिये बहुत-से उपाय किये। उसपर श्रीरामजी ने भी कुछ उत्तर न दिया था—'लखी राम रुख रहत न जाने।' वैसे ही श्रीजानकीजी ने भी सबके कहने पर उत्तर न दिया। इसपर कैकेयी ने समझा कि ये सबलोगों के कहने-सुनने पर घर रहना चाहते हैं; वन जाने की इच्छा नहीं है। इसपर क्रोध से भरकर तेजी से उठी। 'मुनि पट भूषन ···'—यह सब लाकर रख दिया कि ये तपस्वी वेष बना लें तो वन जाने का निश्चय हो जाय। उसने ऐसा ही वर भी माँगा था कि मेरे सामने मुनि वेष करके जायँ—"होत प्रात मुनि बेष···" (दो० ३३)। 'बोली मृदुबानी'—कोमल वाणी से कहती है कि जिसमें प्रसन्न होकर वन को चल दें, क्योंकि कैकेयी का बल वचनबद्ध होने के कारण राजा ही पर है। श्रीरामजी यदि न जाना चाहें तो इनपर उसका बल नहीं है।

(२) 'नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह···'—'प्रान-प्रिय'—राजा के प्राण चाहे चले जायँ, पर वे तुम्हें वन जाने को न कहेंगे, क्योंकि तुम उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय हो। 'रघुवीर' अर्थात् तुम तो धर्म में वीर हो, अतः, धर्माचरण करो। राजा तो 'भीरा' अर्थात् धर्म में कादर हैं, इससे वे पुत्र का शील स्नेह नहीं छोड़ सकते।

(३) 'सुकृत सुजस परलोक···'—अर्थात् राजा तुम्हें वन भेजना नहीं चाहते। इसके कारण उनके सुकृत, सुयश और परलोक नाश हो जायँगे, यह भी उन्हें स्वीकार है, यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ ॥ ··· लोचन ओट राम जनि होहीं ॥" (दो० ४४)। तात्पर्य यह कि तुम स्वयं यदि वन को चले जाओ तभी राजा के सुकृत, सुयश आदि बच सकते हैं।

अस विचारि सोइ करहु जो भावा । राम जननि सिख सुनि सुख पावा ॥५॥
भूपहि बचन बान-सम लागे । करहिं न प्रान पयान अभागे ॥६॥
लोग बिकल मुरछित नरनाहू । काह करिय कछु सूझ न काहू ॥७॥
राम तुरत मुनिबेष बनाई । चले जनक जननी सिर नाई ।८॥

दोहा—सजि बन-साज-समाज सब, बनिता बंधु समेत ।
बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहिं अचेत ॥७९॥

शब्दार्थ— पयान (प्रस्थान)= जाना, गमन । साज-समाज = सामान सामग्री ।

अर्थ—ऐसा विचार कर वही करो, जो तुम्हें अच्छा लगे, श्रीरामजी ने माता कैकेयीजी की शिक्षा सुनकर सुख पाया ॥५॥ राजा को (कैकेयी के) वचन वाण के समान लगे, (वे हृदय में कहते हैं कि) अभागे प्राण अब भी नहीं जाते ॥६॥ लोग व्याकुल हैं और राजा मूर्च्छित हैं। क्या किया जाय, यह किसी को नहीं सूझता ॥७॥ श्रीरामजी तुरत मुनियों का-सा वेष बनाकर पिता-माता को प्रणाम कर के चल दिये ॥८॥ वन का सब सामान (खंती, खोंचो, कुल्हाड़ी आदि) धारण कर स्त्री और भाई सहित प्रभु श्रीरामजी ब्राह्मण और गुरु के चरणों की वंदना कर सबको अचेत करके चले ॥७९॥

विशेष—(१) 'अस विचारि सोइ करहु ···'—राजा तुम्हारे लिये सुकृत आदि नाश कर रहे हैं। अब तुम्हारे हाथ की बात है। चाहे रक्खो और चाहे नाश होने दो। 'सिख सुनि सुख पावा'—श्रीरामजी को हाथ पकड़ कर बैठा लिया था। अतः, वे शील तोड़कर कैसे जाते, संकोच में थे। कैकेयी ने मुनि वेष की वस्तु ला दी और वचनों द्वारा धर्म का उपदेश करके जाने का भी योग लगा दिया, इसीसे श्रीरामजी ने सुख पाया।

(२) 'भूपहि बचन बान-सम···'—इस तरह के आघात पर भी प्राण नहीं निकलते। अतः, वियोग दुःख भी सहेंगे, इसीसे अभागे हैं। यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान। तौ प्रभु बिषम बियोग दुःख, सहिहैं पामर प्रान ॥" (दो० ६०)।

(३) 'लोग बिकल मुरछित ···'— सब व्याकुल हैं ; यही कहते हैं कि क्या करें ? कुछ उपाय नहीं सूझता, वे रानी, राजा और श्रीरामजी, इनमें किसी का मत फेरने का उपाय नहीं पाते। राजा मूर्च्छित हैं। ऊपर कहा गया —'भूपहिं बचन बान सम लागे।' बाण लगने से मूर्च्छा होती ही है।

(४) 'राम तुरत मुनि बेष···'—'तुरत' से माताजी के वचन पालने में श्रद्धा दिखाई। माता-पिता को प्रणाम करके चले। यह आपका स्वभाव ही है। यथा —"प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहि माथा ॥" (बा० दो० २०४)। और यह भी भाव है कि वनवास के कारण हृदय में दुःख नहीं है। यह प्रणाम वन-यात्रा का मंगलाचरण भी है।

(५) 'सजि बन साज-समाज ···'—ऊपर मुनि वेष धारण में वलकल वस्त्र आदि आ गये। यहाँ 'साज-समाज' से खंती, खोंची, कुल्हाड़ी, पेटी, अस्त्र-शस्त्र, कवच, तर्कश लेने का अर्थ है। यथा—"खनित्र-पिटके चोभे समानयत गच्छत ।" (वाल्मी० २।३०।५) ; "तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च। रथोपस्थे प्रविन्यस्य स चर्म कठिनं च यत् ॥" (वाल्मी० २।४०।१५) ; 'बंदि बिप्र गुरु चरन ···'

प्रथम कहा गया—"चले जनक जननी सिरनाई।" फिर यहाँ भी कहते हैं—'चले' इसका भाव यह है कि प्रथम कोप-भवन में माता-पिता को प्रणाम करके चले, तब बाहर गुरु वशिष्ठजी और विप्र-वृंद के प्रणामकर चले (यहाँ चौथे चरण में 'चले' में एक मात्रा अधिक हो गई; क्योंकि लोगों के साथ कवि भी विकल हैं। 'वनिता'—श्रीजानकीजी सादे वेष से ही गई थीं। शृंगवेरपुर में—'कनक बिंदु दुइ···' कहा गया है। वाल्मी० में स्पष्ट है; पर कुछ तापस-चिह्न भी था। यथा—"तापस वेष जनक सिय देखी।" (दो० २८५)।

> निकसि बसिष्ठद्वार भये ठाढ़े। देखे लोग बिरहदव दाढ़े ॥१॥
> कहि प्रिय बचन सकल समुझाये। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाये ॥२॥
> गुरु सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे ॥३॥
> जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥४॥

अर्थ—राज-मंदिर से निकल कर वसिष्ठजी के दरवाजे पर आकर खड़े हुए, देखा कि लोग विरह-रूपी दावाग्नि से दाढ़े (दग्ध हो रहे) हैं ॥१॥ प्रिय वचन कहकर सबको समझाया। फिर रघुवीर श्रीरामजी ने ब्राह्मण-मंडली को बुलाया ॥२॥ गुरुजी से कहकर उनको 'वर्षासन' दिया और उनका आदर दान और विनय से वश कर लिया ॥३॥ याचकों को दान और सम्मान से संतुष्ट किया। पवित्र मित्रों को पवित्र प्रेम से अच्छी तरह संतुष्ट किया ॥४॥

विशेष—(१) 'निकसि बसिष्ठद्वार भये···'—देवता, गुरु आदि के स्थान से यात्रा उत्तम कही गई है। यथा—"देवगृहाद्वा गुरुसद्मनाद्वा स्वगृहान्नित्रकलत्रगृहाद्वा।" (मुहूर्त चिंतामणि); अतः, श्रीरामजी गुरु के यहाँ से चलेंगे यहाँ ठाढ़े हुए, क्योंकि गुरु का घर वन के तुल्य है। 'बिरह दव···' यथा—"नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर-नारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥" (दो० ८३)।

(२) 'कहि प्रिय बचन सकल···'—यहाँ प्रिय-वचन ये हैं कि मैं पिता की आज्ञा पूरी करके शीघ्र लौटूँगा। धर्म के कारण आपलोगों से पृथक् जाना हो रहा है क्योंकि मुझे ऐसा न करने से राजा असत्य-वादी होंगे और मैं भी पिता की आज्ञा न पालन करके धर्म से च्युत हूँगा, जोकि इस कुल के लिये सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इस कुल में सभी राजा सत्यसंध होते आये हैं। 'बिप्रबृंद'—ये ब्राह्मण वे हैं जो पूजापाठ के वरणी थे और वर्षासन पाया करते थे। विद्यार्थियों एवं तपस्वियों के लिये भी वर्षासन दिया जाता था।

(३) 'गुरु सन कहि बरषासन ···'—शीघ्र जाना है, इसलिये स्वयं न देकर गुरु से कह दिया कि मेरे स्वकीय (कनकभवन के) धन से दे दिया जाय। यथा—"अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वयासह परंतप॥ वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः। तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम्॥" (वाल्मी० २।३।१२५-२६); अर्थात् मैं अपना धन तपस्वी ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और उपजीवियों को देना चाहता हूँ। 'वर्षासन' (वर्ष + अशन) = वर्ष भर के लिये भोजन, पर यहाँ १४ वर्ष के लिये दिये जाने से तात्पर्य है।

'आदर दान विनय बस कीन्हे'—ब्राह्मण आदर, दान और विनय से वश होते हैं। फिर इनके वश होने से त्रिदेव वश हो जाते हैं। यथा—"जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्णु महेसा॥" (बा० दो० १६४)।

(४) 'जाचक दान मान···'—मान बिना दान व्यर्थ है, अतः, मान के साथ दिया।

'मीत पुनीत ···'—'पुनीत' शब्द दीपदेहली है। पवित्र (निश्छल) मित्र द्रव्य आदि नहीं चाहते। इसलिये उन्हें शुद्ध प्रेम से संतुष्ट किया।

दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरुहिं सौंपि बोले कर जोरी॥५॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥६॥
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम सब सन मृदु बानी॥७॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रहइ भुआल सुखारी॥८॥

दोहा—मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब, पुरजन परम प्रबीन॥८०॥

अर्थ—फिर दासियों और दासों को बुलाकर गुरुजी को सौंपकर हाथ जोड़े हुए बोले॥५॥ हे गोसाईं! इन सबका पालन-पोषण (सार सँभार = देख-रेख) आप माता-पिता की तरह कीजियेगा॥६॥ बार-बार दोनों हाथ जोड़कर श्रीरामजी सबसे कोमल वाणी से कहते हैं॥७॥ कि वही सब प्रकार से मेरा हितैषी है जिससे राजा सुखी रहें॥८॥ जिससे सब माताएँ मेरे विरह में दुःख से दीन न हों, हे परम चतुर पुरजनो! तुम सब वही उपाय करना॥८०॥

विशेष—(१) 'दासी दास बोलाइ ·· ···'—दासी-दास श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं। यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५); इसलिये उन्हें बुलाया और तब गुरुजी को सौंपा; इससे उन्हें सम्मान और संतोष दिया। राजा शोक से विह्वल हैं। अतः, इस समय राज्य-कार्य गुरुजी के ही हाथ में है, इसलिये उन्हें ही सौंपा—'सबकै सार सँभार ···' अर्थात् ये सेवक घर के हैं। कहीं जाने के नहीं; अतः, आप इनकी देख-भाल रखियेगा। गुरुजी से कहना है, अतः, हाथ जोड़कर कहा है।

[ये दासी-दास वे हैं जो श्रीजनकपुर से दायज में आये और जो श्रीकौशल्याजी के नैहर के थे]

'जनक जननी की नाईं'—क्योंकि श्रीरामजी स्वयं भी इन्हें माता-पिता के तुल्य पालते आये हैं। यह सूचित हुआ।

(२) 'बारहिं बार जोरि जुग···'—श्रीरामजी जानते हैं कि राजा हमारे विरह में अत्यन्त दुःखी हैं। इसलिये पुरजनों से बार-बार निहोरा करते हैं कि जिससे वे प्रवीणता-पूर्वक समझाते रहें। इस युक्ति से पुरजनों को भी समझा रहे हैं कि वे स्वयं निःशोच होकर राजा को समझाते रहें। इस तरह राजा को समझाने के लिये गुरुजी से न कहा, क्योंकि गुरुजी सर्वज्ञ हैं, कहीं ध्यान-द्वारा भविष्य जान गये हों और कह दें कि राजा तो जियेंगे ही नहीं, कोई क्या समझावेगा?

(३) 'सोइ सब भाँति'''—जो राजा का हित करेगा उसे मैं अपना ही हित मानूँगा। 'भुआल' उनके सुखी रहने से पृथिवी-भर के लोग सुखी रहेंगे। 'जेहि ते'—ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो।

(४) 'मातु सकल मोरे बिरह'''—सब माताएँ श्रीरामजी को समान प्रिय हैं। यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥" (दो० १४), अतः, 'सकल' कहा है। 'सोइ' अर्थात् जिस तरह बने, तुम सब परम प्रवीण हो, इससे जानते हो।

येहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु पद-पदुम हरषि सिर नावा॥१॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥२॥
राम चलत अति भयेउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू॥३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष-बिषाद-बिबस सुरलोकू॥४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजी ने सबको समझाया। गुरुजी के चरणकमलों में हर्षपूर्वक शिर नवाया॥१॥ श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी और कैलाशगिरि के स्वामी श्रीशिवजी को वंदना करके और (गुरुजी की) आशिष पाकर श्रीरघुनाथजी चले॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगर-भर का आर्तस्वर (रोने का शब्द) सुना नहीं जाता॥३॥ लंका में अशकुन और अवध में अत्यंत शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद के विशेष वश हो गया॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राम सबहिं समुझावा।'—'सब' को समझाना एक साथ ऐश्वर्य दृष्टि से ही बनता है। इसलिये 'राम' शब्द दिया गया। इसका उपक्रम—"कहि प्रिय बचन सकल समुझाये।" (दो० ७१); और यहाँ—'येहि बिधि राम''' उपसंहार है।

(२) 'गुरु-पद-पदुम हरषि ''—'पदुम'—गुरुजनों के चरणों को कमल से उपमित करने की रीति है। 'हरषि'—गुरुजी को प्रणाम करते हुए हर्ष एवं पुलक होना ही चाहिये। यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'गनपति गौरि गिरीस मनाई।'—विघ्न निवारण करने के लिये गणेशजी को मनाया। शत्रु विनाश हेतु दुर्गा (गौरी) को, यथा—"दुरगा कोटि अमित अरिमर्दन।" (उ० दो० ९०); रण में स्थिरता और शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये गिरीश को मनाया। यात्रा में प्रायः इनके मनाने की रीति भी है। 'चले असीस पाइ ''' गुरुजी ने प्रत्यक्ष आशिष दी और देवताओं ने परोक्ष। इन सबको मना कर चलने से माधुर्य का नाम 'रघुराई' दिया गया। चलने के संबंध में प्रायः 'रघुराई' नाम दिया गया है। क्योंकि—'रघि गतौ' धातु के अनुसार 'रंघति गच्छतीति रघुः' शब्द का मेल है।

(४) 'राम चलत अति'''—विषाद तो प्रथम से ही था, अब 'अति' हो गया। इसीसे बड़े जोर से सब रो रहे हैं। वह आर्त-स्वर सुना नहीं जाता, करुणा छा गई है। सब त्याग कर चल दिये। यथा—"राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं॥" (क० अ० १)।

(५) 'कुसगुन लंक अवध ''हरष-बिषाद'''—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति से अर्थ है। लंका में अशकुन हुए, इससे देवताओं को हर्ष हुआ, क्योंकि इससे राक्षसों का नाश अपना बंदी छूटने से छूटना निश्चय हुआ। अवध में अत्यंत शोक हुआ। इससे उन्हें विषाद हुआ। क्योंकि इन निर्दोष प्रजाओं को दुःख देने के कारण वे ही हैं। अतः, यह अत्यंत शोक देखकर दुखी हो गये।

गइ मुरछा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत्र कहन अस लागे ॥५॥
राम चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तनु माहीं ॥६॥
येहि ते कवन व्यथा बलवाना। जो दुख पाइ तजिहि तनु प्राना ॥७॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लेइ रथ संग सखा तुम्ह जाहू ॥८॥

दोहा—सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ॥८१॥

अर्थ—मूर्च्छा दूर हुई तब राजा जगे (सचेत हुए) और सुमंत्रजी को बुलाकर ऐसा कहने लगे ॥५॥ श्रीरामजी वन को चल दिये, पर प्राण नहीं निकल रहे हैं। किस सुख के लिये शरीर में रहते हैं? ॥६॥ इससे अधिक प्रबल कौन-सी पीड़ा होगी कि जिसे पाकर शरीर प्राणों को छोड़ेगा ॥७॥ राजा ने फिर धैर्य धरकर कहा कि हे सखा! तुम रथ को लेकर साथ जाओ ॥८॥ दोनों कुमार अत्यन्त सुकुमार हैं और जानकीजी भी अत्यंत सुकुमारी हैं। रथ में चढ़ाकर ले जाओ, वन दिखलाकर चार दिन बीतते ही लौट आना ॥८१॥

विशेष—(१) 'गइ मुरछा तब···'—जब कैकेयी ने मुनि-पट-भूषण आदि लाकर श्रीरामजी को दिया था। राजा तभी मूर्च्छित हो गये थे—"लोग बिकल मुरछित नरनाहू।" कहा गया था, वह मूर्च्छा अब छूटी। यहाँ धैर्य धरने से चेतनता हुई। यह आगे 'पुनि धरि धीर कहइ' से स्पष्ट है कि प्रथम भी धैर्य धरना हुआ है।

(२) 'राम चले बन प्रान···'—'राम' के वन जाने के साथ प्राणों को निकल जाना था। यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥" (दो० १६५)। पर मूर्च्छा होने पर भी नहीं गये। प्राण सुख के लोभ से शरीर में रहते हैं सो अब इन्हें कौन-सा सुख है जिसके लिये ठहरे हुए हैं। सुख-स्वरूप तो रामजी हैं, वे चले ही गये।

(३) 'येहि ते कवन व्यथा···'—दुःख से प्राण निकलते हैं, सो राम-वियोग से अधिक कौन-सी पीड़ा होगी, जिसपर प्राण निकलेंगे, यथा—"सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं ॥" (दो० ४४)।

(४) 'पुनि धरि धीर कहइ···'—'नरनाह' हैं, बड़े-बड़े आघात भी सहनेवाले हैं, अतएव धैर्य धारण किया। सामान्य व्यक्ति ऐसा धैर्य नहीं धर सकता। 'सखा तुम्ह जाहू'—'सहायं ख्यातीति सखा' अर्थात् तुम सखा हो हमारी सहायता करो। तुम स्वयं जाओ, क्योंकि आगे कहा हुआ कार्य समझाना-बुझाना तुम्हीं से अच्छा होगा। अथवा सखा हो, अतः, प्राण-समान हो, प्राण न गये तो बदले में तुम्हीं साथ जाओ।

(५) 'सुठि सुकुमार कुमार···'—अत्यन्त सुकुमार हैं, पैदल चलने के योग्य नहीं हैं, अतः, रथ पर चढ़ाकर ले जाओ। वन में रहने योग्य नहीं हैं, अतएव वन दिखलाकर लौटा लाओ। 'दिन चारि' अल्पकाल का वाचक है, यथा—"यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी ॥" (सं०

(३) 'सोइ सब भाँति···'—जो राजा का हित करेगा उसे मैं अपना ही हित मानूँगा। 'सुआल' उनके सुखी रहने से पृथिवी-भर के लोग सुखी रहेंगे। 'जेहि ते'—ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो।

(४) 'मातु सकल मोरे बिरह···'—सब माताएँ श्रीरामजी को समान प्रिय हैं। यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥" (दो० १४); अतः, 'सकल' कहा है। 'सोइ' अर्थात् जिस तरह बने, तुम सब परम प्रवीण हो, इससे जानते हो।

येहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु-पद-पदुम हरषि सिर नावा ॥१॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई ॥२॥
राम चलत अति भयेउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू ॥३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष - बिषाद - बिबस सुरलोकू ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजी ने सबको समझाया। गुरुजी के चरणकमलों में हर्षपूर्वक सिर नवाया ॥१॥ श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी और कैलाशगिरि के स्वामी श्रीशिवजी की वंदना करके और (गुरुजी की) आशिष पाकर श्रीरघुनाथजी चले ॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगर-भर का आर्तस्वर (रोने का शब्द) सुना नहीं जाता ॥३॥ लंका में अशकुन और अवध में अत्यंत शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद के विशेष वश हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राम सबहिं समुझावा।'—'सब' को समझाना एक साथ ऐश्वर्य दृष्टि से ही बनता है। इसलिये 'राम' शब्द दिया गया। इसका उपक्रम—"कहि प्रिय बचन सकल समुझाये।" (दो० ७१); और यहाँ—'येहि बिधि राम···' उपसंहार है।

(२) 'गुरु-पद-पदुम हरषि···'—'पदुम'—गुरुजनों के चरणों को कमल से उपमित करने की रीति है। 'हरषि'—गुरुजी को प्रणाम करते हुए हर्ष एवं पुलक होना ही चाहिये। यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'गनपति गौरि गिरीस मनाई।'—विघ्न निवारण करने के लिये गणेशजी को मनाया। शत्रु-विनाश-हेतु दुर्गा (गौरी) को, यथा—"दुरगा कोटि अमित अरिमर्दन।" (उ० दो० ३०); रण में स्थिरता और शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये गिरीश को मनाया। यात्रा में प्रायः इनके मनाने की रीति भी है। 'चले असीस पाइ ···' गुरुजी ने प्रत्यक्ष आशिष दी और देवताओं ने परोक्ष। इन सबको मना कर चलने माधुर्य का नाम 'रघुराई' दिया गया। चलने के संबंध में प्रायः 'रघुराई' नाम दिया गया है। क्योंकि 'रघि गतौ' धातु के अनुसार 'रंघति गच्छतीति रघुः' शब्द का मेल है।

(४) 'राम चलत अति···'—विषाद तो प्रथम से ही था, अब 'अति' हो गया। ··· ओर से सब रो रहे हैं। वह आर्त-स्वर सुना नहीं जाता, करुणा छा गई है। सब त्याग यथा—"राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं॥" (क० अ० १)।

(५) 'कुसगुन लंक अवध ··हरष-बिषाद···'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की लंका में अशकुन हुए, इससे देवताओं को हर्ष हुआ, क्योंकि इससे राक्षसों का नाश छूटना निश्चय हुआ। अवध में अत्यंत शोक हुआ। इससे उन्हें विषाद हुआ प्रजाओं को दुःख देने के कारण वे ही हैं। अतः, यह अत्यंत शोक देखकर दुखी हो

येहि बिधि करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रान-अवलंबा ॥६॥
नाहि त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥७॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ। राम-लखन-सिय आनि देखाऊ ॥८॥

दोहा—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अतिबेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर, सीयसहित दोउ भाइ ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार कदंब (बहुत-से) उपाय करना, यदि वे लौटें तो प्राणों को सहारा हो जाय ॥६॥ नहीं तो अंत में मेरा मरण होगा। विधाता के वाम (विपरीत) होने पर कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ ऐसा कहकर राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े (और बोले कि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ ॥८॥ राजा की आज्ञा पा शिर नवाकर सुमंत्रजी अत्यन्त फुर्ती से एवं अत्यन्त तेज चलनेवाला रथ तैयार करके नगर के बाहर गये, जहाँ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई थे ॥८२॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करेहु···'—भाव यह कि हमने लक्ष्य-मात्र करा दिया, तुम इसी तरह से और भी बहुत-से उपाय करना। पुनः यह भी कि जैसे हमने रामजी के रखने के लिये बहुत उपाय किये हैं, यथा—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी" (दो० ७७)। वैसे तुम श्रीसीताजी के फेरने के लिये करना।

'प्रान अवलंबा'—श्रीसीताजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी हैं। तत्त्वतः भी उनसे अपृथक् तत्त्व हैं। यह—"गिरा अरथ जल बीचि···" (बा० दो० १८); और मनु-प्रसंग पर कहा गया है। इससे उनके आधार पर प्राण रह सकते हैं, क्योंकि हमारा जीवन राम-दर्शन के अधीन है; यथा—"जीवन राम दरस आधीना।" (दो० ३१)।

(२) 'नाहिं त मोर मरन परिनामा।···'—'नाहिं त' अर्थात् जबतक तुम न आओगे तबतक इस आशा में हम प्राण रक्खेंगे। 'परिनामा' अर्थात् प्रतिफल-रूप में, अंत में।

'बिधि बामा'—जब अपने सब उपाय निष्फल हो जायँ, तब समझ लेना चाहिये कि विधि वाम हैं, अर्थात् हमारे भाग्य बुरे हैं। वही राजा भी कह रहे हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के रखने का बहुत उपाय कर चुके। अब यही एक और कर रहे हैं, यदि न सिद्ध न हुआ तो विधिवामता का निश्चय कर लेंगे।

(३) 'अस कहि मुरछि परा महि···'—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर से निराशता तो थी ही, यथा—"जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥" (दो० ८१); श्रीजानकीजी के लौटने में भी उक्त विधिवामता की कल्पना आ गई। अतः, निराश होकर यह कहते हुए मूर्च्छित हो गये कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ। जैसा—"रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि।" पर कह चुके हैं। 'अस कहि' शब्द आगे और पीछे दोनों के साथ लग सकता है। 'सिय' शब्द को अंत में करके 'आनि देखाऊ' के साथ रक्खा है, क्योंकि इनके लौटने की विशेष आशा है।

'रथ अति बेग'—अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर।

दो० १०); अर्थात् शीघ्र लौटा लाओ। भाव यह कि मार्ग में धूप, बयारि और भूख प्यास से दुःखित हो लौट आवेंगे।

जौ नहि फिरहि धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥१॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेस-किसोरी ॥२॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोर सिख अवसर पाई ॥३॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥४॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥५॥

अर्थ—दोनों भाई धैर्यवान् हैं और श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और व्रत-धारण में दृढ़ हैं, अतएव यदि वे न फिरें ॥१॥ तो तुम हाथ जोड़कर विनती करना कि हे प्रभो! जानकीजी को लौटा दीजिये ॥२॥ जब श्रीसीताजी वन देखकर डरें तब अवसर पाकर मेरी शिक्षा कहना ॥३॥ कि सास और ससुर ने ऐसा संदेश कहा कि हे पुत्री! घर लौट चलिये, वन में बहुत क्लेश होता है ॥४॥ कभी पिता के घर और कभी ससुराल में जब जहाँ तुम्हारी रुचि हो रहना ॥५॥

विशेष—(१) 'जौ नहि फिरहि धीर ···'—'धीर' दोनों भाई विषय त्यागने में और वन के क्लेश सहने में धीर हैं। 'सत्यसंध'—श्रीरामजी सत्य प्रतिज्ञ हैं। कैकेयी के सामने वनवास की प्रतिज्ञा कर चुके और 'दृढ़व्रत' हैं, मुनि-वेष और वृत्ति का व्रत धारण कर चुके हैं। अतः, जो वे अपनी प्रतिज्ञा और व्रत न छोड़ें क्योंकि 'रघुराई' हैं, रघुवंशी सभी दृढ़व्रत और सत्यप्रतिज्ञ होते आये हैं, ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं।

(२) 'तौ तुम बिनय करेहु···'—इस तरह विनय से वे प्रसन्न होकर लौटा देंगे, क्योंकि वे ही लौटाने में 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'मिथिलेस-किसोरी' भाव यह कि हम मिथिलेशजी को क्या उत्तर देंगे। 'मिथिलेस' शब्द से पिता का ऐश्वर्य और 'किसोरी' से वहाँ के लाड़-दुलार का भाव है।

(३) 'जब सिय कानन देखि ···'—श्रीजानकीजी को कौशल्याजी, श्रीरामजी, राजा स्वयं; पुनः औरों ने भी वन के दुःख सुनाये। पर वे न डरी थीं, किन्तु वन देखकर अवश्य डरेंगी। तब उसी अवसर पर मेरी शिक्षा कहना, जिससे धैर्य धारण हो। यहाँ 'सिख', 'उपदेश' और 'संदेश' एक ही अर्थ में हैं।

(४) 'सासु ससुर अस···'—सास कौशल्याजी यद्यपि उस स्थल पर नहीं हैं, तथापि राजा उनकी तरफ से कहते हैं। इसलिये कि जानकीजी कौशल्याजी को बहुत मानती हैं। उनकी आज्ञा सुनकर अवश्य लौटेंगी। (कौशल्याजी यह क्यों न चाहेंगी, यह राजा जानते ही हैं)। 'पुत्रि' शब्द का भाव भी पुत्र शब्द के समान नरक से बचाने का है; अर्थात् तुम्हारे लौटने से हम सब नरक का-सा दुःख भोगने से बचेंगे। यथा—"तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुर पुर नरक समान॥" (दो० ५४); 'बन बहुत कलेसू'—अभी तो वन का प्रारंभ ही है आगे बहुत क्लेश है। 'पितु गृह कबहुँ '—पिता का घर लड़कियों को अधिक रुचिकर होता है। इससे प्रथम कहा 'जहाँ रुचि होइ'—लड़की नैहर में माता-पिता की रुचि से विदा होती है और ससुराल में सास-ससुर की रुचि से। सो न होगा, यहाँ और वहाँ का आना-जाना तुम्हारी ही रुचि से रहेगा।

येहि विधि करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रान-अवलंबा ॥६॥
नाहि त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥७॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ। राम-लखन-सिय आनि देखाऊ ॥८॥

दोहा—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अतिबेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर, सीयसहित दोउ भाइ ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार कदंब (बहुत-से) उपाय करना, यदि वे लौटें तो प्राणों को सहारा हो जाय ॥६॥ नहीं तो अंत में मेरा मरण होगा। विधाता के वाम (विपरीत) होने पर कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ ऐसा कहकर राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े (और बोले कि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ ॥८॥ राजा की आज्ञा पा शिर नवाकर सुमंत्रजी अत्यन्त फुर्ती से एवं अत्यन्त तेज चलनेवाला रथ तैयार करके नगर के बाहर गये, जहाँ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई थे ॥८२॥

विशेष—(१) 'येहि विधि करेहु···'—भाव यह कि हमने लक्ष्य-मात्र करा दिया, तुम इसी तरह से और भी बहुत-से उपाय करना। पुनः यह भी कि जैसे हमने रामजी के रखने के लिये बहुत उपाय किये हैं, यथा—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी" (दो० ७७)। वैसे तुम श्रीसीताजी के फेरने के लिये करना।

'प्रान अवलंबा'—श्रीसीताजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी हैं। तत्त्वतः भी उनसे अपृथक् तत्त्व हैं। यह—"गिरा अरथ जल बीचि···" (बा० दो० १८); और मनु-प्रसंग पर कहा गया है। इससे उनके आधार पर प्राण रह सकते हैं, क्योंकि हमारा जीवन राम-दर्शन के अधीन है; यथा—"जीवन राम दरस आधीना।" (दो० ३३)।

(२) 'नाहि त मोर मरन परिनामा।···'—'नाहि त' अर्थात् जबतक तुम न आओगे तबतक इस आशा में हम प्राण रक्खेंगे। 'परिनामा,' अर्थात् प्रतिफल-रूप में, अंत में।

'बिधि बामा'—जब अपने सब उपाय निष्फल हो जायँ, तब समझ लेना चाहिये कि विधि वाम हैं, अर्थात् हमारे भाग्य बुरे हैं। वही राजा भी कह रहे हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के रखने का बहुत उपाय कर चुके। अब यही एक और कर रहे हैं, यदि न सिद्ध न हुआ तो विधिवामता का निश्चय कर लेंगे।

(३) 'अस कहि मुरछि परा महि···'—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर से निराशता तो थी ही, यथा—"जौ नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई ॥" (दो० ८१); श्रीजानकीजी के लौटने में भी उक्त विधिवामता की कल्पना आ गई। अतः, निराश होकर यह कहते हुए मूर्च्छित हो गये कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ। जैसा—"रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि।" पर कह चुके हैं। 'अस कहि' शब्द आगे और पीछे दोनों के साथ लग सकता है। 'सिय' शब्द को अंत में करके 'आनि देखाऊ' के साथ रक्खा है, क्योंकि इनके लौटने की विशेष आशा है।

'रथ अति बेग'—अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर।

तब सुमंत्र नृपबचन सुनाये । करि बिनती रथ राम चढ़ाये ॥१॥
चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई । चले हृदय अवधहि सिर नाई ॥२॥
चलत राम लखि अवध अनाथा । बिकल लोग सब लागे साथा ॥३॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं । फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं ॥४॥
लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ॥५॥

अर्थ—तब सुमंत्रजी ने राजा के वचन ('रथ चढ़ाइ दिखराइ बन···') सुनाये और विनती करके श्रीरामजी को रथ पर चढ़ाया ॥१॥ श्रीसीताजी सहित दोनों भाई रथ पर चढ़कर, हृदय में अयोध्यापुरी को प्रणाम करके चले ॥२॥ श्रीरामजी को जाते हुए और अयोध्या को अनाथ देखकर सब लोग व्याकुल होकर साथ चले ॥३॥ कृपा के सागर श्रीरामजी बहुत तरह से समझाते हैं, उसपर वे लौटकर अयोध्या की ओर चलते हैं, पर प्रेम-वश फिर लौट पड़ते हैं ॥४॥ अवधपुरी भारी डरावनी लगती है, मानों अँधेरी कालरात्रि है ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सुमंत्र नृप ··'—केवल सुमंत्रजी के कहने से रथ पर न चढ़ते, इसलिये राजा की आज्ञा सुनाई। फिर भी सुमंत्रजी को बहुत विनती करनी पड़ी। रथ पर प्रथम श्रीजानकीजी चढ़ीं, तब श्रीरामजी और फिर पीछे श्रीलक्ष्मणजी भी चढ़े। यथा—"राम सखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥ लखन बान धनु आप चढ़े···" (दो० १५०); अर्थात् ऐसी ही रीति है। 'हृदय अवधहि सिरनाई'—अयोध्यापुरी सप्त पुरियों में श्रेष्ठ है। पुनः इनके पूर्वज महात्मा राजाओं की राजधानी है, इसीसे इसे प्रणाम करके चले। हृदय से प्रणाम किया, इससे श्रद्धा एवं प्रीति दिखाई। बाहर से प्रणाम करने पर दुष्ट लोग यह भी कह सकते थे कि इन्हें बड़ा मोह है; इससे अयोध्या छोड़ी नहीं जाती। हाँ, वनवास-पूर्ति पर बाहर से भी प्रणाम करेंगे—"सीता सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम।" (दो० १२०)। वाल्मी० २।५०।१—३ में इसी प्रसंग पर प्रकट ही प्रणाम करना कहा गया है।

(२) 'चढ़ि रथ सीयसहित ··'—यह अर्द्धाली यात्रा में मंगलकारक-मन्त्र-रूपा है।

(३) 'चलत राम लखि अवध···'—ऊपर श्रीरामजी का अवध को प्रणाम करना कहा गया, इसपर संदेह होता कि अयोध्या का नाथ कोई और परात्पर होगा। उसका समाधान इस अर्द्धाली से करते हैं कि अवध के नाथ आप ही हैं, बिना आपके वह अनाथ हो रही है। जैसा आगे प्रकट है—"लागति अवध भयावनि भारी।······" इत्यादि।

(४) कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं ··'—'कृपासिंधु' पुरवासियों पर कृपा है, इसीसे समझाते हैं, क्योंकि उनको साथ जाने में बड़ा दुःख होगा। समझाते हैं कि राजा तो बने ही हैं, आपलोगों का पूर्ववत् पालन करेंगे, फिर भरतजी भी धर्मात्मा हैं, वे आकर अच्छी तरह आपलोगों का सार-सँभार रक्खेंगे। हम पिता की आज्ञा पूरी कर शीघ्र ही आ जायँगे। १४ वर्ष शीघ्र ही बीत जायँगे। अब आप लौट जायँ, चलने से व्यर्थ ही बहुत कष्ट झेल रहे हैं, इत्यादि।

(५) 'लागति अवध भयावनि ··'—पुरजन श्रीरामजी के समझाने पर उनकी आज्ञा मानकर लौट तो पड़ते हैं, पर फिर उधर ही को फिर जाते हैं। इसका एक कारण तो यह बतलाया कि वे सब प्रेमवश फिरते हैं। दूसरा यहाँ से कह रहे हैं कि उन्हें अयोध्या भयावनी लगती है जैसे अँधेरी काल

रात्रि हो, अँधेरी रात यों ही भयानक होती है, इसमें तो काल भी वर्तमान है। भाव यह कि सब श्रीरामजी के बिना मृत तुल्य हो रहे हैं। किसी को कुछ सूझता नहीं है। अयोध्या इनके लिये कालरात्रि नहीं है। पर ये स्वयं उसे देखकर डर रहे हैं। इसलिये 'मानहुँ' कहा गया है। जहाँ यथार्थ कालरात्रि का रूपक होता है। वहाँ 'मानहु' नहीं कहते, यथा—"कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३६); अर्थात् श्रीसीताजी निशाचरों का नाश करके ही लौटेंगी। 'कालराति'=प्रलय की रात, मृत्यु की रात।

घोर जंतुसम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥६॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥७॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥८॥

दोहा—हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥८३॥

रामबियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥१॥

शब्दार्थ—रथांग=रथ का अंग=चक्र। इससे यहाँ चक्रवाक का अर्थ लिया गया है।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष भयानक जन्तुओं (क्रूर जीवों) के समान हैं। एक-एक (दूसरे) को देखकर डरते हैं॥६॥ घर मरघट और कुटुम्बी मानों भूत हैं। पुत्र, हितैषी और मित्र मानों यमदूत हैं॥७॥ बागों में वृक्ष और बेलें कुम्हला रही हैं। नदी और तालाब देखे नहीं जाते॥८॥ करोड़ों घोड़े, हाथी, क्रीड़ा के पशु, नगर के पशु (गाय, भैंस आदि), पपीहा, मोर, कोयल, चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर॥८३॥ ये सब श्रीरामजी के वियोग में व्याकुल खड़े हैं, मानों जहाँ-तहाँ तसवीरें कढ़ी हुई (लिखी एवं खिंची हुई) खड़ी हैं। अर्थात् चलते-फिरते नहीं॥१॥

विशेष—(१) 'घोर जंतुसम पुर-नर···'—पुर की भयानकता कहकर पुरजनों को कहते हैं कि कालरात्रि-रूपी अयोध्या के नर-नारी ही घोर जन्तु (बाघ-सिंह, सर्प आदि) हैं। एक दूसरे से डरते हैं। आगे घर का हाल भी कहते हैं। अयोध्या को 'भारी' भयानक कहा था। वैसे ही वहाँ के नर-नारी को 'घोर' जन्तु-सम कहते हैं। प्रलय की रात्रि के समय बहुत-से मरघट चाहिये, वैसे ही लाखों घर ही लाखों मरघट हैं। मरघटों में भूत रहते हैं, वैसे यहाँ कुटुम्बी भूत के समान भयानक हैं। यमदूत जीवों को पकड़कर यमपुरी को ले जाते हैं। वैसे ये लोग भी पकड़कर अयोध्या ले जायँगे, तब श्रीरामजी से हमारा वियोग होगा, यह समझकर इन्हें देखते हुए डरते हैं।

यहाँ तक जंगम की दशा कही, आगे स्थावर की कहते हैं—

(२) 'बागन्ह बिटप बेलि···'—श्रीरामजी चराचर की आत्मा हैं। अतएव सबको प्रिय हैं—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); इसीसे इनके वियोग में सभी विकल हो रहे हैं। चेतनों में स्त्री-पुरुष कहे गये, वैसे जड़ों में भी कहते हैं। बेलि स्त्री और बिटप पुरुष हैं, विरहाग्नि से मुरझा गये हैं। नदी-तालावों के जल गर्म हो गये हैं। यथा—"विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पांकुरकोरकाः ॥ उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च। परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥" (वाल्मी० २।५९।४-५); इत्यादि बहुत कहा है।

(३) 'हय गय कोटिन्ह केलिमृग…'—पहले बाग, नदी, तालाब आदि कहकर तब हय-गय आदि कहे गये, क्योंकि हाथी, घोड़े आदि पशु नदी-तालावों में जल पीने आते हैं और पक्षिगण बागों में आते हैं। यहाँ तक तीन कोटि के जीव कहे गये—१. नर-नारी, चैतन्य; २. विटप वेलि, जड़ और ३. पशु-पक्षी न केवल जड़ और न केवल चैतन्य ही हैं।

(४) 'रामवियोग बिकल सब…'—सब जड़ के समान हो रहे हैं। चित्र की तरह हिलते-डोलते नहीं, तात्पर्य यह कि जब जड़ों की यह दशा है तो मनुष्यों की क्या कहना, यथा—"जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीइहि कैसे ॥" (दो० ९९)।

नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी ॥२॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥३॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥४॥
सबहिं बिचार कीन्ह मन माहीं। राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—गहवर = सघन, गुफा, कुंज यथा—"गह्वरस्तु गुहादंभनिकुंजगहनेष्वपीति विश्वः"।

अर्थ—नगर फल से लदा हुआ सघन भारी वन है। सब स्त्री-पुरुष उसके बहुत-से पशु-पक्षी हैं ॥२॥ ब्रह्मा ने कैकेयी को भीलनी बनाया, जिसने दसों दिशाओं में असह्य (न सही जानेवाली) वनाग्नि लगा दी ॥३॥ लोग रघुकुल के श्रेष्ठ श्रीरामजी की विरहाग्नि को न सह सके। अतः, वे सब व्याकुल होकर भाग चले ॥४॥ सभी ने मन में विचार कर लिया कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के विना सुख नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'नगर सफल बन गहवर …'—नगर भारी है। ४८ कोश लंबा और १२ कोश चौड़ा है। अतः, 'भारी' वन कहा गया। सघन बस्ती होने से गह्वर कहा गया। नगर सब पदार्थों से पूर्ण है और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष भी देता है, इससे 'सफल' कहा गया। ऐसे भारी वन में आग लगी है तो १४ वर्ष पर बुझेगी भी—यथा—"मिटै कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये ॥" (दो० २११); सघन-सफल और भारी वन में पक्षियों और पशुओं को बहुत आराम रहता है, इसीसे रहते हैं। वैसे यहाँ नर-नारी भी सुख-सम्पन्न रहते थे। *श्रीरामजी के बिना नगर वन के समान है*, इसलिये वन का रूपक बाँधा है।

(२) 'बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं।…'—कैकेयी स्वभावतः ऐसी नहीं थी, वह तो श्रीरामजी को बहुत चाहती थी—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (दो० १४); ब्रह्माजी ने सरस्वती के द्वारा उसे निष्ठुर किरातिनी बना दिया; यथा—"तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति।" (दो० २०६); वन में आग लगाना किरातिनी का काम है। 'दसहुँ दिसि'—चार दिशाएँ, चार उपदिशाएँ और नीचे-ऊपर ये दस दिशाएँ हैं। वृक्षों में जड़-फुनगी लेने से दस दिशाएँ होती हैं। वैसे ही नगर की आठों दिशाओं में ऊँचे महलों में और नीचे सभी विरहाग्नि में जल रहे हैं।

(३) 'रघुवर-विरहागी'—न सह सकने से सब लोग खग-मृग की तरह भाग चले। पुरवासी बहुत हैं। इसलिये खग-मृग की तरह भागना कहा गया।

(४) 'राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।' यथा—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।" (दो० २६०); श्रीरामजी सब सुखों के धाम हैं—"सो सुख धाम राम" (बा० दो० १९६)।

जहाँ राम तहँ सबइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहि काजू ॥६॥
चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई। सुरदुर्लभ सुखसदन बिहाई ॥७॥
राम-चरन - पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहि कि तिन्हहीं ॥८॥

दोहा—बालक बृद्ध बिहाय गृह, लगे लोग सब साथ।
तमसा-तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ ॥८४॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामजी रहेंगे, वहीं सब समाज रहेगा। रघुवीर के बिना अवध में रहने का काम नहीं ॥६॥ ऐसा सम्मत पक्का करके वे देवताओं को भी दुर्लभ सुख को और ऐसे सुखवाले घरों को छोड़कर साथ चल दिये ॥७॥ जिनको श्रीरामजी के चरण कमल प्यारे हैं, उन्हें भला विषय-भोग क्या वश कर सकता है ? ॥८॥ घर में बच्चों-बूढ़ों को छोड़कर सभी लोग साथ लगे, पहले दिन श्रीरघुनाथजी ने तमसा नदी के तट पर निवास किया ॥८४॥

विशेष—(१) 'जहाँ राम तहँ सबइ…'—ऊपर कहा—'राम लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।' इसीसे कहते हैं कि सब समाज ही उन्हीं के साथ रहें, क्योंकि सुख तो वहीं है और सुख ही के लिये सब कार्य किये जाते हैं तो फिर अवध में क्या कार्य है ? यथा—"जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥" (दो० ७१); 'रघुबीर' अर्थात् वे दानवीर एवं दयावीर हैं, अतएव दया-पूर्वक पालन करेंगे।

(२) 'चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई।…'—मंत्र दृढ़ कर लिया, दृढ़ संगठन कर लिया। इसी समाज को आगे जहाज भी कहेंगे—"मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू।" जहाज दृढ़ चाहिये ही। 'सुर दुर्लभ सुख सदन…' यथा—"नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं॥" (बा० दो० ३५१) "नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयन्हि हरे।" (गी० ह० ११)।

(३) 'राम-चरन पंकज प्रिय…'—कमल जैसे जल में रहते हुए निर्लिप्त रहता है, वैसे ही इन चरण-कमल के प्रेमी विषय-वारि से भिन्न रहते हैं, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवन्दार-स्तोत्र); तथा—"सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास।" (दो० १४०)।

(४) 'बालक बृद्ध बिहाय गृह…'—रथ के साथ दौड़कर चलना है, बालक और वृद्ध न पहुँच सकेंगे, इसलिये इन्हें घर में ही छोड़कर चल दिये; यथा—"चले लोग सब ब्याकुल भागी।" ऊपर कहा ही है। 'तमसा तीर निवास…'—पैदल दौड़ते हुए लोगों का दुःख देखकर आप तमसा के ही किनारे ठहर गये। तमसा नदी अयोध्या से ६ कोस दक्खिन बहती है। यहाँ इसे मड़हा कहते हैं, १८ कोस पूर्व जाकर अकबरपुर के पास बिसुई से मिलती है। फिर इसका नाम टौंस पड़ जाता है, जो तमसा

का ही अपभ्रंश है। यहाँ प्रथम दिन ठहरने का यह भी कारण हो सकता है कि ज्योतिष-मत से विदेश-यात्रा में पहले दिन अपने गाँव के सिवाने में रहने की रीति है। 'प्रथम दिवस'—अर्थात् आज ही से १४ वर्ष की गिनती होगी। आज निराहार ही रह गये, जल-मात्र ही ग्रहण किया है, यथा—"न्हाइ रहे जलपान करि, सिय समेत दोउ बीर॥" (दो० १५०); तथा—"अद्भिरेवहि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्। एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति॥" (वाल्मी० २।४६।१०)।

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुख भयेउ बिसेखी॥१॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥२॥
कहि सप्रेम मृदुबचन सुहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये॥३॥
किये धरम - उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे॥४॥

अर्थ—प्रजा को प्रेम के वश देखकर श्रीरघुनाथजी के दयालु हृदय में विशेष दुःख हुआ॥१॥ गोस्वामी श्रीरघुनाथजी करुणामय हैं, वे दूसरे की पीड़ा को शीघ्र ही पाते हैं; अर्थात् उसे पीड़ित देख स्वयं भी पीड़ित हो जाते हैं॥२॥ प्रेम सहित सुंदर कोमल वचन कहकर श्रीरामजी ने लोगों को बहुत तरह समझाया॥३॥ बहुत-से धर्म के उपदेश किये, पर प्रेम के वश होने से लोग लौटाने से भी नहीं लौटते॥४॥

विशेष—(१) 'रघुपति प्रजा प्रेम···'—प्रजाओं का प्रेम प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि वे घर के सुख छोड़कर साथ में दुःख उठाने को आतुर हैं, इसीसे 'देखी' कहा गया। इसपर श्रीरामजी को दया आ गई, क्योंकि वे प्रेमी पर दया करते हैं। यथा—"राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम।" (लं० दो० ११६); "रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६)। प्रजागण प्रजा के नाते से भी प्रिय हैं, यथा—"सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥" (दो० १७१); 'सदय हृदय'—जो दयालु होता है, वही दूसरे के दुःख में दुखी होता है। श्रीरामजी दयालु हैं, इसीसे आश्रितों के दुःख में विशेष दुखी हुए; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुना निधान की।" (गी० सु० ११)।

(२) 'करुनामय रघुनाथ गोसाँई···'—'गोसाँई' अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी हैं, इससे सब इन्द्रियों की पीड़ा जानते हैं और करुणामय होने से द्रवीभूत हो जाते हैं। ऊपर प्रजा को अपने कारण दुखी देखकर करुणा होना कहा, उसी पर यहाँ कहा कि आप करुणामय हैं। अतः, बिना कारण ही करुणा करते हैं।

(३) 'कहि सप्रेम मृदुबचन···'—प्रजागण प्रेमवश हैं, इसीसे आपने भी सप्रेम समझाया। मृदुवचनों से कहा, जिससे वियोग करानेवाला उपदेश कड़वा न लगे। धर्म-सम्बन्धी उपदेश है, अतएव 'सुहाये' कहा है। 'राम' पद दिया गया है, क्योंकि बहुत-से लोगों को एक साथ समझाना है, इनके लिये अयुक्त नहीं, क्योंकि राम सबमें रमते हैं। यथा—"यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥" (दो० २४१)।

(४) 'किये धरम उपदेश-घनेरे···'—पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है, यह मैं करूँ, जिसमें मेरा धर्म रहे, यही तुम्हें भी उचित है। पुनः हमारी आज्ञा से अयोध्या में रहो, यही तुम्हारा भी धर्म है। जो धर्मोपदेश सुमंत्रजी के प्रति किया गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये, यथा—"सिबि दधीचि

हरिचंद नरेसा।...'' से "संभावित कहँ अपजस लाहू।...'' (दो० ९४) तक। 'लोग प्रेमबस...'—पहले समझाने से लौटते भी थे, यथा—"कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस...'' (दो० ८१); पर अब धर्मोपदेश से भी नहीं लौटते, क्योंकि जिस धर्म से राम-वियोग हो, वह अग्राह्य है। यथा—"सो सुख धरम करम जरिजाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज-भाऊ॥'' (दो० २९०)।

सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजसबस भे रघुराई॥५॥
लोग सोग-श्रम-बस गये सोई। कछुक देवमाया मति मोई॥६॥
जबहि जामजुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥७॥
खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥८॥

दोहा—राम लखन सिय जान चढ़ि, संभुचरन सिर नाइ।
सचिव चलायेउ तुरत रथ, इत उत खोज दुराइ॥८५॥

शब्दार्थ—मोई = मोही, वा मोई = भिगोई, यथा—"बिधकी है ग्वालि मैन मन मोये।'' (कृ० गी० ११)।

अर्थ—शील और स्नेह छोड़ा नहीं जाता, श्रीरघुनाथजी दुविधा में पड़ गये॥५॥ लोग शोक और थकावट के कारण सो गये और कुछ देवताओं की माया से उनकी बुद्धि मोहित हो गई॥६॥ ज्योंही दोपहर रात बीती कि श्रीरामजी ने प्रीतिपूर्वक मंत्री से कहा॥७॥ कि हे तात! खोज मारकर (जिसमें रथ के जाने का मार्ग न जान पड़े इस तरह) रथ हाँको, दूसरे उपाय से बात न बनेगी॥८॥ शिवजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी रथ पर चढ़े, तब मंत्री सुमंत्रजी ने रथ को शीघ्र ही इधर-उधर खोज मारकर चलाया॥८५॥

विशेष—(१) 'सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई...'—श्रीरामजी शील-स्नेह निबाहनेवाले हैं। यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनि हारा॥'' (दो० २४) इसीसे ऊँची-नीची बातों से स्नेह नहीं छोड़ते और दुविधा में पड़ गये। असमंजस-वश होने के सम्बन्ध से 'रघुराई' यह माधुर्य का नाम दिया।

(२) 'लोग सोग श्रम-बस...'—अयोध्या से तमसा-तट तक दौड़ते आये हैं। इससे थक गये हैं। इसीसे निद्रा आना योग्य ही है। यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई।'' (बा० दो० १५९)। वियोग का शोक भी है और कुछ देवमाया भी लगी। 'कछुक'—श्रम और शोक के कारण देवमाया की कुछ ही आवश्यकता पड़ी कि जितने से गहरी निद्रा आ जाय। माया से निद्रा आती ही है। यथा—"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।'' (दुर्गासप्तशती)। पुरवासी इन तीन कारणों के उपस्थित होने से गहरी नींद में पड़े, अन्यथा वे बड़े सावधान थे।

(३) 'जबहि जामजुग...'—आधी रात तक जब सब कोई सो गये तब श्रीरामजी ने कहने का अवसर पाया और कहा। 'ताता'—क्योंकि इन्हें श्रीरामजी पिता की तरह मानते हैं। 'सप्रीती'—यह आपका स्वभाव ही है फिर आज तो काम भी निकालना है। दक्षिण दिशा की यात्रा में आधी रात शुभवेला भी कही जाती है।

(४) 'राम लखन सिय जान···'—शिवजी के चरणों में शिर नवाना, माधुर्य रीति निवाहने के लिये है, यथा—"सेवक स्वामि सखा सिय पी के।" (बा० दो० १४)। पुनः रात्रि में चलना है और उसमें भूत-प्रेत आदि फिरा करते हैं। उनसे विघ्न शांति के लिये भूत-पति (शिवजी) को प्रणाम करने की रीति भी दिखाई। प्रथम प्रस्थान पर 'गनपति गौरि गिरीस' इन तीनों को मनाकर चले थे। यहाँ उनमें अंगी (शिवजी) को ही प्रणाम करके अंगभूत उन दो को भी मना दिया। पहले 'खोज मारि रथ हाँकहु' कहा गया था। उसका अर्थ यहाँ खोला गया—'इत उत खोज दुराइ' यथा—"मोहनाथ तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः। उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥ मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः। यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥" (वाल्मी० २।४६।३०-३१); अर्थात् श्रीरामजी ने सुमंत्रजी से कहा कि पहले रथ उत्तर की ओर ले चलो। थोड़ी दूर जाकर पुनः लौटा लाओ, जिससे पुरजन मुझे न जान पावें कि किधर गये। यह सब सावधानी से करो।

जागे सकल लोग भये भोरू। गे रघुनाथ भयेउ अति सोरू॥१॥
रथ कर खोज कतहुँ नहि पावहि। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहि॥२॥
मनहु वारिनिधि बूड़ जहाजू। भयेउ बिकल बड़ बनिकसमाजू॥३॥
एकहि एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू॥४॥
निदहि आप सराहहि मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना॥५॥

अर्थ—प्रातःकाल होने पर सब लोग जगे। श्रीरघुनाथजी चले गये इसका बड़ा हल्ला मचा॥१॥ रथ का चिह्न कहीं नहीं पाते, 'हा राम! हा राम!' कहकर चारो ओर दौड़ते हैं॥२॥ मानों समुद्र में जहाज डूब गया, जिससे व्यापारी लोग व्याकुल हो गये हों॥३॥ एक दूसरे को उपदेश देते हैं कि श्रीरामजी ने हमारा क्लेश समझकर हमें छोड़ा है, (कुछ निरादर से नहीं)॥४॥ अपनी निंदा करते हैं। मछली की सराहना करते हैं और कहते हैं कि रघुवीर के विना हमारे जीवन को धिक्कार है!॥५॥

विशेष—(१) 'जागे सकल लोग भये···'—इसपर वाल्मी० २।४७ पूरा सर्ग पढ़ने योग्य है। वहाँ इनकी विकलता और आर्त्त वचन विस्तार से कहे गये हैं।

(२) 'राम राम कहि···'—राम-राम कहकर दौड़ने का बड़ा हल्ला मचा। 'चहुँ दिसि धावहि' कहकर उपर्युक्त 'इत उत खोज दुराइ' का अर्थ खोला गया है कि रथ की लकीर चारों तरफ गई थी।

(३) 'मनहुँ वारि-निधि बूड़···'—अयोध्या से लंका तक का मार्ग समुद्र है। अवध-वासियों का मनोरथ—'जहँ राम तहँ सबइ समाजू'—'चले साथ असमंत्र दृढ़ाई' यही दृढ़ जहाज है। श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी माल हैं। अवधपुर-वासी लोग वणिक हैं। जहाज तमसा के तट तक ही आ पाया, फिर डूब गया। माल रूपी तीनों मूर्त्ति हाथ से निकल गये, यही माल-हानि है। माल का नाम 'राम-राम' कहकर रोते हैं और व्याकुल हो रहे हैं।

(४) 'निदहि आपु सराहहि···'—प्रथम इनकी जलचरों से उपमा दी गई थी; यथा—"विपुल वियोग प्रजा अकुलानी। जिमि जलचर गन सूखत पानी॥" (दो० ५०); अर्थात् वहाँ सूखता हुआ कहा गया; क्योंकि श्रीरामजी का साथ था। किंतु अब छूट गया। इससे मानों जल कुछ न रह गया; तब सराहते हैं कि हम लोग मछली की तरह न हुए। हमलोगों का सच्चा स्नेह न हुआ; यथा—"मकर

चरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकइ मीन को है साँचिलो सनेह॥" (दोहावली ३१८) अर्थात् मीन की तरह का जीवन होता, तो धन्य होता। अन्यथा जीते रहने में धिक्कार है!

जो पै प्रियवियोग विधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा॥६॥
येहि विधि करत प्रलापकलापा। आये अवध भरे परितापा॥७॥
विषम वियोग न जाइ बखाना। अवधिआस सब राखहिं प्राना॥८॥

दोहा—रामदरस-हित नेम व्रत, लगे करन नरनारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल, दीन बिहीन तमारि॥८६॥

अर्थ—जो निश्चय ही ब्रह्मा ने प्यारे का वियोग रचा है, तो माँगी मृत्यु क्यों न दी?॥६॥ इस तरह बहुत प्रलाप करते हुए, वे सब अत्यन्त दुःख से भरे हुए अयोध्याजी आये॥७॥ अत्यन्त कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता। सब अवधि (१४ वर्ष बीतने) की आशा से (कि श्रीरामजी फिर मिलेंगे) प्राण रखते हैं॥८॥ स्त्री-पुरुष श्रीराम-दर्शन के लिये नियम और व्रत करने लगे। मानों चकवा-चकवी और कमल, सूर्य के विना दीन (दुखी) हैं॥८६॥

विशेष—(१) 'जो पै प्रियवियोग···'—ये प्रिय-वियोग में मीन की तरह मृत्यु चाहते हैं। पर ब्रह्मा से मिलती ही नहीं, क्योंकि ऊपर अभी मीन को सराहते थे।

(२) 'येहि विधि करत प्रलाप···'—मुख से प्रलाप करते हैं और हृदय में परिताप भरा है। अर्थात् भीतर-बाहर दुःख व्याप्त है। 'प्रलाप', यथा—"वहाँ राम लछिमनहिं निहारी।···" से "प्रभु प्रलाप सुनि कान···" (लं० का० दो० ५१-१०) तक। 'भरे परितापा'—विरह की अग्नि के भय से भगे थे, यथा—"सहि न सके रघुबर बिरहागी।···" (दो० ८३); वहाँ भी वियोग हो ही गया; अतः, परिताप भरे आये।

(३) 'विषम वियोग न जाइ···'—विषम वियोग ही विषम ज्वर की तरह है। यथा—"जरहिं विषम ज्वर लेहिं उसासा कवनि राम बिनु जीवन आसा॥" (दो० ५०); इससे जलते हुए भी उनके मिलने की आशा से प्राण रखते हैं।

(४) 'रामदरस हित नेम व्रत···'—श्रीरामजी के दर्शनों के साधन कर रहे हैं। यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥" (दो० २०१); क्या नेम-व्रत करते हैं। इसे आगे कहेंगे। यथा—"पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग। करत राम-हित नेम व्रत, परिहरि भूषन भोग॥" (दो० १४८); 'मनहुँ कोक-कोकी ···'—यहाँ १४ वर्ष की वियोग रात है। पीछे श्रीरामजी का आगमन सूर्योदय है; उससे शोक तम निवृत्त होगा। कोक-कोकी के दृष्टान्त से पति-पत्नी का शृंगार वासना रहित होना और करुणा पूर्णता भी जनाई। कमल के दृष्टान्त से शोभा नष्ट होना और शरीर काला पड़ जाना सूचित किया। 'तमारि' अर्थात् श्रीरामजी सूर्य के विना अयोध्या शोक रूपी तम से आच्छादित है; यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (दो० ८२)।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई ॥१॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेखी ॥२॥
लखन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहिं सहित सुख पायेउ रामा ॥३॥
गंग सकल-मुद-मंगल-मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मंत्री सहित दोनों भाई शृंगवेरपुर जा पहुँचे ॥१॥ श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी उतरे और बहुत प्रसन्नतापूर्वक दंडवत् की ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी, मंत्रीजी और श्रीसीताजी ने प्रणाम किया, सबके सहित श्रीरामजी ने सुख पाया ॥३॥ श्रीगंगाजी सब आनंद-मंगलों की जड़ हैं। सब सुखों को करनेवाली और सब दुःखों की हरनेवाली हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सीता सचिव सहित…'—इसका संबंध—'राम-लखन-सिय जान चढ़ि' से है, बीच में पुरवासियों का विरह कहा गया, यहाँ से फिर श्रीरामजी का प्रसंग लिया। 'सृंगबेरपुर'—यह जिला इलाहाबाद में है। आजकल सिंगरौर घाट कहा जाता है। वहाँ रामचौरा स्थान है, जहाँ श्रीरामजी ठहरे थे। इसका शृंगवेरपुर नाम होने का कारण यह है कि इसके चारों ओर सींगों की वारी थी, इससे सूचित होता है कि निषाद लोग कैसे हिंसक होते थे? कि अगणित वन्य जीवों को मार-मारकर उनके सींगों की वारी (सरहद) बनाई थी। ऐसा वाल्मी॰ के भूषण टीकाकार का कथन है।

(२) 'उतरे राम देवसरि…'—तीर्थ जहाँ से देख पड़े, वहीं से प्रणाम करना चाहिये, यथा—"गिरिवर दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (दो॰ २७४); इसीसे श्रीरामजी ने भी प्रणाम किया। 'हरष बिसेषी' अर्थात् रोमांच, सजल नयन, गद्गद कंठ सहित, क्योंकि गंगाजी इनके कुल की कीर्ति वर्द्धिनी हैं और साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। श्रीरामजी ने जैसे दंडवत् की, वैसे ही श्रीलक्ष्मण आदि के प्रणाम का भी अर्थ दंडवत् प्रणाम लेना चाहिये। इसीसे सभी को समान रूप से सुख भी कहा गया है।

(३) 'गंग सकल-मुद-मंगल-मूला…'—'मुद'-मानसी आनंद और 'मंगल'-उत्सव आदि बाहरी आनंद, इत्यादि सबकी मूल गंगाजी हैं। 'सब सूला'—शूल तीन प्रकार के हैं, यथा—"त्रयः शूल निर्मूलनं शूल पाणिम्।" (उ॰ दो॰ १०७); वे हैं जन्म, जरा और मरण।

अर्थ—अनेक कथाओं के प्रसंग कह-कहकर श्रीरामजी गंगाजी की लहरें देख रहे हैं ॥५॥ मंत्री को, भाई को और प्रिय स्त्री को देवनदी की बड़ी महिमा सुनाई ॥६॥ स्नान किया, उससे मार्ग का श्रम (थकावट) दूर हुआ, पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया ॥७॥ (वक्ताओं का कथन है कि) जिसका स्मरण करते ही जन्म-मरण का श्रम-रूप बोझ मिट जाता है, उसको श्रम (कैसा?) यह तो लोक का व्यवहार है ॥८॥ शुद्ध (सत्त्वादि गुणों से रहित) सत्-चित्-आनंद स्वरूप हैं, सुख के देनेवाले, सूर्यकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ) मनुष्यों की तरह चरित करते हैं, जो संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान हैं; अर्थात् इन चरित्रों को गा-सुनकर लोग भव-निधि से छूट जाते हैं ॥८७॥

विशेष—(१) 'कहि कहि कोटिक कथा ...'—यहाँ 'कोटिक' अनंत एवं बहुत का वाचक है। यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥" (दो० १६)। बहुत-सी कथाएँ कहते हैं, उन प्रत्येक की समाप्ति पर श्रीगंगाजी की तरंग देखते हैं कि ये ऐसी हैं। 'सुख पावा' मन का धर्म है। कथा कहना, वचन का और दंडवत् करना, कर्म का; इस तरह तीनों से गंगाजी में भक्ति दिखाई। माहात्म्य कह सुनकर तीर्थस्नान की विधि भी जनाई। 'बिबुध नदी' अर्थात् देवताओं की नदी है, ब्रह्मा-शिव आदि को भी पवित्र करती हैं; यथा—"जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।" "जय जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि चय-चकोर चंदिनि,..." (वि० १७-१८)। इत्यादि पदों में विस्तार से गंगाजी की महिमा कही गई है।

(२) 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम...'—यहाँ मज्जन और स्पर्श दो हुए। पूर्व—'राम बिलोकहिं गंग तरंगा।' में दर्शन और यहाँ—'सुचिजल पियत...' में पान कहा गया। इस तरह—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप..." (बा० दो० ३४)। के सब भाव आ गये। माहात्म्य कथन के साथ-साथ वैद्यक शास्त्र के नियम का निर्वाह भी किया है कि परिश्रम की गर्मी मिटाकर स्नान करना चाहिये। स्नान में दश गुण कहे गये हैं, उनमें से थकावट मिटना और मन मुदित होना – दो यहाँ प्रकट कहे गये हैं।

(३) 'सुद्ध सच्चिदानंदमय...'—'मयट्' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है। अर्थात् भीतर-बाहर सच्चिदानंद विग्रह हैं, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार..." (दो० १२६)। यह ऐश्वर्यमय ब्रह्म स्वरूप कहा। फिर यह कहा कि वे ही सूर्यकुल में प्रकट होकर चरित करते हैं, फिर चरित का माहात्म्य कहा कि यह भव-सागर का सेतु है; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (लं० दो० ३४)।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई ॥१॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा ॥२॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे ॥३॥
सहज - सनेह - बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई ॥४॥
नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन जन लेखे ॥५॥

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई ॥१॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी ॥२॥
लखन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहि सहित सुख पायेउ रामा ॥३॥
गंग सकल-मुद-मंगल-मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मंत्री सहित दोनों भाई श्रृंगवेरपुर जा पहुँचे ॥१॥ श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी उतरे और बहुत प्रसन्नतापूर्वक दंडवत् की ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी, मंत्रीजी और श्रीसीताजी ने प्रणाम किया, सबके सहित श्रीरामजी ने सुख पाया ॥३॥ श्रीगंगाजी सब आनंद-मंगलों की जड़ हैं। सब सुखों की करनेवाली और सब दुःखों की हरनेवाली हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सीता सचिव सहित…'—इसका संबंध—'राम-लखन-सिय जान चढ़ि' से है, बीच में पुरवासियों का विरह कहा गया, यहाँ से फिर श्रीरामजी का प्रसंग लिया। 'सृंगबेरपुर'—यह जिला इलाहाबाद में है। आजकल सिंगरौर घाट कहा जाता है। वहाँ रामचौरा स्थान है, जहाँ श्रीरामजी ठहरे थे। इसका श्रृंगवेरपुर नाम होने का कारण यह है कि इसके चारों ओर सींगों की वारी थी, इससे सूचित होता है कि निषाद लोग कैसे हिंसक होते थे? कि अगणित वन्य जीवों को मार-मारकर उनके सींगों की वारी (सरहद) बनाई थी। ऐसा वाल्मी० के भूषण टीकाकार का कथन है।

(२) 'उतरे राम देवसरि…'—तीर्थ जहाँ से देख पड़े, वहीं से प्रणाम करना चाहिये, यथा—"गिरिवर दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (दो० २७४); इसीसे श्रीरामजी ने भी प्रणाम किया। 'हरष बिसेषी' अर्थात् रोमांच, सजल नयन, गद्गद कंठ सहित, क्योंकि गंगाजी इनके कुल की कीर्ति वर्द्धिनी हैं और साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। श्रीरामजी ने जैसे दंडवत् की, वैसे ही श्रीलक्ष्मण आदि के प्रणाम का भी अर्थ दंडवत्-प्रणाम लेना चाहिये। इसीसे सभी को समान रूप से सुख भी कहा गया है।

(३) 'गंग सकल-मुद-मंगल-मूला…'—'मुद'-मानसी आनंद और 'मंगल'-उत्सव आदि बाहरी आनंद, इत्यादि सबकी मूल गंगाजी हैं। 'सब सूला'—शूल तीन प्रकार के हैं, यथा—"त्रयः शूल निर्मूलनं शूल पाणिम्।" (उ० दो० १०७); वे हैं जन्म, जरा और मरण।

कहि कहि कोटिक कथाप्रसंगा। राम बिलोकहिं गंगतरंगा ॥५॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई ॥६॥
मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयेऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयेऊ ॥७॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू ॥८॥

दोहा—सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुल-केतु।
चरित करत नरअनुहरत, संसृति-सागर-सेतु ॥८७॥

शब्दार्थ—श्रम भारू=श्रम का बोझा, जन्म-मरणादि भारी श्रम। कंद (कं=सुख, द=देनेवाले)=सुख देनेवाले, जड़, मेघ। अनुहरत=समान, तरह। संसृति=संसार=जन्म-मरण।

अर्थ—अनेक कथाओं के प्रसंग कह-कहकर श्रीरामजी गंगाजी की लहरें देख रहे हैं ॥५॥ मंत्री को, भाई को और प्रिय स्त्री को देवनदी की बड़ी महिमा सुनाई ॥६॥ स्नान किया, उससे मार्ग का श्रम (थकावट) दूर हुआ, पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया ॥७॥ (वक्ताओं का कथन है कि) जिसका स्मरण करते ही जन्म-मरण का श्रम-रूप बोझ मिट जाता है, उसको श्रम (कैसा ?) यह तो लोक का व्यवहार है ॥८॥ शुद्ध (सत्त्वादि गुणों से रहित) सत्-चित्-आनंद स्वरूप हैं, सुख के देनेवाले, सूर्यकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ) मनुष्यों की तरह चरित करते हैं, जो संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान हैं; अर्थात् इन चरित्रों को गा-सुनकर लोग भव-निधि से छूट जाते हैं ॥८७॥

विशेष—(१) 'कहि कहि कोटिक कथा ...'—यहाँ 'कोटिक' अनंत एवं बहुत का वाचक है। यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥" (दो० ११)। बहुत-सी कथाएँ कहते हैं, उन प्रत्येक की समाप्ति पर श्रीगंगाजी की तरंग देखते हैं कि ये ऐसी हैं। 'सुख पावा' मन का धर्म है। कथा कहना, वचन का और दंडवत् करना, कर्म का; इस तरह तीनों से गंगाजी में भक्ति दिखाई। माहात्म्य कह सुनकर तीर्थस्नान की विधि भी जनाई। 'विबुध नदी' अर्थात् देवताओं की नदी है, ब्रह्मा-शिव आदि को भी पवित्र करती हैं; यथा—"जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।" "जय जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि चय-चकोर चंदिनि,..." (वि० १७-१८)। इत्यादि पदों में विस्तार से गंगाजी की महिमा कही गई है।

(२) 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम...'—यहाँ मज्जन और स्पर्श दो हुए। पूर्व—'राम बिलोकहिं गंग तरंगा।' में दर्शन और यहाँ—'सुचिजल पियत...' में पान कहा गया। इस तरह—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप..." (बा० दो० ३४)। के सब भाव आ गये। माहात्म्य कथन के साथ-साथ वैद्यक शास्त्र के नियम का निर्वाह भी किया है कि परिश्रम की गर्मी मिटाकर स्नान करना चाहिये। स्नान में दश गुण कहे गये हैं, उनमें से थकावट मिटना और मन मुदित होना – दो यहाँ प्रकट कहे गये हैं।

(३) 'सुद्ध सच्चिदानंदमय...'—'मयट्' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है। अर्थात् भीतर-बाहर सच्चिदानंद विग्रह हैं, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार..." (दो० १२७)। यह ऐश्वर्यमय ब्रह्म स्वरूप कहा। फिर यह कहा कि वे ही सूर्यकुल में प्रकट होकर चरित करते हैं, फिर चरित का माहात्म्य कहा कि यह भव-सागर का सेतु है; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं ॥" (छं० दो० १४)।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई ॥१॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा ॥२॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे ॥३॥
सहज - सनेह - बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई ॥४॥
नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन जन लेखे ॥५॥

अर्थ—जब गुह निषाद ने यह समाचार पाया, तब उसने, अपने प्यारे भाई लोगों को बुला लिया ॥१॥ और भेंट के लिये फल और मूल भार (कंधे पर बोझ ढोने की बहँगी) भर-भर के लेकर हृदय में अपार आनन्दपूर्वक श्रीरामजी से मिलने के लिये चला ॥२॥ भेंट को आगे रखकर दंडवत् करके वह प्रभु को अत्यंत अनुरागपूर्वक देखने लगा ॥३॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी स्वाभाविक स्नेह के वश हैं। उन्होंने उसे समीप में बैठाकर कुशल पूछा ॥४॥ (निषादराज ने कहा) हे नाथ ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से कुशल है। अब मैं भाग्य-शाली-भक्तों की गिनती में हो गया ॥५॥

विशेष—(१) 'यह सुधि गुह निषाद···'—'गुह'='गुह्यति वंचयति परस्वमिति गुहः' अर्थात् जो पराया धन चुरावे, वह गुह है। 'निषाद' अर्थात् जो जीवहिंसा करे। इसका नाम गुह है; यह निषाद जाति का है। *यथा*—"तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा। निषादजात्यो बलवान्थ-पतिश्चेति विश्रुतः ॥" (वाल्मी० २।५०।३२)। गुह-निषाद कहकर इसे भारी पापी दिखाया, फिर इसे ही शरणागत होना कहकर श्रीरामजी का पतित-पावन बाना दिखावेंगे। कुटुम्बियों को भी बुलाया, क्योंकि वह सबके सहित शरण होगा; यथा—"देव धरनि धन धाम तुम्हारा।···" आगे कहा है। पुनः श्रीरामजी भी भाई सहित हैं। अतः, यह भी भाई वर्ग को लेकर मिलने आया।

(२) 'लिये फल मूल भेंट भरि ···'—गुहराव को समाचार मिल चुका है कि श्रीरामजी मुनि व्रत धारण करके वन को जा रहे हैं। इसलिये कंद, मूल फल ही भेंट के हेतु लिये। श्रीभरतजी से राजाओं के योग्य वस्तु लेकर मिलेंगे; क्योंकि उन्हें वे राजा जानकर मिलने चलेंगे। 'भरि भारा'—भेंट की वस्तु पात्र में पूर्ण भरी हुई चाहिये। यथा—"दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि-भरि काँवरि चले कहारा ॥" "भरे सुधा सम सब पकवाने।···" (बा० दो० ३०४)।

(३) 'करि दंडवत् भेंट धरि···'—पहले भेंट अर्पण करके दंडवत् के द्वारा देह को भी अर्पण किया। फिर अनुरागपूर्वक देखने में हृदय (मन) भी अर्पण किया; क्योंकि अनुराग मन से होता है।

(४) 'सहज सनेह बिबस रघुराई।···'—यद्यपि निषाद राज ने भेंट अर्पण की; पर आप उसके सहज सनेह के ही वश हैं। 'रघुराई' हैं। इन्हें वह कुछ देकर कोई क्या प्रसन्न कर सकता है ? स्नेह से वश होते हैं, सहज-स्नेह से विशेष वश होते हैं। और राजा बहुत सेवा से भी वश नहीं होते; यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (बा० दो० ३६); पर 'रघुराई' सहज स्नेह से ही विशेष वश हो जाते हैं। 'निकट बैठाई'—यह बड़ा आदर जनाया; यथा—"अति आदर समीप बैठाई (लं० दो० २६)।

(५) 'नाथ कुशल पद-पंकज देखे'—चरण के दर्शनों से कुशल कहा; क्योंकि ये चरण कुशल के मूल हैं; यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥" (दो० १५४); अपना जन जानकर श्रीचरण यहाँ पधारे, तो मैं भी आज से आपके भाग्यशाली भक्तों में कहा जाऊँगा।

देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा ॥६॥
कृपा करिय पुर धारिय पाऊ। थापिय जन सब लोग सिहाऊ ॥७॥
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना ॥८॥

दोहा—बरष चारिदस बास बन, मुनि - व्रत - बेष - अहार।
ग्रामबास नहिं उचित सुनि, गुहहि भयेउ दुखभार ॥८८॥

अर्थ—हे देव ! यह पृथिवी, धन, घर सब आपका है। मैं परिवार सहित आपका नीच टहलुआ हूँ ॥६॥ कृपा करके नगर में चलिये और इससे मुझे अपने दासों में स्थापित कीजिये, जिससे सब लोग सिहावें कि धन्य इसका भाग्य है। जो इस निषाद के यहाँ श्रीरामजी पधारे और उन्होंने इसे अपना सेवक माना ॥७॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे चतुर सखे ! तुमने ठीक ही कहा है। पर पिताजी ने मुझे और ही आज्ञा दी है ॥८॥ चौदह वर्ष वन में निवास, मुनियों के व्रत, वेष और भोजन की आज्ञा है। (अतः,) ग्राम में रहना उचित नहीं, यह सुनकर गुह को भारी दुःख हुआ (वा, दुःख के बोझ से वह दब गया) ॥८८॥

विशेष—(१) 'देव धरनि, धन, धाम'''—यहाँ इनकी आत्म समर्पण भक्ति है कि मैं अपना सर्वस्व सहित आपकी नीच टहल करूँगा।

(२) 'कृपा करिय पुर धारिय ''—मैं नीच हूँ। आपको अपने घर ले जाने योग्य नहीं हूँ। अतः, कृपा करके वहाँ पधारें (यह बोलने की उत्तम रीति भी है) वहाँ ले जाने का अभिप्राय यह है कि जिसमें सब सुपास हो।

(३) 'कहेहु सत्य सब सखा'''—'सुजान' हो, इससे उचित ही कहा है, ऐसा ही सखा का धर्म है। आपका कथन सत्य है; अर्थात् हृदय से भी ऐसा ही है। पिता का आज्ञा-पालन रूप श्रेष्ठ धर्म को भी जानने में सुजान हो कि जिसके अनुरोध से मैं नगर में नहीं जा सकता। 'आना' का विस्तार आगे दोहे में है।

(४) 'बरष चारि दस बास बन ''—अभी वनवास का प्रारंभ है। इसीसे 'चारि' शब्द अल्पकाल वाचक प्रथम दिया गया है। ऐसे ही माता के यहाँ भी—"बरष चारि दस बिपिन बसि ''" (दो० ५३); कहा है। निषाद राज ने पुर में बसने को कहा था। उसपर कहते हैं कि पिता की आज्ञा १४ वर्ष वनवास के लिये है। पुन निषाद राज ने राज्य करने को कहा था। उसपर कहते हैं कि मुझे 'मुनि व्रत'''—से रहने की आज्ञा है।

यहाँ 'ग्राम बास' कहा है। सुग्रीव से 'पुर न जाउँ' और विभीषण से—'पिता वचन मैं नगर न आवउँ।' कहा है; अर्थात् ग्राम, पुर और नगर तीनों में न जाने की आज्ञा है। यह—"तापस वेष बिसेषि उदासी" (दो० २८); का अर्थ है; अर्थात् जनस्थान मात्र में न जाने की आज्ञा है। यथा—"ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।" (मनुस्मृति), यह मनु ने वानप्रस्थों के लिये कहा है। श्रीगोस्वामीजी ने ग्राम, पुर और नगर पर्याय शब्द भी माना है, जैसे कि 'अवध को 'पुर' और 'नगर' भी कहा है।

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर-नारी ॥१॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥२॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयनलाहु हमहिं बिधि दीन्हा ॥३॥
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिसुपा मनोहर जाना ॥४॥
लै रघुनाथहिं ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का रूप देखकर गाँव के स्त्री-पुरुष प्रेम सहित कहते हैं ॥१॥ कि हे सखी ! कहो तो वे मातापिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुकुमार एवं सुन्दर) बालकों को वन भेज दिया है ॥२॥ एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा किया, ब्रह्मा ने हमें नेत्रों का लाभ दिया ॥३॥ तब निषाद-राज ने हृदय में विचार किया कि शीशम (वा, अशोक) का वृक्ष सुंदर है ऐसा जानकर ॥४॥ श्रीरघुनाथजी को ले जाकर वह स्थान दिखाया। श्रीरामजी ने कहा कि यह सब प्रकार सुन्दर है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय रूप···'—पुरवासियों को अब समाचार मिला तो वे भी देखने आये। देखते ही 'सप्रेम' अर्थात् प्रेमवश हो गये। इससे इनके रूप और सुकुमारता पर उन्हें तरस आ रहा है कि क्या ये वन भेजे जाने के योग्य हैं ?

(२) 'ते पितु मातु कहहु ···' अर्थात् जिन्हें देखकर मार्ग की साँपिनि और बीछी भी अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग···" (दो० ११६१) और जो जीव-जन्तु-मात्र को प्राण-प्रिय हैं, वे माता-पिता को कैसे अप्रिय लगे ? कि उन्होंने वन दिया, यथा—"अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ॥ भे अति अहित राम तेउ तोहीं। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ॥" (दो० १६१)।

(३) 'एक कहहिं भल भूपति ···'—भाव यह कि राजा अच्छे हैं। वे पृथिवी मात्र के पति हैं तो हम भी पृथिवी में ही हैं। अतः, हमपर कृपा करके उन्होंने हमारा भी भला किया है। नहीं तो हमें इनके दर्शन कैसे होते ? पहली ने राजा को दोष लगाया और इसने उसका खंडन किया। 'लोचनलाहु···'—ब्रह्मा की प्रेरणा से ही ये इधर से आये, अन्यथा और ही मार्ग से चले गये होते। अतः, विधि से भी कृतज्ञता दिखाती हैं।

ऐसा ही आगे भी कहा है, यथा—"जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं ॥ कहहिं एक अति भल नर नाहू। दीन्ह हमहि जेहि लोचन लाहू ॥" (दो० १२१)।

(४) 'तब निषादपति उर···'—'तब' इसका सम्बन्ध—'बरष चारि दस ···' इस दोहे से है, बीच में पुरवासियों की बातें कही गईं। 'निषाद पति'—यह राजा है; अतः, राजाओं के योग्य स्थल जानता है इसीसे इसका अनुमित स्थान श्रीरघुनाथजी ने स्वीकार किया। 'लै रघुनाथहि ठाँव···'—श्रीरामजी की रुचि रखने के लिये उन्हें ले जाकर दिखाया। श्रीरामजी ने उसका मन रखने के लिये उस स्थल की प्रशंसा की। 'सब भाँति सुहावा'—अर्थात् ग्राम से बाहर है, गंगाजी समीप हैं, सम भूमि, स्थान स्वच्छ और छाया सघन है फिर प्रिय भक्त का चुना हुआ है।

पुरजन करि जोहार घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये ॥६॥
गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई ॥७॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी ॥८॥

दोहा—सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ ॥८९॥

अर्थ—पुरवासी प्रणाम करके घर आये और रघुवर श्रीरामजी संध्या करने गये ॥६॥ गुह ने कुश और कोपलों (नवीन कोमल पत्तों) से युक्त कोमल (गुलगुली) सुन्दर साथरी सजाकर बिछाई ॥७॥ फल और मूल पवित्र मीठे और कोमल जानकर दोनों में भर-भरकर ला रक्खा ॥८॥ श्रीसीताजी, श्रीसुमंत्रजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ कन्द-मूल-फल खाकर रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने शयन किया और भाई श्रीलक्ष्मणजी पैर दबाते हैं ॥८६॥

विशेष—(१) 'पुरजन करि जोहार'''—पुरवासी बड़े प्रेम के कारण साथ छोड़ना नहीं चाहते थे, पर श्रीरामजी का संध्या का समय जानकर चले गये और- श्रीरामजी भी पुरजनों को छोड़कर संध्या करने न गये—यह स्नेह का सँभाल है। संध्या वेदोक्त धर्म है, इसकी मर्यादा रखने के सम्बन्ध से 'रघुवर' नाम दिया, क्योंकि रघुवंशी धर्म-रक्षक हैं।

(२) 'गुह सँवारि साथरी'''—पहले कुश बिछाकर तब किसलय की साथरी बिछाई गई। इसी क्रम से कहा गया। साथरी ऊँची (मोटी) होने से मृदुल है, सँभालकर बनाई गई है, इससे सुहाई कहा है। 'मयट्' प्रत्यय यहाँ प्रचुर (बहुत) के अर्थ में है। यह श्रीसीतारामजी की सेवा गुह ने स्वयं की है।

(३) 'सुचि फल मूल मधुर'''—'सुचि' अर्थात् कुछ फल मूल अशुचि (अपवित्र) भी होते हैं, जैसे कि गूलर (ऊमरि) का फल, पपीता-कैथा आदि फल और गाजर आदि मूल अपवित्र माने जाते हैं। 'मुनि व्रत वेष अहार' श्रीरामजी से सुना है, तदनुसार मुनियों के ग्रहण के योग्य ही कंद-मूल-फल लाया। 'जानी'—जिस वृक्ष के फल और जिस भूमि के मूल निषाद-राज मधुर-मृदु जानते हैं वही लाये।

'दोना भरि भरि'—प्रत्येक वस्तु पृथक् पृथक् दोने में भर-भरकर लाये, चार व्यक्ति भोजन करनेवाले हैं। अतः, हरएक वस्तु कम-से-कम चार दोने आई। 'आनी' अर्थात् बाहर से लाया, भेंटवाली वस्तुओं में से नहीं हैं।

(४) 'सिय सुमंत्र भ्राता सहित'''—धर्म-शास्त्र के अनुसार पहले स्त्री, बूढ़े और बच्चे को भोजन देकर तब भोजन किया, इसीसे 'रघुबंस मनि' कहा। यथा—"रिपय संग रघुबंसमनि, करि भोजन'''" (बा० दो० २१०); प्राय: धार्मिक आचरण के सम्बन्ध से वंश सम्बन्धी ही नाम देते हैं। 'पाय पलोटत भाइ'—निषाद-राज ने अपनेको अपवित्र मानकर केवल शय्या की ही सेवा ग्रहण की, श्रीलक्ष्मणजी चरण-सेवा करते हैं, क्योंकि सुमित्राजी ने सेवा करना कहा ही है।

उठे लखन प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी ॥१॥
कछुक दूरि सजि बानसरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥२॥
गुह बुलाइ पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती ॥३॥
आप लखन- पहि बैठेउ जाई। कटि भाथी सरचाप चढ़ाई ॥४॥

विशेष—(१) 'उठे लखन प्रभु सोवत···'—सोते जान सेवा छोड़कर उठ आये और इसीसे मंत्रीजी से धीमी वाणी से सोने को कहा कि जिससे प्रभु की निद्रा भंग न हो। वृद्ध मंत्री चिंता से व्याकुल हैं। इसलिये उन्हें सोने को कहा ; वे विना कहे न सोते।

(२) 'कछुक दूरि सजि बान···'—पहरा न तो बहुत दूर से और न अत्यन्त पास से दिया जाता है, वैसे ही यहाँ है। सावधान होकर पहरा देने लगे।

(३) 'गुह बुलाइ पाहरू···'—विश्वासी सिपाहियों को नाके-नाके पर बैठाया। यद्यपि वहाँ वैसा कोई भय नहीं था, तथापि ऐसा करने का उसका कारण 'अति प्रीती' शब्द से जनाया कि अत्यन्त प्रेम के कारण ही इतना प्रबन्ध किया।

(४) 'आप लखन पहिं बैठेउ···'—श्रीलक्ष्मणजी शस्त्रास्त्र सजे हुए बैठे हैं। वैसे सजकर यह भी जा बैठा। 'भाथी' अर्थात् छोटा तर्कश, क्योंकि इसके यहाँ बड़े-बड़े राजाओं के-से शस्त्रास्त्र नहीं हैं। सब गँवारू ठाठ है। *यथा—"भाथी बाँधि चढ़ायेन्हि धनुहीं। अंगरी पाहरि कुंडि सिर धरहीं।"* (दो० ११०); इत्यादि आगे कहे गये हैं।

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू ॥५॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई ॥६॥
भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति - सदन न पटतर आवा ॥७॥
मनि-मय-रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे ॥८॥

दोहा—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास ॥९०॥

अर्थ—प्रभु को (साथरी पर) सोते हुए देखकर प्रेम के कारण निषाद के हृदय में बड़ा विषाद हुआ ॥५॥ शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में जल बह रहा है। वह श्रीलक्ष्मणजी से प्रेम-सहित ये वचन कह रहा है ॥६॥ कि राजा का महल सहज ही सुन्दर है, इन्द्र का महल भी उसकी तुलना का नहीं है ॥७॥ सुन्दर मणि-रचित चौबारे (चारो ओर खुले बंगले) हैं। मानों रति के पति कामदेव ने (उन्हें) अपने हाथों सजाकर बनाया हो ॥८॥ जो पवित्र हैं, सुन्दर-विचित्र हैं, सुन्दर भोगमय (उत्तम-उत्तम भोग की सामग्री से सुसज्जित) हैं ॥ फूल और सुगन्धित (अतर-गुलाब आदि) द्रव्यों से सुवासित हैं। जहाँ सुन्दर मणिमय पलँग और सुन्दर मणिमय दीपक हैं। इस तरह जहाँ सब तरह का आराम है ॥९०॥

विशेष—(१) 'सोवत प्र हि निहारि···'—श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ हैं, पर निषादराज की माधुर्यमय दृष्टि है। अतएव बड़े सुख से पले हुए राजकुमार को भूमि पर और पत्तों के बिछौने पर सोता हुआ देखकर भारी दुःख हुआ। इस दुःख का कारण उनकी प्रेमवशता है। इसे ऐश्वर्य कहकर श्रीलक्ष्मणजी समझावेंगे। इसलिये उनके पास अपना हार्दिक भाव कहेगा, क्योंकि इसके समझने का अधिकारी है और श्रीलक्ष्मणजी के समझाने के योग्य है, भक्ति के नाते सजातीय है।

(२) 'तनु पुलकित जल ··'—यहाँ उसकी प्रेम-दशा कही गई है। तन, मन, वचन से प्रेमवश है, इसीसे अपने परम-प्रिय की दुःखमय दशा समझकर न सह सका।

(३) 'भूपति-भवन सुभाय सुहावा।···'—'भूपति' अर्थात् पृथिवी-भर के स्वामी दशरथ महाराज हैं। अतः, पृथिवी-भर में उनके महल के बराबर किसी का महल नहीं है। रहा स्वर्ग, सो वहाँ का राजा इन्द्र भोग में सबसे बढ़कर है। यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मी० सू०); "सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १२); उस 'सुर पति' का महल भी बराबरी को नहीं पा सकता, नरेन्द्र के लिये नरेन्द्र की ही उपमा बहुत है, पर यहाँ सुरेन्द्र भी तुलना में नहीं पहुँचता। 'सुभाय'—बिना किसी तैयारी के।

(४) 'मनि मय रचित'···'—रति अत्यन्त सुन्दरी है। उसके भी पति कामदेव की सुन्दरता का क्या कहना। वह जिसे अपने हाथों से सँवारेगा वह भवन तो अत्यन्त सुन्दर होगा ही। 'मनिमय'—उसमें अमूल्य रत्न लगे हैं। 'रचित' से रचना की बड़ाई और 'चारु' से उसे सुन्दर कहा, उस सुन्दरता को कामदेव की स्वहस्त-रचना कहकर सुन्दर कारीगर के अनुसार कारीगरी का लक्ष्य कराया है।

(५) 'सुचि सुबिचित्र सुभोग'···'—'सुचि' अर्थात् पवित्र है। प्रायः यवनों और अँगरेजों के घर भी सुन्दर होते हैं, पर वे शुचि नहीं होते। 'बिचित्र' अर्थात् रंग-बिरंग की चित्रकारी की गई है। 'सुभोगमय'—भोग-सामग्री से खचित है, क्योंकि श्रीसीताजी की सेवा के लिये सिद्धियाँ रहती हैं। यथा—"तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०२)।

क्रम—स्नान के लिये शुचि तीर्थ-जल आदि वस्तुएँ हैं। उसके पीछे भोजन के लिये भोग के पदार्थ, फिर फूल-माला अतर आदि सुगन्ध भी हैं। फिर विश्राम के लिये पलँग हैं। रात की शोभा के लिये मणि-मय दीप हैं कि जिसमें दुर्गंध, कालिख, गर्मी, तेल घटने एवं बत्ती बुझने का भय नहीं है और भी आराम के सब पदार्थ हैं।

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीरफेन मृदु बिसद सुहाईं ॥१॥
तहँ सियराम सयन निसि करहीं। निज छबि रतिमनोज-मद हरहीं ॥२॥
ते सियराम साथरी सोये। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोये ॥३॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी ॥४॥
जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं ॥५॥

अर्थ—जहाँ अनेकों प्रकार के वस्त्र, तकिये और तोशक हैं जो दूध के फेन के समान कोमल, स्वच्छ और सुहावने हैं ॥१॥ वहाँ श्रीसीतारामजी रात में सोया करते हैं और अपनी छवि से रति और काम की छवि के गर्व को हरते हैं ॥२॥ वे ही श्रीसीतारामजी थके हुए और बिना वस्त्र के साथरी पर सो रहे हैं। देखे नहीं जाते; अर्थात् ऐसी दशा में उन्हें सोते हुए देखकर बड़ा दुःख लगता है ॥३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, पुरवासी, सुन्दर शील स्वभाववाले सखा, दास और दासियाँ ॥४॥ जिनको अपने प्राणों की तरह रक्षा (सार-सँभार) करते रहते थे, वे ही गोस्वामी श्रीरामजी पृथिवी पर सो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'विविध वसन उपधान······'—ऊपर पलँग का वर्णन कर आये । अब उसपर का सामान कहते हैं कि वे सब दूध के फेन के समान कोमल और श्वेत हैं ।

(२) 'रतिमनोज-मद हरहीं'—यह स्थान विहार स्थल है । अतः, शृंगार-प्रधान है, इसीसे श्रीसीताजी से रति के मद का और श्रीरामजी से कामदेव के मद का हरा जाना कहा गया और ऊपर 'जनु रति पति निज हाथ सँवारे' भी कहा गया है ।

(३) 'ते सियराम साथरी ······'—सदा उत्तमासन पर सोनेवाले हैं, इन्हें साथरी पर नींद न आती, किंतु 'श्रमित' हैं, इससे सोये हैं । यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई ।" (बा० दो० १६६), (फिर कल रात तमसातट के जगे हुए भी हैं) ।

(४) 'सखा सुसील दास अरु दासी'—सखा, दास आदि सुशील हैं, शठ एवं उत्तर देनेवाले नहीं; यथा—"दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।" (चाणक्यनीतिः); ऐसे नहीं हैं, किन्तु सुशील हैं और श्रीरामजी को प्राण की तरह मानकर रक्षा करनेवाले हैं । 'जोगवहिं' शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योंकि सेवा करना आदि कहने से, माता-पिता एवं पुरवासी में ब्राह्मण भी आ जाते हैं, उनके प्रति अनुचित होता । 'प्रान की नाइ'—क्योंकि श्रीरामजी सबको प्राणों की तरह प्रिय हैं । यथा—"कोसलपुरबासी नर-नारि वृद्ध अरु बाल । प्रानहु ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल ॥" (बा० दो० २०४) । 'गोसाईं'—गो का अर्थ पृथिवी, अर्थात् पृथिवी-भर के स्वामी होकर भूमि पर कैसे सो रहे हैं ?

पिता जनक जगबिदित प्रभाऊ । ससुर सुरेस-सखा रघुराऊ ॥६॥
रामचंद पति सो बैदेही । सोवत महि बिधि बाम न केही ॥७॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू । करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥८॥

दोहा—कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह ।
जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ॥९१॥

अर्थ—जिनके पिता श्रीजनकजी हैं, जिनका प्रभाव जगत्-भर में प्रसिद्ध है और ससुर इन्द्र के सखा एवं रघुकुल के राजा हैं ॥६॥ जिनके पति श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे ही विदेह-कुमारी श्रीसीताजी पृथिवी पर सो रही हैं, तो विधाता किसे उलटे नहीं होते ? ॥७॥ श्रीसीताजी और रघुबीर श्रीरामजी क्या वन के योग्य हैं ? अर्थात् नहीं, तो लोगों ने सत्य ही कहा है कि कर्म मुख्य है ॥८॥ केकय राज की लड़की नीच-बुद्धि कैकेयी ने कठिन कुटिलता की है कि जिसने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी को सुख के समय पर दुःख दिया (यह बड़ा अनुचित किया) ॥९१॥

विशेष—(१) 'पिता जनक जग······', यथा—"पितु-वैभव बिलास मैं दीठा । नृप मनि मुकुट मिलत पद पीठा ॥ सुख निधान अस पितु गृह मोरे ।" (दो० ९७) ।

'ससुर सुरेस-सखा······', यथा—"ससुर चक्कवइ कोसल राऊ ।······आगे होइ जेहि सुरपति लेई ।···" (दो० ९७) ।

(२) 'रामचंद पति सो बैदेही······'—'चदि—आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द होता है, अर्थात् जो ब्रह्मांड-भर को आह्लादित (आनंदित) करता है, वह चन्द्रमा है, वैसे श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर को आनंदित करनेवाले हैं। पिता का जगत्-भर में, श्वसुर का स्वर्ग तक और पति का ब्रह्मांड-भर में प्रसिद्ध प्रभाव कहा गया, क्रमशः अधिक कहा।

'सोवत महि विधि बाम······'—अर्थात् ऐसे-ऐसे को जो ब्रह्मा टेढ़े होते हैं, तो भला और किसे न होंगे। निषाद-राज को प्रभु का भूमि पर सोना देखकर विषाद हुआ—"सोवत प्रभुहि निहारी ·····" इसीसे वे बार-बार वही कहते हैं, यथा—"तेइ सियराम साथरी सोये।" "महि सोवत तेइ राम गोसाईं।" तथा यहाँ भी—"सोवत महि विधि बाम न केही।" इत्यादि।

(३) 'सिय रघुबीर कि कानन ·····'—श्रीसीतारामजी क्या वन के योग्य हैं? ऐसा कहकर फिर स्वयं उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी का वनवास कर्म की प्रधानता से हुआ। इसे ही पहले विधि की वामता कही थी, उसका भी इस कथन से मेल है, क्योंकि विधि का कर्त्तव्य जीवों के कर्मानुसार ही होता है; यथा—"कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)। कर्म का कार्य किसी के द्वारा ब्रह्मा कराते हैं, वही आगे कहते हैं "कैकयनंदिनि ·····" कुटिलता के सम्बन्ध में अवध-सम्बन्धी नाम न दिया, केकय देश का नाम दिया; ऐसी कुटिलता उसने बुद्धि की नीचता से की है, इसीसे 'मंदमति' कहा।

भइ दिनकरकुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥१॥
भयउ बिषाद निषादहि भारी। राम-सीय महि-सयन निहारी॥२॥

अर्थ—सूर्यकुल-रूपी वृक्ष के लिये कुल्हाड़ी हुई, इस दुर्बुद्धि ने सारे संसार को दुःखी किया॥१॥ श्रीराम-जानकी को पृथिवी पर सोते हुए देखकर निषाद को भारी दुःख हुआ॥२॥

विशेष—(१) 'भइ दिनकरकुल ·····'—राजा दशरथजी ने कहा ही था—'जनि दिनकरकुल होहि कुठारी॥" (दो० ३३); पर यह सत्य ही कुठारी हुई। पहले केवल सीतारामजी को ही दुःख देना कहा, अब उसी कारण से कुल-भर का दुःखी होना कहा। रघुकुल को फूला-फला वृक्ष कहा, क्योंकि इसके आश्रय से जगत्-भर का हित था। उसे इसने काट डाला, जिससे संसार भर दुःखी हुआ, ऐसा करने का कारण 'कुमति' शब्द से कहा। प्रथम श्रीसीतारामजी को, फिर कुल को और फिर विश्व-भर को दुःखी करना कहा, इस तरह क्रमशः अधिक लोगों को दुःख देना कहा।

(२) 'भयउ बिषाद निषादहि······'—निषाद को पहले विषाद होना कहा गया, अब वही कहते-कहते भारी हो गया। निषाद लोग हिंसक होने से कठोर हृदय के होते हैं, जब निषादराज को करुणा आ गई और भारी विषाद हो गया, तब औरों की क्या कहना है?

निषाद-राज के विषाद का उपक्रम—"सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥" (दो० ८१) पर हुआ था। यहाँ 'भयेउ बिषाद निषादहि भारी' पर उसका उपसंहार हुआ।

श्री लक्ष्मण-गीता

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगतिरस सानी॥३॥

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥४॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥५॥
जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू ॥६॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥७॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं ॥८॥

दोहा—सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥९२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-रस में सनी हुई मीठी कोमल वाणी बोले ॥३॥ कोई किसी को दुःख-सुख का देनेवाला नहीं है। हे भाई! सब अपने किये हुए कर्मों का भोग है ॥४॥ संयोग, वियोग, भोग, भला, बुरा, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ (उदासीन), ये सब भ्रम के फंदे हैं ॥५॥ जन्म, मरण—जहाँ तक जगत् का जाल (फैलाव) है। सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म और काल ॥६॥ पृथिवी, घर, धन, नगर, कुटुंब, स्वर्ग और नरक—जहाँ तक व्यवहार देखने, सुनने और मन में विचारने में आता है, सबका मूल मोह है, परमार्थ नहीं है ॥७-८॥ जैसे स्वप्न में भिखारी राजा हो जाय और स्वर्ग का स्वामी इन्द्र कंगाल हो जाय; जागने पर (भिखारी को) न तो कुछ लाभ ही है और (इन्द्र को) न कुछ हानि ही; इसी तरह जगत् के (नानात्व) व्यवहारों को जी में देखो ॥९२॥

विशेष—(१) 'बोले लखन मधुर मृदु बानी'—निषाद के मत को खंडन करके अपना मत उसके हृदय में जमाना है, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी ने मधुर-मृदुवाणी से कहा कि उसे दुःख न हो और वह मान ले। श्रीरामजी जग न पड़ें, इसलिये भी धीमे बोलते हैं। निषाद-राज ने 'सप्रेम' कहा है—'बचन सप्रेम लखन सन कहई।' अतएव इन्होंने भी 'मधुर मृदु' कहा।

एवं नियाम्य होने से प्रकृति और जीव कर्मों के कर्तृत्वाभिमानी नहीं हो सकते। अपनी मूढ़ता से जीव गुणाभिमानी होकर कर्त्ता बनकर उपर्युक्त योग-वियोग आदि विकारों का भागी होता है, यथा—"तै निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं, अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं। ताते परबस पर्‍यो अभागे।'''॥" (वि० ११६)। 'भ्रमफंदा' अर्थात् ये सब भ्रम से उत्पन्न फंदे हैं, यथा—"शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरियाईं। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० १२४)।

(३) 'सपने होइ भिखारि नृप'''—उपर्युक्त 'मोहमूल' को स्वप्न के दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे जाग्रत् अवस्था में जो-जो देखा और सुना है, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपंच का अनुभव होता है, वह स्वप्न है। वैसे यहाँ राजा का रंक और रंक का राजा होना दृष्टान्त में कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप राजा के समान है, यथा—"निष्काज राज बिहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्‍यो॥" (वि० ११६), वह भगवान् की शरीर-रूपता छोड़कर मोहवश (देहाभिमानी) हुआ, यही निशा हुई और देह से हुए पूर्वकृत कर्मों के अभिमानी होने से जो फल-रूप में योग-वियोग आदि के अनुभव होते हैं, यह स्वप्न देखना है। यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" आगे कहेंगे। तीनों तापों का अनुभव करना रंक होना है। पुनः भगवान का शरीर होने से जीव उनके परतंत्र रंक के समान है, वह देहाभिमानी होकर इन्द्रिय देवों के विषय भोग के साथ उनका अभिमानी होकर इन्द्र की नाईं विषय-भोक्ता भी हो गया है। जागने के साथ ही न तो इसका इन्द्रपन का यह लाभ रह जायगा और न रंक होने की उक्त हानि ही, उसके लिये उपाय आगे कहते हैं—

(४) "बोले लखन मधुर मृदु बानी।'''" से यहाँ तक में उक्त 'कर्म-प्रधान' की मीमांसा की।

> अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू। काहुहि बादि न देइय दोषू॥१॥
> मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥२॥
> येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंचबियोगी॥३॥
> जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥४॥
> होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥५॥

अर्थ—ऐसा विचारकर क्रोध न कीजिये, किसी को व्यर्थ दोष न दीजिये॥१॥ सब मोह-रात्रि में सोनेवाले हैं, सोने में अनेकों प्रकार के स्वप्न देख पड़ते हैं॥२॥ इस संसार-रूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं, जो परमार्थी हैं और प्रपंच से निर्लिप्त हैं।३॥ जब (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इन) सब विषयों की क्रीड़ा से वैराग्य हो, तब जानना चाहिये कि इस जगत्-रूपी रात्रि से जीव जगा॥४॥ विवेक होने पर मोह और भ्रम छूट जाते हैं, तब श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम होता है॥५॥

विशेष—(१) मोह-निशा देहाभिमान है, उपर्युक्त योग-वियोग आदि का अनुभव स्वप्न है। यह स्वप्न-विकार जागने से ही छूटता है। अतः, आगे जागना कहते हैं कि इस जगत्-रूपी रात्रि से परमार्थी योगी जागते हैं, तब प्रपंच से रहित होते हैं, जगत् यामिनी; यथा—"सुत-बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०); अर्थात् देहाभिमानी होने से सुत-वित्त आदि अंग-रूप हो जाते हैं और जीव उनका अंगी बनता है, तब उनकी ममता ही देहाभिमान-रूपा रात्रि

है। अतः, योगी (संयमी) होकर परमार्थी होना चाहिये। इन्द्रियों के विषय अर्थ हैं, उन इन्द्रियों से भगवान् का भजन करना परम अर्थ है। अतः, भगवान् ही परमार्थ हैं; यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" आगे कहेंगे। श्रीरामजी भजनीय होने से परमार्थ-रूप हैं। जगत् उनका शरीर है, श्रीरामजी शरीरी हैं। शरीरी के शरीर-रूप हाथ-पाँव आदि सेवक-रूप होते हैं। अतः, इन्हें शरीर-रूप जीवों को उनकी सेवा करनी ही चाहिये। अतः, उपर्युक्त अनेक प्रकारता को भगवान के शरीर-रूप में जानकर तन्निष्ठ (भगवान का उपासक) होना परमार्थी होना है। इस तरह ज्ञान के द्वारा प्रपंच से वियोग हो जाता है। यथा—"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥" (बा० दो० १११); अर्थात् भगवान् अपने शरीर-रूप जीवों के कर्मानुसार ही शत्रु-मित्र आदि-रूप से यथान्याय ही बर्त्ताव कर रहे हैं। यह भगवान का जानना है। अतः, उपर्युक्त योग-वियोग आदि से उपेक्षा हो जायगी कि भगवान हमारे कर्मानुसार ही योग-वियोग आदि के प्रवर्त्तक हैं, तब दूसरा कोई शत्रु-मित्र नहीं रह जायगा। यही प्रपंच-वियोग एवं जगत् का हेरा (खो) जाना है, इसी को आगे दो अर्द्धालियों से कहते हैं—

(२) 'जानिय तबहिं होइ विवेक ···' अर्थात् जागने पर विषय-विलास का त्याग स्वतः होता है, क्योंकि—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४); अर्थात् विषय, राग-द्वेष कराने वाले हैं, जो उपर्युक्त जाग्रत् के विरुद्ध हैं। तब प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने पर सत्-असत् का यथार्थ विवेक होता है। यथा—"तस्मात् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" (गीता २।६८)।

विवेक—जगत्-शरीरी श्रीरामजी के जानने से सत् का ग्रहण हुआ और अज्ञान-कल्पित 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व-जगत् के त्याग से असत् का त्याग हुआ। तब मोह जो देहाभिमान है और नानात्व-जगत् की सत्यता का भ्रम, ये दोनों निवृत्त हुए। तब 'रघुनाथ चरन' अर्थात् श्रीरामजी रघु संज्ञक जीवमात्र के पालक रूप नाथ हैं, ऐसा जानने से उनमें अनुराग होगा ही, क्योंकि जिन-जिन उपकारों के प्रति जगत् में ममता फैली थी विवेक से वह सर्वत्र से सिमटकर श्रीरामजी में ही हुई। यथा—"यहि जग में जहँ लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई। सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि एक ठाँई॥" (वि० १०३); तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); अर्थात् विवेक होने पर भजन ही होता है, इसे ही आगे परम परमार्थ (उत्कृष्ट ज्ञान) कहते हैं—

सखा परम परमारथ येहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥६॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥७॥
सकल - बिकार - रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥८॥

दोहा—भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहिं जगजाल॥९३॥

अर्थ—हे सखा! सबसे श्रेष्ठ परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हो॥६॥ श्रीरामजी ब्रह्म हैं और परमार्थ के स्वरूप ही हैं, अविगत (अतिशय-विगत अर्थात् मन आदि इन्द्रियों से परे) हैं, अलख हैं, जन्म रहित, उपमारहित॥७॥ सब विकार (षड्विकार) रहित

हैं, भेद से रहित हैं, नित्य ही वेद उनका 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करते हैं ॥८॥ भक्त, पृथिवी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओं के लिये दयालु श्रीरामजी मनुष्य-शरीर धारण करके चरित करते हैं, जिनके सुनने से संसार-रूपी बंधन छूट जाता है ॥९३॥

विशेष—(१) 'सखा परम परमारथ येहू'—ऊपर श्रीरामजी को शरीरी जानकर तन्निष्ठ होनेवाला परमार्थी कहा गया था। यहाँ उसमें (परम परमार्थ रूप) मन-वचन-कर्म से स्नेह भी हुआ, तो अब वही परम-परमार्थी कहाया। पुनः विषय-सुख-सामग्री अर्थ, ज्ञान-वैराग्य (साधन रूप) परमार्थ और श्रीरामचरण में मन कर्म और वचन से स्नेह होना (फलरूप सरस ज्ञान) परम परमार्थ है।

सम्बन्ध—इसपर निषाद-राज को संदेह हो सकता है कि श्रीरामजी तो नर के समान देखे जाते हैं, कर्म की अधीनता भी इनमें दीखती है; तब इनका भजन परम परमार्थ कैसे होगा ? इसलिये आगे श्रीरामजी का ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रूप कहते हैं—

(२) 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'''—राम ब्रह्म हैं; यथा—"व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभु हृदय अछत'''" (बा० दो० २१); इसकी व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म षडैश्वर्य-पूर्ण एवं षड्विकार-रहित है, ब्रह्म शब्द-मात्र से निर्गुण का ही अर्थ होता है। यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (बा० दो० २५); 'परमारथ रूपा' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हैं। अतः, कर्म-वश नहीं, क्योंकि—"कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें।" (उ० दो० १११); अर्थात् परमार्थ के ज्ञाता भी कर्म से निर्लिप्त रहते हैं और ये तो परमार्थ के स्वरूप ही हैं। 'अबिगत'—इन्द्रियों से परे हैं। अतः, भूमि पर सोने आदि के दुःखों का सम्पर्क इन्हें नहीं है। 'अलख' अर्थात् जो लखा या देखा न जा सके, श्रीरामजी ज्ञान-गम्य हैं, यथा—"ज्ञान-गम्य जय रघुराई॥" (बा० दो० २१०)।

'अनादि'—कर्म के नियामक ब्रह्मा सादि (स + आदि, आदिवाले = उत्पन्न होनेवाले) हैं और श्रीरामजी का दिव्य-रूप इनसे परे अनादि है। 'अनूपा'—जब दूसरा कोई इनसे भिन्न सत्तावान् हो तो उसकी उपमा भी दी जा सके। कहा भी है—"निरुपम न उपमा आनि राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९१)।

(३) 'सकल-बिकार-रहित गत-भेदा।'''—षड्विकार से रहित हैं 'गत-भेदा'—श्रीरामजी चिद्-चिद्विशिष्ट ब्रह्म एक ही हैं। इनसे भिन्न और कुछ नहीं है; अर्थात् जीव और प्रकृति ब्रह्म के अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध युक्त शरीर रूप एवं विशेषण हैं, श्रीरामजी स्वयं ब्रह्म-रूप विशेष्य हैं। इस (भेदराहित्य) से जनाया कि कैकेयीजी भी इनसे भिन्न नहीं हैं। अतः, उनके कार्य भी इनकी ही इच्छा एवं प्रेरणा से लीला के लिये हुए हैं।

सम्बन्ध—जब अलख आदि हैं, तब प्रत्यक्ष क्यों देख पड़ते हैं ? इसके समाधान के लिये आगे अवतार कहते हुए उसी ब्रह्म का माधुर्य-रूप कहते हैं—

(४) 'भगत भूमि भूसुर सुरभि''''''—'कृपाल' अर्थात् कृपा-गुण से ही भक्त आदि के हित के लिये अवतार लेकर चरित करते हैं। यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी।'''हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा० दो० १२०)। 'सुनत मिटहिं जग जाल' से चरित्र-श्रवण का माहात्म्य कहा कि जो ऊपर—"जोग-वियोग भोग''''''" से "जनम मरन जहँ लगि जग जालू।" तक मोह-मूलक विकार कहे गये। वे सब इस चरित्र के सुनने से मिट जायँगे। अतः, यही उसका उपाय है। यथा—"बिनु सत संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। इससे जनाया कि श्रीरामजी का ये भूमि-शयन आदि उनके प्रति विकार नहीं, किंतु लीला-रूप में जगत् के लिये विकार छूटने का उपाय हैं।

यथा—"जथा अनेकन वेष करि, नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ ॥" (उ० दो० ७२)। अर्थात् भगवान् नर-तन की लीला करने से नर ही नहीं हो जाते, किंतु उपर्युक्त ब्रह्म रूप-वाले गुण इनमें रहते हैं। अत, इनके विषय में कर्म-परतंत्रता का मोह (संदेह) छोड़कर इनका भजन करो। यही निष्कर्ष हुआ। वही आगे कहते हैं—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय - रघुबीर - चरन - रत होहू ॥१॥

अर्थ—हे सखा! ऐसा समझकर मोह को छोड़ श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रीति करो ॥१॥

विशेष—(१) 'सखा समुझि अस ......'—'अस' अर्थात् न तो कैकेयीजी ने ही श्रीरामजी को बलात् दुःख दिया है और न श्रीरामजी कर्म के वश ही हैं। वे यह सब चरित कर रहे हैं कि जिनसे उपर्युक्त भक्त भूमि आदि के हित होते हैं। 'परिहरि मोहू'—श्रीरामजी के विषय का अज्ञान किये दुःख पा रहे हैं, इसे छोड़ो। उपर्युक्त "सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयो प्रेम-बस हृदय विषादू ॥" के 'प्रेम-वश' का भाव ही यहाँ मोह कहा गया है, क्योंकि निषाद-राज ने श्रीरामजी को प्राकृत नर की तरह कर्म वश मानकर उनके दुःख में सौहार्द से दुःख माना है। जैसे अर्जुन का बांधव-स्नेह ही मोह-रूप कहा गया है और उसका निवृत्त होना अन्त में कहा गया है। यथा—"नष्टो मोहः ....." (गीता १८।७३) वैसे यहाँ निषादराज का बांधव-स्नेह मोह कहा गया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उपर्युक्त उपदेश से निवृत्त किया। 'सिय रघुबीर चरन रत.....'—मोह-निवृत्ति से राम-पद-प्रेम होता है; यथा—"मोह गये बिनु राम-पद होइ न दृढ़ अनुराग।" (उ० दो० ६१)।

यहाँ इस 'लक्ष्मण-गीता' की फल-श्रुति कही गई है कि इसके श्रवण से मोह छूटकर विज्ञान होता है और 'सिय रघुवीर चरन रत होहू।' के अनुसार श्रीराम-भक्ति होती है। यह गीता प्रथम सब जीवों के भक्ति-मार्ग के आचार्य रूप श्रीलक्ष्मणजी ने कही है। दूसरी 'राम-गीता' आ० दो० १३-१६ में श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी ने कही है। तीसरी गीता लं० दो० ७९ में श्रीविभीषणजी से श्रीरामजी ने कही है, इसे 'भगवद्‌गीता' कहते हैं। चौथी 'पुरजन गीता' उ० दो० ४२-४६ में कही गई है और पाँचवीं 'ज्ञान गीता' एवं उसके साथ ही 'भक्ति गीता' उ० दो० ११६-१२० में गरुड़-भुशुंडी-संवाद में कही गई है। इनकी फल-श्रुतियाँ भी क्रमशः—(क) यहाँ की ऊपर कही गई, (ख)—"तिन्ह के हृदय कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम।" (ग)—"महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर। जाके असरथ होइ दृढ़" " (घ)—"उमा अवध बासी नर, नारि कृतारथ रूप।" (ङ)—"जो निर्विघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" एवं—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सोइ हरि भगति···।"

'जागे जग मंगल-सुख दारा।'—श्रीरामजी ने अभी तक की लीलाओं से अवध-मिथिला में मंगल किया। अब वन-लीला से जगत्-भर का मंगल और सुख-दातृत्व प्रारंभ करेंगे। यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः ईश्वर की जागर्ति से जगत् का मंगल और सुख है।

(२) 'सकल सौच करि···'—जनकपुर में—'सकल सौच करि जाइ नहाये' कहा गया था, पर यहाँ 'जाइ' नहीं कहा गया, क्योंकि यहाँ तो गंगाजी के तट पर ही ठहरे हैं। 'सुचि'—शौच कृत्य और नहाना कहने से पहले का अशुचि होना पाया जाता; इसलिये शुचि शब्द कहा है कि आप तो सहज ही शुद्ध हैं। यथा—"सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद भानु कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (दो० ८७); "तीरथ अमित कोटि सम पावन।" (उ० दो० ११)।

'सुजान बट छीर मँगावा'—'सुजान' हैं। इसीसे सुमंत्र का अभिप्राय जान गये कि ये लौटाने की हठ करेंगे। इसलिये जटाएँ बना लीं कि जिससे वे निश्चय जान लें कि ये न लौटेंगे, फिर व्यर्थ हठ न करें और पिता-तुल्य वृद्ध मंत्री से मुझे उत्तर की धृष्टता भी न करनी पड़े। श्रीरामजी का यह भी अभिप्राय है, मुझे जटा बनाते हुए देखकर ये वहाँ कहेंगे, तो कैकेयी को निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष से वन को गये। यह मंत्री और कैकेयी के प्रति भी सौशील्य गुण का बर्त्ताव है। 'मँगावा'—से यह भी जान पड़ता है कि वहाँ समीप में वट-वृक्ष न था। नहीं तो उसी के नीचे ठहरते, जैसे कि अन्यत्र पाया जाता है। यथा—"घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं।" (दो० ११४); "देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि···" (दो० १२३); "बट छाया बेदिका" (दो० २३६)। "पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा।" (आ० दो० १५) इत्यादि।

(३) 'अनुज सहित सिर जटा ···'—श्रीरामजी ने और मुनि वेष तो कैकेयीजी के सामने ही बना लिया था। केवल जटा बनाना शेष था। उसकी पूर्त्ति यहाँ की। श्रीलक्ष्मणजी ने भाई की भक्ति से जटा बनाई, क्योंकि इन्हें मुनि वेष करने के लिये पिता की आज्ञा नहीं थी। 'देखि सुमंत्र नयन जल छाये'—भाव यह कि कहाँ तो इस शिर पर मुकुट और तिलक देखने की अभिलाषा थी और कहाँ अब जटा देख रहा हूँ।

(४) 'हृदय दाह अति बदन मलीना।···'—श्रीसुमंत्रजी मन, वचन और तन इन तीनों से अत्यन्त दुखी हो गये। यथा—'हृदय दाह अति'—मन, 'अति बदन मलीना'—तन, और 'कह कर

यथा—"जथा अनेकन वेष करि, नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ॥" (ब० दो० ७२)। अर्थात् भगवान् नर-तन की लीला करने से नर हो नहीं हो जाते, किंतु उपर्युक्त ब्रह्म रूप-वाले गुण इनमें रहते हैं। अतः, इनके विषय में कर्म-परतंत्रता का मोह (संदेह) छोड़कर इनका भजन करो। यही निष्कर्ष हुआ। वही आगे कहते हैं—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय - रघुबीर - चरन - रत होहू ॥१॥

अर्थ—हे सखा! ऐसा समझकर मोह को छोड़ श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रीति करो ॥१॥

विशेष—(१) 'सखा समुझि अस ......'—'अस' अर्थात् न तो कैकेयीजी ने ही श्रीरामजी को बलात् दुःख दिया है और न श्रीरामजी कर्म के वश ही हैं। वे यह सब चरित कर रहे हैं कि जिनसे उपर्युक्त भक्त भूमि आदि के हित होते हैं। 'परिहरि मोहू'—श्रीरामजी के विषय का अज्ञान कि ये दुःख पा रहे हैं, इसे छोड़ो। उपर्युक्त "सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयो प्रेम-बस हृदय बिषादू॥" के 'प्रेम-वश' का भाव ही यहाँ मोह कहा गया है, क्योंकि निषाद-राज ने श्रीरामजी को प्राकृत नर की तरह कर्म वश मानकर उनके दुःख में सौहार्द से दुःख माना है। जैसे अर्जुन का बांधव-स्नेह ही मोह-रूप कहा गया है और उसका निवृत्त होना अन्त में कहा गया है। यथा—"नष्टो मोहः......" (गीता १८।७३) वैसे यहाँ निषादराज का बांधव-स्नेह मोह कहा गया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उपर्युक्त उपदेश से निवृत्त किया। 'सिय रघुबीर चरन रत......'—मोह-निवृत्ति से राम-पद-प्रेम होता है; यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।" (ब० दो० ६१)।

श्री लक्ष्मण-गीता समाप्त।

कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जग - मंगल - सुखदारा ॥२॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मँगावा ॥३॥
अनुजसहित सिर जटा बनाये। देखि सुमंत्र नयन जल छाये ॥४॥
हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना ॥५॥

शब्दार्थ—दारा = देनेवाले, यह 'दा-दाने' धातु से निष्पन्न 'दारु' शब्द का अनुप्रासानुसार विकृत-रूप है; यथा—"(त्रि०) दा दाने दो खवड़ ने वा—रु। दानशील, देनेवाला।" हिन्दी—विश्वकोश।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण कहते हुए सवेरा हो गया, जगत् के मंगल और सुख के देनेवाले श्रीरामजी जगे ॥२॥ सब शौच के कृत्य करके पवित्र और सुजान श्रीरामजी ने स्नान किया और बरगद का दूध मँगाया ॥३॥ (उस दूध से) भाई के साथ शिर पर जटाएँ बनाईं, यह देखकर श्रीसुमंत्रजी के नेत्रों में आँसू छा गये ॥४॥ हृदय में अत्यन्त जलन है और मुख अत्यन्त मलिन (उदास) है, हाथ जोड़कर उसने अत्यन्त दीन वचन कहा ॥५॥

विशेष—(१) 'कहत राम गुन भा ...'—श्रीलक्ष्मणजी राम-गुण कहने में मुख्य हैं, यथा—"राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा-प्रभाउ जान्यो हर हनूमान लखन भरत।" (वि० २५१); (इसमें विपरीत यथासंख्यालंकार से अर्थ है कि श्रीभरतजी स्वभाव, श्रीलक्ष्मणजी गुण, श्रीहनुमान्जी शील और श्रीशिवजी महिमा-प्रभाव के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं।) इसीसे गुण कहते-कहते रात बीत गई। पुनः राम-गुण-गान के श्रवण से गुह की मोह-रात्रि दूर हुई और विज्ञान-रूपी सवेरा हुआ।

यहाँ इस 'लक्ष्मण-गीता' की फल-श्रुति कही गई है कि इसके श्रवण से मोह छूटकर विज्ञान होता है और 'सिय रघुबीर चरन रत होहू।' के अनुसार श्रीराम-भक्ति होती है। यह गीता प्रथम सब जीवों के भक्ति-मार्ग के आचार्य रूप श्रीलक्ष्मणजी ने कही है। दूसरी 'राम गीता' आ० दो० १३-१६ में श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी ने कही है। तीसरी गीता लं० दो० ७९ में श्रीविभीषणजी से श्रीरामजी ने कही है, इसे 'भगवद्गीता' कहते हैं। चौथी 'पुरजन गीता' उ० दो० ४२-४६ में कही गई है और पाँचवीं 'ज्ञान गीता' एवं उसके साथ ही 'भक्ति गीता' उ० दो० ११६-१२० में गरुड़-भुशुंडी-संवाद में कही गई है। इनकी फल-श्रुतियाँ भी क्रमशः—(क) यहाँ की ऊपर कही गई, (ख)—"तिन्ह के हृदय कमल महँ, करउँ सदा विश्राम।" (ग)—"महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर। जाके असरथ होइ दृढ़"" (घ)—"उमा अवध वासी नर, नारि कृतारथ रूप।" (ङ)—"जौ निर्विघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" एवं—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सोइ हरि भगति···।"

'जागे जग मंगल-सुख दारा।'—श्रीरामजी ने अभी तक की लीलाओं से अवध-मिथिला में मंगल किया। अब वन-लीला से जगत्-भर का मंगल और सुख-दातृत्व प्रारंभ करेंगे। यथा—"दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः ईश्वर की जागर्ति से जगत् का मंगल और सुख है।

(२) 'सकल सौच करि····'—जनकपुर में—'सकल सौच करि जाइ नहाये' कहा गया था, पर यहाँ 'जाइ' नहीं कहा गया, क्योंकि यहाँ तो गंगाजी के तट पर ही ठहरे हैं। 'सुचि'—शौच कृत्य और नहाना कहने से पहले का अशुचि होना पाया जाता, इसलिये शुचि शब्द कहा है कि आप तो सहज ही शुद्ध हैं। यथा—"सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद भानु कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (दो० ८७); "तीरथ अमित कोटि सम पावन।" (उ० दो० ५१)।

'सुजान बट छीर मँगावा'—'सुजान' हैं। इसीसे सुमंत्र का अभिप्राय जान गये कि ये लौटाने की हठ करेंगे। इसलिये जटाएँ बना लीं कि जिससे वे निश्चय जान लें कि ये न लौटेंगे, फिर व्यर्थ हठ न करें और पिता-तुल्य वृद्ध मंत्री से मुझे रूक्ष उत्तर की धृष्टता भी न करनी पड़े। श्रीरामजी का यह भी अभिप्राय है, मुझे जटा बनाते हुए देखकर ये वहाँ कहेंगे, तो कैकेयी को निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष से वन को गये। यह मंत्री और कैकेयी के प्रति भी सौशील्य गुण का बर्त्ताव है। 'मँगावा'—से यह भी जान पड़ता है कि वहाँ समीप में वट-वृक्ष न था। नहीं तो उसी के नीचे ठहरते, जैसे कि अन्यत्र पाया जाता है। यथा—"घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं।" (दो० ११४); "देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि···" (दो० १२३); "बट छाया बेदिका" (दो० २३६)। "पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा।" (अ० दो० १५) इत्यादि।

(३) 'अनुज सहित सिर जटा ···'—श्रीरामजी ने और मुनि वेष तो कैकेयीजी के सामने ही बना लिया था। केवल जटा बनाना शेष था। उसकी पूर्ति यहाँ की। श्रीलक्ष्मणजी ने भाई की भक्ति से जटा बनाई, क्योंकि इन्हें मुनि वेष करने के लिये पिता की आज्ञा नहीं थी। 'देखि सुमंत्र नयन जल छाये'—भाव यह कि कहाँ तो इस शिर पर मुकुट और तिलक देखने की अभिलाषा थी और कहाँ अब जटा देख रहा हूँ।

(४) 'हृदय दाह अति बदन मलीना।···'—श्रीसुमंत्रजी मन, वचन और तन इन तीनों से अत्यन्त दुखी हो गये। यथा—'हृदय दाह अति'—मन, 'अति बदन मलीना'—तन, और 'कह कर

जोरि वचन अति दीना।' से वचन की दुःखमय दशा प्रत्यक्ष है। ये तीनों प्रकार के दुःख प्रथम से भी थे ; पर अब जटा बनाना देख कर 'अति' हो गये।

नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथ जाहु राम के साथा ॥६॥
बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई ॥७॥
लखन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी ॥८॥

दोहा—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस, कहइ करउँ बलि सोइ।
करि विनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ ॥९४॥

अर्थ—हे नाथ ! कोशलेश महाराज श्रीदशरथजी ने ऐसा कहा था कि रथ लेकर श्रीरामजी के साथ जाओ ॥६॥ वन दिखा और गंगा स्नान कराकर शीघ्र ही दोनों भाइयों को लौटा लाना ॥७॥ सब संदेह और संकोच अलग करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी को लौटा लाना ॥८॥ हे गोसाइ ! राजा ने ऐसा कहा है। अब जैसा आप कहें, मैं वैसा ही करूँ। मैं आपकी बलिहारी हूँ। विनती करके वह पैरों पर गिर पड़ा और बालकों की तरह रो दिया ; अर्थात् अधीर हो ऊँचे स्वर से रोने लगा ॥९४॥

विशेष—(१) 'नाथ कहेउ अस कोसल नाथा।...'—'कोसल नाथा' कहने का भाव यह कि वे कोशल (अयोध्या) के कुशल के लिये आपको बुला रहे हैं। यही आगे—"तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥" से स्पष्ट होगा। पहले श्रीसुमंत्रजी ने पिता की आज्ञा सुनाकर रथ पर चढ़ाया है। यथा—"तब सुमंत्र नृप बचन सुनाये। करि बिनती रथ राम चढ़ाये॥" (दो० ८२) ; उसी बल पर फिर भी राजा की यह आज्ञा सुना रहे हैं कि जिससे उसी तरह इसे भी श्रीरामजी मान लें।

(२) 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई।"—'बन देखाइ'—क्योंकि श्रीरामजी ने वनवास करने की प्रतिज्ञा कर ली है ; उसे इस तरह पूरी कर देना। 'सुरसरि अन्हवाई' पीछे कहा। इससे गंगाजी के इसी पार का वन दिखाना सूचित किया। 'आनेहु बेगि'—'बेगि' से यहाँ शीघ्र मात्र अर्थ हुआ। पर राजा के पूर्व वचन—"फिरेहु गये दिन चारि" (दो० ८१) पर इसका भाव स्पष्ट हुआ है, क्योंकि १४ वर्ष की अपेक्षा चार दिन बहुत ही अल्प कहे जायँगे।

(३) 'लखन राम सिय आनेहु ...'—प्रथम 'दोउ भाई' मात्र कहा था। व्याकुलता से श्रीसीताजी को न कह सके थे। इसलिये फिर तीनों को कहा। वा, प्रथम दो में तीनों का भाव है। दोबारा अधिक पुष्टि के लिये कहा। 'संसय सकल सकोच निबेरी।'—(क) श्रीरामजी यदि संशय करें कि पिताजी ने प्रेमवश ऐसा कहा है ; मैं लौटूँगा तो उनका धर्म जायगा और यह संकोच करें कि हम वनवास के लिये निकल पड़े अब कैसे लौटें ? तो उनके इन संशय और संकोच को दूर करना। (ख) तुम भी ऐसा संशय न करना कि श्रीरामजी वनवास के लिये प्रतिज्ञा करके निकल पड़े। धर्मिष्ठ हैं लौटें या न लौटें तो कहूँ या न कहूँ। पुनः कहने में संकोच न करना। इत्यादि 'सकल' शब्द में सब भाव हैं। 'निबेरी'=अलग करके, त्याग करके। यथा—"गृह आनहि चेरि निबेरि गती।" (उ०दो० १००)।

(४) 'नृप अस कहेउ गोसाईं...'—'नृप' (नृ = मनुष्य, प = पालक) अर्थात् राजा मनुष्यों के पालन-कर्त्ता हैं। उन्हीं के निमित्त उन्होंने ऐसा (उपर्युक्त) कहा है ; अन्यथा प्रजा न जियेगी।' गोसाँइ जस'''— आप तो गोसाईं अर्थात् इन्द्रियजित हैं। अतः, वन के दुःख से न घबड़ायँगे ; किंतु प्रजा की रक्षा के लिये यह प्रार्थना है। 'जस कहइ' अर्थात् ऐसा न हो कि संकोच से कुछ उत्तर न दें, तो मैं राजा से क्या कहूँगा। अतः, लौटें अथवा उत्तर दें। विनती करके पैरों पर पड़ गये ; क्योंकि बड़ों पर ऐसे ही दबाव पड़ता है।

तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई ॥१॥
मंत्रहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम-मत तुम्ह सब सोधा ॥२॥
सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा ॥३॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना ॥४॥
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ॥५॥
मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजस छावा ॥६॥

अर्थ—हे तात ! कृपा करके वही कीजिये, जिससे अवध अनाथ न हो ॥१॥ श्रीरामजी ने मंत्री को उठाकर समझाया—हे तात ! तुमने धर्म के सब मतों (सिद्धान्तों) का संशोधन किया है ॥२॥ शिबि, दधीचि और हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिये करोड़ों कष्ट सहे हैं ॥३॥ सुजान राजा रंति देव और बलि ने अनेकों कष्ट सह कर भी धर्म को धारण किया है ॥४॥ सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। शास्त्र, वेद और पुराणों में कहा है ॥५॥ मैंने वही धर्म सहज ही में पाया है। उसके छोड़ने से तीनों लोकों में अपयश फैलेगा ॥६॥

विशेष—(१) 'तात कृपा करि कीजिये सोई'''—धर्म की दृष्टि से लौटा नहीं सकते। इसलिये अवधवासियों पर कृपा करके लौटने को कहते हैं कि जिससे अवध अनाथ न हो, अर्थात् तुम्हारे न लौटने से राजा न जियेंगे। श्रीभरतजी भी राज्य न ग्रहण करेंगे तो अवध अनाथ होगी।

(२) 'मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा'''—मंत्रीजी पिताजी के सखा हैं। अतः, उनका चरणों पर पड़ना न सह सके, उसे उठाकर समझाया। धर्म का मत कहकर समझाया, वही आगे कहते हैं कि तुम तो धर्म का मत जानते ही हो, इसलिये धर्मिष्ठों का उदाहरणमात्र ही कहता हूँ। धर्म का मत समझाने का प्रयोजन नहीं।

(३) 'सिबि दधीचि हरिचंद'' '—इनकी कथाएँ पूर्व आ चुकी हैं।

(४) 'रंतिदेव बलि भूप सुजाना।'''—ये दोनों राजा धर्म की गति जानने में बड़े निपुण थे। बड़े-बड़े संकट सहकर इन्होंने धर्म की रक्षा की है। बलि की कथा पूर्व आ चुकी है। रंतिदेव की कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ९ अ० २१ में विस्तार से कही गई है। ये पुरुवंश में राजा संकृति के पुत्र हुए। सर्वदा दान दिया करते थे। सम्पत्ति चुक जाने पर एक बार ४८ दिनों तक इन्हें बिना अन्न-जल के रहना पड़ा। ४९ वें दिन भोजन प्राप्त हुआ, तब एक ब्राह्मण अतिथि आ गया, उसे श्रद्धा-पूर्वक खिलाया। शेष भोजन स्त्री-पुत्र के साथ तीनों बाँटकर खाने को तैयार हुए कि एक शूद्र अतिथि आया। राजा ने उसे भी उसी में संतुष्ट किया। फिर एक भूखा चांडाल भूखे कुत्ते को लिये हुए आया। राजा ने इनको भी शेष अन्न खिलाया। अब केवल एक व्यक्ति के पीने भर को जल शेष रहा। उसे पीना चाहते ही थे कि एक प्यासा चांडाल आ

गया। दया करके आपने वह जल उसे पिला दिया। आप सर्वत्र हरि को ही देखते थे और भगवान् से यही चाहते थे कि मैं ही सब प्राणियों के हृदय में रहकर उनका दुःख भोगूँ। राजा ने मृत के तुल्य दशा में ज्यों ही शेष जल उस चांडाल को दिया, त्यों ही उपर्युक्त रूपों से परीक्षा लेनेवाले त्रिदेव प्रकट हो गये और इन तीनों प्राणियों ने उनके सामने ही शरीर त्याग दिया।

(५) 'धरम न दूसर सत्य समाना'''—यदि सुमंत्रजी कहें कि उक्त लोगों में किसी का सर्वस्व और किसी का शरीर नाश हुआ। उसके लिये तुम क्यों कष्ट झेलोगे ? उसपर कहते हैं, सत्य रक्षा के समान दूसरा धर्म नहीं है। फिर वेदादि के प्रमाण दिये। यथा—"सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।'''सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रित। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥'' वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्य परो भवेत्॥" (वाल्मी० २।१०९।१०-१४)।

(६) 'मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।'''—पिता के वचन सत्य करना, यह सत्य-रक्षा रूप परम धर्म पालन करने को मुझे सुलभता से मिल गया कि केवल वन में थोड़े काल निवास करने मात्र में हो जायगा और सत्य-प्रतिज्ञ का यश होगा। इसे भी न कर सकने पर अपयश होगा कि श्रीरामजी धार्मिक वृत्ति में कादर थे जिससे सुलभ धर्म भी न कर सके। यही नहीं, किंतु तीनों लोकों में अपयश छा जायगा; अर्थात् चिरकाल तक बना रहेगा। सत्य का त्यागना पाप है, उससे अपयश होगा। यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११), अपयश का भारी भय है, वही आगे कहते हैं—

संभावित कहँ अपजसलाहू। मरन - कोटि - सम दारुन दाहू॥७॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिये उतर फिरि पातक लहऊँ॥८॥

दोहा—पितुपद गहि कहि कोटि नति, बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै, तात करिय जनि मोरि॥९५॥

अर्थ—प्रतिष्ठित पुरुषों को अपयश प्राप्त होने से करोड़ों मरण के समान कठिन दाह होता है॥७॥ हे तात ! तुमसे बहुत क्या कहूँ ? उत्तर देने से उल्टे पाप का भागी हूँगा॥८॥ पिता के चरण पकड़कर हमारा कोटिशः (बहुत-सा) प्रणाम कहना और हाथ जोड़कर विनय करना कि हे तात ! मेरी ओर से किसी भी बात की चिन्ता न कीजिये॥९५॥

विशेष—(१) 'संभावित कहँ अपजस'''—भाव यह कि अप्रतिष्ठित को अपयश होने पर उतना दुःख नहीं होता और प्रतिष्ठित को तो करोड़ों मरण के समान दुःख होता है। यथा—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४); दधीचि आदि को धर्म के विषय में एक ही बार मरण हुआ है, पर वे कीर्त्ति रूप से संसार में जीवित ही हैं और मैं जो धर्म छोड़कर अपयश पाऊँगा तो मुझे मरने से कोटिगुणा दुःख होगा।

(२) 'तुम्ह सन तात बहुत'''—तुम सर्व-धर्म मत जानते ही हो। अतः, धर्मात्माओं के उदाहरण मात्र से कह दिया है। बहुत कहने की आवश्यकता ही नहीं है। तुम पिता के समान हो। फिर तुम्हारा वचन पिता का संदेशा है। अतः, उन्हें बिना विचारे ही मान लेना था; यथा—"गुरु पितु मातु स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर

पातक भारू ॥" (दो० १७६)। उत्तर देने से पाप होता है। इसीसे मैंने धर्मात्माओं के उदाहरणमात्र दिये हैं कि आप तो स्वयं समझ लेंगे।

(२) 'पितु पद गहि कहि'''—अर्थात् जितनी बार नमस्कार कहना, उतनी ही बार पैर धरना। श्रीरामजी पिता का अत्यन्त संकोच मानते हैं, बड़े लोग अपने बड़ों का कितना सकोच रखते हैं, इसके आप आदर्श हैं। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (दो० २६०); 'चिंता कवनिहु बात'''—इसका कारण आगे कहा गया है ; यथा—"बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ।'''"

तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरे। बिनती करउँ तात कर जोरे ॥१॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥२॥
सुनि रघुनाथ - सचिव - संबादू। भयेउ सपरिजन बिकल निषादू ॥३॥
पुनि कछु लखन कही कटुबानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥४॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनसँदेस कहिय जनि जाई ॥५॥

अर्थ—आप भी पिता के समान मेरे अत्यन्त हितैषी हैं, हे तात ! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनती करता हूँ ॥१॥ सब प्रकार से आपका वही कर्त्तव्य है, (आपको वही करना चाहिये) कि जिससे पिताजी हमारे शोच में दुःख न पावें ॥२॥ श्रीरघुनाथजी और मंत्रीजी का संवाद सुनकर कुटुंब के साथ निषाद-राज व्याकुल हो गये ॥३॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कड़वे वचन कहे, जिन्हें बड़ा अनुचित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने मना किया ॥४॥ सकुचकर श्रीरामजी ने अपनी- शपथ दिलाकर कहा कि (वहाँ) जाकर श्रीलक्ष्मणजी का सँदेशा न कहना ॥५॥

विशेष—(१) 'तुम्ह पुनि पितु सम'''—आप हमारे अत्यंत हितैषी हैं, हमारा हित इसीमें है कि पिता हमारे शोच में दुःख न पावें; ऐसा उपाय करते रहना। श्रीरामजी मंत्री को पिता के समान मानते हैं, इससे आपने हाथ जोड़कर कहा है। 'अतिहित', यथा—"इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये। यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥" (वाल्मी० २ । ५२ । ११)।

(२) 'सब बिधि सोइ करतब्य'''—'सब विधि' विधियाँ आगे स्पष्ट हैं। (क) "तुम्हसो करेहु सोइ जतन'''" (ख) गुरु से संदेश कहकर, यथा—"गुरु सन कहब संदेस, बार-बार • करब सोई उपदेश'''" (ग) पुरवासियों से मेरी प्रार्थना सुनाना, यथा—"पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाह सुखारी॥" इत्यादि।

(३) 'दुख न पाव पितु सोच'''—इस प्रसंग में सर्वत्र श्रीरामजी ने अपने विषय में एक वचन ही का प्रयोग किया है, जैसे कि 'कहऊँ' 'मोरि' 'मोरे' 'करउँ' से स्पष्ट है। पर यहाँ 'हमारे' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह कि मेरे, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी, इन तीनों के शोच में दुखी न होने पावें। ऐसा न कहते, तो जाना जाता कि श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का शोच राजा को नहीं है।

(४) 'भयेउ सपरिजन बिकल'''—मंत्री की विनती और उसका अधीर होकर रोना एवं पाँव पड़ना, करुणामय है। पुनः श्रीरामजी का पृथक्-पृथक् संदेशा कहना भी वैसे ही करुणापूर्ण है, पुनः श्रीरामजी का वन जाने का निश्चय जानकर तो व्याकुलता बहुत ही बढ़ गई।

(५) 'पुनि कछु लखन कही'''—श्रीलक्ष्मणजी ने कौन से कटु वचन कहे हैं, उन्हें कवि ने नहीं खोला है। प्राय ग्रंथकार की रीति है कि ये ऐसे वचन खोलकर नहीं कहते। यथा—"कहि दुर्वचन क्रुद्ध दसकंधर'' " (लं० दो० ८६), "तेहि कारण करुना निधि; कहे कछुक दुर्बाद।" (लं० दो० १०७)। हाँ, श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है, जो चाहें वहाँ देख लें। पिताजी ने श्रीरामजी की शपथ करके प्रतिज्ञा की थी, इससे उन्होंने परवशता में वर दिया। श्रीलक्ष्मणजी का ध्यान इतनी दूर न गया, ये श्रीरामजी का अपमान न सह सके, इसीसे इन्होंने कटु वचन कहा। इसपर श्रीरामजी सकुच गये कि इसमें कोई मेरा भी रुख न मान ले। वा, भाई के अनुचित कार्य पर भाई को लज्जा होती ही है। श्रीसुमंत्रजी ने कटु वचन तो नहीं कहा ; पर इस विषय की श्रीरामजी की सुशीलता को वे न छिपा सके, इसीसे उन्होंने यह गुण राजा को भी जनाया।

'प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित'''—भाव यह कि जिन पिता के वचन मानकर हम वन को जा रहे हैं, उन्हें ऐसा कहना बड़ा अनुचित है। श्रीरामजी ने वरज दिया, नहीं तो संभवतः वे और कुछ कहते। श्रीरामजी की इस उक्ति से लोक-शिक्षा भी हुई कि गुरुजनों के प्रति अनुचित कहना बड़ा दोष है। इसीसे यहाँ मानस के चारों वक्ता एक-मत हैं, किसी ने उन वचनों को नहीं खोला।

(६) 'सकुचि राम निज सपथ'''—श्रीरामजी सकुच गये कि श्रीलक्ष्मणजी हमारी इच्छानुसार काम करनेवाले हैं। कहीं इनके सदेश में मेरी सम्मति न मानी जाय, इसलिये अपनी शपथ दिलाई कि मंत्री को हम अत्यन्त प्रिय हैं। अतः, हमारी शपथ के विरुद्ध वे कुछ न कहेंगे। 'लखन संदेश'—अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था कि जैसा हम कहते हैं, ऐसा ही जाकर राजा से कहना। इसपर दो० १५१ चौ० ८ भी देखिये।

कह सुमंत्र पुनि भूप - सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिनकलेसू ॥६॥
जेहि बिधि अवध आव फिर सीया। सोइ रघुबरहिं तुम्हहि करनीया ॥७॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जलबिनु मीना ॥८॥

दोहा—मइके ससुरे सकल सुख, जबहि जहाँ मन मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान ॥९६॥

शब्दार्थ—बिहान = सवेरा वा बिहाइन = समाप्त न हो, दूर न हो जाय। सुखेन = सुखपूर्वक।

अर्थ—सुमंत्रजी ने फिर राजा का सँदेशा कहा कि श्रीसीताजी वन का क्लेश न सह सकेंगी ॥६॥ जिस तरह से श्रीसीताजी अवध को लौट आवें, रघुवर को और तुमको वही करना चाहिये ॥७॥ नहीं तो बिल्कुल ही अवलंब (सहारा) रहित होने से मैं जीता न रहूँगा, जैसे विना जल के मछली ॥८॥ नैहर (पिता के घर) और ससुराल में सब सुख है। जब जहाँ जी चाहे, तब वहाँ श्रीसीताजी सुख पूर्वक रहेंगी। जबतक विपत्ति का अंत न हो ॥९६॥

विशेष—(१) 'कह सुमंत्र पुनि भूप संदेसू'—राजा ने कहा था—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।''' तो तुम बिनय'''फेरिय प्रभु मिथिलेस किसोरी॥" (दो० ८१), अर्थात् दोनों भाई न फिरें तो श्रीसीताजी के ही लौटने का सँदेशा कहना, तदनुसार यहाँ दोनों भाइयों के न लौटने का निश्चय होने पर श्रीसुमंत्रजी

दूसरा संदेशा कहते हैं। यह 'पुनि' का भाव है। 'सहि न सकिहि सिय······'—प्रथम दोनों को अत्यन्त सुकुमार कहकर लौटने को कहा था—"सुठि सुकुमार कुमार······" (दो० ८१); अब इनमें भी श्रीसीताजी को और अधिक सुकुमारी दिखाते हुए लौटने को कहते हैं, 'जेहि बिधि अवध आव······'— 'तुम्हहिं' अर्थात् श्रीसुमंत्रजी को राजा ने श्रीसीताजी के लौटाने के लिये विधि बतलाई थी—"सासु ससुर अस···पितु गृह कबहूँ ···" (दो० ८१); पर 'रघुबरहि' अर्थात् श्रीरामजी के लिये कोई भी विधि नहीं कही थी, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी की आज्ञा मानकर श्रीसीताजी अवश्य लौट सकती हैं। इसीसे 'रघुबरहि' को पहले कहा है।

(२) 'नतरु निपट अवलंब बिहीना।···'—श्रीसीताजी के लौटने से अवलंब होगा, यथा— "येहि बिधि करेहु उपाइ कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥" (दो० ८१); उनका न लौटना अवलंब-रहित होना है, अभी लौटने की आशा-रूप जल से जीते हैं, नहीं तो श्रीसीताजी के बिना जल-रहित मछली की तरह न जियेंगे।

(३) 'मइके ससुरे सकल सुख······'—राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी के बिना मैं 'जल-हीन मछली की तरह न जीऊँगा' उससे यह समझा जाता कि श्रीसीताजी सदा मेरी दृष्टि के सामने ही रहें, उसका निराकरण करते हैं कि यह बात नहीं, नैहर, सासुर में जब जहाँ मन माने, वहाँ रहेंगी। लड़कियों को मायका अधिक प्रिय होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। अथवा प्रथम मायका है तब ससुराल है, वैसे ही कहा है। 'बिपति बिहान'—विपत्ति को रात मानकर विहान से सबेरा होना भी अर्थ लिया जाता है, भाव एक ही है।

बिनती भूप कीन्हि जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥१॥
पितु-सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्हि सिख कोटि बिधाना॥२॥
सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सबकर मिटइ खँभारू॥३॥
सुनि पतिबचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही॥४॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥५॥

अर्थ—राजा ने जिस तरह (आर्त होकर) बिनती की है, वह दीनता, प्रीति नहीं कही जाती॥१॥ पिता का सँदेशा सुनकर कृपानिधान श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को अनेकों प्रकार से शिक्षा दी॥२॥ कि जो तुम लौटो तो सास, श्वसुर, गुरु, प्रियलोग और परिवार सब का खँभार (खलबली, क्षोभ, घबराहट) मिट जाय॥३॥ पति के वचन सुनकर श्रीजानकीजी कहती हैं कि हे प्राणपति! हे परम स्नेही! सुनिये॥४॥ हे प्रभो! आप करुणामय और परम विचारवान हैं, (कहिये तो भला) देह को छोड़कर छाया रोकने से कब अलग रह सकती है?॥५॥

विशेष—(१) 'बिनती भूप कीन्हि ···'—पहले सँदेशा कहा था। अब बिनती भी सुनाते हैं, पिता की आज्ञा ही बहुत है, फिर उन्होंने विनती भी की है; वह भी आर्त्ति और अत्यंत प्रीति-पूर्वक है। तब तो आपको संकोच करना ही चाहिये। 'न सो कहि जाती' अर्थात् स्मरण होते ही हृदय भर आता है।

(२) 'पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना।···'—"सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू।

कर मिटइ सँभारू॥" ये वचन सास आदि पर कृपा करके कहे हैं। अतः, 'कृपानिधान' हैं। 'कोटि बिधाना'—प्रथम एकबार माता के समक्ष में कह चुके हैं, वही सब एवं उसी प्रकार के उपदेश यहाँ भी हैं। अतः, फिर नहीं लिखे गये। प्रथम बार आज्ञा दी थी—"वचन हमार मानि गृह रहहू।" (दो० ६०); उस-पर श्री जानकीजी ने ऐसे वचन कहे थे कि विवश होकर उन्हें साथ लेना ही पड़ा। इसीसे अबकी श्रीरामजी आज्ञा नहीं देते, शिक्षा-मात्र देते हैं।

(३) 'सासु ससुर गुरु प्रिय···'—तुम्हारे फिरने से सबका दुःख मिटेगा; क्योंकि तुम सबके प्रिय हो, यथा—"तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहि पियारी॥" (दो० ५७); 'फिरहु त' अर्थात् फिरना तुम्हारे अधीन है, मैं कुछ वैसी आज्ञा नहीं देता हूँ।

(४) 'सुनि पतिबचन कहति ··'—मंत्री ने राजा के वचन पहले कहे थे, उसके पीछे श्रीरामजी ने कहा है, किंतु श्रीजानकीजी प्रथम श्रीरामजी को ही उत्तर देती हैं। पीछे मंत्री से कुछ विस्तार से कहेंगी। यह 'सुनि पतिबचन' से प्रकट है। 'वैदेही' का भाव यह कि पति के विना इनकी देह न रहेगी। तथा 'प्रानपति' अर्थात् प्राण भी न रहेंगे। 'परम सनेही' अर्थात् सास आदि स्नेही हैं और आप परम स्नेही हैं तो आपको छोड़कर मैं उन सबके पास कैसे जा सकती हूँ।

(५) प्रभु करुनामय परम बिबेकी। '—'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें, जिसमें मेरे प्राण रहें। 'परम बिबेकी'—श्रीजानकीजी विवेक की बातें कहेंगी, इसलिये कहती हैं कि आप परम विवेकी हैं, आपके सामने कोई विवेक की बातें कहाँ तक कहेगा? आप तन हैं, तो मैं छाया, यथा—"कृत-कृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।". (वाल्मी० २।४०।२४); जहाँ तन जाता है, वहीं छाया भी साथ रहती है, कोई छेंक (रोक) कर अलग नहीं कर सकता। वैसे ही मैं भी आपके साथ ही रहूँगी। भाव यह कि आप लौटें तो मैं भी लौट सकती हूँ।

विशेष—(१) 'प्रभा जाइ कहँ भानु…'—आप सूर्य हैं, तो मैं प्रभा, यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।" (वाल्मी० ५।२१।१५); पुनः आप चन्द्रमा हैं तो मैं चन्द्रिका, यथा—"धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा।" (वाल्मी० २।११।२८) अर्थात् सूर्य-चन्द्रमा की प्रभाएँ (किरणें) उन्हें छोड़कर नहीं जा सकतीं, वैसे ही मैं आपको छोड़कर अलग नहीं जा सकती। सूर्य की प्रभा दिन में और चन्द्रमा की चन्द्रिका रात में साथ रहती है, वैसे ही दिन-रात अर्थात् निरंतर मैं आपके साथ हूँ।

(२) 'पतिहि प्रेममय बिनय…'—'सुनि पति वचन कहति वैदेही।' उपक्रम है और यहाँ उपसंहार हुआ। 'प्रेममय बिनय'—पति से प्रेममय प्रार्थना ही की। उत्तर नहीं दिया, प्रेम पति में ही है। अतः, 'प्रेममय' कहा है, मंत्री से सुंदर वाणी ही कही है।

(३) 'तुम्ह पितु…उतर देउँ फिरि…'—श्रीरामजी ने जैसे जो नाता और भाव मंत्री में कहा है। वही ये भी कहती हैं। श्रीरामजी ने कहा है—"तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरे" (दो० ९५); वैसे ही ये भी कहती हैं—'तुम्ह पितु ससुर सरिस…'सुमंत्रजी श्वसुर के मंत्री एवं सखा हैं। इससे उनको श्वसुर के तुल्य कहा है। श्रीरामजी ने—'दिये उतर फिरि पातक लहऊँ।' कहा है। वैसे ये भी—'उतर देउँ फिरि…' कहती हैं। किन्तु आप पति-वियोग कराने की वार्त्ता करते हैं; जिससे महान् दुःख होता है, इससे कुछ बोलना पड़ा। इसका समापन आगे कहती हैं—

(४) 'आरतिबस सनमुख…'—आर्त्त के चित्त में सावधानता नहीं रहती; यथा—"रहत न आरत के चित चेतू।"(दो० २६८)। अतः, उसके दोषों को साधु लोग नहीं गिनते। यथा—"दुखित दोष-गुन गनहिं न साधू।" (दो० १०१); अतएव आप भी अनुचित न मानियेगा। 'आरज सुत' (आर्यपुत्र) यह पति के लिये उस समय में नियत संबोधन था; यथा—"आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।" (वाल्मी० ३।४३।३); (यह श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को कहा है) तथा— "आरज सुवन के तो दया दुवनहूँ पर…" (गी० सुं० ७); (यह भी इन्हीं का वचन है) "आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः।…" (वाल्मी० ६।११०।४); (यह रावण की स्त्रियों ने पति के लिये कहा है), इत्यादि। 'आदि,जहँ लगि नात'—अर्थात् पति के सहयोग में सभी मान्य हैं। अन्यथा नहीं; यथा—"मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।…जहँ लगि नाथ…पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते॥" (दो० ६४)। 'सनमुख भइउँ' अर्थात् पहले कभी सामने न होती थीं। यथा—"या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥" (वाल्मी० २।३३।८); अर्थात् श्रीसीताजी को आकाशचारी पक्षी भी नहीं देख पाते थे।

पितु - बैभव - बिलास मैं दीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा॥१॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरे। पियबिहीन मन भाव न भोरे॥२॥
ससुर चक्कवइ कोसल राऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥३॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरधसिंहासन आसन देई॥४॥
ससुर एतादृस अवधनिवासू। प्रिय परिवार मातुसम सासू॥५॥
बिनु रघुपति- पद- पदुम - परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥६॥

अर्थ—पिता का ऐश्वर्य और अतिशय सुख-भोग मैंने देखा है कि श्रेष्ठ राजाओं के मुकुट उनके खड़ाऊँ (वा, तलवों) से मिलते थे ; अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा साष्टांग प्रणाम करते थे, जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँ में छू जाते थे ॥१॥ ऐसा सुख का स्थान पिता का घर मेरे मन में पति के बिना भूल कर भी नहीं सुहाता ॥२॥ श्वसुर चक्रवर्त्ती अयोध्या के राजा हैं, जिनका प्रभाव चौदहों भुवनों में प्रकट है ॥३॥ कि आगे आकर जिसे इन्द्र लेते हैं (अगवानी करते हैं) और आधे सिंहासन पर (अपने बराबर) आसन देते हैं ॥४॥ ऐसे श्वसुर, अवधपुरी का निवास, प्यारा परिवार और माता के समान सास आदि सब हैं। पर रघुपति के चरण-कमल-रज के बिना मुझे कोई स्वप्न में भी सुखद नहीं लगता ॥५-६॥

विशेष—'पितु वैभव बिलास मैं···'—खड़ाऊँ के प्रणाम एवं साष्टांग प्रणाम महात्माओं के प्रति भी किया जाता है और राजा जनक ज्ञानी महात्मा थे ही, तो यह स्वाभाविक ही है। इसपर कहती हैं कि वह नहीं ; किंतु ऐश्वर्य-विलास देखकर वे राजा लोग साष्टांग पड़ते हैं। यथा—"भूप भीर नट मागध भाँटा।" (बा॰ दो॰ ३१३)। पद-पीठ का अर्थ खड़ाऊँ है। यथा—"चरनपीठ करुना निधान के।" (दो॰ ३१५)।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥८॥

दोहा—सासु ससुर सन मोर हुँति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय ॥९८॥

शब्दार्थ—हुँति = ओर से, तरफ से। सुभाय = स्वाभाविक, सदा की तरह।

अर्थ—दुर्गम मार्ग, वन, भूमि, पहाड़ ; बहुत-से हाथी, सिंह ; अपार तालाब और नदियाँ ॥७॥ कोल, किरात, मृग और पक्षी, ये सब प्राण-नाथ पति के साथ मुझे सुख देनेवाले होंगे (जो और यात्रियों को दुखद होते हैं) ॥८॥ सास और श्वसुर से मेरी ओर से पाँव पकड़कर विनती कीजियेगा कि वे मेरा कुछ भी शोच न करें। मैं वन में स्वाभाविक (वनवासियों की तरह) सुखी हूँ ॥९८॥

विशेष—'मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।'—ऊपर—'मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा।' से श्रीसुमंत्रजी के कहे हुए—'मइके ससुरे सकल सुख···' इत्यादि का उत्तर हुआ। अब यह कहती हैं कि प्राणपति के साथ से दुखद भी सुखद होंगे। प्राणपति का माधुर्य परक अ पति-वाचक तो है ही, साथ ही ऐश्वर्यपरक सबके प्राणों के रक्षक, अर्थ भी है। यथा—"सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥" (अ॰ दो॰ ६); कोल-किरातों की सेवकाई आगे दो॰ १३४-१३६ देखिये। पक्षी जटायु ने सेवा में प्राण ही दिये। वानर-भालुओं की सेवकाई आगे प्रसिद्ध ही है। राक्षसों का सुखद होना न कहा ; क्योंकि उनके नाश करने के लिये तो इनका अवतार ही है। यथा—"निसिचर हीन करउँ महि" (आ॰ दो॰ ९); "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई" (सु॰ दो॰ ३५) "काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति नेरी ॥" (सु॰ दो॰ ३९)।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। धीरधुरीन धरे धनु भाथा ॥१॥
नहिं मगश्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहि लगि सोच करिय जनि भोरे ॥२॥
सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनिहानी ॥३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति और प्यारे देवर साथ हैं। जो वीरों में अग्रगण्य हैं धनुष और (बाण पूर्ण) तर्कश धारण किये हुए हैं ॥१॥ मार्ग की थकावट, भ्रम और दुःख मेरे मन में नहीं है। अतः, मेरे लिये भूलकर भी शोच न करें ॥२॥ श्रीसीताजी की शीतल वाणी सुनकर श्रीसुमंत्रजी व्याकुल हो गये, जैसे मणि खो जाने से सर्प की दशा होती है ॥३॥ आँख से दिखाई नहीं पड़ता, कान से सुनाई नहीं देता, अत्यन्त व्याकुल हो गये, कुछ कह नहीं सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'प्राननाथ प्रिय'''धीरधुरीन'''—जो सबके प्राणों के रक्षक हैं, वे ही मेरे प्राणनाथ (पति) हैं। रक्षा में समर्थ दोनों भाई हथियार-युक्त भी हैं। अतः, शत्रुता करनेवाले स्वयं तुरत नाश होंगे। 'नहिं मग श्रम भ्रम दुख '''—मार्ग की थकावट का दुःख और किसी प्रकार की बाधा का भ्रम मेरे मन में नहीं है।

(२) 'सुनि सुमंत्र सिय '''—दोनों भाइयों से तो प्रथम ही निराश हो चुके थे, उनके उत्तर पा चुके थे। यहाँ श्रीजानकीजी से भी निराश हुए। वे ही मणि रूपा हुईं। मंत्री को मरण के समान दुःख हुआ, यथा—"मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे। (वि० ६७)।

(३) 'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। ''' '—यहाँ तीन प्रकार से सुमंत्र को दुःख हुआ। श्रीरामजी नेत्र, श्रीलक्ष्मणजी कान और श्रीजानकीजी वाणी हुईं। तीनों की हानि से तीन प्रकार के दुःख हुए था, तीनों से अत्यन्त व्याकुलता की दशा जनाई। यथा—"उतरु न आव बिकल भइ बानी॥ सुनै न श्रवन नयन नहिं सूझा।'''दाहिन्ह दोख सचिव बिकलाई।" (दो० १४७); पर स्पष्ट कहा है।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती ॥५॥
जतन अनेक साथहित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥६॥
मेटि जाइ नहिं राम-रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥७॥
राम-लखन-सिय-पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥८॥

दोहा—रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषादबस, धुनहिं सीस पछिताहिं ॥९९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत तरह से समझाया, तो भी छाती ठंढी नहीं होती ॥५॥ साथ चलने के लिये बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी ने उचित (यथायोग्य) उत्तर दिया ॥६॥ श्रीरामजी की

अर्थ—पिता का ऐश्वर्य और अतिशय सुख-भोग मैंने देखा है कि श्रेष्ठ राजाओं के मुकुट उनके खड़ाऊँ (वा, तलवों) से मिलते थे, अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा साष्टांग प्रणाम करते थे, जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँ में छू जाते थे ॥१॥ ऐसा सुख का स्थान पिता का घर मेरे मन में पति के बिना भूल कर भी नहीं सुहाता ॥२॥ श्वसुर चक्रवर्ती अयोध्या के राजा हैं, जिनका प्रभाव चौदहों भुवनों में प्रकट है ॥३॥ कि आगे आकर जिसे इन्द्र लेते हैं (अगवानी करते हैं) और आधे सिंहासन पर (अपने बराबर) आसन देते हैं ॥४॥ ऐसे श्वसुर, अवधपुरी का निवास, प्यारा परिवार और माता के समान सास आदि सब हैं। पर रघुपति के चरण-कमल रज के बिना मुझे कोई स्वप्न में भी सुखद नहीं लगता ॥५-६॥

विशेष—'पितु बैभव बिलास मैं ...'—खड़ाऊँ के प्रणाम एवं साष्टांग प्रणाम महात्माओं के प्रति भी किया जाता है और राजा जनक ज्ञानी महात्मा थे ही, तो यह स्वाभाविक ही है। इसपर कहती हैं कि वह नहीं; किंतु ऐश्वर्य विलास देखकर वे राजा लोग साष्टांग पड़ते हैं। यथा—"भूप भीर नट मागध भाँटा।" (बा० दो० ३१२)। पद पीठ का अर्थ खड़ाऊँ है। यथा—"चरनपीठ करुना निधान के।" (दो० ३१५)।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥८॥

दोहा—सासु ससुर सन मोर हुँति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय ॥९८॥

शब्दार्थ—हुँति = ओर से, तरफ से। सुभाय = स्वाभाविक, सदा की तरह।

अर्थ—दुर्गम मार्ग, वन, भूमि, पहाड़; बहुत से हाथी, सिंह; अपार तालाब और नदियाँ ॥७॥ कोल, किरात, मृग और पक्षी, ये सब प्राण नाथ पति के साथ मुझे सुख देनेवाले होंगे (जो और यात्रियों को दुखद होते हैं) ॥८॥ सास और श्वसुर से मेरी ओर से पाँव पकड़कर विनती कीजियेगा कि वे मेरा कुछ भी शोच न करें। मैं वन में स्वाभाविक (वनवासियों की तरह) सुखी हूँ ॥९८॥

विशेष—'मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।'—ऊपर—'मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा।' से श्रीसुमन्त्रजी के कहे हुए—'महके ससुरे सकल सुख ...' इत्यादि का उत्तर हुआ। अब यह कहती हैं कि प्राणपति के साथ से दुखद भी सुखद होंगे। प्राणपति का माधुर्य परक अर्थ पति वाचक तो है ही, साथ ही ऐश्वर्यपरक सबके प्राणों के रक्षक, अर्थ भी है। यथा—"सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥" (आ० दो० ६), कोल किरातों की सेवकाई आगे दो० १३४-१३६ देखिये। पक्षी जटायु ने सेवा में प्राण ही दिये। वानर-भालुओं की सेवकाई आगे प्रसिद्ध ही है। राक्षसों का सुखद होना न कहा, क्योंकि उनके नाश करने के लिये तो इनका अवतार ही है। यथा—"निसिचर हीन करउँ महि ..." (आ० दो० ९), "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई" (सु० दो० ३५) "काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥" (सु० दो० ३९)।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। धीरधुरीन धरे धनु भाथा ॥१॥
नहि मगश्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहिलगि सोच करिय जनि भोरे ॥२॥
सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनिहानी ॥३॥
नयन सूझ नहि सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति और प्यारे देवर साथ हैं। जो वीरों में अग्रगण्य हैं धनुष और (बाण-पूर्ण) तर्कश धारण किये हुए हैं ॥१॥ मार्ग की थकावट, भ्रम और दुःख मेरे मन में नहीं है। अतः, मेरे लिये भूलकर भी शोच न करें ॥२॥ श्रीसीताजी की शीतल वाणी सुनकर श्रीसुमन्त्रजी व्याकुल हो गये, जैसे मणि खो जाने से सर्प की दशा होती है ॥३॥ आँख से दिखाई नहीं पड़ता, कान से सुनाई नहीं देता, अत्यन्त व्याकुल हो गये, कुछ कह नहीं सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'प्राननाथ प्रिय···धीरधुरीन···'—जो सबके प्राणों के रक्षक हैं, वे ही मेरे प्राणनाथ (पति) हैं। रक्षा में समर्थ दोनों भाई हथियार-युक्त भी हैं। अतः, शत्रुता करनेवाले स्वयं तुरत नाश होंगे। 'नहिं मग श्रम भ्रम दुख···'—मार्ग की थकावट का दुःख और किसी प्रकार की बाधा का भ्रम मेरे मन में नहीं है।

(२) 'सुनि सुमंत्र सिय ···'—दोनों भाइयों से तो प्रथम ही निराश हो चुके थे, उनके उत्तर पा चुके थे। यहाँ श्रीजानकीजी से भी निराश हुए। वे ही मणि-रूपा हुईं। मंत्री को मरण के समान दुःख हुआ; यथा—"मनि लिये फनि जिये व्याकुल बिहाल रे। (वि० ६७)।

(३) 'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना।···'—यहाँ तीन प्रकार से सुमंत्र को दुःख हुआ। श्रीरामजी नेत्र, श्रीलक्ष्मणजी कान और श्रीजानकीजी वाणी हुईं। तीनों की हानि से तीन प्रकार के दुःख हुए था, तीनों से अत्यन्त व्याकुलता की दशा जनाई। यथा—"उतर न आव बिकल भइ बानी ॥ सुनै न श्रवन नयन नहिं सूझा।···दाविन्ह दोख सचिव बिकलाई।" (दो० १४७); पर स्पष्ट कहा है।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहि सीतलि छाती ॥५॥
जतन अनेक साथहित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥६॥
मेटि जाइ नहि राम-रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥७॥
राम-लखन-सिय-पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥८॥

दोहा—रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिहिनाहि।
देखि निषाद बिषादबस, धुनहिं सीस पछिताहि ॥९९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत तरह से समझाया, तो भी छाती ठंढी नहीं होती ॥५॥ साथ चलने के लिये बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी ने उचित (यथायोग्य) उत्तर दिया ॥६॥

आज्ञा मेटी नहीं जाती, कर्म की गति कठिन है, कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के चरणों में शिर नवाकर लौटे, जैसे बनिया मूल (भी) गँवाकर लौटे ॥८॥ सुमंत्रजी ने रथ हाँका, घोड़े श्रीरामजी की ओर देख-देखकर हिनहिनाते हैं, (घोड़ों की यह दशा) देखकर निषाद लोग दुःख के वश होकर शिर पीटते और पछताते हैं ॥९९॥

विशेष—(१) 'जतन अनेक साथहित कीन्हे।'—"आपके विना मैं पुरी को कैसे जाऊँ? अयोध्यापुरी आपके वियोग से पुत्रशोक से दुखिनी के समान है।···आपसे खाली रथ देखकर सब लोग एवं नगर दुःख से विदीर्ण हो जायँगे।···मैं कौशल्या से क्या कहूँगा?···किसीसे भी वन भेजना—यह अप्रिय कैसे कहूँगा।···भृत्य को भी अपने मार्ग में साथ रखिये, मैं इस रथ पर ही लौटाकर (१४ वर्ष पर) लौटूँगा।" (वाल्मी० २।५२।३९–५४); इत्यादि रीति से बहुत-कुछ कहा।

'उचित उतर रघुनंदन दीन्हे'—"हे स्वामि-भक्त ! मैं आपकी भक्ति को जानता हूँ, मैं आपको अयोध्या इसलिये भेजता हूँ कि आपके वहाँ जाने से कैकेयी माता को विश्वास हो जायगा कि श्रीरामजी वन को गये, इससे कैकेयी संतुष्ट हो जायगी और धार्मिक राजा के मिथ्यावादी होने की शंका नहीं करेगी।···कैकेयी अपने पुत्र के द्वारा राज्य पावे। हे सुमंत्र ! मेरी तथा राजा की प्रसन्नता के लिये अयोध्या जाओ और जिसके लिये जो सँदेशा मैंने कहा है, कहना।···" (वाल्मी० २।५२।६०–६४); इत्यादि। पुनः राजा ने आपको लौटाने के लिये ही भेजा है। साथ जाने को नहीं, स्वामी की आज्ञा मानिये। महाराज को ऐसी अवस्था में छोड़ना आप ऐसे सुहृद के लिये योग्य नहीं है।

'रघुनंदन'—क्योंकि रघुकुल की कीर्त्ति सत्य-रक्षा में ही है, वही कर रहे हैं।

(२) 'कठिन करम गति'—मृत्यु के योग्य दुःख हो रहा है, पर कर्म-भोग अभी शेष है, इसलिये प्राण नहीं निकल रहे हैं, यही कर्म-काठिन्य है।

(३) 'फिरेउ बनिक जिमि मूर···'—यहाँ सुमंत्रजी वणिक हैं। ये तीनों मूर्त्तियों को लौटा लाने की आशा से चले हैं। (कि जिनकी आज्ञा से वन जा रहे हैं, उन्हीं की इस दूसरी आज्ञा पर लौट भी आवेंगे।) जैसे बनिया नफा के साथ लौटने की आशा से चलता है। चलते समय सुमंत्रजी के प्रति राजा के वचनों में दो पक्ष हैं—उत्तम हो जब तीनों लौट आवें, दो भाई न लौटें और यदि श्रीजानकीजी अकेली भी लौट आवें तो मेरे प्राणों का सहारा हो जाय, नहीं तो मेरा मरण ही होगा। राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी भीरु है, वन देखकर डरेंगी तो कहने से अवश्य लौटेंगी; यही सुमंत्रजी की दृढ़ता है। जैसे बनिये को मूल में दृढ़ता रहती है कि यह तो अपने हाथ में है। सत्यसंध और दृढ़व्रत एवं धीर होने से दोनों भाइयों के लौटाने की कम आशा है। अतः, इनका लौटाना, लाभ (नफा) लाना है। वैसे ही सुमंत्रजी ने यहाँ संदेशा कहा। दोनों भाइयों से उत्तर पाया, तब केवल श्रीजानकीजी को कहा। जब वे भी न लौटीं तब मूल का भी गँवाना कहा गया। अतः, नफा के साथ तीनों को लेकर आना है इससे वणिक सुमंत्रजी को बड़ा हर्ष रहता। श्रीजानकीजी-मात्र को लौटा लाते तो भी हर्ष-विस्मय रहित रहते कि और नहीं तो राजा के प्राणों का अवलंब तो लेकर चलता हूँ, यही मूल-मात्र लेकर लौटना है। जब तीनों ही न लौटे तो सुमंत्रजी को वैसा ही दुःख हुआ। जैसे चोरी आदि से जमा (मूल) मारी जाने से वणिक को दुःख होता है। जो कोई तीनों मूर्त्तियों को मूर (मूल) कहते हैं और तीनों के लौटाने के सुयश को ब्याज कहते हैं। उन्हें मूलमात्र लेकर लौटने का उपमेय कहाँ से आवेगा? क्योंकि तीनों के लौटाने से तो सुमंत्रजी को सुयश होगा ही।

यदि कहा जाय कि ब्याज कहने से दोनों भाइयों के प्रति लघुता आती है तो—"भइ गति साँप छुछुंदर

केरी।" (दो० ५४), "चले जहाँ रावन ससि राहू।" (बा० दो० २७); में क्या उपाय है ? वस्तुतः उपमा के धर्म से कवि का प्रयोजन रहता है और बातें मिलें चाहे न मिलें, वैसे यहाँ सुमंत्रजी की व्याकुलता दिखाना ही कवि का प्रयोजन है।

(२) 'रथ हाँकेउ हय राम तन' '—इन घोड़ों की दशा आगे दो० १४१-१४२ में कही गई है—"देखि दखिन दिसि हय'''" से "बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।" तक देखिये। पुनः—"राघौ एक बार फिरि आओ। ये बर बाजि बिलोकि आपने'''" (गी० अ० ८७) यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीइहिं कैसे ॥१॥
बरबस राम सुमंत्र पठाये। सुरसरितीर आप तब आये ॥२॥
माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना ॥३॥
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुषकरनि मूरि कछु अहई ॥४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई ॥५॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥६॥

शब्दार्थ—घरनी=स्त्री, घरवाली। बाट पड़ना=डाका पड़ना, जीविका मारा जाना, इत्यादि अर्थों में ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—जिसके वियोग में पशु ऐसे व्याकुल हैं, उसकी प्रजा और माता-पिता कैसे जियेंगे ? ॥१॥ श्रीरामजी ने हठात् श्रीसुमंत्रजी को लौटाया; तब आप गंगातट पर आये ॥२॥ केवट से नाव माँगी; पर वह न लाया और कहने लगा कि मैंने आपका मर्म (भेद) जान लिया है। (अतः, चूकनेवाला नहीं हूँ) ॥३॥ आपके चरण-कमलों की धूलि को सभी कहते हैं कि यह मनुष्य बनाने की कोई जड़ी है ॥४॥ (जब) छू जाते ही शिला सुन्दर स्त्री हो गई, (तो फिर) लकड़ी तो पत्थर से अधिक कठिन नहीं होती ॥५॥ (अतः) यह नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। (फिर जैसे अहल्या गौतम के साथ पतिलोक को गई, वैसे ही) मेरी नाव उड़ जायगी और मेरी जीविका मारी जायगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माँगी नाव न'''कहइ तुम्हार'''—केवट गुहराज के बंधु-वर्ग में है। यह नाव को कुछ धारा में करके वहीं से कहता है कि मैंने तुम्हारा गुप्त हाल जान रक्खा है। 'तुम्हार' शब्द गँवार के मुख से योग्य ही है। 'मूरि कछु अहई'—कहा जाता है कि जैसे मूँसाकर्णी जड़ी राँगा में लगकर चाँदी करती है और राजहंसी ताम्र में पड़कर सोना करती है; वैसे ही यह चरण-रज पत्थर में लगकर उसे स्त्री करती है। अहल्योद्धार की कथा से यह ख्याति हो गई। अतः, सभी कहते हैं।

(२) 'पाहन ते न काठ'''' अर्थात् यह तो बनी बनाई है—"पाहन ते बन बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है।" (क० अ० ७)। 'तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई।'—अहल्या की तरह कहीं मेरी नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। कौन जाने, यह भी किसी के शाप से लकड़ी हुई हो, तो मेरी तो जीविका जायगी। 'मुनि घरनी' अर्थात् स्त्री होकर वह भी मुनि के घर चली जायगी। भाव यह कि दिव्य देहवाली होकर मुझ नीच के यहाँ क्यों कर रहेगी ? (यह प्रसंग क० अ० ५—१०, २८ वें पद में विस्तारपूर्वक कहा गया है)।

येहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहि जानउँ कछु और कबारू ॥७॥
जो प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू ॥८॥

छंद—पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पार उतारिहौं ॥

दोहा—सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितइ जानकी-लखन-तन ॥१००॥

अर्थ—इसीसे मैं सब कुटुंब का पालन-पोषण करता हूँ और कोई व्यापार (उद्यम) नहीं जानता ॥७॥ हे प्रभो! यदि आप अवश्य ही पार जाना चाहते हैं, तो मुझे चरण-कमलों को धोने की आज्ञा दीजिये ॥८॥ हे नाथ! चरण-कमल धोकर ही नाव पर चढ़ाऊँगा। आपसे उतराई नहीं चाहता। हे श्रीरामजी! मुझे आपकी शपथ है और दशरथ महाराज की सौगंद है, मैं सब सत्य ही कहता हूँ। चाहे श्रीलक्ष्मणजी तीर भले ही मारें, पर जबतक आपके चरण न धो लूँगा; तबतक हे तुलसीदासजी के स्वामी! हे कृपालु! मैं पार न उतारूँगा। केवट के प्रेम से भरे हुए, अटपटे (बेढंगे, गँवारू) वचन सुनकर करुणा के स्थान श्रीरामजी, श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर देखकर हँसे ॥१००॥

विशेष—(१) 'नहि जानउँ कछु और कबारू'—'कबारू' अर्थात् व्यापार, यथा—"दानिन दिये बसन मनि भूषन राजा सदन भंडार। मागध सूत भाँट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार ॥" (गी० बा० २)।

(२) 'पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव···'—'चढ़ाइ' अर्थात् मैं ही आपको (कंधे पर उठाकर) नाव पर चढ़ा दूँगा जिसमें चरणों में फिर धूल न लग जाय। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ। अतः, सहज में ही पार उतार दूँगा। ऐश्वर्य-पक्ष का गुप्त आशय यह कि आप भवसागर के खेवैया (मल्लाह) हैं और मैं नदी का। एक पेशावाले आपस में कर (मूल्य) नहीं लेते। अतः, मैं भी उतराई नहीं चाहता। भाव यह कि मैं आपके घाट पर आऊँ तो यों ही मुझे भी उतार दीजियेगा। यह आगे के—'पितर पारकरि ···' इस वचन से संगत है। 'न चहउँ' का यह भी भाव है कि आप स्वयं देंगे तो अपनी हैसियत (ऐश्वर्य) के अनुसार बहुत कुछ देंगे और मैं माँगू तो मुझे अपने योग्य ही कहना होगा।

(३) 'मोहि राम राउरि आन ···'—'सब साँची कहउँ' इस बात की पुष्टि के लिये श्रीरामजी और उनके बाप की भी शपथ करता है, क्योंकि ये दोनों सत्य-संध एवं दृढ़व्रत हैं, यथा—"सत्य संध दृढ़व्रत रघुराई।" (दो० ८१); तथा—"राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। (तनु परिहरेउ) प्रेम पन लागी ॥" (दो० २९१); भाव मैंने भी सत्य प्रण कर लिया है, इसे नहीं छोड़ने का, चाहे प्राण क्यों न चले जायँ।

(४) 'बरु तीर मारहु लखन पै ·····'—अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिये वह प्राणों की बाजी

लगाता है, जान पड़ता है कि जब उसने कहा कि आपको शपथ और दशरथ (आपके बाप) की शपथ है, इस गँवारी धृष्टता पर श्रीलक्ष्मणजी ने बाण की ओर इशारा किया, उसपर वह कहता है कि चाहे श्रीलक्ष्मणजी तीर मारें। 'मारहु' का अर्थ 'मारें' है, यथा—"भरतहि राम करहु जुवराजा।" (दो० २०१); "लखन राम सिय जाहु बन।" (दो० १८१)।

(५) 'तब लगि न तुलसीदास नाथ ......'—कवि त्रेता के भक्तों के मुख से 'तुलसीदास नाथ' यह अपना नाता पुष्ट करवाते हैं। अतः, यहाँ—'भाविक अलंकार' है। इसपर ऐसा भी भाव कहा जाता है कि 'तुलसी' से श्रीजानकीजी 'दास' से श्रीलक्ष्मणजी और 'नाथ कृपाल' से श्रीरामजी के लिये कहा है; अर्थात् तीन में एक को भी न उतारूँगा, (यदि आप चाहें कि अच्छा, मैं तैरकर ही चला जाऊँगा, ये दो स्त्री और बच्चे हैं, इन्हें ही उतार दे।)

(६) 'सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे ......'—केवट की अभिलाषा है कि मुझे चरणामृत मिल जाय, पर सीधे कहने का उसे कोई हेतु नहीं है, इसलिये वह अपनी कहाजाति-स्वभाव से प्रभु को रिझाने के लिये प्रेम भरे हुए अटपटे वचन कहता है कि आपके चरण-रज से मेरी नाव ही उड़ जायगी। अतः, धोकर ही पार उतारूँगा, चाहे प्राण चले जायँ, इसके लिये वह शपथ भी करता है और कुछ उतराई भी नहीं चाहता, इत्यादि चरणामृत के लिये प्राणों की भी बाजी लगाई है। प्रभु उसके आंतरिक प्रेम पर प्रसन्न हो उसपर कृपा करना चाहते हैं, कहा भी है—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥" (बा० दो० २८); उसपर प्रसन्नता प्रकट करते हुए आप हँस पड़े।

(७) 'चितइ जानकी-लखन-तन'—श्रीलक्ष्मणजी ने उसपर कड़ी दृष्टि कर दी थी, हँसकर उन्हें अपना रुख जनाया कि हम इसपर प्रसन्न हैं। श्रीजानकीजी की ओर देखने का भाव यह कि आपके पिता आपको देकर ये चरण धोये हैं और यह गँवारू प्रेम से ही धोना चाहता है। यह भी भाव है कि ऐसे ही प्रेम-वश और यही उदाहरण अहल्या का ही लेकर आप भी जनकपुर में चरण-स्पर्श नहीं करती थीं—"गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि। मन बिहसे रघुबंस मनि, प्रीति अलौकिक जानि॥" (बा० दो० २६५)। पुनः दोनों की ओर देखकर दिखाते हैं कि वन में भी हमारे कैसे-कैसे विलक्षण प्रेमी हैं और यह कि निषाद-राज की प्रजा भी बड़ी चतुर है।

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥१॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब उतारहि पारू॥२॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥३॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जग किय तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥४॥

अर्थ—कृपा के समुद्र श्रीरामजी ने मुस्कुराकर कहा कि वही कर जिससे तेरी नाव न जाय; अर्थात् बनी रहे॥१॥ शीघ्र जल ला और पैर धो, देरी हो रही है, पार उतार दे॥२॥ जिसके नाम को एक बार स्मरण करके मनुष्य अपार भव-सागर तर जाते हैं॥३॥ वे ही कृपालु श्रीरामजी केवट से मनौती (खुशामद) कर रहे हैं, जिन्होंने सारे जगत् को तीन पग से भी कम कर दिया है॥४॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु'—क्योंकि केवट पर भी कृपा कर रहे हैं।

(२) 'सोइ कृपाल केवटहि······'—'जासु नाम ······' से नाम का महत्त्व कहकर फिर रूप की भी महिमा कहते हैं कि इन्हीं प्रभु ने तीन ही चरण में वामन अवतार में जगत्-भर को नाप लिया है, तो गंगा-पार होना इनके लिये कौन कठिन है। पर जैसे इन्होंने तीन पग में पृथिवी नापकर बलि पर कृपा की है, वैसी ही कृपा केवट पर भी करना चाहते हैं। वामनजी की कथा दो०२६ चौ० ७ में आ चुकी है।

(३) 'होत बिलंब उतारहि पारू'—चैत का महीना है, धूप कड़ी हो जायगी, तो चलना कठिन हो जायगा, श्रीजानकीजी को आज प्रथम दिन चलना पड़ेगा। पुनः प्रभु जानते हैं कि श्रीसुमंत्रजी विक्षिप्त होकर पड़े हैं, कोई आकर कह देगा, तो न चलते ही बनेगा और न लौटते ही। 'उतारहि पारू' में गुप्त भाव यह भी है, तेरे मन की हो गई। अब शीघ्र चरणोदक ले और अपने पितरों को पार उतारकर फिर मुझे पार ले चल, यह आगे दोहे में स्पष्ट है—'पद पखारि जल······'।

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुबचन मोह मति करषी ॥५॥
केवट रामरजायसु पावा। पानि कठवता भरि लै आवा ॥६॥
अतिआनंद उमगि अनुरागा। चरनसरोज पखारन लागा ॥७॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। येहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥८॥

दोहा—पद पखारि जल पान करि, आप सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार ॥१०१॥

शब्दार्थ—करषी = आकर्षित की, खींच ली। कठवता = काष्ठ का बना हुआ एक बर्तन-विशेष।

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-नखों को देखकर (अपने उत्पत्ति-स्थान का संयोग होना जानकर कि कुछ काल इनकी प्राप्ति रहेगी) गंगाजी प्रसन्न हुईं। (परन्तु) भगवान् के वचन सुनकर (कि वे शीघ्र ही चले जाना चाहते हैं) यह मोह (प्रेम) दूर हो गया ॥५॥ श्रीरामजी की आज्ञा पाकर केवट कठौते में पानी भर लाया ॥६॥ अत्यन्त आनन्द से उमगकर अनुराग-पूर्वक वह चरण-कमलों को धोने लगा ॥७॥ सब देवता लोग फूल बरसा कर सिहाते (ललचाकर उसकी प्रशंसा करते) हैं कि इसके समान पुण्य-समूहवाला (पुण्यवान्) दूसरा कोई नहीं है ॥८॥ चरणों को धोकर और कुटुम्ब के साथ आप भी उस जल को पीकर अपने पितरों को भव-समुद्र पार करके तब प्रसन्नता-पूर्वक प्रभु को गंगाजी के पार ले गया ॥१०१॥

विशेष—(१) 'मोह मति करषी' अर्थात् मोहित बुद्धि खिंच गई, दूर हो गई; अर्थात् यह निश्चय हो गया कि प्रभु लीला के अनुरोध से शीघ्र ही चले जायँगे, मुझे पूर्ववत् कल्पान्त तक बहते ही बीतेगा। कहा भी है—"जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता···तजे चरन अजहूँ न मिटत; नित बहिबो ताहू केरो।" (वि ८७); यहाँ मोह का अर्थ वही है जो पिता के आने पर लड़कियों को होता है प्रेम सुहब्बत; यथा—"सींचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० १६)।

(२) 'पानि कठवता भरि लेइ आवा'—श्रीरामजी की आज्ञा—'बेगि आनु जल पाय पखारू' यह पाकर छोटी कठवती में पानी भर लाया। प्रायः केवटों के पास नाव का जल उलीचने के लिये छोटी कठवती रहा करती है। शीघ्रता में वह भर लाया। यथा—"प्रभु रुख पाइ के बुलाइ बाल घरनिहिं बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि। छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को, धोइ पाइ पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि। बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनी, हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि-हेरि॥" (क० अ० १०); कठवता लाने के और भी भाव कहे जाते हैं कि इससे वह पूर्ववत् अटपटी चातुरी का निर्वाह करता है कि यह छो हो जायगी, तो परीक्षा भी मिल जायगी और मेरी नाव भी बच जायगी। वा, इसी में सदा रसोई भी रक्खेंगे तो वह महाप्रसाद हुआ करेगा। अथवा, विशेष उदासीन संत लोग धातु नहीं छूते। पाषाण और काष्ठ ही से काम चलाते हैं। श्रीजानकीजी ने भी और भूषणों के रहते हुए मणि मुंदरी (जो पाषाण है) दी है। आगे हनुमानजी के द्वारा भी चूड़ामणि (पाषाण) ही भेजी है। इसलिये भी केवट काष्ठ का ही वर्तन भर लाया, क्योंकि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष में हैं।

(३) 'पानि'—श्रीरामजी ने यद्यपि 'बेगि आनु जल' कहा था, फिर भी यह पानी (हलका नाम) ही की दृष्टि से गंगाजल भर लाया, क्योंकि यदि वह अभी से इस जल का माहात्म्य चरणोदक समझे, तो फिर चरण धोने की आवश्यकता ही न रहे। हाँ, धोने पर 'पुनीत बारि' कहेगा, ऊपर कवित्त में लिखा गया। पुनः नित्य तट पर रहनेवाले सामान्य लोग जल का वैसा माहात्म्य नहीं मानते।

(४) 'येहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं'—क्योंकि जो शिव ब्रह्मादि को प्राप्त हुआ, वही चरणोदक इसे मिला, यथा—"मकरंद जिनको संभुसिर ··" (बा० दो० ३२३)।

(५) 'पद पखारि जल ···'—स्वयं पिया, कुटुम्ब-भर को पिलाया और पितरों का तर्पण भी इसीसे किया कि जिससे वे भी भव पार हो गये; तब प्रभु को पार ले गया।

यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि - रेता। सीय राम गुह लखन-समेता॥१॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच येहि नहिं कछु दीन्हा॥२॥
पियहिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥३॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥४॥

अर्थ—गुह (निषादराज) और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीरामजी नाव से उतरकर गंगाजी के रेत (बालूमय भूमि) पर खड़े हुए॥१॥ तब केवट (नाव खेनेवाले) ने उतरकर दंडवत् की (इसपर) प्रभु श्रीरामजी को संकोच हुआ कि इसे कुछ दिया नहीं गया॥२॥ पति के हृदय की जाननेवाली श्रीसीताजी ने प्रसन्न मन से मणिमय मुँदरी उतारी॥३॥ कृपालु श्रीरामजी ने केवट से कहा कि नाव की उतराई ले। (सुनकर) केवट ने अकुलाकर चरण पकड़ लिये॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभुहि सकुच ''मनि मुँदरी'''—केवट स्वयं भव-पार हुआ। परिवार और पितरों को भी तारा। इतने दान को प्रभु ने कुछ गिना ही नहीं। अपनी ओर देखकर सकुचते हैं कि इसे कुछ दिया ही नहीं। भाव यह कि मुक्ति-मात्र तो निशाचरों को भी देते हैं, तब भक्त के लिये

क्या ? अतः, चिंतामणिमयी मुँदरी दे रहे हैं कि इच्छित पदार्थ अर्थ आदि चारों प्राप्त हुआ करें और मुँदरी भी बनी रहे।

ऐसा ही संकोच विभीषण के प्रति भी रहा है। यथा—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (सुं० दो० ४९); ये श्रीरामजी के शील, उदारता और कृतज्ञतादि गुण हैं। पुनः प्रभु दिया हुआ दान भूल भी जाते हैं। यथा—"निज गुन, अरि कृत अनहितो दास दोष, चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारन सील है मानद अमान की।" (वि० ४२); अर्थात् प्रभु सब कुछ देकर भी स्वयं भक्तों के अधीन रहते हैं। आपकी यह निराली बानि है।

(२) 'मन मुदित'—से श्रीसीताजी की उदारता एवं पति-रुचि-पालकता भी प्रकट हुई, जो इन्हें पूर्व शिक्षा मिली थी—"पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।" (बा० दो० ३३१)।

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा॥५॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥६॥
अब कछु नाथ न चाहिय मोरे। दीनदयाल अनुग्रह तोरे॥७॥
फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा॥८॥

दोहा—बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥१०२॥

शब्दार्थ—बनि (बन्धी) = मजदूरी (हिन्दी-शब्दसागर)। भलि भूरी = अच्छी तरह बहुत-सी, अच्छी और भरपूर।

अर्थ—(केवट ने कहा) हे नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया; अर्थात् सब कुछ मिल गया, मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता-रूपी दावानल आज मिटे॥५॥ मैंने बहुत काल मजदूरी की, आज विधाता ने अच्छी और भरपूर मजदूरी दे दी॥६॥ हे नाथ! हे दीन-दयालु! अब आपके अनुग्रह हो जाने से मुझे और कुछ न चाहिये॥७॥ लौटते समय आप जो कुछ प्रसाद मुझे देंगे, वह मैं शिर पर धारण करके लूँगा॥८॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी ने बहुत (लेने के लिये आग्रह) किया। पर केवट कुछ नहीं लेता, तब करुणा के स्थान श्रीरामजी ने निर्मल भक्ति का वर देकर उसे विदा किया॥१०२॥

विशेष—(१) 'नाथ आजु मैं काह न ···'—प्रभु उसे मजदूरी देना चाहते हैं और वह बहुत कुछ पा चुका है। फिर भी—'न नाथ उतराई चहउँ' इसपर शपथ भी कर चुका है, इसलिये चरण पकड़े हुए मजदूरी न लेने की ढिठाई से क्षमा चाहता है। 'मिटे दोष-दुख दारिद दावा'—'दोष' अर्थात् पूर्व कर्मों के कारण इन्द्रियों की कुटेव', 'दुःख' अर्थात् जन्म लेने एवं वृद्धापन आदि के कष्ट। यथा—"जराजन्म दुःखौघतातप्यमानम्" (उ० दो० १०७); एवं दैहिक दैविक और भौतिक आदि ताप। 'दारिद' यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०); दुःख से पृथक् भी दरिद्र कहा गया, क्योंकि यह दुःखों में प्रधान है। दोष से दुःख होता है। अतः, कार्य-कारण दोनों मिटे। 'दावा' दोष आदि तीनों के साथ है। भाव यह कि आजतक मैं दोषादि से संतप्त रहा। आज सभों से छुटकारा मिला।

(२) 'अब कछु नाथ न···'—भाव यह कि भगवान् के अनुग्रह होने पर जीव आप्त-काम हो जाता है। यथा—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।" (गीता ६।२२); तथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सु॰ दो॰ ४८)।

(३) 'फिरती बार मोहि जो···'—भाव यह कि मज़दूरी तो उस समय भी नहीं ही लूँगा, हाँ, प्रसाद आदरपूर्वक लूँगा। 'जोइ' अर्थात् इस अगूँठी की बात नहीं है। जो कुछ हो, वह प्रसाद ले लूँगा। (इस प्रकार प्रभु को ऋणी बना रखता है कि जिससे फिर इसी घाट से आवें।) इस बार तो मैं आपको और आप मुझको पार उतारें। दोनों बराबर हो गये, आप फिर आवेंगे, तो उतराई ले लूँगा, क्योंकि मुझे तो यही एक बार ही उतरना था, फिर तो न भवसागर में आऊँगा और न आपको उतारना पड़ेगा। यथा—"न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।" (छान्दो॰ ८।१५।१); अर्थात् मुक्त पुरुष फिर संसार में नहीं आता। तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६); "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (गीता १५।६)।

(४) 'बहुत कीन्ह प्रभु लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी ने भी बहुत कहा कि भूषण लड़कों के पहनने का है; संभवतः हमारे कारण न लेता हो। श्रीजानकीजी ने भी कहा, क्योंकि मुँदरी उनके पहनने की थी, जिससे उसे संकोच न रहे। पर उसने नहीं ही लिया, तब प्रभु ने करुणा करके प्रसाद-रूप में अभी ही उसे विमल भक्ति दे दी, क्योंकि लौटकर विमान पर आवेंगे। इसके घाट पर उतरना न होगा। यह भी जाना गया कि जो पूर्ण निष्काम होता है उसे ही निर्मल (अविरल विशुद्ध) भक्ति मिलती है। वह प्रभु के प्रसाद ही से मिलती भी है। यथा—"अविरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत योगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।" (उ॰ दो॰ ८४) इसीसे 'करुनायतन' कहा है।

विपिन-गवन—प्रकरण समाप्त

"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा"—प्रकरण

तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायेउ माथा॥१॥
सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥२॥
पति-देवर-संग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥३॥
सुनि सियबिनय प्रेम-रस-सानी। भइ तब बिमल बारि-बरबानी॥४॥

शब्दार्थ—पारथिव (पार्थिव)=पृथिवी के सम्बन्धी, मिट्टी का बना हुआ शिव-लिंग।

☞ यहाँ से अब भुशुंडीजी की मूल रामायण के अनुसार शीर्षक दिये जाते हैं—

अर्थ—तब रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी ने स्नान करके पार्थिव पूजन कर प्रणाम किया॥१॥ श्रीसीताजी ने श्रीगंगाजी से हाथ जोड़कर कहा कि हे माता! मेरा मनोरथ पूरा कीजिये॥२॥ कि जिससे स्वामी और देवर के साथ कुशल से लौट आकर फिर तुम्हारी पूजा करूँ॥३॥ श्रीसीताजी की प्रेम-रस में सनी हुई प्रार्थना सुनकर निर्मल श्रेष्ठ जल से यह श्रेष्ठ वाणी हुई॥४॥

विशेष—(१) 'पूजि पारथिव नायेउ माथा'—यहाँ पार्थिव-पूजन के सम्बन्ध से 'रघुकुलनाथा' कहा है; क्योंकि सब रघुवंशी देवताओं को पूजते आये हैं। आप भी वंश की रीति का पालन करते हैं।

श्रीरामजी ने शिव पूजन किया है और श्रीजानकीजी ने शिव-शक्ति गंगाजी की वंदना की है। इन्होंने यहाँ मनौती की है और लंका से लौटते समय इन (गंगाजी) की पूजा की है—"तब सीता पूजी सुरसरी।" (लं० दो० ११६) ; श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में गंगाजी की धारा में ही गंगाजी से प्रार्थना करना श्रीसीताजी का कहा है और यहाँ मानस में गंगा-पार होने पर, यह कल्प-भेद से है।

श्रीगोस्वामीजी ने शिवजी को परम भागवत माना है ; यथा—"वैष्णवानां यथा शंभुः" (भाग० १२।१३।१६) और इन्हें जीव-तत्त्व में ही माना है, यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥"(बा० दो० ५५); अर्थात् शिवजी ने व्यास-वाल्मीकि आदि की तरह ध्यान धरके सती के चरित को जाना है और उसी प्रसंग में श्रीरामजी ने उन्हीं सती के कपट को विना ध्यान के देखते ही जान लिया। यथा—"सतीकपट जानेउ सुरस्वामी। सब दरसी सब अंतरजामी ॥" (बा० दो० ५२), एक ही प्रसंग में एवं ग्रंथारंभ में ही आपने विरुद्ध चरित के साथ में निर्णय कर दिया है। फिर श्रीरामजी का राजकुमार की रीति से जहाँ शिवजी का पूजन आदि कहा है वहाँ शिवजी की श्रीरामजी में इष्ट-भाव से अनन्य भक्ति का वर्णन किया है।

जहाँ शिवजी में ब्रह्म के लक्षण कहे हैं वहाँ स्तुति-वाद है। क्योंकि शिवजी ब्रह्म की एक विशिष्ट विभूति हैं। ये श्रीरामनाम और रूप के प्रभाव जानने में अद्वितीय हैं। श्रीरामजी ने इनकी भक्ति से विवश होकर इन्हें जहाँ-तहाँ लीला के साथ अधिक महत्त्व दिया है। इसपर—"लिंग थापि विधिवत करि पूजा।" (लं० दो० १) भी देखिये।

(२) 'सुनि सियबिनय प्रेम ···'—प्रेम-युक्त प्रार्थना से ही देवता प्रसन्न होते हैं और आशिष देते हैं। यथा—"बिनय प्रेम बस भई भवानी।" (बा० दो० २३५); तथा—"जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ······" (बा० दो० १८६)। वैसे यहाँ भी प्रेमयुक्त विनय के प्रति—'भइ तब बिमल बारि बरबानी' कहा है। यहाँ जल के अभिमानी देवता का बोलना है।

सुनु रघुबीरप्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग बिदित न केही ॥५॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे ॥६॥
तुम्ह जो हमहि बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई ॥७॥
तदपि देवि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा ॥८॥

दोहा—प्राननाथ देवरसहित, कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजस रहिहि जग छाइ ॥१०३॥

अर्थ—हे रघुवीर श्रीरामजी की प्रिया ! हे वैदेही ! सुनिये। आपका प्रभाव जगत् में किसे नहीं मालूम है ॥५॥ आपकी कृपा-दृष्टि से लोग लोकपाल हो जाते हैं, सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुए आपकी सेवा करती हैं ॥६॥ आपने जो हम बड़ी विनती सुनाई है यह कृपा की है और मुझे बड़ाई दी है ॥७॥ तो भी हे देवि ! मैं अपनी वाग्देवी के सफल होने के लिये आपको आशिष दूँगी ॥८॥ कि प्राणपति और देवर-समेत कुशल सहित अयोध्या आओ। आपके सब मनोरथ पूरे होंगे और जगत् में सुंदर यश फैल जायगा ॥१०३॥

विशेष—(१) 'सुनु रघुबीरप्रिया '—भाव यह कि सामान्य वीर की स्त्रियों को किसी का भय नहीं रहता। आप तो रघुवीर की प्रिया हैं जो कि आश्रित मात्र की रक्षा में समर्थ हैं, यथा—"त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर।" (सु० दो० ४५); 'रघुबीर करुनासिंधु आरत बंधु-जन रच्छक हरे ॥" (लं० दो० ८१); तथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः ॥ आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक-भाजनम्।" (वल्मी० ४।१५।१९-२०); अतः, आपके कुशल-पूर्वक लौटने में कोई बाधक नहीं हो सकता, आपकी विनती तो मुझे प्रतिष्ठा देने के लिये है।

'तव प्रभाव जग विदित '—रघुवीर की प्रिया हो, फिर तुम्हारा भी प्रभाव जगत् में सबको विदित है कि पिनाक धनुष को तृण की तरह एक हाथ से उठा लिया, जिससे श्रीविदेहजी ने उसके तोड़ने की प्रतिज्ञा की। उसे तीनों लोकों के वीर भी न उठा सके थे। इससे यह प्रभाव सब जानते हैं। तब तुम्हें कहीं भी क्या भय है ? पूर्वोक्त—"सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा।" (दो० ६६), की व्याख्या भी देखिये।

(२) 'लोकप होहिं बिलोकत तोरे ' यथा—"उमा-रमा-ब्रह्मादिबंदिता। जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ।" (उ० दो० २४), अर्थात् आप त्रिदेव और उनकी शक्तियों से वंदिता हैं, और इन्द्रादि देवता आपकी कृपा कटाक्ष चाहा करते हैं, क्योंकि आपकी अनुकूल दृष्टि से लोग इन्द्र, वरुण आदि की पदवी पा जाते हैं। 'दीन्हि बड़ाई' अर्थात् अब लोग सिहायँगे कि गंगाजी की प्रार्थना और पूजा तो सर्वेश्वरी ने भी की थी। मुझपर यह बड़ा कृपा की। यहाँ विनय सुनाने के सम्बन्ध से 'हमहिं' बड़प्पन-सूचक शब्द बहुवचन कहा गया है और कृपा करने में 'मोहि' यह एकवचन लघुता-सूचक सर्वनाम अपने लिये गंगाजी ने कहा है, यह कवि का सँभाल भी प्रशंसनीय है।

'तोहिं सेवहिं सब सिधि ' यथा—"सिधि सब सिय आयसु अकनि, गईं " (बा० दो० ३०६)।

(३) 'तदपि देवि मैं देबि असीसा।'—माधुर्य-रीति से आपने मुझे देवता मानकर विनती की है। तदनुसार मैं आशिष दूँगी। पुनः आपके ऐश्वर्य को जानती हुई मैं अपनी वाणी का सफल करती हूँ। सफलता यों होगी कि आप सर्वेश्वरी हैं। अतः, सकुशल तो लौटेंगी ही। इसपर मेरी आशिष रहने से लोग कहेंगे कि गंगाजी की आशिष से कुशल-पूर्वक आईं। यथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (बा० दो० ३५६); 'बागीसा'—ईश्वर के विषय में प्रवृत्त वाणी ही वाणियों की ईश्वरी है।

(४) 'पूजिहि सब मनकामना '—भू भार-हरण, निशिचरनाश, सुर-विप्र-दुःख-हरण आदि। 'सुजस', यथा—"दसमुख बिबस बिलोक लोकपति। बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमरनाग नर-सुमुखि सनाईं॥" (गी० ७० १३)।

गंग-बचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला ॥१॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुख भा उर दाहू ॥२॥
दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी ॥३॥
नाथ साथ रहि पंथ देखाई। करि दिन चारि चरन-सेवकाई ॥४॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई ॥५॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर-दोहाई ॥६॥

अर्थ—गंगाजी के मंगल-मूलक (मांगलिक) वचन सुनने से और उन देव-नदी के अनुकूल होने से श्रीसीताजी आनंदित हुईं ॥१॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने गुह से कहा कि घर जाओ, यह सुनकर उसका मुख सूख गया और उसके हृदय में जलन होने लगी ; अर्थात् लौटने की बात पर उसे बड़ा दुःख हुआ ॥२॥ हाथ जोड़कर दीनता के वचन कहे कि हे रघुकुल-शिरोमणि ! मेरी प्रार्थना सुनिये ॥३॥ हे नाथ ! मैं (आपके) साथ में रहकर मार्ग दिखाकर चार (अर्थात् कुछ) दिन आपके चरणों की सेवा करके, ॥४॥ हे रघुराई ! जिस वन में आप जाकर रहेंगे, वहाँ मैं सुहावनी पर्णकुटी बनाऊँगा ॥५॥ तब मुझे जैसी आज्ञा दीजियेगा, वही करूँगा, हे रघुवीर ! मैं आपकी शपथ करके कहता हूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'तब प्रभु गुहहि कहेउ······'—श्रीरामजी ने पहले केवट को विदा किया था, अब उसके राजा गुह को कहते हैं। 'रघुकुलमनि' अर्थात् रघुवंशी सदा दीनों की विनती सुनते आये हैं, कृपया आप भी सुनें। 'दिन चारि'—यह 'कुछ दिन' का वाचक मुहावरा है, पर श्रीरामजी ने इन्हें चार ही दिन साथ रक्खा है, जैसे कि पहले दिन वृक्ष के नीचे बसे—"तेहि दिन भयेउ बिटप तर बासू।" (दो० १०४); दूसरे दिन प्रयाग में बसे—"राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।" (दो० १०८); तीसरे दिन यमुना-तट पर रहे, इसीसे श्रीभरतजी भी वहाँ ठहरे थे। चौथे दिन गुह को विदा किया। चार ही दिन कहा, क्योंकि अधिक कहने से श्रीरामजी स्वीकार न करते। 'परन कुटी मैं करबि सोहाई'—इस कार्य में ये निपुण थे। 'तब' अर्थात् आपके लिये स्थायी-निवास-स्थान बनाकर। 'दोहाई'—श्रीरामजी ने अभी तक साथ लेना स्वीकार नहीं किया, इसलिये आगे गुह ने हठ न करने के लिये शपथ की, तब श्रीरामजी ने उसे साथ लिया।

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू ॥७॥
पुनि गुह ज्ञाति बोलि सब लीन्हे। करि परितोष बिदा तब कीन्हे ॥८॥

दोहा—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ ॥१०४॥

तेहि दिन भयेउ बिटपतर बासू। लखन सखा सब कीन्ह सुपासू ॥१॥

अर्थ—उसका स्वाभाविक स्नेह देखकर श्रीरामजी ने उसे साथ लिया, (जिससे) गुह के हृदय में बड़ा आनंद हुआ ॥७॥ फिर गुह की जाति के सब लोगों को बुला लिया और उनको अच्छी तरह संतुष्ट करके विदा किया ॥८॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके गंगाजी को शिर नवाया। सखा, भाई और श्रीसीताजी के सहित श्रीरघुनाथजी वन को चले ॥१०४॥ उस दिन वृक्ष के नीचे निवास हुआ, श्रीलक्ष्मणजी और सखा (गुह) ने सब सुपास (सुख का सामान) किया ॥१॥

विशेष—(१) 'सहज सनेह राम लखि······'—स्नेह लखने के सम्बन्ध से 'राम' नाम ऐश्वर्य-परक दिया, क्योंकि स्नेह हृदय का धर्म है और श्रीरामजी सबके हृदय में रहते हैं। 'हृदय हुलासू'—पहले वियोग-भय से—'भा उर दाहू' कहा गया था, अब संयोग पाने से वह दाह दूर हुआ और आनन्दोल्लास हुआ।

(२) 'पुनि गुह ज्ञाति बोलि'······'—श्रीरामजी ने कहा कि तुम लोग चिंता न करो, ये चार दिन के लिये ही साथ जा रहे हैं, फिर शीघ्र लौट आवेंगे, तुम सब यहाँ के कार्य देखो।

(३) 'तब गनपति सिव'······'—आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तब लोक-शिक्षा के लिये श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके चले। ये दो अप्रत्यक्ष हैं, इसलिये इन्हें हृदय में ही स्मरण किया और गंगाजी प्रत्यक्ष हैं, अतः, उन्हें प्रणाम किया। वन-गमन में तो सबको साथ कहा है, पर श्रीगणेशजी आदि के स्मरण में नहीं, क्योंकि ये तीनों श्रीराम-रूप के ही अनन्य नैष्ठिक हैं। अथवा, 'सखा अनुज सिय सहित' को दीपदेहली-न्याय से पूर्वार्द्ध के साथ भी ले लें। 'वनगमन' के साथ 'रघुनाथ' कहा गया है, क्योंकि इससे पिता के सत्य की रक्षा होगी, जिससे रघुकुल की कीर्ति बढ़ेगी। सखा आगे चल रहा है, क्योंकि वह वन के मार्गों को जानता है। फिर श्रीलक्ष्मणजी, तब श्रीसीताजी और सबके पीछे श्रीरामजी चले, वैसे ही क्रम से लिखा गया है; यथा—"अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीतात्वामनुगच्छतु॥ पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्।" (वाल्मी० २।५२।९५-९६)।

प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥२॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव-सरिस मीत हितकारी॥३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥४॥
छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥५॥
सेन सकल तीरथ बरबीरा। कलुष-अनीक-दलन रनधीरा॥६॥
संगम सिंहासन सुठि सोहा। छत्र अखयबट मुनिमन मोहा॥७॥
चवँर जमुन अरु गंग-तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥८॥

दोहा—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुनग्राम॥१०५॥

अर्थ—रघुकुल-श्रेष्ठ प्रभु श्रीरामजी ने प्रातःकाल की सब क्रियाएँ करके जाकर तीर्थ-राज प्रयाग के दर्शन किये॥२॥ तीर्थराज का मंत्री सत्य है, श्रद्धा प्यारी स्त्री और वेणीमाधव-सरीखा हित करनेवाला मित्र है॥३॥ चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से भंडार भरा है, वहाँ का पवित्र स्थल ही अत्यन्त सुंदर देश (राजधानी) है॥४॥ वहाँ की पवित्र भूमि ही सुन्दर, दृढ़ और दुर्गम किला (कोट) है। जिसे प्रतिपक्षी (शत्रु, पाप-वर्ग) स्वप्न में भी नहीं पा सकते॥५॥ सब तीर्थ उसकी श्रेष्ठ वीरों की सेनाएँ हैं, जो पाप की सेना को दल (पीस) डालने में धीरता से लड़नेवाली हैं॥६॥ (गंगा, यमुना और सरस्वती का) संगम ही उसका अत्यन्त शोभायमान सिंहासन है, अक्षयवट छत्र है, जो मुनियों के मन को लुभानेवाला है॥७॥ यमुनाजी और गंगाजी की तरंगें श्याम-श्वेत चँवर हैं, जिन्हें देखकर दुःख और दारिद्रय नष्ट हो जाते हैं॥८॥ पुण्यात्मा और पवित्र साधु सेवन करते और सब मनोरथ पाते हैं। सब वेद-पुराण भाट लोग हैं, जो उनके निर्मल गुण समूह कहते हैं॥१०५॥

विशेष—(१) प्रयाग राज सब तीर्थों के राजा हैं, अतएव राजा के सब अंग रूपक के द्वारा दिखाते हैं। राजा के प्रधान सात अग हैं। यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि चेत्यमर ।" अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, कोश, राज्य मंडल, कोट और सेना, ये सात अग हैं। राजा और उसके सुखांग में रानी सिहासन चमर, छत्र आदि हैं। मन्त्री उत्तम चाहिये, वसे ही यहाँ सत्य है, तीर्थ-सेवन करनेवाले को यहाँ सत्य ही बोलना चाहिये। तथा मन, वचन, कर्म से निश्छल होकर शास्त्र की आज्ञा का पालन करना चाहिये। हर्षपूर्वक इष्ट व्यापार ग्रहण करना श्रद्धा है तथा तीर्थ माहात्म्य सुनकर सेवन को रुचि करना श्रद्धा रूपा प्रिय (पतिव्रता) स्त्री है। मित्र समर्थ वेणी माधव हैं। दर्शन करनेवाले भक्त के सदा हित कर्त्ता हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पदार्थों से भरा भंडार (खज़ाना) है। पुण्य प्रदेश अर्थात् प्रयाग का का प्रांत ही पवित्र स्थल है; वह सुंदर देश (राष्ट्र) है। चालीस कोश जो क्षेत्र भूमि है वही अगम दृढ किला है। 'अगमता'—वहाँ जो गंगा-यमुना की रेणुका उड़ती है, वही विषम वन है।

'गाढ़'—गंगा यमुना की धारा ही दृढ धुस्स (बाँध) है। जगह-जगह के घाट ही बुर्ज हैं। रेत परिखाएँ हैं इस प्रकार की सुंदरता है। इस किले को प्रत्यक्ष में कौन कहे, स्वप्न में भी पापवर्ग रूप शत्रु नहीं पा सकते। सामान्य तीर्थ सिपाही हैं, और विशेष तीर्थ गया, पुष्कर, काशी आदि श्रेष्ठ वीर (सुभट) हैं। इस प्रकार ये तीर्थराज सप्तांग पूर्ण हैं।

(२) 'प्रात प्रातकृत करि'''—चलने के सम्बन्ध से प्राय रघुराई कहते हैं—'रं घति गर्च्छति इति रघु'। पुनः क्रिया के सम्बन्ध से भी माधुर्य नाम दिया गया है।

'प्रभु'—प्रयाग राज ३॥ कोटि तीर्थों के राजा हैं, एक-एक करोड़ तीनों लोकों के और ५० लाख वायुमंडल के तीर्थों के राजा हैं, वैसे ये भी 'प्रभु' हैं; अत' परस्पर योग्य का सम्बन्ध है। 'माधव' (मा= लक्ष्मी, धव=पति) अर्थात् लक्ष्मी के पति मित्र हैं, समय पड़ने पर सहायता करते हैं, कोश देते हैं। 'बट बीरा' अर्थात् अचल हैं। पुन मरते भी नहीं। 'संगम'—गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों के एकत्र होने से सगम की अपरिमित महिमा है, इसी से 'सुठि सोहा' कहा है। यहीं पर तीर्थराज के अभिमानी देवता विराजते हैं। यहाँ स्नान करना ही सिंहासन तक पहुँचना है।

(३) 'छत्र अषयबट मुनि '''—अक्षयवट प्रलय में भी अक्षय रहता है। अत, इनका छत्र भंग नहीं होता। लोमश-मारकंडेय आदि चिरंजीवी मुनियों के मन को लुभानेवाला है; अर्थात् वे सदा इसका ध्यान करते हैं।

(४) 'चवँर जमुन अरु गंग तरंगा।'—गंगा-यमुना चवँर डुरानेवाली हैं, इनकी तरंगें श्याम श्वेत दो चँवर हैं, जिनके दर्शन मात्र से दु ख और दारिद्र्य रूपी मक्खी और मशक आदि भंग (नाश) होते हैं।

(५) 'सेवहिं सुकृती साधु'''—गुणी लोग राजा को सेवन करके अभीष्ट पाते हैं, वैसे यहाँ बड़े-बड़े पुण्यात्मा लोग ही पुण्यरूप गुण से इन राजा के पास पहुँचते हैं और मनोरथ पाते हैं। सामादि वेद और पद्मादि पुराण भाटों की तरह इनके यश-प्रताप आदि कहा करते हैं।

को कहि सकइ प्रयागप्रभाऊ। कलुषपुंज - कुंजर मृगराऊ ॥१॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख-सागर रघुबर सुख पावा ॥२॥
कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज - बड़ाई ॥३॥

करि प्रनाम देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा ॥४॥
येहि विधि आइ विलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥५॥

अर्थ—पाप समूह रूपी हाथियों के लिये सिंह रूप प्रयाग का प्रभाव कौन कह सकता है ? ॥१॥ ऐसे (द्वादशांग पूर्ण) सुहावने तीर्थराज को देखकर सुख के समुद्र श्रीरामजी ने सुख पाया ॥२॥ और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी और सखा से कहकर, अपने मुख से तीर्थराज की बड़ाई सुनाई ॥३॥ प्रणाम करके वन और बागों को देखते हुए और अत्यन्त अनुरागपूर्वक माहात्म्य कहते हुए ॥४॥ इस प्रकार आकर उन्होंने त्रिवेणी (गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम स्थल) के दर्शन किये, जो स्मरणमात्र से सभी सुंदर मंगलों की देनेवाली हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'को कहि सकइ प्रयाग ···'—जब वेदादि कहकर समाप्त नहीं कर पाते, तो और कौन कह सकता है ? भारी-भारी पापों को प्रबल एवं भारी हाथियों के समान कहा और अकेले तीर्थराज को सिंह की तरह उनके नाश करने में समर्थ कहा। पहले—"सेन सकल ··कलुष अनेक दलन रनधीरा ॥" में सेना के द्वारा पापों का नाश होना कहा गया और यहाँ राजा का निज सामर्थ्य कहा है।

(२) 'सुखसागर रघुवर सुख पावा।'—सुखसागर को भी सुख देता है। अतएव परम रमणीक है। यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।" (बा० दो० २२७)। आप सुख-सागर हैं, तभी सुख के समुद्र का अनुभव कर सकते हैं। पुन जो दु:खी होगा, उसे यहाँ कितना सुख मिलेगा, इसे कौन कह सकता है ?

मुदित नहाइ कीन्हि सिव-सेवा। पूजि जथाविधि तीरथदेवा ॥६॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आये। करत दंडवत मुनि उर लाये ॥७॥
मुनि-मन-मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई ॥८॥

दोहा—दीन्हि असीस मुनीस उर, अति अनंद अस जानि।
लोचनगोचर सुकृतफल, मनहुँ किये विधि आनि ॥१०६॥

अर्थ—आनंदपूर्वक (त्रिवेणी में) स्नान करके उन्होंने शिवजी की पूजा को और विधिवत् तीर्थ-देवताओं की पूजा की ॥६॥ तब प्रभु श्रीरामजी भरद्वाज मुनि के पास आये और दंडवत् करते हुए उनको मुनि ने हृदय से लगा लिया ॥७॥ मुनि के मन में जो आनंद हुआ, वह कुछ कहा नहीं जाता, मानों वे ब्रह्मानंद की राशि (ढेरी) ही पा गये ॥८॥ मुनीश्वर ने उनको आशिष दी, उनके हृदय में अत्यन्त आनंद हुआ, यह जानकर कि विधाता ने हमारे पुण्यों का फल लाकर नेत्रों का विषय कर दिया है ॥१०६॥

विशेष—(१) 'मुदित नहाइ···पूजि जथाविधि ···'—वेणीमाधव आदि तीर्थ देवता हैं। यथा—"प्रयागं माधवं सोमं भारद्वाजं च वासुकीम्। वंदे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥" भरद्वाजजी बृहस्पति के पुत्र, द्रोणाचार्य के पिता और वाल्मीकिजी के शिष्य थे।

(२) 'ब्रह्मानंदराशि जनु पाई'—भरद्वाज ब्रह्मानंद के भोक्ता थे। किंतु आज इनके दर्शनानंद से आगे वह एक दाना मात्र सिद्ध हुआ और यहाँ उसका सैकड़ों गुणा आनन्द पा रहे हैं। यथा—"अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौगुन दिये॥" (जानकी-मंगल ४५)। यह श्रीजनकजी के अनुभव करने का प्रसंग है। श्रीरामजी माधुर्य में राजकुमार हैं; इस दृष्टि को निर्वाह करते हुए 'जनु' कहा है।

(३) 'दीन्हि असीस मुनीस…'—श्रीरामजी ने राजकुमार की हैसियत से दंडवत् की, तब उन्होंने मुनीश्वर की हैसियत से आशिष दी। 'सुकृत फल'; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (दो० २०९); 'बिधि आनि'—क्योंकि सुकृत के फल ब्रह्मा ही देते हैं। यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)।

कुसलप्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥१॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमी के॥२॥
सीय-लखन-जन-सहित सुहाये। अति रुचि राम मूलफल खाये॥३॥
भये बिगतश्रम राम सुखारे। भरद्वाज मृदुबचन उचारे॥४॥

अर्थ—कुशल-क्षेम पूछ कर मुनि ने बैठने को आसन दिया और प्रेम-पूर्वक पूजा करके श्रीरामजी को सन्तुष्ट किया॥१॥ अच्छे-अच्छे कंद, मूल, फल और अंकुर मुनि ने लाकर दिये, जो ऐसे स्वादिष्ट थे; मानों अमृत के हों॥२॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त निषादराज के साथ श्रीरामजी ने बड़ी रुचि से सुंदर मूल फल खाये॥३॥ थकावट निवृत्त होने से श्रीरामजी सुखी हुए; तब भरद्वाज मुनि ने कोमल वचन कहे॥४॥

विशेष—(१) 'कुसलप्रस्न करि…'—स्वयं लाकर आसन दिया और कंद आदि भी लाकर दिये। यह अति आदर है। 'पूजि' अर्थात् अर्घ्य आदि से स्वागत किया, यथा—"उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥" ((वाल्मी० २।५४।१७-१८); 'अमीके' अर्थात् कंदादि सब मीठे, स्वादिष्ट और गुणकारी थे। 'प्रेम परिपूरन'—पूजा में द्रव्य की अपेक्षा प्रेम ही मुख्य है। उसीसे श्रीरामजी संतुष्ट हुए। यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० १।१।५८); अर्थात् शबरी के प्रेम से ही श्रीरामजी सम्यक् प्रकार से पूजित हुए।

(२) 'भये बिगत श्रम…'—आप भक्तों की सेवा ग्रहण करने के लिये श्रम, क्षुधा आदि भी ग्रहण करते हैं और प्रेम सहित दिये हुए पदार्थ से सुखी होते हैं। वास्तव में तो ये 'राम' हैं, योगी लोग इनमें रमण-करते हैं, तो इन्हें श्रम आदि कहाँ?

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप
सकल सकल-सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहिं अवलो
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे —स आस
अब करि कृपा देहु बर येहू। निज-

करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥१०७॥

अर्थ—आज मेरे तप, तीर्थ और त्याग सफल हुए और आज मेरे जप, योग, वैराग्य सुफल ॥५॥ हे राम ! आज आपके देखते ही मेरे समस्त शुभ साधनों की सामग्री सुफल हुई ॥६॥ आपके दर्शनों से मेरी सब आशाएँ पूरी हुईं। लाभ की परा काष्ठा और सुख की सीमा (आपके दर्शनों के अतिरिक्त) और कुछ नहीं है ॥७॥ अब कृपा करके यह वर दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा स्वाभाविक प्रेम बना रहे ॥८॥ जब तक मन, वचन, कर्म से छल छोड़कर मनुष्य आपका दास नहीं होता, तब तक करोड़ों उपायों के करने से उसे स्वप्न में भी सुख नहीं होता ॥१०७॥

विशेष—(१) 'आजु सुफल तप···'—अर्थात् इन सबका फल श्रीराम-दर्शन ही है। यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा ॥" (दो० २०९)।

(२) 'लाभ अवधि सुख अवधि ··'—भक्तों का यही लाभ, योगी-ज्ञानी लोगों का सुख और कर्मकांडियों की इसीमें सब आशा पूर्ति है। 'सहज सनेहु' अर्थात् मन, वचन, कर्म से स्वाभाविक प्रेम पूर्वक लगा रहना। यथा—"राम कबहुँ प्रिय लागिही जैसे नीर मीन को।" ···(वि० २६९)।

(३) 'करम बचन मन छाँड़ि छल···'—भजन करते हुए उससे दूसरा फल चाहना छल है। यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० १००)। अत, अन्य कामना न करके भक्ति करते हुए भक्ति ही की कामना करनी चाहिये; यथा—"उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥" (सुं० दो० ३४)।

सुनि मुनिबचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने ॥१॥
तब रघुबर मुनि-सुजस सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहिं सुनावा ॥२॥
सो बड़ सो सब गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू ॥३॥
मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं ॥४॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीरामजी सकुच गये। उनके भाव और भक्ति को देखकर आनंद से अघा गये ॥१॥ तब रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी ने मुनि का सुन्दर यश अनेक तरह से कहकर सबको सुनाया ॥२॥ (फिर मुनि से कहा) हे मुनीश्वर ! वही बड़ा है और वही सब गुण-समूह का घर (स्थान) है जिसे आप आदर दें ॥३॥ मुनि और रघुवीर आपस में एक-दूसरे से नम्र हो रहे हैं। और उस सुख का अनुभव कर रहे हैं जो वाणी से कहने में नहीं आ सकता ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनिबचन राम ···'—मुनि वचन से श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं। इससे तो आप सकुच गये। यह शिष्टता है। पर मुनि की भाव-भक्ति से हर्षित हुए। फिर अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये मुनि का सुयश कहने लगे कि जिससे लोग समझें कि दोनों परस्पर बड़ाई कर रहे हैं। पुनः भक्तों का सुयश कहना-सुनना आपका स्वभाव भी है।

(२) 'सो बड़ सो सब गुन-गन-गेहू।''''''—आप मुनीश्वर हैं, बड़े हैं। अतः, आप जिसे आदर दें, वह उसीसे बड़ा एवं गुणी हो जाता है, ऐसे ही आपने मुझे आदर देकर योग्य बना दिया। इस तरह माधुर्य के भाव से ऐश्वर्य को ढँक दिया।

(३) 'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं।''''''' में अन्योन्य अलंकार है।

'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं'—यह सुख मन बुद्धि से परे है। यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।" (उ० दो० ४)। इसीसे वचन से कहा नहीं जा सकता। दोनों एक दूसरे के भाव में निमग्न हो जाते हैं। मुनि स्वामी का सुख और श्रीरामजी सेवक का सुख लेते हैं।

यह सुधि पाइ प्रयागनिवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी ॥५॥
भरद्वाज - आश्रम सब आये। देखन दसरथसुवन सुहाये ॥६॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भये लहि लोचन लाहू ॥७॥
देहिं असीस परम सुख पाई। फिरे सराहत सुंदरताई ॥८॥

दोहा—राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहि सिर नाइ ॥१०८॥

अर्थ—यह समाचार पाकर (कि मुनि के यहाँ चक्रवर्त्ति कुमार आये हैं) प्रयाग के रहनेवाले, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब भरद्वाज मुनि के आश्रम पर श्रीदशरथजी के सुन्दर पुत्रों को देखने आये ॥५-६॥ श्रीरामजी ने सब किसी को प्रणाम किया, सब नेत्रों का लाभ (अपूर्व दर्शन) पाकर आनंदित हुए ॥७॥ परम सुख पाकर आशिष देते हैं और उनकी सुंदरता सराहते हुए लौट गये ॥८॥ श्रीरामजी ने रात को (वहीं पर) विश्राम किया और सवेरे प्रयाग स्नान करके श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त गुह सहित (भरद्वाज-आश्रम को) चले और (वहाँ) मुनि को प्रणाम करके आनंदित हुए ॥१०८॥

विशेष—(१) यहाँ चारों आश्रम के लोग आये; 'प्रयाग निवासी'—गृहस्थ, 'बटु'—ब्रह्मचारी 'तापस'—वानप्रस्थ और 'उदासी' से संन्यास आश्रम जनाये हैं। 'राम प्रनाम कीन्ह'''—क्योंकि सबमें विप्र, बटु, सन्यासी आदि सब क्षत्रियों के पूज्य हैं। अतः, श्रीरामजी ने समष्टि में सभी को प्रणाम किया है। 'चले सहित सिय लखन''' यहाँ श्रीरामजी तैयार होकर अपने आसन से मुनि के पास विदा होकर जाने के लिये गये। मुनि से मार्ग पूछकर फिर प्रणाम करके वन को चलना आगे कहा जायगा। वाल्मी० २।५४। २७-३४ में लिखा है कि रात की वार्ता में ही मुनि से चित्रकूट निवास का निश्चय हो गया था। इसलिये प्रातःकाल मुनि के पास से वहाँ का मार्ग जानना और आज्ञा लेकर चलना आवश्यक था।

साथ लागि मुनि-सिष्य बोलाये। सुनि मन मुदित पचासक आये ॥३॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मग दीख हमारा ॥४॥
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे ॥५॥
करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—लागि = के लिये। पचासक = पचास के लगभग (ऐसा मुहावरा है)।

अर्थ—फिर श्रीरामजी ने प्रेमसहित मुनि से कहा कि हे नाथ! कहिये, हम किस मार्ग से जायँ ॥१॥ मुनि मन में हँसकर श्रीरामजी से कहते हैं कि आपको सभी मार्ग सुगम हैं, (चाहे जिससे जायँ) ॥२॥ साथ के लिये मुनि ने शिष्यों को बुलाया, (श्रीरामजी के साथ जाना) सुनकर प्रसन्न मन से पचास के लगभग आये ॥३॥ सबों का श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम है, सभी कहते हैं कि मार्ग हमारा देखा हुआ है ॥४॥ तब मुनि ने चार ब्रह्मचारी साथ कर दिये, जिन्होंने अनेकों जन्मों में सब पुण्य किये थे ॥५॥ प्रणाम करके ऋषि की आज्ञा पाकर श्रीरघुनाथजी प्रसन्न मन से चले ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सप्रेम कहेउ ·····'—भक्त पर प्रेम है, इससे उनसे मार्ग पूछते हैं कि वे समझें कि श्रीरामजी हमारे आज्ञाकारी हैं और इससे यह भी जनाया कि आप भक्तों के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं। ऊपर लिखा भी गया कि मुनि से चित्रकूट जाने की सम्मति हुई थी, इससे वे वहाँ का मार्ग पूछते हैं। 'हम' शब्द बहुवचन है, क्योंकि आप चार व्यक्ति हैं।

(२) 'सुगम सकल मग······'—मुनि हँसे कि हमसे ऐश्वर्य छिपाते हैं और प्राकृत मनुष्यों की तरह पूछते हैं। इसी तरह वाल्मीकिजी और अगस्त्यजी के यहाँ भी श्रीरामजी ने ऐश्वर्य छिपाया है और उन लोगों ने भी हँसकर प्रकट कह भी दिया है। ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी कहते हैं, आपके लिये सभी मार्ग सुगम हैं; अर्थात् दसों दिशाएँ सुगम हैं। आपको किसी के बतलाये हुए मार्ग की आवश्यकता नहीं, आप सब जगह वर्त्तमान हैं। यथा—"जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥" (दो० १२७)। माधुर्य का यह भाव है कि सभी आपकी प्रजा हैं, जिधर से जाओगे, सभी सब सुपास करेंगे। फिर व्यावहारिक दृष्टि से मार्ग दिखाने के लिये शिष्यों को बुलाया। 'मुनि बटु चारि ·····'—चार विद्यार्थियों को साथ दिया, सम्मान के लिये चार भेजे, पुनः श्रीरामजी भी चार व्यक्ति हैं और घोर जंगल में उन्हें लौटना पड़ेगा, इसलिये चार दिये, जिससे डरें नहीं। पुनः इन चारों ने बहुत सुकृत भी किये हैं। अतएव इन्हें कृतार्थ कराना है। 'चले रघुराई'—चलने के सम्बन्ध से यहाँ भी 'रघुराई' कहा है। इस मानस में भरद्वाजजी का कर्म घाट है, इससे भी इन्होंने सुकृतियों को ही साथ भेजा।

"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा" प्रकरण समाप्त।

"वाल्मीकि-प्रभु-मिलन" प्रकरण

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि-नर धाई ॥७॥
होहिं सनाथ जनमफल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई ॥८॥

दोहा—बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाये जमुनजल, जो सरीरसम श्याम ॥१०९॥

☞ यहाँ से अब वाल्मीकि-आश्रम को जाते हैं, मार्ग-वासियों को सुख देते हुए जा रहे हैं।

अर्थ—जब किसी गाँव के समीप जा निकलते हैं तब वहाँ के स्त्री-पुरुष दौड़कर इनके दर्श
(दर्शनीय रूप) को देखते हैं ॥७॥ जन्म लेने का फल पाकर सनाथ हो जाते हैं और अपने मन को उनके साथ भेजकर दुःखित होकर लौटते हैं ॥८॥ (साथ आये हुए चारों) ब्रह्मचारियों को विनय करके विदा किया। वे अपने मनोरथ पाकर के लौटे, तब उतरकर यमुनाजी के जल में स्नान किया, वह जल शरीर के समान श्याम था ॥१०९॥

विशेष—'देखहिं दरस'—'दरस' का अर्थ दर्शनीय रूप का है। यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ···" (दो० २२१), 'फिरहिं दुखित'—क्योंकि मन से बेहाथ हो गये। जिसके संयोग में जैसा अधिक सुख होता है उसके वियोग में वैसा ही दुःख भी होता है। यथा—"जेहि-जेहि मग सिय राम लखन गये, तहँ-तहँ नर नारि बिनु छर छरिगे।" (गी० अ० २२); 'फिरे पाइ मन काम'—इनकी मनोभिलाषा थी कि कुछ काल इन चरणों के दर्शन हों, यह कामना पूरी हुई, लौटना था ही, अतः, फिरे। 'विनय' अर्थात् आप लोगों को बड़ा कष्ट हो रहा है। अब लौटें, हमें अब ठीक राह मिल गई, अतः, चले जायँगे। आप लोग भी गुरु सेवा में प्राप्त हों। 'उतरि नहाये जमुन जल···' में प्रतीप अलंकार का पहला भेद है।

सुनत तीरबासी नर-नारी। धाये निज-निज काज बिसारी ॥१॥
लखन-राम-सिय-सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥२॥
अति लालसा सबहि मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥३॥
जे तिन्ह महँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति राम पहिचाने ॥४॥

अर्थ—यमुना के किनारे रहनेवाले स्त्री-पुरुष सुनकर (कि अत्यंत सुन्दर दो पुरुष और एक स्त्री घाट पर आये हैं) अपने-अपने कार्य भूलकर दौड़े ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी की सुन्दरता देखकर अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं ॥२॥ सबके मन में (इनके नाम और गाँव जानने की) अत्यन्त लालसा है, पर नाम-ग्राम पूछने में सकुचते हैं ॥३॥ इनमें जो वृद्धावस्था के और सयाने थे, उन्होंने युक्ति करके श्रीरामजी को पहचान लिया ॥४॥

विशेष—इनका तेज-प्रताप देखकर नाम—ग्राम पूछने में सकुचते हैं। अतएव युक्ति करके जाना, निषादराज से इशारे से पूछकर जान लिया!

सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहिं चले पितुआयसु पाई ॥५॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं ॥६॥
तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा ॥७॥
कबि-अलखित गति बेष बिरागी। मन-क्रम-बचन राम-अनुरागी ॥८॥

दोहा—सजल नयन तनु पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि ॥११०॥

अर्थ—उन्होंने सारी (वन आने की) कथा सबको सुनाई कि ये पिता की आज्ञा पाकर वन को चले हैं ॥७॥ यह सुनकर सब विषाद-सहित पछता रहे हैं। (और कहते हैं कि) रानी और राजा ने अच्छा नहीं किया ॥६॥ उसी समय एक तपस्वी आया जो अत्यंत तेजस्वी, छोटी अवस्था का और सुंदर था ॥७॥ कवि के लिये उसकी गति अलखित है; अर्थात् कवि उसका ठीक-ठिकाना नहीं जानते। उसका विरक्तों का वेष है और वह मन, वचन कर्म से श्रीरामजी का अनुरागी है ॥८॥ अपने इष्ट-देव को पहचानकर उसके नेत्रों मे जल भर आया है, शरीर में पुलकावली है, वह दण्डाकार भूमि में पड़ गया। उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥११०॥

विशेष—'सुनि सविपाद सकल ···'—इनकी सुंदरता और सुकुमारता देखकर दुःखित होते हैं। और अयोग्य कार्य पर रानी-राजा को दोष देते हैं, रानी ने ही वर माँगा है, इससे उसे प्रथम कहा। राजा भी रानी के वश हो गये थे, इससे इन्हें भी दोष देते हैं।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा ॥१॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ ॥२॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥३॥
पुनि सिय-चरन-धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा ॥४॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि रामसनेही ॥५॥
पियत नयनपुट रूप - पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने प्रेम-सहित पुलकित होकर उसे हृदय से लगा लिया; मानों महादरिद्र ने पारस पाया हो ॥१॥ (इनका मिलना देखकर देखनेवाले) सब कोई कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है। मानों प्रेम और परमार्थ शरीर धारण किये हुए परस्पर मिल रहे हों ॥२॥ फिर वह श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में जा लगा; अर्थात् चरणों पर गिर पड़ा, उनको प्रणाम किया, अनुराग से उमँगकर श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उठा लिया ॥३॥ फिर उसने श्रीसीताजी के चरणों की रज को शिर पर रक्खा। माता ने बालक जानकर उसे आशिष दी ॥४॥ निषाद-राज ने उसको दंडवत् (प्रणाम) की। श्रीरामजी का स्नेही जानकर वह इससे प्रसन्न मन से मिला ॥५॥ वह (तपस्वी) नेत्र-रूपी दोनों के द्वारा श्रीरामजी का रूपामृत पान कर रहा है। ऐसा आनंदित है कि जैसे भूखा सुंदर भोजन पाने से ॥६॥

विशेष—(१) तापस प्रसंग—यह प्रसंग यहाँ के चरित-प्रसंग से पृथक्-सा है, इसीसे इसपर लोगों ने बहुत तरह के विचार प्रकट किये हैं। प्रसंगानुसार यहाँ भी कुछ कहा जाता है। इसके विषय में कवि स्वयं कहते हैं—'कवि अलखित गति' अर्थात् हम नहीं जान पाते, तो टीकाकार लोग कैसे निश्चय कह सकते हैं। घटना से अनुमान होता है कि जिस समय ग्राम-नर-नारी विषाद-सहित पछता रहे थे—

"रानी राय कीन्ह भल नाहीं" उसी समय यह तपस्वी आया, इसे देख वे सब चुप हो गये और तपस्वी का चरित प्रारंभ हुआ। ग्राम-नर-नारी मुग्ध होकर इसके मिलाप की प्रशंसा करने लगे—'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु' इन्होंने उसे शरीरधारी 'प्रेम' और श्रीरामजी को 'परमार्थ' कहा है। श्रीरामजी वास्तव में परमार्थ-रूप हैं। यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (दो० ९३); वैसे ही वह भी प्रेम स्वरूप है। भगवान् तेजपुंज हैं, प्रेम का भगवान् से तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः, तद्रूप होने से प्रेम भी तेजपुंज है। लघुवयस् के बच्चे की तरह प्रेम भगवान् को प्रिय है। कवि उसे ठीक-ठीक नहीं लख पाते। क्योंकि प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" (नारदभक्ति सू० ५१); 'वेष विरागी' अर्थात् प्रेमनिरोधरूप ही है। यथा—"सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।" (नारदभक्तिसूत्र ७); 'मनक्रम बचन राम अनुरागी', यथा—"तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च" (नारद भ० सू० ९)। 'परम रंक जनु पारस पावा' अर्थात् तपस्वी दंडाकार भूमि में पड़ा, तब श्रीरामजी ने प्रेम-सहित उसे उठा लिया। जैसे कोई परम कंगाल पारस पा जाय और उसे उठाकर हृदय में लगावे और आनंदित होवे, इससे दिखाया कि भगवान् को प्रेम कितना दुर्लभ और प्रिय है, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६); दूसरी उत्प्रेक्षा—'मनहुँ प्रेम परमारथ···' से दिखाया कि प्रेमी को इष्ट श्रीरामजी ही परम प्राप्य हैं। आगे विशेष (४) भी देखिये।

(२) 'बहुरि लखन पायन्ह···'—श्रीलक्ष्मणजी ने हृदय से अनुराग-पूर्वक उसे उठा लिया, इस तरह अपना परम प्रियत्व जनाया। 'जननि जानि' यह दीप देहली है) उसने माता जानकर इनकी चरण-रज शिरोधार्य किया और माता ने उसे शिशु जानकर आशिष दी, इससे जनाया कि श्रीजानकीजी की कृपा से प्रेम होता है और बढ़ता भी है।

(३) 'कीन्ह निषाद दंडवत्···'—यद्यपि निषाद-जाति अस्पृश्य है, तो भी वह 'राम सनेही' देखकर प्रसन्न होकर मिला, क्योंकि प्रेमी भक्तों में आत्म दृष्टि से जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि भेद नहीं हैं; यथा—"नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः।" (नारद भ० सू० ७२)।

(४) 'पियत नयन पुट रूप···'—वह बड़े चाव से श्रीरामजी की रूप माधुरी का अवलोकन कर रहा है। अमृत की तरह आस्वादन कर रहा है। उत्तम अन्न पेट भर भोजन करने से सभी को आनंद होता है। भूखा हो, तो उसके सुख का ठिकाना ही नहीं। प्रेमी इष्ट के रूप को उसी तरह देखता है, जैसे भूखा उत्तम भोजन को; यथा—"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥" (नारद भ० सू० ५५); ('नयन पुट'—पान-मार्ग में पत्ते ही बहुत हैं। इसी से नेत्रों को दोने का रूपक कहा गया है।) प्रेमी श्रीभरतजी ने कहा भी है—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (दो० २६०)।

इस प्रेम-मूर्त्ति तपस्वी का जाना नहीं कहा गया; क्योंकि प्रेम-मूर्त्ति का प्रभु से वियोग कैसा! प्रेम और भगवान् से तो भेद ही नहीं है, जैसे कि रस खान ने कहा है—"प्रेम हरी को रूप है, वे हरि प्रेम स्वरूप। एक होइ दो में लसे, ज्यों सूरज में धूप॥" तब इसका जाना कैसे कहा जाय? पुनः शिशु माता-पिता से पृथक कैसे हो?—"जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।" कहा ही है। इस तरह इसी ग्रंथ में प्रेम का मूर्त्तिमान स्वरूप दिखाया गया है। यही कारण है कि इसके दर्शन पाकर निषाद यहीं से लौट जायँगे; क्योंकि प्रेम की पूर्णता होने पर वियोग का अनुभव नहीं होता। अन्यथा वे तो शपथ कर चुके थे कि भगवान् के लिये कुटी बनाकर ही लौटूँगा।

बाह्य दृष्टि से वह तपस्वी साधु था। अचानक आ गया, उसका चरित लिखा गया। वह प्रेमी था, रूप माधुरी में मुग्ध हो गया, फिर कवि औरों की बातें लिखने लग गये। वह निमग्न था कि श्रीरामजी ने अपना राह ली। वे साधु भी रमते राम थे, पीछे अपनी राह से गये होंगे। ग्रंथकार तो श्रीरामजी का चरित लिख रहे हैं। आनुषंगिक बातें प्रयोजन भर ही लिखी जाती हैं। विचरनेवाले साधु से विशेष जानकारी न की गई और न कवि ने लिया।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥७॥
राम - लखन - सिय - रूप निहारी। होहिं सनेह - बिकल नरनारी ॥८॥

दोहा—तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावन दीन्ह।
रामरजायसु सीस धरि, भवन गवन तेइ कीन्ह ॥१११॥

अर्थ—हे सखि! कहो तो वे पिता-माता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुन्दर सुकुमार) बालकों को वन भेज दिया ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी के रूप को देखकर वे स्त्री-पुरुष अत्यन्त स्नेह के कारण व्याकुल हो जाते हैं ॥८॥ तब रघुवीर श्रीरामजी ने बहुत तरह से सखा गुह को शिक्षा दी। श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह घर को चला ॥१११॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु कहहु ...'—पूर्व इन लोगों का प्रसंग—'रानी राय कीन्ह भल नाहीं।' पर छोड़ा था। बीच में तपस्वीजी आ गये, उनके तेज और प्रेम के आगे सब ठिठक गये थे। अब सावधान होकर पूर्व प्रसंग फिर उठाते हैं और वे ही विषाद के वचन कहते हैं। (यहाँ की ये दो अर्द्धालियाँ पूर्व दो० ८८ में भी आई हैं)। इसमें असङ्गति अलंकार है।

(२) 'तब रघुबीर अनेक बिधि ...'—गुह साथ नहीं छोड़ना चाहता था। अतः, अनेक तरह से समझाना पड़ा। 'रघुबीर' अर्थात् अपनी वीरता भी कही कि हम स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हैं, दूसरे की आवश्यकता नहीं है। 'रामरजायसु'—श्रीरामजी की आज्ञा अमिट है; यथा—"मेटि जाइ नहिं राम रजाई।" (दो० ६८); "राम रजाइ सीस सबही के।" (दो० २५३); 'राम' अर्थात् सबमें रमण करते हैं। अतः, यह भी जानते हैं कि श्रीसुमन्त्रजी अभी शृंगवेरपुर में ही पड़े हैं। बिना गुह के लौटे वे अवध न जा सकेंगे; यथा—"गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥" (वाल्मी० २।५९।३), अर्थात् श्रीसुमन्त्रजी कई दिन शृंगवेरपुर में ही ठहरे थे कि सम्भवतः श्रीरामजी मुझे बुलावेंगे, यह आशा लगी थी। गुह के लौटने पर दूर तक चले जाने की बात जानकर तब सुमंत्रजी लौटेंगे।

पुनि सिय राम लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनाम बहोरी ॥१॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई ॥२॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥३॥
राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे ॥४॥

अर्थ—फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर यमुनाजी को प्रणाम किया ॥१॥ सूर्य की कन्या यमुनाजी की बड़ाई करते हुए श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई प्रसन्नता-पूर्वक चले ॥२॥ मार्ग में जाते हुए अनेकों पथिक (बटोही) मिलते हैं। वे दोनों भाइयों को प्रेम-सहित देखकर कहते हैं ॥३॥ कि तुम्हारे सब अंगों में राजा के लक्षण देखकर हमारे हृदय में अत्यन्त शोच होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'पुनि सिय राम लखन'''—'पुनि' अर्थात् गुह को विदा करने पर, 'बहोरी'—अभी स्नान करने पर एक बार प्रणाम कर चुके थे। यहाँ पर तापस-भेंट और गुह-विदाई आदि प्रसंग हुए। अब चलते समय फिर प्रणाम किया। 'रबितनुजा'—बड़ाई करने में सूर्य-सम्बन्धी नाम दिया; अर्थात् यमुनाजी अपने कुल की पुरुपिनि हैं। इनकी बड़ाई करनी ही चाहिये। पुनः सूर्य के सम्बन्ध से इनका पावनत्व आदि महत्त्व भी सूचित किया।

(२) 'राजलखन सब अंग तुम्हारे'—सामुद्रिक शास्त्रानुसार सब राज्य-लक्षण श्रीरामजी में हैं। यथा—"यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै।'''" से "षडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः॥" वाल्मी० (५।३५।८–२०); तक यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण में ही देखने योग्य है। विस्तारभय से नहीं लिखा।

मारग चलहु पयादेहिं पायें। ज्योतिष झूठ हमारेहि भायें ॥५॥
अगम पंथ गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी ॥६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई ॥७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिर नाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि पूछहिं प्रेम बस, पुलकगात जल नयन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं, कहि बिनीत मृदु बयन ॥११२॥

अर्थ—(कि इन लक्षणों के होते हुए भी) आप मार्ग में पैदल चल रहे हैं। (इससे तो) हमारे समझ में ज्योतिष शास्त्र झूठा है ॥५॥ एक तो मार्ग दुर्गम, फिर उसमें भारी पहाड़ और भारी वन हैं, उसमें भी साथ में सुकुमारी स्त्री है ॥६॥ वन में हाथी और सिंह हैं। इससे वह देखा नहीं जाता। अर्थात् डर लगता है, यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें ॥७॥ जहाँ तक आप जायँगे। वहाँ तक पहुँचाकर फिर हम आपको प्रणाम करके लौट आवेंगे ॥८॥ इस प्रकार प्रेम के वश होकर वे पूछते हैं। उनके शरीर पुलकित हैं और आँखों में जल भरे हैं। कृपा के सागर श्रीरामजी नम्र-कोमल वचन कह-कहकर उन्हें लौटाते हैं ॥११२॥

विशेष—(१) 'ज्योतिष झूठ हमारेहि भाये'—जिसमें उपर्युक्त राज-लक्षण हों, उसे राजा होना और उसके साज-बाज चाहिये, किन्तु आप राजा न होकर पैदल चलते हैं। अतः, हमें ज्योतिष (सामुद्रिक) शास्त्र की सत्यता में ही संदेह होता है। 'सिर नाई' अर्थात् प्रणाम-मात्र करके फिर आवेंगे, कुछ पहुँचाई न लेंगे। अतः, साथ लेने में संकोच न करें।

(२) 'कृपा सिंधु फेरहिं''''''—फेरने में कृपालुता ही कारण है कि हमें तो मार्ग में जाना ही है, फिर इन्हें व्यर्थ कष्ट क्यों दें। 'बिनीत मृदु बैन'—आप लोगों का अनुमान ठीक है। हमारे हाथी, घोड़े आदि सब हैं, हम पिता की आज्ञा के पालन करने के लिये श्रद्धा और स्वेच्छा से वन को विचरने जा रहे हैं; अतः, हमें कोई कष्ट नहीं है।

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग-सुर-नगर सिहाहीं ॥१॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये ॥२॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥३॥
पुन्यपुंज मग - निकट - निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर-बासी ॥४॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता-लखन-सहित घनस्यामहिं ॥५॥

अर्थ—जो पुरवे और गाँव मार्ग में बसे हैं, उन्हें (देखकर) नाग-लोक और देव-लोक सिहाते (ललचाकर प्रशंसा करते) हैं ॥१॥ कि किस पुण्यात्मा ने और किस शुभ मुहूर्त में इन्हें बसाया है, ये धन्य और पुण्यमय हैं, तथा परम शोभायमान हैं ॥२॥ (क्योंकि) जहाँ-जहाँ श्रीरामजी चरण से चले जाते हैं, उनके समान तो इन्द्रपुरी भी नहीं है ॥३॥ मार्ग के समीप बसनेवाले बड़े पुण्यात्मा हैं उन्हें देवलोक-वासी सराहते हैं ॥४॥ कि जो नेत्र भरकर श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और घनश्याम (सजल मेघ के समान श्याम) श्रीरामजी के दर्शन कर रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'नाग-सुर-नगर''''''—नागों का लोक भोग्य-पदार्थों से पूर्ण है, भोगावती उनकी पुरी का नाम ही है। 'पुर गाँव' के यथाक्रम से पुरवा को नाग-लोक और ग्राम को सुरलोक सिहाते हैं। कहाँ ये छोटे-छोटे पुरवा और गाँव और कहाँ नागलोक और सुरलोक की विभूति ? अतः, प्रशंसा की हद जना दी। नगर आदि के अभिमानी देवताओं की प्रशंसा करना जानना चाहिये; क्योंकि नगर आदि जड़ हैं।

(२) 'केहि सुकृती केहि घरी''''''—यहाँ से प्रशंसा लिखते हैं। यदि घड़ी जानी होती तो हम लोगों के गुरु शुक्राचार्य और बृहस्पति हमारे नगरों को उसी घड़ी में बसाते। श्रीराम-चरण की प्राप्ति से पुण्यमय हैं। 'मग निकट निवासी' अर्थात् पुर-गाँव को नाग-सुर-नगर का सिहाना कहा; अब इनके निवासियों को उनके निवासियों का सराहना कहते हैं; अर्थात् बस्ती को बस्ती और निवासी को निवासी सराहते हैं।

जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव-सर-सरित सराहहिं ॥६॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहि जाई। करहि कलपतरु तासु बड़ाई ॥७॥
परसि राम - पद - पदुम-परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा ॥८॥

दोहा—छाँह करहिं घन बिबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग, राम चले मग जाहिं ॥११३॥

अर्थ—जिन तालाबों और नदियों में श्रीरामजी स्नान करते हैं (वा, उनमें पैठकर चलते हैं), उन्हें देव-सर-सरितायें (देवलोक के तालाब और नदियाँ) सर हतो हैं ।।६।। जिस वृक्ष के नीचे प्रभु जाकर बैठते हैं, कल्पवृक्ष उसकी बड़ाई करते हैं ।।७।। श्रीरामजी के चरण-कमल की धूलि का स्पर्श करके पृथिवी अपना अतिशय भाग्य मानती है ।।८।। मेघ छाया करते हैं, देवता-गण फूल बरसाते और सिहाते हैं, पर्वत, वन, पक्षी और वन्य पशुओं को देखते हुए श्रीरामजी मार्ग चले जाते हैं ॥११३॥

विशेष—(१) 'जे सर सरित राम······'—'अवगाहहिं' में पैठकर चलना, स्नान करना और थाह लेते हुए पार होना, सभी आ जाते हैं, क्योंकि कहीं कुछ और कहीं कुछ होता है। देव-सर-सरितायें अभी तक देवताओं के सम्बन्ध से अपनेको अधिक मानती थीं, किंतु इन सर-सरिताओं में तो देवों के देव परम प्रभु का सम्पर्क हुआ; अतः, ये धन्य हैं। यहाँ देव-सरिता से भूमि की गंगा-यमुना आदि से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि इनमें तो प्रभु ने स्नान भी किया है। अतः, देवलोक ही के सर आदि से तात्पर्य है, ऊपर से वैसा ही प्रसंग भी आ रहा है।

(२) 'जेहि तरुतर प्रभु······'— उपर्युक्त रीति से देवलोक के वृक्ष (कल्पवृक्ष) यहाँ के जैसे-तैसे वृक्षों की भी बड़ाई करते हैं। 'जेहि'—वट-पीपर आदि उत्तम वृक्ष ही नहीं।

(३) 'परसि-राम-पद-पदुम ······'—क्योंकि त्रिपाद विभूति के विचरनेवाले परम प्रभु हमारे ऊपर नंगे पैरों से विचर रहे हैं हमारा अहो भाग्य है !

(४) 'छाँह करहि घन······'—वैशाख का महीना आ गया है, धूप कड़ी है, इससे 'छाँह' करके सेवा करते हैं। सिहाते हैं कि हा ! हमलोग पृथिवी के जीव न हुए। व्यर्थ ही योजन-भर ऊपर रहकर यज्ञ का धुआँ लेते हैं। 'देखत गिरि बन····'—सबको श्रीरामजी देखते हुए कृतार्थ करते जाते हैं, वा, जड़ों को श्रीरामजी देखते हैं और चेतन श्रीरामजी को देखते हैं, यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।। ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६); इस तरह सबको कृतार्थ करते जाते हैं।

सीता - लखन - सहित रघुराई । गाँव निकट जब निकसहिं जाई ॥१॥
सुनि सब बाल - वृद्ध नर - नारी । चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी ॥२॥
राम - लखन - सिय - रूप निहारी । पाइ नयनफल होहिं सुखारी ॥३॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा ॥४॥

(उ० दो० ७४); "होइहहिं सुफल आज मम लोचन। निरखि बदन पंकज भव मोचन॥" (आ० दो० ६)। आगे उनकी दशा कहते हैं—

(३) 'सजल बिलोचन पुलक···'—इस मग्नता का कारण वीर-रूप दर्शन है, यथा—"तुलसिदास बस होहिं तबहि जब द्रवै ईस जेहि हत्यो सीस दस।" (वि० २०४), अर्थात् श्रीरामजी दर्शक के मोह-रूपी रावण के दसों इन्द्रिय-रूपी शिरों को छेदनकर मन को उनसे पृथक् करके अपने में निमग्न कर देते हैं।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि-ढेरी॥५॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन येहीं॥६॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥७॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तनु मन बरबानी॥८॥

दोहा—एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गँवाइय छिनक श्रम, गवनब अबहिं कि प्रात॥११४॥

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइय नाथ कहहिं मृदु बानी॥१॥

अर्थ—उनकी दशा वर्णन नहीं की जाती, मानो दरिद्रों को चिंतामणि की ढेरी मिल गई हो॥५॥ एक-एक को बुलाकर शिक्षा देते हैं कि इसी क्षण आकर नेत्रों का लाभ ले लो (अन्यथा इनके निकल जाने से पछताना पड़ेगा)॥६॥ एक कोई श्रीरामजी को देखकर ऐसे अनुरक्त हो गये हैं कि उनको देखते हुए साथ लगे चले जा रहे हैं॥७॥ एक कोई नेत्रों के मार्ग से उनकी छबि को हृदय में बसाकर तन मन और श्रेष्ठ वाणी से शिथिल हो जाते हैं॥८॥ कोई बरगद की अच्छी छाया देख कोमल तृण और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि एक क्षण यहाँ थकावट दूर कर लीजिये, फिर चाहे अभी और चाहे सवेरे चले जाइयेगा॥११४॥ एक कोई घड़े में जल भर लाते हैं और कोमल वाणी से कहते हैं कि हे नाथ! आचमन कर लीजिये; अर्थात् हाथ-मुख धो लीजिये॥१॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ दसा तिन्ह···'—प्रेमानंद की दशा ऐसी ही होती है, यथा—"बरनउँ किमि तिन्ह की दसहि, निगम-अगम प्रेम-रसहि।" (गी० अ० १०); "कहि न जाइ सो दसा भवानी।··· को मैं कहाँ चलेउँ नहि बूझा।" (आ० दो १); फिर विषयानन्द की उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा से कुछ लक्ष्य कराते हैं—'लहि जनु रंकन्ह···'—एक चिंतामणि इन्द्र के पास है जिससे वह सम्पूर्ण विषयानंद से पूर्ण रहता है, यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मी० मू०); वह देवताओं का राजा है। फिर जिस दरिद्र को चिंतामणि के ढेर-के-ढेर अनायास प्राप्त हो जायँ, उसके आनंद का क्या ठिकाना?

(२) श्रीरामजी को देखकर कोई पराभक्ति को प्राप्त होकर अनुराग-पूर्वक पीछे लग जाते हैं, कोई प्रेमाभक्ति से तन, मन और वाणी के द्वारा शिथिल हो जाते हैं और कोई नवधा-भक्ति की युक्ति से छाँह में पल्लवआदि बिछाकर बैठने की प्रार्थना करते और जल लाकर आचमन कराते हैं। इन तीनों पर क्रमशः वशीकरण, मोहन और आकर्षण पड़ना भी कहा जाता है।

सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी । राम कृपाल सुसील बिसेखी ॥२॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं । घरिक बिलम्ब कीन्ह बटछाँहीं ॥३॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा । रूप अनूप नयन मन लोभा ॥४॥
एकटक सब सोहहिं चहुँओरा । रामचंद्र - मुख - चंद - चकोरा ॥५॥

अर्थ—प्यारे वचन सुनकर और उनकी अत्यन्त प्रीति देखकर बड़े ही कृपालु और सुशील श्रीरामजी ॥२॥ मन में श्रीसीताजी को थकी हुई जानकर, कोई एक घड़ी बरगद की छाँह में विलंब को, ठहर गये ॥३॥ स्त्री-पुरुष आनन्द से शोभा देखते हैं। उस उपमा-रहित रूप ने उनके नेत्रों और मन को लुभा लिया ॥४॥ सब चारों ओर से श्रीरामजी के मुखचन्द्र को चकोर के समान एकटक देखते हुए शोभते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'राम कृपाल सुसील बिसेषी'—श्रीरामजी में इस प्रसंग से कृपालुता और सुशीलता विशेष प्रकट है, कृपा श्रीसीताजी पर और मगवासियों पर है।

श्रीजानकीजी कह चुकी हैं—"मोहि मग चलत न होइहि हारी" (दो० ९९); इसीसे वे कहती नहीं हैं, पर श्रीरामजी लख गये। यथा—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारि हौं भूभुरि डाढ़े॥ तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)। यह श्रीसीताजी की श्रमित चेष्टा भी मगवासियों को कृतार्थ करने के लिये हुई कि जिससे प्रभु यहाँ थोड़ा बैठ जायँ।

(२) 'रूप अनूप नयन···'—ये सब चाहते हैं कि सदा इन्हें देखते ही रहें, क्योंकि इनका रूप अनूप है।

(३) 'एकटक सब सोहहि चहुँओरा···'—चन्द्रमा सभी चकोरों के सम्मुख रहता है, वैसे ही श्रीरामजी चारों ओर के दर्शकों के सम्मुख हैं, यह आपका रहस्य है; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (आ० दो० १२); तथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसल राऊ॥" (बा० दो० २४१); इत्यादि, यहाँ श्रीपार्वतीजी के—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०); इस प्रश्न का उत्तर है।

तरुन - तमाल - बरन तनु सोहा । देखत कोटि - मदन - मन मोहा ॥६॥
दामिनिबरन लखन सुठि नीके । नखसिख सुभग भावते जी के ॥७॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा । सोहहि कर - कमलन्हि धनु तीरा ॥८॥

दोहा—जटा मुकुट सीसन्हि सुभग, उर भुज नयन बिसाल ।
सरद - परब - बिधु - बदन बर, लसत स्वेद - कन - जाल ॥११५॥

अर्थ—(श्रीरामजी का) श्याम शरीर तरुण (नवीन) तमाल वृक्ष के रंग की शोभा दे रहा है। जिसे देखते ही करोड़ों कामदेव के मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ बिजली के से रंग के (गौर) श्रीलक्ष्मणजी अत्यन्त अच्छे लगते हैं। नख से शिखा तक; अर्थात् सर्वाङ्ग सुंदर और हृदय को भानेवाले हैं ॥७॥ मुनियों के वस्त्र (कोपीन, वल्कल आदि) पहने और उसीसे कमर में तर्कश कसे हुए हैं। कर-कमलों में धनुष-बाण शोभित हो रहे हैं ॥८॥ उनके सुन्दर शिरों पर सुन्दर जटाओं के मुकुट हैं। अर्थात् मुकुटाकार जटाएँ बाँधे हुए हैं। छाती, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं; (अर्थात् छाती चौड़ी और उन्नत, बाहु घुटने तक लंबे और नेत्र बड़े, इस तरह विशाल शब्द के तीन अर्थ हैं)। शरद-पूर्णिमा के चन्द्रमा के से सुन्दर मुखों पर पसीने की बूँदों का समूह शोभित हो रहा है ॥११५॥

सम्बन्ध—दोनों राजकुमारों के वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। इससे पहले एक-एक अर्द्धाली में भिन्न-भिन्न कहा, वेष एक-सा है; अतः, फिर एक में कहा। आगे श्रीजानकीजी की भी मनोहरता साथ में कह देंगे, क्योंकि उनकी शोभा का वर्णन पृथक् में कहना अयोग्य मानते हैं। यह भी भाव है कि पुरुष दोनों भाइयों के पास और युवती गण श्रीसीताजी के पास बैठी हैं, किंतु उन (युवतीगण) की दृष्टि दोनों भाइयों पर भी है, इससे श्रीसीताजी की छवि पृथक् और साथ में कही गई।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी ॥१॥
राम - लखन - सिय - सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥२॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी - मृग देखि दियासे ॥३॥
सीय - समीप ग्राम - तिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥४॥
बार बार सब लागहिं पाये। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाये ॥५॥

अर्थ—यह (श्रीराम-लक्ष्मणजी की) मनोहर जोड़ी वर्णन नहीं की जा सकती। (क्योंकि इसकी) शोभा बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी (तुच्छ) है ॥१॥ सब लोग श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी की सुन्दरता को मन, बुद्धि और चित्त लगाये हुए देख रहे हैं ॥२॥ प्रेम के प्यासे स्त्री-पुरुष (इनकी सुंदरता देखकर) इस तरह ठिठक (स्तब्ध) हो गये हैं। जैसे हरिणी और हरिण दीपक देखकर (ठिठक जाते हैं) ॥३॥ गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के पास जाती हैं, (पर) अत्यन्त स्नेह के कारण पूछते हुए सकुचाती हैं ॥४॥ बार-बार सब उनके चरण छूती हैं और सहज स्वभाव ही से कोमल वचन कहती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ मनोहर···'—'मनोहर' जोड़ी है, मन ही हर जाता है, तो वर्णन कौन करे ? पुनः शोभा बहुत है। वह अल्प बुद्धि में आ नहीं सकती, यथा—"सरसी सीप कि सिंधु समाई।" (दो० २५९); श्रीसीताजी के प्रति भी; यथा—"सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघुमति बहुत मनोहरताई ॥" (बा० दो० ३२१)।

(२) 'चित मन मति लाई'—चित्त से चिंतवन, मन से संकल्प विकल्प और बुद्धि से उसपर विचार होते हैं, जहाँ ये तीनों लग जायँ, वहीं एकाग्रता होती है। यहाँ तीनों मूर्त्तियों को सुंदरता में सब एकाग्र हो रहे हैं; यथा—"थोरेहिमहँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मन मति चित लाई ॥" (आ० दो० १४)।

(३) थके नारि नर प्रेम पियासे ' '—नारि-नर प्रेम के प्यासे हैं, यथा—"दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन ॥" (दो० २६०), अतः, देखते देखते सब जड़ की तरह स्तब्ध हो गये। यहाँ नर मृग और नारि मृगी हैं तथा श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी दीप के समान हैं। यह प्रसिद्ध है कि व्याधा लोग दीपक जलाकर गाते हैं। मृग दीपक देखकर खड़े रह जाते हैं, यथा—"रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)।

(४) 'अति सनेह सकुचाहीं'—अत्यन्त स्नेह के कारण पूछना चाहती हैं, पर बिना मन पाये सकुचाती हैं। भय मानती हैं कि हम गँवारी हैं और ये राजकुमारी हैं। इनसे वार्त्ता करते बने या न बने; इसलिये मन मिलाने के लिये बार-बार चरण लगती हैं। ये अनुकूल करने के उपाय हैं।

राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय - सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥६॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी ॥७॥
राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने ॥८॥

दोहा—स्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुषमा अयन।
सरद - सर्बरी - नाथ-मुख, सरद-सरोरुह नयन ॥११६॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥१॥

शब्दार्थ—सलोने (लावण्य-सहित)=सुंदर। दुति=कान्ति। सर्बरी (शर्वरी)=रात।

अर्थ—हे राजकुमारी! हम कुछ विनती करना चाहती हैं, पर स्त्री स्वभाव से कुछ पूछते हुए डरती हैं॥६॥ हे स्वामिनी! हमारी ढिठाई को क्षमा कीजिये। हमको गँवारिन (देहातिनि) जानकर बुरा न मानियेगा। (क्योंकि हमलोग योग्य वार्त्ता करना जानती ही नहीं)॥७॥ 'हे सुमुखि! कहो, ये दोनों स्वाभाविक ही सुंदर राजकुमार, जिनसे मरकत मणि और सोने ने कान्ति पाई है, (अर्थात् इनकी कण मात्र कांति पाकर वे सब कान्तिमान् हो गये हैं)॥८॥ साँवले गोरे, श्रेष्ठ किशोर अवस्थावाले, सुंदर एवं परम शोभा के धाम शरत्पूनो के चन्द्रमा के समान मुख शरद् ऋतु के समान नेत्रवाले॥११६॥ और करोड़ों कामदेवों को लजानेवाले तुम्हारे कौन हैं? ॥१॥

विशेष—(१) 'तिय सुभाय'—दीपदेहली है; अर्थात् स्त्री-स्वभाव ही पूछने की लालसा है और स्त्री-स्वभाव से डरती भी हैं; क्योंकि डरना भी स्त्री-स्वभाव है।

(२) 'को आहि तुम्हारे'—'कोटि मनोज लजावनि हारे' से अपनी शृंगार दृष्टि कही, यथा—"नारि बिलोकहिं ' जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० २४१) कि हमलोग इनपर निछावर हो रही हैं, पर ये तुम्हारी ही ओर देखते हैं और किसी की तरफ ताकते ही नहीं। अत, हम सब जानना चाहती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं? यथा—"सीस जटा, उरबाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहैं। तून सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥ सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं। पूछति ग्राम बधू सियसों 'कहो साँवरे से सखि रावरे को हैं'॥" (क० अ० २१), 'चितै तुम त्यों' अर्थात् ज्यों ही तुम्हारी ओर चितवते हैं, त्यों ही हमारे मन को मोह लेते हैं।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महँ मुसकानी ॥२॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी ॥३॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥४॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे ॥५॥

शब्दार्थ—बरबरनी, यथा—"शीते सुखोष्णा सर्वांगी ग्रीष्मे च सुख शीतला। भर्तृभक्ता तु या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी ॥" (भरत-सूत्र), श्रीसीताजी की माता के लिये भी यही विशेषण आया है, यथा—"अगम सबहिं बरनत बरबरनी।" (दो० २८८)। अर्थात् श्रेष्ठ वर्णवाली स्त्री, यह अर्थ शब्दार्थ से होता है।

अर्थ—उनकी स्नेह से भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुच गईं और मन में मुसुकाईं ॥२॥ उनको देखकर पृथिवी की ओर देखती हैं, 'बरबरनी' श्रीसीताजी दोनों के संकोच से सकुच रही हैं ॥३॥ मृग के बच्चे के-से नेत्रोंवाली और कोकिला की-सी वाणीवाली श्रीसीताजी प्रेम-सहित मधुर वचन बोलीं ॥४॥ जिनका सीधा स्वभाव और सुंदर गौर शरीर है, श्रीलक्ष्मण नाम है, ये मेरे छोटे देवर हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सनेहमय मंजुल…'—'स्नेहमय'—'राजकुमारी' 'स्वामिनि' आदि सम्बोधनों में स्नेह भरा है। हम गँवारी हैं। अतः, ढिठाई क्षमा करना इत्यादि में मंजुलता है। 'सकुची सिय मन महँ मुसुकानी'।—पति की बात पूछती हैं, अतः लाज से सकुच गईं। हैं ग्रामीण, पर बात करने में बड़ी सयानी हैं, यह समझकर मुसकाईं, यथा—"सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।" (क० अ० २१)।

(२) 'दुहुँ सकोच'—पहले उन ग्राम-वासिनियों की ओर देखा, फिर पृथिवी की ओर, इन्हीं दो का संकोच है। स्वामी के समीप ही उनकी वार्ता करने में संकोच होता है, पर यह संकोच ग्रामीण स्त्रियों में उतना नहीं होता। अतः, यदि इन्हें न बतावें, तो इनका मन भंग होगा। इसलिये संकेत से बतलाती हैं। पृथिवी माता हैं, क्योंकि आप भूमि की कुमारी हैं। अतः, माता के सामने पति की वार्ता कैसे करें? संकोच होता है। स्त्रियों का स्वभाव भी है कि लाज की बात पर भूमि की ओर दृष्टि कर लेती हैं।

(३) 'सकुचि सप्रेम बाल…'—संकोच और प्रेम दिखाने को 'बाल मृगनयनी' कहा है, यथा—"जहँ बिलोकि मृग सावक नयनी।" (बा० दो० २३१)। 'मधुर वचन' के सम्बन्ध से 'पिक बयनी' कहा है।

(४) 'लघु देवर' अर्थात् इनसे जेठे भी एक देवर हैं, जो घर पर हैं, या 'लघु' से शत्रुघ्न कहे जायँगे। ये तो मँझले देवर हैं, इसलिये 'लघु' का श्रीरामजी से छोटे जो हैं, वे देवर हैं, ऐसा भी अर्थ किया जाता है।

बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी। पियतनु चितइ भौंह करि बाँकी ॥६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि ॥७॥
भईं मुदित सब ग्रामबधूटी। रंकन्ह राय-रासि जनु लूटी ॥८॥

विशेष—(१) 'बहु विधि'—प्रथम 'सदा सोहागिनि' होना कहा, फिर प्रलय तक का समय रक्खा—'जब लगि महि अहि सीस' तब तीसरी प्रकार से पुष्ट किया—'पारवती सम'...'—पार्वतीजी के पति अविनाशी हैं, अतः अक्षय सौभाग्य होना कहा। वे पर्वत (अचल) की पुत्री हैं, इस लक्ष्य से सौभाग्य की अचलता भी कही। सौभाग्य अचल भी हो, पर जो पति का प्रेम स्त्री पर न रहा, तो भी उसका जीवन व्यर्थ है, इसलिये पार्वतीजी के समान पति को प्यारी होना कहा। शिवजी अत्यन्त प्यार के कारण पार्वतजी को सदा आधे अंग में रखते हैं।

(२) 'मधुर बचन कहि कहि'...'—मीठे शब्दों में कहा—तुम-सबसे हमें बड़ा सुख मिला, जल आदि से सत्कार हुआ और वार्तालाप से सुख मिला। हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, इधर से लौटना होगा तो अवश्य तुमसे मिल करके जायँगी, क्योंकि तुम-सब भूलने योग्य नहीं हो। 'जनु कुमुदिनी'...'—कुई पहले सकुचित रहती है, वैसे ये सब थीं, यथा—'पूछत अति सनेह सकुचाहीं।' श्रीरामजी चन्द्रमा और श्रीसीताजी उनकी चाँदनी हैं, उनसे अपृथक् हैं ; यथा—"कहँ चन्द्रिका चन्द तजि जाई।" (दो० ९६); चाँदनी पड़ते ही कुई खिल जाती है वैसे श्रीसीताजी के प्रिय भाषण से वे खिल उठीं, प्रसन्न हो गईं, उनका संकोच जाता रहा। कुईं रात में खिलती है, वैसे ही इन सबकी भक्ति ही रात है, यथा—"राका रजनी भगति तव" (आ० दो० ४२); इनमें भक्ति, यथा—"लखी सीय सब प्रेम पियासी।" यही प्रेम-प्यास उत्तमाभक्ति है।

तबहिं लखन रघुबररुख जानी। पूछेउ मग लोगन्हि मृदुबानी ॥५॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी ॥६॥
मिटा मोद मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥७॥
समुझि करमगति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मग तिन्ह कहि दीन्हा ॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेर सब प्रियबचन कहि, लिये लाइ मन साथ ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामजी का रुख (इच्छा) जानकर श्रीलक्ष्मणजी ने कोमल वाणी से लोगों से मार्ग पूछा ॥५॥ सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये, (क्योंकि समझ गये कि अब जायँगे) उनके शरीर पुलकित हो गये और आँखों में आँसू भर आये ॥६॥ हृदय का आनंद मिट गया और वे मन से मलीन हो गये, मानों ब्रह्मा दी हुई निधि को छीन लेते हैं ॥७। कर्म की (अकाट्य) गति को समझकर उन्होंने धैर्य धारण किया और आपस में विचार करके सुगम (अच्छा) रास्ता उन्होंने बतला दिया ॥८॥ तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ रघुनाथजी ने गमन किया; अर्थात् चल पड़े। (लोग साथ लग गये, अतः) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया, पर उनके मन को अपने साथ लगा लिया ॥११८॥

विशेष—(१) 'तबहिं लखन'...'—श्रीलक्ष्मणजी उत्तम सेवक हैं, इससे श्रीरामजी का रुख समझ जाते हैं और तदनुसार ही कार्य करते हैं। 'पूछेउ मगु'—वाल्मीकि आश्रम होते हुए चित्रकूट का मार्ग पूछा। 'बिधि निधि दीन्ह'...'—क्योंकि संयोग-वियोग के विधान में ब्रह्मा का ही अधिकार है; यथा—"जो बिधि

अर्थ—फिर श्रीसीताजी ने अपना मुखचन्द्र आँचर से ढककर, पति की तरफ देखकर और भौंहें टेढ़ी करके ॥६॥ सुन्दर खंजन पक्षी के-से सुन्दर नेत्रों को तिरछे करके संकेत से उन स्त्रियों से श्रीरामजी को अपना पति बतलाया ॥७॥ सब ग्राम-वासिनी स्त्रियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं कि मानों दरिद्रों ने राजा का कोश (धन की राशि) लूटा हो ॥८॥

विशेष—(१) 'बहुरि बदन बिधु' खंजन मंजु'''—वे सब ग्राम वधूटियाँ चाहती हैं कि श्रीरामजी हमारी ओर भी देखें, पर वे श्रीसीताजी की ही ओर देखते हैं, तब वे पूछती हैं कि तुम्हारा इनका कैसा नाता है। इसका उत्तर श्रीसीताजी सैन से बताती हैं कि ये हमारे पति हैं, यह भी कि इन्हीं कटाक्षों के अनुकूल हैं। वे स्त्रियाँ समझ गईं कि पति के वशी-करण का यही मुद्रा एवं महामंत्र है, इसीसे मुदित हुईं। कहा भी है—"अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरे कछू, जा बस होत सुजान ॥ झूठे जानि न संग्रहे, जनु मुख निकसे बैन। याही ते मानो कियो, बातनि को विधि नैन ॥" (बिहारी)।

(२) 'रंकन्ह राय-राशि'''—दरिद्र लोग निधि लूटने पर तड़फड़ गिरते हैं। वैसे ही सबकी तावड़तोड़ दृष्टि पड़ रही है। यह रहस्य कवितावली अ० २२ में भी है। यथा—"सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली। तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥ तुलसी तेहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली। अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मानो मंजुल कंज कली ॥"

यह प्रसंग अन्य रामायणों में नहीं है। इस ग्रंथ में भी वन के मार्ग में कहीं भी इतने प्रेमियों के समाज का वर्णन नहीं है। इसपर कहा जाता है कि यह सौभाग्य ग्रंथकार ने अपनी जन्म-भूमि ही को दिया है। दूसरी दृष्टि से "कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये ॥" (बा० दो० ३३) का समाधान तो है ही।

दोहा—अति सप्रेम - सिय-पाय परि, बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहिसीस ॥११७॥

पारबतीसम पतिप्रिय होहू। देबि न हमपर छाड़बि छोहू ॥१॥
पुनि पुनि बिनय करिय कर जोरी। जौं येहि मारग फिरिय बहोरी ॥२॥
दरसन देब जानि निज दासी। लखी सीय सब प्रेमपियासी ॥३॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त प्रेम से श्रीसीताजी के चरणों पर पड़कर बहुत तरह से आशिष देती हैं कि तुम सदा सौभाग्यवती होओ, जबतक कि पृथिवी शेषजी के सिर पर रहे ॥११७॥ पार्वतीजी के समान पति को प्यारी होओ। हे देवि! हमपर कृपा न छोड़ना; अर्थात् कृपा रखना ॥१॥ हम बार-बार हाथ जोड़कर विनती करती हैं कि जो आप इसी रास्ते से फिर लौटें ॥२॥ तो हमें अपनी दासी जानकर दर्शन दें। श्रीजानकीजी ने देखा कि ये सब प्रेम की प्यासी हैं ॥३॥ तो उन्हें मधुर वचन कह-कहकर संतुष्ट किया (वे सुनकर ऐसी प्रफुल्ल हुईं कि) मानों कुईं को चाँदनी ने पोसा; खिलाकर पुष्ट कर दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि'—प्रथम 'सदा सोहागिनि' होना कहा, फिर प्रलय तक का समय रक्खा—'जब लगि महि अहि सीस' तब तीसरी प्रकार से पुष्ट किया—'पारबती सम···'—पार्वतीजी के पति अविनाशी हैं, अतः अक्षय सौभाग्य होना कहा। वे पर्वत (अचल) की पुत्री हैं, इस लक्ष्य से सौभाग्य की अचलता भी कही। सौभाग्य अचल भी हो, पर जो पति का प्रेम स्त्री पर न रहा, तो भी उसका जीवन व्यर्थ है, इसलिये पार्वतीजी के समान पति को प्यारी होना कहा। शिवजी अत्यन्त प्यार के कारण पार्वतीजी को सदा आधे अंग में रखते हैं।

(२) 'मधुर बचन कहि कहि···'—मीठे शब्दों में कहा—तुम-सबसे हमें बड़ा सुख मिला, जल आदि से सत्कार हुआ और वार्त्तालाप से सुख मिला। हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, इधर से लौटना होगा तो अवश्य तुमसे मिल करके जायँगी, क्योंकि तुम-सब भूलने योग्य नहीं हो। 'जनु कुमुदिनी···'—कुई पहले संकुचित रहती है, वैसे ये सब थीं, यथा—'पूछत अति सनेह सकुचाहीं।' श्रीरामजी चन्द्रमा और श्रीसीताजी उनकी चाँदनी हैं, उनसे अपृथक् हैं; यथा—"कहँ चंद्रिका चन्द तजि जाई।" (दो० ९९); चाँदनी पड़ते ही कुई खिल जाती है वैसे श्रीसीताजी के प्रिय भाषण से वे खिल उठीं, प्रसन्न हो गईं, उनका संकोच जाता रहा। कुईं रात में खिलती है, वैसे ही इन सबकी भक्ति ही रात है, यथा—"राका रजनी भगति तव" (आ० दो० ४२), इनमें भक्ति, यथा—"लखी सीय सब प्रेम पियासी।" यही प्रेम-प्यास उत्तमाभक्ति है।

तबहिं लखन रघुबररुख जानी। पूछेउ मग लोगन्हि मृदुबानी॥५॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥६॥
मिटा मोद मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥७॥
समुझि करमगति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मग तिन्ह कहि दीन्हा॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेर सब प्रियबचन कहि, लिये लाइ मन साथ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामजी का रुख (इच्छा) जानकर श्रीलक्ष्मणजी ने कोमल वाणी से लोगों [से] मार्ग पूछा॥५॥ सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये, (क्योंकि समझ गये कि अब जायँगे) उनके [श]रीर पुलकित हो गये और आँखों में आँसू भर आये॥६॥ हृदय का आनंद मिट गया और वे मन से [म]लीन हो गये, मानों ब्रह्मा दी हुई निधि को छीन लेते हैं॥७॥ कर्म की (अकाट्य) गति को समझकर [उ]न्होंने धैर्य धारण किया और आपस में विचार करके सुगम (अच्छा) रास्ता उन्होंने बतला दिया॥८॥ [त]ब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ रघुनाथजी ने गमन किया; अर्थात् चल पड़े। (लोग साथ लग [ग]ये, अतः,) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया, पर उनके मन को अपने साथ लगा लिया॥११८॥

विशेष—(१) 'तबहिं लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी उत्तम सेवक हैं, इससे श्रीरामजी का रुख समझ[ते] हैं और तदनुसार ही कार्य करते हैं। 'पूछेउ मगु'—वाल्मीकि-आश्रम होते हुए चित्रकूट का मार्ग पूछा। [बि]धि निधि दीन्ह ···'—क्योंकि संयोग-वियोग के विधान में ब्रह्मा का ही अधिकार है; यथा—"जो बिधि

पस अस बनइ सँजोगू ।" (बा० दो० २२१) । ब्रह्माजी कर्म के अनुसार ही कार्य करते हैं। अतएव कर्म की गति को समझा कि जिस कर्म ने इनके आश्चर्य-दर्शन दिलाये, वही वियोग भी देता है तो सहना ही चाहिये। पुनः कर्म ने तो इनको माता-पिता से भी अलग कर दिया तो हम क्षणिक संयोग के सम्बन्ध से क्यों व्याकुल हों ? 'सोधि सुगम मग' अर्थात् वहाँ से कई मार्ग उधर को गये थे, उनमें जो अच्छा था उसे सबों ने निर्णय करके उसके चिह्नों को कह दिया। 'प्रिय बचन कहि'—जैसे श्रीसीताजी ने उपर्युक्त मधुर वचन स्त्रियों से कहा था। 'लिये लाइ मन साथ'—वे तन-मात्र ले लौटे, पर मन उनका श्रीरामजी में ही अनुरक्त हो गया, वे श्रीरामजी की ही ध्यान-वार्ता आदि करते हैं।

फिरत नारिनर अति पछिताहीं। दैवहि दोष देहिं मन माहीं ॥१॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधिकरतब उलटे सब अहहीं ॥२॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥३॥
रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा ॥४॥

अर्थ—लौटते हुए स्त्री-पुरुष अत्यन्त पछताते हैं और मन में दैव (विधाता) को दोष देते हैं ॥१॥ आपस में दुःख कहते हैं कि ब्रह्मा के सभी कार्य उल्टे हैं ॥२॥ वह बड़ा ही (बिल्कुल) स्वतंत्र, निर्दय और निडर है जिसने चन्द्रमा को रोगी और कलंकी बनाया ॥३॥ कल्पवृक्ष को वृक्ष (जड़, स्थावर) और समुद्र को खारा बनाया; उसीने राजकुमारों को वन भेजा ॥४॥

विशेष—(१) 'सहित बिषाद परसपर ···'—विषाद-वश आर्त्त हैं, इसीसे दैव को दोष देते हैं यथा—"लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर-नारी । अति बरषे अनबरषेहूँ देहिं दैवहिं गारी ॥" (वि० १४ 'निपट निरंकुस निठुर···'—हाथी अंकुश के वश होकर सीधा चलता है, वैसे ही इसे भी किसी का अंकुश (दबाव-शासन) होता तो अन्याय न करता । निष्ठुर है, दया होती तो दूसरों के दुःख पर दुखी होता निःशंक है, किसी की शंका होती, तो सोच-समझकर कुछ करता । देखो तो भला, जो चन्द्रमा अमृत स्रवता (टपकाता) है, आह्लादकारक एवं सबको प्रिय है उसे रोगी और कलंकी बनाया है (चन्द्रमा के बीच में जो श्याम-चिह्न है उसपर ही रोग एवं और भी बहुत-सी कल्पनाएँ होती हैं, लं० दो० ११-१२ देखिये। गुरु-अपमान से कलंकी हुआ) । कल्पवृक्ष सुजान है, वह सबके मन की जानकर अर्थ, धर्म और काम देता है, ऐसे बड़े दाता को जड़-स्थावर बनाया । समुद्र जो रत्नों की खान है और मेघ-द्वारा उसीसे जगत् का जीवन रहता है उसे खारा कर दिया, जिससे प्रत्यक्ष में किसी के काम का न रहा । नाम तो विधि है, पर करता अविधि है उसी स्वभाव से उसने इन राजकुमारों को भी वन भेजा॥

जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू । कीन्हि बादि बिधि भोगबिलासू ॥५॥
ये बिचरहि मग बिनु पदत्राना । रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥६॥
ये महि परहिं डासि कुस-पाता । सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥७॥
तरुबर बास इन्हहि बिधि दीन्हा । धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥८॥

दोहा—जौ ये मुनि-पट-धर जटिल, सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन-बसन, बादि किये करतार ॥११९॥

जौ ये कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं ॥१॥

अर्थ—जो ब्रह्मा ने इन्हें वनवास दिया, तो उसने भोग-विलास व्यर्थ ही बनाया ॥५॥ ये बिना जूते के मार्ग में चल रहे हैं, तो ब्रह्मा ने अनेक सवारियाँ व्यर्थ ही बनाईं ॥६॥ ये भूमि पर कुश और पत्ते बिछाकर रहते हैं, तो सुन्दर शय्या ब्रह्मा क्यों बनाते हैं ? ॥७॥ इन्हें ब्रह्मा ने पेड़ों के नीचे (ठहरने का) वास-स्थान दिया, तो उसने सुन्दर स्वच्छ महल रच-रचकर परिश्रम ही तो किया है ! ॥८॥ ये अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार (राजकुमार) जो मुनियों के वल्कल वस्त्र और जटाएँ धारण करते हैं, तो फिर कर्त्तार (ब्रह्मा) ने तरह-तरह के भूषण-वस्त्र व्यर्थ ही बनाये ॥११९॥ जो ये कंद-मूल-फल खाते हैं, तो संसार में अमृत (सरीखे स्वादिष्ट) भोजन आदि व्यर्थ ही हैं ॥१॥

विशेष—'यहाँ प्रथम समष्टि में—'बादि कीन्ह बिधि भोग-बिलासू' कहा, फिर पृथक्-पृथक् भोगों को गिनाया और जिस पदार्थ का जो पात्र है, उसे वह मिलना चाहिये, अयोग्य को नहीं। इनसे बढ़कर भोग्य-पदार्थों का योग्य पात्र संसार में नहीं दीखता, जब ये भोग इन्हें न मिले, तो व्यर्थ ही हैं। इससे तो विधि के कर्त्तव्य अविधि-रूप में ही देखे जाते हैं।

सम्बन्ध—ऊपर उनके वचन कहे गये, जो इन्हें ब्रह्मा के रचे हुए मानते हैं। आगे उनके वचन कहे जायँगे, जो युक्ति से इन्हें विधाता की सृष्टि से भिन्न सिद्ध करते हैं—

एक कहहिं ये सहज सुहाये। आप प्रगट भये बिधि न बनाये ॥२॥
जहँ लगि बेद कही बिधिकरनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥३॥
देखहु खोजि भुवन दसचारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥४॥
इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा ॥५॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आये। तेहि इरिषा बन आनि दुराये ॥६॥

शब्दार्थ—ऐक=ऐक्य=समानता, सादृश्य; वा अन्दाजा।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि ये तो स्वाभाविक (भूषण-वस्त्र बिना) ही शोभायमान हैं, ये आप ही प्रकट हो गये हैं, ब्रह्मा ने इन्हें नहीं बनाया ॥२॥ (क्योंकि) वेदों ने जहाँ तक ब्रह्मा की करनी कही हैं, वे सब कानों, नेत्रों और मन आदि इन्द्रियों के विषय रूप में कही गई हैं ॥३॥ चौदहो भुवनों में ढूँढ़कर देखो, तो ऐसा पुरुष कहाँ है और कहाँ ऐसी स्त्री ? ॥४॥ इन्हें देखकर ब्रह्मा का मन अनुरक्त हो गया (लुभा गया) तब वह इनकी समता के योग्य बनाने लगा ॥५॥ बहुत परिश्रम किया, पर ये उसके अन्दाज ही में न आये (कि इन्हें कैसे बनावें ?), इसी ईर्ष्या के कारण(उस ब्रह्मा ने)इन्हें वन में लाकर छिपा दिया ॥६॥

विशेष—(१) 'आप प्रगट भये······'—यही यथार्थ है, यथा—"इच्छामय नर बेष

होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१) ; 'जहँ लगि बेद कही···'—अर्थात् ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि श्रवण, नेत्र और मन के विषय-रूप में ही है। अतः, इन तीन साधनों से जानी जाती है। 'देखहु खोजि·····'—श्रवण से सुनकर, आँख से देखकर, और मन से अनुमान करके चौदहो भुवन देख सकते हो, ढूँढ़ सकते हो, कहीं भी इनके समान स्त्री-पुरुष नहीं हैं। बस, इससे ही निश्चय है, ये ब्रह्मा के रचे हुए नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मा की रचना में कोई भी पदार्थ एक समान का एक ही नहीं होता, किंतु प्रत्येक की गिनती अनन्त है। यथा—"दानो बिधि गौरो हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिखो ॥ चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥ तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चख चारिखो। रमा रमा-रमन सुजान हनुमान कही, 'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो' ॥" (क० बा० १६)।

(२) 'इन्हहि देखि बिधि ·····'—ब्रह्मा ने इनके तुल्य बनाने का श्रम किया, किंतु ढाँचा न बन सका, तब उसे ईर्ष्या हो गई कि ये नगर (बस्ती) में रहेंगे, तो देख-देखकर लोग हमें हँसेंगे कि इस ब्रह्मा से ऐसे व्यक्ति नहीं बन सकते, इसलिये उसने अपनी शक्ति सरस्वती के द्वारा षड्यंत्र रचकर इन्हें वन में लाकर छिपा दिया। "इन्हहि देखि·····" से "तेहि इरिया·····" तक अविद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

दोहा—येहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि हम बहुत (युक्ति-अनुमान आदि की बातें) नहीं जानते, किंतु अपनेको परम धन्य (पुण्यवान्) करके मानते हैं ॥७॥ और हमारे लेखे (विचार) में वे भी पुण्यवान् हैं, जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है ॥८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर आँखों में आँसू भर लेते हैं (और कहते हैं कि) कठिन मार्ग में अत्यन्त सुकुमार शरीर से ये कैसे चलेंगे ? ॥१२०॥

नारि सनेह - बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं ॥१॥
मृदु - पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचित महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥
जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥४॥
जौ माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखियहि सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेह के वश व्याकुल होती हैं, मानों संध्या समय चकवी (भावी वियोग के कारण दुःखी) शोभित हैं ॥१॥ इनके चरण-कमल कोमल हैं और मार्ग कठिन है, ऐसा जानकर वे व्याकुल

हृदय से श्रेष्ठ वाणी कह रही हैं ॥२॥ इनके लाल कोमल चरणों का स्पर्श होते ही पृथिवी ऐसी सकुचाती है, जैसे हमारे हृदय सकुच रहे हैं ॥३॥ जो जगदीश (ब्रह्मा) ने इन्हें वनवास ही दिया, तो मार्ग को पुष्पमय क्यों न कर दिया ? ॥४॥ यदि ये ब्रह्मा से माँगने पर मिलें, तो हे सखी ! ये आँखों में रख लिये जायँ ॥५॥

विशेष—(१) 'नारि सनेह बिकल बस···'—ऊपर पुरुषों का स्नेह कहा गया। यहाँ से स्त्रियों की स्नेह-वार्ता कहते हैं कि वे प्रेम वश व्याकुल हो रही हैं। चकवी की उत्प्रेक्षा करते हैं कि जैसे यह संध्या समय पति के वियोग-दुःख से दुखी हो। वैसे श्रीरामजी के वियोग में ये सब दुखी हैं। इसीसे इनका शोभित होना कहा गया। यथा—"जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चन्द बिराजा॥" (दो० १४७)। श्रीरामजी के वियोग एवं विरह में दुखी होने में मनुष्य की शोभा है। पुनः चकवी को वियोग-शृंगार का दुःख रहता है। वैसे इन्हें श्रीरामजी को वियोग का दुःख है। श्रीरामजी पतियों के भी परम पति हैं; यथा—"पतिं पतीनां परमं···" (श्वेता० ६।७); अतएव विप्रलंभ शृंगार की दृष्टि से दुखी होने में भी शोभा है।

(२) 'सकुचति महि जिमि···'—पृथिवी भी सकुचती है कि मैं बड़ी कठोर हूँ। जैसे हमारा हृदय सकुच रहा है कि ऐसे प्रिय के वियोग पर यह फट क्यों न गया ?

(३) 'जौं माँगा पाइय बिधि···'—जब एक ने कहा—'कस न सुमन मय मारग कीन्हा।' तब इसने पुष्पों को भी इनके योग्य कोमल न समझकर आँखों में रखना कहा, हृदय में रखना न कहा। क्योंकि उसे तो कठोर कह चुकी है। यह भी भाव है कि इसे ध्यान दर्शन अभीष्ट नहीं, किन्तु चाहती है कि प्रत्यक्ष बराबर आँखों से देखा करूँ। यह भी आँख में रखना है। आँख श्याम-गौर वर्ण है; वैसे वर्ण इन के भी हैं।

सम्बन्ध—यहाँ तक दर्शकों का हाल कहा, आगे उन्हें कहते हैं, जो समय पर न पहुँचे थे—

जे नर नारि न अवसर आये। तिन्ह सियराम न देखन पाये ॥६॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गये कहाँ लगि भाई ॥७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम-फल पाई ॥८॥

दोहा—अबला बालक बृद्धजन, कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं ॥१२१॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष समय पर नहीं पहुँचे, उन्होंने श्रीसीताजी और श्रीरामजी को न देख पाया ॥६॥ वे उनके सुन्दर रूप को सुनकर व्याकुल होकर पूछते हैं कि हे भाई ! अब तक वे कहाँ पर्यंत गये होंगे ? ॥७॥ जो समर्थ हैं वे दौड़ते हुए जाकर देखते हैं और जन्म लेने का फल पाकर प्रकर्ष आनंदित होकर लौटते हैं ॥८॥ स्त्रियाँ, छोटे लड़के और बुड्ढे लोग हाथ मलते और पछताते हैं। इसी तरह जहाँ-जहाँ श्रीरामजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ के लोग प्रेम-वश होते हैं ॥१२१॥

विशेष—(१) 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।'—ये मन, वचन, कर्म से भक्त हैं—'बूझहिं अकुलाई'—वचन, 'धाइ बिलोकहिं'—कर्म और 'प्रमुदित फिरहिं' यह मन की भक्ति है। 'अबला बालक

होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१); 'जहँ लगि बेद कही…'—अर्थात् ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि श्रवण, नेत्र और मन के विषय-रूप में ही है। अतः, इन तीन साधनों से जानी जाती है। 'देखहु खोजि……'—श्रवण से सुनकर, आँख से देखकर, और मन से अनुमान करके चौदहो भुवन देख सकते हो, ढूँढ़ सकते हो, कहीं भी इनके समान स्त्री-पुरुष नहीं हैं। बस, इससे ही निश्चय है, ये ब्रह्मा के रचे हुए नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मा की रचना में कोई भी पदार्थ एक समान का एक ही नहीं होता, किंतु प्रत्येक को गिनती अनन्त है। यथा—"बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिखो ॥ चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥ तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चख चारिखो। रमा रमा-रमन सुजान हनुमान कही, 'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो' ॥" (क० बा० १६)।

(२) 'इन्हहि देखि बिधि ……'—ब्रह्मा ने इनके तुल्य बनाने का श्रम किया, किंतु ढाँचा न बन सका, तब उसे ईर्ष्या हो गई कि ये नगर (बस्ती) में रहेंगे, तो देख-देखकर लोग हमें हँसेंगे कि इस ब्रह्मा से ऐसे व्यक्ति नहीं बन सकते, इसलिये उसने अपनी शक्ति सरस्वती के द्वारा षड्यंत्र रचकर इन्हें वन में लाकर छिपा दिया। "इन्हहि देखि……" से "तेहि इरिषा……" तक असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

दोहा—येहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि हम बहुत (युक्ति-अनुमान आदि की बातें) नहीं जानते, किंतु अपनेको परम धन्य (पुण्यवान्) करके मानते हैं ॥७॥ और हमारे लेखे (विचार) में वे भी पुण्यवान् हैं, जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है ॥८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर आँखों में आँसू भर लेते हैं (और कहते हैं कि) कठिन मार्ग में अत्यन्त सुकुमार शरीर से ये कैसे चलेंगे ? ॥१२०॥

नारि सनेह - बिकल बस होहीं। चकईं साँझ समय जनु सोहीं ॥१॥
मृदु - पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचित महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥
जौं जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥४॥
जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखियहि सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेह के वश व्याकुल होती हैं, मानों संध्या समय चकवी (भावी वियोग के कारण दुःखी) शोभित हैं ॥१॥ इनके चरण-कमल कोमल हैं और मार्ग कठिन है, ऐसा जानकर वे व्याकुल

हैं ॥७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकों की सुहावनी कथा सब मार्ग और वन में छा गई ॥८॥ इस तरह मार्ग के लोगों को सुख देते हुए रघुकुल रूपी कमल के (प्रफुल्ल करनेवाले) सूर्य श्रीरामजी श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वन को देखते हुए चले जाते हैं ॥१२२॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु धन्य···'—यहाँ धन्य शब्द प्रशंसा परक साधुवाद में है।

(२) 'सुख पायेउ विरंचि···'; यथा—"जिन्हहिं विरचि बड़ भयउ विधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।" (बा० दो० १५); 'सब भाँति सनेही'; यथा—"स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (दो० १३०)।

(३) 'येहि विधि रघुकुल-कमल······'—सूर्य ब्रह्मांड-भर के प्रकाशक हैं, पर कमल के विशेष; वैसे ही श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर के सुखद हैं, पर रघुकुल के विशेष। ऊपर 'भानुकुल कैरव चंदू' कहा और यहाँ 'रघुकुल कमल रवि'। इस तरह चंद्र और सूर्य दोनों के समान कहा और जगत् का पूर्ण हितैषी जनाया; यथा—"जगहित हेतु बिमल विधुपूषन।" (बा० दो० १६) ; इनमें एकत्र ही दोनों के गुण जनाये। किसी को चन्द्रमा से दुःख तो किसी को सूर्य से दुःख होता है, पर ये सबको सुखद ही हैं। पुनः श्रीरामजी रातो-दिन एक-रस सुख देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्रमा में एक दिन और एक रात ही में सुखद होता है।

(४) "कहहिं एक अति भल नर नाहू।" से "धन्य सोइ ठाऊँ॥" तक शांत-रस पूर्ण वृद्धाओं की बातें हैं और 'सुख पायेउ विरंचि···'—यह शृंगार-रस-पूर्ण स्त्रियों की वार्ता है।

आगे राम लखन बने पाछे। तापसवेष विराजत काछे ॥१॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म - जीव - बिच माया जैसे ॥२॥
बहुरि कहउँ छवि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई ॥३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ॥४॥

शब्दार्थ—काछे (सं० कच्छ)=बनाना, सँवारना, पहनना—"गौर किसोर बेष बर काछे।" (बा० दो० २२०)

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी सजे हैं, तपस्वी का वेष बनाये हुए सुशोभित हैं ॥१॥ दोनों के बीच में श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया ॥२॥ इसी छवि को फिर से मैं कहता हूँ जैसी मेरे मन में बसती है, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों वसन्त और कामदेव के मध्य में रति शोभित हो ॥३॥ हृदय में टटोलकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी सोह रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'आगे राम लखन ···· '—'विराजत' अर्थात् तपस्वी-वेष से पूर्ण हैं, वल्कल आदि से सजे हुए महा मुनिश्वरों की तरह सुशोभित हैं।

(२) 'उभय बीच सिय······'—ब्रह्म, जीव, माया उपमान, राम-लक्ष्मण सीता उपमेय, कैसी-जैसी वाचक और 'सोहइ' यह धर्म है। उपमा के वर्णन में कवि का प्रयोजन उसके धर्म से रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। ऊपर की अर्द्धाली में श्रीराम-लक्ष्मणजी की शोभा कही गई, इसमें श्रीसीताजी को शोभा कहते हैं। माया का अर्थ यहाँ ज्ञान (चित् शक्ति) और कृपा का है, यथा—"माया दम्भे कृपायाञ्च" प्रमाण—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६६); पुनः 'माया वयुन ज्ञान' ये

हृद्ध '-'अबला'—का अर्थ स्त्री तो है ही, परन्तु दूसरा अर्थ बल-हीन का भी है। आशय यह है कि ग्रामीण स्त्रियों में भी जो समर्थ हैं, वे दौड़कर जाकर देखती हैं। ऊपर "जे नर-नारि न अवसर आये।" का प्रसंग भी है। अतः, अबला शब्द से यहाँ वे ही स्त्रियाँ हैं; जो सुकुमारता या रोग आदि किसी कारण से असमर्थ हैं और दौड़ कर नहीं जा सकतीं। 'कर मीजहिं'—कर्म से, 'पछिताहिं'—वचन से और 'होहिं प्रेम बस'—मन से उनका भक्ति करना है। 'होहिं प्रेम बस' को दीप-देहली न्याय से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में लगाना चाहिये।

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल-कैरव-चंदू ॥१॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप-रानिहि दोष लगावहिं ॥२॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिं जेइ लोचनलाहू ॥३॥
कहहिं परसपर लोग लोगाई। बातैं सरल सनेह सुहाई ॥४॥

अर्थ—सूर्यवंश रूपी कुई को (प्रफुल्ल करने के लिये) चन्द्रमा (रूप-श्रीरामजी) को देखकर गाँव-गाँव में ऐसा ही आनन्द हो रहा है ॥१॥ जो लोग कुछ भी समाचार (वनवास होने का) सुन पाते हैं, वे राजा-रानी को दोष लगाते हैं ॥२॥ कोई कहते हैं कि राजा अत्यन्त भले हैं कि जिन्होंने हमें नेत्रों के लाभ दिये ॥३॥ स्त्री-पुरुष आपस में सरल (सीधी) प्रेम युक्त सुहावनी बातें कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गाँव-गाँव अस ...'—जैसा एक गाँव का आनंद कहा गया जितने गाँव मार्ग में पड़ते हैं सबमें वैसा ही आनंद होता जाता है। 'भानु कुल कैरव ...'—चन्द्रमा संसार भर को प्रकाश एवं आनंद देता और शीतल करता है; पर कुई का विशेष हितैषी है। वैसे ही श्रीरामजी संसार भर के हितैषी हैं; पर कुल के सत्य-व्रत रक्षा से विशेष हितकर हैं।

(२) 'कहहिं परसपर लोग लोगाई।' अर्थात् पुरुष पुरुष से, स्त्री स्त्री से। 'सरल' और 'सनेह' युक्त होने से बातों को 'सुहाई' कहा है।

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगर जहाँ ते आये ॥५॥
धन्य सो देस सैल बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ ॥६॥
सुख पायेउ बिरंचि रचि तेही। ये जेहिके सब भाँति सनेही ॥७॥
राम-लखन-पथि-कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि रघुकुल-कमल-रवि, मग-लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन, सिय-सौमित्रि-समेत ॥१२२॥

अर्थ—धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्होंने इन्हें पैदा किया और धन्य है वह नगर जहाँ से ये आये हैं ॥५॥ धन्य है वह देश, पर्वत, वन और गाँव, ये जहाँ-जहाँ से होते हुए आते हैं। वही-वही स्थान धन्य है जहाँ-जहाँ ये जाते हैं ॥६॥ ब्रह्माजी ने उसी को बनाकर सुख पाया है, जिसके ये सब प्रकार से स्नेही

हैं ॥७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकों की सुहावनी कथा सब मार्ग और वन में छा गई ॥८॥ इस तरह मार्ग के लोगों को सुख देते हुए रघुकुल रूपी कमल के (प्रफुल्ल करनेवाले) सूर्य श्रीरामजी श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वन को देखते हुए चले जाते हैं ॥१२२॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु धन्य···'—यहाँ धन्य शब्द प्रशंसा परक साधुवाद में है।

(२) 'सुख पायेउ बिरंचि···'; यथा—"जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।" (बा० दो० १५); 'सब भाँति सनेही'; यथा—"स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (दो० १३०)।

(३) 'येहि बिधि रघुकुल-कमल······'—सूर्य ब्रह्मांड-भर के प्रकाशक हैं, पर कमल के विशेष; वैसे ही श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर के सुखद हैं, पर रघुकुल के विशेष। ऊपर 'भानुकुल कैरव चंदू' कहा और यहाँ 'रघुकुल कमल रवि'। इस तरह चंद्र और सूर्य दोनों के समान कहा और जगत् का पूर्ण हितैषी बताया; यथा—"जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।" (बा० दो० १९); इनमें एकत्र ही दोनों के गुण जनाये। किसी को चन्द्रमा से दुःख तो किसी को सूर्य से दुःख होता है, पर ये सबको सुखद ही हैं। पुनः श्रीरामजी रातो-दिन एक-रस सुख देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्रमा में एक दिन और एक रात ही में सुखद होता है।

(४) "कहहिं एक अति भल नर नाहू।" से "धन्य सोइ ठाऊँ॥" तक शांत-रस पूर्ण वृद्धाओं की बातें हैं और 'सुख पायेउ बिरंचि···'—यह शृंगार-रस-पूर्ण स्त्रियों की वार्ता है।

आगे राम लखन बने पाछे। तापसबेष बिराजत काछे॥१॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म-जीव-बिच माया जैसे॥२॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई॥३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥४॥

शब्दार्थ—काछे (सं० कक्ष)=बनाना, सँवारना, पहनना—"गौर किशोर बेष बर काछे।" (बा० दो० २२०)

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी सजे हैं, तपस्वी का वेष बनाये हुए सुशोभित हैं ॥१॥ दोनों के बीच में श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया ॥२॥ इसी छवि को फिर से मैं कहता हूँ जैसी मेरे मन में बसती है, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों वसन्त और कामदेव के मध्य में रति शोभित हो ॥३॥ हृदय में टटोलकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी सोह रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'आगे राम लखन ···· '—'बिराजत' अर्थात् तपस्वी-वेष से पूर्ण हैं, वलकल आदि से सजे हुए महा मुनिश्वरों की तरह सुशोभित हैं।

(२) 'उभय बीच सिय······'—ब्रह्म, जीव, माया उपमान, राम-लक्ष्मण सीता उपमेय, कैसी-जैसी वाचक और 'सोहइ' यह धर्म है। उपमा के वर्णन में कवि का प्रयोजन उसके धर्म से रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। ऊपर की अर्द्धाली में श्रीराम-लक्ष्मणजी की शोभा कही गई, इसमें श्रीसीताजी की शोभा कहते हैं। माया का अर्थ यहाँ ज्ञान (चित् शक्ति) और कृपा का है, यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च" प्रमाण—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६६); पुनः 'माया वयुन ज्ञान' ~

पर्याय शब्द हैं, प्रमाण—"सम्भवाम्यात्ममायया।" (गीता० ४।६); श्रीजानकीजी कृपामयी एवं चिद्रूपा हैं; यथा—"कृपा-रूपिणि कल्याणि राम-प्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥" (सीतोपनिषत्) तथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारया चिता।" (श्रीरा० पू० ता०)।

यहाँ नर-नाट्य की माधुर्य-दृष्टि से उपमा कही गई है, अन्यथा यह यथार्थ ही है कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलक्ष्मणजी नित्य शुद्ध जीव हैं, और श्रीजानकीजी ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपा-रूपिणी हैं।

ब्रह्म के पीछे कृपा-शक्ति (माया) और उसके पीछे जीव, तब उस जीव का ब्रह्म के द्वारा उद्धार कराने से इस माया की शोभा है। यही अर्द्धाली आ० दो० ६ में भी है। वहाँ भी देखिये। अलौकिक शोभा के लिये अलौकिक दृष्टान्त दिया गया है। यह दृष्टान्त शांत-रस का दिया गया। इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'जनु मधु-मदन-मध्य ···'—यहाँ बीच में रहने की और वर्णों की समता है, यह उपमा शृंगार-रस में कही गई।

(४) 'उपमा बहुरि कहउँ जिय·····'—बुध चन्द्रमा का पुत्र है, किंतु वह बृहस्पति की स्त्री तारा से उत्पन्न है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी श्रीसुमित्राजी के पुत्र हैं, पर छोटे भाई होने से वे श्रीरामजी को पिता के समान मानते हैं श्रीजानकीजी रोहिणी की तरह पतिव्रता भी हैं। इस तीसरी उपमा से सम्बन्ध-सहित बीच में रहना दिखाया गया है।

गी० अ० २४ में भी कहा है—"बीच बधू बिधु बदनि बिराजति उपमा कहँ कोउ है न। मानहुँ रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनाये हैं मैन॥ किधौं सिंगार सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग चित-बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन॥" इत्यादि और पदों में भी बीच की छवि कही गई है।

प्रभु - पद - रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥५॥
सीय - राम - पद - अंक बराये। लखन चलहिं मग दाहिन लाये॥६॥
राम-लखन - सिय - प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥७॥
खग मृग मगन देखि छवि होहीं। लिये चोरि चित्त राम बटोही॥८॥

दोहा—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ।
भव-मग-अगम अनंद तेइ, बिनु श्रम, रहे सिराइ॥१२३॥

शब्दार्थ—दाहिन लाये = प्रदक्षिणा करते हुए, यथा—"पंचवटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई।" (गी० अ० ११)। बराये = बचाये हुए। बराना = जानकर अलग करना। अगोचर = अविषय।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के चरण-चिह्नों के बीच-बीच में श्रीसीताजी अपना चरण रखती हैं और मार्ग में डरती हुई चलती हैं॥५॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के चरण-चिह्नों को बचाये हुए श्रीलक्ष्मणजी उसे दाहिने लगाकर मार्ग चलते हैं॥६॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी की सुन्दर प्रीति वचन की

इन्द्रिय (वाणी) का विषय नहीं है, तो वह कैसे कही जा सके ? ॥७॥ पक्षी-पशु छवि देखकर मग्न हो जाते हैं, राम-बटोही (राही पथिक) ने उनके भी चित्त को चुरा लिया है ॥८॥ जिन-जिन लोगों ने प्यारे पथिक श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के दर्शन किये, उन्होंने कठिन भव मार्ग (जन्म-मरण) को बिना परिश्रम के आनन्द-पूर्वक चुका डाला (तय कर डाला) ; अर्थात् फिर उन्हें भव में पड़ना न होगा ॥१२३॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-रेख······'—श्रीसीताजी पतिव्रता हैं, इसलिये पति के चरण-चिह्नों पर अपना चरण न पड़े, इसे डरती हुई बचाती जाती हैं। यह भी अभिप्राय है कि ये चिह्न बने रहेंगे तो और दर्शक भी देखकर कृतार्थ होंगे, जैसे कि आगे श्रीभरतजी को—"हरषहि निरखि राम-पद अंका।" (दो० २३७) ; कहा है। श्रीलक्ष्मणजी दोनों के चिह्न बचाते और उन्हें दाहिने देते हुए चलते हैं, यह इनकी धर्म-भीरुता है; यथा—"रीति चलिबे की चाहि प्रीति पहिचानि कै। आपनी-आपनी कहैं प्रेम पर बस अहैं मंजु मृदु वचन सनेह-सुधा सानि कै॥ साँवरे कुँवर के चरन के चराइ चिह्न बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै। जुगल-कमल-पद-अंक जोगवत जात गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै॥ उनकी कहनि नीकी, रहनि लखन सी की, तिन्हकी गहनि जे पथिक उर आनि कै। लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन, होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै॥" (गी० अ० ३१)।

(२) 'खग मृग मगन देखि······'—बटोही-रूप में शृंगार-रहित हैं, तो भी खग-मृग आदि तक के चित्त को चुराये लेते हैं, वे सब इनकी शोभा पर जड़ के समान हो रहे हैं। 'बटोही' पद हलका है, पर कवि कहते हैं, क्योंकि सब लोग एवं खग-मृग आदि भी इनकी छवि पर मुग्ध हो रहे हैं और ये किसी की प्रीति पर ध्यान न देकर अपने बाट चलने से प्रयोजन रखते हैं। अतः, उन सबके पक्ष से कवि आपको बटोही कहते हैं। 'चोरि चित' के साहचर्य से चोर बटोही भी कहे जायँगे, क्योंकि छवि-रूपी धतूरा आदि मादक वस्तुएँ पिलाकर सबके चित्त-रूपी धन हरते हैं।

(३) 'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक ······'—पथिकों पर प्रायः किसी का प्रेम नहीं होता, क्योंकि उनका संग कुछ क्षणों के लिये ही रहता है; पर इन पथिकों को तो जो देख भर लेता है, उसे ही ये प्रिय हो जाते हैं। फिर वह इन्हें आजन्म नहीं भूलता और इनके निरंतर-स्मरण से भव तर जाता है। 'जिन्ह-जिन्ह देखे'—भूतकाल के, 'अजहुँ' से वर्त्तमान काल के दर्शनों का फल कहा और 'काऊ' से भविष्य के दर्शनों का भी महत्त्व आगे कहते हैं। 'भव मग अगम'—चौरासी लाख योनियों में अनन्त काल तक काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के चक्कर में फिरना पड़ता है ; यथा—"आकर चारि···फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३); "भव मग अगम अनन्त है बिन श्रमहि सिरातो।" (वि० १५१) ; 'बिनु श्रम'—साधन चतुष्टय आदि एवं जप, तप, योग आदि के बिना किये ही।

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन-सिय राम बटाऊ ॥१॥
राम-धाम-पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥२॥
तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बट सीतल पानी ॥३॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई ॥४॥

अर्थ—आज भी जिसके हृदय में स्वप्न में भी कभी श्रीलक्ष्मण-सीता-रामजी बटोही (पथिक) बसें ॥१॥ वही राम-धाम के उस मार्ग को पा जायगा कि जिस मार्ग को कभी कोई-कोई मुनि पाते हैं ॥२॥

रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को थकी जाना, तब समीप में बरगद का पेड़ और शीतल जल देखकर ॥३॥ वहाँ कंद-मूल-फल खा (रात में) निवास कर प्रातःकाल स्नान करके श्रीरामजी चले ॥४॥

विशेष—(१) 'बटाऊ' अर्थात् शृंगार-युक्त ही ध्यान हो, सो नहीं, पुनः किसी देश-विशेष का नियम नहीं। 'आसु' अर्थात् किसी जाति-विशेष का नियम नहीं, 'काऊ' अर्थात् किसी काल-विशेष का नियम नहीं है। 'राम-धाम-पथ'—अर्थात् साकेत धाम का मार्ग, अर्चिरादि मार्ग (भगवत्प्राप्ति) वा, अविरल भक्ति।

(२) 'तब रघुबीर श्रमित······'—ये तो वीर हैं, इन्हें थकावट नहीं है। श्रीसीताजी को थकी जानकर रुके। चलने के सम्बन्ध से यहाँ भी 'रघुराई' कहा गया है।

मुख्य 'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन' प्रसंग

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकि-आश्रम प्रभु आये ॥५॥
राम दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन ॥६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले ॥७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥८॥

दोहा—सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर-आगमन मुनि, आगे आयेउ लैन ॥१२४॥

अर्थ—सुहावने वन, तालाब और पर्वत देखते हुए प्रभु वाल्मीकिजी के आश्रम पर आये ॥५॥ श्रीरामजी ने देखा कि मुनि का निवास-स्थान बड़ा सुहावना है। वहाँ के वन-पर्वत सुंदर हैं और जल पवित्र है ॥६॥ तालाबों में कमल, वन में वृक्ष फूले हुए हैं और सुन्दर भौंरे मकरंद में निमग्न गुंजार कर रहे हैं ॥७॥ पक्षी-पशु बहुत हैं और वे कोलाहल कर रहे हैं। पुनः वैर से विशेष रहित होकर आनंदित मन से विचर रहे हैं ॥८॥ पवित्र और सुन्दर आश्रम देखकर लाल कमल के समान नेत्रवाले श्रीरामजी हर्षित हुए। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी का आगमन सुनकर मुनि उन्हें लिवाने के लिये आगे आये ॥१२४॥

विशेष—(१) 'देखत बन सर सैल···'—वाल्मीकिजी के आश्रम की बाहरी सीमा दूर तक है। इसके बीच में वन, सर, शैल आदि हैं और समीप में भी जलाशय आदि हैं। इन सबसे तप और भजन के योग्य स्थल सूचित किया; यथा—"निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयेउ रमापति-पद-अनुरागा ॥" (बा० दो० १२४); अर्थात् भजन के लिये एकान्त गिरि-वन, भोजन के लिये फल-मूल आदि और स्नान-पान के लिये स्वच्छ जल, इत्यादि सब अनुकूलता है। 'बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये'—इन ज्ञानी मुनि की दृष्टि में आप प्रभु है, इसलिये 'प्रभु' कहा। औरों को तो नर देख पड़ते हैं।

(२) "सरनि सरोज बिटप···" से "कोलाहल करहीं।" तक में रमणीकता कही गई। "बिरहित बैर···'—से मुनि के भजन का प्रभाव सूचित किया; यथा—"सरिता सब पुनीत जल बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥ सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥ सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन राम-भगति के पाये ॥" (बा० दो० ६५)।

(३) 'सुचि सुंदर आश्रम'''—मुनियों का आश्रम पवित्र और सुहावन होता है, इसीसे वहाँ सभी का मन लगता है ; यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥" (बा० दो० ४३) ; "आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥" (बा० दो० १२८); "विश्वामित्र'''तबहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥" (बा० दो० २०५) ; "देखि परम पावन तव आश्रम। गयेउ मोह'''" (उ० दो० १३)।

(४) 'सुनि रघुबर आगमन'''—कोल-किरात आदि से अथवा, शिष्यों से सुना; तब मुनि अगवानी के लिये चले। इसी तरह प्रेम से और भी बड़े-बड़े ऋषियों ने अगवानी की है; यथा—"अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयेऊ। सुनत महामुनि हरषित भयेऊ॥ पुलकित गात अत्रि उठि धाये।" (आ० दो० २) ; अत्रिजी; "प्रभु-आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥ ''निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा'''" (आ० दो० ९–१०); सुतीक्ष्णजी, "सुनत अगस्त तुरत उठि धाये।'''" (आ० दो० ११), अगस्त्यजी।

मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा॥१॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहि आने॥२॥
मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाये। कंद मूल फल मधुर मँगाये॥३॥
सिय सौमित्रि राम फल खाये। तब मुनि आसन दिये सुहाये॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मुनि को दंडवत् की। विप्रश्रेष्ठ वाल्मीकिजी ने आशिष दी॥१॥ श्रीरामजी की छवि देखकर उनके नेत्र शीतल हुए। सम्मान करके आश्रम में ले आये॥२॥ मुनिश्रेष्ठ ने प्राण-प्रिय पाहुन को पाया। मीठे कंद-मूल-फल मँगाये॥३॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी ने फल खाया, तब मुनि ने सुन्दर आसन (बैठने को) दिया॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि कहँ राम दंडवत '''—यद्यपि मुनि श्रीरामजी को ब्रह्म जानते हैं, तथापि श्रीरामजी ने साष्टाङ्ग दंडवत् की, क्योंकि आपका धर्म-संस्थापन के लिये अवतार ही है। उनकी रुचि के अनुसार मुनि ने आशिष भी दी।। 'बिप्रबर'—क्योंकि ये प्रचेता के दशवें पुत्र हैं और भृगुवंशी हैं, इसीसे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं ; यथा—"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।" (वाल्मी० ७।९६।१८)।

(२) 'नयन जुड़ाने' अर्थात् अभी तक दर्शनों के लिये संतप्त थे। दर्शन पाकर शीतल हुए। इसीसे बार-बार निहारते हैं, यथा—"देखि राम छबि '''"; "मंगल मूरति नयन निहारी।"

(३) 'अतिथि प्रानप्रिय पाये'—ये तो प्राणी मात्र के प्रिय हैं, पर आज तो पाहुन रूप में आये हैं। इसीसे मधुर कंद-मूल-फल मँगाये। मुनि का प्रेम वात्सल्य भाव से है। ये श्रीजनकजी से सखाभाव मानते हुए श्रीजानकीजी को पुत्री की तरह मानते हैं। इसीसे भारी आनन्द एवं वात्सल्य में पहले आसन आदि पूजा विधि न करके मधुर भोजन ही कराने लगे। यथा—"जो मन भाव मधुर कछु खाहू।" (दो० ५१) ; यह कौशल्याजी ने कहा है। भोजन कराके तब आगे आसन देना कहा गया है। भरद्वाजजी के यहाँ पहले 'पूजि' कहा गया है। पर यहाँ केवल माधुर्य है। आगे भी 'राम', 'रघुबर' आदि माधुर्य ही नाम मुनि कहेंगे। 'प्रभु' आदि ऐश्वर्य के नाम भी न कहेंगे।

वालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नयन निहारी ॥५॥
तब कर-कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन-सुखदाई ॥६॥
तुम्ह त्रिकाल-दरसी मुनिनाथा। बिस्व-बदर जिमि तुम्हरे हाथा ॥७॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी ॥८॥

दोहा—तात-बचन पुनि मातुहित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य-प्रभाउ ॥१२५॥

अर्थ—मंगलमूर्त्ति को नेत्रों से देखकर वाल्मीकिजी के मन में भारी आनंद हुआ ॥५॥ तब श्रीरामजी कमल के समान हाथों को जोड़कर कानों को सुख देनेवाले वचन बोले ॥६॥ हे मुनिनाथ! आप त्रिकालज्ञ हैं (तीनों काल भूत-भविष्य-वर्त्तमान की बात जानते हैं), आपको जगत् हथेली पर रक्खे हुए वेर के समान है ॥७॥ ऐसा कहकर प्रभु ने सब कथाएँ कह सुनाईं, जिस-जिस तरह रानी ने वनवास दिया ॥८॥ पिता का वचन-पालन, माता का हित और भरत ऐसे भाई राजा हों; पुनः मुझे आपके दर्शन हों, हे प्रभो! यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है (अर्थात् इसमें कैकेयी का दोष नहीं है) ॥१२५॥

विशेष—(१) 'आनँद भारी'—क्योंकि अभी तक इस मूर्त्ति का ध्यान मात्र ही करते थे, आज वे ही प्रत्यक्ष आ गये; अतः, भारी आनंद हुआ; यथा—"निगम अगम मूरति महेस मति जुवति बरायबरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन पथ यक टक ते न टरी॥" (गी० बा० ५५); वा, अभी तक ब्रह्मानंद था, अब उसकी राशि प्राप्त हो गई, जैसा कि इनके शिष्य भरद्वाजजी के प्रसंग में कहा गया है—"मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंद रासि जनु पाई॥" (दो० १०५)।

(२) 'बोले बचन श्रवन सुखदाई।'—पहले नेत्रों को आनंद दिया, फिर मन को, अब श्रवण को सुख देंगे। मुनि की प्रशंसा करेंगे, जिससे अपनी अनुकूलता जनावेंगे। श्रीरामजी हाथ जोड़कर बोले हैं, क्योंकि अपना ऐश्वर्य छिपाना है, यह भी दिखाया कि हम भक्तों के अधीन रहते हैं।

(३) 'बिस्व-बदर जिमि तुम्हरे…'—'बदर' अर्थात् वेर, यहाँ झाड़ी का वेर लिया जायगा, क्योंकि वही पृथिवी की तरह गोलाकार होता है। हथेली पर रक्खे हुए वेर का सर्वांग देख पड़ता है; वैसे ही आप सब संसार की तीनों काल की बातें जानते हैं—यह मुनि का महत्त्व कहा।

(४) 'सब कथा बखानी'—बखानना कहकर आनंद-पूर्वक कहना सूचित किया, यह नहीं कि कैकेयीजी के कर्त्तव्य पर दुःख माना हो। पुनः बखानने का विस्तार-पूर्वक कहने का भी अर्थ है। इनसे विस्तार से कहा, क्योंकि इन्हें रामायण बनानी है।

(५) 'तात बचन पुनि मातु हित…'—'तात बचन' में धर्म, 'मातु हित' में काम, क्योंकि जो इन्हें कामना थी, वही माता ने वरदान माँगा है। 'भाइ भरत अस राउ' में अर्थ, क्योंकि चौदह वर्ष के पीछे लौटने पर श्रीभरतजी ने कोश को दश गुणा कर रक्खा था; यथा—"अवेक्षतां भवान्कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम्। भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया॥" (वाल्मी० ६।१२७।५६)। 'मो कहँ दरस तुम्हार' में मोक्ष की प्राप्ति है, क्योंकि संत के दर्शन एवं संग से मोक्ष होता है, यथा—"सत संग अपबरग कर" (उ० दो० ३३); इस तरह से चारो फलों की प्राप्ति कही, जो बड़े पुण्य के प्रभाव से ही होती है।

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे ॥१॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई ॥२॥
मुनि तापस जिन्हते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं ॥३॥
मंगलमूल बिप्रपरितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर-रोषू ॥४॥
अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ ॥५॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला। बास करउँ कछु काल कृपाला ॥६॥

अर्थ—हे मुनिराज! आपके चरणों के दर्शन करने से हमारे सब सुकृत सफल हुए ॥१॥ अब जहाँ आपकी आज्ञा हो, जहाँ किसी मुनि को उद्वेग (व्यग्रता) न हो ॥२॥ क्योंकि मुनि और तपस्वी लोग जिनसे दुःख पाते हैं, वे राजा बिना अग्नि के ही भस्म हो जाते हैं ॥३॥ ब्राह्मणों का संतोष मंगल का पैदा करनेवाला है और उन भूमि के देवताओं का कोप करोड़ों कुलों को जला डालता है ॥४॥ ऐसा हृदय में जानकर वही स्थान कहिये, जहाँ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ जाऊँ ॥५॥ वहाँ सुन्दर तृण और पत्तों की कुटी बनाकर, हे कृपालु! कुछ काल निवास करूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि उदबेग न…'—भाव यह कि आप यदि किसी मुनि का रमणीक आश्रम खाली करा के देंगे, तो मुनियों को उद्वेग होगा ही; अतः कहीं पृथक बतलाइये। क्योंकि जहाँ राजा रहते हैं, मृगया आदि करते हैं, इससे भी मुनियों को खेद होगा ही। उद्वेग का अर्थ आगे—'दुख लहहीं' से जनाया है।

(२) 'ते नरेस बिनु पावक दहहीं।'—अपने उपर्युक्त संकोच का कारण कहते हैं—यह शास्त्र का मत है कि ऐसे राजा लोग बिना अग्नि के भस्म हो जाते हैं। फिर हम तो अभी राजा भी नहीं हैं, तो हमसे यदि वैसा अपराध होगा, तो अत्यन्त अनुचित होगा; इससे हम डरते हैं।

(३) 'मंगलमूल बिप्र…'—जैसे विप्र वशिष्ठजी की प्रसन्नता से रघुकुल के बहुत-से मंगल हुए; यथा—"दलि दुख सजै सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥" (दो० २५४); अर्थात् हम विप्रों की प्रसन्नता चाहते हैं।

(४) 'दहइ कोटि कुल भूसुर…'—ऊपर विप्रों के दुःख देने का फल कहा था, अब उनके कुपित होने का फल कहते हैं कि जो वे कोप करें, तो करोड़ों कुल नाश हो जायँ, जैसे कोटि यदुवंशी जल मरे। भानु प्रताप सपरिवार नाश हुआ, सगर के पुत्र भस्म हुए। सहस्रबाहु अपने कुल और सजातीय कोटि-कुलों के साथ मारा गया। प्रमाण—"बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।" (उ० दो० १११); "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा॥" (कि० दो० १९); इत्यादि।

(५) 'अस जिय जानि…'—कि जिसमें हमारा मंगल हो और हम अमंगल से बचे रहें। 'कछु काल'—अर्थात् १ वर्ष पर्यंत, यद्यपि वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी के लौटने के पीछे ही श्रीरामजी का चित्रकूट से दंडकारण्य जाना कहा है, तथापि श्रीगोस्वामीजी ने चित्रकूट में सब ऋतुओं का विहार कहा है, इसीसे तो एक वर्ष कहा जा सकता है। या, कुछ ही काल रहकर दंडकारण्य जाऊँगा; यह भाव है।

सहज सरल सुनि रघुबर-बानी। साधु-साधु बोले मुनि ग्यानी ॥७॥
कस न कहहु अस रघुकुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुतिसेतू ॥८॥

छंद—श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचर-धनी
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर-अनी॥

सो०—राम सरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धि-पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह॥१२६॥

शब्दार्थ—अविगत=जो विगत न हो, जो जाना न जाय, नित्य—(हिन्दी-शब्द-सागर) अथवा, जो किसी से अलग नहीं, सबमें पूर्ण, सर्वव्यापक।

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की स्वाभाविक सीधी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि वाल्मीकिजी साधु! साधु! बोले॥७॥ हे रघुकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ)! आप ऐसा क्यों न कहें, अर्थात् ऐसा कहना आपके योग्य ही है, क्योंकि आप सदा वेद-मर्यादा के पालनेवाले हैं॥८॥ हे रामजी! आप वेद-मर्यादा के रक्षक हैं, जगत् के ईश्वर हैं और श्रीजानकीजी आपकी आदि शक्ति हैं, जो कृपानिधि (आप) का रुख पाकर जगत् को रचती, पालती और संहार करती हैं॥ जो हजार शिरवाले, पृथिवी के धारण करनेवाले सर्पों के स्वामी शेषनाग और चराचर जगत् के स्वामी हैं, वे श्रीलक्ष्मणजी हैं। देवताओं के कार्य के लिये मनुष्यों के राजा का शरीर धरकर, आप दुष्ट राक्षसों की सेना को नाश करने चले हैं॥ हे श्रीरामजी! आप का स्वरूप वाणी का विषय नहीं, बुद्धि से परे, नित्य एवं व्यापक, अकथनीय और अपार है। आपको वेद निरंतर 'नेति नेति' कहते हैं॥१२६॥

विशेष—(१) 'सहज सरल सुनि रघुबर-बानी'—श्रीरामजी ने जो ब्राह्मणों में भक्ति कही, वह यथार्थ है, ब्राह्मणों के वचन सत्य करने को आपने अपने प्रिय-पार्षद जय-विजय को वैकुंठ से मर्त्यलोक में गिराया, भृगु की लात तक सही, इत्यादि। इसीसे मुनि ने साधु-साधु (ठीक-ठीक) कहा है। 'रघुबर'—क्योंकि रघुवंशी सभी विप्र-भक्त होते आये हैं, आप तो इस विषय में बहुत श्रेष्ठ हैं।

(२) 'कस न कहहु अस रघुकुल···'—रघुवंशी सभी वेद-मर्यादा की रक्षा करते आये हैं, वैसे आप भी करते हैं। यहाँ सम-अलंकार का दूसरा भेद है। 'संतत'—माधुर्य पक्ष में कुल-परंपरा से, ऐश्वर्य पक्ष में मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपों से सदा वेद मर्यादा की रक्षा करते हैं।

यहाँ वाल्मीकिजी से स्थान पूछा है, क्योंकि ये रामायण (राम-अयन=रामजी का स्थान) के रचयिता होंगे, यथा—"रामायन जेहि निरमयेउ।" (बा० दो० १४); ऐसे ही पूर्व भरद्वाजजी से मार्ग पूछा है; क्योंकि वे परमार्थ-पथ के ज्ञाता हैं; यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४४); पुनः आगे अगस्त्यजी से मंत्र पूछेंगे—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही॥" (आ० दो० १२); क्योंकि वे मंत्र के प्रचारक हैं। (अगस्त्य-संहिता में राम-मंत्र की विस्तृत व्याख्या है।)

(३) 'श्रुति-सेतु-पालक राम···'—यहाँ ऐश्वर्य-वर्णन प्रसंग है; अतः, 'राम' नाम कहा। ऊपर श्रुति-

सेतु रक्षा-सम्बन्ध से 'रघुकुल केतू' कहा था, यहाँ 'जगदीस' भी कहा है। जगदीश का अर्थ भगवान् है; अर्थात् आप माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों तरह से जगत् की रक्षा करते हैं, वेद-मर्यादा का पालन करते हैं।

'माया जानकी'—माया का अर्थ कृपा ऊपर किया गया है, कृपा शब्द 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से निष्पन्न है। अत, सामर्थ्य एवं शक्ति तथा आदि शक्ति अर्थ यहाँ है; यथा—"आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥" (बा० दो० १५१)। (इसकी व्याख्या भी देखिये।) 'रुख पाइ' अर्थात् संकेतमात्र से; यथा—"लव-निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४); 'कृपानिधान'—यह श्रीजानकीजी ने स्वामी के लिये नियत संबोधन कर रक्खा है। अत:, इनके पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्ध में यह एवं इसका पर्यायवाची 'करुणानिधान' आदि ही शब्द आते हैं; यथा—"अतिसय प्रिय करुनानिधान की।" (बा० दो० १७); "सत्य सपथ करुनानिधान की।" (सुं० दो० १२); (वहाँ इस अपने ऐकान्तिक संबोधन को सुनकर विश्वास हो गया था) पुनः—"सरल प्रकृति आप जानिये करुनानिधान की।" (वि० ४२), इत्यादि।

यहाँ इस शब्द से जनाया कि एकान्त में बैठे हुए स्वामी की सृष्टि की इच्छा जानकर महारानीजी मूल प्रकृति-द्वारा इच्छा-मात्र से जगत् रचना कर देती हैं। इच्छा; यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३); सृष्टि रचना आदि भी जीवों पर कृपा-दृष्टि से होती है। इस सम्बन्ध से भी 'कृपा-निधान' कहा है।

(४) 'जो सहससीस अहीस···'—इस ग्रंथ में चार कल्पों की मिश्रित कथा है। किसी कल्प में श्रीलक्ष्मणजी शेषावतार हैं और किसी में साकेत-वासी श्रीलक्ष्मणजी स्वयं रूप से अवतीर्ण हैं। उपर्युक्त मूल अर्थ साकेत-विहारी परक है। दूसरे शेषावतारपरक भी इस तरह होगा कि जो सहस्र शीर्ष शेषनाग हैं, जो चराचर के स्वामी हैं। बा० दो० १९७ तथा बा० दो० २४६ चौ० १ भी देखिये। श्रीरामजी पालक, श्रीसीताजी रचनेवाली और श्रीलक्ष्मणजी धारण-कर्त्ता हैं; इस तरह तीनों को लेकर भी अंत में तीनों को 'सचराचर धनी' कहा जा सकता है।

(५) 'सुरकाज धरि नरराज तनु···'—ऊपर अवतार का कारण कहा; अब कार्य कहते हैं। 'दलन खल निसिचर' अर्थात् साधु निशाचर विभीषणादि को नहीं मारना है। यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ० दो० १८)।

(६) 'राम सरूप तुम्हार, बचन···'—आपका रूप, वचन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं; यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्ति० २।४); "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो॥" (कठ० ६।१२); तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०); जो वाणी और बुद्धि से नहीं जाना जाता, तो होगा ही नहीं, इसपर कहते हैं कि 'अविगत' अर्थात् व्यापक रूप से सबमें पूर्ण है, फिर कहकर प्रकट किया जाय? इस शंका पर कहते हैं कि वह 'अकथ्य' है, क्योंकि 'अपार'-है, तो कोई कहाँ तक कहेगा। अच्छा! मनुष्यों के लिये अपार होगा, पर वेद तो कहकर पार पाते होंगे, इसपर कहते हैं—'नेति नेति···'; यथा—"महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एक रस अहई॥" (बा० दो० ३४०)।

इस कांड में कुल १३ छंद हैं और सब २४-२५ दोहों पर हैं, (केवल एक में तापस-प्रसंग का एक दोहा अधिक है) उनमें इसी एक छंद में 'तुलसी' का संभोग नहीं है, क्योंकि यहाँ तुलसी (दासजी) स्वयं वाल्मीकि-रूप में कह रहे हैं, संवाद प्रकट है, तो 'तुलसी' क्यों लिखें? इस तरह ग्रंथकार ने अपने पूर्व

रूप का परिचय दिया है। तथा—"जनम जनम जानकी नाथ के गुन गन तुलसिदास गाये।" (गी० लं० ११); अर्थात् पूर्व शरीर में भी इन्होंने ही गाया है। बा० मं० १ भी देखिये।

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-संभु-नचावनिहारे ॥१॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा ॥२॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥३॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन ॥४॥

अर्थ—जगत् खेल (तमाशा) है। आप देखनेवाले हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश को नचानेवाले हैं ॥१॥ वे भी आपका मर्म (भेद) नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला हो सकता है ? ॥२॥ वही जानता है जिसे आप जना दें। आपको जानते ही आप (ब्रह्म) ही हो जाता है ॥३॥ हे भक्त-उर-चन्दन हे रघुनन्दन ! आप ही की कृपा से भक्त-लोग आपको जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जग पेखन तुम्ह···'—यहाँ कठ-पुतली के खेल का रूपक है—जगत् खेल है। तीनों गुण डोरी हैं और विधि, हरि, शंभु नचानेवाले हैं। आप देखते हैं; इसीलिये वे तीनों नचाते हैं कि आप प्रसन्न हों। पर आप किस खेल से प्रसन्न होते हैं ? यह मर्म वे भी नहीं जानते। यथा—"बिधि हरि हर ससि रबि दिसि पाला।···राम रजाइ सीस सबही के॥" (दो० २५१); "जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत ··" (सुं दो० २०)। जब वे तीनों आपके मर्म को नहीं जानते तो उनकी सृष्टि का कोई जीव कैसे जानेगा ? इसपर यह शंका होती कि तब तो ज्ञान-प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं; इसपर कहते हैं—

(२) 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।···'—अर्थात् शास्त्रों के द्वारा एवं अन्य किसी भी उपाय से अपनी कृपा द्वारा आपही अपने को जना दें तो कोई भी आपको जान सकता है। फिर—'जानत तुम्हहि तुम्हइ···'; यथा—"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुं० ३।२।९) अर्थात् ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। इसका भाव यह है—"यस्यात्मा शरीरम्" (बृह० ३।७।२२ ; माध्य० ५।७।२२) तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छां० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियाँ चिदचिदात्मक (जड़ चेतनात्मक) जगत् को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को उनका आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) अपने शरीर के प्रति आत्मा होने से 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देव हूँ' इस प्रकार अनुसंधान करता है; वैसे परमात्मा भी आत्माओं का आत्मा है। अतः, उपासक (जीव) अपने शरीरी उपास्य (ब्रह्म) के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अनुसंधान कर सकता है। यद्यपि जीवात्मा का शरीर जड़ है; अतः, वह अनुसंधान नहीं करता कि मैं जीवात्मा हूँ, तथापि यहाँ प्रत्यगात्मा तो चेतन है। अतः, वह अपने शरीरी ब्रह्म के प्रति 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुसंधान कर सकता है, यथा—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते। अहं वै त्वमसि भगवो देवते।" इस श्रुति का अर्थ है कि हे भगवान् ! हे दिव्य गुण विशिष्ट ! मैं आप हूँ और आप मैं हैं···। यह अनुसंधान प्रीति के प्रणय भाव में होता है। "मम तव, तव मम प्रणय यह।" कहा है; यथा—"तोर कोस गृह मोर सब" (लं० दो० ११५)। इस प्रकार की प्रणयात्मक उपासना से जीव में ब्रह्म के साधर्म्य (लक्षण) आ जाते हैं। यथा—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।" (गीता १४।२), साधर्म्य के आठ लक्षण हैं; यथा—"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य कामः सत्य संकल्पः ॥" (छां० ८।१।५) अर्थात् यह आत्मा निष्पाप, वृद्धतारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और

सत्यसंकल्प है। ये आठो लक्षण ब्रह्म में नित्य रहते हैं और जीव में इसके मुक्त होने पर नित्य धाम में प्राप्त होते हैं तो यह भी ब्रह्म संज्ञा से कहा जाता है। यही बात अगली अर्द्धाली के—'भगत-उर चंदन' विशेषण से घटित है।

जैसे चन्दन वृक्ष अपने तटस्थ वृक्षों को वायु-द्वारा अपना गंध-गुण पहुँचा कर चन्दन बना देता है, उन-उन वृक्षों के आकार-पत्ते आदि वही (पूर्व नामवाले वृक्षों के ही) रहते हैं। वे चन्दन के गंध-गुण-प्राधान्य से चन्दन कहाते हैं। इस तरह आम, नीम, बबूल-आदि भी 'चन्दन कहे जाते हैं। वैसे ही श्रीरामजी उपासकों—अर्थात् समीप रहकर प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवालों को—अनुग्रह-रूपी वायु से उपर्युक्त गुण देकर ब्रह्म संज्ञा भी प्राप्त कराते हैं।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त—'त्वं वा अहमस्मि ···' की रीति से प्रणय द्वारा तादात्म्य-भाव प्राप्त होने पर—'अहं ब्रह्मास्मि' का भी अनुसंधान होता है और मुक्त होने पर साधर्म्य प्राप्त जीव की ब्रह्म-संज्ञा भी होती है। पर उपर्युक्त रीति से उसमें जीव-भाव रहता ही है। जैसे चन्दन से हुए वृक्षों का रूप कह आये। अतः, जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं और इनका भेद वास्तविक है। जैसे कि ज्ञान की पराकाष्ठा सूर्य हैं। यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६); "ज्ञान भानुगत" (उ० दो० ११०) उन सूर्य रूप जीव का भी आत्मा एवं प्रेरक ब्रह्म कहा गया है। यथा—"यस्यादित्यः शरीरम्" (वृह० ३।७।९)। अतः, भेद है ही।

सम्बन्ध—श्रीरामजी की कृपा से भक्त लोग उन्हें किस तरह जानते हैं, यही आगे कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगतबिकार जान अधिकारी ॥५॥
नरतनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥६॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥७॥
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा ॥८॥

अर्थ—आपकी देह सच्चिदानंदमय है; विकाररहित है। अधिकारी ही जानते हैं ॥५॥ संतों और देवताओं के कार्य के लिये आपने मनुष्य-शरीर धारण किया है और प्राकृत (पाञ्चभौतिक देहधारी) राजाओं की तरह आप कहते और करते हैं ॥६॥ हे श्रीरामजी ! आपके चरितों को देख और सुनकर मूर्ख (आसुरी संपत्तिवाले) मोहते हैं और बुद्धिमान् सुखी होते हैं ॥७॥ आप जो कहते हैं और करते हैं, वह सब सत्य ही (यथार्थ ही) है; क्योंकि "जैसा काछ काछै वैसा नाच नाचै" (यह कहावत है; नर-शरीर धारणकर ऐसा ही कहना और करना चाहिये) ॥८॥

विशेष—(१) 'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'—ब्रह्म-विग्रह (देह) सहित सच्चिदानंद स्वरूप है; यथा—"विरराम महातेजः सच्चिदानन्द विग्रहः ॥" (श्रीरामस्तवराज); "सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥" (वाराहपुराण); और जीव केवल स्वरूप से सच्चिदानद रूप है। 'विकार'—जन्म, जरा, मरण एवं षड्विकार आदि। 'अधिकारी'—आगे के १४ स्थान संपन्न अथवा, आपके कृपापात्र—'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं ··जानहिं···' ऊपर कहा ही गया।

(२) 'नरतनु धरेहु संत-सुर···', यथा—"इच्छा-मय नर वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत

तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१); अर्थात् श्रीरामजी अपने नित्य किशोर रूप में इच्छानुसार बाल, पोगंड आदि अवस्थाएँ धारण करते और तदनुसार लीला करते हैं।

(३) 'राम देखि सुनि चरित'...—चरित एक ही है, पर उसी में जड़ मोहित होते और बुध (पंडित) सुखी होते हैं। जैसे कि एक ही जगत् को लोभी धनमय, कामी नारिमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखते हैं। अन्यत्र कहा भी है; यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ" (उ० दो० ७३) तथा—"उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धरम रति॥" (आ० दो० १) इत्यादि।

दोहा—पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥१२७॥

सुनि मुनिबचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने॥१॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअरस बोरी॥२॥

अर्थ—आपने मुझसे पूछा कि कहाँ रहूँ, और मैं यह पूछते हुए सकुचता हूँ कि जहाँ आप न हों वह स्थान बता दें तो मैं वही स्थान आपके लिये दिखा दूँ॥१२७॥ मुनि के प्रेमरस में साने हुए वचन सुनकर श्रीरामजी सकुचकर मन में हँसे॥१॥ वाल्मीकिजी हँसकर मीठी अमृत रस में डूबी हुई वाणी फिर बोले॥२॥

विशेष—(१) 'पूँछेहु मोहि कि'...—'सकुचाउँ' क्योंकि ऐसा करने में आपकी बराबरी होती है, प्रतिवादी बनता हूँ। 'जहँ न होहु' अर्थात् आप सर्वत्र ही तो हैं। 'सकुचि राम मन'...—क्योंकि आप ऐश्वर्य गुप्त रखते हुए लीला करना चाहते हैं, मन में मुस्कुराकर अपनी प्रसन्नता जनाते हैं। अपनी बड़ाई सुनकर सकुचना आपका स्वभाव है, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४)।

(२) 'बालमीकि हँसि'...—मुनि हँसे कि मुझे अभी स्मरण हो आया कि जहाँ-जहाँ आप नहीं हैं, उन-उन स्थानों को गिनाता हूँ, क्योंकि यदि आप वहाँ होते, तो वे सब तरसते क्यों? वाणी प्रेमपूर्ण है; अतएव, उसे अमृत-रस से बोरी हुई कहा है, क्योंकि प्रेम ही अमृत है। यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह..." (दो० २३८)।

चौदह स्थान प्रदर्शन

सुनहु राम अब कहहुँ निकेता। जहाँ बसहु सिय-लखन-समेता॥३॥
जिन्हके श्रवन समुद्र-समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥४॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥५॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! सुनिये, अब स्थान बतलाता हूँ, जहाँ, आप श्रीसीता और लक्ष्मणजी के साथ

निवास करें ॥३॥ जिनके कान समुद्र के समान हैं और आपकी कथारूपिणी अनेक सुंदर नदियों से सदा (अहर्निश = निरंतर) भरते ही रहते हैं, पर पूर्ण नहीं होते ; अर्थात् बराबर श्रद्धा बनी ही रहती है, उनके हृदय आपके लिये सुंदर घर हैं ॥४-५॥

विशेष—(१) यहाँ से १४ स्थान कहे जा रहे हैं, ये १४ प्रकार के भक्ति के अंग हैं। पहले ही—'जहँ बसहु सिय-लखन समेता।' कह दिया है। इसके अनुरोध से सर्वत्र आगे तीनों को ही समझना चाहिये। आगे प्रत्येक स्थान में छंदानुरोध से कहीं एक और कहीं दो ही नाम देंगे। भक्ति के वर्णन में प्रथम नवधा है; यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३)। इसमें प्रथम श्रवणभक्ति है, वाल्मीकिजी भी प्रथम इसी को कहते हैं।

(२) 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।···'—पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से व्यापक रूप से श्रीरामजी का सर्वत्र रहना कहा था। यहाँ से अब माधुर्य रूप से तीनों मूर्त्तियों के बसने के लिये स्थान कहते हैं। कान समुद्र के समान सदा अतृप्त रहते हैं, कथाएँ बड़ी-बड़ी नदियों के समान हैं, जो समुद्र तक गई हैं। यद्यपि—'रामायन सतकोटि अपारा' सुनते हैं, तथापि तृप्त नहीं होते। उनका ही हृदय सुंदर घर है। 'गृह रूरे'—वहाँ आपके लिये सब तरह के पदार्थों से सुपास है। यह प्रथम स्थान हुआ।

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूपबिंदु जल होहिं सुखारी॥७॥
तिन्हके हृदय-सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥८॥

दोहा—जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥१२८॥

अर्थ—जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रक्खा है, आपके दर्शन-रूपी मेघों के अभिलषित रहते हैं ॥६॥ भारी नदियों, समुद्रों और तालाबों का निरादर करते हैं और आपके दर्शनरूपी बूँदभर जल से ही सुखी होते हैं ॥७॥ उनके हृदय सुखदायक घर हैं। उनमें, हे रघुनायक! आप भाई और श्रीसीताजी के साथ बसिये ॥८॥ आपके यशरूपी निर्मल मानस-सरोवर में जिसकी जिह्वा हँसिनी-रूप होकर आपके गुण-समूह-रूपी मोती समूह को चुगती है, हे श्रीरामजी! आप उसके हृदय में निवास कीजिये ॥१२८॥

विशेष—(१) 'लोचन चातक जिन्ह करि ···'—चातक की अनन्यता; यथा—"आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधि द्विज। सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा॥ तृषितो म्रियते वापि याचते वा पयोधरम्।" (पद्मपुराण, पातालखंड अ० ५१) तथा—"एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास। एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥···" से "एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह ··" (दोहावली २७७-३१२) तक। अर्थात् वह गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियों और मानस-सर आदि पवित्र तालाबों और सातों समुद्रों तक के जल का निरादर करके शरदऋतु के स्वाती नक्षत्र के जल का बूँद-मात्र ग्रहण करता है। वैसे आपके अनन्य भक्त निर्गुण ब्रह्मरूपी सिंधु, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पा

भारी-भारी नदियों और सब धर्मरूपी तालाबों का निरादर कर आपके अहर्निश दर्शनरूपी स्वाती की झड़ी के अभिलाषी रहते हैं; क्षणिक दर्शनरूपी एक बूँद भी पाकर सुखी हो जाते हैं। उदाहरण, सरित—"रिधि-सिधि संपति नदी सुहाई।" (दो० १), सिंधु—"जो आनंद-सिंधु सुखरासी।" (बा० दो० १९६); "आनँद सिंधु मध्य तव बासा॥ बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६); (अन्य भगवद्रूप सगुण ब्रह्म की अवस्था मात्र हैं और सब देवता अंग हैं। साधक को यह दृष्टि रहने से वे अनन्यता के बाधक नहीं होते।) 'सर'—"धरम तड़ाग ···" (उ० दो० ३०)।

अनन्य भक्तों ने इन्हें त्यागा भी है; यथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ॥" (दो० १८५); तथा पूर्वोक्त—"रिधिसिधि संपति नदी···", "सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी॥" (दो० १) पर कहा गया कि ऋद्धि आदि की उपेक्षा करके पुरवासी केवल राममुख-चंद्र के दर्शन पर ही सुखी हैं, यह ऋद्धि-सिद्धि संपत्ति रूपिणी नदियों का त्यागना है। "इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥" (बा० दो० २१५)। यह निर्गुण ब्रह्म का त्यागना है। "सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥" (दो० २९०) यह सब धर्मरूपी तालाब का त्यागना है।

यहाँ नेत्र-इन्द्रिय को भक्ति में लगाने को रूपा-सक्ति कही गई। यह दूसरा स्थान कहा गया।

(२) 'जस तुम्हार मानस बिमल······'—यश मानस-सर है; जिह्वा हंसिनी है; उदारता, सुशीलता, धीरता, कृपालुता आदि गुण मोती के समूह हैं, गान, कीर्तन आदि चुगना हैं, यद्यपि यश-रूपी मानस में गुण-गण मोती के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं, तथापि अनन्य भक्त लोग गुण-गण-रूपी मोतियों को ही ग्रहण करते हैं। 'मुकुताहल'; यथा—"बिथुरे नभ मुकुताहल तारा।" (लं० दो० ११); यहाँ वाणी का लगना एवं कीर्त्तन भक्ति है। यह तीसरा स्थान हुआ।

प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥१॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु-प्रसाद पट-भूषन धरहीं॥२॥
सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीतिसहित करि बिनय बिसेखी॥३॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा॥४॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥५॥

अर्थ—जिनकी नासिका नित्य आदरपूर्वक आपकी प्रसादित पवित्र-सुन्दर-सुगंध (फूल, तुलसी, अतर आदि) सूँघती है॥१॥ जो आपको अर्पण किया हुआ भोजन करते हैं, आपका प्रसाद वस्त्र-भूषण धारण करते हैं॥२॥ देवता, गुरु और ब्राह्मण को देखकर शिर नवाते और प्रेम से बहुत विनती करते हैं॥३॥ जो अपने हाथों से नित्य श्रीरामजी के चरणों की पूजा करते हैं, जिनके हृदय में श्रीरामजी का भरोसा है, दूसरा नहीं॥४॥ जो चरणों से (सवारी पर नहीं) श्रीरामजी के तीर्थ में चलकर जाते हैं, हे श्रीरामजी! आप उनके हृदय में बसिये॥५॥

विशेष—(१) यहाँ अर्चनभक्ति है, नासिका, मुख, रसना, त्वचा, शिर, मन, हाथ और चरण—इन आठो अंगों से अर्चन-विधि कही गई है। 'सीस नवहिं'—कर्म, 'प्रीति सहित'—मन 'करि बिनय'—वचन से सुर, गुरु और द्विज की भक्ति कही गई है।

यहाँ पर वाल्मीकिजी श्रीरामजी से ही कह रहे हैं, फिर—'कर नित करहिं राउरि पद-पूजा' न कहकर 'राम-पद पूजा' कहा है। यह व्यंग से प्रार्थना है और ऊपर से माधुर्य-रक्षा भी है कि परमात्मा रामजी के पद की पूजा करते हैं, उनके हृदय में आप दाशरथी राम ही बसें, क्योंकि वे राम ही के लिये तरस रहे हैं। ऊपर कहा था—'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' को लेने से व्यंगार्थ स्पष्ट हो जाता है।

श्रीभरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा था—"एक राम अवधेस कुमारा।''''''प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।" (बा० दो० ४५-४६) उसका उत्तर भी दक्षिण घाट के वक्ता याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी के गुरु (वाल्मीकिजी) के ही मुख से दाशरथी राम और परमात्मा राम की एकता कहलवाते हैं।

(२) 'रामभरोस हृदय''''''; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); "हरिजन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५)।

(३) 'चरन राम तीरथ चलि जाहीं'; यथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे। राम-सीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥" (वि० १७०)। यह चौथा स्थान कहा गया।

मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥६॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना॥७॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥८॥

दोहा—सब करि माँगहिं एक फल, राम-चरन-रति होउ।
तिन्हके मन-मंदिर बसहु, सिय-रघुनंदन दोउ॥१२९॥

अर्थ—जो नित्य आपका मंत्र-राज जपते हैं, और आपको परिवार के साथ पूजते हैं॥६॥ अनेक प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराके बहुत दान देते हैं॥७॥ गुरु को आपसे अधिक जी से जानकर सर्व भाव से सम्मान-पूर्वक उनकी सेवा करते हैं॥८॥ यह सब करके (इन सबका) एक ही फल माँगते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में अनुराग हो, उनके हृदय रूपी मंदिर में रघुकुल को आनंद देनेवाले आप और श्रीसीताजी दोनों निवास करें॥१२९॥

विशेष—(१) 'मंत्रराज नित जपहिं''''''—यह मंत्राराधन नवधाभक्ति में पाँचवीं भक्ति है; यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥" (आ० दो० ३५); 'मंत्र राज' षडक्षर राम-मंत्र को कहते हैं, इसे नित्य-नियम से जपते हैं। 'पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा'—यहाँ मंत्र जाप के साथ मंत्रार्थानुसार परिवार पूजन अभिप्रेत है। इसका विधान रामतापनीय उपनिषत्, रामार्चन चंद्रिका, अगस्त्य संहिता आदि में है। श्रीरामजी के परिवार, उनके परिकर और आवरण देवता हैं। ऊपर प्रतिमा रूप में पूजन कहा था।

(२) 'तरपन होम''''बिप्र जेंवाई''''—मंत्र जाप कहा था, उसको यज्ञ भी कहा जाता है, यथा—"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि।" (गीता० १०।२५); यज्ञ करके तर्पण, हवन, ब्राह्मण भोजन और दक्षिणा देना, विधि है। अतएव इन्हें भी कहा है। यहाँ अनुष्ठान-पूर्वक मंत्र जाप कहा

(३) 'तुम्हते अधिक गुरहि जिय······'—गुरु को श्रीरामजी से अधिक महत्त्व देना कहा है, क्योंकि गुरुजी की कृपा से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है ; यथा—"गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ। बलिहारी उन गुरुन की गोविंद दियो लखाय ॥" यह प्रसिद्ध है। तथा—"गुरु बिनु भव-निधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई ॥" (उ० दो० ९३); गुरु से यहाँ शरणागति के दीक्षागुरु से तात्पर्य है। यह पाँचवाँ स्थान है।

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥१॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥२॥
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख-सुख-सरिस प्रसंसा गारी ॥३॥
कहहि सत्य प्रियबचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥४॥
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥५॥

अर्थ—जिनके न काम, क्रोध, मद, मान और न मोह है, न लोभ, न क्षोभ, न राग और न द्रोह है ॥१॥ कपट, दंभ और न माया है, हे रघुराय ! आप उनके हृदय में बसें ॥२॥ जो सबके प्यारे हैं, सबका भला करते हैं, जिनको दुःख और सुख, प्रशंसा और गाली एक समान हैं ॥३॥ जो विचार कर प्रिय सत्य वचन बोलते हैं, जागते-सोते आपकी शरण हैं ॥४। आपको छोड़कर जिन्हें दूसरी गति नहीं है, हे श्रीरामजी ! उनके मन में निवास कीजिये ॥५॥

विशेष—(१) 'काम कोह मद मान···'—अब अंतःकरण शुद्धि कहते हैं—कामादि नरक में डालनेवाले हैं; यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥" (गीता १६।२१); "काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ ।" (सुं० दो० ३८)। अतः, इन्हें त्यागा है; अर्थात् कोई कामना एवं स्त्री की अभिलाषा नहीं है, कोई कैसा भी अपराध करे, तब भी क्रोध नहीं होता। जाति-विद्या, धन आदि का मद नहीं है, लोक प्रतिष्ठा की चाह नहीं और न किसी का मोह है। धन का लोभ, व्यग्रता, सांसारिक प्रेम और न किसी से द्रोह है।

(२) 'कपट दंभ नहिं माया'—भीतर कुछ बाहर कुछ यह कपट है, बाहर साधु वेष का आडंबर बनाकर लोगों को ठगना एवं आत्मश्लाघा की चाह दंभ है। छल की बातों से किसी को वश करना माया है। यह छठा स्थान हुआ यहाँ ज्ञानवृत्ति है।

(३) 'सबके प्रिय सबके हित···'—सबके हित करने से सबके प्रिय हैं।

(४) कहहिं सत्य प्रिय···'—सत्य प्रायः कठोर होता है, उसे प्रिय बनाकर कहते हैं; यथा—"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।" (दो० ५२); वनवास दिया जाना सत्य था, पर माता को अप्रिय होता, उसे राज्य का रूप देकर कहा। प्रिय वाद में भी कभी मिथ्या कहा जाता है, इसलिये विचारकर सत्य ही कहना कहा गया।

(५) 'जागत सोवत सरन···'—अर्थात् हर अवस्था में प्रभु के रक्षकत्व का विश्वास है।

'तुम्हहिं छाड़ि गति···'; यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करैं निःकाम।" (आ० दो० १६); अर्थात् मन आदि तीनों से मुझमें निरत रहते हैं, दूसरे का भरोसा नहीं। यह सातवाँ स्थान हुआ, यहाँ अनन्य गतिवृत्ति है।

जननी - सम जानहिं पर- नारी। धन पराव विष ते विष भारी ॥६॥
जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखित होहिं परबिपति बिसेखी ॥७॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान-पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥८॥

दोहा—स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

अर्थ—जो दूसरे की स्त्री को माता के समान मानते हैं, जिनको दूसरे का धन विष से भी भारी विष है ॥६॥ जो दूसरे का ऐश्वर्य देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरों की विपत्ति पर विशेष दुखी होते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी! जिन्हें आप प्राणों से भी अधिक प्रिय हों, उनके मन आपके लिये शुभ भवन हैं ॥८॥ हे तात! जिनके स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मन-रूपी मंदिर में श्रीसीताजी के साथ आप दोनों भाई निवास करें ॥१३०॥

विशेष—(१) 'जननी-सम जानहिं'''—यह सब संतवृत्ति है और आठवाँ स्थान है।

(२) 'स्वामि सखा पितु'''—स्वामी पालक, सखा सहायक एवं विश्वासी; यथा—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा॥" (बा० दो० १५), यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा'''सबकै ममता ताग'''" (सुं० दो० ४७); श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'' " (दो० ७१)। यह नवाँ स्थान है, यहाँ आत्मनिवेदन भक्ति है (क० उ० ११० भी देखिये)।

'जे हरषहिं परसंपति'''—इसमें गुण से गुण मानने में उल्लास-अलंकार का पहला भेद है। पुनः 'दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी।' में दोष से दोष मानने में उसी का चौथा भेद है।

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्र-धेनु-हित संकट सहहीं ॥१॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मन नीका ॥२॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥३॥
रामभगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥४॥

अर्थ—जो अवगुणों को छोड़कर सबके गुणों को ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गऊ के लिये संकट सहते हैं ॥१॥ नीति में निपुण होने की जिनकी जगत् में ख्याति (नाम) है, उनके अच्छे मन आपके लिये अच्छे घर हैं ॥२॥ जो आपके गुणों को और अपने दोषों को समझते हैं; अर्थात् जो कुछ हमसे अच्छा बनता है, वह श्रीरामजी की प्रेरणा से और जो बिगड़ता है, वह हमारे प्राकृतिक दोषों से ही है। जिसको सब तरह से आपका ही भरोसा है (कि श्रीरामजी हमारा भला ही करेंगे) ॥३॥ जिसे राम-भक्त प्रिय लगते हैं, उसके हृदय में (आप) वैदेहीजी के साथ निवास करें ॥४॥

विशेष—(१) 'अवगुन तजि सबके गुन''; यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।" (बा० दो० ६); "मधुकर सरिस संत गुनग्राही।" (बा० दो० ६)।

'नीतिनिपुन'—यथा—"अति नय निपुन न भाव अनीती।" (सुं० दो० ४५)।
'जग लीका'—अर्थात् उनकी बाँधी हुई उत्तम नीति आज तक जगत् में प्रचलित है।
यह दसवाँ स्थान है, यहाँ तितिक्षा-वृत्ति है, इसके धर्म विशेषकर क्षत्रियों में घटित हैं।

(२) 'गुन तुम्हार समुझइ निज···'—यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी जो निज करतूत।" (दोहावली ४८); "कोटिहुँ मुख कहि जाहिं न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० १०२); 'सब भाँति तुम्हार भरोसा'—आपकी कृपा का ही भरोसा है; यथा—"प्रनत पाल.पालिहि सब काहू। ··· अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो।" (दो० ३१२)। 'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।'; यथा—"गृही बिरति रत हरष जस, बिष्णु भगत कहँ देखि।" (कि० दो० १६)।

यह ग्यारहवाँ स्थान है, इसमें कार्पण्य-वृत्ति है।

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥५॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लव लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥६॥
सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु-बाना ॥७॥
करम-बचन-मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा ॥८॥

दोहा—जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु ॥१३१॥

येहि बिधि मुनिबर भवन देखाये। बचन सप्रेम राम-मन भाये ॥१॥

अर्थ—जो जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रिय वर्ग, प्यारे परिवार और सुखदायक घर, यह सब छोड़कर आप ही में लव लगाये रहता है, हे रघुराई! उसके हृदय में आप रहें ॥५-६॥ स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिनके लिये समान हैं, (क्योंकि वे) जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) धनुष-बाण धारण किये हुए आपको ही देखते हैं ॥७॥ और कर्म, वचन और मन से आपके चेरे (सेवक) हैं, हे श्रीरामजी! उनके हृदय में (आप) निवास करें ॥८॥ जिसे कभी भी कुछ न चाहिये, जो आपसे स्वाभाविक स्नेह रखता है, उसके हृदय में निरंतर निवास करें, यह (तो) आपका स्वकीय घर है ॥१३१॥ इस प्रकार मुनि-श्रेष्ठ ने १४ स्थान दिखाये, उनके प्रेम युक्त वचन श्रीरामजी के मन को अच्छे लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'जाति पाँति धन धरम···'—ऊपर प्रवृत्ति-मार्गवाले कहे गये, अब निवृत्तिवाले कहे जाते हैं। 'जाति' की उच्चता, 'पाँति'—उच्चकुल में सहभोजाधिकार' एवं धन आदि इन सबके अभिमान को त्यागकर श्रीरामजी (आप) में लव लगाये हुए रहते हैं; यथा—"मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी ॥" (उ० दो० १०३); "मेरे जाति पाँति न चहउँ काहू की जाति पाँति ··" (क० उ० १०७); "सुत संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई। ये सब राम-भगति के बाधक।···" (कि० दो० ६)। कहा भी है—"जातिर्विद्यामहत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परिवर्ज्जेयाः पंचैते भक्तिकंटकाः ॥"

यह बारहवाँ स्थान वैराग्य वृत्ति का है।

(२) 'सरग नरक अपबरग···'—अर्थात् हर अवस्था में वे प्रभु ही को देख सुखी होते हैं—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परम-पदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१); "तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही॥" (दो० २३०); 'जहँ तहँ देख धरे···'—भक्तों की गाढ़ स्मृति होने पर भगवान् उनकी आँखों के सामने ही सर्वत्र दीखने लगते हैं। गोपिकाओं के वचन हैं—"साँवरे रंग में हौं तो रँगी हमरो जग साँवरो साँवरो सूझै।" तथा—"लगे रहत मेरे नैनन आगे रामलखन अरु सीता।" (गी० अ० ५१)। यह तेरहवाँ स्थान अनन्य-वृत्ति का है।

(३) 'जाहि न चाहिय कबहुँ ···'—ये निष्काम प्रेमी हैं; यथा—"सकल कामना-हीन जे, राम-भगति-रस लीन।" (बा० दो० २२); ये केवल प्रभु ही को चाहते हैं, इसीसे वे यहाँ निरंतर रहते हैं। 'येहि बिधि मुनिबर भवन देखाये।' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनहु राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७); से हुआ है। यह चौदहवाँ स्थान निष्काम प्रेम का है।

(४) 'बचन सप्रेम राम-मन भाये'—श्रीरामजी प्रेम-प्रिय हैं; यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६); अतः, उन्हें सप्रेम वचन प्रिय लगे।' मन भाये'···श्रीरामजी ने मन-ही-मन उक्त स्थानों को स्वीकार किया कि हम अवश्य इनमें रहेंगे। मन ही से स्वीकार किया, क्योंकि ऐश्वर्य गुप्त रखना चाहते हैं।

मुनि ने १४ स्थान कहे, क्योंकि पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से सर्वत्र व्यापकता कह आये थे, वैसे यहाँ कहा कि जैसे १४ भुवनों में रहते हैं, वैसे इन १४ स्थानों में भी रहें। वा, १४ वर्ष वन में रहना है; अतः, १४ ही स्थान कहे हैं।

कह मुनि सुनहु भानु-कुल-नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥२॥
चित्रकूट - गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥३॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि-केहरि - मृग - बिहग बिहारू॥४॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप-बल आनी॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे सूर्यकुल के स्वामी! सुनिये, अब समय के अनुसार सुख-दायक निवास-स्थान कहता हूँ॥२॥ आप चित्रकूट पर्वत पर निवास करें, वहाँ आपका सब तरह सुपास (सुविधा) है॥३॥ पर्वत सुहावना है और सुन्दर वन है, हाथी, सिंह, हरिण आदि पशु और पक्षियों का यह विहार स्थान है॥४॥ पवित्र नदी है, जिसकी पुराणों ने बड़ाई की है और जिसे अत्रि मुनि की प्रिय स्त्री अनसुइयाजी अपने तप के बल से (पृथिवी पर) लाई थीं॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु भानुकुल नायक'—पहले ऐश्वर्य स्वरूप के कथन में 'राम' यह ऐश्वर्य-परक नाम कहा था; यथा—"सुनहुँ राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७); अब माधुर्य स्वरूप के स्थान कथन में 'भानुकुल नायक' यह माधुर्य नाम दिया।

'समय सुखदायक'—इस समय आपने जो रूप-धारण किया है, इसके योग्य, क्योंकि—"अस काछिय तस चाहिय नाचा।" (दो० १२६); कह ही चुके हैं।

(२) 'तहँ तुम्हार सब भाँति······'; यथा—"इहाँ सकल रितु रहब सुखारी।" (दो० १२५)।

(३) 'सैल सुहावन कानन चारू।'—पर्वत सुन्दर है, हरे-हरे वृक्ष हैं और वे पल्लव, फूल और

फल से सम्पन्न रहते हैं। 'करि केहरि मृग'''—इनके विहार से सैल वन की रमणीयता है, मृगया आदि के लिये भी अच्छा है (इसकी शोभा आगे विस्तार से कहेंगे)।

(४) 'अत्रि-प्रिया निज तप''''''—यह कथा आ० दो० ४ चौ० १ में कही जायगी।

सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ॥६॥
अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तनु कसहीं ॥७॥
चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू ॥८॥

दोहा—चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाये सरित-बर, सिय समेत दोउ भाइ ॥१३२॥

शब्दार्थ—पोतक = बालक, कसहीं (सं० कर्षण)= कष्ट देना = क्लेश पहुँचाना।

अर्थ—यह गंगाजी की एक धारा है, इसका नाम मंदाकिनी है, जो पाप-रूपी बालकों के खा डालने के लिये डाइन के समान है; अर्थात् यह दर्शन-स्नान करनेवालों के पापों को विना श्रम ही जड़ से नाश कर देती है ॥६॥ अत्रि आदि बहुत-से मुनिश्रेष्ठ वहाँ बसते हैं, योग और जप-तप करते हैं और (इन साधनों से) शरीर को कसते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी चलिये, सबके परिश्रम को सफल कीजिये और गिरि-श्रेष्ठ चित्रकूट को गौरव (प्रतिष्ठा) दीजिये ॥८॥ महामुनि वाल्मीकिजी ने चित्रकूट की अमित महिमा को गा (बखान) कर कहा, तब दोनों भाइयों ने श्रीसीताजी के साथ यहाँ आकर श्रेष्ठ नदी में स्नान किया ॥१३२॥

विशेष—(१) 'सब पातक'; यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं ॥" (दो० १६६)। पातक—गोहत्या, ब्रह्महत्या आदि; उपपातक—छोटे पाप जो साधारण व्यवहार में प्रायः हुआ करते हैं। बालक की उपमा का भाव यह कि पापों को जन्मते ही नाश कर देती है, बढ़ने नहीं पाते, पुनः विना श्रम नाश करती है, यह भी भाव है।

(२) 'सफल श्रम सब कर करहू'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन से ही साधन सफलता है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा ॥" (दो० २०६)। श्रीरामजी के ही सम्बन्ध से चित्रकूट को महान् गौरव मिला। आगे दो० १३७–१३८ देखिये।

(३) 'चित्रकूट-महिमा अमित''''', यथा—"सब सोच विमोचन चित्रकूट।''''''अब चित चेतु चित्रकूटहिं चलु।'''" (वि० २३–२४); "यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः ॥" (वाल्मी० २।५४।३०)।

"वाल्मीकि-प्रभु-मिलन" प्रकरण समाप्त

"चित्रकूट जिमि बस भगवाना" प्रकरण

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥१॥
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥२॥

नदी पनच सर सम दम दाना । सकल कलुप कलिसाउज नाना ॥३॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी । चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥४॥
अस कहि लखन ठाँव देखरावा । थल बिलोकि रघुवर सुख पावा ॥५॥

शब्दार्थ—ठाहर = ठहरने का स्थान । ठाट = प्रबंध, उपाय । कारा = ऊँचा किनारा । पनच = रोदा, प्रत्यञ्चा । मुठभेरी = भिड़कर, समीप से मुक्का की भिड़ंत (मार) ।

अर्थ—रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा कि यह घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरने का प्रबन्ध करो ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी ने पयस्विनी नदी के उत्तर तट को देखा कि एक नाला चारो ओर धनुप की तरह फिरा हुआ है ॥२॥ नदी प्रत्यंचा रूप है, शम, दम, दान बाण हैं, कलि के समस्त पाप अनेक जीवा (शिकार पशु) है ॥३॥ चित्रकूट मानों अचल शिकारी है, जो मुठभेरी मारता है, उसकी घात नहीं चूकती ॥४॥ ऐसा कहकर श्रीलक्ष्मणजी ने स्थान दिखाया, स्थल देखकर श्रीरामजी ने सुख पाया ॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ दिसि फिरेउ धनुप जिमि नारा'—धनुप जब कान तक खींचा जाता है, तब गोलाकार हो जाता है, वैसे ही यह नाला फिरा हुआ है । नदी को जलधारा ही प्रत्यंचा है । यहाँ पर स्नान-दान आदि किये जाते हैं ; जैसे रोदा से बाण चलाये जाते हैं । बाणों से शिकार मारे जाते हैं, यहाँ इन बाणों से पाप नाश होते हैं ।

कलि के सब पाप नाश हो जाते हैं, तो और युगों के पाप तो सूक्ष्म ही होते हैं । 'चल' अहेरी थक भी जाता है ; पर यह 'अचल' अहेरी है ; अतः, थकता नहीं । अचल है, पाप-समूह-रूप शत्रुओं से चलायमान नहीं होता; यथा—"चला न अचल रहा रथ रोपी । रन दुर्मद रावन अति कोपी ॥" (लं० दो० ८०) ; अन्य तीर्थ चल अहेरी हैं, क्योंकि वहाँ के शम, दम, दान आदि स्त्रीकटाक्ष आदि से चूक जाते हैं, पर यहाँ पहाड़-वन आदि उदासीन भूमि है । अतः, सहज ही मन शुद्ध रहता है, उपयुक्त 'यावता चित्रकूटस्य······' देखिये ।

ऊपर मंदाकिनी को डाकिनी रूप से पातक-रूपी बालकों का खाना कहा गया, अर्थात् जो चित्रकूट में रहकर पाप-रूपी बालक पैदा होते हैं, उन्हें खा जाती है और यहाँ बाहर के किये हुए पापों को भी नाश करना बताया कि दूर के पापों को भी श्रीचित्रकूटजी शिकार की तरह मार डालते हैं । वा, मंदाकिनि मानसिक पापों को और चित्रकूट कायिक पापों को नाश करते हैं ।

रमेउ राम-मन देवन्ह जाना । चले सहित सुर-थपतिप्रधाना ॥६॥
कोल-किरात-बेप सब आये । रचे परन-तृन-सदन सुहाये ॥७॥
बरनि न जाहि मंजु दुइ साला । एक ललित लघु एक बिसाला ॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत ।
सोह मदन मुनिबेप जनु, रति-रितुराज-समेत ॥१३३॥

अर्थ—जब देवताओं ने जाना कि श्रीरामजी का मन रम (लग) गया तब वे देव-थवई (सं०-सुर-स्थपति अर्थात् स्थापत्यकला के आदि आचार्य, विश्वकर्मा आदि) और अपने प्रधान इन्द्र के साथ चले ॥६॥ सब कोल किरातों के वेष में आये। पत्ते और तृण के सुन्दर घर रचकर बनाये ॥७॥ सुन्दर दो निवास-स्थान बनाये जो वर्णन नहीं किये जा सकते। एक सुंदर छोटा-सा और दूसरा विशाल (बड़ा लंबा, चौड़ा और ऊँचा) ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ सुंदर पर्ण-कुटी में प्रभु विराजमान (होकर ऐसे) सोहते हैं कि मानों कामदेव मुनि-वेष धारण कर रति और वसंत के साथ सोह रहा हो ॥१३३॥

विशेष—(१) 'रमेउ राम-मन···'—यहाँ श्रीरामजी का मन रम गया। वे यहाँ रमण करना चाहते हैं; इसलिये वैसी रम्य कुटी भी चाहिये। अतः, देवता विश्वकर्मा और इन्द्र के साथ आये। जैसा कार्य करना है वैसे ही कोल-किरात के रूपों में आये। देव रूप से आते, तो उनका कुटी बनाना श्रीरामजी के नर-नाट्य के विरुद्ध होता। पुनः साक्षात् देवता भूमि पर रहा नहीं करते। इससे भी इस वेष में आये।

(२) 'एक ललित लघु एक···'—बड़ी पर्णशाला श्रीसीतारामजी के लिये और छोटी निकट में ही श्रीलक्ष्मणजी के लिये है। वा, बड़ी तीनों के लिये और छोटी रसोई घर है। यहाँ रम्य स्थल कहा। आगे रमण करना कहते हैं। ऐसा ही महर्षिजी ने भी कहा है, यथा—*"रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वनेत्रयः।"* (वाल्मी० ३।१।३१)।

(३) 'लखन-जानकी-सहित···'—भाव यह कि मुनि वेष पर भी सोहते हैं। जैसे कामदेव सहायकों के साथ होने पर जगत् को मोहता है। यहाँ तीनों उपमान-उपमेय में वर्ण की और रमण की समता है। काम विकारयुक्त होने से नहीं सोहता था; पर आज मुनि वेष में होने से सोहता है। यहाँ की क्रीड़ा का वर्णन—"फटिक शिला मृदु बिसाल संकुल···" (गी० अ० ४४); इस पूरे पद में देखने योग्य है।

अमरनाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला ॥१॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥२॥
बरषि सुमन कह देव-समाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू ॥३॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाये। हरषित निज निज सदन सिधाये ॥४॥
चित्रकूट रघुनंदन छाये। समाचार सुनि सुनि मुनि आये ॥५॥

अर्थ—देवता, नाग, किंपुरुष, दिक्पाल, उस समय चित्रकूट आये ॥१॥ सब किसी ने श्रीरामजी को प्रणाम किया। (क्योंकि ऐश्वर्य दृष्टि से दुःख सुनाने आये हैं) देवता नेत्रों का लाभ पाकर आनंदित हुए ॥२॥ फूल बरसाकर देव-समाज कह रहा है कि हे नाथ! हम आज सनाथ हुए; अर्थात् अभी तक अनाथ की तरह भूखों मरते थे, राक्षसों से सताये जाते थे; अब यज्ञ भाग भी मिलेगा; राक्षसों से भी रक्षा होगी ॥३॥ विनती करके उन्होंने अपने-अपने दुस्सह दुःख सुनाये और प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गये ॥४॥ श्रीरघुनाथजी चित्रकूट में छा कर रहे। (कुटी बनाकर स्थायी रूप में ठहरे), तब समाचार सुन-सुनकर मुनि लोग आये ॥५॥

विशेष—(१) 'अमरनाग किन्नर'' '—देवताओं का आना ऊपर कोल-किरात रूप में कहा गया। अभी उनका आना नहीं कहा गया, फिर दोबारा आना कैसा ? उत्तर यह है कि पहले सेवा के योग्य शरीर धरकर आये। कुछ थोड़े से देवता आये थे और अब शेष भी प्रत्यक्ष रूप से समाज के साथ आये; क्योंकि सब मिलकर दुःख सुनायेंगे। प्रथम के कोल-किरात रूपवाले भी कार्य करके अपने रूप में विमानों पर समाज के साथ हैं।

सब आये, क्योंकि सभी रावण से सताये हुए हैं; यथा—"रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सब ही के पंथहिं लागा ॥" (बा० दो० १८१) "दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० २७)।

(२) 'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।'—ये सब प्रत्यक्ष रूप से दुःख सुनाने आये हैं। इससे इन्होंने प्रणाम किया है और इसीलिये 'राम' यह ऐश्वर्यपरक नाम दिया गया है। आगे मुनियों की दंडवत् करने में 'रघुकुल चंदा' माधुर्य नाम देंगे। 'दुख दुसह' अर्थात् घर में रहने नहीं पाते, रावण उर्वसी आदि को ले गया; पुष्पक विमान ले गया और सबको बंदीखाने में डाल रक्खा है, इत्यादि।

(३) 'हरषित निज निज'''' अर्थात् प्रभु ने ढारस दिया; इससे प्रसन्न होकर घर गये। नहीं तो भागे फिरते थे। 'चित्रकूट ''छाये' अर्थात् यहाँ कुछ काल रहेंगे। अभी तक तो मार्ग ही चला करते थे। 'सुनि सुनि मुनि आये'—जैसे-जैसे सुनते हैं। वैसे-वैसे आते-जाते हैं।

आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल-चंदा ॥६॥
मुनि रघुवरहिं लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं ॥७॥
सिय-सौमित्रि-राम-छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं ॥८॥

दोहा—जथाजोग सनमानि प्रभु, बिदा किये मुनिवृन्द।
करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछंद ॥१३४॥

अर्थ—मुनियों के समूह को प्रसन्नतापूर्वक आते देखकर रघुकुल के चन्द श्रीरामजी ने दंडवत् की ॥६॥ मुनि रघुवर श्रीरामजी को हृदय से लगा लेते हैं और (अपनी आशिष की) सफलता के लिये आशिष देते हैं ॥७॥ वे श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी की छवि को देखते हैं और अपने समस्त साधनों को सफल करके मानते हैं ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी ने मुनिवृंदों को यथायोग्य सम्मान करके विदा किया। वे अपने-अपने आश्रमों में स्वतंत्रता से योग, जप, यज्ञ, तप करने लगे ॥१३४॥

विशेष—(१) 'सुफल होन हित '''; यथा—"तदपि देवि मैं देवि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा ॥" (दो० १०२), 'साधन सकल सफल'''—वाल्मीकिजी ने कहा था—"चलहु सफल श्रम सब कर करहू।" (दो० १२१) उसीका यहाँ चरितार्थ हो रहा है। श्रीराम-दर्शन ही साधनों की सफलता है; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय-दरसन पावा ॥" (दो० २०१) "आजु सकल सुकृत फल पाइहउँ।'''सुतन्ह सहित दशरथहिं देखिहउँ'''" (गी० बा० ३६)।

(२) 'जथा जोग सनमानि प्रभु'''—जो जिस योग्य था उसका वैसा सम्मान किया।

अर्थात् अपने सामर्थ्य का भरोसा दिया। 'निज आश्रमन्हि सुछंद' अर्थात् पहले अगस्त्य, पर्वत आदि मुनियों के आश्रमों में और उनके परतंत्र होकर जप-योगादि करते थे। अब अपने-अपने ही आश्रमों में करते हैं। क्योंकि जानते हैं कि ये विश्वामित्रजी के यज्ञ के रक्षक और—'मारीच-सुभुज-मद-मोचन' हैं। हमारी भी रक्षा करेंगे।

सम्बन्ध—अत्रि आदि महामुनियों के सम्मान करने से इनका प्रभाव और इनकी कथा कोलों ने सुनी तो आगे उनका आना कहते हैं—

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई ॥१॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना ॥२॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहि पूछहिं मग जाता ॥३॥
कहत सुनत रघुबीर - निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥४॥
करहिं जोहार भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे ॥५॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥६॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥७॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥८॥

दोहा—अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमन, राउर कोसलराय ॥१३५॥

अर्थ—कोल-किरात यह (श्रीरामजी के आने का) समाचार पाकर प्रसन्न हुए, मानों घर बैठे नवोनिधियाँ आ गई हों ॥१॥ दोने में कंद-मूल-फल भर-भरकर चले, मानों दरिद्र लोग सोना लूटने जा रहे हों ॥२॥ उनमें से जिन्होंने दोनों भाइयों को देखा, उनसे और लोग मार्ग में पूछते हैं ॥३॥ रघुवीर श्रीरामजी की सुन्दरता कहते-सुनते सबों ने आकर रघुनाथजी के दर्शन किये ॥४॥ भेंट (के पदार्थ कंद-मूल आदि जो लाये हैं) आगे रखकर प्रणाम करते हैं और अनुरक्त होकर प्रभु को देख रहे हैं ॥५॥ लिखे हुए चित्र की तरह जहाँ-तहाँ खड़े हैं (हिलते-डोलते नहीं), शरीर में पुलकावली है, नेत्रों में प्रेमाश्रु की बाढ़ आ गई ॥६॥ श्रीरामजी ने सबको प्रेम में निमग्न जाना। प्रिय-वचन कहकर सबका सम्मान किया ॥७॥ वे बार-बार प्रभु को प्रणाम कर-करके हाथ जोड़कर बड़े ही नम्र वचन कहते हैं ॥८॥ कि हे नाथ! आपके चरणों के दर्शन पाकर हम सब अब सनाथ हुए। हे कोशल राज! आपका आगमन हमारे भाग्य से हुआ ॥१३५॥

विशेष—(१) 'हरषे जनु नव निधि'''—ये सब गरीब हैं, नव-निधियाँ इनके घरों में एकाएक आ जायँ तो इन्हें कितना हर्ष होगा, वैसा ही हर्ष हुआ। ये मारे प्रेम के दौड़कर दर्शनों के लिये जा रहे हैं, जैसे कंगाल लोग सोना लूटने को दौड़कर चलें। इनका प्रेम आगे कहा जायगा; यथा—"नर नारि

निदरहिं नेह निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।" (दो० १५१) तथा—"बचन परसपर कहत किरातिनि प्रेम बिबस जल नयन बहेरी॥ तुलसी प्रभुहिं बिलोकत यक टक लोचन जनु बिनु पलक लहेरी॥" (गी० अ० ४१); 'अब हम नाथ सनाथ'' '—प्रभु के दर्शनों से ये सब सन्मार्गी हो गये, यही सनाथ होना है; यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।''' पाप करत निसिबासर जाहीं। ' जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुःख दोष हमारे॥" (दो० २५०)। 'भाग हमारे ' '—ऋषि-मुनि लोग साधन-निष्ठ हैं, पर हमारे पास तो कुछ नहीं है, केवल कृपा से दर्शन दिये। माधुर्य में भी इतने बड़े कोशल राज का कोलों के यहाँ आना उनके अहोभाग्य से ही है।

धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥१॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भये तुम्हहि निहारी॥२॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥३॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥४॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि-केहरि-अहि-बाघ बराई॥५॥
बन - बेहड़ गिरि - कंदर - खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा॥६॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥७॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥८॥

दोहा—बेदबचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुना अयन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन॥१३६॥

अर्थ—हे नाथ! वे भूमि, बन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं, जहाँ-जहाँ आपने चरण रक्खा है॥१॥ वे पक्षी, पशु बन में विचरनेवाले धन्य हैं, आपको देखकर सबके जन्म सफल हुए॥२॥ परिवार के साथ हम सब धन्य हैं कि नेत्रों-भर आपके दर्शन किये॥३॥ अच्छी जगह विचारकर आपने निवास किया है। यहाँ सब ऋतुओं में सुखी रहेंगे॥४॥ हमलोग सब प्रकार से हाथी, सिंह सर्प और व्याघ्र से बचाकर आपकी सेवा करेंगे॥५॥ बन, बीहड़ (ऊँचा नीचा विषमस्थल), पर्वत, कदराएँ और खोह ये सब हमारे पैर-पैर (अर्थात् पग-भर भी ऐसी भूमि नहीं है, जिसे हमने न देखा हो) देखे हुए हैं॥६॥ जहाँ-तहाँ आपको शिकार खेलावेंगे, तालाब झरने आदि अच्छे-अच्छे स्थल दिखावेंगे॥७॥ हम परिवार के साथ आपके सेवक हैं। हे नाथ! आज्ञा देने में संकोच न कीजियेगा॥८॥ जो वेद की वाणी और मुनियों के मन को अगम हैं। वे ही करुणा के स्थान प्रभु किरातों के वचन ऐसे सुन रहे हैं, जैसे पिता बालक के वचनों को॥१३६॥

(७) 'इहाँ सकल रितु'''— गर्मी में ताप नहीं लगेगा, वर्षा में बूँदों का बचाव होगा और जाड़ा भी न लगेगा ; यथा—"चित्रकूट सब दिन नीको लागत।" (गी० अ० ५०); 'सकलरितु' से यह भी जनाया कि ऋतुएँ वर्ष में छः होती हैं, छहों में (१ वर्ष) यहाँ रहेंगे। वाल्मीकिजी ने कहा था— "तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू।" (दो० १३१); वही यहाँ चरितार्थ है। 'करि केहरि अहि बाघ बराई' अर्थात् मंत्र द्वारा उन्हें अलग कर देंगे, पास न आने पावेंगे।

'अहेर खेलावब'— शिकारियों के साथ हँकवारे होते हैं। शिकार को भगाकर शिकारी के पास लाते हैं, एवं अवसर भी दिखाते हैं; वही सेवा करने को ये लोग कहते हैं।

(३) 'बेदबचन मुनि-मन ...'— वेद 'नेति नेति' कहते हैं ; यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहि, नेति नेति कह बेद।" (लं० दो० ११७); "मन समेत जेहि जान न बानी।" (बा० दो० ३४०) तब दूसरों के वचन और मन की पहुँच कैसे हो सकती है ? 'ते प्रभु' अर्थात् ऐसे समर्थ ईश्वर भी अपनी करुणा से सुगम हैं। 'जिमि पितु बालक'''; यथा—"जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥" (बा० दो० ७)।

रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा ॥१॥
राम सकल - बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे ॥२॥
बिदा किये सिर नाइ सिधाये। प्रभुगुन कहत सुनत घर आये ॥३॥
एहि बिधि सिय-समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुर-मुनि सुखदाई ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है, जो जाननेवाले हों, वे जान लें ॥१॥ तब श्रीरामजी ने सब वनवासियों (कोल-किरातों) को संतुष्ट किया, कोमल मीठे वचन कहकर उनके प्रेम को परिपुष्ट कर दिया ॥२॥ और विदा किया, वे शिर नवाकर चले, प्रभु के गुण कहते-सुनते अपने घर आये ॥३॥ इस तरह सुर-मुनि को सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीसीताजी के साथ वन में बसते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'केवल प्रेम पियारा'—जाति, विद्या, बुद्धि, वेष आदि नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष है कि इन कोल-किरातों के पास तो कुछ भी नहीं, प्रेममात्र ही है; उसी पर प्रभु इन्हें पुत्र के समान प्यार कर रहे हैं तो ऐसे प्रभु की शरण अवश्य होना चाहिये; यथा—"बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सन्मुख जो न राम सों तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १११); जब ऐसों को अपना लिया तो जो उत्तम वृत्तिवाले शरण होंगे, उनके लिये क्या कहना है ? यथा—"अपिचेत्सु · मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। · किं पुनर्ब्राह्मणाः'''"—(गीता ९।३०-३३)।

'राम सकल बनचर'''—कोमल वाणी से कहा कि हम यहाँ तुम्हारे ही भरोसे हैं। जो काम लगेगा, तुम्हीं से कहेंगे; क्योंकि यहाँ हमारा और कौन है ? हम संकोच न करेंगे। प्रयोजन पड़ने पर बुला लेंगे। अभी अपने घर का काम देखो, इत्यादि। सबके हार्दिक प्रेम को जानकर उनका परितोष किया, इसीसे 'राम' कहा कि आप सबमें रमे हैं। 'सुर मुनि सुखदाई'—ऊपर सुर-मुनियों के प्रति सुख-दातृत्व कहा गया, यहाँ कोलों का भी कहकर साथ ही सुरमुनि के प्रसंग का भी उपसंहार करते हैं।

जब ते, आइ रहे रघुनायक। तब ते भयेउ बन मंगल-दायक ॥५॥
फूलहि फलहि बिटप बिधि नाना। मंजु-बलित-बर-बेलि-बिताना ॥६॥
सुर-तरु-सरिस सुभाय सुहाये। मनहुँ बिबुधबन परिहरि आये ॥७॥
गुंज मंजुतर मधुकर-श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी ॥८॥

दोहा—नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग, श्रवनसुखद चितचोर ॥१३७॥

अर्थ—जब से श्रीरघुनाथजी यहाँ आकर बसे तब से वन मंगलदायक हो गया ॥५॥ तरह-तरह के वृक्ष अनेक प्रकार से फूलते-फलते हैं, उनपर लपटी हुई सुन्दर बेलों के सुन्दर मंडप बने हुए हैं ॥६॥ कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक शोभायमान हैं, मानों देवताओं के वन को छोड़कर आये हैं ॥७॥ भौरों की पंक्ति अतिशय सुंदर गुंजार कर रही है, सुख देनेवाली शीतल-मंद-सुगंध तीनों प्रकार की हवा चल रही है ॥८॥ नीलकंठ, कोयल, तोते, चातक, चकवा और चकोर आदि तरह-तरह के पक्षी कानों को सुख देनेवाली भाँति-भाँति की बोलियाँ बोल रहे हैं ॥१३७॥

विशेष—'मंगल-दायक'—फल, फूल, पल्लवों से युक्त होना मंगल-दायक होना है, वही आगे कहते हैं। 'बलित' = आवेष्टित, लपटी हुई। 'नीलकंठ' एक पक्षी है, जिसका देखना दशहरे को शुभ है, पुनः मोर को भी नीलकंठ कहते हैं।

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥१॥
फिरत अहेर रामछबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेखी ॥२॥
बिबुधबिपिन जहँ लगि जग माहीं। देखि रामबन सकल सिहाहीं ॥३॥
सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥४॥
सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना ॥५॥
उदय-अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल-सुर-बासू ॥६॥
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट-जस गावहिं तेते ॥७॥
बिंधि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥८॥

दोहा—चित्रकूट के बिहँग मृग, बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्यपुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन-राति ॥१३८॥

अर्थ—हाथी, सिंह, बानर, शूकर, हिरण, ये सब वैर को छोड़कर एक साथ विचरते हैं। शिकार के लिये फिरते हुए, श्रीरामजी की छवि को देखकर पशुओं के समूह विशेष आनंदित होते हैं

जहाँ तक संसार में देवताओं के वन हैं, वे सब श्रीरामजी के वन को देखकर ललचाते हैं ॥३॥ गंगा, सरस्वती, सूर्यपुत्री यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि धन्या (पुण्या) नदियाँ ॥४॥ सभी अनेक तालाब, समुद्र, नदी और (सोन, ब्रह्मपुत्र, महानद आदि) नद, मंदाकिनी की बड़ाई करते हैं ॥५॥ उदयाचल, अस्ताचल, कैलास, मंदराचल और सुमेरु पर्वत आदि सभी देव-स्थान ॥६॥ हिमालय आदि जितने पहाड़ हैं, वे सब चित्रकूट का यश गाते हैं ॥७॥ विन्ध्याचल मन में प्रसन्न है, इसके मन में सुख नहीं समाता, (क्योंकि) इसने बिना परिश्रम के ही बहुत बड़ाई पाई है ॥८॥ चित्रकूट के पक्षी, पशु, लताएँ, वृक्ष, तृण जातियाँ, सब समूह पुण्यवाले और धन्य हैं, दिनरात देवता ऐसा कहते हैं ॥१३८॥

विशेष—(१) 'बिगत बैर बिचरहिं ···'—पहले वन की रमणीयता कही थी, अब जीवों की निर्वैरता द्वारा उसका प्रभाव कहते हैं कि इसमें पशुओं में भी सात्विक भाव आ गये हैं।

(२) 'फिरत अहेर···'; यथा—"सरचारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥" (क० अ० २७)।

(३) 'सुरसरि सरसइ दिनकर···'—गंगाजी ब्रह्मद्रव हैं और सर्व तीर्थमयी हैं, सरस्वतीजी ब्रह्मरूपा, यमुनाजी सूर्य की पुत्री, नर्मदाजी में शिवजी का निवास ही रहता है। धन्या सबों का विशेषण है, धन्या नाम की एक नदी भी श्रीमद्भागवत में कही गई है। ये सब मंदाकिनी की बड़ाई करती हैं कि इसके तट पर परात्पर श्रीरामजी निवास करते हैं।

(४) 'उदय-अस्त-गिरि ···'—उदयाचल ब्रह्मांड का द्वार है, सूर्य उसी पर नित्य उदय होते हैं और अस्ताचल पर अस्त होते हैं, कैलास शिवजी का निवास स्थान है, मंदराचल को भगवान् ने कच्छप-रूप से पीठ पर धारण किया है और सुमेरु स्वर्णमय है और उसपर देवता लोग रहते हैं। ये राक्षसों से भयभीत होने पर वहीं छिपा करते हैं। ये सब चित्रकूट का यश गाते हैं; अर्थात् वन को वन, नदी को नदी और पहाड़ को पहाड़ सिहाते हैं, इस तरह जाति जाति को सिहाती है।

(५) 'बिंधि मुदित मन सुख ·····'—क्योंकि चित्रकूट विंध्याचल का ही एक शृंग है। 'श्रम बिनु···'–महाभारत वन पर्व अ० १०४ में कथा है कि सूर्य सदा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। विन्ध्याचल ने कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करें, तब सूर्य ने कहा कि ईश्वर के द्वारा जो नियत है, उसी मार्ग पर मैं चलता हूँ, इसपर विन्ध्याचल क्रुद्ध हुए और सूर्य-चन्द्रमा की गति रोकने के लिये बढ़ने लगे, तब देवता लोगों ने घबड़ाकर अगस्त्यजी से प्रार्थना की कि आप इनकी गति को रोकें। अगस्त्यजी स्त्री के साथ आये और कहा कि मैं किसी कार्य से दक्षिण जाता हूँ, मुझे राह दो और जब तक मैं न लौटूँ, तब तक तुम और न बढ़ना। उसने गुरु की आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी फिर दक्षिण से लौटे ही नहीं। इससे विंध्याचल लेटा हुआ है। (इसीसे इसके पत्थर स्तरमय निकलते हैं) देखिये, इसने पहले बहुत श्रम किया था, पर बड़ाई न पाई, और गुरु की आज्ञा मानने से श्रीरामजी ने कृपा करके पूर्व की चाह से कहीं अधिक बड़ाई दी कि सुमेरु आदि सभी इसे सराहते हैं।

(६) 'चित्रकूट के बिहँग मृग ·· ···'—चित्रकूट की शोभा वर्णन का उपसंहार करते हैं। 'दिन-राति'—देवताओं के सम्बन्ध से यह भी भाव है कि श्रीरामजी को एक वर्ष यहाँ रहना हुआ; क्योंकि ग्रंथकार ने यहाँ छः ऋतुओं का वर्णन किया है और मनुष्यों के एक वर्ष में देवताओं के १ दिन और १ रात होते हैं।

नयनवंत रघुवरहि बिलोकी। पाइ जनम-फल होहिं बिसोकी ॥१॥
परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी ॥२॥
सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन ॥३॥
महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥४॥
पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लखन-राम रहे आई ॥५॥

अर्थ—आँखवाले श्रीरघुनाथजी को देखकर जन्म का फल पाकर शोक-रहित हो जाते हैं; अर्थात् भव-चक्र से छूट जाते हैं ॥१॥ चरणों की धूलि का स्पर्श करके अचर (जड़) सुखी होते हैं, (क्योंकि) वे परम-पद के अधिकारी हो गये ॥२॥ वे वन और पर्वत सहज ही सुहावने, अत्यन्त मंगलमय और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले हैं ॥३॥ उनकी महिमा किस तरह कही जा सकती है कि जहाँ सुख के समुद्र श्रीरामजी ने निवास किया है ॥४॥ क्षीर सागर को छोड़ और श्रीअवध को छोड़कर जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी आकर रहे ॥५॥

विशेष—(१) 'नयनवंत · होहिं बिलोकी'—आँखवाले श्रीरामजी के दर्शनों से स्व-स्वरूप के अधिकारी होकर शोक-रहित हो जाते हैं; यथा—"तरति शोकमात्मवित्" यह श्रुति है। अचर वर्ग चरण के स्पर्श से परम-पद के अधिकारी बनते हैं, जैसे अहल्या की कथा है; कहा भी है—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६)। "मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यन्ते त्रिदिवेश्वरैः ॥" (वाल्मी० ७ ८२।१०)।

(४) 'पय पयोधि तजि अवध······'—चित्रकूट की महिमा क्षीर-समुद्र और श्रीअवध से भी अधिक है, क्योंकि श्रीलक्ष्मीनारायणजी और शेषजी क्षीर-समुद्र में रहते हैं, वे उसे छोड़कर 'सिय राम लखन' रूप से अवध में आकर रहे, अब अवध को भी छोड़कर पैदल आकर यहाँ रहते हैं। अतः, क्षीर-सागर से अवध और उससे अधिक यहाँ की महिमा है।

इस ग्रंथ में चार कल्प की कथाएँ एक साथ चल रही हैं, उनमें एक कल्प का अवतार क्षीर-सागर से होता है। वही प्रसंग यहाँ प्रधान है। यों भी अर्थ है कि श्रीलक्ष्मीनारायणजी क्षीर-सागर को छोड़कर और श्रीसीतारामजी श्रीअवध (साकेत) को छोड़कर यहाँ आकर रहे।

कहि न सकहि सुषमा जसि कानन। जौ सत सहस होहिं सहसानन ॥६॥
सो मैं बरनि कहउँ बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं ॥७॥
सेवहिं लखन करम-मन-बानी। जाइ न सील सनेह बखानी ॥८॥

दोहा—छिन-छिन लखि सिय-राम-पद, जानि आपपर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु-मातु-पितु-गेह ॥१३९॥

अर्थ—जो लाखों (लाख-सहस्र मुखवाले) शेष भी हों, तो भी जैसी परम शोभा वन की है, वैसी नहीं कह सकते ॥६॥ फिर उसे मैं किस तरह बखान करके कह सकता हूँ ? क्या गढ़े के कछुए मंदराचल ले सकते हैं ? ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी मन, वचन, कर्म से सेवा करते हैं, उनका शील-स्नेह कहा नहीं जा सकता ॥८॥ छण-छण पर श्रीसीतारामजी के चरणों को देखकर और अपने ऊपर उनका स्नेह जानकर श्रीलक्ष्मणजी स्वप्न में भी माता, पिता और घर की ओर चित्त नहीं करते ॥१३९॥

विशेष—(१) 'डाबर कमठ कि मंदर लेहीं'—भगवान् ने कच्छप रूप होकर मंदराचल को धारण किया था, दूसरे समुद्र के कछुए भी उसे नहीं धारण कर सकते, तो भला गढ़े के कछुए में कहाँ सामर्थ्य ? वाल्मीकि आदि समुद्र के कछुए हैं, मैं गढ़े का हूँ, दोनों कवि होने से एक जाति हैं। श्रीगोस्वामीजी मानस के कवि हैं जिसका सर (तालाब) से रूपक है। कार्पण्य दृष्टि से तालाब को गढ़ा कहते हैं, भाव यह कि कहाँ समुद्र और कहाँ तालाब ? वाल्मीकिजी ने कुछ कहा, पर अमित कहकर छोड़ दिया; यथा—"चित्रकूट महिमा अमित, कही महा मुनि गाइ।" (दो० १३२); तात्पर्य यह कि इसकी महिमा भगवान् ही चाहें, तो कह सकते हैं।

(२) 'सील सनेह'—शील नेत्र से और स्नेह हृदय से होता है।

(३) 'छिन छिन लखि सिय······'—अन्योन्य प्रीति है, श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामजी के चरणों के भक्त हैं और उनका इनपर स्नेह है। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।······ मोरे सबुइ एक तुम स्वामी।" (दो० ७१); सुमित्राजी ने भी कहा था—"तात तुम्हारि मातु······" (दो० ७४); वही सब यहाँ चरितार्थ है।

राम-संग सिय रहति सुखारी। पुर-परिजन गृह-सुरति बिसारी ॥१॥
छिनछिन पिय-बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी ॥२॥
नाह-नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ॥३॥
सिय-मन राम चरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥४॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा ॥५॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिबर। असन अमिअ सम कंद मूल फर ॥६॥
नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन-सयन-सय-सम सुखदाई ॥७॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू ॥८॥

दोहा—सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास।
रामप्रिया जगजननि सिय, कछु न आचरज तासु ॥१४०॥

अर्थ—श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी, श्रीअवध-नगर, कुटुंब और घर की सुधि भूलकर सुखी रहती हैं ॥१॥ क्षण क्षण पर पति के मुख चन्द्र को देख-देखकर ऐसी आनंदित रहती हैं, मानों चकोर की बालिका (चन्द्रमा को देखकर) ॥२॥ पति का स्नेह अपने ऊपर नित्य बढ़ता हुआ देखकर वे ऐसी प्रसन्न

रहती हैं, जैसे दिन में चकवी (चकवे के साथ हर्षित रहे) ॥३॥ श्रीसीताजी का मन श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त है, (इससे उन्हें) सहस्रों अवध के समान वन प्रिय लगता है ॥४॥ प्यारे प्रीतम के साथ पत्तों की कुटी प्यारी लगती है, हरिण और पक्षी प्यारे परिवार की तरह प्रिय लगते हैं ॥५॥ मुनियों की स्त्रियाँ और मुनि श्रेष्ठ सास-ससुर के समान, कंद-मूल-फल अमृत भोजन के समान हो रहे हैं ॥६॥ स्वामी के साथ सुन्दर साथरी सैकड़ों कामदेवों की शय्या के समान सुखदायी है ॥७॥ (वक्ता लोग कहते हैं कि) जिसके कटाक्ष-मात्र से लोग लोकपाल हो जाते हैं, क्या उसे विषय-विलास (सांसारिक विषय सुख) लुभा सकता है ? ॥८॥ श्रीरामजी का स्मरण करते ही (उनके भक्त) लोग विषय-क्रीड़ा को तृण के समान त्याग देते हैं श्रीसीताजी तो श्रीरामजी की प्रिय-पत्नी और जगत् की माता हैं, उनके लिये यह कुछ आश्चर्य नहीं ॥१४०॥

विशेष—(१) 'चकोरकुमारी'—यहाँ श्रीसीताजी की अनन्यता दिखाते हैं कि जैसे आकाश में असंख्य तारागण भी देख पड़ते हैं, पर चकोर कुमारी चन्द्रमा ही को देखती है, वैसे ही ये 'पुर-परिजन-गृह' की सुधि भुलाकर श्रीराम-मुख ही देखती हैं। 'कुमारी' क्योंकि श्रीसीताजी सुकुमारी हैं।

(२) 'नाह-नेह नित···'—जैसे-जैसे दिन बढ़ता है, वैसे-वैसे चकवी का आनंद बढ़ता है, इसी तरह नाह-नेह के बढ़ने से श्रीसीताजी का आनन्द भी बढ़ता है। 'चकोर कुमारी' रूप से श्रीसीताजी की प्रीति और 'नाह नेह नित···' से श्रीरामजी की प्रीति कही गई। इस तरह दोनों का अन्योन्य प्रेम कहा गया। चन्द्रमा-चकोरी का सुख-सम्बन्ध रात में और चकवा-चकवी का सुख दिन में रहता है। इन दोनों उपमाओं से दिन-रात एवं निरंतर सुख सूचित किया। श्रीसीताजी का प्रिय-मुख देखना शृंगार दृष्टि से है, क्योंकि चित्रकूट आपका विहार-स्थल है। आगे कहेंगे—"जिमि बासव बस अमरपुर··" (दो० १११)।

(३) 'लोकप होहिं बिलोकत···'; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०१); "जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत···" (ब० दो० २४)।

(४) 'सुमिरत रामहिं तजहिं जन,···'; यथा—"राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥" (दो० ८३); "रमा [ि]लास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥ राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न येहि करतूत" (दो० ३२४)।

'जगजननि'—अर्थात् जगत् के सभी पदार्थ [इन्]हीं से हुए हैं, तब उनका लोभ इन्हें कैसे हो?

वहाँ	यहाँ
(५) "खग मृग परिजन।" (दो०६५)	प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा।
(६) "कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥" (,,)	नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन-सयन-सय-सम सुखदाई॥
(७) "अवध सौध सत सरिस पहारू।" (,,)	अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥
(८) "नाथ साथ सुर सदन सम, पर्नसाल सुख मूल।" (,,)	"राम लखन सीता सहित, राजत परन निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥

सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहहीं॥१॥
कहहि पुरातन कथा-कहानी। सुनहि लखन सिय अति सुख मानी॥२॥
जब जब राम अवध-सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥३॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत-सनेह-सील-सेवकाई॥४॥
कृपासिंधु प्रभु होहि दुखारी। धीरज धरहि कुसमय बिचारी॥५॥
लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाँहीं॥६॥
प्रिया-बंधु-गति लखि रघुनंदन। धीर कृपाल भगत-उर-चंदन॥७॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लखन अरु सीता॥८॥

दोहा—राम-लखन-सीता-सहित, सोहत परननिकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची-जयंत समेत॥१४१॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी जिस तरह सुख पावें, श्रीरघुनाथजी वही करते और वही कहते हैं॥१॥ पुरानी कथा-कहानी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं॥२॥ जब-जब श्रीरामजी श्रीअवध का स्मरण करते हैं तब-तब आँखों में आँसू भरते हैं॥३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, भाई और भाई श्रीभरतजी के स्नेह, शील और सेवा को स्मरण करके॥४॥ कृपासागर प्रभु श्रीरामजी दुखी हो जाते हैं। फिर कुसमय समझकर धैर्य धरते हैं॥५॥ (श्रीरामजी को दुखी) देखकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं जैसे मनुष्य की परछाईं उसके अनुसार होती है॥६॥ धीर, कृपालु और भक्तों के हृदय को (शीतल करने को) चन्दन रूप रघुकुल को आनंद देनेवाले श्रीरामजी प्यारी स्त्री और भाई की दशा देखकर॥७॥ कुछ पवित्र कथाएँ कहने लगे कि जिन्हें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सुख पाते हैं॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी पर्णकुटी में ऐसे सोह रहे हैं जैसे जयंत और इन्द्राणी के साथ अमरावती में इन्द्र (सोहते हैं)॥१४१॥

विशेष—(१) 'जब-जब राम अवध सुधि'''—श्रीरामजी ने तमसा तट पर पुरवासियों की दशा देखी ही है। चलते समय मातायें और पिताजी एवं नगर के लोग अत्यन्त दुखी हुए। उन्हें स्मरण करके आप भी दुखी होते हैं। इसीसे 'कृपा सिंधु' कहा है; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज बानि करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)।

(२) 'सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।'—वाल्मी० २।९४-९५ में श्रीसीताजी को प्रसन्न करने के लिये श्रीरामजी का बहुत कहना है और गी० अ० ४४ भी पढ़ने योग्य है।

(३) 'जिमि बासव बस अमरपुर'''—राज्य छूट गया। वन को आये हैं। अतः, दुखी होंगे। इस शंका के निवारण करने के लिये कहते हैं कि आपको इन्द्र का-सा सुख है। श्रीसीताजी इन्द्राणी की तरह और श्रीलक्ष्मणजी जयंत की तरह सुखी हैं। देवताओं ने ही कुटी बनाई। देवता लोग प्रार्थना भी करते हैं। अतः, अमरावती का-सा सुख है; यथा—"देवगंधर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम्।" (वाल्मी० ११११२)।

(४) बृहद्रामायण के चित्रकूट माहात्म्य प्रसंग में यहाँ श्रीरामजी के गोप्य रहस्य रास-विहार आदि कहे गये हैं। उन सबको इस उपमा से सूचित किया। ऊपर से देखने में तो मुनि वेष में ही विशेष शोभा है।

जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचनगोलक जैसे ॥१॥
सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिवेकी पुरुष सरीरहिं ॥२॥
येहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग-मृग-सुर-तापस-हितकारी ॥३॥
कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी की (वा, श्रीरामजी, श्रीसीता-लक्ष्मणजी की) कैसे रक्षा करते हैं, जैसे आँखों की पलकें गोलक की रक्षा करती हैं ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी और श्रीरामजी की (वा, श्रीलक्ष्मण-सीताजी रघुवीर की) ऐसी सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी पुरुष शरीर की ॥२॥ इस तरह पक्षी, पशु, देवता और तपस्वियों के हित करनेवाले प्रभु वन में सुखपूर्वक वास कर रहे हैं ॥३॥ *मैंने श्रीरामजी का सुन्दर-वन-गमन कहा; अब जिस तरह श्रीसुमंत्रजी श्रीअवध को आये, वह सुनो ॥४॥*

विशेष—(१) 'जोगवहिं प्रभु ''सेवहिं लखन '''—इनमें दो-दो प्रकार के अर्थ किये गये, दोनों ही ग्राह्य हैं। दूसरे अर्थ में श्रीसीताजी की भी सेवा आ जाती है। 'सेवहिं' क्रिया भी बहुवचन की हो सकती है, आदर के लिये कम सँभावना है, लें तो एक वचन में भी रह सकती है। पलकें नीचे-ऊपर की दो हैं, वैसे श्रीसीताजी और रामजी दो हैं। श्रीलक्ष्मणजी की रक्षा करते हैं, इससे दास पर प्रेम सूचित किया। अविवेकी पुरुष देह ही को आत्मा एवं सर्वस्व मानकर सेता है। दिन-रात इसीके पोषण में लगा रहता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी को अन्य किसी बात की सुधि ही नहीं रहती। 'येहि बिधि'—उपर्युक्त—'जिमि बासव ......'।

(२) 'कहेउँ राम बन गवन'''—श्रीरामजी का अभीष्ट वन के लिये था, इसी से वे चौगुन चाव से आये। मार्ग में प्रेमियों को सुख देते और मुनियों से समागम करते हुए आये, इससे इसे 'सुहावा' कहा है। पुनः पिता-मरण आदि शोकमय चरितों की अपेक्षा तो यह सुहावा है ही।

(३) "राम तुरत मुनि वेष बनाई। चले जनक जननी सिर नाई ॥" (दो० ७८); उपक्रम है और यहाँ—'कहेहु राम वन·····' यह उपसंहार है।

"चित्रकूट जिमि बस भगवाना" प्रकरण समाप्त

"सचिवागवन नगर नृप मरना" प्रकरण

फिरेउ निषाद प्रभुहि पहुँचाई। सचिवसहित रथ देखेसि आई ॥५॥
मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयेउ विषादू ॥६॥
राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल व्याकुल भारी ॥७॥
देखि दखिनदिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥८॥

दोहा—नहिं तृन चरहिं न पियहिं जल, मोचहिं लोचन बारि।
व्याकुल भये निषाद सब, रघुबर-बाजि निहारि ॥१४२॥

अर्थ—निषाद (गुह) प्रभु को पहुँचा कर लौटा, रथ को मंत्री समेत आकर देखा ॥५॥ मंत्री को व्याकुल देखकर निषाद को जैसा विषाद हुआ, वह कहा नहीं जा सकता ॥६॥ राम, 'राम-सिय-लक्ष्मण' ऐसा पुकारकर जमीन पर भारी व्याकुल पड़ा है ॥७॥ दक्षिण दिशा को देख-देखकर घोड़े हिन-हिनाते हैं, मानों बिना पक्ष के पक्षी अकुला रहे हों ॥८॥ न घास चरते हैं और न जल पीते हैं। नेत्रों से आँसू गिरा रहे हैं रघुबर श्रीरामजी के घोड़ों को देखकर सब निषाद व्याकुल हो गये ॥१४२॥

विशेष—(१) 'देखि दखिन दिसि····'—क्योंकि श्रीरामजी इसी दिशा में गये हैं, आते होंगे। 'जनु बिनु पंख····'—पक्षी पक्ष के बिना पराधीन हो जाता है; वैसे ये बँधे हुए हैं। नहीं तो प्रभु के पास चले जाते। जैसे पक्षी उड़कर चाहे जहाँ चले जाते हैं। अत्यन्त दीन हैं; यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ५६)।

धरि धीरज तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू ॥१॥
तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता ॥२॥
बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥३॥
सोकसिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर - बिरह - पीर उर बाँकी ॥४॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥५॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम - बियोग बिकल दुख तीछे ॥६॥
जो कह राम लखन बैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिं तेही ॥७॥
बाजि-बिरह-गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती ॥८॥

दोहा—भयेउ निषाद बिषादबस, देखत सचिव-तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग ॥१४३॥

गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह-बिषाद बरनि नहिं जाई ॥१॥

अर्थ—धैर्य धारण करके तब निषाद कहने लगा कि हे सुमन्त्रजी! अब विषाद छोड़ो ॥१॥ तुम पंडित हो, परमार्थ के जानने वाले हो। विधाता को विपरीत जानकर धैर्य धारण करो ॥२॥ कोमल वाणी से तरह-तरह की कथाएँ कह-कह कर (धैर्य न होने पर) बलात् (जबरदस्ती) उन्हें लाकर रथ में बैठाया ॥३॥ शोक से (सब अंग) ढीले पड़ गये हैं। (इससे वे) रथ को हाँक नहीं सकते। हृदय में रघुवर-विरह की बड़ी तीक्ष्ण पीड़ा है ॥४॥ घोड़े छटपटाते (दुःख से व्याकुल होकर लोटते-पोटते) हैं। मार्ग पर नहीं चलते। मानों जंगली पशु लाकर रथ में जोड़े गये हो ॥५॥ ठोकर खाकर गिर-गिर पड़ते हैं। लौटकर पीछे की ओर देखते हैं। श्रीरामजी के वियोग के तीक्ष्ण दुःख से व्याकुल हैं ॥६॥ जो कोई 'राम, लक्ष्मण और वैदेही' ऐसा कहता है, हिन-हिनाकर प्रेम-पूर्वक उसकी ओर देखने लगते हैं ॥७॥ घोड़ों के विरह की दशा कैसे कही जाय? जैसे मणि के बिना सर्प व्याकुल हो (ऐसी दशा है) ॥८॥ मंत्री और घोड़ों को देखकर निषाद-राज विषाद के वश हो गये। तब चार अच्छे सेवकों को बुलाकर सारथी (श्रीसुमंत्रजी) के साथ कर दिया ॥१४३॥ गुह सारथी को पहुँचाकर लौटा। बिछोह का दुःख कहा नहीं जाता ॥१॥

विशेष—(१) 'तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता।...'—पंडित हो, इससे सत्-असत् जानते हो कि सत् धर्म है। पिता की आज्ञा पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को ग्रहणकर श्रीरामजी कैसे छोड़ें? परमार्थ के ज्ञाता हो। अतः, इस अचानक विषम घटना को दैवी दुर्घटना अतएव अमिट समझकर धैर्य धरो। शोक करना व्यर्थ है। 'बरबस आनी'—जब श्रीरामजी गये तब ये रथ से दूर तट पर जाकर ऊँचे से श्रीरामजी का गंगा पार-होना देखते थे। जब वे ओझल हो गये तब वहीं पर गिर पड़े थे। इससे लाकर रथ पर बैठाना पड़ा।

(२) 'बन मृग मनहुँ...'—घोड़े इधर-उधर भागते हैं, ऐड़ें मारते हैं, वन ही की ओर को भागते हैं, मानों रथ में चलना ही भूल गये। जैसे जंगली पशु रथ में जोतने से फरफरावें।

(३) 'राम-बियोग बिकल दुख तीछें'—सुमंत्रजी की माधुर्य-दृष्टि थी, वे राजकुमार रघुकुल-श्रेष्ठ के बिछोह से दुखी थे, इसलिये वहाँ 'रघुबर बिरह' कहा गया। घोड़ा के सम्बन्ध में 'राम-बियोग' कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी घोड़ों में भी रमते हैं। अतः, वियोग में वे छटपटाते हैं, क्योंकि—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); कहा ही है।

(४) 'बाजि-बिरह-गति किमि...'—कवि तो अक्षर-अर्थ पाकर कुछ कहता है। घोड़े तो कुछ बोल नहीं सकते तो इनकी दशा कैसे कही जाय? वा, जिसे श्रीरामजी मिल के बिछुड़े हों, वही जाने और कहे। हाँ, देखने में दशा वैसी है, जैसे सर्प की सर्वस्वरूपा मणि के बिना दशा हो जाय।

(५) 'भयेउ निषाद बिषादबस...'—निषाद हिंसक जाति होने से कठोर-चित्त होते हैं। जब वे ही दुखी हो गये तो औरों का क्या कहना है। 'सुसेवक चारि'—जो मंत्री और घोड़ों की भी सेवा चार दिये कि चारों घोड़ों को लीक पर थाम्हे हुए ले जायँ।

चले अवध लेइ रथहिं निषादा। होहिं छनहिं छन मगन बिषादा ॥२॥
सोच सुमंत्र बिकल दुखदीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥३॥
रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ॥४॥
भये अजस-अघ-भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥५॥
अहह मंद मन अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥६॥
मींजि हाथ सिर धुनि पछताई। मनहुँ कृपन धनरासि गँवाई ॥७॥
बिरद बाँधि बरबीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥८॥

दोहा—बिप्र बिबेकी बेदबिद, संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद-पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४४॥

अर्थ—निषाद-लोग रथ को लेकर अयोध्या को चले। वे क्षण-क्षण पर विषाद में डूब जाते हैं ॥२॥ दुःख से दीन और व्याकुल होकर सुमंत्रजी शोच रहे हैं कि रघुवीर के बिना हमारे जीने को धिक्कार है ॥३॥ अंत में यह अधम शरीर नहीं ही रहेगा (एक दिन छूटेगा ही), पर इसने रघुवीर के बिछुड़ते हुए यश न पाया (अर्थात् बिछुड़ते ही प्राण-त्याग होने से प्रेम के सच्चा होने का यश होता, पर वह न हो पाया ॥४॥ प्राण अपयश और पाप के पात्र हुए हैं, न जाने किस लिये नहीं जाते ॥५॥ हा! यह मंद मन अवसर चूक गया, अब भी तो हृदय दो टुकड़े नहीं होता ॥६॥ हाथ मलकर, हाथों से शिर पीटकर पछताते हैं, मानों कोई कंजूस अपने धन की राशि खो बैठा हो ॥७॥ वीर का बाना बाँधकर और बड़ा वीर कहलाकर मानों कोई योद्धा लड़ाई में से भाग चला हो ॥८॥ जैसे कोई विवेकी, वेदवेत्ता, साधु-सम्मत और श्रेष्ठ-जाति का ब्राह्मण धोखे से मदिरा पान कर जाये और पछतावे, वैसे ही मंत्रीजी शोच रहे हैं ॥१४४॥

विशेष—(१) 'सोच सुमंत्र···'—मार्ग में सुमंत्रजी का शोचना कहते हैं कि वे प्रथम श्रीराम-विरह के जीवन को धिक्कारते हैं, फिर शरीर की निंदा और फिर उसके आधार-भूत प्राणों की निन्दा और पीछे मन की निन्दा करते हैं, क्योंकि यह प्राणों का भी आधार है और यही दुःख का अनुभव करनेवाला है। फिर मन के रहने के आधार-भूत हृदय को ही दूषते हैं कि यही दो टुकड़े क्यों न हो गया तब तो उपर्युक्त सभी को निकलने पड़ते। 'अहह' अत्यंत खेद सूचक है। 'अजस अघ'—छूट जाता तो यश होता, अन्यथा अयश हुआ। पुरवासियों से छिपाकर तमसा के किनारे से लेकर भागे, यह पाप किया। उसीके फल-रूप में अपयश हो रहा है।

(२) 'मनहुँ कृपिन धनरासि···' कृपण को धन बहुत प्रिय होता है, थोड़ा-सा भी धन खो जाने से उसे बहुत दुःख होता है और जो कहीं उसके धन की राशि ही खो जाय तो क्या कहना है? उसके दुःख की सीमा नहीं। यहाँ सुमंत्रजी कृपण हैं, उन्हें श्रीराम-जानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी बहुत प्रिय हैं, इन तीनों में से एक के भी न लौटने से उन्हें बहुत दुःख होता और तीनों नहीं लौटे तो सुमंत्रजी को निस्सीम दुःख हुआ। अपनी भूल पर शोचते हैं कि हमने तमसा-तट पर पुरजनों को भी न जगा दिया।

(३) 'बिरद बाँधि बरबीर'''—सुमंत्रजी वीर-रूप चतुर थे, श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हराकर विजय-रूप में लौटा लायँगे, यह इन्हें आशा थी। परन्तु न तो श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हरा सके कि वे लौटते और उक्त विजय होती और न समर में जूझ मरने की तरह साथ ही गये, किंतु समर में भागने की तरह खाली रथ लेकर लौटे। अतः, इन्हें उस भागे हुए सुभट की तरह दुःख हुआ।

(४) 'बिप्र बिबेकी बेद बिद'''—इन सब गुणों से युक्त ब्राह्मण प्यास के कारण जल के धोखे में मदिरा पी जाय तो उसे मरण के समान दुःख होता है। वैसे सुमंत्रजी नीति-कुशल, विवेकी और शास्त्रज्ञ थे। अच्छे मंत्री थे। राजा के वचन-रूपी जल के धोखे में पड़ के श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी को स्नेह-पूर्वक रथ पर लेकर चले कि नृप वचन के बल से समझा बुझाकर लौटा लाऊँगा, पर वे तीनों न लौटे तो अब स्नेह-रूप मदिरा पीने के प्रति पछताते हैं कि हम स्नेह से नाहक चले और रथ पर चढ़ाकर वन को चले, पुनः उनके स्नेह-वश हो आधी रात में सोते हुए पुरवासियों से चुराकर ले भागे। अब किसी को कौन मुँह दिखाऊँगा। वन ले जाकर छोड़ आने का अपयश होगा। अतः, स्नेह ही मदिरा हो गया; यथा—"जाहि सनेह सुरा सब छाकें।" (दो० १२४); धोखा यह हुआ कि पहले इन्होंने विचार न कर लिया कि मैं किसका भेजा हुआ लौटाने जा रहा हूँ ? वनवास तो कैकेयी ने दिया; यथा—"मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥" (दो० ७८); तब राजा के वचन से श्रीरामजी कैसे लौटेंगे ? लौटने पर कैकेयी विरोध करेगी और श्रीरामजी को भी भ्रष्ट-प्रतिज्ञ कहेगी, इत्यादि विचार किये होते तो लौटाने की आशा से रथ पर लेकर न आते और न रात में तमसा-तट से ले भागने की भी घटना होती।

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम - मन - बानी ॥१॥
रहइ करमबस परिहरि नाहू। सचिव - हृदय-तिमि दारुनदाहू ॥२॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥३॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधिकपाटी ॥४॥
बिबरन भयेउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥५॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जम-पुर - पंथ सोच जिमि पापी ॥६॥
बचन न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई ॥७॥
रामरहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥८॥

दोहा—धाइ पूँछिहहिं मोहि जब, बिकल नगर नर-नारि।
उतर देब मैं सबहिं तब, हृदय बज्र बैठारि ॥१४५॥

अर्थ—जैसे कोई उत्तम कुलवाली स्त्री, साधु, सयानी और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता हो ॥१॥ वह कर्म (संस्कार) वश स्वामी को छोड़कर रहे वैसे सुमंत्रजी के हृदय में कठिन दुःख है ॥२॥

नेत्रों में जल भरा है, दृष्टि कम हो गई है, कानों से सुनाई नहीं पड़ता, व्याकुल होने से बुद्धि बावली-सी हो गई ॥३॥ ओष्ठ सूख रहे हैं, मुँह में लाटी लग गई (थूक सूख गया, यह असाध्य लक्षण है तब भी) प्राण नहीं निकलते, क्योंकि हृदय (रूपी कोठरी) में अवधि-रूपी किवाड़े लगे हैं; अर्थात् आशा है कि १४ वर्ष बीतने पर श्रीरामजी फिर मिलेंगे, इस आशा से प्राण नहीं निकलते ॥४॥ (मन्त्री) पीला पड़ गया, वह देखा नहीं जाता, मानों इसने अपने माता-पिता को मार डाला है (उनकी हत्या लगी है) ॥५॥ हानि और ग्लानि मन में बहुत व्याप्त हो गई है, जैसे कोई पापी यमपुरी (नरक) को जाते हुए राह में शोचे ॥६॥ बोला नहीं जाता, हृदय में पछता रहा है, मैं अयोध्या में जाकर क्या देखूँगा? ॥७॥ जो कोई भी रथ को श्रीरामजी से रहित देखेगा, वह मुझे देखकर सकुचेगा, अर्थात् मेरा मुँह देखना न चाहेगा ॥८॥ जब नगर के स्त्री-पुरुष व्याकुल हो दौड़कर मुझसे पूछेंगे, तब मैं हृदय पर वज्र रखकर सबको उत्तर दूँगा ॥१४५॥

विशेष—(१) 'जिमि कुलीन तिय······'—उत्तम कुल की, सन्मार्ग-वर्त्तिनी, पंडिता और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता स्त्री हो, वह पति के मरने पर सती होने से कर्म-वश (गर्भवती होने के कारण पति की प्रथम दी हुई आज्ञा से) रह जाय, तो उसे पति-वियोग का भारी दाह हो। वैसे श्रीसुमंत्रजी को श्रीरामजी की आज्ञा-वश उनके साथ न जा पाने से दारुण दाह हुआ; यथा—"मेटि जाइ नहि राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥" (दो० ९८); जैसे कि राजा बलि की माता को मरने के पहले उसके पति विरोचन ने आज्ञा दी थी कि तुम्हारे गर्भ में जो बालक है, वह धर्मात्मा है, इसलिये तुम सती न होना। फिर बलि का जन्म हुआ, किंतु बलि की माता को पति को छोड़कर रह जाने का कठिन दाह हुआ ही।

(२) 'लोचन सजल डीठि भइ······'—आँखों में आँसू भर आने से दिखाई नहीं पड़ता, कोई कहकर समझावे, तो सुनाई नहीं पड़ता और अपनी बुद्धि बावली हो रही है, समझे कैसे?

(३) 'मारेसि मनहुँ पिता ·····'—श्रीरामजी पिता, और श्रीजानकीजी माता के समान हैं, क्योंकि राजा एवं राजपुत्र हैं, इनका वन भेजना वध करना है, यह समझने से हत्यारे की-सी आकृति हो गई है, ऐसे पापी का लोग मुँह नहीं देखते, वही आगे कहते हैं—'राम रहित रथ······सकुचिहि मोहिं······'।

(४) 'जम-पुर-पंथ सोच ····'—श्रीराम-रहित होने से अयोध्या यमपुरी के समान है, श्रीसुमंत्रजी ने अपनेको पापी माना है शोचते हैं कि मैंने श्रीरामजी को पुरवासियों से भी चुराकर वन भेज आने का महा पाप किया है, यमराज-रूप राजा के पूछने पर मैं इसका क्या उत्तर दूँगा।

(५) 'हृदय बज्र बैठारि'—जैसे मकान न फटने के लिये चूना आदि से जमाकर पत्थर बैठाया जाता है, वैसे हृदय न फट जाने के लिये उसपर वज्र बैठाकर ही उत्तर देना होगा; अर्थात् हृदय अत्यन्त कठोर करके उत्तर देना होगा; यथा—"हौं तो दियो छाती पवि ····" (वि० २५६)।

जोइ पूँछिहि तेहि ऊतर देबा । जाइ अवध अब यह सुख लेबा ॥५॥
पूँछिहि जबहि राउ दुख दीना । जिवन जासु रघुनाथ-अधीना ॥६॥
देहउँ उतर कवन मुँह लाई । आयेउँ कुसल कुँअर पहुँचाई ॥७॥
सुनत लखन - सिय - राम - सँदेसू । तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ॥८॥

दोहा—हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर ।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यह जातना - सरीर ॥१४६॥

अर्थ—सब दीन दुखी माताएँ पूछेंगी, हे विधाता ! तब मैं उनसे क्या कहूँगा ? ॥१॥ जब श्रीलक्ष्मणजी की माता पूछेंगी, तब मैं कौन सुखदाई सँदेशा कहूँगा ? ॥२॥ जब श्रीरामजी की माता इस तरह दौड़ती हुई आवेगी, जैसे नवीन ब्याई गाय बछड़े का स्मरण करके दौड़कर आती है ॥३॥ उनके पूछने पर मैं यही उत्तर दूँगा कि श्रीरामजी लक्ष्मणजी और जानकीजी वन को गये ॥४॥ जो ही पूछेगा, उसी को उत्तर दूँगा, श्रीअवध में जाकर अब मैं यही सुख लूँगा ॥५॥ जब दुःख से दीन राजा पूछेंगे जिनका जीवन रघुनाथजी के (दर्शनों के) अधीन है ॥६॥ तब मैं कौन मुँह लगाकर उत्तर दूँगा कि कुमार को पहुँचाकर मैं कुशल पूर्वक आ गया ।७॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी का सदेशा सुनकर राजा तिनके की तरह शरीर छोड़ देंगे ॥८॥ प्रियतम प्यारे रूपी जल के बिछुड़ते मेरा हृदय कीचड़ की तरह फट न गया, इससे जान पड़ता है कि विधाता ने यह मुझे यम-यातना शरीर (नरक के कष्ट भोगने के लिये) दिया है ॥१४६॥

विशेष—(१) श्रीसुमंत्रजी शोचते जाते हैं कि किसे क्या उत्तर दूँगा । पुरवासियों के प्रति तो इतना कह सकते हैं कि आप लोगों का पालन श्रीभरतजी भी करेंगे ही, पर यह भी छाती अत्यन्त कठोर करके कहना पड़ेगा । फिर और सब माताएँ श्रीसुमित्राजी, श्रीकौशल्याजी इत्यादि के लिये कोई उत्तर नहीं पाते, निष्ठुर बात कैसे कहेंगे कि वन भेज आये । फिर शोचते हैं—'जोइ पूछिहि ···'—अर्थात् कैकेयी जानती है कि श्रीसुमंत्रजी लौटाने के लिये भेजे गये हैं। अत, वह भी पूछेगी, (राम विमुखा का नाम नहीं लेते 'जोइ' के संकेत से कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त पूछनेवालों में यही एक नहीं कही गई ।) तो उसे भी कहना ही होगा कि हाँ, वन को भेज आये, इसपर हर्षेगी, यह मुझसे कैसे सहा जायगा ? हा ! अब श्रीअवध जाकर यही तो सुख लेना है।

(२) 'पूछिहि जबहिं राउ दुख ···'—उनका जीवन श्रीरामजी के बिना नहीं है; यथा—"ततरु निपट अवलंब बिहीना । मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना ॥" (दो० ५५), 'कौन मुँह लाई'—इस मुख से ऐसा न कहा जायगा कि कुमारों को पहुँचाकर मैं सकुशल आ गया, वा, कुमार कुशल पूर्वक वन को चले गये, मैं पहुँचा आया ।

(३) 'तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ।' यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ।" (दो० ११) ।

(४) 'हृदय न बिदरेउ पंक जिमि···'—प्रियतम जल के वियोग में कमल, मछली आदि उत्तम कोटि के प्रेमी तो प्रथम ही मर जाते हैं। कीचड़ कुछ दिनों के बाद फटता है, अतएव निकृष्ट प्रेमी है, मेरा हृदय जो राम-वियोग होते ही फट गया होता, तो उत्तम कोटि का प्रेम समझा जाता । अब कई दिन बीत

गये। अब फटता, तो भी कीचड़ की तरह निकृष्ट प्रेमियों में कहा जाता, पर वह भी न हुआ। अतएव कीचड़ से भी नीच है। इससे तो यही जान पड़ता है कि मुझे ब्रह्मा इसी देह से यम-यातना का दु:ख भोगाना चाहता है। यातना-शरीर—मरने के पीछे पाप कर्मों के फल भोगने के लिये मोम के पुतले के समान लिंग-शरीर मिलता है। काटने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, फिर वह वैसा ही हो जाता है। पर काटने आदि का दु:ख इसी स्थूल शरीर के काटने आदि के दु:ख की तरह होता है।

येहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा-तीर तुरत रथ आवा ॥१॥
बिदा किये करि बिनय निषादा। फिरे पाँय परि बिकल बिषादा ॥२॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु-बाँभन गाई ॥३॥
बैठि बिटपतर दिवस गँवावा। साँझ समय तब अवसर पावा ॥४॥
अवधप्रवेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथ राखि दुआरे ॥५॥
जिन्ह-जिन्ह समाचार सुनि पाये। भूप-द्वार रथ देखन आये ॥६॥
रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे ॥७॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन गन जैसे ॥८॥

दोहा—सचिव आगमन सुनत सब, बिकल भयेउ रनिवास।
भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेतनिवास ॥१४७॥

अर्थ—(मंत्रीजी) इस तरह मार्ग में पश्चात्ताप करते हुए जा रहे हैं कि शीघ्र ही रथ तमसा किनारे आ पहुँचा ॥१॥ विनती करके निषादों को विदा किया। वे चरणों पर पड़कर दु:ख से व्याकुल लौटे ॥२॥ नगर में पैठते हुए मंत्री सकुच रहे हैं, मानों उन्होंने गुरु, ब्राह्मण और गऊ को मारा है ॥३॥ पेड़ के नीचे बैठकर दिन बिता दिया। संध्या का समय हुआ, तब अवसर पाया ॥४॥ अँधेरे में श्रीअवध में प्रवेश किया। रथ को द्वार पर रखकर राज-भवन में गये ॥५॥ जिन-जिन लोगों ने समाचार सुन पाया वे राज-द्वार पर रथ देखने आये ॥६॥ रथ को पहचान और घोड़ों को व्याकुल देख—कि उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं, जैसे धूप से ओले (गलते हों) ॥७॥—नगर के स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल हैं, जैसे कि जल को घटते हुए समझ मछलियों का समुदाय व्याकुल हो ॥८॥ मंत्री का आना सुनकर रनिवास व्याकुल हो गया, उसे राजमहल ऐसा भयावन लगा कि मानों प्रेत का निवास-स्थान है ॥१४७॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत पंथ···' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बचन न आव हृदय पछिताई।" (दो० १४४) है। पुनः शोच का उपक्रम—"जम पुर पंथ सोच जिमि पापी।" (दो० १४४); से हुआ और उपर्युक्त—'यह जातना सरीर' पर उपसंहार है।

पापी इसी तरह शोचता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचता है जैसे श्रीसुमंत्रजी तमसा तट पर पहुँचे। तम+सा=तम से युक्त, इस तरह तमसा ही मानों वैतरणी है। ऊपर शोच का उपक्रम और उपसंहार यमपुर के प्रसंग पर है ही।

(२) 'पैठत नगर सचिव···'—तमसा नदी से आगे चलने को नगर में पैठना कहते हैं। इससे जाना गया कि उस समय दक्षिण दिशा में तमसा तक नगर बसा था और उत्तर में सरयू तक। 'सचिव' अर्थात् ये उत्तम मंत्री थे, पर ये ऐसा चूके हैं कि आज नगर में प्रवेश करते हुए लजाते हैं। संकोच की दशा उपमा से जनाते हैं; यथा—'जनु मारेसि गुरु···'. श्रीरामजी गुरु, श्रीलक्ष्मणजी ब्राह्मण और श्रीजानकीजी गाय हुईं। सुमंत्रजी इनको वन पहुँचाना मारने के समान समझे हुए हैं।

(३) 'साँझ समय तब···'—यह चांडाल समय कहा जाता है; हत्यारे के योग्य है।

'अध प्रवेस कीन्ह अँधियारे'—नगर भर में शोक है। इससे दीपक नहीं जलते। अँधेरे में पैठा कि कोई हमें न देखे। कवि शब्दों के द्वारा श्रीसुमंत्रजी की आतुरता दिखाते हैं। 'पैठ भवन' पहले कहकर तब 'रथ राखि' कहा है; अर्थात् लज्जा से शीघ्र ही महल में घुस गये।

(४) 'समाचार सुनि पाये'—सब लोग सुधि लेते थे कि श्रीसुमंत्रजी गये हैं, क्या होगा? इसीसे आते ही जान गये, 'गरहि गात जिमि आतप ओरे'— अर्थात् घोड़े श्वेत वर्ण के हैं। उनके शरीर से पसीना चल रहा है। जैसे धूप में बर्फ गलती है। वियोग की ताप में गले जाते हैं।

(५) 'नगर-नारिनर···'—जब पशुओं की वैसी दशा है, तो ये तो मनुष्य हैं। अतः, इन्हें जल बिना मछली के समान कहा। 'मीन गन'—क्योंकि नगर ४८ क्रोस का है और उसमें स्त्री-पुरुष भी बहुत हैं।

अति आरति सब पूछहिं रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी ॥१॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृप जेहि तेहि बूझा ॥२॥
दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृह गईं लिवाई ॥३॥
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिअरहित जनु चंद बिराजा ॥४॥
आसन-सयन-बिभूषन-हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना ॥५॥
लेइ उसासु सोच येहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती ॥६॥
लेत सोच भरि छिन छिन छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥७॥
राम राम कह रामसनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही ॥८॥

अर्थ—रानियाँ अत्यन्त आर्त्त होकर पूछ रही हैं, पर मंत्री की वाणी व्याकुल हो गई है, इससे उत्तर नहीं कहा जाता ॥१॥ कानों से सुनाई नहीं पड़ता, आँखों से देख नहीं पड़ता। जिस-तिस से उसने पूछा कि राजा कहाँ हैं? ॥२॥ मंत्री की व्याकुलता देखकर दासियाँ उसे कौशल्याजी के गृह में लिवा ले गईं ॥३॥ श्रीसुमंत्रजी ने जाकर राजा को कैसा देखा कि मानों अमृत-रहित होने पर चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥४॥ आसन, शय्या और आभूषणों से रहित अत्यन्त मलिन राजा पृथिवी पर पड़े हुए हैं ॥५॥ ऐसी लंबी साँसें लेते और शोच कर रहे हैं कि मानों स्वर्ग से राजा ययाति गिरे हुए (साँसें लेते और शोचते रहे) हैं ॥६॥ क्षण-क्षण पर सोच से छाती भर-भर लेते हैं। मानों परों के जलने पर संपाती गिरा पड़ा है राजा राम, राम, स्नेही राम, ऐसा (बार-बार) कह रहे हैं। फिर 'राम-लक्ष्मण-वैदेही' कहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'अति आरति सब'''—अत्यन्त आर्त होने से सब रानियाँ एक साथ ही पूछ रही हैं, 'बिकल भइ बानी'—कंठ गद्-गद् हो गया या (वाणी की अधिष्ठात्री देवी) सरस्वती ही व्याकुल हो गईं, तो उत्तर कैसे दें।

(२) 'कहहु कहाँ नृप'''—राजा कहाँ हैं बस, यही धुन लग गई। श्रवण आदि इन्द्रियाँ विकल हैं। 'दासिन्ह दीख'''कौसल्या गृह'''—राजा कैकेयी का त्याग तो पहले ही कर चुके थे। श्रीरामजी के चले जाने पर कैकेयी के घर में भी रहना त्याग दिया। वाल्मीकीय अ० स० ४२ में कहा है—"श्रीरामजी के चले जाने पर राजा देखने के लिये निकले, जब तक रथ की धूल भी देख पड़ती थी। देखते रहे फिर व्याकुल होकर गिर पड़े, तब श्रीकौशल्याजी और कैकेयीजी ने उठाना चाहा, तब राजा ने कैकेयीजी का त्याग किया और वे श्रीकौशल्याजी के ही भवन लाये गये।" इससे मंत्री को दासियाँ वहीं लिवा ले गईं।

(३) 'अमिअ-रहित जनु चंदु बिराजा।'—अमृत रहित चन्द्रमा में प्रकाश, आह्लादकत्व आदि कोई गुण नहीं रहते, वैसे राजा तेजहीन, असमर्थ पड़े हैं। राम-विरह में यह दशा सराहनीय है; अतः, 'बिराजा' कहा गया है; यथा—"चकई साँझ समय जनु सोही।'''" (दो० १२०)।

(४) 'सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती।'—राजा ययाति १००० वर्ष से अधिक वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तप करके स्वर्ग को गये। वहाँ इन्द्र ने इनसे पूछा कि वनवास में आपने किसके समान तप किया था? राजा ने अभिमान-पूर्वक कहा कि देव, मनुष्य और ऋषियों में मुझे अपने तप के समान किसी का तप नहीं दिखता। इस तरह अपनेसे उत्तम और बराबरवालों का अपमान करने से राजा के पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्ग से गिरा दिये गये। इसपर स्वर्ग के देवताओं ने शोक प्रकट किया। उनकी कृपा से राजा, अष्टक राजर्षि की यज्ञभूमि में आ टिके। अष्टक के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि स्वर्ग में तप, दान, शांति, दान्ति, लोकलाज, सरलता और दया ये सात द्वार हैं। अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होने से सातों नाश हो जाते हैं। अतः, अपनी करनी का स्वयं बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययाति के नाती थे, इनके पुण्य से वे फिर स्वर्ग में जा प्राप्त हुए, भूमि पर न गिर सके। यह कथा महाभारत आदि पर्व अ० ७०–८३ में है।

वैसे ही राजा दशरथ श्रीराम-तिलक रूपी स्वर्ग तक पहुँच चुके थे, पर कैकेयी के धोखे में पड़कर इन्होंने सत्य धर्म की सराहना की और राम-शपथ भी कर ली। उसी का परिणाम हुआ कि उक्त मनोरथ रूपी स्वर्ग से गिरे। धर्मात्मा भरत-रूपी अष्टक के प्रेम-प्रभाव से श्रीराम-तिलक भी १४ वर्ष पीछे होगा, यही इनका फिर स्वर्ग मिलना है; यथा—"इच्छेयं त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम्।" (वाल्मी० ६।११४।२०)।

(५) 'जनु जरि पंख परेउ संपाती'—संपाती ने अपनी कथा कि० दो० २७ में स्वयं कही है, अपनी मूर्खता से उसके दोनों पंख जले, वैसे ही राजा पछताते हैं कि मैं अपनी मूर्खता से स्त्री के विश्वास में पड़ा; अतः, मेरी यह अति हीन दशा हुई। मैं दोनों पंख रूप श्रीसीतारामजी से रहित हुआ। संपाति के पंख फिर जमे, वैसे रावण-वध पर पंखरूप श्रीसीतारामजी फिर मिलेंगे।

दोहा—देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनाम।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ राम ॥१४८॥

भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई ॥१॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि वारी ॥२॥
राम-कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लखन बैदेही ॥३॥
आने फेरि कि बनहि सिधाये। सुनत सचिव - लोचन जल छाये ॥४॥
सोक - बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय - राम - लखन - संदेसू ॥५॥
राम - रूप - गुन - सील - सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥६॥
राज सुनाय दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू ॥७॥
सो सुत बिछुरत गये न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना ॥८॥

दोहा—सखा राम-सिय-लखन जहँ, तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहित चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ ॥१४९॥

अर्थ—मंत्री ने राजा को देखकर जय जीव कहकर दंडवत्-प्रणाम किया, राजा सुनते ही व्याकुल होकर उठे (और बोले), सुमंत्र ! कहो, राम कहाँ हैं ? ॥१४८॥ राजा ने सुमंत्रजी को हृदय से लगा लिया, मानों डूबते हुए कुछ सहारा पा गये ॥१॥ प्रेम-समेत पास बैठाकर राजा आँखों में आँसू भरकर पूछ रहे हैं ॥२॥ हे स्नेही सखा ! श्रीरामजी की कुशल कहो, श्रीरघुनाथजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीवैदेहीजी कहाँ हैं ? ॥३॥ लौटा लाये हो कि वन को ही चल दिये, सुनते ही मंत्री की आँखों में जल छा गया ॥४॥ शोक से विकल हो राजा फिर पूछते हैं कि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संदेश कहो ॥५॥ श्रीरामजी का रूप, गुण, शील-स्वभाव स्मरण करके राजा हृदय में शोचते हैं ॥६॥ कि हमने राज्य (तिलक) सुनाकर वनवास दिया, यह सुनकर (भी श्रीरामजी के) मन में न हर्ष हुआ और न शोक ॥७॥ ऐसे पुत्र के बिछुड़ते ही प्राण न निकले, तो मेरे समान कौन बड़ा पापी होगा ? ॥८॥ हे सखा ! जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, वहीं मुझे पहुँचाओ, नहीं तो मैं सत्य भाव से कहता हूँ कि अब प्राण चलना चाहते हैं ॥१४९॥

विशेष—(१) 'कछु अधार'—अर्थात् सुमंत्र से कुछ काल तक प्रियपुत्र का सँदेश मिलेगा; यही कुछ आधार होगा, अन्त में तो डूबना ही है।

(२) 'सोक बिकल पुनि पूछ...'—एक ही बात बार-बार पूछते हैं, क्योंकि शोक से व्याकुल हैं। पूछते हैं कि नहीं लौटे तो कुछ कहा ही होगा, वही कहो।

(३) 'राज सुनाय...सो सुत बिछुरत...'—इसपर—"सुनहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछितावु। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज सोचत राउ..." (गी० अ० ५७) यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम - सुवन - सँदेस सुनाऊ ॥१॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। राम-लखन - सिय नयन देखाऊ ॥२॥

सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी ॥३॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधुसमाज सदा तुम्ह सेवा ॥४॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रियमिलन बियोगा ॥५॥
काल-करम-बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं ॥६॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥७॥
धीरज धरहु बिबेक बिचारी। छाड़िय सोच सकल हितकारी ॥८॥

अर्थ—राजा बार-बार मंत्री से पूछते हैं कि परम प्रिय पुत्र का सदेश सुनाओ ॥१॥ हे सखा! वही उपाय शीघ्र करो (कि जिसमें) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के दर्शन नेत्रों को कराओ ॥२॥ मंत्री ने धैर्य धारण करके कोमल वाणी से कहा कि महाराज! आप पंडित हैं, ज्ञानी हैं ॥३॥ वीर हैं और अच्छे धीरों में धुरंधर (श्रेष्ठ) हैं, देव अर्थात् दिव्य रूप हैं, लोकपालों का तेज आप में हैं॥ आपने सदा ही साधु-समाज का सेवन किया है ॥४॥ जन्म, मृत्यु, सभी दुःख-सुख के भोग, हानि-लाभ, प्रिय का मिलना और बिछुड़ना, ये सब, हे गोसाईं! काल और कर्म के अधीन रात-दिन की तरह बरबस होते रहते हैं ॥५-६॥ मूर्ख लोग सुख में प्रसन्न होते और दुःखमें रोते हैं। धैर्यवान् लोग मन में दोनों को समाना मानते हैं ॥७॥ विवेक से विचार कर धैर्य धरिये, हे सबके हित करनेवाले! शोच छोड़िये ॥८॥

विशेष—(१) 'सचिव धीर धरि कह मृदु···'—स्वामी के भारी दुःख पर अपना दुःख दबा दिया और धैर्य धरके समझाने लगे, इससे 'सचिव' पद दिया गया। 'महाराज'—राजा धीर होते हैं, आप तो महाराज हैं। इन्द्र भी आपके बाहु-बल से बसते हैं। अतः, आपको तो धीर होना ही चाहिये। 'पंडित' = शास्त्र-वेत्ता, ज्ञानी = तत्त्व के वेत्ता।

(२) साधु समाज सदा···'—साधुओं के द्वारा दुःख-सुख सहिष्णुता आती है; यथा—"जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये।" (वि० १३६)।

(३) 'बरबस राति दिवस की नाईं।'—दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का होना अनिवार्य है, वैसे ही काल-कर्म का भोग भी अकाट्य है, परीक्षित ने काल से बचने का बहुत उपाय किया, पर न बचे। वैसे ही राजा नृग कर्म की थोड़ी चूक से भी न बचे, गिरगिट होना ही पड़ा। अतः, अनिवार्य वस्तु को भोगना ही चाहिये।

दोहा—प्रथम बास तमसा भयेउ, दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपान करि, सियसमेत दोउ बीर ॥१५०॥

केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई ॥१॥
होत प्रात बटछीर मँगावा। जटामुकुट निज सीस बनावा ॥२॥
रामसखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥३॥

लखन बान-धनु धरे बनाई । आप चढ़े प्रभु - आयसु पाई ॥४॥
बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा । बोले मधुरबचन धरि धीरा ॥५॥
तात प्रनाम तात सन कहेहू । बार बार पद-पंकज गहेहू ॥६॥

अर्थ—पहला निवास तमसा पर हुआ, दूसरा गंगाजी के तट पर, श्रीसीताजी के साथ दोनों वीर उस दिन स्नान करके जल पीकर ही रह गये ॥१५०॥ केवट ने बहुत सेवा की, वह रात सिंगरौर में बिताई ॥१॥ प्रातःकाल होते ही वट का दूध मँगाया और अपने सिर पर जटाओं का मुकुट बनाया ॥२॥ तब श्रीरामजी के सखा निषादराज ने नाव मँगाई । श्रीरघुनाथजी प्रिया (श्रीसीताजी) को चढ़ाकर स्वयं भी (नाव पर) चढ़े ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी ने धनुष-बाण को सँवारकर रक्खा और प्रभु की आज्ञा पाकर स्वयं भी चढ़े ॥४॥ मुझे व्याकुल देखकर रघुवीर श्रीरामजी धैर्य धरकर मधुर वचन बोले ॥५॥ हे तात ! पिताजी से प्रणाम कहना और बार-बार चरण-कमल पकड़ना ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम बास तमसा...'—वाल्मीकीय रामायण के मत से दो दिन जल पर ही रहे और गोस्वामीजी के मत से तमसा तट पर जल पर रहे । दूसरे दिन गंगातट पर केवट ने सेवा की अर्थात् कंद-मूल-फल लाकर दिये और उन्हें सब किसी ने भोजन किया ।

कवि ने यहाँ दोनों मत दिखा दिये हैं । वाल्मीकीय रामायण का मत दोहे में ही आ गया, तदनुसार केवट की सेवकाई शय्या-रचना आदि ही है । श्रीगोस्वामीजी का मत—'प्रथम बास तमसा भयेउ (तहाँ) न्हाइ रहे जलपान करि' और 'दूसर सुरसरि तीर' (तहाँ) केवट कीन्ह बहुत सेवकाई ।' इस तरह यथासंख्यालंकार से अर्थ होता है ।

(२) 'लखन बान-धनु धरे...'—अस्त्र-शस्त्र बना नाव पर धर दिये, क्योंकि यह नीति है कि नाव पर शस्त्रास्त्र धर के ही चढ़ना चाहिये, अन्यथा नाव कहीं डूब जाय तो शस्त्र समेत तैरकर बचना कठिन हो जाता है । यह भी हेतु है कि अभी उस पार स्नान आदि करना ही है ।

(३) 'बिकल बिलोकि मोहि...'—वे तो वीर हैं, स्नेह को भी जीत लिया है, पर मुझे विकल देखकर वे भी विकल हो गये, फिर धीर धरकर समझाने लगे । कहा भी है—"जन के दुःख रघुनाथ दुखित अति सहज बानि करुना निधान की ।" (गी० सुं० ११) ।

करबि पाय परि बिनय बहोरी । तात करिय जनि चिंता मोरी ॥७॥
बनमग मंगल कुसल हमारे । कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥८॥

छंद—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं ।
प्रातपालि आयसु कुसल देखन पायँ पुनि फिरि आइहौं ।
जननी सकल परितोषि परि परि पायँ करि बिनती घनी ।
तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी ॥

सो०—गुरु सन कहब संदेस, बार बार पद-पदुम गहि ।
करब सोइ उपदेस, जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥१५१॥

अर्थ—फिर चरणों पर पड़कर विनती करना कि हे तात ! आप मेरी चिन्ता न करें ॥७॥ आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य (के प्रभाव) से वन के मार्ग में हमारे लिये मंगल और कुशल है ॥८॥ हे तात ! आपके अनुग्रह से वन में जाते हुए सब सुख पाऊँगा। आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके कुशल-पूर्वक लौट आकर चरणों के दर्शन करूँगा॥ सब माताओं के चरणों पर पड़-पड़कर उनका संतोष करके बड़ी विनती करना। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी ने मंत्री के द्वारा माताओं से प्रार्थना की कि आप सब वही उपाय करें, जिसमें कोशलनाथ कुशल से रहें॥ बार-बार श्रीगुरुजी के चरण पकड़कर उनसे यह संदेश कहना कि पिताजी को वही उपदेश दें, जिससे वे अवधनाथ मेरा शोच न करें ॥१५१॥

विशेष—'वन मग मंगल कुशल······'—मंगल होगा—मुनियों के दर्शन होंगे। कुशल होगी—सुग्रीव आदि सखा मिलेंगे।' पुनः स्वधर्म निर्वाह में विघ्न-बाधा न होगी। 'सब सुख पाइहउँ'—राजा को चिन्ता थी कि कुमारों को दुःख होगा। उसीपर कहते हैं, जाते ही वहाँ सब सुख मिलेगा। 'जननी सकल '—माताओं से भी निहोरा करते हैं कि वे पिता से यह भी कहकर उन्हें न दुखावें कि आपने हमारे पुत्र को वनवास दे दिया। 'गुरु सन कहब ···'—गुरुजी भविष्य के कल्याण की बात कहकर पिता को समझाते रहें कि इस वनवास से भू-भार हरण आदि बहुत कार्य होंगे। यह भी समझावें कि श्रीअवध के सभी राजा उदार और धर्मात्मा होते आये हैं, आप भी सत्यरक्षा में धैर्य धारण करें, तब पुरी की रक्षा होगी।

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी ॥१॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाहु सुखारी ॥२॥
कहब सँदेस भरत के आये। नीति न तजिय राजपद पाये ॥३॥
पालेहु प्रजहि करम-मन-बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी ॥४॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु-मात-सुजन सेवकाई ॥५॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करइ न काऊ ॥६॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहिं निहोरा ॥७॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई ॥८॥

दोहा—कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल-सनेह ।
थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह ॥१५२॥

अर्थ— हे तात ! सब पुरवासियों और कुटुम्बियों को निहोरा करके मेरी बिनती सुनाना ॥१॥ सब प्रकार से वही मेरा हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें ॥२॥ श्रीभरतजी के आने पर सँदेशा कहना कि राज्य-पद पाकर नीति न छोड़ दें (वा, नीति है कि पाये हुए राज्य-पद को न छोड़ें) ॥३॥ कर्म, मन, वचन से प्रजा का पालन करना और सब माताओं को समान जानकर उनकी सेवा करना ॥४॥ हे भाई ! पिता, माता और सुजन (स्वजन, परिजन एवं सज्जन) की सेवा करके भाई-पना अंत तक निबाहना ॥५॥ हे तात ! राजा को उस तरह से रखना कि जिससे वे कभी भी मेरा शोच न करें ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे, तब श्रीरामजी ने उन्हें मनाकर फिर मुझसे प्रार्थना की ॥७॥ और बार-बार अपनी शपथ दिलाई और कहा कि हे तात ! पिता से श्रीलक्ष्मणजी का यह लड़कपन न कहना ॥८॥ प्रणाम कहकर श्रीसीताजी ने कुछ कहना चाहा, पर वे स्नेह के कारण शिथिल हो गईं, उनकी वाणी स्थगित हो (रुक) गई, आँखों में आँसू भर आये और देह पुलकों (रोमांचों) से पल्लवित हो गई ॥१५२॥

विशेष—(१) 'नरनाह सुखारी' अर्थात् राजा नर मात्र के स्वामी और सेव्य हैं, उन्हें सुखी रखना ही चाहिये।

(२) 'नीति न तजिय राजपद पाये'—प्रायः लोगों को राज्य-पद पाने पर अभिमान हो जाता है, तब वे नीति छोड़ बैठते हैं, यथा—"जग बौराइ राज-पद पाये।" (दो० २२७); इसलिये कहते हैं कि श्रीभरतजी से ऐसा कहना कि वे नीति न छोड़ें, नीति के त्यागने से नरक होता है।

यद्यपि श्रीरामजी जानते हैं—"भरतहि होइ न राज-मद, विधि हरिहर पद पाइ।" (दो० २३१); फिर भी यह शिक्षा देते हैं, यह प्रीति का स्वभाव है कि बड़े भाई प्यार से छोटे को नीति सिखाते हैं; यथा—"राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहि नीति॥" (उ० दो० २४); तथा—"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥" (आ० दो० ५); वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये।

दूसरा अर्थ जो कोष्ठक में है, उसका समर्थन श्रीभरतजी के इन वचनों से भी होता है—"प्रभु पितु वचन मोह बस पेली। आयेउँ इहाँ समाज सकेली॥" (दो० २६७); वह 'प्रभु वचन' यही हो सकता है कि यहाँ श्रीरामजी ने राज्य करने की आज्ञा दी है।

(२) 'ओर निबाहेहु भायप भाई।……'—अर्थात् हमारी माता एवं श्रीलक्ष्मणजी की माता को अपनी माता के समान मानना, और भी सब माताओं को तुल्य मानना, भाव यह कि इससे हम दोनों भाई भी प्रसन्न होंगे। 'पितु' शब्द प्रथम देकर माताओं के तुल्य होने का कारण जनाया कि पिता के अनुरूप ही सब माताएँ तुल्य हैं; यथा—"भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे। तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥ यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः। तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥ तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता। लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्॥" (वाल्मी० २।५२।३४–३६)।

(३) 'लखन कहे कछु वचन कठोरा।…… लरिकाई॥'—राजा ने तीनों के विषय में लौटाने को श्रीसुमंत्रजी से कहा था और यह भी कि जब नहीं लौटें तो तीनों का संदेशा ही लाना। इसपर मंत्रीजी कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ वचन कहे हैं, पर वे कठोर वचन थे, इससे श्रीरामजी ने अपनी शपथ देकर मना कर दिया; यथा—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥ सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेस कहिय जनि जाई॥" (दो० ९५); (इसपर भी कुछ

है, यहीं देखिये) श्रीलक्ष्मणजी के कटु वचन औरों की दृष्टि से कुछ वैसे न थे, पर श्रीरामजी की दृष्टि से बहुत अनुचित थे कि जिनके वचन मानकर हम वन को आये, हमारे अनुगामी होते हुए श्रीलक्ष्मणजी को ऐसा न कहना चाहिये, फिर भी अभी लड़के ही हैं,—यथा "लालन जोग लखन लघु लोने।" (दो० ११६); ये श्रीलक्ष्मणजी के वचन वाल्मी० २।५८।२६-३३ में हैं, जो देखना चाहें, देख लें।

शंका—जब श्रीरामजी ने इन्हें शपथ-पूर्वक मना किया था तब फिर श्रीसुमंत्रजी ने क्यों कहा?

समाधान—राजा ने तीनों का सँदेशा पूछा था, यथा—"सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय राम लखन संदेसू॥" इसका उत्तर देते हुए मंत्री ने श्रीलक्ष्मणजी के उत्तर के विषय में इतना ही कहा कि हाँ, श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ कहा था, पर उसे कहने को श्रीरामजी ने मना कर दिया है, इससे हम न कहेंगे। बस, उत्तर भी हो गया और वह बात भी न कही गई।

(४) 'कहि प्रनाम कछु······'—यहाँ श्रीसीताजी का संदेशा न कहा, केवल नौका पर चढ़ने के समय की दशा-मात्र कह दी। कारण यह कि वे वचन सुमंत्रजी कह न सकते, यथा—"सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥" (दो० ९८); जब सुनकर यह दशा हुई थी तो कहते कैसे? उसके स्मरण से ही विह्वल हो रहे हैं।

मंत्री के यहाँ के कथन का भाव वाल्मीकीय रामायण के इस प्रसंग (अ० स० ५८।३४-३७) के अनुसार है। इस तरह यहाँ पर महर्षिजी का भी मत दिखा दिया। राजा दशरथ अत्यन्त दुखी हैं, मृत्यु चाहते हैं, यथा—"सुनि सुमंत्र की आनि सुंदर सुवन सहित जियाउ। दास तुलसी नतरु यो कहँ मरन अमिअ पियाउ॥" (गी० अ० ५७); श्रीसुमंत्रजी की विह्वल दशा में भावी ने उनसे ऐसे वचन कहलाये कि जो श्रीसीताजी की दुःख दशा आदि वे न सह सके। यद्यपि पीछे वाल्मीकीय रामायण में ही फिर सावधान होने पर इन्हीं श्रीसुमंत्रजी ने कौसल्याजी को और ही तरह समझाया है। अतः; यहाँ मंत्री की व्याकुलता में ये वचन पूर्व घटना से कुछ पृथक् हैं; क्योंकि प्रथम सुमंत्रजी का नाव के समीप होना नहीं पाया जाता।

तेहि अवसर रघुबर-रुख पाई। केवट पारहिं नाव चलाई॥१॥
रघु-कुल-तिलक चले येहि भाँती। देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥२॥
मैं आपन किमि कहउँ कलेसू। जियत फिरेउँ लेइ राम-सँदेसू॥३॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयेउ। हानि गलानि सोच बस भयेउ॥४॥
सूत-बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥५॥
तलफत बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा॥६॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥७॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥८॥

दोहा—भयेउ कोलाहल अवध अति, सुनि नृप-राउर सोर।
बिपुल बिहंग-बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोर॥१५३॥

अर्थ—उस समय रघुवर श्रीरामजी का रुख पाकर केवट ने पार ले जाने को नाव चलाई ॥१॥ रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी इस प्रकार चल दिये और मैं छाती पर वज्र रखकर खड़ा देखता रहा ॥२॥ मैं अपना क्लेश कैसे कहूँ कि श्रीरामजी का संदेश लेकर जीता लौटा ॥३॥ ऐसा कहकर मंत्री की वाणी रुक गई और वह हानि, ग्लानि और शोच के वश हो गया ॥४॥ सारथी के वचन सुनते ही राजा पृथिवी पर गिर पड़े, उनके हृदय में कठिन दाह होने लगा ॥५॥ तड़प रहे हैं, कठिन मोह मन में भर (व्याप) गया है, मानों मछली को माँजा व्याप गया ॥६॥ विलाप करके सब रानियाँ रो रही हैं, बड़ी भारी विपत्ति है, उसका कैसे बखान किया जाय ? ॥७॥ विलाप सुनकर दुःख को भी दुःख लगा, धैर्य का भी धैर्य भाग गया ॥८॥ राजमहल का हल्ला सुनकर श्रीअवध-भर में अत्यन्त कोलाहल मच गया, ऐसा जान पड़ता है कि मानों पक्षियों के बड़े भारी वन में रात के समय कठोर वज्र गिरा ॥१५३॥

विशेष—(१) 'जियत फिरेउँ लेइ···'—अर्थात् यह आश्चर्य हुआ जो मैं जीता हुआ यहाँ तक आ सका।

(२) 'हानि गलानि सोच···'—श्रीरामजी; श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी धन हैं; यथा—"मनहुँ कृपिन धन रासि गँवाई।" (दो॰ १४३); इनका हाथ से निकल जाना हानि है, उसीसे ग्लानि हुई, फिर उसीसे शोचवश हुए। वा जीते हुए लौट आने की ग्लानि है और राजा की दशा से शोच हुआ।

(३) 'मोह मन मापा'—माप शब्द का अर्थ व्यापना है; यह नाप के अर्थ में भी कहा जाता है; अर्थात् मन की हद-पर्यंत में मोह भर गया वा मोह से मन मतवाला हो गया, मात गया; यथा—"माँजहि खाइ मीन जनु मापी॥" (दो॰ ५१); 'सुनि बिलाप दुखहू···'—भाव यह कि मूर्तिमान दुःख और धैर्य भी दुःखी और अधीर हो गये, इस तरह दुःख की सीमा जनाई।

(४) 'बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि······'—अयोध्या वन है, पुरवासी विहंग हैं, मंत्री का वचन वज्र है, वह प्रथम राजा पर गिरा; यथा—"सूत बचन सुनतहिं नर नाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥" वज्र से जलना होता ही है। मंत्री रात ही में आया, पक्षी रात में बसेरा लिये हुए रहते हैं, कोई भी बाहर नहीं रहता। वैसे ही सभी पुरवासी श्रीअवध में हैं, सभी दुखी हुए। पूर्व कैकेयी से उसकी सखियों ने कहा था—"कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥" (दो॰ ४८); वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

प्रान कंठगत भयेउ भुआलू। मनि-बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥१॥
इंद्रिय सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बन बिनु बारी ॥२॥
कौसल्या नृप दीख मलाना। रबि-कुल-रबि अथयेउ जिय जाना ॥३॥
उर धरि धीर राम-महतारी। बोली बचन समय - अनुसारी ॥४॥
नाथ समुझि मन करिय बिचारू। राम-बियोग-पयोधि अपारू ॥५॥
करनधार तुम्ह अवधजहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय-पथिक-समाजू ॥६॥
धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू ॥७॥
जौं जिय धरिय बिनय पिय मोरी। राम लखन सिय मिलहिं बहोरी ॥८॥

दोहा—प्रिया वचन मृदु सुनत नृप, चितयेउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचत सीतल बारि ॥१५४॥

अर्थ—राजा के प्राण कंठ में आ गये, मानों मणि के बिना सर्प व्याकुल हो ॥१॥ सभी इन्द्रियाँ अत्यंत व्याकुल हो गई मानों बिना जल के तालाब में कमल-वन है ॥२॥ कौशल्याजी ने राजा को म्लान (कुम्हलाये हुए) देखा, तब वे जी से जान गई कि सूर्यकुल के सूर्य डूबे (डूबना चाहते हैं) ॥३॥ श्रीरामजी की माता हृदय में धैर्य धरकर समय के अनुकूल वचन बोलीं ॥४॥ हे नाथ ! मन में समझकर विचार कीजिये कि श्रीरामजी का वियोग अपार समुद्र है ॥५॥ आप मल्लाह हैं और अयोध्या जहाज है, समस्त प्रिय वर्ग यात्रियों के समाज हैं, जो इसपर चढ़े हैं ॥६॥ धैर्य धरिये तो पार हो जायँगे, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा ॥७॥ हे प्रिय नाथ ! यदि आप मेरी विनती को हृदय में धारण करें तो श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी फिर मिलेंगे ॥८॥ प्रिय स्त्री के कोमल वचन सुन राजा ने आँखें खोलकर देखा मानों तड़पती हुई दीन मछली को ठंढे जल का छींटा दिया गया हो ॥१५४॥

विशेष—(१) 'मनि बिहीन जनु ब्याकुल······'—राजा ने पूर्व-जन्म में वर माँगते समय दो प्रकार के जीवन-मरण माँगे थे; यथा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।" (बा० दो० १५०); वे चरितार्थ हो रहे हैं; यथा—'माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा।' 'मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।' 'तलफत मीन मलीन ज्यों'।

(२) 'इन्द्रिय सकल बिकल भई ·····'—यहाँ राजा-सर, दश इन्द्रियाँ-कमल-वन और श्रीरामजी जल हैं। सर से परोपकार होता है, वैसे ही राजा से सबका पालन होता है। कमल देवताओं को चढ़ता है, वैसे राजा के हस्त आदि इन्द्रियों से देवताओं के कार्य हुए हैं। 'उर धरि धीर राम ···'—धैर्य के सम्बन्ध से 'राम महतारी' कहा है, क्योंकि श्रीरामजी धीर हैं।

(३) 'करनधार तुम्ह अवध···'—अभी ये कर्णधार हैं, पर ये अधीर होकर प्राण छोड़ देंगे। तब दूसरे कर्णधार श्रीभरतजी आकर सँभालेंगे; यथा—"अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह। सोक सिंधु बूड़त सबहिं, तुम्ह अवलंबन दीन्ह॥" (दो० १८४); फिर १४ वर्ष तक ये ही रहे, ये भी अधीर होकर प्राण छोड़ने पर हुए; यथा—"बीते अवधि रहहिं जो प्राना। अधम कौन जग मोहिं समाना॥" (उ० दो० १); तब इनको सहारा देने को श्रीहनुमानजी आ गये; यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवन सुत, आइ गयो जनु पोत॥" (उ० दो० १); फिर श्रीरामजी स्वयं आ गये। तब यह विरह-सागर ही समाप्त हो गया।

(४) 'जौं जिय धरिय बिनय ···'—ये शिक्षा नहीं देतीं, किंतु विनय करती हैं। विनय के सभी वचन मृदु हैं। पर 'राम लखन सिय मिलिहिं बहोरी' ये वचन अत्यंत मृदु हैं। ये ही वचन शीतल जल के छींटे के समान हैं। जल बिना मछली तड़पती रहती है। जल के छींटे से जैसे वह आँख खोल दे वैसे राजा ने इस वचन से यही समझा कि मानों क्षण-भर को श्रीरामजी मिल ही गये। इससे उठकर राजा बैठ गये। 'प्रिया'—क्योंकि पटरानी हैं और इनके पुत्र को वनवास दिया तो भी ये प्रिय-वचन कह रही हैं और श्रीरामजी के मिलने की आशा दे रही हैं।

धरि धीरजु उठि बैठि भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू ॥१॥
कहाँ लखन कहँ राम सनेही। कहँ प्रिय पुत्र-बधू बैदेही ॥२॥

बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुगसरिस सिराति न राती ॥३॥
तापस-अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई ॥४॥
भयेउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा ॥५॥
सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा ॥६॥
हा रघुनंदन प्रानपिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥७॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर ॥८॥

दोहा—राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयेउ सुरधाम ॥१५५॥

अर्थ—धैर्य धर के राजा उठ बैठे (और बोले) श्रीसुमंत्रजी! कहो, कृपालु श्रीरामजी कहाँ हैं? ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं? स्नेही श्रीरामजी कहाँ हैं? प्यारी पुत्र बधू विदेह-कुमारी कहाँ हैं? ॥२॥ राजा व्याकुल हैं और बहुत प्रकार से विलाप कर रहे हैं। रात युग के समान (भारी) हो गई। बीतती ही नहीं ॥३॥ अंधे तपस्वी के शाप की याद आई तो श्रीकौशल्याजी को सब कथा सुनाई ॥४॥ तपस्वी के इतिहास का वर्णन करते हुए व्याकुल हो गये। (और बोले कि) श्रीरामजी के बिना जीने की आशा को धिक्कार है ॥५॥ उस शरीर को रखकर मैं क्या करूँगा, जिसने मेरे प्रेम-प्रण का निर्वाह नहीं किया ॥६॥ हा रघुकुल के आनंद देनेवाले! हा प्राण प्यारे! तुम्हारे बिना जीते हुए बहुत दिन बीत गये ॥७॥ हा श्रीजानकीजी! श्रीलक्ष्मणजी!! हा रघुबर!!! हा पिता के चित्तरूपी-चातक के हित करनेवाले मेघ!!! ॥८॥ राम-राम कहकर, फिर राम कहकर पुनः राम-राम-राम कहते हुए रघुवर श्रीरामजी के विरह (दुःख) में शरीर छोड़कर राजा सुरलोक को गये ॥१५५॥

विशेष—(१) 'भइ जुग सरिस…'—दुःख के समय बहुत बड़े जान पड़ते हैं।

(२) 'तापस अंध-साप सुधि…'—यह कथा वाल्मीकीय रामायण अ० स० ६३-३४ में विस्तार से है—श्रीरामजी के वन जाने की छठी रात को राजा ने श्रीकौशल्याजी से कहा है कि मैं अब युवराज-पद को प्राप्त कुमार ही था। वर्षाऋतु में रात के समय सरयू-तट पर गया। वहाँ नदी में जल पीनेवाले जानवरों के प्रति शिकार की इच्छा से और अपनी 'शब्दवेधी' धनुर्धरों में ख्याति पाने की इच्छा से घात में था। अँधेरे में मुझे हाथी के गर्जन के समान शब्द मालूम हुआ। उसी ओर को मैंने शब्दवेधी तीक्ष्ण बाण चलाया, तब उस ओर से तपस्वी के शब्द सुनाई पड़े—हा, हा, मुझ तपस्वी पर किसने शस्त्र प्रहार किया, मैंने किसी की क्या बुराई की थी? जो मुझे बाण से मारा। मैं वहाँ घबड़ाकर गया, तब देखा कि वे तपस्वी बाण से घायल खून से लपटे हुए पड़े थे। मुझे देखकर वे बोले, तुमने मुझे क्यों मारा? मैं अपने वृद्ध अंधे माता-पिता के लिये जल लेने आया था, वे प्रतीक्षा करते होंगे। मेरे शरीर से बाण निकाल दो और जाकर मेरे माता-पिता का यह सब वृत्तान्त कहकर उन्हें प्रसन्न करो। जिससे वे तुम्हें शाप न दे दें। बाण निकालते ही मृत्यु हो जायगी तो मुझे ब्रह्म-हत्या लगेगी—इससे मैं डरता था, यह जानकर उन्होंने

कहा कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, आप डरें नहीं, बाण निकालें। मेरे बाण के निकालते ही उनके प्राण निकल गये। मैं उनके बताये हुए मार्ग से उनके माता पिता के पास गया और वृत्तान्त सुनाया। तब वे बोले कि राजन्! यदि तुम अपना अनजान से किया हुआ कर्म स्वयं आकर न कहते तो तुम्हारे शिर के सौ टुकड़े हो जाते। तुम यदि जान बूझकर ऐसा किये होते, तो तुम्हारा रघुकुल ही नष्ट हो जाता, तुम्हारी क्या बात? मुझे अपने पुत्र का स्पर्श कराओ। मैं उन्हें वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्र पर गिर पड़े और विलाप करने लगे। उनका पुत्र दिव्य-रूप हो स्वर्ग को प्राप्त हुआ और फिर इन्द्र के साथ उस पुत्र ने आ मा-बाप को आश्वासन दिया और कहा कि आप लोगों की सेवा से मुझे बड़ा उच्च पद मिला। उन दोनों ने पुत्र को जलांजलि देकर हाथ जोड़ मुझसे कहा—'तुम हमें भी बाण से मार डालो, तुमने अज्ञान से हमारे पुत्र को मार डाला, अतएव मैं तुम्हें बहुत ही कठोर शाप देता हूँ कि जिस प्रकार मैं पुत्र की मृत्यु का दुःख भोग रहा हूँ। राजन्! तुम भी पुत्र शोक से ही मृत्यु पाओगे और मेरी-सी भयानक दशा पाओगे। इस तरह शाप देकर वे दोनों चिता में भस्म होकर स्वर्ग को गये। उस उदार मुनि का वचन आज मुझे सत्य हुआ।

(३) 'भयेउ बिकल बरनत ···'—कहते-कहते ही ग्लानि हुई कि प्राकृत पुत्र के वियोग में उन्होंने प्राण छोड़ दिये और मैं श्रीरामजी-ऐसे दिव्य पुत्र के वियोग में भी जीता हूँ, इस आशा पर कि फिर मिलेंगे, इस जीने को धिक्कार है! 'सोतनु राखि करबि मैं ···'; यथा—"करत राय मन में अनुमान। ··ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौ राखउँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥ राम गये, अजहूँ हौं जीवत समुझत हो अकुलान'। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान" (गी० अ० ५६)।

(४) 'राम राम कहि राम ···'—राजा ने राम-राम कहते ही प्राण छोड़े दूसरा शब्द कहा ही नहीं, इसीसे ग्रंथकार ने भी राम-राम से ही दोहे के पूर्वार्द्ध पद की पूर्ति की है। अभी 'सुरधाम' अर्थात् इन्द्र-लोक ही गये, क्योंकि इन्हें राम-तिलक देखने की वासना है, वह १४ वर्ष के बाद पूरी होगी, तब परधाम जायगे। भगवान् ने जैसे सुग्रीवजी और विभीषणजी को राज्य-वासना के भोग की पूर्ति कराई। पुनः ध्रुव को ३६००० वर्ष राज्य-भोग कराया। वैसे इनकी भी वासना पूरी कराके नित्य धाम देंगे; क्योंकि यह सिद्धान्त है—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); अर्थात् राम-नाम जीवों को मुक्ति देने में कमज्ञानादि की अपेक्षा नहीं करता।

जियन-मरन-फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥१॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥२॥
सोकबिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥३॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥४॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिं पुरबासी॥५॥
अथयेउ आजु भानु-कुल-भानू। धरमअवधि गुन-रूप-निधानू॥६॥
गारी सकल कैकइहि देहीं। नयनबिहीन कीन्ह जग जेहीं॥७॥
येहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—तब वसिष्ठ मुनि समयसम, कहि अनेक इतिहास ।
सोक निवारेउ सबहि कर, निज विज्ञान प्रकास ॥१५६॥

अर्थ—जीने-मरने का फल श्रीदशरथजी ने पाया, उनका निर्मल यश अनेक ब्रह्मांडों में छा गया ॥१॥ वे जीते जी श्रीरामजी का मुखचन्द्र देखते रहे और राम-विरह करके (राम-विरह के द्वारा) मरण सँवारा (सुशोभित किया) ॥२॥ शोक से व्याकुल होकर सब रानियाँ रो रही हैं। राजा के रूप, शील, बल और तेज को बखान करके ॥३॥ अनेकों प्रकार से विलाप कर रही हैं और बार-बार भूमि पर गिरती हैं ॥४॥ व्याकुल होकर दास और दासी विलाप कर रहे हैं, पुरवासी घर-घर रो रहे हैं ॥५॥ (और कहते हैं कि) आज धर्म की सीमा और गुण गण की निधि सूर्य-कुल के सूर्य अस्त हो गये ॥६॥ सब कैकेयी को गाली देते हैं, जिसने संसार-भर को नेत्रों से हीन कर दिया ॥७॥ इस तरह विलाप करते रात बीती, (तब) समस्त ज्ञानी महामुनि आये ॥८॥ तब वसिष्ठ मुनि ने समयानुसार अनेक इतिहास कहकर और अपने विज्ञान के प्रकाश से सबका शोक दूर किया ॥१५६॥

विशेष—(१) 'जियन-मरन-फल दसरथ···'—जगत् में किसी का जीवन बनता है, पर मरण दुर्गति से होता है और किसी के जीवनकाल में दुर्गति रहती है, पर मरण उत्तमता से होता है। राजा दशरथ के दोनों ही बने और इनका निर्मल यश संसार-भर को पवित्र करनेवाला हुआ ; यथा—"जीवन मरन सुनाम, जैसे दसरथ राय को। जियत खेलाये राम, राम-बिरह तनु परिहरेउ ॥" (दोहावली २११)

(२) 'जियत राम-बिधु-बदन···'—यहाँ उक्त जीवन मरण की श्रेष्ठता का स्वरूप कहा। किसी प्राकृत में विरह होता, तो दुर्गति होती, पर राम-विरह से सुगति हुई।

(३) 'रूप सील बल तेज बखानी।'—'रूप'—राजा ऐसे सुंदर थे कि वृद्ध होने पर भी लोकोत्तर सुन्दरी कैकेयी ने इनसे ब्याह के लिये पिता से आग्रह किया। 'शील' ऐसा था कि अपने मुख से पुत्र को वन जाने को नहीं कहा। पुनः दुःशीला कैकेयी के प्रति भी कठोर न बोले। 'बल'; यथा—"सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥" (दो० २४) ; 'तेज'; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई ॥" (दो० २७) ; इन चार गुणों के अनुसार क्रमशः चारों पुत्र हुए, जो मानों गुण ही रूप धर-धरके प्रकट हैं। अर्थात् श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी मानों इनके रूप, शील, बल और तेज के ही प्रतिरूप हों।

(४) 'तब बसिष्ठ मुनि समय······'—वसिष्ठजी ने कहा कि राजा सुकृती थे और सत्य-पालन की निष्ठा में तो अद्वितीय हुए। अतः, ऐसे कीर्तिमानों को मृत्यु मृत्यु नहीं कही जाती, क्योंकि ये संसार में प्रलय तक यश-रूप से प्रतिष्ठित रहेंगे। फिर इन्होंने राम-विरह में शरीर छोड़ा है। ऐसा तो कोई न हुआ है और न होगा। फिर इनके लिये शोक न करना चाहिये, प्रत्युत इसपर सुख मानना चाहिये कि वे नर-राज से सुरराज हो गये, प्राकृत-तन से दिव्य-तन हो गये। मुनि ने पूर्व के राजा हरिश्चन्द्र आदि की कथाएँ कहीं और फिर दिखाया कि इनके समान धन्य वे भी नहीं हुए। वसिष्ठजी ने इन सब इतिहासों को शास्त्र की दृष्टि से कहा। फिर अपने अनुभव के विज्ञान से भी समझाया। जैसे कि शास्त्रीय ज्ञान कहने के पीछे शिवजी ने भी कहा है; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥" (आ०दो०३८); तथा—"निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा ॥" (उ०दो०८८)

तेल नाव भरि नृप-तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा ॥१॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप-सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥२॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयेउ दोउ भाई ॥३॥
सुनि मुनि-आयसु धावन धाये। चले बेगि बरबाजि लजाये ॥४॥

अर्थ—नाव में तेल भरकर राजा का शरीर उसमें रक्खा, फिर दूत को बुलाकर ऐसा कहा ॥१॥ दौड़कर शीघ्रता से भरतजी के पास जाओ। राजा का समाचार कहीं भी किसी से न कहना ॥२॥ श्रीभरतजी से जाकर इतना ही कहना कि दोनों भाइयों को गुरुजी ने बुला भेजा है ॥३॥ मुनि की आज्ञा पाकर दूत दौड़े, अपनी तेज चाल से वे श्रेष्ठ घोड़ों को भी लज्जित करते थे ॥४॥

विशेष—'तेल नाव भरि नृप ······'—श्रीभरतजी के आने तक राजा का शरीर बना रहे; इसलिये उसे तेल में रखना उचित समझा, तो नाव में तेल भरकर उसमें रक्खा; यथा—"तैल-द्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्।" (वाल्मी० २।६६।१६); वनस्पति कोश में 'तैलपर्णिक' श्वेत चन्दन का नाम कहा गया है; अतः, वह नाव भी श्वेत चंदन की थी। 'दूत बोलाइ ···'—मंत्री लोग नीति-निपुण हैं, इसीसे राजा का मरण छिपाते हैं, अन्यथा कोई शत्रु के चढ़ आने की आशंका है।

अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध

"भरतागवन-प्रेम-बहु" प्रकरण

अनरथ अवध अरंभेउ जब ते। कुसगुन होहिं भरत कहँ तब ते ॥५॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥६॥
बिप्र जेँवाइ देहिं दिन दाना। सिव-अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥७॥
माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सोचत भरत मन, धावन पहुँचे आइ।
गुरु-अनुसासन श्रवन सुनि, चले गनेस मनाइ ॥१५७॥

शब्दार्थ—अभिषेक (अभि=ऊपर, सिच्=सींचना)=शिव-लिंग के ऊपर छेदवाला घड़ा रखकर जल टपकाना, या बाधा-शान्ति या मंगल के लिये मंत्र पढ़कर कुश और दूब से जल छिड़कना। कलपना=अनुमान।

अर्थ—जब से श्रीअवध में अनर्थ प्रारंभ हुआ, तब से श्रीभरतजी को अपशकुन होते हैं ॥५॥ वे रात में भयानक शकुन देखते हैं और जागने पर अनेक बुरी कल्पनाएँ करते हैं ॥६॥ (शांति के लिये)

नित्य दिन में ब्राह्मणों को भोजन करा के दान देते हैं, अनेक प्रकार से शिवजी का अभिषेक करते हैं ॥७॥ और हृदय में शिवजी को मनाकर माता, पिता, कुटुम्बी और भाइयों की कुशल माँगते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी इस तरह मन में शोचते थे कि दूत आ पहुँचे, गुरु की आज्ञा सुन गणेशजी को मनाकर चल पड़े ॥१५७॥

विशेष—(१) 'देखहिं राति भयानक सपना'—वाल्मी० ७।६९।८-१८ में स्वप्न का विस्तृत वर्णन है। श्रीभरतजी ने वहाँ के दुःस्वप्न अपने मित्रों से कहे हैं कि मानों पिता मुरझाये हुए हैं। उनके बाल खुले हैं। पर्वत के शिखर से वे गोबर-भरे तालाब में गिर पड़े हैं, वे उस गोबर के तालाब में तैरने लगे हैं; अंजलि से तेल पीते हैं और बार-बार हँसते हैं। उन्होंने तिल-चावल खाया, उनका शिर नीचे हो गया, उनके शरीर-भर में तेल लगाया गया और वे तेल में डुबाये गये। और भी मैंने देखा कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथिवी पर गिर पड़ा, सब संसार राक्षसों से पीड़ित है और अंधकार से ढक गया है।''''''इत्यादि।

यहाँ से श्रीभरत-चरित का प्रारंभ होकर प्रथम १४ दोहों तक 'पितृ-क्रिया' प्रसंग है। फिर मुख्य भरत-चरित्र प्रारंभ होकर १५६ दोहों में होगा, जितना पूर्वार्द्ध में श्रीरामचरित कहा गया है। इसीसे इस कांड के आदि में—"जब ते राम ब्याहि घर आये।" और अंत में—"भरत चरित करि नेम" कहा गया है। यहाँ से—'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी।" पर्यंत १४ दोहे हैं, इतने दोहों में क्रिया-प्रसंग देकर जनाया कि १४ दिन में ही सब कृत्य हुए।

शंका—मुनि ने श्रीभरतजी को ही क्रिया के लिये क्यों बुलवाया? ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी तो निकट ही हैं, उन्हें क्यों न बुलवा लिया?

समाधान—क्रिया में सम्पत्ति का काम है, श्रीरामजी इसे त्याग चुके हैं, उदासीन वेष भी कर चुके हैं। श्रीभरतजी राज्य के अधिकारी हैं, अतएव वे ही क्रिया के भी अधिकारी हैं, सब कुछ दे भी सकते हैं। वे आवेंगे तो राज्य-प्रबन्ध भी करेंगे, इन कारणों से उन्हें ही बुलाया गया।

(२) 'गुरु-अनुसासन श्रवन''''''—गुरु-आज्ञा सुनते ही, दोघड़िया मुहूर्त भी न शोधा, केवल गणेश को मनाकर चल दिये। क्योंकि दुःस्वप्नों से शंकित थे ही, शीघ्र बुलाया जाना सुनकर और घबड़ा गये, कुशल भी न पूछ सके। वाल्मीकीय रामायण में कुशल पूछना और संदिग्ध उत्तर पाना लिखा है और यह भी कहा गया है कि जल्दी में विदाई का सामान भी साथ न लिया, कह दिया कि पीछे आवेगा, तुरंत सबसे बिदा होकर चल दिये।

चले समीरबेग हय हाँके। नाँघत सरित सैल बन बाँके ॥१॥
हृदय सोच बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई ॥२॥
एक निमेष बरष-सम जाई। येहि बिधि भरत नगर निअराई ॥३॥
असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥४॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत-मन सूला ॥५॥

शब्दार्थ—बाँके = दुर्गम, विकट। जानहिं = विचार करते हैं। करारा = काला कौआ।

अर्थ—हवा के समान वेगवाले घोड़ों को हाँकते हुए चले, विकट नदियों, पर्वतों और व

घर और गलियाँ सूनी हैं, धूल से द्वार के किंवाड़ की खिड़की आदि मलीन हो गये हैं, इन्द्रपुरी के समान सुशोभित नगरी की यह दशा देखकर श्रीभरतजी दुःख से भर गये।

(२) 'नगर-नारि-नर-निपट ...'—जब स्थावरों की वैसी दशा है, तब ये तो चेतन हैं, इनकी दशा तो वैसी है, जैसे 'कोई सारी संपत्ति जुए में हार जाय'। यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी संपत्ति हैं; यथा—"मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई।" (दो० ११२) देखिये।

(३) 'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'—चुपके से (अन्यत्र दृष्टि किये हुए से) प्रणाम करके चल देते हैं। चुप साधे हैं, क्योंकि अभी श्रीभरतजी के भीतर का हाल नहीं जानते। इससे डरते हैं कि कहीं इन्हें राज्य-प्राप्ति का हर्ष हो, तो हम दुखी होने से (राम-पक्ष के होने से) प्रतिकूल माने जायँगे। यदि इन्हें राम-वन पर दुःख हो और हम धन्यवाद दें, तो भी प्रतिकूल ही होगा। वा, लोगों के मन में दुःख है कि ये राज्य लेने आये हैं, इससे कोई बोलना नहीं चाहता। इसपर श्रीभरतजी के मन में और भी भय होता है कि ये लोग मुझसे क्यों विरोध मानते हैं?

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबि-कुल-जलरुह-चंदिनि ॥२॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहि भेंटि भवन लेइ आई ॥३॥
भरत दुखित परिवार निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥४॥
कैकेई हरषित येहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

अर्थ—बाजार और मार्ग देखे नहीं जाते, मानों नगर की दसों दिशाओं में दावाग्नि लगी हो ॥१॥ पुत्र को आता हुआ सुनकर, सूर्यकुल-रूपी कमल के लिये चाँदनी-रूपा राजा केकय की पुत्री कैकेयी हर्षित हुई ॥२॥ आरती सजाकर आनंदपूर्वक उठ दौड़ी और द्वार पर ही भेंट कर उनको महल में ले आई ॥३॥ श्रीभरतजी ने कुटुम्ब भर को दुखी देखा, (वे ऐसे हो रहे हैं) मानों पाला के मारे हुए कमल के वन हों ॥४॥ (परन्तु) कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न दीख पड़ती है कि मानों वन में आग लगाकर भिल्लनी प्रसन्न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकयनंदिनि'—इसे नगर-भर के विरुद्ध जानकर अयोध्या सम्बन्धी नाम न दिया और दशरथ महाराज एवं महात्मा श्रीभरतजी का सम्बन्धी नाम भी न दिया, क्योंकि यह इनसे पृथक् स्वभाव की है। 'रविकुल जलरुह चंदिनि'—चाँदनी से कमल सिकुड़ जाते हैं और शीत से काले पड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यवंशी दुःख से संकुचित और साँवरे हो रहे हैं।

(२) 'सजि आरती मुदित .....'—राजकुमार बाहर से आते थे, तब आरती होती थी। आज सब शोक में हैं, इसलिये स्वयं अपने पुत्र की आरती करने चली। इससे भी स्वयं उठ दौड़ी कि कोई पिता मरण आदि सुना न दे; मैं ही पीछे ठीक से कहूँगी। कहाँ तो पति मृतक पड़ा है, सब दुःखी हैं और यह प्रसन्न होकर आरती कर रही है। सत्य है—'अर्थी दोष न पश्यति'।

(३) 'मानहुँ तुहिन बनज बन मारा'—परिवार के लोग बहुत हैं, इससे उन्हें वन कहा है और उनकी कोमलता दिखाने के लिये कमल कहा। पाला से कमल झुलस जाता है, वैसे ही ये सब मन से उदासीन और शरीर से काले पड़ गये हैं।

लाँघते चले जाते हैं ॥१॥ हृदय में बड़ा शोच है, कुछ नहीं सोहाता, मन में ऐसा आता है कि उड़कर चला जाऊँ ॥२॥ एक निमेष वर्ष के समान बीतता है, इस तरह श्रीभरतजी नगर के समीप पहुँचे ॥३॥ नगर में प्रवेश करते हुए अपशकुन होते हैं, काले कौवे बुरे स्थानों में बुरी तरह से (काँव-काँव को) रट लगाये हुए हैं ॥४॥ गधे, गीदड़ प्रतिकूल (अपशकुन सूचक बोली) बोल रहे हैं, सुन सुनकर श्रीभरतजी के मन में बड़ा दुःख होता है ॥५॥

विशेष—(१) 'हय हाँके'—यद्यपि घोड़े वायु-वेग से स्वयं चलते हैं, तथापि उन्हें हाँकते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, पहाड़ों आदि को लाँघते जाते हैं, तब भी संतोष नहीं, क्योंकि—

(२) 'हृदय सोच बड़ कछु न···'—एक तो दुःस्वप्न, दूसरे गुरु-आज्ञा, फिर दूत लोगों ने भी कुछ कुशल न कही, वे केवल चलने की ही शीघ्रता कराते हैं। इससे शोच बढ़ गया, पहले शोच-मात्र था— "येहि बिधि सोचत भरत मन" अब 'बड़ सोच' है। 'कछु न सोहाई'—खाना, पीना, विश्राम करना आदि नहीं सुहाता; यथा—"किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनानघ। अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे॥" (वाल्मी० २।७१।२५)।

(३) 'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।'—पूर्व कहा गया—"दाहिन काग सुखेत सुहावा।" (बा० दो० ३०३)। यहाँ उसका उल्टा कहा गया है। अतः, अशुभ है। बाईं तरफ विष्ठा आदि युक्त अशुभ स्थान पर करर रट लगाये हुए हैं; यथा—"काका करत काग।" (दोहावली ४१६)। 'खर सियार बोलहिं···'—राजकुमार के आगमन पर मंगल वाद्य वा, सलामी (तोपों के शब्द से स्वागत) होनी चाहिये, पर यहाँ गधे और सियार करुण शब्द में बोल रहे हैं। खर ग्रामीण पशु है, वह वन में और सियार जंगली है, वह ग्राम में बोलता है। यही प्रतिकूल बोलना है।

श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावन लागा ॥६॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोये। राम - बियोग - कुरोग बिगोये ॥७॥
नगर - नारि - नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी ॥८॥

दोहा—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गँवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं ॥१५८॥

अर्थ—तालाब, नदी, वन और बाग शोभारहित हो गये, (जिससे) श्रीअवध नगर विशेष करके भयानक लगा ॥६॥ पक्षी, पशु, घोड़े, हाथी देखे नहीं जाते, राम-वियोग रूपी कुरोग से वे नष्ट हो गये हैं ॥७॥ नगर के स्त्री-पुरुष बहुत ही दुखी हैं, मानों सभी अपनी सारी सम्पत्ति हारकर बैठे हों ॥८॥ पुरवासी मिलते हैं, पर कुछ कहते नहीं, चुपके से प्रणाम करके चल देते हैं। श्रीभरतजी उनसे एवं वे श्रीभरतजी से कुशल पूछ नहीं सकते, क्योंकि मन में भय और दुःख भरा है ॥१५८॥

विशेष—(१) 'श्रीहत सर सरिता···'—इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।७१।२०-४३ में है। 'नगर बिसेषि भयावन लागा'; यथा—"तां शून्यशृंगाटकवेश्मरथ्यां रजोदृणद्वारकवाटयन्त्राम्। दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव॥" (वाल्मी० २।७१।४५)। अर्थात् अयोध्या के चौक,

घर और गलियाँ सूनी हैं, धूल से द्वार के किवाड़ की खिड़की आदि मलीन हो गये हैं, इन्द्रपुरी के समान सुशोभित नगरी की यह दशा देखकर श्रीभरतजी दुःख से भर गये।

(२) 'नगर-नारि-नर-निपट ......'—जब स्थावरों की वैसी दशा है, तब ये तो चेतन हैं, इनकी दशा तो वैसी है, जैसे 'कोई सारी संपत्ति जुए में हार जाय'। यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी संपत्ति हैं; यथा—"मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई।" (दो० ११२) देखिये।

(३) 'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'—चुपके से (अन्यत्र दृष्टि किये हुए से) प्रणाम करके चल देते हैं। चुप साधे हैं, क्योंकि अभी श्रीभरतजी के भीतर का हाल नहीं जानते। इससे डरते हैं कि कहीं इन्हें राज्य-प्राप्ति का हर्ष हो, तो हम दुःखी होने से (राम-पक्ष के होने से) प्रतिकूल माने जायँगे। यदि इन्हें राम-वन पर दुःख हो और हम धन्यवाद दें, तो भी प्रतिकूल ही होगा। वा, लोगों के मन में दुःख है कि ये राज्य लेने आये हैं, इससे कोई बोलना नहीं चाहता। इसपर श्रीभरतजी के मन में और भी भय होता है कि ये लोग मुझसे क्यों विरोध मानते हैं?

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबि-कुल-जलरुह-चंदिनि ॥२॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहिं भेंटि भवन लेइ आई ॥३॥
भरत दुखित परिवार निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥४॥
कैकेई हरषित येहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

अर्थ—बाजार और मार्ग देखे नहीं जाते, मानों नगर की दसों दिशाओं में दावाग्नि लगी हो ॥१॥ पुत्र को आता हुआ सुनकर, सूर्यकुल-रूपी कमल के लिये चाँदनी-रूपा राजा केकय की पुत्री कैकेयी हर्षित हुई ॥२॥ आरती सजाकर आनंदपूर्वक उठ दौड़ी और द्वार पर ही भेंट कर उनको महल में ले आई ॥३॥ श्रीभरतजी ने कुटुम्ब भर को दुखी देखा, (वे ऐसे हो रहे हैं) मानों पाला के मारे हुए कमल के वन हों ॥४॥ (परन्तु) कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न दीख पड़ती है कि मानों वन में आग लगाकर भिल्लनी प्रसन्न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकयनंदिनि'—इसे नगर-भर के विरुद्ध जानकर अयोध्या सम्बन्धी नाम न दिया और दशरथ महाराज एवं महात्मा श्रीभरतजी का सम्बन्धी नाम भी न दिया, क्योंकि यह इनसे पृथक् स्वभाव की है। 'रबिकुल जलरुह चंदिनि'—चाँदनी से कमल सिकुड़ जाते हैं और शीत से काले पड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यवंशी दुःख से संकुचित और साँवरे हो रहे हैं।

(२) 'सजि आरती मुदित ......'—राजकुमार बाहर से आते थे, तब आरती होती थी। आज सब शोक में हैं, इसलिये स्वयं अपने पुत्र की आरती करने चली। इससे भी स्वयं उठ दौड़ी कि कोई पिता-मरण आदि सुना न दे; मैं ही पीछे ठीक से कहूँगी। कहाँ तो पति मृतक पड़ा है, सब दुःखी हैं और यह प्रसन्न होकर आरती कर रही है। सत्य है—'अर्थी दोषं न पश्यति'।

(३) 'मानहुँ तुहिन बनज बन मारा'—परिवार के लोग बहुत हैं, इससे उन्हें वन कहा है और उनकी कोमलता दिखाने के लिये कमल कहा। पाला से कमल झुलस जाता है, वैसे ही ये सब मन से उदासीन और शरीर से काले पड़ गये हैं।

(४) 'मनहुँ मुदित दव लाइ किराती'—इसका पूरा रूपक दो० ८३ चौ० २-३ में देखिये।

सुतहि ससोच देखि मन मारे। पूँछति नैहर कुसल हमारे ॥६॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज-कुल-कुसल भलाई ॥७॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥८॥

दोहा—सुनि सुतबचन सनेहमय, कपटनार भरि नयन।
भरत-श्रवन-मन-सूल सम, पापिनि बोली बयन ॥१५६॥

तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी ॥१॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ ॥२॥

शब्दार्थ—सूल (शूल) = यह एक शस्त्र है, बरछे के आकार का होता है।

अर्थ—पुत्र को शोच करते हुए और उदास देखकर पूछती है कि हमारे नैहर में तो कुशल है? ॥६॥ श्रीभरतजी ने सबकी और सब प्रकार की कुशल कह सुनाई, फिर अपने कुल की कुशल और भलाई पूछी ॥७॥ कहो, पिताजी कहाँ हैं, सब माताएँ कहाँ हैं, श्रीसीताजी और प्यारे भाई श्रीरामजी-श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं? ॥८॥ पुत्र के स्नेहमय वचन सुनकर, आँखों में कपट के आँसू भरकर पापिनी कैकेयी श्रीभरतजी के कानों और मन को शूल के समान पीड़ित करनेवाले वचन बोली ॥१५९॥ हे तात! मैंने सभी बात बना ली, विचारी मंथरा सहायक हुई ॥१॥ पर बीच में विधाता ने कुछ थोड़ा सा कार्य बिगाड़ दिया कि राजा इन्द्र लोक को पधार गये ॥२॥

विशेष—(१) 'सुतहि ससोच देखि ......'—उसने समझा कि यहाँ मैंने सब आनंद ही का साज कर लिया है, नैहर में तो कुछ गड़बड़ी नहीं है? 'हमारे' शब्द से उसका अति गर्व जनाया।

(२) 'कुसल भलाई'—श्रीभरतजी को संदेह हो गया कि सब तो दुखी हैं और यही अकेली हर्षित क्यों हैं? क्या कुल की भलमनसाहत में तो दाग नहीं लगा इससे कुशल और भलाई दोनों पूछते हैं।

यहाँ कैकयी तो श्रीभरतजी को 'सुत' अपना माने हुए हैं, इससे उसकी तरफ की बात में 'सुत' शब्द देते हैं, पर श्रीभरतजी उसके मत में नहीं हैं। अतः, इन्हें 'कैकेयी सुत' आदि नहीं कहते हैं। यह कवि का सँभाल है।

(३) 'कहु कहँ तात कहाँ सब माता।'—कैकेयी राजा को अधिक प्रिय थी, इससे वे प्रायः इसीके महल में रहते थे। आज पिता का आसन खाली देखते हैं; इससे प्रथम उन्हीं को पूछा। श्रीकौशल्याजी को श्रीभरतजी बहुत प्रिय थे। इससे इनके आने पर वे और उनके साथ सब माताएँ आ जातीं, पर आज कोई न आई, इससे उन्हें भी पूछा। फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी जो कैकेयी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे और इनके ही पास अधिक रहते थे। किंतु आज नहीं देख पड़ते, इससे पूछते हैं कि सब कहाँ हैं? पुनः पिता के अनिष्ट विषयक स्वप्न देखे थे, इससे भी पहले पिता को ही पूछा।

(४) 'सुनि सुत वचन सनेहमय'''—'सनेहमय' और 'भरत श्रवन मन सूल सम' से कवि श्रीभरतजी को निर्दोष एवं कैकेयी से भिन्न मतवाले दिखाते हैं। 'कपट नीर भरि नैन'—वह तो राजा और श्रीकौशल्याजी आदि सौतों एवं श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को शत्रु माने बैठी है, इनके दुःख में उसे हर्ष है ; यथा—"दुइ बर दान'''माँगहुँ आजु जुड़ावहु छाती ॥ सुतहिं राज रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥" (दो० २१)। तो उसे इन सबके दुःख पर आँसू कहाँ आ सकते थे ? और हँसती हुई पति-मरण सुनाती तो पहले ही श्रीभरतजी ताड़ जाते कि इसने ही दुष्टता की है। इसलिये उसने ऊपर से बनावटी आँसू आँखों में भर लिये। पुनः अप्रिय वचनों को भी प्रिय बना कर कहने लगी।

(५) 'तात बात मैं सकल'''—पति का मरण पहले कहना था, क्योंकि 'पिता' कहाँ हैं ? यह श्रीभरतजी ने पहले पूछा है ; पर उसके मन में जो भाव मुख्य था, पहले वही कहा कि मैंने सब सँवार ली। भाव यह कि कुशल न होती, पर मैंने सब बना ली। नहीं तो मैं घर से निकाली जाती—"भामिनि भइहु दूध कै माखी।" और तुम जेल में पड़े रहते—"भरत बंदि गृह सेइहहिं" (दो० १६)। 'मइ मथरा सहाय बिचारी'—यह न बनाती तो मुझे मालूम भी न होता। 'बिचारी' पद श्लिष्ट है—(क) यह बेचारी, गरीब है, दासी ही तो है। इसकी कौन गिनती ? पर यही सहायक हुई। (ख) बड़ी बुद्धि-विचार वाली है ; यथा—"बार बार बड़ि बुद्धि बखानी।" (दो० २२)। प्रायः अभिमानी लोग दूसरे का 'बेचारा' या 'बेचारी' कहते हैं। यह भी हेतु है। मथरा की प्रशंसा इसलिये करती है कि इसने मथरा से कह रक्खा है—"जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चख पूतरि आली॥" (दो० २२)। वह प्रतिज्ञा श्रीभरतजी से ही पूरी होगी। इसलिये जनाती है कि यही एक हम लोगों की हितैषिणी है और सब तो शत्रु ही हैं।

(६) 'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'—पति का मरण इसके लिये बहुत बड़ी बात है, पर राज्य-लोभ में अंधी हो रही है। अतः, बड़ी हानि को थोड़ी ही कहती है। या, श्रीभरतजी के आश्वासन के लिये भी कछुक ही कहती है कि जिससे वे अधीर न हों। 'बिधि'—अभिमानी लोगों का स्वभाव होता है कि हानि को ब्रह्मा के सिर पर धरते हैं और लाभ के अभिमानी स्वयं बनते हैं। जैसे कि इसने अभी कहा है—"तात बात मैं सकल सँवारी।"

सुनत भरत भये बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा ॥३॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी ॥४॥
चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही ॥५॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी ॥६॥
सुनि सुतबचन कहति कैकेई। मरम पाछि जनु माहुर देई ॥७॥
आदिहुँ ते सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥८॥

दोहा—भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम - बन गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन ॥१६०॥

शब्दार्थ—मरम = मर्म स्थल। पाछि = चीर कर; हलका चीरा लगाना। माहुर = विष।

अर्थ—यह सुनते ही श्रीभरतजी दुःख से बेबस हो गये, मानों सिंह के गर्जन सुनकर हाथी डर गया हो ॥३॥ तात! तात!! हा तात!!! (ऐसा) पुकारते हुए बड़े व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़े ॥४॥ मैंने आपको स्वर्ग जाते समय न देख पाया, हा तात! आपने मुझे श्रीरामजी को न सौंपा ॥५॥ फिर धैर्य धारण करके सँभाल कर उठे। (और बोले) हे महतारी! पिता के मरण का कारण कहो ॥६॥ पुत्र के वचन सुनकर कैकेयी कहती है। मानों मर्मस्थल को चीरकर उसमें विष देती हो ॥७॥ कुटिला और कठोर-हृदया श्रीकैकेयी ने प्रारम्भ से ही अपनी कुटिल-कठोर करनी को प्रसन्न मन से कहा ॥८॥ श्रीरामजी का वन गमन सुनते ही श्रीभरतजी का पिता का मरण भूल गया, हृदय में कारण रूप अपना सम्बन्ध (अर्थात् अपनेको वनवास का कारण) समझकर चुप होकर वे स्तंभित हो गये ॥१६०॥

विशेष—(१) 'ब्याकुल भारी'—दु:स्वप्नों से और प्रजाओं को दुखी देखकर ब्याकुल थे ही, अब 'भारी ब्याकुल' हो गये। इसीसे कई बार 'तात' 'तात' कहा।

(२) 'चलत न देखन'''—अर्थात् मैंने आपको न देख पाया, यह मुझसे न बना और आपने अंत समय में मुझे श्रीरामजी को न सौंपा, यह आपसे भी न बना। सौंपने का प्रयोजन वाल्मी० २।७२।-३२-३३ में कहा है—"जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं और मैं जिनका प्रिय दास हूँ। ''धर्म जानने वालों के बड़े भाई पिता के तुल्य होते हैं। मैं उनका चरण ग्रहण करूँगा। इस समय वे ही मेरे गति (अवलंब) हैं।"

(३) 'मरम पाछि जनु'''—'मरम', यथा—"मरम ठाहर देखई।" (दो० १५)। पिता का मरण कहना मर्म-स्थल का चीरना है और श्रीराम-वन-गमन का ब्योरा, मंथरा के समागम से लेकर वरदान माँगने और पाने की सब कथाएँ कहना, उस घाव में माहुर देना है। ऐसे समाचार को प्रसन्नता-पूर्वक कह रही है। इसीसे 'कुटिल कठोर' कहा, क्योंकि यह वज्र-हृदया है। तभी तो पति-मरण पर भी कहना नहीं और पुत्र श्रीभरतजी पर भी दया नहीं है कि वे पिता-मरण पर दुखी हुए थे, श्रीराम-वन-गमन पर भी दुखी होंगे। अभी तो वह जानती है, मेरी तरह मेरा पुत्र भी प्रसन्न होगा।

'थकित रहे धरि मौन'''—सन्न रह गये और कुछ बोल न सके। इससे अत्यन्त विह्वलता जनाई; क्योंकि पिता के मरण पर तो विलाप भी किया था। पर वनवास की बात और अपनेको ही उसका कारण समझकर तो वे दंग रह गये कि अरे यह क्या हुआ?

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोन लगावति ॥१॥
तात राउ नहि सोचइ जोगू। बिढ़इ सुकृत जस कीन्हेउ भोगू ॥२॥
जीवत सकल जनम फल पाये। अंत अमरपति-सदन सिधाये ॥३॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू ॥४॥

अर्थ—व्याकुल देखकर पुत्र को समझाती है, मानों जले पर नमक लगाती है ॥१॥ हे तात! राजा शोचने के योग्य नहीं है, उन्होंने जैसा पुण्य कमाया वैसा भोग भी किया (वा, उन्होंने आगे के लिये सुकृत-यश कमाया और पूर्व-कृत सुकृत-यश का भोग भी किया।) ॥२॥ जीते हुए उन्होंने सब जन्मों का

सम्पूर्ण फल पाया और अंत में इन्द्रलोक को गये ॥३॥ ऐसा विचार कर शोच को छोड़ो और समाज (मंत्री-सेना आदि) के साथ नगर का राज्य करो ॥४॥

विशेष—'मनहुँ जरे पर लोन ···'—जले हुए पर नमक लगाने से असह्य वेदना होती है। वैसे ही इसका समझाना और भी पीड़ा देनेवाला है। नमक रस है, भोजन की वस्तु है, लगाने की नहीं। वैसे ही राज-रस भी भोगी के लिये है; यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १०८); राम-विरही के लिये नहीं। इसने अपनी करनी कही कि मैंने तुम्हारे ही लिये यह सब यत्न किया। इसपर जलन हुई कि बड़े भाई को रहते हुए छोटे को राजा होने से कुल को कलंक होगा। फिर—"तात राउ नहिं सोचइ जोगू।···" से "सोच परिहरहू।" तक के वचन नमक लगाना और—"सहित समाज राज पुर करहू।" यह घाव पर अंगार रखना है। वही आगे कहेंगे।

'सहित समाज'—अर्थात् राज्य के सातो अंग अभी ठीक-ठीक बने हैं। अतः, तुरत गादी पर बैठ जाओ, नहीं तो कोई विघ्न न हो जाय।

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू ॥५॥
धीरज धरि भरि लेहि उसासा। पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा ॥६॥
जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही ॥७॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीनजियन निति बारि उलीचा ॥८॥

दोहा—हंसबंस दसरथ जनक, राम-लखन-से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ ॥१६१॥

अर्थ—राजकुमार श्रीभरतजी यह सुनकर अत्यन्त डर गये, मानों पके घाव में अंगार लग गया हो। (पके हुए घाव पर चिनगारी लगने से असह्य वेदना होती है, वैसे ही श्रीभरतजी को दुःसह दुःख हुआ।) ॥५॥ धैर्य धरकर लंबी साँसें लेते हैं, (और कहते हैं कि) अरी पापिनि! तूने सभी प्रकार से कुल का नाश किया ॥६॥ जो निश्चय करके तेरी अत्यन्त कुत्सित रुचि थी, तो तूने मुझे जन्मते ही क्यों न मार डाला? ॥७॥ तूने पेड़ काटकर पल्लव को सींचा और मछली के जीने के लिये तूने जल उलीचा। (निकाल फेंका) ॥८॥ सूर्य वंश ऐसा (उत्तम) वंश, दशरथ महाराज ऐसे पिता और श्रीराम-लक्ष्मणजी सरीखे भाई मुझे मिले। पर हे माता! तू मुझे जनने (पैदा करने) वाली हुई! (क्या करूँ) विधाता से कुछ भी वश नहीं चलता। (भाव यह कि जहाँ और सब नाते अच्छे-अच्छे बनाये, वहाँ यह महा अयोग्य नाता दिया कि तुझ ऐसी दुष्टा के गर्भ से मेरा जन्म कराया। यदि मेरा वश चलता तो मैं उसे दंड देता) ॥१६१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुठि सहमेउ···'—'राजकुमार' अर्थात राज्य के योग्य हैं, परन्तु धर्म-विरुद्ध मानकर ही त्याग रहे हैं। पहले कहा गया—"जनु सहमेउ करि केहरिनादा।" अर्थात् सहम (डर) तो प्रथम से ही था, अब 'सुठि सहमेउ'। 'पाके छत जनु ···'—राजा की मृत्यु छत (फोड़ा), राम-वनवास पकना और 'राज्य करो' यह कहना अंगार लगना है।

'सबहिं भाँति'—पिता की मृत्यु, कुल-रीति का तोड़ना, राम-वन से प्रिय परिजन प्रजा का दुखी होना, इत्यादि।

(२) 'पेड़ काटि तैं पालव···'—उपर्युक्त कुरुचि कहते हैं—पेड़ राजा और पालव श्रीभरतजी हैं, सींचना इन्हें राज्य देना है। श्रीभरतजी मीन, अयोध्या सर, श्रीरामजी जल हैं। 'जननी तू जननी'—व्यंगार्थ से अपने और माता में अनमेल कहा है; यथा—"दिनकर वंस पिता दसरथ से रामलखन से भाई। जननी! तू जननी तो कहा कहउँ, विधि केहि खोरि न लाई॥" (गी० अ० ६०)।

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥१॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥२॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही॥३॥
बिधिहु न नारि-हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुनखानी॥४॥
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ॥५॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धिनी! जब तूने हृदय में यह कुमत (बुरा विचार) ठाना; तभी तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया? ॥१॥ वर माँगते हुए तेरे मन में पीड़ा न हुई, तेरी जीभ न गल गई और मुँह में कीड़े क्यों न पड़ गये? ॥२॥ राजा ने तेरी प्रतीति कैसे कर ली (जान पड़ता है कि) मरने के समय पर विधाता ने उनकी बुद्धि हर ली ॥३॥ ब्रह्माजी ने भी स्त्रियों के हृदय की गति (चाल) नहीं जानी, स्त्रियाँ समस्त कपट, पाप और अवगुणों की खानि हैं ॥४॥ फिर राजा तो सीधे, सुशील और धर्म-परायण हैं, वे भला स्त्री-स्वभाव कैसे जानें? ॥५॥

विशेष—(१) 'जब तैं कुमति···'—ब्रह्मा को उचित तो यह था, जब से तेरे हृदय में कुमत आया, हृदय ही खंड खंड कर देते। वर माँगते हुए मन में पीड़ा पैदा कर देते। जीभ गला देते, और तेरे मुँह में कीड़े पैदा कर देते; पर उन्होंने कुछ नहीं किया। इससे भी चूके, तो भूप की मति ही न हरते। इन सबसे निश्चय होता है—"बिधिहु न···" वर माँगना पहले कैकेयी के हृदय में आया, फिर मन से ठीक किया, तब वाणी द्वारा मुँह से माँगा, इससे उसके इन्हीं अंगों की निन्दा की गई।

(२) 'सरल सुसील धरम···'—ऊपर स्त्री-स्वभाव कहा; यथा—'सकल कपट अघ अवगुन खानी।' उसके न जानने में यहाँ राजा के तीन ही गुण कहते हैं कि राजा 'सरल' हैं; इसीसे उन्होंने तुझे 'सकल कपट की खानि' न जाना और तुझसे कह दिया कि कल श्रीरामजी का तिलक है, तुम मंगल सजो। तू कपट की खानि है; इसीसे उनसे श्रीरामजी की शपथ कराके माँगा। राजा 'धरम रत' हैं, इसीसे उन्होंने तुझे 'अघ की खानि' न जाना और तुझ स्त्री को भी जो वचन दिया, उसे सत्य कर दिखाया। नहीं तो जैसे ही सुना था कि वह कोप भवन में है, तो वहाँ जाते ही नहीं। राजा 'सुशील' हैं, इसीसे तेरे अवगुणों को न जाना, नहीं तो जानकर झिड़क देते।

(३) 'सो किमि जानइ' अर्थात् यह तो मैं ही जानता हूँ, या तो श्रीरामजी या उनके दास जानते हैं।

अस को जीव-जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ॥६॥
भे अति अहित राम तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥७॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥८॥

दोहा—राम - बिरोधी - हृदय ते, प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६२॥

अर्थ—जगत् में ऐसे कौन जीव-जन्तु हैं, जिन्हें रघुनाथजी प्राणों से प्यारे नहीं हैं ॥१॥ वे ही श्रीरामजी तुझे बड़े शत्रु जान पड़े, तो तू कौन है ? मुझसे सत्य-सत्य बता (नर-स्त्री के वेष में डाकिनी, राक्षसी आदि तो नहीं है !) ॥२॥ (खैर) तू जो है सो है, मुख में स्याही लगाकर यहाँ से उठकर मेरी आँखों की आट (और कहीं) जा बैठ ॥३॥ ब्रह्मा ने मुझे श्रीरामजी से वैर माननेवाले हृदय से पैदा किया । अतः, मेरे समान और कौन पापी है ? मैं व्यर्थ ही तुझे कुछ कहता हूँ ॥१६२॥

विशेष—(१) 'अस को जीव जंतु···'—जीव बड़े और जन्तु छोटे प्राणियों को कहते हैं ; अर्थात् श्रीरामजी प्राणि-मात्र को प्रिय हैं; यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी ।" (बा० दो० २१५) ; भाव यह कि तू जड़ पाषाण आदि की तरह है । वा, जीव तीन भेदवाले ही कहाते हैं । यथा–"बिषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥" (दो० २७१) ; इनके अतिरिक्त और सब प्राणी जन्तु हैं , जन्तुओं को भी श्रीरामजी प्रिय हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी । तजहिं बिषम बिष तामस तीछी ॥" (दो० २६१) । 'भे अति अहित राम···'—भाव, अहित तो तभी हुए, जब तुमने उनका राज्य छीना, फिर उन्हें घर-गाँव में भी न रहने दिया, वनवास दिया, अतएव 'अति अहित' हुए ।

(२) 'जो हसि सो हसि···'—भाव यह कि पूछकर क्या करना है, तेरा वध कर नहीं सकता, क्योंकि इससे श्रीरामजी अप्रसन्न होंगे ; यथा—"हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् । यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥" (वाल्मी० २।७८।२२) । वा, तेरा मुख देखने योग्य नहीं है । यहाँ माता का त्याग किया, इससे यहाँ 'प्रातिकूलस्य वर्जनम्' (षट्-शरणागति में से एक) है ।

(३) 'मो समान को पातकी ······'—यह कार्पण्य शरणागति है, जैसे बालकांड में कवि ने खलों के अवगुण कहते हुए अपनेको—"तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धिग धर्मध्वज धंधक धोरी ॥" (दो० ११) ; कहा है । वास्तव में श्रीभरतजी परम साधु हैं । 'बादि' का छोड़कर भी अर्थ होता है ; अर्थात् कुछ तू भी है, तुझे छोड़कर और कोई मेरे समान पापी नहीं है । यही बात आगे—"कारन ते कारज कठिन······" (दो० १७९) ; में स्पष्ट होगी ।

सुनि सत्रुहन मातु - कुटिलाई । जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥१॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई । बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥२॥
लखि रिस भरेउ लखन-लघु-भाई । बरत अनल घृत-आहुति पाई ॥३॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा । परि मुँह भर महि करत पुकारा ॥

शब्दार्थ—हुमगि=हुंकार के जोर से कुछ उछलकर। मुँह भरि= मुँह के बल।

अर्थ—माता की कुटिलता सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी का शरीर क्रोध से जल रहा है, पर कुछ वश नहीं चलता ॥१॥ उसी समय कुबरी मंथरा अनेक प्रकार वस्त्राभूषण पहने हुई वहाँ आई ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी उसे देखकर रिस से भर गये, मानों जलती हुई अग्नि को घी की आहुति मिल गई हो ॥३॥ हुमँगकर और ताककर कूबर पर लात मारी, वह पुकार करती हुई पृथिवी पर मुँह के बल गिर पड़ी ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सत्रुहन मातु ···'—यद्यपि शत्रु के हनन में समर्थ हैं, तथापि यहाँ तो माता ही नहीं, किंतु स्वामी श्रीभरतजी की माता हैं, अतएव उनसे वश नहीं चलता। श्रीभरतजी ने उसे बहुत कुछ कहा, इससे उनकी रिस कुछ शान्त हुई, पर इनकी रिस ज्यों-की-त्यों भरी है, उसके उतारने का योग भी विधाता ने लगा दिया कि उसी अवसर पर मंथरा आ गई। 'तेहि अवसर'—वाल्मीकिजी ने १४ दिन के पीछे यह लिखा है और इस मानस में तुरत मंथरा का आना और दंड पाना लिखा, इसलिये इस कल्प का चरित उससे उत्तम है।

(२) 'लखि रिस भरेउ लखन··· '—लखने (लक्ष्य करने) और अन्यायी पर क्रोध करने के सम्बन्ध से 'लखन लघु भाई' कहा है। लख गये कि इसीने सब अनर्थ किया है, तभी तो शोक के समय में इसे शृंगार भाया है। श्रीलक्ष्मणजी अन्यायी पर क्रोध करते हैं; यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥" (बा० दो० २५१); "बर तीर मारहु लखन···(दो० १००); तथा इस मंथरा को भी जब-तब पीट देते थे; यथा—"दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥" (दो० १२); उनके छोटे भाई को भी वैसा होना युक्त ही है।

वाल्मीकिजी ने भी इस प्रसंग पर इन्हें लक्ष्मणानुज कहा है; यथा—"अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।" (२।७८।१); एवं—"इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे।" (२।७८।५); इत्यादि।

(३) 'करत पुकारा'—कैकेयी की दोहाई देती हुई।

कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिरप्रचारू ॥५॥
आह दैव मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा ॥६॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥७॥
भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई ॥८॥

दोहा—मलिन बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुखभार।
कनक-कलपबर-बेलि-बन, मानहुँ हनी तुपार ॥१६३॥

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झइँ आई ॥१॥
देखत भरत बिकल भये भारी। परे चरन तनुदसा बिसारी ॥२॥

शब्दार्थ—प्रचाह=बह निकला। अनहस (सं० अनिष्ट)=बुराई। कई आई=चकाचौंध होना, तिलमिलाना।

अर्थ—उसका कूबर टूट गया, कपाल फूट गया, दाँत टूट गये, मुँह से लोहू बहने लगा ॥५॥ (वह कराहती हुई बोली) हाय! दैव! मैंने क्या बिगाड़ा, जो अच्छा करते हुए बुरा फल पाया ॥६॥ यह सुनकर और इसे नख से शिखा पर्यंत दुष्टा जानकर शत्रु को मारनेवाले शत्रुघ्नजी उसकी झोंटी पकड़ पकड़कर उसे घसीटने लगे ॥७॥ दयासागर श्रीभरतजी ने उसे छुड़ा दिया और दोनों भाई श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥८॥ उनके वस्त्र मैले हैं, शरीर का रंग उतर गया है, वे दुःख के बोझे से व्याकुल हैं और शरीर दुर्बल हो गया है, ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों वन में सोने की सुन्दर कल्पलता को पाला मार गया हो ॥१६३॥ श्रीभरतजी को देखकर माता उठ दौड़ीं, उन्हें चकाचौंधी आ गई, वे मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ीं ॥१॥ देखते ही श्रीभरतजी भारी व्याकुल हो गये और शरीर की दशा भूलकर उनके चरणों पर गिर पड़े ॥२॥

विशेष—(१) 'कूबर टूटेउ फूट कपारू…'—मंथरा ने पहले कहा था—"जौं असत्य कछु कहउँ बनाई। तौ बिधि देइहि मोहिं सजाई॥" (दो० १८); तथा—"कोरइ जोग कपारु अभागा।" (दो० १५)। वे ही वचन चरितार्थ हो रहे हैं। मंथरा कैकेयी के पक्ष की है। अतः, इसके दंड से कैकेयी का भी अपमान हो रहा है, जो श्रीभरतजी ने कहा था—"खंड-खंड होइ हृदय न गयऊ।" (दो० १६१), इत्यादि।

(२) 'आह दैव मैं काह…'—यहाँ बन-ठनकर आने का अभिप्राय खोला गया कि यह इसलिये प्रसन्नता-पूर्वक आई कि आज बहुत इनाम मिलेगा। श्रीशत्रुघ्नजी इसे नख से शिखा पर्यन्त दुष्टा जानकर (क्योंकि प्रसन्नता से सर्वांग सजकर आई इसीसे) सर्वांग में दंड देने लगे। पहले कूबर ही पर मारा था। 'करत नीक……' का गुप्तार्थ यह भी है कि जो बुराई का फल दे रहे हैं, अच्छा करते हैं।

(३) 'भरत दयानिधि दीन्हि……'—श्रीभरतजी साधु हैं, इसीसे अति दयालु हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)। वाल्मी० २।७८।२१–२४ में लिखा है कि श्रीशत्रुघ्नजी को क्रुद्ध देखकर श्रीभरतजी ने समझाया कि स्त्रियाँ अवध्य होती हैं। इससे अब इस मंथरा को छोड़ दो। मैं इस दुष्टा कैकेयी को अभी मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीरामजी मातृ-हत्या समझकर मुझसे घृणा न करते। इस मंथरा को भी तुम्हारे द्वारा मारी गई सुनेंगे, तो वे हम-तुमसे बोलेंगे भी नहीं तब श्रीशत्रुघ्नजी ने उसे छोड़ दिया।

(४) 'तनुदसा बिसारी'—देह के वस्त्र कहीं गिरे, आप कहीं गिरे।

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामलखन दोउ भाई ॥३॥
कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा ॥४॥
कुल-कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रियजन द्रोही ॥५॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥६॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥७॥
धिग मोहि भयेउ बेनु-बन-आगी। दुसह दाह-दुख-दूषन-भागी ॥८॥

दोहा—मातु भरत के वचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि ॥१६४॥

अर्थ—हे तात ! पिताजी कहाँ हैं, उन्हें दिखा दे। श्रीसीताजी, एवं श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं ? उन्हें दिखा दे ॥३॥ कैकेयी संसार में क्यों जन्मी ? जो जन्मी ही, तो बाँझ क्यों न हुई ? ॥४॥ कि जिसने कुल को कलंकित करनेवाला, अपयश का पात्र, प्रिय लोगों का द्रोही, मुझ (ऐसे पुत्र) को पैदा किया ॥५॥ तीनों लोकों में मेरे समान अभागा कौन होगा कि जिसके कारण हे माता तेरी ऐसी दशा हुई ॥६॥ पिता स्वर्ग को और रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी वन को गये। इन सब अनर्थों का कारण हेतु-रूप केवल मैं ही हूँ ॥७॥ मुझे धिक्कार है कि जो मैं बाँस के वन में अग्नि रूप (पैदा) हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषों का भागी हुआ ॥८॥ श्रीभरतजी के कोमल वचन सुनकर माता फिर सँभलकर उठीं, उनको उठाकर छाती से लगा लिया और वे आँखों से आँसू बहा रही हैं ॥१६४॥

विशेष—(१) 'मातु तात कहँ···गति असि तोरि···'—व्याकुलता में विलाप करते हुए पूछते हैं कि अमुक-अमुक कहाँ हैं ? फिर उसीपर कहते हैं कि न मैं पैदा होता और न यह सब अनर्थ होता। मेरे सम्बन्ध से कुल कलंकित हुआ और मेरे ही कारण अमुक-अमुक को दुःख हुआ, जिससे मैं सबका द्रोही हुआ। कैकयी बाँझ होती तो यह कुछ न होता। 'बेनु बन आगी' अर्थात् मैं इसी कुल में पैदा हुआ और इसी को जला रहा हूँ ; यथा—"भइ रघुबंस बेनु बन आगी।" (दो० ४६)।

(२) 'पुनि उठी सँभारि'—क्योंकि पूर्व मूर्च्छित होकर गिर पड़ी थीं—"मुरछित अवनि परी झइँ आई।" ऊपर कहा गया, अब फिर उठीं, तिलमिलाकर गिरी थीं, इसीसे सँभलकर उठना कहा गया।

सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये ॥१॥
भेंटेउ बहुरि लखन-लघु-भाई। सोक सनेह न हृदय समाई ॥२॥
देखि सुभाव कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई ॥३॥
माता भरत गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे ॥४॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमय समुझि सोक परिहरहू ॥५॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी ॥६॥
काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥७॥
जो एतहुँ दुख मोहि जियावा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा ॥८॥

दोहा—पितुआयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।
बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल-चीर ॥१६५॥

अर्थ—सीधे स्वभाववाली माता ने अत्यन्त प्रेम पूर्वक उन्हें हृदय से लगा लिया, मानों श्रीरामजी लौट आये हों ॥१॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई को हृदय से लगाया, शोक और स्नेह हृदय में नहीं समाता (अर्थात् आँसू और रोमांच आदि से बाहर निकल पड़ता है) ॥२॥ स्वभाव देखकर सभी लोग कहते हैं कि ये श्रीरामजी की माता हैं, ऐसी क्यों न हों; अर्थात् इनका ऐसा उ म स्वभाव होना योग्य ही है ॥३॥ माता ने श्रीभरतजी को गोद में बैठा लिया और आँसू पोंछकर कोमल वचन बोलीं ॥४॥ हे वत्स ! मैं बलिहारी जाती हूँ, अब भी धैर्य धरो; कुसमय समझकर शोक को छोड़ो ॥५॥ काल-कर्म की व्यवस्था को अकाट्य जानकर हे तात ! हृदय में हानि और ग्लानि मत मानो और न किसी को दोष दो, मुझ से सब तरह से विधाता विरुद्ध है ॥६-७॥ जो इतने दुःख पर भी मुझे जिला रहा है, तो कौन जाने कि उसे अब भी क्या रुचता है ? ॥८॥ हे तात ! पिता की आज्ञा से रघुकुल में वीर श्रीरामजी ने भूषण-वस्त्र त्याग दिये और वल्कल वस्त्र पहन लिये; उनके मन में कुछ हर्ष-विषाद न हुआ ॥१६५॥

विशेष—(१) 'सरल सुभाय माय···'—श्रीकौशल्याजी सरल-स्वभाववाली हैं, यथा —"राम मातु सुठि सरल चित···" (दो० १८१); इसीसे तो जिस कैकेयी ने इनके पुत्र को वन दिया और उसका राज्य छीना, पति को मारा, उसीके पुत्र को वात्सल्य से हृदय लगाती हैं। इनका सदा से ही ऐसा स्वभाव था; यथा—"सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्राजी सों, मैं न लखी सौति, सखी ! भगिनी ज्यों सेई है। कहै मोहि मैया, कहौं मैं न, मैया भरत की, बलैया लेहौं, मैया ! तेरी मैया कैकेयी है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी ···" (क० अ० ३)।

(२) 'भेंटेउ बहुरि लखन-लघु भाई'—भाव यह कि ये उन्हीं के छोटे भाई हैं, जो वन में भी हमारे पुत्र के परम-बन्धु हैं। अतः, इनसे मिलने में श्रीलक्ष्मणजी के मिलने का-सा सुख हुआ। 'सोक सनेह न···' शोक पति की मृत्यु और पुत्र के वनवास का और स्नेह इन दोनों पुत्रों की भेंट का।

(३) 'देखि सुभाव कहत सब ···'—'सब कोई'—उपस्थित छोटे बड़े सभी लोग। 'राम मातु'—क्योंकि इनका श्रीराम का-सा सरल स्वभाव है; यथा—"राम कहा ··सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।" (बा० दो० २३१)। जैसा कारण होता है वैसा ही तो कार्य होता है।

(४) 'माता भरत गोद···'—'मृदु वचन' पहले कैकेयी के वचन शूल के समान कठोर थे—"भरत श्रवन मन सूल सम, पापिनि बोली बैन।" (दो० १५१)। अब ये मृदु वचन कहती हैं। 'अजहुँ बच्छ बलि धीरज ···'—श्रीभरतजी अधीर हैं, क्योंकि आँसू चल रहे हैं और अपनेको कुल-कलंक अभागी आदि कह रहे हैं। इसीसे माता धैर्य धरने को कह रही हैं। 'अजहुँ'—राजा की मृ यु और श्रीरामजी के वनगमन की विपत्ति पर भी, क्योंकि दु ख में धैर्य ही चाहिये; क्या वा वह निवृत्त होगा ही।

(६) 'जो एतहुँ दुख मोहि'''—'एतहुँ'—अर्थात् उपर्युक्त कर्म-गति एवं विधिवामता तथा अपने भाग्य का दोष, ये सभी एक ही हैं, उन्हीं को यहाँ कहती हैं। क्या जाने आगे और क्या सहना पड़े, ऐसा कहने की रीति है। पर यहाँ तो आगे दैव ने और भी दिखाया ही है कि श्रीभरतजी के शिर पर भी जटाएँ धारण कराईं।

(७) 'पितु आयसु भूषन'''—'रघुबीर' शब्द से त्याग-वीरता दिखाई है। 'बिसमय हरष न'''; यथा—"राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (दो० ११८); यह राजा का वचन है, श्रीरामजी का यही सुशील स्वभाव माता के भी हृदय में है।

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सबकर सब बिधि करि परितोषू ॥१॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम-चरन-अनुरागी ॥२॥
सुनतहि लखन चले उठि साथा। रहहि न जतन किये रघुनाथा ॥३॥
तब रघुपति सबही सिर नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई ॥४॥

अर्थ—प्रसन्न मुख, मन में न किसी से रंग (अनुरक्ति) और न किसी पर क्रोध, सबका सब तरह संतोष करके ॥१॥ वे वन को चले, सुनकर श्रीसीताजी साथ लगीं, (किसी प्रकार) नहीं रहतीं, क्योंकि वह श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त हैं ॥२॥ यह सुनते ही श्रीलक्ष्मणजी उठकर साथ चले। श्रीरघुनाथजी ने बहुत उपाय किये, पर वे नहीं रहते ॥३॥ तब सबको माथा नवाकर रघुपति श्रीरामजी चले, उनके साथ में श्रीसीताजी और छोटे भाई (मात्र) थे ॥४॥

विशेष—(१) 'मुख प्रसन्न मन रंग'''; यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा'''" (मं० श्लोक)। मुख की प्रसन्नता श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है; यथा—"भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥" (दो० ४१); पुनः—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।''' उर अनंद अधिकाऊ।" (दो० ५१)। 'रंग न रोषू'—'रंग' का अर्थ अनुराग, प्रेम है; यथा—"ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते।" (क० उ० ४४)। यहाँ रंग का अर्थ यह कि राज्य की कुछ चाह (प्रेम, ममत्व) नहीं और रोष यह कि राज्य दे कर छीना गया, तब भी क्रोध न हुआ। 'सब कर सब बिधि करि''' अर्थात् यह भी नहीं कि सबसे उदासीन हो गये हों। नहीं, सब दास-दासियों को गुरुजी को सौंप दिया। प्रियजन एवं पुरजनों को समझाया और कहा कि भरत साधु-स्वभाव हैं, आप लोगों को पालेंगे और चौदह वर्ष पर मैं भी आऊँगा, इत्यादि।

(२) 'रहइ न' अर्थात् हमने, राजा ने और भी सभी ने समझाया, पर वह न रही। 'रहइ न' और 'रहहिं न' ये वर्त्तमान क्रियाएँ दी गई हैं। क्योंकि श्रीकौशल्याजी की दृष्टि में वह दृश्य, मानों अभी सामने हो रहा हो; यथा—"लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम-लखन अरु सीता।" (गी० अ० ५२)।

राम लखन सिय बनहि सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥५॥
येहु सब भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तब न तजा तनु जीव अभागे ॥६॥

मोहि न लाज निज नेहु निहारी। रामसरिस सुत मैं महतारी ॥७॥
जियइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥८॥

दोहा—कौसल्या के बचन सुनि, भरत - सहित रनिवास।
ब्याकुल बिलपत राजगृह, मानहुँ सोक - निवास ॥१६६॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी वन को चले गये, मैं न तो साथ गई और न उनके संग प्राणों को ही भेजा ॥५॥ यह सब इन आँखों के सामने हुआ, तब भी अभागे जीव ने शरीर न छोड़ा ॥६॥ अपना स्नेह देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती कि राम ऐसे (सुशील, धर्मात्मा) पुत्र की मैं (निष्ठुर, अयोग्य) माता! ॥७॥ जीना और मरना तो राजा ने ही अच्छी तरह जाना है। मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रों के समान है ॥८॥ श्रीकौशल्याजी के वचनों को सुनकर रनिवास सहित श्रीभरतजी व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं; राज महल मानों शोक का निवास-स्थान है ॥१६६॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय बनहिं…तउ न तजा तनु…'—ऊपर श्रीरामजी का उत्तम स्वभाव कहकर अपनेको उनके अयोग्य मानकर धिक्कारती हैं कि श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की तरह मैं प्रेमपूर्वक साथ हो लेती, वह भी न हुआ, तो प्राणों को ही साथ पठाती; अर्थात् वियोग में प्राण ही छोड़ देती, जैसे राजा ने किया। पर मुझसे दोनों में एक भी न हुआ, तो अभागी हूँ। क्योंकि श्रीराम-विमुख होकर अभागे ही जीते हैं; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन पद बिमुख अभागी।" (वि० १४०)।

(२) 'रामसरिस सुत मैं…'—मैं ऐसे पुत्र की माता होने योग्य नहीं हूँ; यथा—"जिन्ह के बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्ह की महतारी॥" (गी० अ० ८५)।

(३) 'जियइ मरइ भल भूपति…' अर्थात् उनके दोनों बने; यथा—"जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥" (दो० १५५)। 'मोर हृदय सत…'—क्योंकि—"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे।" (दो० २१)। राजा श्रीदशरथजी तो श्रीराम-वियोग न सह सके और जिसने उन्हें रात-दिन गोद में खेलाया, वह जीती रहे! भाव यह कि राजा ने तो पिता-भाव निबाह दिया, पर मुझसे मातृ-भाव न निबहा। भारी लज्जा की बात है; यथा—"जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग-मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्ह की महतारी॥" (गी० अ० ८५)।

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्याँ लिये हृदय लगाई ॥१॥
भाँति अनेक भरत समुझाये। कहि बिबेकमय बचन सुनाये ॥२॥
भरतहु मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं ॥३॥
छलबिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी ॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं। श्रीकौशल्याजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया ॥१॥ अनेक तरह से श्रीभरतजी को समझाया और विवेकमय वचन कहकर सुनाया ॥२॥ श्रीभरतजी ने भी सब माताओं को समझाया और वेद-पुराणों की सुंदर कथाएँ कहीं ॥३॥ श्रीभरतजी दोनों हाथ जोड़कर छल-रहित पवित्र सीधी सुन्दर-वाणी बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि बिबेकमय बचन···'; यथा—"जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा ॥ काल करम बस होहिं गोसाँई। बरबस राति दिवस की नाईं ॥ सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥" (दो० १४१)। "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (दो० १०१), इत्यादि। इन्हें श्रीरामजी का दिया हुआ अलौकिक विवेक प्राप्त है; यथा—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥" (बा० दो० १५०)।

(२) 'मातु सकल' से श्रीकौशल्याजी तथा श्रीसुमित्राजी को छोड़कर और माताओं को समझना चाहिये, कैकेयी को तो प्रथम ही त्याग कर यहाँ आये हैं।

(३) 'छलबिहीन सुचि'—वाणी कपटरहित है, इसीसे शुचि है। माता की करनी में इनकी सम्मति नहीं है; इसी की सफाई देते हैं, यह यथार्थ है। इसीसे इसे कवि शुचि कह रहे हैं।

मनुष्य का जीवन सामाजिक होना चाहिये कि जिसके आचरण से संसार को शिक्षा प्राप्त हो। वैसा ही जीवन श्रीभरतजी का है। ये शुद्ध हैं, पर फिर भी शपथों के द्वारा सफाई देते हैं कि जिससे लोग भी इन दोषों से बचें। अन्यथा महान् पुरुषों के किसी ऊपरी असत् व्यवहार के मर्म को न समझकर लोग अनुचित आचरण करने लगते हैं।

जे अघ मातु - पिता - सुत मारे। गाइगोठ महि - सुरपुर जारे ॥५॥
जे अघ तिय - बालक - बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥६॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं ॥७॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं येहु होइ मोर मत माता ॥८॥

दोहा—जे परिहरि हरि - हर - चरन, भजहिं भूतगन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर ॥१६७॥

शब्दार्थ—गाइगोठ = गोशाला। उपपातक = छोटा पाप। माहुर = विष।

अर्थ—जो पाप माता, पिता और पुत्र को मारने से होते हैं; गोशाला और ब्राह्मणों के गाँव जलाने से होते हैं ॥५॥ जो पाप स्त्री और बालकों की हत्या करने से होते हैं; मित्र और राजा को विष देने से होते हैं ॥६॥ जो मन, वचन, कर्म से होनेवाले पाप और उपपाप हैं; जिन्हें कवि लोग कहते हैं ॥७॥ हे विधाता! वे सब पाप मुझे लगें, हे माता! जो इसमें मेरी सम्मति हो ॥८॥ जो लोग हरिहर-चरण छोड़ कर घोर भूत गणों को भजते हैं। हे माता! ब्रह्मा मुझे उनकी गति दें। यदि इस (कैकेयी के कर्त्तव्य) में मेरी सम्मति हो ॥१६७॥

विशेष—(१) 'जे अघ मातु'' मीत महीपति'''—माता पिता पूज्य हैं, पुत्र पोष्य है; अत, इनका मारना भारी पाप है। गुरु के द्वारा यज्ञ आदि धर्म होते हैं और ब्राह्मण लोग धर्म का प्रचार करते हैं। स्त्री और बालक दया के पात्र हैं, अतएव अवध्य हैं। मित्र को मित्र पर और राजा को नौकर पर विश्वास रहता है, अतएव इनका मारना विश्वास घात करना—भारी पाप है।

(२) 'जे पातक उपपातिक अहहीं।'''—ऊपर भारी पाप गिनाये गये हैं। उपपातक—जैसे कि औषधि वेचकर जीवन, हिंसक शस्त्रों का बनाना, इंधन के लिये पेड़ काटना, नीचों से मित्रता, नीचों का आज्ञाकारी होना, असत् शास्त्रावलोकन आदि। 'करम बचन मनभव', यथा—"कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविध कर्म पातकम्॥" (वाल्मी० २।१०९।२१), 'कवि कहहीं'—वाल्मीकि, मनु आदि कवि कहते हैं।

(३) 'भजहिं भूतगन घोर'—हरि हर सात्त्विक रीति से पूज्य हैं और उत्तम गति देते हैं, इन्हें छोड़कर भूत, पिशाच, यक्षिणी आदि तामसी जीवों की तामसी पूजा करते हैं, इससे उन्हीं की योनि को प्राप्त होते हैं, यही घोर गति है; यथा—"यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रता। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गीता ९।२५); "क्रतुमय पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत' प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत॥" (छं० ३।१४।१)। तथा "तुलसी परिहरि हरिहरहिं, पामर पूजहिं भूत। अंत फजीहत होहिंगे, ज्यों गनिका के पूत॥" (दोहावली ९५)।

बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥१॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेदबिदूषक बिस्वबिरोधी॥२॥
लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं पर-धन पर-दारा॥३॥
पावउँ मैं तिन्ह कइ गति घोरा। जौं जननी येहु संमत मोरा॥४॥

शब्दार्थ—बेचहिं बेद = द्रव्य के लिये लोभ से अनधिकारी को वेद पढ़ाना या सुनाना। धर्मदुहना = धर्म का कार्य लौकिक प्रयोजन साधने के लिये करना, जैसे द्रव्य लेकर कन्या ब्याहना, द्रव्य लेकर सच्ची गवाही देना। कहा भी है—"सुगति साधन भइ उदर भरनि।" (वि० १८४); पिसुन = चुगुल। बिदूषक = विशेष दूषित करनेवाला, हँसी उड़ानेवाला। लोलुपचारा = चंचल आचरणवाला।

अर्थ—जो लोग वेदों को बेचते हैं, धर्म को दुह लेते हैं, चुगुल हैं, पराये पापों को कह देते हैं॥१॥ जो कपटी, कुटिल, झगड़ालू, क्रोधी, वेदों का परिहास करनेवाले, संसार-भर के विरोधी॥२॥ लोभी, व्यभिचारी, चंचल आचरणवाले जो पराया धन और परायी स्त्री ताकनेवाले हैं॥३॥ मैं उनकी घोरगति पाऊँ, हे माता! जो यह मेरी सम्मति हो॥४॥

विशेष—(१) 'पिसुन पराय पाप कहि '—पिशुनता (चुगुली) के रूप में पराया पाप व— भारी पाप है, यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" (उ० दो० १११), 'कहि देहीं' का दूसरा भाव है कि कहकर उसे भी देते हैं, अर्थात् उसे भी पाप का भागी बनाते हैं; क्योंकि सुनने से भी पाप होता है (यदि उसे सुधारने के लिये सुने तो नहीं)।

(२) 'वेद विदूषक'—वेद में दूषण निकालना पाप है ; यथा—"कलप कलप भरि एकएक नरका। परहि जे दूषहि श्रुति करि तरका ॥" (उ० दो० ६१); "सुरश्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥" (उ० दो० १२०)।

(३) 'लोभी लंपट लोलुपचारा'—यहाँ यथासंख्यालंकार की रीति से अर्थ होगा कि 'लोभी' 'जे ताकहि परधन' और 'लंपट'—'जे ताकहि परदारा' 'लोलुपचारा'—लोभी-लंपट दोनों ही का विशेषण है। 'ताकहि' अर्थात् अवसर (घात) देखते हैं ; यथा—"जिमिगवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।" (उ०दो०१२)।

जे नहिं साधु - संग अनुरागे। परमारथ-पथ बिमुख अभागे ॥५॥
जे न भजहि हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि-हर-सुजस सुहाई ॥६॥
तजि श्रुतिपंथ बामपथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं ॥७॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ। जननी जौ यहु जानउँ भेऊ ॥८॥

दोहा—मातु भरत के बचन सुनि, साँचे सरल सुभाय।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह, सदा बचन मन काय ॥१६८॥

शब्दार्थ—भेऊ=भेद। परमारथ पथ=भगवत्प्राप्ति का मार्ग। बामपथ (वाम मार्ग)=जिस मार्ग में पंच मकार मुख्य हैं—मांस, मत्स्य, मद्य, मैथुन और मुद्रा। तंत्र ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। बंचक बिरचि बेष=नाना वेष रचकर कपट से स्वार्थसाधक ; यथा—"अंतः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नाना-वेष-धरा कौलाः विचरंति महीतले ॥"

अर्थ—जो साधु-संगति में अनुरक्त नहीं हैं, जो अभागे परमार्थ मार्ग से विमुख हैं ॥५॥ जो नर-शरीर पाकर भगवान् का भजन नहीं करते, जिनको हरि-हर का सुन्दर यश नहीं अच्छा लगता ॥६॥ जो वेदमार्ग को छोड़कर वाम मार्ग पर चलते हैं, ठग हैं, सुंदर वेष रच-रचकर जगत् को छलते हैं ॥७॥ उनकी गति मुझे शंकर दें, हे माता ! जो मैं यह भेद जानता होऊँ ॥८॥ श्रीभरतजी के सच्चे और स्वाभाविक सीधे वचन सुनकर माता कौशल्या कहती हैं कि हे तात ! तुम सदा तन-मन-वचन से श्रीरामजी के प्रिय हो ॥१६८॥

विशेष—(१) 'जे नहि साधु-संग···'—साधु-संग करने से विकार छूटते हैं और सद्गुण आते हैं और अपने स्वरूप-ज्ञान-पूर्वक भगवत्प्राप्ति होती है यही परमार्थ बनना है। ये सत्संग नहीं करते, इसी से इन्हें परमार्थ-पथ-विमुख अतएव 'अभागे' कहा है ; यथा—"संत-संग अपवर्गकर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३) ; तथा—"जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु-संगति पाइये।···" से "तेहि पथ चलत सबै सुख पावै।···" (वि० १३६) तक।

(२) 'जे न भजहि हरि नर···'—'पाई' शब्द से नर-देह का पाना हरि-कृपा से जनाया ; यथा—कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" (उ० दो० ४३) ; इस तन से हरि-भजन करके परलोक बनाना चाहिये ; यथा—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।" (दो० ४२) ; 'जिन्हहिं न हरि-हर-सुजस सुहाई।'—पूर्वार्द्ध

में—'जे न भजहिं···' कहने के साथ इसका भाव यह कि और प्रकार की भक्ति न भी हो तो हरि-यश ही सुने; अन्यथा आत्मघाती होता है; यथा—"ते जड़ जीव निजातमघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥" (उ० दो० ५२)।

(३) 'तजि श्रुति पंथ···बंचक···'—वेष रचकर अपनेको श्रुति के अनुकूल दिखाते हैं और इसीसे आस्तिक जनता को ठगते हैं।

(४) 'तिन्ह कइ गति मोहि संकर···'—पूर्व तीन शपथों में कैकेयी के कर्त्तव्य में अपनी सम्मति न होने की शपथें कीं और यहाँ उसके भेद न जानने की, क्योंकि उसमें सम्मत न होने से भी सन्देह रह जाता कि ये उसका यह दुष्ट अभिप्राय जानते रहे हैं और इसीसे उससे विरुद्ध हो अलग जाकर ननिहाल में रहे हैं। इसलिये इसकी भी सफाई दी कि मैं इसका मर्म भी नहीं जानता था। शंकर की शपथ की, क्योंकि वे संहार कर्त्ता हैं और नीति-विरोधी एवं श्रुति-विरोधी को कड़ा दंड देते हैं, यथा—"तदपि साप सठ देइहउँ तोहीं। नीति बिरोध सोहाइ न मोहीं॥ जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥" (उ० दो० १०७); इसीसे साक्षी में भी इनका नाम आता है; यथा—"बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये॥" (दो० २११); यह श्रीभरतजी ने ही कहा है। "मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥" (दो० २५७); "कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥" (दो० २६३); इत्यादि।

(५) 'सदा बचन मन काय'—तीनों से प्रियत्व के उदाहरण; यथा—"लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥" यह वचन, "सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥" यह मन, "जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरेहि अनुरागा॥" यह कर्म—(दो० २०७)।

राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे॥१॥
बिधु बिष चवइ स्रवइ हिम आगी। होइ बारिचर बारि - बिरागी॥२॥
भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥३॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥४॥
अस कहि मातु भरत हिय लाये। थन पय स्रवहि नयन जल छाये॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी के प्राणों से तुम्हारे प्राण हैं (अर्थात् श्रीरामजी तुम्हारे प्राणों के आधार हैं) और तुम भी रघुपति श्रीरामजी को प्राणों से अधिक प्रिय हो॥१॥ चाहे चन्द्रमा विष टपकावे, पाला अग्नि गिरावे, जलचर (मछली) जल से प्रेम छोड़ दे॥२॥ और चाहे ज्ञान होने पर मोह न मिटे, पर तुम श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं होने को॥३॥ 'यह तुम्हारा सम्मत है' (अर्थात् तुम्हारी सलाह से कैकेयी का कर्त्तव्य है) ऐसा जगत् में जो मनुष्य कहते हैं, वे स्वप्न में भी सुख और सद्गति न पावें॥४॥ ऐसा कहकर माता ने श्रीभरतजी को हृदय से लगा लिया, उनके स्तनों से दूध टपकने लगा और नेत्रों में जल भर आया (ये प्रेम की दशाएँ हैं)॥५॥

विशेष—(१) 'राम प्रानहु ते प्रान···'—श्रीरामजी तो सभी के प्राणाधार हैं; यथा—"प्रान प्रान

के जीव के जिय'' '' (दो० २१०); "प्रान प्रान के जीवन जीके।" (दो० ५५); पर यहाँ अत्यन्त प्रियत्व से तात्पर्य है। वैसा ही उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी का अत्यन्त प्रेम भरत में कहा; यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥" दो० २०७)।

(२) 'तुम्ह रामहि प्रतिकूल न''—अर्थात् चन्द्रमा और पाला आदि अपना प्राकृतिक नियम चाहे छोड़ दें, पर तुम श्रीरामजी के विरुद्ध नहीं हो सकते हो; अर्थात् तुम्हारी प्रकृति नहीं बदल सकती; यथा—"भरतहि होइ न राज मद, बिधि हरिहर पद पाइ।···" से "मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप मद भरतहिं भाई॥" (दो० २३१) तक।

(३) मत तुम्हार यह जो···'—यह माताजी ने श्रीभरतजी पर दोष देनेवालों को शाप दिया है।

करत बिलाप बहुत येहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती॥६॥
बामदेव बसिष्ठ तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये॥७॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥८॥

अर्थ—इस प्रकार से बहुत विलाप करते हुए सारी रात बैठे-ही-बैठे बीत गई॥६॥ तब वामदेव और वसिष्ठजी आये और सब मंत्रियों और रईसों को बुलवाया॥७॥ मुनि ने बहुत तरह से श्रीभरतजी को समय के अनुकूल और योग्य परमार्थ के वचन कहकर उपदेश दिया॥८॥

विशेष—(१) 'बामदेव बसिष्ठ तब''—वामदेवजी प्रतिष्ठित और वसिष्ठजी के तुल्य ऋषि हैं, क्योंकि ये वसिष्ठजी के वचनों की समर्थन करके प्रतीति करानेवाले हैं; यथा—"बोले बामदेव सब साँची।" (बा० दो० ३५८); मंत्रियों और महाजनों को बुलवाया, क्योंकि ये लोग आते समय श्रीभरतजी से न मिले थे, इन्हें श्रीरामजी के विरोधी होने का संदेह था, वह निवृत्त करने के लिये बुलवाया।

(२) 'मुनि बहु भाँति भरत···'—राजा धर्मात्मा थे, उन्होंने आयु-पर्यन्त धर्म में बिताया, फिर स्वर्ग में भी इन्द्रासन पर जा विराजे, नरराज से देवराज हुए, तो उनके लिये शोक न करना चाहिये। प्रिय-वियोग-जन्य दुःखों को सहना ही चाहिये, क्योंकि ये अपरिहार्य हैं; यथा—"त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥" (वाल्मी० २।७७।२३); अर्थात् सभी प्राणियों को तीन द्वन्द्व (भूख-प्यास, हानि-लाभ, जरा-मृत्यु) होते हैं, ये अनिवार्य हैं। अतः, तुम्हें ऐसा शोक नहीं करना चाहिये।

"भरतागमन-प्रेम-बहु" प्रकरण समाप्त

"करि-नृप-क्रिया" प्रकरण

दोहा—तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आज।
उठे भरत गुरुबचन सुनि, करन कहेउ सब साज॥१६९॥

नृपतनु बेदबिहित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा॥१॥
गहि पगु भरत मातु सब राखी। रहीं राम-दरसन अभिलाखी॥२॥

अर्थ—हे तात ! हृदय में धैर्य धारण करो और आज इस अवसर पर जो करना चाहिये, वह करो, गुरुजी के वचन सुनकर श्रीभरतजी उठे और सब सामान करने को कहा ॥१६९॥ वेद में कही हुई रीति के अनुसार राजा के शरीर को स्नान कराया और परम विचित्र विमान (अरथी) बनाया गया ॥१॥ श्रीभरतजी ने सब माताओं के चरण पकड़ कर उनको रख लिया (प्रार्थना करके सती होने से रोका), वे श्रीरामजी के दर्शनों की अभिलाषा से रह गईं (सती न हुईं) ॥२॥

विशेष—(१) 'उठे भरत गुरुवचन सुनि'—गुरु की आज्ञा का गौरव मानकर सुनते ही उठे ।

(२) 'गहि पगु भरत मातु······'—जब राजा का विमान ले चले, तब श्रीकौशल्याजी आदि रानियाँ सती होने को चलीं। इसपर श्रीभरतजी ने चरण पकड़कर रोका और समझाया कि पिता स्वर्ग को गये, श्रीरामजी वन में हैं। यदि आप सब भी न रहेंगी, तो मेरी रक्षा कौन करेगा ? फिर धर्म-शास्त्र में भी लिखा है कि जिसका पुत्र धर्म-रक्षा में समर्थ हो, वह स्त्री पति के साथ सती न हो। क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ ? लोक में भी मेरी निन्दा होगी कि माताएँ इसीसे जल मरीं कि यह राजा होने से हम विधवाओं की दुर्गति करेगा।

पुनः आप ही लोगों के सहारे तो मैं श्रीरामजी को लौटाने की प्रार्थना करूँगा, यदि अभी न भी लौटें, तो अवधि-पूर्त्ति पर तो उनके अभिषेक का सुख होगा ही, इत्यादि सुनकर श्रीराम-दर्शनाभिलाष से रह गईं। उन्होंने हरि-प्राप्ति को उस धर्म से विशेष माना ।

चंदन अगर भार बहु आये। अमित अनेक सुगंध सुहाये ॥३॥
सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥४॥
येहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही। बिधवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥५॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दस-गात बिधाना ॥६॥
जहँ जस मुनिवर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सब कीन्हा ॥७॥
भये बिसुद्ध दिये सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥८॥

दोहा—सिंहासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम।
दिये भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम ॥१७०॥

पितुहित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी ॥१॥

शब्दार्थ—अनेक सुगंध=गुग्गुल, पद्मक, केसर, कचूर, कस्तूरी, कपूर इत्यादि। सरजुतीर=बिल्वहरिघाट पर। दाहक्रिया=मुर्दा जलाने का कर्म। सुमृति=स्मृति, धर्म-शास्त्र। दसगात=दश गात्र, मृतक का दाहकर्म के पीछे का शास्त्रीय कर्म, जो दश दिनों तक होता रहता है। इसी कर्म से क्रमशः प्रेत का शरीर बनता है, दशवें दिन पूरा होता है।

अर्थ—चन्दन-अगर एवं और भी बहुत-से बे-अन्दाज़ सुन्दर सुगंधित पदार्थों के बहुत-से बोझ आये ॥३॥ श्रीसरजूजी के तट पर रचकर चिता बनाई गई, (जो ऐसी जान पड़ती थी कि) मानों स्वर्ग

की सुहावनी सीढ़ी है ॥४॥ इस प्रकार सब दाह-क्रिया की और विधि-पूर्वक स्नान करके तिलाञ्जलि दी ॥५॥ सब स्मृति, वेद और पुराणों को शोधकर श्रीभरतजी ने दशगात्र का विधान किया ॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ वैसा ही श्रीभरतजी ने सहस्रों प्रकार से किया ॥७॥ विशेष शुद्ध होकर सब (तरह के) दान दिये, बहुत तरह की गायें, घोड़े, हाथी, रथ ॥८॥ सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथिवी, धन और घर श्रीभरतजी ने दान में दिये, पाकर ब्राह्मण लोग परिपूर्ण-काम हो गये; अर्थात् उन्हें फिर और कामना न रह गई ॥१७०॥ पिता के लिये श्रीभरतजी ने जैसी करनी (अंत्येष्टि-क्रिया) की, वह लाखों मुखों से भी नहीं कही जा सकती ॥१॥

विशेष—'चंदन अगर भार······'—चन्दन अगर आदि चिता बनाने के लिये और सुगंध अतर (इत्र) आदि शव के अंग में लगाने के लिये आये। 'सहस भाँति'—एक-एक वस्तु की जगह हजार-हजार और एक विधि अनेक प्रकार से की, यह उत्कृष्ट श्रद्धा है। 'परि पूरन काम' अर्थात् ब्राह्मणों को तृप्त कर दिया, उन्हें और कुछ कामना न रह गई।

"करि-नृप-क्रिया" प्रकरण समाप्त

"संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी" प्रकरण

सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥२॥
बैठे राजसभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥३॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरममय बचन उचारे ॥४॥
प्रथम कथा सब मुनिवर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥५॥
भूप धरम-व्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा ॥६॥

अर्थ—अच्छा दिन शोधकर तब मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी आये; मंत्रियों और महाजनों (रईसों) को बुलाया ॥२॥ सब राज-सभा में जाकर बैठे, तब श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन दोनों भाइयों को बुला भेजा ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने श्रीभरतजी को अपने समीप बैठाया और वे नीतिमय एवं धर्ममय वचन बोले ॥४॥ जैसी कुटिल करनी कैकेयी ने की थी, मुनि-श्रेष्ठ ने पहले वही कथा कही ॥५॥ फिर राजा के धर्म-व्रत और सत्य-व्रत की सराहना की कि जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेम को निबाहा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुदिन सोधि ·····'—गुरुजी ने सुदिन शोधा था कि श्रीभरतजी को राज्य देंगे, पर इन्होंने सेवा-धर्म की ओट से इस आज्ञा का भंग किया, तब भी गुरुजी एवं और सभी प्रसन्न ही हुए; यथा—"भा सबके मन मोद न थोरा। "भरत प्रान प्रिय में सब ही के॥" (दो० १८४)। इससे सेवा-धर्म को परम धर्म जनाया। परम धर्म के आश्रित होकर सामान्य धर्म का त्याग हो सकता है।

वाल्मी० २।७९।१ के अनुसार यह सभा नृप-क्रिया-समाप्ति के १४ वें दिन हुई।

(२) 'बैठे राजसभा सब ·· ··'—श्रीभरतजी को आज राजगद्दी पर बैठाने का विचार करना है, कुल-परंपरा की रीति से उसका यही स्थल है। 'दोउ भाई'—क्योंकि पहले एक भाई श्रीभरतजी के न

रहने से राम-तिलक में विघ्न हुआ था, इसलिये अब दोनों को साथ बुलाया। कहा भी है—"दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है।"

(३) 'भरत बसिष्ठ निकट बैठारे······'—समीप में बैठाना अधिक आदर और प्रीति का सूचक है; यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं॰ दो॰ ३६)। 'नीति धरममय बचन······'—पहले नीति-पद देकर पीछे धर्म शब्द कहा गया, क्योंकि श्रीभरतजी नीति की दृष्टि से राज्य ग्रहण कर सकते हैं; यथा—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो॰ १७४); और धर्म की दृष्टि से नहीं; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो॰ १४); अर्थात् धर्म-दृष्टि से श्रीरामजी ही राज्य के अधिकारी हैं। गुरुजी ने श्रीभरतजी को तिलक करने के विचार से नीति को प्रधान रक्खा, धर्म को भी साथ रक्खा, इसीसे श्रीभरतजी को उत्तर देने का मार्ग मिला।

(४) 'कैकइ कुटिल कीन्हि···'—श्रीभरतजी कैकेयी की करनी को कुटिल मानते हैं। अतः, गुरुजी ने भी इनकी रुचि रखते हुए कहा। श्रीभरद्वाजजी के वचन—"तात कैकेइहि दोष नहिं" (दो॰ २०६); की तरह न कहा, क्योंकि अभी इसका प्रभाव न पड़ता, यह भी नीति है।

(५) 'भूप धरम-ब्रत सत्य सराहा'—धर्म-व्रत यह कि कैकेयी के दो वरदान थाती रूप में रक्खे थे। उन्हें उसने जब माँगा, तब दे दिया, धरोहर दे देना धर्म है। इस धर्म के रखने में प्राण तक दे दिये। सत्य-व्रत यह कि राजा ने उससे कहा था—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥" सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।" (दो॰ २०); उसे भी प्राण देकर निबाहा। वह स्त्री थी, फिर उसने छल से राजा को वचन-बद्ध किया था। अतएव वह ऐसे दान की अधिकारिणी न थी; पर राजा ने उससे भी न नहीं किया।

(६) 'जेहि तनु परिहरि···'—सत्य और धर्म-व्रत की रक्षा से राम-प्रेम में न्यूनता आती; यथा—"वारउँ सत्य बचन स्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल हरि पाये सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥" (गी॰ अ॰ २); इसलिये राम-वियोग होते ही शरीर त्याग दिया, यह प्रेम को पराकाष्ठा निबाही।

कहत राम - गुन - सील-सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥७॥
बहुरि लखन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥१७१॥

अस बिचारि केहि देइय दोषू। व्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव को कहते हुए मुनिराज वसिष्ठजी के नेत्रों में जल भर आया और शरीर पुलकित हो गया॥७॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की प्रीति विस्तार-पूर्वक कहते हुए ज्ञानी मुनि शोक और स्नेह में डूब गये॥८॥ मुनिनाथ वसिष्ठजी ने दुःखी होकर कहा कि भरत! सुनो, भावी प्रबल है। हानि लाभ, जीना मरना, यश अपयश, सब विधाता के हाथ हैं। ऐसा विचारकर किसे दोष दिया जाय और व्यर्थ किसपर क्रोध किया जाय?॥१॥

विशेष—(१) 'कहत राम-गुन-सील ...'—'गुन' यह कि पिता की आज्ञा का पालन किया। वनवास की आज्ञा भी हर्ष से ग्रहण की ; यथा—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥" (दो० ४०) ; 'सील' यह कि ऐसी निष्ठुर कैकेयी के निष्ठुर एवं प्रतिकूल वचनों पर भी उसे कुछ न कहा, प्रत्युत उसमें ही सुख मान लिया ; यथा—"राम जननि बिख सुनि सुख पावा ॥" (दो० ७८) ; 'सुभाऊ' ; यथा—"तिलक कहँ बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाव। हृदय दाडिमि ज्यों विदर्थो समुझि सील सुभाव ॥" (गी० अ० ५७) ; तथा—"सब कर सब विधि करि परितोषू ॥" (दो० १६५)।

(२) 'बहुरि लखन सिय प्रीति ......'—पहले श्रीजानकीजी साथ हुईं, तब श्रीलक्ष्मणजी साथ हुए और इसी क्रम से इनकी प्रीति हुई ; पर यहाँ कहने में मुनिराज क्रम भूल गये, क्योंकि शोक-स्नेह में मग्न हैं ; उत्तरार्द्ध में कहा ही है।

'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानी को शोक स्नेह की ममता कैसी ?—"यह सियराम सनेह बड़ाई।" (दो० २०६) ; प्रकट हुई हैं ; क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २०६)।

(३) 'बिलखि कहेउ ...'—दुखी होकर कहा कि भावी (हरि की इच्छा) इतनी प्रबल है कि उसपर मुझसे कुछ करते न बना। क्या करूँ ? इस तरह अपनी लाचारी जनाई। उत्तरार्द्ध में उसी प्रबलता को समझाते हैं—'हानि लाभ ......' अर्थात् लाभ, जीवन और यश ही सब चाहते हैं, पर हानि, मरण और अपयश बलात् हो जाते हैं। यह विधि की प्रबलता है। पुनः लाभ आदि के प्रति भी कभी-कभी बहुत-से विघ्न न लगकर इनकी सिद्धि हो ही जाती है तो वह भी वैसा ही है। विधि का कार्य है।

(४) 'अस बिचारि केहि ...'—अर्थात् कैकेयी आदि के कर्त्तव्य भी विधि के ही कार्य हैं ; यथा—"दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई ॥" (दो० २६२) ; अतः, कैकेयी को भी दोष न दीजिये और न उसपर रोष कीजिये। आगे पिता के विषय का शोक छोड़ने के प्रति कहते हैं—

तात बिचार करहु मन माहीं। सोच जोग दसरथ नृप नाहीं ॥२॥
सोचिय बिप्र जो बेद-बिहीना। तजि निज धरम बिषय लयलीना ॥३॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥४॥
सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि-सिव-भगति-सुजानू ॥५॥
सोचिय सूद्र बिप्र-अवमानी। मुखर मानप्रिय ज्ञानगुमानी ॥६॥
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥७॥

शब्दार्थ—सोचिय = शोक करने के योग्य। मुखर = अप्रिय एवं बहुत बोलनेवाला।

अर्थ—हे तात ! मन में विचार करो (तो) राजा दशरथ शोक करने योग्य नहीं हैं ॥२॥ वह ब्राह्मण शोचने के योग्य है, जो वेद न जानता हो और अपना धर्म छोड़कर विषय (भोग-विलास) में आसक्त हो ॥३॥ वह राजा शोचने के योग्य है जो नीति न जानता हो और जिसे प्रजा प्राणों के समान प्रिय न हो ॥४॥ वह वैश्य शोचने के योग्य है, जो धनवान् होते हुए भी कंजूस हो, जो अतिथि-सेवा और

शिव-भक्ति में निपुण न हो ॥५॥ वह शूद्र शोचने के योग्य है, जो ब्राह्मण का अपमान करनेवाला, बकवादी, प्रतिष्ठा चाहनेवाला और अपने ज्ञान का घमंड रखनेवाला हो ॥६॥ फिर वह स्त्री शोचने के योग्य है, जो पति से छल करनेवाली, कुटिला, झगड़ालू और अपनी इच्छानुसार चलनेवाली हो ॥७॥

विशेष—(१) 'तात बिचार करहु मन'''—राजा दशरथ के लिये शोक (शोच) करना योग्य नहीं है। मुख्य यही वक्तव्य है। इसी की पुष्टि के लिये गुरुजी दो पक्ष कह रहे हैं। शोचनीय को कहकर उसके विपर्यय से अशोचनीय को सूचित करते हैं। यह वसिष्ठजी एवं कवि की लोक-शिक्षात्मक दृष्टि है। प्रथम चारों वर्णों के धर्म, फिर उनकी स्त्रियों के और फिर चारों आश्रमों के धर्म कहकर फिर सबके लिये करने के योग्य धर्म कहा है।

(२) 'सोचिय बिप्र'' अर्थात् ब्राह्मणों को वेद जानना चाहिये, तभी वे अपना धर्माचरण करते हुए औरों को भी शिक्षा दे सकेंगे। 'बिहीना' अर्थात् विशेष हीन, जो वेद की मूल-रूपा ब्रह्म-गायत्री भी न जाने।

(३) 'शोचिय नृपति'''; यथा—"राज कि रहै नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२); और उसे प्रजा प्रिय रहनी चाहिये; यथा—"जासु राज प्रिय-प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (दो० ७०); यहाँ प्रसंगानुसार क्षत्रिय कहना चाहिये, पर 'नृपति' कहा, क्योंकि गुरुजी श्रीभरतजी को राजा दशरथ के निमित्त शोच करना छुड़ाना चाहते हैं।

(४) 'सोचिय बयस कृपन'''—शिवजी की भक्ति से धन की वृद्धि होती रहेगी और उसी से अतिथि सेवा भी हुआ करेगी। मनुस्मृति आदि में शिवभक्ति नहीं लिखी गई। यहाँ समयानुसार लोकसंग्रह पर भी कवि की दृष्टि है।

(५) 'सूद्र बिप्र अवमानी'; यथा—"बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि।" 'ज्ञान गुमानी'; यथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥" (उ० दो० ९९); 'मानप्रिय'—ब्राह्मण आदि से भी अधिक मान चाहते हैं कि लोग हमें पूजें और श्रेष्ठ मानें।

(६) 'सोचिय पुनि पति बंचक''' सब जाति की स्त्रियों के लिये पातिव्रत धर्म एक ही है, इसीलिये जाति-धर्म के साथ कहा और शूद्र के साहचर्य्य में कहा, क्योंकि स्त्रियाँ शूद्रवत् मानी जाती हैं। कहा भी है—"सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहइ।" (अ० दो० ५); यह श्रीअनसूयाजी ने श्रीसीताजी से कहा है, तथा—"जदपि जोषिता अनअधिकारी।" (बा० दो० १०९), "अधम ते अधम अधम अति नारी।" (आ० दो० ३४)। स्त्रियों का धर्म यह है कि वे पति की आज्ञा मानें, पति से कपट न करें, कुटिलता एवं कलह न करें; यही इसमें अभिप्राय है।

सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुरुआयसु अनुसरई ॥८॥

दोहा—सोचिय गृही जो मोहबस, करइ करमपथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥१७२॥

बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥१॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी। जननि-जनक-गुरु-बंधु - बिरोधी ॥२॥

सब बिधि सोचिय पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी ॥३॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई ॥४॥

अर्थ—उस ब्रह्मचारी के प्रति शोच करना चाहिये, जो अपने व्रत को छोड़ देता है और जो गुरु की आज्ञा पर नहीं चलता ॥८॥ उस गृहस्थ के प्रति भी शोच करना चाहिये जो मोहवश कर्म मार्ग को छोड़ देता है। प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) में रत, ज्ञान-वैराग्य हीन संन्यासी भी शोचनीय है ॥१७२॥ वह वानप्रस्थ शोचने के योग्य है, जिसे तप छोड़कर विषय-भोग प्रिय लगे ॥१॥ शोचने के योग्य वह है, जो चुगलखोर है, बिना कारण ही क्रोध करनेवाला, माता, पिता, गुरु और भाई से विरोध करनेवाला है ॥२॥ सब प्रकार वह शोचने के योग्य है, जो दूसरों की हानि करनेवाला, अपने ही शरीर का पोषण करनेवाला (उदरार्थी) और भारी निर्दय है ॥३॥ सभी प्रकार से वही शोचने के योग्य है, जो छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता ॥४॥

विशेष—(१) 'सोचिय बटु···'—ऊपर वर्ण-धर्म और स्त्री-धर्म कह चुके, अब आश्रम-धर्म कहते हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है—इसका यह व्रत है कि उपनयन संस्कार के पीछे गुरु के यहाँ रहकर विद्या पढ़े। अच्छे गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा लाकर निर्वाह करता हुआ गुरु-सेवा करे और उनकी आज्ञा में रहे। मद्य-मांस-सेवन, गंध द्रव्य-सेवन, मधुर स्वादिष्ट भोजन, स्त्री-संग आदि दुर्व्यसनों से बचा रहे। प्रातः-सायंकाल में हवन करे और भिक्षाटन समय के अतिरिक्त आचार्य के समक्ष में रहे। यह व्रत छोड़कर यदि वह उच्छृंखल वृत्ति से रहे, तो शोचने के योग्य है।

(२) 'सोचिय गृही जो मोहबस ···'; यथा—"नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥" (गीता १८।७); गृहस्थों के लिये ऋणत्रय (देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण) के अनुसार कर्म नियत हैं, उनका त्यागना निषिद्ध है।

(३) 'सोचिय जती प्रपंच ···' संन्यासी को प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) से पृथक् रहना चाहिये, वैराग्य और विवेक की वृत्ति से कालक्षेप करना चाहिये; इसके बिना वह शोचने के योग्य है। 'प्रपंच रत'; यथा—"बहु दाम सँवारहिं धाम जती, बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती ॥" (उ० दो० १००)। 'विवेक' अर्थात् असत् (प्रपंच) को छोड़कर सत् (हरि-भजन) को ग्रहण करे; अर्थात् इन्द्रियों से जगत् व्यवहार छोड़कर हरि-भजन करे; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत् सब सपना ॥" (आ० दो० ३८); इसपर बा० दो० ६।१ भी देखिये। 'विराग'; यथा—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी (आ० दो० १५)।

(४) 'बैखानस सोइ ···'—वानप्रस्थ आश्रमवालों को ग्राम आदि बस्ती से पृथक् वन में रहना चाहिये और वहीं के कंद-मूल-फल आदि से शरीर-निर्वाह करना चाहिये। उन्हीं से पंचयज्ञ करना चाहिये। शय्या, वाहन, वस्त्र, पलंग आदि त्याग देना चाहिये। जब इस आश्रम में परिपक्व वैराग्य हो जाय, तब संन्यास लेना चाहिये।

आश्रम वर्णन में क्रम भंग किया गया है कि गृही के पीछे वानप्रस्थ को न कहकर संन्यास कहा गया है। इसका कारण यह है कि आश्रम दो ही मुख्य हैं, गार्हस्थ्य और संन्यास। शेष दो इन्हीं के साधक हैं, जैसे कि ब्रह्मचर्य में विद्या की प्राप्ति द्वारा धन और वीर्य संचय से सन्तान की प्राप्ति हो, ये दोनों बातें गृही के लिये चाहिये। पुनः गार्हस्थ्य-सेवन से इन्द्रियाँ प्रबल हुईं, तो वे वानप्रस्थ से शांत होती हैं और व संन्यास आश्रम के योग्य होता है। इस तरह यहाँ दोनों के सहायक आश्रमों को साथ-साथ रक्खा है।

क्रम भंग का यह भी हेतु है कि यहाँ गृही और यती को एक साथ रक्खा है कि गृही को कर्म त्यागना दोष रूप और यती को कर्म की ओट से प्रपंच-रत होना दोषरूप है ; क्रिया-वैषम्य साथ दिखाया।

(५) 'सोचिय पिसुन अकारन···'—पिशुनता भारी पाप है; यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" (उ० दो० १११); 'अकारन क्रोधी'—कारण पाकर क्रोध तो मुनियों को भी हो जाता है; यथा—"सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥" (उ० दो० १११); बिना कारण क्रोध करना भारी पाप है और सामान्य क्रोध तो पाप का मूल कहा ही गया है। जननी-जनक आदि पूज्य हैं और इन्होंने वात्सल्य-पूर्वक बड़े-बड़े उपकार किये हैं। अतः, इनसे विरोध करना भारी पाप है।

(६) 'सब विधि सोचिय···'—'निज तनु पोषक' के साथ ही 'निरदय भारी' भी कहा है, इससे चोरी आदि दुष्टता करके जीविकावाले और मांसाहारियों पर लक्ष्य है। अथवा पुत्र, भृत्य, स्त्री आदि के रहते हुए उन्हें न देकर स्वयं उत्तम भोगों से शरीर-पोषण भी 'निज तनु पोषकता' रूप दोष है ; यथा—"पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥" (वाल्मी० २।७५।२४); ऊपर के सब एक एक विधि से शोचनीय कहे गये, पर ये सब प्रकार से शोचनीय कहे गये, क्योंकि इनके कर्त्तव्य मनुष्यता से बाहर के हैं।

(७) 'जो न छाड़ि छल हरिजन होई'—स्वार्थ-साधकता ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००); तथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।" (लं० दो० २); "बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥" (बा० दो० ११)। ऊपर 'सब विधि' कहा गया था, यही 'सब ही विधि' कहकर 'ही' से विशेष जोर देकर कहा, क्योंकि मनुष्य-तन को पाने का मुख्य उद्देश्य हरि की भक्ति ही है।

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥५॥
भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥६॥
बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ-गुन-गाथा॥७॥

दोहा—कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम-लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुवन सुचि जासु॥१७३॥

अर्थ—कोसल-राज श्रीदशरथजी शोच करने के योग्य नहीं हैं, चौदहो लोकों में उनका प्रभाव प्रकट है॥५॥ हे भरतजी ! जैसे तुम्हारे पिता थे, वैसा राजा न तो हुआ, न है और न अब होनेवाला ही है॥६॥ ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र और लोकपाल सभी दशरथजी के गुणों की कथा वर्णन करते हैं॥७॥ हे तात ! कहो तो कोई भी किस प्रकार उनकी बड़ाई कर सकता है कि जिनके श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, तुम और श्रीशत्रुघ्नजी-सरीखे पवित्र पुत्र हैं॥१७३॥

विशेष—(१) 'सोचनीय नहिं कोसल राऊ।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।" है। वशिष्ठजी ने श्रीभरतजी के हृदय में पिता-मरण का ही शोक समझा था, उसीके अनुसार समझा रहे हैं। श्रीराम-वन-गमन का शोक श्रीभरतजी के हृदय में है; इसपर गुरुजी की दृष्टि

विरोध भी हो जाता है तो ये संयोग-वश प्राप्त राज्य के
नहीं है, क्योंकि राज्य के निमित्त तो भाई-भाई में विरोध भी हो जाता है ... योग्य नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त दोष उनमें नहीं हैं। राजा दशरथजी शोच के योग्य नहीं हैं, फिर शोक कैसा? अपयशी जीते हुए भी
विरह में शोक क्यों करेंगे? ... तो वे मृतक नहीं हैं, ... (लं० दो० १०); राजा में तो अपयश
प्रत्युत चौदहो भुवनों में उनका यश व्याप्त है ... "जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥"
मृतक-तुल्य है; यथा—"अजसी'''जीवत ... उनका प्रभाव ही गाते हैं।
को याव तुच्छ नहीं है, चौदहो भुवनवाले उनका प्रभाव ही गाते हैं।

(२) 'बिधि हरि हर सुरपति'''—ब्रह्माजी प्रजा बढ़ाने की शक्ति में, विष्णु पालन-शक्ति में, शिवजी शत्रु-संहार-शक्ति में, इन्द्र पराक्रम में एवं राज्य-सुख-भोग-शक्ति में और दिक्पाल प्रजाओं की रक्षण-शक्ति में राजा दशरथ को अपने-अपने से बहुत बड़ा मानते हैं, तभी सराहते हैं; अन्यथा ये सब तो स्वयं बड़ाईवाले हैं, दूसरे के गुण क्यों गावेंगे? राजा के बड़प्पन का और भी हेतु आगे कहते हैं।

(३) 'कहहु तात जेहि भाँति कोउ'''—भगवान् के अवतार लेने से राजा को यह महत्त्व मिला कि चारो भाइयों ने पिता को बड़ाई दी; यथा—"जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता ॥" (बा० दो० १५); स्वयं शुचि थे, तब उनके शुचि पुत्र हुए। श्रीलक्ष्मणजी इस समय श्रीरामजी के समीप हैं। इसलिये उनका नाम भी अवस्था-क्रम छुड़ाकर श्रीभरतजी से पहले और श्रीराम नाम के साथ रक्खा गया है।

सब प्रकार भूपति बड़ भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी ॥१॥
येहु सुनि समुझि सोच परिहरहू। सिर धरि राज-रजायसु करहू ॥२॥
राय राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा ॥३॥
तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम-बिरहागी ॥४॥
नृपहि बचन प्रिय नहि प्रिय प्राना। करहु तात पितु-बचन प्रमाना ॥५॥

अर्थ—राजा सब तरह से बड़े भाग्यवान् थे, उनके लिये विषाद करना व्यर्थ है ॥१॥ यह सुन-समझकर शोच छोड़ो और राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उसे करो ॥२॥ राजा ने तुमको राज्य-पद दिया, पिता के वचन को सत्य करना चाहिये ॥३॥ कि जिस वचन ही के लिये उन्होंने श्रीरामजी को छोड़ा (वनवास दिया) और राम-विरह रूपी अग्नि में शरीर त्याग दिया ॥४॥ राजा को वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय न थे, (अतः) हे तात! पिता के वचनों को प्रमाणित करो; अर्थात् राजा ने कैकेयी को वरदान दिया है कि भरत राज्य पावें, वह वचन तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से सत्य होगा ॥५॥

विशेष—'सब प्रकार भूपति बड़ भागी।'—पुत्रों के ही संबंध से नहीं, प्रत्युत गुण, वैभव, जाति, धर्म, कर्म आदि की उत्तमता और श्रीराम-विरह में तन-त्याग आदि सभी प्रकार से। 'सिर धरि राज'''— राजा की आज्ञा भंग न करनी चाहिये, ऐसा कहकर उस आज्ञा को स्पष्ट करते हैं कि 'राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा' फिर इसे ही 'पिता बचन' कहकर महत्त्व देते हैं कि पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठ धर्म है; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५१); फिर—'तजे राम जेहि बचनहिं लागी।''' से पिता के वचन का महत्त्व दिखाया; यथा—"तुलसी जान्यो दसरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहि लागि बिनु, राम परिहरे प्रान ॥" (दोहावली २१३); अतएव पिता के इस वचन को अवश्य ही सत्य करना चाहिये।

करहु सीस धरि भूप-रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥६॥
परसुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोग सब साखी ॥७॥
तनय जजातिहि जौवन दयेऊ। पितुआज्ञा अघ अजस न भयेऊ ॥८॥

दोहा—अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु-बयन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहि अमरपति-अयन ॥१७४॥

अर्थ—राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके करो, (इसमें) तुमको सब तरह से भलाई है ॥६॥ श्रीपरशुरामजी ने पिता की आज्ञा रक्खी (मानी), माता को मार डाला, इसके सब लोग साक्षी हैं ॥७॥ और राजा ययाति के पुत्र ने ययाति को अपनी जवानी दे दी, पिता की आज्ञा (होने) के कारण पाप और अपयश नहीं हुआ ॥८॥ उचित-अनुचित का विचार छोड़कर जो अपने पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश के पात्र हैं और (अंत में) इन्द्रपुरी में बसते हैं ॥१७४॥

विशेष—(१) 'परसुराम पितु आज्ञा······'—राजा की आज्ञा आदर-पूर्वक करने में तुम्हें सब प्रकार की भलाई है। इसीपर उदाहरण देते हुए श्रीपरशुरामजी की और आगे ययाति की कथा कही कि श्रीपरशुरामजी ने तो पिता की आज्ञा से माता को मार डाला और ययाति के पुत्र पुरु ने अपनी जवानी पिता को दे दी। ये दोनों कार्य-मातृवध और मातृ-गमन अनुचित थे, पर इनसे दोनों को यश ही प्राप्त हुआ, कोई भी पाप के भागी न हुए। यदि पापी होते तो इन्हें अपयश भी होता; यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११); पर इन्हें यश ही प्राप्त हुआ।

श्रीभरतजी बड़े भाई के रहते हुए छोटे का राजा होना अनुचित मानते हैं। उसीको खंडन करते हुए गुरुजी ने दो उदाहरण दिये कि ऐसे अनुचित कार्य भी पिता की आज्ञा से किये जाने पर यश हुआ, तब तुम्हें तो भलाई ही है। क्योंकि तुम्हारे लिये जो पिता की आज्ञा है। वह लोक-वेद सम्मित है; यथा—"लोक-वेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राज सो लहई॥" (दो० १०१)। पहले श्रीपरशुरामजी का उदाहरण दिया, इसपर श्रीभरतजी कह सकते थे कि वे ईश्वर के अवतार हैं, उनके कर्म करने का सबको अधिकार नहीं है; यथा—"न देव चरितं चरेत्।" कहा है। फिर वे तो समर्थ भी थे, इससे फिर माता को जिला लिया। अतएव, यह मुझमें युक्त नहीं है। इसपर साथ ही मनुष्य राजकुमार का दूसरा उदाहरण दिया है। पुनः इसकी सत्यता पर सब लोकों को साक्षी दी कि यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

(२) 'अनुचित उचित बिचार तजि··· ···'—ऊपर कहा था कि अनुचित भी पिता की आज्ञा के पालने से पाप और अपयश नहीं होते। अब कहते हैं कि पिता की आज्ञा में अनुचित-उचित का विचार ही न करना चाहिये। ज्यों-की-त्यों उसे मान ही लेना चाहिये। उससे सुख और सुयश होता है और अंत में स्वर्ग मिलता है। दोहे के पूर्वार्द्ध में साधन और उत्तरार्द्ध में उसका फल कहा है। ये फल पुण्य से प्राप्त होते हैं; यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१); "पावन जस कि पुन्य बिनु होई।" (उ० दो० १११)। स्वर्ग भी पुण्य से ही मिलता है; यथा—"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र-लोकम्·· ··" (गीता ९।२०); 'बसहिं' अर्थात् बहुत काल रहते हैं। इस तरह लोक-परलोक का सुधरना जनाया।

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ॥१॥
सुरपुर नृप पाइहि परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृत सुजसु नहिं दोषू ॥२॥
बेदबिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥३॥
करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी ॥४॥

अर्थ—राजा के वचन अवश्य सत्य करो, प्रजा को पालो और शोक छोड़ो ॥१॥ स्वर्ग में राजा सम्यक् प्रकार से संतोष पावेंगे। तुमको पुण्य और सुन्दर यश मिलेगा, दोष नहीं लगेगा ॥२॥ वेद में प्रसिद्ध है और सभी की सम्मति है कि जिसे पिता देवे, वही राज्य-तिलक पावे ॥३॥ (अतः) राज्य करो और ग्लानि को छोड़ो, मेरा वचन हितकारी समझकर मानो ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसि नरेस बचन फुर······'—श्रीभरतजी पिता की इस आज्ञा के करने में दोष समझकर उदासीन हैं। इसीसे गुरुजी इसे करने को बार बार कहते हैं—(१) सिर धरि राज रजायसु करहू। (२) पिता-बचन फुर चाहिय कीन्हा। (३) करहु तात पितु-बचन प्रमाना। (४) करहु सीस धरि भूप-रजाई। (५) अवसि नरेस-बचन फुर करहू। आगे माता और मंत्री लोगों ने भी ऐसा ही कहा है; यथा—"पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई।···सिर धरि गुरु-आयसु अनुसरहू।" तथा "कीजिय गुरु-आयसु अवसि, कहहि सचिव कर जोरि।" (दो० १७५)।

'पालहु प्रजा'—प्रजा-पालन राजा का मुख्य धर्म है ; इसलिये इसे करने के लिये बार-बार कहा गया है ; यथा—"कौशल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा-सुख होहिं सुखारी॥" "परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥" "प्रजा पालि परिजन दुख हरहू।" इत्यादि यहाँ है, अन्यत्र भी बहुत कहा गया है। 'सोक परिहरहू'—पिता सम्बन्धी शोक छोड़ दो। प्रजा के शोक-हरण का भाव भी निकलता है।

(२) 'संमत सबही का'—ऋषि, संहिता, पुराणादि एवं सभी छोटे-बड़े का।

'जेहि पितु देइ सो ···· '—श्रीशुक्राचार्यजी नीति के आचार्य हैं। उन्होंने ययाति राजा को आज्ञा दी है कि पिता चाहे जिस पुत्र को राज्य दे और इसमें सब ऋषि भी सहमत हुए।

(३) 'करहु राज परिहरहु गलानी।'—इसी आज्ञा के कारण पिता ने शरीर त्याग किया, इसकी ग्लानि छोड़ दो ; क्योंकि कैकेयी के वरदानवाले राजा के वचन तभी सत्य होंगे, जब तुम राज्य ग्रहण करोगे। अतएव, इसीसे पिता भी संतुष्ट होंगे, यथा—"सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।" ऊपर कहा गया है। 'मानहु मोर बचन···'—उपर्युक्त राजा की आज्ञा, 'पितु-आज्ञा' को ही अपने वचन से भी पुष्ट करते हैं कि इसे ही गुरु की आज्ञा मानकर करो। इसीसे आगे सभी ने गुरु-आयसु कहा है। यथा—"कीजिय गुरु-आयसु अवसि···"—मंत्री—"पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई।"—माता, "मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका।"—भरत। श्रीभरद्वाजजी ने इसे ही लेकर कहा है—"गुरु अवमान दोष नहिं दूषा।" (दो० २०८)।

सुनि सुख लहब राम-बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही ॥५॥
कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥६॥

मरम तुम्हार राम कर जानिहि । सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ॥७॥
सौंपेहु राज राम के आये । सेवा करेहु सनेह सुहाये ॥८॥

दोहा—कीजिय गुरु - आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि ।
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥१७५॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीजानकीजी सुनकर सुख पावेंगे, कोई भी पंडित (बुद्धिमान) इसे अनुचित न कहेगा ॥५॥ श्रीकौशल्याजी आदि सभी माताएँ भी प्रजा के सुख पाने से सुखी होंगी ॥६॥ जो तुम्हारे और श्रीरामजी के मर्म (भेद) को जानेगा, वह सब प्रकार तुमसे अच्छा मानेगा ॥७॥ श्रीरामजी के आने पर उन्हें राज्य सौंप देना और सुन्दर स्नेह के साथ उनकी सेवा करना ॥८॥ मंत्री लोग हाथ जोड़ कर कहते हैं कि गुरुजी की आज्ञा (का पालन) अवश्य कीजिये । श्रीरघुनाथजी के आने पर जैसा उचित हो, तब फिर वैसा कीजियेगा ॥१७५॥

विशेष—(१) 'सुनि सुख लहब राम'''—यदि इसपर श्रीरामजी बुरा मानें, क्योंकि उनका भाग छीनकर दिया जा रहा है, इसका समाधान गुरुजी करते हैं कि श्रीसीतारामजी इससे सुख मानेंगे ; यथा—"भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू ।" (दो० ४१) ; "माइ भरत भल राउ" (दो० २५) ; इत्यादि श्रीरामजी के श्रीमुख वचन हैं । तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से पिता कैकेयीजी से उऋण होंगे । इससे भी श्रीरामजी सुख मानेंगे ; यथा—"ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् । पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनंदय ॥" (वाल्मी० २।१०७।१०) ; पिता का दिया हुआ ; राज्य ग्रहणकर प्रजा को सुखी करने से पंडित लोग भी उचित ही मानेंगे ।

(२) 'कौसल्यादि सकल महतारी ।'''—उपर्युक्त बातों से श्रीभरतजी को संदेह हो सकता है कि माताएँ तो अवश्य दुःख मानेंगी कि हमारे पुत्र को वन भेजवाकर ये राज्य करते हैं । इसका गुरुजी यहाँ समाधान करते हैं कि माताएँ प्रजा के सुख से सुखी ही होंगी ; यथा—"बेगि प्रजा दुख मेटब आई ।" (दो० १०) ; क्योंकि ये प्रजा को पुत्र के समान मानती हैं ।

(३) 'मरम तुम्हार रामकर'''—भाव यह कि अनभिज्ञ लोग चाहे संदेह भी करें कि श्रीरामजी को वन भेजवाकर राज्य करते हैं, पर जो तुम्हारी और श्रीरामजी की हार्दिक प्रीति एवं स्वभाव की एकता जानते हैं, वे सब तरह से भला ही मानेंगे ।

(४) 'सौंपेहु राज राम के आये ।'''—इसपर भी राज्य-ग्रहण का रुख न पाकर कहते हैं कि श्रीरामजी के आने पर राज्य उन्हें सौंप देना और स्नेह-पूर्वक उनकी सेवा करना, तो यह स्नेह की शोभा होगी और राज्य करते ही रहने में धर्म की शोभा है; क्योंकि पिता-दत्त राज्य है, यह भी गर्भित है ।

(५) 'कीजिय गुरु-आयसु '''—'मानहु मोर बचन''' यह गुरु की आज्ञा है, इसे ही अवश्य करने को कहते हैं, क्योंकि 'गुरोराज्ञा गरीयसी' कहा जाता है, गुरुजी ने पिता की आज्ञा का भार दिया । मंत्री लोग और आगे माताजी भी गुरु की आज्ञा को प्रधान करती हैं कि जिससे धर्म के डर से भी श्रीभरतजी मान लें । 'कर जोरि'—क्योंकि ये लोग पहले सँभाल न सके थे, व्यवहार बिगड़ गया है, डरे हुए भी हैं, फिर इनका स्वाभाविक अधिकार भी राजा से हाथ जोड़कर कहने का है । गुरुजी को तो आज्ञा देने

का अधिकार है। वसिष्ठजी का सभी मन्त्री बड़ा गौरव मानते थे; यथा—"जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः॥" (वाल्मी० २।१७।२७)। इसीसे यहाँ भी इनकी आज्ञा पर सभी सहमत हैं। 'तव तस करब'—मंत्रियों को अभी श्रीभरतजी के हृदय का यथार्थ भाव नहीं मालूम है, इससे इन्हें संदेह है कि १४ वर्ष राज्य करने से कहीं इनका हृदय राज्य में रम जाय, और प्रजा भी अनुकूल रहे, तो अभी से यह कैसे कहें कि श्रीरामजी को राज्य सौंप देना और उधर गुरुजी के वचनों को भी बचाना है, इसलिये ऐसा कहा।

'नीति धरम मय बचन उचारे।'—उपक्रम है, और यहाँ 'कीजिअ गुर-आयसु ···' यह उपसंहार है।

कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य गुरआयसु अहई ॥१॥
सो आदरिय करिय हित मानी। तजिय बिषाद कालगति जानी ॥२॥
बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह येहि भाँति तात कदराहू ॥३॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कह रही हैं कि हे पुत्र! गुरुजी की आज्ञा पथ्य है, अर्थात् इस अनर्थ-रूपी कुरोग में सेवन करने के योग्य है ॥१॥ उसका आदर करना चाहिये और हित जानकर सेवन करना चाहिये, समय का फेर समझकर विषाद छोड़ो ॥२॥ श्रीरघुनाथजी वन में हैं और राजा (श्रीदशरथजी) स्वर्ग में हैं और हे तात! तुम इस तरह कदरा रहे हो ॥३॥ हे पुत्र! कुटुम्बियों, प्रजाओं, मंत्रियों और सब माताओं को तुम्हीं एक मात्र सहारा हो ॥४।

विशेष—(१) 'कौसल्या धरि धीरज ···'—इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसीसे धैर्य हुआ और विवेकमय वचन भी कह रही हैं। 'पथ्य'—श्रीभरतजी श्रीराम-वियोग-रूपी कुरोग से दुखी हैं, उसमें यह गुरु-आज्ञा पथ्य की तरह हित है। श्रीभरतजी ने कहा भी है; यथा—"येहि कुरोग कर औषध नाहीं" (दो० २११); तथा—"राम बियोग कुरोग बिगोये।" (दो० १५७); और रोगी को पथ्य दिया जाता ही है। पथ्य रोगी को रुचिकर नहीं होता, पर आगे हित करता है। वैसे ही गुरु की आज्ञा भी परिणाम में हितकर होगी। (शरीर में रोग रहते हुए पथ्य नहीं दिया जाता, पर माता स्नेहवश भूल कर दे रही हैं; पर रोगी तो स्वयं समझदार हैं। अतः, वे न ग्रहण करेंगे।) 'पूत पथ्य'—का यह भी भाव है कि यह पवित्र और पथ्य है; और कोई पथ्य-वस्तु भी अपवित्र होती है तो अग्राह्य होती है। जैसे उपर्युक्त मातृ-वध की आज्ञा एवं पिता को यौवन देना और उससे मातृ-गमन; पर यह गुरु की आज्ञा वैसी नहीं है; किन्तु पवित्र है।

(२) 'काल गति'—जैसे जाड़ा, गर्मी और वर्षा एवं दिन-रात अपने नियत अवसर पर होते ही हैं वैसे ही कालानुसार सुख-दुःख भी होते ही हैं। अतएव, अपरिहार्य हैं। इससे विषाद करना व्यर्थ है।

(३) 'सुरपुर नरनाहू' की जगह 'सुरपति नरनाहू' भी कहीं-कहीं पाठ है। उसका भाव यह है कि राजा इन्द्र हो गये, राजा यद्यपि इन्द्र नहीं हुए, तथापि इन्द्र के सखा हैं। अतः, इन्द्र के तुल्य हैं और इन्द्रलोक में हैं भी। कहा भी है—'समान ख्यातीति सखा' नरपति से सुरपति हो गये तो उनके प्रति हर्ष चाहिये, शोक नहीं।

लखि बिधि बाम काल कठिनाई। धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥५॥
सिर धरि गुरुआयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन-दुख हरहू ॥६॥
गुरु के बचन सचिव अभिनंदन। सुने भरत हिय हित जनु चंदन ॥७॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी ॥८॥

शब्दार्थ—अभिनन्दन = अनुमोदन, समर्थन। हित = हितकर।

अर्थ—ब्रह्माजी की प्रतिकूलता और समय की कठोरता देखकर धैर्य धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है ॥५॥ गुरुजी की आज्ञा शिरोधार्य करके उसके अनुसार करो, प्रजा का पालन करके कुटुम्बियों के दुःख हरण करो ॥६॥ श्रीभरतजी ने गुरुजी के वचन और मंत्रियों का समर्थन सुना, जो उनके हृदय के लिये मानो चंदन थे; अर्थात् हृदय को शीतल करनेवाले थे ॥७॥ फिर उन्होंने माता की शील-स्नेह और सरल-रस में सनी हुई कोमल वाणी सुनी ॥८॥

विशेष—(१) 'लखि बिधि बाम काल…'—विधि की वामता पर उपाय व्यर्थ जाते हैं और काल की गति का भी कोई खंडन नहीं कर सकता। यहाँ श्रीराम-वन-गमन में विधि-वामता और राजा की मृत्यु के प्रति काल-कठिनाई है।

(२) 'हित जनु चंदन'—चन्दन में शीत और सुगंध दो गुण हैं, वैसे इस वचन में भी परलोक-सुख शीत और लोक-सुयश सुगंध है। पिता एवं गुरु की आज्ञा का पालन करना महान् धर्म है। इसीसे लोक और परलोक का सुख होना कहा गया। चंदन पीने में कड़वा लगता है, वैसे यह वचन भी श्रीभरतजी के हृदय में कड़वा लगा। 'सील सनेह सरल रस सानी'—शील यह कि प्रतिकूल सौत के पुत्र का पक्ष लिया है। उसे राज्य पाने में सहायक हो रही हैं। स्नेह यह कि भरत की बलिहारी जाती हैं। सरलता यह कि हृदय से निश्छल हैं।

छंद—सानी सरल रस मातु-बानी सुनि भरत ब्याकुल भये।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की ॥

सोरठा—भरत कमल-कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि ॥१७६॥

अर्थ—सरलता रस में सनी हुई (सीधी-सादी) माता की वाणी सुनकर श्रीभरतजी व्याकुल हो गये। कमल के समान नेत्र आँसू बहाते हैं और हृदय के विरह के नये अँखुए को सींच रहे हैं; अर्थात्

इस वचन से हृदय का विरह लहलहा उठा, हरा-भरा हो गया। श्रीभरतजी की यह दशा देखकर सभी को उस समय देह की सुधि भूल गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग स्वाभाविक स्नेह की सीमा (श्रीभरतजी) की आदर-सहित प्रशंसा करते हैं। कमल के समान हाथों को जोड़कर धैर्यवानों में श्रेष्ठ श्रीभरतजी धैर्य धारण करके, मानों वचनों को अमृत में डुबाकर सबको उचित उत्तर देते हैं ॥१७६॥

विशेष—'भरत व्याकुल भये'—माता भी मुझे श्रीराम-विमुख करना चाहती है, यह समझकर व्याकुल हो गये। हृदय में जो विरह के अंकुर थे, वे उद्दीप्त हो आये। इनकी श्रीरामजी में ऐसी प्रीति की दशा देखकर सब प्रेम में देह सुधि भूल गये। फिर सावधान होकर सभी सराहने लगे कि श्रीभरतजी सहज स्नेह की सीमा हैं, यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (दो० १८३)। 'धीर धुरंधर धीर धरि'—विरह की व्याकुलता बहुत अधिक है तभी तो धैर्य धारण करने में धीर धुरंधर कहा है। कोरे प्रेमी ही नहीं हैं, किन्तु उत्तर देने में समर्थ हैं। अत, धैर्य धरकर उत्तर देते हैं। बड़ों को उत्तर देना है और उत्तर प्राय कड़ा होता ही है। इसलिये 'अमिअ जनु बोरि' कहा है, क्योंकि ये वचन सबको प्रिय लगेंगे; यथा—"भरत वचन सब कहँ प्रिय लागे।" (दो० १८३)। 'उचित' अर्थात् सभी इसे सराहेंगे और ये वचन सबके अनुकूल होंगे।

मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का ॥१॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥२॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी ॥३॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक-भारू ॥४॥

शब्दार्थ—धरि = धारण करके, ठहरकर, निश्चय करके।

अर्थ—गुरुजी ने मुझे अच्छा उपदेश दिया और प्रजा, मंत्री आदि सभी की यही सम्मति है ॥१॥ माताजी ने भी उसे उचित निश्चय करके आज्ञा दी, मैं उसे अवश्य शिरोधार्य करके करना चाहता हूँ ॥२॥ (क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और हितैषी (मित्र) की वाणी सुनकर और उसे अच्छी जानकर प्रसन्न मन से करना चाहिये ॥३॥ उचित है कि अनुचित—ऐसा विचार करने से धर्म नष्ट हो जाता है और शिर पर पाप का भार लदता है ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि उपदेस दीन्ह···'—इसमें पले सबके वचनों का समर्थन किया।

(२) 'गुरु पितु मातु स्वामि ···'—इसमें सामान्य धर्म का स्वरूप कहा गया।

(३) 'उचित कि अनुचित किये···'—तब पिता एवं गुरु की आज्ञा का पालन क्यों न किया, इसका उत्तर यह है। यह सामान्य धर्म है और श्रीभरतजी विशेषतर धर्म पर आरूढ़ हैं। उसके आगे इसकी उपेक्षा हो जाती है, यदि इससे विशेष धर्म पर हानि आती हो, यथा—"सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ॥" (दो० २९०)। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६)।

तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई ॥५॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोष न जी के ॥६॥

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू ॥७॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू। दुखित-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥८॥

दोहा—पितु सुरपुर सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राज।
येहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥१७७॥

अर्थ—आप तो मुझे सरल शिक्षा दे रहे हैं कि जिसपर चलने से मेरा हित हो ॥५॥ यद्यपि यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ, तथापि हृदय को संतोष नहीं होता ॥६॥ अब आप मेरी विनती सुन लें और मेरे योग्य शिक्षा दें; अर्थात् यह आज्ञा मुझे अयोग्य समझ पड़ती है ॥७॥ मैं उत्तर दे रहा हूँ मेरे अपराध क्षमा करें, (क्योंकि) साधु (सज्जन) लोग दुखी मनुष्यों के गुण-दोष को नहीं गिनते; अर्थात् उनके दोषों को बुरा नहीं मानते ॥८॥ पिता स्वर्ग में हैं और श्रीसीतारामजी वन में हैं और मुझे राज्य करने को कहते हैं, इससे आपलोग मेरा भला समझते हैं अथवा अपना कोई बड़ा कार्य सधना समझते हैं ॥१७७॥

विशेष—(१) 'उत्तर देउँ छमब अपराधू'—बड़ों को उत्तर देना पाप है; यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (दो० २६८)। इसलिये क्षमा माँगते हैं। 'दुखित दोष-गुन'''—यहाँ तात्पर्य दोष न गिनने पर है, गुण भी साथ कहा गया है; क्योंकि द्वन्द्व बोलने का मुहावरा है—गुण-दोष, पाप-पुण्य, भला-बुरा इत्यादि। कहा भी है—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी ॥" (वि० ३४)।

(२) 'पितु सुरपुर सियराम बन'''—अर्थात् जिस मेरे राज्य की चर्चा के निमित्त मात्र से ऐसे-ऐसे अनर्थ हो गये, वही राज मुझे आपलोग करने को कहते हैं, रक्त से सने हुए भोगों को मुझे भोगने के लिये कहते हैं? यथा—"भुञ्जीय भोगान्रुधिर प्रदिग्धान्।" (गीता २।५)।

(३) 'येहि ते जानहु मोर हित'''—'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई।', 'मानहु मोर बचन हित जानी।' और 'सो आदरिय करिय हित जानी।' इत्यादि, गुरुजी के और माता के वचनों के प्रति—'मोर हित' के उदाहरण हैं। पुनः—'पालहु प्रजा सोक परिहरहू।'; 'तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा' इत्यादि वचनों के प्रति 'आपन बड़ काज' कहा है।

हित हमार सिय-पति-सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु-कुटिलाई ॥१॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं ॥२॥
सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय पद बिनु देखे ॥३॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥४॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥५॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥६॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित येहू ॥७॥

शब्दार्थ—सोक समाज = शोक का समुदाय, शोकपूर्ण। आँक = निश्चय, अंक।

अर्थ—(यह नहीं, किंतु) हमारा भला तो श्रीसीतापति श्रीरामजी की सेवा में ही है, उसे माता की कुटिलता ने हर लिया ॥१॥ मैंने मन में विचार करके देख लिया कि किसी और उपाय से मेरी भलाई नहीं है ॥२॥ शोक से पूर्ण यह राज्य विना श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के चरणों को देखे किस गिनती में है; अर्थात् उनके चरणों में प्रेम विना राज्य व्यर्थ है ॥३॥ जैसे वस्त्र के विना बोझ भर गहनों का पहने होना व्यर्थ है, वैराग्य के विना ब्रह्म-विचार व्यर्थ है ॥४॥ रोगी शरीर के लिये बहुत-से भोग-विलास व्यर्थ हैं, विना हरि-भक्ति के जप-योग व्यर्थ और विना जीव के सुन्दर देह व्यर्थ है, वैसे ही रघुराज श्रीरामजी के विना मेरा सब कुछ व्यर्थ है ॥५-६॥ मैं श्रीरामजी के पास जाऊँ, यह मुझे आज्ञा दीजिये। मेरा हित तो इस एक ही निश्चय (सिद्धान्त) में है; परन्तु जिसमें आपलोग मेरा हित समझते हैं, वह शून्य के समान व्यर्थ है ॥७॥

विशेष—(१) 'हित हमार सिय-पति···'—'हमार' शब्द से बहुवचन होने से अहंकार सूचक है। भक्ति-सम्बन्ध में यह भूषण है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (आ॰ दो॰ १०); 'सो हरि लीन्ह' भाव यह कि मेरा हरा हुआ धन मिले, तभी अपना हित हो सकता है। यह उपर्युक्त दोहे के 'मोर हित' का निराकरण किया कि वह 'आन उपाय' से नहीं हो सकता।

(२) 'मैं अनुमानि···'—यह गुरुजी के—"यह सुनि समुझि सोक परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥" का उत्तर है कि उसमें औरों का हित चाहे हो, पर मेरा नहीं।

(३) 'सोक समाज राज···'—यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी, इन तीनों के सम्बन्ध का शोक रहने से राज्य सुखदाई वस्तु होते हुए भी दुखदाई कहा गया; क्योंकि इसी राज्य के ही निमित्त इन तीनों का वनवास हुआ। इसीसे शोक का समाज (समुदाय) कहा और उत्तरार्द्ध में तीनों के नाम देकर उसे स्पष्ट किया है। भाव यह भी है कि मैं श्रीरामजी को, मांडवी श्रीजानकीजी को और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीलक्ष्मणजी की सेवा करते, तब सुखद समाज होता। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम प्रथम दिया गया; क्योंकि भगवान से भी अधिक उनके दासों में प्रीति होनी चाहिये; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ॰ दो॰ ११९)। विना 'राम-लखन-सिय' की भक्ति के राज्य किस गिनती में है? इसी पर कई दृष्टान्त दिये हैं। उनसे 'राम-लखन-सिय' को वस्त्र, वैराग्य, हरिभक्ति और जीव रूप कहा है और भूषण भार, ब्रह्मविचार, बहु भोग और सुन्दरदेह राज्य को कहा है। इनसे दिखाया है कि इन सबमें एक के विना एक ही व्यर्थ है और 'बादि मोर सब बिनु रघुराई' अर्थात् मेरे तो एक श्रीरामजी के विना सभी व्यर्थ हैं।

(३) 'एकहि आँक मोर हित येहू'—'एक ही आँक' का अर्थ—दृढ़ बात, पक्की बात, पक्का निश्चय; यथा—"एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥" (दो॰ १८२)।

यहाँ तक 'जेहिते जानहु मोर हित' के प्रति अपना विचार प्रकट किया, आगे 'कै आपन बड़ काज' के प्रति कहते हैं—

मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़तावस कहहू ॥८॥

दोहा—कैकेई सुव कुटिल मति, रामविमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोहबस, मोहि से अधम के राज ॥१७८॥

कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमसील नरनाहू ॥१॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥२॥

शब्दार्थ—रसा=पृथिवी। रसातल=पुराणानुसार पृथिवी के नीचे के सात लोकों में से छठा लोक। रसातल पहुँचाना=नष्ट करना—ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—मुझे राजा बनाकर अपनी भलाई चाहते हैं, यह भी आप मेरे प्रति स्नेह की जड़ता के वश होकर कह रहे हैं ॥८॥ कैकयी का पुत्र, कुटिल बुद्धि, रामविमुख और निर्लज्ज—ऐसे मुझ अधम के राज्य में आपलोग मोह-वश सुख चाहते हैं ॥१७८॥ मैं सत्य कहता हूँ, आप सब सुनकर विश्वास करें, धर्मात्मा (धर्मिष्ठ) को राजा होना चाहिये ॥१॥ आप लोग ज्योंही हठ करके मुझे राज्य देंगे; (अर्थात् मैं अपने वशभर तो लूँगा नहीं) त्योंही पृथिवी रसातल को चली जायगी; अर्थात् ऐसे पापी के भार को न सह सकेगी। भाव यह कि पृथिवी नष्ट हो जायगी ॥२॥

विशेष—(१) 'मोह सनेह जड़तानस···'—स्नेह और वैर दोनों जब अत्यन्त हो जाते हैं, तब विवेक नहीं रह जाता; यथा—"तुलसी वैर सनेह दोउ, रहित बिलोचन चारि। सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि बारि॥" (दोहावली ३२६)।

(२) 'कैकेई सुव कुटिल मति···'—मुझमें ये चार एवं अनेक दोष हैं, अतएव मैं अधम हूँ। ऐसे के राज्य में प्रजा को सुख नहीं हो सकता; यथा—"चढ़े बधूरे चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोक समाज। करम-धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज॥" (दोहावली ५१३)। "धरनि धेनु चारितु चरति, प्रजा सुबच्छ पन्हाइ।" (दोहावली ५१२)। अधर्मी राजा के पाप से प्रजा पर दुकाल आदि आपत्तियाँ पड़ती हैं, इसलिये मंत्री आदि को चाहिये कि ऐसे को राजा न बनावें।

'कैकेई सुव'—जिसने श्रीरामजी को वन दिया और पिता के प्राण लिये, उसी का मैं पुत्र हूँ। कैकेई कुटिल मति, राम विमुखा और निलज्जा है, तो उसके दोष मुझमें भी हैं ही; क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते ही हैं।

(३) 'रसा रसातल जाइहि तबहीं'—राजापुर की प्रति में पहले 'रसा' पाठ लिखा गया है, फिर उसे काटकर हरताल देकर 'राजु' पाठ दिया गया है, परन्तु विचारने से यह किसी अनभिज्ञ का संशोधन है, जो रसा का अर्थ ही न जानता था। 'राजु' शब्द से विना प्रयोजन पुनरुक्ति दोष आ जाता है और 'रसा' के रहने से वह दोष नहीं रहता और यमकालंकार भी आ जाता है; पुन. अर्थ-लाघव ता है ही।

मेरे लिये राज्य माँगा गया, इतने ही में कितने अनर्थ हो गये। जब हठात् राज्य दिया जायगा, तब तो मेरे भार से पृथिवी ही रसातल चली जायगी; यथा—"अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥" (बा० दो० १८३)। यह रसा है; अत, अनरस न सह सकेगी। आगे दिखाते हैं कि इसी अनरस से राजा ने प्राण ही छोड़ दिये। अनरस है—श्रीरामजी का वन दिया जाना।

मोहि समान को पाप-निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू ॥३॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥४॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥५॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू। ॥६॥
राम पुनीत बिषयरस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे ॥७॥

शब्दार्थ—अबासू (सं० आवास) = घर।

अर्थ—मेरे समान कौन पाप का स्थान (महान् पापी) होगा कि जिसके कारण श्रीसीतारामजी को वनवास हुआ ॥३॥ राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया, उनके बिछुड़ते ही आप स्वर्ग को गये ॥४॥ मैं ही शठ सब अनर्थों का कारण हूँ, बैठा हुआ सावधानी से सब बातें सुन रहा हूँ ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी के बिना घर को देखकर जगत् में उपहास सहकर भी मेरे प्राण बने रहे ॥६॥ (ये प्राण) राम रूपी पवित्र विषय के रस से उदासीन हैं, लोलुप हैं, पृथिवी और विषयभोग के इच्छुक हैं ॥७॥

विशेष—(१) '*मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।*'—*श्रीसीतारामजी का वन दिया जाना महान् पाप है,* इसका कारण मैं हूँ, फिर प्रतिज्ञाबद्ध होकर राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया और उसी ग्लानि से उन्होंने तुरत प्राण छोड़ दिये। इसका भी हेतु मैं ही हूँ। इतने अनर्थ मेरे कारण हुए। इसपर मुझे मृत्यु की कौन कहे, मूर्च्छा भी नहीं आई; किंतु सब बातें सावधान बैठा सुन रहा हूँ; अतएव शठ हूँ।

(२) 'सहि जग उपहासू'—जगत् हँसता है और हँसेगा कि एक पुत्र श्रीरामजी हुए कि पिता के वचन सत्य करने और छोटे भाई भरत के राज्य प्राप्त होने के लिये वन को गये और एक पुत्र भरत भी है कि जिसके कारण पिता ने प्राण छोड़ दिये और बड़े भाई श्रीरामजी वन की बड़ी विपत्ति उठा रहे हैं, फिर भी यह शठ राज्य भोगने के लिये जीता-जागता बैठा है।

(३) 'राम पुनीत विषय रस…'—जगत् का उपहास सहकर भी प्राण क्यों रहे, इस का कारण कहते हैं कि ये रामरूपी पवित्र विषय रस (श्रीराम-भक्ति) के रूखे हैं, लोलुप हैं और भूमि-भोग के भूखे हैं, इसी से शरीर में बने हैं।

कहँ लगि कहउँ हृदयकठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई ॥८॥

दोहा—कारन ते कारज कठिन, होइ दोष नहिं मोर।
कुलिस अस्थि ते उपल ते, लोह कराल कठोर ॥१७९॥

कैकेई - भव तनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥१॥
जौं प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे ॥२॥

अर्थ—अपने हृदय की कठोरता कहाँ तक कहूँ कि जिसने वज्र का निरादर करके बड़ाई पाई है; अर्थात् यह वज्र से भी कहीं अधिक कठोर है ॥८॥ कारण से कार्य कठोर होता है, इसमें मेरा दोष नहीं, हड्डी से वज्र और पत्थर से लोहा घोर कठोर होता है ॥१७९॥ कैकेयी से उत्पन्न हुए शरीर में अनुराग रखनेवाले नीच प्राण अभाग्य से अब अघायँ ॥१॥ जो प्यारे के विरह दुःख में भी प्राण अधिक प्रिय लगे हैं, तो अब आगे हम और भी बहुत कुछ देखें-सुनेंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहँ लगि कहउ हृदय'''—मेरा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है, क्योंकि राजा वज्र को भी सह लेते थे; यथा—"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे।" (दो० १४); वे श्रीराम वियोग को न सह सके और मुझको मूर्च्छा भी न आई, यथा—"राय राम कहँ कानन दीन्हा।'''मैं सठ सब अनरथ-कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥" ये प्रमाण ऊपर कहे गये।

(२) 'कारन ते कारज कठिन'''—दधीचि की हड्डी से वज्र हुआ, पर वज्र हड्डी से अधिक कठोर होता है। पत्थर से लोहा होता है, लोहा पत्थर से अधिक कठोर होता है; क्योंकि लोहे की टाँकी से पत्थर काटा जाता है। इसी प्रकार मैं कैकेयी से पैदा हुआ, तो उसके हृदय से मेरा हृदय अधिक कठोर होना ही चाहिये; तब कठोरता के विषय में हृदय का क्या दोष ?

(३) 'कैकेई-भव तनु'''—भाव यह कि कैकेयी से उत्पन्न शरीर पर इन नीच प्राणों की ममता है, इसीसे ये भर पूर अभागे हैं; अर्थात् इस शरीर को छोड़ देते, तो भाग्यशाली कहाते। राजापुर की प्रति में पुरानी लिपि के अनुसार 'र' और 'न' में बहुत ही कम अंतर है। इसीसे 'पावर' को 'पावन' पढ़ा जाना सहज है। इसी से 'पाँवर प्रान' का 'पावन प्रान' पाठांतर हो गया है। 'पावन' शब्द से अर्थ में बहुत अड़चन है।

(४) 'देखब सुनब बहुत अब आगे'—अभी तक जो देखा है, उसे आगे—"लखन राम सिय कहँ'''" से "कीन्ह कैकेई सब कर काजू॥" तक में कहते हैं। पुनः आगे १४ वर्ष में अभी बहुत कुछ देखूँगा। यह अनुमान से निश्चय करते हैं।

लखन - राम - सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥३॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू ॥४॥
मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥५॥
येहि ते मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को वन दिया, स्वर्ग भेजकर पति का हित किया ॥३॥ विधवापन (रँडापा) और अपयश आप (स्वयं) लिया, प्रजा को शोक और संताप (दुःख) दिया ॥४॥ मुझे सुख, सुयश और सुन्दर राज्य दिया—इस तरह कैकेयी ने सबका काम किया ॥५॥ अब इससे बढ़कर मेरा और क्या भला होगा ? उसपर भी आप लोग राज्यतिलक देने को कहते हैं ॥६॥

विशेष—(१) गुरुजी ने—"अस बिचारि केहि देइय दोषू। व्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू॥" (दो० १७१) से कैकेयी को निर्दोष ठहराया था, उसीका निराकरण करते हुए श्रीभरतजी कैकेयी के दोष दिखाते हैं कि जिन-जिन दोषों को उसने किया है।

(२) 'मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू।'—यह कथन व्यंग है।

'सब कर काजू' कहने में श्रीजनकजी का ह्रास होना आदि भी आ गये। (गुप्तार्थ में देवताओं के कार्य, वनवासियों के हित और राक्षसों की सद्गति आदि भी आ जाती हैं)।

आगे कहा जायगा—"घालेसि सब जग बारह बाटा।" (दो० २११); तब यहाँ के कहे हुए बारह प्रकार के कैकेयी के कर्त्तव्य भी मार्ग (बारह बाट) में गिने जायँगे। जैसे—(१) श्रीरामजी को वन का मार्ग (२) श्रीसीताजी को वन (३) श्रीलक्ष्मणजी को वन (४) श्रीदशरथजी को अमरपुर (स्वर्ग) (५) अपनेको विधवापन (६) और अपयश (७) प्रजा को शोक (८) और संताप (९) मुझको सुख (१०) सुयश (११) और सुराज (१२) सबका कार्य।

(३) 'येहि ते मोर काह अब नीका'—सब तो कैकेयी ने ही कर दिया, और अधिक मेरी कौन-सी भलाई हो सकती है, उसपर भी आप लोग राज्य-तिलक देने को कहते हैं; अर्थात् उन सब नीकी बातों से यह अधिक है; क्योंकि इससे मेरे शिर में कलंक का टीका लगेगा कि ऐसे अनर्थ का राज्य इसने किया यह मेरी स्वामि-विमुखता होगी।

कैकइजठर जनमि जग माहीं। यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं ॥७॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥८॥

दोहा—ग्रहग्रहीत पुनि बातबस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइय बारुनी, कहहु काह उपचार ॥१८०॥

शब्दार्थ—ग्रहग्रहीत=ग्रहों से ग्रसा हुआ, ग्रहों के फेर में पड़ा हुआ। बात=सन्निपात, वात रोग। उपचार=चिकित्सा, दवा, विधान, प्रयोग, व्यवहार आदि।

अर्थ—कैकेयी के गर्भ से जन्म लेकर जगत् में यह मेरे लिये कुछ अनुचित नहीं है॥७॥ मेरी बात तो सब ब्रह्माजी ने ही बना दी है। फिर प्रजा और पंच क्यों मेरी सहायता कर रहे हो? ॥८॥ जो (क्रूर) ग्रहों से ग्रस्त हो, पुनः वात (सन्निपात) रोग के वश हो और फिर उसे बिच्छी मार दे, उसे यदि मदिरा पिलाइये, तो भला बतलाइये कि यह कौन दवा है? (अर्थात् वह तो मर ही जायगा) ॥१८०॥

विशेष—(१) 'कैकइजठर जनमि जग···'—टीका देकर मुझे अधर्मी बनाना चाहते हो, जिससे जगत् में अपयश होगा, वह मेरे लिये मरण के तुल्य है। जब मैंने कैकेयी के गर्भ से जन्म लिया है तब (यह) मेरे योग्य ही है।

(२) 'मोरि बात सब बिधिहि···'—उपर्युक्त अनर्थ ब्रह्मा पर डालते हैं। पुनः गुरुजी पर कटाक्ष भी है कि आपके पिता ने ही मेरे लिये बहुत-कुछ सज दिया है, आप अब मरे हुए को क्या मारते हैं। 'कत करहु सहाई' में व्यंग है कि इतना ही बहुत है, गिरते हुए को और धक्का क्यों देते हो?

(३) 'ग्रहग्रहीत पुनि बातबस···'—यह दशा श्रीभरतजी अपने में कह रहे हैं कि दुःख-पूर्ण माताओं का दुःख मुझे ग्रहों की तरह पकड़े हुए हैं। ग्रह बहुत हैं, वैसे माताएँ भी बहुत हैं। इनका दुःख यथा—"देखि न जाहिं बिकल महतारी।"(दो० २६१); "को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥" (दो० १६६); श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को वनवास का

दुःख मुझे वात, पित्त, कफ के प्रकोपवाले सन्निपात की तरह है और पिता का मरण बिच्छी मारने के समान दुःखद है। बिच्छी के मारने पर तुरत विष चढ़ता है, वैसे पिता का मरण सुनते ही श्रीभरतजी विषाद के वश हो गये। किंतु वह थोड़े समय में उतर जाता है, वैसे इन्हें राम वन-गमन सुनते ही वह भूल गया—"भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन।" (दो० १६०); सन्निपात से जान बचना कठिन हो जाता है। वैसे इन्हें श्रीराम-वन-गवन के दुःख में जीना कठिन है; यथा—"गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥" (दो० २८३); "जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोरि सब बिनु रघुराई॥" (दो० १७७)।

उसपर आप लोग राज्य-तिलक देकर मानों वारुणी (मदिरा) पिला रहे हैं; यथा—"केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" (दो० २२८); "सब ते कठिन राज-मद भाई॥ जो अचवत मातहिं नृप ···" (दो० २३०); उक्त तीन दु:खों से तो यों ही मैं मरे हुए के समान हो रहा हूँ, उसपर भी आपलोग मुझे राज्य-मद से सुखी किया चाहते हैं जो मेरे मरने का उपाय है; अर्थात् इससे मुझे अपयश होगा और मैं राम-विमुख हूँगा, ये दोनों मरण से भी अधिक दुःख हैं; यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९४); "बिष्णु बिमुख ··जीवत सव सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०); (यहाँ विष्णु-विमुख से राम-विमुख का तात्पर्य है, क्योंकि ये तत्त्वतः अभेद हैं।)।

कैकइसुवन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥१॥
दसरथतनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥२॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। रायरजायसु सब कहँ नीका॥३॥
उतर देउँ केहि बिधि केहि-केही। कहहु सुखेन जथारुचि जेही॥४॥

शब्दार्थ—कढ़ावन टीका = तिलक कराना। सुखेन = सुख पूर्वक।

अर्थ—कैकेयी के पुत्र के योग्य जगत् में जो कुछ है, चतुर ब्रह्मा ने मुझे वही दिया॥१॥ (परन्तु) श्रीदशरथ महाराज का पुत्र और श्रीरामजी का छोटा भाई (होना) यह बड़ाई ब्रह्मा ने मुझे व्यर्थ ही दी; अर्थात् कैकेयी के पुत्र को ये दोनों गौरव योग्य नहीं हैं॥२॥ आप सब लोग मुझे राज्य-तिलक कराने को कहते हैं, राजा की आज्ञा का पालन करना (अर्थात् मेरा राज्य करना) सबको अच्छा लगता है॥३॥ (जब सबको यही भला लगता है) तब मैं अकेला किस-किस को और किस प्रकार से उत्तर दूँ। अतः जिसकी जैसी रुचि हो, वह सुख-पूर्वक कहे (अर्थात् मैं अब किसीको जवाब न दूँगा)॥४॥

विशेष—(१) 'कैकइ सुवन जोग···'—कैकेयी के पुत्र में जो-जो बातें चाहिये। चतुर ब्रह्मा ने वे सब बातें मुझमें ठीक सजाई हैं। अर्थात् कुल-कलंकी, गुरुस्वामि-द्रोही, बंधु-विरोधी और निर्लज्ज होना मुझे युक्त ही है। यहाँ ब्रह्मा को 'चतुर' और 'बिरंचि' दो विशेषण दिये हैं और आगे—'दसरथ तनय राम लघु भाई।' बनाने के सम्बन्ध में ऐसा कोई विशेषण नहीं दिया; क्योंकि वहाँ तो वे भूल गये हैं। 'दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई'—भाव यह कि ब्रह्मा के उपर्युक्त विधान से ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। व्यंग से यह भी जनाते हैं कि ये दोनों सम्बन्ध मुझे कुलकलंकी आदि न होने देंगे। अन्यथा मैं तो उसी योग्य था।

'जोई' का दूसरा अर्थ 'देखकर' है, तदनुसार यह भी अर्थ हो सकता है कि ब्रह्मा ने सारे जगत् में देखकर मुझे ही कैकेयी का पुत्र होने योग्य पाया, तब ठीक-ठीक वैसा ही मुझे (एवं मुझमें वैसा ही सब) रचा, इसमें उनके चातुर्य की प्रशंसा है; पर आगे की दो बातें देने में वे चूक गये हैं।

(२) 'रायरजायसु सब कहँ नीका।'; यथा—"करहु राज रघुराज-चरन तजि, लै लटि लोग रहा है॥" (गी० अ० ६४)। 'कहहु सुजेन…' अर्थात् अब कोई कुछ न कहे; यथा—"राम सपथ कोउ कछु कहै जनि, मैं दुख दुसह सह्यो है।" (गी० अ० ६४)।

मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्हि भलाई॥५॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं॥६॥
परम हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिन मोर नहि दूषन काहू॥७॥
संसय-सील-प्रेम-बस अहहू। सबइ उचित सब जो कछु कहहू॥८॥

दोहा—राममातु सुठि सरल चित, मोपर प्रेम बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेहबस, मोरि दीनता देखि॥१८१॥

अर्थ—कुमाता के साथ मुझे छोड़कर कहिये तो, कौन ऐसा कहेगा कि यह भला काम किया गया है॥५॥ मेरे बिना चराचर जगत् में ऐसा कौन है जिसे श्रीसीतारामजी प्राणों से प्यारे नहीं हैं॥६॥ जिसमें मेरी बड़ी भारी हानि है, उसी में सबको बड़ा लाभ सूझ रहा है, यह मेरे दुर्दिनों का फेर है। किसी का दोष नहीं॥७॥ आपलोग संशय, शील और प्रेम के वश हैं। (इससे) आप सब जो कुछ कहें, वही उचित है॥८॥ श्रीरामजी की माता अत्यन्त सरल चित्त हैं और मुझपर उनका बड़ा प्रेम है। इससे वे मेरी दीनता देखकर स्वाभाविक प्रेम के वश होकर ऐसा कहती हैं॥१८१॥

विशेष—(१) 'मोहि कुमातु समेत बिहाई।…'—पूर्व कहा था—'उतर देउ केहि बिधि…' अर्थात् सबके वचन अयोग्य हैं; अतएव मैं न बोलूँगा, उसीको स्पष्ट करते हैं कि श्रीरामजी का राज्य ग्रहण करने पर मुझे संसार में कोई भला नहीं कहेगा, केवल मुझको और मेरी माता को छोड़कर। इसका कारण आगे कहते हैं—

(२) 'मो बिनु को सचराचर…'; यथा—"जगदातमा प्रानपति रामा।" (लं० दो० ११); "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); सबके प्राण-प्रिय का राज्य मैंने अपहरण कर लिया, तो मुझे कोई क्यों भला कहेगा। माता समेत मुझको वे अप्रिय हैं, इसीलिये इसको मैं दोनों भला कहूँगा।

(३) 'परम हानि सब कहँ…'—राज्य लेने से मैं स्वामि-द्रोही हूँगा, यह मेरी परम हानि है और उसीमें सब कोई अपना बड़ा कार्य मान रहे हैं। किसी का दोष नहीं, मेरे दिनों का फेर है। स्वामी श्रीरामजी की सम्मुखता सुदिन है और विमुखता ही दुर्दिन है; यथा—"दिन दुरदिन, दिन दुरदसा, दिन दुख, दिन दूषन। जब लौं तू न बिलोकिहै रघुबंस-बिभूषन॥" (वि० १४६) वा, राजा का मरण, और श्रीरामजी का वन-गमन आदि अनर्थ जिस मेरे राज्य के लिये हो गये, वही मेरा राज्य-तिलक सबको परम लाभ सूझ रहा है, यह मेरे दुर्दिन का फल है।

(४) 'संसय-सील-प्रेम-बस···'—'संशय' के दो अर्थ होते हैं—(१) अनिश्चयात्मक ज्ञान, जैसा कि मंत्रियों ने कहा है; यथा—"रघुपति आये उचित जस, तब तस करब बहोरि ॥" (दो० १७५); अर्थात् गुरुजी ने तो साफ कहा कि श्रीरामजी के आने पर राज्य इन्हें देकर सेवा करना ; पर मंत्री लोगों को संशय था कि संभवतः तब तक इनकी राज्य-भोग की इच्छा हो जाय, इसलिये ऐसा कहा। (२) डर अर्थ है। तदनुसार वाल्मी० २।६७ में विस्तार से मन्त्रियों ने कहा है—राजा के स्वर्ग-वास होने पर मंत्री लोग एकत्र हुए और डरे कि इक्ष्वाकु वंशियों में से किसी को शीघ्र राजा बनाया जाय, नहीं तो अराजकता से सब प्रजा नष्ट हो जायगी, तब वशिष्ठजी ने श्रीभरतजी के बुलाने को कहा है। उस दृष्टि से भी आपलोग शीघ्र राजा बनाने की चेष्टा करते हैं। 'सील'—यह कि राजा इन्हें राज्य दे गये हैं। कैसे कहा जाय कि तुम राज्य न लो, श्रीरामजी ही राजा हों। 'प्रेम' से हमारा हित भी चाहते हैं। इन तीनों की विशेषता में विचार नहीं रहता ; यथा—"अस संसय मन भयो अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥" (बा० दो० ५०) ; "कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह बिचार न राखा ॥ तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी ॥" (दो० २५७) ; अर्थात् आपलोग संशय आदि के वश होकर कह रहे हैं। अतः, आपका दोष नहीं है।

(५) 'राम मातु सुठि सरल ···'—श्रीरामजी सरल-स्वभाव के हैं, तो उनकी माता की प्रकृति वैसी होनी ही चाहिये। दीनता यह कि पिता स्वर्ग गये और भाई श्रीरामजी वन को गये; ऐसे पर दया करनी ही चाहिये। पर विशेष स्नेह भी दूषित है ; ऐसा लट्टू होना भी न चाहिये कि परिणाम में मेरा अहित हो।

गुरु बिबेक - सागर जग जाना। जिन्हहि बिस्व कर-बदर-समाना ॥१॥
मो कहँ तिलकसाज सज सोऊ। भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥२॥
परिहरि रामसीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥३॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥४॥

अर्थ—गुरुजी ज्ञान के समुद्र हैं। यह सारा संसार जानता है। जिनके लिये जगत् हथेली पर रक्खे हुए बेर के समान है ; अर्थात् संसार की तीनों काल की सभी बातें जानते हैं ॥१॥ वे भी मेरे लिये तिलक का साज सजा रहे हैं। (सच है) विधाता के प्रतिकूल होने पर सभी कोई प्रतिकूल हो जाते हैं ॥२॥ श्रीसीतारामजी को छोड़कर जगत् में कोई भी न कहेगा कि (कैकेयीजी के कर्तव्य में) मेरा मत नहीं था ॥३॥ उसे मैं सुख-पूर्वक सुनूँगा और सहूँगा ; क्योंकि जहाँ पानी होता है वहाँ अंत में कीचड़ होता ही है ॥४॥

विशेष—(१) 'गुरु बिबेक-सागर···'—बेर कुपथ्य है। वसिष्ठजी जगत् को सर्वात्मना जानते हैं तो भी उसे कुपथ्य-दृष्टि से हेय समझते हैं। वे भी जगत् का ऐश्वर्य देकर मुझे राम-विमुख करना चाहते हैं ; अतः, प्रतिकूल हो रहे हैं। इसका कारण विधि की प्रतिकूलता कहते हैं; यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥" (बा० दो० १७५); भाव यह कि विधि इनके पिता प्रतिकूल हैं, तो इन्हें भी पिता के मार्ग पर होना ही चाहिये। माता ने कहा था—"पूत पथ्य गुरु आयसु अहई।" (दो० १७५) ; उसका यह उत्तर भी है कि पथ्य नहीं, किंतु कुपथ्य है।

(२) भरद्वाजजी के विषय में जगत् के तीनों काल जानने में आँवले की तरह कहा है; यथा—"करतल गत आमलक-समाना।" (बा० दो० २१); क्योंकि वे कर्म-घाट के श्रोता हैं। उनकी दृष्टि में निष्काम कर्म-रीति से जगत् पथ्य भी है। पर यहाँ तो श्रीभरतजी इसे कुपथ्य-दृष्टि से देखते हैं। वैसा ही कहा भी है; यथा—"ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः। पुरो यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा॥" (वाल्मी० १।३।६)।

यहाँ व्यंग से गुरुजी पर कटाक्ष भी है; यथा—"विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥" (वाल्मी० २।८२।१०); अर्थात् श्रीभरतजी सभा में विलाप करने और पुरोहित वसिष्ठजी की निन्दा करने लगे। यहाँ श्रीभरतजी का अभिप्राय यह है कि गुरुजी को ऐसा न चाहिये कि जिसमें मैं श्रीरामजी से विमुख होऊँ।

(३) 'परिहरि रामसीय'''अंतहु कीच''''''—श्रीभरतजी को यह अटल विश्वास है कि श्रीसीतारामजी अंतर्यामी हैं और वे सुशीलता की मूर्ति हैं। अतः, वे ही मेरा सम्मत भले ही' न कहेंगे, पर जगत् तो कहेगा ही कि माता की कुटिल करनी में मेरा सम्मत था। यथा—"एक भरत कर संमत कहहीं।" (दो० ४०); यह लोक-निन्दा मुझे सहनी ही पड़ेगी, मुझे बुरा मानने का अवकाश नहीं है; क्योंकि सब उत्पात मेरे लिये हुआ और इसीसे मुझे यह अनर्थ-मूलक राज्य-तिलक भी लेने को कहा जाता है। जहाँ दोष होता है, वहाँ अपयश भी होता है। जैसे कि कहावत है कि जहाँ पानी रहता है, वहाँ अंत में कीचड़ होता ही है।

परम पवित्र हृदयवाले श्रीभरतजी यद्यपि निर्दोष हैं, तथापि लोक-दृष्टि-सुधार के लिये महान् प्रयास कर रहे हैं; क्योंकि मनुष्य का जीवन केवल वैयक्तिक न होकर सामाजिक होना चाहिये; अर्थात् लोक-दृष्टि में भी उसका चरित आदर्श होना चाहिये, जिससे लोक-शिक्षा हो।

डर न मोहि जग कहहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥५॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥६॥
जीवन-लाहु लखन भल पावा। सब तजि रामचरन मन लावा॥७॥
मोर जनम रघुबर-बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥८॥

दोहा—आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिर नाइ।
देखे बिनु रघुनाथपद, जिय कइ जरनि न जाइ॥१८२॥

अर्थ—मुझे यह डर नहीं है कि जगत् मुझे बुरा कहेगा और न परलोक ही का शोच है॥५॥ हृदय में एक यही असह्य दावाग्नि बस रही है कि मेरे कारण श्रीसीतारामजी दुखी हुए॥६॥ जीवन का लाभ श्रीलक्ष्मणजी ने पाया है कि सब छोड़कर श्रीरामजी के चरणों में मन लगाया है॥७॥ मेरा जन्म तो रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी के वन-गमन के लिये हुआ, (तो) मैं अभागा झूठ ही क्या पछताता हूँ?॥८॥ सबको शिर नवाकर मैं अपनी कठिन दीनता कहता हूँ कि बिना श्रीरघुनाथजी के चरणों को देखे मेरे जी की जलन नहीं जायगी॥१८२॥

विशेष—(१) 'डर न मोहि जग······'—जगत् कहेगा कि पृथिवी-भर का राज्य मिलता था, इससे लेते न बना; अतः, यह मंदमति है। परलोक इससे बिगड़ेगा कि जो माता-पिता की आज्ञा नहीं मान रहा हूँ। मुझे इसका डर नहीं है, किन्तु—

(२) 'एकइ उर बस······'—दावानल समुद्र में रहकर समुद्र को जलाया करता है, वैसे ही यह दावानल हृदय-सिंधु को जलाता है।

(३) 'जीवन-लाहु लखन भल ·····'; यथा—"अहह धन्य लछिमन बड़ भागी। रामपदारविंद अनुरागी॥" (७० दो० १); 'लखन' अर्थात् उन्होंने लख लिया कि जीवन-लाभ यही है; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।···जहँ लगि जगत सनेह सगाई।···मोरे सबइ एक तुम स्वामी।" (दो० ७१); तथा—"पावन प्रेम राम-चरन जनम लाभ परम।" (वि० १३१)।

(४) 'आपनि दारुन दीनता ·····'—श्रीभरतजी प्रथम कह आये—"मोहि अनुहरत सिखावन देहू।" (दो० १७९); अब अपना रोग और उसकी दवा स्वयं कहते हैं। 'सिरनाइ'—यह प्रणाम क्षमापन के लिये है, क्योंकि उन सबकी सम्मति के विरुद्ध कहना है।

आन उपाय मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥१॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥२॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥३॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥४॥

अर्थ—मुझे और उपाय नहीं सूझता, बिना रघुबर के हृदय की बात कौन जान सकता है?॥१॥ एक यही निश्चय मन में है कि प्रातःकाल प्रभु के पास चलूँगा॥२॥ यद्यपि मैं बुरा और अपराधी हूँ, क्योंकि मेरे ही कारण सब उपद्रव हुए हैं॥३॥ तथापि मुझे शरणागत और सम्मुख देखकर मेरे सब अपराध क्षमा करके स्वामी मुझपर विशेष कृपा करेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'आन उपाय मोहि······'—यही एकमात्र उपाय है, 'रघुबर' शब्द का अर्थ अंतर्यामी श्रीरामजी का है; यथा—"रघुबर सब उर अंतरजामी।" (बा० दो० ११८)। क्योंकि जब वसिष्ठ आदि महर्षि न जान सके, तो अंतर्यामी ही जान सकता है।

(२) 'प्रभु पाहीं'—वे प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, वे यह रोग छुड़ा देंगे। दूसरे ने तो इस रोग को जाना ही नहीं, तो वे उपाय क्या करेंगे?

(३) 'कृपा बिसेखी'—यों तो सदा ही कृपा करते हैं, अब शरण में आया हुआ जानकर विशेष कृपा करेंगे; यथा—"निजपन तजि राखेउ पनु मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥" (दो० २६५); "प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।" (दो० ३१५)।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह-सदन-रघुराऊ॥५॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥६॥

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी । आयसु आसिष देहु सुबानी ॥७॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी । आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥८॥

दोहा—जद्यपि जनम कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोस ।
आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस ॥१८३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी शीलवान्, संकोची और अत्यन्त सीधे स्वभाववाले हैं, वे कृपा और स्नेह के तो स्थान ही हैं ॥५॥ श्रीरामजी ने तो शत्रु का भी बुरा नहीं किया । मैं यद्यपि टेढ़ा हूँ, तथापि हूँ शिशु और सेवक ही । (मेरा दोष वे क्यों देखेंगे ?) ॥६॥ पर आप पंच निश्चय करके मेरा हित समझकर सुन्दर वाणी से आज्ञा और आशिष दें ॥७॥ जिससे मेरी प्रार्थना सुनकर और मुझे अपना दास जानकर श्रीरामजी राजधानी को लौट आवें ॥८॥ यद्यपि मेरा जन्म कुमाता से है और मैं दुष्ट सदा से दोषी हूँ, तथापि अपना जानकर वे मुझे न त्यागेंगे, मुझे रघुवीर श्रीरामजी का भरोसा है ॥१८३॥

विशेष—(१) 'सील सकुच सुठि···'—'सील'; यथा—"प्रभुतरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान । तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान ॥" (बा० दो० २९); "साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि, अपनेहु देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ ॥" (दोहावली ४७); "सील सराहि सभा सब सोची । कहुँ न राम सम स्वामि सकोची ॥" (दो० ३१२); यह संकोच भी हद है । 'सुठि सरल सुभाऊ'; यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं । सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ।" (बा० दो० २३६); पुनः कैकेयी के साथ सर्वत्र शील और सरलता उत्तम रीति से बर्ती गई है ।

'कृपा-सनेह-सदन'; यथा—"को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समाज साज सब साजी···" से "को कृपाल बिनु पालिहै, बिरदावलि बरजोर ॥" (दो० २९९) तक । गीध को पिता और सवरी को माता से अधिक माना है ; यह स्नेह की रीति का निर्वाह भी लोकोत्तर है ।

(२) 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'—पूर्व दो० ३१ चौ० ८ देखिये । 'मैं सिसु सेवक···'—फिर मैं तो बच्चा हूँ और सेवक हूँ, तो वे कैसे मेरा अहित करेंगे । वा, बचपन से सेवक हूँ, अब वाम हो गया हूँ तो क्या ?

(३) 'तुम्ह पै पाँच मोर···'—'पै' का अर्थ परन्तु और निश्चय होता है—(क) श्रीरामजी तो भला करेंगे, परन्तु आपलोग भी आज्ञा और आशिष से सहायता करें । (ख) आपलोग निश्चय-रूप से मेरा भला इसी में समझकर···।

(४) 'जद्यपि जनम कुमातु ते···'—इसमें 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' शरणागति दिखाई गई है जो कि षट्शरणागति में तीसरी है । षट्-शरणागति—"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥" यद्यपि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं, तथापि इनका भरोसा निष्फल न होगा । पादुका को उनके प्रतिनिधि-रूप में लेकर ही लौटेंगे ; यथा—"भरत मुदित अवलंब लहे ते, अस सुख जस सियराम रहे ते ॥" (दो० ३१५) । इसी से पादुका को ही सिंहासन पर पधराया । 'रघुबीर' शब्द यहाँ दया-वीरता एवं धर्म (शरणागत-रक्षण)-वीरता की दृष्टि से दिया गया है ।

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम-सनेह-सुधा जनु पागे ॥१॥
लोग बियोग-बिषम-बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥२॥
मातु सचिव गुरु पुर-नर-नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी ॥३॥
भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही ॥४॥

शब्दार्थ—सबीज=बीज-सहित। प्राय: मंत्रों का आदि वर्ण विन्दु-सहित होकर बीज होता है। बीज-सहित मंत्र बड़ा प्रभावशाली होता है, बीज में मंत्र का मूल तत्व रहता है। जागे=चैतन्य हो गये। दागे=दग्ध हुए, जले हुए।

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सबको प्रिय लगे, मानों वे श्रीरामजी के स्नेह-रूपी अमृत में पगे हुए थे ॥१॥ सब लोग वियोग-रूपी विषम-विष से जले हुए थे, वे मानों बीज-सहित मंत्र के सुनते ही चैतन्य हो गये ॥२॥ माता, मंत्री, गुरु, पुरवासी स्त्री-पुरुष सभी स्नेह से भारी व्याकुल हो गये ॥३॥ और भरतजी को बखान-बखानकर उनसे कहते हैं कि आपका शरीर राम-प्रेम की मूर्त्ति है ॥४॥

विशेष—'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे।'—यह श्रीभरतजी के भाषण का उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहिं॥" (दो० १७६) है। 'प्रिय लागे' का कारण उत्तरार्द्ध में है—'राम-सनेह सुधा···'—अमृत सबको प्रिय लगता ही है। इस भाषण के उपक्रम और उपसंहार दोनों में अमृतवाची विशेषण हैं।

उपक्रम में कहा गया है—'देत उचित उत्तर सबहिं'—उत्तर अप्रिय होता है; यथा—"उतरु देत छाड़ौं बिनु मारे।···" (बा० दो० २७४); "उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥" (उ० दो० ११०); पर इन वचनों में राम-स्नेह ही ओत-प्रोत है। श्रीरामजी सबको प्रिय हैं, इससे यह सबको प्रिय लगा।

(२) 'लोग-वियोग-बिषम···'—"एक तीक्ष्ण विष बदरिकाश्रम के पहाड़ों में होता है, जिसका स्पर्शित वायु कोसों तक जाता है, वह वायु शरीर में लगता है, तो शरीर टूटता-सा है, फिर एक तरह का अपूर्व सुख प्राप्त होता है। उसी समय यव का सत्तू और मधु मिलाकर खा ले, तो अच्छा हो जाय। अन्यथा वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। फिर उसे मंत्र से झाड़ना ही उपाय है। मंत्र—"गंगा गौरी ये दो रानी। ठोकर मारि करो विष पानी॥ गगा घोटैं गौरा खाइ।" यह मंत्र सुनाये जाने से वह सचेत होता है।" (टीका बैजनाथ)। उसीका यहाँ रूपक है।

यहाँ श्रीराम-वियोग-रूपी विषम विष से लोग दग्ध थे। श्रीभरतजी ने कहा—"एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥" यही सबीज मंत्र हुआ। इसीसे सब सचेत हुए। इनके वचन को अमृत की उपमा उपक्रम और उपसंहार में भी दी गई है, मंत्र की तरह जिलाना अमृत का ही कार्य है।

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम-प्रिय अहहू ॥५॥
जो पामर अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातुकुटिलाई ॥६॥
सो सठ कोटिक-पुरुष-समेता। बसहि कलपसत नरक-निकेता ॥७॥
अहि-अघ-अवगुन नहि मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥८॥

दोहा—अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि, तुम्ह अवलंबन दीन्ह ॥१८४॥

शब्दार्थ—सुगाइ = संदेह करना, अनुमान से दोष लगाना। कीन्ह = किया, विचारा।

अर्थ—हे तात श्रीभरतजी! तुम ऐसा क्यों न कहो? तुम श्रीरामजी को प्राणों के समान प्रिय हो ॥५॥ जो नीच अपने अज्ञान से तुमपर माता की कुटिलता का संदेह करके दोष लगावे ॥६॥ वह मूर्ख अपने करोड़ों पुरुखों-सहित सैकड़ों कल्प तक नरक-रूपी घर में वास करेगा ॥७॥ सर्प का पाप और अवगुन मणि नहीं ग्रहण करता (प्रत्युत्) वह विष-दुःख और दारिद्र्य को जला डालता है ॥८॥ हे भरतजी! अवश्य उस वन को चलिये, जहाँ श्रीरामजी हैं, तुमने अच्छा मंत्र (सलाह) विचारा है। शोक-समुद्र में डूबते हुए सबको तुमने सहारा दिया है ॥१८४॥

विशेष—(१) 'तात भरत अस ···'—यहाँ से दोहे तक गुरुजी के वचन हैं। 'प्रान समान राम प्रिय अहहू।'; यथा—"रामहिं बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥" (दो० ६); "तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥" (दो० २०७); 'नरक निकेता' अर्थात् नरक ही उनका घर हो जायगा।

(२) 'अहि-अघ-अवगुन नहिं···'—सर्प में विष, मणि और पाप रूप हिंसा का कारण क्रोध रहता है। मणि विष के साथ ही रहता है, पर विष का दूषण उसमें नहीं आता, प्रत्युत् मणि को धोकर पिलावे, एवं घाव पर रक्खे तो सर्प के काटने का विष उतर जाता है। यहाँ कैकेयी सर्प है; यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि ··दोउ वासना रसना दसन बर···" (दो० २५)। उसने राजा को डसा, जिससे उनके शरीर-रूपी प्रजागण अचेत हुए और स्वयं उनके प्राण गये। कैकेयी का वह पाप तुमपर नहीं आ सकता, प्रत्युत् उसके विष की ज्वाला-रूपी राम-वियोग दुःख के हरण करनेवाले तुम मणि-रूप हो। सर्प-रूपा कैकेयी से उत्पन्न हो। मणि दरिद्रता को भी हरता है, वैसे यहाँ प्रजागण राम-रूपी धन से रहित हो रहे हैं; यथा—"मनहुँ बारि निधि बूड़ जहाजू। भयेउ बिकल बड़ बनिक समाजू ॥" (दो० ८५)। श्रीभरतजी उनके प्राप्त कराने को तत्पर हैं।

(३) 'जो पामर अपनी ···'—श्रीभरतजी पर दोषारोपण के प्रति यह गुरुजी का शाप है। इसपर यह शंका हो सकती है कि आगे निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी ने भी तो शंका की है। उसके समाधान ये हैं। एक तो उनके कथन एवं कर्त्तव्य श्रीराम-भक्ति-रूप में है। दूसरे श्रीरामजी ने उद्धार का उपाय भी कहा है—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (दो० २६३)। अर्थात् जैसे मणि विष हरता है, वैसे इन दोष को मणि-रूप श्रीभरतजी का नाम हरता है।

(४) 'सोक सिंधु बूड़त सबहि'''—पहले सब शोक-समुद्र में डूबते हुए घबड़ा गये थे, अब सहारा पा सचेत हुए, तब कृतज्ञता-रूप में ऐसा कहते हैं। श्रीकौशल्याजी ने पहले ही राजा से कहा था—"धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू ॥" (दो० १५१)। उसपर राजा ने धैर्य नहीं धारण किया जिससे परिवार नष्ट होनेवाला था। इसका उद्धार इस दोहे में कहा गया है कि इसीसे सब बचे।

भा सब के मन मोद न थोरा। जनु घनधुनि सुनि चातक मोरा ॥१॥
चलत प्रात लखि निरनय नीके। भरत प्रानप्रिय भे सबही के ॥२॥
मुनिहि बंदि भरतहि सिर नाई। चले सकल घर बिदा कराई ॥३॥
धन्य भरत जीवन जग माहीं। सील सनेह सराहत जाहीं ॥४॥

अर्थ—सबके मन में थोड़ा आनंद नहीं हुआ; अर्थात् बहुत आनंद हुआ, जैसे मेघों के शब्द सुनकर चातक और मोर आनंदित होते हैं ॥१॥ 'प्रातःकाल चलते हैं' यह निर्णय अच्छी तरह लखकर श्रीभरतजी सबके प्राण-प्रिय हो गये ॥२॥ मुनि की वंदना करके और श्रीभरतजी को शिर नवाकर सब लोग विदा कराके घर गये ॥३॥ (सब) श्रीभरतजी के शील और स्नेह की प्रशंसा करते जाते हैं और कहते हैं कि जगत् में श्रीभरतजी का जीवन धन्य है ! ॥४॥

विशेष—(१) 'भा सबके मन मोद न थोरा'—शोक-समुद्र में डूबने से बचे, श्रीरामजी की प्राप्ति की आशा हुई, इसे उपमा से बताते हैं—'जनु घनधुनि'''—यहाँ श्रीभरतजी मेघ, उनके शब्द—"प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।" यह गर्जन ध्वनि, श्रीरामजी जल और सभा के लोग चातक-मोर हैं। श्रीराम-रूपी जल-प्राप्ति की आशा के सम्बन्ध से चातक, और इस वचन पर जो प्रसन्नता हुई और रोमांच-पुलक सहित आनंद से नाचने लगे, इससे मोर कहे गये। कहा भी है—"ये सेवक संतत अनन्य गति ज्यों चातकहि एक गति घन की। अस बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की।" (गी० अ० ७१); "बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन'''" (दो० २५१)। चातक-मोर दोनों मेघ के अनुरागी हैं, वैसे वे लोग श्रीभरतजी के अनुरागी हो गये।

(२) 'चलत प्रात लखि'''—प्रथम जो कहा गया—'एकहि आँक इहै''' उसीको यहाँ 'निरनउ नीके' कहा है; अर्थात् 'एकहि आँक' का अर्थ है—पक्का निर्णय। इसी पर सब भरतजी की सराहना करते और इनके जीवन को धन्य कहते हैं। श्रीभरतजी जब पहले ननिहाल से आये, तब इनसे कोई बोलता भी न था; यथा—'गवहिं जोहारहिं जाहिं' और अब भरतजी सबके प्राणप्रिय हो रहे हैं, क्योंकि पूर्व श्रीभरतजी के रामविरोधी होने की इन्हें शंका थी और अब राम-प्रेम सम्बन्ध की प्रीति है।

इस प्रथम दरबार के प्रसंग का उपक्रम—"सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये॥ बैठे राज सभा सब जाई।···" पर हुआ था। यहाँ—"चले सकल घर बिदा कराई॥" पर उसका उपसंहार हुआ।

कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥५॥
जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदन मारी॥६॥
कोउ कह रहन कहिय नहिं काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू॥७॥

दोहा—जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाइ॥१८५॥

शब्दार्थ—गरदन मारी=गले पर छुरी चलाना, गला काटना—ये मुहावरे हैं; अर्थात् बड़ी हानि करना।

अर्थ—सब आपस में कहते हैं कि बड़ा कार्य हुआ, सभी चलने के समान सज रहे हैं॥५॥ जिसको रखते हैं कि रखवाली करने के लिये घर पर रहो, वह समझता है कि मानों मेरा गला काटा गया॥६॥ कोई-कोई कहते हैं कि किसी को घर रहने को न कहो, भला संसार में जीवन का लाभ कौन नहीं चाहता॥७॥ वह संपत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई जल जायँ (अर्थात् त्याज्य हैं) जो श्रीरामजी के चरण के सम्मुख होते हुए सहस्रों प्रकार से सहायता न करें॥१८५॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर भा···'—बड़ा कार्य हुआ—श्रीभरतजी में कुटिलता का संदेह मिटा। श्रीरामजी के दर्शनों और उनके घर लौटने की आशा हुई। श्रीराम-वियोग रूपी बड़ी हानि गई। 'गरदन मारी'—अर्थात् श्रीरामशरण में बाधा करनेवाला भारी शत्रु है। 'जीवन लाहू'—श्रीरामजी में शुद्ध प्रेम ही जीवन का लाभ है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम" (वि० १३१)।

(२) 'जरउ सो संपति सदन···'; यथा—"गज बाजि घटा···जरि जाय सो जीवन जानकि नाथ रहै जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥" (क० उ० ३१)। कहीं-कहीं 'सहस' के स्थान में 'सहज' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है 'अकृत्रिम'।

इस दोहे में सात ही अर्द्धालियाँ हैं। जान पड़ता है—'भा सबके मन मोद न थोरा।' वर्णन साथ ग्रंथकार भी मोद में निमग्न हो गये; इससे भूल गये।

घर घर साजहिं बाहन नाना। हरष हृदय परभात पयाना॥१॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू॥२॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलउँ तजि ताही॥३॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पापसिरोमनि साइँ-दोहाई॥४॥

शब्दार्थ—दोहाई (द्रोहाई)=द्रोह करना, शपथ का अर्थ यहाँ ठीक नहीं जँचता।

अर्थ—लोग घर-घर अनेक प्रकार की सवारियाँ सज रहे हैं, सबके हृदय में हर्ष है कि सवेरे ही चलना है ॥१॥ श्रीभरतजी ने घर जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, घर, भंडार (खजाना) आदि सब संपत्ति श्रीरघुनाथजी की है जो इसकी रक्षा का उपाय किये विना, इसे छोड़कर चल दूँ ॥२-३॥ तो परिणाम में (अंत में, फलतः) मेरी भलाई नहीं है ; (क्योंकि) स्वामी से द्रोह करना पापों में शिरोमणि (अर्थात् महान् पाप) है ॥४॥

विशेष—(१) 'घर घर साजहिं···'— सभावालों से जानकर सब तुरत तैयारी करने लगे।

'हरष हृदय'—अब पूर्व का रंग ही पलट गया, श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा है।

(२) 'भरत जाइ घर···'—पूर्व कहा गया—'पठये बोलि भरत ···' अब उनका घर जाना भी कहा गया।

(३) 'संपति सब रघुपति कै···'—श्रीभरतजी के गूढ़चरित का मर्म प्रायः बहुतों ने नहीं समझा। कौशल्याजी ने कहा है ; यथा—"एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते। भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥" (वाल्मी॰ २।६१।१५)। अर्थात् पंद्रहवें वर्ष में लौटने पर भी छोटे भाई श्रीभरतजी का भोगा हुआ राज्य ज्येष्ठ और गुण-श्रेष्ठ श्रीरामजी न भोगेंगे, तिरस्कार कर देंगे। इसीसे श्रीभरतजी राज्य एवं संपत्ति के स्वामी नहीं बन रहे हैं और न बनेंगे। अंत में श्रीरामजी की खड़ाऊँ को ही राज-सिंहासन पर बिठावेंगे। श्रीरामजी को गौरव देने ही के लिये सब राज-अंग के साथ मनाने जायँगे। पुनः वन ही में उन्हें राज देकर वहाँ से लाना चाहते हैं। इस भेद को औरों की कौन कहे, निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी ने भी सहसा नहीं जाना।

करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई ॥५॥
अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥६॥
कहि सब मरम धरम भल भाषा। जो जेहि लायक सो तेहि राखा ॥७॥
करि सब जतनु राखि रखवारे। राममातु पहिं भरतु सिधारे ॥८॥

दोहा—आरत जननी जानि सब, भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकी, सजन सुखासन जान ॥१८६॥

अर्थ—सेवक वही (अच्छा) है, जो स्वामी की भलाई करे, चाहे कोई उसे करोड़ों दोष क्यों न दे ॥५॥ ऐसा विचार कर पवित्र सेवकों को बुलाया, जो स्वप्न में भी (कभी) अपने धर्म से न डिगे थे ॥६॥ सब मर्म (भेद) कहकर धर्म को अच्छी तरह कहा (कि सेवक का उत्तम धर्म ऐसा है) और जो जिस (कार्य के) योग्य था, उसने उसकी रक्षा का भार लिया ॥७॥ सब यत्न करके रक्षकों को रख-कर (कार्य में नियुक्त कर) श्रीभरतजी श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥८॥ सब माताओं को दुखी जानकर

प्रेम में सुजान (प्रवीण) श्रीभरतजी ने पालकी तैयार करने को और सुखासन (तामजान) एवं रथों को सजाने के लिये कहा ॥१८६॥

विशेष—(१) 'करइ स्वामिहित ··· '—संपत्ति आदि की रक्षा करने पर प्रायः लोग कहेंगे कि कहाँ तो अभी वैराग्य करते थे, अब सब सार सँभार करते हैं, भला ये कब चूकनेवाले हैं ! ऊपर और तथा भीतर और ही है ; यथा—"जौ जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥" (दो० २२७) ; अर्थात् भीतर से इनको राज का लोभ है, इत्यादि दूषण भले ही एक नहीं करोड़ों क्यों न कोई दें, पर सेवक को तो स्वामी के कार्य पर दृष्टि रखनी चाहिये ; यथा—"मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा ॥" (सुं० दो० २१)।

(२) 'सुचि सेवक'—यथा—"सुचि सेवक सब लिये हँकारी।" (बा० दो० २११) ; अर्थात् विश्वासपात्र, निष्कपट और सेवा-धर्म में सावधान रहनेवाले।

(३) 'मरम धरम'—मर्म यह कि कोश (खजाना) आदि कितना कहाँ है और उसकी कैसे रक्षा करनी चाहिये ? शत्रु से किस तरह रक्षा करनी होगी ? एवं और राज्य के गुप्त भेद। धर्म यह कि स्वामी के हित साधने में अपनी स्वार्थ-हानि भी हो तो सेवक को उसकी परवाह न करनी चाहिये ; यथा—"स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू।" (दो० २९२)।

'जो जेहि लायक सो तेहि राखा'—यहाँ 'सो' कर्त्ता है। भरत को कर्त्ता मान भी लें तो आगे—'राखि रखवारे' में पुनरुक्ति होगी। अन्वय यों होगा—'जो जेहि (राखन) लायक (रहा) सो तेहि राखा।'

(४) 'करि सब जतन···'—सब यत्न ऊपर कहा गया एवं और भी प्रबंध जो कर्त्तव्य थे।

(५) 'आरत जननी आनि···'—यहाँ 'आरत' का अर्थ बेतरह चित्त लगने का है ; यथा—"सखि हमरे आरति अति ताते। ··" (बा० दो० २२१)। ये श्रीरामजी के दर्शनाभिलाप से ही सती होने से रुकी थीं। इससे श्रीभरतजी ने प्रार्थना करके चलने को कहा और पालकी आदि सवारियों का भी योग्य प्रबंध किया। श्रीकौशल्याजी की ओट से तो श्रीभरतजी चलना ही चाहते हैं। 'सनेह सुजान'—प्रेम की रीति एवं बर्त्ताव में निपुण हैं। इससे जानते हैं कि माताओं को श्रीरामजी के दर्शनों के लिये कैसी उत्कृष्ट अभिलाषा है। पुनः 'आरत' का दूसरा अर्थ पीड़ित भी लग सकता है ; क्योंकि सब पति-हीन एवं पुत्र-वियोग से दुखी हैं ही इससे भी उत्तम सवारी का प्रबंध किया।

चक्क चक्कि जिमि पुर - नर-नारी। चहत प्रात उर आरत भारी ॥१॥
जागत सब निसि भयेउ बिहाना। भरत बोलाये सचिव सुजाना ॥२॥
कहेउ लेहु सब तिलक-समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू ॥३॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे ॥४॥
अरुंधती अरु अगिनिसमाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ ॥५॥
बिप्रबृंद चढ़ि बाहन नाना। चले सकल तप - तेज-निधाना ॥६॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ॥७॥
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी ॥८॥

दोहा—सौंपि नगर सुचि सेवकनि, सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम-सिय-चरन तब, चले भरत दोउ भाइ ॥१८७॥

शब्दार्थ—समाऊ= समाजू, जैसे राऊ=राजू। अरुंधती =वसिष्ठजी की स्त्री।

अर्थ—चकवा-चकवी की तरह स्त्री-पुरुष प्रातःकाल की प्रतीक्षा (चाह) कर रहे हैं और इसके लिये हृदय से उत्सुक हैं (वा दुखी हैं) ॥१॥ सारी रात जागते हुए सवेरा हो गया। श्रीभरतजी ने प्रवीण मंत्रियों को बुलाया ॥२॥ और कहा कि सब तिलक का सामान ले लो, वन ही में मुनि श्रीरामजी को राज्य देंगे ॥३॥ 'शीघ्र चलो' ऐसा सुनकर मंत्रियों ने प्रणाम किया, तुरत घोड़े रथ और हाथी सजाये गये ॥४॥ अरुंधती और अग्नि होम की सामग्री के साथ रथ पर चढ़कर पहले मुनिराज वसिष्ठजी चले ॥५॥ अनेक सवारियों पर चढ़कर ब्राह्मण समूह चले, वे सभी तप और तेज के कोश हैं ॥६॥ नगर के सब लोगों ने रथों को सजा-सजाकर चित्रकूट को प्रयान किया ॥७॥ सुन्दर पालकियों पर, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, चढ़-चढ़कर सब रानियाँ चलीं ॥८॥ विश्वासी सेवकों को नगर सौंप कर और आदर पूर्वक सब को चलाकर तब श्रीभरतजी दोनों भाई श्रीसीतारामजी के चरणों का स्मरण करके चले ॥१८७॥

विशेष—(१) 'चक चकि जिमि ···'—चकवा-चकवी का रात में एक दूसरे से वियोग रहता है, इससे वे आर्त होकर सवेरा चाहते हैं, यहाँ पुरुष चकवा और स्त्री चकवी रूपी हैं। सब श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सवेरा चाहते हैं कि रात बीते और चलें।

इससे यह जनाया कि जैसे स्त्री पति का और पति स्त्री का संयोग चाहते हैं। वैसे ये सब श्रीराम-दर्शनों के लिये आर्त हैं, उत्कंठित हैं; इसी उत्कंठा में नींद नहीं आई।

(२) 'कहेउ लेहु सब तिलक···'—यह श्रीगुरुजी की आज्ञा से श्रीभरतजी ने कहा है। आगे स्पष्ट है; यथा—"देव देव अभिषेक हित, गुरु अनुशासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल···" (दो० ३०७)। 'बनहिं देब' पहले राज देने को कहकर वन दिया गया; उस अनादर के प्रति आदर के लिये उन्हें राजा बनाकर यहाँ लावेंगे। 'मुनि रामहि राजू'—पिता की अभिलाषा न पूरी हुई, तो गुरुजी उसे पूरी करेंगे। तिलक बड़े के द्वारा ही दिया जाता है। पिता नहीं हैं तो उनकी जगह मुनि ही हैं।

(३) 'अगिनि समाऊ'—अग्निहोत्र की सामग्री; जैसे पात्र, कुश, घृत, स्रुवा आदि। अग्निहोत्र नित्य करने का विधान है; इसीसे सामग्री साथ लेकर चले।

(४) 'सुमिरि राम-सिय चरन···'—यह श्रीभरतजी का मंगलाचरण है। चलने का क्रम भी जना दिया कि आगे गुरुजी, तब ब्राह्मण, फिर रानियों की सवारी और फिर उनके पीछे श्रीभरतजी चले।

राम-दरस-बस सब नरनारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी ॥१॥
बन सिय राम समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहिं जाहीं ॥२॥
देखि सनेह लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥३॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राम-मातु मृदु बानी बोली

तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥५॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक-कृस नहिं मग जोगू ॥६॥
सिर धरि बचन चरन सिर नाई। रथ चढ़ि चलत भये दोउ भाई ॥७॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमतितीर निवासू ॥८॥

दोहा—पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग।
करत राम-हित नेम ब्रत, परिहरि भूषन भोग ॥१८८॥

शब्दार्थ—दरस बस = दर्शनों के लिये ; दर्शनों की लालसा के अधीन होकर।

अर्थ—श्रीराम के दर्शनों की लालसा में सब स्त्री-पुरुष (ऐसी आतुरता से चले) मानों (प्यासे) हाथी-हथिनी जल देखकर चले जा रहे हैं ॥१॥ श्रीसीतारामजी वन में हैं। (राज ऐश्वर्य छोड़े हुए हैं, मैं सवारी पर चलूँ—ऐसा उचित नहीं) यह मन में स्मरण कर भाई के साथ श्रीभरतजी पैदल ही जा रहे हैं ॥२॥ उनका स्नेह देखकर लोग अनुरागवश हो गये और घोड़े, हाथी, रथ छोड़कर उनसे उतर कर चलने लगे ॥३॥ श्रीरामजी की माता समीप पहुँचकर और अपनी डोली रखकर कोमल वाणी से बोलीं ॥४॥ हे तात ! रथ पर चढ़ो, माता बलिहारी जाती है, अन्यथा प्रिय एवं परिवार के लोग दुखी होंगे ॥५॥ (क्योंकि) तुम्हारे पैदल चलने से सब लोग पैदल चलेंगे। सब शोक से दुर्बल हैं। मार्ग (चलने) के योग्य नहीं हैं ॥६॥ माता के वचनों को शिरोधार्य कर और उनके चरणों में माथा नवाकर दोनों भाई रथ पर चढ़कर चलने लगे ॥७॥ पहले दिन तमसा तट पर निवास किया, दूसरे दिन गोमती तट पर निवास किया ॥८॥ कोई दूध और कोई फल भोजन करते हैं और कोई रात में एक ही बार भोजन करते हैं। इस तरह श्रीरामजी के लिये भूषण और भोग विलास छोड़ कर नेम-व्रत करते हैं ॥१८८॥

विशेष—(१) 'जनु करि करिनि चले······'—हाथी-हथिनी का पेट भारी होता है, इसीसे उन्हें प्यास भी अधिक होती है। वे जल की ओर तेजी से झपटे हुए जाते हैं। वैसे इन्हें श्रीराम-विरह-रूपी भारी प्यास है, इसी से ये लोग भी आतुरता से दौड़े हुए चले जाते हैं। इन्हें पशु की उत्प्रेक्षा की गई। क्योंकि इन लोगों ने यह विचार न किया कि श्रीसीतारामजी तो वाहन, पात्र, वस्त्र आदि से रहित वन में हैं और हम श्रीरामजी के दर्शनों के लिये श्रीराम-तीर्थ को चल रहे हैं, तो सवारी पर न चढ़ें। यही समझ श्रीभरतजी की है, तभी आगे उन्हें 'सानुज' शब्द से मनुष्य कहा और पैदल चलना कहा गया। 'सब नर नारी' से पुरवासियों को ही कहा गया है; गुरु और ब्राह्मण एवं माता आदि को नहीं; क्योंकि ये तो श्रीरामजी के पूज्य हैं, इन्हें तो सवारी पर चलना उचित ही है।

(२) 'देखि सनेह लोग अनुरागे······'—महात्मा श्रीभरतजी का स्नेह देखकर इन्हें विचार आया कि राज्य के मालिक तो पैदल चल रहे हैं। तब हम सवारी पर क्यों चल रहे हैं ? पुनः श्रीभरतजी का हार्दिक भाव समझकर श्रीरामजी में अनुराग हुआ और उक्त विचार भी आया। तब इन्हें भी 'लोग' शब्द से मनुष्य कहा गया, महान् लोगों के संग से उत्तम बुद्धि होती ही है।

(३) 'जाइ समीप राखि निज डोली'—प्रथम कहा जा चुका है—"सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि-चढ़ि चलत भईं सब रानी ॥" (दो० १८६); तब यहाँ 'डोली' यह हलका शब्द क्यों

दिया गया ? इसके समाधान ये हैं—(क) शोकातुर होने के कारण इन्हें पालकी आदि उत्तम सवारी न रुची और इसीसे ये डोली पर ही चढ़ीं। (ख) शिविका के लिये भी राजाओं के यहाँ डोला शब्द का प्रयोग होता है कि 'अमुक रानी का डोला छीना गया'। जैसे कर देने में चाहे लाखों रुपये दिये जायँ, तब भी 'पैसा चुकाना', 'कौड़ी भरना' आदि मुहावरे कहे जाते हैं। प्रायः डोली शब्द ब्याह-गौने की पालकी आदि में कहा जाता है। इससे यहाँ डोली रखने और बलिहारी जाने के भाव ये हैं कि हम क्या ब्याहने-गौने चली हैं जो सवारी पर चलें, हम भी पैदल ही चलेंगी। तुम सवारी पर चलो। जो दोष तुम्हें लगेगा, वह मैं अपने सिर लेती हूँ।

(४) 'तुम्हरे चलत चलिहि··· ···'—अर्थात् तुम्हारे विचार ठीक हैं, पर तुम्हारे चलते हुए सभी पैदल ही चलने लगेंगे, सब शोक से दुर्बल हो रहे हैं। चल न सकेंगे। बहुत दिन लगेंगे और श्रीरामजी के दर्शनों की आतुरता सभी को है ही।

(५) 'सिर धरि बचन······'—जैसे श्रीरामजी पिता की आज्ञा सुनकर रथ पर चढ़कर चले और शृंगवेरपुर तक रथपर गये थे; वैसे ही श्रीभरतजी माता की आज्ञा मानकर रथ पर चढ़कर शृंगवेरपुर तक ही जायँगे।

(६) 'तमसा प्रथम दिवस ·····'—श्रीभरतजी के चलने की शीघ्रता को कवि अपूर्ण क्रियाएँ देकर जनाते हैं, चौथे दिन 'शृंगवेरपुर सब नियराने।' पर पूर्ण किया दी है। क्योंकि यहाँ बहुत-कुछ कहना है। बीच के तीन मुकामों में कहीं अच्छी तरह निवास नहीं हुआ। श्रीरामजी दूसरे ही दिन शृंगवेरपुर पहुँचे थे; पर श्रीभरतजी उतनी जल्दी न पहुँच सके; क्योंकि इनके साथ भारी समाज है।

(७) 'पय अहार फल असन······'—कोई जो कुछ विशेष भूख सहने में समर्थ हैं वे केवल दूध ही पर रह जाते हैं। जो उनसे कुछ असमर्थ हैं, वे फलाहार करते हैं, जो और भी असमर्थ हैं, वे अन्न भोजन करते हैं; पर रात में और वह भी एक ही बार। दो बार 'एक' 'एक' शब्द से सबके लिये भी लिखते हैं कि एक ही बार एवं एक ही पदार्थ सभी ग्रहण करते हैं। अंत में 'निसि भोजन' शब्द होने से सभी का रात ही में आहार ग्रहण करना सूचित किया है, इस विचार से कि अब श्रीरामजी अवश्य भोजन कर चुके होंगे। श्रीरामजी की प्राप्ति के लिये ये सब भोग-त्याग 'नेम-व्रत' कर रहे हैं।

सई तीर बसि चले बिहाने। शृंगवेरपुर सब नियराने ॥१॥
समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सबिषादा ॥२॥
कारन कवन भरत बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं ॥३॥
जौं पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई ॥४॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राज सुखारी ॥५॥

शब्दार्थ—सई = यह स्यन्दिका का अपभ्रंश है। यह नदी रायबरेली जिले से होकर प्रतापगढ़ (अवध) से होती हुई आगे जाकर गोमती में मिलती है। पै = निश्चय। अकंटक = निर्विघ्न।

अर्थ—सई के किनारे बसकर सवेरे चले और शृंगवेरपुर के निकट पहुँचे ॥१॥ निषादराज ने सब समाचार सुने, तब वह दुःख सहित हृदय में विचार करने लगा ॥२॥ क्या कारण है कि श्रीभरतजी

वन को जा रहे हैं? मन में कुछ कपट भाव (अवश्य) है ॥३॥ जो निश्चय ही हृदय में कुटिलता न होती, तो साथ में सेना क्यों ली है? ॥४॥ जानते हैं कि भाई सहित श्रीरामजी को मारकर सुख-पूर्वक *निर्विघ्न राज्य करूँ ॥५॥*

विशेष—(१) 'समाचार सब सुने......'—यद्यपि यह निषादों का ही राजा है, तो भी नीति में कुशल है। तभी तो इधर श्रीभरतजी के पहुँचने के पहले ही खबर ले ली और कर्त्तव्य का विचार करने लगा। किन्तु इस समय यह 'सुविषाद' है, इसीसे इसके अनुमान ठीक न ठहरेंगे। जैसे पहले—"भयेउ प्रेम बस हृदय विषादू।" (दो० ८६) पर इसके विचार ठीक न थे। उन्हें श्रीलक्ष्मणजी ने ठीक किया था।

भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंक अब जीवनहानी ॥६॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा ॥७॥
का आचरज भरत अस करहीं। नहि विषबेलि अमिअ फल फरहीं ॥८॥

दोहा—अस बिचारि गुह ज्ञाति सन, कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि, कीजिय घाटारोहु ॥१८९॥

शब्दार्थ—जुझारा (सं० युद्धालु) = जूझ मरनेवाले। हथबाँसहु = डाँड़, पतवार आदि जो हाथ में लेकर खेते हैं। घाटारोहु (सं० घाटावरोध) = घाट रोकना।

अर्थ—श्रीभरतजी हृदय में राजनीति नहीं लाये (अर्थात् राजनीति पर ध्यान नहीं दिया, अतः) तब तो कलंक ही था और अब तो प्राण जायँगे ॥६॥ सब जूझ मरनेवाले देवता और असुर जुट जायँ, तो भी श्रीरामजी को युद्ध में जीतनेवाले नहीं हो सकते ॥७॥ क्या आश्चर्य है? जो श्रीभरतजी ऐसा कर रहे हैं, विष की लता अमृत फल नहीं फलती (विष ही फलती है ; अर्थात् हैं तो कैकेयी के ही पुत्र न!) ॥८॥ ऐसा विचारकर गुह ने जातिवालों से कहा कि सब सावधान हो जाओ। डाँड़, पतवार और नावों को डुबा दो और घाटों की राह रोक दो ॥१८९॥

विशेष—(१) 'भरत न राजनीति उर...'—राजनीति ; यथा—"मैं बड़ छोट विचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति।" (दो० ३१) ; पुनः—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); इसपर श्रीभरतजी ने ध्यान नहीं दिया और राज्य ग्रहण किया, तब तो कलंक ही था, पर प्राण बचे रहते; अब तो प्राण ही पर आ बीतेगी, क्योंकि—

(२) 'सकल सुरासुर...'—सब सुर-असुर के लिये तो अकेले श्रीलक्ष्मणजी ही बहुत हैं ; यथा—"जौं सब संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥" (लं० दो० ७४) ; "जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥" (सुं० दो० ४३); और श्रीरामजी का तो कहना ही क्या? यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी० ५।५१।४४)।

(३) 'कीजिय घाटारोहू'—जब डाँड़-पतवार एवं नाव न पावेंगे तो संभव है कि तैरकर बहुत-से वीर आ जायँ; क्योंकि सरयू-तट के रहनेवाले हैं, अथवा बेड़ा आदि बना के कुछ वीर आवें तो उनकी राह रोकी जाय; अर्थात् बीच में डुबाये जायँ।

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरइ के ठाटा ॥१॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥२॥
समर-मरन पुनि सुरसरि-तीरा। रामकाज छनभंग सरीरा ॥३॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइय मीचू ॥४॥
स्वामिकाज, करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दसचारी ॥५॥
तजउँ प्रान रघु-नाथ-निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ॥६॥
साधुसमाज न जाकर लेखा। राम-भगत महँ जासु न रेखा ॥७॥
जाय जियत जग सो महिभारू। जननी-जौवन-बिटप-कुठारू ॥८॥

दोहा—बिगत बिषाद निषादपति, सबहि बढ़ाइ उछाह।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाह ॥१९०॥

शब्दार्थ—सँजोइल=सुसज्जित, सामग्री-युक्त। लोहा लेना=युद्ध करना—यह मुहावरा है। मुद मोदक=आनन्द के लड्डू, 'दोनों हाथों में लड्डू' यह मुहावरा है। प्रायः उभय लोक बनने के प्रति कहा जाता है। यहाँ मुद का तात्पर्य—'जीतने और मरने पर भी यश' से है।

अर्थ—(युद्ध के साज से) सुसज्जित होकर घाटों को रोको, सब कोई मरने का पूरा प्रबंध कर लो (अर्थात् लड़ने मरने को तैयार हो जाओ) ॥१॥ श्रीभरतजी के सामने होकर उनसे युद्ध करूँगा और जीते-जी उन्हें गंगा-पार उतरने न दूँगा ॥२॥ (यदि कहा जाय कि भारी वीर एवं चक्रवर्ती श्रीभरतजी से जीतना असंभव है, फिर जान क्यों देते हो, तो इसपर कहते हैं कि इसमें बड़े लाभ हैं) युद्ध में मरना, फिर गंगा-तट पर, श्रीरामजी के कार्य में और फिर शरीर तो क्षण में नाश होनेवाला है ही (इसका स्वामि कार्य में लगना उत्तम है) ॥३॥ पुनः श्रीभरतजी राजा (श्रीरामजी) के भाई (वा श्रीरामजी के भाई और राजा) हैं और मैं नीच जन (अर्थात् जाति से ही दास) हूँ। (उनके हाथ से मरना) ऐसी मृत्यु बड़े भाग्य से मिलती है ॥४॥ स्वामी के कार्य के लिये रण में लड़ाई करूँगा। इससे चौदहो लोकों को अपने यश से प्रकाशित करूँगा, अर्थात् चौदहो लोकों में निर्मल यश होगा ॥५॥ श्रीरघुनाथजी के निमित्त प्राणों को छोड़ूँगा, मेरे दोनों हाथों में आनन्द के लड्डू हैं ॥६॥ जिसकी साधु-समाज में गणना नहीं और न राम भक्तों में ही जिसका स्थान है ॥७॥ वह जगत् में व्यर्थ ही जीता है, वह पृथिवी का भार है और माता के यौवन-रूपी वृक्ष को (काटनेवाला) कुठार (कुल्हाड़ा) रूप है ॥८॥ खेद-रहित होकर निषाद-राज ने सबका उत्साह बढ़ाकर और श्रीरामजी का स्मरण कर तुरत तरकश, धनुष और कवच मँगाया ॥१९०॥

विशेष—(१) 'मरइ के ठाटा'—क्योंकि जीतना असंभव है।

(२) 'समर-मरन'''भरत भाइ नृप'''—यहाँ राजा ने अपने सुभटों को उत्तेजित करने के लिये क्रमशः चार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ संयोग कहा-समर-मरण, गंगातट पर मृत्यु, श्रीरामजी के कार्य में नश्वर तन त्यागना और श्रीराम-भ्राता के हाथ मृत्यु ; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः॥" (गीता २।३७); "अंतवंत इमे देहा ··" (गीता २।११)। "गंगायां त्यजतो देहं भूयो जन्म न विद्यते।" (पद्मपुराण); "सत्संगजानि निधनान्यपि तारयंति।" (उत्तरामचरित), "आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युद्धयमानाः परंशक्त्या स्वर्गं यान्त्यपरांमुखाः॥" (मनु०)।

(३) 'स्वामिकाज करिहउँ ··'—जो पराये के कार्य में तन त्याग करता है, उसकी संतों में प्रशंसा होती है ; यथा—"पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (बा० दो० ८४); यहाँ तो मेरा मरण स्वामी के निमित्त होगा, इससे तो चौदहों भुवनों में प्रशंसा होगी। हमलोगों के यश से चौदहो भुवन धवलित हो जायगा।

(४) 'साधुसमाज न जाकर'''—परोपकार साधु का सहज कर्म है ; यथा—"पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाव खग राया॥" (उ० दो० १२०), अतः, हमलोग इस कार्य से साधु-समाज में गिने जायगे।

(५) 'जननी-जौवन-बिटप'''—पुत्र उत्पन्न होने से माता का यौवन उतर जाता है। यदि पुत्र योग्य हुआ तो उस त्रुटि की पूर्ति समझी जाती है, अन्यथा वह पुत्र व्यर्थ है ; यथा—"पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम-बिमुख सुत ते हित जानी॥" (दो० ७४)।

(६) 'बिगत बिषाद निषाद पति''''''—पहले 'सबिषाद' था ; यथा—"हृदय विचार करै सबिषादा॥" ऊपर कहा गया। विचार करके युद्ध करने के लिये निश्चय किया, तब उत्साहित हो गया और खेद न रहा। श्रीरामजी का स्मरण सफलता के लिये है, यहीं इसका मंगलाचरण है। पहले स्वयं तैयार होने लगा कि जिससे सभी शीघ्र तैयार हो जावें।

बेगिहि भाइहु सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ॥१॥
भलेहिं नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहि एक बढ़ावइ करषा॥२॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचइ रारी॥३॥
सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥४॥
अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥५॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़े। कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़े॥६॥
निज निज साज समाज बनाई। गुहराउतहि जोहारे जाई॥७॥
देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने॥८॥

दोहा—भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहिं।
सुनि सरोष बोले सुभट, बीर अधीर न होहिं ॥१९१॥

शब्दार्थ—सँजोऊ=साज, समान। कापा=क्रोध, उत्साह। अँगरी=कवच। कूँडि=लोहे की ऊँची टोपी, जो सिर-रक्षा के लिये रहती है। बाँस=बल्लम। सेल=बरछा। ओढ़न=ढाल। खाँड़े=तलवार। समकारहीं=सीधा करते हैं, पैनी करते हैं। धोखा लाना=कमी करना, चूक करना। सरोष=जोश-पूर्वक, उत्साह-सहित। राउत=राजपुत्र वीर, बहादुर।

अर्थ—हे भाइयो! शीघ्र ही साज सजो, हमारी आज्ञा सुनकर कोई कायर न हो (डरे नहीं) ॥१॥ सब हर्ष-पूर्वक कहते हैं—हे नाथ! बहुत अच्छा और एक दूसरे को कर्ष (जोश) बढ़ाते हैं ॥२॥ निषादराज को प्रणाम कर-करके सब निषाद (तैयारी करने को) चले, सब शूरवीर हैं, इन्हें संग्राम में लड़ना ही रुचता है ॥३॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों की जूतियों का स्मरण करके तरकश बाँधकर अपने-अपने छोटे-छोटे धनुषों को चढ़ाया ॥४॥ कवच पहनकर शिर पर लोहे की टोपी धारण करते हैं। फरसा, बल्लम, बरछे सीधा करते हैं (उनकी धार सुधारते हैं) ॥५॥ कोई ढाल-तलवार की कला में अत्यन्त प्रवीण हैं। वे (ऐसे जोश-भरे हैं) मानों पृथिवी को छोड़कर आकाश में उछल रहे हों ॥६॥ अपने-अपने लड़ाई के साज और टोली बना सबने बहादुर गुह को जाकर प्रणाम किया ॥७॥ सब सुभटों को देखकर उनको युद्ध के योग्य समझ नाम ले-लेकर उन सबका सम्मान किया ॥८॥ (और कहा कि) हे भाइयो! धोखा न लगाना (पुरुषार्थ में कमी न करना) आज मेरा बड़ा कार्य है। यह सुनकर सुभट-लोग रोष (जोश-उत्साह) के साथ बोले—वीर लोग अधीर नहीं होते; अर्थात् आप वीर हैं; अतः, अधीर न होइये ॥१९१॥

विशेष—(१) 'बढ़ावइ करषा'—कहते हैं कि आज ही तो देखना है कि कौन वीर है? कौन सबसे अधिक पराक्रम दिखाता है? हम अकेले ही सैकड़ों को मार गिरावेंगे। स्वामी ने जन्म-भर पाला है, तो आज उनका नमक अदा करना है।

(२) 'सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं'—चरण के अधिकारी तो शिव आदि हैं; यथा—"सिव अज पूज्य चरन रघुराई।" (उ० दो० १२३); ये अपनेको जूती ही के अधिकारी मानते हैं; क्योंकि निषाद-जाति के हैं। पर उच्च कोटि के भक्त उच्च कुल के भी प्रभु की अपेक्षा में अपनेको देखते हुए एवं कार्पण्य-दृष्टि से अपने को जूती ही के अधिकारी मानते हैं; यथा—"मोरे सरन रामहि की पनही।" (दो० २३३); यह श्रीभरतजी ने कहा है। यहाँ निषाद-लोग श्रीभरतजी से लड़ने को प्रस्तुत हैं, तो दोनों ओर समान बल चाहिये ही।

यह भी भाव है, चाम की पनही होती है और ढाल भी। अतः, निषादों ने श्रीरामजी की पनही को ही अपनी ढालें बनाईं और इसी बल पर विजय का भी भरोसा किया। श्रीरामजी ने भी विजय के लिये ऐसा ही आधार लिया है; यथा—"कवच अभेद बिप्र-पद-पूजा। येहि सम बिजय उपाय न दूजा॥" (लं० दो० ७८)

(३) 'लै-लै नाम सकल सनमाने'—सबके नाम ले-लेकर उन्हें अधिक आदर दिया, इसीसे वे सब जोश में आये; यथा—"सुनि सरोष बोले सुभट···" यह राजा की उत्तम रीति है कि वह कार्य पर

कृतज्ञता प्रकट करे, आदर करे, उत्तेजना दे और योग्य रीति से प्रोत्साहन दे। सबके नाम लेने से यह भी जाना गया कि सेना बहुत थोड़ी थी; अन्यथा सबके नाम लेने का अवसर न मिलता।

(४) 'भाइहु लावहु धोख जनि······'—आज ही ऐसा अवसर आ पड़ा है। इसमें पुरुषार्थ में कमी न होने पावे कि मुझे पछताना पड़े कि मैं नाहक लड़ा, मुझसे धोखा हुआ। 'काज बड़'–इष्ट-सम्बन्धी भारी कार्य है वा, सेर-सुमेरु का सामना है। अतः, युद्ध करना बड़ा भारी कार्य है। 'सुनि सरोष बोले···'—इसपर वीरों को रोष (जोश) आया और वे कुछ क्रुद्ध होकर बोले कि ऐसा तो अधीर (कायर) लोग कहते हैं। नाथ! आपको तो कहना चाहिये कि हम अकेले ही सारी फौज को नाश कर देंगे। श्रीभरतजी को जीत लेंगे, बाँध लेंगे; क्योंकि आप वीर हैं। देखियेगा—

रामप्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटक बिनु भट बिनु घोरे ॥१॥
जीवत पाउ न पाछे धरहीं। रुंड-मुंड-मय मेदिनि करहीं ॥२॥
दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू ॥३॥
एतना कहत छींक भइ बाँये। कहेउ सगुनियन्ह खेत सुहाये ॥४॥
बूढ़ु एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी ॥५॥
रामहि भरत मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—रुंड = बिना सिर का धड़। मेदिनि = पृथिवी, क्योंकि यह मधु-कैटभ के मेदा-मज्जा से बनी है। टोलू = समूह, झुंड। खेत सुहाये = क्षेत्र सुंदर है = सुंदर दिशा में छींक हुई है, इसका परिणाम सुहावना है। बिग्रह = झगड़ा, विरोध।

अर्थ—हे नाथ! श्रीरामजी के प्रताप से और आपके बल से हम श्रीभरतजी की सेना को बिना योद्धा और बिना घोड़े की कर देंगे; अर्थात् योद्धा और घोड़े एक भी न देख पड़ेंगे ॥१॥ जीते-जी हम पीछे पाँव न हटावेंगे और पृथिवी को हम रुंड-मुंड-मय कर देंगे, अर्थात् पृथिवी पर रुंड-मुंड ही देख पड़ेंगे ॥२॥ निषादराज ने देखा कि हमारा यूथ अच्छा है, तब कहा कि लड़ाईवाले ढोल बजाओ ॥३॥ इतना कहते ही बाईं ओर छींक हुई। शकुन विचारवालों ने कहा कि क्षेत्र सुन्दर है; अर्थात् हमारी जीत होगी ॥४॥ एक बुड्ढे ने शकुन विचारकर कहा कि श्रीभरतजी से मेल होगा (वा, उनसे मिलिये) लड़ाई न होगी ॥५॥ श्रीभरतजी श्रीरामजी को मनाने जाते हैं। शकुन ऐसा कह रहा है कि झगड़ा नहीं है ॥६॥

विशेष—(१) 'रामप्रताप नाथ बल······'—श्रीरामजी के प्रताप से समुद्र भी सूख सकता है; यथा—"प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई।" (सुं० दो० ५८); तब उसके आगे कोई भी शत्रु कैसे ठहर सकता है? 'बिनु घोरे'–घोड़े यहाँ हाथी आदि के भी उपलक्षक हैं। चतुरंगिणी सेना में घुड़सवार आगे रहते हैं, इससे वे ही कहे गये। 'रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं।'—पृथिवी मधुकैटभ के मेदा से बनी, इसीसे इसका मेदिनी नाम है; वह आज यथार्थ मेदा मय हो जायगी। मेदा, मज्जा, मांस के अतिरिक्त मिट्टी तो दिखाई ही न देगी, अर्थात् श्रीभरतजी की सेना का कोई भी सुभट दिखाई न पड़ेगा।

(२) 'जुझाऊ ढोलू'—निषादों की छोटी टोल के अनुकूल ही ढोल भी कहा गया। रावण के भारी युद्ध-प्रसंग में 'निशान', 'बाजा' आदि कहे गये हैं ; यथा—"बाजे सकल जुझाऊ बाजा।" (लं॰ दो॰ ७१); "कहेसि बजावहु युद्ध निसाना।" (लं॰ दो॰ ८४)।

(३) 'एतना कहत छींक भइ...'—दोनों ओर से राम-भक्त ही थे, इसलिये शकुन-द्वारा प्रकृति देवी ने अनर्थ बचाया। बाईं दिशा में छींक होने से सुन्दर चेत्र समझा गया ; यथा—"दाहिन काग सुखेत सुहावा।" (बा॰ दो॰ ३०२)।

यह भी कहा जाता है कि उस समय निषादराज उत्तर-मुख थे। इससे उनका बायाँ पश्चिम या वायव्य पड़ा, इन दिशाओं की छींक अच्छी कही गई है।

(४) 'बूढ़ एक कह सगुन...'—इससे जाना गया कि पहले शकुन विचारनेवाले युवक थे, जिन्हें जीत ही अभीष्ट थी। अतः, उनके विचार उनके अपने अभीष्ट के अनुसार ही ढल गये। इस बूढ़े ने सोच-विचारकर कहा, इससे यथार्थ कहा। 'सगुन कहइ'—अर्थात् मैं अपनी ओर से नहीं कहता हूँ, शकुन ही कह रहा है, अर्थात् इस शकुन का यही तात्पर्य है। 'बिग्रह नाहीं' अर्थात् जो आपने विचारा था—"है कछु कपट भाव...जानहिं सानुज रामहिं मारी।..." इत्यादि, वह नहीं है। झगड़े के भाव श्रीभरतजी में नहीं होंगे। (बूढ़े लोग देश-काल बहुत कुछ देखे-सुने होते हैं, अतएव उनके विचार यथार्थ ही होते हैं)।

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा ॥७॥
भरत सुभाव सील बिनु बूझे। बड़ि हितहानि जानि बिनु जूझे ॥८॥

दोहा—गहहु घाट भट सिमिटि सब, लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति, तब तस करिहउँ आइ ॥१९२॥

लखब सनेह सुभाय सुहाये। बैर प्रीति नहि दुरइ दुराये ॥१॥

शब्दार्थ—सहसा = अकस्मात्, एकबारगी। जूझे = युद्ध किया। गहहु = रोको।

अर्थ—यह सुनकर गुह ने कहा कि बुड्ढा ठीक कह रहा है। मूढ़ ही अकस्मात् कोई काम करके पीछे पछताते हैं ॥७॥ श्रीभरतजी का शील-स्वभाव बिना जाने हुए युद्ध करने से हित की बड़ी हानि है ॥८॥ सब एकत्र होकर घाट को रोको, मैं जाकर उनसे मिलूँ और उनका भेद लूँ। वे मित्र, शत्रु, वा मध्यस्थ भाव के हैं—यह जानकर तब यहाँ आकर वैसा करूँगा ॥१९२॥ मैं उनका स्नेह, स्वभाव की सुन्दरता से जान लूँगा, क्योंकि वैर और प्रेम छिपाये से नहीं छिपते ॥१॥

विशेष—(१) 'सुनि गुह कहइ...'—निषाद-राज स्वयं भी शकुन-विचार में प्रवीण थे ; यथा—"लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।" (दो॰ ३३७)। अतः, बूढ़े की बात को स्वयं भी समझकर ठीक कहा। 'सहसा करि...' ; यथा—"अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥ सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥" (दो॰ २३०), यथा—

"अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥" (सुभाषितरत्नभांडागार); अर्थात् सहसा किये हुए कर्मों का परिणाम विपत्ति-पर्यन्त छाती में गड़ी हुई साँग की तरह दुखदाई होता है।

(२) 'लखब सनेहु सुभाय सुहाये'—वैर और स्नेह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। एक के रहते दूसरा नहीं रहता। बूढ़े ने कहा है—"रामहिं भरत मनावन जाहीं।" अर्थात् स्नेह-भाव से जा रहे हैं। उसीको मिलकर उनके स्वभाव-द्वारा यह प्रत्यक्ष करना चाहता है। जैसा स्वभाव होता है, वैसा मन, वचन, कर्म से स्पष्ट हो जाता है; यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन पर वास। कियो दुराउ चह चातुरी, सो सठ तुलसीदास ॥" (दोहावली ३१०); तथा—"अखियाँ देत बताय सब, हिय को हेत अहेत। जैसे निरमल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥" प्रीति में मन सरल, वचन कोमल एवं स्निग्ध होते हैं। वैर में वचन व्यंग-पूर्ण और हृदय में रुखाई होती है, इत्यादि।

> अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग माँगे ॥२॥
> मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥३॥
> मिलन साज सजि मिलन सिधाये। मंगलमूल सगुन सुभ पाये ॥४॥
> देखि दूरि ते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंडप्रनामू ॥५॥
> जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥६॥
> रामसखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा ॥७॥
> गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहार माथ महि लाई ॥८॥
>
> दोहा—करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
> मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ ॥१९३॥

शब्दार्थ—सँजोवन = सजाने अथवा इकट्ठा करने। पीन = मोटी। पाठीन = पढ़िना जाति की मछली।

अर्थ—ऐसा कहकर भेंट की चीजें सजाने एवं इकट्ठी करने लगे। कंद, मूल, फल, पक्षी और जंगली पशु मँगाये ॥२॥ पुरानी मोटी पढ़िना मछली (भी) कँहार लोग भार भर-भरकर लाये ॥३॥ इस तरह मिलने के सामान सजाकर मिलने के लिये चले, तब मंगल-मूलक शुभ शकुन मिले ॥४॥ मुनीश्वर वसिष्ठजी को देखकर दूर से ही अपना नाम कहकर उसने उनको दंडवत्-प्रणाम किया, (क्योंकि वे सबसे आगे थे) ॥५॥ श्रीरामजी का प्रिय जानकर मुनीश्वर ने उसे आशिष दी और श्रीभरतजी को समझाकर कहा (कि यह राम-सखा है) ॥६॥ यह श्रीरामजी का सखा है, ऐसा सुनकर श्रीभरतजी ने रथ त्याग दिया, रथ से उतरकर अनुराग से उमड़ते हुए चले ॥७॥ गुह ने अपने ग्राम, जाति, नाम 'गुह' सुनाकर पृथ्वी में माथा लगाकर प्रणाम किया ॥८॥ उसको दंडवत् करते देखकर श्रीभरतजी ने उसे हृदय से लगा लिया, मानों उन्हें श्रीलक्ष्मणजी से भेंट हुई, श्रीभरतजी के हृदय में प्रेम नहीं समाता ॥१९३॥

विशेष—(१) 'कंद मूल फल खग मृग'—'कंद'—शकरकंद आदि, 'मूल'—मूली आदि' 'फल'—तेंदू, केला, बेर, आम, कटहल आदि, 'खग'—महरी, जुर्रा, नरूक, घूघी आदि, 'मृग'—चीतर (मृगा), रोझा, चिकारा, चौवा, स्याह गोश आदि।

(२) 'मीन पीन पाठीन···'—इसपर कहा जाता है कि श्रीभरतजी श्रीराम-भक्त हैं। फिर उनकी भेंट के लिये मछली क्यों ली गई ? उत्तर यह है कि निषाद-जाति के लोग मछली आदि का भी बर्ताव रखते हैं; यथा—"पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे···" (क॰ अ॰ ८); अपने स्वरूप के अनुरूप-पदार्थ भी भेंट में अवश्य चाहिये। इसीसे वन-सम्बन्धी ही कंद-मूल आदि भी लिये हैं। क्योंकि ये वन के राजा हैं। फिर श्रीभरतजी सेना के साथ हैं, उसमें तो सब तरह के लोग हैं। भरद्वाजजी ने भी तो इनकी पहुनाई में सब तरह के भोग उपस्थित कराये हैं। पुनः जीवित मछलियाँ शकुन रूपमें मांगलिक होती हैं। इससे उन्हें राजकुमार के सामने उपहार में लाना युक्त ही है।

(३) 'मिलन साज सजि···'—ये सब मिलने के साज हैं, इनके द्वारा राजकुमार श्रीभरतजी के सामने होकर, उनसे मिलते हुए उनके भीतर का भाव लेना है। आगे मिलने ही से पता चल गया कि श्रीभरतजी मित्र-भाव में हैं; यथा—"राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमगत अनुराग॥" यह कहा है। पदार्थों में सात्त्विक आदि पर उनके चित्त एवं दृष्टि की परीक्षा लेना ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह पहले ही कह चुका है—"लखब सनेह सुभाय सुहाये।···" श्रीभरतजी के स्वभाव की परीक्षा, जो वे श्रीरामजी का सखा जानकर उस महा नीच से भी बड़े प्रेम और आदर से मिले; इसी से हो गई कि जब उनके सम्बन्धी नीच पर इतना प्रेम है, तब उनपर तो अत्यन्त ही प्रेम होगा। श्रीरामजी उदासीन वेष में थे; इसलिये उनसे मिलने में फल-मूल ही कहा गया है।

'मंगलमूल सगुन सुभ···'—देखिये बा॰ दो॰ ३०२—३०३।

(४) 'देखि दूरि ते कहि ···'—मुनि सबसे आगे हैं। यह जाति में अत्यन्त नीच है। इस विचार से इसने दूर से ही प्रणाम किया। नाम आदि परिचय देकर प्रणाम करने की रीति है। 'मुनीसहि'—ये मुनीश्वर हैं, इसीसे गुह का अभिप्राय जान गये और इसीसे इन्होंने श्रीभरतजी को बुलाकर कहा कि यह श्रीरामजी का प्रिय सखा है; इसने यहाँ श्रीरामजी की सप्रेम सेवा की है। यह सुमंत्रजी ने भी कहा ही है। यहाँ गुरुजी रथ पर हैं और निषाद-राज दूर है, इससे ऊपर से आशिष दी है। आगे जब पैदल रहेंगे और यह निकट से दंडवत् करेगा, तो सप्रेम मिलेंगे भी—"राम सखा रिषि बरबस भेंटा।···" (दो॰ २४३)।

(५) 'रामसखा सुनि···नाउँ जाति ···'—यह श्रीरामजी का प्रिय है, सखा है, यह जानकर श्रीभरतजी सवारी से उतर पड़े और इनसे मिलने के लिये अनुराग से उमँगाते हुए चले, पग-पग पर अनुराग अधिक होता है, कहा ही है—"जानेसु संत अनन्त समाना।" (उ॰ दो॰ १०८); "ताते सठ अधिक करि लेखा।" (बा॰ दो॰ २५)। "राम कहहिं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास।" (दोहावली १४०)।

निषादराज ने देखा कि ये मिलने के लिये चले आते हैं, ऐसा न हो कि पीछे मेरी जाति आदि की न्यूनता पर इन्हें और मुझे भी पछताना पड़े, इसलिये उसने ग्राम सिंगौर (शृंगवेरपुर) जाति निषाद (हिंसक) और नाम गुह (जो परधन चोरावे) बतलाकर भूमि पर शिर लगाकर प्रणाम किया।

(६) 'मनहुँ लखन सन ···'—श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं और यह सखा है; अतः दोनों बराबर हैं। श्रीलक्ष्मणजी ने सर्वस्व प्रभु को ही जाना है; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। ··मोरे सबुइ एक

तुम स्वामी।" (दो० ७१); वैसे ही इसने भी प्रभु को सब कुछ अर्पण कर दिया है; यथा—"देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जनु नीच सहित परिवारा॥" (दो० ८७); इसीसे श्रीरामजी ने भी कहा है—"तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।" (उ० दो० १६)। अतः, निषाद से मिलने पर श्रीभरतजी को वैसा ही सुख हुआ, जैसा श्रीलक्ष्मणजी से मिलने पर होता।

भेंटत भरत ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥१॥
धन्य धन्य धुनि मंगलमूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥२॥
लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥३॥
तेहि भरि अंक राम-लघु-भ्राता। मिलत पुलकपरिपूरित गाता॥४॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥५॥
येहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुलसमेत जग पावन कीन्हा॥६॥
करमनास-जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहि धरई॥७॥

शब्दार्थ—लेइय सींचा = स्नान या मार्जन करना चाहिये। समुहाहीं = सामना करते।

अर्थ—उसे श्रीभरतजी अत्यन्त प्रेम से भेंट रहे हैं, लोग इस प्रेम की रीति को सिहाते (बड़ाई करते हुए ललचाते) हैं॥१॥ मंगल-मूलक 'धन्य-धन्य' ध्वनि हो रही है, देवता लोग उसकी सराहना करके फूल बरसाते हैं॥२॥ (कहते हैं कि) यह लोक और वेद (दोनों की रीति) से सब प्रकार से नीच है, (यहाँ तक कि) जिसकी परछाँई छू जाने से मार्जन एवं स्नान करना होता है॥३॥ उसे ही अँकवार भरकर श्रीरामजी के छोटे भाई श्रीभरतजी मिलते हुए शरीर में परिपूर्ण पुलकित हो रहे हैं॥४॥ जो लोग राम-राम कहकर जँभाई लेते हैं; अर्थात् अलसाते-जँभाते हुए भी जिनके मुख से राम नाम निकल आता है, उनके सामने पाप-समूह नहीं आते॥५॥ और इसे तो स्वयं (साक्षात्) श्रीरामजी ने ही हृदय से लगा लिया है और इसे कुल-समेत जगत् में पावन किया है; अर्थात् जब श्रीरामजी ने ही इसे पवित्र मान लिया, तब तो जगत् में सभी इसे एवं इसके कुल को पवित्र मानेंगे॥६॥ कर्मनाशा का जल जब गंगाजी में पड़ता है, तब कहिये तो, कौन उसे शिर पर धारण नहीं करता; अर्थात् सभी धारण करते हैं, (अतः श्रीभरतजी ने इसका इतना सम्मान किया है।)॥७॥

विशेष—(१) 'लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती'—सिहाते हैं कि क्या कहें, हम सभी में ऐसा प्रेम न हुआ, नहीं तो हमें भी श्रीभरतजी इतना मानते। प्रेम की रीति ही विलक्षण है कि इसमें बड़े की बड़ाई और छोटे की छोटाई नहीं रह पाती; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।...सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥" (वि० १६४); "श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहू सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ परम अधम निषाद पामर कौन ताकी कानि? लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि॥" (वि० २१५)। 'लोग'—ये अवधवासी हैं, जो "पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग। करत राम हित नेमब्रत, परिहरि भूषन भोग॥" (दो० १८८) इस तरह श्रेष्ठ वृत्तिवाले हैं।

(२) 'धन्य धन्य धुनि ···'—यह देवताओं की सराहना है। ब्रह्मा आदि इसे धन्य धन्य कहते हैं और फूल बरसाते हैं, मानों प्रेमी की पूजा करते हैं। आगे—'लोक बेद·· रामनाम महिमा सुर कहहीं।" तक देवताओं की ही प्रशंसा की वाणी है। लोक में इसकी परछाईं तक अशुद्ध मानी जाती है। वेद की दृष्टि से इसे सुर प्रतिमा के स्पर्श का अधिकार भी नहीं है। 'सब भाँति' श्रीभरतजी की अपेक्षा सब प्रकार से नीच है। वे राजा यह प्रजा। वे क्षत्रिय एवं चक्रवर्ती और यह नीच निषाद, इत्यादि।

(३) 'राम राम कहि जे · ·'; यथा—"अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यस्सिंहत्रस्तमृगैरिव॥" (विष्णुपुराण)। जैसे कि यवन ने शूकर के धक्का लगने से विवश होकर 'हराम' शब्द की ओट से 'राम' कहा और मोक्ष पाया; यथा—'दंष्ट्राग्रच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो। हा रामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो···" (वाराहपुराण), तथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन ··" (क० उ० ७६)।

(४) 'करमनास जल सुरसरि ··'—'कुल समेत जग पावन कीन्हा।' इसे ही कर्मनाशा के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। वहाँ श्रीरामजी गंगाजी और गुह कर्मनाशा है। वहाँ कर्मनाशा का कुछ अंश ही पवित्र होता है और यहाँ 'कुल समेत' अर्थात् सर्वांश। वहाँ कर्मनाशा गंगा में आ मिलती है और यहाँ गंगा ही आकर कर्मनाशा से मिली—यह अधिकता है। अन्यत्र भी कहा है—"भूषन भूति गरल परिहरि कै हर मूरति उर आनी। मज्जन पान कियो कै सुरसरि करमनास जल छानी ?॥" (कृष्णगीतावली ६१)।

उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म-समाना॥८॥

दोहा—स्वपच सबर खस जवन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन-विख्यात॥१९४॥

नहिं अचरज जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥१॥
राम-नाम-महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवधलोग सुख लहहीं॥२॥

अर्थ—जगत् जानता है कि उल्टा नाम (मरा, मरा) जपते हुए वाल्मीकिजी ब्रह्मा के समान हो गये॥८॥ श्वपच, शबर, खस, यवन, कोल, किरात आदि मूर्ख और नीच लोग भी श्रीराम नाम कहते ही परम पावन और लोकप्रसिद्ध हो जाते हैं॥१९४॥ यह कोई आश्चर्य नहीं है; किन्तु यह बात युग-युग से होती चली आई है, रघुवीर श्रीरामजी ने किसे बड़ाई नहीं दी ? अर्थात् सभी ने इनसे बड़ाई पाई है॥१॥ देवता लोग श्रीराम नाम की महिमा कहते हैं; सुन-सुनकर अवधवासी लोग सुख पाते हैं॥२॥

विशेष—(१) 'उलटा नाम जपत···'; यथा—"जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु, 'मरा मरा' जपे सुनि सिष ऋषि सात की" (क० उ० १३८)। 'जग जाना' अर्थात् कुछ मैं ही नहीं कहता, किंतु जगत् भर जानता है, (इनकी कथा देखिये बा० दो० २ चौ० ३)। 'ब्रह्म समाना'—वाल्मीकिजी ब्रह्माजी के समान त्रिकालज्ञ हुए। ब्रह्माजी ने वेद कहे; इन्होंने वेद का उपबृंहण एवं अवतारूप रामायण कही है, जिसमें छः कांड भूतकाल के, राज्य-लीला वर्तमान काल की और अवधवासियों के साथ श्रीरामजी की साकेत यात्रा भविष्य काल की भी कही गई है। यह तो श्रीरामजी के उल्टे नाम का प्रभाव है और इस निषादराज को तो स्वयं श्रीरामजी ने ही हृदय से लगाया है।

(२) 'श्वपच सबर खस…'—द्वापर में श्वपच भक्त हुए, जिनके प्रसाद-सेवन से युधिष्ठिर का यज्ञ पूर्ण हुआ। शबर जाति में श्रीशबरीजी प्रसिद्ध हैं। यवन, जिसने हराम कहा और तर गया। इसकी कथा वाराहपुराण में है। 'खस' यह भक्त श्रीमद्भागवत एवं महाभारत में कहा गया है और कोल-किरातों की कथा इसी ग्रंथ में है; यथा—"पाई न गति केहि… गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना। आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारेक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते॥" (उ० दो० १३०); तथा—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" (श्रीमद्भागवत)।

(३) 'नहि अचरज जुग जुग…'—आश्चर्य तब किया जाय, जब कि यह बात नई हो। ऐसा तो युगों से होता आया है; यथा—'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।" (बा० दो० २१); 'रघुबीर' अर्थात् इन्हीं श्रीरामजी के नाम के ये सब भक्त हैं; दूसरे ब्रह्म के नहीं। 'पावन परम' का पाठ राजापुर की प्रति में 'पाँवर परम' है। पुरानी हिन्दी के 'र' और 'न' में कम अंतर होता है। इसीसे ऐसा हो गया है।

(४) 'राम नाम महिमा सुर…'—'सुर सराहि तेहि…' उपक्रम है और यहाँ—'सुर कहहीं' पर उपसंहार है, इतनी देवताओं की वाणी है। 'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।' कहकर भेंट का प्रसंग छोड़कर देवताओं की सराहना करना कहने लगे। आगे फिर—'राम सखहि मिलि…' पर पूर्व प्रसंग लिया, इससे यह भी जनाया कि इतनी देर श्रीभरतजी और निषादराज के मिलने में लगी जितने समय में ये बातें हुईं।

यह सुनकर श्रीअवध के लोग सुख पाते हैं कि हमारे परमप्रिय स्वामी की सराहना देवता भी करते हैं। हमलोग तो इन्हें राजकुमार ही जानते थे, ये तो परब्रह्म हैं, देवताओं की वाणी से तो यही सिद्ध है। अतः, हमारे बड़े भाग्य हैं कि इनसे हमारी घनिष्ठता है। जब ऐसे पापियों पर दया करते हैं, तब तो हम सबों को बहुत कुछ आशा है।

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा ॥३॥
देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥४॥
सकुच सनेहु मोद मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा ॥५॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी ॥६॥
कुसल मूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँकाल कुसल निज लेखी ॥७॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे ॥८॥

दोहा—समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जिय जोइ।
जो न भजइ रघुबीर-पद, जग बिधि-बंचित सोइ ॥१९५॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने प्रेम के साथ राम-सखा निषाद से मिलकर उससे कुशल-क्षेम और सुन्दर मंगल पूछा ॥३॥ श्रीभरतजी का शील और स्नेह देखकर निषाद उस समय विदेह हो गया; अर्थात् प्रेम

में देहाध्यास भूल गया ॥४॥ उसके मन में संकोच, स्नेह और आनंद बढ़ा, (यहाँ तक कि) वह एकटक खड़ा-खड़ा श्रीभरतजी को देखता ही रह गया ॥५॥ फिर धैर्य धरकर उनके चरणों की वंदना करके हाथ जोड़ प्रेम से विनय करने लगा ॥६॥ कि कुशल के मूल आपके चरण-कमलों को देखकर मैंने तीनों कालों में अपनी कुशल समझ ली है ॥७॥ हे प्रभो ! अब आपके परम अनुग्रह से करोड़ों कुलों (पुरुखों) के साथ मुझे मंगल प्राप्त हो गया ॥८॥ मेरी करतूत और मेरा कुल समझकर और प्रभु की महिमा को हृदय में विचारकर जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों को न भजे, वही संसार में ब्रह्मा के द्वारा ठगा गया है ; अर्थात् वह संसार-भर में सबसे बड़ा अभागा है ॥१९५॥

विशेष—(१) 'पूँछी कुसल सुमंगल खेमा ।'—कुशल, मंगल और क्षेम पर्यायवाची शब्द हैं ; यथा—"श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम् । भावुकं भाविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम् ॥" (अमरकोश) ; अत्यन्त प्रेम के कारण उससे बहुत बार कुशल पूछने के भाव से तीन बार पूछा, क्योंकि तीन संख्या बहुवचन है । तीन शब्दों में कहा ; यथा—"बाँध्यो बन निधि नीर निधि···" (लं० दो० ५); इस दोहे में जल के ही समुद्र को दस नामों से कहा है । वा, भक्ति-सम्बन्ध से उस नीच-वर्ण को उच्च तीन वर्णों का महत्त्व भी इन तीन शब्दों से दिया; यथा—"ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥" (मनु०); कहा भी है—"तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम । ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥" (वैराग्य-संदीपिनी)

(२) 'देखि भरत कर सील सनेहू ।'—शील, नीच जाति को आदर देने और उससे मिलने में और स्नेह श्रीरामजी और उनके दासों के प्रति देखा । 'भा निषाद···'—हिंसक (निषाद) जाति का हृदय कठोर होता है, उसपर भी श्रीभरतजी के शील-स्नेह का प्रभाव पड़ा, जिससे उसको देह-सुधि न रह गई । वह सावधान होकर श्रीभरतजी की परीक्षा लेने आया था कि उनकी 'मित्र अरि मध्यगति' 'सुभाउ सील' एवं 'सनेह सुभाय सुहाये' की व्यवस्था जान आऊँ । यहाँ पर शील-स्नेह के ही देखने में सब काम हो गया । यह अधिकता हुई कि इनका प्रेम देखकर वह स्वयं विदेह हो गया ।

(३) 'सकुच सनेह मोद···'—'सकुच' इसपर हुई कि जो परम-भक्त पर दोषारोपण किया था—"है कछु कपट भाव मन माहीं ।" से "नहिं विष बेलि अमिय फर फरहीं ॥" (दो० १८८) तक ; फिर बिना विचारे ही लड़ने को भी तैयारी कर दी थी । छींक-द्वारा न जाना जाता, तो बड़ा अनर्थ हो जाता । पुनः इनके प्रेम के अल्पांश के तुल्य भी मुझमें प्रेम नहीं है । ऐसे पापमय मेरे विचार और कहाँ इनका शील-स्नेह ! 'सनेह'—श्रीभरतजी का शुद्ध हृदय और राम-भक्तों में इतना प्रेम देखकर स्नेह हुआ । यों भी कि ये हमारे इष्ट के सच्चे भक्त हैं । तब तो उनका किंचित स्नेह-सम्बन्ध देखकर मुझ नीच से भी प्रेम-सहित मिले । 'मोद'—श्रीभरतजी का स्नेह अपने ऊपर देखकर आनन्द उमड़ा । वह एकटक देखता ही रह गया । इससे भी मन में मोद है कि भला हुआ जो इनसे आ मिला और इन्हें मेरा दुर्भाव मालूम भी न हुआ ।

(४) 'धरि धीरज पद बंदि···'—पहले कहा गया था—"भा निषाद तेहि समय बिदेहू ।" इससे यहाँ उसका सावधान होना भी कहा है—'धरि धीरज' । फिर चरणों की वंदना करके प्रश्न का उत्तर देना यह शिष्टाचार है; क्योंकि श्रीभरतजी चक्रवर्त्ति-कुमार और परम भागवत हैं और निषाद-राज उनकी अपेक्षा बहुत ही छोटे अपनेको मानते हैं । श्रीभरतजी ने कुशल-प्रश्न किया था और निषादराज विदेह हो गये थे, अभी सावधान हुए तो उत्तर देते हैं । इसीसे आगे (सातवें) चरण में उत्तर लिखा गया है

(५) 'कुसल मूल पद-पंकज······'—आप परम भक्त श्रीरामजी के प्रिय भ्राता और हमारे महाराज के पुत्र हैं। आपके चरणों के दर्शन मेरी सब कुशल के कारण हैं। फिर जो आपने मुझपर परम अनुग्रह किया, इतना सम्मान दिया, तब तो मेरे करोड़ों पुरखों का मंगल हुआ। 'कुसल मूल पद ···' का दूसरा अर्थ और भाव भी कहा जाता है—कुशल के मूल श्रीरामजी के चरण हैं; यथा—"तब लगि कुसल न जीव कहँ·· जब लगि भजत न राम-पद,···" (सुं० दो० ४१)। उनके दर्शनों से ही मैं अपने तीनों कालों की कुशल मानता हूँ। अब परम-भक्त आपके अनुग्रह से तो मेरे कोटि कुल की कुशल हुई; यथा—"सब साधनकर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥ तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥" (दो० २०६)—यह श्रीभरद्वाजजी ने कहा है। श्रीरामजी ने अनुग्रह किया और आपने परम-अनुग्रह। 'सहित कोटि कुल'—श्रीरामजी के अनुग्रह से कुल-भर और आपके परम अनुग्रह से मेरी करोड़ों पीढ़ियाँ तरीं। इस तरह भागवत-महिमा कही; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक रामकर दासा॥" (उ० दो० ११९); "तुलसी रामहुँ ते अधिक, राम-भक्त जिय जान। ऋनियाँ राजा राम से, धनिक भये हनुमान॥" (दोहावली १११)।

(६) 'तिहुँकाल'—भूतकाल की कुशल के परिणाम-रूप में आपके दर्शन हुए, यही कुशल वर्त्तमान की है। अब मैं सपरिजन आपकी सेवा करूँगा; इससे भविष्य में मंगल होगा।

(७) 'समुझि मोरि करतूति ····'—करतूत चोरी हिंसा आदि, कुल महाअधम निषाद का; जिसकी परछाईं छू जाने पर द्विजातियों को स्नान की आवश्यकता होती है। और कहाँ प्रभु-महिमा; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई॥" (लं० दो० २१); "देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ बंदत-चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५४)। प्रभु की महिमा और मेरी नीचता में महान् अंतर है। फिर भी मुझे कृपालु श्रीरामजी ने अपनाया और भुवन-भूषण बनाया कि परम-श्रेष्ठ श्रीभरतजी मुझसे मिले। 'जग बिधि बंचित सोइ'; यथा—"तुलसी जाके होइगो, भीतर बाहर दीठि। सो कि कृपालहि देइगो, केवटपालहि पीठि॥" (दोहावली ४६); अर्थात् जब ऐसे नीचों को भी कृपालु श्रीरामजी अपनाते हैं, तो मुझे क्यों न अपनावेंगे। यह दृढ़ता करके उनकी भक्ति करनी चाहिये। ऐसी बुद्धि न हुई, तो निश्चय है कि उसे ब्रह्मा ने ठग लिया कि सुबुद्धि न दी; यथा—"बालमीकि केवट कथा कपि भील-भालु सनमान। सुनि सन्मुख जो न राम सों तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १६६)।

कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥१॥
राम कीन्ह आपन जबही ते। भयेउँ भुवन-भूषन तबही ते॥२॥
देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरत-लघु भाई॥३॥
कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥४॥
जानि लखन-सम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥५॥
निरखि निषाद नगर-नर-नारी। भये सुखी जनु लखन निहारी॥६॥
कहहिं लहेउ येहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥७॥
सुनि निषाद निज-भाग-बड़ाई। प्रमुदित मन लै चलेउ लिवाई॥८॥

दोहा—सनकारे सेवक सकल, चले स्वामि रुख पाइ।
घर तरु तर सर बाग बन, बास बनायेन्हि जाइ ॥१९६॥

शब्दार्थ—सनकारे = संकेत किया, इशारा किया, सैन किया। बास = निवास-स्थान।

अर्थ—मैं कपटी, कादर, दुर्बुद्धि, नीच जाति सब तरह से लोक और वेद से बाहर (गया बीता) हूँ ॥१॥ मुझ ऐसे को भी श्रीरामजी ने जब से अपनाया, तभी से मैं सब भुवनों का भूषण-रूप हो गया ॥२॥ (निषादराज की) प्रीति और सुन्दर विनती सुनकर फिर श्रीभरतजी के छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी उससे मिले ॥३॥ निषादराज ने अपना नाम कहकर सुन्दर वाणी से आदर के साथ सब रानियों को जोहार (प्रणाम) किया ॥४॥ (वे) श्रीलक्ष्मणजी के समान जानकर (इन्हें) आशिष देती हैं—सौ लाख वर्ष तक तुम सुख-पूर्वक जियो ॥५॥ अयोध्या नगर के स्त्री-पुरुष निषादराज को देखकर ऐसे सुखी हुए, मानों श्रीलक्ष्मणजी को देखा है ॥६॥ सब कहते हैं कि इसने जीने का लाभ पाया कि जो कल्याण-स्वरूप श्रीरामजी ने इससे एवं इसने श्रीरामजी से बाहु-भर (पूरी भुजा पसारकर हृदय से लगाकर) भेंट की है ॥७॥ अपने भाग्य की बड़ाई सुनकर निषाद-राज आनंदित मन से सबको लिवा ले चला ॥८॥ सब सेवकों को संकेत से जना दिया, वे सब स्वामी का रुख पाकर चले और घरों में, वृक्षों के नीचे, तालाबों के तट पर, बागों और वनों में जाकर निवास (के योग्य) स्थान बनाये ; अर्थात् स्थानों को साफकर वहाँ साथरी आदि सामग्री सजा दी ॥१९६॥

विशेष—(१) 'कपटी कायर कुमति कुभाती''' '''—मैं कपटी हूँ, भीतर कुछ और बाहर कुछ और ही बर्ताव रहता है। ऐसे को सज्जन लोग उपदेश भी नहीं देते। जो कृपा करके शिक्षा भी दें तो तदनुसार आचरण करके अपना सुधार करने में भी कादर हूँ। फिर यह भी नहीं कि बुद्धि अच्छी हो कि स्वयं कुछ सुधार का उपाय सोचे और न उत्तम जाति ही है कि भले लोगों का सहवास मिले कि उनके सत्संग से सुधार हो, इत्यादि सभी तरह से बिगड़ा हूँ। बस, बनने का यही एक हेतु है कि जो—

(२) 'राम कीन्ह आपन'''; यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग करेउ। सोई सुसील पुनीत बेद-बिद-बिद्या गुननि भरेउ ॥" (वि० २३९); 'भयेउँ भुवन भूषण''' अर्थात् पहले नीच जाति का एवं अधम निषाद होने से पृथिवी में दूषण-रूप था।

(३) 'भरत-लघु-भाई'—श्रीरामजी की तरह उनके लघु भाई श्रीभरतजी ने इससे भेंट की। वैसे श्रीभरतजी की तरह इनके लघु भाई ने भी भेंट की ; अर्थात् श्रीरामजी की कृपा होने पर भागवत और भागवताश्रयी की भी कृपा हुई। कहा ही है—"तुलसी राम जो आदर्यो, खोटो खरो खरोइ ॥" (दो० १०९); 'राम भद्र'—श्रीरामजी कल्याण-स्वरूप हैं। अतः, उनके सम्बन्ध से इसका भी कल्याण हुआ। 'भरि बाहू' ; यथा—"हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बन चारी। भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी ॥" (वि० १६६)। "जेहि कर कमल उठाइ बधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।" (वि० १३८)।

(४) 'सनकारे सेवक सकल'''—संकेत से जनाया, (जो संकेत—'रामहिं भरत मनावन जाहीं।' समझाने के लिये सम्भवतः कर रक्खा था)। 'घर तरु तर सर'''—रानियों के लिये घर, मुनियों के लिये तरु तर, पुरवासियों के लिये सर-बाग और बैल, घोड़े, हाथी आदि के लिये बन में रहने का प्रबंध किया।

निपाद-राज ने संकेत से काम लिया कि श्रीभरतजी न जान पावें, नहीं तो बड़ी लज्जा की बात होगी, पर श्रीभरतजी भी तो राजकुमार हैं, राजनीति में परम निपुण हैं ; अतः, जान ही गये, यथा— "बहुरि निहारि निपाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥" (दो० २६१); (यह वचन निपादराज के इस प्रसंग की प्रशंसा के रूप में कहा गया है)।

सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेह बस अंग सिथिल तब ॥१॥
सोहत दिये निपादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू ॥२॥
येहि बिधि भरत सेन सब संगा। दीख जाइ जगपावनि गंगा ॥३॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मन मगन मिले जनु रामू ॥४॥

शब्दार्थ—लागू=सहारा, लगाव, यथा—"राम सखा कर दीन्हें लागू।" (दो० २१५)।

अर्थ—जब श्रीभरतजी ने शृंगवेरपुर को देखा, तब उनके सब अंग स्नेहवश शिथिल हो गये ॥१॥ वे निपादराज के कंधे पर हाथ का सहारा दिये हुए ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे विनय और अनुराग शरीर धारण किये हुए शोभित हों ॥२॥ इस प्रकार श्रीभरतजी ने सब सेना के साथ जाकर जगत् पावनी गंगाजी के दर्शन किये ॥३॥ श्रीरामघाट (जहाँ श्रीरामजी ने संध्या एवं स्नान आदि किये थे) को प्रणाम किया, उनका मन (आनंद में ऐसा) मग्न हो गया कि मानों श्रीरामजी ही मिल गये हों ॥४॥

विशेष—(१) 'शृंगबेरपुर भरत दीख···'—यहाँ पर श्रीरामजी ने दो उपवासों पर फल खाया है, वे भूमि पर पहले-पहल सोये हैं, उन्होंने जटा रखाई, रथ छोड़ा और सुमंत्रजी को लौटाया है, ये सब बातें स्मरण हो आईं। अत, स्नेह से शिथिलता आ गई।

(२) 'सोहत दिये निपादहि लागू।···'—विह्वलता से शरीर शिथिल पड़ गया है, इसलिये निपादराज के सहारे से चल रहे हैं ; यही उत्प्रेक्षा का विषय है। विनय-रूप निपाद और अनुराग रूप श्रीभरतजी हैं ; क्योंकि निपादराज अपनी दीनता कह रहे हैं और श्रीभरतजी का शरीर ही अनुराग से शिथिल है।

करहिं प्रनाम नगर - नर - नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी ॥५॥
करि मज्जन माँगहिं कर जोरी। रामचंद्र - पद प्रीति न थोरी ॥६॥
भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू ॥७॥
जोरि पानि बर माँगउँ येहू। सीय - राम - पद सहज सनेहू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि मज्जन भरत करि, गुरु अनुसासन पाइ।
मातु नहानीं जानि सब, डेरा चले लिवाइ ॥१९७॥

शब्दार्थ—ब्रह्ममय बारि=ब्रह्म रूप जल, भगवान् का विग्रह सच्चिदानंद-रूप है। अत', उनके नख से उत्पन्न जल भी ब्रह्मरूप ही है, इसीसे 'ब्रह्ममय' कहा है।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष प्रणाम करते हैं, गंगाजी के ब्रह्म-रूप जल को देख-देखकर प्रसन्न होते हैं ॥४॥ स्नान करके हाथ जोड़कर माँगते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में हमारी बहुत प्रीति हो ॥६॥ श्रीभरतजी ने कहा कि हे गंगाजी! तुम्हारी रेणु (बालू, धूल) सबको सुख देनेवाली है और सेवकों के लिये तो कामधेनु के समान है ॥७॥ मैं हाथ जोड़कर यही वर माँगता हूँ कि श्रीसीतारामजी के चरणों में मेरा स्वाभाविक स्नेह हो ॥८॥ इस प्रकार श्रीभरतजी स्नान करके गुरु आज्ञा पा और यह जानकर कि सब माताएँ नहा चुकीं, डेरा को लिवा चले ॥१९७॥

विशेष—(१) 'करहिं प्रनाम नगर ···'—'ब्रह्ममय वारि', यथा—"ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन ज्ञान गुनी को। जो करता भरता हरता सुर साहिब साहब दीन दुनीको॥ सोई भयो द्रव-रूप सही जु है नाथ विरंचि महेस मुनी को। मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को ?॥" (क० उ० १४१)। इस ब्रह्ममय जल के दर्शन करने से नर-नारियों को ब्रह्म की प्राप्ति के सुख के समान आनंद हो रहा है। श्रीभरतजी ने रामघाट का प्रणाम किया और उनका मन इस आनन्द में मग्न हो गया कि मानो उन्हें श्रीरामजी ही मिल गये। पुरवासी मुदित हैं और उनका मन तो आनन्द में डूब ही गया है। इस तरह पुरवासियों की अपेक्षा इनका सुख अधिक कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा श्रीराम-प्राप्ति में कहीं अधिक सुख है; यथा—"अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये॥" (जानकी-मंगल ४५), यह श्रीजनकजी ने अनुभव किया है।

श्रीरामघाट के दर्शनों से श्रीभरतजी वहाँ के चरित्र स्मरण करते हुए श्रीरामप्रेम में निमग्न हुए, तब उनके हृदय में राम-मूर्त्ति का साक्षात्कार हो गया, क्योंकि—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४) कहा ही है। इसीसे 'मिले जनु रामा' कहा है।

(२) 'भरत कहेउ '—श्रीभरतजी रामघाट को प्रणाम कर ध्यान में निमग्न हो गये। उसी बीच में पुरवासियों का प्रणाम करना, स्नान और वर माँगना वर्णन किया, तब फिर श्रीभरतजी का सावधान होकर कहना कहा गया।

(३) 'सहज सनेहू'; यथा—"सुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै। ···" (वि० २६८) तथा—"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय॥" (गीता १२।८)।

(४) 'गुरु अनुसासन पाइ' यह दीप-देहली न्याय से दोनों ओर लग सकता है—श्रीभरतजी और माताओं के स्नान में तब डेरा लिवा जाने में भी।

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोध सबही कर लीन्हा ॥१॥
गुरु-सेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिं गे दोउ भाई ॥२॥
चरन चाँपि कहि कहि मृदु बानी। जननी सकल भरत सनमानी ॥३॥
भाइहि सौंपि मातुसेवकाई। आप निषादहि लीन्ह बोलाई ॥४॥
चले सखा कर सों कर जोरे। सिथिल सरीर सनेह न थोरे ॥५॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ लोगों ने डेरा (निवास स्थान) किया, श्रीभरतजी ने सबकी शोध (जाँच, खोज)

की (कि सब आराम से आ गये और ठहर गये) ॥१॥ गुरुजी की सेवा कर आज्ञा ले करके दोनों भाई श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥२॥ चरण दबाकर और मीठी वाणी कह-कहकर श्रीभरतजी ने सब माताओं का सम्मान किया ॥३॥ फिर भाई को माताओं की सेवा सौंपकर आपने निषादराज को बुला लिया ॥४॥ सखा के हाथ से हाथ मिलाये हुए चले, अत्यन्त स्नेह से शरीर शिथिल हो गया है ॥५॥

विशेष—(१) 'सोध सबही कर लीन्हा'—यह नीति की सावधानता है कि कोई बिछुड़ तो नहीं गया, किसे कौन-सा सुपास होना चाहिये ? इत्यादि।

(२) 'गुरु सेवा करि'' '—यहाँ 'सुर-सेवा' भी पाठ है ; राजापुर की प्रति एवं और कई प्राचीन प्रतियों में पाया जाता है। सम्भवतः 'गु' का लेख-प्रमाद से 'सु' हो गया हो, फिर प्रतिलिपियों की अंध परंपरा से वही होता आया हो। अन्यथा 'आयसु पाई' को ठीक संगति नहीं होती। माता की सेवा स्वयं की, फिर भाई को भी वही सेवा सौंपी—यह मातृ-भक्ति है। स्वयं निषादराज के साथ श्रीरामजी का वात्सल्य देखने चले कि जिससे कुछ शांति मिले।

पूँछत सखहिं सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन-मन-जरनि जुड़ाऊ ॥६॥
जहँ सिय राम लखन निसि सोये। कहत भरे जल लोचन कोये ॥७॥
भरतबचन सुनि भयउ बिषादू। तुरत तहाँ लेइ गयेउ निषादू ॥८॥

दोहा—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु, रघुबर किय बिश्राम।
अति सनेह सादर भरत, कीन्हेउ दंड प्रनाम ॥१९८॥

अर्थ—सखा से पूछते हैं कि वह स्थान दिखाओ, जिससे मेरे नेत्र और मन की जलन शीतल हो ॥६॥ जहाँ श्रीसीतारामजी रात में सोये थे—ऐसा कहते हुए उनके नेत्रों के कोनों में जल भर आया ॥७॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर निषादराज को बड़ा दुःख हुआ और वह तुरत वहाँ लिवा ले गया ॥८॥ जहाँ पवित्र शीशम के वृक्ष के नीचे रघुबर श्रीरामजी ने विश्राम किया था, श्रीभरतजी ने अत्यन्त स्नेह और आदर से दंडवत्-प्रणाम किया ॥१९८॥

विशेष—(१) 'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ।'—श्रीभरतजी ने पहले कहा था—"देखे बिनु रघुबीर पद, जिय की जरनि न जाइ ॥" (दो० १८२), यद्यपि अभी यहाँ 'रघुबीर-पद' के दर्शन नहीं हैं, तथापि उनके स्मारक स्थलों एवं वस्तुओं को देखने से कुछ शांति मिलेगी, इसीसे 'नेकु' शब्द कहा है। पूरी शांति तो साक्षात् दर्शनों से ही होगी। भक्तों को अपने प्रिय इष्ट के सम्बन्ध की सामान्य वस्तुओं से भी उतना ही सुख होता है, जितना कि इष्ट के मिलने से, यथा—"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥ हरषहिं निरखि राम पद अंका।'''" (दो० २३०) इत्यादि।

(२) 'तुरत तहाँ लेइ गयेउ'''—निषाद हिंसक जाति के कठोर हृदयवाले होते हैं, तब भी हृदयद्रावक श्रीभरतजी के वचनों से उसका हृदय द्रवीभूत हो गया और वह तुरत वहाँ ले गया। जहाँ पर प्रभु साथरी पर सोये थे।

(३) 'जहँ सिंसुपा पुनीत'''—श्रीरामजी के द्वारा स्वीकृत होने से वह पवित्र कहा गया ; यथा—

"जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलप तरु तासु बड़ाई ॥" (दो० ११२); "महाराज रामादरयो धन्य सोई ।" (वि० १०१)। (यह स्थान आजतक रामचौरा नाम से विख्यात है ।)

कुस साथरी निहारि सुहाई । कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥१॥
चरन - रेख - रज आँखिन्ह लाई । बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥२॥
कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीय - सम लेखे ॥३॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी । कहत सखा सन बचन सुबानी ॥४॥

शब्दार्थ— बिंदु = कण, छोटे टुकड़े । दुइ-चारिक = दो-चार—यह कुछ थोड़े से के लिये मुहावरा है ।

अर्थ—कुश की सुन्दर साथरी देख प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया ॥१॥ चरण-चिन्हों की धूल आँखों में लगाई, वह प्रीति की अधिकता कहते नहीं बनती ॥२॥ कुछ थोड़े-से कनक बिन्दु (जो श्रीसीताजी के वस्त्राभूषणों से झड़कर गिरे थे) देखे तो उनको (भक्ति भाव से) शिर पर रक्खा और श्रीसीताजी के समान समझा ॥३॥ नेत्रों में आँसू भरे हैं, हृदय में ग्लानि है, वे सखा से सुन्दर वाणी कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कुस साथरी ···'—श्रीरामजी के विश्राम करने से यह 'सुहाई' है, 'चरन-रेख रज आँखिन्ह लाई'; यथा—"जेहि परसत अति प्रिय पाती । हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती ।" (बा० दो० ११४); आगे श्रीजानकीजी के चिह्न भी कहते हैं—'कनक बिंदु दुइ ···'—श्रीजानकीजी की साड़ी आदि वस्त्रों में सलमा-सितारा आदि लगे थे, वे रगड़ से कुछ झड़ गये हैं ; तथा पहुँची, बेंदी आदि आभूषणों से कुछ छोटे दाने गिरे पड़े हैं ; यथा—"मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन्शयने शुभा । तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनक बिन्दवः ॥" (वाल्मी० २।८८।१४) । 'कनक बिंदु' श्रीसीताजी की साड़ी के हैं । अतः, उनका श्रीसीताजी के ही तुल्य सम्मान किया । पुनः वर्ण साम्य भी है, क्योंकि श्रीसीताजी भी स्वर्ण वर्णा हैं । इससे यह भी जाना गया कि श्रीसीताजी वस्त्राभूषण धारण किये हुए वन को गई हैं ।

(२) 'सजल बिलोचन···'–मेरे ही कारण श्रीसीताजी-श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को वनवास हुआ, यह ग्लानि तो प्रथम से ही थी । यहाँ उनके दु:ख झेलने के चिन्ह देखे इससे करुणारस प्रबल हो गया और आँसू चल पड़े, वाणी भी अति कोमल हो गई ।

श्रीभरतजी को यहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी तीनों के मिलने का-सा सुख कहा गया ; यथा—"मनहुँ लखन सन भेंट भइ,···" (दो० १९१) । "भा मन मगन मिले जनु रामू ॥" (दो० १९६) ; "राखे सीस सीय सम लेखे ।" (दो० १९८) ।

श्रीहत सीयबिरह दुतिहीना । जथा अवध नरनारि बिलीना ॥५॥
पिता जनक देउँ पटतरकेही । करतल भोग जोग जग जेही ॥६॥
ससुर भानु-कुल-भानु भुआलू । जेहि सिहात अमरावतिपालू ॥७॥
प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं । जो बड़ होत ,सो रामबड़ाई ॥

दोहा—पतिदेवता सुतीय - मनि, सीय साथरी देखि।
बिहरत हृदय न हहरि हर, पवि ते कठिन बिसेखि ॥१९९॥

शब्दार्थ—बिहरत (सं० विघटन) = विदीर्ण होता, फटता ; यथा—"सब बिलोकि बिहरति नहिं छाती।" (लं० दो० ३१); हहरि = घबड़ाकर, हा हा करके ; यथा—"गिरयो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो'···" (क० उ० ७६)।

अर्थ—(ये कनक बिन्दु) श्रीसीताजी के विरह से शोभा-रहित और चमक-हीन हो गये हैं। जैसे श्रीअयोध्याजी के स्त्री-पुरुष मलिन हो रहे हैं ॥५॥ जिन राजा जनक की हथेली में भोग और योग प्राप्त हैं उनकी समता किससे दूँ? वे जिनके पिता हैं ॥६॥ सूर्य-कुल के सूर्य राजा दशरथ श्वशुर हैं। जिनको देवपुरी के स्वामी इन्द्र भी सिहाता था ॥७॥ गोस्वामी श्रीरघुनाथजी पति हैं; जो बड़ा होता है वह श्रीरामजी की दी हुई बड़ाई से ही बड़ा होता है ॥८॥ पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि श्रीसीताजी की साथरी देखकर मेरा हृदय हहरकर फट नहीं जाता! हे हर! यह वज्र से भी विशेष कठोर है ॥१९९॥

विशेष—(१) 'श्रीहत सीयविरह···'—श्रीजानकीजी से विलग हुए इससे विरह के कारण द्युति-हीन हुए, धूल में पड़ने से मलिन हो रहे हैं। ये जड़ हैं तो भी अवधवासियों (चेतनों) की तरह मलिन हैं। कम नहीं, जिनके विरह में जड़ों की यह दशा है, वे कैसी हैं—

(२) 'पिता जनक देउँ···'—उपमा के लिये कोई नहीं मिल सकता, क्योंकि इन्द्र में भोग की अवधि है ; यथा—"भोगेन मघवानिव···" (वाल्मी० सू०); और सनकादिक सिद्ध योगी हैं, पर इन दोनों में एक ही एक ऐश्वर्य है और श्रीजनकजी में योग-भोग दोनों ही ऐश्वर्य हैं ; यथा—"भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख मुनि मन अगम अलख गति जान की ॥" (गी० बा० ८६)। योग और भोग परस्पर विरोधी हैं, पर इनमें दोनों ही हैं।'

(३) 'ससुर भानु कुल···'—जिस सूर्य-कुल में एक-से-एक प्रतापी हुए, ये उसके भी प्रकाशक हैं; अर्थात् अत्यन्त प्रतापी हैं। जिनका ऐश्वर्य देखकर इन्द्र सिहाते हैं; अर्थात् ललचाते हुए सराहना करते हैं। ऐसे तो जिनके श्वशुर हैं।

(४) 'प्रान नाथ रघुनाथ···'—'प्राननाथ'—इनके तो पति हैं और सबके भी प्राणों के स्वामी हैं ; यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिव···" (दो० २९०)।

'जो बड़ होत सो राम ··' ; यथा—"केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई।" (दो० १९२), "हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई। सोइ जानकी पति···" (वि० १३५); यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥" (गीता १०।४१)। तब इनकी महिमा की तो सीमा ही नहीं है, ऐसे जिनके पति हैं।

(५) 'पतिदेवता सुतीय मनि ···'—पति को इष्ट देवता माननेवाली स्त्रियाँ अरुंधती, अनसूया, पार्वती आदि प्रसिद्ध हैं, श्रीसीताजी उन सबों में शिरोमणि हैं, इस तरह स्वयं भी सब तरह श्रेष्ठ हैं; पिता, श्वशुर और पति ही के ऐश्वर्य-सम्बन्ध से इनकी बड़ाई नहीं है। वे भी कुश पल्लव की साथरी पर सोती हैं, यह देखकर तो हा-हा करके हृदय फट जाना चाहिये था। पर न फटा। अतः, हे हर! आप संहार-कर्ता देव हैं ; इसे विदीर्ण कर दें, यह 'हर' के सम्बोधन का तात्पर्य है

वज्र (हीरा) के विषय में कहा जाता है कि अनभिज्ञ दासी ने उसपर पैर रख दिया। तब वह न फूटा और उसके महत्त्व के जाननेवाले जौहरी ने जब उसपर पाँव रक्खा; अर्थात् उसका अपमान किया, तो वह घन की चोट सहनेवाला भी अपमान न सह सका, प्रत्युत् चूर्ण हो गया। पर मेरा हृदय इतनी ग्लानि पर भी न फटा, अतः, वज्र से भी अत्यंत कठिन है।

लालनजोग लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहि न होने ॥१॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रानपियारे ॥२॥
मृदुमूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ ॥३॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस येहि छाती ॥४॥

शब्दार्थ—दुलारे = प्रेम के कारण बच्चों या प्रेम-पात्रों को प्रसन्न करने के लिये उनके साथ अनेक प्रकार की चेष्टा करना, दुलारना है, लाड़-प्यार किये हुए।

अर्थ—सुन्दर छोटे (अतएव) दुलार करने के योग्य श्रीलक्ष्मणजी के समान भाई न हुआ, न है और न होनेवाला है ॥१॥ जो पुरवासियों के प्यारे, माता-पिता के दुलारे और श्रीसीतारामजी को प्राणों से प्रिय हैं ॥२॥ जिनका कोमल शरीर है और स्वभाव सुकुमार (नाजुक) है, जिनके शरीर में कभी गर्म हवा भी नहीं लगी, अर्थात् जो कभी बाहर नहीं निकले ॥३॥ वे ही श्रीलक्ष्मणजी वन में सब प्रकार की विपत्तियाँ सह रहे हैं। (हा !) इस मेरी छाती ने करोड़ों वज्रों का भी निरादर कर दिया (अन्यथा इसे यह समझकर फट जाना चाहता था) ॥४॥

विशेष—(१) 'लालनजोग लखन ···'—श्रीसीतारामजी की साथरी देखी, पर श्रीलक्ष्मणजी की वह भी नहीं देखी; इससे अधिक ग्लानि हुई कि ये रात-भर सोये भी नहीं, पहरा ही देते रहे; इसीसे उपर्युक्त 'पवि ते कठिन' की अपेक्षा यहाँ 'कोटि कुलिस' कहा है। 'लालन जोग' अर्थात् ये तो गोद में लेकर लाड़-प्यार करने के योग्य हैं, क्योंकि 'लघु' अर्थात् छोटे हैं, बच्चे हैं, इतना ही नहीं, किन्तु 'लोने' अर्थात् सुन्दर भी हैं। 'पुरजन प्रिय'—अनीति एवं अवगुण का लेश भी नहीं है, इससे पुरजनों को प्रिय हैं। (सौम्य स्वभाव से 'पितु मातु दुलारे' हैं।) अपनी भक्ति एवं आयप से श्रीसीतारामजी को प्राण-प्रिय हैं। यहाँ 'प्रिय' 'दुलारे' और 'प्रान पियारे' में उत्तरोत्तर अधिकता है। 'मृदु मूरति' अर्थात् ये तो सवारी पर ही चलने के योग्य हैं, वन के काँटे-कंकड़ पर पैदल के योग्य नहीं। 'सुकुमार सुभाऊ' हैं, इससे दुःख सुनने के भी योग्य नहीं हैं। यह भी नहीं है कि प्रथम से इन्हें ऐसा कष्ट सहने का अभ्यास रहा हो, किन्तु इन्हें तो कभी गर्म हवा भी नहीं लगी। सदा खस-गुलाब आदि-द्वारा त्रिविध वायु का ही सेवन करते थे। ये भी वन में भाई की विपत्ति बँटाने के लिये साथ हुए, सब तरह से सब प्रकार के दुःख झेल रहे हैं। 'येहि छाती'—अंगुल्या निर्देश करके कहा है।

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुनसागर ॥५॥
पुरजन परिजन गुरु पितु-माता। राम-सुभाव सबहि सुखदाता ॥६॥
बैरिउ रामबड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं ॥७॥
सारद कोटि कोटि सत सेखा। करि न सकहिं प्रभु-गुन-गन-लेखा ॥८॥

दोहा—सुखसरूप रघुबंस-मनि, मंगल - मोद - निधान ।
ते सोवत कुस डासि महि, बिधिगति अति बलवान ॥२००॥

अर्थ—श्रीरामजी ने जन्म लेकर संसार को प्रकाशित कर दिया। वे रूप, शील, सुख और सब गुणों के समुद्र हैं ॥४॥ पुरवासी, कुटुंबी, गुरु, पिता और माता, सभी को श्रीरामजी का स्वभाव सुख देनेवाला है ॥६॥ शत्रु भी श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं, उनकी बोली, मिलने की रीति और विशेष नम्रता आदि मन को हर लेती है ॥७॥ करोड़ों सरस्वती और करोड़ों शेष भी प्रभु के गुण-समूहों का लेखा (गणना) यदि करना चाहें तो नहीं कर सकते (तो मैं कैसे कहूँ ?) ॥८॥ जो सुख के स्वरूप, मंगल और आनंद के कोश एवं रघुकुल के शिरोमणि हैं, वे पृथिवी पर कुश बिछाकर सोते हैं, ब्रह्मा की चाल अत्यंत बलवती है ॥२००॥

विशेष—(१) 'रूप सील सुख सब गुनसागर।'; यथा—"चारित सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७); 'रूप'; यथा—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जिन्ह देखा॥" (बा० दो० १९८); 'सील'—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू॥" (दो० २४२); 'सुख'—"तात कुसल कहु सुख निधान की।" (लं० दो० ५८); 'गुन'—"गुनसागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०)। गुणों का वर्णन वाल्मी० अ० २ स० २६ में विस्तार से है। रूप पर विश्वामित्रजी, श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं खर-दूषण आदि भी मोहित हो गये। रूप आदि में श्रीरामजी जगत्-भर में आदर्श हुए।

(२) 'पुरजन परिजन गुरु···'—पुरवासियों पर श्रीरामजी की ममता है; यथा—"बंदउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी॥" (बा० दो० १५); श्रीमुख वचन है—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३); सेवा एवं शील-स्वभाव से आपने गुरुजनों को वश कर रक्खा है, इत्यादि गुणों से आप सबको सुखद हैं।

यह भी आशय है कि श्रीरामजी से प्रजा, कुटुम्बी आदि का कोई भी नाता कर लिया जाय तो आप सब प्रकार से सुखदाता होंगे, ऐसा स्वभाव ही है। कहा भी है—"उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं० दो० ३४)।

(३) 'बैरिउ रामबड़ाई करहीं'—जैसे कि खर-दूषण, शूर्पणखा और मारीच ने बड़ाई की है। 'बोलनि मिलनि बिनय··'—'बोलनि'; यथा—"सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं॥" (क० अ० २३); "भाई सों करत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं॥" (गी० बा० ७१); विभीषण से बोलनि; यथा—"कहु लंकेस सहित परिवारा।···" (सुं० दो० ४५); श्रीहनुमानजी से मिलनि; यथा—"तब रघुपति उठाय उर लावा।··" (कि० दो० २); विनय, अत्रि और श्रीपरशुरामजी से; यथा—"संतत मोपर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेउ जनि नेहू॥" (आ० दो० ५); "बिनय सील करुना गुनसागर।··" (बा० दो० २८४)। अंगदजी के प्रति भी कहा है—"राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥" (उ० दो० १८)। इन बोलनि आदि की कथा भी मन को हरनेवाली है।

(४) 'सारद कोटि कोटि सत···'—ऊपर कुछ गुण गिनाये गये, यहाँ कहते हैं कि इतना ही नहीं, किन्तु गुण तो अनन्त हैं।

(५) 'सुखसरूप रघुबंस मनि ...'—सुख स्वरूप कहकर बाहर का सुख और मंगल-मोद-निधान कहकर भीतर का सुख कहा। ये सुख के रूप ही हैं, तभी तो ध्यान में भी पाकर श्रीशिवजी ने ८७ हजार वर्ष तक आँख ही न खोली थी। श्रीजनकजी के प्रति भी कहा है—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के से लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं ॥" (गी० बा० ८२)।

(६) 'ते सोवत कुस डासि ...बिधिगति ...'—प्रेम की व्याकुलता में ऐश्वर्य विस्मृत हो गया है, इससे इनपर भी विधि-गति कहते हैं। इस प्रसंग पर वाल्मी० अ० स० ८८ में इसी तरह बहुत कहा है; यथा—"न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन बलवत्तरम्" इत्यादि।

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ ॥१॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती ॥२॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद-मूल फल-फूल अहारी ॥३॥
धिग कैकई अमंगल-मूला। भइसि प्रान-प्रियतम-प्रतिकूला ॥४॥
मैं धिगधिग अघ उदधि अभागी। सब उतपात भयेउ जेहि लागी ॥५॥
कुल-कलंक करि सृजेउ बिधाता। साइँ-द्रोह मोहि कीन्ह कुमाता ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने कानों से भी कभी दुःख (का नाम) न सुना था (देखना और भोगना तो दूर की बात है) अपने जीवन-वृक्ष की तरह राजा उनका सार-सँभार करते थे ॥१॥ जिस तरह पलक नेत्र की और सर्प मणि की रक्षा करते हैं, वैसे ही सब माताएँ दिन-रात उनका सार-सँभार करती थीं ॥२॥ वे ही श्रीरामजी अब जंगलों में पैदल फिर रहे हैं और कंद मूल-फल-फूल भोजन करते हैं ॥३॥ अमंगल की जड़ कैकेयी को धिक्कार है कि प्राणप्यारे स्वामी के प्रतिकूल हुई ॥४॥ मुझ पाप के समुद्र और अभागे को धिक्कार है—धिक्कार है कि जिसके निमित्त सारे उपद्रव हुए ॥५॥ ब्रह्मा ने मुझे कुल का कलंक रूप पैदा किया और कुमाता कैकेयी ने मुझे स्वामि-द्रोही बनाया ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सुना दुख कान न काऊ।'; यथा—"करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ॥" (दो० ५९)। 'जीवन तरु जिमि ...'—एक संजीवनी जड़ी है, वह जिसके पास रहे, उसके प्राणों की रक्षा करती है। अतः, वह जिसके पास हो, वह उसकी बड़े प्रेम से रक्षा एवं पोषण करता है। वैसे ही राजा श्रीरामजी की रक्षा और उनका पोषण करते थे। (जीवन तरु की तरह श्रीरामजी ने भी उनके सत्य की रक्षा करके कीर्ति-रूप से उन्हें अमर कर दिया; यह सत्य ही है) भारत की यह कथा भी सुनी जाती है कि एक जीवन वृक्ष होता है, जो उसे उखाड़े, उसकी मृत्यु हो जाय। यह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि राजा ने प्रतिज्ञा के वश श्रीरामजी को वन भेजा और उसीसे उनकी मृत्यु हुई।

(२) 'पलक नयन फनि मनि ...'—पलकें दिन-भर नेत्र-गोलक की रक्षा करती रहती हैं कि धूल, तृण आदि न पड़ने पावें, वैसे ही सब (सात सौ) माताएँ इनकी बलैया लेती हैं, जैसे पलकें तृण आदि को अपने ऊपर लेती हैं। सर्प को मणि के प्रकाश का आनंद रात में रहता है। वह उसके प्रकाश में कार्य साधता और उसकी रक्षा करता है। वैसे ही माताएँ रात में भी श्रीरामजी के ल... आनंद लेती हैं, गुण गातीं और रक्षा करती हैं, इस तरह निरंतर रक्षा करना सूचित किया।

(३) 'मैं धिग धिग अघ ...'—प्रथम कैकेयी को धिक्कार दिया, फिर विचारा कि इसने सब अनर्थ मेरे लिये ही किया, अतएव अपनेको बार-बार धिक्कार के उद्देश्य से दो बार कहा ; यथा—"हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥" (वाल्मी० २।८८।१७) ; पुनः उपर्युक्त 'विधिगति अति बलवान' के अनुसार विधाता को भी कहते हैं कि उसने ही मुझ कुल-कलंक को पैदा किया; अन्यथा कैकेयी बाँझ होती तो वह किसके लिये यह अनर्थ करती। फिर अपने स्वामि-विमुख बनाये जाने की प्रत्यक्ष कारण-रूपा कैकेयी पर चित्त-वृत्ति गई, तब कहने लगे—'साइँ द्रोह मोहि कीन्ह कुमाता।'

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिय कत बादि बिषादू॥७॥
राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि। यह निरजोस दोष बिधि बामहिं॥८॥

छंद—बिधि बाम की करनी कठिन जेहिं मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि-पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी।
तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहत हौं सौहैं किये।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिये धीरज हिये॥

सोरठा—अंतरजामी राम, सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिय करिय बिश्राम, यह बिचारि दृढ़ आनि मन॥२०१॥

शब्दार्थ—निरजोस (निर्योस)= निचोड़, निर्यास, सिद्धान्त, निश्चय ; यथा—"सुमु-सिखावन मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोस, राम नाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोस (वि० १५६)।

अर्थ—यह सुनकर निषाद-राज प्रेम के साथ समझा रहे हैं कि हे नाथ! आप व्यर्थ दुःख क्यों कर रहे हैं॥७॥ श्रीरामजी आपको प्यारे हैं और उन्हें आप प्रिय हैं, यह निश्चय है और निश्चय ही कुटिल ब्रह्मा का दोष है॥८॥ कुटिल ब्रह्मा की करनी कठिन है कि जिसने माता कैकेयी को बावली कर दिया। उस रात को प्रभु बार-बार आदर के साथ आपकी प्रशंसा करते रहे॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि निषादराज कहते हैं) कि आपके समान श्रीरामजी का अत्यन्त प्यारा दूसरा नहीं है, यह मैं सौगंधें करके कहता हूँ। परिणाम (अंत) में मंगल होगा ; यह जानकर अपने हृदय में धैर्य लाइये॥ श्रीरामजी अंतर्यामी, प्रेम-पूर्ण संकोच और कृपा के स्थान हैं, यह निश्चय कर और उसे अपने मन में पक्का करके चलिये और विश्राम कीजिये॥२०१॥

विशेष—(१) 'सुनि सप्रेम समुझाव निषादू।'—श्रीभरतजी की अत्यन्त व्याकुलता देखकर निषाद (हिंसक एवं कठोर हृदय की) जातिवाले को भी प्रेम उमड़ा और वह भक्त-श्रेष्ठ एवं उच्च कुल श्रीभरतजी को समझाने लगा—अत्यन्त प्रेम में मर्यादा पर दृष्टि न रही।

(२) 'बिधि बाम की करनी...'—कैकेयीजी को पहले श्रीरामजी अत्यन्त प्रिय थे ; यथा—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (दो० १४), सहसा उसकी मति बदल गई। अतः, यह ब्रह्माजी की ही

कुटिलता है। जैसे कि राजा परीक्षित ने कलि की प्रेरणा से ऋषि के गले में मृतक सर्प लपेट दिया ; पर यह दोष उनका नहीं कहा जाता। पहले यह किसी के भी चित्त में नहीं था कि कैकेयीजी ऐसा करेंगी। कहा भी है—"असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्त्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत् ॥" (वाल्मी० २।२२।२४) ; अर्थात् प्रयत्नों के द्वारा प्रारंभ किये हुए कामों को रोककर जो अनचाहा काम—अनायास ही हो जाता है, वह दैव का काम है। यहाँ प्रयत्न से श्रीराम-राज्याभिषेक की तैयारी हुई। वह रुककर उसके विरुद्ध वनवास हुआ। इससे निषाद-राज ने ब्रह्मा (दैव) की कुटिलता कही है (सूक्ष्म विचार से ब्रह्मा के कार्य जीवों के कर्मानुसार ही होते हैं। अतः, उनका भी दोष नहीं है, पर सामान्य दृष्टि से कहा जाता है, जैसे कि अमुक न्यायाधीश ने अमुक को दंड दिया।)।

यहाँ पर कोई-कोई 'विधि बाम' से सरस्वती का गुप्तार्थ भी निकालते हैं और भरद्वाज के वचन—'गई गिरा मति धूति' (दो० २०६) ; का प्रमाण देते हैं ; पर यह त्रिकालज्ञमुनि में ही युक्त है, निषाद में यह ज्ञातृत्व ठीक नहीं जान पड़ता।

(३) 'तेहि राति पुनि-पुनि ······'—जिस रात में यहाँ ठहरे थे। 'सादर' अर्थात् मुँह-देखी एवं किसी की प्रेरणा से नहीं, किन्तु स्वयं प्रेम-पूर्वक और आपके परोक्ष में। 'पुनि-पुनि'—बार-बार कहते हुए सारी रात बीत गई। 'सौंहैं'—श्रीभरतजी व्याकुल हैं। अतः, उनका विश्वास दृढ़ करने के लिये बहुत-सी शपथें कीं, क्योंकि 'सौंहैं' बहुवचन है।

(४) 'परिनाम मंगल जानि······'—अर्थात् अंत में आपका मंगल होगा। श्रीरामजी मिलेंगे और आपके दुःख दूर होंगे। कलंक एवं अपयश की गंध भी न रहेगी ; यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहि न दोष देव दिसि भूले ॥" (दो० २६६)।

(५) 'अंतरजामी राम, सकुच······'—अंतर्यामी हैं, इससे आपके हृदय की शुद्धता और प्रीति को जानते हैं। प्रेमपूर्ण हैं अतएव प्रेम करेंगे। संकोची हैं, अतएव दोष हो भी, तो दृष्टि नहीं देते हैं। कृपायतन हैं, अतएव कोई उनका अपराध भी करे, तो सम्मुख होने पर कृपा ही करते हैं। अतः, आप किसी तरह की चिंता न करें।

सखा-बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा ॥१॥
यह सुधि पाइ नगर-नर-नारी। चले बिलोकन आरत भारी ॥२॥
परदखिना करि करहिं प्रनामा। देहिं कैकइहि खोरि निकामा ॥३॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहि दूषन देहीं ॥४॥
एक सराहहिं भरत - सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू ॥५॥
निंदहिं आप सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि ॥६॥
येहि बिधि राति लोग सब जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा ॥७॥
गुरहि सुनाव चढ़ाइ सुहाईं। नई - नाव सब मातु चढ़ाईं ॥८॥
दंड चारि महँ भा सब पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा ॥९॥

दोहा—प्रातक्रिया करि मातुपद, बंदि गुरुहि सिर नाइ।
आगे किये निषादगन, दीन्हेउ कटक चलाइ ॥२०२॥

शब्दार्थ—निकाम=बहुत ; यथा—"निकाम श्याम सुंदरं···" (आ० दो० ३)। बिमोह=चित्त की विशेष विकलता, 'मुह वैचित्ये' धातु से मोह शब्द बना है। गुदारा (फा० गुजारा)=चलाचली, उतराई होने लगी।

अर्थ—सखा के वचन सुन हृदय में धैर्य धारणकर रघुबीर श्रीरामजी का स्मरण करते हुए निवास-स्थान को चले ॥१॥ नगर (अयोध्या) के स्त्री-पुरुष यह समाचार पाकर (कि श्रीभरतजी राम-शय्या देखने गये हैं), बड़े आर्त्त (दुखी एवं आतुर) होकर देखने चले ॥२॥ प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके प्रणाम करते हैं और कैकेयी को बहुत दोष देते हैं ॥३॥ आँखों में आँसू भर-भर लेते हैं और प्रतिकूल ब्रह्मा को दोष देते हैं ॥४॥ कोई श्रीभरतजी के स्नेह की बड़ाई करते हैं, कोई कहते हैं कि राजा ने अपना प्रेम अच्छा निबाहा ॥५॥ निषाद की सराहना करके अपनी निन्दा करते हैं। उस विमोह और दुःख को कौन कह सकता है ? (अर्थात् इतना ही बहुत है, कहा नहीं जाता) ॥६॥ इस तरह सब लोग रात भर जगे, सवेरा होते ही उतराई होने लगी ॥७॥ गुरुजी को सुन्दर नाव पर चढ़ाकर नवीन नाव पर सब माताओं को चढ़ाया ॥८॥ चार दंड में सब पार उतर गये। तब श्रीभरतजी ने उतरकर सबकी सँभाल (देख-भाल) की (कि सब लोग और उनके सामान आ गये या नहीं) ॥८॥ प्रातःकाल की स्नान आदि क्रिया कर माता के चरणों की वंदना कर गुरुजी को शिर नवा निषाद-लोगों को (मार्ग बतलाने के लिये) आगे करके सेना को चला दिया ॥२०२॥

विशेष—(१) 'सखा-बचन सुनि···'—सख्यत्व (मित्रता) में प्रतीति करना मुख्य है ; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की·" (वि० २६८); यहाँ श्रीभरतजी ने उसके वचन पर विश्वास किया ; इसीसे 'सखा-बचन' कहा गया।

(२) 'एक सराहहिं भरत···'—उपासक स्नेह को सराहते हैं, धर्मात्मा लोग सत्य-धर्म-निष्ठ राजा की सराहना करते हैं कि राजा ने धर्म रखते हुए प्रेम-प्रण का भी निर्वाह कर दिखाया। कर्म-कांडी कर्म की विषमता को लेते हुए विधाता को दोष देते हैं। 'निंदहिं आपु···'—जो श्रीरामजी ने हमलोगों को त्यागा और इसे स्वीकार किया, तो यह धन्य है। 'गुरुहि सुनाव'—सम्मान के लिये गुरुजी और माताओं के लिये सुन्दर-सुन्दर नावें सजाकर लाये। 'दंड चारि महँ···'—श्रीवाल्मीकिजी ५०० नावों का होना लिखते हैं; यथा—"पञ्चनावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥ अन्याः स्वस्तिक विज्ञेया···" (२।८९।१०-११); इसीसे चार दंड (दो घड़ी) ही में इतनी भारी सेना उतर गई ; यथा—"मैत्रे मुहूर्त्ते प्रययौ प्रयागवन-मुत्तमम् ॥" (वाल्मी० २।८९।२०); अर्थात् सेना सूर्योदय से तीसरे मुहूर्त्त (मैत्र) में प्रयाग के लिये चली। 'सबहि सँभारा' ; यथा—"भरत सोध सब ही कर लीन्हा।" (दो० १८७); यह पूर्व कहा गया।

(३) 'प्रात क्रिया करि···'—सरस्वती नदी के अतिरिक्त और सब नदियों से यदि पार जाना हो, तो उस पार जाकर ही स्नान करना चाहिये। इसीसे इस पार आकर स्नानादि नियम किये। 'आगे किये निषाद गन···'—इसलिये कि ये रास्ता बतलाते और सुधारते हुए लिवा ले चलेंगे।

कियेउ निषादनाथ अगुआई। मातु-पालकी सकल चलाई ॥१॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। विप्रन्ह सहित गवन गुरु कीन्हा ॥२॥

आप सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लखन सहित सियरामू ॥३॥
गवने भरत पयादेहि पाये। कोतल संग जाहिं डोरियाये ॥४॥

शब्दार्थ—अगुआई = अगुआ किया, 'ई' वर्ण छन्दानुरोध से बढ़ा दिया गया है। कोतल = सजा हुआ बिना सवार का घोड़ा, जो आवश्यकता के लिये साथ रहता है।

अर्थ—निषाद-राज को अगुआ किया और सब माताओं की पालकियाँ चलाईं ॥१॥ छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को बुलाकर साथ कर दिया। ब्राह्मणों के साथ गुरुजी चले ॥२॥ तब आप (श्रीभरतजी) ने गंगाजी को प्रणाम किया और श्रीलक्ष्मणजी-समेत श्रीरामजी का स्मरण किया ॥३॥ श्रीभरतजी पैदल ही चले, साथ में कोतल (खाली) घोड़े डोरियाये हुए आ रहे हैं; अर्थात् नौकर-लोग बागडोर पकड़े उन्हें लिये जा रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कियेउ निषादनाथ'''साथ बोलाइ'''—श्रीअवध से चलने का क्रम यह था—प्रथम गुरु, तब विप्र, पुरवासी, माताएँ और पीछे श्रीभरतजी चले थे। यहाँ से वन का बीहड़ मार्ग है—ऐसा प्रकट में कहकर क्रम बदल रहे हैं। कारण यह है कि यहाँ से श्रीरामजी पैदल गये हैं। श्रीभरतजी ने विचारा कि मैं यदि सवारी पर चलता हूँ तो सेवक धर्म के विरुद्ध होगा। यदि माताएँ पीछे रहीं तो ये सवारी पर चढ़ने की हठ करेंगी। फिर इनकी आज्ञा के पालन का भी धर्म-संकट आ पड़ेगा। पुरवासी भी उतर पड़ेंगे। ये सब शोक से दुर्बल हैं। पैदल चलने में कष्ट झेलेंगे, यह भी मुझे असह्य होगा। इसलिये पहले सेना चलाकर फिर निषाद-राज को आगे करके उनके साथ माताओं की पालकियाँ कर दीं कि वे इनकी देखभाल रक्खें। तब गुरु और विप्रवृन्द चले। उनके साथ शत्रुघ्नजी को कर दिया कि ये आज्ञाकारी हैं; इन सबकी सेवा में सन्नद्ध रहेंगे। फिर भी ऐसा न हो कि मेरे पैदल आने की सम्भावना से आगे के लोग मेरे लिये रुक जायँ। इसलिये साथ में अपनी सवारी का घोड़ा रख लिया कि हम पीछे से शीघ्र आ जायँगे।

(२) 'आप सुरसरिहि'''—तीर्थ पर से चल रहे हैं। इसलिये प्रणाम करके चले और प्रस्थान के समय परिकर सहित इष्ट का स्मरण करना भी चाहिये; यह भी भाव है कि गंगाजी कुल की पुरखिनि हैं; क्योंकि भगीरथ-नंदिनी हैं। इससे श्रीरामजी से प्रथम स्मरण इनका किया कि ये शीघ्र स्वामी के दर्शन करावें।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइय नाथ अश्व असवारा ॥५॥
राम पयादेहि पाय सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ॥६॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवकधरम कठोरा ॥७॥
देखि भरतगति सुनि मृदुबानी। सब सेवकगन गरहिं गलानी ॥८॥

दोहा—भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रवेस प्रयाग।
कहत राम-सिय राम-सिय, उमगि उमगि अनुराग ॥२०३॥

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज-कोस ओस-कन जैसे ॥१॥
भरत पयादेहि आये आजू। भयेउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥२॥

शब्दार्थ—झलका = चलने अथवा रगड़ लगने आदि से देह में पड़ा हुआ छाला, फफोला। झलकना = चमकना, दिखाई पड़ना। कोस (कोश) = संपुट, समूह।

अर्थ—अच्छे सेवक बार-बार कहते हैं कि हे नाथ! घोड़े पर सवार होइये ॥५॥ (श्रीभरतजी कहते हैं कि श्रीरामजी तो पैदल पाँव से गये हैं और हमारे लिये रथ, हाथी और घोड़े बनाये गये हैं। ॥६॥ मुझे तो उचित है कि (जिस मार्ग से स्वामी पैर से गये उसपर पैर न देकर) मैं शिर के बल जाऊँ, क्योंकि सेवक-धर्म सब धर्मों से कठिन है ॥७॥ श्रीभरतजी की दशा देखकर और उनकी कोमल वाणी सुनकर सब सेवक लोग ग्लानि से गले जाते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी ने तीसरे पहर (दिन में दोपहर के पीछे) प्रयाग में प्रवेश किया। प्रेम में उमड़-उमड़कर 'रामसिय-रामसिय' (श्रीसीताराम-श्रीसीताराम) कहते जाते हैं ॥२०३॥ चरणों में फफोले कैसे झलक रहे हैं जैसे कमल के कोश में ओस के कण झलकते हों ॥१॥ श्रीभरतजी आज पैदल ही आये हैं ; यह सुनकर सब समाज दुखी हुआ ॥२॥

विशेष—(१) 'कहहिं सुसेवक बारहिं बारा।'''—गंगाजी के तट से कुछ दूर तक तो कोतल डोरियाये ही आये ; क्योंकि सेवकों ने समझा था कि गंगाजी के सामने सवारी पर न चढ़ेंगे। फिर कहने पर दो एक बार न बोले, तब बार-बार कहा। यही उत्तम सेवक का धर्म है। इसीसे वे 'सुसेवक' कहे गये।

(२) 'राम पयादेहिं पाय'''—भाव यह कि स्वामी तो इसी मार्ग से पैरों से गये, तब तुम सब कहाँ थे? हमारे लिये घोड़े सजा लाये हो। क्या यह उचित है कि उसी मार्ग पर हम पैरों से चलें? उचित तो यह है कि मैं शिर के बल जाऊँ, जिससे स्वामी की चरण-रज मेरे मस्तक पर चढ़ती जाय।

(३) 'सब ते सेवक-धर्म कठोरा'—अन्य धर्मों की अपेक्षा सेवक-धर्म बड़ा कठिन है ; यथा—"मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा, धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः। क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्य ॥" (भर्तृहरिशतक); अर्थात् मौन रहे तो गूँगा ; वाक्चतुर होने से खुशामदी और बकवादी। पास रहे तो ढीठ, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमा से डरपोक, न सहे तो अकुलीन कहाता है। अतएव सेवाधर्म बड़ा कठिन है ; योगियों को भी अगम्य है।

(४) 'सब सेवकगन गरहिं'''—ग्लानि यह है कि ऐसा उत्तम सेवक-धर्म हमलोगों में कहाँ है? चाहिये तो ऐसा ही। यह भी सोचते हैं कि ये हमारे स्वामी हैं। शिर के बल चलना कहते हैं। तो हम किस तरह चलना कहें, इत्यादि।

(५) 'भरत तीसरे पहर कहँ'''—सब लोग सवारी पर आये। इससे वे दोपहर तक में ही पहुँच गये। श्रीभरतजी पैदल आये। इससे उन सबके नहा चुकने पर तीसरे पहर पहुँचे। यह 'खबरि लीन्ह सब लोग नहाये।' से सिद्ध है।

(६) 'राम-सिय'—यद्यपि 'सीताराम' कहने की विधि है तथापि ये 'राम-सिय' यह उलटा कहते हैं ; क्योंकि प्रेम में नियम निर्वाह नहीं भी होता। श्रीभरतजी का नाम-स्मरण का अभ्यास सदा का ही है ; पर यहाँ लिखने का हेतु यह है कि तीर्थ-यात्रा में बराबर नाम जपते हुए चलना चाहिये।

(७) 'पंकज-कोस ओस···'—चरण कमल-कोश, छाले ओस कण हैं, छालों में जल रहता ही है।

कमल दल ओस कणों से अलिप्त रहते हैं, वैसे श्रीभरतजी के चरणों में छालों की वेदना का भान नहीं है ; क्योंकि मन तो श्रीरामजी में है, तो दुःख की स्मृति कौन करे ? यथा—"सत्त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याऽऽह्लादसंस्थितः॥" यह प्रह्लादजी के विषय में कहा गया है।

(८) 'भयेउ दुखित सुनि···'—दुःख एक तो श्रीभरतजी के पैदल आने के कष्ट का, दूसरा अपनी-अपनी भूल का हुआ कि हमलोगों को भी उस मार्ग पर पैदल ही आना था।

खबरि लीन्ह सब लोग नहाये। कीन्ह प्रनाम त्रिबेनिहिं आये॥३॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने॥४॥
देखत स्यामल-धवल-हिलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥५॥
सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेदबिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥६॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥७॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचकबानी॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने जाँच की कि सब लोग स्नान कर चुके, तब त्रिवेणी पर आकर उन्होंने प्रणाम किया॥३॥ विधिपूर्वक श्वेत और श्याम जल में अर्थात् गंगा-यमुना के संगम पर स्नान किया और ब्राह्मणों को दान देकर उनका सम्मान किया॥४॥ श्याम और श्वेत लहरों को देखते ही श्रीभरतजी का शरीर पुलकित हो गया, उन्होंने हाथ जोड़ लिया (और बोले कि) हे तीर्थराज ! आप सबकी सब कामनाओं को पूरा करनेवाले हैं, आपका प्रभाव वेद में विख्यात है और जगत् जानता है॥५-६॥ अपना धर्म त्यागकर मैं भिक्षा माँगता हूँ, आर्त्त क्या कुकर्म नहीं करता ? अर्थात् विवशता में उसे सभी कुकर्म करने ही पड़ते हैं॥७॥ ऐसा जी में जानकर सुजान श्रेष्ठ दानी संसार में याचकों की वाणी सफल करते हैं (अतः, आप भी मेरी याचना सफल करें)॥

विशेष—(१) 'सबिधि सितासित नीर···'—स्नान की विधि प्रयाग-माहात्म्य में दी गई है। वह माहात्म्य सुनकर तदनुसार स्नान किया। त्रिवेणी में सरस्वती का लाल रंग का भी जल है, पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से देख नहीं पड़ता ; इसीसे दो ही रंग कहे गये। आगे अर्द्धाली में स्पष्ट रूप में श्याम-गौर जोड़ी के ध्यान उद्दीपन से प्रयोजन भी कहा है।

'सितासित' से शीत-अशीत अर्थात् ठंढा और गर्म का भी अर्थ लेकर कहा जाता है कि यहाँ नहाने में त्वचा के स्पर्श-धर्म से प्रयोजन है और दोनों नदियों के जल में एक ठंढा और दूसरा गर्म रहता है। आज दिन भी वर्षा में जब दोनों जल एकरंग हो जाते हैं, तब मर्मी महात्मा लोग संगम की पहचान ठंढे-गरम के अनुभव से करके संगम-स्नान करते हैं। आगे-'स्यामल धवल' में रंग के ज्ञान तात्पर्य है, इसीसे वहाँ 'देखत' क्रिया नेत्र-विषयक दी गई है।

(२) 'पुलकि सरीर'—रंग के द्वारा श्याम-गौर जोड़ी श्रीसीतारामजी एवं श्रीराम-लक्ष्मणजी का उद्दीपन होने से पुलकावली हो आई। तीर्थ की भक्ति से भी पुलकावली होनी ही चाहिये; यथा—"मज्जहिं अति अनुराग" (बा० दो० २)।

(३) 'सकल कामप्रद तीरथराऊ'; यथा—"चारि पदारथ भरा भँडारू।···सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।" (दो० १०५); 'वेद बिदित'; यथा—"बंदौ वेद-पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम॥" (दो० १०५)। 'जग प्रकट प्रभाऊ'; यथा—"देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥" (बा० दो० १)।

(४) 'माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू।'—यहाँ श्रीभरतजी वर्ण-धर्म को निज धर्म कहते हैं। दान क्षत्रियों का स्वाभाविक-धर्म है। भिक्षा माँगना एवं याचक बनना, उसके विरुद्ध होने से उनके लिये कुकर्म है—गीता १८।४३ देखिये। निज-धर्म या स्वाभाविक धर्म सामान्य धर्म की संज्ञा से कहा जाता है और भगवद्भक्ति विशेष धर्म है; अतः, उसके लिये जो कोई निज-धर्म छोड़ता है, उसके दोष को भगवान् छुड़ा देते हैं; यथा—"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता० १८।६६)। यहाँ याचक बनकर भीख माँगने मात्र को कुकर्म कहा है; क्योंकि यह क्षत्रियों के लिये गर्हित है। यदि कहा जाय कि शृंगबेरपुर में भी तो इन्होंने वर माँगा ही है तो उत्तर यह है कि देवता से वर माँगना और बात है, यह क्षत्रिय प्रतापभानु आदि ने भी माँगा है, पर भिक्षुक बनकर भीख माँगना और फिर राजा (तीर्थराज) से राज-पुत्र के माँगने का यहाँ माधुर्य प्रसंग है और वहाँ 'मुदित ब्रह्ममय बारि' का ऐश्वर्य प्रसंग था।

'आरत काह न करइ···'; यथा—"अति आरत, अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी॥" (वि० ३४)।

(५) 'अस जिय जानि···'–आप सुजान हैं, अतएव मन की बात जान लेंगे; यथा–"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (दो० ३१३); और 'सुदानी' हैं; अतः, इच्छानुसार देंगे।

दोहा—अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥२०४॥

जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु-साहिब द्रोही॥१॥
सीताराम-चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥२॥
जलद-जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पवि-पाहन डारउ॥३॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥४॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे॥५॥

शब्दार्थ—बान (वर्ण) = रंग, आभा कान्ति।

अर्थ—मुझे न अर्थ (द्रव्यादि) की, न धर्म की, न काम की रुचि है और न मोक्ष ही चाहता हूँ, 'जन्म-जन्म श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हो' यही वरदान चाहता हूँ, दूसरा नहीं॥२०४॥ श्रीरामजी मुझे कुटिल करके भले ही जानें, लोग भी मुझे गुरु और स्वामी का द्रोही (क्यों न) कहें॥१॥ पर

मुझमें श्रीसीतारामजी के चरणों की प्रीति आपकी कृपा से दिनों दिन बढ़ती जाय ॥२॥ (मैं ऐसा चाहता हूँ कि जैसे चातक की) सुधि मेघ चाहे जन्म-भर भुला दे, जल माँगने पर चाहे वह वज्र और हिमोपल (ओले, पत्थर) गिरावे ॥३॥ पर चातक की रटन घटने से उसकी (प्रतिष्ठा) घट जायगी; सबकी दृष्टि से वह उतर जायगा, प्रेम बढ़ने से ही उसको सब तरह भलाई है ॥४॥ जैसे] तपाने से सोने की कान्ति बढ़ती है, वैसे ही परम प्यारे स्वामी के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से (सेवक की प्रतिष्ठा बढ़ती है) ॥४॥

विशेष—(१) 'अरथ न धरम न'''—श्रीभरतजी चारों पदार्थों को छोड़कर केवल श्रीराम-पद-प्रेम माँगते हैं, 'न आन' शब्द 'यह वरदान' पद पर विशेष जोर देने के लिये हैं, क्योंकि चारों फलों के त्याग में और सब त्याग तो आ ही गये। भक्ति करके कुछ भी चाहने से वह अभीष्ट वस्तु फलरूपा और भक्ति एवं इष्ट उसके साधन हो जाते हैं और वह भक्ति एक प्रकार के वाणिज्य में परिणत हो जाती है। कहा भी है—"यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः॥ अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः॥ नान्यथेहावयोर्थो राजसेवकयोरिव॥ यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥" (भाग० स्कं० ७ अ० १०।४-७); अर्थात् नृसिंह भगवान् ने प्रह्लादजी से वर माँगने के लिये कहा। उसपर वे कहते हैं कि जो आपसे वर (वैभव) की आशा रखता हो, वह भृत्य ही नहीं है और सेवक पर अपना स्वामित्व जमाने के लिये वैभव देने की इच्छावाला स्वामी ही नहीं है। मैं आपका निष्काम-भक्त हूँ और आप मेरे निष्काम स्वामी हैं। राजा और उसके सेवक का-सा (अर्थापेक्षी) सम्बन्ध मेरा और आपका कभी न हो। यदि आप मुझे काम-पूरक वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे हृदय में कोई भी कामना अंकुरित न हो।

श्रीभरतजी का भाव प्रह्लादजी के समान तो दोहेमात्र में आ गया। अब ये आगे बढ़ते हैं—

(२) 'जानहु राम कुटिल''' अर्थात् उपर्युक्त भक्ति मैं इस अभिप्राय से नहीं माँगता हूँ कि इससे मुझपर श्रीरामजी प्रसन्न हों और लोग मेरी बड़ाई करें, प्रत्युत् श्रीरामजी मुझे कुटिल जानें और लोग भी 'गुरु-साहिब द्रोही' कहकर मेरी निन्दा करें। ('गुरु' शब्द में पिता, माता, गुरु सभी आ सकते हैं, 'साहिब' से इष्टदेव श्रीरामजी का अर्थ है) कि इसने गुरुजनों की आज्ञा नहीं मानी, इत्यादि। भाव यह कि मेरा एकांगी प्रेम हो।

(३) 'सीताराम चरन-रति'''—ऊपर केवल छन्दानुरोध से 'राम' मात्र नाम लिखा गया था, यहाँ स्पष्ट किया कि युगल रूप में प्रेम हो और वह आपकी कृपा से दिनों दिन बढ़ता जाय। इसे ही आगे प्रेमियों के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

(४) 'जलद जनम भरि'''—उपर्युक्त बातों पर संदेह हो सकता है कि ऐसा कैसे होगा कि तुम प्रेम करोगे और श्रीरामजी तुम्हें कुटिल जानेंगे। उसपर कहते हैं कि चातक मेघ से प्रेम करता है, स्वाती का जल बूँद-भर चाहता है, पर मेघ उसपर वज्र-पत्थर गिराता है, तो भी वह प्रेम कम नहीं करता, रट लगाये ही रहता है। वैसे ही यहाँ मेघ की सुधि बिसारने की तरह श्रीरामजी का मुझे कुटिल जानकर उपेक्षा करना है और लोगों का मुझे 'गुरु-द्रोही' कहना वज्र गिराना और 'साहिब-द्रोही' कहना पाहन बरसाना है। जैसे मेघ की उपेक्षा एवं उसके 'पवि-पाहन' डालने से यदि चातक रटन कम कर दे तो वह प्रेम का आदर्श न रह जायगा। भाव यह कि मैं घटनेवाला प्रेम नहीं चाहता, मेरा प्रेम तो दिनोंदिन बढ़ता ही जाय, इसी में मेरी भलाई है।

(५) 'कनकहि बान चढ़े'''—सोना जैसे-जैसे अग्नि में तपाया जाता है, वैसे-वैसे उसमें दीप्ति बढ़ती है, वैसे ही प्रियतम के प्रेम-निर्वाह में जितना ही कष्ट सह-सहकर प्रेम-निर्वाह किया जाय उतनी ही अधिक शोभा है और इसीमें सच्चे प्रेमी की पहचान होती है।

किसी-किसी के मत में चौ० ३, ४, ५ के वचन ग्रन्थकर्त्ता के हैं, श्रीभरतजी की प्रशंसा के रूप में कहे गये हैं; पर मेरी तुच्छ समझ में तो उपर्युक्त ही यथार्थ अर्थ है। श्रीभरतजी के मुख से भक्ति का यथार्थ-स्वरूप कहा गया है। भरद्वाजजी ने भी इन्हें भक्ति-रस का आचार्य माना है; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेसु॥" (दो० २०८)।

भरतबचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदुबानि सुमंगल - देनी॥६॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम - चरन - अनुराग - अगाधू॥७॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं॥८॥

दोहा—तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि - बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहिं फूल॥२०५॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर त्रिवेणी के मध्य (जल धारा में) सुन्दर मंगल देनेवाली कोमल वाणी हुई॥६॥ हे तात! हे भरतजी! तुम सब प्रकार से साधु हो, श्रीरामजी के चरणों में तुम्हारा अगाध (बड़ा गहरा) प्रेम है॥७॥ तुम मन में व्यर्थ ग्लानि कर रहे हो, तुम्हारे समान श्रीरामजी को कोई भी प्यारा नहीं है॥८॥ त्रिवेणीजी के अनुकूल वचन सुनकर उनका शरीर पुलकित हो गया और हृदय में हर्ष हुआ। श्रीभरतजी को —'धन्य हो, धन्य हो' ऐसा कहकर देवता लोग प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं॥२०५॥

विशेष—(१) 'माँझ त्रिबेनी'—त्रिवेणी-संगम के मध्य में सरस्वती हैं ही, वही बोलीं, किन्तु अभिप्राय तीनों का है।

(२) 'तात भरत तुम्ह सब''''''—'सब बिधि'—मन, वचन, कर्म से, 'साधु' सन्मार्गी, एवं सद्भाववाले तथा परोपकार साधक हो, अंतर बाहर साधु हो।

जो साधु लक्षणवाला है, वही धन्य है; यथा—"साधु समाज न जाकर लेखा। राम-भगत महँ जासु न रेखा॥ जाय जियत जग सो महि भारू॥ ''" (दो० १८६)। 'अनुराग-अगाधू'—इतना गहरा अनुराग है कि इसका थाह वसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी, देवगण आदि भी न पा सके, चरित में प्रकट है।

(३) 'बादि गलानि करहु'''—श्रीभरतजी ने ग्लानि की थी; यथा—"जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही॥" उसका निराकरण करती हुई त्रिवेणीजी कहती हैं कि तुम कुटिल आदि नहीं हो; किन्तु 'सब बिधि साधू' हो। तुम्हारा तो श्रीरामजी के चरणों में अगाध प्रेम है जो कि साधुओं का मुख्य अंग है। तुम एकांती प्रीति अपनी ही ओर से न समझो; किन्तु—'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं॥' इत्यादि वचनों से त्रिवेणीजी ने श्रीभरतजी की ग्लानि दूर की।

(४) 'भरत धन्य कहि......'—त्रिवेणीजी ने 'मृदुबानि' से ही कहा था, पर देवताओं ने उच्च स्वर से कहा, देवताओं ने भी "वेनि बचन' का समर्थन किया।

श्रीभरतजी ने त्रिवेणी से आर्त्त होकर भीख माँगी है, पर उन्होंने समझा भर दिया है (भिक्षा दी नहीं) कि तुम राम-विमुख नहीं हो, किन्तु श्रीराम-प्रिय एवं परम साधु हो, तुम्हारा राम-प्रेम रूपी धन इतना अगाध है कि और देने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रमुदित तीरथराज - निवासी । बैखानस बटु गृही उदासी ॥१॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा । भरत सनेह सील सुचि साँचा ॥२॥
सुनत राम - गुन - ग्राम सुहाये । भरद्वाज मुनिवर पहिं आये ॥३॥
दंडप्रनाम करत मुनि देखे । मूरतिमंत भाग्य निज लेखे ॥४॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे । दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे ॥५॥

अर्थ—प्रयाग के बसनेवाले वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और विरक्त (संन्यासी) बड़े आनंदित हुए ॥१॥ दस-पाँच आपस में मिलकर कहते हैं कि श्रीभरतजी का स्नेह, शील पवित्र और सच्चा है ॥२॥ श्रीरामजी के सुन्दर गुण-समूह सुनते हुए वे मुनि-श्रेष्ठ भरद्वाजजी के यहाँ आये ॥३॥ मुनि ने श्रीभरतजी को दंडवत्-प्रणाम करते हुए देखा, तो अपने भाग्य को मूर्तिमान् समझा ; अर्थात् मुनि ने ऐसा माना कि ये मानों मेरे भाग्य की मूर्त्ति ही हैं ; मुझे कृतार्थ करने आये हैं ॥४॥ उन्होंने दौड़कर इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और आशिष देकर कृतार्थ किया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रमुदित तीरथ...'—देववाणी के द्वारा सब ने श्रीभरतजी की महिमा जानी और ये इनके दर्शन पाकर कृतार्थ हुए। वैखानस आदि आश्रम-क्रम से नहीं कहे गये ; क्योंकि जैसे-जैसे आते गये, वैसे-वैसे लिखे गये, वा, छन्दानुरोध से भी क्रम भंग है।

(२) 'मिलि दस पाँचा'—कहीं दस, कहीं पाँच, अपने-अपने वर्गवाले।

'सुचि साँचा'—इन्होंने चारों फलों का भी स्वार्थ त्याग किया, यही कामना-रूपी विकार से रहित पवित्रता है। 'साँचा'—क्योंकि त्रिवेणी की धार में खड़े होकर कहा है, और उसे त्रिवेणीजी और देवताओं ने भी पुष्ट किया है ; उसीका इन लोगों ने अनुमोदन किया है। आगे श्रीरामजी ने भी कहा है—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे ॥" (दो० २६३)।

(३) 'सुनत राम-गुन-ग्राम......'—ऊपर श्रीभरतजी की हो प्रशंसा लिखी गई है ; पर यहाँ श्रीरामजी के गुण-समूह का सुनना लिखते हैं। इससे जनाया कि दोनों के गुण लोग कहते हैं, पर श्रीभरतजी अपनी बड़ाई पर कान नहीं देते, श्रीरामजी के सुहावने गुण सुनते जाते हैं। वा, अपने ही गुणों को वे श्रीरामजी की कृपा से प्रवृत्त जानकर इन्हें उन्हीं के गुण-ग्राम मानते हैं ; यथा—"हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो।" (क० उ० ६०)। वा, त्रिवेणी-तट पर ठौर-ठौर श्रीराम-चरित हो रहा है, उसे सुनते जाते हैं। कहा भी है—"वेदे व्याकरणे चैव पुराने भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥"

(४) 'दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे'—यह दोनों ही ओर लग सकता है। श्रीभरतजी को तथा अपनी आशिष को भी कृतार्थ किया; यथा—"सफल होन हित निज बागीसा॥" (दो० १०२)।

आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे॥६॥
मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सील सँकोचू॥७॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि-करतब पर कछु न बसाई॥८॥

दोहा—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोप नहिं, गई गिरा मति धूति॥२०६॥

शब्दार्थ—धूति = ठगकर; यथा—"जाहि जपि जोह रामहू को बैठो धूति हौं।" (क० उ० ६६)।

अर्थ—मुनि ने आसन दिया, वे मुनि को शिर झुकाकर एवं अपना शिर नीचा करके बैठे। ऐसे जान पड़ते हैं, मानों सकोच-रूपी घर में भागकर जा बैठना चाहते हैं; अर्थात् अत्यन्त संकोच है॥६॥ श्रीभरतजी को यह बड़ा भारी शोच है कि मुनि कुछ पूछेंगे (तो मैं कैसे उत्तर दूँगा?), मुनि इनके शील और संकोच को लखकर बोले॥७॥ हे श्रीभरतजी! सुनो, हमने सब समाचार पाया है, ब्रह्मा की करनी पर कुछ जोर नहीं चलता॥८॥ तुम माता की करतूत को समझकर मन में ग्लानि न करो। हे तात! कैकेयी का दोष नहीं है; सरस्वती उसकी बुद्धि को ठग ले गई॥२०६॥

विशेष—(१) 'आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे ····'—यहाँ शिर झुकाकर बैठना उत्प्रेक्षा का विषय है, उसका कारण संकोच है। उसे आगे कहते हैं—

(२) 'मुनि पूँछब कछु····'—'कछु' में यहाँ कई आशय आ सकते हैं—(क) श्रीरामजी को क्यों वनवास दिया गया, इसपर शोच है कि घर का कुकार्य कहना मना है, मैं कैसे कहूँगा? (ख) वाल्मी० २।९०।१०–२१ में श्रीरामजी में स्नेह के कारण और श्रीभरतजी की कीर्ति प्रकट करने के लिये श्रीभरद्वाजजी ने पूछा है कि क्या तुम अकटक राज्य करने के लिये श्रीरामजी वा उनके भाई के प्रति पाप बुद्धि से तो नहीं जाते हो? तब श्रीभरतजी ने कहा है कि आप सवज्ञ होकर यदि ऐसा कहते हैं तो मेरा जन्म ही व्यर्थ गया। इत्यादि प्रश्नोत्तर को यहाँ 'कछु' और 'सील सकोचू' में ही कवि ने जना दिया। वा, वाल्मी० २।९२।१६–२६ में मुनि ने पूछा है कि मैं तुम्हारी (तीनों) माताओं का परिचय जानना चाहता हूँ। तब श्रीभरतजी ने तीनों का परिचय दिया है और कैकेयी की निन्दा की है, उसपर भी सकोच कहा जा सकता है कि मैं कैसे कहूँगा कि यही मेरी माता है।

यहाँ यह भी जनाया है कि सज्जनों को अपने ही नहीं, किन्तु अपने सम्बन्धियों के भी कुकार्य पर संकोच और ग्लानि होती है। मनु ने कहा ही है—"तत्संसर्गी च पंचमः।" तथा—"मातु मंद मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥" (दो० २१०)।

(३) 'तुम्ह गलानि जिय ··गई गिरा मति धूति॥'—मुनि ने लख लिया कि इन्हें अपनी माता की करनी पर सकोच है, उसी को वे अपनी सर्वज्ञता से निराकरण करते हैं कि इसमें कैकेयी का दोष

नहीं है, शारदा ने इसकी मति को फेर दिया था। सरस्वती ने मंथरा की मति को फेरा था; यथा—"अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥" (दो० १२); फिर आगे कहा गया—"सुर माया बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि।" (दो० १६); और यहाँ साक्षात् सरस्वती का ही कैकेयी की मति का फेरना कहा गया है। इसकी एकता यों होगी कि सरस्वती ने मंथरा की मति फेरी और मंथरा ने कैकेयी की। इस तरह मंथरा-द्वारा मति का फेरा जाना भी सरस्वती का ही कार्य है, जैसे कि श्रीरामचरितमानस शिवजी ने लोमश मुनि को दिया, फिर लोमश ने काकभुशुंडी को दिया, पर वह देना शिवजी का ही कहा गया; यथा—"सोइ सिव काकभुसुंडिहि दीन्हा।" (बा० दो० २६); वा उपर्युक्त 'सुरमाया' से सुर ब्रह्मा की माया सरस्वती ही कही गई है। तब अर्थ होगा कि पूर्व मंथरा के पीछे सरस्वती ने ही कैकेयी की भी मति को छला है, वही यहाँ स्पष्ट-रूप में श्रीभरद्वाजजी ने कहा है।

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक बेद बुधसंमत दोऊ ॥१॥
तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई ॥२॥
लोक-बेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राज सो लहई ॥३॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहिं बोलाई। देत राज सुख धरम बड़ाई ॥४॥
रामगवन बन अनरथमूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥५॥
सो भावीबस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी ॥६॥
तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधम अयान असाधू ॥७॥

अर्थ—यह भी कहते हुए कोई भला न कहेगा, क्योंकि लोक और वेद दोनों पंडितों की सम्मति से (मान्य) हैं ॥१॥ हे तात! तुम्हारा निर्मल यश गाकर लोक और वेद बड़ाई पावेंगे ॥२॥ लोक और वेद का यह सम्मत है, सब कहते हैं कि पिता जिसे राज्य दे, वही पाता है ॥३॥ राजा सत्य-प्रतिज्ञ थे, वे तुम्हें बुलाकर राज्य देते, तो उससे सुख, धर्म और बड़ाई होती ॥४॥ (किन्तु) श्रीरामजी का वन जाना अनर्थ का कारण हो गया, जिसे सुनकर सारे जगत् को पीड़ा हुई ॥५॥ वह भी हरि-इच्छा (रूपा भावी) वश हुआ, रानी अज्ञानी हो गई, (फिर) वह भी कुचाल करके अंत में पछताई (क्योंकि शोक और कलंक ही उसके हाथ लगा) ॥६॥ वहाँ (उस विषय में) भी जो तुम्हारा, थोड़ा भी दोष कहे, वह अधम, अज्ञान और असाधु है ॥७॥

विशेष—(१) 'यहउ कहत भल···'—भाव यह कि वेद मत से कैकेयी निर्दोष है, पर लोक मत से नहीं। वह लोक-मत भी पंडितों से मान्य है, मैंने वेद-मत कहा था, इसे लोक न मानेगा, लोक तो प्रत्यक्ष दृष्टि को ही अधिक मानता है। 'सब कोऊ' से लोक मत को कहा है, तब तो कैकेयी के सम्बन्ध से श्रीभरतजी भी लोक दृष्टि से दोषी होंगे, इसका निराकरण आगे करते हैं—

(२) 'तात तुम्हार बिमल जस···'—तुम्हारे यश से लोक और वेद दोनों बड़ाई पावेंगे, यही आगे विस्तार से कहते हैं कि लोकमत और वेदमत दोनों ही से तुम्हें राज्य मिलना निर्दोष था, पर श्रीराम भक्ति (रूपी परम-धर्म) के प्रतिकूल जान तुमने इसे त्याग दिया, इससे तुम्हारा मत दोनों मतों से ऊपर (परे) है। अतः, इससे लोक-वेद दोनों को बड़ाई मिलेगी।

(३) 'राउ सत्यव्रत तुम्हहि ···'—राजा प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके निर्वाह के लिये तुम्हें बुलाकर राज्य देते तो उससे सुख, धर्म और बड़ाई ही होती ; क्योंकि लोक यही कहता कि राजा धर्मात्मा हैं, तभी तो उन्होंने प्रतिज्ञा का निर्वाह किया। तुम्हारा राज्य करना भी पिता-माता की आज्ञा-वश युक्त ही कहा जाता, सब इसमें सुख ही मानते।

(४) 'राम गवन बन···'—राजा की मृत्यु का होना अनर्थ है, अन्यथा राजा तो तुम्हें बुलाकर धूम-धाम से राज्य देते ही। बस, श्रीरामजी के वन जाने से और राजा की मृत्यु से, चराचर जगत्-मात्र को दुःख हुआ।

(५) 'सो भावी बस···'—पहले 'बिधि करतब' कहा था, फिर 'गिरा' का कर्त्तव्य, पीछे लोक-मत से कैकेयी का कर्त्तव्य कहकर अंत में भावी पर ही सिद्धान्त किया, भावी भी हरि-इच्छा ही है; यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५)।

(६) 'तहँउ तुम्हार अलप···'—जब कैकेयी का कर्त्तव्य भी भावी वश ही हुआ, तब उसके सम्बन्धी होनेवाले तुम कैसे दोषी हो सकते हो, क्योंकि भावी का कार्य अचानक हो जाता है, अतएव संसर्ग का सम्पर्क नहीं कहा जा सकता। इससे तुम निर्दोष हो, फिर भी जो तुम्हें दोष दे, वह अधम है।

करतेहु राज त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू ॥८॥

दोहा—अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहिं उचित मत एहु।
सकल-सुमंगल-मूल जग, रघुबर-चरन सनेहु ॥२०७॥

सो तुम्हार धन जीवन प्राना। भूरि भाग को तुम्हहि समाना ॥१॥
यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ-सुवन राम-प्रिय भ्राता ॥२॥

अर्थ—जो तुम राज्य करते तो तुम्हें दोष न था, यह सुनकर श्रीरामजी को भी संतोष होता ॥८॥ और अब तो, हे भरतजी ! तुमने बहुत भला किया। यह मत तुम्हारा उचित ही है, क्योंकि रघुवर श्रीरामजी के चरणों में स्नेह होना समस्त सुन्दर मंगलों का मूल है ॥२०७॥ वह तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण है, अतएव तुम्हारे समान अत्यन्त भाग्यशाली कौन है ॥१॥ हे तात ! तुम्हारे लिये यह आश्चर्य नहीं है, (क्योंकि) तुम श्रीदशरथजी के पुत्र और श्रीरामजी के प्यारे भाई हो ॥२॥

विशेष—(१) 'अब अति कीन्हेहु भरत···'—पिता की आज्ञा से राज्य-पालन सामान्य धर्म होने से 'भल' अर्थात् अच्छा था और उसे छोड़कर राम-पद-प्रीति रूपी विशेष (भागवत) धर्म को ग्रहण करना अत्यंत भला है।

(२) 'सो तुम्हार धन जीवन प्राना।'—प्राणिमात्र को धन, जीवन और प्राण ही अत्यन्त प्रिय होते हैं, वैसे तुम्हें राम-पद-प्रेम अभीष्ट है। धन से श्रेष्ठ जीवन और उससे अधिक प्राण हैं, क्योंकि शरीर में प्राण रहने से जीवन रहता है; तब उससे धन का उपभोग होता है। शिवजी के प्रति भी ऐसा ही कहा है—"मुनि धन जन सरबस सिव प्राना।" (बा० दो० १०७)।

(२) 'दसरथ सुवन राम···'—दशरथ महाराजजी के स्नेह और संकोच-वश तो श्रीरामजी ही प्रकट हुए; यथा—"जासु सनेह सकोच···" (दो० २०१)। तुम उनके पुत्र हो तो ऐसा रामानुरागी क्यों न हो, पिता ने श्रीरामजी के लिये प्राण ही छोड़ दिये, तो तुम्हारा राज्य छोड़ना योग्य ही है। श्रीरामजी के प्रिय भाई हो, तुम्हारे बिना राज्य लेना उन्हें न अच्छा लगा; यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥" (दो० १); वैसे तुम्हें भी—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४); के विरुद्ध कार्य न रुचा।

श्रीराम-चरणानुराग के सम्बन्ध से 'भूरि भाग' कहा है; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा० ६१)। "भूरि भाग भाजन भयेउ···" (दो० ७४)।

सुनहु भरत रघुबर-मन माहीं। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥३॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ॥४॥
जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ॥५॥
तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥६॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत-कुटुंब-पाल रघुराई ॥७॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत येहू। धरें देह जनु राम-सनेहू ॥८॥

दोहा—तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस।
राम-भगति-रस-सिद्धि हित, भा यह समय गनेस ॥२०८॥

शब्दार्थ—सुख जीवन=सुख-पूर्वक जीना। रस=जैसे भंग, मृगांक आदि। श्रीगनेश होना प्रारंभ होने के अर्थ में मुहावरा है।

अर्थ—हे श्रीभरतजी ! सुनो, रघुवर श्रीरामजी के मन में तुम्हारे समान प्रेम का पात्र कोई नहीं है ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी को सारी रात अत्यन्त प्रीति-पूर्वक तुम्हारी प्रशंसा करते हुए ही बीत गई ॥ ४॥ प्रयाग में स्नान करते समय हमने उनका यह भेद जाना कि वे तुम्हारे ही अनुराग में डूब जाते थे ॥५॥ रघुवर श्रीरामजी का तुम्हारे ऊपर ऐसा स्नेह है, जैसा कि अज्ञानी (देहाभिमानी) लोगों का जगत् में सुख-पूर्ण जीने पर स्नेह होता है ॥६॥ रघुवीर श्रीरामजी की यह कुछ अधिक बड़ाई नहीं है, क्योंकि वे रघुराई तो शरणागत के कुटुम्ब-भर के पालनेवाले हैं (फिर तुम्हारे समान प्रणत के आदर्श पर ऐसा स्नेह करें तो कौन आश्चर्य है ?) ॥७॥ हे श्रीभरतजी ! मेरा मत तो यह है कि तुम मानों देह धारण किये हुए राम-स्नेह ही हो ॥८॥ हे श्रीभरतजी ! तुम्हारे लिये (समझ में) यह कलंक है, पर हम सबके लिये यह उपदेश है। श्रीराम-भक्ति-रस की सिद्धि के लिये यह समय ही श्रीगणेश हुआ; अर्थात् हमने श्रीराम-भक्ति-रस की प्राप्ति के पाठ का श्रीगणेश (प्रारंभ) आज तुमसे किया है ॥२०८॥

विशेष—(१) 'प्रेमपात्र तुम्ह सम···'—ऊपर श्रीभरतजी की प्रीति श्रीरामजी ने कही, अब इनमें श्रीरामजी का प्रेम कहते हैं कि प्रेम-पात्र श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी भी साथ थे, पर उनके समक्ष में भी

उन्होंने सारी रात तुम्हारी ही सराहना की थी। अतः, वे भी तुम्हारे समान प्रेम-पात्र नहीं हैं, यह निश्चय हुआ, तब और कौन हो सकता है? फिर भी श्रीभरतजी को संदेह होता कि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी अप्रसन्न होंगे, उसपर कहते हैं कि—

(२) 'लखन-राम-सीतहिं····' अर्थात् इन दोनों ने भी स्वयं रात-भर प्रीति-पूर्वक तुम्हारी सराहना की थी, इससे इनकी पूर्ण प्रसन्नता है। ऊपर श्रीभरतजी को श्रीरामजी का अद्वितीय प्रेम-पात्र कहना था, तब उनके साथ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के नाम न लिखे; क्योंकि वे दोनों श्रीरामजी में ही अनन्य हैं। अतः, उनके तो प्रेम पात्र श्रीरामजी ही हैं। श्रीलक्ष्मणजी का नाम प्रथम दिया गया, क्योंकि भगवत्-कृपा की अपेक्षा भागवत-कृपा का अधिक महत्त्व है, इससे श्रीभरतजी को अधिक आनंद होगा। यहाँ तक श्रीरामजी के वचन-द्वारा जानी हुई उनके मन की प्रीति कही; और सहज-स्नेह का प्रमाण आगे कहते हैं—

(३) 'जाना मरम नहात····'—प्रयाग-स्नान के समय जब पंडालोगों ने संकल्प पढ़ा—"जम्बूद्वीपे भरतखंडे ··" तब वे तुम्हारे ही अनुराग में निमग्न होते थे। यद्यपि 'भरतखंड' दूसरे भरतजी के नाम से है, तथापि वह शब्द कान में पड़ते ही वे तुम्हारे अनुराग में डूब जाते थे। 'होहिं' बहुवचन है, क्योंकि साथ में निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी तथा और भी तीर्थवासी नहाते थे, सबके संकल्प पढ़े जाने में बार-बार सुन-सुनकर उनकी वही दशा हो जाती थी। अनुराग में मग्न होना उनके पुलक, प्रेमाश्रु आदि लक्षणों से जाना। यह भी भाव है कि मैं ही नहीं, प्रयाग-भर ने यह मर्म जाना।

इसपर लोग शंका करते हैं कि श्रीरामजी स्नान करके इनसे मिले थे, तब स्नान में साथ रहना कैसे बने, इससे वे यों अर्थ करते हैं कि तुम्हारे अनुराग-रूपी प्रयाग में मग्न हो जाते थे; अर्थात् कहते-कहते वाणी रुक जाती थी, कंठ गद्गद हो जाता था। प्रशंसा करना नहाना और चुप हो जाना, गोता लगाना है। पर इस शंका का समाधान यह है कि श्रीरामजी रात-भर मुनि के आश्रम में रहे, प्रातःकाल फिर प्रयाग स्नान करके अपने आसन पर आये और नित्यनेम करके फिर मुनि के आसन पर आये और विदा हुए। प्रातःकाल के स्नान में मुनि का साथ जाना अवश्य है, क्योंकि ये श्रीरामजी को परब्रह्म जान गये थे और इनकी परम-प्रीति भी कही हो गई है। प्रयागवासी भी स्नान-दर्शन में उस दिन बहुत आये होंगे, यह उस प्रसंग से स्पष्ट है। वा, यमुनाजी के श्यामवर्ण जल से भी श्रीभरतजी के अनुराग का उद्दीपन होना प्रयाग स्नान में हो सकता है।

(४) 'तुम्ह पर अस सनेह····'—'जड़ का' अर्थ अज्ञानी है, जो देह ही को आत्मा मानते हैं, देह ही के सुख में अपना सुख मानते हैं; यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥" (दो० १४१); ऐसे लोग शरीर के भोजन, वस्त्र, आरोग्यता आदि को ही सर्वस्व मानते हैं, तीर्थ आदि में भी यही माँगते हैं, वैसे ही श्रीरामजी भी तुम्हारे स्नेह की ही वृद्धि एवं तुम्हारी ही वृद्धि माँगते हैं।

दुःख-जीवन तो ज्ञानी को भी प्रिय नहीं है, पर अंतर इतना ही है कि ज्ञानी सुख में सुखी और दुःख में दुखी नहीं होते हैं; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १५१)।

(५) 'यह न अधिक रघुबीर····'—जैसे श्रीभरतजी के प्रति—'यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ सुवन····' कहा था, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये।

(६) 'तुम्ह तौ भरत मोर मत····'—दूसरे का कहा-सुना नहीं, किंतु मेरा अनुभव देखा है।'

'धरे देह जनु ···'; यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (दो० १८१); अर्थात् जो राम-प्रेम के दर्शन चाहे, वह तुम्हें देख ले, तो उसे निश्चय हो जायगा कि ऐसा ही राम-प्रेम करना चाहिये।

(७) 'तुम्ह कहँ भरत कलंक···'—जिसे तुम कलंक मान रहे हो, वह हमें उपदेश-रूप है। इस चरित के द्वारा तुम हमारे उपदेष्टा हुए। ईश्वर की प्रेरणा से यह घटना हुई कि जिसे तुम कलंक मानते हो, यथार्थ में वह कलंक नहीं है, किन्तु हम सबों के उपदेश के लिये है कि जिससे हमलोग प्रेम-लक्षणा भक्ति का तात्त्विक रूप जानें; यथा—"प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गंभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (दो० २३८))। तुम्हारे इस समय के वैराग्य, अनन्य प्रेम एवं प्रपत्ति की दशा को जो स्मरण करेंगे। पुनः अनुकरण करते हुए राम-प्रेम मार्ग पर आरूढ़ होंगे, उनकी वह भक्ति अवश्य सिद्ध होगी, उसमें कोई बाधा न होगी, जैसे कि गणेशजी के स्मरण-पूर्वक कार्यारंभ से निर्विघ्न सिद्धि होती है। तुम्हें लोक-परलोक के त्याग का अपयश न हुआ, वैसे ही राम-प्रेम-निर्वाह के लिये लोक-परलोक के साधनी-भूत और धर्मों के त्याग का अपयश किसी को न होगा। कहा भी है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता १८।६६)।

यहाँ भरद्वाजजी ने श्रीभरतजी से दीक्षा लेने का मानों प्रचार का बीज डाल दिया, आगे देखिये—श्रीरामजी कहते हैं; यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।" (दो० १५८); "कहहु करउँ सोइ आजु" (दो० २६०); श्रीजनकजी कहते हैं—"कहिय जो आयेसु देहु।" (दो० २९२); श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—"समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥" (दो० २२१); ('इसमें गुरुजी ने तो इन्हें जगद्गुरु ही कहा है)। श्रीरामजी ने इनके नाम-स्मरण के प्रति भी ऐसा ही कहा है; यथा—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥" (दो० २६३); अर्थात् यह श्रीभरतजी का कलंक औरों के लोक-परलोक का साधक हो गया।

(८) 'राम-भगति-रस-सिद्धि···'—भक्ति-रस का एक अर्थ पंच-रसात्मिका प्रेम-लक्षणा-रस-रूपा भक्ति का ऊपर हो गया। दूसरा अर्थ ऐसा भी किया जाता है कि यहाँ रस का रूपक है। पारा, सोना, चाँदी आदि फूँके जाते हैं, उनकी भस्म को रस कहते हैं। पारे को शुद्ध गंधक के साथ खरल करने पर उसकी कजली बनती है। उससे ही रस-निर्माण का कार्य प्रारंभ होता है, उसे कलंक कहते हैं। भक्ति-रस का कार्य भी गुरु-उपदेश से प्रारंभ होता है। श्रीभरतजी के इस समय के चरित को भी (जिसे श्रीभरतजी ने कलंक मान रक्खा है) मुनि ने गुरु-उपदेश-रूप कहा है। अतएव यही भक्ति-रस को भी सिद्ध करेगा। जैसे कजली (कलंक) से रस सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि—श्रीभरतजी के चरित से भक्ति के साधकों को यह आधार मिलेगा कि इसमें स्वार्थ का सर्वथा त्याग रहना चाहिये। श्रीराम-चरणानुराग के बाधक माता, पिता, गुरु के भी उपदेश को न माने और श्रीराम में पूर्ण भरोसा रक्खे। श्रीभरतजी के इस समय की दशा का ध्यान करने से उनके उस सामर्थ्य की प्राप्ति भी होगी, जिससे वह भक्ति हो।

नवबिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर-किंकर कुमुद चकोरा॥१॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥२॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभुप्रताप रबि छबिहि न हरिहीं॥३॥

निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू ॥४॥
पूरन राम - सुप्रेम पियूषा। गुरु-अपमान दोष नहि दूषा ॥५॥
रामभगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ॥६॥

अर्थ—हे तात! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है। रघुवर श्रीरामजी के सेवक कुईं और चकोर हैं ॥१॥ यह यश रूपी चन्द्रमा सदा उदित (प्रकट) रहेगा, कभी भी अस्त न होगा, जगत्-रूपी आकाश में घटेगा नहीं। (किंतु) दिन-दिन दूना होगा ॥२॥ चकवाक-रूपी तिनोलोक इससे अत्यन्त प्रीति करेंगे और श्रीरामजी का प्रताप-रूपी सूर्य इसकी छवि को न हरेगा ॥३॥ यह दिन-रात सदा सब किसी को सुखदायक होगा। इसे कैकेयीजी का कर्त्तव्य-रूपी राहु न ग्रसेगा; अर्थात् इस यश में कैकेयीजी की करनी से धब्बा न लगेगा ॥४॥ श्रीरामजी के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत से यह पूर्ण है। यह गुरु के अपमान-रूपी दोष से दूषित नहीं हुआ ॥५॥ तुमने पृथिवी को भी अमृत सुलभ कर दिया, अब श्रीराम-भक्त इस अमृत से अघायें ॥६॥

विशेष—(१) 'नवबिधु बिमल तात···'—ऊपर कहा गया—"तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई ॥" (दो० २०६); उसीकी व्याख्या करते हुए यहाँ विशाल (अधिक अभेद) रूपक-द्वारा समझाते हैं कि वह (प्राकृत) चन्द्रमा तो पुराना है और बहुत अवगुणों के होने से समल (मैला) है। पर तुम्हारा-यश-रूपी चन्द्रमा नवीन और निर्मल है; यथा—"कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।" (दो० २०१); 'रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।'—कुईं स्थावर और चकोर जंगम है, वैसे ही श्रीरामजी के भक्त भी दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्ति मार्गवाले स्थावर और निवृत्ति मार्गवाले जंगम, अर्थात् लोमश की तरह स्थावर और नारद की तरह जंगम (दोनों ही इससे प्रफुल्ल एवं आनंदित होंगे)।

(२) 'उदित सदा अथइहि···'—वह चन्द्रमा नित्य आकाश में उदय-अस्त होता है। घटता-बढ़ता है और अमावस्या-प्रतिपदा को तो उदय भी नहीं होता, पर यह जगत् में सदा ही उदित और दिन-दूना होता रहेगा, घटेगा, तो कभी नहीं।

(३) 'कोक तिलोक प्रीति ···'—वह चन्द्रमा—"कोक सोक प्रद पंकज द्रोही।" (बा० दो० २३७); है, और इसमें तीनों लोक प्रीति करेंगे। (तिलोक अर्थात् त्रिलोक से 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार तीन प्रकार के जीव—विषयी, मुमुक्षु और मुक्त का भी अर्थ होता है)।

'प्रभुप्रताप रबि···'—उस चन्द्रमा की छवि को सूर्य हरता है; यथा—"ससि छबिहर रबि सदन तउ, मित्र कहत सब कोइ।" (दोहावली ३२१); पुनः यथा—"दिन मलीन सकलंक" (बा० दो० २३७); पर यह यश-चन्द्र श्रीराम-प्रताप के साथ चमकता हुआ देख पड़ेगा।

(४) 'निसि दिन सुखद सदा···'—वह चन्द्रमा नभ में रहता है, इससे सबको सुलभ नहीं है और यह जगत् में ही है सब किसी को सुखद है। वह तो 'बिरहिन-दुखदाई' है। वह रात में और वह भी किसी-किसी को ही सुखद है और यह तो सबको सुखद है और राम-विरही लोगों को तो अत्यन्त सुखद है; यथा—"भा सबके मन मोद न थोरा। ··भरत प्रान प्रिय भे सब ही के ॥" (दो० १८४)। 'ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू।'—उसे राहु ग्रसता है; यथा—"सह राहु निज संधिहि पाई।" (बा० दो० २३७)। पर इसे कैकेयी का कर्त्तव्य-रूपी राहु छू भी न सकेगा; यथा—"जो पाँवर अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई। सो सठ कोटिक पुरुष समेता। बसिहि कलप सत नरक निकेता ॥" (दो० १८३)।

(५) 'पूरन राम सुप्रेम पियूषा ।'—इसमें कलाओं के घटने के साथ अमृत घट भी जाता है, पर यह श्रीरामजी के प्रेम से पूर्ण रहता है ; यथा—"सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम···" (दो० ३२६)। वह 'सकलंक' है और यह—'गुरु अपमान दोष नहिं दूषा ।' है ।

(६) 'रामभगत अब अमिअ ···'—वहाँ देवता ही अमृत पीते हैं, यहाँ राम-भक्त; यथा—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं । सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भवरस बिरति ॥" (दो० ३२६); 'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ।'—वह स्वर्गीय देवों को ही सुलभ है, पर यह पृथिवी के लोगों को भी सुलभ है; यथा—"सियराम-प्रेम पियूष पूरन···कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥" (दो० ३२६)।

'अब' शब्द से ध्वनित होता है कि कवि के पूर्व शरीर (वाल्मीकि-रूप) से किये हुए भरत-चरित से राम-भक्तों को उतनी तृप्ति नहीं हुई थी, जिसकी आपने इस शरीर की कृति से पूर्ति की ।

भूप भगीरथ सुरसरि आनी । सुमिरत सकल-सुमंगल-खानी ॥७॥
दसरथ-गुनगन बरनि न जाहीं । अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं ॥८॥

दोहा—जासु सनेह-सकोच-बस, राम प्रगट भये आइ ।
जे हर-हिय-नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ ॥२०९॥

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा । जहँ बस राम - प्रेम मृग-रूपा ॥१॥

अर्थ—(आपके पूर्वज) भगीरथ महाराज गंगाजी को लाये, जिनका स्मरण करते ही समस्त सुन्दर मंगलों की खान प्राप्त हो जाती है ॥७॥ श्रीदशरथ महाराज के गुण-समूह वर्णन नहीं किये जा सकते, अधिक का क्या कहना ? जिनके समान भी संसार में कोई नहीं है ॥८॥ जिनके स्नेह और संकोच के वश श्रीरामजी आकर प्रकट हो गये कि जिनको श्रीशिवजी ने अपने हृदय के नेत्रों से अघाकर नहीं देख पाया ॥२०९॥ और तुमने कीर्त्ति-रूपी अनुपम चन्द्रमा को उदित किया, जिसमें राम प्रेम रूपी हिरण बसता है ॥१॥

विशेष—(१) 'भूप भगीरथ सुरसरि ·····'—ऊपर कहा गया—"कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ।" उसीपर कहते हैं कि तुम्हारी कुल-परंपरा ही ऐसी चली आती है । देखो श्रीभगीरथजी गंगाजी को लाये, जिससे जगत्-भर का महान् उपकार हुआ ।

(२) 'जासु सनेह-सकोच बस···'—'सनेह' ; यथा—"देखि प्रीति सुनि बचन अमोले । एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥ आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई । नृप तव तनय होब मैं आई ॥" 'संकोच' ; यथा—"सकुच बिहाइ माँगु नृप··· ···" (बा० दो० १४८–४९)। यह मनु शरीर की बात कही गई है। गंगाजी श्रीरामजी के चरण से प्रकट हुईं और श्रीरामजी प्रेम से प्रकट होते हैं । अतः, गंगाजी से श्रेष्ठ श्रीरामजी और उनसे भी श्रेष्ठ उनका प्रेम हुआ । गंगाजी में देश का नियम है कि अमुक-अमुक देश में होकर बही हैं । वहीं-वहीं जाकर स्नान करना चाहिये । श्रीरामजी के प्रकट होने में काल का नियम है कि वे ११ हजार वर्ष तक पृथिवी पर प्रकट-रूप में रहते हैं और राम-प्रेम के लिये देश-काल का नियम नहीं है, वही राम-प्रेम तुमने प्रकट किया ।

(३) कीरति बिधु तुम कीन्ह अनूपा।'—इसकी उपमा है ही नहीं, जैसे चन्द्रमा में मृग का नित्य निवास है, वैसे ही तुम्हारी कीर्त्ति में राम-प्रेम का नित्य-निवास है; यथा—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय-राम-पद-प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति ॥" (दो० ३२६); अर्थात् इसमें देश-काल का व्यवधान नहीं है, अतः, उक्त दोनों से तुमने अधिक किया। चन्द्रमा में जो मृगांक है, वह श्याम रंग का है, वैसे ही प्रेम का भी श्याम ही रंग है।

तात गलानि करहु जिय जाये। डरहु दरिद्रहि पारस पाये ॥२॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ॥३॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय-दरसन पावा ॥४॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा ॥५॥
भरत धन्य तुम्ह जग जस जयेऊ। कहि अस प्रेम-मगन मुनि भयेऊ ॥६॥

शब्दार्थ—जयऊ = जीत लिया, इसका सं० जयन् है।

अर्थ—हे तात ! तुम व्यर्थ ही हृदय में ग्लानि करते हो, पारस को पाकर भी दरिद्रता से डरते हो ॥२॥ हे श्रीभरतजी ! सुनो, हम झूठ नहीं कहते, क्योंकि हम विरक्त हैं, तपस्वी हैं और वन में रहते हैं ॥३॥ सब साधनों के शोभायमान सुन्दर फल श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के दर्शन हैं, सो हमने पाये ॥४॥ और उस फल का भी फल तुम्हारा दर्शन हुआ, प्रयाग-समेत हमारा यह सौभाग्य है ॥५॥ हे श्रीभरतजी ! तुम धन्य हो, तुमने अपने यश से जगत् को जीत लिया ; अर्थात् तुम्हारा सा यश जगत् में किसी का नहीं हुआ, ऐसा कहकर मुनि प्रेम मे मग्न हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'डरहु दरिद्रहि पारस पाये'—राम-प्रेम पारस है, कलंक दारिद्र्य है। पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, वैसे राम-प्रेम के सम्पर्क से कलंक स्वर्ण-भूषण-रूप हो गया। तुम्हारे पास पारस है, पर तुम उसके गुण भूले हुए हो, इसीसे कलंक-रूप दारिद्र्य से डर रहे हो।

(२) 'सुनहु भरत हम झूठ ......'—झूठ किसीको न बोलना चाहिये और हमारे लिये तो तीन कारण और प्रबल हैं—(क) हम उदासीन हैं, अतः हमारा कोई शत्रु-मित्र नहीं है और न किसीसे कुछ स्वार्थ-दृष्टि ही है, तब झूठ क्यों बोलेंगे ? क्योंकि लोग इन्हीं कारणों से झूठ कहते हैं

(ख) हम तपस्वी हैं; अतः, तप नाश हो जाने के भय से भी झूठ नहीं कह सकते।

(ग) हम वन में रहते हैं, किसी से कुछ व्यवहार का प्रयोजन ही नहीं है। फल-मूल और वल्कल आदि से ही निर्वाह हो जाता है। तब झूठ ऐसे पाप की क्या आवश्यकता ?

(३) 'सब साधन कर सुफल...'—यह इन्होंने कहा है; यथा—"आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू। सुफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥" (दो० १०६);

(४) 'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'—फल का फल है, उसका भोग करना, फलरूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तब उनका उपयोग उनकी भक्ति द्वारा होता है। वह भक्ति तुम्हारे दर्शनों से प्राप्त हुई; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक..." इस दोहे में कहा गया। अतः, फल का आस्वादन करना हमने आपसे सीखा।

इसीसे कहा भी है—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ० दो० ११९); 'सहित प्रयाग सुभाग हमारा।'—श्रीभरतजी के दर्शनों से प्रयाग-समेत मुनि को प्रेम की प्राप्ति हुई, इसीसे सबका सौभाग्य कहते हैं; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम पद होइ।" (बरवा० ३०)। 'प्रयाग' से यहाँ प्रयागराज तीर्थ और वहाँ के वासी भी कहे गये हैं। तीर्थ भी संत-दर्शनों से अपनेको कृतार्थ मानते हैं; यथा—"सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत हैं ता तन छुवे।···तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै॥" (क० उ० ३२)।

(५) 'भरत धन्य तुम्ह जग···'; यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे॥" (दो० २१२); इस प्रकरण का उपक्रम—"नव बिधु बिमल तात जस तोरा।" है और यहाँ—'भरत धन्य···' पर इसका उपसंहार हुआ।

(६) 'कहि अस प्रम मगन···'—यहाँ श्रीभरतजी के यश को कहते हुए मुनि प्रेम में डूब गये। वाणी रुक गई, मन भी डूब गया, इस तरह—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तरीय); इस श्रुति का भाव भक्त-चरित में भी चरितार्थ हुआ।

सुनि मुनिबचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥७॥
धन्य धन्य धुनि गगन प्रयागा। सुनि सुनि भरत मगन अनुरागा॥८॥

दोहा—पुलकगात हिय राम सिय, सजल सरोरुह नयन।
करि प्रनाम मुनिमंडलिहि, बोले गदगद बयन॥२१०॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर सब सभासद प्रसन्न हुए, साधुवाद (सत्य है, सत्य है, धन्य हो, इत्यादि) द्वारा प्रशंसा करके देवता लोगों ने फूलों की वर्षा की॥७॥ आकाश और प्रयाग में धन्य-धन्य का शब्द सुन-सुनकर श्रीभरतजी अनुराग में मग्न हुए॥८॥ उनके शरीर में पुलकावली हो रही है, हृदय में श्रीसीतारामजी हैं, कमल के समान नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे हैं। वे मुनि मंडली को प्रणाम करके गद्गद वचन बोले॥२१०॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि बचन सभासद···'—'सभासद' यहाँ वे हैं, जिनका पहले आना कहा गया है; यथा—"प्रमुदित तीरथ राज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥" (दो० २०५); इनके हर्ष के कारण मुनि का सत्य भाषण, भागवत् यश-वर्णन एवं—"सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥ भरत धन्य तुम्ह जग जस जयऊ।" ये अंतिम वचन हैं। सभासदों ने साधुवाद से और देवताओं ने फूल बरसाकर मुनि के वचनों की सत्यता जनाई; यथा—"मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥" (बा० दो० १८४); अर्थात् सबको मनभाई बात होने पर साधुवाद की रीति है।

(२) 'धन्य धन्य धुनि···सुनि सुनि भरत···'—श्रीभरतजी ने इसे सबके अंतर्यामी प्रभु की कृपा समझा, इससे अनुराग में मग्न हुए कि प्रभु मुझ ऐसे दोषी की भी प्रशंसा करा रहे हैं, उन्हें इस बड़ाई का कुछ भी अहंकार नहीं हुआ। यह उनकी प्रेम-दशा से स्पष्ट है कि कंठ भर आया, इसीसे गद्गद वचन कह रहे हैं—

मुनिसमाज अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू ॥१॥
येहि थल जौं किछु कहिय बनाई। येहि सम अधिक न अघ अधमाई॥२॥
तुम्ह सर्वज्ञ कहउँ सतिभाऊ। उर - अंतरजामी रघुराऊ ॥३॥
मोहि न मातुकरतब कर सोचू। नहि दुख जिय जग जानहि पोचू ॥४॥
नाहिन डर बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू ॥५॥

अर्थ—मुनियों का समाज और तीर्थराज प्रयाग (ऐसा स्थल) है, यहाँ सची शपथ करने पर भी भरपूर अनर्थ होता है ॥१॥ फिर जो इस स्थल पर कुछ बनावटी (झूठ बनाकर) कहा जाय, तो इसके समान कोई बड़ा पाप और अधमता न होगी ॥२॥ मैं अपने सत्य भाव से कहता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं और रघुराज श्रीरामजी सबके हृदय की जाननेवाले हैं; अर्थात् मेरे बनावटी कथन को आप और श्रीरामजी तो जान ही लेंगे ॥३॥ मुझे माता की करनी का शोच नहीं है, हृदय में इसका भी दुःख नहीं है कि संसार मुझे नीच (बुरा) समझेगा ॥४॥ न इसका ही डर है कि मेरा परलोक बिगड़ेगा और पिता के मरने का भी मुझे शोक नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'अघाइ अकाजू'—अकाज (अनर्थ) होने का कारण यह है कि शपथ करनेवाले ने इनको कुछ समझा ही नहीं, तब तो अमुक-अमुक बातों के लिये इनका अपमान किया। विप्र-समाज ही बहुत है, यहाँ तो मुनिसमाज है। पुनः तीर्थ ही नहीं, किंतु तीर्थराज हैं।

(२) मुनि ने अपने सत्य भाषण में तीन प्रमाण दिये थे—'उदासीन, तापस, बन रहहीं।' इन्होंने एक और अधिक प्रमाण दिया—मुनि समाज, तीर्थराज, तुम्ह सर्वज्ञ और अंतर्यामी रघुराऊ। इनमें यह भी अधिकता है कि मुनि ने कहा था—'हम झूठ न कहहीं' और इन्होंने—'साँचेहु सपथ अघाइ अकाजू' कहा है, अर्थात् ये सत्य की शपथ को भी पाप मानते हैं।

श्रीभरतजी ने यहाँ मुनि की बातों के उचित उत्तर दिये हैं—

मुनि—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातु करतूति। श्रीभरतजी—मोहि न मातु करतब कर सोचू। क्योंकि जो बोया है वही काटेगा। मुनि—तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधम···। श्रीभरतजी—नहि दुख जिय जग जानिहि पोचू॥ अर्थात् माता का सम्बन्ध लेकर कोई मुझे बुरा कहे, तो उसका दुःख नहीं, क्योंकि—"महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल बच बिसिखन बाँची ॥ (अतएव) गहि न जाइ रसना काहू की, कहउ जाहि जोइ सूझै।···" (गी० अ० ६१)। मुनि—तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई। श्रीभरतजी—नाहिंन डर बिगरिहि परलोकू। मुनि—राम गवन बन अनरथ मूला। श्रीभरतजी—पितहु मरन कर नाहिन सोचू। पिता के प्रति आगे कहते हैं—

सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाये। लछिमन-राम-सरिस सुत पाये ॥६॥
रामबिरह तजि तनु छनभंगू। भूप - सोच कर कवन प्रसंगू ॥७॥
राम-लखन- सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं ॥८॥

दोहा—अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात।
बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात ॥२११॥

शब्दार्थ—छनभंगू=क्षण-भर में नाश होनेवाला। अजिन=वल्कल, छाल।

अर्थ—उनका सुन्दर पुण्य और सुयश लोकों में भरपूर सुशोभित हुआ और उन्होंने श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के समान पुत्र पाये ॥६॥ फिर, श्रीरामजी के विरह में क्षण-भंगुर शरीर को छोड़ दिया, तो राजा के शोक की कौन चर्चा? ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी बिना जूती के, मुनि-वेष किये हुए वन-वन में फिर रहे हैं ॥८॥ वल्कल वस्त्र पहने, फल खाते, पृथिवी पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते और वृक्षों के नीचे बसते हुए नित्य ही जाड़े, गर्मी, वर्षा और वायु (के दुःख) सहते हैं ॥२११॥

विशेष—(१) 'लछिमन-राम-सरिस'''—अपनेको नहीं कहते, क्योंकि कह चुके हैं—"मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।" (दो० १७८); श्रीशत्रुघ्नजी अपने अनुयायी हैं। इसलिये उन्हें भी न कहा। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने पिता की आज्ञा मानी और वनके लिये पिता ने प्राण छोड़ दिये; अतः, वे श्रेष्ठ पुत्र हैं।

(२) 'भूप सोच कर कवन प्रसंगू।'—राजा का जीते जी यश रहा, श्रेष्ठ पुत्र का सुख भी पाया, राम-विरह में शरीर छोड़कर सत्य-प्रेम की भी कीर्त्ति प्राप्त की, जिससे सदा के लिये अमर यश संसार में छोड़ गये, शरीर तो क्षण-भर में नाश होनेवाला है, कभी तो छूटता ही। इसपर दो० १७१-१७२ और क्षण-भंगुर शरीर पर दो० १८६ चौ० ३ भी देखिये।

(३) 'राम-लखन-सिय बिनु'''—अब यहाँ से अपने शोच का यथार्थ कारण कह रहे हैं। यहाँ से—'येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।''' तक में कहा है। भरद्वाजजी ने जो-जो बातें अनुमान की थीं, उनका निराकरण पहले ही कर चुके।

(४) 'हिम, आतप बरषा बात'—तीनों कालों (हिम, गर्मी, और वर्षा) में वायु का झकोरा अत्यन्त दुःखद होता है। इसलिये 'बात' को सबके अत में कहा और इस तरह उसे तीनों के साथ जनाया। वायु के झकोर से गर्मी में लू, जाड़े मे अत्यन्त शीत और वर्षा में बूँदें चर्रों सी लगती हैं जिनसे शीत भी पैदा होता है।

येहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती ॥१॥
येहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं ॥२॥
मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बँसूला ॥३॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू ॥४॥
मोहि लगि यह कुठाट तेहि ठाटा। घालेसि सब जग बारह बाटा ॥५॥
मिटइ कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये ॥६॥

शब्दार्थ—दिन = दिनो दिन, प्रति दिन। कलि = कलह, फूट। बारहबाट भावना = तितर-बितर करना, नष्ट-भ्रष्ट करना, यथा—"तुलसी ते कुरु राज ज्यों, जैहैं बारह बाट॥" (दोहावली ४१०); "रावन सहित समाज अब, जाइहि बारह बाट।" (रामाज्ञा ५।३।२)।

अर्थ—इसी दुःख की जलन से प्रति दिन मेरी छाती जलती है, न दिन में भूख लगे ; और न रात में नींद आवे ॥२॥ इस कुरोग की दवा नहीं। मैंने अपने मन में सारा ब्रह्मांड खोज डाला ॥३॥ माता (कैकेयी) का कुमत (कुत्सित मन्तव्य) पाप का मूल (अत्यन्त पापी) बढ़ई है। उसने हमारे हित को अपना बसूला बनाया ॥३॥ और कलह रूपी कुकाठ (भिलावाँ बहेड़े आदि की लकड़ी) का कुयन्त्र (अभिचार, टोटका, बुरी खूँटी) बनाया और कठिन कुमंत्र पढ़कर अवध में अवधि (१४ वर्ष) भर के लिये उसे गाड़ दिया ॥४॥ उसने मेरे लिये यह सब कुठाट सजाया और सारे संसार को 'बारह बाट' किया ॥५॥ यह कुयोग श्रीरामजी के लौट आने पर ही मिटेगा और किसी भी उपाय से अयोध्यापुरी बस नहीं सकती ॥६॥

विशेष—(१) 'येहि दुख दाह दहइ '—अंतःकरण में गर्मी होने से ऐसी ही दशा होती है। श्रीभरतजी श्रीरामजी के दुःख में दुःख और उनके ही सुख में सुख मानते हैं। यह इनमें स्वाभाविक है, इसीसे इस रोग को असाध्य और कुरोग कहते हैं ; क्योंकि वन में रहने से श्रीरामजी को सुख मिल नहीं सकता। 'सकल बिस्व'—का तात्पर्य जहाँ तक अपने मन और बुद्धि की पहुँच है, वहीं तक है।

(२) 'मातु कुमत बढ़ई घालेसि सब जग '—यहाँ शत्रु-दमन के लिये अभिचार (मारण) प्रयोग का रूपक बाँधा गया है। यह कई प्रकार का होता है, उनमें एक प्रकार का यों है—निकृष्ट मास-पक्ष-तिथि नक्षत्र आदि में भिलावाँ-बहेड़े आदि की लकड़ी का कोल्हू बनाकर शत्रु के पैर के तले की मिट्टी लेकर उसका पुतला बनावे और उसकी छाती पर उस शत्रु का नाम लिखकर उस कोल्हू में दबाकर सिद्ध किये हुए मंत्र को १०८ बार पढ़ उस मारण यंत्र को भूमि में गाड़ दे, तो शत्रु मर जाय। दूसरा यों है—कि अमुक नक्षत्र में नंगे होकर बहेड़े की लकड़ी ले आवे और उसकी खूँटी बनाकर उच्चाटन मंत्र पढ़कर जहाँ गाड़ दे वहाँ के निवासी भाग जाते हैं और वह स्थान उजाड़ हो जाता है, इत्यादि।

यहाँ प्रयोग करनेवाली कैकेयी है, उसका कुमत, यथा—"परउँ कूप तव बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि।" (दो० २१) यही बढ़ई है। ('कुमत' और 'बढ़ई' दोनों पुंल्लिंग हैं) यह कुमत पापमूलक है। 'बसूला'—'हमार हित' अर्थात् हम (भरत) को राज्य मिले, यह कैकेयी ने सोचा था; यथा—"कस न करब हित लागि।" (दो० २०); 'कलि कुकाठ'—भिलावाँ-बहेड़े आदि की लकड़ी की तरह कलह है, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥ ··मरन नीक तेहि जीवन चाही॥" (दो० २०); "होत प्रात मुनि बेष धरि···" (दो० २९)। 'गढ़ि'—गढ़ना, बार-बार हठ करना है। 'कुजन्त्र'—विरोध की पुष्टि ; यथा—"भरत कि राउर पूत न होहीं।···" (दो० २९); 'गाड़ि अवधि'—टोटका गाड़ने में अवधि नियत कर दी जाती है। वैसे यह गड़त—"चौदह बरिस राम बनबासी।" (दो० २८) कहकर गाड़ा गया है। हठ-पूर्वक धर्म से दबाना गाड़ना है ; यथा—"देहु कि लेहु अजस करि नाहीं·" (दो० ३२) इत्यादि। गाड़ने की भूमि अवध का कोप-भवन है। 'पढ़ि कठिन कुमन्त्र', यथा—"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।·" (दो० १९), "भूपति राम सपथ जब करई।···" (दो० २१) इत्यादि मंथरा द्वारा मंत्र पाना और सिद्ध करना है। "तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥" (दो० ३४) आदि पढ़ना है। मंत्र पढ़नेवाली कैकेयी है।

(३) 'घालेसि सब जग'—(१) मनुष्य का संसार (जगत) वहीं तक है, जहाँ तक उसके सम्बन्धियों की सीमा है। यहाँ श्रीअवध एवं श्रीभरतजी के सम्बन्धी से तात्पर्य है; यथा—"भरत उजारि कीन्हि कैकेयी।..." (दो० २१) तथा आगे कहते हैं—"बसइ अवध नहिं आन उपाये।" इत्यादि से इस अर्थ की पुष्टि होती है। (२) चक्रवर्ती महाराज जगत्-भर के सम्राट् हैं, उनपर प्रयोग होने से जगत्-भर पर विपत्ति पड़ी; यथा—"मिथिला अवध बिसेषि ते, जग सब भयो अनाथ।" (दो० २७०)।

'बारह बाटा' का अर्थ नष्ट-भ्रष्ट होना है, इसी अर्थ में मुहावरा है, तदनुसार ऊपर का पहला अर्थ संगत है। यह मुहावरा क्यों पड़ा? इसपर १२ भेद भी कहे जाते हैं। वे पूर्णतया दूसरे अर्थ में घटते हैं; यथा—"मोहो दैन्यं भयं ह्रासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथा कीर्तिर्नाशो ह्येतेहि द्वादशाः॥" इनमें—१ मोह, २ दीनता, ३ हानि, ४ ग्लानि, ये चारों अवधवासियों को हुईं। क्रमशः उदाहरण; यथा—(१) "कछुक देव माया मति मोई।" (दो० ८४); (२) "मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥" (दो० ८६); (३) "फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।" (दो० ८८); "नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबनि सब संपति हारी॥" (दो० १५७), (४) "निदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥" (दो० ८५)। (५) भय, रावण को; यथा—"दस मुख बोलि उठा अकुलाना।" (लं० दो० ४); (६) ह्रास, जनक आदि को; यथा—"भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू॥" (दो० २७०); (७-८) क्षुधा-तृषा, श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी को; यथा—"असन कंद-फल मूल। ते कि सदा सब दिन मिलहिं···" (दो० ६२); "जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े॥" (क० अ० १२); (९) क्षोभ, देवताओं को; यथा—"कह गुरु बादि छोभ छल छाड़।" (दो० २१७)। (१०) मृत्यु, चक्रवर्तीजी को; यथा—"राउ गयेउ सुर धाम।" (दो० १५५); (११) व्यथा, कुबरी को—"कूबर टूटेउ फूट कपारू।" (दो० १६३); (१२) अकीर्ति, कैकेयी को; यथा—"तोर कलंक मोर पछताऊ। मुयेहु न मिटिहि···" (दो० ३५)। यहाँ तक गड़न्त और उसका फल—'घालेसि सब जग ······' कहा गया है। आगे—'मिटइ कुजोग राम फिरि आये' से उत्कीलन और उसका फल—'बसइ अवध··' भी कहते हैं।

(४) 'मिटइ कुजोग राम ······'—यंत्र प्रयोग पर यदि प्रयोगकर्ता से भी अधिक कुशल पंडित हो और उसका उखाड़ना जानता हो, तो वह उसे निष्फल कर सकता है। यहाँ श्रीरामजी का लौटना ही कुयंत्र का उखाड़ना है, इसी उपाय से उजड़ा हुआ अवध बस सकता है। यह उपाय किया क्यों नहीं? इसका उत्तर ऊपर कह चुके—"जेहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥" शोधना आगे—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू।···" से "सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥" (दो० २५२) तक कहना है, इसीसे यहाँ नहीं कहा गया।

भरत-बचन सुनि मुनि सुख पाई। सबहि कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥७॥
तात करहु जनि सोच बिसेखी। सब दुख मिटिहि रामपद देखी॥८॥

दोहा—करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु॥२१२॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर मुनि ने सुख पाया, सभी ने उनकी बहुत तरह से

की ॥७॥ (मुनि ने कहा) हे तात ! तुम इतना विशेष शोक मत करो, श्रीरामजी के चरण देखते ही सब दुःख दूर हो जायँगे ॥८॥ खूब समझाकर मुनि श्रेष्ठ ने श्रीभरतजी से कहा कि आप हमारे प्रेम के प्यारे मेहमान (पाहुन) होवें; हम कंद, मूल, फल, फूल (आदि जो कुछ) दें, इन्हें कृपा करके स्वीकार करें ॥२१२॥

विशेष—(१) 'सब दुख मिटिहि राम···'—श्रीभरतजी ने अभी कहा है—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" और इसका उपाय श्रीअवध के दरबार में कहा था—"देखे बिनु रघुबीर-पद, जिय की जरनि न जाइ।" (दो० १८२) उसीके अनुसार मुनि आशिष देते हैं। इसकी सफलता आगे हुई भी है; यथा—"हरषहि निरखि राम-पद-अंका।···" (दो० २३७); पुनः चरण-पादुका पाने पर—"अस सुख जस सिय राम रहे ते॥" (दो० ३१५)। मुनि ने श्रीरामजी के लौटने की आशिष नहीं दी, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि प्रभु लौटेंगे नहीं।

श्रीराम-चरण-दर्शनों से बहुतों के दुःख मिटे ; यथा—"नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन···" (दो० ८७)।—गुह। "प्रभु-पद-देखि मिटा सो पापा ॥" (आ० दो० ३१)—कबंध। "अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम-पद-कमल तुम्हारे॥" (सुं० दो० ४६)—विभीषण, इत्यादि।

(२) 'अतिथि प्रेम-प्रिय होहु'—हम आपकी पहुनाई करने के योग्य नहीं हैं। अतएव, आप हमारे प्रेम के ही प्रिय पाहुन हों। अर्थात् हमारे पास प्रेममात्र ही है, कृपाकर इसे सफल करें, क्योंकि भगवत् भागवत दोनों को प्रेम ही प्रिय होता है; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोप जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५)। प्रेम-पूर्वक दिया हुआ पदार्थ ग्रहण करने का सबको अधिकार भी है।

(३) 'कंद मूल फल···'—मुनि ने कहा, कंद-मूल आदि ही ; परन्तु किया बहुत कुछ, यह मिथ्या भाषण नहीं, किंतु शिष्टाचार है। कहने की लोकरीति है कि कृपाकर मेरे 'शाक-पात' को ग्रहण करें। 'हम देहि'—क्योंकि कंद-मूल आदि शिष्य वर्गों ने लाकर दिये और दिव्य-पदार्थ मुनि प्रकट करेंगे। इसलिये बहुवचन 'हम' शब्द कहा है।

सुनि मुनि-बचन भरत हिय सोचू। भयेउ कुअवसर कठिन सँकोचू ॥१॥
जानि गरुइ गुरुगिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी ॥२॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यहु नाथ हमारा ॥३॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीभरतजी के हृदय में शोक (चिंता) हुआ कि बड़े कुअवसर प कठिन संकोच आ पड़ा है ॥१॥ फिर गुरु की वाणी को गौरवयुक्त मान वे चरणों में प्रणाम कर हा जोड़कर बोले ॥२॥ हे नाथ ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करें, यह हमारा सबसे बड़ा धर्म है ॥३॥

विशेष—(१) 'कुअवसर कठिन सँकोचू'—कुअवसर यह कि समाज के साथ इनका व्रत यथा—"पय अहार फल असन एक···" (दो० १८८)। यह तीर्थ स्थल है, ये क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण एवं महर्षि धान्य कैसे लें ? फिर श्रीरामजी तो भोग छोड़े हुए हैं और हम यहाँ पहुनाई करावें, यह अनुचित है। पु मुनि को ससैन्य हमारे सत्कार में बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा, इत्यादि। संकोच यह कि आज्ञा न मानें अवज्ञा होगी, इत्यादि।

(२) 'जानि गरुइ गुरुगिरा···'—फिर विचार करने पर गुरु-आज्ञा के पालन करने को विशेष

माना कि जैसे ससैन्य विश्वामित्रजी (राजा विश्वरथ) ने वसिष्ठजी का सत्कार स्वीकार किया, राजा सहस्रबाहु ने जमदग्नि का, वैसे हमें भी ग्रहण करना ही चाहिये। 'गुरु' शब्द से यहाँ (गुरु-वर्ग) भरद्वाजजी का तात्पर्य है।

(२) 'सिर धरि आयसु···'—यह अर्धाली ज्यों-की-त्यों बा० दो० ७६ में है, वहीं के भाव यहाँ भी लगा लें। वहाँ—"प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना।" है, वैसे यहाँ भी—"भरत बचन मुनिवर मन भाये।" आगे कहा है।

पूर्व विचार धर्म का था, उसपर गुरु-आज्ञा परमधर्म परक होने से विशेष हुई।

भरतबचन मुनिबर मन भाये सुचि सेवक सिष निकट बोलाये ॥४॥
चाहिय कीन्हि भरत पहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई ॥५॥
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाये। प्रमुदित निज निज काज सिधाये ॥६॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिय जस देवता ॥७॥
सुनि रिधिसिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिं गोसाईं ॥८॥

दोहा—रामबिरह ब्याकुल भरत, सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम, कहा मुदित मुनिराज ॥२१३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन मुनि-श्रेष्ठ के मन को प्रिय लगे, उन्होंने पवित्र सेवकों और शिष्यों को निकट बुलाया ॥४॥ (और कहा कि) श्रीभरतजी की मेहमानी करनी चाहिये, जाकर कंद-मूल-फल लाओ ॥५॥ हे नाथ! बहुत अच्छा, ऐसा कहकर उन्होंने शिर नवाया और बड़े हर्ष से अपने-अपने कार्य को चल दिये ॥६॥ मुनि को शोच हुआ कि मेहमान बड़ा भारी निमंत्रित किया गया है, जैसा देवता हो, उसकी वैसी ही पूजा होनी चाहिये; अर्थात् श्रीभरतजी महान् पाहुन हैं, उनके योग्य भारी सत्कार-विधान भी चाहिये ॥७॥ यह (मुनि का शोच) सुनकर अणिमा आदि सिद्धियाँ और ऋद्धियाँ आईं और कहने लगीं कि हे गोस्वामी! जो आज्ञा हो वह हम करें ॥८॥ मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर कहा कि छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी और समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीरामजी के विरह से व्याकुल हैं, मेहमानी करके उनके श्रम को दूर करो ॥२१३॥

विशेष—(१) 'सुचि सेवक सिष निकट बोलाये।'—सेवक वे हैं, जो अभी शिष्य नहीं हुए हैं, परीक्षा के लिये सेवा में रहते हैं। (पहले ऋषि लोग तुरंत चेला नहीं कर लेते थे, सेवा द्वारा उसकी श्रद्धा की कठिन परीक्षा करके शिष्य करते थे।) और शिष्य वे हैं, जिन्होंने मंत्र दीक्षा पाई है एवं जो विद्या पढ़ते हैं। 'सुचि'—जो निश्छल सेवा करें और कभी आज्ञा भंग न करें; यथा—"मातु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी ॥" (कि० दो० २२); "उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (दो० २६८); "सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥" (बा० दो० ३३१) एवं दो० १८५ चौ० ३ भी देखिये।

(२) 'कंद मूल फल आनहु···'—यह शास्त्र का मत है कि जो वस्तु स्वयं खाय, वही अपने देव-पितृ को भी अर्पण करे; यथा—"यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥" (वाल्मी० २।१०३।३०);

इस विचार से कंद आदि मँगाये। पुनः यह भी रीति है—"तसि पूजा चाहिय जस देवता।' यह विचार कर मुनि शोच में पड़ गये कि श्रीभरतजी चक्रवर्ती के कुमार हैं, इनका ससैन्य सत्कार करना है तो कंद-मूल आदि क्या दें ? ये तो तपस्वियों के ही योग्य हैं।

(३) 'प्रमुदित निज निज काज ··'—इस अर्द्धाली में उपर्युक्त शुचिता चरितार्थ है कि जिन्हें जो आज्ञा हुई थी, एवं जो जिस वस्तु के ज्ञाता थे, उसके लिये वे हर्ष-पूर्वक गये।

(४) 'सुनि रिधि सिधि ··'—'सुनि' शब्द से ध्वनित है कि स्मरण-द्वारा इनका आवाहन किया गया, जैसे कि वाल्मी० २।९१।११-२३ में देवावाहन कहे गये हैं।

'रिधि-सिधि'—देखिये—'रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।' एवं बा० दो० २१ चौ० ४। इन सबके आने पर मुनि प्रसन्न हुए कि अब योग्य सत्कार होगा। 'मुनिराज'—वे राजा हैं तो ये भी मुनिराज हैं। अतः, सत्कार करने के योग्य हैं।

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबरबानी। बड़ भागिनि आपुहि अनुमानी ॥१॥
कहहिं परसपर सिधिसमुदाई। अतुलित अतिथि राम-लघु भाई ॥२॥
मुनिपद बंदि करिय सोइ आजू। होइ सुखी सब राजसमाजू ॥३॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना ॥४॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाखे ॥५॥
दासी दास साज सब लीन्हे। जोगवत रहहिं मनहि मन दीन्हे ॥६॥
सब समाज सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं ॥७॥
प्रथमहि बास दिये सब केही। सुंदर सुखद जथारुचि जेही ॥८॥

दोहा—बहुरि सपरिजन भरत कहँ, रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि-बिसमय-दायक बिभव, मुनिबर तपबल कीन्ह ॥२१४॥

शब्दार्थ—बिलखाहिं = रोते हैं, लज्जित होते हैं। केही = किसी को।

अर्थ—ऋद्धि सिद्धियों ने मुनि श्रेष्ठ की वाणी सुनकर उसे शिरोधार्य किया और अपने को बड़ी भाग्यवती समझा ॥१॥ सब सिद्धियाँ आपस में कहती हैं कि श्रीरामजी के छोटे भाई अद्वितीय मेहमान हैं ॥२॥ मुनि के चरणों की वन्दना करके आज वही करना चाहिये, जिससे सब राज-समाज सुखी हो ॥३॥ ऐसा कहकर उन्होंने अनेक सुन्दर घर रचे, जिन्हें देखकर विमान लज्जित होते हैं ॥४॥ और उनमें बहुत-से भोग और ऐश्वर्य भर रक्खे, जिन्हें देखकर देवता उनकी इच्छा करते हैं ॥५॥ दासियाँ और दास लोग सब सामग्री लिये हुए लोगों के मन से-मन लगाये हुए उनके मन को देखते रहते हैं, (कि किसकी क्या इच्छा है, हम वही सम्पन्न करें) ॥६॥ जो सुख का सामान स्वर्ग में स्वप्न में भी नहीं है, वह सब सिद्धियों ने पल-भर में सजकर ॥७॥ पहले सब किसी को सुन्दर सुखदायक और जिस प्रकार

जिसकी रुचि थी, वैसे ही निवास-स्थान दिये ॥८॥ फिर ऋषि भरद्वाजजी ने (स्वयं) कुटुम्ब के साथ श्रीभरतजी को ऐसो (जैसो आज्ञा ऋद्धि-सिद्धियों के द्वारा घरों में रहने के लिये पहले सब किसी को दी थी, वैसी) आज्ञा दी। ब्रह्माजी को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला ऐश्वर्य मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजी ने अपने तपोबल से उपस्थित किया ॥२१४॥

विशेष—(१) 'रिधि सिधि सिर धरि'''—इनकी सदा इच्छा रहती थी, पर मुनि के यहाँ निरादर ही रहता था, आज मुनि ने स्वयं आवाहन किया, इससे श्रद्धा पूर्वक आज्ञा शिरोधार्य कर अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा। पुनः आज परम भागवत की सेवा प्राप्त होगी, इससे भी अपना बड़ा भाग्य माना।

(२) 'अतुलित अतिथि राम लघु भाई।'—यह दीप-देहली है, इसीसे ऋद्धियों और सिद्धियों ने अपनेको बड़ी भाग्यवती माना और वे सत्कार करने के योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये मुनि के चरणों की वंदना करती हैं। 'राम लघु भाई'—श्रीरामजी ने श्रीअवध के राज्य को तृण की तरह त्याग दिया, जिसे इन्द्र भी सिहाते हैं; यथा—"अवध राज सुरराज सिहाई।''" (दो० ३२३); ये उनके ही छोटे भाई हैं। फिर ये स्वयं भी वैसे ही वैराग्यवान् हैं कि उसी राज को त्यागे हुए हैं, अत', बड़े भारी पाहुन हैं। ये हमारी सेवा से सुखी हो सकेंगे? संदेह है, यदि प्रसन्न हों तो हमारा बड़ा भाग्य हो।

(३) 'मुनि-पद बंदि'''—हमारी शक्ति तो इनके समाज को प्रसन्न करने की भी नहीं है। हाँ, मुनि के चरणों के प्रभाव से हो सके तो बड़ा भाग्य है।

मुनि श्रीभरतजी के प्रभाव को यथार्थ रूप में नहीं जान पाये, तभी तो उन्होंने विरह-श्रम भोग-विभूति से हरना चाहा था, भला ऐसे परमभक्त इससे कैसे सुखी हो सकते हैं? ये श्रीरामचरण के लोभी भ्रमर हैं, यथा—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।'''राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (बा० दो० १६); ये भोगों से कब सुखी हो सकते हैं; यथा—"तवामृतस्यंदिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र); तथा—"रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥" (दो० ३२३); परन्तु सिद्धियों ने लख लिया, इसीसे अतुलित अतिथि आदि कहा। यह भी कहा कि श्रीभरतजी को संतुष्ट करना असंभव है, मुनि-कृपा से समाज भले हा सुखी हो तो हो।

(४) 'बिलखाहिं बिमाना'—(१) विमान देवताओं के हैं। आगे कहा ही है कि 'जे सुख सुर-पुर सपनेहुँ नाहीं।' देवता लोग भखते हैं कि हम भी अवधवासियों में न हुए, नहीं तो ये सब भोग पाते। (२) विमान का अर्थ सतमहल भवन भी है—संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ पृ० ७०९ देखिये।

(५) 'बहुरि सपरिजन भरत कहँ '''—पहले सेना आदि समाज को घर आदि का प्रबंध करके तब श्रीभरतजी के लिये जो मुनि-श्रेष्ठ ने (सिद्धियों का हास होना समझकर) अपने तपोबल से गृह निर्मित किया था, उसमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दी, अर्थात् आज्ञा मानने को विवश कर उसमें प्रवेश करने को कहा; यथा—"प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा। वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः॥" (वाल्मी० २।९१।१६); श्रीभरतजी भागवत-श्रेष्ठ हैं। अतः, इन्हें स्वयं मुनिश्रेष्ठ ने श्रेष्ठ गृह दिया और उसमें प्रवेश की आज्ञा दी।

श्रीभरतजी की पहुनाई के लिये मुनिराज ने प्रथम सेवकों और शिष्यों से कहा। फिर ऋ-

का आवाहन किया, तब अपना तपोबल भी लगाया, विधि-विस्मय दायक ऐश्वर्य से भी वे श्रीभरतजी को सन्तुष्ट न कर सके, यह श्रीभरतजी के राम-प्रेम एवं वैराग्य की महिमा है।

मुनिप्रभाव जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका ॥१॥
सुख समाज नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ज्ञानी ॥२॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना ॥३॥
सुरभि फूल फल अमिअ-समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना ॥४॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से ॥५॥
सुरसुरभी सुरतरु सबही के। लखि अभिलाष सुरेस सची के ॥६॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥७॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमयबस लोगा ॥८॥

दोहा—संपति चकई भरत चक, मुनिआयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रमपिंजरा, राखे भा भिनुसार ॥२१५॥

शब्दार्थ—सुरभि = सुगंध, सुगंधित। पान = पेय द्रव्य, जल, शर्बत आदि।

अर्थ—जब श्रीभरतजी ने मुनि का प्रभाव देखा, तो (उसके समक्ष में) सभी लोकपालों के लोक (उन्हें) तुच्छ जान पड़े ॥१॥ सुख की सामग्रियाँ वर्णन नहीं किया जा सकता, उन्हें देखकर ज्ञानी लोग अपना वैराग्य भूल जाते हैं ॥२॥ बिछौने, शय्या, सुन्दर वस्त्र, चँदोवे, वन, फुलवाड़ी और अनेक प्रकार के पक्षी और पशु ॥३॥ सुगंध (अतर आदि), सुगंधित फूल, अमृत के समान फल, निर्मल जलाशय (तालाब-बावड़ी आदि) तरह-तरह के ॥४॥ पवित्र और अमृत के भी अमृत-समान खाने और पीने के पदार्थ, जिन्हें देखकर लोग संयमी की तरह सकुचाते हैं ॥५॥ सभी के यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं, जिन्हें देखकर इन्द्र और इन्द्राणी को भी अभिलाषा होती है (कि यह एवं ऐसा भोग-ऐश्वर्य हमें भी मिलता, तो कृतार्थ हो जाते) ॥६॥ वसन्त ऋतु है (शीतल, मंद, सुगंध) तीनों प्रकार की हवा चल रही है, सभी को चारों पदार्थ सुलभ हैं ॥७॥ माला, चन्दन, स्त्री आदि सब भोग-विलास के पदार्थों को देखकर सब लोग हर्ष और विस्मय के वश हो गये (हर्ष-मुनि के प्रभाव से देवी दिव्य सामग्री देखकर और आश्चर्य यह कि अभी कुछ न था, सब पदार्थ एवं स्थल आदि कहाँ से और कैसे क्षणमात्र में आ गये? विस्मय का अर्थ डर भी होता है। डर यह कि हमलोग नेम-व्रतधारी हैं। अतः, यह भोग राम-विरह में अनुचित है) ॥८॥ सम्पत्ति (उपर्युक्त सब सामग्री) चकवी है, श्रीभरतजी चकवा हैं, मुनि की आज्ञा (निमंत्रण) खेलाड़ी है। जिसने उस रात में दोनों को उस आश्रम-रूपी पिंजड़े में बंद कर रक्खा, रक्खे रक्खे ही सवेरा हो गया ॥२१५॥

विशेष—(१) 'सुख समाज···देखत बिरति ···'—वैराग्य ज्ञानी का मुख्य अंग है—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु" (उ० दो० ८९); "बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।" (दो० १७७); ज्ञानी लोग

ब्रह्मानंद भोगते हुए प्राकृत सुख के सर्वथा त्यागी होते हैं ; यथा—"परमारथी प्रपंच बियोगी ॥ ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा ।" (बा० दो० २१) ; ऐसे ज्ञानियों का वैराग्य भूलना कहकर इस दिव्य ऐश्वर्य की अत्यंत प्रशंसा की । ज्ञानी तो आसक्त हो जाते हैं, पर उसी को भक्त-शिरोमणि श्रीभरतजी ने दृष्टि से भी नहीं चाहा, यह इनकी भक्ति का महत्त्व है ।

(२) 'बन बाटिका बिहग · सुरभि फूल···'—बन में नाना प्रकार के पक्षी और मृग हैं, वाटिका में नाना सुगंधित फूल और बागों में अमृत के समान स्वादिष्ट फल हैं। फल कहकर बाग भी जना दिया; क्योंकि अन्यत्र प्रायः वन, बाग और वाटिका तीनों ही साथ कहे जाते हैं।

(३) 'अमिअ अमी से'—यहाँ 'बिधि बिसमय दायक बिभव' कहा गया है और अमृत का पान तो स्वर्ग में भी रहता ही है, ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य उससे कहीं अधिक है, उससे भी अधिक यहाँ है। तब अमृत का भी सार-रूप अमृत का पान होना युक्त ही है। इसीसे तो इन्द्र और इन्द्राणी का अभिलाष करना कहा है।

'सकुचात जमी से'—अवधवासी लोग श्रीरामजी के दर्शनों के लिये नियम व्रत-रूप संयम करने-वाले हैं। वे सकुचा रहे हैं कि यह भोग कहीं हमारे व्रत को भंग न कर दे, जैसे संयमी लोग सिद्धियों के छल से सकुचते एवं डरते हैं।

(४) 'सुरसुरभी सुरतरु सबही के'—सभी के यहाँ इसलिये रक्खे कि सबके मनोवांछित देने में हम (सिद्धियाँ) भूल भी जायँ, तो इनसे प्राप्त हो जाय।

(५) 'सब कहँ सुलभ पदारथ चारी'—यहाँ चारो पदार्थों के उपभोग का सुख सब को प्राप्त है ; यथा—"अरथ धरम कामादि सुख, सेवइ समय नरेसु ॥" (बा० दो० १५४) । काम से अधिक अर्थ में, उससे अधिक धर्म में, पुनः उससे अधिक मोक्ष में सुख होता है, ये सब लोगों को उनकी रुचि के अनुसार प्राप्त हैं। यहाँ मोक्ष-सुख सत्संग में अंतर्भूत है ; यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग। तुल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥" (सुं० दो० ४)।

(६) 'स्रक चंदन बनितादिक'' ' अर्थात् भोग के आठो अंग सम्पन्न हैं; यथा—"सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम् । भूषणं वाहनं चेति भोगाष्टकमुदीरितम् ॥" ये सबको प्राप्त हैं।

(७) 'संपति चकई भरत चक···'—इस भोग की प्राप्ति में श्रीभरतजी की वृत्ति कैसी रही ? यह उपमा द्वारा कहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है कि चकवा-चकवी रात में संयोग नहीं करते, उनका परस्पर वियोग ही रहता है। यदि दोनों रात में पिंजड़े में बंद भी कर दिये जायँ, तो भी परस्पर मुँह फेरे ही रहते हैं।

वैसे ही यहाँ जो मुनि ने श्रीभरतजी को भोग विभूति के भोगने की आज्ञा दी, वही आज्ञा खेलाड़ी है क्योंकि आज्ञा ने ही विवश करके आश्रम-रूप पिंजड़े में उस रात को मानों बंद कर रक्खा। चकवा की तरह श्रीभरतजी भोग-विभूति-रूपी चकवी से मुँह फेरे रहे, उससे वियोगी ही बने रहे, अर्थात् राम-विरह के कारण उससे दुखी हुए ; यथा—"भोरहि भरद्वाज आश्रम तें···चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज घोर घाम के लागे ॥" (गी० अ० ६८) ; "चक चकि जिमि पुर नर नारी। चहत प्रात उर आरत भारी ॥", (दो० १८६) । खेलाड़ी चकवे और चकवी को परीक्षा के लिये पिंजड़े में बंद करता है कि देखें दोनों मिलते हैं कि नहीं। पर यहाँ मुनि की आज्ञा ने श्रीभरतजी को दिव्य-विभूति से भी वैराग्य को संसार के समक्ष में, दिखाने के लिये विवश कर नियुक्त किया। उसे पूर्ण सफलता हुई, श्रीभरतजी ने कंद मूल आदि ही ग्रहण कर विभव पर दृष्टि न दी।

इस प्रसग पर श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि जो राज का आसन श्रीभरतजी के लिये था, उसपर तो मन से श्रीरामजी को राजा मानकर आप मत्री के आसन पर चंवर लेकर बैठे और उस आसन को प्रणाम किया, इस तरह 'संपति सब रघुपति कै आही।' की भावना से भोग से निर्लिप्त रहे और अपना सेवक भाव भी रक्खा।

कीन्ह निमज्जन तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिर सहित समाजा ॥१॥
रिषिआयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाखी ॥२॥
पथ-गति-कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चित दीन्हे ॥३॥
रामसखा - कर दीन्हे लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू ॥४॥
नहि पदत्रान सीस नहि छाया। प्रेम नेम ब्रत धरम अमाया ॥५॥
लखन - राम - सिय - पंथ - कहानी। पूँछत सखहि कहत मृदु बानी ॥६॥
राम - बास - थल - बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहि रोके ॥७॥
देखि दसा सुर बरिसहि फूला। भइ मृदु महि मग मंगलमूला ॥८॥

दोहा—किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बरवात।
तस मग भयेउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात ॥२१६॥

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) तीर्थ राज-प्रयाग की त्रिवेणी में स्नान किया और समाज के साथ मुनि को प्रणाम कर ॥१॥ ऋषि की आज्ञा और आशिष शिरोधार्य कर दण्डवत् करके बहुत प्रार्थना की ॥२॥ मार्ग की व्यवस्था में निपुण लोगों को और सबको साथ लिये हुए चित्रकूट को चित्त लगाये हुए चले ॥३॥ श्रीरामजी के सखा निषादराज के हाथ का सहारा लिये हुए चल रहे हैं, मानों अनुराग ही शरीर धारण कर चल रहा है ॥४॥ न तो चरणों में जूते हैं और न शिर पर छाया (अर्थात् शिर पर छाता भी नहीं लगाया है), उनके प्रेम, नियम, व्रत और धर्म निश्छल हैं ॥५॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी के मार्ग की कथा सखा से पूछते हैं और वह कोमल-वाणी से कहता है ॥६॥ श्रीरामजी के निवास-स्थल एवं वहाँ के वृक्षों को देखकर हृदय में अनुराग रोके नहीं रुकता (अर्थात् रोमांच आदि से उमड़ा पड़ता है) ॥७॥ श्रीभरतजी की यह दशा देखकर देवता लोग फूल बरसाते हैं, पृथिवी कोमल हो गई है और मार्ग मंगल-दायक हो गया है ॥८॥ मेघ छाया किये जाते हैं, सुख देनेवाली (त्रिविध) श्रेष्ठ हवा चल रही है, जैसा (सुखद) मार्ग श्रीभरतजी के जाते समय हुआ, वैसा श्रीरामजी के लिये (भी) न हुआ था ॥२१६॥

विशेष—(१) 'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।'—चित्रकूट तीर्थ है, विशेष कर इस समय वहाँ श्रीरामजी भी विराजमान हैं, इसलिये उसी ओर ध्यान लगाये हुए चले। सीधे चित्रकूट की ओर ही चित्त देकर चलने का यह भी भाव हो सकता है कि भरद्वाजजी के ही आतिथ्य से ऊब गये थे, बीच मार्ग में उनके गुरु वाल्मीकिजी का भी स्थान है। वे कहीं इनसे भी अधिक वैभव से सत्कार करने लगे, तो राम-विरह

के कारण दुःखद ही होगा और आज्ञा-उल्लंघन करते भी न बनेगा। इसलिये वहाँ न ठहरे, इस भाव की पुष्टि उपर्युक्त 'घोर घाम के लागे' इस गीतावली के प्रमाण से भी होती है। 'चित दीन्हे'—मन, 'चले'—कर्म और 'पंथ कहानी पूछत'—वचन है, इन तीनों से इनका श्रीरामजी में लीन होना दिखाया गया।

यहाँ प्रयाग में इसी पार स्नान करके चले; क्योंकि एक तो तीर्थ-राज का स्थल त्रिवेणी इसी पार है, दूसरे यहाँ तो सरस्वती नदी भी है, अतः, यों भी उतरकर नहाने की आवश्यकता नहीं है। (सरस्वती नदी के अतिरिक्त और नदियों में यदि पार जाना हो, तो उतरकर स्नान करना चाहिये, यह विधि है)।

(२) 'रामसखा-कर दीन्हे लागू।···'—अनुराग में देह शिथिल हो ही जाती है, इन्हें श्रीराम-विरह एवं श्रीरामजी के दर्शनों की उत्कृष्ट लालसा है, इसीसे अनुराग में शिथिल हैं। अतः, मूर्त्तिमान् अनुराग कहे गये हैं और सखा के सहारे चलते हैं।

(३) 'पंथ-कहानी'—यहाँ मार्ग में जहाँ-तहाँ थोड़ी-थोड़ी ही देर ठहरे थे, इससे मगवासियों की वार्ता आदि छोटी-छोटी कथाएँ कहते जाते हैं, इसीसे 'कहानी' शब्द दिया गया है। कहानी का अर्थ छोटी कथाएँ। 'मृदुवानी'—भक्तों की वाणी कोमल ही होती है, दूसरे श्रीभरतजी के संग से शुद्ध भी अति-अनुराग में निमग्न हैं, इससे भी उनकी वाणी मृदु हो गई है। यह भी गर्भित है कि श्रीरामजी के किंचित् भी कष्ट की बात नहीं कहते कि जिससे श्रीभरतजी दुखी हो जायँ। 'भइ मृदु महि···'—पृथिवी का मंगल मूल होना आगे—'किये जाहिं छाया···' से कहते हैं।

(४) 'तस मग भयेउ न राम कहँ···'—यहाँ पर भगवत् की अपेक्षा भागवत का माहात्म्य अधिक दिखाया गया है। जैसे कि आगे समुद्र ने श्रीरामदूत की सेवा की, पर श्रीरामजी की न की, यह सुंदरकाण्ड में प्रसिद्ध है। पुनः इसका कारण आगे स्वयं कवि देते हैं; यथा—"भरत राम प्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मग मंगल दाता॥" कहा भी है—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहिं सोहातो। काल करम कुलि कारनी कोऊ कोहातो॥" (वि॰ १५२); अर्थात् जब भक्त सर्वात्मना प्रभु को प्रिय दृष्टि से देखता है, तब भगवान् भी चराचर-रूप से मृदु भाव से ही उसके सम्मुख रहते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)।

शंका—पहले तो छाले पड़ना कहा गया है; यथा—"झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओसकन जैसे॥" (दो॰ २०३)।

समाधान—सन्मार्ग में प्रायः पहले कठिन परीक्षा होती है, फिर परिणाम में सुख होता है। पर यहाँ परीक्षा जगत् की शिक्षा के लिये थी, श्रीभरतजी को उसमें भी कष्ट नहीं हुआ, जैसे 'ओस कन' शीतल ही लगते हैं और पंकज-पत्र उनसे निर्लिप्त ही रहते हैं। विवेकी भक्त लोग देह धर्म को अपनेसे भिन्न मानकर उससे निर्लिप्त ही रहते हैं।

लोग यह भी कहते हैं कि श्रीभरतजी प्रथम श्रीरामजी के लौटाने का निश्चय करके श्रीअवध से चले थे, इससे स्वार्थ की हानि समझकर देवताओं ने कष्ट दिया। जब त्रिवेणी में कहे हुए वचनों से इनकी निष्कामता देखी, तो वे मृदु-भाववाले हो गये।

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥१॥
ते सब भये परम-पद-जोगू। भरतदरस मेटा भव रोगू॥२॥

यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिन्हहि राम मन माहीं ॥३॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ ॥४॥
भरत राम प्रिय पुनि लघुभ्राता। कस न होइ मग मंगलदाता ॥५॥
सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं। भरतहि निरखि हरष हिय लहहीं ॥६॥
देखि प्रभाव सुरेसहि सोचू। जग भल भलेहि पोच कहँ पोचू ॥७॥
गुरु सन कहेउ करिय प्रभु सोई। रामहि भरतहि भेंट न होई ॥८॥

दोहा—राम सँकोची प्रेमबस, भरत सुप्रेम पयोधि।
बनी बात बिगरन चहति, करिय जतन छल सोधि ॥२१७॥

शब्दार्थ—बारक = एक बार। तरन = तैरकर पार होनेवाला। तारन = दूसरे को भवपार करनेवाला।

अर्थ—मार्ग के बहुत-से जड़-चेतन जीव, जिन्होंने प्रभु श्रीरामजी को देखा अथवा जिन्हें प्रभु ने देखा ॥१॥ वे सब परम-पद (मोक्ष) के अधिकारी हो गये और श्रीभरतजी के दर्शनों ने तो उनका भव-रोग (जन्म-मरण के कारण रूप मानस रोग) ही मिटा दिया ॥२॥ श्रीभरतजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि जिन्हें श्रीरामजी भी स्मरण करते रहते हैं ॥३॥ (देखिये !) जगत् में कोई भी एक बार 'राम' (ऐसा) कहते हैं, वे स्वयं तर जाते हैं और (कीर्ति-द्वारा) दूसरों के तारनेवाले हो जाते हैं ॥३॥ श्रीभरतजी तो श्रीरामजी के प्यारे हैं और फिर उनके छोटे भाई हैं, तो उनके लिये माग मंगल-दायक कैसे न हो ? अर्थात् होना ही चाहिये ॥५॥ सिद्ध, साधु और मुनि श्रेष्ठ ऐसा कह रहे हैं और श्रीभरतजी को देखकर हृदय में हर्षित होते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के (प्रेम का) प्रभाव देखकर देवराज इन्द्र को शोच हुआ, (यह प्रसिद्ध है कि) संसार भले के लिये भला और बुरे के लिये बुरा ही दीखता है ॥७॥ उसने गुरु बृहस्पतिजी से कहा कि हे प्रभो ! वही (यत्न) कीजिये, जिससे श्रीरामजी से श्रीभरतजी की भेंट न हो ॥८॥ (क्योंकि) श्रीरामजी सकोची और प्रेम के वश हैं और श्रीभरतजी पवित्र प्रेम के समुद्र हैं, इससे अब बनी हुई बात बिगड़ना चाहती है, इसलिये विचार कर कोई छल का उपाय कीजिये ॥२१७॥

विशेष—(१) 'ते सब भये परम-पद-जोगू।...'—श्रीरामजी के दर्शनों से जीव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥"—(आ० दो० ३५)। "अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी० ६।११७।३०) वह प्रारब्ध कर्म समाप्त कर मरने पर मुक्त होता है; क्योंकि इस प्रारब्ध परिणाम शरीर के रहते हुए मुक्ति का भोग नहीं हो सकता ; यथा—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।" (छां० ६।१४।२) ; शरीर पर्यंत जन्म-मरण के कारण-रूप-मानसी रोगों का बीज बना रहता है ; यथा—"जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥ विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे ॥" (उ० दो० १२१) ; "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।" (गीता० ५।१९), कारण पाकर मन को विषय वश करनेवाले कामादि मानसी रोगों के बीज भी श्रीभरतजी के दर्शनों से मिट गये ; यथा—"काक होहिं पिक बकउ मराला।"

(बा० दो० २); (इसकी टीका देखिये) तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी के दर्शनों से श्रीरामजी का ऐश्वर्य-ज्ञान और उनमें उत्कृष्ट प्रेम हुआ ; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥" (दो० २२१); उस प्रेम से मानसी-रोगों का सूक्ष्म मल भी शुद्ध हो गया ; यथा—"मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहुँ जतन न जाई।···राम-चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥" (वि० ८२)। "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" (गीता २।५९) फिर जीते ही मुक्त के तुल्य दशा प्राप्त हो गई।

(२) 'जग भल भलेहि पोच··· ···'—यहाँ यह चरितार्थ है कि श्रीभरतजी के प्रेम प्रभाव को देखकर सिद्ध, साधु, मुनिवर तो प्रशंसा कर रहे हैं और उसीसे इन्द्र को शोच हुआ। इन्द्र स्वयं छलिया है, इसीसे सबको वैसा ही समझता है।

(३) 'राम सँकोची प्रेम बस ·· ··'—'सँकोची' ; यथा—"सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥" (दो० ३१२); 'प्रेमबस' ; यथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (बा०दो०३४१); श्रीभरतजी प्रेम के समुद्र हैं, फिर श्रीरामजी क्या न इनके वश होंगे। 'बनो बात'—माता-पिता और कुटुंब एवं श्रीअवध को छोड़कर वन को आये, तो रावण-वध की आशा हुई। 'बिगरन चहत' यदि श्रीरामजी घर लौटे, तो सरस्वती-द्वारा किया हुआ कार्य व्यर्थ हुआ, फिर हम लोगों की विपत्ति मिटने की कोई आशा नहीं। 'छल सोधि'—ऐसा भारी छल-प्रयोग किया जाय, जिससे काय अवश्य सफल हो।

बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने ॥१॥
कह गुरु बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट करि होइहि भाँड़ू ॥२॥
मायापति-सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया ॥३॥
तब कछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी ॥४॥

शब्दार्थ—भाँड़ू = भंडाफोर, नष्ट भ्रष्ट, बखेड़ा। उलट पड़ना = अपने ही सिर पड़ना।

अर्थ—इन्द्र के वचन सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी मुस्कुराये और हजार नेत्रवाले इन्द्र को बिना आँख का (अंधा) समझा ॥१॥ गुरु ने कहा कि व्यर्थ की घबड़ाहट और छल छोड़ो, यहाँ (इस समय) कपट करने से भंडाफोड़ होगा (भेद खुल जायगा, हँसी एवं दुर्दशा होगी) ॥२॥ हे देवराज ! माया के स्वामी श्रीरामजी के सेवक से माया (छल) करने से वह फिरकर अपने ही माथे आ पड़ती है ॥३॥ उस (पहले) जो कुछ किया था, वह श्रीरामजी का रुख समझकर ही ; और अब कुचाल करने से हानि होगी ॥४॥

विशेष—(१) 'सुर गुरु मुसुकाने'—हँसना निरादर दृष्टि से है कि यह कहाता है सहस्राक्ष, पर अंधे की तरह विवेक शून्य है। स्वार्थी को अपना ही सूझता है। इसपर भी हँसे कि भला हुआ, जो हमसे कहा; अन्यथा औरों के चाटु वचनों में दुर्दशा भोगता।

(२) 'मायापति-सेवक सन ··'—भाव यह कि जिनकी माया ब्रह्मादिक को अधीन में रखनेवाली है; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं ॥" (उ० दो० ७०)। उनके सेवक पर दूसरों की माया नहीं लग सकती ; यथा—"राम भगति निरुपम ··बसै जासु उर···तेहि बिलोकि माया सकुचाई।" (उ० दो० ११५),

यदि भरत पर माया न लग सकी, तो मूठ (जादू)-प्रयोग की तरह उलटकर करनेवाले ही को नाश करेगी। 'सुरराया' अर्थात् यह देवराजत्व चला जायगा। यदि कहो कि हमने पहले मायापति ही के साथ माया की थी और सफल भी हुए, तो सुनो—

(३) 'तब कछु कीन्ह'''—उस बार श्रीरामजी का रुख था; यथा—"निमल वंस यह अनुचित एकू।'''प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। ''" (दो० १) ; पुनः तमसा-तट पर पुरजनों पर माया की; यथा—"कछुक देव माया मति मोई।" तो वहाँ भी श्रीरामजी की इच्छा थी कि सब लौट जायँ, पर अब की श्रीरामजी की ऐसी इच्छा नहीं है कि श्रीभरतजी लौट जायँ, प्रत्युत् भेंट की इच्छा है—दो० ६ शकुन-विचार-प्रसंग से स्पष्ट है।

सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ ॥५॥
जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई ॥६॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहि दुरबासा ॥७॥
भरत-सरिस को रामसनेही। जग जप राम राम जप जेही ॥८॥

दोहा—मनहुँ न आनिय अमरपति, रघुबर - भगत - अकाज।
अजस लोक परलोक दुख, दिन-दिन सोकसमाज ॥२१८॥

अर्थ—हे देवराज ! श्रीरघुनाथजी का स्वभाव सुनो, वे अपने अपराध पर कभी भी रुष्ट नहीं होते ॥५॥ पर जो उनके भक्त का अपराध करता है, वह श्रीरामजी की क्रोधाग्नि से जलता है ॥६॥ लोक और वेद दोनों में यह इतिहास प्रसिद्ध है, इस महिमा को दुर्वासाजी जानते हैं ॥७॥ श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का कौन स्नेही है ? कि जिन श्रीरामजी को जगत् जपता है, वे रामजी जिन (श्रीभरतजी) को जपते हैं; अर्थात् श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का प्रेमी दूसरा नहीं है ॥८॥ (अतएव) हे देवराज ! रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी के भक्त का अनहित (बुरा) मन में भी न लाइये, (नहीं तो) लोक में अपयश, परलोक में दुःख और नित्यप्रति शोक का समाज बढ़ता जायगा ॥२१८॥

विशेष—(१) 'निज अपराध रिसाहि न काऊ।'—कवि ने यहाँ इसका प्रयोजन न रहने से उदाहरण नहीं दिया, पर अन्यत्र है—भृगु की लात सही, नारद का शाप और परशुरामजी के दुर्वचन सह लिये। क० उ० ३ भी देखिये।

(२) 'जो अपराध भगत कर'''; यथा—"जो पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भगत को ''" (वि० १३०)।

(३) 'यह महिमा जानहि दुरबासा।'—परम वैष्णव भक्तराज अम्बरीषजी के यहाँ दुर्वासा ऋषि शिष्यों के सहित प्रातःकाल द्वादशी को पहुँचे। भक्तराज ने इन्हें निमंत्रित किया, इनके मन में तो और बात थी, स्नान के लिये गये और द्वादशी वहीं बिता दी। इधर भक्तराज एकादशी-व्रत के परम नैष्ठिक थे, अतएव उन्हें व्रत-रक्षा के लिये द्वादशी रहते हुए पारण कर लेना उचित था। पंडितों की अनुमति से चरणामृत-मात्र ले लिया, क्योंकि बिना अतिथि दुर्वासाजी को भोजन कराये स्वयं कैसे भोजन करते ? उधर

दुर्वासाजी कुपित होकर आये कि मुझे न भोजन कराके तुमने पारण कर लिया, जिससे मेरा अपमान हुआ। क्रुद्ध हो जटा पटककर कालकृत्या को उत्पन्न कर भक्तराज को भस्म करना चाहा। इधर भगवान् की आज्ञा से सुदर्शन-चक्र ने—जो अम्बरीषजी की रक्षा के लिये सदा प्रस्तुत रहता था—उस कृत्या को अपने तेज से भस्म कर दिया और दुर्वासा की ओर बढ़ा। दुर्वासाजी दसों दिशाओं को भगे, ब्रह्मा-शिव आदि ने भी शरण न दी, वैकुंठ पहुँचे, भगवान् ने भी न रक्खा, बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि यद्यपि मैं ब्रह्मण्यदेव, आर्त्त-रक्षक और शरण्य हूँ, तथापि भक्त-वात्सल्य गुण इन तीनों को दबा देता है। अतः, तुम उन्हीं भक्तराज की शरण में जाओ। तब अभिमान-रहित होकर ऋषि राजा अम्बरीष की ही शरण आये। राजा इनके दीन भाषण पर लज्जित हुए और चक्र से प्रार्थना कर उसे शान्त किया। (यह कथा श्रीमद्भागवत एवं भक्तमाल-टीका आदि में प्रसिद्ध है)।

मुनि एक तो ब्राह्मण, फिर महान् ऋषि और शिवजी के अवतार थे, उन्हें भी मनुष्य, राजा और क्षत्रिय की शरण में पड़ना पड़ा। एक वर्ष तक किसी ने उनकी रक्षा न की। कहा भी है—"सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ बिष फरनि फरै॥" (वि० ११७)।

दुर्वासाजी ने ऐसा ही परमभक्त पांडवों के साथ भी किया था। दुर्योधन की प्रेरणा से ये युधिष्ठिर के पास ऐसे अवसर पर पहुँचे कि जब द्रौपदीजी सूर्य भगवान् की दी हुई बटुली धो चुकी थीं, युधिष्ठिर ने इन्हें निमंत्रित कर दिया, वहाँ भी भगवान् कृष्ण ने रक्षा की, दुर्वासा को डरकर भागना पड़ा, (यह कथा महाभारत वनपर्व अ० २६२–२६३ में है)।

(४) 'भरत-सरिस को रामसनेही…… '—यदि इन्द्र कहना चाहें कि अम्बरीषजी बड़े भारी भक्त थे, तो ऐसा हुआ, इसपर कहते हैं कि श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का स्नेही और कौन है कि जिन्हें स्वयं श्रीरामजी ही जपते हैं?

(५) 'मनहुँ न आनिय……'—भाव यह कि मन में भी ऐसा लाने पर लोक-परलोक बिगड़ता है, तब कर्म से ऐसा करने पर न जाने क्या दशा हो। 'दिन-दिन सोक समाज'—शोक की सामग्री दिनों-दिन बढ़ती ही जायगी। 'अमरपति'—देवता सात्विक होते हैं, तुम उनके भी स्वामी हो, तुम्हें तो निश्छल रहना ही शोभा देता है।

सुनु सुरेस उपदेस हमारा। रामहि सेवक परमपियारा ॥१॥
मानत सुख सेवकसेवकाई। सेवकबैर बैर अधिकाई ॥२॥
जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहि न पाप पुन्य गुन दोषू ॥३॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥४॥
तदपि करहि सम-बिषम-बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥५॥

अर्थ—हे देवराज! हमारा उपदेश सुनो, श्रीरामजी को सेवक परम प्यारे हैं ॥१॥ वे सेवक की सेवा से सुख मानते हैं और सेवक के प्रति वैर करनेवाले से भारी वैर मानते हैं ॥२॥ यद्यपि वे प्रभु सम हैं तथापि उनका किसी से न राग (ममत्व) है और न रोष। वे किसी के पाप-पुण्य और गुण-दोष को नहीं ग्रहण करते ॥३॥ (किन्तु) कर्म की प्रधानता में जगत् को र रक्खा है, जो जैसा कर्म करता है

वैसा फल भोगता है ॥४॥ तो भी वे भक्त और अभक्त के हृदय के अनुसार सम और विषम विहार (प्रवृत्ति) करते हैं; अर्थात् भक्तों से सम (प्रीत्यात्मक) और अभक्तों के प्रति विषम (विरोधात्मक) प्रवृत्ति रखते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'रामहिं सेवक परम पियारा।'; यथा—"पुनि-पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥···भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥" (उ० दो० ८५); प्रिय तो जीव-मात्र हैं, पर सेवक परम प्यारे हैं; यथा—"सेवक-सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि···" (ह० बाहुक)।

(२) 'जद्यपि सम नहिं ···'—श्रीराम ईश्वर का सहज स्वरूप कहते हैं कि वे पाप और दोष के प्रति रोष, एवं पुण्य और गुण के प्रति राग नहीं ग्रहण करते, किन्तु सदा सम (एक रस) रहते हैं। पाप और दोष का व्यवहार यमराज को और पुण्य और गुण का ब्रह्मा को दे रक्खा है। इन दोनों के द्वारा भी यथायोग्य कर्मानुसार ही करते हैं, आगे कहा भी है; यथा—'करम प्रधान बिस्व···' अर्थात् सब जीव अपने-अपने अनादि कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख पाते हैं, इसीसे ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आता; यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" (वेदान्तदर्शन २।१।३४)।

(३) 'तदपि करहिं सम बिषम···'—भक्त भगवान् से प्रीति-पूर्वक वर्त्ताव करते हैं। अतः, भगवान् भी अपने शरीर-रूप जगत के द्वारा प्रीति से ही उससे वर्त्ताव करते हैं। अभक्त भगवान् से एवं उनके शरीर रूप जगत् से द्वेष रखते हैं, इसीसे भगवान् भी उनसे काल-रूप से विषमता रखते हैं, कहा भी है—'तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दर्पण मुख कान्ति ॥" (वि० २४१); "सम दरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥" (कि० दो० ३); भगवान् ने अनन्य भक्त प्रह्लाद की रक्षा की और अभक्त हिरण्यकश्यपु का वध किया, यह चरितार्थ भी है।

(४) 'जद्यपि सम······'—में ज्ञानियों का ब्रह्म निष्क्रिय, 'करम प्रधान···' में कर्म-काण्डियों का ईश्वर न्यायी और 'तदपि करहिं···'—में भक्तों का भगवान् दयालु कहे गये हैं। यह प्रसंग ऐसा ही गीता में भी कहा गया है; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (९।२९), मानस में भी—"राम सदा सेवक रुचि राखी।" यह आगे कहते ही हैं।

अगुन अलेप अमान एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेम-बस ॥६॥
राम सदा सेवकरुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर-साखी ॥७॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत-पद प्रीति सुहाई ॥८॥
दोहा—रामभगत परहितनिरत, परदुख दुखी दयाल।
भगतसिरोमनि भरत ते, जनि डरपहु सुरपाल ॥२१६॥

शब्दार्थ—अलेप = निर्लिप्त, सम्बन्ध रहित। अमान = अप्रमेय, निरभिमान।

अर्थ—श्रीरामजी निर्गुण, निर्लेप, अमान और एक रस हैं, वे ही भक्त के प्रेम वश सगुण हुए ॥६॥ श्रीरामजी ने सदा सेवक की रुचि रक्खी है, वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी हैं ॥७॥ ऐसा

जी में जानकर कुटिलता छोड़ो और श्रीभरतजी के चरणों में सुन्दर प्रीति करो ॥८॥ हे सुरपाल ! राम-भक्त पराये हित में अनुरक्त और पराये दुःख में दयालु होते हैं । श्रीभरतजी तो भक्तों में शिरोमणि हैं, अतः उनसे न डरो ॥२१९॥

विशेष—(१) 'सगुन अलेप अमान''''''—ऊपर भक्त-अभक्त के साथ सम-विषम विहार करना कहा गया । यहाँ भक्त के साथ बर्त्ताव-कथन का प्रसंग है, अतएव वही कहते हैं कि भक्त लोगों के प्रेमवश भगवान् अपनी सहज वृत्ति छोड़ देते हैं, वही यहाँ दिखाते हैं कि जो निर्गुण थे वे सगुण होकर सत्त्व, रज और तमोगुण का बर्त्ताव करते हैं। अलेप थे, उन्होंने माता-पिता, भ्राता, पुत्र आदि के नाते जोड़े। अमान (अप्रमेय) थे, वे परिमित रूप-धारी हुए, देश-काल से परिमित हुए एवं क्षत्रियत्व के मानी हुए। एक रस थे, उन्होंने अनेक रस (नव रस एवं भक्ति के शृंगारादि रस) धारण किये, इत्यादि रीति से भक्तों के अधीन होकर सब कुछ करते हैं। श्रीमुख वचन है ; यथा—"जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५); "प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।" (बा० दो० १८४); "अवतरेउ अपने भगति हित''''" (बा० दो० ५१)।

(२) 'राम सदा सेवक रुचि''''''—श्रीरामजी सेवकों की रुचि रखने के लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। उन्होंने भीष्मपितामह का प्राण रखने के लिये अपना प्राण छोड़ा। प्रह्लाद का वचन रखने के लिये खंभे से ही प्रकट हुए, इत्यादि बहुत-से प्रमाण हैं। कहा भी है—"तुलसी रामहिं आपु तें, सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहिं कैसे दीजै पीठि॥" (दोहावली ४८)।

(३) 'प्रीति सुहाई' अर्थात् हृदय से श्रद्धा-पूर्वक निश्छल प्रीति करो। यदि इन्द्र कहें कि वे तो हमारा अनहित करने जाते हैं, उसपर कहते हैं—

(४) 'राम भगत परहित''''''—संत दयालु होते हैं ; यथा—"लागि दया कोमल चित संता।" (बा० दो० १); इसीसे पर-दुःख से दुखी हो जाते हैं और फिर उसका हित करते हैं; यथा—"पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।" (उ० दो० १२४); "पर उपकार वचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)। ये लक्षण सामान्य संतों के हैं और श्रीभरतजी तो उनमें शिरोमणि हैं। 'सुरपाल'— अपनी साहिबी को यदि बचाना चाहो और देवताओं का पालन करना चाहो, तो श्रीभरतजी से न डरो, प्रत्युत उनमें प्रीति करो ; अन्यथा देवों के साथ तुम्हारी कुशल न होगी।

सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी। भरत राम-आयसु-अनुसारी ॥१॥
स्वारथबिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत-दोष नहिं राउर मोहू ॥२॥
सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी। भा प्रमोद मन मिटी गलानी ॥३॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ। लगे सराहन भरत-सुभाऊ ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ, समर्थ और देवताओं के हित करनेवाले हैं और श्रीभरतजी श्रीरामजी की आज्ञा के अनुसार चलनेवाले हैं ॥१॥ तुम स्वार्थ के विशेष वश होकर व्याकुल हो रहे हो, इसमें श्रीभरतजी का दोष नहीं है, यह तुम्हारा ही अज्ञान है ॥२॥ देवश्रेष्ठ इन्द्र, देवगुरु बृहस्पति की श्रेष्ठ वाणी सुनकर मन में आनंदित हुए और उनकी ग्लानि दूर हुई ॥३॥ देवराज प्रसन्न होकर फूल बरसा-बरसाकर श्रीभरतजी के स्वभाव को सराहने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'सत्यसंध प्रभु ···'—'प्रभु श्रीरामजी सत्यसंध' हैं, अतः—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव-समुदाई ॥" (बा० दो० १८६)। इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे। पुनः चित्रकूट में भी—"करि बिनती दुःख दुसह सुनाये। हरषित निज-निज सदन सिधाये ॥" (दो० १३१) कहा गया है, उसे भी सत्य करेंगे। पुनः १४ वर्ष वनवास करने की भी प्रतिज्ञा करके उसे न छोड़ेंगे, यथा—"जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढब्रत रघुराई ॥" (दो० ८१)। 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ भी हैं। 'सुर हितकारी' हैं, सदा से देवताओं का हित करने का उनका स्वभाव भी है। अत, तुम सबके हित के लिये वे वन ही में रहेंगे। यदि कहो कि श्रीभरतजी के प्रेम-वश लौटने का डर है तो श्रीभरतजी तो श्रीरामजी की आज्ञा के अनुवर्त्ती हैं; अतः, हठ न करेंगे।

(२) 'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।'—गुरु की आज्ञा मानी, इससे देव-श्रेष्ठ कहा गया। गुरुजी ने उत्तम शिक्षा दी और इसमें श्रीराम-स्वभाव, भक्त-स्वभाव और इन्द्र का हित कहा गया। इससे 'बरबानी' कही गई। गुरुजी ने कहा था; यथा —'बादि छोभ छल छाड़ू।' वह यहाँ चरितार्थ हुआ—"भा प्रमोद मन मिटी गलानी।" यह स्पष्ट कहा है। 'कह गुरु बादि···' से इस उपदेश का उपक्रम हुआ और यहाँ—'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।' पर उपसंहार है। 'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।··· से राम-स्वभाव कथन का उपक्रम है और 'सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी।' पर उपसंहार है।

येहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं ॥५॥
जबहिं राम कहि लेहि उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥६॥
द्रवहि बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥७॥
बीच बास करि जमुनहि आये। निरखि नीर लोचन जल छाये ॥८॥

दोहा—रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥२२०॥

अर्थ—इस तरह श्रीभरतजी मार्ग में चले जा रहे हैं, उनकी वह (प्रेम की) दशा देखकर मुनि और सिद्ध तरसते हैं (कि ऐसी उत्तम प्रेम की दशा हमें न मिली, तो मनन करते और साधन करते हुए व्यर्थ ही जन्म गँवाया)॥५॥ जब जब वे (श्रीभरतजी) 'राम' कहकर ऊँची श्वास लेते हैं, तब तब मानों चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है ॥६॥ वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं और पुरवासियों के प्रेम का वर्णन नहीं किया जाता ॥७॥ बीच में (एक रात एक जगह) निवास करके यमुना तट पर आये, जल देखकर आँखों में आँसू भर आये ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के श्याम रंग के समान सुन्दर जल देखकर समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीराम-विरह समुद्र में डूबते हुए विवेक-रूपी जहाज पर चढ़े; अर्थात् विचार किया कि अभी उनके वर्ण-मात्र के दर्शन हुए हैं, इतने ही में अटक रहे तो साक्षात् दर्शन दूर पड़ जायँगे, यह समझकर सावधान हो गये ॥२२०॥

विशेष—(१) 'उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।'—जैसे नदियों का जल उमड़कर चारों ओर फैलता हुआ तटस्थ वस्तुओं को डुबा देता है वैसे ही जब ये अत्यन्त प्रेम से 'राम' कहकर ऊर्ध्व साँस लेते हैं तब पास के लोग प्रेम में डूब जाते हैं और वे भी प्रेमपूर्वक 'राम - राम' कहने लगते हैं।

(२) 'द्रवहिं बचन सुनि···'—जब वज्र-पाषाण ऐसे कठोर भी पिघल जाते हैं अर्थात् कठोर हृदय वाले वनवासी पिघल जाते हैं तब पुरजनों का प्रेम कैसे कहा जाय ?

(३) 'रघुबर-बरन बिलोकि···'—'रघुबर बरन'; यथा—"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।" (दो० १०९); देह की सुध भूलते हुए मन को समझाया कि अब शीघ्र पहुँचना चाहिये, तभी वियोग के दिन दूर होंगे, अतः धैर्य धरना चाहिये।

जमुन-तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय-सम सबहि सुपासू ॥१॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी ॥२॥
प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा ॥३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई ॥४॥
आगे मुनिबर-बाहन आछे। राजसमाज जाइ सब पाछे ॥५॥
तेहि पाछे दोउ बंधु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे ॥६॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा ॥७॥
जहँ जहँ राम-बास-बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥८॥

दोहा—मगवासी नरनारि सुनि, धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह बस, मुदित जनमफल पाइ ॥२२१॥

अर्थ—उस दिन यमुना-तट पर निवास किया, समय के अनुसार सबको सुपास हुआ; अर्थात् भोजन-शयन आदि सबको समय के अनुकूल मिला ॥१॥ रात-ही-रात घाट-घाट की अगणित नावें आईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ सबेरे एक ही खेप की खेवाई में सब नदी के पार पहुँच गये, राम-सखा निषाद-राज की इस सेवा से संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए (कि बहुत) शीघ्रता से बड़ा कार्य हो गया) ॥३॥ नदी में स्नान कर उसे प्रणाम कर निषाद-राज के साथ दोनों भाई चले ॥४॥ आगे मुनि-श्रेष्ठ (विप्र-समाज समेत) अच्छी-अच्छी सवारियों पर हैं। उनके पीछे सब राज-समाज जा रहा है ॥५॥ उसके पीछे दोनों भाई बहुत ही सादे भूषण-वस्त्र और वेष से पैदल जा रहे हैं ॥६॥ सेवक, मित्र और मंत्री के पुत्र साथ हैं। श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते जाते हैं ॥७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ॥८॥ मार्ग के रहनेवाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर घर के कार्य छोड़ दौड़कर जाते और उनके स्वरूप (सुन्दरता) और स्नेह को देख जन्म का फल पाकर सब आनंदित होते हैं ॥२२१॥

विशेष—(१) समाज समेत श्रीभरतजी को श्रीराम-दर्शनों की आतुरता है, वही शब्दों से भी कवि ने ध्वनित किया है; यथा—'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।' लिखकर फिर बीच के मुकामों के लिये अपूर्ण ही क्रिया देते जाते हैं—'करि बासू', 'बसि प्रातही चले', 'जलथल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन···' अर्थात् 'करि बासू' चले, 'निसिबीते' ही चले, 'बसि प्रातही' चले—ये शब्द आतुरता बोधक हैं।

विशेष—(१) 'सत्यसंध प्रभु ···'—'प्रभु श्रीरामजी सत्यसंध' हैं, अतः—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव-समुदाई ॥" (बा० दो० १८६) । इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे। पुनः चित्रकूट में भी—"करि विनती दुःख दुसह सुनाये। हरषित निज-निज सदन सिधाये ॥" (दो० १३३) कहा गया है, उसे भी सत्य करेंगे। पुनः १४ वर्ष वनवास करने की भी प्रतिज्ञा करके उसे न छोड़ेंगे, यथा—"जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥" (दो० ८१)। 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ भी हैं। 'सुर हितकारी' हैं, सदा से देवताओं का हित करने का उनका स्वभाव भी है। अतः, तुम सबके हित के लिये वे वन ही में रहेंगे। यदि कहो कि श्रीभरतजी के प्रेम-वश लौटने का डर है तो श्रीभरतजी तो श्रीरामजी की आज्ञा के अनुवर्त्ती हैं; अतः, हठ न करेंगे।

(२) 'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।'—गुरु की आज्ञा मानी, इससे देव-श्रेष्ठ कहा गया। गुरुजी ने उत्तम शिक्षा दी और इसमें श्रीराम-स्वभाव, भक्त-स्वभाव और इन्द्र का हित कहा गया। इससे 'बरबानी' कही गई। गुरुजी ने कहा था; यथा —'बादि छोभ छल छाड़ु।' वह यहाँ चरितार्थ हुआ— "भा प्रमोद मन मिटी गलानी।" यह स्पष्ट कहा है। 'कह गुरु बादि···' से इस उपदेश का उपक्रम हुआ और यहाँ—'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।' पर उपसंहार है। 'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।··· से राम-स्वभाव कथन का उपक्रम है और 'सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी।' पर उपसंहार है।

येहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं ॥५॥
जबहिं राम कहि लेहि उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥६॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥७॥
बीच बास करि जमुनहि आये। निरखि नीर लोचन जल छाये ॥८॥

दोहा—रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥२२०॥

अर्थ—इस तरह श्रीभरतजी मार्ग में चले जा रहे हैं, उनकी वह (प्रेम की) दशा देखकर मुनि और सिद्ध तरसते हैं (कि ऐसी उत्तम प्रेम की दशा हमें न मिली, तो मनन करते और साधन करते हुए व्यर्थ ही जन्म गँवाया) ॥५॥ जब जब वे (श्रीभरतजी) 'राम' कहकर ऊँची श्वास लेते हैं, तब तब मानों चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है ॥६॥ वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं और पुरवासियों के प्रेम का वर्णन नहीं किया जाता ॥७॥ बीच में (एक रात एक जगह) निवास करके यमुना तट पर आये, जल देखकर आँखों में आँसू भर आये ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के श्याम रंग के समान सुन्दर जल देखकर समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीराम-विरह समुद्र में डूबते हुए विवेक-रूपी जहाज पर चढ़े; अर्थात् विचार किया कि अभी उनके वर्ण-मात्र के दर्शन हुए हैं, इतने ही में अटक रहे तो साक्षात् दर्शन दूर पड़ जायँगे, यह समझकर सावधान हो गये ॥२२०॥

विशेष—(१) 'उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।'—जैसे नदियों का जल उमड़कर चारों ओर फैलता हुआ तटस्थ वस्तुओं को डुबा देता है वैसे ही जब ये अत्यन्त प्रेम से 'राम' कहकर ऊर्ध्व साँस लेते हैं तब पास के लोग प्रेम में डूब जाते हैं और वे भी प्रेमपूर्वक 'राम - राम' कहने लगते हैं।

(२) 'द्रवहिं बचन सुनि'''—जब वज्र-पाषाण ऐसे कठोर भी पिघल जाते हैं अर्थात् कठोर हृदय वाले वनवासी पिघल जाते हैं तब पुरजनों का प्रेम कैसे कहा जाय ?

(३) 'रघुबर-बरन बिलोकि'''—'रघुबर बरन'; यथा—"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर सम श्याम।" (दो० १०६); देह की सुध भूलते हुए मन को समझाया कि अब शीघ्र पहुँचना चाहिये, तभी वियोग के दिन दूर होंगे, अतः धैर्य धरना चाहिये।

जमुन-तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय-सम सबहिं सुपासू ॥१॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी ॥२॥
प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा ॥३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई ॥४॥
आगे मुनिबर-बाहन आछे। राजसमाज जाइ सब पाछे ॥५॥
तेहि पाछे दोउ बंधु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे ॥६॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा ॥७॥
जहँ जहँ राम - बास - बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥८॥

दोहा—मगबासी नरनारि सुनि, धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह बस, मुदित जनमफल पाइ ॥२२१॥

अर्थ—उस दिन यमुना-तट पर निवास किया, समय के अनुसार सबको सुपास हुआ; अर्थात् भोजन-शयन आदि सबको समय के अनुकूल मिला ॥१॥ रात-ही-रात घाट-घाट की अगणित नावें आईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ सवेरे एक ही खेप की खेवाई में सब नदी के पार पहुँच गये, राम-सखा निषाद-राज की इस सेवा से संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए (कि बहुत) शीघ्रता में बड़ा कार्य हो गया) ॥३॥ नदी में स्नान कर उसे प्रणाम कर निषाद-राज के साथ दोनों भाई चले ॥४॥ आगे मुनि-श्रेष्ठ (विप्र-समाज समेत) अच्छी-अच्छी सवारियों पर हैं। उनके पीछे सब राज-समाज जा रहा है ॥५॥ उसके पीछे दोनों भाई बहुत ही सादे भूषण-वस्त्र और वेष से पैदल जा रहे हैं ॥६॥ सेवक, मित्र और मंत्री के पुत्र साथ हैं। श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते जाते हैं ॥७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ॥८॥ मार्ग के रहनेवाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर घर के कार्य छोड़ दौड़कर जाते और उनके स्वरूप (सुन्दरता) और स्नेह को देख जन्म का फल पाकर सब आनंदित होते हैं ॥२२१॥

विशेष—(१) समाज समेत श्रीभरतजी को श्रीराम-दर्शनों की आतुरता है, वही शब्दों से भी कवि ने ध्वनित किया है; यथा—'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।' लिखकर फिर बीच के मुकामों के लिये अपूर्ण ही क्रिया देते जाते हैं—'करि बासू', 'बसि प्रातही चले', 'जलथल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन''' अर्थात् 'करि बासू' चले, 'निसिबीते' ही चले, 'बसि प्रातही' चले—ये शब्द आतुरता बोधक हैं।

'नदिहि सिर नाई'—यहाँ 'नदी' यह हलका शब्द दिया, क्योंकि विवेक से निश्चय हुआ कि यहाँ श्रीरामजी नहीं, यह तो नदी ही है, इसमें श्रीरामजी का वर्णमात्र ही तो है। पहले शृंगवेरपुर में मार्ग चलने का क्रम बदला था, यहाँ फिर भी बदल रहे हैं—'आगे मुनिवर...'

(२) 'सेवक सुहृद सचिवसुत साथा।...'—पहले शृंगवेरपुर से प्रयाग तक मार्ग में किसी ने न जाना था कि ये पैदल ही आ रहे हैं, किंतु अब तो सब जान गये हैं। अतएव बराबरी वाले साथ हैं।

(३) 'सुमिरत लखन सीय...'—साथ में 'निषाद नाथ' को लिये हुए हैं कि इन्हें देखकर श्रीरामजी प्रसन्न होंगे और श्रीशत्रुघ्नजी को भी श्रीलक्ष्मणजी की प्रसन्नता के लिये साथ लिये हुए हैं और इसीलिये दोनों का स्मरण करते हुए जाते हैं।

(४) 'धामकाम तजि...'; यथा—"चलहिं तुरत गृह काज बिसारी।" (दो० ११२); तथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (बा० दो० २१६) भी देखिये।

> कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। रामलखन सखि होहिं कि नाहीं ॥१॥
> बय बपु बरन रूप सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली ॥२॥
> बेप न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा ॥३॥
> नहिं प्रसन्नमुख मानस खेदा। सखि संदेह होइ येहि भेदा ॥४॥

अर्थ—एक-एक से (आपस में) प्रेम के साथ कहती हैं—हे सखि! ये श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं कि नहीं ॥१॥ हे सखि! अवस्था, शरीर, रंग और रूप वही है, शील और स्नेह भी उन्हीं के समान है और चाल भी उन्हीं की तरह है ॥२॥ (किन्तु) हे सखि! न तो वह वेष है और न श्रीसीताजी साथ हैं और इनके आगे चतुरंगिनी सेना चल रही है ॥३॥ इनका मुख प्रसन्न नहीं है, मन में दुःख है, हे सखि! इस भेद के कारण सन्देह होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'बय बपु बरन रूप सोइ...'; यथा—"सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥ स्याम गौर सब अंग सुहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये ॥ ...भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा ॥" (बा० दो० ३१०)। यह जनकपुर की स्त्रियों का कथन है। श्रीहनुमानजी को भी ऐसा ही संदेह हुआ है; यथा—"भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। राम-लखन रन जीति अवध आये, कैधौं मोहि भ्रम, कैधौं काहू कपट ठयो है ॥" (गी० लं० ११); 'सील सनेह सरिस'; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा।" "चारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी ॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥" (बा० दो० १९७)।

(२) 'बेप न सो'—उन्होंने वल्कल वस्त्र धारण किया था, ये राजकुमारों के ही वेष में हैं। उनके साथ श्रीसीताजी भी थीं, किंतु वे यहाँ नहीं हैं। वे प्रसन्न मुख थे, इनको मानसिक दुःख है।

> तासु तरक तियगन मन मानी। कहहिं सकल तोहि सम न सयानी ॥५॥
> तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुरबचन तिय दूजी ॥६॥

कहि सप्रेम सब कथाप्रसंगू । जेहि बिधि राम-राज-रस भंगू ॥७॥
भरतहि बहुरि सराहन लागी । सील सनेह सुभाय सुभागी ॥८॥

दोहा—चलत पयादे खात फल, पिता दीन्ह तजि राज ।
जात मनावन रघुबरहि, भरत - सरिस को आज ॥२२२॥

अर्थ—उसका तर्क स्त्रियों के मन को भाया, सब कहने लगीं कि तेरे समान कोई चतुर नहीं है ॥५॥ उसकी बड़ाई करके 'तेरी वाणी सत्य है' ऐसा कहकर उसका सम्मान किया और दूसरी जो मधुर वचन बोली ॥६॥ प्रेमपूर्वक सब कथा-प्रसंग कहकर कि जिस तरह श्रीरामजी के राज्य-तिलक का आनंद नष्ट हुआ ॥७॥ फिर श्रीभरतजी के शील, स्नेह, स्वभाव और सौभाग्य की सराहना करने लगी ॥८॥ पैदल चलते, फल खाते, पिता का दिया हुआ राज्य छोड़कर रघुवर श्रीरामजी को मनाने जा रहे हैं, तो श्रीभरतजी के समान (धन्य) आज कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥२२२॥

विशेष—(१) 'तोहि सम न सयानी'—'तोहि' का 'तेहि' पाठांतर है, यह लेख-प्रमाद से ही जान पड़ता है, एक (।) पाई छूट जाना संभव है, क्योंकि 'तेहि' के अर्थ में गौरव नहीं है ।

(२) 'बानी फुरि पूजी'—वाणी को सत्य कहकर सराहना की कि तू ठीक कहती है ।

(३) 'चलत पयादे खात फल…'—पैदल चलते हुए मनाने जाने में अनुराग, फल ही खाने में त्याग और पिता-दत्त राज्य के त्यागने में भीतर का भी त्याग जनाया गया है । यहाँ के उल्लेख से मार्ग में सर्वत्र श्रीभरतजी का फलाहार करना जाना गया ।

भायप भगति भरत - आचरनू । कहत सुनत दुख-दूषन-हरनू ॥१॥
जो कछु कहब थोर सखि सोई । राम-बंधु अस काहे न होई ॥२॥
हम सब सानुज भरतहि देखे । भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखे ॥३॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं । कैकेइ-जननि - जोग सुत नाहीं ॥४॥
कोउ कह दूषन रानिहि नाहिंन । बिधि सबु कीन्ह हमहि जो दाहिन ॥५॥
कहँ हम लोक-बेद - बिधि - हीनी । लघुतिय कुल-करतूति-मलीनी ॥६॥
बसहि कुदेस कुगाँव कुबामा । कहँ यह दरसु पुन्यपरिनामा ॥७॥
अस अनंद अचरज प्रतिग्रामा । जनु मरुभूमि कलपतरु जामा ॥८॥

दोहा—भरतदरसु देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग ।
जनु सिंहलबासिन्ह भयेउ, बिधिबस सुलभ प्रयाग ॥२२३॥

अर्थ—श्रीभरतजी का भाईपना, भक्ति और आचरण कहने सुनने मात्र से दुःख और दोष के हरनेवाले हैं ॥१॥ हे सखि ! जो कुछ भी कहिये, वह थोड़ा ही है, ये श्रीरामजी के भाई हैं तो ऐसा क्यों न हो ? अर्थात् ऐसा होना योग्य ही है ॥२॥ भाई के साथ श्रीभरतजी को देखने से हम सब धन्य स्त्रियों की गणना में हुई ॥३॥ गुण सुनकर और दशा देखकर सब स्त्रियाँ पछताती हैं कि ये पुत्र कैकेयी (ऐसी) माता के योग्य नहीं हैं ॥४॥ कोई कहती हैं कि रानी का भी दूषण नहीं है, यह सब ब्रह्माजी ने किया है, जो हमको दाहिने हैं ॥५॥ (नहीं तो) कहाँ हमलोग लोक और वेद की रीति से हीन, तुच्छ, स्त्री, कुल और करनी से दूषित ॥६॥ बुरे देश, बुरे गाँव में बसनेवाली, खोटी स्त्रियाँ और कहाँ पुण्य के फल रूप इनके दर्शन, अर्थात् ऐसे महात्माओं के दर्शन बहुत पुण्य से होते हैं ॥७॥ ऐसा आनन्द और आश्चर्य प्रत्येक गाँव में होता है, मानों मरुभूमि में कल्पवृक्ष जम आया हो ॥८॥ श्रीभरतजी के दर्शन करते ही मार्गनिवासियों के भाग्य खुले (उदित हुए) मानों दैवयोग से सिंहल (द्वीप) के निवासियों को प्रयाग (तीर्थ) प्राप्त हो गया ॥२२३॥

विशेष—(१) 'भायप भगति भरत ···'—'भायप'; यथा—"भयेउ न भुवन भरत सम भाई।" (दो० २५८); अर्थात् भाई में प्रीति होना श्रीभरतजी में लोकोत्तर गुण है। 'भगति'—ज्येष्ठ भाई में और 'आचरनू'—माता, पिता एवं और सब लोगों के साथ बर्ताव। वा, भाईपन की रक्षा में राज्य त्याग दिया, फल खाते हुए 'राम-सिय, राम-सिय' अनुराग पूर्वक कहते हैं। यह भक्ति है और पैदल चलना आचरण है।

राजकुमारों में ऐसा भायप और भक्ति असंभव है; इसीसे सभी को आश्चर्य लगता है। वही आगे कहते हैं—'अचरज प्रतिग्रामा' इत्यादि।

(२) 'भइन्ह धन्य जुबती ···'—धन्य स्त्रियाँ—शची, शारदा, रमा, भवानी आदि हैं। आज से हमलोग उनके तुल्य गिनी जायँगी। इस रीति से अपने भाग्य की सराहना करती हैं। वा, आज से हम स्त्रियों की गणना में धन्य कही जायँगी; यथा—"भयउँ भाग-भाजन जन लेखे।" (दो० ८७)।

(३) 'कोउ कह दूषन रानिहि ···'—भाव यह कि हमें तो रानी ही के द्वारा इनके दर्शन मिले, तो कृतज्ञता चाहिये, उल्टे उसे दोष क्यों दें ?

(४) 'यह दरस'—अगुल्यानिर्देश करके कहा। 'लघुतिय कुल ···'—ये ब्राह्मण आदि ऊँचे कुल की नहीं हैं। करतूत भी इनकी मलिन है, कमाना खाना मात्र रहता है, शुद्धाचरण भी नहीं। 'मरुभूमि कलपतरु ···'—मरुभूमि वह है, जहाँ जल न हो, बालू का मैदान हो, जैसे मारवाड़ एवं उसके पास के देश। ऐसे स्थलों पर सामान्य वृक्ष भी नहीं होते, फिर कल्पवृक्ष का होना तो आश्चर्य ही है।

(५) 'भरतदरस देखत खुलेउ ···'—'दरस' का अर्थ दृश्य अर्थात् रूप है। सिंहल द्वीप भारतवर्ष के दक्षिण में, श्रीरामेश्वर के भी ठीक दक्षिण में है। इसे इतिहासों में स्वर्ण द्वीप एवं स्वर्ण भूमि भी कहते हैं। सिंहल के मोती, माणिक्य, नीलम आदि प्रसिद्ध हैं। वहाँ पर ३॥ करोड़ तीर्थों के राजा प्रयाग का जाना असंभव है। वैसे इस जाँगल देश में सामान्य भक्तों के दर्शन ही दुर्लभ हैं। उन्हें भक्त शिरोमणि श्रीभरतजी के दर्शन घर बैठे मिल गये, यह दैवयोग ही कहा जायगा। 'मग लोगन्ह कर भाग'—इसका उपक्रम—"मगवासी नर नारि···" (दो० २२१) से है, 'नर-नारि' और 'मग लोगन्ह' से सूचित किया कि श्रीभरतजी के दर्शन बच्चे, बूढ़े आदि सभी को होते हैं, क्योंकि ये पीछे हैं। ग्रामों से होकर जब तक सम्पूर्ण सेना निकलती है, तब तक मार्ग पर सब पहुँच जाते हैं।

प्रयाग की उत्प्रेक्षा दी गई। प्रयाग चारों फल देता है; इनके दर्शनों से भी चार फलों की प्राप्ति जनाई। प्रयाग में त्रिवेणी है; यहाँ श्रीभरतजी श्यामवर्ण यमुना, श्रीशत्रुघ्नजी गौरवर्ण गंगाजी और ज्ञानी महर्षि वसिष्ठजी सरस्वती के तुल्य हैं।

निज-गुन-सहित राम-गुन-गाथा। सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा ॥१॥
तीरथ मुनिआश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा ॥२॥
मन हीं मन माँगहिं बर येहू। सीय-राम-पद-पदुम सनेहू ॥३॥
मिलहिं किरात कोल बनबासी। बैखानस बटु जती उदासी ॥४॥
करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। केहि बन लखन राम बैदेही ॥५॥
ते प्रभुसमाचार सब कहहीं। भरतहिं देखि जनमफल लहहीं ॥६॥
जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे ॥७॥
येहि बिधि बूझत सबहिं सुबानी। सुनत राम-बन-बास-कहानी ॥८॥

दोहा—तेहि बासर बसि प्रातहीं, चले सुमिरि रघुनाथ।
राम-दरस की लालसा, भरत-सरिस सब साथ ॥२२४॥

शब्दार्थ—उदासी (उत्-आसीन) = जो संसार के झंझटों से पृथक् हो, विरक्त।

अर्थ—अपने गुण-सहित श्रीरामजी के गुणों की कथा सुनते और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए (श्रीभरतजी) चले जाते हैं ॥१॥ तीर्थ देखकर स्नान और मुनियों के आश्रम तथा देवताओं के मंदिरों को देखकर प्रणाम करते हैं ॥२॥ और मन-ही-मन यह वरदान माँगते हैं कि श्रीसीतारामजी के चरण-कमलों में स्नेह हो ॥३॥ किरात-कोल आदि वनवासी, वान-प्रस्थ, ब्रह्मचारी, यती और उदासी मिलते हैं ॥४॥ (उनमें से) जिस-तिस से प्रणाम करके पूछते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी किस वन में हैं ॥५॥ वे प्रभु के सब समाचार कहते हैं और श्रीभरतजी को देखकर जन्म के फल पाते हैं ॥६॥ जो लोग कहते हैं कि हमने उन्हें कुशल-पूर्वक देखा है, उनको श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के समान प्यारे मानते हैं ॥७॥ इस तरह सबसे सुन्दर वाणी से पूछते हैं और श्रीरामजी के वनवास की कहानी सुनते हैं ॥८॥ उस दिन (बीच में) ठहरकर प्रातःकाल ही श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके चले, सब साथ के लोगों को श्रीभरतजी के समान ही श्रीराम-दर्शनों की लालसा है; अर्थात् उन्हीं की-सी सभी की दशा है ॥२२४॥

विशेष—(१) 'निज गुन-सहित'''—सुनने में श्रीराम-गुण-गाथा मुख्य है, 'सहित' शब्द से 'निजगुन' को गौण कहा गया है। निज गुण में 'गुण' एक वचन है, श्रीरामगुण में बहुवचन-सूचक 'गाथा' शब्द है। 'राम-गुन-गाथा'; यथा—"कहि सप्रेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि राम-राज-रस भंगू ॥ (दो० २२१); राम-कथा के साथ-साथ श्रीभरतजी की भी प्रशंसा है; यथा—"राम बंधु अस काहे न होई ॥" (दो० २२२); "चलत पयादे खात फल,''''''जात मनावन रघुबरहिं''" (दो० २२२); इत्यादि

निज गुण भी सुनते हैं, क्योंकि इसे श्रीभरतजी राम-गुण-गाथा का अंग मानते हैं। पुनः इससे श्रीभरतजी जगत्-प्रेरक प्रभु की अनुकूलता का अनुभव करते हैं। मुख से 'राम-सिय, राम-सिय' कहते जाते हैं और कानों से रामकथा सुनते हैं—श्रवण और कीर्तन इन दोनों भक्तियों को साथ-साथ करते हैं।

(२) 'तीरथ मुनि''मन ही मन'''—कई कर्मों का एक-मात्र फल श्रीसीतारामजी के चरण-कमलों का स्नेह माँगते हैं; यथा—"सब करि माँगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (दो० १२९); मन ही में माँगते हैं, क्योंकि भक्ति-भाव छिपा रहना चाहिये।

(३) 'वनवासी। वैखानस बटु जती उदासी'—पहले क्रमशः गृही, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और संन्यासी कह कर और फिर उदासी कहकर आश्रम-नियम से भिन्न भी जो विरक्त साधु हैं, उन्हें बताया। 'करि प्रनाम पूछहिं'''—कोई भी हो, उससे प्रणाम करके पूछते हैं, क्योंकि वह श्रीराम-दर्शनों से पावन हो चुका है और इन्हें श्रीरामजी के समाचार के लिये अत्यन्त आतुरता है। अत्यंत प्रेम ने सामान्य धर्म को दबा दिया है। सब किसी से पूछना प्रेम की अधिकता है।

(४) 'जनमफल लहहीं'—विचारते हैं कि ये गृही होते हुए भी ऐसी उच्च दशा को प्राप्त हैं। अतः, इनके दर्शनों से हम धन्य हुए। 'राम लखन सम लेखे'—जो 'वैखानस बटु जती उदासी' हैं, एवं 'वनवासी' में जो अपनेसे किसी अंश में बड़े हैं, उन्हें श्रीरामजी के समान और छोटों को श्रीलक्ष्मणजी के समान देखते हैं; यथा—"जो कहिहैं फिरे राम लखन घर करि मुनि-मख-रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहि लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी॥" (गी० बा० ९८)।

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू॥१॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहि दुखदाहू॥२॥
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिं सनेहसुरा सब छाके॥३॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहवल बचन प्रेमबस बोलहिं॥४॥

अर्थ—सबको मंगल शकुन हो रहे हैं। सुख देनेवाले (अंग) नेत्र और बाहु (स्त्रियों के बाम और पुरुषों के दाहिने) फड़क रहे हैं॥१॥ समाज के साथ श्रीभरतजी को उत्साह हो रहा है कि श्रीरामजी अवश्य मिलेंगे और दुःख की जलन मिटेगी॥२॥ जिसके हृदय में जैसा भाव है, वैसा ही वह मनोरथ करता है। स्नेह-रूपी मदिरा से छके हुए (नशे में चूर की तरह) चले जा रहे हैं॥३॥ सबके सब अंग शिथिल हैं, मार्ग में पैरों से डगमगाते हुए चलते हैं और प्रेम के वश विह्वल वचन बोलते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'करत मनोरथ जस''''—ऊपर 'मिलिहहिं राम' कहा गया, उसीपर अपने-अपने भाव (शृंगार, सख्य, वात्सल्यादि) के अनुसार मनोरथ करते हैं कि हम श्रीरामजी से इस तरह मिलेंगे, बोलेंगे, वे हमसे इस-इस तरह, इत्यादि 'जाहिं सनेह सुरा'''—स्नेह को मदिरा से रूपक बाँध कर आगे कहते हैं—

(२) 'सिथिल अंग पग''' से मतवाले का स्वरूप कहते हैं कि अंग ढीले पड़ गये हैं, पैर से डगमगाते हैं, वचन ठीक नहीं निकलते इत्यादि। मतवालों के मन में मनोरथ भी बहुत होते हैं।

रामसखा तेहि समय देखावा । सैलसिरोमनि सहज सुहावा ॥५॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा । सीयसमेत बसहिं दोउ बीरा ॥६॥
देखि करहिं सब दंडप्रनामा । कहि जय जानकिजीवन रामा ॥७॥
प्रेममगन अस राजसमाजू । जनु फिरि अवध चले रघुराजू ॥८॥

दोहा—भरत प्रेम तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु ।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख, अह-मम-मलिन-जनेषु ॥२२५॥

शब्दार्थ—अह मम = अहंकार और ममकार, मैं और मेरा । जनेषु = जनों में ।

अर्थ—रामसखा निषादराज ने उसी समय सहज ही सुहावने पर्वतों में शिरोमणि (कामदगिरि) को इन्हें दिखाया ॥५॥ जिसके समीप ही पयस्विनी नदी के तट पर श्रीसीताजी सहित दोनों वीर (भाई) श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी निवास करते हैं ॥६॥ सबलोग दर्शन करके 'जय जानकी जीवन रामजी की' ऐसा कह-कहकर दण्डवत् (साष्टाङ्ग) प्रणाम करते हैं ॥७॥ राज-समाज तो ऐसा प्रेम में मग्न है, मानों रघुराज श्रीरामजी लौटकर श्रीअवध को चले हों ॥८॥ उस समय श्रीभरतजी का जैसा प्रेम हुआ, उसे शेषजी भी नहीं कह सकते. और कवि के लिये तो ऐसा अगम है जैसा मैं-मेरा पन से मलिन हृदयवाले मनुष्यों में ब्रह्म-सुख का प्राप्त होना अगम है ।

विशेष—(१) 'सैलसिरोमनि सहज...'—वाल्मीकिजी ने कहा था—"सैलसुहावन कानन चारू ।" और—"राम देहु गौरव गिरिवरहू ।" (दो० १३१); वह यहाँ चरितार्थ हुआ, इसीसे 'शिरोमणि' और 'सहज' विशेषण अधिक लग गया । इसने श्रीरामजी के निवास से ही यह बड़ाई पाई है ; यथा—"श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ।" सब स्नेहरूपी सुरा में मतवाले हैं, इसलिये आगे चलने के उत्साह को बढ़ाने के लिये निषादराज ने कामदगिरि के दर्शन कराये ।

(२) 'दोउ बीरा'—वीर का अर्थ शूरवीर और भाई भी होता है । शूरवीर ही बन में रह सकते हैं । 'दंड प्रनामा'—दंडवत् शरीर से करते और वचन से भी—'जय···' कहते हैं । 'जनु फिरि अवध चले···'—श्रीभरतजी ने निश्चय किया था—"आनहिं बहुरि राम रजधानी ।" (दो० १८३); वह मानों हो गया । 'रघुराजू' शब्द से—"बनहि देव मुनि रामहि राजू ।"(दो० १८१); का भी सुख हुआ कि मानों श्रीरामजी राजा होकर लौटे । राज-समाज की व्यवस्था कहने तक तो बुद्धि की पहुँच रही, श्रीभरतजी के विषय में आगे कहते हैं—

(३) 'कबिहि अगम जिमि···'—'जनेषु' शब्द सप्तमी के बहुवचन का रूप है । यह भी निश्चय है कि जब तक 'मैं मोर' रूपी नानात्व जगत् की सत्ता नहीं छूटती, तब तक ब्रह्मानंद बहुत दूर है; यथा—"तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै ।" (वि० १२०) । शेषजी अपने शुद्ध हृदय से तो अनुभव कर सकते हैं, किन्तु कथन में दो सहस्र रसना के होते हुए भी वे असमर्थ हैं । पर कवि के मलिन हृदय में श्रीभरत-प्रेम का अनुभव भी नहीं हो सकता, तो कहेगा क्या ?- इसकी मनोवृत्ति तो अहं-मम की तरह उपमा-उपमेय की खोज में ही निमग्न रहती है, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रता बिना श्रीभरत के प्रेम को कैसे समझे ? जिसकी अगमता के विषय में—"जहँ न जाइ मन बिधि हरि हरको ।" (दो० . कहा है । तब कहना तो इसके लिये अत्यन्त ही अगम है ।

सकल सनेह सिथिल रघुबर के। गये कोस दुइ दिनकर ढरके ॥१॥
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ-पिरीते ॥२॥
उहाँ राम रजनी अवसेखा। जागे सीय सपन अस देखा ॥३॥
सहित समाज भरत जनु आये। नाथबियोग ताप तन ताये ॥४॥
सकल मलिनमन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी ॥५॥

शब्दार्थ—दिनकर ढरके = सूर्य डूबने पर। अवशेषा = अंत समय। ताये = तपे हुए। अनुहारी = आकृति।

अर्थ—सब लोग रघुवर के प्रेम से शिथिल हैं, (इसीसे) दो ही कोस चल पाये कि सूर्य डूब गये (या, सूर्य अस्त होने पर भी दो कोस चले; क्योंकि शीघ्र दर्शनों की उत्कंठा है) ॥१॥ जल का सुपास और ठहरने के योग्य स्थल देखकर ठहर गये। रात बीतते ही श्रीरघुनाथजी के प्यारे (श्रीभरतजी) ने गमन किया अथवा, श्रीरामजी के प्रीत्यर्थ गमन किया ॥२॥ वहाँ श्रीरामजी रात के अंत में एवं कुछ रात रहने पर जागे, (श्रीसीताजी भी जागीं, उठने के पहले) श्रीसीताजी ने ऐसा स्वप्न देखा ॥३॥ (उसे वे श्रीरामजी को सुनाती हैं) कि मानों समाज-सहित श्रीभरतजी आये हैं और प्रभु (आप) की वियोगाग्नि की ताप से उनका शरीर तप्त हो रहा है ॥४॥ सब लोग उदास-मन, दीन और दुखी हैं, सासुओं की और ही आकृति (रूप में) देखी; अर्थात् न कहने योग्य विधवा-रूप में देखा ॥५॥

विशेष—(१) 'गये कोस दुइ···'—दिन भर में दो ही कोस चल पाये, कारण पूर्वार्द्ध में दिया गया है कि स्नेह में मतवाले हैं, अंग ढीले पड़ गये हैं, पाँव डगमगाते हैं, या, उत्कंठावश रात में भी दो कोस चले। इसीलिये राम-सखा ने गिरिवर दिखाकर उत्साहित किया है। 'जल थल देखि' अर्थात् यहाँ भोजन भी नहीं किया, केवल जल-थल ही मात्र से सम्बन्ध रहा, (यहाँ तक श्रीभरतजी के नौ मुकाम हुए)।

(२) 'उहाँ राम रजनी···'—कवि जहाँ एक ही समय में दो जगह दो बातें लिखते हैं, वहाँ 'इहाँ उहाँ' प्रायः लिखते हैं। 'उहाँ' शब्द से कवि ने अपनी स्थिति भागवत-शिरोमणि श्रीभरतजी की तरफ जनाई, इस तरफ को फिर 'इहाँ' कहेंगे ; यथा—"इहाँ भरत सब सहित सहाये।···" (दो० २२६); पहले श्रीरामजी के चित्रकूट-निवास तक का वर्णन करके उस प्रसंग को—"येहि बिधि प्रभु बन बसहि सुखारी।··" (दो० १४१); पर छोड़ दिया ; फिर इधर श्रीभरतजी के सम्बन्ध को कथा कहने लगे। अभी तक इसीमें थे, इससे भी यहाँ से वहाँ का वर्णन करते हैं ; क्योंकि वहाँ के स्वप्न की बातें कहकर फिर इधर के ही वर्णन में लगना है।

'रजनी अवसेषा' अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त्त में ; यथा—"प्रातपुनीत काल प्रभुजागे। अरुणचूड़वर बोलन लागे॥" (बा० दो० ३५०) श्रीसीताजी चिद्रूपा हैं, इन्हें अन्य प्राकृतों की तरह का स्वप्न नहीं हुआ, किंतु ये तो ज्यों-की-त्यों सब पाती हैं, निरावरण देखती हुई की तरह कह रही हैं। माधुर्य-दृष्टि में इसे स्वप्न कहा गया है। ये जगज्जननी हैं, पुत्रवत् श्रीभरतजी पर चित्त-वृत्ति लगी रही, इसीसे वहाँ का समाचार सब कह रही हैं।

(३) 'नाथबियोग'—हे नाथ ! आपके वियोग में, या श्रीभरतजी (निज) नाथ के···। 'आन अनुहारी'—जैसे देख आई हैं, उससे दूसरी तरह अर्थात् विधवा-रूप में। अपने प्रिय-वर्ग के विषय में

अमंगल शब्द जिह्वा से न कहकर 'आन' इस संकेत से काम लिया है ; यथा–"एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति···" (कि० दो० १०); (इसमें 'कैसेहुँ' से मरण का अर्थ है, पर गुप्त रीति से कहा गया है)।

सुनि सियसपन भरे जल लोचन। भये सोचबस सोचबिमोचन ॥६॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥७॥
अस कहि बंधुसमेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥८॥

छंद—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भये।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गये ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारन काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥

सो०—सुनत सुमंगल बयन, मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरदसरोरुह नयन, तुलसी भरे सनेह जल ॥२२६॥

शब्दार्थ—कुचाह = अशुभ समाचार; यथा —"जातुधान तिय जानि बियोगिनि दुखई सोच सुनाइ कुचाहै ॥" (गी० ४० १६) सचकित = आश्चर्यान्वित।

अर्थ—श्रीसीताजी का यह स्वप्न सुनकर नेत्रों में जलभर आया और जगत्-भर के शोच के छुड़ानेवाले प्रभु शोच के वश हो गये ॥६॥ (और बोले —) हे श्रीलक्ष्मणजी ! यह स्वप्न अच्छा न होगा, कोई अत्यन्त अशुभ समाचार सुनावेगा ॥७॥ ऐसा कहकर भाई के साथ स्नान किया और त्रिपुर के शत्रु श्रीशिवजी का पूजन करके साधुओं का सम्मान किया ॥८॥ देवताओं का सम्मान और मुनियों की वन्दना करके बैठे, तब उत्तर दिशा की ओर देखा कि आकाश में धूल छा गई है, पक्षियों और पशुओं के समूह व्याकुल होकर भागे और प्रभु के आश्रम को गये ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह देखकर प्रभु उठ खड़े हुए, क्या कारण है ? (ऐसा विचारते ही) चित्त में आश्चर्यान्वित हो गये। उसी समय कोल-किरातों ने आकर सब समाचार कहे ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सुंदर मंगल-वचन सुनते ही मन में बहुत आनन्द हुआ, शरीर में पुलकावली छा गई और शरद् ऋतु के कमल के सदृश आँखों में स्नेह से आँसू भर गये ॥२२६॥

विशेष—(१) 'भये सोचबस···'—शोच मानसी विकार है, इससे श्रीरामजी के प्राकृत होने की शंका होती, इसलिये साथ ही 'सोच बिमोचन' पद भी लिखा गया। जैसे—"बाहिज चिंता कीन्ह बिसेषी।" (आ० दो० २१) ; में 'बाहिज' पद से किया है।

(२) 'कठिन कुचाह'–पिता की मृत्यु के सम्बन्ध में गमी (शोक की अवस्था) का सूचक है। भयानक स्वप्न देखकर विघ्न-शान्ति का उपाय करना चाहिये ; यथा—"देखहिं राति भयानक सपना।···बिप्र जेवाइ

बेहि दिन दाना। सिय अभिषेक करहि विधि नाना ॥" (दो० १५१); वैसे यहाँ भी—'पूजि पुरारि साधु सनमाने।' कहा गया है। यहाँ वन है; अतः, विप्र की जगह साधु हैं। श्रीशिवजी त्रिपुर के घातक हैं; अतः, विघ्नों का नाश करें—यह अभिप्राय है। 'बंधु समेत' अर्थात् नित्य ही साथ स्नान करते हैं।

(३) 'उतर दिसि देखत भये'—श्रीभरतजी और श्रीअवधवासियों के विषय में स्वप्न हुए थे; अतः, स्वभावतः उधर ही दृष्टि गई। 'प्रभु आश्रम गये'—प्रभु पशु-पक्षियों के भी रक्षक हैं, तभी तो वे घबड़ाकर प्रभु के आश्रम को आये। 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना।" (दो० २६२); यह उक्ति यहाँ चरितार्थ है।

(४) 'सब समाचार किरात कोलन्हि '—इन लोगों ने कहा था—"हम सब भाँति करबि सेवकाई।" (दो० १३५); वह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि श्रीभरतजी समाज-सहित आ रहे हैं; इसे सावधानी से जानकर प्रथम ही आ सुनाया।

(५) 'सुनत सुमंगल बयन'—श्रीभरतजी का आगमन आप चाहते थे; यथा—"पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी। " (दो० ६); अतएव उनके आगमन-सूचक वचन सुंदर मांगलिक लगे कि परम प्यारे भाई आ रहे हैं, पुलक आदि पूर्णप्रेम के लक्षण प्रकट हो आये, यह भक्तों पर अपनी प्रीति दिखाई।

बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरतआगमनू ॥१॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥२॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितुबच इत बंधुसँकोचू ॥३॥
भरत सुभाव समुझि मन माहीं। प्रभु चितहित थिति पावत नाहीं ॥४॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने ॥५॥

(२) 'सो सुनि रामहि भा अति सोचू।'—साथ में भारी सेना भी आ रही है, इसपर सोच अत्यन्त हो गया, इसका कारण स्वयं कवि लिखते हैं—'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू।'—अर्थात् सेना सहित आना सुनकर और शंकाएँ न रह गईं। यह समझा कि राज्य में कोई विघ्न होता, तो सेना वहीं रक्षा के लिये रहती। अयोध्या की क्षेम-कुशल निश्चय है, अब यह भी निश्चय हुआ कि राज्य देने का समारोह करके और इस तरह मेरा वन भेजा जाना सुन बहुतों के समक्ष में मेरा अपमान होना विचारकर समारोह से ही मुझे प्रसन्न करने, मनाने एवं राज्य देने को ही आ रहे हैं। सेना-समेत राज्य सौंपने आ रहे हैं; यथा—"अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्। प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः॥" (वाल्मी० २।१०।११); अब सोचते हैं कि इधर तो पिता का वचन पालन करने के लिये १४ वर्ष पर्यंत वनवास करने की मेरी प्रतिज्ञा है और इधर बंधु श्रीभरतजी का संकोच है कि जब वे लौटाने की स्नेहपूर्ण हठ करेंगे तो कैसे निष्ठुर उत्तर दिया जायगा? 'रामहि भा अति सोचू'—सोच सम्बन्ध में 'राम' शब्द देकर कवि ने श्रीरामजी के इस शोच को भी एक क्रीड़ा बनाया। 'इत, इत'—इसका मुहावरा 'इत, उत' का है, पर दोनों ओर 'इत' ही कहा गया है, भाव यह कि मुझे पिता के आज्ञा-पालन के तुल्य ही बंधु-संकोच भी है। दोनों में कोई त्याज्य नहीं है। 'पितुबच' में इस समय आरूढ़ हैं, इससे प्रथम कहा गया है और इसके साथ 'इत' कहना स्वाभाविक था, पर 'बंधु-संकोचू' के साथ भी 'उत' न देकर 'इत' ही कहा गया एवं इधर 'बच' अपूर्ण पद और उधर 'सँकोचू' पूरा एवं बड़ा पद देकर कवि जनाते हैं कि प्रभु, पिता के आज्ञा-पालन-रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा भक्ति-पक्ष को विशेष गौरव देंगे; यथा—"तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥" (दो० १६१)

(३) 'भरतसुभाव समुझि…'—श्रीभरतजी का शील स्वभाव; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बयन।…" (दो० २६०); "हारे हरष होत हिय भरतहिं जिते सकुच सिर नयन।" (गी० बा० ७१); शील-गुण में विशेष वशकारिता होती है, अतः श्रीभरतजी का वश हो जाना सहज है।

(४) 'भरत कहे महँ साधु सयाने।'—अर्थात् वे जो हम कहेंगे, वही करेंगे, साधु हैं 'पराये कार्य के साधक हैं, उनसे किसी के भी कार्य की हानि न होगी; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी॥" (सुं० दो० ५); सयाने हैं, अतः जिसमें हमारा धर्म रहे, वही करेंगे; यथा—"जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥" (दो० २६०) इत्यादि धर्म की व्यवस्था जानते हैं।

लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू। कहत समयसम नीति बिचारू॥६॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवकसमय न ढीठ ढिठाई॥७॥
तुम्ह सर्वज्ञ सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥८॥

दोहा—नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान॥२२७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने लख लिया कि प्रभु के हृदय में खँभार (क्षोभ, खलबली) है, तब वे समय के अनुसार नीति के विचार कहने लगे॥६॥ हे गोस्वामी! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ,

देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥" (दो० १५१); वैसे यहाँ भी—'पूजि पुरारि साधु सनमाने।' कहा गया है। यहाँ वन है; अतः, विप्र की जगह साधु हैं। श्रीशिवजी त्रिपुर के घातक हैं; अतः, विघ्नों का नाश करें—यह अभिप्राय है। 'बंधु समेत' अर्थात् नित्य ही साथ स्नान करते हैं।

(३) 'उतर दिसि देखत भये'—श्रीभरतजी और श्रीअवधवासियों के विषय में स्वप्न हुए थे; अतः, स्वभावतः उधर ही दृष्टि गई। 'प्रभु आश्रम गये'—प्रभु पशु-पक्षियों के भी रक्षक हैं, तभी तो वे घबड़ाकर प्रभु के आश्रम को आये। 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना।" (दो० २६१); यह उक्ति यहाँ चरितार्थ है।

(४) 'सब समाचार किरात कोलन्हि'—इन लोगों ने कहा था—"हम सब भाँति करबि सेवकाई।" (दो० १३५); यह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि श्रीभरतजी समाज-सहित आ रहे हैं; इसे सावधानी से जानकर प्रथम ही आ सुनाया।

(५) 'सुनत सुमंगल बयन'—श्रीभरतजी का आगमन आप चाहते थे; यथा—"पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी। " (दो० ६); अतएव उनके आगमन-सूचक वचन सुंदर मांगलिक लगे कि परम प्यारे भाई आ रहे हैं, पुलक आदि पूर्णप्रेम के लक्षण प्रकट हो आये, यह भक्तों पर अपनी प्रीति दिखाई।

बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरतआगमनू ॥१॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥२॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितुबच इत बंधुसँकोचू ॥३॥
भरत सुभाव समुझि मन माहीं। प्रभु चितहित थिति पावत नाहीं ॥४॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने ॥५॥

अर्थ—फिर श्रीसीतापति श्रीरामजी शोच के वश हो गये कि श्रीभरतजी के आने का क्या कारण है? ॥१॥ फिर एक ने आकर कहा कि उनके साथ बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना है ॥२॥ यह सुनकर श्रीरामजी को अत्यन्त शोच हुआ, इधर तो पिता के वचन और इधर भाई श्रीभरतजी का संकोच ॥३॥ मन में श्रीभरतजी का स्वभाव समझकर प्रभु का चित्त अपने हित पर स्थिति नहीं पाता, अर्थात् यह निश्चय नहीं होता कि मैं आगे वन जाकर अपना अभीष्ट भूभारहरण करने पाऊँगा ॥४॥ तब यह जानने पर चित्त को सान्त्वना मिली कि श्रीभरतजी हमारे आज्ञाकारी, साधु एवं चतुर हैं। (अतः, मेरे अभीष्ट के बाधक न होंगे) ॥५॥

विशेष—(१) 'सियरमनू'—'सिय' शब्द माधुर्य बोधक और 'रमनू' रमण क्रीड़ा-सूचक है; अर्थात् यह आपकी माधुर्य लीला है, अन्यथा इन्हें शोच कैसा? 'कारन कवन'—इसपर कई कल्पनाएँ हैं—(क) क्या श्रीभरतजी के राज्य पाने में तो कोई विघ्न नहीं हुआ, हमारी माता का प्रजा बिगड़ गई हो, या श्रीशत्रुघ्न से कुछ भेद पड़ गया हो। (ख) बीच पाकर कोई शत्रु तो नहीं आ गया, जैसा संदेह—"नृप सुधि कतहुँ कहेहु जनि जाई।" (दो० १५१), इस गुरु-वचन में गर्भित है। (ग) हमारे वनवास पर दुखी होकर हमें लौटाने के लिये तो नहीं आते हैं; यथा—"अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ। वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति॥" (वाल्मी० २।९७।२२)।

(२) 'सो सुनि रामहिं भा अति सोचू ।'— साथ में भारी सेना भी आ रही है, इसपर सोच अत्यन्त हो गया, इसका कारण स्वयं कवि लिखते हैं—'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू ।'—अर्थात् सेना सहित आना सुनकर और शंकाएँ न रह गईं । यह समझा कि राज्य में कोई विघ्न होता, तो सेना वहीं रक्षा के लिये रहती । अयोध्या की क्षेम-कुशल निश्चय है, अब यह भी निश्चय हुआ कि राज्य देने का समारोह करके और इस तरह मेरा वन भेजा जाना सुन बहुतों के समक्ष में मेरा अपमान होना विचारकर समारोह से ही मुझे प्रसन्न करने, मनाने एवं राज्य देने को ही आ रहे हैं । सेना-समेत राज्य सौंपने आ रहे हैं ; यथा— "अस्मां च कैकयीं हत्य भरतश्चाप्रियं वदन् । प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥" (वाल्मी० २।९०।१२) ; अब सोचते हैं कि इधर तो पिता का वचन पालन करने के लिये १४ वर्ष पर्यंत वनवास करने की मेरी प्रतिज्ञा है और इधर बंधु श्रीभरतजी का संकोच है कि जब वे लौटाने की स्नेहपूर्ण हठ करेंगे तो कैसे निष्ठुर उत्तर दिया जायगा ? 'रामहि भा अति सोचू'— सोच सम्बन्ध में 'राम' शब्द देकर कवि ने श्रीरामजी के इस शोच को भी एक क्रीड़ा बनाया । 'इत, इत'—इसका मुहावरा 'इत, उत' का है, पर दोनों ओर 'इत' ही कहा गया है, भाव यह कि मुझे पिता के आज्ञा-पालन के तुल्य ही बंधु-संकोच भी है । दोनों में कोई त्याज्य नहीं है । 'पितुबच' में इस समय आरूढ़ हैं, इससे प्रथम कहा गया है और इसके साथ 'इत' कहना स्वाभाविक था, पर 'बंधु-संकोचू' के साथ भी 'उत' न देकर 'इत' ही कहा गया एवं इधर 'बच' अपूर्ण पद और उधर 'सँकोचू' पूरा एवं बड़ा पद देकर कवि जनाते हैं कि प्रभु, पिता के आज्ञा-पालन-रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा भक्ति-पक्ष को विशेष गौरव देंगे ; यथा—"तासु बचन मेटत मन सोचू । तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ॥" (दो० १६१)

(३) 'भरतसुभाव समुझि···'— श्रीभरतजी का शील स्वभाव ; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बयन ।···" (दो० २६०); "हारे हरष होत हिय भरतहिं जिते सकुच सिरनयन नये ।" (गी० बा० ४३); शील-गुण में विशेष वशकारिता होती है, अतः श्रीभरतजी का वश-हो जाना सहज है ।

(४) 'भरत कहे महँ साधु सयाने ।'— अर्थात् वे जो हम कहेंगे, वही करेंगे, साधु हैं 'पराये कार्य के साधक हैं, उनसे किसी के भी कार्य की हानि न होगी ; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी ॥" (सुं० दो० ५) ; सयाने हैं, अतः जिसमें हमारा धर्म रहे, वही करेंगे; यथा—"जो सेवक साहिबहिं सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥" (दो० २६०) इत्यादि धर्म की व्यवस्था जानते हैं ।

लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू । कहत समयसम नीति बिचारू ॥६॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं । सेवकसमय न ढीठ ढिठाई ॥७॥
तुम्ह सर्बज्ञ सिरोमनि स्वामी । आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥८॥

दोहा—नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील-सनेह-निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान ॥२२७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने लख लिया कि प्रभु के हृदय में खँभार (क्षोभ, खलबली) है, तब वे समय के अनुसार नीति के विचार कहने लगे ॥६॥ हे गोस्वामी ! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ,

प्रभु (आप) के चरणों में उनका प्रेम है यह सारा जगत् जानता है ॥२॥ वे भी आज राज्य-पद पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं ॥३॥ कुटिल, खोटे भाई (भरत) बुरा अवसर देखकर और यह जानकर कि श्रीरामजी वन में वसते हुए अकेले हैं ॥४॥ खोटा विचार करके समाज सजाकर राज्य को अकंटक (शत्रु-रूपी काँटा-रहित) करने आये हैं ॥५॥ (यद्यपि आपको राज्य की चाह नहीं है, तथापि) वे करोड़ों प्रकार की कुटिलता की कल्पनाएँ करके सेना एकत्र कर दोनों भाई आये हैं ॥६॥ जो इनके हृदय में कपट और कुचाल न होती, तो रथों, घोड़ों और हाथियों का समूह किसे अच्छा लगता ? अर्थात् शुद्ध हृदय वाला आप वनवासी के समक्ष में इस ठाट-बाट से न आता ॥७॥

विशेष—(१) 'विषयी जीव पाइ · ·'—जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"विषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥" (दो० २७१); इन तीनों में श्रीभरतजी विषयी हैं, तभी तो वे मूढ़ता और मोहवश होकर अपनी प्रभुता को जनाया चाहते हैं।

(२) 'भरत नीतिरत साधु···'—वे उत्तम नीति को जानते थे। साधु अर्थात् सूधे-स्वभाव और सदाचारी थे, सुजान अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान भी अच्छा था। 'धरममरजाद मिटाई' यथा— "जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४); इस धर्म से उन्हें आपको राज्य देकर सेवा करनी चाहिये थी।

(३) 'कुटिल कुबंधु कुअवसर···'—नीति और साधुता छोड़कर कुटिल हो गये। राम-पद-प्रेम छोड़कर कुबंधु हो गये और यह कुअवसर देखा कि श्रीरामजी अकेले ही तो हैं और वन में वसते हैं, तो यहाँ उनका कोई सहायक नहीं है।

(४) 'आये करइ अकंटक राजू'—सोचा होगा कि चौदह वर्ष पर लौटकर श्रीरामजी कहीं हमारा राज्य-पद छीन न लें, अतएव श्रीरामजी हमारे लिये काँटा हैं, तो इन्हें जड़ से ही क्यों न उखाड़ डालें, अर्थात् इन्हें मारकर निश्चिन्त हो जायँ।

(५) 'कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई।'—जैसे कि अभी लोक-दिखाव में पिता की आज्ञा श्रीरामजी ने मान ली है, पीछे सोच-समझकर ईर्ष्या करेंगे, तो कसर निकालेंगे। ज्येष्ठ हैं, बली एवं शस्त्रास्त्र निपुण हैं और प्रजा उन्हें चाहती भी है, तो वन में तप से और भी बली हो जायँगे, फिर आकर प्रजा को मिला लेंगे और हमें निकाल देंगे, या कैद कर लेंगे इत्यादि। 'दोउ भाई'—श्रीशत्रुघ्नजी का तो नाम भी नहीं लेते, क्योंकि उन्हें श्रीराम-विरोधी का साथी माने हुए हैं, नहीं तो वे फूटकर इधर आ गये होते।

(६) 'जौं जिय होति न···'—कपट-कुचाल होने का प्रमाण देते हैं कि विरह में ठाट-बाट किसी को नहीं सुहाता, उनका श्रीरामजी में प्रेम होता तो दुखी होते और पैदल आते।

भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये ॥८॥

दोहा—ससि गुरु-तियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर-जान।
लोकबेद ते बिमुख भा, अधम न बेन-समान ॥२२८॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥१॥

अर्थ—श्रीभरतजी को व्यर्थ ही दोष कौन दे ? राज्य-पद पाकर संसार ही बावला (उन्मत्त, मदांध) -

सेवक कोई समय (पड़ने) पर ढीठ हो तो वह ढिठाई नहीं है ; अर्थात् कहने का अवसर आ पड़ा है, अतः, मेरी ढिठाई क्षमा हो ॥७॥ हे स्वामी ! आप सर्वज्ञों में शिरोमणि हैं (अतः सब यथार्थ जानते ही हैं) पर मैं आपका अनुचर अपनी समझ (के अनुसार) कहता हूँ ॥८॥ हे नाथ ! आप अतिशय सुहृदय, अत्यन्त सरल-चित्त, शील और स्नेह के समुद्र हैं, सबपर आपकी प्रीति और प्रतीति है और हृदय में अपने ही समान सबको जानते हैं ॥२२७॥

विशेष—(१) 'लखन लखेउ प्रभु···' श्रीलक्ष्मणजी ने यहाँ यथार्थ न लख पाया, क्योंकि ये नित्य जीव हैं, इनकी सर्वज्ञता परिमित है और ये ईश्वर-सापेक्ष हैं। लीला के अनुरोध से यहाँ श्रीरामजी ने श्रीभरतजी का मर्म इन्हें नहीं जनाया, श्रीभरतजी की महिमा अमित है; यथा—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (दो० २८८) ; तब श्रीलक्ष्मणजी का न जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं। अपनी लीला का भेद प्रभु स्वयं जनावें, तो कोई भी जाने ; यथा—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।" (दो० १२६); इसी तरह इन्होंने श्रीरामजी की 'ललित नर लीला' के भेद को भी नहीं जाना ; यथा—, लछिमनहूँ यह मरम न जाना।" (आ० दो० २३) ; श्रीरामजी इस लीला से श्रीभरतजी की महिमा को प्रकट करना चाहते थे, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी को न जनाया।

(२) चरित भी भ्रमात्मक था ही, जैसा पद ने आकर कहा—"सेन संग चतुरंग न थोरी।" वैसे ही प्रभु को खलबली हुई। श्रीलक्ष्मणजी ने इतना ही लख पाया, फिर समाधान होना न जाना। किन्तु यही जाना कि प्रभु इस बात पर क्षुभित हुए कि इतनी बड़ी सेना से लड़ना पड़ेगा, वा, सब अपने ही हैं इनसे युद्ध कैसे करेंगे ? इत्यादि। इसीसे अपनी योग्य सेवा के लिये सन्नद्ध हो गये। ये प्रभु के किंचित् भी क्षोभ को नहीं सह सकते। प्रभु के लिये इन्होंने श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं पिताजी के प्रति क्रोध किया है, तो श्रीभरतजी पर क्रोध करने में क्या आश्चर्य ?

(३) 'नाथ सुहृद सुठि···'—आप सुहृद हैं, इसीसे सबपर प्रीति है, सरल-चित्त होने से प्रतीति और शील-स्नेह के निधान होने से सबको अपने समान जानते हैं।

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई ॥१॥
भरत नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना ॥२॥
तेऊ आजु राजपद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई ॥३॥
कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी ॥४॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू ॥५॥
कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई ॥६॥
जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ-बाजि गजाली ॥७॥

शब्दार्थ—एकाकी = अकेला। गजाली = गज + आली = हाथियों की श्रेणी।

अर्थ—मूर्ख विषयी प्राणी प्रभुता पाकर मोहवश उस प्रभुता को लिये हुए प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् उनका वह अभिमान प्रकट देखने में आता है ॥१॥ श्रीभरतजी नीति परायण, साधु और सुजान हैं,

प्रभु (आप) के चरणों में उनका प्रेम है यह सारा जगत् जानता है ॥२॥ वे भी आज राज्य-पद पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं ॥३॥ कुटिल, खोटे भाई (भरत) बुरा अवसर देखकर और यह जानकर कि श्रीरामजी वन में बसते हुए अकेले हैं ॥४॥ खोटा विचार करके समाज सजाकर राज्य को अकंटक (शत्रु-रूपी काँटा-रहित) करने आये हैं ॥५॥ (यद्यपि आपको राज्य की चाह नहीं है, तथापि) वे करोड़ों प्रकार की कुटिलता की कल्पनाएँ करके सेना एकत्र कर दोनों भाई आये हैं ॥६॥ जो इनके हृदय में कपट और कुचाल न होती, तो रथों, घोड़ों और हाथियों का समूह किसे अच्छा लगता ? अर्थात् शुद्ध हृदय वाला आप वनवासी के समक्ष में इस ठाट-बाट से न आता ॥७॥

विशेष—(१) 'विषयी जीव पाइ...'—जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"विषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥" (दो० २७६); इन तीनों में श्रीभरतजी विषयी हैं, तभी तो वे मूढ़ता और मोहवश होकर अपनी प्रभुता को बनाया चाहते हैं।

(२) 'भरत नीतिरत साधु...'—वे उत्तम नीति को जानते थे। साधु अर्थात् सुधे-स्वभाव और सदाचारी थे, सुजान अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान भी अच्छा था। 'धरममरजाद मिटाई' यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४); इस धर्म से उन्हें आपको राज्य देकर सेवा करनी चाहिये थी।

(३) 'कुटिल कुबंधु कुअवसर...'—नीति और साधुता छोड़कर कुटिल हो गये। राम-पद-प्रेम छोड़कर कुबंधु हो गये और यह कुअवसर देखा कि श्रीरामजी अकेले ही तो हैं और वन में बसते हैं, तो यहाँ उनका कोई सहायक नहीं है।

(४) 'आये करइ अकंटक राजू'—सोचा होगा कि चौदह वर्ष पर लौटकर श्रीरामजी कहीं हमारा राज्य-पद छीन न लें, अतएव श्रीरामजी हमारे लिये काँटा हैं, तो इन्हें जड़ से ही क्यों न उखाड़ डालें, अर्थात् इन्हें मारकर निश्चिन्त हो जायँ।

(५) 'कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई ।'—जैसे कि अभी लोक-देखाव में पिता की आज्ञा श्रीरामजी ने मान ली है, पीछे सोच-समझकर ईर्ष्या करेंगे, तो कसर निकालेंगे। ज्येष्ठ हैं, बली एवं शस्त्रास्त्र निपुण हैं और प्रजा उन्हें चाहती भी है, तो वन में तप से और भी बली हो जायँगे, फिर आकर प्रजा को मिला लेंगे और हमें निकाल देंगे, या कैद कर लेंगे इत्यादि। 'दोउ भाई'—श्रीशत्रुघ्नजी का तो नाम भी नहीं लेते, क्योंकि उन्हें श्रीराम-विरोधी का साथी माने हुए हैं, नहीं तो वे फूटकर इधर आ गये होते।

(६) 'जौं जिय होति न...'—कपट कुचाल होने का प्रमाण देते हैं कि विरह में ठाट-बाट किसी को नहीं सुहाता, उनका श्रीरामजी में प्रेम होता तो दुखी होते और पैदल आते।

भरतहि दोष देइ को जाये । जग बौराइ राजपद पाये ॥८॥

दोहा—ससि गुरु-तियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर-जान ।
लोकवेद ते बिमुख भा, अधम न बेन-समान ॥२२८॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू । केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥१॥

अर्थ—श्रीभरतजी को व्यर्थ ही दोष कौन दे ? राज्य-पद पाकर संसार ही बावला (उन्मत्त, मदांध)-

हो जाता है ॥न॥ (जैसे कि) चन्द्रमा गुरु-स्त्री-गामी हुआ, नहुष ब्राह्मणों को सवारी ढोने में लगाकर उस सवारी पर चढ़ा और वेणु लोक-वेद दोनों से विमुख हुआ; अर्थात् इसने दोनों को नहीं माना, अतः इसके समान कोई अधम नहीं हुआ ॥२२८॥ सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु आदि किस-किस को राज-मद ने कलंक नहीं दिया; अर्थात् ये सभी कलंकित हुए ॥१॥

विशेष—(१) 'जग बौराइ'—इसमें भूत-पूर्व जगत् के प्रधान-प्रधान छः प्रमाण दिये। इनमें सहस्रबाहु की कथा बा० दो० २७१ चौ० ८ और बा० दो० २७५ चौ० २ में, त्रिशंकु की बा० दो० ५ चौ० ८ में, इन्द्र की बा० दो० २१० में, नहुष की दो० ६१ में देखिये। चन्द्रमा—इसने एक समय राजसूय यज्ञ किया, उसमें गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा में आसक्त हो गया। गुरुजी ने इन्द्र से फिरियाद की, चन्द्रमा ने इन्द्र का भी कहना नहीं माना। तब घोर युद्ध हुआ, राक्षसों ने चन्द्रमा का साथ दिया। फिर मध्यस्थ होकर ब्रह्माजी ने बृहस्पति को तारा दिला दी। तारा के गर्भ से जो बुध पुत्र नाम का हुआ वह चन्द्रमा का ही कहलाया। राज-मद से ही चन्द्रमा ने ऐसा कुकर्म किया (भाग० ९।१४)।

(२) वेणु—ध्रुव के वंशज महात्मा अंग राजा की सुनीथा रानी से यज्ञ-द्वारा यह पुत्र हुआ। अंग साधु स्वभाव के थे, सुनीथा मृत्यु की कन्या थी। वेणु जन्म से ही नाना के अनुरूप हुआ, बड़ा निष्ठुर था। साथ के लड़कों को एवं मृग आदि को बहुत मारता था। राजा अंग सब तरह से हार गये। निदान आधी रात को घर से विरक्त होकर वन को चले गये, खोजने पर भी न मिले, ऋषियों ने इसे ही उस कुल में पाकर राजा बनाया। अब राज्यमद से यह अत्यन्त मदांध हो गया। सब धर्म-कर्म बंद करके स्वयं ईश्वर बन बैठा और कहने लगा कि ब्रह्मा आदि लोकपाल सब राजा के ही शरीर में रहते हैं, तुम सब हमें ही पूजो। मुझ यज्ञ-पुरुष को छोड़कर जार के समान दूसरे की उपासना न करो। तब मुनि ने ईश्वर की निंदा सुनकर उसपर कुपित हो गये और 'हुंकार' कर उसे मार डाला।—(भाग० स्कं० ४ अ० १३-१४)

भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ ॥२॥
एक कीन्हि नहिं भरत भलाई। निदरे राम जानि असहाई ॥३॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेखी। समर सरोष राममुख पेखी ॥४॥
एतना कहत नीतिरस भूला। रन-रस-बिटप पुलक मिस फूला ॥५॥

शब्दार्थ—रंच (सं० न्यञ्च)=थोड़ा-सा भी, असहाई = असहाय = जिसका कोई सहायक न हो।

अर्थ—श्रीभरतजी ने यह उचित ही उपाय किया है; क्योंकि (ऐसी नीति है कि) शत्रु और ऋण थोड़ा भी कभी शेष नहीं रखना चाहिये ॥२॥ पर श्रीभरतजी ने एक काम अच्छा नहीं किया, जो श्रीरामजी को सहाय-रहित जानकर उनका निरादर किया ॥३॥ वह भी आज उन्हें विशेषकर (खास तौर पर) समझ पड़ेगा, जब वे संग्राम में श्रीरामजी का क्रोध-पूर्ण मुख देखेंगे ॥४॥ इतना कहते ही श्रीलक्ष्मणजी नीति-रस भूल गये और (उनमें) वीर-रस-रूपी वृक्ष पुलक के बहाने फूल उठा; अर्थात् नीति-रस कहते ही कहते वीर-रस जाग्रत हो आया, उसकी पुलकावली शरीर में छा गई।

विशेष—(१) 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'—ये किंचित् भी रह गये, तो फिर समय पाकर बढ़ जाते हैं, इसलिये इन्हें मिटा ही देना चाहिये; यथा—"ऋणशेषश्चाग्निशेषः शत्रुशेषस्तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत् ॥" (सुभाषित रत्न-भाण्डागार); यथा—"रिपु रुज पावक पाप,

प्रभु महि गनिय न छोट करि।" (आ० दो० २१); (इसमें वहाँ रिपु-रुज आदि छः कहे गये हैं, पर छोटा न गिनने में ही। और यहाँ निशेष करने की बात है, अतः इसमें दो ही कहे गये हैं।

यहाँ श्रीरामजी स्वमात्र हैं, क्योंकि असहाय वन में हैं, राजा के सातों अंगों से रहित हैं और भरत सप्तांगपूर्ण हैं; यह भाव है।

(२) 'निदरे राम जानि असहाई।'—इन्होंने एक यही बुरा किया, जो श्रीरामजी को असहाय जाना; अर्थात् मुझ सहायक को कुछ गिना ही नहीं। यह भी भाव है कि श्रीरामजी को सहाय की अपेक्षा ही नहीं, वे तो संसार-भर के स्वयं सहायक हैं।

(३) 'समर सरोष राम मुख'''—कपिलदेव की सरोष-दृष्टि से साठ हजार सगर के पुत्र भस्म हो गये, वहाँ तो दृष्टि की हो बात थी, यहाँ तो समर की सरोषता से काम पड़ेगा और फिर ये तो दो ही भाई हैं।

(४) 'एतना कहत नीति रस भूला।'''—पहले क्रोध-पूर्वक नीति की बात कहते थे, तब रौद्र-रस था; यथा—'समर सरोष राम मुख''' यह कहते ही थे कि चित्तमें आया कि मुझ सेवक के रहते हुए स्वामी को युद्ध का कष्ट उठाना पड़ा, तो मेरा साथ रहना ही व्यर्थ है। बस, श्रीरामजी का रुख देखा कि मौन हैं, तो ये भी इसमें सहमत है, तब वीर-रस जाग्रत हो गया, उसका स्थायी उत्साह हो गया कि हम ही संग्राम करेंगे! 'पुलक मिस फूला'—वृक्ष फूलने से खिल जाता है, वैसे हो ये पुलक से सुशोभित हुए।

वीर-रस के देवता इन्द्र हैं, इसका स्थायी उत्साह है, तर्क रोमांच आदि इसके संचारी हैं, भयानक, शांत और शृंगार-रस का यह विरोधी है।

प्रभुपद बंदि सीसरज राखी। बोले सत्य सहज बल भाखी ॥६॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचार न थोरा ॥७॥
कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे ॥८॥

दोहा—छत्रिजाति रघुकुल-जनम, रामअनुग जग जान।
लातहुँ मारे चढ़ति सिर, नीच को धूरि-समान ॥२२९॥

शब्दार्थ—उपचार=व्यवहार, प्रयोग, विधान, चिकित्सा, दवा आदि।

अर्थ—प्रभु के चरणों को प्रणाम करके और उनके चरण-रज को शिर पर धरकर अपना सच्चा और स्वाभाविक बल कहते हुए बोले ॥६॥ हे नाथ! मेरे इस कथन को अनुचित न मानियेगा, श्रीभरतजी ने हमसे थोड़ा व्यवहार नहीं किया; अर्थात् बहुत काल से बहुत बुरा व्यवहार करते आ रहे हैं ॥७॥ कहाँ तक सहा जाय? और मन को मारे (दवाये) हुए रहा जाय? हे नाथ! एक तो स्वामी (आप) का साथ और दूसरा हमारे हाथ में धनुष है ॥८॥ क्षत्रिय जाति में, (उसपर भी) रघुकुल में मेरा जन्म है, फिर मैं श्रीरामजी का अनुगामी हूँ, यह जगत् जानता है, (तो कैसे सह सकूँ, देखिये) धूल के समान कौन नीच है? अर्थात् वह अत्यंत नीच है, इससे सबके चरणों के नीचे रहती है, वह भी लात मारने से शिर पर चढ़ती है, (फिर ऊँचा कोई होगा, तो अपमान कैसे सहेगा?) ॥२२९॥

विशेष—(१) 'प्रभुपद बंदि सीस रज...'—यह इनका मंगलाचरण है, चरण-रज के ही बल पर सब कुछ करेंगे। पुनः इस तरह अनुचित की क्षमा भी चाही। 'सत्य सहज बल'—ये जो कुछ कहते हैं, वह आवेशवश बढ़ाकर नहीं, किन्तु सत्य ही।

(२) 'भरत हमहि उपचार न थोरा'—श्रीभरतजी ने हमें दुःख देने के लिये वनवास कराया, इसमें अपमान और दुःख सहाया। इसमें हम ही नहीं, किन्तु स्वजनों को भी महान् कष्ट हुआ। अब भी पीछा नहीं छोड़ते, हम सहते ही आये।

(३) 'कहँ लगि सहिय...'—यदि कहिये कि हमें तापस-वेष के अनुरोध से सहना ही चाहिये, उसपर कहते हैं कि कहाँ तक सहूँ और मन मारकर रहूँ। मेरी चलती तो आप राज्य ही न छोड़ने पाते और न वन आते। पर विवश होकर वहाँ मन मारना पड़ा, अब वे यहाँ भी नहीं पीछा छोड़ते, तो वेष जो भी हो, पर हमने धनुष धारण करने का क्षात्र-धर्म तो नहीं छोड़ा है;

पूर्वोक्त—"कहहु काह उपचार" (दो० १८०); के अनुसार यहाँ के उपर्युक्त 'उपचार' का अर्थ यदि दवा, इलाज अर्थ लिया जाय, तो इस अर्द्धाली का यह अर्थ होगा कि मेरे पास श्रीभरतजी के लिये थोड़ा इलाज नहीं है; अर्थात् बहुत है। वह यह कि—आप साथ हैं और हाथों में धनुष है।

(४) 'छत्रिजाति रघुकुल......'—क्षत्रिय-जाति असहनशील होती है,। रघुकुल में जन्म है, जिसका असहनशील और निर्भीक स्वभाव ही है; यथा—"जौं रन हमहि प्रचारइ कोऊ। लरहि सुखेन काल किन होऊ॥......कालहु डरहि न रन रघुबंसी॥" (बा० दो० २८३); फिर आपका छोटा भाई हूँ, और अनुगामी हूँ। शूर के साथ कादर भी शूर हो जाता है। आपके समान शूर जगत् में नहीं है, ऐसे प्रबल स्वामी के साथ शस्त्र धारण किये हुए जो व्यक्ति शूर न भी हो उसे शत्रु से भागने में लज्जा होती है। धनुष-यज्ञ-प्रसंग एवं परशुराम-प्रसंग से जगत्-भर इस बात को जानता है।

(५) 'आनहु मारे चढ़ति सिर...'—'धूरि' को रज इस पुँल्लिंग शब्द को न कहकर यहाँ स्त्रीलिंग कहा, क्योंकि उसे अबला-रूप में बलहीन कहना है। भाव यह कि बलहीन रज भी अपमान नहीं सह सकता, तो उपर्युक्त रीति से बलवान् होते हुए मैं कैसे सहूँ?

(६) 'नीच की धूरि समान'; यथा—"रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥" (उ० दो० १०५); जब कोई धूल पर पैर पटकता है, तो वह उड़कर उसके शिर पर जाती है। भाव यह कि अभी तक कुचलते आये, हम सहते आये, अब यहाँ भी सेना लेकर आये हैं, यही पैर पटकना है, तो अब मैं क्यों न शिर चढ़ूँ और उनके कृत्य का फल उन्हें चखाऊँ?

> उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीररस सोवत जागा॥१॥
> बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा॥२॥
> आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥३॥
> राम-निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर-सेज दोउ भाई॥४॥

शब्दार्थ—सिखावन = अनुचित कार्य के बुरे परिणाम कहने का यह मुहावरा है = दंड देना।

अर्थ—उठकर हाथ जोड़ आज्ञा माँगी—मानों वीररस सोते हुए से जग पड़ा हो॥१॥ शिर में जटाएँ बाँधकर, कमर में तरकश कसकर और धनुष पर रोदा सजकर एवं धनुष-बाण हाथों में

लेकर ॥२॥ (बोले) —आज मैं राम-सेवक होने का यश लूँ, भरतजी को युद्ध की शिक्षा दूँ (कि श्रीरामजी के विरुद्ध समरवाले की कैसी दुर्दशा होती है ?) ॥३॥ श्रीरामजी के अपमान करने का फल पाकर दोनों भाई रणभूमि-रूपी शय्या पर सोवें ॥४॥

विशेष—(१) 'उठि कर जोरि ···'—अभी तक बैठे-बैठे ही कहते थे, अब रण के लिये सन्नद्ध हो गये ।

(२) 'सोवहु समर-सेज···'—'सोवहु' क्रिया श्रीगोस्वामीजी की अवधी भाषा में संस्कृत के लट् (वर्तमान) और लोट् (विधि) दोनों लकारों में प्रयुक्त होती है । वर्तमान काल से यह भी जनाते हैं कि अभी से मानों वे मारे पड़े हैं । भाव यह कि जब तक मारे न जायँगे तब तक उन्हें शिक्षा न होगी । 'बीर रस सोवत जागा ।'—वनवास के समय से ही शान्त-रस उदित रहा । यह नियम है कि शांत-रस के उदय में शेष आठो रस सो जाते हैं, उसके न रहने पर ही आठो रसों के विकास रहते हैं । यहाँ श्रीभरतजी को प्रतिकूल जानने पर क्रोध चढ़ा, जिससे शांत-रस चला गया और वीर-रस जाग्रत हो आया, इससे शरीर लाल हो गया।

आइ बना भल सकल समाजू । प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू ॥५॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू । लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥६॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥७॥
जौं सहाय कर संकर आई । तौ मारउँ रन राम-दोहाई ॥८॥

दोहा—अति सरोष माखे लखन, लखि सुनि सपथ प्रमान ।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान ॥२३०॥

शब्दार्थ—आइ बना = एकत्र हुआ, आ जुआ । लवा = तीतर । भभरि = घबड़ाकर । प्रमान = सत्य ।

अर्थ—सारी सामग्री अच्छी आ जुटी, पिछला क्रोध आज प्रकट करता हूँ ॥५॥ जैसे हाथियों के समूह को सिंह दल डालता है, जैसे लवा को बाज (चंगुल में) लपेट लेता है ॥६॥ वैसे ही श्रीभरत को भाई के साथ और सेना-समेत तिरस्कार करके युद्ध-भूमि में मार डालूँगा ॥७॥ जो शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें, तो भी श्रीराम-शपथ है, उन्हें भी (या, तो भी श्रीभरतजी को) युद्ध में मारूँगा ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी अत्यंत क्रोध-सहित रुष्ट हुए, यह देखकर और प्रामाणिक शपथ सुनकर सब लोक डर गये और लोक-पाल लोग घबड़ाकर (अपने-अपने लोकों से) भागना चाहते थे ॥२३०॥

विशेष—(१) 'आइ बना भल···'—सब विरोधी समाज एकत्र मालूम हो गया, नहीं तो किस-किस को कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते ? स्वयं सब वैरी मतकर आये, दाँव लेने की सामग्री जुट गई ।

'प्रगट करउँ रिसि पाछिलि आजू ।'—पिछली रिस जो श्रीकैकेयीजी के कर्त्तव्य पर हुई थी, जिसका वर्णन वाल्मीकिजी ने बहुत कुछ किया है । मानस में भी पूर्व इन्होंने ही श्रीसुमंत्रजी से थोड़ा संकेत किया है, उस क्रोध को आज प्रकट करूँगा । (इससे निश्चय हुआ कि वहाँ ऐसा ही क्रोध मन में था ।)

(२) 'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।...'—यहाँ 'सेन समेता' के लिये मृग राज का दृष्टान्त है कि अकेला ही सिंह जैसे हाथियों के समूह को नाश कर देता है, वैसे ही सम्पूर्ण सेना को मैं नाश करूँगा और जैसे बाज लवा को लपेट लेता है, वैसे ही श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी को लपेट लूँगा, भागने भी न पावेंगे और एक शब्द भी न बोलने पावेंगे। (बाज के झपटने पर लवा डरकर सिकुड़ जाता है, फिर चूँ भी नहीं कर पाता कि वह आकर लपेट लेता है।) बाज दोनों पंजों से दो लवों को लपेट लेता है, तो शेष भाग जाते हैं, वैसे मैं दोनों हाथों से दोनों भाइयों को पकड़ लूँगा, तो सेना भाग जायगी। इन दोनों को तो भागने भी न दूँगा। 'निदरि'—युद्ध करके मरने पर भी वीर को यश होता है, पर वे एक हथियार भी न चलाने पावेंगे, अथवा, विरथ, आदि करके भूमि में गिराकर निरादर-पूर्वक मारूँगा।

(३) 'जौं सहाय कर संकर आई'—'जौं' अर्थात् शङ्करजी आवेंगे नहीं, शायद आ गये तो फल पावेंगे। श्रीशिवजी संहारकर्त्ता काल-रूप हैं। भाव यह कि उनके पक्ष में काल भी आ जाय तो भी मैं लड़ूँगा, और उसे मारूँगा, इसकी सत्यता के लिये इष्ट की शपथ करते हैं। शपथ-द्वारा अपनेको श्रीरामजी का अनन्य और श्रीभरतजी को श्रीशिवजी के भक्त सूचित करते हैं; क्योंकि श्रीभरतजी श्रीशिवजी का भी पूजन करते हैं; यथा—"सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥ माँगहिं हृदय महेस मनाई।..." (दो० १५६)।

श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी की ही शपथ सर्वत्र करते हैं; क्योंकि ये श्रीरामजी के अनन्य भक्त हैं। मेघनाद-वध के समय 'सत संकर' का सहाय करना कहा है और उसमें भी 'राम दोहाई' कहा है। यहाँ एक ही शंकर कहा है; क्योंकि वहाँ स्वयं श्रीरामजी ने उसके वध की आज्ञा दी थी, पर यहाँ वे अभी तक मौन हैं। यदि आज्ञा होती, तो अवश्य सत्य कर देते, क्योंकि 'सपथ प्रमान' लिखा है।

(४) 'अभय लोक सब ......'; यथा—"लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोक सब भूप डेराने।..." (बा० दो० २५१); सब लोकों का डरना इससे है कि इनका प्रभाव सबको विदित है; यथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारि दस आसू॥" (लं० दो० ५४); इनका सबपर ऐसा आतंक है कि एक पर क्रोध करने से भी सब डर जाते हैं।

जग भयमगन गगन भइ बानी। लखन-बाहु-बल बिपुल बखानी॥१॥
तात प्रताप-प्रभाव तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥२॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥३॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥४॥

शब्दार्थ—प्रताप = आतंक, रोब। प्रभाव = वह शक्ति जिससे और लोग अधीन रहें।

अर्थ—जगत् डर में डूब गया (तब) आकाशवाणी हुई, उसने श्रीलक्ष्मणजी के बाहु-बल की बहुत प्रशंसा की॥१॥ कि हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभाव को कौन कह सकता है और कौन जानने-वाला है॥२॥ परन्तु अनुचित किंवा उचित जो कुछ भी कार्य हो, उसे समझकर करना चाहिये, तभी उसे सभी भला कहते हैं॥३॥ जो सहसा (एकाएक) करके पीछे पछताते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं, ऐसा वेद और पंडित कहते हैं॥४॥

वि०—(१) 'जग भयमगन......'—संसार के डरने पर तुरत आकाशवाणी हुई कि कहीं ये जगत् का नाश ही न कर दें। 'प्रताप प्रभाव'—यथासंख्यालंकार से 'प्रताप' कौन कह सकता है और प्रभाव कौन जान सकता है? यह भाव है।

(२) 'अनुचित उचित ....'—अनुचित शब्द पहले देकर जनाया कि आप अनुचित कह रहे हैं। उचित भी साथ कहा गया, क्योंकि प्राय. ऐसा द्वन्द्व कहने का मुहावरा है—बुरा-भला, पाप पुण्य, दिन रात, प्रमाण; यथा—"निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (बा० दो० ८४); (इसमें प्रथमोक्त 'निसि' से ही तात्पर्य है)। उचित भी कहा जाय, तो उसे भी समझकर ही करने से लोग अच्छा कहते हैं। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी स्वामि-भक्ति की दृष्टि से उचित करने को ही सन्नद्ध हैं, पर उसमें यही अनुचित है, जो समझ न लिया कि श्रीभरतजी में दोष है कि नहीं। आकाशवाणी के द्वारा रोके गये, नहीं तो जैसे सिंह और बाघ अपनी ही ओर से धावा कर बैठते हैं, वैसे ये भी श्रीभरतजी पर आक्रमण कर बैठते, तो इस सहसा कार्य से हानि और पछतावा होता।

श्रीरामजी ने स्वयं पहले न कहा, इस तरह देवताओं के द्वारा श्रीभरतजी के निरपराध होने की साक्षी दिलाई। सच्चे अनन्य भक्तों को स्वामि भक्ति श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा प्रकट करके, और श्रीभरतजी के कीर्ति-कथन का हेतु बनाकर तब कहा। यह भी भाव है कि माधुर्य-दृष्टि के कारण श्रीलक्ष्मणजी को श्रीरामजी के कथन से एकाएक शांति न आती। श्रीलक्ष्मणजी के इस क्रोधाभिनिवेश से यह शिक्षा भी हुई कि श्रीराम विरोधी कैसा भी घनिष्ठ सम्बन्धी क्यों न हो, उससे सम्बन्ध न रखना चाहिये।

सुनि सुरबचन लखन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने ॥५॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब ते कठिन राजमद भाई ॥६॥
जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिन साधु-सभा जेहिं सेई ॥७॥
सुनहु लखन भल भरत-सरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥८॥

दोहा—भरतहि होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि, छीरसिंधु बिनसाइ ॥२३१॥

शब्दार्थ—अँचवत (सं० आचमन)=पान करना, पीना। बिनसाइ=विनष्ट होना, बिगड़ना। काँजी (सं० कांजिक)=एक प्रकार का खट्टा रस जो पीसी हुई राई आदि को घोलकर रखने से बनता है; इसके पड़ने से दूध तुरत फट जाता है।

अर्थ—देववाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी सकुचा गये। श्रीरामजी और श्रीसीताजी ने आदर-पूर्वक उनका सम्मान किया ॥५॥ (कहा कि) हे तात! तुमने सुन्दर नीति कही है, हे भाई! राज्य मद सब (मदों) से कठिन है ॥६॥ जिसे पीकर वे ही राजा मतवाले हो जाते हैं, जिन्होंने साधु (सज्जनों की) सभा का सेवन नहीं किया है ॥७॥ हे श्रीलक्ष्मणजी, सुनो, श्रीभरतजी के समान अच्छे पुरुष को ब्रह्मा की सृष्टि में कहीं न सुना है और न देखा है ॥८॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पद पाकर भी श्रीभरतजी को राज्य-मद नहीं हो सकता (तब अयोध्या-मात्र की राज्य-प्राप्ति पर कैसे होगा?) क्या कभी काँजी के कण से क्षीर समुद्र बिगड़ सकता है? अर्थात् कभी नहीं ॥२३१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुरबचन लखन ...'—देववाणी सच्ची ही होती है, इसी से श्रीलक्ष्मणजी तुरत सकुचा गये कि हमसे बड़ी चूक हुई। जो श्रीभरतजी के भावन एवं भक्ति की उपेक्षा की और उनपर

क्रोध करके भागवतापराध किया, जिसे प्रभु भी नहीं सहन करते। अपने परम अनन्य भक्त—जिन्होंने भक्ति के आगे अपने जीवन तक को कुछ नहीं समझा—ऐसे सरल स्वभाव श्रीलक्ष्मणजी की हार्दिक ग्लानि प्रभु से न सही गई। उन्होंने उनकी ग्लानि दूर करने के लिये आदर-पूर्वक उनका सम्मान किया, पास बैठाया और उनके उक्त वचनों को सुन्दर नीति कहकर उनकी सराहना की। 'लखन सकुचाने'; यथा—"लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया।" (वाल्मी० २।९७।१८)।

(२) 'कही तात तुम्ह नीति सुहाई।' मद कई प्रकार के होते हैं; यथा—"कुल जाती वयरूप मद, ज्ञान ध्यान मद होइ। विद्याधन अष्टम मदहिं, कहत राजमद कोइ॥" इनमें राज्यमद सबसे कठिन होता है।

(३) 'जो अँचवत मातहिं···'—साधु-संग से विवेक होता है, यथा—"बिनु सत्संग विवेक न होई।" (बा० दो० २); विवेक होने से देहाभिमान निवृत्त होता है, जिससे मद आदि रह ही नहीं जाते, क्योंकि मद ऐहिक पदार्थों एवं गुणों के होते हैं, उन सबका सम्बन्ध देह से ही रहता है। कहा भी है—"साधु-संगत पाइये।···जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध ते सहजहिं गये॥" (वि० १३६); साधुसंग से शील-गुण भी आता है, जिससे उन्मत्तता नहीं आ पाती; यथा—"सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।" (उ० दो० ८९)।

(४) 'विधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा।'—अर्थात् श्रीभरतजी इस एकपाद विभूति से परे गुणवाले हैं।

(५) 'विधि हरि हर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी···'—उत्पत्ति, पालन और संहार के अधिकार अकेले श्रीभरतजी को ही प्राप्त हो जायँ। तब भी वह काँजी के कण के समान होगा और क्षीर समुद्र-रूपी श्रीभरतजी पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा। इस दोहे के पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान कहा गया है। जैसे क्षीर समुद्र श्वेत और गंभीर है, वैसे श्रीभरतजी भी शुद्ध-सात्त्विक एवं अगाध हृदयवाले हैं।

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥१॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥२॥
मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि भाई॥३॥
लखन तुम्हार सपथ पितु-आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत-समाना॥४॥

शब्दार्थ—मगन = लीन होना, तन्मय होना। गिलई = निगल जाय। आना = शपथ।

अर्थ—अंधकार चाहे दोपहर के सूर्य को निगल जाय, आकाश (जिसमें सब समाया हुआ है, वह) चाहे मेघ में तन्मय होकर मिल जाय, (वा, चाहे आकाश में मेघों को मार्ग न मिले)॥१॥ (समुद्र पी जानेवाले) अगस्त्यजी चाहे गौ के खुर-भर जल में डूब जायँ, चाहे पृथिवी अपनी स्वाभाविक क्षमा को छोड़ दे॥२॥ मच्छड़ की फूँक से चाहे सुमेरु पर्वत उड़ जाय, परन्तु हे भाई! श्रीभरतजी को राज्य-मद नहीं हो सकता॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी! तुम्हारी शपथ और पिता की सौगंध (करके कहता हूँ), श्रीभरतजी के समान पवित्र उत्तम भाई (कहीं) नहीं है॥४॥

विशेष—(१) 'तिमिर तरुन तरनिहि ·····'—अंधकार सूर्य के उदय के प्रथम ही से दूर हो जाता है, यथा—"उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।" (बा० दो० २५५); "उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।"

(बा० दो० १२८); उसका सूर्य के सम्मुख होना ही असंभव है। सूर्य को निगलकर पेट में रखना तो अत्यन्त ही असंभव है ; ऐसा चाहे हो जाय। 'गगन मगन मकु···'—आकाश में अनन्त अवकाश है ; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥" (उ० दो० ९०) ; उसी में सब ब्रह्मांड समाये हुए हैं। उसके एक अल्पांश में मेघ पड़े रहते हैं, ऐसा बड़ा आकाश चाहे मेघों में डूब जाय, (वा, अनन्त आकाश में भी मेघों को चाहे राह न मिले; क्योंकि मगन का मग न भी हो सकता है।)

(२) 'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी'—जो अंजलि से ही समुद्र पी गये, वे गोपद जल में डूबें, यह आश्चर्य ही है। 'सहज छमा'···'—पृथिवी का नाम ही सर्वंसहा है। क्षमा इसका स्वाभाविक गुण है। छोणी के साथ क्षमा शब्द विशेष संगत है। 'वरु' शब्द का पर्याय ही 'मकु' है-यह भी यहाँ स्पष्ट किया।

(३) 'मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई।'—पर्वत का नाम ही अचल है, प्रचंड वायु भी उसे नहीं उड़ा सकता। सुमेरु पर्वत तो कई लक्ष योजन ऊँचा है, उसका मच्छड़ की फूँक से उड़ना तो अत्यन्त ही असंभव है।

यहाँ 'तरुन तरनि', 'गगन', 'घट जोनी', 'छोनी' और 'मेरु' ये पाँचो क्रमशः श्रीभरतजी की उपमाएँ और 'तिमिर', 'मेघ', 'गोपद जल', 'उद्वेग' 'मसक फूँक' ये पाँचो राज्य-मद की हैं। ये पाँच दृष्टान्त पाँच तत्त्वों के हैं, जैसे कि सूर्य में तेज है, वह अग्नि का गुण है और छोणी (पृथिवी), गगन, गोपद जल, फूँक (श्वास-पवन) ये स्पष्ट हैं। इन पाँचो से सूचित किया कि ये सृष्टि के मूल हैं, ये मर्यादा छोड़ दें, तो सृष्टि ही न रह जाय। ये चाहे अपनी-अपनी मर्यादा भले ही छोड़ दें, पर श्रीभरतजी धर्म-मर्यादा नहीं छोड़ सकते। यह भी दिखाया कि ये पाँचो तत्त्वों से बड़े एवं परे हैं ; अर्थात् इन पाँचो की सृष्टि से परे हैं ; यथा—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।" ऊपर कहा है।

छीर-सिंधु अप्राकृत है, वैसे ही श्रीभरतजी भी दिव्य हैं, यह इस छठे दृष्टान्त का तात्पर्य है। 'भरतहि होइ न राज-मद' से उपक्रम कर छः दृष्टान्तों में उसे पुष्ट कर के अंत में—'होइ न नृप मद भरतहि भाई।' पर उसका उपसंहार किया। क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी ने राज्य-मद के लिये छः उदाहरण दिये थे—"जग बौराइ राज-पद पाये।" से उपक्रम कर—"केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" पर उपसंहार किया था, उसमें—शशि, नहुष, वेणु, सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु इन छः के उदाहरण दिये थे। वहाँ 'जग' 'केहि न' से जगत्-भर को राज्य-मद में लिप्त कहा था। श्रीरामजी ने उसीके प्रति-उत्तर में—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।" से श्रीभरतजी की निर्लेपता कहते हुए इन छः ही दृष्टान्तों से—'होइ न नृप-मद भरतहि भाई।' तक में श्रीभरतजी को अप्राकृत एवं जगत् के परे जनाया और इनका मद-राहित्य सिद्ध किया। इस तरह श्रीलक्ष्मणजी के 'जग बौराइ' को रखते हुए भी श्रीभरतजी के विषय में राज्य-मद का खंडन किया।

(४) 'लखन तुम्हार सपथ······'—उपर्युक्त बातों की पुष्टि के लिये प्रथम श्रीलक्ष्मणजी की शपथ की, फिर पिता की। शपथ और आन पर्याय शब्द हैं, फिर भी इनमें कुछ सूक्ष्म भेद है। शपथ से सूचित किया कि जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे तुम्हारे वध का पाप हो और आन शब्द संस्कृत के आणि अर्थात् मर्यादा, सीमा और सौगंद का वाचक है ; अर्थात् मुझे पिता की सत्य-धर्म-मर्यादा के उल्लंघन का दोष हो। ऐसे ही केवट प्रसंग में भी दोनों शब्द आये हैं यथा—"मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ।" (दो० १००)। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—'कुटिल कुबंधु' उसपर यहाँ—'सुचि सुबंधु'······ ——— ——— है।

भरत हंस रबि - बंस - तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा ॥६॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥७॥
कहत भरत - गुन - सील - सुभाऊ। प्रेम - पयोधि मगन रघुराऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सगुन (सगुण) = शुभ गुन। खीर (क्षीर) = दूध। विभाग करना = पृथक्करण।

अर्थ—हे तात! शुभ-गुण-रूपी दूध और अवगुण-रूपी जल को मिलाकर ही विधाता जगत् को रचना करता है ॥५॥ (पर) श्रीभरत रूपी हंस ने सूर्य-वंश-रूपी तालाब में जन्म लेकर गुण और दोष को अलग-अलग कर दिया है ॥६॥ इन्होंने गुण-रूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुण-रूपी जल को त्याग कर के अपने यश से जगत् में उजाला कर दिया है ॥७॥ श्रीभरतजी का गुण, शील और स्वभाव कहते हुए श्रीरघुनाथजी प्रेम रूपी समुद्र में मग्न हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'सगुन-खीर अवगुन-जल······'—यहाँ 'सगुन' में 'स' उपसर्ग 'सु' के अर्थ में है। अन्यत्र 'सह' के अर्थ में भी प्रायः हुआ करता है। 'मिलइ' का अर्थ 'मिलाकर' नहीं है, किन्तु 'मिला हुआ ही' अर्थ होगा ; यथा—"भलेउ पोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये॥ कहहिं वेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥ ''जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार। संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥ अस बिबेक···" (बा॰ दो॰ ६) ; अर्थात् गुण-दोष मिला हुआ ही संसार सनातन से है। हंस में यह शक्ति है कि वह मिले हुए जल और दूध में से दूध मात्र को पी लेता है, जल को पृथक् कर देता है। वैसे संत एवं श्रीभरतजी में ही ऐसा विवेक है कि ये गुण (शुभ गुण) मात्र ग्रहण कर लेते हैं, अवगुण इन्हें छू नहीं पाता। 'भरत हंस रबि बंस तड़ागा ··'—'हंस' शब्द यहाँ श्लिष्ट है। हंस पक्षीपरक भाव इस अर्द्धाली में है और इसका दूसरा अर्थ सूर्य भी है ; यथा—"हंस बंस दसरथ जनक ··" (दो॰ १६१) ; 'रबि बंस' शब्द से साहचर्य भी है और उसका प्रकाश करना अगली अर्द्धाली में है। (यह भी कहा जाता है कि इस भाव में अड़चन यह है कि यश के लिये चन्द्रमा की ही किरणों की उपमा दी जाती है, सूर्य की नहीं)। 'जनमि'- हंस के स्वभाव से ही उक्त कार्य करता है, उसे कोई सिखाता नहीं, वैसे ही श्रीभरतजी में विवेक स्वभाव से ही है। श्रीभरतजी ने विवेक से यह निश्चय किया कि चाहे संसार के सातो द्वीपों का भी आधिपत्य क्यों न हो, उसमें न फँसकर भगवद्भक्ति करनी चाहिये ; यथा—"साधन सिद्धि राम-पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो॰ २८८), तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत् सब सपना॥" (आ॰ दो॰ ३८)।

(२) 'कहत भरत-गुन-सील···'—यह प्रसंग—"सब ते कठिन राज मद भाई।" से "निज जस जगत कीन्हि उँजियारी।" तक है। इसमें 'साधु सभा सेई' से शील कहा गया है, क्योंकि—"सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ॰ दो॰ ८१)।

'गहि गुन पय·· '—से सम्पूर्ण शुभ गुणों का ग्रहण करना एवं विवेक गुण कहा है। स्वभाव का वर्णन प्रसंग भर है, यहाँ भी 'भल' एवं 'जनमि कीन्ह' में शब्द से प्रकट है।

'प्रेम-पयोधि मगन·· '—श्रीभरतजी प्रेम के अगाध समुद्र हैं ; यथा—"राम सँकोची प्रेम बस, भरत सुप्रेम पयोधि।" (दो॰ २१७)। उनके प्रेम में वैसी ही वृत्ति श्रीरामजी की भी है, इसमें—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) चरितार्थ है।

दोहा—सुनि रघुबर-बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु ।
सकल सराहत राम सो, प्रभु को कृपानिकेतु ॥२३२॥

जौं न होत जग जनम भरत को । सकल धरमधुर धरनि धरत को ॥१॥
कबि-कुल - अगम भरत-गुन-गाथा । को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥२॥
लखन राम सिय सुनि सुरबानी । अति सुख लहेउ न जाइ बखानी ॥३॥

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की वाणी सुनकर और श्रीभरतजी पर उनका प्रेम देखकर सब देवता प्रशंसा करते हैं कि श्रीरामजी के समान कृपालु प्रभु (समर्थ) और कौन है ? ॥२३२॥ यदि संसार में श्रीभरतजी का जन्म न होता, तो पृथिवी पर सम्पूर्ण धर्मों को धुरी (अर्थात् बोझ) को कौन धारण करता ? ॥१॥ कवियों के कुल (समुदाय) के लिये अगम्य श्रीभरतजी के गुणों की कथा, हे श्रीरघुनाथजी ! आपके बिना कौन जाने ? ॥२॥ देवताओं की वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी ने अत्यन्त सुख पाया, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥

विशेष—(१) 'सकल धरम धुर धरनि···'—'सकल धरम'—वर्णाश्रम-धर्म, भागवत-धर्म, भ्रातृ-धर्म, राज-धर्म इत्यादि। धर्म से ही श्रीभरतजी पृथिवी को धारण करते हैं ; यथा—"भरत भूमि रह राउरि राखी ।" (दो० २११) ; धर्म ही से पालन-पोषण करते हैं ; यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६) ; वर्ण धर्म; यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी । सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी ॥" (दो० १००) ।

बालकांड वंदना-प्रसंग में श्रीभरतजी में मुख्य दो गुण कहे गये—एक धर्म दूसरा प्रेम ; यथा—"जासु नेम-ब्रत जाइ न बरना ॥" यह धर्म है और—"राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" यह प्रेम है। वे ही दोनों गुण यहाँ कहे गये हैं—'सकल धरम धुर···' यह धर्म और आगे—"अचर सचर चर अचर करत को ।" (दो० २१७) यह प्रेम है।

(२) 'को जानइ तुम्ह बिनु···'—यहाँ तो कवि शेषजी के शासक श्रीलक्ष्मणजी भी नहीं जान सके, तो दूसरे कवि समूह व्यास, वाल्मीकि, शुक आदि क्या कह सकेंगे। भक्तों के गुण भगवान् ही यथार्थ जानते और कहते हैं।

(३) 'लखन राम सिय ···'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले आया है, ये परम निर्मल हृदयवाले हैं। जब इन्होंने श्रीभरतजी को श्रीरामजी का विरोधी समझा था, तब इनपर क्रुद्ध थे, अब इन्हें सबसे अधिक सुख हुआ। इन्हें तो अपनापन कुछ है ही नहीं, श्रीरामजी ही सब कुछ हैं, उनकी अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में क्रुद्ध।

इहाँ भरत सब सहित सहाये । मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥४॥
सरित समीप राखि सब लोगा । माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा ॥५॥

चले भरत जहँ सिय - रघुराई। साथ निषाद - नाथ लघु भाई ॥६॥
समुझि मातु - करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥७॥
राम - लखन - सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥८॥

दोहा—मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर ॥२३३॥

शब्दार्थ—सहाये=सेना एवं सहायता करनेवाले। नियोग=आज्ञा।

अर्थ—यहाँ श्रीभरतजी ने सब सेना सहित पवित्र श्रीमंदाकिनीजी में स्नान किया ॥४॥ नदी के समीप में सब लोगों को रखकर (ठहराकर) माता, गुरु और मंत्रियों से आज्ञा माँग कर ॥५॥ निषाद-राज और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को साथ लेकर श्रीभरतजी वहाँ चले, जहाँ श्रीसीतारामजी हैं ॥६॥ माता की करनी समझकर सकुचते हैं और मन में अनेक कुतर्क करते हैं ॥७॥ कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी मेरा नाम सुनकर कहीं अन्यत्र न चल दें ॥८॥ माता के मत में मानकर मुझे वे जो कुछ भी कहें, वह थोड़ा ही है। मेरे पाप और अवगुणों को क्षमा करके आदर करें, तो अपनी ओर समझकर ही; अन्यथा मैं इस योग्य तो नहीं ही हूँ ॥२३३॥

विशेष—(१) 'इहाँ भरत सब सहित सहाये···'—पूर्व—"जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते ॥" (दो० २२५) पर श्रीभरतजी का प्रसंग छोड़ा था, बीच में उधर श्रीरामजी का प्रसंग कहने लगे थे ; अब फिर पूर्व का प्रसंग लेते हैं, इससे 'इहाँ' कहा गया है। कवि अपनी स्थिति प्रेमियों की ओर ही रखते हैं। भगवत् की अपेक्षा भागवत की निष्ठा अधिक दिखाते हुए श्रीरामजी के पक्ष को 'वहाँ' शब्द से कहा है—"वहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे···" (दो० २२४)। 'वहाँ' और 'इहाँ' से यह भी सूचित किया कि जितनी देर में श्रीभरतजी पिछले वासस्थल से मंदाकिनी तट तक पहुँचे, उतनी ही देर में वहाँ की सब व्यवस्थाएँ हुईं।

(२) 'साथ निषाद नाथ लघु भाई।'—निषाद - राज मार्ग के ज्ञाता हैं और श्रीशत्रुघ्नजी प्राय साथ ही रहते हैं। इस तरह पता लगाकर फिर सबको मिलावेंगे। व्यर्थ ही सबको भटकना क्यों पड़े ! निषाद-राज सखा हैं, इनकी ओट लेकर चलने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे और छोटे भाई के साथ देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी प्रसन्न होंगे, इससे भी इन्हें साथ लिया है।

(३) 'समुझि मातु करतब···'—मनु ने कहा ही है—"तत्संसर्गी च पंचमः" अर्थात् पापी का संसर्गी भी पाप में भागी माना जाता है। श्रीभरतजी श्रीकैकेयीजी के पुत्र हैं। इसलिये ग्लानि करते हैं। यद्यपि ये सर्वथा मातु-संसर्ग से भिन्न हैं, तथापि यह ग्लानि करते हैं ; यह इनकी कार्पण्य भक्ति है।

(४) 'मातु मते महँ मानि···'—इसमें दो पक्षों को बातें उठाई हैं—माता के पक्ष का मुझे जानें अथवा अपनी ओर समझकर मुझे दास जानें और मेरे दोष क्षमा कर मेरा आदर करें।

जौ परिहरहिं मलिन मन जानी। जौं सनमानहिं सेवक मानी ॥१॥
मोरे सरन रामहि की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ॥२॥

जग जस-भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नवीना ॥३॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता ॥४॥
फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी। चलत भगति-बल धीरज-धोरी ॥५॥

शब्दार्थ—शरण = रक्षक, आश्रय। धोरी = वह तीसरा बैल जो गाड़ी में बोझा अधिक होने पर आगे नहा (लगाया) जाता है। बा॰ दो॰ ११ चौ॰ ४ भी देखिये।

अर्थ—जो मुझे मलिन मन समझें तो त्याग दें और जो सेवक मानें तो सम्मान करें (यह उनकी रुचि पर निर्भर है, पर) मेरे लिये तो श्रीरामजी की जूती ही शरण है, श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं और दोष तो सब दास का ही है ॥२॥ संसार में पपीहा और मछली यश के पात्र हैं, वे अपने नेम और प्रेम में निपुण एवं नित्य नये हैं ॥३॥ ऐसा मन में विचारते हुए राह में चले जाते हैं। संकोच (श्रीकैकेयीजी के सम्बन्ध से) और स्नेह (श्रीराम-स्वभाव समझने से) है, उससे सब शरीर शिथिल (ढीला) हो गया है ॥४॥ माता की की हुई खोटाई मन को पीछे लौटाती है, फिर वे भक्ति और धैर्य-रूपी 'धोरी' के बल से आगे चलते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जौं परिहरहिं मलिन मन···'—दोहे के दोनों पक्षों का ही भाव इसमें स्पष्ट किया गया है। त्यागने का अनुमान पहले है, क्योंकि डर यही है कि मुझे माता के पक्ष का मान कर मलिन-मन ही मानेंगे और त्याग देंगे। दूसरे पक्ष में अपनी कृपालुता के महत्त्व से सेवक जानकर क्षमा कर दें, तो यह उनके योग्य ही है। मुझे तो दोनों तरह से उनकी ही जूतियों का आश्रय है, चाहे जैसे रक्खें। 'रामहिं की पनही' में यह विशेषता है कि सेवक के शिर पर दोनों पक्षों में पनही रहती है, निरादर में शिर पर मारी जाती है और आदर में वह स्वयं शिर पर आदरपूर्वक रखता है। अर्थात् मुझे आदर-निरादर दोनों ही स्वीकार है। क्योंकि—'राम सुस्वामि दोष···'—श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं; यथा—"जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों।···सुखद सुप्रभु तुम सों जग नाहीं।" (वि॰ १००); "भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी।" (वि॰ १७८); "नाहिं न और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन।" (वि॰ २०६); 'दोष सब जनहीं'—सेवक धर्म पर दृष्टि करने से दास का निर्दोष रहना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इस वृत्ति में स्वामी की प्रसन्नता से सब दूषण भूषण हो जाते हैं।

(२) 'जग जस भाजन··'—चातक पक्षी और मछली जलचर है। चातक में 'नेम' और मीन में 'प्रेम' की प्रवीणता होती है; यथा—"नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारो मीन ही के··" (गी॰ सुं॰ ७); इन दोनों की अपनी-अपनी वृत्ति नित्य नवीन रहती है। स्वामी के निरादर पर भी ये दोनों बढ़े चढ़े ही रहते हैं। मुझमें इन तिर्यग योनियों का सा भी नेम-प्रेम नहीं है, क्योंकि नेम होता, तो स्वाति बूँद रूप श्रीरामजी के दर्शनों को छोड़कर ननिहाल क्यों जाता, अनन्य भक्तों को इष्ट-रूप ही स्वाती की बूँद-सी है; यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (दो॰ १२७) और प्रेम होना तो वन गवन सुनते ही प्राण छोड़ देता; यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान।" (गी॰ अ॰ ५६)। श्रीभरतजी की यह कार्पण्य वृत्ति है; इनमें नेम-प्रेम दोनों ही पूर्ण हैं; यथा—"असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा।" (दो॰ ३२६); "सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं।" (दो॰ ३२५); "राम प्रेम-भाजन भरत "नित नव राम-प्रेम-पन पीना।" (दो॰ ३२४); इत्यादि।

(३) 'फेरति मनहुँ मातु-कृत खोरी।···'—उपर्युक्त 'सकुच-सनेह' की दशा यहाँ स्पष्ट करते हैं।

माता की की हुई खोटाई का संकोच है। यह संकोच मन को पीछे की ओर खींचता है कि कैसे सामने होकर मुँह दिखाऊँगा? भक्ति के भरोसे आगे चलने की वृत्ति हो जाती है। भक्ति बल; यथा—"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी॥" (उ० दो० ८५); "कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये॥" (दो० २९८)।

जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥६॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जल-प्रवाह जल-अलि-गति जैसी॥७॥
देखि भरत कर सोच सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥८॥

दोहा—लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।
मिटिहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम बिषाद॥२३४॥

सेवक बचन सत्य सब जाने। आश्रम निकट जाइ नियराने॥१॥

शब्दार्थ—उताइल = शीघ्रता से, त्वरा से। जल अलि = पानी का भ्रमर। यह एक काला कीड़ा खटमल की तरह होता है। पर आकृति में उससे बड़ा होता है। जल-प्रवाह के विरुद्ध यह बड़ी तेजी से तैरता है। कभी धार के वेग पर रुक जाता है और फिर त्वरा से बढ़ता है। इसे 'भौंतुवा' भी कहते हैं; यथा—"कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियो भौंतुवा भौंर को हौं।" (वि० १११)। (जल का भ्रमर (भँवर) वह भी कहलाता है, प्रवाह में कहीं गहरा स्थल होने से उस जगह का जल घूमता रहता है, तैरनेवाले प्रायः इसमें पड़कर डूब जाते हैं)।

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी के स्वभाव का स्मरण करते हैं, तब मार्ग में पैर जल्दी-जल्दी पड़ने लगते हैं॥६॥ श्रीभरतजी की दशा उस समय कैसी है कि जैसे जल के प्रवाह (बहाव) में जल-भ्रमर की चाल होती है॥७॥ श्रीभरतजी का शोच और स्नेह देखकर उस समय निषाद देह की सुधबुध भूल गया॥८॥ मंगल शकुन होने लगे, उन्हें सुनकर और विचारकर निषाद कहता है कि शोच मिटेगा और हर्ष होगा (पर) अन्त में दुःख होगा॥२३४॥ सेवक के सब वचन श्रीभरतजी ने सत्य समझे। वे आश्रम के समीप जा पहुँचे॥१॥

विशेष—(१) 'रघुनाथ-सुभाऊ'; यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।···जौं नर होइ··· कोटि बिप्र बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहि ताहू॥" (सुं० दो० ४३-४०); "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १)।

(२) 'जल-अलि-गति जैसी'—उपर्युक्त दोनों बातों (पीछे हटने और तेजी से आगे बढ़ने) पर यह उपमा है कि जो मातु-कृत खारि समझकर रुकते और भक्ति के बल पर बढ़ते हैं।

(३) 'देखि भरत कर···'; यथा—"देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥" (दो० १९९); वहाँ के 'सील' की जगह यहाँ 'सोच' है; इतना ही भेद है।

(४) 'लगे होन मंगल सगुन···'—निषादराज मार्ग दिखानेवाले थे, जब वे ही विदेह हो गये, तब मार्ग कौन बतलाता? इसलिये शकुनों के द्वारा प्रकृति ने सहायता की। 'सुनि' शब्द से वे शकुन सूचित

होते हैं जो कान से सुने जायँ, जैसे कि कुछ पक्षियों की बोली; जो शुभ मानी जाती है। निषादराज विदेह हो गये हैं, इसलिये ऐसे शकुन हुए कि जिनसे उन्हें चेतना आ जाय। 'लगे होन' से और भी शकुनों का होना जनाया गया है, जो देखने से जाने जायँ। निषाद लोग शकुन विचार में कुशल होते हैं—यह पूर्व कहा गया है। 'परिनाम बिषादू' से यह कि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं, जिससे दुःख सहित ही लौटना होगा। निषादराज ने शकुन से तीन बातें कहीं। वे सब सत्य हुईं—(१) 'मिटिहि सोच'; यथा-"मिटी मलिन मन कलपित सूला।" (दो॰ २१६); "भे तिसोच डर अपडर बीता।" (दो॰२३१); (२) 'होइहि हरषु'; यथा—"मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।" (दो॰ २०१); "भरत मुदित अवलंब लहे ते।" (दो॰ ३१५); (३) 'परिनाम बिषादू'; यथा—"मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। राम बिरह सब साजु बिहालू॥" (दो॰ ३२१); "भरत भवन बसि तप तन कसहीं॥" (दो॰ ३२५)।

(४) 'सेवक बचन सत्य ···'—सेवक शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं—श्रीरामजी का सेवक (दास) और केवट जाति; यथा—"कैवर्त्तो दाशधीवरौ" इत्यमरः। केवट शकुनियाँ होते ही हैं और भक्तों के अनुभव भी ठीक ही होते हैं।

भरत दीख बन - सैल - समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥२॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह भारी॥३॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरतगति तेहि अनुहारी॥४॥

शब्दार्थ—ईति = कृषि (खेती) के हानिकारक उपद्रव। ये छः प्रकार के माने जाते हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियों की अधिकता और दूसरे राजा की देश पर चढ़ाई। भीति = डर।

अर्थ—वनों और पर्वतों की पंक्तियों को देखकर श्रीभरतजी को ऐसा आनन्द हुआ, मानों भूखा सुन्दर अन्न (भोजन) पाकर सुखी हो॥२॥ मानों 'ईति' के भय से प्रजा दुखी हो और तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों और भारी क्रूर ग्रह की दशाओं से ग्रसित होने से पीड़ित हुई हो॥३॥ वह अच्छे सुन्दर राज्य में जाकर सुखी हो, उसी प्रकार की दशाएँ श्रीभरतजी की हो रही हैं॥४॥

विशेष—'मुदित छुधित जनु पाइ···'—श्रीअयोध्याजी में जब से अनय प्रारंभ हुआ, तब से आज ही इन्होंने वन-पर्वत की श्रेणियों की छटा से आनन्द पाया। भूखे को निकृष्ट भोजन भी दुर्लभ है, यदि उत्तम भोजन मिले, तब तो उसे अत्यन्त ही आनन्द होता है। यहाँ श्रीभरतजी क्षुधित हैं, वन-शैल-दर्शन सुनाज हैं।

(२) 'ईति भीति जनु···'—'ईति' यथा—"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥" यहाँ श्रीअयोध्या का राज्य खेती है, श्रीराम तिलक की तैयारी उसका पकना है, कैकेयी को कुचाल-रूप टिड्डियों और तोतों ने उसे चुग लिया, वही श्रीअवधवासियों के लिये ईति हुई, यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जनु पाकत साली॥" (दो॰ २५१)। 'त्रिबिध ताप पीड़ित'; यथा—"नाथ बियोग ताप तन तापे।" (दो॰ ३२५); 'ग्रह भारी'—शनि आदि भारी ग्रहों के प्रकोप से मृत्यु होती है, वैसे ही यहाँ राजा की मृत्यु हुई। कहा भी है—"अवध साढ़साती तब बोली।" (दो॰ ११)। श्रीभरतजी इन तीनों से दुखी हुए। कैकेयी की कुचाल से, पिता की मृत्यु से और श्रीरामजी के वनवास से। वन को 'सुराज' कहा है। आगे इसका रूपक कहते हैं—

रामबास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥५॥
सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू ॥६॥
भट जम-नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी ॥७॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ ॥८॥

दोहा—जीति मोह-महिपाल दल, सहित बिबेक भुआल।
करत अकंटक राज पुर, सुख संपदा सुकाल ॥२३५॥

अर्थ—श्रीरामजी के निवास से वन की सम्पत्ति शोभायमान है, मानों अच्छा राजा पाकर प्रजा सुखी हो ॥५॥ वैराग्य मंत्री, विवेक राजा और शोभायमान (हरा-भरा) पवित्र वन पवित्र देश है ॥६॥ यम-नियम योद्धा हैं, पर्वत राजधानी है, शान्ति और सुमति पवित्र और सुन्दर रानियाँ हैं ॥७॥ वह उत्तम राजा सम्पूर्ण (राज्य) अंगों से पूर्ण है, श्रीरामजी के चरणों के भरोसे रहने से उसके चित्त में चाव (उत्साह) रहता है ॥८॥ मोह-रूपी राजा को दल-समेत जीतकर ज्ञान-रूपी राजा नगर में अकंटक राज्य कर रहा है, यहाँ सुख, सम्पत्ति और सुकाल वर्त्तमान हैं ॥२३५॥

विशेष—(१) यहाँ राज्य के सप्ताङ्ग का रूपक है, राज्य में खजाना (संपत्ति), मंत्री, राजा, राष्ट्र (देश), सुभट (सेना), राजधानी और रानी एवं इनके अतिरिक्त सहायक (मित्र) भी चाहिये। ये सब यहाँ क्रम से कहे गये हैं। वन में श्रीरामजी ही संपत्ति हैं, इन्हीं से वन में शोभा है। वैराग्य मंत्री है; अर्थात् यहाँ "तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (बा० दो० १४); ही अधिक बसते हैं। विवेक राजा है; अर्थात् यहाँ के निवासियों में सत्-असत् के ज्ञाता ही अधिक एवं प्रधान हैं और उनमें भी वैराग्य प्रधान है, सत् मात्र ग्रहण कर असत् का त्याग है। यही वैराग्य का मंत्रित्व है, मंत्री-बिना राजा व्यर्थ है वैसे विराग-बिना विवेक व्यर्थ है, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९); सुन्दर देश वन है और उसमें प्रधान कामदगिरि (चित्रकूट पर्वत) राजधानी है (देश और राजधानी को एक लेने से मित्र भी सप्तांग में ही आ जाते हैं, ऐसे ही अन्यत्र कहा भी जाता है)। यम-नियम सुभट हैं, यम के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पाँच ही भेद हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की भक्ति। 'राम-चरन आश्रित' से मित्र भी कहा। इसके अतिरिक्त और भी अंग होते हैं, उनकी पूर्त्ति के लिये 'सकल अंग संपन्न' कहा गया है।

(२) 'राम चरन आश्रित'—यह अंत में कहा गया है, अतः यह सबसे प्रधान अंग है, जैसे कोई सामान्य राजा बड़े सम्राट् के आश्रित होने से निर्भय रहता है, वैसे यहाँ राम चरण के आश्रित होने से विवेक राजा निर्भय है, उसके चित्त में चाव है, तात्पर्य यह कि शुष्क ज्ञान में अनेक विघ्नों का भय रहता है और इसीसे वह नहीं सोहता; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥" (दो० २७६); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (बा० दो० ११)। "सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रस बर बेद बखाना॥" (बा० दो० ३६)।

ऊपर कहा गया—"जाइ सुराज सुदेस सुखारी।…" उसी सुराज्य का रूपक यहाँ तक कहा गया; अर्थात् जिस राज्य में प्रजा सब प्रकार सुखी रहे, वही सुराज्य है। इसी के आदर्श रूप में उत्तरकांड का श्रीराम-राज्य वर्णित है।

(३) 'जीति मोह-महिपाल-दल···'—मोह आसुरी सम्पत्ति में राजा है ; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला ।" (उ० दो० १२०); "मोह दसमौलि···" (वि० ५८) (रावण भी असुरों में राजा था) यहाँ चित्रकूट राजधानी के विवेक राजा ने मोह राजा को दल समेत जीत लिया । पहले 'राम-चरन आश्रित' लिखकर तब जीतना कहा गया है; अर्थात् भक्ति के आश्रित (सरस) ज्ञान ही मोह को सर्वात्मना जीत सकता है । शत्रु-रूप कंटक से रहित होने से 'अकंटक' कहा गया । (विवेक और मोह राजा की लड़ाई प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में भी विस्तार से कही गई है)।

यहाँ चित्रकूट का सूक्ष्म-रीति से माहात्म्य कहा गया कि यहाँ विवेक की वृद्धि और मोह का ह्रास होता है; यथा—"यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते । कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः ॥" (वाल्मी० २।५४।३०) । इस पर विनय और गीतावली में ऐसा ही बहुत कुछ कहा गया है ।

(४) 'सुख संपदा सुकाल' यहाँ सुख सरस ब्रह्मानंद है और सम्पत्ति श्रीरामजी का निवास है, इसीसे सदा सुन्दर काल की स्थिति है ; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु-सिय-लखन-समेत । राम नाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४); "रस एक रहित गुन कर्म काल । सिय-राम-लखन पालक कृपाल ।" (वि० २३); (यह चित्रकूट के ही वर्णन में कहा गया है)।

यहाँ तक मुख्य अंगों को कहा; आगे शेष सामान्य अंगों को भी कुछ कहते हैं—

बनप्रदेस मुनिबास घनेरे । जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे ॥१॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना । प्रजासमाज न जाइ बखाना ॥२॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा । देखि महिष वृष साज सराहा ॥३॥
बैर बिहाय चरहिं एक संगा । जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥४॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं । मनहुँ निसान बिबिधबिधि बाजहिं ॥५॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन । कूजत मंजु मराल मुदित मन ॥६॥
अलिगन गावत नाचत मोरा । जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥७॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला । सब समाज मुद-मंगल-मूला ॥८॥

दोहा—रामसैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम ।
तापस तप-फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम ॥२३६॥

शब्दार्थ—खगहा (खाँग=गैंड़े के मुँह पर का सींग+हा=हनन करनेवाला) = गैंड़ा । चरहिं=विचरते हैं ।

अर्थ—वन-रूपी प्रान्त में बहुत-से मुनियों के निवास स्थान हैं, वे मानों पुरों (शहरों) नगरों (कसबों), ग्रामों और पुरवों के समूह हैं ॥१॥ बहुत प्रकार के रंग-विरंगे अनेकों जाति के बहुत-से पशु-पक्षी प्रजा के समाज हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ गैंड़ों, हाथियों, सिंहों, बाघों, बाराहों, भैंसों और बैलों का साज (अंगों की गढ़नि) देखने में सराहनीय है ॥३॥ वे सब वैर छोड़कर एक साथ जहाँ-तहाँ विचर रहे हैं, मानों चतुरंगिनी सेना है ॥४॥ झरने झर रहे हैं, मतवाले हाथी गरज रहे हैं, मानों अनेक प्रकार के डंके-

(नगाड़े) बज रहे हैं ॥५॥ चक्रवाकों, चकोरों, पपीहों, तोतों, और कोकिलाओं के समूह और सुन्दर हंस प्रसन्न मन से अपनी-अपनी सुन्दर बोलियों से बोलते एवं चहचहाते हैं ॥६॥ भ्रमरों के समूह गाते हैं, मोर नाचते हैं, मानों सुराज्य में चारों ओर मंगल हो रहे हैं ॥७॥ लताएँ, वृक्ष और तृण सब फल-फूल-युक्त हैं। सारा समाज आनन्द-मंगल का मूल है ॥८॥ श्रीरामजी के पर्वत की शोभा देखकर श्रीभरतजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ, जैसे तपस्वी तपस्या का फल पाकर नियम की समाप्ति होने पर सुखी होता है ॥२३६॥

विशेष—(१) *'मनहुँ सेन चतुरंगा'*—रथ, हाथी, घोड़े और पैदल मिलकर चारो की चतुरंगिनी सेना होती है। यहाँ गैंड़ा 'रथ' हैं, क्योंकि इनकी पीठ चौड़ी होती है, हाथी 'हाथी' ही हैं, सिंह-बाघ, 'घोड़े' तथा वराह, महिष और बैल 'पैदल' हैं।

ऊपर शहर, कसबे, ग्राम और पुरवे आदि तथा उनकी प्रजा और फिर उनकी रक्षा के लिये सेना कही गई। सेना में डंके होते हैं, वे भी कहे गये। 'चक चकोर चातक सुक···'—इनका अपनी-अपनी बोली में बोलना ताल, सारंगी आदि बाजों का बजना है। भौंरे गायक हैं और मोर नाचनेवाले हैं। ये सब नाच, गान, वाद्य आदि मंगल के अंग हैं। इसलिये चारों ओर मंगल का होना कहा गया। 'बेलि बिटप तृन ···'—वृक्ष पुरुष, लताएँ उनकी स्त्रियाँ; और तृण बच्चे हैं, इनके मुद-मंगल-मूलक समाज हैं। ये जलसा देखनेवाले हैं। इनका पुष्पित होना प्रसन्न होना है, फलों से लदकर झुकना वाह-वाह करना है।

(२) *'रामसैल सोभा निरखि···'*—श्रीभरतजी तपस्वी हैं, श्रीरामजी के पर्वत के दर्शन इनके तप का फल हैं। जो—'पय अहार फल असन ···' आदि नेम-व्रत करते आये, वह आज सफल हुआ; अर्थात् सब साधनों का फल श्रीरामजी की प्राप्ति ही है; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय-दरसन पावा॥" (दो० २०१)। यहाँ 'सुखी सिराने नेम' कहा, आगे—"जनु जोगी परमारथ पावा।" और फिर—"सानुज सखा समेत मगन मन ···" तब—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (दो० २४०); कहा गया है, अर्थात् श्रीभरतजी का प्रेमानन्द श्रीरामजी के समीप जाने में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

> तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई ॥१॥
> नाथ देखिअहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला ॥२॥
> तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा ॥३॥
> नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला ॥४॥
> मानहु तिमिर-अरुनमय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुषमा-सी ॥५॥

अर्थ—तब केवट ने दौड़कर ऊँचे पर चढ़कर हाथ उठा श्रीभरतजी से कहा ॥१॥ हे नाथ! उन विशाल वृक्षों को देखिये (वा, जो वृक्ष देख पड़ते हैं), वे पाकर, जामुन, आम और तमाल के वृक्ष हैं ॥२॥ जिन श्रेष्ठ वृक्षों के मध्य में सुन्दर बड़ा बरगद का वृक्ष शोभा दे रहा है, देखकर मन मोह जाता है ॥३॥ उसके पत्ते नीले और सघन हैं, फल लाल हैं और उसकी छाँह सघन है जो सब समय में सुख देने वाली है; अर्थात् गर्मी में धूप से, वर्षा में जल से और जाड़े में ठंढक से तथा सब समयों में हवा से

बचाती है ॥४॥ मानों ब्रह्माजी ने परम शोभा को एकत्र करके अंधकार और लालिमामयी राशि-सी रच दी है ॥५॥

विशेष—(१) 'मानहु तिमिर अरुन मय'···—अरुण शब्द का अर्थ गहरा लाल रंग और सूर्य तथा संध्या की ललाई का भी होता है। इसके पत्ते नीले और सघन हैं, इससे अंधकार की तरह हैं, ये बहुत हैं, इनकी प्रधानता मानकर 'तिमिर' प्रथम कहा गया है। फल पत्तों के बीच-बीच में पृथक्-पृथक् लाल रंग के हैं, इसलिये संध्याकालीन सूर्य के रंग के हैं। बहुत फल हैं, इसलिये परिपूर्णता-बोधक 'मय' शब्द भी है। इस तिमिर और अरुणमयी राशि में परम शोभा पूर्ण है, इसी से कहा गया कि मानों ब्रह्मा ने सर्वत्र से परम शोभा समेटकर सब यहीं लगा दी है।

ये तरु सरितसमीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाईं ॥६॥
तुलसी तरुवर विविध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये ॥७॥
बट-छाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज सुहाई ॥८॥

दोहा—जहाँ बैठ मुनि-गन-सहित, नित सिय-राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान ॥२३७॥

अर्थ—हे गोसाईं ! ये वृक्ष नदी के पास हैं, जहाँ पर श्रीरघुनाथजी की पर्णकुटी छाई हुई है ॥६॥ अनेक प्रकार से शोभायुक्त तुलसी के वृक्ष कहीं-कहीं श्रीसीताजी ने और कहीं-कहीं श्रीलक्ष्मणजी ने लगाये हैं ॥७॥ बट की छाया में सुन्दर वेदी श्रीसीताजी ने अपने कर-कमलों से बनाई है ॥८॥ जहाँ बैठकर सुजान श्रीसीतारामजी मुनि गणों के साथ नित्य ही शास्त्र, वेद, पुराण, इतिहास—इन सबकी कथायें सुनते हैं ॥२३७॥

विशेष—(१) 'ये तरु सरितसमीप···'—निषादराज की जाति के लोग यहाँ बसते हैं, इससे यह बहुत बार आने-जाने से इस स्थल की बातों को जानता है और यद्यपि इसे श्रीरामजी ने यमुना-तट पर से ही लौटा दिया था, तथापि यह अपने आदमियों से समाचार लेता था। यह बात गीतावली अ० ९९ में स्पष्ट कही गई है। इसीसे सब परिचय दे रहा है।

(२) 'कहुँ-कहुँ सिय'—यहाँ श्रीसीताजी की सेवा भी बता दी।

(३) 'जहाँ बैठि मुनि···'—'सुजान' शब्द से सूचित किया कि यद्यपि सब जानते हैं, तथापि लोक-संग्रह के लिये सुनते हैं कि जिससे और लोग भी सुनें। पुनः "शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयम्।" (पंचतंत्र); "सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।" (आ० दो० ३६); इस नीति का भी पालन करते हैं। इतिहास जैसे कि इस समय रामायण और महाभारत आदि हैं। पुराण पद्म आदि। बहुत-से मुनि रहते हैं, जो जिस ग्रंथ के विशेष ज्ञाता होते हैं, वे उसे कहते हैं।

सखा-बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी ॥१॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥२॥

हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहु पारस पायेउ रंका ॥३॥
रजसिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर-मिलन सरिस सुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—सखा निषादराज के वचन सुनकर और उन वृक्षों को देखकर श्रीभरतजी के नेत्रों में (आनन्द के) आँसू उमड़ आये ॥१॥ दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले, उनकी वह प्रीति कहने में श्रीसरस्वतीजी भी सकुचाती हैं (क्योंकि वे यथार्थ कह सकने में असमर्थ हैं।) ॥२॥ श्रीरामजी के चरणों के चिह्नों (कमल, ध्वज, अंकुश और वज्र) को देखकर प्रसन्न होते हैं, मानों दरिद्र ने पारस पा लिया हो ॥३॥ चरण-रज को शिर पर रखकर हृदय और नेत्रों में लगाते हैं और रघुवर श्रीरामजी के मिलन के समान सुख पाते हैं; अर्थात् उस रज में भी इष्ट श्रीरामजी का ही भाव रखते हैं ॥४॥

देखि भरतगति अकथ अतीवा। प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा ॥५॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला ॥६॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे ॥७॥
होत न भूतल भाव भरत को। अचर सचर चर अचर करत को ॥८॥

दोहा—प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु-हित, कृपासिंधु रघुबीर ॥२३८॥

शब्दार्थ—अतीव = बहुत, अत्यन्त। भाव (भू-सत्तायाम् धातु से) = अस्तित्व, जन्म, उत्पत्ति वा प्रेम।

अर्थ—श्रीभरतजी की अत्यन्त अकथ्य दशा को देखकर पशु पक्षी और जड़-जीव (वृक्ष आदि) प्रेम में निमग्न हैं ॥५॥ स्नेह के विशेषवश हो जाने से सखा को मार्ग भूल गया, तब सुन्दर मार्ग बतलाकर देवता-गण फूल बरसाते हैं ॥६॥ इस प्रेम की दशा को देखकर सिद्ध और साधक अनुरक्त हो गये और इनके इस स्वाभाविक स्नेह की प्रशंसा करने लगे ॥७॥ कि जो पृथिवी पर श्रीभरतजी का आविर्भाव (जन्म एवं प्रेम) न होता, तो अचर को सचर और चर को अचर कौन करता? ॥८॥ कृपा के समुद्र रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीभरत-रूपी अगाध समुद्र को, विरह-रूपी मंदराचल के द्वारा मथकर, साधु-रूपी देवताओं के लिये, प्रेम-रूपी अमृत को प्रकट किया ॥२३८॥

विशेष—(१) 'सखहि सनेह बिबस...'—ऊपर कहा गया—'प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।' तब निषादराज तो चैतन्य मनुष्य हैं, उनका स्नेह से विवश होना कोई आश्चर्य नहीं। 'कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला'—जिधर मार्ग है, उसी ओर फूल बरसाते हैं कि उसी पर चले आवें। इस प्रकार मार्ग को कोमल बनाकर भी सेवा करते हैं; क्योंकि गुरु श्रीबृहस्पतिजी का उपदेश हो चुका है—"मानत सुख सेवक सेवकाई।" (दो० २१८)।

(२) 'निरखि सिद्ध साधक...'—सिद्ध जैसे कपिल आदि, साधक सौनक आदि।

(३) 'होत न भूतल भाव भरत को।'—'भाव' का जन्म और प्रेम दोनों अर्थ यहाँ संगत हैं। 'जन्म' अर्थ, यथा—"जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥" (दो० २३२); के अनु-

रोध से ठीक है और 'प्रेम' का अर्थ यहाँ ऊपर के प्रसंग से युक्त है, यह सिद्ध-साधकों की सराहना है, वे सहज स्नेह को ही तो सराहने लगे थे। आगे भी—'प्रेम अमिअ मंदर'···' आदि कहा है। बा० दो० १६ चौ० ३-४ में जो इनमें धर्म और प्रेम गुण प्रधान कहे गये हैं, उन्हीं का यहाँ वर्णन है। वा, उपर्युक्त 'सकल धरम धुर'···' में धर्म का और यहाँ प्रेम का वर्णन है।

'अचर सचर चर अचर करत को।'—यहाँ वृक्ष-शिला आदि जड़ हैं, उन्होंने चेतन की वृत्ति धारण की है; यथा—"द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।" (दो० २११); "भइ मृदु भूमि···तृन मृदु माहीं" (दो० ११०); और चर (चेतन) देवता-गण जड़वत् हो रहे हैं; यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० २२०); "प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।" (दो० २२७); ये सब चर भी जड़ के समान हो गये।

(४) 'प्रेम अमिअ मंदर बिरह······'—श्रीभरतजी क्षीर-समुद्र, श्रीराम-विरह मंदराचल, साधु देवता, प्रेम अमृत और मथनेवाले यहाँ रघुवीर और वहाँ देवता-दैत्य हैं—ये उपमेय-उपमान हैं। वहाँ देवता-गण अमृत पीकर दैत्यों को जीत सके, वैसे ही यहाँ प्रेम से साधु लोग आसुरी-वृत्ति (कामादि) को जीतते हैं।

वहाँ मथनेवाले स्वार्थी थे, यहाँ अकेले श्रीरघुवीर हैं, वे भी 'कृपासिंधु' अर्थात् निःस्वार्थ कृपावश मथते हैं। श्रीभरतजी को दुःख न हो, यह भी कृपालुता है। 'प्रगटेउ'—प्रेम श्रीभरतजी के हृदय में था, अब सबके देखने में भी आया। 'साधु हित'—प्रेम के विशेष अधिकारी सन्मार्गी एवं सद्भाववाले ही हैं। श्रीभरतजी प्रेम के समुद्र हैं; यथा—"भरत सुप्रेम पयोधि।" (दो० २१७); और श्रीरामजी भी यहाँ 'कृपा-सिंधु' कहे गये हैं। देवताओं को अमृत की आवश्यकता थी, उसी के लिये समुद्र मथा गया, वैसे ही साधुओं को प्रेम की आवश्यकता है, इसीलिये यहाँ भी मथन हुआ; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। रामभगति रस सिद्धि हित···" (दो० २०८)।

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥१॥
भरत दीख प्रभुआश्रम पावन। सकल - सुमंगल - सदन सुहावन ॥२॥
करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा ॥३॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे ॥४॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सरु धनु काँधे ॥५॥

अर्थ—सखा निषादराज-सहित श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी की मनोहर जोड़ी को सघन जंगल की आड़ के कारण श्रीलक्ष्मणजी ने नहीं देखा ॥१॥ श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के आश्रम को देखा, जो पवित्र, समस्त सुन्दर मंगलों का स्थान, और सुन्दर था ॥२॥ आश्रम में प्रवेश करते ही दुःख की दावाग्नि मिट गई, मानों योगी को परमार्थ प्राप्त हुआ ॥३॥ श्रीभरतजी ने देखा कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु श्रीरामजी के आगे हैं, प्रभु के पूछे हुए वचनों का उत्तर अनुराग-पूर्वक कह रहे हैं ॥४॥ सिर पर जटा, कटि में मुनियों के-से वस्त्र बाँधे और उसी में तरकश भी कसे हैं, हाथ में बाण और कंधे पर धनुष रक्खे हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'लखेउ न लखन···'—यद्यपि लखना (लख करना) ही इनका सहज गुण है, तथापि इन्होंने नहीं देखा, क्योंकि ये (श्रीभरतजी) सघन वन की ओट में थे।

(२) 'मिटे दुख दावा'—पूर्व कहा था—"जेहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११); जलन यहाँ शांत हुई। 'जनु जोगी ···'—अष्टांग योग सिद्ध होने पर बहुत कष्ट झेलकर ५८५

को योगी पाता है ; यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच वियोगी ॥ ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा ॥" (बा॰ दो॰ २१); वैसे ही श्रीभरतजी को भी बहुत कष्ट उठाने पर प्रभु के आश्रम की प्राप्ति हुई है, तब वैसा ही सुख भी हुआ। यही आनंद अन्यत्र भी कहा गया है ; यथा—"भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥ पावा परम तत्त्व जनु जोगी । अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥ जनमरंक जनु पारस पावा ।··" (बा॰ दो॰ ३४१)।

(३) 'पूछे बचन कहत अनुरागे ।'—पूछने पर सदा अनुराग से ही उत्तर देते हैं, कभी सेवा में यदि बिना पूछे कुछ कहना होता है, तो पहले क्षमा माँग लेते हैं। श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की सेवा में खड़े हैं, इस तरह प्रथम भागवत के दर्शन हुए, तब भगवत् के। ऐसा ही नियम है ; यथा—"संत संग अपवर्ग कर ।··" (उ॰ दो॰ ३३)।

बेदी पर मुनि - साधु - समाजू । सीयसहित राजत रघुराजू ॥६॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा । जनु मुनिबेष कीन्ह रति-कामा ॥७॥
कर-कमलनि धनु - सायक फेरत । जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥८॥

दोहा—लसत मंजु मुनि-मंडली, मध्य सीय - रघुचंद ।
ज्ञानसभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद ॥२३९॥

शब्दार्थ—जटिल=जटा-सहित । फेरना=चारों ओर घुमाना । लसना=सोहना ।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने देखा कि) वेदी पर मुनि और साधुओं का समाज है और श्रीसीताजी के सहित श्रीरघुनाथजी सुशोभित हैं ॥६॥ वल्कल वस्त्र, पहने जटा धारण किये हुए, श्याम शरीर हैं, मानों रति और कामदेव मुनि-वेष किये हुए (बैठे) हैं ॥७॥ (श्रीरामजी) हस्त-कमलों से धनुषबाण फिरा रहे हैं, (जिसकी ओर) हँसकर देखते हैं उसके जी की जलन हर लेते हैं ॥८॥ सुन्दर मुनियों के समाज के बीच में श्रीसीताजी और रघुकुल-चन्द्र श्रीरामजी ऐसे विराज (सोह) रहे हैं, जैसे ज्ञान की सभा में शरीर धारण किये हुए भक्ति और सच्चिदानंद (ब्रह्म) विराजमान हों ॥२३९॥

विशेष—(१) 'मुनि-साधु'—मुनि से मनन करनेवाले और साधु से सूधे स्वभाववाले सन्मार्गी को सूचित किया, आगे इन्हें केवल 'मंजु मुनि मंडली' से ही कहा है।

(२) 'जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा'—ऊपर 'सीय सहित राजत' कहा है, उसीकी व्याख्या यहाँ है ; किन्तु वेष का वर्णन श्रीरामजी का ही है और 'कीन्ह रति कामा' से श्रीसीताजी का भी मुनि-वेष कहा गया है। आगे भी कहेंगे—"तापस-बेष जनक सिय देखी ।" (दो॰ २८५) ; और पूर्व—"कनक बिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (दो॰ १९८) भी कहा है, जिससे श्रीसीताजी के राजसी वस्त्र आदि पाये जाते हैं जो कि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट कहे गये हैं। इन सब प्रमाणों से पाया जाता है कि श्रीसीताजी ने तपस्विनी का कुछ चिह्नमात्र रक्खा था और साधारण वस्त्राभूषण रखना ही इनके लिये तापस-वेष है। श्रीसीताजी के विषय में 'वलकल' का 'वरकल' अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दर अर्थ होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' सवर्ण होने से अभेद कहे गये हैं। 'जटिल' से केश छूटे हुए और 'श्यामा'

से षोड्श वर्ष तककी अवस्था का अर्थ है। 'कर कमलनि···' से श्रीरामजी कर कमलों में धनुष-बाण को और श्रीसीताजी कर में कमलों को फिरा रही हैं।

(३) 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'—श्रीभरतजी ने पहले कहा था—"देखे बिनु रघुबीर-पद, जिय कै जरनि न जाइ।" (दो० १८१); उस जलन को इस क्रीड़ा से हर रहे हैं। यह क्रीड़ा गीतावली में भी कही गई है; यथा—"बिलोके दूरितें दोउ बीर। उर आयत, आजानु सुभग भुज, स्यामल गौर सरीर ॥१॥ सीस जटा, सरसीरुह लोचन, बने परिधन मुनि चीर। निकट निषंग संग सिय सोभित, करनि धुनत धनु तीर ॥२॥···" (अ० ४१)।

(४) 'लसत मंजु मुनि-मंडली···'—मुनि लोग बहुत हैं और सब ज्ञानी हैं, इसलिये ज्ञान की सभा कही है। 'लसत' से भक्ति के साहचर्य में ज्ञान की शोभा दिखाई; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २७६); तथा—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।" (भाग० १।५।१२); "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥" (दो० २९०)। ये मुनि लोग सरस ज्ञानी हैं। भक्ति-रूपा श्रीसीताजी और सच्चिदानंद ब्रह्म-रूप श्रीरामजी हैं। माधुर्य की दृष्टि से 'जनु' शब्द से ये उपमा-रूप में कहे गये हैं कि ये तनु-धारी नहीं होते, पर यहाँ मानों शरीर धारण किये हुए (एकदेशी बने) बैठे हैं।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन ॥१॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥२॥
बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने ॥३॥
बंधुसनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब-सेवा बस जोरा ॥४॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखनमन की गति भनई ॥५॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥६॥

शब्दार्थ—गुदरना = निवेदन करना, पेश करना (फा०—गुजरान) या, बीतना, पृथक् होना।

अर्थ—भाई और सखा के सहित श्रीभरतजी मन में मग्न हैं, हर्ष, शोक और सुख-दुःख-समूह को भूल गये ॥१॥ हे नाथ! पाहि (रक्षा कीजिये), हे गोसाईं! पाहि, ऐसा कहकर पृथिवी पर लाठी की तरह गिर पड़े ॥२॥ (यद्यपि यह घटना श्रीलक्ष्मणजी के पीठ-पीछे हुई, तथापि) प्रेम युक्त वचनों से श्रीलक्ष्मणजी ने पहचान लिया और जी में जान लिया कि श्रीभरतजी प्रणाम करते हैं ॥३॥ इस ओर तो भाई का प्रेम सरस (बढ़ा हुआ एवं अधिक) है और इधर स्वामी की सेवा अत्यन्त प्रबल ॥४॥ न तो जाकर मिला ही जाय और न सेवा से पृथक् होते ही बने, (या, यह कहते नहीं बनता कि श्रीभरतजी आये हैं,) सुकवि श्रीलक्ष्मणजी के मन की दशा को इस तरह कहते हैं ॥५॥ कि वे सेवा पर भार रखकर रह गये, मानों खेलाड़ी चढ़ी हुई पतंग को खींच रहा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'बिसरे हरष-सोक···'—'गन' शब्द से हर्ष आदि अनेक तरह के बहुत-से हैं, उन सबको भूल गये। यह तुरीयावस्था है; यथा—"सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं॥ तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥" (वि० १२०); हर्ष से सुख और शोक से दुःख का

अनुभव होता है। यहाँ श्रीराम-शैल के दर्शनों पर, श्रीरामजी के आश्रम में प्रवेश करने पर और श्रीराम-चरण-चिह्न के देखने पर हर्ष हुआ था और पितामरण, माता की कुटिलता और श्रीराम-वन-गमन सुनने पर शोक हुआ था—इस समय उन सबको भूल गये।

(२) 'भूतल परे लकुट की नाईं।'—लकुट की नाईं कहकर दंडवत् की क्रिया जनाई, मनुजी की दंडवत् के प्रसंग में—'परे दंड इव' और यहाँ 'लकुट की नाईं' कहा है। दंडा मोटा होता है, वैसे मनुजी को—"हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाये।" कहा है और श्रीभरतजी—'कृशतनु राम-वियोग' से पतली लकुटी की तरह दुबले हैं। अतः, जैसे निराधार खड़ी लकुटी गिर पड़ती है, वैसे गिर पड़े।

(३) 'पाहि नाथ कहि ···'—'नाथ' शब्द से अपना सनाथ होना चाहा एवं रक्षा चाही और 'गोसाईं' शब्द से अपनेको इन्द्रिय-परतंत्र सूचित करते हुए इन्द्रियों के स्वामी श्रीरामजी से रक्षा चाही। 'जिय जाने' केवल हृदय से जाना, आँखों से नहीं देखा, क्योंकि उधर पीठ किये हुए थे।

(४) 'बंधुसनेह सरस येहि ओरा'—श्रीभरतजी बहुत दिनों पर मिल रहे हैं, इससे स्नेह अधिक है और इनपर क्रोध किया था, उसकी ग्लानि से भी स्नेह अधिक है।

'इत साहिब सेवा ···'—सेवा यह कि स्वामी श्रीरामजी ने कुछ पूछा था, ये अनुराग-पूर्वक उसका उत्तर दे रहे हैं, जब तक वह पूरा न हो तब तक दूसरी बात कैसे कहें ? प्रभु को आज्ञा का पालन ही सेवा है। यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००); 'बर जोरा' सेवा का पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसीसे—'रहे राखि सेवा पर भारू।' कहा है; यथा—"यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।" (वि० १०४)। 'चढ़ी चंग जनु···'—जब पतंग ऊँचा चढ़ जाता है, तब खेलाड़ी यत्न-पूर्वक उसे खींचकर ही दूसरा काम कर सकता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की बातों का उत्तर दे रहे थे, वही चढ़ी हुई चंग है; अर्थात् उत्तर का विषय बड़ा था, पर उसे शीघ्र समाप्त करने के लिये यत्न-पूर्वक थोड़े में समाप्त करना (प्रसंग को समेटना) यह चंग का खींचना है, बात समाप्त करके तुरत कहा—'भरत प्रनाम करत···'। इस अर्थ में वाणी के साहचर्य में मन की व्यवस्था है। या, श्रीलक्ष्मणजी खेलाड़ी हैं, उनका मन चंग है, हृदय आकाश है, बंधु-स्नेह पवन है, श्रीरामजी की सेवा डोरी है। खेलाड़ी के हाथ से डोरी थोड़ी भी ढीली पड़ी कि वायु उसे आकाश में दूर चढ़ा ले जाता है। यहाँ ये सेवा में कुछ ढीले पड़े (श्रीभरतजी के शब्दों की ओर कान गया) कि बंधु-स्नेह ने मन को दूर कर दिया, फिर इन्होंने बंधु-स्नेह की अपेक्षा स्वामी की सेवा का गौरव अधिक मानकर धीरे-धीरे मन को इधर खींचा और उसे पूर्ववत् नियुक्त कर सेवा-रूप प्रश्नोत्तर पूर्ण करके कहा—'भरत प्रनाम करत···'—जैसे खेलाड़ी चंग को स्वस्थान पर रख देता है। चंग खिचती हुई रुक-रुक कर आती है, वैसे ही मन बंधु-स्नेह से रुक-रुक कर इधर आता है। यहाँ डोरी भी न टूटी अर्थात् सेवा न छूटी और मन सेवा में आ पहुँचा; अर्थात् चंग भी स्व-स्थान पर आ गई।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥७॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥८॥

दोहा—बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान ॥२४०॥

अर्थ—पृथिवी पर शिर नवाकर वे प्रेम-सहित कहते हैं कि हे रघुकुल के नाथ! श्रीभरतजी प्रणाम करते हैं ॥७॥ यह सुनकर श्रीरामजी प्रेम से अधीर होकर उठे, कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तर्कश, कहीं धनुष और कहीं बाण ॥८॥ उनको 'बरबस' (बलवश, बल-पूर्वक) उठाकर कृपासागर श्रीरामजी ने हृदय से लगा लिया, श्रीभरतजी और श्रीरामजी का मिलाप देखकर सभी को अपनी सुधि भूल गई ॥२४०॥

विशेष—(१) 'कहत सप्रेम नाइ...'—प्रभु के सामने खड़े हुए श्रीलक्ष्मणजी प्रश्नोत्तर देने की सेवा में थे, इधर ज्यों ही श्रीभरतजी ने 'पाहि नाथ' ! कहते हुए दंडवत् की और 'पाहि गोसाईं' कहते ही थे कि श्रीलक्ष्मणजी ने 'मन की गति' के समान शीघ्रता भी की कि अपना कथन शीघ्र पूर्ण कर पृथिवी में झुक श्रीभरतजी का प्रणाम कहा, साथ ही झुककर श्रीरामजी की दृष्टि का व्यवधान भी छोड़ दिया कि श्रीरामजी उन्हें स्वयं देख लें और अपनी बात शीघ्र समाप्त करने को वे-अदबी की क्षमा भी माँगी और निवेदन भी किया, तब श्रीभरतजी का 'पाहि गोसाईं' शब्द पूर्ण हो पाया और श्रीरामजी अधीर हो उठ दौड़े।

(२) 'उठे राम सुनि प्रेम...'—प्रेम की अधीरता की दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। पुनः; यथा—"सुमिरत सुलभ, दास दुख सुनि, हरि चलत तुरत, पट पीत सँभार न। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपद सुता अरु वारन॥" (वि० २०१);

(३) 'कृपानिधान' यथा—"तुलसिदास दसा देखि भरत की उठि धाये अतिहि अधीर। लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह-जनित हरि पीर॥" (गी० अ० ६१)।

(४) 'बिसरे सबहि अपान'; यथा—"बनबासी पुरलोग महामुनि किये हैं काठ के-से कोरि।" (गी० अ० ७०)।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी॥१॥
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥२॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥३॥
कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥४॥
अगम सनेह भरत-रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को॥५॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडरताँती॥६॥

शब्दार्थ—गाँडर (सं० गंडाली)=मूँज की तरह की एक घास, गंड-दूर्वा। ताँत=भेड़ आदि के चमड़े, नस आदि की डोरी, सारंगी आदि के तार; यथा—"बूझ्यो राग बाजी ताँति" (वि० २१४)।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के मिलने की प्रीति कैसे बखानी जाय? वह तो कवि-समाज के लिये कर्म-मन-वचन (तीनों) से अगम्य है ॥१॥ दोनों भाई परम-प्रेम से पूर्ण हैं, उन्होंने अपने-अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुला दिया है ॥२॥ कहिये, उस सुन्दर प्रेम को कौन प्रकट करे? कवि की बुद्धि किस छाया का अनुसरण करे? ॥३॥ कवि को अर्थ और अक्षर का ही सच्चा बल है, (जैसे) नट ताल की गति के अनुसार ही नाचता है ॥४॥ श्रीभरतजी और रघुबर श्रीरामजी का प्रेम अगम है,

विशेष—'मिलनि विलोकि भरत……'—पूर्व—'भरत राम की मिलनि लखि' पर से मिलने का प्रसंग छोड़ छः अर्द्धालियों में प्रीति का वर्णन किया, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लिया। अतः, इतनी देर बेसुध मिले रहे, यह सूचित किया। जब देवताओं ने देखा कि श्रीरामजी तो स्वयं श्रीभरतजी के स्नेह में तन-मन भूल गये, तब उनका कलेजा धड़कने लगा, वे मूर्च्छित हो गये कि अब तो अवश्य ही श्रीभरतजी के कहने से लौट जायँगे। तब गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर सचेत हुए। अज्ञान के कारण देवता 'जड़' कहे गये। सोने में मनुष्य जड़ के समान हो ही जाता है, उसका जगना ही सचेत होना है। देवताओं की मोह-निशा बीती और उनके ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय हुआ।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥१॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥२॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर-कमल परसि बैठाये ॥४॥
सीय असीस, दीन्हि मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—ललकि = प्रबल उत्साह से, चाव सहित। अनंदे = सुखी हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी से ललककर मिले, फिर निषाद को हृदय से लगाया ॥१॥ फिर दोनों भाइयों (श्रीभरत-शत्रुघ्न) ने मुनिगणों की वन्दना की, उनसे मनोवांछित आशिष पाकर आनंदित हुए ॥२॥ भाई सहित श्रीभरतजी ने प्रेम से उमँगकर श्रीसीताजी के चरण-कमलों की धूलि को शिरोधार्य किया ॥३॥ फिर-फिर (बार-बार) प्रणाम करते हुए उनके शिर पर हस्त-कमल फिरा कर उन्हें उठाकर बैठाया ॥४॥ श्रीसीताजी ने मन में आशिष दी, वे प्रेम में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'भेंटेउ लखन ललकि……'—उपर्युक्त 'लछिमन करत प्रनाम' के अनुरोध से यहाँ लगा लेना चाहिये कि श्रीशत्रुघ्नजी के प्रणाम करने पर श्रीलक्ष्मणजी ललककर मिले। श्रीलक्ष्मणजी को चाव इससे है कि हमारा भाई परम भागवत् की सेवा में है अतएव परम भाग्यवान् है। 'निषाद' शब्द से उर लगाने में उसका भाग्य दिखाया।

(२) 'पुनि मुनिगन दुहुँ……'—मुनिगण भी श्रीरामजी के साथ कुछ उधर हो बढ़ गये थे, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजी के पीछे श्रीसीताजी को ही प्रणाम करते।

(३) 'अभिमत आसिष'—जैसे कि श्रीभरतजी ने त्रिवेणी में माँगा था; यथा—"जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन॥" (दो० २०४); एवं—"सीय राम पद सहज सनेहू।" (दो० ११६); यह श्रीगंगाजी से माँगा था।

श्रीरामजी विह्वल हो गये थे—'प्रेम अधीरा' कहा गया है, पर ये सावधान रहीं, इसीसे प्यार-सूचक मुद्रा से शिर पर हाथ फेरा, फिर भी आशिष देती हुई स्नेह में मग्न हो गईं, इससे मन ही में आशिष दी।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥६॥

जहाँ ब्रह्मा-विष्णु महेश का भी मन नहीं जा सकता ॥५॥ उस प्रेम को मैं दुर्बुद्धि किस तरह कहूँ ? क्या गाँडर (घास) की ताँत से सुन्दर राग बज सकता है ? ॥६॥

विशेष—(१) 'मिलनि प्रीति किमि……'—इसीके विस्तार-रूप में आगे की पाँचो अर्द्धालियाँ हैं। उस प्रीति के स्मरण से कवियों के मन आदि अपने-अपने धर्म भूल जाते हैं, इसीसे उसका वर्णन नहीं हो सकता।

(२) 'परम-प्रेम-पूरन दोउ……'—श्रीभरतजी अंतःकरण - चतुष्टय को भूल भी जायँ, पर श्रीरामजी परब्रह्म हैं, वे कैसे भूले ? इसका समाधान यह है कि भगवान् भक्तों के भाव के प्रति तदनुसार ही वर्ताव करते हैं, यह नियम है ; यथा— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११)। अंतःकरण से परे आत्मा की चेतनता-मात्र शेष रही।

(३) 'जहँ न जाइ मन बिधि…… '—त्रिदेवों की वृत्तियाँ अपने-अपने गुणों तक रहती हैं, पर यह प्रीति त्रिगुणातीत है, यह सूचित किया ; यथा—"बिधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २) ; तब साधु शिरोमणि श्रीभरतजी और उनके इष्ट की महिमा एवं प्रीति को ये कैसे कह सकते हैं ?

(४) 'सो मैं कुमति कहउँ ……'—भेड़ की नसों की ताँत एवं तार हो तो उससे सुन्दर राग भी निकले, घास की बटी हुई ताँत तो कमानी रगड़ते ही टूट जाती है। गाँडर का अर्थ भेड़ भी होता है। इससे भी भाव होगा कि क्या भेड़ (गाँडर) की ताँत है कि उससे सुराग निकले, यह तो गाँडर (घास) की ताँत है। अतः, इससे कुछ आशा नहीं। अपनी कुबुद्धि को गाँडर (घास) से उपमा दी है।

(५) 'कबिहि अरथ आखर बल……'—दोनों भाई अपनी-अपनी दशा के प्रकट करने में मौन हैं, तो उसे कवि कैसे कहे, जब कि इसे अक्षर और अर्थ का बल नहीं मिल रहा है। जैसे नट ताल पर नाचता है, वैसे कवि भी अर्थ-अक्षर के बल पर ही कुछ कह सकता है। प्रेम का स्वरूप ही अनिर्वचनीय है; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।" (नारदभक्ति सूत्र)। प्रेम का चित्र शब्द और उसके अर्थ की सामग्री से बन ही नहीं सकता ; तो कवि-रूपी नट अपनी गति किस आधार से प्रकट करे।

मिलनि बिलोकि भरतरघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी ॥७॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥८॥

दोहा—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवट भेंटेउ राम।
भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम ॥२४१॥

शब्दार्थ—धकधकी = कलेजा। धड़कना = धक-धक करना। जागना = सावधान होना।

अर्थ—श्रीभरतजी और रघुवर श्रीरामजी का मिलना देखकर देवता लोग डर गये और उनके कलेजे धड़कने लगे ॥७॥ देव-गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर वे मूर्ख सचेत हुए और फूल वर्षा कर प्रशंसा करने लगे ॥८॥ प्रेम-पूर्वक श्रीशत्रुघ्नजी से मिलकर श्रीरामजी ने केवट से भेंट की ; अर्थात् उससे गले लगाकर मिले। श्रीलक्ष्मणजी के प्रणाम करते ही श्रीभरतजी ने भी अत्यन्त प्रेम से उनसे भेंट की ॥२४१॥

विशेष—'मिलनि बिलोकि भरत ·····'—पूर्व—'भरत राम की मिलनि लखि' पर से मिलने का प्रसंग छोड़ छः अर्द्धालियों में प्रीति का वर्णन किया, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लिया। अतः, इतनी देर बेसुध मिले रहे, यह सूचित किया। जब देवताओं ने देखा कि श्रीरामजी तो स्वयं श्रीभरतजी के स्नेह में तन-मन भूल गये, तब उनका कलेजा धड़कने लगा, वे मूर्च्छित हो गये कि अब तो अवश्य ही श्रीभरतजी के कहने से लौट जायँगे। तब गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर सचेत हुए। अज्ञान के कारण देवता 'जड़' कहे गये। सोने में मनुष्य जड़ के समान हो ही जाता है, उसका जगना ही सचेत होना है। देवताओं की मोह-निशा बीती और उनके ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय हुआ।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥१॥
पुनि - मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥२॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर - कमल परसि बैठाये ॥४॥
सीय असीस, दीन्हि मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—ललकि = प्रबल उत्साह से, चाव सहित। अनंदे = सुखी हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी से ललककर मिले, फिर निषाद को हृदय से लगाया ॥१॥ फिर दोनों भाइयों (श्रीभरत-शत्रुघ्न) ने मुनिगणों की वन्दना की, उनसे मनोवांछित आशिष पाकर आनंदित हुए ॥२॥ भाई सहित श्रीभरतजी ने प्रेम से उमँगकर श्रीसीताजी के चरण-कमलों की धूलि को शिरोधार्य किया ॥३॥ फिर-फिर (बार-बार) प्रणाम करते हुए उनके शिर पर हस्त-कमल फिरा कर उन्हें उठाकर बैठाया ॥४॥ श्रीसीताजी ने मन में आशिष दी, वे प्रेम में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'भेंटेउ लखन ललकि ·····'—उपर्युक्त 'लछिमन करत प्रनाम' के अनुरोध से यहाँ लगा लेना चाहिये कि श्रीशत्रुघ्नजी के प्रणाम करने पर श्रीलक्ष्मणजी ललककर मिले। श्रीलक्ष्मणजी को चाव इससे है कि हमारा भाई परम भागवत् की सेवा में है अतएव परम भाग्यवान् है। 'निषाद' शब्द से उर लगाने में उसका भाग्य दिखाया।

(२) 'पुनि मुनिगन दुहुँ·····'—मुनिगण भी श्रीरामजी के साथ कुछ उधर हो बढ़ गये थे, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजी के पीछे श्रीसीताजी को ही प्रणाम करते।

(३) 'अभिमत आसिष'—जैसे कि श्रीभरतजी ने त्रिवेणी में माँगा था; यथा—"जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (दो० २०४); एवं—"सीय राम पद सहज सनेहू।" (दो० १११); यह श्रीगंगाजी से माँगा था।

श्रीरामजी विह्वल हो गये थे—'प्रेम अधीरा' कहा गया है, पर ये सावधान रहीं, इसीसे प्यार-सूचक मुद्रा से शिर पर हाथ फेरा, फिर भी आशिष देती हुई स्नेह में मग्न हो गईं, इससे मन ही में आशिष दी।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥६॥

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निजगति छूछा ॥७॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनाम करि ॥८॥

दोहा—नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु सकल पुरलोग।
सेवक सेनप सचिव सब, आये बिकल बियोग ॥२४२॥

शब्दार्थ—अवडर = झूठा भय। छूछा = खाली।

अर्थ—सब तरह से श्रीसीताजी को अपने अनुकूल देखकर श्रीभरतजी शोच-रहित हो गये और झूठा भय (कि मेरे निमित्त इनके पति का अपमान हुआ, इससे रुष्ट होंगी—यह कल्पित भय) जाता रहा ॥६॥ न कोई कुछ कहता है और न कोई कुछ (कुशल-वार्त्ता आदि) पूछता है, मन प्रेम से परिपूर्ण है और अपनी गति (चंचलता रूपी चाल) से खाली हो गया है ॥७॥ उस समय केवट धैर्य धरकर और हाथ जोड़ प्रणाम करके विनती करने लगा ॥८॥ हे नाथ ! मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी के साथ सब माताएँ, पुरवासी, सेवक, सेनापति और मंत्री—ये सब आपके वियोग से व्याकुल होकर आये हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'भे निसोच'''—श्रीरामजी तो अपने अपराध पर रिसाते ही नहीं; यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ॥" (दो० २१७)। पर ये पतिव्रता शिरोमणि हैं, अतएव पति के अपमान पर अवश्य रुष्ट होंगी—यह भय जाता रहा।

(२) 'तेहि अवसर केवट धीरज धरि'''—इस प्रसंग में 'केवट' शब्द तीन बार (आदि, मध्य और अंत में) आया है; यथा—"तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई।" यह आदि में, "केवट भेंटेउ राम"—यह मध्य में और 'केवट धीरज धरि' यह अंत में कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीजनकजी के आगमन पर करुणा एवं स्नेह-नदी का विस्तृत रूपक कहना है। वही भाव यहाँ भी दिखाने के लिये 'केवट'-शब्द दिया, क्योंकि नदी से पार करना केवट का काम है। अतएव उसे धैर्य भी चाहिये ही, अन्यथा सभी डूब जायँ; यथा—"करनधार तुम्ह'''धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहित बूड़िहि सब परिवारू॥" (दो० १५१)। यहाँ चारों भाई स्नेह-नदी में निमग्न हो रहे हैं और उधर अवधवासी भी शोक-समुद्र में डूब रहे हैं, केवट के इस धैर्य-पूर्वक कथन से सभी पार होंगे।

(३) 'नाथ साथ मुनिनाथ के'''—श्रीवसिष्ठजी इस समय उधर प्रधान हैं और चक्रवर्तीजी के स्थान पर हैं, इससे उनके संग माता आदि का आना कहा, राजकुमार के साथ न कहा। पुनः श्रीभरतजी तो इस समय यहाँ ही हैं और वे लोग गुरुजी के ही साथ हैं। श्रीरामजी को स्नेह-सरित से तुरत निकालने के लिये भी मुनि का नाम कहा कि गुरु एवं माता आदि से मिलने के लिये सावधान हो जायँ और चलें; यही निषाद का केवट-कर्म है।

(४) गुरु-पुरजन आदि केवट को श्रीलक्ष्मणजी के समान मानते आये, पूर्व लिखा गया है। इस समय यह सबसे श्रीरामजी को मिलाने में श्रीलक्ष्मणजी के समान कार्य कर रहा है।

सीलसिंधु सुनि गुरु-आगवनू। सियसमीप राखे रिपुदवनू ॥१॥
चले सबेग राम तेहि काला। धीर-धरमधुर दीनदयाला ॥२॥

गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंडप्रनाम करन प्रभु लागे ॥३॥
मुनिवर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई ॥४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंडप्रनामू ॥५॥

अर्थ—शील-सागर श्रीरामजी ने गुरु का आगमन सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी के पास रक्खा ॥१॥ उस समय धीर, धर्म धुरंधर और दीनदयालु श्रीरामजी तेजी से चले ॥२॥ गुरुजी को देखकर भाई श्रीलक्ष्मणजी के सहित प्रभु श्रीरामजी अनुरक्त हो गये और दंडवत्-प्रणाम करने लगे ॥३॥ मुनि श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने दौड़कर उनको हृदय से लगा लिया और प्रेम से उमँग कर दोनों भाइयों से मिले ॥४॥ प्रेम से पुलकित होकर केवट ने अपना नाम कहकर दूर से दंडवत्-प्रणाम किया ॥५॥

विशेष—(१) 'सील सिंधु सुनि…'—शील-गुण सदाचार में प्रवृत्त कराता ही है; अतः, धैर्य धरकर चले। श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी की रक्षा में रक्खा, क्योंकि वे शत्रु-दमन में समर्थ हैं और छोटे हैं। फिर श्रीभरतजी को रखने पर पुरजनों को संदेह हो जायगा कि श्रीभरतजी को त्याग तो नहीं दिया। श्रीलक्ष्मणजी तो अपनी तरह मिलने को आतुर हैं ही।

(२) 'चले सबेग राम…'—सब हमारे वियोग में विकल होकर आये हैं, इसलिये धैर्य धारण करके चले। सबकी व्याकुलता पर दया-दृष्टि है, इससे 'दीनदयाला' कहा है। 'सबेग' से श्रद्धा की विशेषता सूचित की। गुरु-भक्ति-रूप धर्म पर आरूढ़ हैं, इससे 'धरमधुर' कहा है।

(३) 'गुरहि देखि सानुज अनुरागे।…'—गुरु में अनुराग होना ही चाहिये; यथा—"परस गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(४) 'मुनिवर धाइ लिये…'—इधर प्रभु 'धरमधुर' हैं, अपने धर्म का पालन करते हैं, तो उधर मुनि-श्रेष्ठ भी कोरे (रूखे) ज्ञानी नहीं हैं, किंतु सरस ज्ञानी हैं, प्रेम से दौड़कर उठा लिया। 'धाइ' से मुनि का कुछ दूर रहना जाना गया।

(५) 'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।…'—यह अभी गुरुजी के पास से श्रीभरतजी के साथ ही आया था, श्रीभरतजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, तब इसने क्यों किया? इसका समाधान 'प्रेम पुलकि' से हो जाता है कि यह श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम करते देखकर प्रेम उमड़ने से भूल गया कि मैं तो अभी ही वहाँ से आया था; किन्तु उनके साथ फिर प्रणाम किया; क्योंकि स्वामी तो प्रणाम करें और यह कैसे न करे? अपनेको नीच जानकर दूर से ही प्रणाम किया, पर मुनि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देते हैं; प्रेम में मर्यादा भूल जाते हैं। यह भी भाव है कि यह श्रीरामजी का सखा है। इस भाव से उनके साथ प्रणाम किया है, फिर ऋषि एक को उर लगाकें, दूसरे को क्यों नहीं? 'केवट' शब्द उसकी जाति की न्यूनता का सूचक है।

राम-सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥६॥
रघुपति-भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला ॥७॥
येहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ-सम को जग माहीं ॥८॥

दोहा—जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति - भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥२४३॥

शब्दार्थ—लुठत = भूमि पर लोटते हुए। बरबस = जोरावरी से (दोनों हाथों से उठाकर)।

अर्थ—ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी के सखा निषादराज से जोरावरी से भेंट की, अर्थात् बलात् उसे उठाकर हृदय लगाया, मानों भूमि पर लोटते हुए स्नेह को समेट (बटोर) लिया ॥६॥ श्रीरघुनाथजी की भक्ति सुन्दर मंगलों की जड़ है, (इस तरह) प्रशंसा करके देवता लोग आकाश से फूल बरसाते हैं ॥७॥ (वे कहते हैं कि) इसके समान अत्यन्त नीच कोई नहीं है और श्रीवसिष्ठजी के समान संसार में बड़ा कौन है अर्थात् कोई नहीं है ॥८॥ जिसे देखकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक आनंदित होकर मुनिराज उससे मिले, यह श्रीसीता-पति के भजन का प्रकट प्रताप एवं प्रभाव है ॥२४३॥

विशेष—(१) 'राम-सखा रिषि बरबस भेंटा ।'—शृंगवेरपुर में मुनि का मिलाप नहीं कहा गया, क्योंकि वह श्रीभरतजी के प्रति दुर्भाव से परीक्षा के लिये आया था और श्रीवसिष्ठजी रथ पर थे। वे श्रीरामजी के लिये भी रथ से नहीं उतर सकते फिर यह तो श्रीरामजी का सखा ही है। श्रीभरतजी का वहाँ मिलना योग्य था, क्योंकि 'राम-सखा' को श्रीरामजी के तुल्य मानना योग्य ही था। यहाँ श्रीवसिष्ठजी भूमि पर हैं और इसने श्रीरामजी के साथ उनकी सखात्व दृष्टि से दंडवत् की। श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी को 'धाइ' कर हृदय लगाया तो उनके सखा को क्यों न 'बरबस' हृदय लगावें ? वहाँ 'धाइ' तो यहाँ 'बरबस' कहा गया है। पुनः शृंगवेरपुर में इससे श्रीभरतजी के मिलने पर देवताओं ने कहा था—"येहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा ॥ करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई ॥" (दो० १९४); सम्भवतः इसे वहाँ श्रीवसिष्ठजी ने अपने पर कटाक्ष समझा था। अतः, उस त्रुटि का यहाँ मार्जन किया। 'जनु महि लुठत सनेह समेटा ।'—स्नेह चिकने पदार्थ तेल आदि को भी कहते हैं। चिकनी वस्तु शीघ्र हाथ में नहीं आती। इसी तरह वह बराबर हटता जाता है और ऋषि उसे दोनों हाथों से पकड़कर उठाने का प्रयास करते हैं। इनके समेटने से उसका संकुचित होना एवं पीछे हटना माना गया।

(२) 'जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक···'—पहले इसे 'राम-प्रिय' श्रीलक्ष्मणजी के समान माना था; यथा—"जानि राम-प्रिय दीन्हि असीसा।" (दो० १९२); यहाँ श्रीरामजी के साथ है और उनका सखा है, यह जानकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक माना ; अर्थात् श्रीरामजी के समान माना। यह श्रीरामजी के प्रण के अनुसार है ; यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥" (वि० १६४); इसीको उत्तरार्द्ध से स्पष्ट किया गया है—

(३) 'सो सीतापति-भजन को···'—प्रायः जहाँ श्रीरामजी का अधिक परत्व कहना होता है, वहाँ ग्रन्थकार उन्हें 'सीतापति', 'सीतानाथ' आदि शब्दों से श्रीसीताजी के सम्बन्ध द्वारा कहते हैं। श्रीसीताजी—"उद्भवस्थितिसंहारकारिणी···" हैं, इनका प्रभाव ; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे ॥" (दो० १०२); "जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत ··" (उ० दो० २४); ये भी जिन्हें अपना स्वामी मानें तो उसका कितना महत्त्व होगा ? यथा—"श्रियोरमणसामर्थ्यात्सौन्दर्यगुणसागरात्। श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम् ॥" (हारीतस्मृति); ऐसे प्रभु श्रीरामजी का जो भजन करता है और उनकी कृपा का पात्र है; उसकी बड़ाई में जो भी कहा जाय थोड़ा ही है। भजन के प्रताप से

ही श्रीवसिष्ठजी उससे बरबस मिले और भजन ही के प्रभाव से वह पवित्र माना गया; यथा—"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥" (भाग० ७।९।१०)।

आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥१॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥२॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥३॥
येहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥४॥

अर्थ—करुणा की खान, सुजान, भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगों को दुखी जाना॥१॥ इससे जो-जो जिस भाव से (मिलने के) अभिलाषी थे, उन-उनकी उसी-उसी तरह रुचि रक्खी॥२॥ भाई के साथ सब किसी से पल-भर में मिलकर दुःख से होनेवाली कठिन जलन को मिटा दिया॥३॥ श्रीरामजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, जैसे करोड़ों (जलपूर्ण) घड़ों में एक ही सूर्य का प्रतिबिंब दिखाई देता है॥४॥

विशेष—(१) 'आरत लोग राम सब···'—'राम' हैं, इसीसे 'जाना', क्योंकि सबमें रमण करते हैं। 'करुनाकर' हैं, इसीसे सब दुःखियों पर दया आई; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥" (दो० ८४)। करुणा हो, पर आश्रितों की व्यवस्था न जाने, तो भी कार्य नहीं चलता; अतः, ये 'सुजान' भी हैं। जानकर भी पोषण का सामर्थ्य न हो, तो भी जानना व्यर्थ है; अतः, ये भगवान् (षडैश्वर्यवान्) भी हैं।

(२) 'जो जेहि भाय रहा···'—कोई पुत्र भाव, कोई सखा भाव, कोई राजा भाव, कोई शिष्य भाव आदि के थे, उनकी रुचि के अनुसार ही, किन्तु उसी उदासीन वेष से मिले, दूसरा रूप नहीं धारण किया, क्योंकि १४ वर्ष इसी वेष में रहने की प्रतिज्ञा की है। इसीसे वैसी ही उपमा—'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं' की दी गई है। इसमें सबके भाव घट और श्रीरामजी रवि हैं। उत्तरकांड के मिलाप में अनेक रूप हुए, क्योंकि १४ वर्ष पूर्ण हो चुके थे।

(३) 'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं; यथा—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥" (ब्रह्मबिन्दु १२); तथा—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० २४०)।

दोहा—भेंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अंब ईस - आधीन जग, काहु न देइय दोष ॥२४४॥

अर्थ—अनुराग से उमड़कर केवट से मिलकर सब पुरवासी भाग्य की सराहना करते हैं ॥५॥ श्रीरामजी ने दुखी-माताओं को देखा (वे ऐसी हो रही हैं) मानों पाला मारी हुई सुन्दर बेलों की पंक्तियाँ हैं ॥६॥ पहले श्रीरामजी कैकेयीजी से मिले, ये सीधे स्वभाव के हैं, मातृ भक्ति रस में इनकी बुद्धि भीगी हुई है ॥७॥ चरणों पर पड़कर फिर काल, कर्म और ब्रह्मा के शिर पर दोष रखकर उनको समझाया ॥८॥ श्रीरघुनाथजी सब माताओं को समझा और प्रसन्न करके उनसे मिले, (और बोले कि) माता! जगत् ईश्वर के अधीन है, किसीको दोष न दीजिये ॥२४४॥

विशेष—(१) 'मिलि केवटहि उमगि···'—; यथा—"कइहि लहेहु येहि जीवन लाहू। भेंटेउ राम भद्र भरि बाहू॥ सुनि निषाद निज भाग बड़ाई॥" (दो० १९५); ऐसा श्रृंगबेरपुर में हुआ था। पर वहाँ पुरवासी लोग इससे न मिले थे। यहाँ तो गुहजी ने मार्ग खोल दिया, इससे सब कोई इससे मिलने में अपना अहोभाग्य समझते हैं और अपना भाग्य सराहते हैं।

(२) 'जनु सुबेलि अवली'—यहाँ पान की लता समझना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी नाजुक होती है और उसकी बड़ी सार-सँभार होती है।

(३) 'सरल सुभाय भगति मति भेई।'; यथा—"तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है।" (क० अ० ३)।

(४) 'काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'—काल का फेर था कि अभिषेक की तैयारी होने पर आपकी मति फिर गई। कर्म का फल है, समय पाकर इसी बहाने से उदय हुआ, (तापस अंध का शाप कर्म से ही हुआ था)। यह सब ब्रह्मा की करनी है, नहीं तो क्या उसी समय चेरी की बुद्धि फिरती और वह आपको उल्टा बोध कराती?

(५) 'अंब ईस आधीन जग···'—'ईस'; यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१)। उपर्युक्त काल-कर्म आदि का भी नियंता ईश्वर ही है; यथा—"माया, जीव, काल के करम के सुभाय के करैया राम वेद कहैं साची मन गुनिये॥" (हनु० बाहुक); ज्योतिषी काल का और मीमांसक कर्म का दोष कहते हैं, ब्रह्मा तो कर्मानुसार ही विधान करते हैं। ये भी श्रीरामजी के ही आश्रित हैं, यथा—"बिधिहि बिधिता जेहि दई। सोइ जानकी पति···" (वि० १३५); अभिप्राय यह है कि हमें ऐसा ही करना था।

गुरु - तिय - पद बंदे दुहु भाई। सहित बिप्रतिय जे संग आई ॥१॥
गंग - गौरि - सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी ॥२॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका ॥३॥
पुनि जननी - चरनन्हि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता ॥४॥
अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये ॥५॥

तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कवि कहइ मूक जिमि स्वादू॥६॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुरु सन कहेउ कि धारिय पाऊ॥७॥
पुरजन पाइ मुनीस-नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू॥८॥

दोहा—महिसुर मंत्री मातु गुरु, गने लोग लिये साथ।
पावन आश्रम गवन किय, भरत लखन रघुनाथ॥२४५॥

अर्थ—दोनों भाइयों ने संग में आई हुई ब्राह्मणों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी के चरणों की वन्दना की ॥१॥ सबों का गंगा-गौरी के समान सम्मान किया, वे सब प्रसन्न होकर कोमल वाणी से आशीर्वाद दे रही हैं ॥२॥ चरण पकड़ (प्रणाम) कर श्रीसुमित्राजी की गोद में जा लगे, मानों अत्यन्त कंगाल को सम्पत्ति से भेंट हुई ॥३॥ फिर दोनों भाई माता कौशल्याजी के चरणों में पड़े, सब अंग प्रेम से व्याकुल हैं ॥४॥ अत्यन्त अनुराग से माता ने हृदय से लगाया और नेत्रों के प्रेमाश्रु से उन्हें नहला दिया ॥५॥ उस समय का हर्ष और शोक कवि कैसे कहे? जैसे गूँगे का स्वाद (कथन अशक्य है) ॥६॥ श्रीरघुनाथजी ने भाई के साथ माता से मिलकर गुरुजी से कहा कि (आश्रम पर) चलिये ॥७॥ मुनीश्वर श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर पुरवासी लोग जल, स्थल (अनुकूल) देख-देखकर उतरे (डेरा डाला) ॥८॥ ब्राह्मण, मंत्री, माता, गुरु आदि गिने (मुख्य-मुख्य कुछ) लोगों को साथ लिये हुए श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरघुनाथजी पवित्र आश्रम को चले ॥२४५॥

विशेष—(१) श्रीसुमित्राजी और श्रीकौशल्याजी से पीछे मिले; क्योंकि ये इन (श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी) की अपनी माता हैं, शेष विमाताओं से पहले मिले, क्योंकि शास्त्र में अपनी माता से दश गुणा विमाता का गौरव कहा है। यह भी भाव है कि ये दो मुख्या हैं, इससे पीछे मिले, क्योंकि आवरण के देवताओं की पूजा करने के पीछे प्रधान की पूजा होती है।

(२) 'तेहि अवसर कर…'—हर्ष मिलने का और विषाद श्रीरामजी आदि के उदासीन वेष देख एवं राजा की मृत्यु स्मरण करने से है। 'मूक जिमि स्वादू'—जैसे गूँगा उत्तम वस्तु खाकर स्वाद का अनुभव करता हुआ भी उसे कह नहीं सकता, क्योंकि वह बोल नहीं सकता। वैसे ही माता अवाक् हो गई हैं। उनका अनुभव उनके ही हृदय में रह गया, कवि उसका अनुभव भी नहीं कर सकता, तो कहे कैसे?

(३) 'जल थल तकि…'—अपने-अपने ठहरने के योग्य स्थल और उपयुक्त जल का सुपास देखकर ठहर गये, क्योंकि श्रीरामजी के आश्रम के पास मुनियों के आश्रम हैं, जिससे उन्हें कष्ट भी न हो और वहाँ थोड़ी जगह में सब समा भी नहीं सकते थे।

सीय आइ मुनिबर-पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी॥१॥
गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेम कहि जाइ न जेता॥२॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के॥३॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नयन सहमि सुकुमारी॥४॥

परी बधिकबस मनहु मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥५॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा ॥६॥
जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोयन भरि नीरा ॥७॥
मिली सकल सासुन्ह सिय आई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥८॥

दोहा—लागि लागि पग सबनि सिय, भेटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस, रहियहु भरी सोहाग ॥२४६॥

शब्दार्थ—भरी सोहाग = सिंदूर सौभाग्य का चिह्न है, उसका माँग में भरना (लगाना) सुहाग भरना है, इसके बिना स्त्रियाँ विधवा समझी जाती हैं।

अर्थ—श्रीसीताजी आकर मुनिश्रेष्ठ श्रीवशिष्ठजी के चरणों में लगीं और इच्छित उचित आशिष पाईं ॥१॥ मुनियों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी-श्रीअरुंधतीजी से मिलीं, जितना प्रेम है, वह कहा नहीं जाता ॥२॥ सभी के चरणों की (पृथक् पृथक्) वंदना करके उनसे जी को प्यारे लगनेवाले आशीर्वाद पाये ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने सासों को देखा तब डरकर उन सुकुमारी ने नेत्र बंद कर लिये (सासों को विधवा दशा देखी न गई) ॥४॥ (श्रीसीताजी ऐसी डरी हुई हैं कि) मानों हंसिनी व्याधा के वश में पड़ गई हो (श्रीसीताजी हृदय में सोचती हैं कि) विधाता ने क्या कुचाल की है? ॥५॥ उन सासों ने भी श्रीसीताजी को देखकर अत्यन्त दुःख पाया (और वे सोचती हैं कि) जो कुछ दैव सहावे वह सहना ही होता है ॥६॥ तब जनकसुता श्रीसीताजी ने धैर्य धारण किया और नीलकमल के समान नेत्रों में आँसू भरकर ॥७॥ सब सासों से जाकर मिलीं, उस समय पृथिवी पर करुणा छा गई ॥८॥ सब के चरणों में लग-लगकर श्रीसीताजी बड़े ही अनुराग-पूर्वक मिल रही हैं, वे सब प्रेमवश हैं, हृदय से आशिष देती हैं कि सौभाग्य से भरी-पूरी रहोगी ॥२४६॥

विशेष—(१) 'उचित असीस ......'—'पति प्रिय होहु', 'होइ अचल तुम्हार अहिवाता।' आदि। पतिव्रता स्त्रियाँ पति की ही अचलता एवं प्रियत्व चाहती हैं; यथा—"प्रान नाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ। पूजिहि सब मन कामना, सुजस रहिहि जग छाइ॥" (दो० १०३); इसपर 'मुदित सीय सुरसरि अनुकूला।' कहा है। आशीर्वाद का एक नाम न देने से सबके मत आ सकते हैं।

(२) 'मूँदे नयन सहमि ......'—श्रीसीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, इससे डर गई हैं, वधिक-वश मराली की तरह दीखती हैं। इसे कोई-कोई सासों में लगाते हैं, पर 'परी' एकवचन है और 'सुकुमारी' और 'मराली' भी श्रीसीताजी के ही विशेषण संगत हैं, पूर्व कई जगह कहे गये हैं।

(३) 'सो सब सहिय जो दैव सहावा।'—जैसा कि अभी श्रीरामजी ने समझाया ही है—'ईस-आधीन जग...' इत्यादि; अर्थात् दैव ने ही कैकेयीजी की मति फेरकर ऐसा किया कि ये वन को आईं।

(४) 'जनकसुता तब उर......'—धैर्य धरने के सम्बन्ध में 'जनकसुता' कहा; क्योंकि श्रीजनकजी धीर एवं ज्ञानी हैं; यथा—"ज्ञान निधान ''परम धीर नरपाल।" (दो० २११); "धुर धीर जनक से।" (दो० २११); श्रीसीताजी के हृदय में इस समय करुणा रस है, उसका रंग कपूतर का-सा धूमिल कहा गया है, इसीसे इनके नेत्रों को 'नील नलिन' की उपमा दी गई है।

(५) 'करुना महि छाई'—सासें सात सौ हैं, सभी श्रीसीताजी के साथ रोने लगीं, जगह एवं मैदान में हैं, इससे दूर तक शब्द गये। 'करुना'; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (दो० ४६); (इसीका भाव यहाँ भी है)।

विकल सनेह सीय सब रानी। बैठन सबहि कहेउ गुरु ज्ञानी॥१॥
कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा॥२॥
नृप कर सुरपुर-गवन सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा॥३॥
मरन-हेतु निज नेह बिचारी। भे अति बिकल धीर-धुर-धारी॥४॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी॥५॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राज अकाजेउ आजू॥६॥
मुनिबर बहुरि राम समुझाये। सहित समाज सुसरित नहाये॥७॥
व्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा॥८॥

दोहा—भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा-भगति-समेत, प्रभु सो सब सादर कीन्ह॥२४७॥

शब्दार्थ—धीर-धुर-धारी = धीर यहाँ धैर्य के अर्थ में है = धैर्य रूपी बोझे को धारण करनेवाले। अकाजना = मरना। गति = व्यवहार, चाल।

अर्थ—श्रीसीताजी और सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हैं, ज्ञानी गुरुजी ने सबको बैठने के लिये कहा॥१॥ जगत् के व्यवहार को मायिक (भ्रमात्मक, ऐन्द्रजालिक) कहकर मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी ने कुछ परमार्थ की कथाएँ कहीं॥२॥ राजा का स्वर्ग-गमन कह सुनाया, सुनकर श्रीरघुनाथजी ने दुस्सह दुःख पाया॥३॥ मरने का कारण अपना स्नेह विचार कर धैर्य की धुरी के धारण करनेवाले श्रीरामजी अत्यंत व्याकुल हुए॥४॥ वज्र की तरह कठोर कड़वी वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और सब रानियाँ विलाप करने लगीं॥५॥ सब समाज शोक से अत्यन्त व्याकुल है, मानों राजा आज ही मरे॥६॥ फिर मुनिश्रेष्ठ ने श्रीरामजी को समझाया, तब उन्होंने समाज के साथ श्रेष्ठ नदी (पयस्विनी) में स्नान किया॥७॥ उस दिन प्रभु श्रीरामजी ने निर्जल व्रत किया, मुनि के भी कहने पर किसीने जल नहीं लिया॥८॥ सवेरा होने पर श्रीरघुनाथजी को मुनि ने जो-जो आज्ञाएँ दीं, उन सबको प्रभु ने श्रद्धा और भक्ति के साथ किया॥२४७॥

विशेष—(१) 'गुरु ज्ञानी'—ज्ञानी विशेषण से इन्हें सावधान बनाया और यह भी किये सबके शोक दूर करेंगे; यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज विज्ञान प्रकास।" (दो० १५६); यह श्रीअवध में किया था, वैसे यहाँ भी करेंगे।

(२) 'कहि जगगति मायिक ...'—जगत् का व्यवहार माया-कृत है; यथा—"जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि

व्यवहारू ॥'''मोह मूल परमारथ नाहीं ॥'' (दो० ९१); (यह प्रसंग देखिये) जगत् के शत्रु-मित्र-मध्यस्थ आदि भाव मनःकल्पित हैं, अज्ञान ही इनका कारण है और यही माया है। 'कहे कछुक परमारथ गाथा'—परमार्थ के बहुत अंश जगत् की गति कहने में आ गये, इससे कुछ परमार्थ-कथा कहनी पड़ी। परमार्थ-प्रसंग—''कहि परमारथ वचन सुदेसे।'' (दो० १९८) में देखिये।

ज्ञानी मुनि ने प्रथम जगत् की व्यवस्था को भ्रमात्मक कहा, जगत् से अरुचि कराई। तब परमार्थ की कथाएँ कहीं। इस तरह सबके हृदय में बल देकर तब पिता का मरण सुनाया कि जिससे दुःख सहन हो एवं धैर्य रहे। ऐसे ही श्रीसुमंत्रजी ने प्रथम परमार्थ की बातें कहकर तब श्रीरामजी के वन गमन का असह्य संदेशा राजा को सुनाया था।

(३) 'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा।'—श्रीरामजी ने पिता के सुखी रहने के निमित्त बहुत-से उपाय किये थे। श्रीलक्ष्मणजी से, पुरजनों से, श्रीसुमंत्रजी से एवं श्रीसुमंत्रजी के द्वारा गुरुजी से भी कहा था, प्रार्थना की थी, वे ही न रहे। फिर उन्होंने हमारे ही लिये स्नेहवश प्राण छोड़े; इसीसे श्रीरामजी 'अति विकल' हुए। मरण सुनते ही दुसह दुःख हुआ और कारण सुनने पर तो वे अत्यन्त व्याकुल ही हो गये। श्रीरामजी 'धीर धुरधारी' हैं, तब भी अधीर हो गये, इससे अत्यन्त शोक जनाया।

(४) 'कुलिस कठोर सुनत'''—वचन हृदय पर आघात पहुँचाने में वज्र से भी कठोर और सुनने में कड़वे हैं।

(५) 'मानहुँ राज अकाजेउ आजू।'—सबके एक-साथ रोने से ऐसा कहा गया, क्योंकि मरने पर सब एक-साथ ही रोते हैं।

(६) 'मुनिवर बहुरि राम'''—'बहुरि' का अर्थ यहाँ 'फिर' 'तब' है, दोहराने का नहीं। श्रीरामजी को समझाने में सभी सुनते और समझते हैं। 'राम' शब्द ऐश्वर्य-परक है, इससे यह भी गर्भित है कि यहाँ मुनि ने कुछ इनका ऐश्वर्य भी कहा, तब आप सावधान हुए।

(७) 'व्रत निरंबु तेहि दिन'''—धर्मशास्त्र की यह रीति है कि जिस दिन पिता मरे वा पुत्र उसे सुने, उस दिन वह निराहार व्रत करे। इससे श्रीरामजी ने निर्जलव्रत किया, श्रीअवधवासी लोग भी स्वामी के साथ व्रत करने लगे। इसपर मुनि ने कहा कि आज तो व्रत श्रीरघुनाथजी के लिये कर्त्तव्य है और लोग तो श्रीअवध में कर ही चुके हैं, उनके लिये आवश्यक नहीं है। पर अवधवासियों ने स्वामि-भक्ति से स्वामी के साथ व्रत किया, क्योंकि स्वामी तो निराहार रहें और हमलोग आहार करें, यह अयोग्य है। मुनि ने सामान्य रीति कही और इन लोगों ने विशेष धर्म निबाहा, यह और भी उत्तम हुआ। इसपर मुनि को प्रसन्नता ही हुई। जैसे श्रीअवध में श्रीभरतजी ने राज्य लेने की गुरु-आज्ञा न मानी, तो उसपर गुरुजी प्रसन्न ही हुए थे।

(८) 'श्रद्धा-भगति-समेत प्रभु'''—धर्म में श्रद्धा प्रधान अंग है; यथा—''श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।'' (उ० दो० ९९); भक्ति भी चाहिये ही; यथा—''भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे।'' (बा० दो० १८८); आदर-सहित भी होना चाहिये; यथा—''भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥'' (बा० दो० १५४)। श्रद्धा और भक्ति-सहित धर्म करना ही धर्म का आदर करना है। 'रघुनंदनहि'—आप रघुकुल को आनंद देनेवाले हैं, कुल के अनुरूप, किन्तु विशेषता से धर्म कर रहे हैं। 'प्रभु'—समर्थ हैं, न भी करें तो इन्हें दोष नहीं, किन्तु परलोक-संग्रह के लिये करते हैं; यथा—''यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। '''' (गीता ३।२३–२४)।

करि पितुक्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक-तम-तरनी ॥१॥
जासु नाम पावक अघतूला। सुमिरत सकल सुमंगल-मूला ॥२॥
सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ-आवाहन सुरसरि जस ॥३॥

शब्दार्थ—आवाहन = आह्वान, मंत्र के द्वारा किसी देवता का बुलाना।

अर्थ—वेदों में जैसा कहा गया है, वैसे पिता की क्रिया करके पाप-रूपी अंधकार (नाश करने) के लिये सूर्य-रूप श्रीरामजी पवित्र हुए ॥१॥ जिनका नाम पाप-रूपी रुई को (शीघ्र जलाने के लिये) अग्नि है और स्मरण करने से सुन्दर मंगलों का कारण है ॥२॥ वे शुद्ध हुए, (इसपर) साधुओं का सम्मत ऐसा है जैसे गंगाजी में तीर्थों का आवाहन; अर्थात् सर्वतीर्थमयी गंगाजी में और तीर्थों के आवाहन की आवश्यकता नहीं, पर लोक-रीति से होता है। वैसे शुद्ध सच्चिदानंद-विग्रह श्रीरामजी कर्म से शुद्ध नहीं हुए, वे नित्य शुद्ध ही हैं, पर लोक-रीति से कर्म किया, इससे यह भी कहा जाता है कि श्रीरामजी कर्म करके शुद्ध हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'करि पितुक्रिया···'—पिता की क्रिया की, और उससे शुद्ध हुए, इसीपर आगे सूर्य, अग्नि और गंगाजी की उपमाएँ दीं। इससे सूचित किया कि श्रीरामजी समर्थ हैं, अतः इन्हें दोष का स्पर्श नहीं हो सकता; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८); पाप नाश करने में आप सूर्य-रूप हैं, बिना श्रम के नाश करते हैं; यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (बा० दो० २३८); तब इन्हें पाप कैसे स्पर्श कर सकता है? थोड़ी-सी भी आग रुई के पहाड़ को भस्म कर सकती है, वैसे ही आपका नाम पाप-पुंज का नाशक है; यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" (उ० दो० ९१)। अर्थात् श्रीरामजी के रूप-दर्शन और नामस्मरण दोनों ही से पाप नाश होते हैं।

सुद्ध भये दुइ बासर बीते। बोले गुरु सन राम पिरीते ॥४॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी ॥५॥
सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता ॥६॥
सब समेत पुर धारिय पाऊ। आप इहाँ अमरावति राऊ ॥७॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाईं ॥८॥

दोहा—धरमसेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस, देखि लहहिं बिश्राम ॥२४८॥

अर्थ—जब शुद्ध हुए दो दिन बीत गये, तब प्यारे श्रीरामजी गुरुजी से प्रीति-सहित बोले ॥४॥ हे नाथ! सब लोग कंद, मूल, फल और जल के आहार करते हुए सर्वथा दुखी हैं ॥५॥ भा-

श्रीभरतजी को, मंत्री लोगों और सब माताओं को देखकर मुझे एक-एक पल युग के समान जा रहा है ॥६॥ सब के साथ आप श्रीअवधपुरी को पधारें, आप यहाँ हैं और राजा इन्द्रपुरी में हैं; (अर्थात् श्रीअयोध्या सूनी है, कोई शत्रु आ न जाय) ॥७॥ मैंने बहुत कहा, यह सब ढिठाई की, जैसा उचित हो, हे गोसाईं ! वैसा आप करें ॥८॥ (गुरुजी ने कहा) श्रीरामजी ! तुम धर्म के पुल हो और करुणा के स्थान हो, फिर तुम ऐसा क्यों न कहो ? (ऐसा कहना तुम्हारे योग्य ही है) परन्तु लोग दुखी हैं, दो दिनों से (तुम्हारे) रूप को देखकर विश्राम पा रहे हैं, एवं पावें ॥२४८॥

विशेष—(१) 'सुद्ध भये दुइ बासर बीते'—पिता की जितनी अधिक योग्यता हो, उतने ही सूतक के कम दिन लगते हैं। जैसे कि शूद्रों के १ मास तो ब्राह्मणों के दश दिन, संन्यासी के वह भी नहीं। यहाँ सूतक के दिन न देने में सबके मत की रक्षा है। शुद्ध होने के पीछे की ही दिन-संख्या है। 'पिरीते' शब्द के 'प्यारे' और 'प्रीति-पूर्वक', ये दो अर्थ 'राम' और 'बोले' के साथ हैं।

(२) 'कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी'—यह मुनियों का भोजन है, पर अब अवधवासियों का यही आहार हो रहा है, तब दुखी अवश्य होंगे। पहले इन सबका आहार—"पय अहार फल असन ··"आदि कहा गया, वह उनका स्वेच्छित व्रत-रूप में था, किंतु यहाँ उपयुक्त कंद आदि के अतिरिक्त और आहार मिलता ही नहीं।

(३) 'सब समेत पुर धारिय पाऊ।'—निषादराज ने कहा था—"नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु···" इसीसे उन्हींसे कहते हैं कि सबके साथ पुर को पधारिये। पिता के न रहने पर अब ये ही सबके रक्षक हैं; यथा—"गुरु प्रभाव पालिहि सबहिं ··" (दो० २०५); 'सब समेत' कहने का यह भी भाव है कि हमारा व्रत विशेष उदासीन रहने का है, लोगों के साथ रहने में उसमें बाधा पड़ेगी। 'आप इहाँ···' अर्थात् पुरी सूनी है।

(४) 'बहुत कहेउँ सब कियेउँ······'—अर्थात् अब और ढिठाई करनी अयोग्य है, जो उचित हो वही कीजिये। 'गोसाईं' अर्थात् मैं भी आपके अधीन ही हूँ।

(५) 'धरम सेतु करुनायतन······'—आप धर्म के पुल हैं, पुल पर से सभी पार होते हैं, वैसे ही आप धर्म के मार्ग-स्थापक हैं; यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।" (गीता ३।२३); आपके आचरित मार्ग पर चलने से लोग भव-नदी से पार होते हैं। पिता की आज्ञा का पालन, गुरु-मर्यादा-रक्षण और लोगों पर दया (करुणा) है, यह सब धर्म ही है, इसीसे श्रीरामजी 'करुनायतन' भी कहे गये हैं।

(६) 'लोग दुखित दिन······'—आप इनको दुखी मान रहे हैं, पर ये यहाँ आकर विश्राम पा रहे हैं। 'लहहिं' का 'लहहुँ' पाठ भी हो तो अर्थ 'लहैं' अर्थात् पावें यही होगा। दो दिन अर्थात् कुछ दिन और रहें, इन्हें आपके दर्शना ही में सुख है; यथा—"पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥ राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥" (दो० ३११)।

रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ बिकल जहाजू ॥१॥
सुनि गुरुगिरा सुमंगल-मूला। भयेउ मनहु मारुत अनुकूला ॥२॥
पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघओघ नसाहीं ॥३॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि ॥४॥
राम-सैल-बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ॥५॥

झरना झरहिं सुधा - सम बारी । त्रिविध ताप-हर त्रिविध बयारी ॥६॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती । फल प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥७॥
सुंदर सिला सुखद तरु - छाहीं । जाइ बरनि बन-छवि केहि पाहीं ॥८॥

दोहा—सरनि सरोरुह जलबिहग, कूजत गुंजत भृंग ।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग ॥२४९॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर समाज भयभीत हो गया, मानों समुद्र में जहाज (डूबने के डर से) व्याकुल हो ॥१॥ उसपर गुरुजी के सुन्दर मंगल-मूलक वचन सुनकर मानों वायु अनुकूल हो गया ॥२॥ पवित्र पयस्विनी (एवं पवित्र जल) में तीनों काल स्नान करते हैं, जिसके दर्शनों से ही पाप-समूह नाश हो जाते हैं ॥३॥ मंगल-मूर्त्ति श्रीरामजी को हर्षपूर्वक दंडवत् कर-कर के नेत्र भर-भर कर देखते हैं ॥४॥ श्रीरामजी के पर्वत (कामतानाथ) और वन को देखने जाते हैं, जहाँ सभी सुख हैं और सभी दुःख नहीं हैं ॥५॥ झरने अमृत के समान जल स्रवते हैं, तीनों प्रकार के (शीतल, मंद, सुगंध) वायु तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) को हर लेते हैं ॥६॥ वृक्ष, लता और तृण असंख्य जाति के हैं और उनके फल, फूल, पल्लव, बहुत तरह के हैं ॥७॥ सुन्दर चट्टानें हैं, पेड़ों की छाया सुख देनेवाली हैं, वन की छवि किससे वर्णन की जा सकती है ? अर्थात् किसीसे भी नहीं ॥८॥ तालाबों में कमल हैं, जल-पक्षी कूजते और भौंरें गूँजते हैं, बहुत रंग के मृग और पक्षी वन में वैर-रहित होकर विहार कर रहे हैं ॥२४९॥

विशेष—(१) 'राम बचन सुनि सभय ···'—सबकी अभिलाषा है कि श्रीरामजी चलकर राजा हों ; यथा—"राजा राम जानकी रानी ।···अछतराम राजा···" (दो० २७२) ; ये वचन उसके प्रतिकूल हैं, इससे भय हुआ, उसे रूपक से कहते हैं ; यथा—'जनु जलनिधि महँ ···'—इसमें विरह समुद्र, समाज जहाज, राम वचन प्रतिकूल वायु और गुरु-गिरा अनुकूल वायु हैं। अनुकूल वायु जहाज को उसके गन्तव्य मार्ग की ओर ले चलता है, उसी तरह गुरु-वचन समाज के अभीष्ट-पोषक हैं, इसीसे सब किसीने उन्हें मंगल-मूलक माना है। (पहले जहाज हवा के सहारे पाल चढ़ाकर चलाये जाते थे, वैसा ही रूपक है) ।

(२) 'पावन पय तिहुँ काल···'—यहाँ पुरवासियों की दिनचर्या कहते हैं ।

(३) 'भरि भरि' और 'करि करि'—बहुत लोगों के प्रति एवं उनके बार-बार करने के प्रति हैं। दर्शनों और दंडवत् में हर्ष अत्यन्त श्रद्धा-सूचक है ।

(४) 'त्रिविध बयारी'—झरनों के योग से शीतल, वृक्ष और पर्वतों की आड़ से मंद और पुष्पों के सहयोग से सुगंधित हवा चलती है। इसीसे सब एक साथ ही कहे गये हैं ।

(५) 'बिटप बेलि तृन···'—यथासंख्य अलंकार से वृक्षों में फल, लताओं में फूल और तृणों में पत्तों की शोभा है। या श्रीरामजी के योग से सभी त्रय-सम्पत्ति-पूर्ण हैं ; यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी ।···" (अं० दो० ४) ; "कामद भे गिरि राम प्रसादा ।" (दो० २७८) ; 'सुंदर सिला बिटप ···' यहाँ बैठने को चट्टानें, पेड़ों की सुन्दर छाया, खाने को फल, सूँघने को फूल, बिछाने को पत्ते, नेत्रों को सुख देनेवाले तृण आदि सभी सुपास की वस्तुएँ हैं ।

लिये इसे पहले कहा गया। श्रीरामजी के लिये मधु नहीं लाये थे ; क्योंकि वे उदासीन-वृत्तिवाले हैं। मधु का अर्थ मधुर नहीं और न यह कंद आदि का विशेषण ही है। 'कंद मूल फल अंकुर'—अंकुर जैसे वाल आदि के अंकुर जो खाये जाते हैं, वा, फलों के कठोर बीजों के भीतर की गूदी, जैसे गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि की मींगी।

(२) 'कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा'—स्वाद—खट्टा, मीठा आदि। भेद यह कि कौन कहाँ का और कैसा है एवं वस्तुओं के जाति-भेद आदि। गुण-भाव, पित्त और कफ नाशक आदि। नाम—तेंदू, शरीफा, पियार (जिसकी गूदी चिरौंजी कहाती है, चित्रकूटी इसे अँचार वा, चार कहते हैं) इत्यादि।

☞ "कोल किरात भिल्ल···" से "लौका तिरा" तक दो दोहों में कोल आदि की सेवा और उनका स्नेह कहा गया है।

(३) 'फेरत राम दोहाई देहीं'—दोहाई का प्रयोग समर्थ से रक्षा के लिये होता है और शपथ के रूप में भी। यहाँ इसके दोनों ही भाव हैं कि आप अन्याय करते हैं ; अतः, श्रीरामजी की दोहाई है ; अर्थात् वे हमारी रक्षा करें। पुनः आपको श्रीरामजी की शपथ है, ऐसा न कीजिये।

(४) 'मानत साधु प्रेम···'; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० १२५); अर्थात् जो हमारा सच्चा प्रेम देखिये तो ग्रहण कीजिये।

(५) 'पाया दरसन राम-प्रसादा।···'—पुण्यात्मा एवं साधु के दर्शन श्रीराम-कृपा से ही होते हैं; यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव-साधु संगति पाइये।" (वि० १३६) हम पापियों को तो आपके दर्शन दुर्लभ ही हैं। वही यहाँ कहते हैं-'जस मरु धरनि···'–मरुभूमि में सामान्य जलाशय भी दुर्लभ है, वहाँ नदी का होना ही अगम ; फिर गंगाजी की प्राप्ति तो अत्यंत ही अगम है कि जिनका परम पुनीत जल सद्गति भी देता है और पीने में सुखद तो है ही। वैसे ही हमें सामान्य साधुओं के दर्शन भी अगम हैं, फिर भी अवध-वासियों के दर्शन घर बैठे होना तो अत्यन्त ही अगम हैं।

(६) 'राम कृपाल निषाद ···'—यह भी भाव है कि आपके राजा ने हमारे राजा को 'निवाजा' और आप उनकी प्रजा हैं। अतः, निषादराज की प्रजा (हम सब) पर वैसी ही कृपा करें ; क्योंकि परिजन-प्रजा को भी राजा के अनुरूप होना ही चाहिये।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवाजोग न भाग हमारे ॥१॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। इंधन पात किरात मिताई ॥२॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन-बसन चोराई ॥३॥
हम जड़ जीव जीवगन - घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥४॥
पाप करत निसि - बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥५॥
सपनेहु धरम - बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन - दरस प्रभाऊ ॥६॥
जब ते प्रभु - पद - पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥७॥

शब्दार्थ—इंधन = जलाने की लकड़ी। पात = पत्ते एवं पत्तल। बासन = बर्तन।

(६) 'जाइ बरनि बन ···'—यथा—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥···कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन । जौं सत सहस होहिं सहसानन ॥" (दो० १३८) ।

(७) 'बैर बिगत बिहरत '—चित्रकूट के ही प्रभाव से यहाँ त्रिदेव का भी छल छूट गया, यथा—"जहँ जनमे जग जनक जगतपति बिधि हरिहर परिहरि प्रपंच छल ॥" (वि० २३), अब तो यहाँ परात्पर प्रभु भी विराजते हैं, तो यह वैर छूटना कोई बड़ी बात नहीं । 'राम सैल बन देखन जाहीं । ···' से 'बिगत बैर बिहरत ···' तक यहाँ वन पर्वत की शोभा कही गई ।

कोल किरात भिल्ल बनवासी । मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधा सी ॥१॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥२॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा । कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा ॥३॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥४॥
कहहिं सनेह मगन मृदु बानी । मानत साधु प्रेम पहिचानी ॥५॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा । पावा दरसन राम - प्रसादा ॥६॥
हमहि अगम अति दरस तुम्हारा । जस मरुधरनि देव धुनि-धारा ॥७॥
रामकृपाल निषाद नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिय जस राजा ॥८॥

दोहा—यह जिय जानि संकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु ।
हमहि कृतारथ करन लगि, फल तृन अंकुर लेहु ॥२५०॥

अर्थ—पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादिष्ट मधु (शहद), दोने में भर-भरकर और कंद, मूल, फल और अंकुर (अँखुओं) की सुन्दर अँटियाँ (गट्ठों) को रचकर कोल, किरात, भील आदि वनवासी लोग विनय और प्रणाम करके और उन सबके स्वाद, भेद, गुण और नाम कहकर सबको देते हैं ॥१-२-३॥ लोग बहुत दाम देते हैं पर वे नहीं लेते और लौटाने में श्रीरामजी की दोहाई देते हैं ॥४॥ वे प्रेम में निमग्न होकर कोमल वाणी से कहते हैं कि साधु प्रेम पहचान कर मानते हैं, अर्थात् हार्दिक प्रीति पूर्वक दिये हुए पदार्थों को पहचान कर उसे ग्रहण करते हैं, प्रेमी की जाति, गुण आदि नहीं देखते ॥५॥ आप धर्मात्मा हैं और हम नीच (हिंसक) जाति के निषाद हैं, आपके दर्शन तो हमें श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से प्राप्त हुए ॥६॥ हमको आपके दर्शन दुर्लभ हैं, जैसे मारवाड़ देश में गंगाजी की धारा ॥७॥ कृपालु श्रीरामजी ने निषाद को निवाजा (उसपर कृपा की), वैसे ही उनके कुटुम्बी और प्रजा (आपलोगों) को भी होना चाहिये, अर्थात् आपलोगों को भी हम सबों पर कृपा करनी चाहिये ॥८॥ यह जी में जानकर संकोच को छोड़ और हमारा स्नेह देखकर कृपा कीजिये; हमको कृतार्थ करने के लिये फल, तृण और अँखुओं को लीजिये ॥२५०॥

विशेष—(१) 'मधु सुचि···'भरि भरि परनपुटी···'—मधु, जो हिंसा करके निकाला जाता है, अशुचि होता है। पर ये लोग शुचि मधु लाये हैं। यह कोलों के घर की उत्तम उत्तम वस्तु है। इस

लिये इसे पहले कहा गया। श्रीरामजी के लिये मधु नहीं लाये थे ; क्योंकि वे उदासीन-वृत्तिवाले हैं। मधु का अर्थ मधुर नहीं और न यह कंद आदि का विशेषण ही है। 'कंद मूल फल अंकुर'—अंकुर जैसे बाल आदि के अंकुर जो खाये जाते हैं, वा, फलों के कठोर बीजों के भीतर की गूदी, जैसे गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि की मींगी।

(२) 'कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा'—स्वाद—खट्टा, मीठा आदि। भेद यह कि कौन कहाँ का और कैसा है एवं वस्तुओं के जाति-भेद आदि। गुण-वात, पित्त और कफ नाशक आदि। नाम—तेंदू, शरीफा, पियार (जिसकी गूदी चिरौंजी कहाती है, चित्रकूटी इसे अँचार वा, चार कहते हैं) इत्यादि।

☞ "कोल किरात भिल्ल···" से "लोका तिरा" तक दो दोहों में कोल आदि की सेवा और उनका स्नेह कहा गया है।

(३) 'फेरत राम दोहाई देहीं'—दोहाई का प्रयोग समर्थ से रक्षा के लिये होता है और शपथ के रूप में भी। यहाँ इसके दोनों ही भाव हैं कि आप अन्याय करते हैं ; अतः, श्रीरामजी की दोहाई है ; अर्थात् वे हमारी रक्षा करें। पुनः आपको श्रीरामजी की शपथ है, ऐसा न कीजिये।

(४) 'मानत साधु प्रेम···'; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५); अर्थात् जो हमारा सच्चा प्रेम देखिये तो ग्रहण कीजिये।

(५) 'पावा दरसन राम-प्रसादा।···'—पुण्यात्मा एवं साधु के दर्शन श्रीराम-कृपा से ही होते हैं; यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव-साधु संगति पाइये।" (वि० १३६) हम पापियों को तो आपके दर्शन दुर्लभ ही हैं। वही यहाँ कहते हैं-'जस मरु धरनि ···'—मरुभूमि में सामान्य जलाशय भी दुर्लभ है, वहाँ नदी का होना ही अगम ; फिर गंगाजी की प्राप्ति तो अत्यंत ही अगम है कि जिनका परम पुनीत जल सद्गति भी देता है और पीने में सुखद तो है ही। वैसे ही हमें सामान्य साधुओं के दर्शन भी अगम हैं, फिर भी अवध-वासियों के दर्शन घर बैठे होना तो अत्यन्त ही अगम हैं।

(६) 'राम कृपाल निषाद ···'—यह भी भाव है कि आपके राजा ने हमारे राजा को 'निवाजा' और आप उनकी प्रजा हैं। अतः, निषादराज की प्रजा (हम सब) पर वैसी ही कृपा करें ; क्योंकि परिजन-प्रजा को भी राजा के अनुरूप होना ही चाहिये।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवाजोग न भाग हमारे ॥१॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। इंधन पात किरात मिताई ॥२॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन-बसन चोराई ॥३॥
हम जड़ जीव जीवगन - घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥४॥
पाप करत निसि - बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥५॥
सपनेहु धरम - बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन - दरस प्रभाऊ ॥६॥
जब ते प्रभु - पद - पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥७॥

शब्दार्थ—इंधन = जलाने की लकड़ी। पात = पत्ते एवं पत्तल। बासन = बर्तन।

अर्थ—आप ऐसे प्यारे मेहमान वन में पधारे, सेवा के योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं; अर्थात् हमलोगों में इतनी योग्यता नहीं है जिससे आपकी योग्य-सेवा हो ॥१॥ हे गोसाईं! हम आपको देंगे क्या? किरातों की मित्रता तो बस, इतनी ही है कि इनसे ईंधन और पत्ते भले ही प्राप्त हो जायँ ॥२॥ हमारी अत्यन्त बड़ी सेवा यह है कि बर्त्तन और कपड़े न चुरा लें ॥३॥ हम जड़ (मूर्ख) जीव हैं, समूह जीवों की हिंसा करनेवाले हैं, कुटिल, कुचालवाले, दुर्बुद्धि और कुजाति हैं ॥४॥ पाप करते दिन-रात बीतते हैं, पर न कमर में कपड़ा है और न पेट ही भरता है ॥५॥ (हमलोगों में) स्वप्न में भी धर्म-बुद्धि कैसी? यह (जो आपलोगों की कुछ सेवा में प्रेम हुआ सो) तो श्रीरघुनाथजी के दर्शनों का प्रभाव है ॥६॥ हमलोगों ने जब से प्रभु के चरण-कमल देखे, तब से हमारे दुस्सह दुःख और दोष मिट गये ॥७॥

विशेष—(१) 'तुम्ह प्रिय पाहुन बन ···'—प्रिय पाहुन की विधि-पूर्वक उत्तम सेवा करनी चाहिये, पर हमारे भाग्य ही ऐसे नहीं है, क्योंकि ईंधन-पात मात्र की ही सेवा करने का हम नीचों का अधिकार है, एवं इतना ही देने का विभव है। भाव यह कि आपकी योग्य सेवा भरद्वाज महर्षि ने की है।

(२) 'हम जड़ जीव जीव गन घाती।'—एक भी प्राणी की हिंसा भारी पाप है और जो समूह जीवों को मारते हैं उनके पाप की सीमा ही नहीं ; यथा—"हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवनि मिति।" (बा॰ दो॰ १८३), हिंसा करते-करते स्वभाव से कुटिल, चाल से बुरे, और बुद्धि से कुत्सित हो गये, इसी से कुजाति कहे जाते हैं। निष्ठुर होने से जड़ पाषाण के समान हृदय हो जाता है, इससे भी जड़-संज्ञा है।

(३) 'नहिं पट कटि ···'—इतना पाप करने पर भी भोजन-वस्त्र के कंगाल बने रहते हैं, क्योंकि सुख तो धर्म से होता है ; यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।" (उ॰ दो॰ १०१)।

(४) 'मिटे दुसह दुख दोष'—हिंसा का स्वभाव-रूपी दोष छूट गया और पेट न भरने का दुःख मिट गया। दुःख ; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ॰ दो॰ १२०), पाप का स्वभाव और उसका फल दुःख दोनों निवृत्त हुए ; यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख···" (उ॰ दो॰ १००) अर्थात् कार्य और कारण दोनों ही छूट गये।

बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्हके भाग सराहन लागे ॥८॥

छंद—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन-सनेह लखि सुख पावहीं।
नरनारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल-भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंस - मनि की लोह लै लौका तिरा ॥

सोरठा—बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादर मोर, भये पीन पावस प्रथम ॥२५१॥

शब्दार्थ—लौका (लावुक) = तूँबी, लौकी एवं तितलौकी, जिसका कमंडलु बनता है।

अर्थ—उनके प्रेम-भरे वचनों को सुनकर पुरवासी लोग अनुरक्त हो गये और उनके भाग्य की प्रशंसा करने लगे (कि थोड़े ही समय में श्रीरामजी में इनका इतना प्रेम हो गया, ये धन्य हैं और बड़े भाग्यवान् हैं) ॥८॥ सब भाग्य की सराहना करने लगे और अनुराग-भरे वचन सुनाते हैं। उनकी बोल-चाल, मिलने की रीति और श्रीसीतारामजी के चरणों का स्नेह देखकर सुख पा रहे हैं॥ कोल-भीलों की वाणी सुनकर स्त्री-पुरुष (श्रीअवधवासी) अपने प्रेम का निरादर करते हैं (अपने प्रेम को तुच्छ मानते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामजी की कृपा है कि लोहा तुम्बे को लेकर तैर रहा है॥ सबलोग बड़े आनन्द से नित्य चारों ओर वन में विचरते हैं, जैसे पहली वर्षा (पावस) के जल में मेढ़क और मोर मोटे हो जाते हैं, अर्थात् आनंद से फूल उठते हैं और विहार करते हैं॥२५१॥

विशेष—(१) 'बोलनि मिलनि···'—'बोलनि'—"कहहिं सनेह मगन मृदुबानी।···" से "सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।" तक। 'मिलनि'—"मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधासी।···" से "फेरत राम दोहाई देहीं॥" तक। 'सिय राम चरन सनेह'—"यह रघुनंदन दरसप्रभाऊ॥ जब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" इनमें ये मुख्य रूप में हैं, यों तो सब बातें प्रसंग-भर में हैं।

(२) 'नर नारि निदरहिं नेह निज···'—अपनेको न्यून मानते हैं कि हमलोग श्रेष्ठ अधिकारी और श्रीरामजी के समीपवर्त्ती थे और ये कोल आदि नीच हैं, पर इनके तुल्य हमलोगों का प्रेम नहीं है। कोलों को देखकर इनकी प्रीति प्रतीति और बढ़ी। पुनः कोल आदि ने अपनी न्यूनता और इनकी बड़ाई की थी। उत्तर में ये लोग भी उनकी बड़ाई और अपनी न्यूनता कहते हैं कि तुम्हारा प्रेम विशेष है, तभी तो श्रीरामजी ने हमें छोड़ा और तुम्हारे यहाँ आकर रहे, इत्यादि।

(३) 'लोह लै लौका तिरा'—बड़े-बड़े तुम्बे जल में तैरनेवाले होते हैं। तैरना सीखनेवाले इसे कमर में बाँध कर तैरते हैं कि जिससे थकने पर डूबें नहीं, यह न स्वयं डूबे और न दूसरों को डूबने दे। लौके में थोड़ा लोहा रख दिया जाय, तो वह तैरता रहेगा। लौकों का बेड़ा बाँध दें, तो मानों लोहा उसपर तैरता रहेगा। पर लोहा स्वयं डूबनेवाला है, आश्रित को भी डुबानेवाला है। वैसे श्रीअवधवासी लोग तरण-तारण लौका रूप हैं और वनवासी कोल आदि लोहे की तरह तमोगुणी एवं पापाचारी हैं, पर आज श्रीरामकृपा से ऐसे शुद्ध प्रेमी हो गये कि श्रीअवधवासी लोग भी इनसे प्रेम की शिक्षा पा रहे हैं। यह लोह पर लौके का तैरना है कि कोल लोग ही इन्हें तारनेवाले हो रहे हैं।

प्रायः नौका में लोहा लादा जाता है, श्रीअवधवासी नौका के समान तरण-तारण हैं, इनसे और लोग भक्ति की शिक्षा पाते हैं। पर आज ये ही कोलों से शिक्षा पा रहे हैं, यही लोह पर नाव का तैरना है, यह अर्थ विशेष संगत है; यदि नौका का विकृत रूप लौका माना जाय, क्योंकि प्राचीन प्रतियों का पाठ 'लाका' ही है।

(४) 'कृपा रघुबंस-मनि की'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तव प्रताप बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल॥" (सुं० दो० ३३)।

(५) 'जल ज्यों दादुर मोर···'—वर्षा के प्रथम जल से मेढ़क मोटे हो जाते हैं और आनंद-पूर्वक कूदते और कलोल के शब्द करते हैं। मोर के भी पंख बढ़ते हैं और वह भी मोटा हो जाता है, फिर आनंद से नाचता है और आह्लाद सहित बोलता है। वैसे, श्रीअवधवासी लोग श्रीराम-विरह रूपी

के तपे हुए हैं, घनश्याम रूप श्रीरामजी के दर्शनरूप जल से प्रफुल्लित होकर विचर रहे हैं। 'प्रथम' शब्द में यह भी ध्वनि है कि जैसे मोर दादुर वर्षा के अंत में फिर दुखी होते हैं—उनका वह सुख नहीं रह जाता—वैसे इन लोगों का भी यह सुख अल्पकाल का है, फिर श्रीराम-विरह होगा, उससे दुखी भी होंगे।

पुरवासियों के विचरने का प्रसंग—"राम सैल बन देखन जाहीं। ..." (दो० १४८) से प्रारंभ होकर यहाँ—"बिहरहिं बन ..." पर समाप्त हुआ।

पुर-जन-नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक-सम बीती ॥१॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥२॥
लखा न मरम राम बिनु काहूँ। माया सब सियमाया माहूँ ॥३॥
सीय सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥४॥

अर्थ—श्रीअवधपुर के पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रीति में निमग्न हैं, अत्यन्त प्रीति के कारण उनके (सुख के) दिन पलक समान बीत जाते हैं ॥१॥ प्रत्येक सासों के लिये श्रीसीताजी एक-एक वेष (अर्थात् सात सौ सासों के लिये सात सौ रूप) बनाकर उन सबकी आदरपूर्वक एक समान सेवा करती हैं ॥२॥ इस भेद को श्रीरामजी के अतिरिक्त और किसी ने नहीं जाना, (क्योंकि) सब माया श्रीसीताजी की माया में (माया के अंतर्गत ही) है ॥३॥ श्रीसीताजी ने सासों को सेवा से वश में कर लिया, उन्होंने सुख पाकर शिक्षा और आशिष दी ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय सासु प्रति बेष......'—यहाँ से श्रीसीताजी की सास-सेवा को कहते हैं। 'सरिस' के यहाँ दो अर्थ हैं, एक तो समान अर्थात् किसी सास के प्रति न्यूनाधिक्य नहीं। दूसरा सदृश अर्थात् योग्य, जैसा कि पतोहू को चाहिये।

'सादर'—श्रद्धा एवं शील-पूर्वक। सबकी पतोहू बनकर सेवा करती हैं, यह दुर्लभ है; यथा—"सासु ससुर गुरु मातु पितु, प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ॥" (दोहावली ३११)।

लोकहुँ बेद बिदित कवि कहहीं। राम बिमुख थल नरक न लहहीं ॥७॥
यह संसय सबके मन माहीं। रामगवन बिधि अवध कि नाहीं ॥८॥

दोहा—निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहिं सलिल सँकोच ॥२५२॥

शब्दार्थ—बीच = अवकाश, दरार। नीच = नीचे का, वा, वह कीचड़ जिसे मछली नहीं खाती। एक सुन्दर कीच भी होता है, जिसे मछली खाती है। सँकोच = तंगी, कमी।

अर्थ—श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के सरल-स्वभाव देखकर कुटिला रानी कैकेयी भरपूर पछताई ॥५॥ वह कैकेयी पृथिवी और यमराज से माँगती है, पर न तो पृथिवी अवकाश (रास्ता) देती है और न विधाता मृत्यु ही देता है ॥६॥ लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है और कवि लोग भी कहते हैं कि श्रीरामजी के विमुख नरक में भी जगह नहीं पाते ॥७॥ यह संशय सभी के मन में है कि हे विधाता! श्रीरामजी का गमन श्रीअवध को होगा कि नहीं? ॥८॥ श्रीभरतजी को न रात में नींद पड़ती है और न दिन में भूख ही लगती है, वे पवित्र शोच में व्याकुल हैं, जैसे नीचे के (वा, नीच) कीचड़ के बीच में डूबी हुई मछली को जल की तंगी से व्याकुलता हो ॥२५२॥

विशेष—(१) 'लखि सियसहित सरल······'—पहले मंथरा के कहने से श्रीकैकेयीजी ने इन्हें कुटिल समझा था, वह झूठ निकला, अब यथाकर (परिपूर्ण) पछताई कि मैंने इन्हें वनवास दिया फिर भी ये सरल एवं सौम्य-भाव से ही मुझसे बर्त्ताव करते हैं। राजा का वह वचन—"फिरि पछितैहसि अंत अभागी।" (दो० ३५); यहाँ चरितार्थ हुआ। अतः, "कुटिल रानि पछितानि अघाई।" कहा गया।

राजा ने कैकेयीजी को बहुत समझाया था पर उन्होंने नहीं माना। पुनः श्रीभरतजी के त्याग देने से दुखी थीं ही, इधर श्रीरामजी की शील-सरलता ने उन्हें सात्त्विक कर दिया; यथा—"भये सब साधु किरात किरातिनि, राम-दरस मिटि गइ कलुषाई।" (गी० अ० ८१); जो कैकेयी जी पहले 'किरातिनि' 'पापिनि' कही गईं, वे अब साधु-वृत्ति को प्राप्त होकर अपने कुत्सित कार्य पर ग्लानि कर रही हैं।

(२) 'अवनि जमहि जाँचति ·· ··'—पहले पृथिवी से, फिर यमराज से माँगा, अभीष्ट उत्तरार्द्ध से स्पष्ट होता है कि पृथिवी से 'बीच' और यमराज से 'मीच' माँगी थी, पर देने में यमराज की जगह 'विधि' कहा गया, इसका कारण यह है कि यमराज मृत्यु देने में स्वतंत्र नहीं हैं, कर्मानुसार ब्रह्माजी की आज्ञा से प्राणियों को मृत्यु देते हैं; यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥" (कठ० २।६।३); अर्थात् ब्रह्म के अन्तर्यामी-रूप से ब्रह्म के शासन-भय से मृत्यु (यम) प्राणियों को लेने के लिये नियत समय पर दौड़ते हैं; यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥" (दो० १७१); इसलिये दो स्थलों से दोनों कहे गये कि यमराज से माँगा, वे ब्रह्मा की आज्ञा के बिना नहीं दे सके। पहले पृथिवी से माँगा कि वह बीच (दरार) दे, तो मैं तुरत समा जाऊँ कि कोई मेरा मुँह न देख पावे, क्योंकि मैं अब जगत् में मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ। जब निराश हुई तब यमराज से माँगा कि वह (दरार) होता तो उत्तम होता, तुरत ही सबकी आँखों की ओट हो जाती। न हुआ तो यही (मृत्यु) सही, क्योंकि मरने पर भी शव को कुछ देर लोग देख-देख धिक्कारेंगे। यहाँ इसके पश्चात्ताप की पराकाष्ठा दिखाई।

(३) 'राम बिमुख थल······'—पृथिवी के फटने और मृत्यु के होने की कौन कहे, श्रीरामजी से विमुख नरक में भी छिपकर रहने की जगह न पावेगा। जहाँ पापी प्राणियों को बलात् स्थल दिया जाता है, वहाँ भी ऐसे को ठौर नहीं; यथा—"अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी ॥" (बा० दो० २८)।

(४) 'यह समय सबके मन माहीं।···'—पहले कहा गया कि श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा—"सब समेत पुर धारिय पाऊ।" इसपर गुरुजी ने कहा था कि सब दो दिन और दर्शन कर लें। तब 'राम बचन सुनि सभय समाजू।' कहा गया था। फिर गुरुवचन पर कुछ सांत्वना कही गई थी। बीच में ग्रंथकार श्रीअवध-वासियों की चर्चा कहने लगे थे। अब फिर वहीं से प्रसंग लेकर कहते हैं कि जब श्रीरामजी ने सबको लौटने के लिये कहा था, तब गुरुजी ने यह भी नहीं कहा कि सब आपको लौटाने आये हैं। तब भला श्रीरामजी क्यों जायँगे ? संदेह होना योग्य ही है कि जिस लिये सब आये, उसकी चर्चा पर भी गुरुजी सकुचते हैं। यहाँ समष्टि में सबकी बातें कहकर आगे श्रीभरतजी का शोच करना विस्तार से कहते हैं—

(५) 'निसि न नींद·· '—श्रीभरतजी का शोच श्रीरामजी में अत्यन्त प्रीति के कारण है, इससे इसे 'सुचि' कहा गया है। शोच के कारण उन्हें नींद और भूख नहीं है, यह शोच की दशा है। 'नीच कीच बिच·· '—पूर्वार्द्ध के शोच को उपमा से समझाते हैं कि जब श्रीअवध से समाज-समेत चले थे, तब आशा थी कि गुरुजी श्रीरामजी को वन में ही राज्य देकर लौटा लायँगे। पर उपर्युक्त श्रीरामजी और गुरुजी के संवाद से वह आशा न रह गई, जब कि गुरुजी ने लौटाने की चर्चा भी न की। यही मछली के जल का सूखना है। अब आगे के अनुमानवाले उपाय नीचे के कीचड़ रूप रह गये। कीचड़ में मीन के जीवनाधार जल का अल्पांश ही रहता है, ऐसे ही आगे अनुमित उपायों से श्रीरामजी के लौटने की (श्रीरामजी के संयोग रहने की) आशा बहुत कम रह गई है। उस दशा में जैसे मछली को शोच होता है, वैसे यहाँ श्रीभरतजी शोच करते हैं, इसी का विस्तार आगे है—

कीन्ह मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली ॥१॥
केहि बिधि होइ राम - अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू ॥२॥
अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी ॥३॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। राम-जननि हठ करबि कि काऊ ॥४॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता ॥५॥
जौ हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर-गिरि तें गुरु सेवक - धरमू ॥६॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी ॥७॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई ॥८॥

ही कहेंगे ॥३॥ माता के कहने से भी रघुराज श्रीरामजी लौटेंगे, पर श्रीरामजी को उत्पन्न करनेवाली माता क्या कभी हठ करेंगी ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥ मुझ सेवक की बात ही कितनी ? उसमें भी कुसमय है और विधाता भी टेढ़े हैं ॥५॥ मैं जो हठ करूँ, तो नितान्त कुकर्म है, क्योंकि शिवजी के पर्वत कैलास से भी सेवक-धर्म भारी है ॥६॥ एक भी युक्ति मन में न ठहरी, श्रीभरतजी को सोचते ही रात बीत गई ॥७॥ प्रातःकाल स्नान करके प्रभु को शिर नवाकर बैठते ही ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने (श्रीभरतजी को) बुला भेजा ॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्ह मातु मिस काल···'—श्रीभरद्वाजजी ने कहा ही है—"गई गिरा मति धूति" उसी को लेकर एवं अचानक घटना पर ऐसा कहते हैं। काल ईश्वर की इच्छा है, यथा—"भृकुटि बिलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४); इसीसे वह परम समर्थ हैं। वैसे ही बाधा का दृष्टान्त भी देते हैं कि जिसका उपाय फिर न हो सके। 'ईति भीति जस····'—'ईति' के छः भेद पूर्व कहे गये, उनमें एक मूषक-बाधा भी है, वही यहाँ समझना चाहिये कि पकते हुए धान की तरह एक ही दिन तिलक को शेष था, तभी काल की कुचाल हुई। जैसे पकी बाली मूसा काट ले, तो फिर ठूँठ में बालियाँ नहीं फलतीं, चाहे कितना भी यत्न किया जाय। वैसे ही अब श्रीरामजी का तिलक इस समय पर होना असंभव है। (दूसरे साल फिर धान होता है, वैसे १४ वर्ष पर तिलक होगा।) यहाँ राजा, गुरु, प्रजा सब किसान हैं, राम-राज्य-तिलक धान है, सुकृत-रूपी श्रम से सम्पन्न हुआ, फसल कटने को एक ही दिन रह गया कि उक्त बाधा हुई।

(२) 'अवसि फिरहिं गुरु····'—पिता की आज्ञा मानकर वन को आये हैं, गुरुजी उनके भी गुरु हैं। अतएव उनकी आज्ञा से अवश्य लौट सकते हैं; यथा—"राउरि राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥" (दो० २५५)। पर मुनि तो श्रीरामजी की रुचि पालेंगे; यथा—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ॥" (दो० २५७)। अभी भी पहले जब श्रीरामजी ने उनसे सबके साथ लौटने को कहा था, तब गुरुजी ने उन्हीं के अनुकूल कहा है कि लोग दो दिन और दर्शन पा लें। यह न कहा कि सब लौटाने आये हैं। 'पुनि' अर्थात् फिर कहना पड़ेगा तो ऐसा ही कहेंगे। यह 'पुनि' का फिर (दोबारा) अर्थ लेने से भाव होगा। ऊपर 'पर' अर्थ का भाव तो कहा ही है।

(३) 'राम-जननि हठ···'—दूसरा उपाय सोचते हैं कि पिता की आज्ञा से वन आये हैं और माता का गौरव पिता से दस गुणा है। उनके आग्रह से भी लौट सकते हैं, पर वे हठ न करेंगी, क्योंकि उन्होंने तो—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५) कहकर पुत्र को सत्यसंधता में आरूढ़ किया है। वे पति की आज्ञा और पुत्र के धर्म पर आक्षेप कैसे करेंगी ? उन्होंने कहा भी है—"यह बिचारि नहिं करउँ हठ···" (दो० ५६)।

(४) 'मोहि अनुचर कर केतिक बाता। ···'—फिर तीसरा उपाय सोचते हैं कि मैं ही कहूँ, तो सेवक की बात का कुछ गौरव नहीं, फिर उसमें भी कुसमय है और विधाता टेढ़े हैं। इससे सफलता में संदेह ही है। जो कहा जाय—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान-साधु-सुर साखी॥" (दो० २१८), तो इस नियम से जब पाँव पकड़कर मैं मचल पड़ूँ, तो मेरी हार्दिक रुचि जानकर अवश्य पूरी करेंगे; उसपर कहते हैं—

(५) "जौं हठ करउँ···"—सेवक के लिये हठ करना निन्द्य है, यथा—"जो सेवक साहिबहि सकोची। निज हित चहै तासु मति पोची॥" (दो० २६८)। वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी का हठ करने (अनशन व्रत करने = धरना देने) पर उद्यत होना और फिर अयोग्य कहकर श्रीरामजी के मना करने पर उस

छोड़ना लिखा है। यहाँ उसे मन में लेकर श्रीभरतजी को स्वयं खंडन करना कहा है। सेवक का धर्म स्वामी की आज्ञा को मानना है, अपनी ओर से कुछ करने के लिये कहना तो आज्ञा देना है। अतः, प्रतिकूल है।

'हर-गिरि ते गुरु···'—कैलास को तो रावण उठा सका था, पर वह सेवक धर्म उठाने में असमर्थ हो गया; यथा—"होइहि भजन न तामस देहा।" (आ० दो० २२) मानों उसने दोनों को तौला था। कैलास स्वच्छ वर्ण और भारी है, वैसे सेवा-धर्म भी सात्त्विक एवं भारी है।

(६) 'एकउ जुगुति न···'—तीन उपाय कहकर बहुवचन द्वारा और भी बहुत-से उपाय जनाये, पर वे सब परीक्षा में ठीक न जान पड़े।

"भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी।" प्रकरण समाप्त

"पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये।" प्रकरण

दोहा—गुरु-पद-कमल प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ ॥२५३॥

बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना ॥१॥
धरमधुरीन भानु-कुल-भानू। राजा राम स्वबस भगवानू ॥२॥
सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू। राम-जनम जग-मंगल-हेतू ॥३॥
गुरु-पितु-मातु-बचन-अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हितकारी ॥४॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ ॥५॥

अर्थ—श्रीभरतजी गुरुजी के चरण-कमलों को प्रणाम कर आज्ञा पाकर बैठे। (तब) ब्राह्मण, महाजन, मंत्री एवं सभी सभासद लोग आकर एकत्र हुए ॥२५३॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी समय के अनुसार बोले, हे सुजान श्रीभरतजी और सभासदो! सुनिये ॥१॥ श्रीरामजी धर्मधुरंधर, सूर्यकुल के सूर्य, राजा, स्वतंत्र और भगवान् हैं ॥२॥ सत्य-प्रतिज्ञ हैं, वेदों की मर्यादा के रक्षक हैं। श्रीरामजी का जन्म जगत् के मंगल के लिये हुआ है ॥३॥ वे गुरु, पिता और माता के वचनों पर चलनेवाले हैं, दुष्ट-दलों के नाशक और देवताओं के हितकारी हैं ॥४॥ नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीरामजी के समान यथार्थ और कोई भी नहीं जानता ॥५॥

विशेष—(१) 'बिप्र महाजन सचिव······'—इन सबको भी गोष्ठी के लिये ही गुरुजी ने बुला भेजा था। अतः, एक साथ ही नियत समय पर आ गये। यह भी आशय है कि गुरुजी का स्थल श्रीरामजी के पास ही है, इसीसे वहाँ से श्रीभरतजी बुलाते ही तुरत आ गये। इसी विचार के लिये गुरुजी ने श्रीरामजी से दो दिन का अवकाश माँगा था; यथा—"लोग दुखित दिन दुइ···" (दो० २४८)।

(२) 'बोले मुनिबर समय······'—'समय'—सभा को विशेष सम्मान देने और अपना उत्साह

प्रकट करने का समय नहीं है, क्योंकि सब दुखी हैं। अतएव, संक्षिप्त शब्दों में ही कहा। 'सुनहु सभासद भरत सुजाना'—सभासदों में वामदेव, जाबालि आदि ऋषि भी हैं, इसीसे प्रथम कहा। श्रीभरतजी को जान कर कहा, क्योंकि वक्तव्य विषय के समझने में ये विशेषज्ञ हैं। पुनः अंत में सुजान शब्द के होने से इसे सभी में लगा सकते हैं।

(३) 'धरमधुरीन'—धर्म रथ है, सारा जगत् इसीके आश्रित है, श्रीरामजी उसकी धुरी के धारण करनेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी—'पितु आयसु सब धरमक टीका।' के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होकर चले हैं। यदि वे इसमें कुछ भी ढीले पड़ें किंवा हेर-फेर करें, तो जगत् भी धर्म में दृढ़ता छोड़ बैठेगा; यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥ (गीता ३।२३-२४)। इसलिये उनकी प्रतिज्ञा पर हमलोगों को दृष्टि रखनी चाहिये। 'भानु-कुल भानू'—सूर्य धर्म मार्ग के प्रवर्त्तक हैं, क्योंकि सूर्योदय से दिन, घड़ी आदि के अनुसार ही धर्म किया जाता है। इसीसे इस सूर्यवंश के सभी राजा धर्माचरण में प्रमुख होते आये हैं। श्रीरामजी भी पिता के सत्य-धर्म की रक्षा पर आरूढ़ हैं और स्वयं भी कैकेयीजी से प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि मैं १४ वर्ष वनवास को जाता हूँ। अपने कुल पर ध्यान रखते हुए प्रतिज्ञा छोड़ना उन्हें अभीष्ट न होगा ; यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥" (दो० २७)। 'राजा'—वे किसी के कहने से कुछ का कुछ करें—यह नहीं हो सकता ; यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (आ० दो० ३६)। पुनः वे तो स्वयं राजा हैं, उन्हें कोई राजा क्या बनावेगा ? 'राम'—सबमें रमण करते हैं ; अतः, सबके मन की जानते हैं, और सबको रमाते भी हैं। अतः, सबके लिये उचित विधान वे स्वयं करेंगे, उनके सम्मुख अपनी रुचि आगे रखना ठीक नहीं। 'स्वबस' यथा—"निज तंत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५०)। अतः, वे किसी सम्बन्धी के दबाव में नहीं आ सकते कि उनपर लौटने ही का एवं ऐसा और कोई दबाव दिया जाय। 'भगवानू'—षडैश्वर्य-पूर्ण हैं, उन्हीं से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है ; अर्थात् संसार-भर की व्यवस्था ही उनके हाथ है। अतः, सबका सार-सँभार रखते हुए भी तुम सबका स्नेह रक्खेंगे ; यह सब सामर्थ्य उनमें है।

(४) 'सत्य-संध' ; यथा—"सत्य-संध दृढ़व्रत रघुराई।" (दो० ८१)। तब उनका दृढ़व्रत कोई कैसे छुड़ावे ? और वे कैसे छोड़ेंगे ? 'पालक श्रुतिसेतू'—वे अधर्मियों से वेद-मर्यादा की रक्षा करते हैं, धर्म का संस्थापन करते हैं। मत्स्यादि रूपों को इसीलिये धारण करते हैं। आज दिन भी तो रावणादि असुर बढ़े हुए हैं, उनका शासन करना और धर्मात्मा ऋषियों की रक्षा करना भी है ही। तब कैसे कहा जाय कि हमारी ही रुचि रखिये। 'जग मंगल हेतू'—उन्होंने जगत् भर के मंगल के लिये अवतार लिया है, कुछ श्रीअवध ही के लिये नहीं। तब कौन कहे कि आप जगत् भर का मंगल न करें और घर में ही रहें। जगत् भर में हमलोग भी हैं, वे यथायोग्य हमारे और सबके भी मंगल की व्यवस्था करेंगे।

(५) 'गुरु पितु मातु बचन' '—भू-भार-हरण की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, पिता के वचन का पालन भी करते हैं, फिर उसे छुड़ाकर गुरु-माता की आज्ञा कैसे दी जाय ? जो पहले से कर रहे हैं उसका खंडन होगा। 'खल दल दलन ···'- खलों का दलन वन की लीला से ही होगा और इसीसे देवताओं का हित भी होगा ; यथा—"असुर मारि थापहि सुरन्ह ···" (बा० दो० १२१); तब कैसे कहा जाय कि वन को न जाइये ?

(६) 'नीति प्रीति परमारथ···'—नीति रावण और बालि को सिखाई। देखिये—कि० दो० ८-९ और लं० दो० ८९-९० । प्रीति ; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।···" (कि० ११७); (यह पूरा

पर देखिये)। परमार्थ-पुरजन-उपदेश उ० दो० ४२-४६ में कहा गया है। स्वार्थ अर्थात् लोक-व्यवहार में निपुण हैं; इसीसे सबको प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं।

बिधि हरिहर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला ॥६॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई ॥७॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम - रजाइ सीस सबही के ॥८॥

दोहा—राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब, सब मिलि संमत सोइ ॥२५४॥

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्रमा, सूर्य, आदि दिक्पाल, माया, जीव, समस्त कर्म, और समस्त काल ॥६॥ सर्पराज, पृथिवी के पालक राजा आदि की जहाँ तक प्रभुता (साहिबी) है और योग की सिद्धियाँ जो वेदों और शास्त्रों में कही गई हैं ॥७॥ इन सबको हृदय में अच्छी तरह से विचार कर देखिये (तो समझ पड़ेगा कि) श्रीरामजी की आज्ञा सभी के शिर पर है। अर्थात् सभी उसे आदर सहित मानते हैं ॥८॥ श्रीरामजी की आज्ञा और उनका रुख रखते हुए हम सब का हित (भी) हो, वही सम्मत आप सब चतुर लोग मिलकर अब (निश्चय) कीजिये ॥२५४॥

विशेष—(१) 'विधि हरि हर ससि…'— विधि आदि बड़े-बड़े ईश्वर-कोटि के भी श्रीरामजी की आज्ञा का पालन करते हैं, तब हमलोग अपनी रुचि से उन्हें आज्ञा कैसे दें ?

(२) 'अहिप महिप…'—अहिप (शेष) से पाताल, महिप से सातों द्वीपों के राजा लोग, 'जहँ लगि प्रभुताई' से इन्द्र आदि स्वर्गवासी भी आ गये। सभी श्रीरामजी के आज्ञाकारी हों हैं; यथा— "माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये ॥" (हनु० बाहुक)। "करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति ॥" (वि० २४६); अतः हमें भी आज्ञानुसार ही रहना चाहिये।

(३) 'राखे राम रजाइ रुख…'—यहाँ वसिष्ठजी ने अपना मत भी कह दिया कि श्रीरामजी की आज्ञा और रुख में ही मैं सहमत हूँ, जैसा कि पूर्व ही श्रीभरतजी ने समझा था; —"मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी।" औरों को भी समझने को कहते हैं कि मेरी उपर्युक्त बातों को समझ-बूझकर सब कोई एक-मत होकर जो कहो वही किया जाय। किंतु यह चेतावनी अवश्य है कि श्रीरामजी का रुख रखते हुए ही अपना हित सोचा जाय।

अर्थ—श्रीरामजी का राज्याभिषेक सबके लिये सुखदायक है, मंगल-मोद की जड़ वही एक मुख्य मार्ग है ॥१॥ रघुराज श्रीरामजी किस प्रकार से श्रीअवध लौट चलें, समझकर कहिये, वही उपाय किया जाय ॥२॥ नीति, परमार्थ और स्वार्थ में सनी हुई मुनिश्रेष्ठ की उत्तम वाणी सब ने सुनी ॥३॥ (पर) किसी को कुछ उत्तर स्फुरित न हुआ, सब लोग भोरे (चकित) हो गये, तब श्रीभरतजी शिर नवाकर हाथ जोड़ बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'सब कहँ सुखद'''—मुनि ने अपने उपर्युक्त भाषण में सबका रुख न देखकर कहा कि जैसे आपलोगों को श्रीराम-तिलक सुखद है, वैसे मुझे भी, पर वह कैसे हो ? यह आप ही लोग समझकर कहें। भाव यह कि मैंने उनका लौटने का रुख नहीं देखा, इससे मैं तो उन्हें लौटने को न कहूँगा। तब आप ही लोग कोई उपाय बतलावें, पर समझकर कहना, यह चेतावनी है। (श्रीवसिष्ठजी ने एक बार बिना श्रीरामजी का रुख लिये राजा दशरथजी से सहसा श्रीराम-तिलक के लिये कह दिया, उसमें ठगे गए हैं, इसीसे सबको सचेत करते हैं) 'केहि बिधि अवध'''—'रघुराऊ' अर्थात् श्रीरामजी को यहीं से राजा बनाकर ले चलने को आये थे, पर अब मेरे विचार में कोई विधि नहीं आती, अतः आप ही लोग कहें। श्रीभरतजी ने कहा था—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥" (दो० २५२); वैसा ही यहाँ गुरुजी ने भी कहा।

(२) 'नय-परमारथ स्वारथ'''—क्रम से—'धरम धुरीन भानु ''' से 'कोउ न राम सम ''' तक नीति; 'बिधि हरिहर ससि' से 'हम सब कर हित होइ।' तक परमार्थ और—'सब कर हित होइ''' से 'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' तक स्वार्थ है। मुनि के कथन का उपक्रम—'बोले मुनिवर समय समाना।''' से हुआ और यहाँ—'सब सादर सुनि मुनिवर बानी।' पर उसका उपसंहार है।

भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक ते एक बड़ेरे ॥५॥
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता ॥६॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना ॥७॥
सोइ गोसाइँ बिधि-गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी ॥८॥

दोहा—बूझिय मोहि उपाय अब, सो सब मोर अभाग।
सुनि सनेहमय बचन गुरु, उर उमगा अनुराग ॥२५५॥

शब्दार्थ—छेकना=रोकना, मिटा देना। टेक टेकना=हठ करना, ज़िद ठानना।

अर्थ—सूर्यवंश में बहुत-से राजा हुए, वे सब एक-से-एक अधिक और बड़े हुए ॥५॥ सबके जन्म के कारण (मात्र) पिता-माता होते आये और शुभाशुभ कर्मों के फल विधाता देते रहे ॥६॥ (पर सबके) दुःख को नष्ट कर (और उसपर) समस्त कल्याण (विधानों को) सज देनेवाली आप ही की आशिष है, यह समस्त जगत् जानता है ॥७॥ हे गोस्वामी ! आप वे ही हैं कि जिन्होंने ब्रह्मा की गति रोक दी है, जो हठ आपने की उसे कौन टटा सकता था ; अर्थात् कोई नहीं ॥८॥ अब आप मुझसे उपाय पूछते हैं, यह सब मेरा अभाग्य है। (ऐसा) स्नेहमय वचन सुनकर गुरुजी के हृदय में अनुराग उमड़ आया ॥२५५॥

विशेष—(१) 'भानुबंस भये भूप …'—"विधि प्रपंच गुन अवगुन साना" (बा० दो० ५); इस उक्ति की रीति से जगत् में सबके लिये उन्नति और अवनति की व्यवस्था पाई जाती है। पर इस सूर्यवंश में एक-से-एक बढ़कर राजा होते आये और निर्विघ्न निबहते आये। इसका कारण विचारने पर ज्ञान पड़ता है कि सबके माता-पिता जन्ममात्र के कारण होते थे, भाग्य नहीं बना सकते थे। यदि कहा जाय कि भाग्य के बनानेवाले ब्रह्मा हैं, तो वे तो कर्मानुसार ही सबका विधान करते हैं, इसीसे विधाता कहाते हैं और सबको यथासमय शुभ-अशुभ (दोनों) कर्मों के फल देते हैं। इस नियम को वे नहीं तोड़ सकते। तब निश्चय होता है कि इस कुल के राजाओं के अशुभ कर्मों के फल-रूप दुःखों को आप ही अपनी आशिष से निवारण करके उनके समस्त कल्याण करते आये हैं।

श्रीभरतजी का अभिप्राय यह है कि वैसी ही आशिष मैंने माँगी है ; यथा —"आयसु आसिष देहु सुबानी ॥ जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥" (दो० १८१) ; पर मुझे न मिली थी, वही मुझे देकर इस कुल का कल्याण सजिये (कीजिये)।

(२) 'सोइ गोसाइँ बिधि-गति…'—आप इस कुल के बहुत से राजाओं के अशुभ संस्कारों को बार-बार शमन करते आये और उनकी जगह उनके कल्याण करते आये। इस तरह बार-बार आप ब्रह्मा की गति को रोकते आये हैं। 'सोइ' में यह भी ध्वनि है कि आप वही, कुल वही और मैं भी उसी कुल में उत्पन्न हूँ, फिर आप अब वैसी आशिष क्यों नहीं देते ? 'जग जाना'—जगत् क्या कहेगा ? कि गुरुजी में अब वह सिद्धि नहीं रह गई या अब सूर्य-कुल में ही कोई दोष आ गया, इत्यादि। इन बातों को भी जगत् जानता है कि आपने ही मनु की पुत्री इला को सुद्युम्न नामक राजकुमार बनाया है। फिर वह शिवजी के विहार-वन में जाकर (उनके शापवश) स्त्री हो गया, तब आप ही ने दया करके शिवजी को प्रसन्न कर उनसे वर दिलाया कि वह एक मास पुरुष रहे और एक मास स्त्री। (भाग० स्क० ९ अ० १) ; राजा दशरथ के पुत्र नहीं होता था, आप ही ने आशिष देकर चौथे पन में उनको चार पुत्र दिये, इत्यादि, इत्यादि।

(३) 'बूझिय मोहि उपाय अब…'—अब मेरे विषय में मुझसे ही उपाय पूछ रहे हैं, यह सब मेरा ही अभाग्य है, आप तो वही सिद्ध हैं। भाव यह कि कन्या को पुत्र बनाने से श्रीरामजी को वन से श्रीअवध ले जाना कठिन कार्य नहीं है। यह मुनि के—'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' का उत्तर है।

तात बात फुरि राम-कृपाहीं। रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ॥१॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता ॥२॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥३॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥४॥
मन प्रसन्न तन तेज बिराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा ॥५॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुखसुख सब रोवहिं रानी ॥६॥

अर्थ—हे तात ! बात सत्य है (पर यह सब) श्रीरामजी की कृपा से ही (होती आई)। श्रीरामजी से विमुख होकर यह सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती ॥१॥ हे तात ! एक बात कहता हुआ सकुचता हूँ—

बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाते समय आधा छोड़ देते हैं ; अर्थात् आधा-मात्र ही ले लेते हैं ॥२॥ तुम दोनों भाई वन को जाओ, (इसपर) श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी को लौटाया जाय ॥३॥ यह सुन्दर वचन सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हुए, उनका सम्पूर्ण शरीर विशेष आनंद से परिपूर्ण हो गया ॥४॥ मन प्रसन्न हो गया, शरीर में तेज विराजमान हो गया, मानों राजा जी उठे और श्रीरामजी राजा हो गये ॥५॥ लोगों को लाभ बहुत और हानि कम जान पड़ी, सब रानियाँ दुःख और सुख समान जानकर रो रही हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ।'—इससे जाना गया कि ऋषियों की आशिष और शाप के फल श्रीरामजी के द्वारा ही सिद्ध होते हैं ; यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्ह असीस ।" (बा० दो० ७०) ; पुनः—"राम बिमुख न जीव सुख पावै ।" "बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥" (उ० दो० १२१) ।

(२) 'अरध तजहिं बुध सरबस जाता ।'—यह लोकोक्ति है—"सर्वस देखो जात तो आधा लेइय बाँट ।" इसमें ठीक आधा ही अभिप्रेत नहीं है । तात्पर्य यह है कि अवधवासियों के सर्वस्व श्रीसीता-रामजी हैं, वे तुम्हारे जाने से लौटें, तो उतनी हानि नहीं है, जैसा कि आगे कहा है—"बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।" श्रीवसिष्ठजी ने यहाँ सहसा इतना ही विचारा कि पिता की आज्ञा में दोनों अपना-अपना हेर-फेर कर लें । बस, यही एक-मात्र उपाय है, जैसा कि श्रीभरतजी ने ही कहा है ; यथा—"तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने । तत्प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥" (वाल्मी० २।८८।१७) ; गुरुजी यहाँ घबड़ाये-से जान पड़ते हैं, उन्होंने इसमें न तो श्रीरामजी का रुख ही देखा और न श्रीकैकेयीजी के वरदान को ही देखा, सहसा यह प्रस्ताव कर बैठे । परीक्षा की यहाँ कोई बात नहीं है, श्रीभरतजी के भाव को तो उन्होंने अयोध्या-दरबार में ही देख लिया है । हाँ, यह लोगों में श्रीभरतजी की महिमा को प्रसिद्ध करने की मुनि की दृष्टि भले ही कही जाय । यह आगे—'भरत महा महिमा जलरासी ।···' से स्पष्ट है ।

(३) 'जनु जिय राउ राम···'—श्रीभरतजी को दो दुःख हैं—पिता के मरण का और श्रीरामजी के वन जाने का । इससे यह जनाया कि उनके दोनों दुःख निर्मूल हो गये । श्रीरामजी के वनवास के कारण ही पिता ने देह-त्याग किया, इससे उनके वनवास की निवृत्ति में ही दोनों दुःख निवृत्त हो गये ।

(४) 'बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।'—तीनों भाइयों की अपेक्षा श्रीरामजी अधिक सुखदायक हैं ; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (बा० दो० १९७) ; "प्रानहु ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल ॥" (बा० दो० २०४) ; इत्यादि । माताओं को चारों पुत्र एक समान हैं, इसलिये उनका दुःख वैसा ही अब भी रहेगा, दो का रोना तब था, वैसा ही अब भी रहेगा ।

'अरध तजहिं ··' से 'हरषे दोउ भ्राता ।' तक, ये चार चरण राजापुर की प्रति में नहीं हैं, शेष सब प्राचीन प्रतियों में पाये जाते हैं । समालोचकों के निर्णय से राजापुर की प्रति श्रीगोस्वामीजीकी स्वयं लिखित नहीं है, किंतु उन्हीं के समय की प्रतिलिपि है और प्रामाणिक है । पर ये चरण लेखक की असावधानी से छूटे हुए प्रतीत होते हैं ; क्योंकि बिना इनके प्रसंग अधूरा रहता है । कोई-कोई ऐसा भी अनुमान करते हैं कि इस कांड में बहुत स्थलों पर आशय से काम लिया गया है । वैसे ही इन चरणों को गुरुजी मन में लाये, पर कह न सके, क्योंकि वे श्रीकैकेयीजी की तरह कठोर-हृदय तो नहीं हैं । तब श्रीभरतजी ने लख लिया और आगे की बातें हुईं । जब श्रीवसिष्ठजी ही न कह सके, तो कवि ने भी उसे

छोड़ दिया और छः ही अर्द्धाली रखकर छोड़ने का गुप्त यह भाव भी जना दिया कि यह जानकर छोड़ा गया है। श्रीभरतजी ने प्रसन्नता प्रकट कर उसमें श्रद्धा जनाकर गुरुजी का संकोच मिटाया, इत्यादि। किंतु पहले पक्षवाले कहते हैं कि गुरुजी को जो कहना था, स्पष्ट कहा और सबलोगों ने और माताओं ने भी सुना और समझा, तभी तो तदनुसार व्यवस्था कही गई। मेरी तुच्छ मति में तो पहला पक्ष समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि इसी तरह एक अर्द्धाली की कमी आगे दो० २७८ में भी है। वह भी छूटी हुई है, वहीं पर देखिये।

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन अभिमत दीन्हे ॥७॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। येहि ते अधिक न मोर सुपासू ॥८॥

दोहा—अंतरजामी राम सिय, तुम्ह सरबज्ञ सुजान।
जौ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान ॥२५६॥

अर्थ—श्रीभरतजी कहते हैं कि मुनि ने जो कहा उसके करने से संसार-भर के जीवों को मनोवांछित देने का फल होगा ॥७॥ (१४ वर्ष तो कुछ भी नहीं है) मैं जन्म-भर वन में वास करूँ, इससे बढ़कर मेरे लिये और अनुकूलता नहीं है ॥८॥ श्रीसीतारामजी अंतर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ एवं सुजान हैं। यदि आप सत्य (हृदय से) ही कहते हैं, तो हे नाथ ! अपने वचन को प्रमाण (पक्का) कर ही दीजिये; अर्थात् यह प्रस्ताव टलने न पावे, तभी मैं जानूँगा कि आपने हृदय से कहा है।

विशेष—(१) 'कहहिं भरत मुनि कहा······'—'मुनि' शब्द संबोधन नहीं है; किंतु यह बात श्रीभरतजी सभा के समक्ष में कह रहे हैं, क्योंकि शिष्य हैं। अतः, 'मुनि' संबोधन अयोग्य है।

(२) 'कानन करउँ जनम भरि बासू'—यहाँ गुरुजी से ही कहते हैं कि आप १४ वर्ष ही कहते हैं, पर मैं जन्म-भर वास करूँगा और उसे परम आनंद मानूँगा।

(३) 'अंतरजामी राम सिय······'—मैं यदि कुछ बनाकर कहूँ, तो छिप नहीं सकता, मेरी अभिलाषा सत्य है और आप उसके लिये कह ही चुके हैं, तो अब प्रमाण कीजिये; अर्थात् मेरे बदले में श्रीरामजी को अवध लौटाइये और उन्हें राज्य दीजिये। श्रीभरतजी निश्चय जानते हैं कि श्रीरामजी का रुख ऐसा नहीं होगा, यदि गुरुजी कर दें, तो बड़ा भाग्य है, पर गुरुजी उनके रुख के विरुद्ध भी न करेंगे। अतः, मुनि ने ये वचन ऊपर से ही किसी और कारण से सहसा कह दिये हैं, इसलिये ठीक करने के लिये प्रार्थना करते हैं।

भरत-बचन सुनि देखि सनेहू। सभासहित मुनि भये बिदेहू ॥१॥
भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला-सी ॥२॥
गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा ॥३॥
और करिहि को भरत-बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई ॥४॥

शब्दार्थ—जलरासी = समुद्र । बोहित (बोहित्थ) = बड़ी नाव (जहाज) । सासी = छोटा तालाब । और = दूसरा, अधिक ।

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्नेह देखकर सभा के समेत मुनि विदेह हो गये ॥१॥ श्रीभरतजी की महती महिमा समुद्र है, मुनि की बुद्धि उसके तट पर अबला (स्त्री) की तरह खड़ी है ॥२॥ पार जाना चाहती है, उसने हृदय में बहुत उपाय ढूँढ़ा, पर वह न नाव पाती है, न जहाज और न बेड़ा ही ॥३॥ श्रीभरतजी की बड़ाई और कौन करेगा ? अर्थात् कोई न कर सकेगा, क्या छोटे तालाब की सीपी में समुद्र समा सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥

विशेष—(१) 'सभासहित मुनि भये बिदेहू ।'—इन सबको यह आशा न थी कि ये हर्ष-पूर्वक १४ वर्ष का भी वनवास स्वीकार करेंगे । पर जब इन्होंने जन्म-भर के लिये माँगा और हठ की, तब इनका स्नेह बहुत उच्च कोटि का देखा गया । इसपर मारे प्रेम के लोगों का देहाध्यास न रह गया ।

पहले—'सुनि सनेह मय बचन गुरु, उर उमँगा अनुराग ॥' कहा गया था, पर इस बार तो मुनि सब के सहित विदेह ही हो गये । श्रीभरतजी की भक्ति की महिमा अगाध देख पड़ी, उसे समुद्र के रूपक से कहते हैं—

(२) 'भरत-महा-महिमा जलरासी ।'—अबला जो कहीं अगाध समुद्र के किनारे जाय और वहाँ जहाज, नाव और बेड़ा भी न पावे, तो हार मानकर देखती खड़ी ही रह जायगी । पुरुष हो तो भला कुछ तैरने का भी साहस करे । बुद्धि स्त्रीलिंग है । अतः, उसे अबला कहा और बल-हीनता भी जनाई । वैसे मुनि की मति ने श्रीभरतजी की महिमा के पार जाना अर्थात् उसके पूर्ण प्रभाव का पता लगाना चाहा, पर उसने उत्तम-मध्यम और निकृष्ट में एक भी साधन न पाया । जहाज उत्तम, नाव मध्यम और बेड़ा निकृष्ट साधन है, इन्हींसे जल-राशि का उतरना हो सकता है । श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र के समक्ष में उस अबला की तरह मुनि की मति दंग हो गई, हृदय से हार गई ; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है ।''' यह जलनिधि खन्यों, मथ्यो लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है । तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कबि पार गयो है ॥" (गी॰ अं॰ ११) ; भाव यह कि मुनि की मति श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र में प्रवेश करने में भी असमर्थ है । इस हार में गुरुजी को जो आनन्द हुआ, कदाचित् जीत जाते तो न होता प्रत्युत् खेद होता । इसीसे आगे ये ही श्रीभरतजी के पैरवीकार हो गये और श्रीभरतजी के स्नेह में अपनी मुग्धता प्रकट की ; यथा—"भरत सनेह बिचार न राखा ।" कहा है ।

(३) 'और करिहि को······'—जब ब्रह्मा के पुत्र श्रीवशिष्ठजी ने हार मानी, तो दूसरा कौन श्रीभरतजी की बड़ाई कर सकता है ? यहाँ औरों की मति सीपी और श्रीभरतजी की महिमा समुद्र है ।

वशिष्ठ-भरतगोष्ठी समाप्त हुई ।

चित्रकूट-प्रथम-दरबार

भरत मुनिहि मन भीतर भाये । सहितसमाज राम पहिं आये ॥५॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन । बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन ॥६॥

बोले मुनिबर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी ॥७॥
सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम - नीति - गुन-ग्यान-निधाना ॥८॥

दोहा—सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ ।
पुरजन-जननी-भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ ॥२५७॥

आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ ॥१॥

अर्थ—मुनि को श्रीभरतजी मन में प्रिय लगे और वे समाज-सहित श्रीरामजी के पास आये ॥५॥ प्रभु ने प्रणाम करके श्रेष्ठ आसन दिया, सबलोग मुनि की आज्ञा सुनकर बैठ गये ॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ देश, काल और अवसर के अनुसार विचार कर वचन बोले ॥७॥ हे श्रीरामजी ! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं एवं धर्म, नीति, गुण और ज्ञान की खान हैं ॥८॥ आप सबके हृदय के भीतर बसते हैं, सबके भाव और कुभाव को जानते हैं, पुरवासियों, माताओं और श्रीभरतजी का हित जिसमें हो, वह उपाय बतलावें ॥२५७॥ आर्त्त लोग कभी विचार कर नहीं कहते, जुआरियों को अपने ही दाँव सूझते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'मन भीतर भाये'—क्योंकि श्रीराम-भक्ति में परम अगाध देखे गये ।

(२) 'बोले मुनिवर बचन ···'—'बिचारी' क्योंकि गोष्ठी में बिना विचारे ही सहसा प्रस्ताव कर बैठे थे । इसीसे अब सावधान होकर बोले। 'देश'—चित्रकूट सात्विक मुनियों का देश है, सभा की एव किसी की प्रशसा आदि की आवश्यकता नहीं । 'काल'—आपत् काल है, उदासीन वृत्ति से ही बातचीत हो। 'अवसर'—सूक्ष्म रीति से कार्यवाही हो, जिसमें मध्याह्न से पहले सभा-विसर्जन हो जाय, अतएव—'अरथ अमित अति आखर थोरे ।' की रीति से बोले ।

(३) 'सुनहु राम सर्वज्ञ ···'—श्रीरामजी के सब विशेषण अभिप्राय युक्त हैं—'सर्वज्ञ' अर्थात् देवता दैत्य, मुनि, विप्र, पृथिवी आदि की व्यवस्था जानते हो। 'सुजान' अर्थात् चातुर्य गुण से आश्रितों के जी की भी जानते हो , यथा—"देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की ॥" (दो० २०१) । "ज्ञान-सिरोमनि कोसल राऊ।" (बा० दो० २०) ; अत', हमलोगों के जी की भी जानते ही हो। 'धरम नीति गुन ···'—सत्य धर्म, भ्रातृ धर्म, सेवक-धर्म, प्रजा-धर्म, राज-धर्म आदि सभी धर्मों के आप खजाना हैं, जिसमें आपका और सबका धर्म रहे, वैसा उपाय कहिये । राजनीति भी आप जानते हैं , यथा— जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । (दो०१४) , इसका निर्वाह भरतजी चाहते हैं, पुन —"रिपु रिन रच न राखब काऊ।" (दो० २२८), इसके अनुसार रावण आदि आपके आश्रितों के शत्रु हैं, उनका नाश करना आप चाहते हैं। 'गुन' अर्थात् शील, कृपा, करुणा आदि गुणों के आप ही एकमात्र आधार हैं। हम एवं सब माताओं आदि पर शील, श्रीभरतजी पर करुणा और आर्त्त देवता आदि पर कृपा की आवश्यकता है। 'ज्ञान निधाना'—अपरोक्ष ज्ञान, त्रिकाल ज्ञान एव शास्त्र ज्ञान के भी आप स्थान हैं, अत , हमलोगों को आवश्यक ज्ञान भी आप ही दे सकते हैं ।

(४) 'सबके उर अंतर बसहु ···'—सबके भीतर का भाव यह है कि आप लौट चलें और राज्य स्वीकार करें। आपके वन जाने में सबका कुभाव है, यह सब भी आप जानते ही हैं , यथा—"आनत

हो सब ही के मन की। .....ये सेवक संतत अनन्य गति ज्यों चातकहिं एक गति घन की। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की॥" (गी० अ० ७१); आपने स्वयं कहा भी है—"सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहिं पल जिमि जुग जाता॥" (दो० २४०); फिर इनके दुःख-निवारण का उपाय बतलाइये। तात्पर्य यह कि इनका हित हो, चाहे जिस रीति से हो, श्रीरामजी सबके हितार्थ आगे चरण पादुका देंगे; यथा—"तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें। मनहुँ सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे॥" (गी० अ० ७५)।

'पुरजन जननी....'— पुरजनों में ऋषि, विप्र भी हैं, इससे इन्हें प्रथम कहा। श्रीरामजी के भी पुरजन अति प्रिय हैं; यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)।

(५) 'आरत कहहिं बिचारि न काऊ।' यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न सँभारी।" (वि० ३४); तथा—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो० २९८); भाव यह कि मेरे ऊपर न डालिये (जैसा कि आगे प्रभु ने कहा ही है) हमलोग आर्त हैं; अतः, जिसमें हमें सुख देख पड़ेगा, वही कहेंगे, चाहे वह यथार्थ न भी हो। जैसे जुआरी जब पासा या कौड़ी फेंकते हैं, तब सब अपनी बाजी पड़ना कहते हैं कि मेरी कौड़ी आई। वैसे हमलोग तो अपनी ही कहेंगे कि आप राजा हों, लौट चलें; इत्यादि।

इस जुए में आपका ही दाँव पड़ा, राजा-रानी में जुआ हुआ, रानी ने दाँव जीता। आप चाहते थे—श्रीभरतजी राजा हों और हम वन को जायँ, वही हुआ, पासा तो आपका पड़ा, पर हमलोग अपनी ही हाँकते हैं कि आप लौट चलें, राजा होवें—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू।" (दो० २५१); इत्यादि। अपने आ होने का कारण भी आगे मुनि ने ही कहा है—'भरत सनेह बिचार न राखा।' इत्यादि।

सुनि मुनि-बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥२॥
सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किये मुदित फुर भाखे॥३॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥४॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाईं॥५॥

शब्दार्थ—माथे मानि = शिरोधार्य करके। घटिहि = होगा, लगेगा। फुर भाखे = सच कहने में।

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि हे नाथ! आपके ही हाथ में उपाय है॥२॥ आपके रुख रखने में एवं आपकी आज्ञा (के प्रति कर्म से) करने में, (मन से) प्रसन्न होने में और (वचन से) उसे सत्य (ठीक) कहने में सबका हित है॥३॥ पहले जो आज्ञा मुझे हो, उस शिक्षा को मैं शिरोधार्य करके करूँ॥४॥ फिर हे गोसाईं! आप जिसको जैसा कहेंगे, वह सब प्रकार से सेवा में लगेगा॥५॥

विशेष—(१) मुनि ने कहा था—'पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ।' उसके प्रति श्रीरामजी कहते हैं—'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥ सब कर हित रुख...' अर्थात् मुनियों ने श्रीरामजी को 'सर्वज्ञ' और 'सुजान' आदि में और अंत में—'उर अंतर बसहु' कहा है। तदनुसार श्रीरामजी सब जानकर कहते हैं कि गोष्ठी में आपका जो रुख था "राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।"

एवं "राम रजाइ सीस सबही के" पुनः मेरे रुख को भी आपने ही प्रकट किया है; यथा—"सत्य संध-पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥" अतः, वैसी ही आज्ञा मुझको और सबको हो।

(२) 'प्रथम जो आयसु ' '—जब मैं गुरु-आज्ञा पर सन्नद्ध हो जाऊँगा, तब सभी होंगे, इसलिये पहले मुझे ही आज्ञा हो।

कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाखा। भरत-सनेह-बिचार न राखा ॥६॥
तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत-भगति बस,भइ मति मोरी ॥७॥
मोरे जान भरत - रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव-साखी ॥८॥

दोहा—भरतबिनय सादर सुनिय, करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि ॥२५८॥

अर्थ—मुनि ने कहा, हे श्रीरामजी! आपने सत्य कहा है, पर श्रीभरतजी के स्नेह ने मेरे विचार को नहीं रहने दिया ॥६॥ इसीसे मैं बार बार कहता हूँ कि मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की भक्ति के वश हो गई है ॥७॥ मेरी समझ में तो श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो कुछ कीजियेगा, वह शुभ ही होगा, शिवजी इसके साक्षी हैं ॥८॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना आदर-पूर्वक सुनिये, फिर उसपर विचार कीजिये, तब साधु-मत, लोक-मत, राजनीति और वेदों का मत निकालकर वही कीजियेगा ॥२५८॥

विशेष—(१) श्रीरामजी ने मुनि को ही आज्ञा देना कहा था, उसपर मुनि कहते हैं कि श्रीभरतजी की भक्ति के वश होने से मेरे विचार तो उन्हीं के अनुकूल ढलेंगे। अतः, मैं स्वतंत्र-रूप से कोई सिद्धान्त की बात नहीं कह सकता। हाँ, इतना तो कहूँगा कि श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो भी करोगे, शुभ-होगा, क्योंकि श्रीभरतजी परम भागवत (साधु) हैं और—"साधु ते होइ न कारज हानी।" (सुं॰ दो॰ ५); यह कहा है और आप सेवकों की रुचि रखते ही हैं; यथा—"राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद-पुरान-साधु-सुर-साखी॥" (दो॰ २१८)। 'सिव साखी'—शिवजी कल्याणकर्त्ता हैं, यदि हम झूठ कहते होंगे, तो वे दंड देंगे, क्योंकि संहारकर्त्ता भी हैं।

(२) 'करिय बिचारि बहोरि'—क्योंकि मुनि पहले ही कह चुके हैं कि मैं एक पक्ष में विवश हूँ। अतः, स्वतंत्र आज्ञा नहीं दे सकता। काकु से यह भी ध्वनि है कि श्रीभरतजी की विनय सुनने पर क्या फिर आप उनसे भिन्न विचार कर सकेंगे? अर्थात् आप भी उन्हीं के अनुकूल ढल पड़ेंगे और—"भरत कहहि सोइ किये भलाई।···" देना ह पड़ेंगे।

गुरु अनुराग भरत पर देखी। रामहृदय आनंद बिसेखी ॥१॥
भरतहि धरम - धुरंधर जानी। निज सेवक तन-मानस-बानी ॥२॥
बोले गुरु - आयसु - अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगलमूला ॥३॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयेउ न भुवन भरतसम भाई ॥४॥

जे गुरु-पद-अंबुज-अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़ भागी ॥५॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू ॥६॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत-बड़ाई ॥७॥
भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई ॥८॥

शब्दार्थ—अरगाई (अलं गानम्)=मौन होना, चुप होना; यथा—"सुनो रानि अब रहु अरगानी।" (दो० ११)।

अर्थ—श्रीभरतजी पर गुरु का अनुराग देखकर श्रीरामजी के हृदय में विशेष आनंद हुआ ॥१॥ श्रीभरतजी को धर्म-धुरंधर और तन-मन-वचन से अपना सेवक जानकर ॥२॥ उन्होंने गुरुजी की आज्ञा के अनुकूल सुन्दर, कोमल और मङ्गल-मूलक वचन कहा ॥३॥ हे नाथ! आपकी शपथ और पिता के चरणों की शपथ (करके, कहता हूँ), भुवन भर में श्रीभरतजी के समान भाई नहीं हुआ ॥४॥ जो गुरुजी के चरण-कमल के अनुरागी हैं, वे लोक में और वेद में भी बड़े भाग्यवान् (माने जाते) हैं ॥५॥ (फिर) जिसपर आपका ऐसा अनुराग है उन श्रीभरतजी के भाग्य को कौन कह सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥६॥ छोटा भाई जानकर श्रीभरतजी के मुँह पर उनकी बड़ाई करते हुए बुद्धि सकुचती है ॥७॥ श्रीभरतजी जो कुछ कहें वही करने में भलाई है—ऐसा कहकर श्रीरामजी चुप हो रहे ॥८॥

विशेष—(१) 'रामहृदय आनंद बिसेषी।' श्रीभरतजी में श्रीरामजी का स्नेह है। अतः, गुरुजी के अनुराग से उनकी अत्यन्त भलाई होगी; इसपर श्रीरामजी को विशेष आनन्द हुआ। यह भी सूचित किया कि गुरु-भक्ति करके गुरुजी की अनुकूलता से श्रीरामजी विशेष प्रसन्न होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से विशेष आनन्द का यह भी कारण है कि यदि गुरुजी न्याय अपने हाथ में रखते तो मुझे परतंत्रता थी, अब तो अनुराग से उन्होंने श्रीभरतजी पर ही डाल दिया, तो श्रीभरतजी अपने कहने में हैं और सयाने साधु हैं; यथा—"भरत कहे महँ साधु सयाने।" (दो० २२५); अतः, मेरे अनुकूल ही रहेंगे।

(२) 'भरतहिं धरम-धुरंधर जानी…'—धर्म धुरंधर हैं; अतः, हमारा भी धर्म बचावेंगे। हमारे 'निज सेवक' हैं। अतः, हमारे प्रतिकूल हठ न करेंगे, आज्ञा मानेंगे। 'तन मानस बानी' यथा—"बलत पयादे खात फल…" (दो० २२२);—तन, "सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा।…" (दो० २०२);—वचन, "केहि बिधि होइ राम अभिषेकू, मोहि अवकलत उपाय न एकू ॥…" से "एकउ जुगुति न मन ठहरानी।…" (दो० २५२) तक मन। श्रीभरतजी में धर्म और प्रेम दोनों कई जगह आये हैं, वैसे इस अर्धाली में भी दोनों ही कहे हैं।

(३) 'बचन मंजु मृदु मंगलमूला।'—पहले जब मुनि ने कहा—'पुरजन जननी भरत……' तब आपने जो उत्तर दिया, वह गुरु-आयसु के अनुकूल न था, इसलिये वहाँ—'कहत रघुराऊ' मात्र कहा गया और यहाँ गुरु आयसु की अनुकूलता से वचन के तीन विशेषण 'मंजु, मृदु और मंगल-मूला' दिये गये।

(४) 'नाथ सपथ पितु चरन दोहाई।'—पिता के चरण-मात्र की शपथ और गुरु के सर्वांग की शपथ की, इससे पिता में अधिक भक्ति दिखाई, क्योंकि श्रीभरतजी को भी पिता की आज्ञा के पालन में दृढ़ करना है कि जिससे वे इसके प्रतिकूल कुछ न कहें। श्रीभरतजी की प्रशंसा करने में संकोच दिखाते

हुए भी उनकी पुढ़ प्रशंसा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाते हैं कि जिससे वे मेरी रुचि रक्खें। गुरु की शपथ से दिखाया कि मैं इन्हें इष्ट मानता हूँ, वैसे तुम भी मानो और इनकी आज्ञा का पालन करो। जो गुरु-भक्त होगा, वह गुरु की रुचि को भंग न करेगा।

(५) 'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई।''' '''—सम्मुख में संकोच होता है, पर परोक्ष में तो बहुत बड़ाई किया करते हैं, जैसे कि निषादराज ने और भरद्वाजजी ने तथा आगे उ० दो० २ में श्रीहनुमानजी ने भी कहा है।

(६) 'भरत कहहिं सोइ किये''''''—पूर्वोक्त गुरु-वचन—'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय''''' को यहाँ पूरा किया।

दोहा—तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय कै बात॥२५९॥

सुनि मुनि-बचन राम - रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥१॥
लखि अपने सिर सब छरभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥२॥
पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज - नयन नेह - जल बाढ़े॥३॥

अर्थ—तब मुनि श्रीभरतजी से बोले—हे तात! सब संकोच छोड़कर कृपा के सागर प्यारे भाई से हृदय की बात कहो॥२५९॥ मुनि के वचन सुन श्रीरामजी का रुख पा, गुरु और इष्टदेव की अनुकूलता से तृप्त होकर॥१॥ सब छरभार (कार्य का बोझा) अपने शिर देखकर श्रीभरतजी कुछ कह नहीं सकते, विचार कर रहे हैं॥२॥ शरीर से पुलकित होकर सभा में खड़े हुए, कमल समान नेत्रों में प्रेम-जल की बाढ़ आ गई॥३॥

विशेष—(१) 'तब मुनि बोले '''—पूर्व की गोष्ठी में श्रीभरतजी ने मुनि से कहा था—"जो गुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान॥" (दो० २५६); वहाँ उस समय मुनि चुप हो रहे थे, उसका निर्वाह प्रबंध बाँधकर यहाँ किया कि लो, श्रीरामजी प्रसन्न हैं और यह कह भी चुके हैं—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।" अब अपने अभीष्ट पूरे कर लो, वचन देकर श्रीरामजी टलेंगे नहीं। यह श्रीवसिष्ठजी की शिष्टता है, कोरा-कथन् मात्र ही नहीं है। किंतु कर्त्तव्य पूर्ण करके कहा; यथा—"देवि! बिनु करतूति कहिबो जानि हैं लघु लोय। कहौं गो मुख की समरसरि कालि कालिख धोय।" (गी० सुं० ५)। गुरु का कर्त्तव्य यही है ईश्वर को शिष्य के सम्मुख कर दे। 'सब सँकोच तजि'—संकोच, माता के किये हुए अपराध का; यथा—"मातु मते महँ मानि मोहि" (दो० २३३); सामने बात करने का; यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (दो० २६०); इत्यादि। संकोच छोड़ दो, क्योंकि श्रीरामजी कृपासिंधु और प्रिय बंधु हैं, उन्होंने तुम्हारे प्रेम से कृपा करके तुम्हें पूर्ण स्वत्व दे दिया कि जो कहो वही करें, तब संकोच क्या?

(२) 'गुर साहिब अनुकूल अघाई।'—पहले डरते थे कि ये प्रतिकूल होंगे; यथा—"लोग कहइ

गुर-साहिब द्रोही।" (दो० २०७)। "अपडर डरेउँ न सोच समूले।" (दो० २६६); आ यहाँ दोनों की अनुकूलता से तृप्त हो गये।

(३) 'कहि न सकहिं कछु ····'—गुरु की आज्ञा से शपथ करके प्रभु मेरे लिये प्रतिज्ञा भी छोड़ने को सन्नद्ध हो गये, तो अब मुझे क्या कर्तव्य है? यही विचार रहे हैं, क्योंकि—"सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं॥" (दो० २३०)।

(४) 'पुलक सरीर सभा ····'—खड़े होकर बोलना सभा की रीति है, अपने पर गुरु और स्वामी की प्रसन्नता देखकर प्रेम के आँसू चल पड़े।

भरत-भाषण [१]

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। येहि ते अधिक कहउँ मैं काहा॥४॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥५॥
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥६॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥७॥
मैं प्रभु कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥८॥

दोहा—महूँ सनेह-सकोच-बस, सनमुख कहे न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नयन॥२६०॥

शब्दार्थ—खुनिस (खिन्न मनस्) = क्रोधित, रूखापन। जोही = देखी।

अर्थ—मेरा कहना तो मुनिराज ने ही पूरा कर दिया; अर्थात् जो मैं कहना चाहता, वह उन्होंने ही कह दिया। इससे अधिक मैं और क्या कहूँ?॥४॥ अपने स्वामी का स्वभाव मैं जानता हूँ कि वे अपराधी पर भी कभी क्रोध नहीं करते॥५॥ और मुझपर तो बहुत कृपा और स्नेह रखते हैं, (यहाँ तक कि) मैंने खेलते हुए (बालपन में) भी कभी उन्हें क्रोधित नहीं देखा॥६॥ मैंने बचपन से कभी साथ नहीं छोड़ा, स्वामी ने कभी भी मेरा मन भंग नहीं किया॥७॥ मैंने स्वामी की कृपा की रीति हृदय में (विचार कर) देखी है कि हारने पर भी खेल में वे मुझे जिता देते थे॥८॥ मैंने भी स्नेह और संकोचवश सामने बात नहीं की। प्रेम के प्यासे नेत्र आज तक दर्शनों से तृप्त नहीं हुए॥२६०॥

विशेष—(१) 'कहब मोर मुनिनाथ निबाहा।····'—गुरुजी ने जो पहले कहा था—"पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" उसीमें मेरा कथन आ गया, वही तो मैं भी कहता। पुनः पूर्वगोष्ठी में गुरुजी से श्रीभरतजी ने कहा था—'कोजिय बचन प्रमान' उसकी पूर्ति मो—"मोरे जान भरत रुचि राखी।····" में आ गई। इससे श्रीरामजी पर स्वीकृति का भार दे दिया, अब यह बात भी श्रीभरतजी चाहे कहें या न कहें, पर गुरुजी ने तो अपना कथन सत्य कर दिया।

(२) 'मैं जानउँ निज नाथ'''—औरों के नाथ प्रायः क्रोध करते हैं, पर मेरे नाथ नहीं; यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धर्यो॥" (दोहावली ४०), प्रत्युत् वे कृपा और स्नेह रखते हैं; यथा—"एक कहत भइ हार रामजी की एक कहत भैया भरत जये। प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि'''" (गी० बा० ४३)। 'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी।'—बालपन के खेल में प्रायः क्रोध आया करता है, पर स्वामी ने उस अवस्था में भी क्रोध नहीं किया; यथा—"सिसु पन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधु बदन रिसौंहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥" (वि० १००); अब तो बड़े हो गये हैं, क्रोध क्यों करेंगे।

(३) 'सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू।'—बराबर साथ रहने पर कभी स्वभाव-भेद से अनादर का कारण आ जाता है, पर मैं बराबर साथ रहा, तो भी कभी मेरा मन न तोड़ा।

(४) 'हारेहु खेल जितावहि मोही।'—भाव यह कि अब भी माता की करनी से मेरी हार हुई है इसमें भी मुझे जिताया, क्योंकि त्याग न करके आदर किया और मेरे अनुकूल हो गये।

यहाँ तक स्वामी का स्वभाव और अपनी कृतज्ञता कही, आगे अपनी रीति कहते हैं—

(५) 'महूँ सनेह सकोच-बस'''—भाव यह कि कभी कोई बात पूछने की इच्छा होती थी, तब भी सामने शिर उठाकर बात नहीं की; यथा—"नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥" (उ० दो० ३५); कभी ऐसा अवसर ही नहीं आया कि सम्मुख होऊँ, तो आज कैसे बात करूँ। तब आये ही क्यों? इसपर कहते हैं—'दरसन तृपिति न''' अर्थात् दर्शनों के लिये दौड़ा आया और आपत्काल के कारण बात कहनी पड़ रही है; यथा—"छोटेहु ते छोह करि आये मैं सामुहें न हेरो। एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो॥" (गी० अ० ७३)।

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥१॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥२॥
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥३॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥४॥

शब्दार्थ—बीच'''पारा = भेद डाल दिया, पार्थक्य कर दिया। प्रसवना = पैदा करना।

अर्थ—ब्रह्मा मेरा दुलार न सह सका (ईर्ष्यावश) उस नीच ने नीच माता के बहाने भेद डाल दिया॥१॥ यह भी कहते हुए आज मुझे शोभा नहीं, (क्योंकि) अपनी समझ से कौन साधु और पवित्र हुआ है? अर्थात् कोई नहीं॥२॥ 'माता नीच और मैं साधु सदाचारी हूँ, ऐसा हृदय में लाने से करोड़ों कुचालों (की तुल्यता) है।३॥ क्या कोदो की बाली में सुन्दर धान फलता है? क्या काली घोंघी में मोती पैदा हो सकता है?॥४॥

विशेष—(१) 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा।'—आपका स्नेह और कृपा दैव से न सहा गया। इससे उस नीच ने माता के बहाने भेद डाला, यथा—"बिघन मनावहि देव कुचाली।" (दो० ११), "बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।" (दो० २०१), 'नीच' को विधि का विशेषण

इससे समझा गया कि पूर्व कहा है; यथा—"ऊँच निवास नीच करतूती।" (दो० ११); माता का भी विशेषण माना गया, क्योंकि आगे—'मातु मंद मैं···' कहा ही है। यदि 'नीच' को 'बीच' का ही विशेषण मानें, तो अर्थ होगा कि छोटे को बड़ा पद और बड़े का निरादर कराके नीचा पद दिया, जिससे कुल में दाग लगाया; यह नीच रीति का बीच (भेद) है।

(२) 'यहउ कहत मोहि आजु न सोभा।···'—माता मंद है, किंतु मैं साधु सुचाली हूँ, यह किसी के विश्वास योग्य नहीं है, इसीसे यह कहने में मेरी शोभा नहीं है। जो बात औरों के विश्वास योग्य न हो, वह अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा के विषय में कभी प्रामाणिक नहीं हो सकती। इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(३) 'फरइ कि कोदव बालि···'—कोदव कदन्न (निषिद्ध अन्न) है और सुशालि देवान्न है। कोदव रूपा निषिद्ध-वृत्ति-माता से उत्पन्न मैं सुशालि की तरह साधु-सुचाली नहीं हो सकता। काई सेंवार आदि के समीपवाले घोंघे काले हो जाते हैं, उससे मोती कभी नहीं हो सकता, वैसे मंथरा आदि के संसर्गवाली कैकेयी से साधु-सुचाली पुत्र नहीं हो सकता।

यहाँ तक माता के संबंध से अपनेको दोषी कहा। आगे केवल अपनेको ही दोषी कहते हैं और उपर्युक्त विधि और माता को निर्दोष कहते हैं।

सपनेहुँ दोसक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥५॥
बिनु समुझे निज-अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू ॥६॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥७॥
गुरु गोसाइँ साहिब सिय-रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥८॥

दोहा—साधु-सभा-गुरु-प्रभु निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ ॥२६१॥

शब्दार्थ—दोसक = दोष का। लेस = संसर्ग, लगाव। अवगाहू = अथाह। परिपाक = फल, पूर्णता। गोसाइँ = इन्द्रियों के स्वामी, समर्थ। काकु = व्यंग्य।

अर्थ—स्वप्न में भी किसी को दोष का लगाव नहीं है, मेरा अभाग्य-समुद्र अथाह है ॥५॥ अपने पापों का फल बिना समझे हुए मैंने व्यर्थ माता को व्यंग्य वचन कहकर जलाया ॥६॥ हृदय में सब ओर खोज कर सभी ओर से हार गया, एक ही प्रकार से भले ही मेरा भला जान पड़ता है ॥७॥ कि गुरुजी गोस्वामी हैं और श्रीसीतारामजी स्वामी (इष्ट देव) हैं, इससे मुझे परिणाम अच्छा लगता है ॥८॥ साधु-समाज, गुरु और प्रभु के समीप श्रेष्ठ स्थल चित्रकूट में सद्भाव से कहता हूँ, प्रेम है वा कपट, झूठ है वा सत्य, इसे तो मुनि और रघुराज श्रीरामजी जानते हैं ॥२६१॥

विशेष—(१) 'मोर अभाग उदधि···'; यथा—"मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सब उत्पात भयेउ जेहि लागी॥" (दो० २००)। 'बिनु समुझे निज···'—अपने ही बुरे कर्मों के फल-भोग

का समय प्राप्त है ; यथा—"कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१) ; इसे न समझकर व्यर्थ ही माता को व्यंग्य एवं कठोर वचन कहा ; यथा—"पापिनि सबहि भाँति कुल नासा।···" से "राम बिरोधी हृदय ते···" (दो० १६०-१६२)।

(२) 'हृदय हेरि हारेउँ···'—उपर्युक्त अभाग्य-सिंधु से पार पाने के लिये और कोई उपाय न मिला, यही एकमात्र उपाय है—'गुरु गोसाइँ···'।

(३) 'साधु-सभा-गुरु प्रभु···'—इन चारों स्थलों में झूठ बोलना महापाप है, दूसरे इनके समक्ष में कपट प्रकट भी हो जाता है। साधु, गुरु और प्रभु सर्वज्ञ हैं तथा उत्तम स्थल चित्रकूट में त्रिदेव को भी कपट-छल छोड़ना पड़ा है ; यथा—"जहँ जनमें···बिधि हरि हर परिहरि प्रपंच छल।" (वि०)

भूपतिमरन प्रेम पन राखी। जननी कुमति जगत सब साखी॥१॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर-नर-नारी॥२॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला॥३॥
सुनि बन - गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लखन-सिय-साथा॥४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये॥५॥

अर्थ—प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये राजा का मरण और माता की कुमति (दोनों) का सारा जगत् साक्षी है॥१॥ माताएँ व्याकुल हैं, अतएव देखी नहीं जातीं, श्रीअवधपुर के स्त्री-पुरुष दुस्सह ज्वर से जल रहे हैं॥२॥ इन सब अनर्थों का मूल (कारण) मैं ही हूँ, यह सुन समझकर सब दुःख सहता हूँ॥३॥ श्रीरघुनाथजी मुनि-वेष बनाकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को साथ लेकर, बिना जूतियों के पैदल ही वन को गये, यह सुनकर श्रीशंकरजी साक्षी हैं कि ऐसे घाव से भी मैं जीता रह गया॥४-५॥

विशेष—(१) 'भूपतिमरन प्रेम पन राखी। ··'—'प्रेम पन' के यहाँ दो अर्थ हो सकते हैं—प्रेम-प्रण और प्रण (अर्थात् सत्य का प्रण)। प्रेम का प्रण ; यथा—"सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥" (दो० १५५) ; सत्य का प्रण—सत्य-प्रण की रक्षा में श्रीराम-वियोग हुआ और फिर प्रेम-प्रण की रक्षा में शरीर-त्याग।

(२) 'महीं सकल अनरथ कर मूला।'—'सकल' उपर्युक्त 'भूपति मरन' 'जननी कुमति' 'बिकल महतारी' 'जरहिं दुसह जर पुर नरनारी' इन सब अनर्थों का कारण मैं ही हूँ। माता की कुमति मेरे राज्य के लिये हुई, उसीसे शेष सब अनर्थ हुए।

'सो सुनि समुझि···'—माता से सुना और स्वयं समझा ; यथा—"हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥" (दो० १६०) ; अब मैं सब अनर्थों का कारण हूँ, तो कहूँ किससे ? विवश होकर सब सहा; अर्थात् व्यथाएँ तो बहुत हैं, पर ये सब अपने ही कर्मों के फल हैं, अतः इन्हें भोगना पड़ा।

(३) 'संकर साखि रहेउँ येहि घाये।'—शूल तो उपर्युक्त कारणों से ही हुआ था, पर अब यह जाना कि बिना जूती और पैदल ही मुनि-वेष से वन को गये, तब अत्यन्त पीड़ा हुई। पर प्राण न गये, क्योंकि

अभी शेष हैं। इस बात पर शिवजी की साक्षी दी कि जो यह झूठ हो तो वे हमारा कल्याण न करें, क्योंकि कल्याण-कर्त्ता हैं और कराल दंड दें, क्योंकि कालरूप भी हैं।

> बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू ॥६॥
> अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥७॥
> जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषमबिष तामस तीछी ॥८॥

> दोहा—तेइ रघुनंदन लखन सिय, अनहित लागे जाहि।
> तासु तनय तजि दुसह दुख, दैव सहावइ काहि ॥२६२॥

शब्दार्थ—बेहू (सं० वेध)=छिद्र, छेद। तामस=तमोगुण प्रकृतिवाली। तीछी=तीक्ष्ण।

अर्थ—फिर निषाद का स्नेह देखकर वज्र से भी कठोर हृदय में छिद्र न हुआ; अर्थात् वह फट न गया ? ॥६॥ अब आकर सब आँखों से देखा; यह जड़ जीव सब सहकर जीता है ॥७॥ जिन्हें देखकर मार्ग की तीक्ष्ण तामसी साँपिनें और बिच्छियाँ अपने कठिन विष त्याग देती हैं ॥८॥ वे ही श्रीरघुनन्दन, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी जिसे शत्रु जान पड़े, उसके पुत्र को छोड़कर दैव यह दुःसह दुःख और किसे सहावे ? अर्थात् मैं ही इसके योग्य पात्र हूँ ॥२६२॥

विशेष—(१) 'बहुरि निहारि निषाद ···'—निषाद हिंसक-जाति होने से कठोर हृदय के होते हैं, उस जाति के 'गुह' का तो उनपर इतना प्रेम और मुझ-भाई की ओर से ऐसे अनर्थ उन्हीं पर किये गये। उसका ऐसा प्रेम आँखों से देखा कि वह आपके लिये प्राण देने को उपस्थित था। (इससे जान पड़ता है कि जब निषादराज ने अपने परिजनों को श्रीभरतजी के मित्र-भाव होने का संकेत दिया, तब स्वाभाविक चतुर राजकुमार श्रीभरतजी ने उसकी तैयारी जान ली थी और वे उसका आशय भी जान गये थे।)

'कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू।'—कर्म शेष से प्राण न निकले, तो कलेजा तो फट जाना चाहिये, पर वह भी न हुआ, क्योंकि वह वज्र से भी कठोर है।

'सहेउँ सब सूला'—'रहेउँ तेहि घाये' और 'कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू।' इन में उत्तरोत्तर अधिक दुःख होना कहा गया।

(२) 'जियत जीव जड़···'—जीव को जड़ कहा, क्योंकि चेतन होता, तो न सह सकता। 'जियत जीव' का जीते-जी भी अर्थ होता है, इससे भाव होगा कि हम सुनते थे कि मरने पर यम-यातना शरीर से कष्ट भोगाया जाता है, पर वह शरीर बना ही रहता है। वैसे ही मेरे जीते-जी भी दुःख भोग-भोगकर यह शरीर बना ही है।

(३) 'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि '—साँपिनि और बिच्छी स्त्रीलिंग हैं, क्योंकि कैकेयीजी के लिये उपलक्ष्य ये उपमाएँ हैं। यह भी भाव है कि सर्प और बिच्छू की अपेक्षा सर्पिणी और बिच्छी अधिक तीक्ष्ण विषवाली होती हैं। ये तीक्ष्ण तामसी जीव भी श्रीरामजी को देखकर सदा का क्रूर स्वभाव छोड़ देते हैं, पर कैकेयी सदा साथ रहनेवाली और मनुष्य-योनि की है, वह इनसे भी क्रूर-कर्मा निकली कि

सदा प्रेम करती थी और फिर वैर करने लगी। 'सहावँइ काहि' अर्थात् सहा नहीं जाता, पर विवश होकर सहना पड़ता है। यहाँ श्रीभरतजी ने गुरु-आज्ञा से अपने हृदय की ग्लानि कही।

सुनि अति विकल भरत - बरबानी। आरति प्रीति-बिनय नय-सानी ॥१॥
सोकमगन सब सभा खभारू। मनहु कमल - बन परेउ तुपारू ॥२॥
कहि अनेक विधि कथा पुरानी। भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी ॥३॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर - कुल-कैरव-बन - चंदू ॥४॥

अर्थ—आर्त्ति, प्रीति, विनती और नीति में सनी हुई अत्यन्त व्याकुल श्रीभरतजी की श्रेष्ठ-वाणी सुनकर सब शोक में मग्न हो गये, सभा-भर में खँभार (खलबली) पड़ गई, मानों कमल के वन पर पाला पड़ा ॥१-२॥ ज्ञानी मुनि वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार की पौराणिक (वा, प्राचीन) कथाएँ कहकर श्रीभरतजी को समझाया ॥३॥ सूर्यकुल-रूपी कुई-वन के चन्द्र रघुनन्दन श्रीरामजी उचित वचन बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'आरति-प्रीति-बिनय नय-सानी।'—वाणी में चारो बातें मिश्रित हैं, जहाँ तहाँ पृथक्-पृथक् भी हैं, जैसे—"देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नरनारी॥"—आर्त्ति, "प्रेम पन" एवं "निषाद सनेहू।"—प्रीति, "गुरु गोसाईं साहिब सियरामू।···"—विनय और—"करइ कि कोदव···"—नीति है।

(२) 'मनहु कमल-बन परेउ तुपारू।'—पाले से झुलस जाने पर कमल का शिर नीचे को लटक पड़ता है, वैसे ही सभा के शिर शोक से लटक गये हैं, उदासी छा गई है। पहले सब कमल के समान प्रफुल्लित थे कि श्रीभरतजी लौटने को ही कहेंगे। पर उनके शोक-पूर्ण वचनों से सभी दुखी हो रहे, यह भी डरे कि कहीं ऐसी दशा में श्रीभरतजी प्रान न छोड़ दें।

(३) 'कहि अनेक बिधि कथा···'—नल, हरिश्चन्द्र आदि की पुरानी कथाएँ कहीं कि इन सबपर विपत्ति पड़ी और धैर्य धारण करने से दूर हुई। ज्ञानी हैं इससे ज्ञान-विषयक भी कथाएँ कहीं जिनसे शोक दूर हो; यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज॥" (दो० २२०); समझाने के प्रसंग में प्रायः मुनि को ज्ञानी कहा गया है; यथा—"यहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी॥ तब बसिष्ठ मुनि···सोक निवारेउ···" (दो० १५६); तथा—"बैठन सबहिं कहेउ गुरु ज्ञानी॥ ··· मुनिवर बहुरि राम समुझाये॥" (दो० २४९)। श्रीभरतजी अधिक शोकाकुल हैं, अतएव प्रधान श्रोता इन्हीं को कहा गया और सुना समझा तो सब किसीने।

(४) 'बोले उचित बचन रघुनंदू।···'—चन्द्रमा के प्रकाश से कुईं का वन प्रफुल्लित हो जाता है, वैसे श्रीरामजी के इस भाषण से कुल-भर सुखी होगा। इसी प्रसंग के उपसंहार में कहा है—"सत्यसंध रघुवर बचन, सुनि भा सुखी समाज॥" (दो० २९४)। 'रघुनंदू' शब्द से भिन्न दूसरे चरण में 'दिनकर कुल' कहा गया; क्योंकि रघुनाथजी से पृथक् होकर कुलवाले श्रीअयोध्याजी में जाकर रहेंगे।

तात जाय जिय करहु गलानी। ईस-अधीन जीव - गति जानी ॥५॥
तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे ॥६॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई ॥७॥
दोस देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिं सेई ॥८॥

दोहा—मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥२६३॥

शब्दार्थ—पुन्यसिलोक (पुण्यश्लोक)=पवित्र यशवाले, पुण्यात्मा। तर=तले, नीचे।

अर्थ—हे तात! ईश्वर के अधीन जीव की गति जानकर भी हृदय में व्यर्थ ग्लानि करते हो ॥५॥ मेरे मत (विचार) से तीनों कालों और तीनों लोकों के पुण्यात्मा तुम्हारे नीचे हैं; अर्थात् तीनों लोकों में तुम्हारे समान पुण्यात्मा न हुआ, न है और न होगा ॥६॥ हृदय में (भी) तुमपर कुटिलता लाते ही (उसका बना-बनाया) लोक और परलोक नाश हो जाता है ॥७॥ वे ही मूर्ख लोग माता को दोष देते हैं, जिन्होंने गुरु और साधुओं के समाज का सेवन नहीं किया ॥८॥ तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप, प्रपंच (मायिक व्यवहार), सम्पूर्ण अमंगल के बोझ मिट जायँगे, लोक में सुयश और परलोक में सुख प्राप्त होंगे ॥२६३॥

विशेष—(१) 'ईस-अधीन जीव-गति···'—यह—'देखि न जाहिं बिकल महतारी···' का उत्तर है, भाव यह कि ये सब लोग दैवाधीन हैं, अपने-अपने कर्मानुसार ईश्वर के विधान से उन्हें दुःख सहना ही है; इसपर ग्लानि करना व्यर्थ है; यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता २।२७); दैव पर।तो किसी का वश नहीं है।

(२) 'उर आनत'—जो प्रकट कहेंगे, उनकी दुर्गति का तो ठिकाना ही नहीं।

(३) 'दोस देहिं जननिहि जड़···'—यह जगत् की दृष्टि का भाव लेकर जो श्रीभरतजी ने कहा था—"फरइ कि कोदव बालि सुसाली।···" इन बातों का उत्तर है। गुरु-साधु-सभा के सेवन से शील-गुण आता है, तब किसी पर दोष-दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि यह बोध हो जाता है कि अपनी श्रेष्ठता सभी चाहते हैं, पर असमर्थता एवं दैवाधीनता से अवगुणों को नहीं बचा पाते, तो इनका दोष क्या? पुनः साधुओं की यह भी वृत्ति है; यथा—"अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।" (दो० १३०); उनके संग से यह वृत्ति भी आ जाती है। कैकेयी को प्रायः सभी ने दोष दिया है, यहाँ श्रीरामजी ने ही उसे सर्वथा दोष-रहित कहा है, क्योंकि—"नीति प्रीति परमारथ-स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (दो० २५४)।

(४) 'मिटिहहिं पाप प्रपंच···'—ऊपर श्रीभरतजी और श्रीकैकेयीजी को निर्दोष कहा और यह भी कहा कि तुमपर कुटिलता लाने से लोक-परलोक नाश हो जाते हैं। पुनः माता को दोष देनेवाले जड़ हैं, इनमें कैकेयीजी को तो प्रायः सभी ने बुरा-भला कहा, किसी-किसी ने श्रीभरतजी को भी कहा ही है। अतः, उन सबको पाप-मुक्त होने के लिये यह दोहा महामंत्र-रूप कहा है और साथ ही श्रीभरतजी की पवित्रता का भी वर्णन किया। श्रीभरतजी को यह आशीर्वाद है और—"मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" आदि की ग्लानि का निराकरण भी है।

कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी । भरत भूमि रह राउरि राखी ॥१॥
तात कुतरक करहु जनि जाये । बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये ॥२॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं । बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥३॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुषतनु गुन - ज्ञान-निधाना ॥४॥

शब्दार्थ—बाधक=बाधा (हानि) पहुँचानेवाले । बधिक=बध करनेवाले, प्राणहारक ।

अर्थ—हे श्रीभरतजी ! मैं स्वभाव से सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं। पृथिवी तुम्हारे ही रखने से रह सकती है ॥१॥ हे तात ! व्यर्थ ही कुतर्क मत करो, वैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते ॥२॥ (देखिये) मुनियों के पास पक्षी-पशु जाते हैं और बाधा करनेवालों एवं मारनेवालों को देखकर वे भाग जाते हैं ॥३॥ मित्र और शत्रु को तो पशु-पक्षी भी जानते हैं, फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का खजाना है। (अतः, क्यों न जानेगा) ॥४॥

विशेष—(१) 'कहउँ सुभाय सत्य सिव साखी' ; यथा—"जो कीजिये सो सुभ सिव साखी ॥" (दो० २५७)—श्रीवसिष्ठजी, "संकर साखि रहेउँ येहि घाये।" (दो० २६१)—श्रीभरतजी, वैसे ही यहाँ सत्य के प्रतिपादन में श्रीरामजी ने भी शिवजी की ही साक्षी दी है। 'भरत भूमि रह राउरि राखी ।'—ऊपर का भाव तो यह है कि पृथिवी तुम्हारे ही द्वारा स्थिर है ; यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६) ; और अंतरंग भाव यह है कि मैं वचन दे चुका हूँ कि जो कहोगे वही करूँगा । जो मैं वन को न गया तो पृथिवी का भार न उतरेगा, फिर पृथिवी भार से रसातल को चली जायगी। मेरा अवतार इसकी रक्षा के लिये है ; यथा—"प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ।" (बा० दो० २०५) ।

श्रीभरतजी ने कहा था—"चाहिय धरमसील नरनाहू ॥ मोहिं राज हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥" (दो० १७८) ; उसका यहाँ निराकरण है कि पृथिवी तुम्हारे ही धर्म के आधार पर ठहरी हुई है ; यथा—"भरतहि धरम धुरंधर जानी । निज सेवक···" (दो० १५८) ; तथा—"धर्माद्धारयते प्रजाः" यह उक्ति भी है।

(२) 'मुनिगन निकट···'—उपयुक्त—'बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये' को ही समझा रहे हैं। पशु-पक्षी भी शत्रु-मित्र जान लेते हैं ; यथा—"निज हित अनहित पसु पहिचाना ।" (दो० १८) ; मित्र जानकर निकट जाते हैं, शत्रु जानकर दूर भागते हैं और मनुष्य शरीर तो गुण-ज्ञान का खजाना है, तो भला कैसे न जानेगा ? श्रीभरतजी ने कहा था—"प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ।" उसीका यह उत्तर है, आगे भी—'तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके।' कहा है। भाव यह कि मैं पशु-पक्षी से भी गया बीता नहीं हूँ ; तुम्हें जानता हूँ और इसीसे तुम्हारा आगमन जानकर प्रेम-पूर्वक मिलने को यहाँ रहा अन्यथा अन्यत्र चल देता । जैसे अहित जानकर पशु-पक्षी दूर भागते हैं ।

तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके । करउँ काह असमंजस जीके ॥५॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ॥६॥

तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥७॥
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा ॥८॥

दोहा—मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।
सत्य-संध-रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज ॥२६४॥

अर्थ—हे तात ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ, पर क्या करूँ ? हृदय में बड़ी दुविधा है ॥५॥ राजा ने मुझे त्याग कर सत्य को रक्खा और प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये शरीर का त्याग किया ॥६॥ उनका वचन मेटते हुए मन में शोच होता है, पर उससे बढ़कर तुम्हारा संकोच (मुलाहजा) है ॥७॥ उसपर भी गुरुजी ने मुझे आज्ञा दी है; अतः, जो तुम कहो उसे अवश्य मैं करना चाहता हूँ ॥८॥ मन प्रसन्न करके, संकोच छोड़कर कहो, मैं आज वही करूँ, सत्य-प्रतिज्ञ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर समाज सुखी हुआ ॥२६४॥

विशेष—(१) 'तात तुम्हहिं मैं जान ...'—श्रीमुख से कहा गया है—"सुनहु लखन भल भरत सरीसा।..." से "निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥" (दो० २३०–२३१); तक। इसपर देवताओं ने कहा है—"कपि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥" (दो० २३२)।

(२) 'करउँ काह असमंजस जीके।'—इस दुविधा में पड़ा हूँ कि मैं पिता को प्राण से भी अधिक प्रिय था, उन्होंने सत्य-रक्षा के लिये मेरा त्याग किया, पर सत्य का नहीं, ऐसे वे सत्य प्रिय थे। पुनः उन्होंने मेरे प्रेम के निर्वाह में अपने प्राण निछावर कर दिये, तब उनके वरदान की पूर्ति मुझे करनी ही चाहिये। (जैसे कि गी० अ० ७२ में विस्तार से कहा है।) ऐसे पिता के वचन मेटने में संकोच होता है। दूसरी तरफ तुम्हारा शील-संकोच उससे भी अधिक है। अधिक के कई कारण कहे जाते हैं—(क) राजा ने लोक-लज्जा से एवं सत्य-धर्म की रक्षा के लिये श्रीरामजी का त्याग किया और श्रीभरतजी ने माता-पिता-गुरु आदि के वचनों (सामान्य धर्म) को त्यागकर अनन्य परम भागवत धर्म को ही रक्खा; यथा—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।......" इस गीता के चरम वाक्य में कहा है। इस भक्ति के नाते श्रीभरतजी का संकोच अधिक है; यथा—"मानो एक भगति कर नाता।" (आ० दो० ३४); (ख) राजा युवराज पद ही देते थे, वह भी चौथे पन तक राज्य भोगकर, और ये सम्पूर्ण राज्य दे रहे हैं; अपने से छुआ भी नहीं। (ग) पिता ने तन दिया, ये सर्वस्व धन दे रहे हैं। तन की अपेक्षा सर्वस्व धन देना अधिक कहा गया है, यथा—"सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः। न तथा तीर्थमायाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥" (भाग० ८।२०।१); यह बलि ने कहा है कि युद्ध से न लौटकर वहाँ तन देना सुलभ है, पर सत्पात्र के उपस्थित होने पर श्रद्धापूर्वक धन त्याग करना दुर्लभ है, इत्यादि।

(३) 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि...'—माता की करनी के कारण ग्लानि है, वह (माता) निर्दोष है, अतः मन प्रसन्न करो। पुनः मैं तुम्हारे अनुकूल मानने का वचन दे चुका हूँ, इससे भी प्रसन्न हो जाओ। संकोच यह कि मैं बड़े को आज्ञा कैसे दूँ! यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बैन।"

(दो० २६०); यह संकोच भी छोड़ दो, क्योंकि मैं स्वयं कहने को कहता हूँ। और—"तापर गुरु मोहिं आयसु दीन्हा।···" (ऊपर कहा गया); अर्थात् उसे न मानने में गुरु-अवज्ञा होगी। इससे मैं निस्संदेह मानूँगा। अतः, प्रसन्न मन से कहो। 'आजु' अर्थात् १४ वर्ष बीतने पर नहीं, किंतु आज ही करने को तैयार हूँ।

(४) 'सत्य-संध-रघुबर ···'—श्रीरामजी सत्य-पालन में दृढ़व्रत हैं; यथा—"सत्यवाक्यो दृढ़-व्रतः।" (वाल्मी० मू०); और श्रीभरतजी लौटाने आये ही हैं, अभी कहेंगे और श्रीरामजी लौट चलेंगे, यह अनुमान कर समाज सब सुखी हो गया और यही समझकर देवता डर गये, वह आगे कहते हैं—

सुरगन-सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू ॥१॥
बनत उपाय करत कछु नाहीं। रामसरन सब गे मन माहीं ॥२॥
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं ॥३॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा ॥४॥
सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा। नरहरि किये प्रकट प्रहलादा ॥५॥

अर्थ—देवगण के साथ देवराज इन्द्र डरकर सोच रहे हैं कि अब अकाज होना चाहता है ॥१॥ कुछ उपाय करते नहीं बनता, मन में सब श्रीरामजी की शरण में गये ॥२॥ फिर विचार कर वे एक-दूसरे से कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी भक्त की भक्ति के वश हैं ॥३॥ अम्बरीष और दुर्वासा की सुधि करके देवता और देवराज नितान्त निराश हो गये ॥४॥ (फिर कहने लगे कि) देवताओं ने बहुत समय तक दुःख झेला (परन्तु) नृसिंह भगवान् को प्रह्लादजी ने ही प्रकट किया ॥५॥

विशेष—(१) 'सुरगन सहित सभय ···'—इस कांड-भर में हर्ष और शोक के लिये दो स्थान हैं—स्वर्ग और श्रीअवध। जब श्रीअवधवासी प्रसन्न होते हैं, तब देवता दुखी होते हैं और जब देवता प्रसन्न होते हैं, तब श्रीअवधवाले दुखी होते हैं। यहाँ अब देवताओं के डरने की पारी आई है। देवगण गौण हैं, डर में इन्द्र प्रधान है, क्योंकि यह राजा है, इसे मेघनाद बाँध लाया था, इससे मान-हानि का भारी दुःख है। 'अकाज' यह कि श्रीरामजी वन तक आकर भी लौट जायँगे। सोचते हैं कि सम्मुख जाकर प्रार्थना करने से ऐश्वर्य खुलने और ब्रह्माजी का वचन झूठा होने का भय है। श्रीभरतजी का भी भय है कि उनका मनोरथ भंग होने से भागवतापराध होगा। रावण का भय तो है ही। सोचते हैं कि क्या करें, भक्त पर माया नहीं लगेगी; यथा—"माया पति सेवक सन-माया। करइ त उलटि परइ सुरराया ॥" (दो० २१७); यह बृहस्पतिजी ने पहले ही समझा रक्खा है। इससे कुछ उपाय करते नहीं बनता।

(२) 'रामसरन सब गे मन माहीं।'—मन से ही प्रपत्ति की, क्योंकि प्रकट जाने और दंड-वत् करने में उपर्युक्त भय है; पुनः श्रीअवधवासी बुरा मानेंगे।

(३) 'बहुरि बिचारि परसपर ···'—श्रीरामजी की शरण तो श्रीभरतजी भी हैं ही, प्रभु भक्तों के प्रेम-वश हैं, तब उनके आगे हमारी शरणागति व्यर्थ हो जायगी; क्योंकि हमलोग स्वार्थ के लिये शरण हुए और श्रीभरतजी निष्काम हैं। इससे भी उनके विपक्ष में हमारी न चलेगी, इसीके उदाहरण कहते हैं—

(४) 'सुधि करि अंबरीष दुरबासा ।···'—दुर्वासा मुनि श्रीअंबरीष भक्त के विपक्षी बनकर भगवान् की शरण गये, तब उन्होंने कोरा उत्तर दे दिया, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥···" इत्यादि, इनकी कथा दो० २१७ चौ० ७ में देखिये। दूसरा प्रमाण श्रीप्रह्लाद भक्त का देते हैं कि देवताओं के बहुत काल के विषाद पर आपने ध्यान नहीं दिया और श्रीप्रह्लादजी की पुकार पर तुरत खंभ फोड़कर प्रकट हो गये। इसी तरह यहाँ भी श्रीभरतजी के आगे हमारी सुनवाई न होगी।

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा॥६॥
आन उपाय न देखिय देवा। मानत राम सुसेवक सेवा॥७॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहिं। निज गुन-सील रामबस करतहि॥८॥

दोहा—सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ, भल तुम्हार बड़ भाग।
सकल सुमंगल-मूल जग, भरत-चरन-अनुराग॥२६५॥

अर्थ—शिर पीटकर कानों से लगकर (वे परस्पर) कहते हैं कि अब देवताओं का कार्य श्रीभरतजी के हाथ है॥६॥ हे देवताओ! और उपाय नहीं देख पड़ता। श्रीरामजी अपने अच्छे सेवक की सेवा को मानते हैं; अर्थात् उसपर प्रसन्न होते हैं, उस सेवा का मान करते हैं॥७॥ अपने गुण-शील से श्रीरामजी को वश करनेवाले श्रीभरतजी का प्रेम-सहित हृदय से स्मरण करो॥८॥ देवताओं का यह मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—भला किया, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं, (क्योंकि) जगत् में श्रीभरतजी के चरणों का प्रेम सब सुंदर मंगलों का कारण है॥२६५॥

विशेष—(१) 'लगि लगि कान···'—उपर्युक्त दो प्रमाणों से निश्चय कर लिया तब शिर पीटकर अपना अभाग्य जनाते हैं, मानों अभाग्य की रेखाओं को मिटाते हैं। कानाफूसी करते हैं; क्योंकि डर है कि कहीं कोई श्रीभरतजी के पक्ष का न सुन ले, तो स्वार्थ की हानि होगी। वा, रावण हो को पता लग जाय कि श्रीरामजी को तो श्रीभरतजी लौटाये जाते थे, पर देवताओं की प्रेरणा से ही इधर आ रहे हैं, तब वह और कष्ट देगा।

(२) 'आन उपाय न···'—देवता जब दुखी होते हैं, तब भगवान् की शरण में पुकार करते हैं। यहाँ वह उपाय भी न रह गया, क्योंकि रघुवर भक्त के वश हो रहे हैं। अतः, भक्त के विरुद्ध कुछ न सुनेंगे। तब हृदय से श्रीभरतजी का ही सप्रेम स्मरण किया जाय। 'सब' एक साथ और 'सप्रेम' स्मरण करो जिससे शीघ्र सफलता हो। 'मानत राम···'—से यह भी जनाया कि भक्त की सेवा का फल वे स्वयं देते हैं, भक्त की ओर से दिये जाने का प्रयोजन नहीं; यथा—"सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि ··" (हनु० बाहुक)।

(३) 'सकल सुमंगल मूल···'—श्रीभरतजी विश्व के भरण-पोषण करनेवाले हैं। अतः, इनकी भक्ति से अवश्य मंगल होगा।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु - सय सरिस सोहाई ॥१॥
भरत - भगति- तुम्हरे मन आई। तजहु सोच बिधि बात बनाई ॥२॥
देखु देवपति भरतप्रभाऊ। सहज-सुभाय-बिबस रघुराऊ ॥३॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जानि राम - परछाहीं ॥४॥
सुनि सुर - गुरु - सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सकोचू ॥५॥

अर्थ—सीतापति श्रीरामजी के सेवक की सेवा सैकड़ों उत्तम कामधेनुओं के समान सुन्दर है ॥१॥ तुम्हारे मन में श्रीभरतजी की भक्ति आई है, (अतः) शोच छोड़ दो, विधाता ने बात बना दी ॥२॥ हे देवराज! श्रीभरतजी का प्रभाव देखो कि उनके सहज स्वभाव से रघुराज श्रीरामजी उनके विशेष वश में हैं ॥३॥ हे देवताओ! श्रीभरतजी को श्रीरामजी की परछाँई (प्रतिरूप) जानकर मन को स्थिर करो, डर नहीं है ॥४॥ देव-गुरु और देवताओं का सम्मत सुनकर अंतर्यामी प्रभु को शोच और संकोच हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सीतापति सेवक…'; यथा—"जो सीतापति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (दो० १४३)। भाव यह कि श्रीभरतजी की ही नहीं, कोई भी सीतापति-सेवक क्यों न हो, सबकी सेवा का फल सैकड़ों कामधेनुओं के समान है। देवलोक की कामधेनु सुन्दर नहीं है; क्योंकि वह अर्थ आदि तीन ही फल देती है और भक्तों की सेवा से चारों फल मिलते हैं; यथा—"लहहिं चारि फल अछत तन, साधु समाज प्रयाग।" (बा० दो० २)—वह अनित्य ही फल देती है और यह नित्य।

(२) 'देखु देवपति…'—पहले श्रीभरतजी में इनकी कुबुद्धि जानकर इन्हें अन्धा माना था; यथा—"सहस नयन बिनु लोचन जाने।" (दो० २१७) और अब श्रीभरत-भक्ति देखकर इन्हें आँखवाला माना, इसीसे 'देखु' कहा।

'सहज सुभाय…'—औरों के कई जन्मों के साधनों से भी वश नहीं होते, पर श्रीभरतजी के सहज स्वभाव से ही श्रीरामजी वश में हैं। मनु को कई हजार वर्ष कठिन तप करने पड़े हैं, तब उनके वश होकर उनका पुत्रत्व ग्रहण किया है और यहाँ तो विशेष वश हैं।

(३) 'भरतहिं जानि राम परछाहीं।'—मनुष्य की परछाँई उसके ही अधीन रहती है, वैसे ही श्रीभरतजी श्रीरामजी के अधीन हैं, उन्हीं के मन की करेंगे; यथा—"जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥" (दो० १४०)। 'अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू'—प्रभु अंतर्यामी हैं, इससे देवगुरु और देवताओं का सम्मत जान लिया, भले ही वे 'लगि लगि कान' कहते थे। इसीसे प्रभु को संकोच है कि श्रीभरतजी को भक्ति का फल देवताओं को अवश्य मिलना चाहिये और इधर श्रीभरतजी का भी मन न टूटे, दोनों कैसे हों?

निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटिबिधि उर अनुमाना ॥६॥
करि बिचार मन दीन्ही ठीका। रामरजायसु आपन नीका ॥७॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥८॥

दोहा—कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब विधि सातानाथ ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज-जुग-हाथ ॥२६६॥

शब्दार्थ—दीन्ही ठीका=दृढ़ निश्चय किया, ठीक देना=मन में पक्का करना; यथा—"नाके के ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दूको।" (क० उ० ८८)।

अर्थ—श्रीभरतजी ने हृदय में अपने ही शिर पर सारा भार देखा, तब वे करोड़ों प्रकार के अनुमान मन में करते हैं ॥६॥ विचार करके मन में पक्का निश्चय किया कि श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला है ॥७॥ श्रीरामजी ने अपना प्रण छोड़कर मेरे प्रण को रक्खा, यह छोह (ममत्व) और स्नेह कुछ थोड़ा नहीं किया ॥८॥ सीतानाथ श्रीरामजी ने (मुझपर) सब तरह से अत्यन्त और अपरिमित कृपा की, दोनों करकमलों को जोड़कर और प्रणाम करके श्रीभरतजी बोले ॥२६६॥

विशेष—(१) 'निज सिर भार भरत…'—सभा का प्रसंग—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु…' पर छूटा था। बीच में सुर-सम्मत कहा गया, अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं। गुरुजी ने श्रीरामजी पर भार दिया, उन्होंने फिर गुरुजी पर ही धर दिया। तब गुरुजी ने श्रीभरतजी की ओर संकेत करके लौटा दिया, फिर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी पर ही रख दिया, यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई ॥ मन प्रसन्न करि…' श्रीभरतजी ने इसे जाना कि श्रीरामजी के उपर्युक्त असमंजस निवृत्ति का भार, श्रीरामजी की सत्य-प्रतिज्ञा-रक्षा का भार एवं प्रजा के दु:ख-निवृत्ति-सहित उन्हें सुख पहुँचाने का भार इत्यादि श्रीरामजी के भाषण के सभी भार मेरे शिर पर हैं। इन सबके विषय में मुझे ही कहना होगा। 'करत कोटि बिधि उर…'—अभी तक केवल अपने ही स्वार्थ पर दृष्टि थी, अब तो सब बातों की ओर ध्यान देना पड़ा, इससे बहुत प्रकार के अ मान करने पड़े।

(२) 'करि विचार जिय…'—श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला है, गोष्ठी में यही बात गुरुजी ने भी कही थी; यथा—"करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥ राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।" (दो० २५४)।

'रजायसु'—श्रीरामजी राजा हैं, उनकी आज्ञा में हम सबका भला होगा। 'सकल सयाने एक मत' की कहावत चरितार्थ हुई। स्वामी की आज्ञा का पालन एक विशिष्ट सेवा है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००), यही विचार करके ठीक किया।

(३) 'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'—मन में विचारते हैं कि श्रीरामजी ने अपना प्रण तो पिता की आज्ञा पालन के लिये किया था; यथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥" (वाल्मी० २। १८। ३०)। इस ग्रंथ में भी कैकेयी से, पिता से, माता कौशल्या और प्रजा एवं निषाद आदि से १४ वर्ष वनवास के लिये कहा है। उसे त्यागने पर भी उद्यत हो गये; यथा—'कहहु करउँ सोइ आज।' यह निश्चय है कि मैं श्रीअयोध्याजी से यही निश्चय करके आया हूँ कि श्रीरामजी को लौटा लाऊँगा। अन्तर्यामी प्रभु ने जानकर भी मुझे ऐसा वचन दिया। इससे

अधिक कृपा और क्या हो सकती है ! परमा शक्ति श्रीसीताजी के स्वामी होकर भी मेरे वश हो रहे हैं, तो अब मुझे क्या कर्त्तव्य है ? यही विचारते हुए अपना ही प्रण छोड़ना अच्छा समझा और श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला माना। यही आगे कहते हैं—

(४) 'सब बिधि'—मुझे निर्दोष किया, महत्त्व दिया और मेरा दुलार रक्खा।

भरत-भाषण [२]

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अंबुनिधि अंतरजामी ॥१॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला ॥२॥
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोष देव दिसि भूले ॥३॥
मोर अभाग मातुकुटिलाई। बिधिगति बिषम काल-कठिनाई ॥४॥
पाउँरोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला ॥५॥

शब्दार्थ—समूले = कारण सहित, जड़ सहित। पाँव रोपना = प्रतिज्ञा करना, अड़ जाना।

अर्थ—हे स्वामी ! हे कृपासिंधु !! हे अंतर्यामी !!! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलाऊँ ? ॥१॥ गुरुजी को प्रसन्न और स्वामी को अपने अनुकूल पाकर मेरे मलिन मन की गढ़ी हुई व्यथा मिट गई (जो वास्तविक न थी) ॥२॥ मैं अपने व्यर्थ डर से डर गया था, शोच जड़ समेत न था; अर्थात् शोच का कोई कारण ही न था। हे देव ! स्वयं दिशा भूल जाय तो सूर्य का दोष नहीं; अर्थात् डर की बातें मैंने ही कल्पना कर ली थीं, पर आपकी ओर से वे बातें कुछ न थीं ॥३॥ मेरा अभाग्य, माता की कुटिलता, विधि की टेढ़ी चाल और काल की कठिनता ॥४॥ इन सबने मिलकर प्रतिज्ञापूर्वक मुझे नष्ट कर डाला था, पर हे शरणागतरक्षक ! आपने अपने प्रणत-पाल प्रण को रक्खा, अर्थात् मुझ प्रणत की रक्षा की ॥५॥

विशेष—'कहउँ कहावउँ का ...'—स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का धर्म है, कहना (आज्ञा देना) नहीं। कृपा के समुद्र स्व ही सेवक पर कृपा करेंगे और अंतर्यामी स्वतः जानते हैं, तो कहना और कहलाना व्यर्थ ही है। मेरा हित आप स्वयं करेंगे।

(२) 'गुरु प्रसन्न साहिब...'—शूल पहले कहे गये; यथा—"भूपति मरन प्रेम पन राखी।...सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला।.. जियत जीव जड़ सबइ सहाई॥" (दो० २६१) उनकी निवृत्ति यहाँ की गई।

(३) 'अपडर डरेउँ न सोच समूले।'—'अपडर'; यथा—"राम-लखन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥ मातु मते महँ मानि मोहिं, जो कुछ कहहिं सो थोर।" (दो० २६३); 'समूले'—इस डर के मूल प्रभु हैं, उनकी ओर से कुछ बात न थी, पर मैंने ही कल्पना कर ली थी। जैसे कि सूर्य तो सदा पूर्व ही से उदय होते हैं, पर जिसे दिशा-भ्रम होता है, वह कहता है कि पश्चिम में उदय हुए हैं; यथा—"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सोइ कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥" (उ० दो० ७१)

भाव यह कि आप तो सदा मुझपर एकरस कृपा करते ही रहे, पर मैंने ही भ्रम से भय की कल्पना कर ली थी कि आप मुझपर अप्रसन्न होंगे, मेरा त्याग करेंगे।

(३) 'मोर अभाग मातु-कुटिलाई।'—'अभाग'; यथा—"अपनेहुँ दोषक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥" (दो० २६०); 'मातु कुटिलाई'; यथा—"जननी कुमति जगत् सब साखी।" (दो० २११); "विधि गति विषम'; यथा—"विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥" (दो० २६०); काल कठिनाई'; यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।" (दो० २५२) इत्यादि सब श्रीभरतजी ने ही पहले कहा है। मेरे अभाग्य के उदय से माता में कुटिलता आई, जिससे आपको वनवास हुआ। पुनः अशुभ कर्मों के उदय में विधि की गति विषम हुई। उन्हीं कर्मों के भोग का काल कठिन हो गया।

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु बेद बिदित नहिं गोई॥६॥
जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाईं॥७॥
देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥८॥

दोहा—जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥२६७॥

अर्थ—आपकी यह नई रीति नहीं है; अर्थात् सदा से चली आती है। लोक और वेद (दोनों) में प्रकट है, छिपी नहीं है॥६॥ जगत बुरा है, हे गोसाईं! एक आप ही भले हैं, (अन्यथा फिर) आप ही कहिये कि किसकी भलाई से भला होता है॥७॥ हे देव! आपका स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है, सबको सम्मुख है, किसी को कभी भी विमुख (प्रतिकूल) नहीं है॥८॥ उस वृक्ष को पहचानकर उसके निकट जाय, तो उसकी छाया सब शोच को नाश करनेवाली है। जगत् भर के राजा, रंक, भले, बुरे सभी माँगते ही मनोरथ पाते हैं॥२६७॥

विशेष—(१) 'जग अनभल भल एक···'—ऊपर—"मोर अभाग मातु कुटिलाई।···" आदि चार ही कहे गये और उनसे प्रभु का रक्षकत्व कहा गया। उसी को लेकर श्रीभरतजी कहते हैं कि चार ही नहीं, जगत् भर जीव का अनभला ही है, एक आप ही की भलाई से सबका भला होता है, यथा—"ह्वै है जब तब तुमहिं ते तुलसी को भलेरो।" (वि० २७२); "रावरी भलाई सब ही की भली भई।" (वि० २५२)।

(२) 'देव देवतरु-सरिस सुभाऊ।'—कल्पवृक्ष की छाया में कोई भी जाय, वह सबके सम्मुख ही रहता है, वैसे ही आप शत्रु-मित्र सभी के सम्मुख ही रहते हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख-काति॥" (वि० २३१)। आप शरण लेने में हित-अहित का विचार नहीं करते। यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८२)। "बैरिउ राम बड़ाई करहीं।" (दो० ११२ ; "बयर भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी।" (लं० दो० १११) इत्यादि। 'पहिचानि तरु'—जाने बिना प्रतीति न होगी और प्रतीति बिना प्रीति न होगी, फिर प्रीति बिना भक्ति

कहाँ ? जानेगा, तभी सम्मुख होगा ; यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ। प्रभु भंजन भव भीर।" (सुं० दो० ४५) विभीषणजी ने हनुमान्‌जी से जाना, तब आकर शरण हुए।

लखि सब बिधि-गुरु - स्वामि-सनेहू। मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू ॥१॥
अब करुनाकर कीजिय सोई। जन-हित प्रभु-चित छोभ न होई ॥२॥
जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥३॥
सेवक - हित साहिब - सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥४॥
स्वारथ नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका ॥५॥
यह स्वारथ - परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥६॥

अर्थ—सब तरह से गुरु और स्वामी का (अपने विषय में) स्नेह देखकर मन का क्षोभ (उद्वेग) मिट गया, मन में संदेह नहीं रह गया ॥१॥ हे करुणाकर ! अब वही कीजिये, जिससे दास के लिये (वा, दास का हित हो और) प्रभु के चित्त में उद्वेग न हो ॥२॥ जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना हित चाहे, उसकी बुद्धि नीच है ॥३॥ सेवक का हित तो इसीमें है कि समस्त सुख और लोभ को छोड़कर स्वामी की सेवा करे ॥४॥ हे नाथ ! आपके लौटने में सभी का स्वार्थ है और आज्ञा (के पालन) करने में करोड़ों प्रकार का भला है ॥५॥ यही स्वार्थ और परमार्थ का सार है, सब पुण्यों का फल और सब शुभ गतियों का शृंगार है ॥६॥

विशेष—(१) 'लखि सब बिधि-गुरु···'—गुरु का स्नेह ; यथा—"राउर जापर अस अनुरागू।" "कृपा सिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय कै बात॥" (दो० २५९); स्वामी का स्नेह ; यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥" (दो० २६५)। नहिं मन संदेहू, अर्थात् प्रभु मेरा नाम सुनकर अन्यत्र न चल दें—ऐसा जो संदेह था, वह मिट गया।

(२) 'जन हित प्रभु चित···'—मेरा क्षोभ आपने दूर किया, तब मेरा धर्म ऐसा नहीं होना चाहिये कि मेरे निमित्त प्रभु के चित्त में क्षोभ हो ; क्योंकि—

(३) 'जो सेवक साहिबहि···'—अर्थात् सेवक का स्वार्थी होना भारी दोष है, इसलिये—

(४) 'सेवक हित ··'—शरीर के सुख और धन का लोभ मन से त्याग दे। उपर्युक्त 'निज हित चहइ'—में वचन से चाह करना (माँगना), वचन का दोष कहा गया है, उसे भी त्याग दे और शुद्ध मन, वचन और तन से सेवा करे; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (दो० ३००)।

(५) 'स्वारथ नाथ फिरे···'—'सब ही का' अर्थात् माता, मंत्री, प्रजा आदि का ; क्योंकि यही सब चाहते हैं और आपकी आज्ञा का पालन करोड़ों प्रकार से अच्छा है, क्योंकि यह परमार्थ है। 'कोटि बिधि' का गुप्तार्थ भू-भार-हरण आदि लेने से 'कोटि बिधि' बहुत उपयुक्त है।

(६) 'यह स्वारथ-परमारथ सारू।···'—'यह'—आपकी आज्ञा का पालन। यहाँ 'सकल सुकृत फल' से कर्म का, 'परमारथ सारू' से ज्ञान का और 'सुगति' से भक्ति का शृंगार कहा गया है। शृंगार ; यथा—"संत सुमति तिय सुभग सिंगारू। (बा० दो० ३१)।

देव एक विनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥७॥
तिलक समाज साजि सब आना । करिय सुफल प्रभु जौं मन माना ॥८॥

दोहा—सानुज पठइय मोहि बन, कीजिय सबहिं सनाथ ।
नतरु फेरियहि बंधु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ ॥२६८॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई । बहुरिय सीय-सहित रघुराई ॥१॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुना-सागर कीजिय सोई ॥२॥

अर्थ—हे देव ! मेरी एक प्रार्थना सुनकर, फिर जैसा उचित हो, कीजिये ॥७॥ तिलक की सामग्री सजाकर लाया हूँ, हे प्रभो ! उसे सुफल कीजिये, जो मन माने ; अर्थात् यदि उचित समझिये, तो राज्य-तिलक कराइये, जिससे लाना सफल हो ॥८॥ भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ मुझे वन भेजिये और सबको सनाथ कीजिये, नहीं तो, हे नाथ ! दोनों भाइयों को लौटा दीजिये, मैं साथ चलूँ ॥२६८॥ नहीं तो, तीनों भाई वन को जायँ और हे रघुराई ! आप श्रीसीताजी के साथ लौटें ॥१॥ जिस प्रकार प्रभु का मन प्रसन्न रहे, हे करुणा सागर ! वही कीजिये ॥२॥

विशेष—'देव एक विनती ...'—विनती-मात्र करता हूँ (आज्ञा नहीं देता) उसमें उचित जैसा हो वैसा कीजिये । प्रथम तिलक स्वीकार करने के लिये कहा, किंतु उसमें पिता के वचन का उल्लंघन होता है । इसपर तीन उपाय और कहे कि आपके प्रतिनिधि-रूप में हम दोनों भाई जायँ और उस पिता के वचन की पूर्ति करें । वा, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी घर जायँ मैं साथ चलूँ । अथवा हम तीनों वन को जायँ और आप श्रीसीताजी के साथ लौटें । इनमें अथवा और भी जिस तरह आपकी प्रसन्नता हो, वही करुणा-दृष्टि से किया जाय । प्रथम 'सनाथ' करना कहकर फिर 'करुना-सागर' भी कहा गया । भाव यह कि आपके बिना श्रीअवधवासी एवं प्रजा-वर्ग अनाथ हैं ; यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥" (दो० ५१) ; करुणा करके इन सबको सनाथ कीजिये ।

प्रथम दो के बदले दो का जाना कहा, यदि वह न रुचे, तो मुझे साथ रखिये और दोनों छोटे भाई श्रीअयोध्याजी की रक्षा के लिये जायँ । यदि यह भी न रुचे ; क्योंकि तीन घर से आये थे, उसपर फिर तीनों भाइयों का जाना कहा । अंत में यह कहा कि जिस तरह प्रसन्नता हो, वही कीजिये । प्रतिनिधि-रूप में जाना गुरुजी ने ही कहा था, वाल्मीकीय रामायण में भी शृंगवेरपुर में श्रीभरतजी ने कहा है ; अतः, यह नीति एवं धर्म-सम्मित है ।

देव दीन्ह सब मोहि अभारू । मोरे नीति न धरम बिचारू ॥३॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥४॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवक लखि लाज लजाई ॥५॥
अस मैं अवगुन-उदधि-अगाधू । स्वामि-सनेह सराहत साधू

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥७॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ ॥८॥

दोहा—प्रभु प्रसन्न मन सकुचि तजि, जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सब, मिटिहि अनट अवरेब ॥२६९॥

शब्दार्थ—मोहि अभारू = मुझ ही पर भार, वा मोहि-अभारू (आभार = बोझ) = मुझे बोझा। चेतू = ज्ञान, बोध। अनट (सं॰ अनृत = अत्याचार) = अन्याय, उपद्रव।

अर्थ—हे देव! आपने सब भार मुझ ही पर दे दिया और मुझे न तो नीति का विचार (बोध) है और न धर्म का ही ॥३॥ सब बातें अपने स्वार्थ के लिये कह रहा हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत नहीं रहता (कि क्या कहना चाहिये?) ॥४॥ स्वामी की आज्ञा सुनकर उत्तर दे; ऐसे सेवक को देखकर लज्जा भी लजा जाती है; अर्थात् वह पराकाष्ठा का निर्लज्ज है ॥५॥ मैं अवगुणों का ऐसा गहरा समुद्र हूँ, पर स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर सराहते हैं ॥६॥ हे कृपालु! अब तो मुझे वही मत सुहाता है कि जिसमें स्वामी के मन में संकोच न जाने पावे ॥७॥ प्रभु के चरणों की शपथ, सत्य-भाव से कहता हूँ कि जगत्-भर के मंगल के लिये एक-मात्र उपाय यही है ॥८॥ कि हे प्रभो! आप प्रसन्न-मन से संकोच छोड़कर जिसे जो आज्ञा दें, वह सब (पूरी आज्ञा) शिरोधार्य करके करेगा और सब उपद्रव और अवरेब (उलझनें) मिट जायँगी ॥२६९॥

विशेष—(१) 'देव दीन्ह सब मोहि······'—आपने बोझे को छोटा जानकर ही मुझपर रक्खा, पर मुझे नीति और धर्म का विचार नहीं है, इसीसे भारी लगा। भार; यथा—'कहहु करउँ सोइ आज' इसीको—'निज सिर भार भरत जिय जाना।' कहा है। यदि धर्म और नीति का विचार नहीं है, तो—'सानुज पठइय······' आदि कैसे कहा है? इसपर कहते हैं—'रहत न आरत के चित चेतू।' और इसीसे—'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू।' अर्थात् वे वचन स्वार्थ-दृष्टि से कहे गये हैं।

(२) 'उतर देइ······'—स्वामी की आज्ञा होने पर कोई हेतु दिखाकर भी विरोध करना उत्तर देना ही है। जब आपने आज्ञा दी—'कहहु करउँ सोइ आज' उसपर भी उत्तर दे रहा हूँ; यथा—"देव दीन्ह सब मोहि अभारू। ·· ··"इससे उत्तर देनेवाला सेवक हूँ। अतएव—'अवगुन उदधि अगाधू।' हूँ। उसपर भी स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर सराहते हैं, यह स्वामी की असीम कृपा है।

इससे भक्तों को उपदेश है कि किसी भी व्यवस्था पर प्रभु की इच्छा को प्रधान मानते हुए उसपर बाधा न करें और न यही कहें कि मुझको ऐसा कर दीजिये।

(३) 'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि ······'—पहले श्रीभरतजी ने कहा था—'जनहित प्रभुचित छोभ न होई।' उसीको फिर दोहराया—'सकुच स्वामि मन जाइ न पावा।' यहाँ फिर तेहराया है—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि···' तीन बार कहकर प्रतिज्ञा की जाती है, वैसे तीन बार निःसंकोच इच्छित आज्ञा देने की प्रार्थना की है। 'अनट अवरेब'—अर्थात् अन्याय के उपद्रव और उलझनें पड़ गईं, वचन पालने की प्रतिज्ञाएँ की गईं। यहाँ ही प्रथम दरबार समाप्त होता है, इसमें कुछ निर्णय न हुआ। श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।' वैसे ही श्रीभरतजी ने

उनसे कहा—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव। सो सिर धरि ...' अर्थात् इन्होंने उनपर और उन्होंने इनपर छोड़ा। दोनों के कथन में अपने-अपने भाव-मात्र की पृथक्ता है, तात्पर्य एक है।

भरत-बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥१॥
असमंजस-बस अवध-निवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी ॥२॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु-गति देखि सभा सब सोची ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के पवित्र वचन सुनकर देवता प्रसन्न हुए। 'साधु साधु' अर्थात् धन्य हो, धन्य हो, इस तरह प्रशंसा कर उसने बहुत फूल बरसाये ॥१॥ श्रीअवधवासी दुविधा में पड़ गये (कि प्रभु लौटेंगे कि नहीं), तपस्वी और वनवासी मन में बहुत प्रसन्न हुए ॥२॥ संकोची-स्वभाव से श्रीरामजी चुप ही रह गये, (कि क्या कहें ?) प्रभु की दशा देखकर सब सभा शोच करने लगी ॥३॥

विशेष—(१) 'भरत-बचन सुचि......'—स्वार्थ ही विकार है, श्रीभरतजी के वचन में उसका सर्वथा त्याग है। स्वामी को पूर्ण आज्ञा देने को कहा और संकोच भी हटा दिया, इसीसे वचन को 'सुचि' अर्थात् पवित्र कहा है। देवता पहले डरे हुए थे ; यथा—"सुरगन सहित सभय सुरराजू।" अब अनुकूल वचन सुनकर हर्षित हुए और बहुत फूल बरसाये।

(२) पहले बृहस्पतिजी ने कहा था—'राम भगत परहित निरत...' वह बात यहाँ चरितार्थ हुई। अतएव देवता लोग फूल बरसाकर सेवा जना रहे हैं। सराहते हैं कि साधु हो, साधु हो, जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया कार्य साधते हो ; यथा—"भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहिं फूल।" (दो० २०५) ; श्रीभरतजी की शरण हुए थे, उसका फल तुरत पाया। श्रीभरतजी पहले लौटाने के ही उपाय में थे, उस स्वार्थ को छोड़कर—'किये रजाइ कोटि बिधि नीका।' पर स्थिर हो गये, इसीसे देवता सुखी हुए कि श्रीरामजी की इच्छा तो वन में रहने की है ही।

(३) 'प्रमुदित मन तापस बनबासी।'—तपस्वी लोग प्रभु के साहचर्य से निर्भय तप करेंगे और कोल-किरात आदि प्रभु के दर्शनों और सेवा से कृतार्थ होंगे। प्रभु के लौटने से उन्हें विछोह होता, वह मिट गया।

(४) 'चुपहि रहे रघुनाथ...'—श्रीरघुनाथजी को जो कहना है, उसमें उनको ही स्वार्थ-सिद्धि है और सब श्रीअवधवासियों को स्वार्थ-हानि है, इससे शील-संकोच के मारे सहसा कह नहीं सकते। पुनः अंतर्यामी हैं, इससे श्रीजनकजी का आगमन भी जान रहे हैं। इससे उनका भी कहना-सुनना हो ले, तब निर्णय किया जाय, इसलिये भी चुप हैं ; अन्यथा उनका आना व्यर्थ-सा हो जायगा। 'सभा सब सोची'—सम्पूर्ण सभा-भर के लोग शोच में पड़ गये कि प्रभु क्यों नहीं बोलते हैं ? किस बात के संकोच में पड़ गये ? क्या श्रीभरतजी ने अपने वन जाने को कहा, उसका शोच है ? वा, दोनों भाइयों के वन जाने पर शोच है ? कि हम घर में रहें लड़के क्यों कष्ट झेलें ? इत्यादि।

पहला दरबार समाप्त हुआ

श्रीजनक-आगमन

जनक-दूत तेहि अवसर आये। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाये ॥४॥
करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेष देखि भये निपट दुखारे ॥५॥

बूतन्ह मुनिवर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥६॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा ॥७॥
बूझब राउर सादर साईं। कुसल-हेतु सो भयउ गोसाईं ॥८॥

दोहा—नाहिं त कोसलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध बिसेष ते, जग सब भयउ अनाथ ॥२७०॥

अर्थ—उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये, श्रीवसिष्ठ मुनि ने सुनकर तुरत उनको (वहाँ अपने पास) बुला लिया ॥४॥ उन्होंने प्रणाम करके श्रीरामजी को देखा (तब इनका) मुनि-वेष देखकर वे अत्यंत दुखी हुए ॥५॥ मुनिश्रेष्ठ ने दूतों से (यह) बात पूछी कि विदेहराज का कुशल-क्षेम कहो ॥६॥ यह सुनकर, सकुचाकर और पृथिवी में शिर नवाकर हाथ जोड़े हुए वे श्रेष्ठ दूत बोले ॥७॥ हे स्वामी! आपका जो सादर पूछना है, हे गोस्वामी! वही कुशल का कारण हो गया ॥८॥ नहीं तो, हे नाथ! कोशलनाथ (दशरथ महाराज) के साथ ही कुशल तो चली गई। सब जगत् अनाथ हो गया और मिथिला तथा श्रीअवध तो विशेष करके अनाथ हो गये ॥२७०॥

विशेष—(१) 'जनक-दूत तेहि···'—जब सब शोच में पड़े थे और श्रीरघुनाथजी चुप थे, उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये। तब गुरुजी ने बुलाया, क्योंकि वे श्रीदशरथजी के स्थान पर हैं। विवाह की चिट्ठी लेकर आये थे, तब राजा ने ही बुलाया था। 'बेगि बोलाये'—इससे अपना प्रेम और श्रीजनकजी का सम्मान जनाया। इससे भी शीघ्र बुलाया कि सभा-विसर्जन होने के पहले सबलोग इनका आना जान लें और श्रीरामजी उत्तर भी न दे पावें, जनकजी भी आ लें, तब निर्णय हो।

(२) 'करि प्रनाम तिन्ह राम···'—ब्याह के पीछे आज यह वेष देखकर अत्यंत दुखी हो गये कि कहाँ वह दुलहा-रूप और कहाँ यह वल्कल वस्त्र-सहित वेष!

(३) 'सुनि सकुचाइ नाइ···'—प्रश्न के उत्तर देने में दूत सकुचा गये कि श्रीअवध में ऐसा अनर्थ हुआ और हम विदेह की कुशलता कैसे कहें? दुःख का समय समझकर शिर नीचा कर लिया। पुनः मुनि के प्रश्न में उन्होंने व्यंग्योक्ति समझी। व्यंग्य यह कि जिस विपत्ति में जगत भर दुखी हो गया, उसमें उन्हें क्यों कुछ खेद होगा? वे तो विदेह हैं न? देही होते तो समधियाने की घोर आपत्ति पर सहानुभूति प्रकट करते, दौड़े आते। उनपर किसी नाते के दुःख का प्रभाव क्योंकर पड़े, जिसे देह ही पर ममत्व नहीं है। 'चरबर'—क्योंकि व्यंग्य समझ गये। इसीसे सकुच गये और लज्जा से सिर नीचा कर लिये, पर चुप ही रहें तो गुरुजी की अवज्ञा होती है, इसलिये हाथ जोड़े हुए बोले।

(४) 'बूझब राउर सादर···'—भाव (क) जिस 'विदेह' शब्द से आपने आदर देकर पूछा है, बस, वही कुशलता का कारण हो गया; अर्थात् ऐसी उच्च दशा ज्ञान की न होती, तो इस शोक-समुद्र में डूब गये होते। (ख) आपने सादर-सहित कुशल पूछी है, तो अब कुशल होगी, नहीं तो इस समाचार पर उनको विदेहता आ ही चुकी थी। वे विकल हो गये और कुशल रहने की आशा न थी। पर आपके वचन से जो 'विदेह' और 'कुसलाता' ये दो शब्द निकले हैं, ये ही आशीर्वाद-रूप से उन्हें पुनः विदेह और कुशल-सहित करेंगे।

(५) 'नाहि त कोसलनाथ के, साथ ···'—कुशल तो कोशलाधीश के साथ-साथ स्वर्ग को चली गई। तब जगत-भर की कुशल कैसे होगी ? भाव यह कि कुशल तो स्वर्गवासी इन्द्रादि की होगी। श्रीजनकपुर के दूत हैं ; वहाँ के सोच को अधिक दिखाने के लिये 'मिथिला' शब्द 'अवध' से प्रथम कहा।

कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोकबस बौरा ॥१॥
जेहि देखे तेहि समय बिदेहू। नाम सत्य अस लाग न केहू ॥२॥
रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि ॥३॥
भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥४॥
नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू ॥५॥
समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥६॥
नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी। पठये अवध चतुर चर चारी ॥७॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥८॥

दोहा—गये अवध चर भरतगति, बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति ॥२७१॥

अर्थ—कोशलराज श्रीदशरथ महाराज की गति (मृत्यु) सुनकर श्रीजनकजी के नगरवासी सभी शोकवश बावले हो गये ॥१॥ उस समय जिन्होंने विदेहजी को देखा, उनमें से किसीको भी इनका विदेह ऐसा नाम सत्य न लगा ॥२॥ रानी की कुचाल सुनते ही राजा को कुछ न सूझ पड़ा, (वे ऐसे व्याकुल हो गये) जैसे मणि के बिना सर्प को कुछ नहीं सूझ पड़ता ॥३॥ श्रीभरतजी को राज्य और रघुवर श्रीरामजी को वनवास (यह सुनने से) श्रीजनकजी के हृदय में ह्रास हुआ ॥४॥ राजा ने पंडितों और मंत्रियों के समाज से पूछा कि विचार कर कहिये, आज क्या करना उचित है ? ॥५॥ श्रीअयोध्याजी में दोनों तरह में असमंजस समझकर, चलिये या रहिये (न जाइये), इनमें से कोई कुछ नहीं कहता था ॥६॥ राजा ने ही धैर्य धरकर हृदय में विचार कर चार चतुर जासूसों (खोफिया) को श्रीअवध भेजा ॥७॥ (और उनसे कहा कि) श्रीभरतजी के सद्भाव या दुर्भाव को समझकर शीघ्र आना, कोई तुम्हें न जान पावे ॥८॥ दूत श्रीअवध को गये, श्रीभरतजी की व्यवस्था समझकर और उनकी करतूत देखकर—जैसे ही श्रीभरतजी चित्रकूट को चले—दूत तिरहुत को चल दिये ॥२७१॥

विशेष—(१) 'जनकौरा'—श्रीजनकजी का नगर' ; यथा—"सिय नैहर जनकौर नगर नियरायेन्हि।" (जानकी-मंगल) ; यहाँ जनक-नगर-निवासी से तात्पर्य है, आगे श्रीजनकजी को कहते हैं—

(२) 'जेहि देखे तेहि समय···'—विदेह को तो देह से ही ममत्व नहीं, फिर समधी, दामाद में ऐसी प्रीति क्यों ? अतएव जान पड़ता है कि ये झूठे ही विदेह कहाते हैं ; उस समय सभी कोई दे॰ समझने लगे।

(३) 'मनि बिनु ब्यालहि'—सर्प मणि छिन जाने पर व्याकुल होकर छटपटाता है। मणि लेनेवाले पर अत्यन्त कुपित होता है, पा जाय तो उसके प्राण ही ले ले। वैसे राजा व्याकुल हो कर छटपटाने लगे और अनर्थ-कर्त्ता पर रोप से भर गये। व्याकुलता में उन्हें कोई कल्याण का मार्ग न सूझ पड़ा।

(४) 'भरत राज रघुबर बनबासू'''—छोटी रानी का पुत्र, वह भी छोटा, उसे राज्य और बड़ी रानी का और बड़ा पुत्र वन को भेजा गया, इस अनीति से दुःख हुआ कि यह कार्य लोक-वेद दोनों ही से निंदित है।

(५) 'समुझि अवध असमंजस दोऊ।' दोनों असमंजस कि राजा का मरण सुनने पर जाना चाहिये, न जाय तो अनुचित है। यदि जायँ तो कैकेयीजी के पक्ष के समझे जायँगे। कौशल्याजी एवं नगर-वासी विरोध मानेंगे। यदि कैकेयीजी को समझायें और वे न मानें, तो उनसे विरोध हो। फिर इधर हमारे भाई-भाई में भी फूट की सम्भावना हो, क्योंकि भाई कुशध्वज मुझे अपने दामाद के विरोधी समझेंगे। दोनों ही दामाद हैं, हम किस तरफ क्या कहेंगे ? इत्यादि दुविधा ही रही।

(६) 'चतुर चर चारी'—चर यहाँ गुप्तचर (जासूस) के लिये है। 'चार चले' शब्द से यह भी ध्वनि है कि वे बहुत तेज चलनेवाले भी थे। इसीके अनुसार 'आयेहु बेगि' भी कहा गया है। 'चार' से चार दूतों की संख्या भी जनाई कि चार दूतों के आने से चारो का विचार दृढ़ होगा।

(७) 'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ'—श्रीभरतजी की साधुता प्रसिद्ध थी; यथा—"भरत नीति रत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जगजाना॥" (दो० २१७); और जब श्रीअवध में अनर्थ हुआ, तब वे अन्यत्र थे; अब आये हैं। तो देखना चाहिये कि वे पूर्ववत् हैं कि माता के पक्ष में हैं, यह जानने पर किसी कर्त्तव्य का निश्चय किया जाय।

(८) 'गये अवध चर भरतगति''' —'गति' अर्थात् हार्दिक व्यवस्था, जो कि कैकेयीजी को डाटने से, कौशल्याजी के समक्ष मे शपथ करने से, सभा में विह्वल होने और गुरु, मंत्री आदि सभी के कहने पर भी राज्य न ग्रहण करने से जान पड़ी। 'करतूत'—सबको लेकर प्रभु को मनाने जा रहे हैं।

दूतन्ह आइ भरत कइ करनी। जनक-समाज जथामति बरनी ॥१॥
सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥२॥
धरि धीरज करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई ॥३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे ॥४॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किये बिश्राम न मग महिपाला ॥५॥
भोरहि आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सब लागा ॥६॥
खबरि लेन हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा ॥७॥
साथ किरात छ-सातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे ॥८॥

शब्दार्थ—दुघरिया मुहूर्त्त, इससे सब दिन सब ओर का यात्रा-विधान हो सकता है। ततकाल=उसी समय। हम=हमको। छ सातक=छः सात के लगभग।

अर्थ—दूतों ने आकर श्रीजनकजी के समाज में श्रीभरतजी की करनी अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन की ॥१॥ सुनकर गुरु, कुटुंबी, मंत्री और राजा सभी शोच और स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो गये ॥२॥ धैर्य धारण कर श्रीभरतजी की प्रशंसा करके अच्छे-अच्छे योद्धाओं और साहनियों (हाथी घोड़े आदि के दारोगाओं) को बुला लिया ॥३॥ घर, नगर, देश (प्रान्त) में रक्षकों को रखकर, हाथी, घोड़े, रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ सजवाईं ॥४॥ दुघड़िया मुहूर्त साध कर उसी समय चल दिये। राजा ने मार्ग में विश्राम भी नहीं किया ॥५॥ आज सवेरे ही प्रयाग स्नान करके चले, सबलोग यमुना पार उतरने लगे (तब) ॥६॥ हे नाथ ! हमको स्वामी ने खबर लेने के लिये भेजा, उन्होंने ऐसा कहकर पृथिवी पर शिर नवाया अर्थात् प्रणाम किया ॥७॥ मुनिश्रेष्ठ ने शीघ्र कोई छः सात किरातों को साथ में देकर दूतों को शीघ्र विदा किया ॥८॥

विशेष—(१) 'जनक-समाज जथामति बरनी।'—'जनक-समाज' से जनाया कि वहाँ उस समय निमिवंशी अधिक थे। 'जथामति'—करनी अकथनीय थी, उनकी बुद्धि में जितना आया, उतना ही उन्होंने कहा।

(२) 'भे सब सोच सनेह बिकल अति'—शोच व्यर्थ में राजा की मृत्यु का तथा श्रीरामजी के वनवास का और स्नेह श्रीभरतजी के सद्भाव का। पहले कैकेयी की करनी पर शोच था, अब सोचते हैं कि व्यर्थ ही इतने अनर्थ हुए।

(३) 'लिये सुभट साहनी बोलाई।'—सुभटों को नगर की रक्षा के लिये और साहनियों को हाथी-घोड़े आदि तैयार कराने के लिये बुलाया।

(४) 'दुघरी साधि चले'''—कर्मकांड में राजा की दृढ़ निष्ठा है; अतः यात्रा-विधान किया, सम्भवतः उस दिन यात्रा का कोई योग न था, इसलिये शिवजी के मत से द्विघटिका मुहूर्त शोधकर चले। 'महिपाला'—इतने बड़े राजा होते हुए विश्राम भी नहीं किया, प्रेम से रातो-दिन दौड़े चले आये।

(५) 'भोरहिं आजु नहाइ'''—भोर होते ही प्रयाग पहुँचे और स्नान कर चल दिये।

(६) 'तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा।'—कथन-समाप्ति पर प्रणाम किया। प्रणाम करके बोलना और वचन की पूर्ति पर भी प्रणाम के साथ विसर्जन करना शिष्टाचार है। यह भी संकेत किया कि कहना था, सो कहा, अब जाने की आज्ञा हो।

(७) 'किरात छ-सातक दीन्हे'—श्रीजनक महाराज का भारी समाज है, जिससे ये लोग अच्छे मार्ग से सुविधापूर्वक उन्हें ला सकें। एक-दो से भी काम चल जाता, पर राजा के सम्मान के लिये भी अधिक भेजे।

'बोले चरचर जोरे हाथा' उपक्रम है और यहाँ—'मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे।' पर उपसंहार है।

दोहा—सुनत जनक आगमन सब, हरषेउ अवध-समाज।
रघुनंदनहि सकोच बड़, सोच-बिबस सुरराज ॥२७२॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥१॥
अस मन आनि मुदित नर-नारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी ॥२॥
येहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥३॥

अर्थ—श्रीजनक महाराज का आना सुनकर सब श्रीअवध का समाज प्रसन्न हुआ, रघुनन्दन श्रीरामजी को बड़ा संकोच हुआ और इन्द्र बड़े शोच में पड़ गये ॥२७२॥ कुटिला कैकेयी ग्लानि से गली जाती है (सूखी जाती है, उसका शरीर क्षीण होता जाता है), किससे कहे और किसे दोष दे ? (क्योंकि अपना ही दोष है और समाज-भर में उससे सहानुभूति रखनेवाला भी कोई नहीं है,) ॥१॥ स्त्री पुरुष मन में ऐसा लाकर (समझकर) प्रसन्न हैं कि फिर चार (कुछ) दिन रहना हुआ (नहीं तो आज ही विदाई होती) ॥२॥ इस तरह वह दिन भी बीत गया, प्रातःकाल सब कोई स्नान करने लगे ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनत जनक आगवन···'—श्रीअवध के समाज को हर्ष हुआ कि परम ज्ञानी श्रीजनकजी अवश्य लौटा ले चलेंगे, जो श्रीरामजी न भी लौटेंगे, तो कुछ दिन और रहने को मिलेगा ही। यही आगे कहा है—'अस मन आनि···'। 'रघुनंदनहिं संकोच बड़···'—संकोच तो भरतजी के ही आने पर हुआ था, अब ये भी आये तो अधिक हो गया, इसीसे 'बड़' कहा गया है। इन्द्र को बहुत ही शोच हुआ, वह सोचता है कि श्री जनकजी श्वशुर हैं, पिता के समान हैं, इनकी आज्ञा श्रीरामजी टाल ही नहीं सकते। अभी तक एक श्रीभरतजी के लिये ही झखते थे, अब तो दो आ गये।

(२) 'गरइ गलानि कुटिल···'—अपनी कुटिलता पर पछता रही है कि समधिनियों के आगे कौन मुँह दिखाऊँगी ? पश्चात्ताप से उसका शरीर क्षीण होता जाता है, मानों वह पापों का प्रायश्चित्त कर रही है। 'काहि कहइ···'—सोचती है कि महिलाओं की सभा में मैं किसका दोष कहकर बाद लूँगी। मंथरा तो नीच चेरी है, इसका नाम लेने से लोग मुझे और भी मंद-बुद्धि समझेंगे। यह भी भाव है कि पहले इसने पृथिवी से बीच माँगा और यमराज से मृत्यु माँगी, पर सुनवाई नहीं हुई, तो और अब किससे कहे ? सभी तो इसके शत्रु हो रहे हैं, सहानुभूति करनेवाला मिले तो उससे कहे भी। इससे ग्लानि की सीमा जनाई।

(३) 'येहि प्रकार गत बासर'—ऐसे ही मनोरथ करते हुए दिन-रात बीत गया। 'बासर' से यहाँ दिन-रात का तात्पर्य है।

करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी ॥४॥
रमा-रमन-पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥५॥
राजा राम जानकी रानी। आनँद-अवधि अवध-रजधानी ॥६॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा ॥७॥
येहि सुखसुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन-लाहू ॥८॥

दोहा—गुरुसमाज भाइन्ह सहित, राम-राज पुर होउ।
अछत राम राजा अवध, मरिय माँग सब कोउ ॥२७३॥

अर्थ—स्नान करके सब स्त्री-पुरुष गणेशजी, गौरीजी, त्रिपुर के शत्रु शिवजी और सूर्य की पूजा करते हैं ॥४॥ फिर लक्ष्मीनाथ विष्णु भगवान के चरणों की वंदना करके पुरुष हाथ जोड़कर, और स्त्रियाँ आँचल पसार कर विनती करती हैं ॥५॥ कि श्रीरामजी राजा हों, श्रीजानकीजी रानी हों और आनंद की सीमा श्रीअवध राजधानी ॥६॥ फिर से स्वतंत्रता-पूर्वक समाज-सहित, बसे और श्रीरामजी श्रीभरतजी को युवराज बनावें ॥७॥ हे देव ! इस सुखरूपी अमृत से सब-किसी को सींचकर संसार में जन्म लेने का लाभ दीजिये ॥८॥ गुरु, समाज और भाइयों के सहित श्रीरामजी का राज्य श्रीअवधपुर में हो, श्रीरामजी के राजा रहते हुए ही हमारी मृत्यु हो, सब कोई यही (वरदान) माँगते हैं ॥२७३॥

विशेष—(१) 'करि मज्जन पूजहिं···'—श्रीअवधवासी इन पंचदेवों की उपासना करके फल रूप में श्रीरामजी की भक्ति माँगते हैं, फल में सबकी श्रीरामजी में ही अनन्यता है, साधन में प्रकृति-भेद से नानात्व है, कहा भी है–"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि-पयसामर्णव इव ॥" (शिव-महिम्नस्तोत्र)। तथा–"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव अवधि आनंद की अवध बिलोकि हौं जाइ हौं ॥ ··" (गी० बा० ४६)। श्रीगोस्वामीजी ने भी विनयपत्रिका में पाँचों की प्रार्थना करके श्रीराम-भक्ति माँगी है ; यथा—"बसहु राम सियमानस मोरे।"—गणेशजी से, "देहि माँ मोहिं प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनश्याम तुलसी पपीहा ॥"—गौरी से, "देहु कामरिपु राम-चरण रति"—शिवजी से, "तुलसी राम भगति बर माँगै।"—सूर्य से और—"देहि अवलंब करकमल कमलारमन ··अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी।"—विष्णु भगवान् से, इत्यादि। वास्तव में यह उपासना श्रीरामजी की ही है, बा० मं० श्लो० १ की टीका भी देखिये।

(२) 'सुबस बसउ फिरि······'—जैसा कि राजा श्रीदशरथजी ने कहा है—"सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई।" (दो० ३५); 'सहित समाजा'—राजा के प्रधान अंग सात हैं, और और भी जितने अंग हैं, उनसब से सम्पन्न श्रीअवध बसे। 'फिरि'-क्योंकि अभी उजड़ चुकी है, यथा-"अवध उजारि कीन्हि कैकेई।" (दो० १८) ; साथ ही श्रीभरतजी को युवराज बना लें ; यथा —"राज दीन्हि सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुबराज।" (कि० दो० ११) ; पीछे युवराज बनाने में न जाने कोई विघ्न हो जाय, वा, श्रीरामजी के पुत्र होंगे, तो श्रीभरतजी फिर क्यों पावेंगे, इसलिये अभी से युवराज हो जायँ, यह श्रीभरतजी पर सबकी प्रीति एवं कृतज्ञता है।

(३) 'येहि सुखसुधा······'—अभी तक विरहानल से संतप्त रहे, अब इस सुख-रूपी अमृत से सींचकर तर कर दीजिये। 'गुरु-समाज'—गुरुजनों का समाज—माता, गुरु, पूज्य-वर्ग का और लोगों का समाज भी। 'जग जीवन लाहू' ; यथा—"सियराम सरूप अगाध अनूप ·· ··तुलसी के मते इतनों जग जीवन को फल है।" (क० उ० ३७)।

सुनि सनेहमय पुरजन-बानी। निदहिं जोग बिरति मुनि ज्ञानी ॥१॥
येहि बिधि नित्य करम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन ॥२॥
ऊँच नीच मध्यम नर-नारी। लहहिं दरस निज निज अनुहारी ॥३॥
सावधान सबही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं ॥४॥
लरिकाइहि ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥५॥

अर्थ—श्रीअवधवासियों की स्नेह-पूर्ण वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं ॥१॥ इस तरह श्रीअवधपुरवासी अपने नित्य-कर्म करके पुलकित शरीर से श्रीरामजी को प्रणाम करते हैं ॥२॥ उत्तम, नीच और मध्यम (सभी श्रेणियों के) स्त्री-पुरुष अपने-अपने (भाव एवं अधिकार के) अनुसार दर्शन पाते हैं ॥३॥ श्रीरामजी सावधानी से सबका सम्मान करते हैं, सब कोई कृपानिधान श्रीरामजी की प्रशंसा करते हैं ॥४॥ लड़कपन से ही रघुवर श्रीरामजी की बानि (टेंव) है कि वे प्रेम पहचान कर नीति का पालन करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निंदहिं जोग बिरति'''—इन लोगों ने योग-वैराग्य के बहुत साधन किये हैं, पर प्रेम नहीं हुआ और इनकी सहज-वृत्ति में प्रेम की उच्च दशा है। प्रेम से भगवान् शीघ्र मिलते हैं और अत्यन्त कृपा करते हैं; यथा—"उमा जोग जप ज्ञान तप, नाना व्रत अरु नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निःकेवल प्रेम ॥" (लं० दो० ११६)। "ज्ञान दया दम'''तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८)। इसलिये प्रेम के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए ये लोग अपने योग-वैराग्य की निन्दा करते हैं।

(२) 'येहि बिधि नित्य करम''''''—यह पुरजनों की नित्य-चर्या है, श्रीअवध में पहले भी करते थे; यथा—"आशंसते जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा। आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥" (वाल्मी० २।२। ५१-५२) 'पुलकि तन'—श्रीरामजी के स्मरण एवं प्रणाम में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'सावधान सबही सनमानहिं'; यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।" (क० उ० १२६)। 'कृपानिधानहि'—और लोग स्वार्थ-दृष्टि से दूसरे का सम्मान करते हैं, पर श्रीरामजी कृपा करके ही करते हैं। क्योंकि आप तो आप्त-काम हैं; यथा—"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥" (गीता ३।२२)।

सील - सँकोच - सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥६॥
कहत राम - गुन - गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे ॥७॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहि राम जानत करि मोरे ॥८॥

दोहा—प्रेम-मगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस।
सहित सभा संभ्रम उठेउ, रवि - कुल-कमल-दिनेस ॥२७४॥

शब्दार्थ—सुमुख=प्रसन्न मुख, प्रिय-भाषी। संभ्रम=उतावली, उत्कंठा—"समौ संवेग संभ्रमावित्यमरः"

अर्थ—रघुराज श्रीरामजी शील और संकोच के समुद्र हैं, सुन्दर वदन, प्रसन्नमुख एवं मधुर भाषी, सुन्दर नेत्रवाले (अर्थात् शीलवान् एवं कृपालु), और सरल स्वभाव के हैं (तब उपर्युक्त स्वभाव योग्य ही है) ॥६॥ श्रीरामजी के गुण-गणों को कहते-कहते अनुराग में भर गये और सभी अपने-अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे ॥७॥ कि हमारे समान पुण्य समूहवाले जगत् में बहुत कम होंगे कि जिन्हें रामजी अपना करके जानते हैं; अर्थात् ममत्व रखते हैं ॥८॥ उस समय सब प्रेम में मग्न हैं।

श्रीजनकजी महाराज को आते हुए सुनकर सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य श्रीरामजी सभा सहित उत्साह एवं उतावली से उठे ॥२७४॥

विशेष—(१) 'सील-संकोच-सिंधु···'; यथा—"सील सिंधु सुंदर सब लायक समरथ सदगुन खानि हौ।" (वि० २२१)। शील और संकोच से स्वभाव की बाहरी सुन्दरता और सरलता (निष्कपट हृदय होने) से भीतरी सुन्दरता है। शरीर की सुन्दरता मुख और नेत्र से कही गई। अर्थात् श्रीरामजी शरीर और स्वभाव, दोनों से सुन्दर हैं।

(२) 'कहत राम-गुन-गान अनुरागे'—राम-गुण-गान से अनुराग होता है; यथा—"तब हनुमंत कही सब, राम कथा निज नाम। सुनत जुगल तनु पुलक मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम॥" (सुं० दो० ६); "प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि्ह ढरिहै।" (वि० २१८)।

(३) 'हम सम पुन्य पुंज जग थोरे।···'—हमें श्रीरामजी अपना करके मानते हैं; यथा—"प्रनवउँ पुर नरनारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥" (बा० दो० १५); श्रीमुख-वचन भी है; यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३) "राम कहैं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास॥" (दोहावली १२०)।

(४) 'संभ्रम उठेउ, रबि-कुल-कमल-दिनेस'—क्योंकि अच्छे कुलवाले दूसरे का सत्कार करते हैं, फिर ये तो सूर्यकुल को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करनेवाले हैं, क्यों न सत्कार के लिये ऐसे उठें, यथा—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।" (दो० २११)।

भाइ-सचिव - गुरु - पुरजन - साथा। आगे गवन कीन्ह रघुनाथा॥१॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥२॥
रामदरस लालसा उछाहू। पथश्रम लेस कलेस न काहू॥३॥
मन तहँ जहँ रघुबरबैदेही। बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही॥४॥
आवत जनक चले येहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती॥५॥

अर्थ—भाई, मंत्री, गुरु और पुरवासी को साथ लिये हुए श्रीरघुनाथजी आगे चले॥१॥ राजा श्रीजनक ने ज्योंही गिरिश्रेष्ठ कामदनाथ के दर्शन किये, त्योंही प्रणाम करके उन्होंने रथ त्याग दिया (अर्थात् पैदल चलने लगे)॥२॥ श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा और उत्साह है, इसीसे मार्ग के थकावट-सम्बन्धी क्लेश किसी को नहीं है॥३॥ (क्योंकि) मन तो वहाँ है जहाँ रघुवर-वैदेही (श्रीसीतारामजी) हैं, तो बिना मन के दुःख और सुख की सुधि किसको हो (क्योंकि दुःख सुख का अनुभव मन के द्वारा ही होता है)॥४॥ इस तरह श्रीजनकजी महाराज समाज के साथ चले आते हैं, समाज सहित उनकी बुद्धि प्रेम से मतवाली हो रही है॥५॥

विशेष—(१) 'आगे गवन कीन्ह···'—इस समय अपने घर के ज्येष्ठ श्रेष्ठ श्रीरामजी ही हैं। अतएव अगवानी के लिये आगे चले। 'रघुनाथा'—क्योंकि कुल व्यवहार में प्रवृत्त हैं। 'गिरि बर दीख जनकपति···'—श्रीजनकजी का कुल ही 'जनक' कहाता है; क्योंकि इनके पूर्वज पहले पिता से उत्पन्न हुए हैं। कथा बा० दो० २१४ में दी गई है। अतः, जैसे रघुकुल के स्वामी रघुपति

हैं, वैसे 'जनक-पति' श्रीजनकजी जनक कुल के स्वामी हैं। गिरिवर को देखकर उतरे और प्रणाम किया। ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी किया है; यथा—"सैल सिरोमनि सहज सुहावा। देखि करहिं सब दंड प्रनामा···" (दो० २३४)।

(२) 'राम दरस लालसा उछाहू।···'; यथा—"भरतहिं सहित समाज उछाहू।" (दो० २२४)।

(३) 'बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही।'; यथा—"मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥" (ब्रह्मबिन्दु २)।

(४) 'आवत जनक चले··'; यथा—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके॥ सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं॥ बिहल बचन प्रेम बस बोलहिं॥" (दो० २२४)।

आये निकट, देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥६॥
लगे जनक मुनि-जन-पद बंदन। रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनंदन॥७॥
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहिं। चले लिवाइ समेत समाजहिं॥८॥

दोहा—आश्रम सागर सांतरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥२७५॥

अर्थ—जब समीप आये तब परस्पर देखकर अनुराग से पूर्ण हो गये और आदरपूर्वक आपस में मिलने लगे॥६॥ श्रीजनकजी मुनि गणों के चरणों की वंदना करने लगे, और भाइयों के साथ रघुनन्दन श्रीरामजी ने ऋषियों को प्रणाम किया॥७॥ भाइयों के साथ श्रीरामजी राजा से मिल कर समाज के साथ उनको लिवा ले चले॥८॥ श्रीरामजी का आश्रम समुद्र है, वह शांत रस रूपी पवित्र जल से पूर्ण है, श्रीजनकजी की सेना (एवं समाज) मानों करुणा नदी है, उसे श्रीरघुनाथजी (आश्रम-सागर को) लिये जा रहे हैं॥२७५॥

विशेष—(१) 'लगे जनक मुनि···'—श्रीरामजी के साथ के मुनियों को श्रीजनकजी ने प्रणाम किया और श्रीजनकजी के साथ शतानंद आदि ऋषियों को श्रीरामजी ने प्रणाम किया। 'रघुनंदन'—शब्द कुलोचित मर्यादा-निर्वाह के सम्बन्ध से दिया गया है।

(२) 'आश्रम सागर सांतरस···'—यहाँ सम अभेद रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा है। आश्रम साधु की कुटी को कहा जाता है। श्रीरामजी भी तपस्वी वेष में हैं। वहाँ सब शांत रस को ही व्यवस्था रहती है, यथा—"जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास नित, आगम निगम पुरान॥" (दो० २१०)। इसलिये वह शांतरस जल से पूर्ण कहा गया है। इस रस में जगत् की असारता, अनित्यता, दुःख आदि का विचार, वा परमात्म स्वरूप आलंबन; तपोवन, तीर्थ आदि एवं सत्संग आदि उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव तथा हर्ष, दया आदि संचारी भाव होते हैं, इसका स्थायी भाव निर्वेद (कामादि वेगों का शमन) है। इस रस में योगियों को एक अलौकिक प्रकार का आनंद होता है। जिसमें संचारी आदि भावों की स्थिति हो सकती है, इसीसे यह रस में परिगणित है; अन्यथा विषय संबंधी मनोविकारों का तो इसमें शमन होता है।

(३) 'सेन मनहुँ करुना सरित'''—सेना और समाज सब करुणारस से पूर्ण, शोकमय हैं। वे मुनि-समूह से पूर्ण श्रीरामजी के आश्रम पर पहुँच कर शान्ति प्राप्त करेंगे, जैसे सागर में पहुँच कर नदियाँ शांत हो जाती हैं। यहाँ पर किसी नदी का नाम नहीं दिया गया। पर प्राप्य स्थान 'सागर' और लिये जानेवाले को 'रघुनाथ' कहा है। इससे गंगाजी को लक्षित किया है। श्रीभगीरथजी भी रघुकुल के ही राजा होने से रघुनाथ कहे जा सकते हैं। सगर भी सगर के पुत्रों के द्वारा खोदे जाने से कहा गया है। उन्हीं के उद्धार के लिये वहाँ गंगाजी गई भी हैं। जैसे भगीरथ के पीछे-पीछे गंगाजी कोलाहल करते हुए चली हैं; वैसे ही श्रीरामजी के पीछे-पीछे सब समाज रोता हुआ आ रहा है। शेष अंग आगे कहते हैं—

बोरति ज्ञान विराग करारे। बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥१॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु-बर कर भंगा ॥२॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥३॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥४॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥५॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥६॥

शब्दार्थ—तोरावति (सं० त्वरावती)= वेगवती। अवर्त (आवर्त)=घुमाव, चक्कर, जिसका चारों तरफ घुमाव होता है और जिसके केन्द्र में थोड़ी दूर में ही जल घूमता है, जहाँ गड्ढा होता है, वही 'भँवर' है। ऐक = अंदाज।

अर्थ—ज्ञान-वैराग्य रूपी किनारों को डुबाती जाती है, शोक भरे वचन नद और नालों की तरह इसमें मिलते जाते हैं ॥१॥ सोच और लंबी साँसें वायु और लहरें हैं, जो धैर्यरूपी तट के बड़े-बड़े वृक्षों को गिराती जाती हैं ॥२॥ कठिन दुःख वेगवती धारा है, भय और भ्रम अगणित भँवर और उसके चक्कर हैं ॥३॥ पंडित लोग केवट हैं और उनकी बड़ी विद्या ही बड़ी नाव है, वे खे नहीं सकते हैं। क्योंकि उन्हें इस नदी का ऐक (अटकल) नहीं मिल रहा है ॥४॥ वन के विचरनेवाले बिचारे कोल-किरात पथिक हैं। वे इसे देखकर हृदय से हारकर थक रहे (स्तंभित हो रहे) हैं ॥५॥ जब यह करुणा नदी आश्रम समुद्र में जा मिली तब मानो समुद्र अकुला उठा; (अर्थात् वहाँ भी रोने का अत्यंत कोलाहल हुआ) ॥६॥

विशेष—(१) 'बोरति ज्ञान बिराग'''—करुणानदी इतनी बढ़ी कि ज्ञान-विराग रूपी किनारे डूब गये; अर्थात् ज्ञानी-वैरागी भी उसमें निमग्न होगये। सबमें करुणा ही दिखाई देती है। 'बचन ससोक'''—राजा के रूप-गुण आदि पर जो शोक के वचन कहे जाते हैं, उनसे करुणा और बढ़ती है, जैसे नद-नालों के जल पा-पाकर नदी तीव्र होती और बढ़ती है। 'सोच उसास समीर'''—शोकातुर होकर लोग लंबी साँसें (आहें) भरते हैं, जिससे बड़े-बड़े धैर्यवानों का धैर्य छूट जाता है। जैसे नदी में पवन के झकोरों से लहरें ऊपर को उठती और किनारों को बहुत काटती हैं; तट के बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ ले जाती हैं। कठिन दुःखरूपी तीव्र धारा में लोगों के हृदय में तरह-तरह के भय और भ्रम हैं। जैसे बड़ी नदी में अनेक भँवर और आवर्त्त पड़ते हैं। भय राज्य नष्ट होने का; भ्रम श्रीरामजी के लौटने वा न लौटने का; अथवा भय सबके शोक में डूबने का है। जिसका कोई उपाय नहीं दीखता और भ्रम अर्थात् किसी का चित्त सावधान नहीं है।

इस नदी का ज्ञान-किनारा ज्ञानी मिथिलेश का समाज है और श्रीभरतजी का समाज वैराग्य-रूपी तट है, क्योंकि इन्होंने भरद्वाज के दिव्य ऐश्वर्य को भी तृण के समान त्यागा है। नद, जैसे महानद अर्थात् भारी नदी, यह मिथिला समाज के सशोक वचन हैं, क्योंकि ये अभी आये हैं। अतः, इनमें करुणा रूपी जल अधिक है। श्रीअवधवासियों का शोक प्रभु के सहवास में कई दिन रहने से कुछ कम हो गया है। अतः, करुणा जल कम है, ये नाले रूप हैं।

(२) 'केवट बुध बिद्या ···'—बड़े बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी विद्याएँ बड़ी-बड़ी नावें हैं। इस विषाद का अन्दाज ही उन्हें नहीं मिल रहा है, उनकी बुद्धि चकरा गई है कि कैसे लोगों को धैर्य करावें ? जैसे भयंकर बाढ़ में केवट नाव का लंगर डाल देते हैं, और मुसाफिरों को जवाब दे देते हैं कि नाव कस में नहीं है, अतः, अभी न खेवेंगे। नाव का मार्ग-निश्चय करने को केवट लोग ऐकना कहते हैं।

(३) 'बनचर कोल किरात बिचारे।······'—भयंकर बढ़ी हुई नदी के तट पर पथिक लोग थकित होकर खड़े रहते हैं, क्योंकि उसमें उनका कुछ चारा (वश) नहीं चलता, वैसे कोल-किरात खड़े स्तंभित हो एकटक देख रहे हैं, इनका कुछ वश नहीं है। ये विचारते हैं कि जब बड़े-बड़े विद्वान् हार बैठे हैं, तो हमलोगों का क्या वश है ?

(४) 'आश्रम उदधि मिली······'—आश्रम पर पहुँचने से वहाँ श्रीअवध का रनवास था। सम्बन्धियों को देखकर उनका भी आर्त्त स्वर से रोना बढ़ा और इधर तो आर्त्तस्वर से रोना था ही, इससे बड़ा कोलाहल हुआ, जैसे गंगा आदि बड़ी नदियों के समुद्र में मिलने पर होता है। 'उठेउ अकुलाई' से यह भी जनाया कि यहाँ का रनिवास और मुनि-मंडली आदि भी उठ खड़े हुए और सबकी शान्ति भंग हो गई, जैसे नदी के जल के टक्कर से समुद्र का जल भी क्षुब्ध हो जाता है।

सोक - बिकल दोउ राज - समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज-लाजा ॥७॥
भूप - रूप - गुन - सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही॥८॥

छंद—अवगाहि सोक - समुद्र सोचहिं नारि-नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर-सिद्धि-तापस-जोगिजन-मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥

सोरठा—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन ॥२७६॥

अर्थ—दोनों राज-समाज शोक से व्याकुल हो गये; न ज्ञान रहा, न धैर्य और न लज्जा ही रह गई ॥७॥ राजा दशरथजी के रूप, गुण और शील को सराहकर सब रो रहे हैं और शोक-समुद्र में डूब ॥८॥ स्त्री-पुरुष सभी शोक-समुद्र में डूबे हुए शोच रहे हैं और महान् व्याकुल हैं। सब टेढ़े ब्रह्मा

को दोष देकर क्रोध सहित कहते हैं कि इस वाम-विधि ने क्या (आश्चर्य) कर डाला ? ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनि लोग विदेह राजा श्रीजनकजी की दशा देखकर कहते हैं कि कोई भी समर्थ नहीं है, जो स्नेह-रूपी नदी पार कर सके। श्रेष्ठ मुनियों ने जहाँ-तहाँ लोगों को अगणित प्रकार से उपदेश किये और वशिष्ठ मुनि ने विदेहजी से कहा कि राजन् ! धैर्य धारण कीजिये ॥२७६॥

विशेष—(१) 'सोक बिकल दोउ···'—शोक से सभी व्याकुल हैं, इससे ज्ञान न रहा ; यथा—"चढ़े बघूरे (बौंडर) चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोकसमाज। करम धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज ॥" (दोहावली ५१३) ; अर्थात् बौंडर में पड़ी हुई पतंग की तरह शोक-समाज में ज्ञान नष्ट हो जाता है। सभी रोने से चुप नहीं होते, इससे धीरज न रहा और वस्त्र आदि का सँभार न रहने से लज्जा न रही। वा ज्ञानियों का ज्ञान, धीरों का धैर्य और स्त्रियों की लज्जा न रही। 'भूप-रूप-गुन-सील सराही।' रोवहिं···' यथा—"सोक-बिकल सब रोवहिं रानी। रूप-सील-बल-तेज बखानी ॥" (दो० १५५) ; —देखिये ; तारा और मंदोदरी आदि के विलाप-प्रसंग भी ऐसे ही हैं।

(२) 'सोक-सिंधु अवगाही'—स्वजनों को देखकर दबा हुआ भी शोक उमड़ आता है, अतः, जैसे-जैसे श्रीमिथिलावासी शोक करते हैं, वैसे-वैसे श्रीअवधवासी और भी शोक में डूबते जाते हैं ; यथा—"स्वजनस्यहि दुखमग्रतो विवृत्तद्वारमिवोपजायते ॥" (कुमारसंभव)।

(३) 'तुलसी न समरथ कोउ······'—यहाँ सुर-सिद्ध आदि के साथ ही कवि की भी उक्ति है कि जब ऐसे ज्ञानी की यह दशा है, तो स्नेह-नदी को तैरने में दूसरा कोई समर्थ नहीं हो सकता।

(४) 'किये अमित उपदेस······'—सामान्य मुनि तो दशा ही देखकर दंग हैं, श्रेष्ठ मुनियों ने जहाँ-तहाँ के लोगों को अगणित उपदेश दिये और विदेहजी से श्रीवसिष्ठजी ने कहा। उपदेष्टा भी अधिकारानुसार हैं, श्रीजनकजी को श्रीवसिष्ठजी ने ही कहा। इन्हें उपदेश नहीं दिया केवल कहा है, क्योंकि ये स्वयं महान् ज्ञानी हैं, इससे कहा कि आपके धैर्य धारण करने से सभी धैर्य धरेंगे। आपको मोह कहाँ ? यह तो श्रीरामजी के स्नेह की महिमा है, जिसे आपने सबको दिखाया है।

(५) 'अमित उपदेस'—होतव्यता होकर ही रही, फिर अपरिहार्य बातों पर शोक करने से कोई लाभ नहीं, अब तो धैर्य धरना ही चाहिये। देखिये, अमुक-अमुक पर ऐसी-ऐसी विपत्ति पड़ी, और धैर्य धारण करने पर निवृत्त हुई। सुख-दुःख तो आगमापायी हैं, समय के हेर-फेर से आते-जाते रहते हैं, अतएव उनसे अलिप्त रहना चाहिये, दो० १४९ में श्रीसुमंत्रजी की उक्ति भी देखिये।

जासु ज्ञान - रबि भव-निसि-नासा। बचनकिरन मुनि-कमल बिकासा ॥१॥
तेहि कि मोह - ममता नियराई। यह सिय - राम - सनेह - बड़ाई ॥२॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥३॥
राम-सनेह सरस मन जासू। साधु-सभा बड़ आदर तासू ॥४॥
सोह न राम - प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥५॥

अर्थ—जिनके ज्ञान-रूपी सूर्य से भवरूपी रात मिट जाती है और वचन-रूपी किरणों से मुनि-रूपी कमल खिल उठते हैं ॥१॥ उनके पास क्या मोह और ममता आ सकती हैं ? (कभी नहीं) यह तो

श्रीसीतारामजी के स्नेह की बड़ाई है ॥२॥ विषयी, साधक और सयाने सिद्ध, तीन तरह के जीव जगत् में वेदों ने कहा है ॥३॥ जिसका मन श्रीरामजी के स्नेह में सरस (आर्द्र, भीगा हुआ) है, साधु-समाज में उसीका बड़ा आदर होता है ॥४॥ (क्योंकि) श्रीरामजी के प्रेम के विना ज्ञान शोभा नहीं पाता, जैसे विना मल्लाह के नाव की शोभा नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि कि मोह ममता···'—उत्कृष्ट ज्ञान सूर्य के समान कहा जाता है; यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६); ऐसे ज्ञान के समक्ष में मोह और ममता नहीं आ सकते; यथा—"भयेउ ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (दो० १६८); इनकी भव-रात्रि नाश हो चुकी है, इनके उपदेश से बड़े-बड़े मुनियों के संदेह दूर होते हैं। अतः, इन्हें मोह (अहं बुद्धि) और ममता (मेरे समधी, मेरे जामाता आदि की प्रीति) नहीं हो सकते। मोह और ममता ही 'मैं-मोर' कहाते हैं, ये भाव श्रीसीतारामजी के विषय में हैं, पर ये अज्ञान-दृष्टि से नहीं हैं। मैं श्रीरामजी का श्वशुर हूँ, वे मेरे जामाता हैं, इत्यादि उपासना के अंग हैं। अतः, इनसे ज्ञानी की शोभा है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (आ० दो० १०); 'यह सियराम सनेह बड़ाई'; यथा—"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥" (बा० दो० २१५); आगे रामस्नेह की महिमा कहते हैं—

(२) 'विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव···'—यहाँ जगत् में रहनेवाले जीवों के तीन भेद कहे गये हैं—विषयी बद्ध हैं, साधक मुमुक्षु और सिद्ध सयाने जीवन्मुक्त हैं। श्रीजनकजी जीवन्मुक्तों में हैं; यथा—"रिषि राज! राजा आजु जनक समान को।···गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की छोरी अनायास साधु सोधक अपान को॥" (गी० बा० ८१)। यहाँ 'जग' शब्द से जगत् में रहनेवाले ही तीन प्रकार के जीव कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त मुक्त, कैवल्य और नित्य—ये तीन भेद और होते हैं। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन है। हमारे 'मानस-सिद्धान्त विवरण' के अध्याय २ में भी इनपर कुछ लिखा गया है; वहीं देखिये। 'राम सनेह सरस ···'—तीन में कोई भी हो, पर उसमें श्रीराम स्नेह की सरसता हो, तो वही साधु-सभा में मान्य है। 'बड़ आदर'—सामान्य आदर तो साधु सभी का करते हैं; यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)। 'सोह न राम प्रेम बिनु···'—मल्लाह के विना नाव डूब जाती है अथवा टूट जाती है, वैसे ही प्रेम के विना ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाता; यथा—"तबहि दीप बिज्ञान बुझाई।" (उ० दो० ११८); क्योंकि—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (उ० दो० ४४)। अतएव—"अस विचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहुँ ज्ञान भगति नहि तजहीं॥" (आ० दो० ४२)।

मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये ॥६॥
सकल सोक- संकुल नर - नारी। सो बासरु बीतेउ बिनु बारी ॥७॥
पसु-खग-मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कवन बिचारू ॥८॥

दोहा—दोउ समाज निमिराज रघुराज नहाने प्रात।
बैठे सब बट - बिटप-तर, मन मलीन कृस गात ॥२७७॥

अर्थ—मुनि श्रीवसिष्ठजी ने बहुत प्रकार से श्रीविदेहजी को समझाया, (तब) सब लोगों ने श्रीराम-घाट पर स्नान किया ॥६॥ सब स्त्री-पुरुष शोक से भरे हुए थे (इससे) वह दिन बिना जल का बीत गया; अर्थात् किसी ने जल तक न पिया, भोजन की कौन कहे ॥७॥ पशु-पक्षी और मृगों तक ने भी आहार नहीं किया, तब प्यारे कुटुम्बियों (के आहार) का क्या विचार किया जाय ? ॥८॥ निमिकुल के महाराज श्रीजनकजी और रघुकुल के राजा श्रीरामजी एवं श्रीभरतजी के समाज दोनों ने प्रातः काल स्नान किया और सब वट वृक्ष के नीचे जाकर बैठे, सब मन से मलिन और शरीर से दुर्बल हो गये हैं ॥२७७॥

विशेष— पहले 'धीरज धरिय नरेस, कहेउ वसिष्ठ विदेह सन' पर यह प्रसंग छोड़कर कवि श्रीजनकजी की अधीरता के प्रति संदेह निवृत्ति करने लगे थे। उसे पूरा करके फिर समझाने से ही प्रसंग उठाते हैं; यथा—'मुनि बहु बिधि ···'—मुनि वे ही श्रीवसिष्ठजी हैं, बहुविधि के भाव दोहा के अर्थ में कहे गये हैं। श्रीरामघाट वह है, जहाँ श्रीरामजी बराबर स्नान करते थे। 'न कीन्ह अहारू' अर्थात् चारा सामने रक्खा रहने पर भी न खाया। जब शोक में तीर्यग योनि की यह दशा हुई, तब चैतन्यों की कौन कहे। फिर जो श्रीरामजी के प्रिय परिजन हैं, उनके विषय में विचार उठाना ही व्यर्थ है। यों ही सभी जान सकते हैं। 'रघुराज'—शब्द का 'रघु' शब्द पहले चरण के साथ और 'राज' दूसरे चरण में रखकर कवि ने संकेत किया कि श्रीरामजी अभी कुलवालों से पृथक् रहेंगे, वन में ही रहेंगे।

जे महिसुर दसरथ - पुर - बासी । जे मिथिलापति-नगर-निवासी ॥१॥
हंस - बंस गुरु जनक - पुरोधा । जिन्ह जग-मग परमारथ सोधा ॥२॥
लगे कहन उपदेस अनेका । सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका ॥३॥
कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी । समुझाई सब सभा सुबानी ॥४॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ । नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ ॥५॥

अर्थ—जो ब्राह्मण श्रीदशरथजी के नगर श्रीअयोध्याजी के निवासी थे, और जो श्रीमिथिला के राजा श्रीजनकजी के नगर के रहनेवाले थे ॥१॥ सूर्यवंश के गुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीजनकजी के पुरोहित श्रीशतानंदजी जिन्होंने जगत् के मार्ग में ही परमार्थ का मार्ग खोजा था ॥२॥ वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और विवेक सहित अनेक उपदेश देने लगे ॥३॥ श्रीविश्वामित्रजी ने पुरानी कथाएँ कह-कहकर सब सभा को सुन्दर वाणी से समझाया ॥४॥ तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीविश्वामित्रजी से कहा कि हे नाथ ! कल सब बिना जल के रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जिन्ह जग-मग ···'—इन्होंने बाल-बच्चों में रहते और लोक-व्यवहार करते हुए भी परमार्थ तत्त्व का साक्षात् कर लिया है, अतएव ये दोनों मार्गों की व्यवस्था भली भाँति जानते हैं। इसमें यह उपदेश भी है कि लोक-व्यवहार करते हुए भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। ये दोनों गुरु लोग इसके आदर्श हैं; इन्होंने शोध लिया है। इनके बतलाये हुए मार्ग से दूसरे भी उसे पा सकते हैं; यथा—"यथा लाभ सतोष सुख, रघुबर चरन सनेह। तुलसी जो मन बूँद (खूँद ?) सम, कानन बसहु कि गेह ॥" (दोहावली ९१)।

(२) 'सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका ।'—धर्म शास्त्र और नीति-शास्त्र ये जगत् मार्ग (प्रवृत्ति) के हैं और वैराग्य शास्त्र पातंजलि तथा विवेक शास्त्र वेदान्त ये परमार्थ-मार्ग के हैं। अधिकार के अनुसार

उपदेश दिये—किसी को धर्म, किसी को नीति, आदि के। 'जग मग परमारथ सोधा।' से यहाँ चरितार्थ है कि ये दोनों मार्गों के ज्ञाता हैं, इससे दोनों मार्गों के उपदेश दिये।

(३) 'कौसिक कहि-कहि ...'—श्रीविश्वामित्रजी का नाम पहले यहाँ ही कहा गया, ये श्रीजनकजी के साथ आये हैं, कथा कहने में इनका नाम कहना ही था, इससे पूर्व नहीं कहा गया। पुरानी कथाओं में इनकी विशेष प्रवृत्ति है, क्योंकि ये बहु कालीन ऋषि हैं। प्रायः ये पुरानी ही कथा कहते हैं; यथा—"कहत कथा इतिहास पुरानी।" (बा० दो० २२५); "लगे कहन कछु कथा पुरानी।" (बा० दो० २३६); वैसे यहाँ भी कहा है। 'समुझाई सब सभा सुबानी।' श्रीवसिष्ठजी और श्रीशतानंदजी अपने-अपने पक्ष को समझाया और इन सबों सभा को, क्योंकि ये किसी एक वर्ग के नहीं हैं, और इनकी सुन्दर वाणी अत्यन्त प्यारी लगती है, इससे सभी सुनते हैं। दोनों सभाजनों का सम्बन्ध इनकी कृपा से हुआ, इससे भी ये दोनों के प्रिय हैं।

(४) 'कौसिकहिं कहेऊ'—क्योंकि इनका दबाव दोनों समाजों पर है, जब चक्रवर्तीजी को श्रीजनकजी शीघ्र विदा नहीं करते थे, तब भी इन्होंने ही जाकर समझाया था।

मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ॥६॥
रिषिरुख लखि कह तिरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू ॥७॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर फल-फूल-दल, मूल अनेक प्रकार।
लइ आये बनचर बिपुल, भरि-भरि काँवरि भार ॥२७८॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी बोले कि श्रीरामजी उचित कह रहे हैं। अढ़ाई पहर दिन (आज भी) बीत गया ॥६॥ ऋषि (श्रीविश्वामित्रजी) का रुख देखकर तिर्हुतराज श्रीजनकजी ने कहा कि यहाँ अन्न-भोजन करना उचित नहीं (श्रीरामजी तो फलाहार करते हैं, तो हमलोग अन्न कैसे पावें?) ॥७॥ राजा ने अच्छी बात कही, वह सबको अच्छी लगी। आज्ञा पाकर सब स्नान करने चले ॥८॥ उसी समय (श्रीरामजी की इच्छा से) अनेक प्रकार के फूल, फल और मूल बहँगों एवं बोझों में भरभर कर वनवासी कोल-किरात आदि ले आये ॥२७८॥

कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा ॥१॥
सर-सरिता-बन-भूमि-बिभागा। जनु उमगत आनँद-अनुरागा ॥२॥
बेलि-बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग-मृग-अलि अनुकूला ॥३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू ॥४॥

शब्दार्थ—अपहरत = विशेष हरण करता है। 'अप' उपसर्ग यहाँ 'विशेषता' के अर्थ में है।

अर्थ—श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से (चित्रकूट के) सब पर्वत मनोकामना देनेवाले हो गये, दर्शन करने से ही विषाद को विशेष हरण कर लेते हैं ॥१॥ तालाब, नदी, वन और भूमि के

अनेक भागों में मानों आनन्द और अनुराग उमड़ रहा है ॥२॥ वेलें और वृक्ष सभी फल और फूल से युक्त हैं। पक्षी, पशु और भ्रमर अनुकूल बोली बोल रहे हैं ॥३॥ उस समय वन में अधिक उत्साह था, सब किसी को सुख देनेवाली तीन तरह की वायु चल रही थी ॥४॥

विशेष—(१) 'कामद भे गिरि रामप्रसादा ।'—इतने लोगों के लिये कंद, मूल, फल शीघ्र ही कहाँ से आ गया ? उसी का उत्तर दे रहे हैं कि श्रीरामजी की कृपा से ; यथा—"बिन ही रितु तरुवर फरहिं, सिला द्रवहिं जल जोर। राम-लखन सिय करि कृपा, जब चितवहिं जेहि ओर ॥" (दोहावली १७१); तथा—"सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अनरितु अकालगति त्यागी ॥" (लं० दो० ४)। 'राम'—क्योंकि सबमें रमते हैं, सबकी आत्मा हैं, तो उनके लिये यह बड़ी बात नहीं।

(२) 'सर सरिता-बन-भूमि-बिभागा ।'—'विभाग' शब्द सबके साथ है ; क्योंकि आगे—'जनु महि करत जनक पहुनाई ।' कहा ही है, ये सब पृथिवी के ही अंग हैं। वन-शैल की शोभा का वर्णन—"जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयो बन मंगलदायक ॥" (दो० १३६) ; से "सो बन सैल सुभाय सुहावन।···" (दो० १३८) ; तक किया गया है। मंगलदायक था ही, अब अधिक हो गया, इससे अनुराग उमँगता है।

(३) 'बेलि-बिटप सब सफल ···'—बेलें फूलयुक्त और वृक्ष फलयुक्त, या, फूलवाले फूलों से और फलवाले फलों से लदे रहते हैं, जिनमें दोनों चाहिये, वे दोनों ही से सम्पन्न हो गये हैं ; यथा—"फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ।" (बा० दो० २१२)।

जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करत जनक-पहुनाई ॥५॥
तब सब लोग नहाइ नहाई। राम जनक मुनि आयसु पाई ॥६॥
देखि-देखि तरुवर अनुरागे। जहँ-तहँ पुरजन उतरन लागे ॥७॥
दल फल फूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधा-समाना ॥८॥

दोहा—सादर सब कहँ राम-गुरु, पठये भरि-भरि भार।
पूजि पितर-सुर-अतिथि-गुरु, लगे करन फलहार ॥२७९॥

अर्थ—वन की रमणीयता कही नहीं जा सकती, मानों पृथिवी श्रीजनकजी की पहुनाई कर रही है ॥५॥ तब सब लोग नहा नहाकर, श्रीरामजी, श्रीजनकजी और मुनि की आज्ञा पाकर ॥६॥ सुन्दर वृक्षों को देख-देखकर अनुरक्त हो गये और जहाँ तहाँ पुरवासी उतरने लगे ॥७॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी ने नाना प्रकार के पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादवाले दल, फल, मूल, और कंद भार भर-भरकर सबको आदरपूर्वक भेजे और वे लोग पितृ, देवता, अतिथि और गुरु को पूजकर फलाहार करने लगे ॥२७९॥

विशेष—(१) 'जनु महि करति जनक-पहुनाई ।'—ऊपर—'जाइ न बरनि मनोहरताई ।' तक वन-शैल आदि का शृंगार कहा गया, जो कि उपर्युक्त करुणारस के विरुद्ध है। उसीका समाधान करते हैं कि पृथिवी जड़ है, इसे अवसर-कुअवसर का ज्ञान नहीं, इसने तो इतना ही सोचा कि

श्रीजनकजी श्रीरामजी के श्वशुर हैं। इनकी वस्तु लेंगे नहीं; और यहाँ ये अतिथि हैं। इनका स्थल के योग्य सत्कार होना ही चाहिये। श्रीजानकीजी भूमिजा हैं; इस सम्बन्ध से वह पति मानकर इनकी सेवा करती है; यथा—"देखे-सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम, साँचे तिरहुति नाथ साखी देति मही है।" (गी० बा० ८५); अर्थात् पृथिवी ने कन्या देकर सच्चे भाव से इन्हें पति माना है। पत्नी की सेवा स्वीकार करने में श्रीजनकजी का धर्म रहा। राजा की पहुनाई है। वृक्षों पर बेलें छाई हैं, वे ही तंबू, और चँदोवे हैं। अमृत के समान स्वादिष्ठ फल-मूल भोजन हैं। पक्षी-पशु नर्तकी, भ्रमर गायक, मोर नट, इत्यादि सब सामग्री योग्य हैं। पृथिवी की पहुनाई पर यह भी कहा जाता है कि वह सेवा से प्रसन्न करके चाहती है कि ये श्रीरामजी को न लौटावें। हमारा भार उतारने दें। मैं श्रीरामजी की ऐसी ही सेवा करती रहूँगी।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि करुणा वियोग-पर्यन्त रही। श्रीरामजी के संयोग से शृंगार जग उठा, क्योंकि श्रीजनकपुरवासियों की दृष्टि में श्रीरामजी के प्रति नित्य शृंगार रस ही प्रधान है।

(२) 'देखि-देखि तरुवर ···'—कल शोक में निमग्न थे, इससे अभी तक जहाँ के-तहाँ ही सब रह गये थे। अब वन की शोभा पर मुग्ध हो-होकर रुचि के अनुसार उतरने लगे। 'तरुवर'—ग्रीष्म के दिन हैं, अतः विशाल छायावाले बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे डेरा डाला।

(३) 'सादर सब कहँ राम गुरु···'—'राम-गुरु' से यहाँ श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजी दोनों ही हो सकते हैं; पर श्रीविश्वामित्रजी ने ही फलाहार की अनुमति दी है। इन्हीं की ओर से भेजा जाना युक्ति संगत भी है, क्योंकि श्रीवसिष्ठजी श्रीअयोध्याजी के हैं। उनके देने में उन्हें संकोच होगा ही।

(४) 'पूजि पितर-सुर···'—यह भोजन की विधि है कि पितृ, देवता और अतिथि का भाग निकालकर फिर गुरुजनों को देकर भोजन करना चाहिये।

येहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नर-नारि सुखारी ॥१॥
दुहुँ समाज असि रुचि मनमाहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं ॥२॥
सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर - सरिस सुपासू ॥३॥
परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥४॥
दाहिन दैव होइ जब सबहीं। रामसमीप बसिय बन तबहीं ॥५॥
मंदाकिनि - मज्जन तिहुँ काला। राम - दरस मुद - मंगल-माला ॥६॥
अटन राम - गिरि-बन तापस-थल। असन अमिय-सम-कंद-मूल-फल॥७॥
सुख - समेत संबत दुइ साता। पल-सम होहिं न जनियहि जाता ॥८॥

दोहा—येहि सुख-जोग न लोग सब, कहहिं कहाँ अस भाग।
सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम - चरन - अनुराग ॥२८०॥

अर्थ—इस तरह चार दिन बीत गये। श्रीरामजी को देखकर स्त्री-पुरुष सुखी हैं ॥१॥ दोनों समाजों के मन में ऐसी रुचि है कि बिना श्रीसीतारामजी के (साथ लिये) लौटना अच्छा नहीं ॥२॥ श्रीसीतारामजी

के साथ वन का वास करोड़ों देवलोकों के समान सुविधादायक है ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीवैदेहीजी को छोड़कर जिसे घर अच्छा लगे, उसके विधाता उल्टे हैं (ऐसा जानो) ॥४॥ जब हम सबों के दैव दाहिना हो, तभी श्रीरामजी के पास वन में निवास हो ॥५॥ मंदाकिनीजी में तीनों काल स्नान और आनंद-मंगलों के समूह श्रीरामजी के दर्शन ॥६॥ श्रीरामजी के पर्वतों और वनों एवं तपस्वियों के स्थानों में विचरते तथा अमृत-समान कंद-मूल-फल भोजन करते हुए। ७॥ सुखपूर्वक १४ वर्ष तो पल के समान (बीत) जायँगे, जाते हुए जान ही न पड़ेंगे ॥८॥ सब लोग कहते हैं कि हमलोग इस सुख के योग्य नहीं हैं। (भला) हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ? दोनों (श्रीअवध और श्रीमिथिला के) समाजों का सहज स्वभाव से श्रीरामजी के चरणों में अनुराग है ॥२८०॥

विशेष—(१) 'येहि विधि बासर बीते···'—जैसा ऊपर कहा गया कि प्रातःकाल स्नान कर श्रीरामजी के पास बैठते हैं। दोपहर को कंद आदि का विधिवत् फलाहार करते हैं। 'कोटि अमरपुर·· ' —देवलोक में एक कल्पवृक्ष है और यहाँ सब गिरि कामद हो रहे हैं। वहाँ मंदाकिनीजी हैं जिनसे स्वर्ग की गंगाजी भी ईर्ष्या करती हैं। वहाँ अमृत और यहाँ अमृत-तुल्य कंद-मूल-फल; वहाँ नन्दनवन का विहार है और यहाँ श्रीराम-वन-पर्वत के विहार हैं। वहाँ असुरों का भय रहता है और यहाँ—'राम दरस मुद-मंगल-माला।' प्राप्त है। वे श्रीरामजी के लिये तरसते हैं और यहाँ श्रीरामजी साथ हैं।

(२) 'सुख-समेत संबत दुइ साता।'—कई भाग होने से कोई भी वस्तु अल्प हो जाती है, थोड़ी जान पड़ती है, इसीसे १४ के दो भाग (७+७) करके कहते हैं, उसमें 'दुइ' शब्द से एक सात को दिखाते हैं कि थोड़े ही तो हैं। वे भी सुख के साथ होने से जान ही न पड़ेंगे, यथा—"प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान॥" (बा० दो० २००): "ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट् बीति॥" (उ० दो० १५)।

येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥१॥
सीयमातु तेहि समय पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं ॥२॥
सावकास सुनि सब सिय-सासू। आयउ जनकराज - रनिवासू ॥३॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी ॥४॥
सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा ॥५॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥६॥
सब सियराम-प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति ॥७॥
सीय - मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पयफेन फोर पबि टाँकी ॥८॥

दोहा—सुनिय सुधा देखियहि गरल, सब करतूति कराल।
जहँ-तहँ काक-उलूक-बक, मानस सकृत मराल ॥२८१॥

शब्दार्थ—सावकास = अवकाश सहित, खाली। बिसूरति = दुःख या चिन्ता करती है। टाँकी = छेनी।

अर्थ—इस तरह सभी लोग मनोरथ कर रहे हैं, प्रेम-सहित वचन सुनते ही (सबके) मन हर जाते हैं ॥१॥ उसी समय श्रीसीताजी की माता श्रीसुनयनाजी की भेजी हुई दासियाँ (श्रीअयोध्याजी के रनवास से मिलने का) अच्छा अवसर देखकर आईं ॥२॥ श्रीसीताजी की सब सासों को खाली सुनकर श्रीजनक राज का रनवास आया ॥३॥ श्रीकौशल्याजी ने सबका आदरपूर्वक सम्मान किया, समयानुसार आसन लाकर दिये ॥४॥ दोनों ओर सबके पूर्ण रीति से शील और स्नेह को देखकर (और तत्सम्बन्धी वचन) सुनकर कठोर वज्र भी पिघले जाते हैं ॥५॥ (सबके) शरीर पुलकित और शिथिल हैं, नेत्रों में (शोक और प्रेम के) आँसू हैं, वे सब अपने पैर के नखों से पृथिवी पर लिखने और सोचने लगीं ॥६॥ सब श्रीसीतारामजी की प्रीति की मूर्त्ति-सी हैं, मानों करुणा ही बहुत-से वेष धरकर चिन्ता कर रही है ॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि विधाता की बुद्धि बड़ी बाँकी (विचित्र एवं टेढ़ी, तीक्ष्ण) है, जो दूध के फेन को वज्र की टाँकी से फोड़ती है ॥८॥ अमृत सुनने में आता है और विष दिखाई पड़ता है, उसके सभी कर्त्तव्य कठोर हैं, जहाँ-तहाँ कौए, उल्लू और बगुले दिखाई देते हैं, हंस एक मानसर में ही हैं ॥२८१॥

विशेष—(१) 'देखि सुअवसर आईं'—अवसर देखने गई थीं कि भोजन आदि से निवृत्त तो हैं? किसी कार्य में तो नहीं लगी हैं? इत्यादि, वे अच्छा अवसर देखकर आ गईं। अवसर पर ही कार्य करना श्रेयस्कर होता है; यथा—"समयहि साधे काज सब, समय सराहहि साधु।" (दोहावली ४४८)।

(२) 'आसन दिये समय सम'—शोक का समय है और ग्रीष्मऋतु है। अतः, कुश-साथरी आदि शीतल आसन काले या हरे रंग के वनस्थल के अनुसार दिये। स्वयं लाकर दिये, यह आदर एवं सम्मान है। 'द्रवहिं देखि सुनि'''; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (दो० ११६)।

(३) 'महि नख लिखन लगीं'''—यह स्त्रियों के शोच समय की मुद्रा है; यथा—"चारु चरन नख लेखति धरनी।" (दो० ५७)। 'जनु करुना बहु बेष'''—७०० श्रीअवध की रानियाँ हैं, और मिथिला-नरेश का रनवास है, सब एक मुद्रा से शोच करती हैं, इसीसे मूर्त्तिमान् करुणा के बहुत रूपों से उपमा दी गई है कि एक तो करुणा और वह भी मूर्त्तिमान् होकर, फिर भी चिन्ता करती हुई बहुत वेष में मानों बैठी है। अत्यन्त प्रेम देखकर 'प्रीति कि सि मूरति' और अति करुणा से 'जनु करुना''' कहा है।

(४) 'सीय-मातु कह बिधि'''—पहले श्रीसुनयनाजी बोलीं, क्योंकि दुःख में आश्वासन देने आई हैं। विधि की ओर से श्रीकैकेयीजी के कर्त्तव्य पर विचार करती हैं। ब्रह्मा-सबकी बुद्धि के देवता हैं, वेही प्राचीन कर्मानुसार बुद्धि से विचार स्फुरण कराते हैं। पर जहाँ अचानक कुछ-से-कुछ हो जाता है, वहाँ ब्रह्मा की विचित्रता एवं कुटिलता कही जाती है; उसी रीति से श्रीसुनयनाजी कह रही हैं कि श्रीरामजी दूध के फेन के समान स्वच्छ, सात्त्विक स्वभाव के और कोमल हैं, उन्हें वनवास देकर दुःख दिया गया, यही वज्र की टाँकी से दूध के फेन का फोड़ना है। वा, राजा श्रीदशरथजी, श्रीकौशल्याजी और श्रीरामजी का सात्त्विक संयोग दूध के फेन का जुड़ना है, श्रीकैकेयीजी वज्र की टाँकी हैं, मन्थरा हथौड़ी, श्रीअवधवासी निहाई और सरस्वती (ब्रह्मा की बुद्धि रूपा शक्ति) ठोंकनेवाली है। जल के फेन से नमुचि दैत्य को इन्द्र ने मारा है, वह वज्र के समान कठोर था; यथा—"अजर अमर कुलिसहु नाहिन बध सो पुनि फेन मर्‍यो।" (वि० २११); ब्रह्मा ने यहाँ उसका उल्टा किया, यही विचित्रता है।

(५) 'सुनिय सुधा'''—सबके सुनने में आया कि श्रीरामजी का तिलक है और देखने में वनवास; यथा—"का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥" (दो० ४७);

श्रीराम-तिलक सुधा और वनवास विष है। सायंकाल में सुना गया राज्य-तिलक और प्रातःकाल में दिया गया वनवास; यह एवं उसके और भी सभी कर्त्तव्य कठोर हैं। जैसे कि काक, उलूक और बक तो जहाँ-तहाँ सुख से रहते हैं, हंस एक मानसर में ही सुख से रहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है। पर, उसने हंस के समान श्रीरामजी को जहाँ-तहाँ का कर दिया। जो श्रीअवध-रूपी मानसर के योग्य थे; उन्हें वन-वन जहाँ-तहाँ फिरने का संयोग कर दिया।

वा अमृत सुनने ही में आता है और विष ठौर-ठौर प्रत्यक्ष है। हंस एक मानसर में ही सुने जाते हैं और काक, उलूक और बक सर्वत्र भरे पड़े हैं; अर्थात् सुखदायी पदार्थ तो इस कराल करतूतवाले ब्रह्मा ने सुनने-मात्र को रक्खा है और दुःखद पदार्थों को भर दिया है। उसी स्वभाव से उसने श्रीरामजी का तिलक तो सुनने मात्र को रचा है, पर १४ वर्ष के वनवास का दुःख आँखों से देख रही हैं। यही ब्रह्मा की बुद्धि का टेढ़ापन है।

सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। विधिगति बड़ि विपरीत बिचित्रा ॥१॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल-केलि-सम विधिमति भोरी ॥२॥
कौसल्या कह दोष न काहू। करमबिबस दुख-सुख-छति-लाहू ॥३॥
कठिन करम-गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥४॥
ईस - रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के ॥५॥
देवि मोहबस सोचिय बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी ॥६॥

अर्थ—यह सुनकर श्रीसुमित्रा देवी शोक के साथ कहती हैं कि विधाता की चाल बड़ी उल्टी और विचित्र है ॥१॥ जो उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर देता है, लड़कों के खेल के समान ब्रह्मा की बुद्धि भोली है ॥२॥ (इसपर) श्रीकौशल्याजी कहती हैं कि दोष किसी का नहीं है, कर्म के विवश दुःख-सुख और हानि-लाभ होते हैं ॥३॥ कठिन कर्म-गति को ब्रह्माजी जानते हैं, जो सबको शुभ और अशुभ सभी (कर्मों के) फलों को देनेवाले हैं ॥४॥ ईश्वर की आज्ञा सभी के सिर पर है; उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, विष और अमृत के भी (शिर पर है) ॥५॥ हे देवि! मोहवश व्यर्थ (आप) शोच करती हैं, विधाता का रचा हुआ संसार (भव-जाल) ऐसा ही अचल है और यह अनादि काल से ऐसा ही है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि ससोच कह···'—सुमित्राजी ने सुनयनाजी के वचनों का समर्थन किया। इन्होंने भी विधि को ही दोष दिया, क्योंकि 'ससोच' हैं। 'बड़ि बिपरीत बिचित्रा'—अमृत घर-घर होना चाहता था, क्योंकि सुखकारी है, पर वह देखने को भी नहीं मिलता। विष छिपा रहता तभी अच्छा था, क्योंकि मृत्युकारी है, पर वह सर्वत्र है। उसी ब्रह्मा की सन्तान जीवमात्र है, इनका सुख भी उसे अभीष्ट ही होना चाहिये। पर सब उल्टा ही है, विचित्रता यह है कि बहुत काल में रचता है, फिर संहार भी कर देता है। तब तो ब्रह्मा बालकों के घरौंदा बनाने-बिगाड़ने की तरह प्रपंच रचता है, अतएव वह भोली बुद्धि का है।

(२) 'कौसल्या कह दोष न काहू।'—श्रीसुनयनाजी ने भी विधि को ही दोष लगाया है, पर अपने

शील के कारण उनकी बात का खंडन नहीं किया, क्योंकि वे बराबर की हैं। सुमित्राजी छोटी हैं, इनकी ओट से कहा कि विधि का दोष कुछ नहीं। वह तो कर्म का यथार्थ फल देता है, सुख-दुःख में परिवर्त्तन नहीं कर सकता; यथा—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८); "जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥" (दो० १४९); 'कठिन करम गति जान बिधाता।···'—कर्म की गति कठिन है; यथा—"गहना कर्मणोगतिः॥" (गीता ४।१७); 'जान बिधाता'—अर्थात् विधाता ही जानता है, जीव नहीं जानता; यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" (गीता ४।५); "जीव करम बस सुख दुख भागी।" (दो० ११); "सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (दो० ७९); अर्थात् ईश्वर (ब्रह्मा) शुभ और अशुभ फल कर्म के अनुसार ही देता है।

(३) 'ईस-रजाइ सीस सबही के।'—अर्थात् विधि आदि सब भी ईश्वर (श्रीरामजी) के अधीन हैं; यथा—"बिधि हरि हर ससि रबि ··अहिप महिप···राम रजाइ सीस सबही के॥" (दो० २५४); तात्पर्य यह कि दोष किसी का नहीं, ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। अपने अधिकारानुसार जगत्-भर ईश्वर की आज्ञा में यंत्रित है। 'उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के'—बिना ईश्वर की आज्ञा के उत्पत्ति आदि किसी बात की भी प्रवृत्ति नहीं है। ईश्वर की आज्ञा से मारकण्डेय मुनि के लिये बिना समय ही प्रलय हो गया; यथा—"मारकण्डेय मुनिवर्जहित कौतुकी बिनहि कल्पान्त प्रभु प्रलयकारी।" (वि ६०); प्रह्लाद और शिव जी विष पीकर भी नहीं मरे, इत्यादि।

(४) 'देवि मोह बस सोचिय बादी।···'—श्रीकौशल्याजी उपर्युक्त बातों का सारांश कहती हैं कि हे देवि! अज्ञानवश व्यर्थ ही शोच करती हैं। विधि का प्रपंच अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और चला जायगा; यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता २।२७); 'अस'—वर्त्तमान है, 'अचल' अर्थात् आगे भी ऐसा ही रहेगा। 'अनादि' अर्थात् भूतकाल से ऐसा हो चला आता है। इस तरह तीनों कालों में प्रपंच की सत्ता कही गई। अतः, उपर्युक्त अमृत, विष, हंस, काक आदि सब तीनों कालों में ऐसे ही रहते हैं, तब शोच करना व्यर्थ ही है।

भूपति जियब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज-हित-हानी॥७॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती-अवधि अवधपति-रानी॥८॥

दोहा—लखन राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच।
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहि भरत कर सोच॥२८२॥

अर्थ—राजा का जीना और मरना हृदय में लाकर जो शोच करती हैं, हे सखि! वह शोच अपने हित की हानि को देखकर है॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि आपकी सुंदर वाणी सत्य है, आप पुण्यात्माओं में सर्वश्रेष्ठ अवध के राजा श्रीदशरथजी की रानी ही हैं (इससे आपका ऐसा कहना योग्य ही है)॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी वन को जायँ, इसका परिणाम (फल) अच्छा है, बुरा नहीं, (पर) व्याकुल हृदय से श्रीकौशल्याजी कहती हैं कि मुझे श्रीभरतजी की चिन्ता है (कि श्रीराम-वियोग में न जाने उनकी क्या दशा हो?)॥२८२॥

विशेष—'सोचिय सखि ···'– जो शोच किया जाता है वह अपने हित की हानि के प्रति, मृतक-प्राणी के प्रति नहीं, उसके लिये तो शोच करना व्यर्थ है। 'सुकृती अवधि अवध पति रानी'—श्रीकौशल्याजी ने सबको निर्दोष किया, यह धर्म की बात है, इसीसे इनके सुकृत सम्बन्ध की सराहना की गई। 'भल परिनाम न पोच'—श्रीरामजी धर्म-मार्ग पर आरूढ़ हैं, पिता की आज्ञा का पालन श्रेष्ठ धर्म है; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४), धर्माचरण का परिणाम अच्छा ही होता है, 'न पोच'—धर्मात्मा की दुर्गति हो ही नहीं सकती; यथा—"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥" (गीता ६।४०)।

ईस - प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत - सुतवधू - देवसरि बारी ॥१॥
राम-सपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ ॥२॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ॥३॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥४॥
जानउँ सदा भरत कुल-दीपा। बार-बार मोहि कहेउ महीपा ॥५॥
कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखियहिं समय सुभाये ॥६॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा ॥७॥
सुनि सुरसरि-सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी ॥८॥

अर्थ—ईश्वर की कृपा और आपकी आशिष से (मुझे) पुत्र और पुत्रवधू दोनों गंगा-जल (के समान पवित्र मिले) हैं ॥१॥ मैंने श्रीरामजी की शपथ कभी नहीं की है, हे सखि! वह भी करके सद्भाव से कहती हूँ ॥२॥ श्रीभरतजी का शील, गुण, विनम्र स्वभाव, बड़ाई (की महिमा), भाईपना, भक्ति, भरोसा और भलापन ॥३॥ कहते हुए सरस्वती की भी बुद्धि हिचकिचाती (अशक्त हो जाती) है, क्या सीप से समुद्र उलीचा जा सकता है? अर्थात् सीपी से सागर उलीचे जाने की तरह शारदा से कहा जाना असंभव है ॥४॥ मैं सदा से श्रीभरतजी को कुल का दीपक जानता हूँ (वा तुम सदा जानो) मुझसे बार-बार राजा ने ऐसा कहा था ॥५॥ सोना (कसौटी पर) कसे जाने पर और मणि के परीक्षा पाने पर (यथार्थ जाना जाता है) वैसे ही पुरुष की परीक्षा समय पड़ने पर स्वभाव से सहज ही में हो जाती है ॥६॥ आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है, (क्योंकि) शोक और स्नेह से चतुरता कम पड़ जाती है ॥७॥ गंगाजी के समान पवित्र वाणी सुनकर सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो गईं ॥८॥

विशेष—(१) 'ईस-प्रसाद असीस ···'—ईश से ईश्वर और शिवजी के अर्थ होते हैं, यहाँ शिष्टाचार कहती है, ऐसी रीति है। 'देवसरि बारी'—गंगाजी के समान स्वच्छ हैं, गंगाजी की शपथ भी सहसा नहीं की जाती, पर अत्यन्त सत्यता के लिये की भी जाती है, वैसे शपथ करना है, इससे गंगाजी के तुल्य कहा। धर्मात्मापने से पवित्रता में भी गंगाजी के सदृश कहा है। 'राम सपथ मैं कीन्हि न काऊ'—स्त्रियाँ प्राय. पुत्र की शपथ नहीं करतीं। कोई भारी संकट पर ही करती हैं। वैसे ये यहाँ अपने सद्भाव कथन के लिये शपथ करती हैं, तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी को बड़ाई करती हुई यह भी

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कहती हैं कि हे श्रीमिथिलेश्वरी देवि ! सुनिये, आप विवेक-सागर राजा श्रीजनकजी की प्यारी हैं (अतः) आपको कौन उपदेश दे सकता है ? ॥२८३॥ हे रानी ! अवसर पाकर आप राजा से अपनी तरह समझाकर कहियेगा ॥१॥ कि श्रीलक्ष्मणजी (घर) रख लिये जायँ और श्रीभरतजी वन को जायँ, जो यह सलाह राजा के मन में ठीक जान पड़े ॥२॥ तो भले प्रकार विचार करके भला (पूरी) यत्न करें, मुझे श्रीभरतजी का भारी शोच है (कि कहीं राजा की तरह ये भी न प्राण छोड़ दें) ॥३॥ श्रीभरतजी के मन में गूढ़ प्रेम है (इससे) उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या कह धीर धरि···'—ऊपर कहा गया—'भईं सनेह बिकल सब रानी।' ये भी विकल थीं, इसीसे यहाँ 'धरि धीर' कहा है। ये कौशल्या (कौशल्यं=निपुणता) अर्थात् निपुणा हैं और पूर्वजन्म से ही इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसी से सबको सम झाती हैं।

(२) 'विवेकनिधि वल्लभहि'—श्रीजनकजी ज्ञान के खजाना हैं और आप उनकी प्रिया हैं, तो अवश्य विवेकयुक्ता होंगी, अन्यथा उन्हें प्रिय न होतीं, आप स्वयं सब जानती हैं, तो आपको उपदेश देना धृष्टता है।

(३) 'अपनी भाँति···'—अपनी ओर से ही कहना, हमारी तरफ से नहीं। जैसे अपनी आवश्यक बातें आप कहा करती हैं, वैसे इसे भी अपनी बुद्धि के अनुसार सँभालकर कहें। अपनी ओर से ऐसे ही श्रीसुनयनाजी ने आगे कहा भी है ; यथा—"कही समयसिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि।"

(४) 'रखियहिं लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी के लौटने में इन्हें केवल श्रीराम-वियोग का एक ही दुःख होगा और श्रीभरतजी के साथ जाने से उनके दो दुःख मिटेंगे—एक अपयश का, दूसरा श्रीराम-वियोग का, इसलिये इस हेर-फेर के लिये कह रही हैं। 'जौ यह मत···'—भाव यह कि मैं हठ नहीं करती, जो राजा के मन में यह बात ठीक समझ पड़े, तब ऐसा करें।

(५) 'गूढ़ सनेह भरत मन-माहीं। ···'—श्रीलक्ष्मणजी का स्नेह प्रकट है कि सबका स्नेह तृण के समान तोड़कर साथ हो लिये। पर श्रीभरतजी का स्नेह गूढ़ अर्थात् गुप्त एवं गंभीर अभिप्राय-युक्त है। 'ये प्रवृत्ति को लिये हुए निर्लिप्त रहकर राम-स्नेह निबाहते हैं।' तभी तो श्रीवसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी और देवता आदि भी इनका गूढ़स्नेह सहसा न जान सके। इस स्नेह में बलात् घर रखने पर ये कहीं प्राण न छोड़ दें, यही डर है।

लखि सुभाव सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी ॥५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्धि जोगी मुनि ॥६॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देवि दंडजुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

दोहा—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सति भाय।
हमरे तौ अब ईस-गति, कै मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

कहेंगी कि श्रीभरतजी वन को जायँ, उसपर लोग कह सकते हैं कि कैसी युक्ति से कैकेयी से बदला ले रही हैं, इसके निवारण के लिये और अपने सद्भाव (दुर्भाव नहीं) दिखाने लिये प्राणप्रिय पुत्र की शपथ करती हैं कि यदि मैं अहित भाव से कहती होऊँ, तो मेरे श्रीरामजी और श्रीसीताजी काम न आवें, यह शपथ का भाव है।

(२) 'भरत-सील-गुन-बिनय'''—'गुन' को शील-विनय के विशेषण मानें, तो सात ही गुण कहे गये हैं, सागर भी प्रधान सात ही हैं, वे अगाध और अनन्त हैं। वैसे श्रीभरतजी उन सातों गुणों के गंभीर समुद्र हैं, वे एक-एक गुण उनमें अनंत भाव के हैं। जब सरस्वती से कहा जाना असंभव है, तब मैं या और कोई कवि क्या कह सकते हैं? अतः, ऐसे ही कहकर छोड़े देती हूँ।

(३) 'जानउँ सदा भरत'''—राजा ने बार-बार कहा, क्योंकि पहले मुझे प्रतीति नहीं होती थी, अब मैंने जाना कि वे ठीक ही कहते थे।

(४) 'कसे कनक मनि'''—आपत्ति पड़ने पर भरत के स्वभाव की परीक्षा हुई कि कुल-मर्यादा की रक्षा इन्होंने ही की, अन्यथा और से न हो सकती थी। अतएव यथार्थ कुल के प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं, यह मैंने आँखों से देखा। सोने की परख कसौटी पर रखने से और मणि की जौहरी की परीक्षा से होती है। सोने की परीक्षा चार तरह से की जाती है; यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के।" (क० उ० २१); तथा—"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते। निघर्षणच्छेदनतापताडनैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥" (चाणक्यनीतिः)।

(५) 'अनुचित आजु कहब'''—अनुचित यह है कि आज सभी श्रीभरतजी के त्याग की बड़ाई करते हैं, मैं भी करूँ, तो तात्पर्य यह होता है कि श्रीभरतजी! तुम किसी के भी कहने पर राज्य न लो, त्याग में ही तुम्हारी बड़ाई है, इत्यादि। इसीसे सकुचा गईं कि शोक से चित्त खिन्न है और भरतजी के स्नेह में उनकी बड़ाई करते हुए व्यावहारिक चतुरता थोड़ी पड़ गई, इसी से सहसा उपर्युक्त बातें कही गईं।

(६) 'सुनि सुरसरि सम'''—श्रीकौशल्याजी ने पहले पुत्र और पुत्रवधू को गंगाजी के समान कहा था, अब उनकी वाणी ही गंगाजी के समान पवित्र कही गई, क्योंकि इस वाणी ने मंथरा, कैकेयी और सरस्वती एवं ब्रह्मा आदि सबको निष्पाप बनाया, यह इसमें पावनता-गुण है। पुनः अपने पुत्र-पुत्रवधू की शपथ करके भी श्रीभरतजी की सराहना करती हैं और उन्हीं के कल्याण की चिन्ता कर रही हैं, यह परम पावन भाव इस वाणी में है।

दोहा—कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक निधि-बल्लभहि तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥२८३॥

रानि राय सन अवसर पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥१॥
रखिअहि लखन भरत गवनहि बन। जौ यह मत मानइ महीप-मन॥२॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरे सोच भरत कर भारी॥३॥
गूढ़ सनेह भरत-मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कहती हैं कि हे श्रीमिथिलेश्वरी देवि ! सुनिये, आप विवेक-सागर राजा श्रीजनकजी की प्यारी हैं (अतः) आपको कौन उपदेश दे सकता है ? ॥२८३॥ हे रानी ! अवसर पाकर आप राजा से अपनी तरह समझाकर कहियेगा ॥१॥ कि श्रीलक्ष्मणजी (घर) रख लिये जायँ और श्रीभरतजी वन को जायँ, जो यह सलाह राजा के मन में ठीक जान पड़े ॥२॥ तो भले प्रकार विचार करके भला (पूरा) यत्न करें, मुझे श्रीभरतजी का भारी शोच है (कि कहीं राजा की तरह ये भी न प्राण छोड़ दें) ॥३॥ श्रीभरतजी के मन में गूढ़ प्रेम है (इससे) उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या कह धीर धरि॰'—ऊपर कहा गया—'भईं सनेह बिकल सब रानी।' ये भी विकल थीं, इसीसे यहाँ 'धरि धीर' कहा है। ये कौशल्या (कौशल्यं=निपुणता) अर्थात् निपुणा हैं और पूर्वजन्म से ही इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसी से सबको सम भाती हैं।

(२) 'बिबेकनिधि बल्लभहि'—श्रीजनकजी ज्ञान के खजाना हैं और आप उनकी प्रिया हैं, तो अवश्य विवेकयुक्ता होंगी, अन्यथा उन्हें प्रिय न होती, आप स्वयं सब जानती हैं, तो आपको उपदेश देना धृष्टता है।

(३) 'अपनी भाँति···'—अपनी ओर से ही कहना, हमारी तरफ से नहीं। जैसे अपनी आवश्यक बातें आप कहा करती हैं, वैसे इसे भी अपनी बुद्धि के अनुसार सँभालकर कहें। अपनी ओर से ऐसे ही श्रीसुनयनाजी ने आगे कहा भी है ; यथा—"कही समयसिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि।"

(४) 'रखियहि लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी के लौटने में उन्हें केवल श्रीराम-वियोग का एक ही दुःख होगा और श्रीभरतजी के साथ जाने से उनके दो दुःख मिटेंगे—एक अपयश का, दूसरा श्रीराम-वियोग का, इसलिये इस हेर-फेर के लिये कह रही हैं। 'जौ यह मत···'—भाव यह कि मैं हठ नहीं करती, जो राजा के मन में यह बात ठीक समझ पड़े, तब ऐसा करें।

(५) 'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। ···'—श्रीलक्ष्मणजी का स्नेह प्रकट है कि सबका स्नेह तृण के समान तोड़कर साथ हो लिये। पर श्रीभरतजी का स्नेह गूढ़ अर्थात् गुप्त एवं गंभीर अभिप्राय-युक्त है। 'ये प्रवृत्ति को लिये हुए निर्लिप्त रहकर राम-स्नेह निबाहते हैं।' तभी तो श्रीवसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी और देवता आदि भी इनका गूढ़स्नेह सहसा न जान सके। इस स्नेह में बलात् घर रखने पर ये कहीं प्राण न छोड़ दें, यही डर है।

लखि सुभाव सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी ॥५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्धि जोगी मुनि ॥६॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देवि दंडजुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

दोहा—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सति भाय।
हमरे तौ अब ईस-गति, कै मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी का स्वभाव देखकर और उनकी सीधी निष्कपट सुन्दर वाणी सुनकर सब रानियाँ करुण रस में डूब गईं ॥५॥ आकाश से फूलों की झड़ी लग गई, और 'धन्य ! धन्य !' की ध्वनि छा गई। सिद्ध योगी और मुनि लोग स्नेह से शिथिल हो गये ॥६॥ सब रनवास देखकर स्तब्ध रह गया, तब धैर्य धरकर श्रीसुमित्राजी ने कहा ॥७॥ कि हे देवि ! दो घड़ी रात बीत गई। यह सुनकर श्रीरामजी की माता प्रीति-पूर्वक उठीं एवं प्रीति-पूर्वक कहने लगीं ॥८॥ कि आप शीघ्र डेरे को पधारें। हमें तो अब ईश्वर ही का अवलंब है, या श्रीमिथिलेशजी सहायक हैं ॥२८४॥

विशेष—(१) 'सब भईं मगन करुन रस रानी।'—वाणी करुणारस-पूर्ण थी, इसीसे सुनकर सब उसी रस में निमग्न हो गईं, इसकी दशा ; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥" (दो० ४६); तथा—"मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना बिरह निवास।" (बा० दो० ३३७); भी देखिये। इस प्रसंग का उपक्रम—"जनु करुना बहु वेष बिसूरति।" से हुआ और यहाँ—'सब भईं मगन ···' पर उपसंहार है। भाव यह कि प्रसंग भर करुणा रस पूर्ण है।

(२) 'नभ प्रसून झरि धन्य···'—श्रीकौसल्याजी के वचनों में देवताओं ने अपने स्वार्थ की सिद्धि देखी, वे जान गये कि इनका अभिप्राय श्रीरामजी के लौटाने का नहीं है, किंतु ये श्रीरामजी के वन जाने में भलाई माने हुई हैं ; यथा—'भल परिनाम न पोच।' इसीसे फूल-वर्षा कर धन्य-धन्य कहते हैं। 'सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि'—ये लोग प्रायः स्नेही नहीं होते, पर यहाँ इन्होंने माता को सरल स्नेह और धर्म में निष्ठा देखी कि पुत्र-वियोग की पीड़ा सहने में प्रस्तुत हैं, पर यह नहीं कहतीं कि श्रीरामजी रख लिये जायँ। इनमें स्वार्थ का लेश नहीं है, अतएव ये स्नेह में मुग्ध हो गये।

(३) 'सब रनिवास बिथकि···'—करुणा के कारण सब स्तब्ध हो गईं। श्रीसुमित्राजी सब के लिये सुष्ठु-मित्र हैं। सबकी धर्म-रक्षा पर इनकी दृष्टि है। इसीसे बोलीं कि दो दंड रात भी बीत चुकी ; अर्थात् लगभग ३ घड़ी दिन रहते बैठक हुई और दो घड़ी रात भी बीत गई। पति-सेवा में पहुँचना चाहिये।

'ईसगति'—ईश का अर्थ यहाँ श्रीशिवजी है, क्योंकि आगे श्रीसुनयनाजी ने दुहराते हुए स्पष्ट कर दिया है ; यथा—"सदा सहाय महेस भवानी।" श्रीकौशल्याजी की तरह श्रीरामजी ने भी कहा है; यथा—"मुनिमिथिलेस राखि सब लीन्हा।" (दो० २०४)।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता ॥१॥
देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घरनि राम-महतारी ॥२॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं ॥३॥
सेवक राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेस भवानी ॥४॥
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै ॥५॥

शब्दार्थ—गह = ग्रहण करना, लगना, स्पर्श करना। घरनि = स्त्री, घरवाली। अंग = सहायक, मित्र।

अर्थ—श्रीकौशल्याजी के स्नेह को देखकर और उनके विनम्र वचन सुनकर श्रीजनकजी की प्रिया श्रीसुनयनाजी ने उनके पवित्र चरण स्पर्श किये ॥१॥ (और कहा) हे देवि ! आपकी ऐसी नम्रता उचित

ही है. (क्योंकि) आप श्रीदशरथ महाराज की स्त्री और श्रीरामजी की माता हैं ॥२॥ प्रभु (बड़े लोग) अपने नीच जनों को भी आदर देते हैं। (जैसे कि) अग्नि धुएँ को और पर्वत तृण को शिर पर धारण करते हैं ॥३॥ राजा (श्रीजनकजी तो) मन, कर्म और वचन से आपके सेवक हैं और सदा सहायक तो शिव-पार्वतीजी हैं ॥४॥ आपका सहायक होने के योग्य जगत् में कौन है? क्या दीपक सूर्य का सहायक बनकर शोभा पाता है? ॥५॥

विशेष—(१) 'जनक प्रिया गह पाय पुनीता।'—श्रीकौशल्याजी का पद बड़ा है, क्योंकि जामाता की माता और चक्रवर्त्ती की बड़ी रानी हैं। फिर भी इनमें इतनी नम्रता है, यह समझ कर इन्होंने चरण-पर्श किया, विनती की और कहा कि हमलोग तो आपके दास-दासी हैं, सहायक होने के योग्य नहीं।

(२) 'दसरथ घरनि राम महतारी।'—भाव यह कि श्रीदशरथजी महाराज प्रेम के खजाना थे, आप उनकी रानी हैं, तो आपमें ऐसा स्नेह क्यों न हो? श्रीरामजी श्रीकैकेयीजी के निष्ठुर, वचनों पर भी मृदु भाषण ही करते रहे, फिर आप उन्हीं की माता हैं तो, ऐसा मृदु-विनम्र वचन क्यों न कहें? स्त्री की तीनों प्रकार की श्रेष्ठता आपमें है—स्वयं देवि अर्थात् दिव्य स्वरूपा हैं। आपके पति श्रेष्ठ और पुत्र भी श्रेष्ठ हैं; यथा—"महिमा अवधि राम··" (बा० दो० १५); "दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (दो० २०८)। माता और पत्नी में योग्यता का अंश रहता है।

(३) 'प्रभु अपने नीचहु····'—आपने जो विनम्र वचनों से मुझे आदर दिया, वह ऐसा ही है, जैसा स्वामी सेवक को आदर दे; यथा—"प्रभु प्रभुक तिभुवन माहि जियाई केवल सकहि दीन्हि बड़ाई॥" (लं० दो० ११२); जैसे कि अग्नि जलते समय धुएँ को शिर पर और पर्वत तृणों को शिर पर रखता है, क्योंकि ये इन्हें अपना एवं अपनेसे छोटा मानते हैं। यद्यपि धुएँ और तृण से अग्नि और पर्वत को कोई लाभ नहीं, तथापि ये आदर देते हैं। वैसे ही राजा और मैं धूम्र और तृण के समान हैं। आपने कृपा कर अपना मान कर आदर दिया है।

(४) 'सेवक राउ करम मन····'— भाव राजा सहायक नहीं, किन्तु सेवक हैं। राजा ने स्वयं भी विनय में कहा है; यथा—"येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥" (बा० दो० ३२६)॥ हाँ, महेश-भवानी सदा सहायता करने के योग्य हैं, क्योंकि ईश्वर हैं।

(५) 'रउरे अंग जोग जग····'—यह 'के मिथिलेस सहाय' का उत्तर है। 'जग को है' अर्थात् राजा श्रीजनकजी की कौन चली, सारे जगत् के देव, दनुज आदि भी सहायक होने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि यह कुल सभी की रक्षा करता आया है; यथा—"सुरपति बसइ बाहँ बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥" (दो० २२); आप सूर्य के समान जगत्-भर में अद्वितीय प्रतापवाले राजा की रानी हैं। राजा (श्रीजनकजी) दीप के समान अपने राज्य मात्र के रक्षक हैं जैसे दीपक घर भर को ही प्रकाशित कर सकता है। दीपक सूर्य का सहायक बनने से शोभा नहीं पाता, छवि हीन देख पड़ता है। वैसे, सहायक बनने में राजा की शोभा नहीं; किंतु ये सेवक हैं।

राम जाइ बन करि सुर-काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥६॥
अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने-अपने थल॥७॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाखा॥८॥

दोहा—अस कहि पग परि प्रेम अति, सियहित बिनय सुनाइ ।
सियसमेत सियमातु तब, चलीं सुआयसु पाइ ॥२८५॥

अर्थ—श्रीरामजी वन में जाकर देव कार्य करके श्रीअवधपुर में अचल राज्य करेंगे ॥६॥ देवता, नागदेव (पातालवासी), मनुष्य, सब श्रीरामजी के बाहुबल से अपने-अपने स्थलों (लोकों) में सुख पूर्वक बसेंगे ॥७॥ यह सब श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने कह रक्खा है, हे देवि! मुनि का कहा हुआ झूठा नहीं हो सकता ॥८॥ ऐसा कहकर अत्यंत प्रेम से चरणों में पड़कर और श्रीसीताजी के लिये अत्यंत प्रेम-पूर्वक प्रार्थना करके (कि इसे साथ में दीजिये, सब देख लें) सुन्दर आज्ञा पाकर श्रीसीताजी के साथ श्रीसीताजी की माता (अपने स्थल को) चलीं ॥२८५॥

विशेष—(१) 'राम जाइ बन... यह सब जागबलिक कहि राखा ।'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—'भल परिनाम न पोच' ये मुनि की वाणी से उसका समर्थन एवं विस्तार करती हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीजनकजी के गुरु हैं; यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है ।" (गी० बा० ८५); श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने श्रीकाकभुशुंडीजी से श्रीरामचरित पाया और श्रीभरद्वाजजी को सुनाया। यह मानस के मुख-बंध में कहा गया । बा० दो० ४४ चौ० ४-८ भी देखिये ।

(२) 'अमर नाग नर राम...'; यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिना ये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं ॥" (गी० उ० १३); अमर स्वर्ग के, नाग पाताल के और नर भूलोक के; अर्थात् तीनों लोकों के । यह सब श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने बहुत पहले कभी कहा है, इसीसे ये जानती हैं ।

यह राजमहिला सम्मेलन लोक-शिक्षा के लिये बड़े महत्त्व का है, जो लोग श्रीगोस्वामीजी को समग्र स्त्री-जाति के अनभिज्ञ एवं स्त्री-निन्दक कह बैठते हैं। उन्हें इसपर ध्यान देना चाहिये कि इनका वर्णन एवं और भी श्रीसीताजी, अनसूयाजी आदि का चरित-चित्रण भी तो इन्हींने किया है। फिर इन्हींने मंथरा, शूर्पणखा आदि का भी वर्णन किया है। जहाँ जैसा पात्र देखा गया, वहाँ वैसा, किन्तु व्यापक दृष्टि से कहा है। नारी-जाति पर जहाँ कटाक्ष है, वहाँ उसी श्रेणी की स्त्रियों पर है। यदि कहा जाय—"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥" (सुं० दो० ५८), में तो किसी खास पात्र का सम्बन्ध नहीं है, तो उत्तर यह है कि वहाँ भी गँवार, शुद्र और पशु के साहचर्य में कहकर गँवारिनी, अनाचारिणी एवं पशु के समान बुद्धिवाली स्त्रियों पर कहा है कि जैसे जबतक ठीक स्वर नहीं होता, तबतक ढोल कसा एवं चढ़ाया जाता है। वैसे ही ये सब जबतक सुधर न जायँ, तबतक दंड देकर कसे जायँ, सुधारे जायँ। पशु भी जब ठीक चलते हैं, तब मारे नहीं जाते, यह प्रत्यक्ष ही है। फिर ढोल का बजाया जाना ताड़ने में नहीं है, यह तो उसके गुण प्रकट करने की क्रिया है। ये स्त्रियाँ भी जब सुधर जायँ, तब उनके गुणों से लोगों में प्रशंसा हो। 'अधिकारी'—शब्द से भी स्पष्ट है कि जो ढोल सुरीला होता है, उसे नहीं कसा-ठोंका जाता, वैसे किसी भी श्रेणी की स्त्रियाँ सदाचारिणी होने से दंड की अधिकारिणी नहीं हैं, इत्यादि।

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही । जो जेहि जोग भाँति तेहि तेही ॥१॥
तापस बेष जानकी देखी । भा सब बिकल बिषाद बिसेखी ॥२॥
जनक राम-गुरु आयसु पाई । चले थलहि सिय देखी आई ॥३॥

लीन्हि लाइ उर जनक जानकी । पाहुनि पावन प्रेम प्रान की ॥४॥

अर्थ—वैदेही श्रीसीताजी अपने प्यारे कुटुम्बियों से, जो जिस योग्य थे, उनसे उसी प्रकार से मिलीं ॥१॥ श्रीजानकीजी का तपस्विनी-वेष देखकर सब विशेष दुःख से विशेष व्याकुल हो गये ॥२॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर श्रीजनकजी डेरे को चले और वहाँ आकर श्रीसीताजी को देखा ॥३॥ श्रीजनकजी ने अपने पवित्र प्रेम और प्राणों की पवित्र पाहुनी श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो जेहि जोग ...'—समान वय से गले लगकर मिलीं, छोटों के शिर पर हाथ रक्खा और बड़ों के चरण स्पर्श किये, किसीसे मृदुवाणी से कुशल ही पूछी। 'वैदेही'—अत्यंत स्नेह से विदेह-दशा को भी प्राप्त हैं। 'भा सब विकल विषाद विसेषी।'—पहले सुनकर सबको ही स्नेह से व्याकुलता थी; यथा—"सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥" (दो० २०१); अब आँखों से भी देखा, इससे विशेष विषाद से विकल हो गये।

(२) 'पाहुनि पावनि प्रेम प्रान की।'—पवित्र प्रेम और प्राणों की पाहुनी है, पाहुन का पूजा-सत्कार करना चाहिये, अतएव हृदय में लगाया। बहुत काल तप करने पर थोड़े दिन के लिये पाहुनीरूप से ब्याह-पर्यन्त घर में रहीं, आज फिर प्राप्त हुई हैं; अतः हृदय से लगाया।

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू । भयउ भूप-मन मनहु प्रयागू ॥५॥
सिय - सनेह बट बाढ़त जोहा । तापर राम-प्रेम-सिसु सोहा ॥६॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान-बिकल जनु । बूड़त लहेउ बाल - अवलंबनु ॥७॥
मोह मगन मति नहि बिदेह की । महिमा सिय - रघुबर - सनेह की ॥८॥

अर्थ—उनके हृदय में अनुराग-समुद्र उमड़ा, राजा का मन ही मानों प्रयाग हो गया ॥५॥ श्रीसीताजी में स्नेहरूपी अक्षयवट को उन्होंने बढ़ते देखा, उस (सिय-स्नेह-वट) पर श्रीराम प्रेमरूपी बालक शोभित हो रहा है ॥६॥ (श्रीजनकजी का) ज्ञानरूपी चिरजीवी मार्कण्डेय ऋषि, मानों व्याकुल होकर डूबते-डूबते (उस श्रीराम-प्रेम) बालक का सहारा पा गया ॥७॥ (कवि कहते हैं कि) विदेह राजा श्रीजनकजी की बुद्धि मोह में नहीं डूबी है, किन्तु यह सिय-रघुबर के प्रेम की महिमा है ॥८॥

विशेष—भाग० स्कं० १२ अ० ८-९-१० में विस्तृत कथा है। मार्कण्डेय मुनि ने भगवान् से वर माँगा कि मैं आपकी अद्भुत माया को देखूँ। एक दिन संध्यासमय पुष्पभद्रानदी के तट पर मुनि बैठे थे, अचानक आँधी आई और वर्षा हुई। चारों ओर से समुद्र ने उमड़कर पृथिवी को डुबा दिया। आकाश स्वर्ग आदि भी डूब गये। केवल चिरजीवी महामुनि ही बचे। ज्ञानी होने पर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हुए। डूबते-उतराते अमित काल तक गोते खाते रहे। फिर उन्होंने एक छोटा-सा टापू देखा, जिसपर एक सुहावना वटवृक्ष था। उसके ईशानकोण की शाखा में पत्र-पुट पर एक सुन्दर श्यामवर्ण-बालक को देखा कि वह सुंदर अंगुलि-युक्त दोनों हाथों से अपने चरण-कमल के अंगुष्ठ को मुँह में डाले हुए पी रहा है। उसे देखते ही मुनि के सब दुःख मिट गये, वे बड़े आनंदित हुए। 'तुम कौन हो' ? यह पूछने के लिये निकट गये। जाते ही उस बालक की साँस के साथ उसके उदर में चले गये। वहाँ ब्रह्मांड को पूर्व के समान देखा। मुनि कुछ समझ न सके कि यह क्या है ? मैं क्या हूँ ? साँस-द्वारा बाहर निकलकर

फिर उसी प्रलय-सागर में डूबने लगे कि वट वृक्ष पर उन्हीं बालमुकुन्द भगवान् को देखते हुए हृदय में बिठाकर संतुष्ट हुए और पास जाने लगे, त्योंही भगवान् अंतर्धान हो गये और सब प्रलय-दृश्य भी क्षण-भर में अदृश्य हो गया।

रूपक—राजा श्रीजनकजी परम ज्ञानी हैं, पर उन्होंने प्रेम और प्राण की पाहुनी श्रीजानकीजी को हृदय में लगा लिया और कुछ क्षणों के लिये वे प्रेम में विह्वल हो गये। शरीर-संबंध के पिता-पुत्री-भाव का अनुराग उमड़ पड़ा। पुत्री-भाव में उसी अनुराग की मोह-संज्ञा होती है, पर वास्तव में श्रीसीताजी ईश्वरी हैं, इससे वह अनुराग ही लिखा गया। पुत्री के प्रेम में ज्ञान डूबने लगा, उसी समय उनके मन में ईश्वरी भाव आया। यही मन रूपी प्रयाग में ज्ञान-रूपी मुनि का सिय-सनेह-वट देखना है। अब ईश्वर भाव हो गया, तब ज्ञान मुनि अभय हुआ—यही वट पर जाना एवं उसका आश्रय लेना है। किंचित् पुत्री-भाव-रूपी मोह-जल नीचे रह गया। श्रीसीताजी ने धनुष उठा लिया था, उसे श्रीरामजी ने तोड़ा, तब श्रीजनकजी ने उन्हें परंब्रह्म, शक्तिमान् और इन्हें उनकी आदि शक्ति माना था। वही ज्ञान उदित हुआ, यही वट पर परंब्रह्म के बालरूप के दर्शनों का सहारा पाना है। श्रीसीताजी और श्रीरामजी के प्रति अभिन्न परंब्रह्म का ज्ञान होने पर उपर्युक्त मोह-कल्पना निवृत्त हुई। मार्कण्डेय मुनि चिरजीवी हैं, वैसे श्रीजनकजी का ज्ञान अक्षय है। वहाँ भगवान् की माया के द्वारा मुनि ने उनकी महिमा देखी है, वैसे यहाँ 'सिय-रघुबर सनेह' की महिमा प्रकट होने के लिये श्रीजनकजी के ज्ञान की क्षणिक विह्वलता हुई है।

'मोह मगन मति नहि बिदेह की।'''—देह में अहंबुद्धि का होना मोह है। श्रीजनकजी तो विदेह हैं, तब उन्हें मोह-मग्नता कहाँ? यह श्रीसीतारामजी के स्नेह की महिमा है कि जो बड़े-बड़े ज्ञानियों के ज्ञान को विकल कर देती है। श्रीरामजी के प्रेम में ज्ञान का व्याकुल होना ज्ञान की शोभा है; यथा—"जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा"। से "सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।'''" (दो० २७१); तक ऐसा ही श्रीजानकीजी की विदाई के समय बा० दो० ३३७ में तथा श्रीजनकजी के प्रथम श्रीराम-दर्शन पर बा० दो० २१५ में भी इनके ज्ञान का प्रेम में विह्वल होना कहा गया है; क्योंकि भक्ति बिना ज्ञान की शोभा नहीं है। गीता में भी भक्ति को ज्ञान का मुख्य अंग कहा गया है; यथा—"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।" (१३।१०)।

दोहा—सिय पितु-मातु-सनेह-बस, बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ, समय सुधरम बिचारि ॥२८६॥

तापसबेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष बिसेषी ॥१॥
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥२॥
जिति सुरसरि कीरति-सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥३॥
गंग अवनिथल तीनि बड़ेरे। येहिं किये साधु समाज घनेरे ॥४॥

अर्थ—माता-पिता के स्नेह-वश व्याकुल होने से श्रीसीताजी अपनेको न सँभाल सकीं, फिर भी पृथिवी की पुत्री श्रीसीताजी ने समय और अपना धर्म विचार कर धैर्य धारण किया ॥२८६॥ तपस्विनी के वेष में श्रीजानकीजी को देखकर श्रीजनकजी को अधिक प्रेम और संतोष हुआ ॥१॥ (वे बोले) बेटी! तूने दोनों कुलों (पिता और पति के कुल) को पवित्र किया, जगत् में सब कोई तुम्हारा उज्ज्वल सुन्दर यश कहते हैं ॥२॥ तेरी कीर्तिनदी ने श्रीगंगाजी को भी जीतकर करोड़ों ब्रह्मांडों में गमन किया ॥३॥ पृथिवी पर गंगाजी ने तीन ही बड़े स्थान बनाये हैं (हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर) और तेरी इस (कीर्तिनदी) ने तो बहुत-से साधुसमाज-रूपी बड़े-बड़े स्थान बनाये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सिय पितु मातु-सनेह-बस ···'—माता-पिता इनके स्नेह में व्याकुल हुए, तो ये भी वैसी व्याकुल हुईं, क्योंकि—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); ऐसा श्रीमुखवचन है। 'धरनि सुता धीरज ···'—पृथिवी धैर्य-धारण करने में प्रधान है, ये उसकी पुत्री हैं, इससे धैर्य धर सकीं; अर्थात् विकलता अत्यन्त थी; यथा—"धरि धीरजु उर अवनि कुमारी।" (दो० ६३); 'समय सुधरम बिचारि'—समय आपत्ति का है, इसमें ही धैर्य-धर्म की परीक्षा होती है; यथा—"धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परखियहि चारी॥" (आ० दो० ४)। ऐसा विचारते हुए उन्होंने धैर्य धारण किया कि यदि माता-पिता दुखी समझेंगे, तो लौटाने की चेष्टा करेंगे, तो इनसे कैसे कहूँगी कि पति के संग ही जाऊँगी। जो पति के साथ वन न जाऊँगी, तो पातिव्रत-धर्म की हानि होगी।

(२) 'तापसबेष जनक ···'—इनका यह वेष देखकर और लोग तो दुखी हुए थे; यथा—"तापस-बेष जानकी देखी। भा सब बिकल बिषाद बिसेखी॥" (दो० २८५), क्योंकि वे सब इनकी सुकुमारता जानते हैं; यथा—"पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥" (दो० ५८); पर श्रीजनकजी को पातिव्रत-धर्म पर आरूढ़ होने से प्रेम और संतोष हुआ। 'बिसेषी'—पहले से भी अधिक हुआ। इसीकी सराहना आगे की ३ अर्द्धालियों में है।

(३) 'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।'—'कुलदोऊ'—नैहर और ससुराल के दोनों।

'सुजस धवल जग ···'; यथा—"कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥" (वाल्मी० २।४०।२४); भाव यह कि मैं ही नहीं, किन्तु सारा जगत् कहता है, आगे इसी कीर्ति को श्रीगंगाजी के रूपक से कहते हैं, 'कुलदोऊ' को यहाँ उसी कीर्त्तिगंगा के दोनों कूल (किनारे) कह सकते हैं।

(४) 'जिति सुरसरि कीरति ···'—'बिधि अंड'—विधि का अर्थ ब्रह्मा है, अंड मिलाने से ब्रह्माण्ड हो जाता है। गंगाजी स्वच्छ वर्ण हैं, उसी तरह कीर्त्ति भी उज्जल ही कही जाती है इससे बालकांड में भी इसकी नदी की उपमा दी गई है; यथा—"कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।" (बा० दो० ४१)। 'गंग अवनि थल तीन ···'; यथा—"हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागरसंगमे। सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिषुस्थानेषु विशेषतः॥" इस कीर्त्ति-नदी ने तो बहुत-से साधु-समाज-रूपी बड़े-बड़े स्थल बना दिये, भाव यह कि साधु-समाज बड़े-बड़े स्थल हैं और सामान्य लोगों के समाज सामान्य स्थल हैं। यह भी भाव है, जो साधु तुम्हारी कीर्त्ति गावेंगे, वे ही बड़ाई पावेंगे।

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महँ मनहु समानी ॥५॥
पुनि पितु-मातु लीन्हि उर लाई। सिष आसिष हित दीन्हि सुहाई ॥६॥

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥७॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदय सराहत सील सुभाऊ ॥८॥

दोहा—बारबार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि।
कही समय सिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि ॥२८७॥

शब्दार्थ—समाना = घुस जाना, पैठना। समयसिर = ठीक समय पर, अवसर पर ; यथा—"जो घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।" (दोहावली ३०८)।

अर्थ—पिता ने तो स्नेह से सत्य ही सुन्दर वाणी कही, (पर) श्रीसीताजी मानों सकुच में समा गई हैं ॥५॥ माता-पिता ने फिर श्रीसीताजी को हृदय से लगा लिया और सुन्दर हितकारी शिक्षा और आशिष दी ॥६॥ श्रीसीताजी संकोच के मारे नहीं कहती हैं, पर मन में संकोच है कि यहाँ रात में रहना अच्छा नहीं है ॥७॥ श्रीसीताजी का रुख देखकर रानी ने राजा को जनाया। (दोनों दंपति) हृदय में इनके शील-स्वभाव की बड़ाई करते हैं ॥८॥ बार-बार श्रीसीताजी से मिल, भेंटकर सम्मान-पूर्वक इनको विदा किया, (तब) ठीक अवसर पाकर चतुर रानी ने सुन्दर वाणी से श्रीभरतजी की दशा भी कही ॥२८७॥

विशेष—(१) 'पितु कह सत्य सनेह······'—यद्यपि यह नीति है कि अपनी संतान की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, न सम्मुख और न परोक्ष ही में, तथापि स्नेह मे राजा उस नीति को भूल गये, प्रेम के मारे कह चले। श्रीसीताजी को अत्यंत संकोच हुआ। कहा भी है—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५) ; अर्थात् अपनी बड़ाई पर हर्ष न होना अच्छे लोगों का लक्षण है ; यथा—"चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे।" (दो० १०५)। वहाँ के 'भजि पैठे' का ही भाव यहाँ 'समानी' में है।

(२) 'पुनि पितु-मातु लीन्हि······'—इनका संकोची स्वभाव देखकर अधिक प्रेम हुआ, इससे फिर हृदय लगाया। 'कहति न सीय सकुचि···'—१४ वर्ष व्रत-निर्वाह के विचार से पति के साथ चली हैं, यहाँ रात रहने से वह व्रत भंग होगा। पुनः यह भी संकोच है कि यहाँ रात में न रहना चाहिये, यह माता-पिता से कैसे कहें ? संकोच की बात है। 'लखि रुख रानि जनायेउ राऊ।'—स्त्रियों की चेष्टा स्त्रियाँ ही जान लेती हैं ; यथा—"अहिरेव अहेः पादान्विजानाति न संशयः (वाल्मी० ५।४२।६)। रुख लखना यों भी कहा जाता है कि किसी तारे की ओर देखा, जिस तारे से रात के समय का पता लगता है, या पूछा कि कितनी रात गई, इत्यादि।

(३) 'सनमानि'—बहुत कुछ देकर कन्या को नैहर से विदा किया जाता है, पर ये तापस व्रत में हैं, इससे सम्मान मात्र ही किया गया। प्यार के साथ मिलकर साथ में अपने प्रिय वर्ग को भेजा कि पहुँचा आयें, इत्यादि। 'कही समय सिर भरत गति···'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"रानि राय सन अवसर पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई।" उसीका यहाँ चरितार्थ है। वहाँ के 'अवसर पाई' के अनुसार यहाँ 'समय सिर' और जो वहाँ 'अपनी भाँति कहब' कहा है, उसी को यहाँ—'सुबानि सयानि' कहा है। 'भरत गति'—का अर्थ आगे खोला है—"सुनि भूपाल भरत व्यवहारू।" इस समय राजा प्रेम में मग्न हैं, इसीसे अवसर पाकर रानी ने चतुरता एवं मृदुवाणी से कहा।

सुनि भूपाल भरत-व्यवहारू । सोन सुगंध सुधा ससि सारू ॥१॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन । सुजस सराहन लगे मुदित मन ॥२॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि । भरत-कथा भव-बंध विमोचनि ॥३॥
धरम राजनय ब्रह्मविचारू । इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥४॥
सो मति मोरि भरत महिमाही । कहइ काह छलि छुअति न छाँही ॥५॥

अर्थ—सोने में सुगंध और अमृत में चन्द्रमा के सार-रूप अमृत के समान श्रीभरतजी का व्यवहार सुनकर ॥१॥ राजा ने अपने अश्रु-पूर्ण नेत्र मूँद लिये, उनके सब अंग पुलकित हो गये और आनंदित मन से वे (श्रीभरतजी के) सुंदर यश की बड़ाई करने लगे ॥२॥ हे सुमुखी ! हे सुलोचनी ! सावधान होकर सुनो, श्रीभरतजी की कथा भव-बंधन-रूपी आवागमन छुड़ानेवाली है ॥३॥ धर्म-नीति, राज-नीति और वेदान्त शास्त्र में बुद्धि के अनुसार मेरी प्रवृत्ति है अर्थात् इनमें मैं बहुत कुछ कह सुन सकता हूँ ॥४॥ पर वही मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की महिमा कहेगी क्या ? वह तो उस महिमा की छाया तक को छल करके भी नहीं छू पाती ॥५॥

विशेष—(१) 'सोन सुगंध सुधा ससि सारू ।'—ये श्रीभरतजी के व्यवहार के विशेषण हैं। 'सोने में सुगंध' यह मुहावरा है, सर्वोत्कृष्ट के अर्थ में कहा जाता है। सोना उत्तम पदार्थ है; यदि उसमें सुगंध भी आ जाय, तो वह सर्वोत्कृष्ट होगा। उत्तम-से-उत्तम कहा जायगा। वैसे ही श्रीभरतजी माता पिता का दिया हुआ राज्य करते तो इन्हें दोष नहीं था; यथा—"करतेहु राज त तुम्हहि न दोसू ।" (दो० २०६); "बेद बिदित संमत सबही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥" (दो० १७४); यह सोने की तरह उत्तम होता। पर जो इन्होंने कुल के सर्वोत्कृष्ट धर्म पर दृष्टि की; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिन कर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४) इस सुहावनी रीति का पालन किया, श्रीरामजी को मनाने आये हैं और उनके सेवक भाव से ही रहना चाहते हैं। यह उत्तम-से-उत्तम है, यही सोने में सुगंध है; यथा—"तात तुम्हार बिमल जस गाई । पाइहि लोकहु बेद बड़ाई ॥" (दो० २०६); यश और सुगंध की समता है। नाग लोक में भी अमृत है, पर जो अमृत चन्द्रमा का सार रूप है *वह सर्वोत्तम है। वैसे ही श्रीभरतजी के जितने धर्माचरण हैं सभी उत्तम हैं, अमृततुल्य हैं; यथा—* "समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सार जग होइहि सोई ॥" (दो० ३२२); पर उसमें श्रीराम-भक्ति सर्वोत्तम चन्द्रमा का सार रूप अमृत है; यथा—"नवबिधु बिमल··राम भगत अब अमिअ अघाहू । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ॥" (दो० २०८); तथा—"अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत येहु । सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु ॥"(दो० २०७)।

(२) 'मूँदे सजल नयन···'—श्रीभरतजी का सद्व्यवहार सुनने से उनमें राजा की प्रीति हुई। उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये और श्रीभरतजी के ध्यान में उन्होंने आँखें मूँद लीं; यथा—"हरहिय राम चरित सब आये । प्रेम पुलक लोचन जल छाये ॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा । परमानंद अमित सुख पावा ॥ मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह । रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥" (बा० दो०१११); जैसे वहाँ 'हरषित बरनइ लीन्ह' वैसे यहाँ—'सुजस सराहन लगे मुदितमन ।' कहा है। वहाँ—"सावधान सुनु सुमति भवानी ।" (बा० दो० १२१); कहा है, वैसे यहाँ—"सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि' है। 'सावधान' क्योंकि गूढ़ है 'सुमुखि'—क्योंकि इस मुख से परम भक्त का यश कहा है'

'सुलोचनि'—क्योंकि दिव्य दृष्टिवाली हो। अतः जो कहता हूँ, उसे विचारना। 'भरतकथा भवबंध···'—कथा' अर्थात् प्रबंध सहित कहूँगा। 'भव बंध बिमोचनि'; यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" (दो॰ ३२६)।

(३) 'इहाँ जथा मति मोर प्रचारू।'—उत्तम वक्ताओं की ऐसी रीति है; यथा—"तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ···" (बा॰ दो॰ ११४); "जथा मति गावा।" (उ॰ दो॰ १२९) यह विनीत भाव है, पर तात्पर्य यह है कि इन शास्त्रों में मुझे अधिकार है, संदेह नहीं है।

(४) 'सो मति मोरि भरत···'—महिमा को कहेगी क्या? छल-बल करके उसकी छाया को भी नहीं छू पाती। हनुमान्‌जी की छाया को छल करके सिंहिका ने पकड़ा है, पर उस तरह भी मेरी मति का श्रीभरत-महिमा का स्पर्श करना (जानना) असंभव है। छल से छूना उपमाओं के द्वारा उसका दिग्दर्शन कराना है, ऐसी ही धारणा श्रीवसिष्ठजी की भी है; यथा—"भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबलासी। गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥" (दो॰ २५६); पुन. यही दशा श्रीहनुमान्‌जी की भी हुई; यथा—"तीरते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है।···यह जल निधि खन्यो मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी॰ लं॰ ११)।

बिधि गनपति अहिपति सिवसारद। कबिकोबिद बुध बुद्धिबिसारद॥६॥
भरत - चरित - कीरति - करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥८॥

दोहा—निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेर-सम, कबि-कुल-मति सकुचानि॥२८८॥

अर्थ—ब्रह्मा, गणेश, शेष, शिव, शारदा, कवि, कोविद, पंडित, (एवं और भी) जो बुद्धि में निपुण हैं॥६॥ सब किसी को श्रीभरतजी का चरित, कीर्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य, समझने और सुनने में सुख देनेवाले हैं। पवित्रता में गंगाजी का और स्वाद में अमृत का निरादर करनेवाले हैं॥७-८॥ उनके गुणों की हद नहीं है, वे उपमा-रहित पुरुष हैं, श्रीभरतजी को श्रीभरतजी के ही समान जानो, क्या सुमेरु पर्वत को सेर के समान कह सकते हैं! (अतः,) कवि-समाज की बुधि सकुचा गई॥२८८॥

विशेष—(१) 'बिधि गनपति···'—ब्रह्मा जीव-मात्र की गति जानते हैं, उनसे बुद्धिमत्ता की हद है, इसीलिये इन्हें प्रथम कहा। ये वेदों के भी आदि वक्ता हैं; यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग॰ मं॰); गणेशजी—'विद्यावारिधि बुद्धि विधाता' हैं। इसीसे व्यासजी के लेखक बने। शेषजी दो हजार जिह्वाओं से प्रभु का यश गाते रहते हैं। शिवजी के द्वारा व्याकरण विद्या ही का प्रादुर्भाव हुआ और शावर मंत्र का उद्घाटन एवं उसमें प्रकट-प्रभाव-संस्थापन इन्होंने ही किया है, फिर श्रीराम-नाम निष्ठा के द्वारा भी श्रीशिवजी समर्थ हैं। सरस्वती वक्ताओं की वाणी की अधिष्ठातृ देवी है। कवि शुक्राचार्य आदि, कोविद बृहस्पति आदि और जो बुद्धि में निपुण लोग हैं। यहाँ इन नौ की गणना की नौ संख्या की सीमा है, इससे संसार के सम्पूर्ण वक्ताओं को ले लिया।

शंका—संत वंदना में तो हरि को भी कहा है ; यथा—"विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० ३) ; पर यहाँ नहीं कहा।

समाधान—आगे कहते हैं—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी ॥" श्रीरामजी के हरि (विष्णु) भगवान् अभिन्नांश हैं, अतएव अभेद हैं, श्रीरामजी के द्वारा अकथ्य कहे जाने में वे भी आ गये। उपर्युक्त संत-महिमा में छः ही असमर्थ माने गये हैं और यहाँ नौ का असमर्थ होना कहा। नौ अंक की सीमा है ; अर्थात् जितने भी वक्ता हों, पार न पावेंगे एवं सब मिलकर भी पार नहीं पा सकते। नौ में विधि-शिव ईश्वर ही हैं, गणेश, शेष और शारदा सुकवि हैं ; यथा—"बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं ॥" (दो० २२४)। इन बड़ों को पूर्वार्द्ध में कहकर तब सामान्यों को उत्तरार्द्ध में कहा है।

(२) 'भरत चरित कीरति करतूती ···'—इसमें श्रीभरतजी के चरित आदि सात गुण कहे गये। इनमें 'चरित' को प्रथम कहा है, क्योंकि इन (श्रीजनकजी) की दृष्टि चरित पर ही विशेष मुग्ध है ; यथा—"बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेउ बेगि···" (दो० २७०) ; अर्थात् चरों से श्रीभरतजी का सद्भाव (सदाचार=चरित) सुना, वही यहाँ भी कह रहे हैं—"भरत कथा भव बंध···"। सात ही कहकर इन्हें सातो समुद्रों के समान अगाध जनाया ; यथा—"भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ॥ कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे ॥" (दो० २८३) ; इसमें शील को प्रथम कहा है, क्योंकि श्रीकौशल्याजी की दृष्टि में शील गुण ही मुख्य जँचा है। आगे कवि स्वयं भी ऐसे ही सात कहेंगे ; यथा—"भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति विरति गुन बिमल बिभूती ॥ बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं। ···" (दो० ३२४) ; इनमें 'रहनि' और 'समुझनि' को इन्होंने प्रधान माना है ; यथा—"आयसु होइ त रहउँ सनेमा।" इसपर गुरुजी ने कहा—'समुझब कहब करब···' (दो० ३२२)।

तीनो जगह सातो सागरों की तरह श्रीभरतजी के गुणों की अगाधता कही गई है और साथ ही वक्ताओं के वर्णन की अगमता भी कही गई है ; यथा—"सागर सीप कि जाहि उलीचे।" 'अगम सबहि बरनत···' 'बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं।"···इत्यादि।

(३) 'समुझत सुनत सुखद सब काहू।'—श्रीभरत-चरित समझकर प्रतीति होती है, तब वह प्रीति-सहित सुना जाता है और फिर सब किसी को उससे सुख प्राप्त होता है, क्योंकि यह श्रीगंगाजी से अधिक पावन और अमृत से अधिक स्वादिष्ट है ; यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।" (दो० ३२६); "राम भगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)। पवित्र होने से मनन करने पर हृदय शुद्ध होता है और स्वादिष्ट होने से इसके सुनने के लिये कान लालायित रहते हैं। 'सुचि' ; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू।" (दो० ३२५)।

(४) 'निरवधि गुन निरुपम पुरुष'—उपर्युक्त अगाधता का कारण यहाँ खोला कि इनके गुण ही सीमा-रहित हैं और इनके योग्य उपमा भी नहीं है, अतः श्रीभरतजी के समान श्रीभरतजी ही हैं—यह निश्चय किया। अन्य उपमाएँ—सुमेरु पर्वत जो कि कई लक्ष योजन विस्तृत है—उसके समक्ष में सेर (पत्थर का छोटा बटखरा) की तरह तुच्छ हैं। 'कबिकुल' उपर्युक्त विधि आदि हैं। वे यही समझकर सकुच गये कि सुमेरु को सेर के समान कहने से हँसी होगी। कविता यश लिये की जाती है, अपयश कौन ले ?

अगम सबहि बरनत बरबरनी । जिमि जलहीन मीन गम धरनी ॥१॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहि राम न सकहि बखानी ॥२॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ । तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ ॥३॥
बहुरहि लखन भरत बन जाहीं । सब कर भल सबके मन माहीं ॥४॥

शब्दार्थ—अनुभाव = महिमा, प्रभाव । बरबरनी = परम सुन्दरी । गम = चलना ।

अर्थ—हे परम सुन्दरी ! सभी के लिये वर्णन करना वैसा ही अगम है, जैसे जलरहित पृथिवी पर मछली का चलना ॥१॥ हे रानी ! सुनो, श्रीभरतजी की अपरिमित महिमा को श्रीरामजी जानते हैं, पर वे भी वर्णन नहीं कर सकते ॥२॥ प्रेमपूर्वक श्रीभरतजी की महिमा वर्णन करके और स्त्री के हृदय की इच्छा को लखकर राजा ने कहा ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी लौटें और श्रीभरतजी वन को जायँ, इसमें सबका भला है और यही सबके मन में है ॥४॥

विशेष—(१) 'अगम सबहि बरनत···'—यहाँ महिमा को अवर्ण्य दिखाते हुए कहते हैं कि जैसे सूखी भूमि पर मछली नहीं चल सकती । मछली जल के आधार से चलती है । वैसे कवि लोग विषय (वारि) सम्बन्धी गुणों को ही वैषयिक उपमाओं के द्वारा कह पाते हैं, पर श्रीभरतजी के दिव्य गुण विषय से नीरस हैं, इससे कवियों के लिये अगम्य हैं । 'बरबरनी' शब्द यहाँ श्रीसुनयनाजी के प्रति और—"दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी ।" (दो॰ ११६); में श्रीसीताजी के लिये कहा गया है, वहाँ ही इसके भाव देखिये ।

दोनों जगह इशारे से गुह्य अभिप्राय लक्ष्य कराने के प्रसंग में यह विशेषण आया है, वहाँ पति का परिचय सकुचते हुए लखाया गया है और यहाँ श्रीकौशल्याजी का अभिप्राय अपनी तरफ से लक्ष्य कराया गया है । दोनों जगह सफलता मिली है, इससे 'बरबरनी' का अर्थ श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली भी हो सकता है ।

(२) 'जानहि राम न सकहिं बखानी ।'—श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, इससे श्रीभरतजी की महिमा भी जानते ही हैं; यथा—"तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके ।" (दो॰ २६३) । पर महिमा अमित होने के कारण उसे नहीं कह सकते । यहाँ महिमा को अमित कहना अभीष्ट है । जब श्रीरामजी ही नहीं कह सकते, तब इनसे अधिक समर्थ तो कोई है ही नहीं ।

(३) 'तिय जिय की रुचि···'—भरत-गति कहकर रानी ने अपनी रुचि भी संकेत से जनाई । श्रीकौशल्याजी के कथनानुसार अपनी ही ओर से कहा और उसीपर राजा अपना मत प्रकट करते हैं, यही श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"अपनी भाँति कहब समुझाई ॥ रखियहिं लखन भरत गवनहि बन । जौं यह मत मानइ महीप मन ॥" (दो॰ २८२); पहले उस रुचि को स्पष्ट करके फिर उसे सर्वमत से समर्थन करते हैं—'बहुरहिं···' ।

देवि परंतु भरत-रघुबर की । प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥५॥
भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि राम सीम समता की ॥६॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥७॥
साधन सिद्धि राम - पग - नेहू । मोहि लखि परत भरत-मत एहू ॥८॥

दोहा—भोरेहु भरत न पेलिहहिं, मनसहु राम-रजाइ ।
करिय न सोच सनेहबस, कहेउ भूप बिलखाइ ॥२८९॥

अर्थ—परन्तु हे देवि ! श्रीभरतजी और श्रीरघुबरजी की (परस्पर) प्रीति और प्रतीति तर्क-द्वारा अनुमान नहीं की जा सकती ॥५॥ यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं; तथापि श्रीभरतजी (भी) स्नेह और ममता की सीमा हैं ॥६॥ सारे परमार्थ, स्वार्थ और सुखों की ओर श्रीभरतजी ने स्वप्न में भी (जाग्रत की एवं कर्म-वचन की कौन कहे ?) मन से भी नहीं देखा ॥७॥ श्रीरामजी के चरणों का स्नेह ही साधन है और यही सिद्धि है (बस) यही श्रीभरतजी का सिद्धान्त मुझे मालूम पड़ता है ॥८॥ राजा ने बिलखकर (विह्वल एवं प्रेमार्द्र होकर) कहा कि श्रीभरतजी भूलकर भी श्रीरामजी की आज्ञा को मन से न टालेंगे (कर्म-वचन-से तो सर्वथा असंभव है) । आप (श्रीभरतजी के) स्नेहवश होकर शोच न करें ॥२८९॥

विशेष—(१) 'देवि परंतु'''—जो सब चाह रहे हैं कि श्रीभरतजी वन को साथ जायँ और श्रीलक्ष्मणजी लौटें । यह बात तो तब छेड़ो जाय कि जब इनके आपस की प्रीति-प्रतीति की थाह मिले । प्रीति—श्रीभरतजी के सब चरित ही श्रीराम-प्रीति में रँगे हुए हैं और श्रीरामजी की प्रीति श्रीभरतजी में भी पूर्ण है; यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे ।" (दो० १६८); "राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि ।" (दो० २००); "सुनहु भरत रघुबर-मन माहीं । प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥" (दो० २०७); इत्यादि । प्रतीति—"आपन जानि न त्यागि हैं, मोहिं रघुबीर भरोस ॥" (दो० १८३); "भरत कहे महँ साधु सयाने ।" (दो० २२६); "तात भरत'''मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा ।" (दो० ३०४); इत्यादि । भाव यह कि प्रीति के कारण श्रीरामजी श्रीभरतजी का रुख रखकर आज्ञा देंगे, तब श्रीभरतजी उसे हर्ष से मानकर करेंगे । यह श्रीरामजी को विश्वास है और श्रीभरतजी श्रीरामजी में प्रीति के कारण उनका रुख रक्खेंगे । श्रीरामजी की आज्ञा में ही मेरा कल्याण है; इसमें श्रीभरतजी को पूर्ण विश्वास है, तब उपर्युक्त हेर-फेर की आवश्यकता ही न आवेगी । इसीको पुष्टि में कहते हैं—

(२) 'भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि''''' —यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (गीता ९।२९); प्रभु की समता का भाव यह है कि जो जिस प्रकार उनके सम्मुख होता है, उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं; अर्थात् उसीके भाव के अनुसार उससे वर्त्तते हैं, कहा भी है—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख कांति ।" (वि० १३२); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११), इस नियम से जब श्रीभरतजी स्नेह और ममता की सीमा होकर सम्मुख आये हैं, तब तो श्रीरामजी भी श्रीभरतजी के प्रति स्नेह और ममता की सीमा-रूप से ही वर्त्तेंगे, तब श्रीभरतजी को दुःख क्योंकर रहेगा ।

(३) 'परमारथ स्वारथ सुख सारे ''' —'परमार्थ'; यथा—"नाहिन डर बिगरिहि परलोकू ।"

स्वार्थ—"नहिं दुख जिय जग जानिहि पोचू।" (दो० २१०); तथा—"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।" (दो० २०४)।

(४) 'साधन सिद्धि राम पद-नेहू। ···'—कर्म और ज्ञान में साधन दूसरा रहता है और फल दूसरा होता है, पर यहाँ श्रीभरतजी में साधन और फल दोनों एक ही हैं। भक्त लोग भक्ति करके फिर भक्ति ही चाहते हैं; यथा—"परहु नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥" (दोहावली ९२)। "जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (दो० २०४) 'मोहि लखि परत भरत मत येहू।'—भाव यह कि पूरा जानना तो दुर्गम ही है, हाँ, ऐसा कुछ जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि भजन से दूसरा फल चाहने में भगवान् और उनकी सेवा की अपेक्षा फल ही श्रेष्ठ और प्राप्य हो जाता है, इससे भक्ति और भगवान् की लघुता होती है। हाँ, यह अवश्य है कि भक्त अंत में भगवान् को प्राप्त होते हैं और भगवान् को पाकर फिर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—"*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।*" (गीता ८।१६); "*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।*" (गीता ९।३१); इत्यादि।

(५) 'भोरेहु भरत न पेलिहहि ···'—भाव यह कि श्रीभरतजी वही प्रसन्न होकर करेंगे, जो श्रीरामजी की आज्ञा होगी, अपनी ओर से कोई पृथक् रुचि न करेंगे; यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई।" (दो० १८५); "आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००); उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८); इत्यादि उन्हीं के वचनों से सिद्ध है। 'करिय न सोच···'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"मोरे सोच भरत कर भारी।" (दो० २८३); उसीको अपनी ओर से यहाँ श्रीसुनयनाजी ने प्रकट किया था, उसीपर राजा कहते हैं कि जब श्रीभरतजी श्रीरामजी की आज्ञा को प्रसन्न हो न मान सकते और प्राण त्याग करने पर उद्यत होते तब शोच की बात थी, किंतु वह बात नहीं है।

(६) 'कहेउ भूप बिलखाइ'—अभी श्रीजानकीजी के वात्सल्य में इनका चित्त करुणार्द्र हो चुका था, उनके जाते ही रानी ने श्रीभरतजी का प्रसंग छेड़ दिया। उसपर श्रीभरतजी की परिस्थिति की आलोचना करते हुए श्रीभरतजी के भविष्य पर चित्त गया कि श्रीरामजी अवश्य वन को जायँगे और श्रीभरतजी विरह-पीर सहते हुए श्रीअवध का सेवन करेंगे; यथा—"सीता-रघुनाथ-लखन बिरह पीर सहनि।" (गी० अ० ८१)। "देह दिनहिं दिन दूबरि होई।···" (दो० ३२४); इत्यादि। सोचते हुए उनकी महा विवेकिनी बुद्धि पर श्रीभरत स्नेह का पूरा प्रभाव पड़ा। वे वात्सल्य-दृष्टि से विह्वल हो गये और गद्गद स्वर से कहा कि रानी! शोच न करो।

राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक-सम बीती॥१॥
राज-समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥२॥
गे नहाइ गुरु-पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥३॥
नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक-बिकल बनबास दुखारी॥४॥
सहितसमाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥५॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सब ही कर रउरे हाथा॥६॥

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ॥७॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक-सरिस दुहुँ राज-समाजा ॥८॥

दोहा—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम ॥२९०॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के गुणों को प्रीति-पूर्वक कहते एवं विचारते हुए दंपति (राजा-रानी) को रात पलक के समान बीत गई ॥१॥ दोनों राज-समाज प्रातःकाल जगे और नहा-नहाकर देवताओं की पूजा करने लगे ।॥२॥ स्नान करके श्रीरघुनाथजी गुरु श्रीवसिष्ठजी के पास गये और चरणों की वंदना करके रुख पाकर बोले ॥३॥ हे नाथ ! श्रीभरतजी, श्रीअवधपुरवासी, माताएँ सब शोक से व्याकुल हैं और फिर वनवास से दुखी हैं ॥४॥ और समाज के साथ श्रीमिथिला के स्वामी राजा जनकजी बहुत दिन से क्लेश सहते हैं ॥५॥ हे नाथ ! जो उचित हो, वही कीजिये, सभी का हित आपके हाथों में है ॥६॥ ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी अत्यंत सकुच गये, उनका शील-स्वभाव देखकर मुनि पुलकित हो गये ॥७॥ (और बोले) हे रामजी ! तुम्हारे बिना सम्पूर्ण सुख की सामग्रियाँ दोनों राज-समाजों को नरक के समान हैं ॥८॥ तुम प्राणों के प्राण, जीव के जीव और सुख के भी सुख हो, हे तात ! तुमको छोड़कर जिन्हें घर भाता है, उन्हें विधाता वाम हैं (ऐसा जानो) ॥२९०॥

विशेष—(१) 'राम-भरत-गुन···'—यदि प्रीति पूर्वक भगवत्-भागवत गुणगान हो, तो समय नहीं जान पड़ता। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं; यथा—"सुख समेत संवत दुइ साता। पलसम होहिं न जनियहिं जाता ॥" (दो० २०१); 'दंपतिहिं'—रात में दंपति एक-साथ भी रहें और प्रीति-पूर्वक भगवत्-भागवत यश कहें, तो कामादि वासनाएँ दूर हो जायँ, यह उपदेश भी है। इसलिये 'दंपति' यह सामान्य पद दिया गया है।

श्रीसुनयनाजी और श्रीजनकजी का संवाद समाप्त हुआ। इसका उपक्रम—"कही समय सिर भरत गति।···" से हुआ और यहाँ—"राम-भरत-गुन गनत···" पर उपसंहार है।

(२) 'न्हाइ न्हाइ सुर···'—यह इनका नित्य-नियम पूर्व दो० २७२ में विस्तार से कहा गया। यहाँ उसीको सूक्ष्म में कहा है। 'बोले रुख पाई'—प्रातकृत्य करके सबेरे ही आये। इससे समझ गये कि कुछ कहना है। इससे तुरत मुनि ने पूछा।

(३) 'नाथ भरत पुरजन···'—शोक राजा की मृत्यु का है और वन में रहने से दुःख है, भाव यह कि मुझे तो वन में रहना ही है, इससे दुःख नहीं है। करुणामय स्वभाव होने से आप पराये दुःख में दुखी हो जाते हैं; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहिं पीर पराई ॥" (दो० ८४); राजा को भी समाज-समेत दुःख सहते बहुत दिन हो गये। भाव यह कि हमें तो लौटना नहीं है, फिर व्यर्थ आपलोग क्यों कष्ट झेल रहे हैं ? 'उचित होइ सोइ······'—श्रीभरतजी राज्य की रक्षा करें, माताएँ महलों में रहें, पुरजन, प्रजा अपने-अपने घरों में रहें। राजा पिता के समान हैं, अतएव मैं नहीं कह सकता कि आप लौटें। आप ही के कहने से सबके कष्ट दूर होंगे, इस रीति से सबका हित आप ही के द्वारा होगा।

(४) 'अस कहि अति सकुचे···'—संकोच यह कि यह कहना भी बड़ों के प्रति आज्ञा देने के समान है और इसमें अपना हठ गर्भित है कि हम कभी अपना व्रत न छोड़ेंगे। पहले भी ऐसे संकोच सहित कहा था ; यथा—"बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाईं ॥" (दो० २४०), 'लखि सील सुभाऊ'—शील यह कि श्रीभरतजी आदि स्नेहियों के लिये परोक्ष में भी न कहा कि जायँ, किन्तु कष्ट सहते हैं, यही कहा और यह कि हम मारे स्नेह के वियोग का दुःखद शब्द नहीं कह सकते, यथा—"सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई ॥" (दो० ८४), आपके कहने से किसी को भी दुःख न होगा।

(५) 'तुम्ह बिनु राम सकल···'—यह—'बनवास दुखारी' और 'सहत कलेसू' का उत्तर है। 'नरक सरिस' अर्थात् अत्यन्त दुःख रूप, क्योंकि नरक में बड़ा दुःख होता है।

(६) 'प्रान प्रान के जीव के···'; यथा—"पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के ॥" (दो० ५५); "राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥" (दो० ७३), "आनँदहू के आनँद दाता।" (बा० दो० ३१६)। इन प्रसंगों को देखिये। "विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥" (बा० दो० ११६), अर्थात् आप सभी के प्रकाशक हैं। 'तुम्ह तजि तात सुहात गृह ···' इसकी प्रतिद्वंद्वी (जोड़ की) अर्द्धाली भी है ; यथा—"दाहिन दैव होइ जब सबहीं। राम समीप बसिय बन तबहीं ॥" (दो० २७१)।

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ ॥१॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम-प्रेम परधानू ॥२॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही ॥३॥
रावर आयसु सिर सबही के। बिदित कृपालहि गति सब नीके ॥४॥
आप आश्रमहि धारिय पाऊ। भयउ सनेह-सिथिल मुनिराऊ ॥५॥

अर्थ—वह सुख, कर्म, धर्म जल जाय (अर्थात् व्यर्थ है), जिसमें श्रीराम-चरण कमल में प्रेम नहीं है ॥१॥ वह योग कुयोग है और ज्ञान अज्ञान है, जिसमें श्रीराम-प्रेम प्रधान न हो ॥२॥ सब तुम्हारे बिना दुखी हैं और तुमसे ही सुखी हैं। जिसके जी में जो है ; वह तुम जानते हो ॥३॥ आपकी आज्ञा सभी के सिर पर है (सबको मान्य है), हे कृपालु ! आपको सबकी सब गति (दशा) अच्छी तरह मालूम है ॥४॥ आप आश्रम को पधारें (यह कहकर) मुनिराज स्नेह से शिथिल हो गये (फिर कुछ न बोल सके) ॥५॥

विशेष—(१) 'सो सुख,करम धरम ···'; यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हलोरे ॥" (वि० १८८)। "भजन हीन सुख कवने काजा।" (उ० दो० ८३); इत्यादि। 'तुम्ह बिनु दुखी ···'—लोग तुम्हारे बिना दुखी थे। यहाँ तुम्हीं से सुखी भी हैं। 'तुम्ह जानहु···'—अर्थात् हम बनाकर नहीं कहते हैं।

(२) 'रावर आयसु सिर···'—तुम्हीं से सुखी हैं। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि लोग नहीं लौटेंगे कहते हैं कि आपकी आज्ञा सबके लिये शिरोधार्य है। अतः, साथ रहने को हठ न करेंगे। 'गति

सब' ; यथा—"तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस ··" (उपर्युक्त) ; आप कृपालु हैं, अतः उनके कष्ट पर चित्त दें। श्रीरामजी ने कहा था—"हित सबही कर रौरे हाथा।" उसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी आज्ञा पर ही सबका हित निर्भर है।

(३) 'आप आश्रमहि धारिय पाऊ।'—इतना ही कह पाया—'मैं उपाय करता हूँ'—यह न कह पाया कि प्रभु के उपर्युक्त शील-स्वभाव के प्रति स्नेह उमड़ पड़ा, वाणी रुक गई। यही शील-स्वभाव इनके चित्त में बस गया। इसीसे आगे श्रीजनकजी के यहाँ भी—'सील सनेह सुभाय सुहाये' कहा है। इस संवाद के उपक्रम में—'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ।' कहा गया है और यहाँ—'भयउ सनेह सिथिल मुनि राऊ।' पर इसका उपसंहार है।

करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीरजनकपहिं आये ॥६॥
राम-बचन गुरु नृपहिं सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये ॥७॥
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरमसहित हित होई ॥८॥

दोहा—ज्ञान-निधान सुजान सुचि, धरमधीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस-समन, को समरथ येहि काल ॥२९१॥

अर्थ—तब श्रीरामजी प्रणाम करके चल दिये, ऋषि वशिष्ठजी धैर्य धरकर श्रीजनकजी के पास आये ॥६॥ गुरुजी ने श्रीरामजी के शील और स्नेह-युक्त और स्वाभाविक सुन्दर वचन राजा को सुनाये ॥७॥ (और बोले कि) महाराज! अब वही कीजिये, जिसमें सबका धर्म-सहित भला हो ॥८॥ हे राजन्! आप ऐसे ज्ञान के खजाने, सुजान पवित्र धर्मवाले, धैर्यवान् और मनुष्यों के पालनेवाले के अतिरिक्त इस समय दुविधा मिटाने को और कौन समर्थ है? ॥२९१॥

विशेष—(१) 'रिषि धरि धीर···'—शिथिल हो गये थे, इससे धैर्य धरना कहा गया। 'सील सनेह सुभाय सुहाये'—श्रीरामजी के शील आदि गुण बिना प्रकट किये गुरुजी से न रहा गया, जैसे श्रीसुमंत्रजी ने श्रीरामजी के रोकने पर भी उनका शील-स्वभाव राजा श्रीदशरथजी से कहा ही है, दो० १५१ चौ० ७ देखिये। 'धरम सहित हित'—जैसे कि श्रीरामजी और श्रीभरतजी पिता की आज्ञा पालें, शेष सब श्रीरामजी की आज्ञा मानें। इसमें हित है वा और जिस भाँति से हो। अब इस कार्य के योग्य गुण राजा में होना कहते हैं—

(२) 'ज्ञान-निधान सुजान···'—सबके धर्म-सहित हित के विधान के लिये ज्ञान आदि चाहिये, ये सब गुण आपमें पूर्ण हैं। आप ज्ञान एवं शास्त्र-विधि के द्वारा सब धर्म की विधि देखेंगे। सुजानता से नीति और शुचि धर्मवाले स्वभाव से पवित्र भागवत-धर्म को भी जानेंगे। धीरता से आपके विचार उत्तम होंगे, मैं तो स्नेह से शिथिल हो गया हूँ। आपकी धर्म-धीरता धनुर्भंग-प्रतिज्ञा के समय से ही सब जानते हैं। आप नर-पाल हैं। अतः, प्रजा के दुःख-निवारण का उपाय करें।

(३) 'तुम्ह बिनु···'—मैंने भी कुछ प्रयास किया था; यथा—"तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई।···" इसे श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के प्रति अपनी ओर से कहा भी, पर उन्होंने इसे प्रमाणित नहीं किया। अतएव अब आप ही सोचिये कि जिससे सबका धर्म रहे और हित हो।

सुनि मुनि-बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे ॥१॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं ॥२॥
रामहि राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आप प्रिय प्रेम प्रमाना ॥३॥
हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई ॥४॥
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेखी ॥५॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीजनकजी (सम्बन्धियों के) अनुराग में लीन हो गये, उनकी दशा देखकर ज्ञान और वैराग्य को भी वैराग्य हो गया; (अर्थात् उनको ज्ञान और वैराग्य की वृत्ति न रह गई) ॥१॥ स्नेह में शिथिल हैं, मन में विचारते हैं कि मैं जो यहाँ आया, यह अच्छा नहीं किया ॥२॥ राजा दशरथजी ने श्रीरामजी को वन जाने को कहा और स्वयं अपने प्यारे के प्रेम को सत्य किया ॥३॥ मैं अब वन से भी वन को भेजकर ज्ञान को बढ़ाकर (गुप्तार्थ बुझाकर, क्योंकि दीपक बढ़ाना बुझाने को कहा जाता है, ज्ञान भी दीपक-रूप है) बड़े आनन्द-पूर्वक लौटूँगा। (अर्थात् मन में रूखे-ज्ञान का घमंड लेकर लौटूँगा कि मुझ सा ज्ञानी नहीं है, मुझमें ममता का लेश भी नहीं है) ॥४॥ तपस्वी, मुनि, ब्राह्मण सुन और देखकर प्रेमवश बहुत व्याकुल हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि गति ज्ञान···'—अर्थात् जामातृ-भाव का प्रेम ही रह गया, किन्तु महा में होने से वह कवि के द्वारा अनुराग ही कहा गया। 'प्रमुदित फिरब ··'—अपने ज्ञान की रुक्षता को धिक्कार देते हैं कि लोग यही कहेंगे कि ये श्रीरामजी को वन भेजने और विवेकी होने की प्रशंसा कराने ही को यहाँ आये हैं। इन्हें भला स्नेह वा ग्लानि क्यों हो, ये विदेह हैं न? यथा—"कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू।" (बा० दो० ३३४); "जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति पेखिबो मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु।····· " (गी० बा० ८०)। 'हम अब बनते ···· '—इससे इनका मत भी यही जान पड़ता है कि श्रीरामजी नहीं लौटेंगे, किन्तु पिता की आज्ञा पूरी करेंगे। राजा दशरथ ने,वन भेजकर प्रेम का प्रण रक्खा, शरीर छोड़ दिया; अतः, उनके प्रेम की बड़ाई होती है। हम यहाँ से वन की आज्ञा दे प्रमुदित लौटेंगे (क्योंकि शरीर छूटेगा नहीं) तो यह सराहना होगी कि विदेह बड़े ज्ञानी हैं, इत्यादि व्यंग सहना पड़ेगा।

(२) 'तापस मुनि महिसुर सुनि देखी।···'—अभी 'गुनत मनमाहीं' का प्रसंग चला आ रहा है, तो 'सुनि' का अर्थ क्या होगा? उत्तर यह है कि पहले मन में गुना (विचारा) फिर विह्वलता में वे शब्द—"आये इहाँ कीन्ह···" से "बिबेक बड़ाई॥" तक मुख से भी निकल आये, जिससे तापस आदि ने इनकी प्रेम दशा देखी और वचन भी सुने।

'भये प्रेमबस बिकल बिसेखी।'—यह समझकर विशेष व्याकुल हुए कि ऐसे बड़े ज्ञानी भी प्रेम-दशा के लिये तरस रहे हैं और जीवन को धिक्कार रहे हैं, इसीपर प्रेमवश हुए।

श्रीजनक-भरत-गोष्ठी

समय समुझि धरि धीरज राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा ॥६॥
भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसर-सरिस सुआसन दीन्हे ॥७॥
तात भरत कह तिरहुतिराऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर-सुभाऊ ॥८॥

दोहा—राम सत्यव्रत धरमरत, सब कर सील सनेहु।
संकट सहत सकोचबस, कहिय जो आयसु देहु ॥२९२॥

शब्दार्थ—आगे भइ लीन्हे = आगे होकर (बढ़कर) लिया, अगवानी की। स्वागत किया; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई।···" (दो० १७); आयसु (आदेश) = आज्ञा, अनुमति।

अर्थ—समय का विचार करके राजा श्रीजनकजी धैर्य धरकर समाज के साथ श्रीभरतजी के पास चले ॥६॥ श्रीभरतजी ने आगे बढ़कर उनको लिया (अर्थात् स्वागत किया) और समय के अनुसार उनको अच्छा आसन दिया ॥७॥ तिरहुत-राज श्रीजनकजी कहते हैं कि हे तात श्रीभरतजी! तुमको रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव मालूम है ॥८॥ श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और धर्मपरायण हैं, सबका शील और स्नेह है, इससे संकोचवश संकट सहते हैं, तुम जो 'आयसु' दो, वह उनसे कहा जाय ॥२९२॥

'समय समुझि धरि'—शोक का समय है, धैर्य चाहिये, श्रीभरतजी के ही पास चलें, वे ही पिता की आज्ञा मानें, तो अवश्य मिटे। बहुत समय यहाँ रहना भी ठीक नहीं, इत्यादि।

विशेष—(१) 'तुम्हहिं बिदित रघुबीर सुभाऊ।'; यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (दो० २५६) श्रीरामजी के स्वभाव की व्यवस्था—'संकट सहत संकोच बस···' से कहते हैं कि वे संकोच के कारण न तो यह कह सकें कि जाओ और न दूसरों का क्लेश ही देख सकें; यथा"—सानुज भरत सचिव सब माता।···" कह चुके हैं। वे 'विशेष उदासी' व्रत लिये हुए हैं, हमसबों के साथ रहने में उस व्रत का भी संकोच है। यदि कह दें कि आपलोग जायँ, हमलोग न लौटेंगे, तो शील-स्नेह में त्रुटि आती है, इस दुविधा में संकट सहते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि संकट तुम्हीं से मिटेगा, उन्हें एकान्त-वास करने दो और समाज लेकर लौट चला जाय। 'आयसु' शब्द का मुख्यार्थ आदेश के अनुसार आज्ञा ही है, पर इसे अनुमति में भी कहा जाता है, यही यहाँ इष्टार्थ है, पर जान पड़ता है कि भरत-महिमा पर दृष्टि रखते हुए राजा ने यह सम्मानार्थक श्लिष्ट शब्द कहा है।

सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी ॥१॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता-सम आपू। कुल-गुरु-सम हित माय न बापू ॥२॥
कौसिकादि मुनि सचिव-समाजू। ज्ञान-अंबु-निधि आपुन आजू ॥३॥
सिसु सेवक-आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइय स्वामी ॥४॥
येहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर ॥५॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता ॥६॥

शब्दार्थ—मौन = चुप रहना।

अर्थ—यह सुनकर शरीर से पुलकित हो और नेत्रों में जल भरे हुए श्रीभरतजी भारी धैर्य धरकर बोले ॥१॥ हे प्रभो! आप समर्थ हैं और पिताजी के समान प्रिय और पूज्य हैं, कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी के समान हितैषी तो माता-पिता भी नहीं हैं ॥२॥ श्रीविश्वामित्र आदि मुनियों और मंत्रियों का

यह समाज है, उसमें भी आज ज्ञान के समुद्र आप भी हैं ॥३॥ शिशु, सेवक और आज्ञा के अनुसार चलनेवाला जानकर, हे स्वामिन्! मुझे शिक्षा दीजिये ॥४॥ (कहाँ तो) इस (पूज्य गुरुओं और ज्ञानियों के) समाज और (चित्रकूट पुण्य) स्थल में और फिर आपका मुझसे पूछना और (कहाँ) मैं मलिन मौन और मेरा पागलों का-सा बोलना ? ॥५॥ छोटे मुँह बड़ी बात कहता हूँ, हे तात! विधाता को रूठा जानकर क्षमा कीजियेगा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी।'—श्रीजनकजी के वचनों का स्पष्ट भाव जान पड़ा कि श्रीरामजी सत्य-संध और धर्म-धुरंधर हैं। अतः, उन्हें संकोच में डालना उचित नहीं और वे तुम्हारे ही स्नेहवश संकोच से कष्ट सह रहे हैं। इससे अपने ऊपर प्रभु का स्नेह समझ कर श्रीभरतजी के हृदय में प्रेम उमड आया और वचनों में भावी-वियोग की स्थिति भी समझ पड़ी, इसीसे वे अधिक शिथिल हो गये, अतएव बोलने के लिये भारी धैर्य धरना पड़ा।

पहले दरबार में भी अपने ऊपर प्रभु की कृपा देखकर स्नेह से विह्वल हो गये थे ; यथा—"पुलक सरीर सभा भये ठाढे। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥" (दो० २५१)।

(२) 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता···'—श्रीजनकजी यहाँ प्रधान हैं, उन्होंने प्रश्न भी किया है। इससे उन्हीं से कहते हैं कि आप समर्थ हैं, पिता के समान प्रिय और पूज्य हैं, साथ ही कुल गुरु भी हैं, इससे दोनों के प्रति कहते हैं कि भला मैं माता-पिता और गुरु के समक्ष कैसे आज्ञा एवं अनुमति दे सकता हूँ ? यह 'कहिये जो आयसु देहू' का उत्तर है।

(३) 'कौसिकादि मुनि सचिव समाजू।···'—श्रीविश्वामित्रजी पूर्वावस्था में राजा भी थे और फिर तपोबल से ब्रह्मर्षि भी हो गये और दूसरे ब्रह्मा हैं। इससे उन्हें आदि में कहा। पुनः आप उपस्थित हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं। 'आजू'—हमारे भाग्य से आज असमंजस मिटाने को आ गये हैं। भाव यह कि पूर्व समाज में आप और श्रीकौशिकजी न थे। 'सिसु सेवक आयसु···'—आप अपना 'बच्चा' जानकर, गुरु एव श्रीकौशिक आदि 'सेवक' जानकर और सचिव-समाज 'आज्ञाकारी' मानकर मुझे शिक्षा दें। वा मैं आपलोगों का शिशु (अबोध बालक) हूँ, अतएव असमर्थ हूँ। सेवक हूँ, अतः, आज्ञा देकर सेवा कहिये ; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा" (दो० १००) ; 'आयसु अनुगामी' हूँ जैसी आज्ञा देंगे, अवश्य करूँगा। अर्थात् मैं शिक्षा का और आज्ञा पाने का ही अधिकारी हूँ, आज्ञा देने का नहीं।

(४) 'येहि समाज थल बूझब···'—क्रमालंकार से यों भी अर्थ होगा कि कहाँ यह ज्ञानियों, वृद्धों एवं गुरुजनों का समाज और कहाँ मैं! जिसे ऐसे समाज में मौन ही रहना उचित है। कहाँ चित्रकूट ऐसा पवित्र स्थल और कहाँ मैं मलिन (पापी) और कहाँ आप-जैसे ज्ञानाम्बुनिधि का पूछना और कहाँ उत्तर में मेरी बावली बातें। महान् अंतर है। समाज के जोड़ में बालक, स्थल के जोड़ में मलिन और बूझब रावर के जोड़ में बोलब बाउर—यह अयोग्यता दिखाई।

(५) 'छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता।'—'छोटे मुँह और बड़ी बात' यह मुहावरा है ; अर्थात् योग्यता से अधिक कहना, बड़ों के सामने बोलने का साहस करना, इस धृष्टता को क्षमा कीजियेगा, क्योंकि 'बाम बिधाता' अर्थात् मेरा भाग्य फूटा है ; अतः, मैं दया का पात्र हूँ।

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा-धरम कठिन जग जाना ॥७॥
स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू ॥८॥

दोहा—राखि राम रुख धरमव्रत, पराधीन मोहि जानि।
सबके संमत सर्बहित, करिय प्रेम पहिचानि ॥२९३॥

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणों में प्रसिद्ध है और संसार-भर जानता है कि सेवा-धर्म कठिन है ॥७॥ स्वामि-धर्म और स्वार्थ में परस्पर विरोध है, इन दोनों में अंध वैर है, इनमें (परस्पर) प्रेम का ज्ञान हो ही नहीं सकता; अर्थात् स्वामि-धर्म की स्थिति में स्वार्थ न रहेगा और स्वार्थ की स्थिति में स्वामि-धर्म का निर्वाह नहीं ॥८॥ श्रीरामजी का रुख, धर्म और व्रत रखते हुए, मुझे पराधीन जानकर, सबका प्रेम पहचान कर, सबकी सम्मति से जो सबके लिये हितकारी हो, वही करिये ॥२९३॥

विशेष—(१) 'स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू।'—उपर्युक्त सेवाधर्म ही स्वामि-धर्म है, उसका निर्णय करते हैं—स्वामि-धर्म वासना-रहित है और स्वार्थ वासना सहित है अतः; परस्पर विरोध है; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (दो० ३००); इन दोनों में एक ही एक पात्र (अधिकारी) में रहता है, मैं स्वामि-धर्म ही चाहता हूँ, स्वार्थ नहीं, अतएव—

(२) 'राखि राम रुख धरम'''—श्रीभरतजी ने पहले भी कहा है—"अस कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥" (दो० २६८); वैसे ही यहाँ भी कहते हैं—'राखि राम रुख'''। श्रीजनकजी ने जो-जो कहे थे, उनके उत्तर यहाँ सब आ गये हैं—'कहिय जो आयसु देहू' इसका उत्तर है—'पराधीन मोहि जानि' अर्थात् परतंत्र तो आज्ञा सुनकर तदनुसार करता है; अतएव मैं कुछ नहीं कह सकता। श्रीरामजी सत्यव्रत हैं, तो उनका 'व्रत' न टूटे, वे धर्मरत हैं, तो 'धर्म' (पिता की आज्ञा का पालनरूप धर्म) भी रहे। वे 'सब कर सील सनेह' रखना चाहते हैं, यह बना रहे, अतः सबका प्रेम पहचानकर सबकी सम्मति जो हो, वह किया जाय। और फिर—'संकट सहत सँकोच बस' पर कहते हैं—'राखि राम रुख' अर्थात् जैसा उनका रुख हो, वैसा ही किया जाय।

(३) 'सर्बहित, करिय'—इसमें अपना और परिजन, प्रजा सबका हित भी आ गया। यही तो गुरुजी ने भी कहा है; यथा—"पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" (दो० २५७); गुरुजी ने यह भी कहा था—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५४); इसीसे यहाँ श्रीभरतजी ने 'रुख' को प्रथम कहा और उसीके अनुकूल अपनी पराधीनता कही।

भरत-बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहितसमाज सराहत राऊ॥१॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥२॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥३॥
भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध-कुमुद-द्विजराजू॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्वभाव देखकर समाज-सहित राजा श्रीजनकजी उनकी प्रशंसा कर रहे हैं॥१॥ श्रीभरतजी की वाणी सुगम है और अगम भी, कोमल और सुंदर है पुनः कठोर भी, उसमें अक्षर तो बहुत कम हैं, पर अर्थ अत्यंत अमित हैं॥२॥ जैसे मुख दर्पण में देख पड़ता है और दर्पण अपने हाथ में है, पर वह मुँह (का प्रतिबिंब) पकड़ा नहीं जाता, ऐसी ही

अद्भुत यह वाणी है ॥३॥ राजा, श्रीभरतजी, मुनि (श्रीवसिष्ठजी-श्रीविश्वामित्रजी) और साधु-समाज, वहाँ गये, जहाँ देवतारूपी कुई के लिये चंद्रमा रूप श्रीरामजी थे ॥४॥

विशेष— (१) 'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।···'—उत्तम वाणी में ये सात बातें होनी चाहिये कि उसका-वाक्य प्रबंध सुगम हो, भाव की गंभीरता में अगम हो, कानों को सुनने में मृदु एवं रोचक हो, सर्व-शास्त्रों से निर्दूषित होने से मंजुता और समझने में कठोरता हो और फिर अक्षर अत्यन्त थोड़े पड़ें पर उनमें अर्थ अमित हो।

इन सातों को यहाँ देखिये—वाक्य-प्रबंध की सुगमता यह कि पहले इन्होंने श्रीजनकजी और गुरुजी और कौशिक आदि की प्रशंसा योग्य एवं हेतु-पूर्ण वाक्यों से की, फिर 'सिसु सेवक···येहि समाज ' से अपना कार्पण्य कहा, तब अधिकारानुसार क्षमा माँगी। तब—"आगमनिगम " से सेवा-धर्म की महिमा कही, पुनः—"स्वामि धरम···" से उस सेवा-धर्म के करने का प्रकार दिखाया कि उसमें स्वार्थ का लेश भी न रहना चाहिये। तब दोहे में अपना स्वार्थ-रहित शुद्ध स्वामि-धर्म कहा है।

इनमें—'सेवा धरम कठिन जग जाना।'—विषय वाक्य है। स्वामि-धर्म और स्वार्थ का मिश्रित स्वरूप—संशय और स्वार्थ इसका पूर्वपक्ष है, ये (संशय और पूर्व पक्ष) दोनों—"स्वामि धरम स्वारथहि विरोधू। बैर अंध···" इस अर्द्धाली में कहे गये हैं। फिर दोहे में इसका सिद्धान्त कहा गया है।

भाव की अगमता यह कि रामरुख को प्रथम कहकर प्रधानता दी, क्योंकि गुरुजी ने पहले ही दृढ़ कर दिया था—"राखे राम रजाइ रुख'' " (दो० २५४); फिर श्रीजनकजी ने कहा था—"राम सत्य व्रत धरम रत···" (दो० २९२); तदनुसार श्रीरामजी का धर्म और व्रत भी रखने को कहा। श्रीजनकजी ने कहा था—'संकोच बस संकट सहत' अर्थात् श्रीरामजी तुम्हारे संकोच से संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—'पराधीन मोहि जानि'—मुझे पराधीन जानिये, मैं स्वामी की आज्ञा में ही प्रसन्न हूँ, तो संकोच कैसा? 'सब कर सील सनेह'—रखने में संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—"सबके संमत सर्बहित ··" अर्थात् सबका श्रीरामजी में प्रेम है, तो सभी उनकी आज्ञा के पालन में अपना हित समझकर सम्मत दे देंगे।

सुनने में मृदु और रोचक स्पष्ट ही हैं। इनका सिद्धान्त-भूत विषय शास्त्र-संमत है ही, यही इसमें मंजुता है। अर्थ के अमित होने में कठोरता है, वही आगे—'ज्यों मुख मुकुर···' से कही गई है। 'रुख' 'धरम' 'व्रत' आदि में अक्षर थोड़े हैं और इनका अर्थ-विस्तार बहुत है। वा, सम्पूर्ण वाक्य में भी अक्षर थोड़े और अर्थ बहुत हैं और उनका समझना और व्यवस्था करना कठिन है।

(२) 'ज्यों मुख मुकुर···'—ऊपर 'आगमनिगम···स्वामिधरम···' में कहा हुआ शुद्ध सेवा-धर्म मुख है, और—'राखि राम रुख ··' यह दोहा मुकुर है, इसमें कहा है—'पराधीन मोहि जानि' यह सेवा-धर्म का प्रतिबिंब है। आशय यह है कि मैं अपना स्वार्थ नहीं चाहता। जो स्वामी की आज्ञा होगी, वही करूँगा और सबका प्रभु में प्रेम है, उसे पहचानिये, तो स्पष्ट हो जायगा कि स्वामी की आज्ञा में सभी अपना हित मानेंगे और सम्मत दे देंगे। इस तरह अर्थ-व्यवस्था है, पर सहसा पकड़ में नहीं आती। यही वाणी की अद्भुत रूपता है।

कोई-कोई सुगम आदि को क्रमशः सबमें लगाते हैं—'सुगम'—'प्रभु प्रिय पूज्य···' 'अगम'—'कौसिकादि·· ' मृदु—'सिसु सेवक आयसु···' मंजु—'मोन मलिन मं ·' कठोर—'सेवा धरम कठिन जग···स्वामिधरम···' अरथ अमित अति आखर थोरे—'राखि राम रुख धरम ··' इत्यादि।

(३) 'गे जहँ बिबुध कुमुद···'—आगे दरबार में क्या निर्णय होगा, वह यहीं पर बीज-रूप में

जना दिया कि जैसे चन्द्रमा का जन्म सिंधु में होता है, पर वह ब्रह्मांड-भर में विचरता है और संकुचित कुईं को प्रफुल्लित करता है। वैसे ही श्रीरामजी का जन्म श्रीअयोध्याजी में हुआ, पर वे जगत् में विचरेंगे; अर्थात् अभी लौटकर घर न जायँगे और संकुचित कुईं के समान देवताओं को (जो शोच में पड़े हैं,) विकसित करेंगे। अब देवताओं के कार्य के लिये वन जाना ही निश्चय करेंगे। देवताओं के शोच-प्रसंग में भी यही 'विबुध' शब्द कई बार आया है; यथा—"पालु विबुध कुल··· विबुध बिनय सुनि···विबुध बिकल निसि ··" (दो० २११); देवताओं में यह बुद्धिमानी है कि दुःख पड़ने पर भगवान् की ही शरण आते हैं। इससे प्रभु उनका दुःख हरते हैं, इसीसे इन्हें 'विबुध' कहा है। आगे दुःख-निवृत्ति पर इनका प्रफुल्ल होना भी कहेंगे; यथा—"गावत गुन सुर मुनि बर बानी।" (बा० दो० १४)।

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नवजल जोगा ॥५॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी ॥६॥
राम-भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे ॥७॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोचबस लेखा ॥८॥

दोहा—राम-सनेह-सँकोच-बस, कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि, नाहिं त भयउ अकाज ॥२९४॥

शब्दार्थ—नवजल जोगा = माँजा व्यापने से। जोगा = संयोग से, मिलने से। अलेख = बे-अंदाज, बहुत अधिक। लेखा = देवता। पंच = सब लोग; यथा —"पंच कहें सिव सती···" (बा० दो० ७८); वा, पाँच एवं उससे अधिक प्रधान लोगों का समाज।

अर्थ—यह खबर पाकर सबलोग शोच से व्याकुल हैं, मानों मछलियाँ नये (प्रथम वर्षा के) जल के संयोग से (माँजा के द्वारा) छटपटा रही हैं ॥५॥ देवताओं ने पहले कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की दशा देखी, फिर विदेह श्रीजनकजी का विशेष स्नेह देखा ॥६॥ और श्रीभरतजी को देखा कि वे श्रीराम-भक्ति-मय हैं; अर्थात् उनमें भीतर-बाहर श्रीराम-भक्ति ही ओत-प्रोत है। तब स्वार्थी देवता लोग घबड़ाकर हृदय से हार गये, (कि ये सब अवश्य श्रीरामजी को लौटा ले जायँगे, अब कोई उपाय नहीं, क्या करें?) ॥७॥ समाज के सब-किसी को श्रीराम-प्रेम-मय देखा, तो देवता लोग बे-अंदाज शोच के वश हो गये ॥८॥ देवराज इन्द्र शोच के साथ कहने लगे कि श्रीरामजी स्नेह और संकोच के वश हैं। सब पंच लोग मिलकर माया रचो, नहीं तो कार्य बिगड़ता है ॥२९४॥

विशेष—(१) यहाँ देखी, निरखि, निहारे और पेखा पर्याय हैं, भिन्न-भिन्न शब्द देना रचना-सौष्ठव है।

(२) 'सुनि सुधि सोच···'—गोष्ठी का निर्णय—'राखि राम रुख धरम ब्रत···' सुनकर सबलोग शोच में व्याकुल हो गये, जैसे मछली माँजा से व्याकुल होती है। क्योंकि श्रीराम-वियोग का निश्चय हो गया। श्रीरामजी का रुख वनवास करने और पिता की आज्ञा के पालन करने का है ही। 'नव जल जोगा'; यथा—"माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा।" (दो० १५१)।

(३) 'कुल गुरु गति'; यथा—"भये सनेह सिथिल मुनि राऊ"। 'विदेह सनेह'—"सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे।···" से "तापस मुनि·" तक। 'राम भगतिमय भरत'; यथा—"राम-प्रेम मूरति तन आही।" (दो० १८१); "तुम्ह तौ भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (दो० २०७)। 'सब कोउ राम-प्रेम मय'; यथा—"सहज सुभाय समाज दुहूँ, राम चरन अनुराग॥" (दो० २८०)। 'हहरि हिय हारे'—देवता लोग स्वार्थांध होने के कारण श्रीभरतजी की वाणी का अभिप्राय नहीं समझ सके, इसीसे घबड़ा उठे। श्रीभरतजी की वाणी "गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।" तो कही ही गई है। 'भये अलेख सोच···'—पहले तीन तक को ही देखा, जब सभी को वैसा प्रेमी देखा, तब इनके शोच का लेखा ही न रहा।

(४) 'राम-सनेह सँकोच-बस ··'; यथा—"राम सँकोची प्रेमबस, भरत सुप्रेम पयोधि। बनी बात बिगरन चहति, करिय जतन छल सोधि॥" (दो० २१७); वही भाव यहाँ भी है। वहाँ बृहस्पति ने समझाया, पर फिर भी वही हाल है, क्योंकि ये स्वार्थांध हैं। पुनः धीरता-अधीरता, ज्ञान-अज्ञान ये जीवों के स्वभाव हैं, *यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥"* (बा० दो० ११५), देवता भी तो बद्ध जीव ही हैं।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥१॥
फेरि भरतमति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छलछाया॥२॥
बिबुध-बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥३॥
मो सन कहहु भरत-मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥४॥

अर्थ—देवताओं ने सरस्वती का आवाहन करके उसकी प्रशंसा की (और कहा) हे देवि ! देवता आपकी शरण में प्राप्त हैं, रक्षा कीजिये॥१॥ अपनी माया करके श्रीभरतजी की बुद्धि को फेरकर छल रूपी छाया से देवताओं के कुल का पालन कीजिये॥२॥ देवताओं की प्रार्थना सुनकर और उन्हें स्वार्थ-वश जड़ जानकर चतुर देवी (इन्द्र से) बोली॥३॥ कि मुझसे कहते हो कि श्रीभरतजी की बुद्धि पलट दो, हजार नेत्रों से भी तुम्हें सुमेरु पर्वत नहीं सूझता॥४॥

विशेष—(१) 'करि छलछाया'—श्रीरामजी का लौटाना ग्रीष्म का तपन है। अतः, ये लोग छल-रूपी छाते की छाया चाहते हैं। 'बिबुध-बिनय सुनि···'—विनय के साथ विबुध कहा, क्योंकि विनती में बड़ी बुद्धि लगाई। जड़ कहने में 'सुर' छोटा सा नाम दिया। 'जड़ जानी'—बृहस्पतिजी ने दो बार समझाया, फिर भी न समझा; यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० १४०), "स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू।" (दो० २१८)। इससे सयानी देवी ने जान लिया कि ये जड़ हो गये हैं, इसीसे इन्होंने भरत-भारती नहीं समझी।

(२) 'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।'—यहाँ श्रीभरतजी प्रेम-प्रभाव सहित सुमेरु हैं; यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम · भरत अमित महिमा···" (दो० २८१), सुमेरु बहुत ऊँचा और भारी है, एक आँखवाला भी उसे देख सकता है, तुम हजारों आँखों से भी नहीं देख पाते, आश्चर्य है ! श्रीभरतजी की थाह श्रीवसिष्ठजी, श्रीजनकजी और विधि हरिहर भी नहीं पा सकते, प्रत्युत् उन्हें देखकर प्रेम में मग्न हो जाते हैं, यह तुम्हें नहीं सूझता ? भला उनकी मति फेरी जा सकती है ?

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी ॥५॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी ॥६॥
भरत-हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥७॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥८॥

दोहा—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाटु ॥२९५॥

करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरत-हाथ सब काज अकाजू ॥१॥

शब्दार्थ—अरति = अलगन, मन का किसी काम में न लगना। उचाट = चित्त का उचट जाना।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और महेश की माया बड़ी भारी है, वह भी श्रीभरतजी की बुद्धि की ओर नहीं देख सकती ॥५॥ उसी बुद्धि को तुम मुझसे कहते हो कि भोली कर दो, क्या चाँदनी सूर्य की चोरी कर सकती है ? ॥६॥ श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीतारामजी का निवास है, जहाँ सूर्य का प्रकाश है, वहाँ क्या अँधेरा हो सकता है ? ॥७॥ ऐसा कहकर सरस्वती ब्रह्मा के लोक को चली गईं, देवता व्याकुल हो गये, मानों रात में चकवा व्याकुल हो रहा है ॥८॥ मन के मैले और स्वार्थी देवताओं ने कुमंत्र का बुरा ठाट रचा, प्रबल मायाजाल रचकर भय, भ्रम, अलगनता और उचाटन फैलाया ॥२९५॥ कुचाल करके इन्द्र सोचता है कि (मेरा) कार्य-अकार्य श्रीभरतजी के हाथ है, (चाहे बनावें या बिगाड़ें) ॥१॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरि-हर माया···'—इनमें से एक-एक की माया बड़ी प्रबल है। तीनों की माया मिलकर भी श्रीभरतजी की बुद्धि के तेज के सामने दृष्टि नहीं कर सकती और भोरी करना तो बड़ा भारी काम है। तब अकेली मेरी माया वहाँ क्या कर सकती है ? यथा—"कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥" (दो० २८५); अर्थात् उनके समक्ष में मेरी माया अत्यन्त तुच्छ है। यह कुछ नहीं कर सकती। श्रीभरतजी की मति गुणातीत है, अतः, वहाँ त्रिदेव की त्रिगुणमयी माया नहीं लगेगी।

(२) 'चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।'— चंद्रमा में सूर्य से ही प्रकाश आता है, अतः, चन्द्रमा भी सूर्य को नहीं चुरा सकता, तो उसकी चाँदनी की सामर्थ्य कहाँ ? यहाँ त्रिदेव चन्द्रमा, सारदा चाँदनी और श्रीभरत-मति प्रचंड किरणवाले दोपहर के सूर्य के समान है, अर्थात् शारदा की माया से श्रीभरतजी की मति का भोरी होना असंभव है।

(३) 'भरत-हृदय सिय-राम···'—मेरा छल अंधकार-रूप है, श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीता-राम-रूपी तरुण सूर्य का निवास है; यथा—"सूर्यमंडलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्।" (सनत्कुमार संहिता); अतः, वहाँ मेरी माया स्वतः नाश हो जायगी। भाव यह कि त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ श्रीसीता-रामजी के अंश से प्रादुर्भूत होती हैं ; यथा—"रेफा रूढ़ा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च।" (रा०ता० उ०) तथा—"बिधिहरि हर मय।" (बा० दो० १८) अतः, सबकी माया उनके अन्तर्भूत है ; यथा—"माया

सब सिय माया माहू।" (दो० २५१), "मायापति सेवक सन माया।" (दो० २१७)। शारदा भी ब्रह्मा की शक्ति ही है, तो इसको माया वहाँ कैसे पहुँच सकती है ? श्रीसीतारामजी ज्ञान स्वरूप सूर्य हैं, वहाँ अज्ञानरूप तम नहीं जा सकता।

(४) 'अस कहि सारद गइ···'—ब्रह्मा के लोक में वह रहती है; यथा—"भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥" (बा० दो० १०); इन्हें उत्तर देकर वहीं चली गई। 'बिबुध बिकल···'—रात में चकवे-चकवी का वियोग रहता है, इसीसे व्याकुलता रहती है। श्रीरामजी के श्रीअवध लौटने से देवताओं को भी राज्यश्री से वियोग रहेगा, वे अप्सरा आदि से सदा वियोगी रहेंगे, इससे भावी दुःख को समझकर व्याकुल हो गये।

(५) 'सुर स्वारथी मलीन मन'···'—'मलीन मन'—क्योंकि सरस्वती की शिक्षा मन में न बैठी। 'भय'—बाघ, सिंह आदि का, 'भ्रम'–हम कहाँ आ पड़े हैं, कहाँ श्रीअयोध्या, 'अरति'—चित्त घर के बाल-बच्चों में जाता है, इधर से प्रीति हटती है। 'उचाट'—अब तो श्रीरामजी लौटेंगे नहीं ही, वन ही में रहेंगे, जानाँ तो होगा ही, अच्छा हो कि शीघ्र चल दें। भय, भ्रम और अरति—ये उचाट के ही अंग हैं, आगे प्रसंग में ये स्पष्ट चरितार्थ हैं; यथा—"प्रथम कुमत करि कपट सकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥···" से "सुरपति छल भारे॥" तक (दो० ३०१-३०२)।

(६) 'करि कुचालि सोचत सुरराजू।'—कुचाल का ठाट करने पर सरस्वती के वचनों के स्मरण करने पर फिर शोच हुआ कि जिनके हाथों से सब बनना-बिगड़ना है, उन श्रीभरतजी पर तो माया लगेगी नहीं, फिर औरों पर डालना ही व्यर्थ है। अतः, अभी माया-जाल रचकर ठीक कर लिया है। डालना पीछे दो० ३०१ में लिखा जायगा।

इन्द्र सन्मार्गियों का अनिष्ट करता है। इससे उसे व्यर्थ ही मानसी व्यथा हो रही है। श्रीभरतजी से यह भी भय है कि कहीं मेरी कुचाल से बच जायँगे, तो फिर न जाने मुझपर क्या करेंगे ? क्योंकि श्रीरामजी इनके हाथ में हैं।

इन भय, भ्रम, अरति और उचाट की तांत्रिक क्रिया सूक्ष्म रीति से श्रीवैजनाथजी की टीका में लिखी गई है।

चित्रकूट द्वितीय दरबार

(सार्वजनिक सभा)

गये जनक रघुनाथ-समीपा। सनमाने सब रबि-कुल-दीपा॥२॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघुबंस-पुरोधा॥३॥
जनक-भरत संबाद सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥४॥
तात राम जस आयसु देहू। सो सब करइ मोर मत येहू॥५॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥६॥
बिद्यमान आपुन मिथलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥७॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥८॥

दोहा—राम-सपथ सुनि मुनि जनक, सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत॥२९६॥

शब्दार्थ—अविरोधा=अनुकूल। पुरोधा=पुरोहित। कहाउति=वक्तव्य, उक्ति।

अर्थ—श्रीजनकजी श्रीरघुनाथजी के पास गये। सूर्यकुल के दीपक (श्रेष्ठ) श्रीरामजी ने सबका सम्मान किया॥२॥ तब रघुकुल के पुरोहित श्रीवसिष्ठजी समय, समाज और धर्म के अनुकूल बोले॥३॥ उन्होंने श्रीजनकजी और श्रीभरतजी का संवाद सुनाया। श्रीभरतजी की सुन्दर उक्ति (कही हुई बात) सुनाई॥४॥ हे तात श्रीरामजी! मेरा मत तो यह है कि जैसी तुम आज्ञा दो, वही सब करें॥५॥ सुनकर श्रीरघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सत्य, सीधी और कोमल वाणी बोले॥६॥ कि आपकी और श्रीमिथिलेशजी की विद्यमानता (उपस्थिति) में मेरा कहना (आज्ञा देना) सब प्रकार भद्दा है॥७॥ आपकी और राजा की जो आज्ञा होगी, आपकी शपथ, वह सत्य ही सबको शिरोधार्य होगी॥८॥ श्रीरामजी की शपथ सुनकर सभा-समेत मुनि और श्रीजनकजी सकुचा गये। सभी श्रीभरतजी का मुँह देखने लगे, उत्तर देते नहीं बनता॥२९६॥

विशेष—(१) 'गये जनक रघुनाथ-समीपा···'—पहले—"भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू॥" (दो० २९१); पर प्रसंग छोड़कर देवताओं की बातें कहने लगे थे, अब फिर वहीं से प्रसंग उठाया। वहाँ 'गे जहँ···' और यहाँ—'गये जनक···' वहाँ 'भूप' को प्रधान कहा गया, वैसे यहाँ भी—'गये जनक·····' कहा है। 'गये' शब्द आदरार्थक और बहुवचन है, क्योंकि इनके साथ समाज भी है, श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा, गुरुजी ने श्रीजनकजी पर रख दिया, फिर वे ही श्रीभरतजी के पास गये और वहाँ से सम्मत कर सबके साथ श्रीरामजी के पास आये। 'सनमाने सब रबिकुल दीपा।'—सम्मान यह कि आगे से बढ़कर लिवा लाये, स्वयं लाकर आसन दिया और बैठने को प्रार्थना की। सम्मान के संबंध में रविकुल-दीप कहा, क्योंकि अब ये ही इस कुल में ज्येष्ठ हैं; राजा के सम्मान करने के योग्य श्रीदशरथजी थे, वे नहीं हैं, तो अब श्रीरामजी ही हैं। पहले 'बिबुध कुमुद द्विजराजू' कहा, अब 'रबिकुल दीपा' कहते हैं, इससे सूचित किया कि देवताओं की तरफ अधिक ढरेंगे' उनकी रक्षा में चित्त है, उन्हींको प्रफुल्लित करेंगे। क्योंकि रविकुल के सम्बन्ध में 'दीपा' और बिबुध पक्ष में—'द्विजराजू' कहा गया है।

(२) 'समय समाज धरम अबिरोधा।'—शोक का समय है, इससे अल्प वचन, समाज बुद्धिमानों का है, अतः विचार-पूर्वक, सारी व्यवस्था पिता-वचन रक्षा रूप धर्म पर करनी है; अतः, उसे भी रखते हुए बोले। बोलने में श्रीवसिष्ठजी प्रधान हैं, क्योंकि ये ही सबसे बड़े हैं और श्रीजनक आदि की बातें ज्यों-की-त्यों कहनी हैं। फिर श्रीरामजी से भी इन्होंने ही वचन दिया था कि मैं प्रबन्ध करता हूँ, आप आश्रम पर चलिये। इससे किये हुए प्रबंध को आकर कहा भी है।

(३) 'जनक-भरत संबाद···'—"तात भरत कह तिरहुति राऊ।···" से "राखि रामरुख धरम ब्रत··" तक जो कुछ कहा गया, वह सब कहा। श्रीभरतजी की 'कहाउति' को 'सुहाई' कहा, क्योंकि उसमें उनके शुद्ध सेवक धर्म की व्यवस्था है और वे वचन सुहावने हैं भी; यथा—"सुगम अगम मृदु मंजु···"।

(४) 'तात राम जस आयसु देहू।······'—यही गुरुजी का निश्चय सबसे पहले था, वही श्रीजनकजी का भी हुआ और श्रीभरतजी ने भी वही माना। अतः, सर्वनिश्चित मत गुरुजी ने यहाँ कहा।

'आयसु देहू' के साथ 'राम' शब्द ऐश्वर्यपरक है। मुनि ऐश्वर्य-दृष्टि से आज्ञा देने को कहते हैं, पर श्रीरामजी ने माधुर्य ही में उत्तर दिया, अतः—'सुनि रघुनाथ…' कहा गया, क्योंकि आज्ञा देना गुरु और राजा पर रख दिया।

'सब भाँति भलेसू'—छोटा बड़ों को कैसे आज्ञा दे? आप दोनों सब प्रकार बड़े हैं; यथा—"प्रभुप्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥" (दो० २१२)।

(५) 'राउर राय रजायसु होई।…'—भाव यह कि यदि मैं आप दोनों की आज्ञा न माननेवाला होता, तो मुझसे ही कहलाया जाता। मैं तो शपथ-पूर्वक प्रस्तुत हूँ। आप पिता के समान हैं; यथा—"कुल गुरु सम हित माय न बापू।" और राजा पिता के तुल्य हैं ही। मैं भी पिता की आज्ञा के पालन पर तत्पर हूँ। अतः, आप दोनों चाहे उसे करवावें और चाहे छुड़ा दें। धर्म-अधर्म का भार आप दोनों पर है। पहले समाज में भी श्रीरामजी ने ऐसा ही कहा था; यथा—"माथे मानि करउँ सिख सोई।" (दो० २५७); अब यहाँ शपथ करके भी कहा।

(६) 'राम-सपथ सुनि मुनि ……'—सकुच का कारण यह कि श्रीरामजी जिस धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छुड़ावें? और जो लौटने की बात न कहें, तो लोग कहेंगे कि आये ही क्यों? और श्रीभरतजी को दुःख होगा। पूर्व विचारों से यह निश्चित हो चुका है कि श्रीरामजी के सत्य व्रत आदि न छूटें। तब तो श्रीभरतजी को ही श्रीअवध-रक्षा का भार लेना होगा, जो उनके लिये अत्यंत दुखद है। पर उन्हें कोई कैसे कहे? इसलिये सब उन्हींका मुख देखने लगे।

> सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरज भारी॥१॥
> कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥२॥
> सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल-गुन-गन जगजोनी॥३॥
> भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥४॥

शब्दार्थ—घटज = अगस्त्यजी। निवारा = रोका। कनकलोचन = हिरण्याक्ष। छोनी = पृथिवी। जग-जोनी = ब्रह्मा। उधरी = छूटी, मुक्त हुई।

अर्थ—सभा को संकोच के वश देखकर श्रीरामजी के भाई श्रीभरतजी ने बड़ा धैर्य धारण किया॥१॥ और कुसमय समझकर (अपने बढ़ते हुए) स्नेह को सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को श्रीअगस्त्यजी ने रोका है॥२॥ शोक-रूपी हिरण्याक्ष ने (अपनी) बुद्धि-रूपिणी पृथिवी के (नाना पदार्थ-रूपी) निर्मल गुण-गणों को हर लिया॥३॥ (तब) ब्रह्मा-रूपी श्रीभरतजी के विवेक-रूपी विशाल वराह (भगवान्) के द्वारा बिना श्रम उसी समय वह मुक्त हुई, अर्थात् अपयश एवं वियोग-जन्य दुःख के द्वारा बुद्धि के हरे हुए निर्मल गुण-समूह, त्याग, विराग, धैर्य, स्थिरता, शांति, क्षमा आदि विवेक के द्वारा फिर आ गये; यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज॥" (दो० २१०)॥४॥

विशेष—(१) 'सभा सकुचबस भरत…'—ऊपर 'सकुचे सभासमेत' कहा गया, वही भाव लेकर यहाँ 'सकुच बस' कहा गया। धैर्य के सम्बन्ध से रामबंधु कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी धीरधुरंधर हैं, उनके भाई हैं; अतः, ये भी धीर हैं। इसीसे इन्होंने भारी धैर्य धरकर शोक और स्नेह को दबाया।

उसीको दो रूपकों से कहते हैं। शोक और स्नेह से अधीरता आती है; यथा—"सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये॥" (दो० २११); "सोक सनेह सयानप थोरा।" (दो० २८१)।

(२) 'कुसमय देखि सनेह सँभारा······'—विन्ध्याचल बढ़कर सूर्य की गति को रोकना चाहता था, तब डरकर देवताओं ने श्रीअगस्त्यजी से कहा, उन्होंने उसे रोक दिया। इसकी कथा दो० १३७ चौ० ८ में देखिये। यहाँ श्रीभरतजी का स्नेह विन्ध्याचल है, श्रीभरतजी अगस्त्य हैं। श्रीरामजी सूर्य हैं, उनकी प्रतिज्ञा-रूपी गति का बाधक जानकर बढ़ते हुए अपने स्नेह को श्रीभरतजी ने रोका। यद्यपि पहले से ही निश्चय कर चुके हैं—"राखि राम रुख धरम व्रत···" आदि, तथापि यहाँ भावी वियोग की दृष्टि पर स्नेह उमड़ आया था, जिससे बुद्धि में सहसा यह बात आई कि किसी प्रकार प्रभु आँखों से ओट न हों, इससे श्रीरामजी की प्रतिज्ञा को राह रुक जाती। इसलिये इस स्नेह को इन्होंने रोक लिया, प्रकट न होने दिया।

(३) 'सोक कनक लोचन मति ·· ··'—भूमि की तरह इनकी बुद्धि बड़ी उपजाऊ है, स्वस्थ होने पर आगे कही गई है; यथा—"बिमल बिवेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥" पर सहसा उठे हुए शोक ने उसे क्षण-भर के लिये विक्षिप्त कर दिया, जैसे हिरण्याक्ष के पाप प्रभाव से पृथिवी को उपज मारी गई थी। पर इन्होंने विवेक-द्वारा उक्त शोक का निवारण किया और धैर्य धारण करने पर उनकी बुद्धि में निर्मल गुण-गण फिर आ गये, तब उस भरत-भारती की आगे प्रशंसा की गई है। शोक से बुद्धि के दिव्य गुण हर जाते हैं; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (दो० २७५); वराह भगवान् से हिरण्याक्ष का नाश होता है, वैसे विवेक से शोक का; यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज विज्ञान प्रकास॥" (दो० १५६); वहाँ बहुत काल में और भारी युद्ध होने पर हिरण्याक्ष मारा गया और यहाँ बिना श्रम (अनायास) और उसी समय क्षण-भर में ही (तेहिकाला) बुद्धि-रूपा पृथिवी मुक्त हुई और उसकी आसुरी वृत्ति (शोक) का नाश हुआ। हिरण्याक्ष और वराह की कथा—"धरि बराह बपु एक निपाता" (बा० दो० १२१); में दी गई है। ब्रह्मा 'जग जोनी' हैं, वैसे श्रीभरतजी भी विश्व-भरण-पोषण करनेवाले हैं।

> करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥५॥
> छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥६॥
> हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख-पंकज आई॥७॥
> बिमल बिवेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥८॥
>
> दोहा—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि, सिथिल सनेह समाज।
> करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय-रघुराज॥२९७॥

शब्दार्थ—निहोरे=प्रार्थना की। साली (शाली)=परिपूर्ण, युक्त, वाली; जैसे सम्पत्तिशाली=धनवाला, एवं बलशाली, गुणशाली, तपशाली आदि।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) प्रणाम करके सबसे हाथ जोड़े, श्रीरामजी, राजा, गुरु और साधु-समाज से उन्होंने प्रार्थना की॥५॥ आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित को क्षमा कीजियेगा, (जो कि) कोमल मुख से

वचन कह रहा हूँ ॥६॥ हृदय में सुहावनी सरस्वती का स्मरण किया, वह हृदय (मन) से मुख-कमल पर आई ॥७॥ निर्मल विवेक, धर्म और नीति से पूर्ण श्रीभरतजी की भारती (वाणी) सुन्दर हंसिनी है ॥८॥ विवेक-दृष्टि से समाज को स्नेह-शिथिल देखकर, सबको प्रणाम करके, श्रीभरतजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके बोले ॥२९७॥

विशेष—(१) 'करि प्रनाम सब कहँ···'—यह सज्जनों के समाज में बोलने की रीति है कि बड़ों से प्रार्थना करके वक्तृत्व में अनुचित हो जाने की क्षमा माँग ले।

(२) 'छमब आजु अति···'; यथा—"छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥" (दो० २११); 'बदन मृदु'—बालक का मुख कोमल होता है। 'बचन कठोरा'—गुरुजनों के प्रति ढिठाई करता हूँ।

(३) 'हिय सुमिरी सारदा सुहाई।'—'सारदा सुहाई'—यह परा वाणी है जो शुद्ध श्रीराम-तत्त्व का निरूपण करती है और नाभि-कमल में इसका स्थान है, उसने हृदय से आकर मुख-कमल पर वैखरी वाणी को प्रकाशित किया। तात्पर्य यह कि जो पहले मन में निश्चय किया था; यथा—"करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका॥" (दो० २९५); उसीके प्रकट करने का अनुसंधान किया। वाणी का रूपक हंसिनी से है। हंसिनी मानस सर में रहती है, कमल पर आकर बैठती है और फिर मुक्ता-गण को चुगती है। वैसे ही यह वाणी मन (मानस) से निकलकर मुख-कमल पर आई और आगे इसे—'बिमल बिबेक धरम नय' में विमल गुण-गण-रूपी मोतियों के चुनने के स्वभाववाली भी कहते हैं; यथा—"जसु तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु। मुकताहल गुन गन चुनइ···" (दो० १२८); ब्रह्माजी पद्मासन हैं, तो उनकी शक्ति सरस्वती भी पद्मासिना है; अतः, मुख-कमल पर उसका आना युक्त है। यह भरत-भारती केवल श्रीराम-तत्त्व ग्रहण करेगी, श्रीरामजी के ही सुन्दर गुणों को अति उत्तम रीति से चुनेगी, इसलिये इसे 'मंजु मराली' कहा गया। 'बिमल'—अर्थात् विवेक, धर्म और नीति समल (मलिन) भी होते हैं, पर यह निर्मल विवेक आदि से ही पूर्ण है।

(४) 'निरखि बिबेक बिलोचनन्हि···'—पहले श्रीभरतजी की वाणी को विमल-विवेक, धर्म और नीति-पूर्ण कहा गया। उनमें यहाँ पहले विवेक का कार्य कहते हैं कि सब समाज (अर्थात् श्रीजनकजी-श्रीवसिष्ठजी आदि) की माधुर्य पर ही दृष्टि है, इससे वे सब स्नेह में शिथिल ही हैं। पर इन्होंने स्नेह और शोक को विवेक से दबाकर धैर्य धारण कर लिया, ऊपर कहा गया। वही बात लेकर कहते हैं कि अब श्रीसीतारामजी का स्मरण-रूपी मंगलाचरण करके बोले—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी ॥१॥
सरल सुसाहिब सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बज्ञ सुजानू ॥२॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन अघ हारी ॥३॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाई ॥४॥

अर्थ—हे प्रभो! आप मेरे पिता, माता, सुहृद, गुरु, स्वामी, पूज्य, परम-हितैषी और हृदय के जाननेवाले हैं ॥१॥ सरल, अच्छे इष्टदेव, शील के खजाना, दीनों के पालक, सर्वज्ञ, सुजान ॥२॥ समर्थ, शरणागत का हित करनेवाले, गुणों को ग्रहण करनेवाले, अवगुणों और पापों के हरनेवाले

हैं ॥३॥ हे स्वामी ! (श्रेष्ठता में) गोसाईं के समान गोसाईं ही हैं और स्वामी की दोहाई (शपथ) मेरे समान (अधमता और स्वामि द्रोहिता-में) मैं ही हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु पितु मातु···अवगुन-अघ-हारी ।'—इसमें स्वामी के लिये बीस विशेषण दिये गये हैं । इनके भाव—'प्रभु' अर्थात् आप परम समर्थ हैं, जो चाहें सब कर सकते हैं । पिता, गुरु, और श्रीजनकजी के भी वचनों को एक-साथ पालन कर सकते हैं । अघटित को घटित कर सकते हैं । 'पितु मातु'—पिता-माता के समान पालन, रक्षण एवं दुलार करनेवाले हैं । 'सुहृद'—मित्र हैं, पुनः अच्छा हृदय होने से प्रतीति के योग्य हैं । 'गुरु'—शिक्षा देनेवाले हैं । वेद-शास्त्र सब आपही के वचन हैं । 'स्वामी'—ऐश्वर्य-पूर्वक सर्वमान्य हैं । 'पूज्य'—आप देव, मुनि आदि सबके पूजा करने के योग्य हो । 'परम हित'—परलोक के भी उपकार करनेवाले हैं । 'अंतरजामी'—सबके अंतःकरण के प्रेरक और जाननेवाले हैं । 'सरल'—सुलभ ऐसे हैं कि श्वान तक आपके यहाँ न्याय के लिये पहुँचा । 'सुसाहिब'—अच्छे इष्ट-देव हैं । आश्रित की रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं । यथा—"बड़ी साहिबी मैं नाथ बड़े सावधान हो ।" (क० उ० १२९) । 'सील निधानू'—कैसा भी हीन, दीन, मलिन क्यों न हो, सबको आदर करते हैं ; यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सैः कुत्सितैरपि । महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (भगवद्गुणदर्पण) ; 'प्रनत पाल'—दीनों के पालनेवाले हैं ; यथा—"कृतभूप विभीषन दीन रहा ।" (ल० दो० १०१) ; 'सर्वज्ञ'—विश्व-भर के नाम, रूप, गुण, स्वभाव और ज्ञानादि जानते हैं । 'सुजानू'—चातुर्य गुण से सब विद्या, बोली आदि भी जानते हैं तथा अपने जनों की रुचि आदि जानते हैं । 'समरथ' ; यथा—"जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य । अस समरथ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य ॥" (उ० दो० ११९) ; तथा—स्वामि सुसील समर्थ सुजान सो तोसो तुही दसरत्थ दुलारे ॥" (क० उ० १२), 'सरनागत हितकारी'—सुग्रीव विभीषण आदि का हित किया । 'गुन गाहक'—किसी के भी गुण मात्र लेते हैं ; यथा—"बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर ।" (ल० दो० ७१) ; 'अवगुन अघ हारी' ; यथा—"जनम कोटि अघ नासहिं तबही ।" (सुं० दो० ४३) ; पुनः ; यथा—"गुन गहि अघ अवगुन हरै अस करुनासिंधु ।" (वि० १०७) ।

(२) 'स्वामि गोसाइहि सरिस······'—बीस विशेषण देकर तब कहते हैं कि आप ऐसे स्वामी के समान आप ही हैं । बीसो बिस्वा गुण-निधान आप ही हैं और वैसे ही स्वामि-द्रोहिता में मेरे समान मैं ही हूँ । अर्थात् मेरी इस एक स्वामि-द्रोहिता के बराबर आपके बीसो गुण नहीं हो सकते ; यथा—"स्वामी की सेवक हितता सब कछु निज साइँ द्रोहाई । मैं मति तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई ॥" (वि० १७१) ; "बड़ो साईं द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की-सपथ किये कहत करोरि हौं ॥" (वि० २५८) ; 'दोहाई' शब्द के शपथ और (द्रोहाई) द्रोहिता दोनों अर्थ हैं, अपनी अधमता की सत्यता के लिये शपथ करना भी कहा गया है ।

दोहा—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूपन भे भूपन-सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर ॥२९८॥

अर्थ—प्रभु (आप) के और पिता के वचन का मोहवश उल्लंघन करके समाज को बटोरकर यहाँ आया ॥५॥ जगत् में भला और बुरा, ऊँचा और नीचा, अमृत और अमरत्व, विष और मृत्यु ॥६॥ किसीको भी कहीं नहीं देखा और न सुना कि श्रीरामजी की आज्ञा को मन से भी मेटा (टाला) हो (कर्म और वचन की कौन कहे ?) ॥७॥ मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, हे प्रभो ! आपने उसे स्नेह और सेवा मान लिया ॥८॥ हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया, (जिससे मेरे) दूषण भूषण के समान हो गये और चारों ओर सुन्दर सुयश फैल गया ॥२९८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पितु-वचन मोहवस ·····'—प्रभु ने श्रीसुमंत्रजी के द्वारा कहा था—"नीति न तजिय राजपद पाये।" (दो० १५१) ; उस आज्ञा को न माना और पिता ने राज्य दिया, उनका वचन माता और गुरुजी से सुना, वह भी न माना और फिर आपके यहाँ भी समाज बटोर दबाव डालकर आपका धर्म छुड़ाने आया, जिससे आपके चित्त का विक्षेप किया।

(२) 'सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई।'—उपर्युक्त—"मोहि समान मैं साइँ दोहाई।" को यहाँ तक कहकर पूरा किया। 'प्रभु मानी सनेह सेवकाई।'—मुझ-ऐसे धृष्ट के दोषों को आपने स्नेह और सेवा के रूप में मान लिया, ऐसे सुस्वामी हैं। इसीको आगे कहते हैं—

(३) 'कृपा भलाई आपनी·······'—सुयश यह कि श्रीभरतजी बड़े प्रेमी हैं और त्यागी हैं, श्रीरामजी के लिये इन्होंने बहुत कुछ त्याग दिया, इत्यादि। 'भलाई आपनी'; यथा—"राम भलाई आपनी भल कियो न का को। जुग-जुग जानकि नाथ को जग जागत साको ॥···" (वि० १५२)। 'कृपा'; यथा—"नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।··" (वि० २२१)।

रावरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत विदित निगमागम गाई ॥१॥
क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥२॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनाम किहें अपनाये ॥३॥
देखि दोप कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधुसमाज बखाने ॥४॥

अर्थ—आपकी सुन्दर रीति, सुन्दर बानि (आदत) और बड़ाई संसार में प्रसिद्ध है, वेद-शास्त्रों ने गाई है ॥१॥ क्रूर, कुटिल, खल, दुर्बुद्धि, कलंकी, नीच, निःशील, अनाथ एवं नास्तिक और निःशंक ॥२॥ ऐसों को भी शरण और सम्मुख आया हुआ सुनकर एक ही प्रणाम करने पर अपना लिया ॥३॥ (शरणागत के) दोष देखकर भी कभी हृदय में न लाये और गुणों को सुनकर ही सज्जनों के समाज में उनका बखान (प्रशंसा) किया ॥४॥

विशेष—(१) 'रावरि रीति सुबानि·······'—उपर्युक्त भलाई कुछ मेरे ही साथ नहीं की गई, किंतु जगत्-भर में प्रसिद्ध है, वेद-शास्त्रों ने गाई है। इसे ही आगे—"क्रूर कुटिल···" से कहते हैं। 'रीति'; यथा—"ऐसी कौन प्रभु की रीति। बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥" (वि० २१४);

"जानत प्रीति रीति रघुराई ।" (वि० १६४); "यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई ।" (वि० १६५) । 'सुबानि'; यथा—"सहज बानि सेवक सुखदायक ।" (सुं० दो० १३); "एक बानि करुना निधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (आ० दो० ६); 'बड़ाई'; यथा—"रघुबर रावरि इहै बड़ाई । निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई ॥" (वि० १६६); इत्यादि बहुत प्रमाण हैं ।

(२) 'क्रूर कुटिल खल···'—'क्रूर' - कठोर हृदयवाले, निर्दयी । 'कुटिल'—मन, वचन, कर्म से टेढ़े । 'खल'; यथा—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥" (उ० दो० १२०), 'कुमति'—दुर्बुद्धि, विचार शून्य । 'कलंकी'—अयशी, पापी; यथा—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ।" (उ० दो० १११); 'नीच'—वर्णाधम, वा, स्वभाव का नीच, यथा—"नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास । ढीलि देत भुइँ गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास ॥" (दोहावली ४०१); 'निसील'—जिसकी आँखों में शील न हो, तोताचश्म । 'निरीस'—अनाथ, नास्तिक एवं उच्छृंखल । 'निसंकी'—बड़ों का संकोच न माननेवाले, इत्यादि नौ को गिनाकर ऐसे ही जो असंख्य प्रकार के पापी हैं उन्हें सूचित किया, क्योंकि नौ अंकों की सीमा है । 'सुनि'—किसीके भी कहने मात्र से, वा, जो सम्मुख आकर अपना शरण होना वचन से कहे और एक बार प्रणाम करे, बस, सुनते ही उसे अपना लेते हैं ।

(३) 'सकृत प्रनाम ·· ··'; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मीकीय ६।१८।३३) ।

(४) 'देखि दोष कबहुँ न उर आने ।'—देखी बात प्रामाणिक होती है, सुनी में संदेह रहता है, पर आप गुण-ग्राहक स्वामी हैं, अतः सुने हुए गुण को मान लेते हैं और देखे हुए दोष को भी भुला देते हैं; यथा—"साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि । अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धर्‌यो ॥" (दोहावली ४७); "सुनि सेवा सही को करै परिहरै को दूषन देखि । ··" (वि० १९१); तथा बा० दो० २८ चौ० ५-८ भी देखिये ।

को साहिब सेवकहि नेवाजी । आप समाज साज सब साजी ॥५॥
निज करतूति न समुझिय सपने । सेवक सकुच सोच उर अपने ॥६॥
सो गोसाइँ नहि दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥७॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना । गुन गति नट पाठक आधीना ॥८॥

दोहा—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमौर ।
को कृपाल बिनु पालिहै, बिरदावलि बरजोर ॥२९९॥

अर्थ—ऐसे और कौन स्वामी हैं ? जो सेवक पर कृपा करके आप ही सब साज-समाज उसका सज दें ॥५॥ अपनी करनी (आपने जो सेवक पर बहुत-से उपकार किये हैं) को स्वप्न में भी नहीं समझते, (किन्तु) सेवक के संकोच का शोच (आपके) अपने हृदय में बराबर रहते हैं ॥६॥ हे श्रीगोस्वामी ! ऐसे एक आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं है, हाथ उठाकर प्रतिज्ञा-पूर्वक सत्य कहता हूँ ॥७॥ पशु नाचते हैं, तोते पाठ (जो उन्हें पढ़ाया जाता है, उस) में प्रवीण हो जाते हैं, पर (तोते की पाठ-प्रवीणता

गुण और (पशु के नाचने की) गति, पढ़ानेवाले (पाठक) और नचानेवाले (नट) के अधीन है; अर्थात् प्रशंसा का श्रेय पाठक और नट को ही है, शुक और पशु को नहीं ॥८॥ इसी प्रकार आपने मुझ सेवक को सुधारकर और सम्मान करके साधु शिरोमणि बना दिया। हे कृपालु ! आपके बिना और कौन अपनी प्रबल विरदावली को हठ-पूर्वक पालेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'आप समाज साज ···'—आप ही अपने रीझने के योग्य साज-समाज (गुण वैभव) दास को दे देते हैं और आप ही उन गुणों पर प्रसन्न होते हैं, ऐसा दूसरा स्वामी कौन है ?; यथा—"मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरे। सोभा सुख छतिलाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरे ॥" (गी० लं० १५); अर्थात् पाठक अपने प्रसन्न होने के योग्य पाठ तोते को पढ़ाता है और फिर सुनकर उससे प्रसन्न होता है, इसी बात को आगे शुक और पशु के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(२) 'निज करतूति न समुझिय सपने।'—सेवक पर आपने जो बहुत-से उपकार किये हैं उनकी स्मृति चित्त में स्वप्न में भी नहीं आने पाती ; यथा—"निज गुन अरिकृत अनहितौ दास-दोष सुरति चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारनसील है मानद अमान की ॥" (वि० ४२), सेवक का संकोच देख कर स्वयं सोचते हैं कि हमने इसे ऐसी योग्यता न दी, यह हमसे चूक हुई। सेवक तो संकोच करता है कि हमसे कुछ सेवा न हो पाई और प्रभु बहुत कृपा कर रहे हैं, पर आप उल्टे स्वयं उसपर शोच करते हैं। यथा—"सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९); "केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच यहि नहि कछु दीन्हा ॥" (अ० दो० १०१); "लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को कहो ऐसे साहिब की सेवा न खटाय को।" (क० उ० २२)।

(३) 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।'—भुजा उठाकर ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) 'पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना।'—पशु बकरी, बंदर आदि। नट जैसे-जैसे डोरी घुमाता है, पशु वैसे-वैसे नाचता है और पाठक जो कुछ पढ़ावेगा, तोता वही पढ़ेगा। पर प्रशंसा पशु और तोते की होती है, वैसे भक्तों को आप स्वयं वैसे गुण दे देते हैं और आपही जगत्-रूप से उनकी प्रशंसा भी अनेक मुखों से करते हैं ; यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥" (गीता ११।३३)।

(५) 'यों सुधारि सनमानि जन ···'—उपर्युक्त—'पसु नाचत ···' उपमान है और यह दोहा उपमेय है ; यथा—"आपु हौं आपु को नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकी नाथ पढ़ायो ॥···" (क० उ० ९०); "नट-मरकट-इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥" (कि० दो० ६)। 'को कृपाल बिनु ···'; यथा—"कौन देव बरियाइ बिरद हित हठि हठि अधम उधारे। ···" (वि० १०१), 'बरजोर'—यह 'बिरदावलि' और 'पालिहै' दोनों के साथ है।

यहाँ तक सर्वसाधारण पर भलाई करना कहा, आगे अपने पर उसका सम्बन्ध दिखाते हैं। वा, अपने अवगुणों के साथ प्रभु के गुण दिखाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में प्रभु के सुलभता और कृतज्ञता गुणों की प्रधानता है।

सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये ॥१॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥२॥
देखेउँ पाय सुमंगल-मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ॥३॥

बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू ॥४॥
कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥५॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाई ॥६॥
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि-समाज सँकोच बिहाई ॥७॥
अविनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देव अति आरति जानी ॥८॥

दोहा—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइय देव अब, सबइ सुधारी मोरि ॥३००॥

शब्दार्थ—बायाँ लाना = विरुद्ध करना, जानकर त्याग करना। अनुग्रह = दुःख दूर करने की इच्छा, या, अंगीकारत्व। अविनय = ढिठाई, उद्दंडता।

अर्थ—मैं शोक से, स्नेह से किंवा बाल-स्वभाव (लड़काई) से आज्ञा को बायें लाकर यहाँ आया ॥१॥ तब भी हे कृपालु! आपने अपनी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरी भलाई ही मानी ॥२॥ सुन्दर मंगल के कारण आपके चरणों के दर्शन किये और स्वामी को स्वाभाविक ही अपने अनुकूल जान लिया ॥३॥ बड़े समाज में अपना भाग्य देखा कि बड़ी भारी चूक होने पर भी स्वामी का मुझपर इतना अनुराग है ॥४॥ आपकी कृपा और अनुग्रह से मैं अंग-अंग (पूर्ण) अघा गया, हे कृपानिधे! आपने सब कुछ अधिकता से ही किया है ॥५॥ हे गोसाईं! आपने अपने शील-स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रक्खा ॥६॥ हे नाथ! मैंने स्वामी और समाज का संकोच छोड़कर सर्वथा ढिठाई की है ॥७॥ हे देव! अत्यन्त विपत्ति (दशा) जानकर मेरी रुचि के अनुकूल इस अविनय या विनय की वाणी को क्षमा कीजियेगा ॥८॥ सुहृद्, सुजान और सुसाहिब से बहुत कहना बड़ा अनुचित (दोष) है। हे देव! अब मुझे आज्ञा दीजिये, वही मेरा सब सुधार करेगी; अर्थात् मेरे सुधार का दूसरा उपाय नहीं है ॥३००॥

विशेष—(१) 'सबहि भाँति भल मानेउ मोरा।' यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे॥ उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई ॥··· मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (दो० २६३); इत्यादि सुयश दिये।

(२) 'देखेउँ पाय सुमंगल मूला।'—चित्रकूट आने का लाभ कहते हैं कि श्रीअवध में जो कामना थी—"देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ।" (दो० १८२); तदनुसार—'देखेउँ पाय ··'। पुनः पहले (मार्ग में) समझा था—"राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥" (दो० २३३); उसपर यहाँ कहते हैं—"जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला।"

(३ 'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू।'—श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकजी आदि का समाज है, इससे बड़ी कहा है। 'बड़ी चूक'—आज्ञा-उल्लंघन है। इतनी भारी चूक पर भी स्वामी का ऐसा अनुराग है, यही तो भाग्य की बड़ाई है।

(४) 'कृपा अनुग्रह अंग ' '—कृपा-अनुग्रह से मैं पूर्ण तृप्त हो गया। कृपानिधे!

मेरी योग्यता की अपेक्षा से मुझपर बहुत अधिक कृपा और अनुग्रह किये। कृपा से मेरे दोष नाश किये और फिर अनुग्रह से मुझे अंगीकार किया।

(५) 'राखा मोर दुलार'' '—आप ही ने रक्खा, अन्यथा विधि ने तो इसे नाश ही कर डाला था ; यथा—"विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥" (दो० २६०)। 'अपने सील सुभाय भलाई'—शील स्वभाव से दोषों को न देखा और भलाई के स्वभाव से दुलार किया। वा, शोक से आया तो आपने शील से दुलार किया। स्नेह से आया, तो अपने स्वभाव से और बाल स्वभाव के प्रति भलाई से मेरा दुलार रक्खा। यह उपर्युक्त चौपाई के अनुसार भाव है।

(६) 'निपट'''''' ढिठाई'—बड़ों के समाज में बोलना ही ढिठाई है और स्वामी के समक्ष में भी संकोच छोड़कर बोलना सर्वथा ढिठाई है।

(७) 'अविनय विनय जथा रुचि बानी।'''' '—ढिठाई है वा प्रार्थना है, रुचि के अनुसार कही गई है, वह क्षमा के योग्य है, क्योंकि मैं आर्त्त हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत (सावधानता) नहीं रहती ; यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी ॥" (वि० ३४)।

(८) 'सुहृद सुजान सुसाहिबहि''' '—सुहृद स्वयं सदा हित ही करता है, सुजान अपने जनों के हृदय की भी जानता है और जो कुछ करता है, वह शास्त्र-दृष्टि से ही करता है। सुसाहिब अपने सेवक का बड़ा सार-सँभार स्वयं करता है और उसके दोषों पर भी दृष्टि नहीं देता। जिसमें ये तीनों गुण हैं, ऐसे स्वामी से कहना कि मुझे ऐसा कीजिये, बड़ा दोष है। 'बहुत कहब' अर्थात् थोड़ा भी कहना दोष ही है, बहुत कहना तो बड़ा दोष है। यही विचारकर ये कहते हैं—'आयसु देइय देव अब '''' आगे भी कहेंगे—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। ''

प्रभु - पद - पदुम - पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुखसीवँ सुहाई ॥१॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की ॥२॥
सहज सनेह स्वामि-सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥३॥
आज्ञासम न सुसाहिब - सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा ॥४॥
अस कहि प्रेमबिबस भये भारी। पुलक शरीर बिलोचन बारी ॥५॥
प्रभु - पद - कमल गहे अकुलाई। समय सनेह न सो कहि जाई ॥६॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी ॥७॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमल की धूलि, जो सुन्दर सत्य, सुकृत और सुख की सुंदर सीमा है, उसकी शपथ करके अपने हृदय की जागते, सोते और स्वप्न की रुचि को कहता हूँ ॥१-२। स्वाभाविक स्नेह से, स्वार्थ, छल और चारों फलों (वा, चारों फलों के स्वार्थ-रूपी छल) को छोड़कर स्वामी की सेवा (यही मेरी रुचि है, क्योंकि) ॥३॥ आज्ञा (पालन) के समान सुसाहिब की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव ! वही प्रसाद (प्रसन्नता का दान) सेवक को मिले ॥४॥ ऐसा कहकर वे प्रेम के अत्यन्त विवश हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया ॥५॥ अकुला कर प्रभु के चरण-कमलों को पकड़ लिया,

वह समय और स्नेह एवं उस समय का स्नेह कहा नहीं जाता। ऐसी कृपा-सागर श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर वाणी से उनका सम्मान करके हाथ पकड़कर (उन्हें अपने) पास बैठाया ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पदुम-पराग····'—सत्य-सुकृत आदि चरण-रज के विशेषण हैं, जो इस रज की अन्यथा शपथ करेगा; अर्थात् झूठी सौगंद करेगा, उसके ये सत्य आदि नाश हो जायँगे।

'सींव' अर्थात् सत्य आदि की सीमा (हद) बस, यहीं तक है। 'सुहाई' शब्द सत्य आदि के साथ है, क्योंकि सत्य आदि दोषों से असुहावन भी होते हैं।

इस रज से अहल्या को सत्य, अर्थात् सत्य शुद्ध अपना रूप, निषाद को सुकृत और दंडक-वन को सुख प्राप्त हुआ, इनके द्वारा रज के महत्त्व का प्रमाण है।

(२) 'रुचि जागत सोवत सपने की।'—तुरीया तो स्वाभाविक शुद्ध ही है, उसमें प्रभु की प्राप्ति रहती ही है। जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न, इनमें विक्षेप-विकार होते हैं, इससे इन्हीं की रुचि शपथ करके कही।

(३) 'सहज सनेह स्वामि···'—यही तीनो अवस्थाओं की रुचि है; यथा—"स्वारथ परमारथ रहित, सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत येह॥" "परहुँ नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥" (दोहावली ९०+९२); 'स्वार्थ' देह-सुख-साधन, 'छल' कहना कुछ और करना कुछ, पुनः अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चार फलों की इच्छा छोड़कर। वा, चारो फलों का स्वार्थ ही छल है; यथा—"भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥" (कि० दो० २२)।

(४) 'अस कहि प्रेम बिबस···'—'अस'—आप प्रसन्न हैं, तो प्रसाद-रूपी आज्ञा मिले, ऐसा कहते ही भावी वियोग पर व्याकुल हो गये और चरण-कमल पकड़ लिये कि इनका वियोग मुझे असह्य है। फिर प्रेम के विवश होने की दशा पुलक आदि से हो आई; यथा—"कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥" (दो० ९६); "चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत॥ (सुं० दो० ११); इत्यादि। श्रीभरतजी का भाषण यहाँ समाप्त हुआ।

(५) 'कृपासिंधु सनमानि···'—इसपर समुद्र रूपा कृपा उमड़ आई और सुन्दर प्रेममयी वाणी से आश्वासन किया कि भैया! अधीर न हो, समीप बैठाकर जनाया कि हमें सदा पास ही समझो।

भरत-बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ ॥८॥

छंद—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी।
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन-से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन-से॥

सोरठा—देखि दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर-नारि सब।
मघवा महामलीन, मुये मारि मंगल चहत ॥३०१॥

शब्दार्थ—धनी = मालिक, राजा, स्वामी। मघवा (सं० मघवन्) = इन्द्र। घनी = बहुत बड़ी।

अर्थ—श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सभा और श्रीरघुनाथजी स्नेह से शिथिल हैं ॥८॥ श्रीरघुनाथजी, साधु-समाज, श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीमिथिला के स्वामी श्रीजनकजी स्नेह से शिथिल हैं। सब मन-ही-मन श्रीभरतजी के भ्रातृत्व और भक्ति की बहुत बड़ी महिमा सराहते हैं। देवता अपने मलिन मन से श्रीभरतजी की बड़ी बड़ाई करते हैं और फूल बरसा रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सबलोग (यह निर्णय) सुनकर ऐसे संकुचित हो गये, जैसे रात्रि के आगमन से कमल ॥ दोनों समाजों और सभी स्त्री-पुरुषों को दुखी और दीन देखकर महामलिन इन्द्र मानों मरे हुए को मारकर अपना मंगल (कल्याण) चाहता है ॥३०१॥

विशेष—(१) 'भरतहि प्रसंसत बिबुध · ·'—'मानस मलिन से'—अब भी देवताओं के मन में संदेह-रूपिणी मलिनता है—(क) श्रीभरतजी ने तो आज्ञा माँगी, पर श्रीरामजी ने उनके प्रेम-वश होकर न जाने क्या कहा ? (ख) प्रेमातुर होकर चरण पकड़े और श्रीरामजी ने पास बैठाया, तब फिर संदेह हो गया कि न जाने अब क्या हो ? अब भी मन में मलिनता है कि श्रीभरतजी किसी तरह शीघ्र लौट जायँ।

(२) 'सब लोग सुनि सकुचे निसागम मलिन-से'—आगे वियोग रूपी रात के आगमन की संभावना है, क्योंकि श्रीभरतजी ने श्रीरामजी की आज्ञा पर छोड़ दिया और श्रीरामजी पिता की आज्ञा पालने में दृढ़व्रत हैं ही, इससे स्वयं न लौटकर सबको लौटने को ही कहेंगे। अभी श्रीरामजी की निश्चित आज्ञा नहीं हुई, इसीसे 'निसागम' कहा है।

(३) 'मघवा महामलीन · ·'—लोग वियोग और स्नेह से स्वतः शिथिल हैं, सूखे जा रहे हैं, इन दीन-दुखियों को सताना अधमता है। इन्द्र इनपर पूर्व रचित उचाटन का प्रयोग करना चाहता है, इसीसे उसे 'महामलीन' कहा और 'मघवा' इस अनादर-सूचक नाम से कहा। इसी नाम से आगे श्रीरामजी भी इसे कुत्ते के समान कहेंगे।

कपट - कुचालि - सीवँ सुरराजू। पर-अकाज-प्रिय आपन काजू ॥१॥
काक - समान पाकरिपु - रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥२॥
प्रथम कुमत करि कपट सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला ॥३॥
सुरमाया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे ॥४॥
भय उचाटबस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं ॥५॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी ॥६॥
दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं ॥७॥
लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥८॥

दोहा—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ ॥३०२॥

शब्दार्थ—पाकरिपु=इन्द्र । मेला=डाला। दुबिधा=दुविधा में पड़ी हुई। दुचित=अस्थिर चित्त, सन्देह में पड़ा हुआ, दो ओर चित्त जाना। जुबान्=युवक।

अर्थ—देवराज इन्द्र कपट और कुचाल की सीमा है, उसे दूसरे का कार्य बिगाड़ना और अपना कार्य साधना प्रिय है ॥१॥ पाक दैत्य के शत्रु इन्द्र की रीति कौए के समान है, वह छली और मलिन है, उसका किसीपर विश्वास नहीं है ॥२॥ उसने पहले कुमंत्र करके कपट एकत्र किया (था), उस उच्चाटन को सबके शिर पर डाल दिया ॥३॥ देव-माया से सबलोग विशेष मोहित हो गये, परन्तु श्रीरामजी के अतिशय प्रेम से उनका अधिक बिछोह न हुआ ॥४॥ उचाटन के वश होने से मन स्थिर नहीं है, क्षण-भर तो वन की रुचि रहती है, फिर क्षण में घर अच्छे लगने लगते हैं ॥५॥ मन की गति दुविधामय होने से प्रजा दुखी है, मानों नदी और समुद्र के संगम का जल है (जो कभी इधर कभी उधर आता-जाता है) ॥६॥ अस्थिर चित्त होने से कहीं भी संतोष नहीं पाते, एक-दूसरे से अपना भेद नहीं कहते ॥७॥ यह देखकर कृपासागर श्रीरामजी हृदय में हँसकर कहते हैं कि कुत्ता, इन्द्र और युवक समान (प्रकृति) वाले हैं ॥८॥ श्रीभरतजी, श्रीजनकजी, मुनिलोग, मंत्री और सज्ञान साधुओं को छोड़कर सभीको मनुष्यों की योग्यतानुसार देवमाया लगी; अर्थात् न्यूनाधिक चेतनता के अनुसार लगी ॥३०२॥

विशेष—(१) 'कपट-कुचालि-सीवँ ··कबहुँ न प्रतीती ।'—परम भक्त श्रीभरत की ओर कुदृष्टि देख तथा ऐसे ही और भी भक्तों एवं ऋषियों से छल करने का इसका स्वभाव जानकर यहाँ पर कवि ने इसके लिये सात क्रूर विशेषण दिये हैं—कपट सीवँ, कुचाल सीवँ, पर अकाज प्रिय, आपन काज प्रिय, छली, मलिन और अविश्वासी । इन दुर्गुणों की यह सीमा है । सात गिनाकर अवगुणों की अगाधता में इसे सातों समुद्रों के तुल्य कहा । 'पाक रिपु रीती'—से सूचित किया कि पाक दैत्य के साथ इसने इन दुर्गुणों का प्रयोग किया है, तभी से इसका यह स्वभाव-सा पड़ गया है । जो स्वयं छली और अविश्वासी होता है, वह दूसरों में भी छल आदि की शंका करता है, वैसा ही यह भी श्रीभरतजी से डरता है ।

(२) 'प्रथम कुमत करि कपट ···'—प्रथम दो० २९५ में कुमंत्र करके उचाटन प्रयोग की रचना कही गई थी, उसका प्रयोग होना यहाँ कहते हैं । यह प्रयोग ही उपर्युक्त 'मुए का मारना' है । 'राम प्रेम अतिसय न बिछोहे'—देवमाया लगने पर अतिशय श्रीराम-प्रेम होने के कारण उस प्रेम से अतिशय बिछोह भी न हुआ, किन्तु दुचित हो गये ।

(३) 'दुबिध मनोगति ···'—जैसे नदी का जल वेग से समुद्र में जाता है और समुद्र के वेग से उसका जल नदी में आता है, ठेला-ठेली लगी रहती है । उसी तरह कभी घर की रुचि प्रबल होकर वन की रुचि को दबा देती है और कभी वन की रुचि प्रबल होकर घर की रुचि को दबाती है चित्त शांत नहीं हो पाता । सबके मन समुद्र हैं, देवमाया नदी है ।

(४) 'एक एक सन मरम ····'—लज्जा लगती है कि यह सुनकर दूसरे हँसेंगे कि अरे! श्रीरामजी को छोड़कर घर की रुचि है, वह प्रेम कहाँ गया ?

(५) 'लखि हिय हँसि कह ···'—कृपानिधान श्रीरामजी की दया भक्तों पर है, इससे इनके प्रति अपचार देखकर निरादर की दृष्टि से इन्द्र पर हँसे कि यह हमारे प्रेम में पगे हुए लोगों के प्रति भी बिना कारण अपचार करता है, जैसे कुत्ता व्यर्थ राही पर भूँकता, गुर्राता और काटने दौड़ता है । समझता है कि श्रीभरतजी श्रीरामजी को छीन ले जायँगे । अच्छा किया है, पाणिनि ने, जो श्वन्, युवन् मघवन् को एक ही सूत्र में लिखा (पिरोया) है, सत्य ही इनकी प्रकृति एक-सी है; यथा—"श्वयु

भाग सठ, श्वान निरखि मृगराज। छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज॥" (बा० दो० १२५); जवान कामी होता ही है, वैसे ही इन्द्र भी कामी है, इसीसे वह कुटिल है; यथा—"जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥" (बा० दो० १२४)।

पुनः श्वान अपने गाँव में शंका-रहित रहता है, इसीसे ग्राम-सिंह भी कहा जाता है, वैसे जवान मदान्ध होता है, वैसेही इन्द्र शंका-रहित है।

इन तीनों शब्दों की बनावट (प्रकृति) एक समान होने से पाणिनि महर्षि ने इन्हें एक सूत्र में रक्खा है; यथा—"श्वयुवमघोनामतद्धिते" इसीपर किसी कवि ने हास्य की रीति से कहा है—"काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे नार्यो निग्रथ्नन्ति न चित्रमेतत्। स शास्त्रकृत् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥" यहाँ काँच-तुल्य 'श्वान', मणि-तुल्य 'युवा' और काञ्चन-तुल्य 'मघवा' को कहा है।

यहाँ पूज्य कवि ने व्याकरण के सूत्र का आशय लेकर इन्द्र को श्वान के तुल्य कहने में हास्य की रीति से बुद्धि की विलक्षण चातुरी दिखाई है।

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥१॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरतभगति सबकै मति जंत्री॥२॥
रामहि चितवत चित्र लिखे-से। सकुचत बोलत बचन सिखे-से॥३॥
भरत-प्रीति-नति-बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥४॥

शब्दार्थ—जंत्री (यंत्र=ताला)=ताला लगा दिया, यथा—"लोचन निजपद जंत्रित ··" (सुं० दो० ३०)।

अर्थ—कृपासागर श्रीरामजी ने लोगों को अपने स्नेह और इन्द्र के भारी छल से दुखी देखा॥१॥ सभा, राजा, गुरु, ब्राह्मणगण और मंत्रीगण सबकी बुद्धि पर श्रीभरतजी की भक्ति ने ताला लगा दिया; अर्थात् सभी मुग्ध होकर कि कर्त्तव्य-विमूढ से हो रहे हैं॥२॥ सबलोग लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह श्रीरामजी को (एकटक) देख रहे हैं और बोलने में सिखे हुए वचन बोलनेवाले की तरह सकुचते हैं॥३॥ श्रीभरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में सुखदायक हैं, पर वर्णन करने में कठिन हैं॥४॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु लखि···'—भक्तों पर उच्चाटन प्रयोग देखकर दया है।

(२) 'सभा राउ गुर महिसुर···'—जो लोग देवमाया से बचकर सचेत थे, वे श्रीभरतजी की भक्तिमयी वाणी सुनकर अवाक् हो रहे हैं, सबकी बुद्धि पर ताला-सा लग गया। अब श्रीरामजी पर सबकी एकटक दृष्टि है कि देखें अब क्या आज्ञा देते हैं? जैसे पहले—"सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत॥" (दो० २९९); पर कहा गया है। 'चित्र लिखे से'; यथा—"राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।" (बा० दो० २४०)।

(३) 'सकुचत बोलत बचन सिखे से'—बोलने में सकुचते हैं कि घर से आये थे कि श्रीरामजी को लेकर लौटेंगे अथवा उनके साथ ही रहेंगे। पर एक भी न हुआ, मन में उचाटन की दशा विचारकर बोलने में सकुचते हैं कि भीतर से तो घर की ओर रुचि लगी है और मुख से कहें कि हम साथ ही

रहेंगे, तो बनता नहीं। किसी-न-किसी तरह भीतरी भाव बोलने में प्रकट हो ही जायगा। पूर्व की निश्चित बातें कहने में संकोच लगता है कि हृदय में और होने से अब वे बातें रटी हुई सी जान पड़ेंगी और अप्रामाणिक होंगी, तो फिर लज्जित होना होगा।

(४) 'भरत-प्रीति-नति·····'—'प्रीति'—यह इनके चरित्र-भर में पूर्ण है। नम्रता यह कि श्रीरामजी पैदल गये, तो मुझे शिर के बल से जाना चाहिये; यह इन्होंने पहले आते समय कहा है। विनय का स्वरूप त्रिवेणी की धार में तीर्थराज के समक्ष में कहा है, वह देखने योग्य है। बड़ाई जैसे कि प्रयाग में धन्य, धन्य की ध्वनि छा गई। श्रीभरद्वाजजी ने और फिर आकाशवाणी एवं श्रीरामजी ने भी बड़ाई की है। इन सब प्रसंगों के सुनने में सुख होता है, पर वर्णन करना कठिन है।

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू ॥५॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी ॥६॥
आप छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी ॥७॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मतिगति बालबचन की नाईं ॥८॥

दोहा—भरत-बिमल-जस बिमल बिधु, सुमति चकोर-कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय-नभ, एकटक रही निहारि ॥३०३॥

अर्थ—जिसकी कण-मात्र भक्ति को देखकर मुनि-गण और मिथिलापति राजा श्रीजनकजी प्रेम में डूब गये हैं ॥५॥ उसकी महिमा तुलसी क्योंकर कहे? भक्ति के स्वभाव से हृदय में स्वाभाविक सुमति उल्लसित हुई ॥६॥ (परन्तु) अपनेको छोटी और महिमा को बड़ी जानकर पुनः कवि-समाज की मर्यादा समझकर सकुच गई ॥७॥ रुचि बहुत है, पर गुणों को कह नहीं सकती, बुद्धि की गति (व्यवस्था) बाल-वचन की-सी हो रही है; (जैसे बालक कुछ कहना चाहता है, पर वचनों-द्वारा मन की बात कह नहीं पाता) ॥८॥ श्रीभरतजी का निर्मल यश चन्द्रमा है, सुमति चकोर-कुमारी है, यह निर्मल भक्तों के हृदय-रूपी आकाश में उदित होकर उस चन्द्रमा को एकटक देखती रह गई है ॥३०३॥

विशेष—(१) 'भगति सुभाय सुमति ······'—भक्ति के कारण भक्त लोग कुछ इष्ट के यश-कथन की लालसा करते हैं; यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥···" से "तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥" (बा० दो० १२) तक। वैसे ही भक्ति के स्वभाव से मेरे हृदय में भी सुमति का विकाश हुआ है। वह कुछ कहना चाहती है; यथा—"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। राम-चरित मानस कवि तुलसी ॥" (बा० दो० ३५); वहाँ तो 'रामचरितमानस' के कवि हो चले और चरित कहा भी, पर यहाँ श्रीभरतजी की महिमा नहीं कह पाते। 'कहै किमि' पर कहा जा सकता है कि तब चुप हो जाओ, उसपर कहा कि भक्ति के स्वभाव से चुप रहा नहीं जाता। प्रबल इच्छा पर कह उठते हैं, तो बाल-वचन की नाईं दशा होती है—कहना चाहता हूँ कुछ, तो निकलता है कुछ। भाव यह कि श्रीभरत-चरित परम दिव्य है, अतएव मेरी प्राकृत वाणी से परे है।

(२) 'भरत-बिमल जस बिमल बिधु''' ''—श्रीभरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है, (अन्य भक्तों के यश तारा गण हैं) सुमति चकोर-कुमारी है, यहाँ मति को सुमति कहा, क्योंकि परम भक्त के यश कथन के लिये उल्लसित है; जब असमर्थ हुई, तब 'मति गति' में मति-मात्र कहा है। 'कुमारी' अर्थात् कन्या और भी असमर्थ होती है। चकोरी चंद्र-छवि का पार नहीं पाती, किंतु दर्शनों में ही मुग्ध होकर सुख पाती है। वैसे ही मेरी सुमति उसपर मुग्ध होकर एकटक देखने में ही सुख पा रही है। यहाँ 'एकटक' निहारने के साथ शिथिल होना और सुख पाना भी लेना चाहिये, क्योंकि चकोरी में सर्वत्र तीनों बातें पाई जाती हैं; यथा—"थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ परिहरीं निमेषे॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (बा० दो० २३१); "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।''' देखि सीय सोभा सुख पावा।" (बा० दो० २२१)। अर्थात् स्नेह से मति भोरी हो गई, मन-चित्त आदि भी उसीमें लय हो सुख पा रहे हैं। जैसा बिमल-यश, वैसा ही उसका उपमान बिमल बिधु और स्थान बिमल जन-हृदय है।

भरत-सुभाव न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥१॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम-पद होइ न रत को॥२॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥३॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥४॥
धरमधुरीन धीर नय-नागर। सत्य-सनेह-सील-सुख-सागर॥५॥
देस काल लखि समय समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥६॥
बोले बचन बानि-सरबस-से। हित परिनाम सुनत ससि-रस-से॥७॥

शब्दार्थ—बाम = विमुख, खोटा। बानि सरबस से = मानों सरस्वती की सब कुछ पूँजी यही है, ऐसा।

अर्थ—श्रीभरतजी के स्वभाव का वर्णन वेदों को भी सुगम नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धि की चपलता को कविजन क्षमा करें॥१॥ श्रीभरतजी के सद्भाव को कहते-सुनते श्रीसीतारामजी के चरणों में अनुरक्त कौन न होगा? अर्थात् जो कहे-सुनेगा, वही अनुरक्त हो जायगा॥२॥ श्रीभरतजी का स्मरण करने से जिसको श्रीरामप्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान खोटा (वा भाग्य-विमुख) कौन होगा? ॥३॥ दयालु और सुजान श्रीरामजी ने सभी की दशा देखी, अपने भक्त के हृदय की जानकर॥४॥ धर्म-धुरंधर, धीर, नीति में निपुण, सत्य स्नेह, शील और सुख के समुद्र॥५॥ नीति और प्रीति के पालनेवाले श्रीरघुनाथजी देश, काल, समय और समाज को समझकर (तदनुसार)॥६॥ वचन बोले, जो सरस्वती के सर्वस्व के समान थे, अंत में हितकारी और सुनने में अमृत के समान थे॥७॥

विशेष—(१) 'कबि छमहूँ'—क्षमा की प्रार्थना करते हैं, तो कहने ही से बाज आओ, उसपर कहते हैं—"कहत सुनत सतिभाव'''" अर्थात् मैं इसीलिये कहता हूँ। यह हुआ भी; यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को। ''कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥" (दो० ३२६)। यह भरत-सद्भाव के श्रोताओं और वक्ताओं के लिये आशीर्वाद भी है।

(२) 'देखि दयाल दसा सबही की ।'''—श्रीभरतजी के भाषण के प्रभाव से लोग विकल हो गये थे ; यथा—"तुलसी विकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से ॥" (दो० ३०१); तब कवि इन्द्र की कुचाल कहने लग गये थे, फिर—"कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह'''" से वही प्रसंग लिया, किंतु फिर श्रीभरत-भक्ति की महिमा पर मुग्ध हो गये। उसे कुछ कहकर तो उसी छोड़े हुए प्रसंग—"कृपासिंधु लखि लोग दुखारे।" को यहाँ—"देखि दयाल दसा'''" से फिर उठाते हैं।

'राम सुजान जानि जन जी की ।'—भक्तों के मन की जानने के संबंध से सुजान कहा है।

(३) 'धरमधुरीन धीर '''''—बोलने में पहले धर्म-धुरीण कहकर सूचित किया कि इस भाषण में धर्म (पिता-वचन-पालन) पर ही दृष्टि रहेगी ; यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू ॥ सो तुम करहु करावहु मोहू।" (दो० ३०५); धर्मधुरीण आदि सात विशेषण कहते हुए अंत में 'सागर' पद देकर इसे सबों के साथ लगाया कि ये सातो गुण सातो समुद्र की तरह अपार एवं अगाध हैं। इन सातो के सूक्ष्म भाव—पिता के वचन रक्खेंगे, कष्ट सहने में धीर हैं, नीति भी रक्खेंगे, अपने वचन सत्य करेंगे, सबके स्नेह और शील को भी रक्खेंगे, स्वयं सुख के सागर हैं, औरों को भी सुखद आज्ञा देंगे। 'देस, काल' के भाव ऊपर कहे गये। 'बोले बचन बानि ''—सरस्वती का सर्वस्व सिद्धान्त इसमें ही आ गया, जो परिणाम में हितकर और सुनने में प्रिय अमृत के समान मधुर और आह्लादकारक है। वाणी का प्रिय होना और परिणाम (अन्त) में हितकर होना दुर्लभ है ; यथा—"बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥" (ल० दो० ८), जो वचन सुनने में प्रिय होते हैं, वे प्रायः परिणाम में दुःखद होते हैं; यथा—"सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा ॥" (लं० दो० ८)। इस वाणी में दोनों गुण हैं।

श्रीरामजी का भाषण

तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक - बेद - बिद प्रेम-प्रबीना ॥८॥

दोहा—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुरुसमाज लघु - बंधु-गुन, कुसमय किमि कहि जात ॥३०४॥

जानहु तात तरनि - कुल - रीती। सत्यसंध पितु-कीरति प्रीती ॥१॥
समय समाज लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की ॥२॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू ॥३॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर-अनुसारा ॥४॥

अर्थ—हे तात श्रीभरतजी ! तुम धर्म-धुरंधर हो, लोक और वेद (दोनों) के जाननेवाले हो और प्रेम में प्रवीण हो ॥८॥ हे तात ! कर्म, वचन और मन से निर्मल तुम्हारे समान तुम्हीं हो, बड़ों के समाज में और ऐसे कुसमय में छोटे भाई के गुण कैसे कहे जा सकते हैं ? ॥३०४॥ हे तात ! तुम सूर्यकुल की रीति, सत्य प्रतिज्ञ पिता की कीर्त्ति और प्रीति को जानते हो ॥१॥ समय, समाज, गुरुजनों की

उदासीन, मित्र और शत्रु के मन की (बात) ॥२॥ सभी का कर्त्तव्य, अपना और मेरा परम हित और परम धर्म तुमको मालूम है ॥३॥ मुझे सब प्रकार से तुम्हारा भरोसा है, तो भी समय के अनुसार कुछ कहता हूँ ; अन्यथा कहने समझाने की आवश्यकता न थी ॥४॥

विशेष—(१)—'तात भरत तुम्ह · '—श्रीभरतजी ने अपने भाषण में प्रभु की बड़ाई और अपने दोष कहे थे, उसपर श्रीरामजी उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें निर्दोष कहते हैं कि तुम तो धर्मधुरीण हो और मन, वचन, कर्म से निर्मल हो। श्रीभरतजी ने कहा था—'स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाईं।' उस-पर आप कहते हैं—'तुम्ह समान तुम्ह तात।' पहले धर्म-धुरीण कहा, क्योंकि उन्हें पिता-वचन-पालन रूप धर्म पर आरूढ करना है।

(२) 'गुरु समाज लघु'' '—एक तो श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी एवं श्रीजनकजी आदि गुरुजनों का समाज है जिसमें बहुत बोलना भी अनुचित है, उसपर भी छोटे भाई की प्रशंसा उसके मुख पर कहना, फिर भी कुसमय में जहाँ किसी की भी प्रशंसा कहना रुचिकर नहीं होता, कैसे उचित हो ? यथा—"लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥ (दो० १५८)

(३) 'जानहु तात तरनि-कुल-रीती। · ···' 'रीति'—यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥" (दो० २७); 'सत्य-संध पितु · · ·' यथा—"राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥" (दो० २११), "तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ नृपहि बचन प्रिय नहि प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥" (दो० १७१); भाव यह कि तुम भी कुल कीर्ति में प्रीति करो और पिता के वचन का पालन करो। पिता की कीर्ति; यथा— "जियन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥ जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥" (दो० १५५)। भाव यह कि ऐसे कीर्तिमान् पिता के वचन सत्य करो, नहीं तो वे श्रीकैकेयीजी के ऋणी रह जायँगे और यह अपकीर्ति होगी कि उन्होंने वरदान देकर फिर उसे पूरा नहीं किया। तुम्हारे द्वारा पूरा किया जाना उन्हीं का पूरा करना है। तुम्हें कुल-कीर्ति की रक्षा करनी चाहिये।

(४) 'समय समाज लाज···'—यह भी जानते हो कि हमारे तुम्हारे लिये कठिन समय आ पड़ा है। राजा के विना राज्य रक्षा-हीन हो रहा है। समाज का हाल भी जानते ही हो कि दंडनीति विना समाज निरंकुश हो प्रमादी हो जाता है, दो राज-समाजों के रक्षक यहीं पर आ जुटे हैं, इन्हें अपने-अपने कर्त्तव्यों पर आरूढ होने चाहिये। गुरु-जन यहाँ हमारे-तुम्हारे निर्णय का बाट देखते हैं। उनकी लाज भी रखनी चाहिये कि शीघ्र अपने-अपने कार्यों में लग जाना चाहिये। तुम यह भी जानते हो कि जो उदासीन लोग हैं, उन्हें हमारे-तुम्हारे बनने-बिगड़ने की परवाह नहीं है। हित लोग सब यहीं उपस्थित है, यहाँ से वे प्रजा की रक्षा नहीं कर सकते। शत्रु लोग छिद्र ढूँढा करते हैं, वे इस समय हमारी असावधानी से लाभ उठा सकते हैं।

(५) 'तुम्हहि बिदित सबही···'—किसे क्या करना चाहिये ? यह तुम जानते हो। अब मेरा कर्त्तव्य वनवास और तुम्हारा कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। हम दोनों को पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, यही परम धर्म है, और इसीमें परम हित है।

(६) 'मोहि सब भाँति···'—मुझे सब प्रकार तुम्हारा भरोसा है कि तुम स्वयं सब जानते हो। अत., स्वयं उचित ही करोगे। पर अवसर आ पड़ा है कि सब चाहते हैं और तुम भी चाहते हो कि मैं कहूँ, इसलिये कहता हूँ।

तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुलगुरु-कृपा सँभारी ॥५॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सब होत खुआरू ॥६॥
जौ बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥७॥
तस उतपात; तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा ॥८॥

दोहा—राजकाज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाव पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम ॥३०५॥

शब्दार्थ—खुआरू (फा० ख्वार)=बरबाद नष्ट। पति=प्रतिष्ठा, मर्यादा।

अर्थ—हे तात! पिता के बिना हमारी बात केवल कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की कृपा ने संभाल ली है ॥५॥ नहीं तो हमारे-समेत प्रजा, कुटुंबी और परिवार के लोग सभी बरबाद होते ॥६॥ जो बिना समय के ही सूर्य अस्त हो जायँ, तो कहिये, संसार में किसे कष्ट न होगा? ॥७॥ हे तात! उसी प्रकार का उपद्रव विधाता ने किया था, पर मुनि और मिथिलेश श्रीजनकजी ने सबकी रक्षा की ॥८॥ राज्य के सब कार्य, सबकी लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथिवी, धन, धाम सभी का पालन गुरु प्रभाव ही करेगा और परिणाम अच्छा होगा ॥३०५॥

विशेष—(१) 'केवल कुलगुरु कृपा सँभारी'—वाल्मी० २।६७-६८ में विस्तार से कहा गया है कि राजा के शरीर त्यागने पर ऋषि और मंत्रीगण डर गये कि शीघ्र ही राज्य-रक्षा के लिये कोई नियुक्त हो, नहीं तो अमुक-अमुक रीति से प्रजा नष्ट हो जायगी और अराजक देश में रहना ठीक नहीं, इत्यादि, तब गुरु श्रीवसिष्ठजी ने ही सबको समझाया और फिर श्रीभरत-शत्रुघ्नजी के बुलाने का प्रबंध किया, इत्यादि।

(२) 'नतरु प्रजा परिजन परिवारू।'—इसमें परिजन और परिवार शब्द साथ आये हैं, ये अन्यत्र पर्याय माने जाते हैं, पर यहाँ एक से आश्रित (उपजीवी) और दूसरे से कुटुंबी लोगों का अर्थ लेना चाहिये। *'हमहि सहित सब होत खुआरू'; यथा*—"मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥···जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (दो० ७०)।

(३) 'जो बिनु अवसर···'—राजा के शरीर-त्याग का अभी अवसर नहीं था, क्योंकि अभी तो चौथेपन का प्रारंभ हुआ था; यथा—"श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा॥" (दो० १); यही बिना अवसर सूर्य का अस्त होना है। अनवसर-सूर्यास्त से सबको कष्ट होता है, वैसे गुरुजी न होते तो सबको महान् कष्ट होता।

(४) 'तस उतपात तात···'—पहले पिता के मरने पर गुरुजी ने ही सँभाला था, इससे ऊपर केवल गुरु-कृपा को ही कहा। पीछे रक्षा के लिये मिथिलेशजी आये, इससे पीछे उन्हें भी कहा। या, मुनि के साथ कहकर इन्हें भी बड़ाई दी।

(५) 'राज काज सब लाज···'—राज्य का कार्य सँभालना गुरु-प्रभाव पर निर्भर किया। लाज,

पति आदि सब राज्य-काय के ही व्यष्टि भेद हैं। 'गुरु प्रभाव' अर्थात् गुरुजी को कुछ करना न होगा; इनके प्रभाव से स्वतः सब सँभला रहेगा।

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु-प्रसाद रखवारा ॥१॥
मातु-पिता-गुरु-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू ॥२॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल-पालक होहू ॥३॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥४॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥५॥

अर्थ—समाज-सहित तुम्हारा और हमारा, घर और वन में श्रीगुरुजी का प्रसाद (अनुग्रह) रक्षक है ॥१॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी का आयसु सम्पूर्ण धर्म-रूपी पृथिवी को धारण करने के लिये शेष नाग (रूप) है ॥२॥ वही तुम करो और मुझसे कराओ, हे तात ! इस सूर्य-कुल के रक्षक होओ ॥३॥ साधक के लिये सब सिद्धियों को देनेवाली, कीर्त्ति, सद्गति और ऐश्वर्यमय त्रिवेणी यह एक ही है ॥४॥ इसे विचारकर भारी संकट सहकर प्रजा और परिवार को सुखी करो ॥५॥

विशेष—(१) 'सहित समाज तुम्हार ......'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति 'तुम्हारा' के साथ 'घर' और 'हमारा' के साथ 'वन' का अर्थ है। 'हमारा'—बहुवचन है। अतः,—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ मेरा—यह अर्थ है। 'प्रसाद' का अर्थ उपर्युक्त प्रभाव के समान है। भाव यह कि हमारे बिना राज्य-कार्य की हानि न होगी।

(२) 'मातु-पिता-गुरु ......'—इनकी आज्ञा में सम्पूर्ण धर्मों का भाव है।

(३) 'तरनिकुल-पालक होहू।'—यह सत्य-संध कुल है; यथा—"जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती ॥" यह ऊपर कहा गया है। भाव यह कि सत्य-धर्म की रक्षा करो।

(४) 'साधक एक सकल ......'—माता-पिता की आज्ञा का पालन करने से कीर्त्ति, गुरु की आज्ञा पालन करने से सद्गति और स्वामी की (मेरी) आज्ञा का पालन करने से भूति मिलती है। वा, तीनों की आज्ञा पालन करने से तीनों ही प्राप्त होती हैं। त्रिवेणी के अनुरोध से माता-पिता की आज्ञा गंगाजी, गुरु की आज्ञा यमुनाजी और स्वामी की आज्ञा श्रीसरस्वतीजी की तरह गुप्त हैं।

(५) 'सो बिचारि सहि ......'—यह विचारकर कि प्रजा-पालन की आज्ञा मानने से कीर्त्ति, सुगति और ऐश्वर्य एवं सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'संकट भारी'—मेरे वियोग में तुम्हें भारी दुःख होगा, उसे सहकर, क्योंकि—"संत सहहिं दुख परहित लागी।" (उ० दो० १२०); 'करहु प्रजा परिवार सुखारी।'—अर्थात् घर जाकर वहीं पर रहते हुए इन सबको सुखी करो।

बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥६॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥७॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाये ॥८॥

दोहा—सेवक कर पद नयन-से, मुख-सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकबि सराहहिं सोइ ॥३०६॥

शब्दार्थ—ओड़ियहि = वार-प्रहार रोकने के लिये आड़ की जाती है, (ओड़न = ढाल)।

अर्थ—हे भाई ! विपत्ति सबको और मुझको बाँटी (हिस्से में रक्खी) गई है। पर तुमको अवधि (१४ वर्ष) भर बड़ी कठिनता है ॥६॥ तुमको कोमल जानकर भी कठोर बात (वियोग की) कहता हूँ, हे तात ! कुसमय से कहा जाता है, इसमें मेरा अनुचित नहीं है ॥७॥ कुठाँव (आपत्ति) में अच्छे भाई ही सहायक होते हैं, जैसे वज्र के आघात पर भी हाथ ही ओड़ा जाता है ॥८॥ सेवक हाथ, पैर और नेत्र के समान और स्वामी मुख के समान होना चाहिये, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी सेवक-स्वामी की प्रीति की रीति को सुनकर सुकवि लोग इसकी सराहना करते हैं ॥३०६॥

विशेष—(१) 'बाँटी बिपति··· '—सबपर विपत्ति पड़ी है, पर तुमको सबसे अधिक है।

(२) 'ओड़ियहि हाथ·······'—यहाँ सुबंधु हाथ, कुठाँव वज्र का वार और सहाय होना ओड़ना है। यह स्वाभाविक रीति है कि जब शरीर पर कोई आघात होता है, तब उसको रोकने के लिये पहले हाथ ही उठता है, वैसे गाढ़ पड़ने पर उत्तम भाई ही काम आते हैं।

(३) 'सेवक कर पद नयन-से·······'—स्वामी राज-वाचक शब्द है, अंग एवं सेवक से प्रजा का तात्पर्य है। यहाँ राजा-प्रजा का बर्त्ताव (राजनीति) कह रहे हैं। जैसे नेत्र कोई वस्तु संग्रह-योग्य देखता है, तब पैर चलकर वहाँ पहुँचता है, हाथ उसे उठाता है, फिर खाने के योग्य बनाकर उसे मुख में देता है। मुख स्वाद-मात्र लेकर उसका रस सब अंगों को यथायोग्य बाँट देता है, उन्हें पुष्ट करता है, स्वयं ही नहीं रख लेता। ऐसी ही प्रीति की रीति प्रजा और राजा में होनी चाहिये। (आगे—"मुखिया मुख सों चाहिये ·····" (दो० ३१५); भी देखिये।) अर्थात् राजा-प्रजा में कपट न रहना चाहिये। राजा को चाहिये कि प्रजा से उचित कर लेकर उसे प्रजा के ही काम में लगा दे। राजा सेवकों से सेवा ले और सेवकों का सार-सँभार भी सावधानी से करे। भरत ! तुम इसी तरह प्रजा-पालन करना।

सभा सकल सुनि रघुबर-बानी। प्रेम-पयोधि-अमिअ जनु सानी ॥१॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी ॥२॥
भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ॥३॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ॥४॥

अर्थ—प्रेम-समुद्र के (संभूत) अमृत में मानों सनी हुई रघुवर-वाणी को सुनकर समस्त समाज ॥१॥ शिथिल हो गया, स्नेह की समाधि लग गई, दशा देखकर श्रीसरस्वतीजी ने चुप साध ली; अर्थात् मौन हो रही है ॥२॥ श्रीभरतजी को परम संतोष हुआ, क्योंकि स्वामी की सम्मुखता प्राप्त हुई और दुःख-दोष दूर हुए ॥३॥ मुख प्रसन्न हो गया, मन का दुःख मिट गया, मानों गूँगे पर श्रीसरस्वतीजी की कृपा हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रेम-पयोधि-अमिअ·······'—प्रेम-रूपी दूध के समुद्र का अमृत अर्थात्

परमोत्तम प्रेम में सनी हुई वाणी है। उससे सबका ऐसा स्नेह उमड़ा कि सब जड़ के समान हो गये। शारदा सबकी वाणी की अधिष्ठात्री देवी है। अतः, सबका चुप रहजाना शारदा का चुप रह जाना है। सब चुपचाप देख रहे हैं कि अब श्रीरामजी की आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी क्या कहते हैं? बिना श्रीभरतजी के उत्तर दिये किसीको बोलने का अवसर भी नहीं है।

(२) 'भरतहि भयउ परम संतोषू ···'—पहले दुःख और दोष से दुखी थे; यथा—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११), "एकइ उर बस दुसह दँवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥" (दो० १८१); दोष—"बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" (दो० २६०)। पाप का फल दुःख है; यथा—"करहि पाप पावहिं दुख··· " (उ० दो० १००); अर्थात् कारण और कार्य दोनों मिट गये। इसीसे परम संतोष हुआ।

(३) 'मुख प्रसन्न मन···'—पूर्व कहा गया था—"नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा।" (दो० २२१); उसीकी निवृत्ति यहाँ है। पहले इन्होंने अपने को स्वामि-विमुख माना था; यथा—"हित हमार सिय पति सेवकाई। सोहरि-लीन्हि मातु-कुटिलाई॥" (दो० १०७) इससे ये अवाक् हो गये थे। अब इन्हें स्वामी ने आज्ञा-रूप से सेवा प्रदान की। यही मानों गूँगे को वाणी प्राप्त हो गई।

कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि-पंकरुह जोरी॥५॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनम भये को॥६॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥७॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥८॥

दोहा—देव देव-अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनेउँ सब तीरथ-सलिल, तेहि कहँ काह रजाइ॥२०७॥

अर्थ—प्रेम पूर्वक प्रणाम किया और हस्त-कमल जोड़कर बोले॥५॥ हे नाथ! मुझे आपके साथ जाने का सुख प्राप्त हो गया, जगत् में जन्म होने का लाभ मैंने पा लिया॥६॥ हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा हो, मैं शिरोधार्य करके आदर पूर्वक वही करूँ॥७॥ (परन्तु) हे देव! मुझे वह अवलंब दीजिये, जिसका सेवन करके मैं अवधि का पार पाऊ॥८॥ हे देव! आप (देव) के तिलक के लिये गुरुजीकी आज्ञा पाकर सब तीर्थों के जल लाया हूँ, उसके लिये क्या आज्ञा होती है?॥२०७॥

विशेष—(१) 'कीन्ह सप्रेम ···'—कृतज्ञता से सप्रेम प्रणाम करते हैं, हाथ जोड़कर बोलना नीति है।

(२) 'नाथ भयउ सुख साथ ···'—पहले दरबार में साथ चलने का प्रस्ताव किया था; यथा—"नाथ चलउँ मैं साथ।" (दो० १९८); अब मुझे उसका भी सुख हो गया। पहले अपना जन्म व्यर्थ माना था; यथा—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई॥" (दो० १७७); "कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही।" (दो० १६६), इत्यादि। उसपर अब कहते हैं—"लहेउँ लाहु जग जनम भये को।"

(३) 'अब कृपाल जस आयसु ···'—श्रीरामजी ने अभी तक माता-पिता को आज्ञा पालन करने को कहा है, अपनी आज्ञा नहीं दी, अतः माँगते हैं। 'करउँ सोस धरि सादर सोई।'—भाव यह कि जाने को तो तैयार हूँ ; पर 'जस आयसु' अर्थात् एक तो १४ वर्ष के लिये अवलंब माँगा है, उसपर और तिलक-सामग्री के विषय में क्या आज्ञा होती है ? पुनः चित्रकूट के दर्शनों को भी चाह आगे कहेंगे।

(४) 'सो अवलंब देव···'—'देव'—क्योंकि आप दिव्यगुण विशिष्ट हैं और देवता के समान हैं; यथा—"अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव ॥" (वाल्मी० २।१०६।६); यह अवलंब चलते समय मिलेगा; यथा—"भरत मुदित अवलंब लहेते।" (दो० ३१५)। 'पार पावउँ'—इससे अवधि को समुद्र के समान जनाया।

(५) 'देव देव-अभिषेक···'—'देव' अर्थात् हमारे इष्टदेव हैं और तेज-प्रताप आदि से युक्त एवं दिव्य हैं। 'गुरु अनुशासन···'—यहाँ जाना गया कि उस समय आज्ञा भी ले ली थी ; यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देव मुनि रामहि राजू ॥" (दो० १८६); वहाँ तो इतना ही कहा गया था।

एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय सँकोच जात कहि नाहीं ॥१॥
कहहु तात प्रभु-आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई ॥२॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्झर गिरिगन ॥३॥
प्रभु-पद-अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी ॥४॥
अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत-भय कानन चरहू ॥५॥
मुनि-प्रसाद बन मंगलदाता। पावन परम सुहावन भ्राता ॥६॥
रिषिनायक जहँ आयेसु देहीं। राखेहु तीरथ-जल थल तेहीं ॥७॥
सुनि प्रभुबचन भरत सुख पावा। मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा ॥८॥

दोहा—भरत-राम-संबाद सुनि, सकल-सुमंगल-मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुरतरु-फूल ॥३०८॥

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं ॥१॥

वचनों को सुनकर श्रीभरतजी ने सुख पाया और (अत्रि) मुनि के चरण-कमलों में आनंदित होकर शिर नवाया ॥८॥ सम्पूर्ण सुन्दर मंगलों का मूल श्रीभरत-राम-संवाद सुनकर स्वार्थी देवता इनके कुल की प्रशंसा करके कल्पवृक्ष के फूल बरसाते हैं ॥३०८॥ 'धन्य भरत जय राम गोसाईं' ऐसा कहते हैं और बलात् (बबरन) हर्षित होते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'एक मनोरथ बड़·····'- मनोरथ छोटा होता तो उसे मन में ही दबा देता, पर बड़ा है।

'सभय सकोच'—आज्ञा मिल गई, तो फिर बोलना ढिठाई है। इसका भय और संकोच भी है; यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (दो० २६८); 'प्रभु-पद-अंकित ···'—एक चरण-चिह्न से तो गया तीर्थ का माहात्म्य हुआ, (गया में 'विष्णु पद' मंदिर है, जिसका वहाँ बहुत महत्व है।) यहाँ तो बहुत-से तीर्थ हैं और सब में प्रभु के चरण-चिह्न पड़े हैं, इससे लालसा है।

(२) 'अवसि अत्रि आयसु ···'—पहले तीसरे प्रश्न के लिये ही आज्ञा हुई, क्योंकि इस मनोरथ को इन्होंने 'बड़' कहा था। साथ ही दूसरे (सर्व-तीर्थ-जल) के लिये भी कह दिया। पहले के प्रति अवलंब अंत में देंगे, क्योंकि उसे पाकर तो फिर चल देना होगा। यहाँ श्रीअत्रिजी को बड़ाई दी। 'बिगत भय'—वन में भय रहता है, पर मुनि की आज्ञा पर चलने में बाधा न होगी। 'चरहू'—विचरो, जहाँ-जहाँ कहें, वहाँ-वहाँ जाओ।

(३) 'मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा।'—प्रभु की आज्ञा के अनुसार मुनि के पास जाकर प्रणाम किया। मुनि पास ही थे, श्रीरामजी की बातें सुनते थे, इसीसे इन्होंने और कुछ न कहा। शिर नवाकर आज्ञा भी माँगी, उत्तर में मुनि का कहना आगे—"अत्रि कहेउ तब···" से कहा है, बीच में संवाद का माहात्म्य कहेंगे।

(४) 'भरत-राम-संवाद सुनि······'—यहाँ इस संवाद की पूर्ति है। इसका उपक्रम—"प्रभु पितु-मातु सुहृद गुरु स्वामी।···" से हुआ और—"राखेहु तीरथ जल-थल तेहीं।" पर उपसंहार है। पुनः—"करि प्रनाम बोले भरत" पर उपक्रम है और—"सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा।" पर उपसंहार है। इसके भीतर दो-दो बार संवाद हुए हैं। इस प्रसंग की फलश्रुति—'सकल सुमंगल मूल' है। 'सुर स्वारथी सराहि ···'—देवता सदा के स्वार्थी हैं; यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०९); यहाँ उनको स्वार्थ-सिद्धि हुई, इससे कल्पवृक्ष के फूल बरसाये, क्योंकि निश्चय हो गया कि श्रीभरतजी लौट जायँगे और श्रीरामजी वनवास करेंगे। पहले संदेह था, तब—"बरसत सुमन मानस मलिन से।" (दो० ३०१); कहा है। अब बरियाई भी हर्ष प्रकट करते हैं। 'सराहि कुल'—सराहना यह कि रघुकुल सदा से परोपकारी; सत्य-संध और गो-विप्र एवं देवताओं का हित करनेवाला है। इसमें सभी राजा धर्म-धुरंधर हुए हैं, तो श्रीरामजी और श्रीभरतजी ऐसे क्यों न हों। पुनः कुल के परंपरा-धर्म के निर्वाह की भी सराहना है; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १५); इसके अनुसार श्रीभरतजी आज्ञा में कृतकृत्य हुए।

(५) 'धन्य भरत जय राम······'—श्रीभरतजी को धन्य कहते हैं, ये संत हैं; स्तुति में कहते हैं। श्रीरामजी की जय मनाते हैं कि असुरों को जीतें और इनका स्वार्थ सधे।

'हरषत बरियाइ'—कृतज्ञता के रूप में बरियाई भी हर्ष प्रकट करते हैं, पर भीतर रावण का भय बना है।

सुनि मिथिलेस सभा सब काहू । भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ॥२॥
भरत-राम - गुन - ग्राम - सनेहू । पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥३॥
सेवक स्वामि सुभाव सुहावन । नेम प्रेम अति पावन पावन ॥४॥
मति अनुसार सराहन लागे । सचिव सभासद सब अनुरागे ॥५॥
सुनि सुनि राम - भरत - संबादू । दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू ॥६॥
राम-मातु दुख-सुख सम जानी । कहि गुन राम प्रबोधी रानी ॥७॥
एक कहहिं रघुबीर - बड़ाई । एक सराहत भरत - भलाई ॥८॥

अर्थ—मुनि, श्रीमिथिलापति और सभा, सब किसीको श्रीभरतजी के वचन सुनकर उत्साह हुआ ॥२॥ श्रीभरतजी के और श्रीरामजी के गुण-समूह और स्नेह से पुलकित होकर विदेहराज प्रशंसा करते हैं ॥३॥ सेवक और स्वामी के सुन्दर स्वभाव और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले नेम और प्रेम की ॥४॥ मंत्री और सभासद, सभी अनुरक्त होकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार प्रशंसा करने लगे ॥५॥ श्रीरामजी और श्रीभरतजी का संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजों के हृदय में हर्ष और विषाद है ॥६॥ श्रीरामजी की माता ने दुःख-सुख को समान ही जाना और श्रीरामजी के गुण कहकर सब रानियों को समझाया ॥७॥ कोई तो रघुवीर श्रीरामजी की बड़ाई कर रहे हैं और कोई श्रीभरतजी की भलाई (भलापन) को सराहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ।'—श्रीभरतजी की ओर से ही दुविधा थी कि ये वियोग को कैसे स्वीकार करेंगे, जब ये प्रसन्नता से उद्यत हो गये, तब सबको उत्साह हुआ, पुनः चार-छः दिन और रहने को मिले और तीर्थ के दर्शनों का भी संयोग हुआ, इससे सब प्रसन्न हो गये ।

(२) 'सेवक स्वामि सुभाव···'—सेवक श्री ी का स्वामी श्रीरामजी के प्रति और उनका इनके प्रति, यह सुन्दर भाव सुहावना वा उभयपक्ष का उपयुक्त सुहावन स्वभाव और दोनों का नेम-प्रेम अत्यन्त पवित्रतम है ।

(३) 'मति अनुसार सराहन लागे ।···'—मति के अनुसार ही कुछ कहते हैं, क्योंकि यथार्थ कोई कह नहीं सकता; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥" (दो० २४०); "बिधि गनपति अहिपति सिव सारद ।···" से "अगम सबहि बरनत बरबरनी ।···" (दो० २८८) तक ।

(४) 'दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू ।'—(क) श्रीभरतजी को ग्लानि मिटी, कुल धर्म के अनुसार सेवा-धर्म में दृढ़ हैं, श्रीरामजी का भी धर्म रक्खा, यह समझकर हर्ष है और श्रीरामजी के न लौटने का दुःख है । (ख) पिता के वचन में श्रीरामजी की दृढ़ भक्ति, उनका अद्भुत धैर्य और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ता देखकर हर्ष और श्रीअवध न लौटने का दुःख हुआ; यथा—"न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः ॥ तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः । न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥" (वाल्मी० २।१०६।११-१२) ।

(५) 'राम-मातु दुख-सुख······'—दुःख-सुख दोनों ही आगमापायी हैं; यथा—"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।" (गीता २।१४); इससे समान हैं; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १५१); 'गुन राम'—श्रीरामजी के गुण, जैसे 'हरन भव-भय-दारुनम्' का-सा प्रयोग है, श्रीकौशल्याजी ने श्रीराम-गुण यह कहा कि वे सद्धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छोड़ें? वीर और धीर भी हैं, मारीच-सुबाहु आदि के मारने और श्रीपरशुराम-गर्व-हरण से विदित है। इससे वन में भी वे सुखी ही रहेंगे, उन्हें कोई भय न होगा, इत्यादि।

द्वितीय दरबार (सार्वजनिक सभा) समाप्त

दोहा—अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल-समीप सुकूप।
राखिय तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप॥३०९॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल-भाजन सब दिये चलाई॥१॥
सानुज आप अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥२॥
पावन पाथ पुन्य-थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥३॥
तात अनादि सिद्ध थल येहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥४॥
तब सेवकन्ह सरस थल देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा॥५॥
बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥६॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जलजोगा॥७॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम-मन-बानी॥८॥

दोहा—कहत कूप-महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ।
अत्रि सुनायेउ रघुबरहिं, तीरथ-पुन्य-प्रभाउ॥३१०॥

शब्दार्थ—तोय = जल। दिये चलाई = रवाना कर दिया। सरस = सजल, श्रेष्ठ। बिसेखा = खास।

अर्थ—तब श्रीअत्रिजी ने श्रीभरतजी से कहा कि इस पर्वत के समीप एक सुन्दर कुआँ है, वहीं इस अनुपम, पवित्र और अमृत-तुल्य तीर्थ-जल को रखिये॥३०९॥ श्रीअत्रिजी की आज्ञा पाकर श्रीभरतजी ने तीर्थ-जल के पात्र सब आगे भेज दिये॥१॥ अत्रिमुनि एवं साधुओं के साथ और भाई श्रीशत्रुघ्नजी समेत आप (श्रीभरतजी) वहाँ गये, जहाँ वह गहरा कुआँ था॥२॥ पवित्र जल को उस पुण्य स्थल में रक्खा, श्रीअत्रिजी ने अत्यन्त आनंदित होकर प्रेम से ऐसा कहा॥३॥ हे तात! यह अनादि सिद्ध-स्थल है, इसे काल ने लुप्त कर दिया था, (अर्थात् बहुत काल में क्रमशः लुप्त हो गया था) इससे किसीको मालूम न था॥४॥ तब हमारे सेवकों (शिष्यों) ने इस श्रेष्ठ एवं सजल स्थल को देखा और

सुन्दर जल के लिये एक खास बड़ा कुआँ बना लिया ॥५॥ दैवयोग से संसार का उपकार हुआ, जो धर्म का विचार अत्यन्त अगम था, वह सुगम हो गया ॥६॥ अब इसे लोग श्रीभरत-कूप कहेंगे। तीर्थ-जल के सम्बन्ध से यह अत्यन्त पवित्र हो गया ॥७॥ इसमें नियम से प्रेम-पूर्वक स्नान करने से प्राणी मन-वचन-कर्म से निर्मल हो जायँगे ॥८॥ कूप की महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ गये, जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, श्रीअत्रिजी ने रघुवर श्रीरामजी को इस पवित्र तीर्थ के पुण्य और प्रभाव को सुनाया ॥३१०॥

विशेष—(१) 'अत्रि कहेउ तब······'—श्रीभरतजी और श्रीअत्रिजी का प्रसंग—"मुनि-पद कमल मुदित सिर नाया।" (दो० ३०७); से छोड़ा था, वहीं से फिर उठाते हैं कि श्रीभरतजी के प्रणाम करने पर श्रीअत्रिजी ने कहा।

(२) 'तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप।'—पवित्रता तो तीर्थ-जल कहने ही में आ गई, फिर भी पावन कहकर अत्यन्त पवित्र बनाया। अमृत के समान स्वादिष्ट और मृत्यु-रूप संसार से छुड़ानेवाला कहकर इसे अनुपम फलवाला कहा है।

(३) 'प्रमुदित प्रेम अत्रि ··'—श्रीरघुनाथजी के दर्शन हुए, उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे बड़ाई दी, इससे प्रेमानंद था। अब समीप ही में सर्वतीर्थमय कूप बना, जिससे यहाँ के सभी लोग कृतार्थ होंगे। अतः, प्रकर्ष प्रेम और आनन्द हुआ।

(४) 'अनादि सिद्ध थल येहू।'—'अनादि'—इतना प्राचीन है कि इसका आदि कोई जानता ही नहीं कि कब से है। 'सिद्ध थल'—यहाँ पर बहुत-से साधक लोग सिद्ध हुए हैं और यहाँ सब सिद्धियाँ भी शीघ्र प्राप्त होती हैं।

(५) 'तब सेवकन्ह सरस थल देखा। ··'—'तब' अर्थात् जल की आवश्यकता पर, इस स्थल को देखा कि सरस है; अर्थात् जल शीघ्र निकलेगा, तो सुन्दर जल के लिये कूप-विशेष बना लिया।

(६) 'विधिबस भयउ······'—यह श्रीअत्रिजी का वचन इस समय के लिये है कि दैवयोग से ऐसा हुआ, नहीं तो सम्पूर्ण तीर्थों का जल यहाँ कौन और कैसे लाता? भाव यह कि आया श्रीराम-तिलक के लिये और लाकर यहाँ रक्खा गया। 'सुगम अगम अति···'—सब तीर्थ एक ही जगह मिल जायँ, यह विचार अगम था, वह विधिवश सुगम हो गया। सब तीर्थों को एकत्र स्थापन करना एवं सब तीर्थों में एकत्र ही स्नान में बड़ा भारी धर्म है, इसकी अगमता इससे भी दूर हुई; क्योंकि दैवयोग से कठिन कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(७) 'भरतकूप अब ·····'—तीर्थ का नाम, उसका माहात्म्य और स्नान आदि की विधि जानकर स्नान करना चाहिये। अतः, 'भरत कूप' नाम कहा गया, मन, वचन, कर्म का निर्मल होना फल और प्रेम से नियम-पूर्वक स्नान करना उसकी विधि कही गई। बा० दो० २ और बा० दो० ३४ चौ० ७-१० भी देखिये। 'अति पावन'—पावन तो प्रथम ही था, तीर्थ जल के योग से अति पावन हो गया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोर निसि सो सुख बीती ॥१॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम-अत्रि-गुरु आयसु पाई ॥२॥

सहित समाज साज सब सादे। चले राम - बन - अटन पयादे ॥३॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं ॥४॥

अर्थ—प्रीति-सहित धर्म के इतिहास कहते हुए वह रात सुख से बीत गई और सबेरा हुआ ॥१॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई नित्य प्रातःक्रिया से निवृत्त होकर, श्रीरामजी, श्री अत्रिजी और श्रीगुरुजी की आज्ञा पाकर ॥२॥ समाज-सहित सब सादे साज से और पैदल श्रीराम-वन में घूमने (प्रदक्षिणा करने) चले ॥३॥ चरण कोमल हैं और विना जूते के चल रहे हैं, (यह जानकर) पृथिवी मन-ही-मन सकुचाकर कोमल हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'निसि सो सुख बीती'—आज अवरेब मिट जाने से सुख-पूर्वक रात बीती।

(२) 'सहित समाज साज···'—इसमें तीर्थाटन की विधि कही गई है कि पैदल ही चले और जूती भी न पहने और विशेष ठाट-बाट से न रहे। यह भी नियम कहा गया कि नित्य-नियम करके प्रदक्षिणा करनी चाहिये। प्रायः लोग तीर्थ-यात्रा में नित्य-नियम आधा ही करते हैं, पर ये पूरा निबाहते हैं।

(३) 'भइ मृदु भूमि सकुचि···'—सकुचने के भाव—(क) सकुची कि पहले हमसे न बना, जो इन्हें फफोले का कष्ट दिया ; यथा—"झलका झलकत पायन कैसे।···" (दो० २०३) ; इसीसे अब सकुचा गई, सकुचने से कोमलता आ गई। कोमल बनकर सुख दिया, क्योंकि ये उसके भार उतारने में सहायक हुए। (ख) सकुची अर्थात् सिकुड़ गई कि दूर के स्थान समीप हो जायँ, अधिक चलना न पड़े। (ग) जिसपर प्रभु की प्रसन्नता होती है, उसपर जड़-चेतन सभी अनुकूल हो जाते हैं।

कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ॥५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ॥६॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाँहीं। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं ॥७॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम-प्रिय जानी ॥८॥

दोहा—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात।
राम-प्रान-प्रिय भरत कहँ, यह न होइ बड़ि बात ॥३११॥

शब्दार्थ—कुराईं=गड्ढे आदि से कुराह। कटुक=कष्टदायक, खुजली करनेवाली घास आदि।

अर्थ—कुश, काँटे (गोखुरू, जवासा, बबूल आदि के-) कंकड़ियाँ, गड्ढे आदि कुराह के दोषों एवं कष्टदायक कठोर और बुरी वस्तुओं (विष्ठा हड्डी, आदि) को छिपा दिया ॥ ५ ॥ पृथिवी ने सुन्दर कोमल मार्ग कर दिया, सुख को लिये हुए तीनों प्रकार की हवा चलती है ॥ ६ ॥ देवता फूल-वर्षा करके, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फल प्रकट करके और तृण कोमलता से ॥७॥ पशु देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोलकर, सभी श्रीरामजी के प्यारे जानकर इनकी सेवा करते हैं ॥८॥ जम्हाते हुए भी 'राम' ऐसा कहने से साधारण लोगों को भी स्वाभाविक ही सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं, तब श्रीरामजी के प्राणप्यारे श्रीभरतजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है ॥३११॥

विशेष—यहाँ सब अपने-अपने गुण-वैभव से श्रीभरतजी की सेवा कर रहे हैं, मृगों के नेत्र सुन्दर होते हैं, वे उन्हें दिखाते हैं। पक्षी, कोयल आदि सुरीली बोली सुनाती हैं। वृक्ष फूल-फल दिखाकर प्रसन्न करते हैं, इत्यादि। 'बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे'—सबकी इच्छानुसार सुखद सीतल, मंद और सुगंधित वायु बह रहा है। 'सेवहिं सकल राम प्रिय जानी।'—उपयुक्त सुख-दातृत्व का कारण यहाँ बतलाया कि श्रीरामजी सबकी आत्मा हैं, उनका प्रिय होने से प्राणी सबका प्रिय हो जाता है। यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१)। पूर्व कहा गया—"अचर सचर चर अचर करत को।" (दो० २३७); वह यहाँ चरितार्थ है कि अचर सचर का कार्य कर रहे हैं। भूमि, वृक्ष, तृण आदि चैतन्य के समान हो रहे हैं।

येहि बिधि भरत फिरत बन माहीं। नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं ॥१॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा ॥२॥
चारु बिचित्र पवित्र बिसेखी। बूझत भरत दिव्य सब देखी ॥३॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥४॥
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥५॥
कतहुँ बैठि मुनि - आयसु पाई। सुमिरत सीय सहित दोउ भाई ॥६॥
देखि सुभाव सनेह सुसेवा। देहिं असीस मुदित बनदेवा ॥७॥
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहि आई ॥८॥

दोहा—देखे थल तीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयेउ दिवस भइ साँझ ॥३१२॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीभरतजी वन में फिरते हैं, उनका नियम और प्रेम देखकर मुनि सकुचा जाते हैं ॥१॥ पवित्र जल के स्थान (नदी, तालाब, कूप आदि), पृथिवी के पृथक्-पृथक् भाग, पक्षी, पशु, वृक्ष, तृण, पहाड़, वन और बाग ॥२॥ सभी बहुत सुन्दर, विचित्र (रंग-बिरंग के) और विशेष पवित्र हैं। इन सबको दिव्य देखकर श्रीभरतजी पूछते हैं ॥३॥ सुनकर ऋषिराज श्रीअत्रिजी प्रसन्न-मन से सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव को कहते हैं ॥४॥ कहीं स्नान और कहीं प्रणाम करते हैं और दर्शन करते ही मन रम जाता है ॥५॥ कहीं मुनि की आज्ञा पाकर बैठकर श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों का स्मरण करते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी का स्वभाव, प्रेम और सुन्दर सेवा देखकर सब वन के देवता प्रसन्न होकर आशिष देते हैं ॥७॥ ढाई पहर दिन बीतने पर लौटते हैं और प्रभु के चरण-कमलों के दर्शन करते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी ने पाँच दिनों में सब तीर्थ-स्थानों के दर्शन कर लिये, हरि-हर-सुयश कहते-सुनते दिन बीत गया और संध्या हुई ॥३१२॥

विशेष—(१) 'नेम-प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं।'—मुनि लोग लज्जित होते हैं, सकुचाते हैं कि हमलोगों ने इसी नियम और प्रेम के लिये घर-बार छोड़ा, फिर भी ऐसा भाव न आया। इनके सदृश तो

सबका 'नेम-प्रेम' कुछ भी नहीं है, तो व्यर्थ ही साधु हुए; यथा—"तुलसी जो पै राम सों, नाहिन सहज सनेह। मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह॥" (दोहावली ६३)

(२) 'पुन्य जलाश्रय'''—पुण्य जलाश्रय वे हैं, जिनके दर्शनों से मन पवित्र हो।

(३) 'हेतु नाम गुन पुन्य-प्रभाऊ।'—'हेतु'—ये यहाँ कैसे आये ? यह नाम क्यों पड़ा ? इनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इनके पृथक्-पृथक् गुण क्या-क्या हैं ? इत्यादि, 'दिव्य सब देखी'—श्रीभरतजी का हृदय शुद्ध है, इसीसे इन्हें तीर्थों की दिव्यता का अनुभव हो जाता है। तीर्थों को दिव्य जानकर ही उनके प्रभाव आदि कहने में मुनि को भी आनन्द होता है।

(४) 'कतहुँ निमज्जन'''—जहाँ-जैसी विधि है। 'बिलोकत मन अभिरामा'—देखते ही मन रम जाता है, तो रुचि-पूर्वक देखते ही रह जाते हैं। 'कतहुँ बैठि ''—श्रमित जानकर मुनि आज्ञा दे देते हैं, अथवा वहाँ बैठने की भी विधि है।

(५) 'सुभाव सनेह सुसेवा'—सबमें अच्छा भाव है, प्रभु में स्नेह है और ऋषियों की सुन्दर सेवा करते हैं। 'फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई।'—यही पाँचों दिनों की चर्या रही। 'हरिहर सुजस'—भगवत्—भागवत का यश, अर्थात् नित्य कथा होती थी। भगवान् के साथ उनके भक्तों की भी कथा होती है। अथवा सब कोई विष्णु और श्रीशिवजी का सुयश सुनते और कहते थे, भगवान् के साथ उनके प्रिय भक्त श्रीशिवजी की भी कथा रहती ही है।

कौन तीर्थ कैसे देखा जाता है—यह सब बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है।

चित्रकूट तृतीय दरबार

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुतिराजू॥१॥
भल दिन आजु जानि मनमाहीं। राम कृपाल कहत सकुचाहीं॥२॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥३॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि-सँकोची॥४॥
भरत सुजान राम-रुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी॥५॥
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी॥६॥
मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू। बहुत भाँति दुख पावा आपू॥७॥
अब गोसाइँ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥८॥

दोहा—जेहि उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइय अवधि लगि, कोसल-पाल कृपाल॥३१३॥

अर्थ—सवेरे स्नान करके श्रीभरतजी, ब्राह्मण और राजा श्रीजनकजी, सबके सब समाज एकत्रित हुए ॥१॥ आज (यात्रा के लिये) उत्तम दिन है, यह मन में जानकर कृपालु श्रीरामजी कहते हुए सकुचाते हैं ॥२॥ गुरुजी, राजा (जनकजी), श्रीभरतजी और सभा की ओर देखकर, फिर श्रीरामजी सकुचकर पृथिवी की ओर देखने लगे; अर्थात् शिर नीचा कर लिया ॥३॥ उनके शील की सराहना करके सब सभा सोचने लगी कि श्रीरामजी के समान संकोची स्वामी कहीं भी नहीं है ॥४॥ सुजान श्रीभरतजी श्रीरामजी का रुख देखकर प्रेम-पूर्वक उठे और बहुत धैर्य धरकर ॥५॥ दंडवत् करके हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे नाथ! आपने मेरी सभी इच्छाएँ रक्खीं (पूरी कीं) ॥६॥ मेरे निमित्त सबने दुःख सहा और आपने भी बहुत तरह से दुःख पाया ॥७॥ हे गोसाईं! अब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं जाकर अवधि-पर्यंत श्रीअवध का सेवन करूँ ॥८॥ हे दीनदयालु! जिस प्रकार से यह आपका दास फिर चरणों को देखे, हे कोशलपाल! हे कृपालु! अवधि-भर के लिये मुझे वही शिक्षा दीजिये ॥३१३॥

विशेष—(१) 'भल दिन आजु ···'—आज, तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि सभी यात्रा के योग्य पड़े हैं। पर श्रीरामजी कहने में सकुचाते हैं, क्योंकि 'कृपालु' हैं, इससे 'आज जाओ' ऐसा कहने में वियोग की बात से दुःख होगा, यह समझकर कह नहीं सकते।

(२) 'गुरु नृप भरत···'—मुख से कहने में शील टूटता है, पर सबकी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं, यह शील और संकोच की मुद्रा है, इस प्रकार मुख से बिना कहे ही विदाई की चेष्टा जना दी।

(३) 'भरत सुजान राम रुख···'—श्रीभरतजी सुजान हैं, इसीसे उन्होंने चेष्टा जान ली कि अब हमलोगों को विदा करने की श्रीरामजी की इच्छा है। वियोग का स्मरण होने से भारी अधीरता हो गई, इससे भारी धैर्य धरना पड़ा।

(४) 'राखी नाथ सकल रुचि···'; यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ॥" (दो० २६६); साथ जाने की रुचि भी पूरी की; यथा—"नाथ भयउ सुख साथ गये को।" (दो० ३०१); श्रीचित्रकूट के दर्शनों का बड़ा मनोरथ भी पूरा किया, ध्वनि यह है कि अभी एक अभिलाषा जो बाकी है, वह भी पूरी होगी।

(५) 'मोहि लगि सहेउ सबहिं···'; यथा—"नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥ सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥" (दो० २८१); "राम सत्यब्रत धरम रत, सबकर सील सनेहु। संकट सहत सँकोच बस, कहिय जो आयसु देहु॥" (दो० २९२)।

(६) 'अब गोसाँइ मोहि···'—'गोसांई' अर्थात् गो (=पृथिवी) के स्वामी आप हैं। मैं आपकी आज्ञा से सेवक-रूप में आपकी राजधानी श्रीअवध की सेवा करूँगा। 'अवधि भरि' अर्थात् १४ वर्ष तक के लिये ही, अधिक नहीं; यथा—"बीते अवधि जाउँ जौ, जियत न पावउँ बीर।" (लं० दो० ११५); "तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥" (गी० अ० ७१); "चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥" (वाल्मी० २।११२।२५)

(७) 'जेहि उपाय पुनि पाय···'—'कोसल पाल'—कोशला (श्रीअयोध्या) के पालने पर हैं, 'कृपाल'—क्योंकि श्रीअवधवासियों पर कृपा है। 'दीनदयाल'—मुझ दीन पर दया

उपाय और वैसी शिक्षा मिलनी चाहिये। तभी चौदह वर्ष जीता रह सकूँगा, तो इन चरणों के दर्शन हो सकेंगे ; यथा—"प्रभु जानत जेहि भाँति अवधि लगि बचन पालि निबहौं गो। आगे की विनती तुलसी तब, जब फिरि चरन गहौं गो ॥" (गी० अ० ७०)।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं ॥१॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद-लाहू ॥२॥
स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥३॥
प्रनतपाल पालिहि सब काहू। देव दुहू दिसि ओर निबाहू ॥४॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचार न सोच खरोसो ॥५॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू ॥६॥
यह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि संकोच सिखइय अनुगामी ॥७॥
भरत-बिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर नीर बिवरन गति हंसी ॥८॥

शब्दार्थ—सरस = बढ़े-चढ़े, अधिक, भावुक। बदि (सं० वर्त = बदला, पलटा) = के लिये। राउर बदि = आपकी प्राप्ति के बदले में = आपके लिये। खरोसो = तृण बराबर भी, थोड़ा-सा भी। बिवरन = विवेचन, एक में मिली हुई वस्तुओं का पृथक्करण।

अर्थ—हे गोसाईं ! श्रीअवधपुरवासी, कुटुम्बी, प्रजा सभी आपके स्नेह-नाते में पवित्र और बढ़े-चढ़े हैं ॥१॥ आपके लिये संसार के दुःख और दाह भी (सहना) अच्छा है और प्रभु (आपके) बिना परम पद का लाभ भी व्यर्थ ही है ॥२॥ हे स्वामी ! आप सुजान हैं, सभी के हृदय की रुचि और मुझ दास के हृदय की रुचि, लालसा और 'रहनि' (चाल-चलन) को जानकर ॥३॥ हे प्रनतपाल ! आप सभी का पालन करेंगे, और हे देव ! आप दोनों तरफ का ओर (अंत) तक निर्वाह करेंगे ॥४॥ ऐसा मुझे सब प्रकार बहुत बड़ा भरोसा है और विचार करने पर मेरे लिये कुछ भी सोच करना तृण के समान भी नहीं है ॥५॥ मेरा दुःख और स्वामी की कृपा इन दोनों ने मिलकर मुझे हठात् ढीठ कर दिया है; अर्थात् मैं पहले ढीठ न था ; इन दो कारणों से ही हो गया ॥६॥ हे स्वामी ! इस बड़े दोष को दूर करके और संकोच छोड़कर मुझ दास को शिक्षा दीजिये ॥७॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर सभी ने प्रशंसा की कि उनकी प्रार्थना दूध और जल को अलग-अलग करने में हंसिनी की तरह है ; अर्थात् विवेक-पूर्ण है ॥८॥

विशेष—(१) 'पुरजन परिजन प्रजा···' 'सुचि'—पवित्र, निष्काम, 'सनेह सगाईं' यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।" (दो० ६४); 'सनेह' यथा—"जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपा-निधान प्रान ते प्यारे ॥ तनु धन धाम रामहितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी ॥" (उ० दो० ४६); 'सगाईं'; यथा—"सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात येहि ओर निबाहू ॥" (दो० २२); इत्यादि।

(२) 'राउर बदि भल भव···'; यथा—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही।" (दो० २१०); "तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा ॥" (दो० २०१); "ठेलिबे को

खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहि हौं। येहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥ (वि० २३१)।

(३) 'स्वामि सुजान जानि सबही की।…'—ऊपर जो पुरजन आदि की बातें कही गईं, उन्हीं को 'सबही की' से सूचित किया गया है। आगे 'रुचि', 'लालसा' आदि अपनी कही हैं कि मुझ जन की रुचि सेवा करने की है, लालसा साथ रहने की और 'रहनि' स्वामी के अनुकूल वानप्रस्थ रीति से है; यह मेरे जी में है, इसे हे स्वामी! आप जानते ही हैं, भाव यह कि आप प्रणतपाल हैं, सबको पालेंगे। 'देव दुहूँ दिसि …'—हे देव! आपही दोनों तरफ (मेरी और अपनी ओर) का निर्वाह अंत (१४ वर्ष) तक करेंगे। एक वन से पिता का प्रण पूरा करेंगे, दूसरे दिव्यतन से (पादुका-द्वारा) मेरी भी रुचि आदि निबाहेंगे। ऐसा समझने से जान पड़ा कि मेरा शोच बेकार था।

(४) 'आरति मोर नाथ कर ……'—मैं पहले ढीठ न था; यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कहे न बैन।" (दो० २६०); आर्तिवश सम्मुख होना पड़ा; यथा—"आरति बस सन मुख भयउँ, बिलग न मानब तात।" (दो० ८०); छोहवश भी; यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।… तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात। कृपासिंधु प्रियबंधु सन, कहहु हृदय कै बात॥" (दो० २५८); इत्यादि। सम्मुख बोलना ढिठाई है, इसीको कहते हैं—'येह बड़ दोष दूरि करि ……'—भाव यह कि दोष अब न होने पावे, अब अधिक कुछ कहना न पड़े, मुझे शिक्षा दीजिये, क्योंकि सुहृद् और सुजान स्वामी से बहुत कहना भी भारी दोष है; यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहिं…" (दो० ३००)।

(५) 'तजि सँकोच सिखइय अनुगामी।'—श्रीभरतजी तो अनुगामी हैं; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो० १४)। अतः, स्वामी के मुख से नीति की शिक्षा चाहते हैं कि जिस तरह आज्ञा हो, मैं सेवक रूप से श्रीअवध जाकर करूँगा। पर श्रीरामजी संकोची हैं; यथा—"कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।" (दो० ३१२); इसीसे गुरुजनों के समक्ष में शिक्षा नहीं देना चाहेंगे, संकोच करेंगे, इसलिये 'तजि संकोच' कहा।

(६) 'खीर नीर बिबरन गति हंसी।'—पहले श्रीभरतजी की वाणी को हंसिनी कहा था "भरत भारती मंजु मराली।" (दो० २२६); फिर श्रीभरतजी को ही हंस कहा था; यथा—"भरत हंस रबि बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥" (दो० २३१); यहाँ उनकी विनय को हंसिनी कहा है, क्योंकि यहाँ दोष, स्वार्थ आदि जल का और प्रभु के गुण रूपी दूध का विवरण है। दोनों को अलग-अलग किया गया है; अर्थात् इनका विनय विवेक पूर्ण है।

दोहा—दीनबंधु सुनि बंधु के, बचन दीन छल-हीन।
देस - काल - अवसर - सरिस, बोले राम प्रवीन॥३१४॥

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहिं नृपहि घर बन की॥१॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहि तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू॥२॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ॥३॥
पितु - आयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक-बेद भल भूप भलाई॥४॥

अर्थ—दीन जनों के सहायक प्रवीण श्रीरामजी भाई के दीन और छल हीन वचन सुनकर, देश, काल और अवसर के अनुकूल बोलें ॥३१४॥ हे तात ! तुम्हारी, मेरी और कुटुम्बियों की, घर की और वन की चिंता गुरु और राजा (श्रीजनकजी) को है ॥१॥ गुरु मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) और श्रीमिथिलेशजी शिर पर (रक्षक) हैं, हमको और तुमको स्वप्न में भी क्लेश नहीं (हो सकता) ॥२॥ मेरा और तुम्हारा परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ यही है ॥३॥ कि पिता की आज्ञा दोनों भाइयों के द्वारा पालन की जाय, यही लोक और वेद (की दृष्टि) से भला है और राजा (पिता) को भी भली तरह भलाई है ॥४॥

विशेष—(१) 'दीनबंधु सुनि ···'—दीनता से प्रभु सहायक होते हैं ; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५) ; और श्रीभरतजी के वचनों में दीनता है, छल हीनता से भी प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं; यथा—मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३)।

(२) 'देसकाल···'—यथा—"देसकाल लखि समय समाजू।" (दो० ३०३) ; पर भाव कहा गया। 'प्रवीन'—क्योंकि जिस अवरेब को श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी आदि भी न मिटा सके, उसे मिटावेंगे।

(३) 'चिंता गुरुहि नृपहि '—'घर बन को' यथा—"सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु प्रसाद रखवारा॥"(दो० ३०५) ; 'माथे पर गुरु मुनि···' यथा—"तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबाके।" (वि०) ; 'गुरु' और 'राजा' के बीच में मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) भी थे, इससे आदर के लिये यहाँ उनका भी नाम दिया, उनका छोड़ देना अनुचित होता।

(४) 'मोर तुम्हार परम···'—श्रीभरतजी के सम्मान के लिये अपना भी नाम साथ में दिया। 'लोक बेद भल भूप भलाई।'—नहीं तो किसी की भलाई न थी, हम, तुम और पिता (राजा) तीनों अधर्मी कहाते ; यथा—"करहु सीस धरि भूप रजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥···सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।···" (दो० १७३-७४)। तथा—"श्राद्धं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः। अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥" (वाल्मी०२।११२।५-६)—ये गंधर्व और महर्षियों के वचन हैं।

गुरु-पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले॥५॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥६॥
देस कोस परिजन परिवारू। गुरु-पद-रजहिं लाग छरभारू॥७॥
तुम्ह मुनि-मातु-सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥८॥

दोहा—मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥३१५॥

राज - धरम सरबस एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥१॥

शब्दार्थ—पुहुमी = पृथिवी। खाले = नीचे, गढ़े में। भरमार = उत्तरदायित्व, सार-सँभार।

अर्थ—गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा का पालन करने के लिये कुमार्ग पर भी चलने से पैर नीचे नहीं पड़ता; अर्थात् हानि नहीं होती ॥५॥ ऐसा विचार सब सोच छोड़ श्रीअवध जाकर अवधि (१४ वर्ष भर उसका पालन करो ॥६॥ देश, कोश, परिजन और परिवार, इन सबका सार-सँभार गुरुजी के चरणरज पर है ॥७॥ तुम मुनि, माता और मंत्रियों की शिक्षा मानकर पृथिवी, प्रजा और राजधानी को पालन भर करना; अर्थात् तुम निमित्त मात्र बने रहोगे, सब भार तो उन्हीं सब पर है ॥८॥ मुखिया मुख के समान होना चाहिये कि खाने-पीने को तो एक है, पर श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब अंगों को विवेक सहित पालन-पोषण करता है ॥३१५॥ राजधर्म का सर्वस्व इतना ही है, जैसे मन के भीतर मनोरथ छिपा रहता है ॥१॥

विशेष—(१) 'चलेहु कुमग पग ''; यथा—"तनय जजातिहि जौबन'''परसुराम पितु अज्ञा राखी।'''" (दो० १७३); 'गुरु-पद-रजहिं'''—'शिर पर भार' का मुहावरा है, पर श्रीगुरुजी का प्रसंग होने से उनके पद-रज को कहा गया, क्योंकि ऐसे पूज्यवर्ग के चरण, रज आदि का ही आश्रय कहा जाता है। यह भी जनाया कि उन्हें कुछ करना नहीं होगा। रज के प्रभाव हो से सब होता रहेगा; यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥'''सब पायेउँ रज पावनि पूजे ॥" (दो०२)।

(२) 'मुखिया मुख सों चाहिये'''—पहले कहा गया है—"सेवक कर पद नैन से, मुख सों साहिब होइ।'''" (दो० ३०६); उसे इसके साथ मिलाकर अर्थ करने से सब भाव आ जाते हैं। वहाँ 'कर, पद, नैन' कहा गया, उसे यहाँ 'सकल अँग' से जनाया है। वहाँ 'मुख सों साहिब होइ' कहा गया था, उसका धर्म 'पालइ पोषइ' यहाँ कहा गया है। वहाँ परस्पर प्रीति की रीति कही गई थी, यहाँ मुखिये के धर्म का विवेक दिखलाया गया है। 'सहित विवेक'—जिस अंग के लिये जितने और जैसे रस की आवश्यकता होती है, उसे उतना ही पहुँचाता है जिससे वे स्वस्थ और पुष्ट रहें, कम या अधिक हो तो रोग पैदा हों। वैसे ही मुखिये को चाहिये। यहाँ राजा को मुख का अनुप्रास लेते हुए मुखिया कहा है। देश, प्रजा, सेना, कोश, मित्र, मंत्री आदि राजा के अंग हैं, राजा मुख-रूप है। मुख अकेला खाता है, पर वह वस्तुतः सभी को बाँट देता है। वैसे ही राजा एक ही भोक्ता कहा जाता है, पर सब अंगों को यथायोग्य इसी विवेक की रीति से पालन-पोषण करता है। अधिकार के अनुसार सबको कार्य देता है और तदनुसार उसके वेतन आदि पर दृष्टि रखता है। कहा भी है—"आनन छोड़ो साथ जब, ता दिन हितू न कोइ।" (दोहावली ५२४)।

(३) 'राज धरम सरबस एतनोई।'—जो दोहे में कहा गया, इसी में सब राजधर्म आ गये। दोहा मन रूप हुआ और सब राज-धर्म मनोरथ-रूप हैं, वे सब इसीमें हैं, जितना चाहो, उतना इसीमें से निकलते जायँगे; यथा—"असन बसन बसु बस्तु'''बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ ''मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये ॥" (वि० १२४); वाल्मकीय अ० १०० वें सर्ग की सब राजनीतियाँ इसी एक दोहे में आ गईं। राजनीति के और भी सब भेद आ गये। पुनः देश-काल के अनुरोध से मन के मनोरथ बदलते रहते हैं, वैसे ही देश-काल के अनुरोध से नीति भी बदला करती है, इसी सूत्र में सब आ गये। राजा के सभी कर्त्तव्य एक ही अद्भुत सूत्र में कह देना इन्हीं महा कवि के द्वारा हुआ है।

बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती ॥२॥

भरत सील गुरु सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू ॥३॥

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही ॥४॥

अर्थ—भाई को बहुत तरह समझाया, पर बिना अवलंब के मन को न संतोष हुआ और न शान्ति ॥२॥ श्रीभरतजी के शील और गुरु, मंत्री और समाज के संकोच से श्रीरघुनाथजी संकोच और स्नेह के विशेष वश हो गये ॥३॥ प्रभु ने कृपा करके खड़ाऊँ दी, श्रीभरतजी ने उसे आदर सहित शिर पर धर लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रबोध कीन्ह बहु भाँती'—नीति सिखाई, गुरु, माता, राजा श्रीजनक आदि का पूर्ण आधार बतलाया, पर बिना अवलंब के शान्ति-संतोष न हुआ।

(२) 'भरत सील गुरु'''—श्रीभरतजी के स्वभाव पर आप विवश हैं, उनका शील तोड़ना नहीं चाहते और वे बिना आधार पाये प्रसन्न नहीं होते। वस्त्र आदि दे नहीं सकते, उससे मानों इन्हें भी उदासीन वेष की आज्ञा देते हैं, यह समझा जायगा। अतः, सकुचे कि क्या दें। पुनः गुरु आदि के सामने खड़ाऊँ कैसे दें? अंततोगत्वा गुरुजी ने संकोच का अभिप्राय जानकर स्वयं कहा कि आप अपनी खड़ाऊँ दीजिये, यह वाल्मीकीय अ० स० ११३ के ११-१३ वें श्लोकों से स्पष्ट है; यथा—"वसिष्ठः प्रत्युवाचह।''' एतेप्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेम भूषिते। अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेम करो भव॥ एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः। पादुके हेम विकृते मम राज्याय ते ददौ॥"

(३) 'प्रभु करि कृपा पावरी दीन्ही।'''—अंत में स्नेह की ही जीत हुई। गुरुजी की भी अनुमति हो गई, फिर सबका संकोच तोड़ कृपा करके इन्हें खड़ाऊँ दी।

शंका—श्रीरामजी तो—'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये' आये थे, खड़ाऊँ कहाँ से आई?

समाधान—इसे भी राज्य-तिलक-सामग्री के साथ श्रीभरतजी ही लाये थे। उसी को गुरुजी की आज्ञा से रख दिया, श्रीरामजी ने पूर्व मुख होकर उसे पहनकर उतार दिया और तब उसे लेकर श्रीभरतजी ने शिर पर धारण कर लिया; यथा—"अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एतेहि सर्वलोकस्य योग क्षेमं विधास्यतः॥ सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥" (वाल्मी० २।११२।२१-२१); 'सादर भरत सीस धरि लीन्हीं'; यथा—"स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महोज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्। प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि॥''''''ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्न सहितस्तदा॥" (वाल्मी० २।११२-११३)। अर्थात् श्रीभरतजी ने पादुका पाकर उसको प्रणाम किया, फिर लेकर श्रीरामजी की प्रदक्षिणा की और पादुका को हाथी पर पधराया, फिर विदा होकर खड़ाऊँ को शिर पर लेकर रथ पर बैठे।

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥५॥
संपुट भरत - सनेह - रतन के। आखर जुग जनु जीवजतन के ॥६॥
कुलकपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा-सु-धरम के ॥७॥
भरत मुदित अवलंब लहे ते। अस सुख जस सिय-राम रहे ते ॥८॥

शब्दार्थ—चरनपीठ = खड़ाऊँ। जामिक = पहरेदार। संपुट = डब्बा।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरामजी की दोनों खड़ाऊँ मानों प्रजा के प्राणों के रक्षक दो पहरेदार हैं ॥५। श्रीभरतजी के स्नेह-रूपी रत्न के लिये डब्बा (दोनों नीचे-ऊपर के फाल) हैं। जीव के यत्न के लिये मानों युगल अक्षर हैं ॥६॥ रघुकुल के लिये किवाड़ें हैं, कुशल-कर्म के मानों कुशल दोनों हाथ हैं। सेवा-रूपी सुधर्म के लिये निर्मल (दोनों) नेत्र हैं ॥७॥ अवलंब के पाने से श्रीभरतजी ऐसे आनन्दित हैं, जैसे श्रीसीतारामजी के रहने से सुखी होते ॥८॥

विशेष—(१) 'जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के।'—पहरेदार माल की रक्षा करते हैं, ये प्रजा के प्राणों की रक्षा करते हैं, यथा—"मनहुँ अवनि के प्रान पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे ॥" (गी० अ० ७५); पहरेदार पगिया बाँधे रहते हैं, वैसे ही इनमें खूँटियाँ हैं। जिसपर पहरा होता है, वह निकलने नहीं पाता। वैसे ही ये पहरेदार श्रीराम-वियोग में किसी के प्राण न निकलने देंगे; यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहि केहि बाट ॥" (सुं० दो० ३०); भाव यह कि इनके प्रभाव से प्रजा का योग-क्षेम रहेगा और वे इन्हें श्रीरामजी के प्रतिनिधि-रूप में देख-देखकर जीयेंगे। ये दिव्य पाहरू हैं, इससे रात-दिन तैयार रहेंगे।

(२) 'संपुट भरत सनेह रतन के।'—दोनों पादुकाओं के तलवे मिलकर डब्बा रूप होते हैं। 'आखर जुग जनु···'—जीव के यत्न (उपाय) रूप राम-नाम के 'रा' और 'म' दो अक्षर की तरह हैं; अर्थात् लोक-परलोक के साधन रूप हैं। श्रीरामनाम का रक्षकत्व बा० दो० १६ देखिये।

(३) 'कुल कपाट कर···'—जैसे किवाड़े से घर की रक्षा होती है, वैसे ही इनसे कुल की रक्षा होगी। क्योंकि इस अवलंब के बिना श्रीभरतजी न जीते; यथा—"तुलसी प्रभु निज चरन-पीठ-मिस भरत प्रान रखवारो।" (गी० अ० ६७); इनके अमंगल पर श्रीरामजी न जीते और फिर तो कुल का कोई भी न जीता। कुशल कर्म के लिये कुशल दो हाथ हैं, क्योंकि इन्हीं से श्रीभरतजी के सब कार्य सधे एवं सुकर्मों का संचय हुआ। 'बिमल नयन सेवा सुधरम के।'—सेवा-रूपी सुन्दर धर्म के दोनों नेत्र हैं, नेत्र के द्वारा देखकर सेवा ठीक होती है, वैसे खड़ाऊँ की सेवा में इनका सेवा धर्म निबहा।

भाव यह कि खड़ाऊँ से प्रजा की रक्षा होगी; श्रीभरतजी का स्नेह स्वच्छ रहेगा; परमार्थ की प्राप्ति होगी; कुल की रक्षा होगी; शुभ कर्मों का संचय होगा और इनकी सेवा करने से इष्ट-सेवा-रूपी सुधर्म भी सुचारु रूप से निबह जायगा।

(४) 'भरत मुदित अवलंब······'—प्रियतम के अंग का वस्त्राभूषण प्रियतम के समान होता है, इसीसे इन्हें श्रीसीतारामजी के साथ रहने का-सा सुख हुआ। श्रीभरद्वाजजी ने कहा था—"सब दुख मिटिहि राम-पद देखी।" (दो० २२१); वह यहाँ चरितार्थ हुआ। इन्होंने खड़ाऊँ को श्रीराम-रूप ही माना है, इसीसे उन्हें लेकर नन्दिग्राम में (अवध से बाहर) रहे हैं कि इस रूप से भी श्रीरामजी की वनवास-प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाय। भगवान् के सब भूषण सायुज्य मुक्त जीव ही हैं, वे चेतन हैं, बोलते हैं, जैसे मुद्रिका ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं; यथा—"बोलि, बलि, मूँदरी !·····" (गी० सुं० ३ और ४); ये दोनों पद देखिये। वैसे खड़ाऊँ से श्रीभरतजी को आज्ञा मिलती थी; यथा—"माँगि-माँगि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति ॥" (दो० ३२५); इसीसे कहा है—"अस सुख जस सिय राम रहे ते।" और इसीसे श्रीभरतजी तुरत मुदित हो गये।

चित्रकूट तृतीय दरबार समाप्त

दोहा—माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिये उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ ॥३१६॥

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधिआस सम जीवन जी की ॥१॥
नतरु लखन-सिय - राम - वियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा ॥२॥
रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी ॥३॥

शब्दार्थ—गुनद=गुणदायक। गोहारी=गोहारी का अर्थ रक्षार्थ पुकार है, गोहारी का अर्थ हुआ, सुनकर रक्षार्थ आया हुआ जन-समुदाय; यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति···"(क० उ० ७५); धारि=झुंड, सेना, जो लूट-मार के लिये दौड़कर आई हो।

अर्थ—प्रणाम करके विदा माँगी, श्रीरामजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया, कुटिल इन्द्र ने बुरा अवसर पाकर लोगों पर उचाटन किया ॥३१६॥ उसकी वह कुचाल सबके लिये हितकर हो गई। सब जीवों के जी की आशा समान-रूप से अवधि हो रही; अर्थात् १४ वर्ष पर ही प्रभु फिर मिलेंगे, इससे राम-विरह की कुछ शान्ति हुई ॥१॥ नहीं तो, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी के वियोग-रूपी कुरोग से सभी लोग भयभीत होकर (हा-हा करके) मर जाते ॥२॥ श्रीरामजी की कृपा ने अवरेब (कठिनाई) को सुधार दिया, देवताओं की सेना गुणदायक रक्षक-समुदाय हो गई; अर्थात् देवताओं ने तो हानि पहुँचाने की दृष्टि से उचाटन किया, पर उनका यह प्रयोग इन्हें लाभदायक हो गया, श्रीराम-कृपा से अहित से भी हित का कार्य हो जाता है ॥३॥

विशेष—(१) 'लोग उचाटे अमरपति ·· ··'—कुटिल लोग कुअवसर की ताक में रहते ही हैं। ऐसे ही ताककर इन्द्र ने भी घात की। पर श्रीराम-कृपा से भला हुआ, वही कहते हैं—

(२) 'अवधि आस सम ·····'—सबके जी में एक-मात्र यही आशा रह गई कि अब तो प्रभु १४ वर्ष पर ही फिर मिलेंगे, इस आशा पर सब जियेंगे। पर अभी उचाट हुआ कि अब चलें श्रीरामजी को क्यों विक्षेप दें। 'सम'—अर्थात् पहले 'जथा जोग जन पाइ' लगी थी, किंतु यह माया समान रूप से सबको लगी। नहीं तो क्षण-क्षण कल्प के समान कटता। यहाँ ही से श्रीअवध पहुँचना कठिन होता।

देवताओं ने 'भय, भ्रम, अरति, उचाट' की रचनाएँ की थीं, पर उनमें उचाट मात्र का लगना यहाँ कहा गया है शेष दो० ३०१ चौ० ३ में भी देखिये।

भेंटत भुज भरि भाइ भरत-सो। राम-प्रेम-रस कहि न परत सो ॥४॥
तनु मन बचन उमग अनुरागा। धीर - धुरंधर धीरज त्यागा ॥५॥
बारिज - लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर-सभा दुखारी ॥६॥
मुनिगन गुरु धुरधीर जनक-से। ज्ञानअनल मन कसे कनक-से ॥७॥
जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥८॥

दोहा—तेउ बिलोकि रघुबर-भरत, प्रीति अनूप अपार ।
भये मगन मन तन बचन, सहित बिराग बिचार ॥३१७॥

अर्थ—भुजा भर कर (दोनों हाथ पूरे फैलाकर) भाई श्रीभरतजी से भेंट रहे हैं। श्रीरामजी का वह प्रेमरस कहते नहीं बनता ॥४॥ तन-मन-वचन से अनुराग उमड़ पड़ा, धीर धुरंधर श्रीरामजी ने धैर्य छोड़ दिया; अर्थात् अधीर होकर रोने लगे ॥५॥ कमल समान नेत्रों से आँसू गिरा रहे हैं। यह दशा देखकर देव-समाज दुखी हुआ ॥६॥ मुनि लोग, गुरु वशिष्ठ और श्रीजनकजी के समान श्रेष्ठ धीर, जिन्होंने अपने मन रूपी सोने को ज्ञान रूपी अग्नि से कस लिया है ॥७॥ जिन्हें श्रीब्रह्माजी ने निर्लिप्त ही उत्पन्न किया है और जो जगत्-रूपी जल में कमल के पत्र की तरह पैदा हुए ॥८॥ वे भी रघुवर श्रीरामजी और श्रीभरतजी की अपार और उपमारहित प्रीति को देखकर वैराग्य और विवेकसहित मन, तन, वचन से उस प्रेम में डूब गये ॥३१७॥

विशेष—(१) 'राम-प्रेम रस'—प्रेम को रस कहा है, रस में स्वाद होता है। स्वाद का भोक्ता ही उसे जानता है, दूसरा क्या जाने ? 'कहि न परत'; यथा—"भरत राम को मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान ॥ मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी ॥ परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥ कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई ॥" (दो० २४०) वे ही सब भाव यहाँ हैं। वहाँ विस्तार से कह चुके हैं, इसीसे यहाँ संकेत मात्र कह दिया।

(२) 'देखि दसा सुर सभा दुखारी।'—ये लोग इसलिये दुखी हुए कि हमारे लिये प्रभु अपने परम प्रिय भाई के वियोग का दुःख सह रहे हैं। यह भी हो सकता है कि भय से दुखी हुए हों कि कहीं अब भी प्रेमातुर होकर लौट न पड़ें, यथा—"मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की; सुरगन समय धकधकी धरकी ॥" (दो० २४०)।

(३) 'ज्ञान अनल मन कसे·· '—सोना अग्नि में तपाने से परखा जाता है, उससे उसमें अधिक कान्ति भी आ जाती है; यथा—"कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।" (दो० २०४); "कसे कनक मनि पारिख पाये।" (दो० २८१) वैसे ही इनके मन कई बार परखे जा चुके हैं। किसी में राग, ममत्व आदि छू नहीं गये हैं। मोह, शोक आदि विकार इनमें नहीं आ सकते।

(४) 'जे बिरंचि निरलेप उपाये···'—'उपाये' अर्थात् उत्पन्न हुए। कमल जल में उपजता है। पर उससे निर्लिप्त रहता है, उसके दलों पर जल पड़ने से भी ढरक जाता है, छू नहीं जाता। वैसे ये जगत् के व्यवहार से निर्लिप्त हैं, यह गुण इनमें सहज है, ब्रह्मा ने ही इन्हें जन्म से ही निर्लिप्त पैदा किया है।

(५) 'तेउ बिलोकि रघुबर·'—'अनूप'—उसकी कहीं भी उपमा नहीं है, 'अपार'—वह समुद्र के समान अपार है, इसीसे जनक आदि भी डूब गये। बिराग बिचार ही इनके जहाज रूप थे, यथा—"चढ़े बिबेक जहाज" (दो० २२०)। अतः, जहाज सहित डूब गये। 'मन तन बचन'; यथा—"बिसरे सबहिं अपान।" (दो० २४०) पर कहा गया, इसीसे आगे 'मति भोरी' कहा है।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥१॥
बरनत रघुबर - भरत - बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू ॥२॥

सो सकोच रस अकथ सुबानी । समय सनेह सुमिरि सकुचानी ॥३॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये । पुनि रिपुदवन हरषि हिय लाये ॥४॥
सेवक सचिव-भरत-रुख पाई । निज निज काज लगे सब जाई ॥५॥
सुनि दारुन दुख दुहूँ समाजा । लगे चलन के साजन साजा ॥६॥
प्रभु-पद-पदुम बंदि दोउ भाई । चले सीस धरि राम-रजाई ॥७॥
मुनि तापस बन-देव निहोरी । सब सनमानि बहोरि बहोरी ॥८॥

दोहा—लखनहि भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय-पद-धूरि ।
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल-सुमंगल-मूरि ॥३१८॥

अर्थ—जहाँ श्रीजनकजी महाराज और गुरु श्रीवसिष्ठजी की बुद्धि की गति भोरी हो गई, वहाँ प्राकृत (संसारी जीवों की) प्रीति कहना बड़ा दोष है ; अर्थात् इसे प्राकृत कहना वा प्राकृतों की उपमा देना बड़ा दोष है ॥१॥ रघुबर श्रीरामजी और श्रीभरतजी का वियोग वर्णन करते हुए सुनकर लोग कवि को कठोर-हृदय समझेंगे, (कि कठोर हृदय कवि न होता, तो इस दशा को स्मरण कर विह्वल हो जाता, तो कैसे कहता ?) ॥२॥ वह 'संकोच रस' अकथ्य है, उस समय और उस समय के स्नेह को स्मरण कर सुन्दर वाणी सकुचा गई ॥३॥ श्रीभरतजी से भेंट करके रघुबर श्रीरामजी ने उनको समझाया, फिर श्रीशत्रुघ्नजी को हर्षपूर्वक हृदय से लगा लिया ॥४॥ सेवक और मंत्री श्रीभरतजी का रुख पाकर सब अपने-अपने कार्य में जा लगे ॥५॥ यह सुनकर दोनों समाजों को कठिन दुःख हुआ । वे चलने के सामान सजने लगे ॥६॥ प्रभु के चरण-कमलों की वन्दना करके दोनों भाई श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके चले ॥७॥ मुनियों, तपस्वियों और वन-देवताओं से विनती की और सबों का बार-बार सम्मान किया ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी से भेंट-प्रणाम करके, श्रीसीताजी की चरण-रज को शिर पर चढ़ा और समस्त सुन्दर मंगलों की जड़ आशिष सुनकर वे प्रेमसहित चले ॥३१८॥

विशेष—(१) 'प्राकृत प्रीति……'—यहाँ श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी की मति को ही कहा, पहले कहा है ; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को ॥" (दो० २४०) ; जहाँ त्रिदेवों का भी मन नहीं पहुँचता उसे प्राकृत कहना ही चाहिये ।

(२) 'सो सँकोच रस अकथ ……'—एक तो कठोर हृदय बिना कहा भी न जायगा, पुनः यह रस भी अकथ्य है, फिर वह समय और स्नेह का स्मरण भी संकोच का कारण है, इत्यादि कई कारणों को समझकर सुन्दर वाणी सकुचा गई ; नहीं तो कुछ-न-कुछ कहती ।

(३) 'भेंटि भरत रघुबर समुझाये ।'—'समुझाये' ; यथा—"तात जात जानिबे न ये दिन करि प्रमान पितु-बानी । ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर कठिन काल गति जानी ॥ तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि ··" (गी० अ० ७५) ; यह भी कहा कि मेरा मन सदा तुम्हारे पास और तुम्हारा मन मेरे पास रहेगा, तो वियोग जान ही न पड़ेगा ।

(४) 'लखनहिं भेंटि·······'—यहाँ भेंट-प्रणाम एक शब्द माने तो, श्रीलक्ष्मणजी से भेंट और

प्रणाम किये गये अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने प्रणाम किया और श्रीभरतजी ने उनसे भेंट की यह अर्थ होगा अथवा श्रीभरतजी के साथ श्रीशत्रुघ्नजी भी हैं, श्रीभरतजी ने भेंट की और श्रीशत्रुघ्नजी ने प्रणाम किया। अथवा,'प्रनाम करि' को अगले चरण के साथ लगाना चाहिये। तब यह अर्थ होगा कि श्रीसीताजी को प्रणाम करके उनके चरणों की धूलि शिरोधार्य की और······'सुमंगल मूरि' को 'धूरि' का भी विशेषण ले सकते हैं।

सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत बिधि बिनय बड़ाई ॥१॥
देव दयाबस बड़ दुख पायेउ। सहित समाज काननहिं आयेउ ॥२॥
पुर पगु धारिय देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवन महीसा ॥३॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किये हरि-हर-सम जाने ॥४॥
सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बंदि पगु आसिष पाई ॥५॥
कौसिक बामदेव जाबाली। पुरजन परिजन सचिव सुचाली ॥६॥
जथाजोग करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा ॥७॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥८॥

दोहा—भरत-मातु-पद-बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि ॥३१९॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी ने राजा को शिर झुकाकर उनकी बहुत तरह प्रार्थना और बड़ाई की ॥१॥ कि हे देव! दया के वश आपने बड़ा दुःख पाया, समाज सहित आप वन को आये ॥२॥ अब आशिष देकर पुर को पधारिये, पृथिवी-पति श्रीजनकजी ने धैर्य धारण करके प्रयान किया ॥३॥ मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओं को हरि-हर के समान जानकर सम्मान किया और उनको विदा किया ॥४॥ दोनों भाई सास के समीप गये, उनके चरणों को प्रणाम कर और आशिष पाकर लौटे ॥५॥ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, शुभ आचरणवाले पुरवासी, कुटुम्बी और मंत्री ॥६॥ सबसे भाई सहित श्रीरामजी ने यथायोग्य विनती और प्रणाम करके सबको विदा किया ॥७॥ छोटे, मध्यम और बड़े सभी (श्रेणियों के) स्त्री-पुरुषों का सम्मान करके कृपा-सागर श्रीरामजी ने उनको लौटाया ॥८॥ श्रीभरतजी की माता श्रीकैकेयीजी को प्रभु ने पवित्र-स्नेह से प्रणाम किया और उनसे मिल-भेंट कर, उनका संकोच और शोच मिटाकर पालकी सजाकर उनको विदा किया ॥३१९॥

विशेष—(१) 'हरि हर-सम जाने'—हरि और हर उपास्य देव हैं, वैसे ही इन्हें इष्टदेव एवं पूज्य करके माना और सम्मान किया। 'सुचाली' विशेषण सबके साथ है, वे सब सच्चरित्र ही थे। तभी तो उस काल में उनको श्रीअवध में निज वास प्राप्त था; यथा—"सब निर्दंभ धरम रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥" (उ० दो० २०)।

(२) 'भरत-मातु-पद बंदि···'—पवित्र निश्छल स्नेह, दिखावटी नहीं। 'सकुच सोच' उन्हें संकोच था कि जिसके लिये मैंने इतना अनर्थ कर डाला, उस पुत्र ने ही मुझे त्याग दिया और कुवाक्य कहा, सो अब मैं संसार में कैसे मुँह दिखाऊँगी। शोच था कि अब मेरी कौन दुर्गति होगी, इत्यादि। पुनः अपनी करनी का भी संकोच था; यथा—"अवनि जमहिं जाँचति कैकेयी। महि न बीच बिधि मीचु न देई ॥" (दो

"गरइ गलानि कुटिल कैकेयी। काहि कहइ केहि दूषन देई॥" (दो० ३१२)। समझाना पूर्व लिखा गया; यथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध···" (दो० ३११); यहाँ शोच आदि का मिटाना यों है कि श्रीरामजी ने कहा कि मैंने श्रीशत्रुघ्नजी को समझाकर कह दिया है, वे आपकी सेवा करेंगे और कोई भी कुछ न कहेगा; यथा—"शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।···" (वाल्मी० २।११२।२७–२८)।

परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरीं प्रान-प्रिय-प्रेम-पुनीता॥१॥
करि प्रनाम भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कवि हिय न हुलासू॥२॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥३॥
रघुपति पटु पालकीं मँगाईं। करि प्रबोध सब मातु चढ़ाईं॥४॥
बार-बार हिलि मिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननी पहुँचाईं॥५॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भरत भूप दल कीन्ह पयाना॥६॥
हृदय राम सिय लखन समेता। चले जाहिं सब लोग अचेता॥७॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहिं परबस मन मारे॥८॥

दोहा—गुरु गुरुतिय पद बंदि प्रभु, सीता लखन समेत।
फिरे हरष - बिसमय सहित, आये परननिकेत॥३२०॥

अर्थ—कुटुम्बी, माता और पिता से मिलकर अपने प्राण-प्रिय पति के प्रेम में पवित्र श्रीसीताजी लौट आईं॥१॥ (फिर) प्रणाम करके सब सासों से भेंट की, (गले लगकर मिलीं) उनकी प्रीति कहने के लिये कवि के हृदय में हुलास (उत्साह) नहीं है॥२॥ उनकी शिक्षा सुनकर और मन-माँगी आशिष पाकर श्रीसीताजी दोनों प्रीति में समाई रहीं; अर्थात् कुछ देर तक निमग्न रहीं॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर पालकियाँ मँगाईं और सब माताओं को खूब समझाकर चढ़ाया॥४॥ दोनों भाइयों ने बार-बार माताओं से समान प्रेम से हिल-मिलकर उनको पहुँचाया॥५॥ घोड़े, हाथी और अनेक सवारियाँ सजाकर श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी के दल (समाज एवं सेना) ने प्रस्थान किया॥६॥ सब लोग अचेत (बेसुध) चले जा रहे हैं, उनके हृदय में श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी हैं॥७॥ बैल, घोड़े, हाथी (आदि) पशु हृदय से हारे (लाचार) परवश उदास चले जा रहे हैं॥८॥ गुरु और गुरु-पत्नी के चरणों को प्रणाम करके श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के सहित प्रभु हर्ष और शोक के साथ लौटे और पर्ण-कुटी पर आये॥३२०॥

विशेष—(१) 'दुहुँ प्रीति'—माताओं और सासुओं, इन दोनों ओर की प्रीति में।

(२) 'करि प्रबोध'—समझाया कि हम आप सबके धर्म के प्रभाव से सदा सुखी रहेंगे। आप लोगों की सेवा हमसे अधिक श्रीभरतजी करेंगे, हम भी अवधि पूरी करके चरणों के दर्शन करेंगे, वे दिन आपको सोये हुए की तरह शीघ्र बीत जायँगे।

(३) 'हरप-बिसमय'—हर्ष अपने धर्म, प्रतिज्ञा एवं देव कार्य आदि के निर्वाह का और श्रीभरतजी की अनुकूलता एवं भक्ति का। विस्मय प्रियजनों के वियोग का।

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू ॥१॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी ॥२॥
प्रभु सिय लखन बैठि बट-छाँहीं। प्रिय-परिजन बियोग बिलखाहीं ॥३॥
भरत सनेह सुभाव सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी ॥४॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी ॥५॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना ॥६॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घरघर की ॥७॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो ॥८॥

दोहा—सानुज साय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान बैराग्य जनु, सोहत धर सरीर ॥३२१॥

अर्थ—निषाद को सम्मान करके विदा किया, वह भी चला (पर) उसके हृदय में बड़ा विरह-दुःख था ॥१॥ कोल, किरात, भील आदि वनवासी लौटाने से बार-बार प्रणाम कर-करके लौटे ॥२॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बरगद की छाया में बैठकर प्यारे कुटुंबियों के वियोग से विलख रहे हैं ॥३॥ श्रीभरतजी के स्नेह, स्वभाव और उनकी सुन्दर वाणी प्रिया श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी से बखान कर कह रहे हैं ॥४॥ उनके मन, वचन और कर्म की प्रीति प्रतीति श्रीरामजी ने प्रेमवश श्रीमुख (अपने मुख) से वर्णन की ॥५॥ उस समय पशु-पक्षी और जल के भीतर रहते हुए भी मछली तक चित्रकूट के जड़-चेतन सभी जीव उदास हो गये ॥६॥ देवताओं ने श्रीरघुनाथजी की दशा देख फूल बरसाकर अपने घर-घर की दशा कही ॥७। प्रभु ने प्रणाम करके उनको भरोसा (ढारस) दिया कि तुम्हारा डर खरा (ठीक) सा नहीं है ; अर्थात् भ्रम से है, तब वे मन से प्रसन्न होकर चले, उनके मन में तृण के समान (जरा सा) भी डर नहीं है ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु पर्णकुटी में इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानों भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों शरीर धारण किये सोह रहे हों ॥३२१॥

विशेष—(१) 'फेरे फिरे'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के निवासियों की सेवा के लिये जो कोल किरात आदि आ जुटे थे, उन सबको श्रीरामजी ने विदा किया। वे जाना नहीं चाहते थे, लौटाने पर लौटे। जबरदस्ती लौटाये गये, प्रेम के मारे जाते न थे। 'जोहारि-जोहारी'—बहुत हैं, इससे दो बार कहा गया।

(२) 'बैठि बट छाँहीं ''प्रिय परिजन''' ''—जब तक सबकी विदाई में लगे थे, नहीं तो वे सब भी बहुत रोते। जब सब चले गये, तब सब प्रिय जनों का स्मरण करके

यह माधुर्य की शोभा है, अन्यथा आप कुछ निष्ठुर कहे जाते। 'प्रेम बस बरनी'—छोटे भाई की प्रशंसा करना लौकिक नियम के विरुद्ध है, पर प्रेमवश हो लौकिक नियम तोड़कर वर्णन किया।

(३) 'जल मीना'—मछलियाँ जल के वियोग में ही तड़पती हैं, पर इस समय जल में रहती हुई भी तड़प रही हैं, क्योंकि इस समय सबको आत्मा-रूप ब्रह्म में ही वियोग की दशा वर्त्तमान है। 'कहि गति घर-घर की'—ये लोग अपने घर-घर की दुर्दशा सुनाकर श्रीअवधवासियों से अपने दुःख को अधिक जनाते हैं कि जिससे हम लोगों के दुःख को देखकर उधर का वियोग-दुःख कम हो और इधर की ओर चित्त दें। पुनः अपने परिजनों के प्रति आर्त्त होकर हमलोगों के उचाटन आदि करने को बुरा न मानें। 'खरोसो' यहाँ श्लिष्ट है; इसके 'ठीक-सा' और 'तृण के समान' ये दो अर्थ हैं।

(४) 'भगति ज्ञान बैराग जनु'—पतिव्रता का भाव पति में भक्ति का है, अतः पति में निष्ठा से श्रीसीताजी की भक्ति कही गई। श्रीरामजी निर्लिप्त भाव से रहने के कारण ज्ञान रूप और जगत् का राग तोड़े हुए स्वामी में अनुरक्त रहने से श्रीलक्ष्मणजी वैराग्य रूप कहे गये हैं। भक्ति और ज्ञान में पति-पत्नी का भाव अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"पंथ जात सोहहि मति धीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥" (बा० दो० १२१)।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १ में ज्ञान, वैराग्य भक्ति के पुत्र कहे गये हैं, पर यहाँ पति-देवर। इसका समाधान यह है कि जो ज्ञान भक्ति से प्रथम हो; यथा—"होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (दो० ९१); वह पति है और जो नवधा आदि भक्ति करते हुए पीछे हो, वह पुत्र के समान है। जैसे कि शुकदेव और उद्धव को ज्ञान पहले हुआ और भक्ति पीछे हुई एवं ध्रुव-प्रह्लाद को भक्ति ही पहले हुई। पीछे परा भक्ति में ही ज्ञान की पूर्त्ति आ गई।

मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। रामबिरह सब साज बिहालू ॥१॥
प्रभु-गुन-ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं ॥२॥
जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ ॥३॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। राम-सखा सब कीन्ह सुपासू ॥४॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये ॥५॥
जनक रहे पुर बासर चारी। राज काज सब साज सँभारी ॥६॥
सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू। तिरहुति चले साजि सब साजू ॥७॥
नगर-नारि-नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम-रजधानी ॥८॥

दोहा—राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस ॥३२२॥

अर्थ—मुनि, ब्राह्मण, गुरुजी, श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी एवं सब साज-समाज श्रीरामजी

के विरह में विह्वल हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी के गुण-समूह को मन में विचारते हुए सभी मार्ग में चुप-चाप चले आ रहे हैं ॥२॥ यमुना उतरकर सब पार हुए, वह दिन बिना भोजन के बीता ॥३॥ गंगाजी उतरकर (शृंगवेरपुर में) दूसरा निवास हुआ, वहाँ श्रीरामजी के सखा निषादराज ने सब सुपास (सुख का साज) किया ॥४॥ सई उतरकर गोमती में स्नान किया और चौथे दिन श्रीअवधपुर में आ पहुँचे ॥५॥ श्रीजनकजी चार दिन नगर में रहे, राज्य के सब कार्य और सब साज-सामान सँभालकर ॥६॥ मंत्री, गुरु और श्रीभरतजी को राज्य सौंपकर और अपना सब साज-सामान ठीक करके (अपने) तिर्हुत देश को चले ॥७॥ नगर के स्त्री-पुरुष गुरुजी की शिक्षा मानकर श्रीरामजी की राजधानी में सुख-पूर्वक बसे ॥८॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सबलोग नियम और उपवास (वा, उपवास के नियम) कर रहे हैं। भूषण और भोग के सुख को त्याग-त्यागकर अवधि की आशा से जी रहे हैं ॥३२२॥

विशेष—(१) 'जमुना उतरि पार···'—श्रीअवध से आते समय यमुना से चित्रकूट दो दिन में पहुँचे थे और लौटने में एक ही दिन लगा, क्योंकि उस समय श्रीभरतजी पैदल थे और अब रथ पर हैं; यथा—"ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥" (वाल्मी॰ २।११२।१); पुनः इस समय सब लोगों पर देवमाया भी लगी है, जिससे उचाटन की उतावली में दूना बल हो गया है।

(२) 'सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू।'—राजा ने यथायोग्य कार्य का विभाग कर दिया कि मंत्री तो व्यवहार करें, गुरुजी उनपर देखभाल रक्खें और श्रीभरतजी आज्ञा दें।

(३) 'गुरु सिख मानी···'—गुरुजी ने शिक्षा दी कि पुरी श्रीरामजी की है, उनके दर्शनों की लालसा में धैर्य-पूर्वक रहो। अवधि के अंत में श्रीरामजी आकर अवश्य मिलेंगे।

(४) 'करत नेम उपवास'—किसीने पूजा-पाठ के नियम लिये, किसीने फलाहार, दुग्धाहार एवं जलाहार आदि के भी नियमित अंश के नियम लिये। किसीने अमुक-अमुक तिथियों के उपवास के भी नियम रक्खे, इत्यादि। यह सब श्रीरामजी के दर्शनों के लिये करते हैं कि १४ वर्ष पर उन्हें सकुशल लौटकर आये हुए देखें, वस्तुतः यह श्रीराम-भक्ति ही है।

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे ॥१॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु-सेवकाई ॥२॥
भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे ॥३॥
ऊँच नीच कारजु भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू ॥४॥
परिजन पुरजन प्रजा बुलाये। समाधान करि सुबस बसाये ॥५॥
सानुज गे गुरु - गेह बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी ॥६॥
आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तनु पुलकि सप्रेमा ॥७॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम - सार जग होइहि सोई ॥८॥

दोहा—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि ।
सिंहासन प्रभु - पादुका, बैठारे निरुपाधि ॥३२३॥

शब्दार्थ—लोधे (लोधना, सं० आबंधन) = आबद्ध होना, काम में लगना । गनक = ज्योतिषी । निरुपाधि = उपद्रव रहित, निर्विघ्न, धर्म-चिन्ता-रहित ।

अर्थ—श्रीभरतजी ने मंत्रियों और सुसेवकों को समझाया, वे सब शिक्षा पाकर अपने-अपने काम में लग गये ॥१॥ फिर छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को बुलाकर शिक्षा दी और उनको सब माताओं की सेवा सौंपी ॥२॥ ब्राह्मणों को बुलाकर श्रीभरतजी ने हाथ जोड़ प्रणाम करके विशेष नम्रता से प्रार्थना की ॥३॥ कि ऊँचा-नीचा, भला-बुरा, जो कुछ कार्य हो, उसके लिये आज्ञा दीजियेगा, संकोच न कीजियेगा ॥४॥ कुटुम्बी, पुरवासी और प्रजा को बुलाया, सबको सान्त्वना देकर स्वतंत्रतापूर्वक (सुख से) बसाया ॥५॥ फिर भाई के साथ गुरुजी के घर गये और दंडवत्-प्रणाम करके हाथ जोड़ बोले ॥६॥ कि आज्ञा हो, तो नियम-सहित रहूँ, श्रीवसिष्ठ मुनि शरीर से पुलकित होकर प्रेम-पूर्वक बोले ॥७॥ कि जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वही संसार में धर्म का सार होगा ॥८॥ यह सुनकर, शिक्षा और बड़ी आशिष पाकर ज्योतिषियों को बुलाकर दिन (मुहूर्त) शोधवा कर प्रभु की पादुकाओं को निर्विघ्न एवं धूमधाम से सिंहासन पर स्थापित किया ॥३२३॥

विशेष—(१) 'लोधे' अर्थात् नियुक्त किये हुए लगे, इससे हर्ष-रहित सूचित किया ।

(२) 'ऊँच नीच कारज···'—ऊँचा-नीचा एवं भला-बुरा ऐसा कहने का मुहावरा है, इसका तात्पर्य यह कि जो कोई भी कार्य हो; कहने में संकोच न कीजियेगा ।

(३) 'समाधान करि सुबस बसाये'—वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक १५-१६ में कहा गया है—"पादुका-रूपी थाती शिर पर रखकर दुःख-संतप्त श्रीभरतजी प्रजाओं से बोले कि ये पादुका श्रीरामजी के चरणों के प्रतिनिधि हैं, अतएव इनपर छत्र धारण करो, इन्हींसे राज्य में धर्म स्थापित रहेगा ।" इन्हींसे सबका योगक्षेम होगा; यथा—"एते हि सर्वलोकस्य योग-क्षेमौ विधास्यतः ।" (वाल्मी० २।११२।२१); श्रीभरतजी ने सबको यह भी समझाया कि श्रीरामजी ने वचन दिया है कि वे लौटकर अवश्य राजा होंगे; यथा—"अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः । भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥" (वाल्मी० २।१११।३१), इत्यादि रीति से सबको सान्त्वना देकर सुख-पूर्वक बसाया ।

(४) 'समुझव कहब करब तुम्ह···'; यथा—"सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।" (वाल्मी० २।११५।५); "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" (गीता ३।२१) ।

(५) 'बैठारे निरुपाधि'—श्रीरामजी के अभिषेक में उपाधि (विघ्न) हुई, पादुकाओं के अभिषेक में नहीं । वा, पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित कर स्वधर्म-हानि की धर्म-चिंता से रहित हुए । सेवक-धर्म-निर्वाह का उत्तम आधार मिल गया; क्योंकि उपाधि का अर्थ धर्म-चिन्ता भी होता है ।

"लै पादुका अवधपुर आये" प्रकरण समाप्त ।

"भरत रहनि" प्रकरण

रामपातु गुरुपद सिर नाई। प्रभु - पद - पीठ - रजायसु पाई ॥१॥
नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवास धरम-धुर-धीरा ॥२॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुससाथरी सँवारी ॥३॥
असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिपिधरम सप्रेमा ॥४॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥५॥

शब्दार्थ—तृन तूरी=तृण तोड़े हुए के समान; यथा—"देह गेह सब सों तृन तोरे।" (दो० ६१); देखिये।

अर्थ—श्रीरामजी की माता और गुरुजी के चरणों में सिर नवा और प्रभु की खड़ाऊँ की आज्ञा पाकर ॥१॥ नन्दिग्राम में पर्णकुटी बनाकर के धर्म की धुरी धारण करने में धीर श्रीभरतजी ने निवास किया ॥२॥ शिर पर जटाओं का जूड़ा और शरीर में मुनि वस्त्र, धारण किया। पृथिवी को खोदकर कुश की साथरी सजाई ॥३॥ भोजन, वस्त्र, वर्तन, व्रत आदि के नियम (रखते हुए) ऋषियों के कठिन धर्मों को प्रेमपूर्वक करते हैं ॥४॥ भूषण, वस्त्र आदि भोग के सुखसमूह मन, तन, वचन से तृण के समान तोड़कर (श्रीभरतजी ने) त्याग दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पीठ-रजायसु पाई।'—पूर्व कहा गया कि खड़ाऊँ आदि प्रभु के सभी पदार्थ सच्चिदानंद स्वरूप हैं, चेतन हैं, बोलते भी हैं; अतः, श्रीभरतजी उनसे आज्ञा पाते थे।

(२) 'नंदिगाँव करि परन कुटीरा।'—श्रीरामजी दक्षिण की ओर गये हैं, इससे आपने भी दक्षिण की ओर ही पहली मंजिल पर निवास किया कि जिससे श्रीरामजी लौटें तो वहीं से अगवानी करें। श्रीरामजी पर्णशाला में रहते हैं, तो आपने भी पर्णकुटी ही बनाई। नंदी धर्म का स्वरूप है, क्योंकि धर्म भी चतुष्पाद है और उसकी ध्वजा में वृष का स्वरूप रहता है, आप 'धर्म-धुर-धीर' हैं, इसीसे आपने नंदिग्राम को स्वीकार किया। श्रीरामजी ने नगर को छोड़ा है, तो आप भी बाहर ही रहते हैं।

(३) 'जटा जूट सिर···'; यथा—"स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः। नंदिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा॥" से "चकार पश्चाद्भरतो यथावत्॥" (वाल्मी० २।११५।२३-२५)। 'महिखनि कुस साथरी···'—श्रीभरतजी ने ही कहा है—"सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा।" (दो० २०२); उसका निर्वाह यहाँ भी कर रहे हैं कि जहाँ स्वामी के चरण पड़ें, उससे नीचे ही सेवक का शिर रहना चाहिये। जिससे रज शिर पर ही रहे, जब श्रीरामजी पृथिवी पर ही सोते हैं, तो आप उससे नीचे भूमि खोदकर रहते हैं। इतना खोदा है कि खड़े होने पर भी शिर नीचे ही रहे। 'कठिन रिपि धरम सप्रेमा'—जो भोजन, वस्त्र आदि के नियम मुनियों के लिये कठिन हैं; उन्हें राजकुमार होकर निबाह रहे हैं। वह भी ऊपर ही से नहीं, किन्तु 'सप्रेमा' प्रीति और श्रद्धा-सहित करते हैं; क्योंकि धर्म श्रद्धा-सहित ही सार्थक होता है; यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ८९)।

अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥६॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥७॥

रमा-विलास राम - अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी ॥८॥

दोहा—राम-प्रेम-भाजन भरत, बड़े न येहि करतूति।
चातक हंस सराहियत, टेक बिवेक बिभूति ॥३२४॥

अर्थ—श्रीअवध के राज्य को इन्द्र ललचाते हुए सराहते हैं, श्रीदशरथजी के धन को सुनकर कुबेर लज्जित होते हैं ॥६॥ ऐसे नगर में भी श्रीभरतजी स्पृहा-रहित होकर बसते हैं, जैसे भौंरा चंपा के बाग में (निस्पृह होकर रहता है) ॥७॥ श्रीरामजी के अनुरागी बड़भागी लोग लक्ष्मी के विलास को वमन के समान त्याग देते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी तो श्रीरामजी के प्रेम के पात्र हैं, कुछ इस करनी से बड़े नहीं हुए (अर्थात् उनके विषय में यह सामान्य बात है) क्या चातक टेक की और हंस विवेक की विभूति से सराहे जाते हैं? (अर्थात् टेक और विवेक गुण चातक और हंस में सहज स्वभाव से हैं, वैसे ही नेम-प्रेम एवं विवेक श्रीभरतजी में तो स्वभाव-सिद्ध हैं एवं और भी श्रीरामजी के प्रेमियों में होना ही चाहिये। सराहा तो वह जाता है, जो स्वाभाविक से विलक्षण कार्य हो) ॥३२४॥

विशेष—(१) 'चंचरीक जिमि चंपक बागा।'—श्रीअवधराज का ऐश्वय अत्यन्त सुगंध-पूर्ण चंपा के बाग के समान है। भौंरा चम्पा पर नहीं बैठता, उसके रस को नहीं ग्रहण करता। वैसे विभूति-पूर्ण नगर में रहते हुए भी श्रीभरतजी उससे विमुख रहते हैं। तात्पर्य यह कि जब श्रीरामजी इसे भोगेंगे, तब ये भी इसे प्रसाद-रूप से ग्रहण करेंगे, दास बिना इष्ट के भोग लगाये नहीं पाते (भोजन करते)। श्रीरामजी अभी कंद-मूल, फल ही पाते हैं, वही श्रीभरतजी भी पाते हैं। यहाँ तक उपर्युक्त 'अवधराज' और 'दसरथ धन' के उपलक्ष में कहा। आगे दूसरे दृष्टान्त—'रमा बिलास···'—से यह दिखाते हैं कि अन्य रामानुरागी भी वैराग्यवान् होते हैं। वे प्रथम रमाविलास (घर का धन-ऐश्वर्य एवं उसकी ममता) त्यागकर भजन करते हैं, तो माया प्रलोभन के लिये बड़े-बड़े ऐश्वर्य प्राप्त कराती है, पर वे उसे वमन (वमन की हुई वस्तु) के समान त्याग देते हैं, उससे घृणा करते हैं कि जिसे एक बार त्याग दिया, वही फिर भोगना श्वान की तरह वमन की हुई वस्तु का खाना है। ऐसी वृत्ति क्यों हो जाती है? इसका भाव 'राम अनुरागी' में है; अर्थात् रामानुराग के समक्ष विषय-सुख फीका एवं अति तुच्छ लगता है; यथा—"जो मोहि राम लागते मीठे। तो नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।" (वि० १६९); तथा—"तवामृतस्यंदिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवन्दारस्तोत्र); जब अन्य रामानुरागियों की यह त्याग वृत्ति है, तो श्रीभरतजी के लिये क्या कहना? उपर्युक्त त्याग में आश्चर्य नहीं है।

(२) 'चातक हंस' के उदाहरण दो० २०४ चौ० ४ और बा० दो० ६ भी देखिये।

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजबल मुख-छबि सोई ॥१॥
नित नव राम-प्रेम-पन पीना। बढ़त धरमदल मन न मलीना ॥२॥
जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥३॥
सम दम संयम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥४॥
ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी। स्वामि-सुरति सुरबीथि बिकासी ॥५॥

राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा । सहित समाज सोह नित चोखा ॥६॥
भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥७॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं । सेस - गनेस - गिरा-गम नाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—निघटत=घटता है, कम होता है। घटइ= संयुक्त होता है, घट धातु के कई अर्थ हैं, पर यहाँ 'संयुक्त होना' अर्थ है; यथा—"सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।" (दो० २५७ ; "सब बिधि घटब काज मैं तोरें।" (कि० दो० ६); 'घटइ' का घटना अर्थ नहीं है; क्योंकि तप से तेज बढ़ता है। बेतल=आकाश, देव। सुरबीथी= नक्षत्रों का मिलित मार्ग, आकाश गंगा। ध्रुव से लेकर उत्तर-दक्षिण में बहुत से तारे छिले हुए आकाश में दूधकी राह से दीखते हैं, वही सुरबीथी है। चोखा=सुन्दर, स्वच्छ।

अर्थ—शरीर दिनोंदिन दुबला होता जाता है, तेज से संयुक्त हो रहा है और बल एवं मुख की शोभा वैसी ही है॥१॥ श्रीरामजी के प्रेम का प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है, धर्म का दल बढ़ता है, मन मलिन नहीं होता; अर्थात् स्वच्छ है॥२॥ जैसे शरद ऋतु के प्रकाश से जल घटता है, आकाश शोभित होता और कमल खिलते हैं॥३॥ शम, दम, संयम, नियम और उपवास श्रीभरतजी के हृदय-रूपी निर्मल आकाश के नक्षत्र (तारे) हैं॥४॥ विश्वास ध्रुव (नक्षत्र) है, अवधि पूर्णिमा है, स्वामी की सुधि (एक बार स्मृति) सुरबीथी-सी शोभित है॥५॥ श्रीरामप्रेम-रूपी अचल और दोष-रहित चन्द्रमा समाज सहित नित्य स्वच्छ एवं सुन्दर सोहता है॥६॥ श्रीभरतजी की रहनि, समुझनि, करतूत, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्य को॥७॥ वर्णन करने में समस्त उत्तम कवि सकुचते हैं, शेषजी, गणेशजी और सरस्वतीजी को भी गम्य नहीं है, अर्थात् उन्हें भी अगम हैं, तो दूसरों की कौन गणना ?॥८॥

विशेष—(१) 'घटइ तेजबल मुख छबि सोई'—तप से तेज बढ़ता है; यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९); इसलिये 'घटइ' का 'संयुक्त होता है' यह अर्थ किया गया है। आगे 'मुख छबि सोई' से भी यही सिद्ध होता है। बल की पहचान तो हनुमानजी ने अच्छी तरह की है; यथा—"चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहिं जहँ कृपा निकेता॥" (लं० दो० ५९)।

(२) 'जिमि जल निघटत'''—शरद् ऋतु में जल घटता है और निर्मल होता है वैसे ही नित्य नये श्रीराम-प्रेम के प्रकाश से श्रीभरतजी की देह दुबली होती जाती है, पर तेज बढ़ता जाता है। वहाँ आकाश निर्मल और कमल का विकसना है वैसे यहाँ हृदय का निर्मल होना और मन का प्रफुल्लित होना है।

(३) 'सम दम संयम नियम उपासा।'—संयम-नियम, योगसूत्र में ५-५, स्मृतियों में १०-१० और श्रीमद्भागवत में १२-१२ भेद भी माने जाते हैं। अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः॥ आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्य क्षमा भयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्॥ तीर्थाटन परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः॥ (भाग० ११।१९।३३-३५) यहाँ संयम १२, नियम १२, और शम, दम, उपवास भी मिलकर २७ होते हैं। नक्षत्र भी २७ ही होते हैं, जिनकी 'सुरबीथी' होती है, यह उपमा का मेल है। ये सब श्रीभरतजी के हृदय में श्रीराम-प्रेम रूपी चन्द्रमा के साथ जगमगा रहे हैं। श्रीरामजी उत्तर से दक्षिण लंका तक बराबर गये हैं, निषादराज से समाचार पाकर इनको सुरति भी वैसे ही क्रमशः लगी रहती है, साथ ही शम-दम आदि भी स्वतः होते जाते हैं। यही 'सुरबीथी' है, जो कि उत्तर ध्रुव से लेकर मूल नक्षत्र तक दक्षिण को जाती है।

(४) 'ध्रुव बिस्वास अवधि राकासी।'—ध्रुव अविचल हैं, वैसे ही श्रीरामजी के

इनका विश्वास अचल है। अवधि १४ वर्ष बाद की है, वैसे ही १४वीं तिथि चतुर्दशी के बाद पूर्णिमा होती है। ध्रुव नक्षत्र से दशतारों के सहित मूल नक्षत्र तक शिशुमार चक्र 'सुरवीथी' है वैसे ही श्रीभरतजी के हृदय में भी दशमुख-वध-चरित तक सुरति है। वहाँ चन्द्रमा पूर्ण यहाँ श्रीराम-प्रेम पूर्ण। 'राम-प्रेम बिधु अचल अदोखा।' अर्थात् वह चन्द्रमा चल और निर्दोष है। 'सहित समाज सोह···'—वहाँ चन्द्रमा रोहिणी, बुध और नक्षत्रों के समाज सहित शोभित होता है। यहाँ भी श्रीराम-प्रेम के साथ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीजानकीजी एवं परिकरों में प्रेम है, इससे यह प्रेम नित्य नया सोहता है।

(५) 'भरत रहनि समुझनि······' 'रहनि'; यथा—"मोहिं भावति, कहि आवति नहि भरत जू की रहनि।···" (गी० अ० ८१); (यह पूरा पद देखिये)। यहाँ भी ऊपर 'रहनि' कही गई है कुश-साथरी बिछाना, गुफा खोदकर रहना, नियम आदि करना, इत्यादि। 'समुझनि'; यथा—"साधन सिद्धि राम-पद-नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो० २८८); तथा श्रीरामजी को वन में समझकर उनके समान नियम करना, पादुका को उनका साक्षात् चरण ही समझना, इत्यादि। 'करतूती'; यथा—"राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न येहि न करतूत।" (दो० ११२); 'भक्ति'; यथा—"नित नव राम प्रेमपन पीना।" 'बिरति'; यथा—"तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा।" 'गुन'; यथा—विनय शील आदि; यथा—"भूसुर बोलि भरत कर जोरे।" आयसुदेव···" इत्यादि। 'बिभूति'; यथा—"राम प्रेम भाजन भरत···टेक विवेक बिभूति" (दो० ११४)। 'बिमल'; यथा—क्योंकि अणिमादि प्राकृत होने से समल विभूतियाँ हैं, इनकी विभूति भक्ति एवं वैराग्य के सम्बन्ध की है; इससे निर्मल है। यहाँ 'रहनि' आदि सात गुण कहे गये, इनके भाव "भरत चरित कीरति···" (दो० २८७); में देखिये।

दोहा—नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज बहु भाँति ॥३२५॥

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥१॥
लखन-राम-सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं ॥२॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥३॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥४॥

अर्थ—नित्य प्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं, हृदय में प्रीति नहीं समाती। आज्ञा माँग-माँगकर बहुत तरह के कार्य करते हैं ॥३२५॥ शरीर पुलकित है, हृदय में श्रीसीतारामजी (विराजते हैं), जीभ से नाम जपते हैं, नेत्रों से जल चला आता है ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी वन में बसते हैं और श्रीभरतजी घर में रहकर तप से शरीर को कसते हैं ॥२॥ दोनों ओर की (व्यवस्था) समझकर सब लोग कहते हैं कि श्रीभरतजी सब तरह से प्रशंसा के योग्य हैं ॥३॥ उनके नेम और व्रत को सुनकर साधु सकुचा जाते हैं और उनकी दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि लोग लजा जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'नित पूजत प्रभु पाँवरी··· ···'—भगवान् के अर्चा-विग्रह की तरह श्रीपादुकाजी की नित्य पूजा करते हैं, पूजा प्रेम से होनी चाहिये, वह भी है; यथा—'प्रीति न हृदय समाति'। 'माँगि माँगि आयसु' से पादुका का चिद्रूप होना और बोलना भी सूचित किया। यहाँ 'पूजत' में कर्म, 'प्रीति' में मन

और 'माँगि माँगि आयसु' में वचन की भक्ति है। 'राज काज बहु भाँति'; यथा—"सवाल व्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयं। भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्॥ ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥ तदाहि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। सपादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत्॥" (वाल्मी० २।११५।२२-२४)।

(२) 'पुलक गात हिय ·····'—यहाँ इनके उत्तम भजन की रीति दिखाते हैं कि जीभ से नाम जपते हैं, मन से ध्यान बना रहता है और प्रेम से पुलकावली और अश्रुपात होते रहते हैं। 'नित पूजत'··· से स्पष्ट है *कि नन्दिग्राम में ही पादुका को स्थापित किया था। वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक २१* में स्पष्ट कहा गया है; यथा—"नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा।"

(३) 'भरत भवन बसि······'—जैसे अग्नि में तपाकर सोना कसा जाता है, वैसे श्रीभरतजी तपश्चर्या के क्लेशों से शरीर को कस रहे हैं। भाव यह कि स्वामी तो तप कर रहे हैं, हम भोग-विलास कैसे करें? वन में रहना नहीं है, स्वामी की आज्ञा श्रीअवध का पालन करने के लिये है। अतः, यहीं रहकर वन के तपस्वियों की रीति निबाहते हैं।

(४) 'दोउ दिसि समुझि·····'—उधर—'लखन-राम-सिय कानन बसहीं।' और इधर—'भरत भवन बसि तप तन कसहीं।' ये ही दोनों दिशाओं की व्यवस्था हैं। दोनों तरफ की चर्या को समझकर लोग श्रीभरतजी की ही प्रशंसा करते हैं—'

(५) 'सुनि ब्रत नेम साधु···'—प्रशंसा की बात यह है कि उधर तो श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, परस्पर सापेक्षता से बहुत कुछ सुपास है, पर श्रीभरतजी ने पितृ-दत्त राज्य सुख छोड़कर मन, वचन, कर्म से दुर्घट नियम धारण किये हैं, जिन्हें सुनकर ही साधु सकुच जाते हैं (उन्हें देखने और करने का साहस कैसे होगा?) कि ऐसे व्रत-नेम के साधन हमसे नहीं होने के। पुनः इनकी प्रेम-दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि-गण लज्जित होते हैं कि यह प्रेम-दशा और वैराग्य-वृत्ति हमलोगों में चाहिये, क्योंकि हमलोगों ने इसीलिये घर-बार छोड़ा है, पर हमलोग इनके अल्पांश-भर भी नहीं हैं और ये घर बार सँभालते हुए ऐसी उच्च दशा को प्राप्त हैं, हमारी दशा तुच्छ है।

परम पुनीत भरत - आचरनू। मधुर मंजु मुद - मंगल - करनू॥५॥
हरन कठिन कलि-कलुप-कलेसू। महा - मोह - निसि - दलन दिनेसू॥६॥
पाप - पुंज - कुंजर - मृगराजू। समन सकल संताप - समाजू॥७॥
जन - रंजन भंजन भव-भारू। राम - सनेह सुधाकर - सारू॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी का परम पवित्र, (सुनने में) मधुर आचरण सुन्दर आनंद-मङ्गलों का करने वाला है॥५॥ कठिन कलिकाल के पापों और क्लेशों का हरनेवाला है। महामोह-रूपी रात्रि को नाश करने के लिये सूर्य-रूप॥६॥ और पाप-समूह-रूपी हाथी के लिये सिंह है। सम्पूर्ण संताप के समाजों का नाश करनेवाला है॥७॥ भक्तों को आनंद देनेवाला और भव (जन्ममरण) रूपी भार का भंजन करनेवाला है। पुनः श्रीरामजी के स्नेह-रूपी चन्द्रमा का सार (अमृत) है॥८॥

विशेष—(१) 'परम पुनीत भरत···'—स्वार्थ-रूपी अपावनता-रहित, परमार्थमय और परम पवित्र है। कर्ण-कटुता आदि दोषों से रहित श्रवण-सुखद होने से मधुर है। विचारने से कामादि

दोष-रहित मंजु है। "मंजु मुद-मंगल-करनू'; यथा—"मंजुल मंगल मोद प्रसूती।" (बा० दो० ※ चौ० ३); देखिये।

(२) 'हरन कठिन कलि···'—कलिकाल पापमय है, जब इसके पापों के क्लेशों का हरनेवाला है, तब और युगों के पाप तो इसकी अपेक्षा कम ही होते हैं, उनका नाश होना तो कोई बात ही नहीं। 'महामोह निसि···'—ईश्वर में संदेह होना महामोह है; यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)—गरुड़ का महामोह; तथा—"महामोह निसि सूतत जागू।" (लं० दो० ५५); रावण का। श्रीभरतजी के आचरण सुनने से ईश्वर में संदेह नहीं रह जाता।

(३) 'पाप-पुंज-कुंजर-मृगराजू।'—'पाप' यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं॥" (दो० १६६), ऐसे पाप-समूह हाथी के समान प्रबल हैं, वे सब श्रीभरतजी के आचरण-रूपीसिंह के गर्जन-रूपी श्रवण से डरकर भग जाते हैं; यथा—"जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।" (दो० २११); 'समन सकल संताप समाजू।'—ताप तीन तरह के हैं; यथा—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०); श्रीराम-राज्य के समान ही यहाँ श्रीभरत-आचरण के श्रवण का भी फल है। इन तीनों तापों के अवान्तर भी बहुत-से भेद हैं, इसलिये 'सकल' कहा है।

(४) 'जन-रंजन भंजन भव-भारू।'—भव को भार कहा है, क्योंकि कर्मों के वश बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है, जीव को बोझे की तरह ढोना पड़ता है; यथा—"जाको नाम लिये *छूटत भव जनम मरन दुख भार।" (वि० ६८); "भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल करम* गुननि भरे॥" (उ० दो० १२); पूर्व भी कहा गया है—"भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥" (दो० २२२)।

'राम सनेह सुधाकर सारू।'—श्रीरामजी का स्नेह चन्द्रमा है, सबका आह्लाद-वर्द्धक है, यह श्रीभरतजी का आचरण उसका भी सार है। भाव यह कि इनका आचरण श्रीराम-स्नेह का प्रकाशक है, क्योंकि चन्द्रमा में अमृत ही से गुण-वैभव है। यही बात इसके व्याख्या-रूप आगे छंद में स्पष्ट है। जिसे श्रीराम-प्रेम का सार तत्त्व देखना हो, वह श्रीभरतजी के आचरण को पढ़े सुने। यह शुद्ध श्रीराम-प्रेम का निचोड़-रूप है। पूर्व भी कहा गया—"रामप्रेम बिधु अचल अदोषा।" (दो० २२४); "कीरति बिधु ··पूरन राम सुप्रेम पियूषा। · राम भगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)।

छंद—सिय - राम - प्रेम - पियूष - पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी-से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत-चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस बिरति॥३२६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रेमवैराग्यसम्पादनो नाम
※ द्वितीयः सोपानः समाप्तः ※

अर्थ—श्रीसीतारामजी के प्रेमामृत से परिपूर्ण श्रीभरतजी का जन्म जो न होता तो मुनियों के मन के अगम यम, नियम, शम, दम आदि विषम व्रतों का आचरण कौन करता? अर्थात् कोई नहीं करता॥ दुःख, संताप, दारिद्र्य, दंभ और दूषण को सुयश के बहाने कौन हरता? (कोई नहीं)। और इस कलिकाल में तुलसी ऐसे शठों को हठ-पूर्वक श्रीरामजी के सम्मुख कौन करता? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (एवं आशिष देते हैं) कि जो कोई श्रीभरतजी के चरित को आदर-पूर्वक नियम से सुनेंगे, उनको श्रीसीतारामजी के चरणों में अवश्य प्रेम होगा और अवश्य ही संसार के विषय रसों से वैराग्य भी होगा॥३२६॥ इति श्री···प्रेम-वैराग्य प्राप्त करनेवाला दूसरा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) 'होत जनम न भरत को'—इसे छंद के सब चरणों के साथ लगाना चाहिये। श्रीभरतजी का स्वरूप ही प्रेमामृत का पात्र है, पहले इनके यश को चन्द्रमा कहकर उसमें राम प्रेमामृत का होना कहा गया है; यथा—"पूरन राम सुप्रेम पियूषा।" (दो० २०८); अर्थात् श्रीभरतजी स्वयं प्रेमामृत से पूर्ण हैं और यश के द्वारा औरों को भी प्रेमामृत सुलभ किया है; यथा—"राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥" (दो० २०८)।

(२) 'दुख दाह दारिद'···'—और प्राकृत मनुष्य के यश-कथन में मिथ्यात्व आदि दोष होते हैं, पर परम भक्त श्रीभरतजी के सुयश-कथन-श्रवण से दुःख आदि सब दोष छूटते हैं। यह तो और लोगों की बात हुई; अब ग्रन्थकार अपने सम्बन्ध के विशेष उपकार कहते हैं। 'हठि राम सनमुख करत को।'—भाव यह कि श्रीभरतजी के सुयश के साथ उनके राम-स्वभाव कथन आदि भी आते हैं; यथा—"राउरि रीति सुबानि बड़ाई।···" से "सकृत प्रनाम किये अपनाये॥" (दो० २९९) तक; इनसे भारी से भारी शठ भी श्रीराम-सम्मुख (शरण) होते हैं। यही शठों का हठात् शरण होना है। 'कलिकाल तुलसी···'—कलियुग में शरणागति मात्र उपाय रह गई, उसमें दृढ़ प्रतीति श्रीभरतजी के चरित्र से ही होती है। पूर्ण प्रतीति बिना शरणागति होती ही नहीं।

चरित—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥" (दो० ३२५)।

'इतिश्री······'—कितनी प्राचीन प्रतियों में इस कांड की इतिश्री नहीं पाई जाती। इसपर कहा जाता है कि श्रीभरतजी के चरित को अपार एवं अमित सूचित करते हुए यहाँ इति नहीं लगाई गई। आगे चलकर आ० दो० ६ पर इति है, वहाँ पर इति की रीति के अनुसार छंद, दोहा और सोरठा साथ दिये गये हैं। यहाँ श्रीराम-चरित के प्रसंग को लेकर उसपर इति लगी है। श्रीवाल्मीकीजी ने भी उसी प्रसंग पर अयोध्याकांड की इति लगाई है। पर इसमें कहा जा सकता है कि श्रीरामचरित भी तो अति अमित ही है, ऐसा बहुत स्थलों पर कहा गया है, तो उसकी ही इति क्यों लगाई गई ?

वस्तुतः इतिश्री तो अपनी रचना के सोपान की लिखी गई है, चरित की नहीं। इसका 'प्रेम-वैराग्य' सम्पादन नाम है, क्योंकि ऊपर यही कांड की फलश्रुति कही गई है; यथा—सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥"

'भरत-रहनि' प्रकरण समाप्त

——:॰:——

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड)

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानंददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म-रूपी वृक्ष के मूल, विवेक-रूपी समुद्र के आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्रमा, वैराग्य-रूपी कमल के (विकाशक) सूर्य, पाप-रूपी सघन अंधकार को निश्चय ही नाश करनेवाले, (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों के हरनेवाले, मोह-रूपी बादलों के समूह को विच्छिन्न (उत्पाटन) करने की विधि में पवन-रूप, शं (कल्याण) के करनेवाले, ब्रह्म-कुल, कलंक के नाशक और राजा श्रीरामजी के प्यारे (या, जिनको राजा श्रीरामजी प्रिय हैं, उन) श्रीशिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'मूलं धर्म तरोः'—धर्म (कर्म) में फल लगता है, इसीलिये वृक्ष-रूप कहा, श्रीशिवजी उस वृक्ष की जड़ हैं। जड़ के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता और जड़ ही के सींचने से पूरा वृक्ष हरा-भरा रहता है। वैसे ही श्रीशिवजी से धर्म की उत्पत्ति, पालन एवं वृद्धि होती है। धर्म के चार चरण—सत्य, शौच, दया और दान हैं; यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥" (उ० दो० २०); इन चार में सब धर्म (सुकृत) आ जाते हैं। 'विवेक जलधेः...'—ज्ञान अगाध है, इसलिये समुद्र की उपमा दी गई है; यथा—"गुरु विवेक सागर जग जाना।" (दो० १८१); "ज्ञान अंबुनिधि आपुन आजू।" (दो० २४२); भाव यह कि श्रीशिवजी के दर्शन एवं ध्यान से

विवेक बढ़ता है। 'वैराग्याम्बुजभास्करं'—वैराग्य से संग-दोष छूटता है, अतः, उसे कमल कहा; यथा—"पदुम पत्र जिमि जग जल जाये।" (दो० ११६); कमल जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे वैराग्य-वान् विषय-वारि से निस्संग रहता है। भाव यह कि श्रीशिवजी का ध्यान वैराग्य का पोषक है। 'अघघन-ध्वान्तापहं'—'ध्वान्त'=अंधकार; यथा—"अंधकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः।" (अमरकोश) 'अपहं'=नाशकर्त्ता 'तापहं'; यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।" (उ० दो० १०७)।

यहाँ पहले धर्म, इन्दु और भास्कर कह कर तब—'अघघन···' कहा, भाव यह कि धर्म एवं सूर्य से अघ रूपी अंधकार का नाश, और चंद्र से ताप का नाश होता है। धर्म से अघ का नाश होता है; यथा—"चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥" (उ० दो० २०); तब चित्त शुद्ध होने पर विवेक होता है, उसके आनंद की प्राप्ति पर विषयों से सर्वथा वैराग्य होता है। पुनः धर्म से वैराग्य और फिर विवेक होता है; यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ग्याना।" (दो० १५); "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। वैसे ही क्रम से यहाँ कहे गये। 'मूलंधर्म' से कर्म, 'विवेक जलधेः' से ज्ञान और 'श्रीरामभूपप्रियम्' से उपासना—क्रम से ये तीनों कांड मंगलाचरण में आये।

(२) 'मोहाम्भोधरपूग···'—जैसे मेघ सूर्य को ढँक लेता है, वैसे मोह ज्ञान को; यथा—"मोह महा घन पटल प्रभंजन···" (लं० दो० ११२); "जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥" (बा० दो० ११६); "ज्ञान भानु गत।" (उ० दो० १२०); श्रीशिवजी मोह के नाशक हैं; यथा—"चिदानंदसंदोहमोहापहारी।" (उ० दो० १००); 'स्वः संभवं'=वायु। वायु आकाश से होता है; यथा—"आकाशाद्वायुः" (तैत्तरीय वल्ली २।१); 'ब्रह्मकुलं'—ब्रह्म-कुल अर्थात् ईश्वर कोटि में हैं; यथा—"विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्।" (उ० दो० १०७; वा, एक रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न भी हुए हैं। अतः, श्रीशिवजी ब्रह्मा के कुल के भी हैं। 'कलंकशमनं'=अपने भक्त चन्द्रमा को ललाट पर धारण करके उसके गुरुतल्पगता का कलंक मिटा दिया; यथा—"यमाश्रितोहिवक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।" (बा० मं०); 'श्रीरामभूपप्रियम्'; यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (बा० दो० १२७); "ते द्विज प्रिय मोहिं जथा खरारी॥" (उ० दो० १०८); इस तरह उभयतः प्रियत्व है। श्रीशिवजी ने अपने हृदय में भूप रूप ही बसाया है; यथा—"अनुज जानकी सहित निरंतर बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (लं० दो० ११२); सती-मोह-प्रसंग का स्मरण कराते हुए, पर-रूप और भूप-रूप की एकता भी इसीमें पुष्ट की।

यहाँ श्रीशिवजी के अष्टांगरूप की वंदना की गई है; यथा—"भूर्जलंवह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशिः रविः। इत्यष्टौ मूर्त्तयः शम्भोर्मङ्गलं जनयन्तु नः॥" अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, यज्ञ, चन्द्रमा और सूर्य ये ही श्रीशिवजी के आठ रूप हैं। यहाँ तरुमूल में पृथिवी, 'जलधेः इन्दु' से जल-तत्त्व, क्योंकि चन्द्रमा जलमय है। 'स्वः' से आकाश, 'स्वः संभवम्' से वायु, सूर्य तेजोमय होने से अग्नि-रूपी भी हैं ही, इस रीति से यहाँ आठो अंग आ गये हैं।

श्रीशिवजी में सूर्य-चंद्र, दोनों के गुण साथ कहे गये हैं, यह आश्चर्य है, अन्यत्र भी इनको एक वाणी में ही दोनों उपमाएँ हैं; यथा—"ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (बा० दो० ११९); "सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रम तम रबिकर बचन मम॥" (बा० दो० ११५)।

यहाँ श्रीशिवजी की ही वंदना पहले है, किष्किन्धाकांड से पीछे हुआ करेगी, क्योंकि श्रीशिवजी श्रीहनुमानजी के रूप से सेवक-भाव में आ जायँगे। वन की उदासीन लीला का वर्णन करना है, इसलिये उदासीन-रूप-समर्थ श्रीशिवजी की वंदना की गई। वन में अधिक वृक्षों और उनके फल-फूल आदि से ही सम्बन्ध रहेगा। इसलिये 'मूल' शब्द और 'वर' शब्द प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि आगे ऋषियों के यहाँ सर्वत्र फल, मूल ही भेंट में प्राप्त होंगे। धर्म और वृक्ष से सुख होता है, इस कांड में सुख होना बहुतों को और बहुत स्थलों पर कहा जायगा; यथा—"रिषि निकाय···सुखी भये।"–श्रीसरभंगजी। "ध्यान जनित सुख पावा"—श्रीसुतीक्ष्णजी। "सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १९)—मुनिलोग। "भगति जोग सुनि अति सुख पावा॥"—श्रीलक्ष्मणजी। ऐसे ही मारीच, रावण, श्रीरामजी, श्रीशबरीजी आदि बहुतों का सुख कहा गया है।

इस कांड में धर्म, विवेक आदि की जो बातें विस्तार से कही जायँगी, उनका इस मंगला-चरण में भी स्मरण किया गया है। अतः, यह वस्तुनिर्देशात्मक मंगला-चरण है। यह शार्दूलविक्रीड़ित छंद है, बा० मं० श्लो० ६ देखिये। इसका प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी वन में निर्भय सिंह की तरह क्रीड़ा करेंगे; यथा—"हम छत्री मृगया वन करहीं।" (दो० १८); "पुरुषसिंह वन खेलन आये।" (दो० २१)।

इस श्लोक में भी 'मूलं धर्म' शब्द से आदि में मगण ही आया है, ऐसे ही सातो कांडों के आदि में है। इससे श्रोता-वक्ता दोनों के कल्याण होंगे।

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

शब्दार्थ—सान्द्र = घना, गहरा; यथा—"घनं निरंतरं सान्द्रमित्यमरः" रामा = सीताजी। रामाभिरामं = श्रीसीताजी को आनन्द देनेवाले। पथिगतं = मार्ग में प्राप्त।

अर्थ—जिनका श्याम-विग्रह, जल बरसानेवाले मेघों के समान सुंदर, एवं आनंदघन है (वल्कलका) पीताम्बर धारण किये हुए, सुन्दर, हाथों में बाण और धनुष लिये हुए, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कश के भार से जिनकी कटि शोभित है। लाल कमल के समान विशाल नेत्रवाले, जटाओं का जूड़ा धारण किये हुए, अत्यंत शोभायमान, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ मार्ग में जाते हुए, श्रीसीताजी को आनंद देनेवाले श्रीरामजी को मैं भजता हूँ।

विशेष—(१) 'सान्द्रानंद पयोद····'—इस चरण में आपका शृंगार स्वरूप कहा है। 'पीताम्बरं' से वल्कल वस्त्रों को ही पीले रंग का होना सूचित किया। इस कांड से राक्षस-वध की प्रतिज्ञा होगी और उसका प्रारंभ होगा, वीररस का केसरियाबाना प्रसिद्ध है। 'सुंदर' क्योंकि इसी वेष में शूर्पणखा और खर आदि भी मोहित होंगे। यहाँ के 'पीताम्बरं' और आगे के—"एक बार चुनि कुसुमसुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥" से यहाँ का गुप्त रास महल भी लक्षित किया गया है, जो कि

चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है। आगे चौ० ३ का विशेष देखिये। 'पाणौ बाणशरासनं···' इस चरण में वीररस का स्वरूप कहा है, 'कटिलसत्तूणीरभारंवरं'—और भार (बोझ) अशोभित होता है, पर वीरों का तर्कश भार सुशोभित है, यथा—"सब सुंदर सब भूषन धारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥" (बा० दो० २१७); श्रीरामजी श्रेष्ठ धनुर्धर हैं; यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥" (लं० दो० ४८); इसीसे श्रेष्ठ तर्कश धारण करते हैं; यथा—"तूणौ चाक्षयसायकौ।" (वाल्मी० मू०); इनसे इसी कांड में खर आदि को मारेंगे।

(२) 'राजीवायतलोचनं'—भक्तों के भय-हरण-प्रसंग में प्रायः राजीवनेत्र कहा जाता है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७); तथा—सुं० दो० ३४ चौ० २ एवं दो० ३१ चौ० १ भी देखिये। यहाँ भी मुनियों के लिये राक्षस वध की प्रतिज्ञा करेंगे और उनके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे; यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।" (दो० ९); इस तीसरे चरण में शांत रस की शोभा कही गई है, क्योंकि मुनियों को सुख दिया है, यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (दो० २०)।

इस कांड में दो ही श्लोकों में मंगलाचरण है, ऐसा ही अगले किष्किंधा-कांड में भी है, क्योंकि इसमें श्रीसीताजी का हरण होगा और दो ही मूर्तियों का साथ रहेगा। फिर किष्किंधा-कांड में भी उनका पता न मिलेगा। सुन्दरकांड में पता मिलेगा, इसलिये फिर तीन श्लोकों से मंगलाचरण होगा। फिर आगे सर्वत्र साथ रहा, इससे वहाँ तीन-तीन श्लोक हैं।

सो०—उमा राम-गुन गूढ़, पंडित-मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म रति॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी के गुण गूढ़ हैं, पंडित और मुनि उनसे वैराग्य प्राप्त करते हैं और जो विशेष मूर्ख हैं, जो हरि-विमुख हैं और जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे मोह को प्राप्त होते हैं।

विशेष—(१) इस कांड के आदि में श्रीशिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व सती-तन की तरह फिर न वैसा संदेह कर बैठना, क्योंकि इसी कांड के चरित्र से तुम्हें वहाँ मोह हुआ था।

इससे पूर्व अयोध्या-कांड में भरत-चरित है, अंत में फलश्रुति में कहा गया है, यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय राम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" उसपर कहते हैं कि श्रीराम-चरित वैसा सरल नहीं है, किंतु गूढ़ है, इसमें पंडित मुनि ही वैराग्य पाते हैं, सब नहीं। पुनः श्रीभरत-चरित में किसीको मोह नहीं है, इसीसे उसमें किसीका सवाद नहीं है। क्योंकि उसमें तो प्रेम ही कहा गया है। श्रीराम-चरित में श्रीभरद्वाजजी, श्रीसतीजी और श्रीगरुड़जी को भी मोह हुआ है, इसीसे इस कांड में श्रीराम-चरित प्रारंभ होते ही छः दोहों में तीनों वक्ताओं ने तीनों श्रोताओं को समाधान किया है; यथा—"उमा राम गुन गूढ़···" उमा को पहले कहा, क्योंकि इन्हें इसी कांड के चरित में मोह हुआ है। पुनः—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता।···भ्राता॥" "सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।" (दो० १); इन में श्रीभरद्वाजजी को 'भ्राता' और श्रीगरुड़जी को 'हरिजाना' कहा है।

(२) 'राम गुन गूढ़'; यथा—"श्रोता बकता ज्ञान निधि, कथा राम कै गूढ़। किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित विमूढ़॥" (बा० दो० ३०); "चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥" (बा० दो० ४६); गूढ़ता यह है कि चरित तो एक ही है, पर उसीमें किसीको मोह होता है और किसीको वैराग्य उत्पन्न होता है। मोह और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं, यह चरित दोनों की उत्पत्ति का कारण है, इसीसे इसे गूढ़ कहा गया कि किसीको कुछ भासता है और किसीको कुछ। गूढ़ अर्थात् जो बुद्धिमानों को भी समझने में कठिन हो।

यहाँ श्रीशिवजी पंडित और मुनि भी हैं, इन्हें वन-लीला से वैराग्य प्राप्त हुआ और सती को मोह हुआ कि इन्होंने पति के सहेतु वचनों पर भी विश्वास न किया, यही इनकी मूढ़ता है; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (कि० दो० ८)। सगुण चरित गूढ़ हैं; यथा—"सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥" (उ० दो० ७३); "राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२१); "कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥" (दो० ३८); इत्यादि।

श्रीजानकीजी के हरण पर पंडितों (सदसद्विवेकिनीबुद्धिवालों) और (मननशील) मुनियों को तो वैराग्य हुआ कि स्त्री ने श्रीरामजी को भी रुलाया, अतएव इससे प्रीति करना उचित नहीं और विमूढ़ों को मोह हुआ कि स्त्री के लिये तो श्रीरामजी भी रोये हैं। अत', यह दुर्लभ वस्तु है। इस कांड के आदि में श्रीरामजी के चरित में जयंत को मोह हुआ और अंत में नारदजी को वैराग्य की शिक्षा प्राप्त हुई। इस रीति से यहाँ कांड-भर का सूक्ष्म चरित आ गया।

'विमूढ़'—ज्ञान-रहित, 'हरि-विमुख'—उपासना-रहित और 'न धरमरति' वाले कर्मकांड-रहित हैं; अर्थात् कांड त्रय रहित ही मोह को प्राप्त होते हैं। जिनमें एक-दो त्रुटियाँ होती हैं, वे सँभल जाते हैं। विमूढ़ों के लक्षण भी बतलाये कि वे हरि विमुख होते हैं और उनकी धर्म में प्रीति नहीं होती।

"वन बसि कीन्हे चरित अपारा"—प्रकरण

पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई। मति अनुरूप अनूप सुहाई॥१॥

अर्थ—पुरवासियों और श्रीभरतजी की उपमा-रहित और सुहावनी प्रीति मैंने बुद्धि के अनुसार वर्णन की॥१॥

विशेष—'पुर-नर-भरत-प्रीति'—कहकर पूर्व कांड से इस कांड का सम्बन्ध मिलाया। पुर नर में 'नर' शब्द नर और नारी दोनों का बोधक है। अयोध्या कांड के पूर्वार्द्ध में पुरवासियों की प्रीति प्रधान थी, उत्तरार्द्ध में श्रीभरतजी की प्रीति के साथ-साथ भी पुरवासियों की प्रीति कही गई है। इनकी प्रीति के उदाहरण भरे पड़े हैं।

'मैं गाई'—अभी ऊपर श्रीशिवजी का संवाद है। अतः, 'मैं' से उन्हींका अर्थ है, साथ में और भी तीनों वक्ता हैं ही। भाव यह कि जैसे प्रभु के चरित गाने योग्य हैं, वैसे उनके भक्तों के चरित भी हैं। 'गाई' पर संदेह होता कि क्या तुमने पूर्ण रीति से वर्णन किया? उसपर कहा कि 'मति अनुरूप'—भाव यह कि पूर्णरूप से तो कोई कह ही नहीं सकता; यथा—"कवि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ

तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥" (अ० दो० २११)। "अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥" (अ० दो० २१०)। मैंने अपनी बुद्धि के अनुरूप कुछ कहा है। ऐसी बड़ों की रीति भी है— मैं मति-अनुरूप ही कहता हूँ; यथा—"मति अनुहारि सुबारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।···" (बा० दो० ४३)—वहीं पर और भी उदाहरण देखिये, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा।

अकथ्य होने से भी 'मति अनुरूप' कहा है; यथा—"कहत सारदहु कै मति होचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे ॥" (अ० दो० २८१)। "बन बसि कीन्हे चरित अपारा" यह श्रीपार्वतीजी का प्रश्न यहाँ से सुन्दरकांड तक 'वन-चरित' के प्रति है।

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन ॥२॥

अर्थ—अब देवताओं, मनुष्यों और मुनियों को भानेवाले प्रभु श्रीरामजी के अत्यन्त पवित्र चरित, सुनो, जो वे वन में करते हैं ॥२॥

. विशेष—(१) 'अब' का भाव यह कि अभी तक प्रभु के दास के चरित कहे गये हैं, अब प्रभु के चरित कहूँगा। 'प्रभु' शब्द का भाव यह कि इस कांड से प्रभुता के चरित होंगे। बालकांड में माधुर्य और ऐश्वर्य कहा और अयोध्याकांड में माधुर्य ही रहा। अरण्यकांड से अब की प्रभुता के चरित प्रधान रहेंगे। इसीसे श्रीरामजी को 'प्रभु' और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के भी ऐश्वय के ही नाम रहेंगे। 'लखन' 'सीय' नाम माधुर्य के हैं, अब ये न रहेंगे। बालकांड में जो ऐश्वर्य के चरित यज्ञरक्षा, धनुर्भंग आदि हुए भी हैं, उनमें मुनि की ओट थी; यथा—"केवल कौसिक कृपा सुधारे।" (बा० दो० ३५१); परन्तु यहाँ से जो जयंत एवं खरदूषण आदि के प्रसंगवाले चरित होंगे, वहाँ ऐश्वर्य छिप नहीं सकता। मुनियों के साथ बर्ताव में भी पहले की अपेक्षा आगे ऐश्वर्य दृष्टि अधिक रहेगी।

(२) 'अतिपावन'—पहले श्रीभरत-चरित परम पुनीत कहा गया है; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू।" (अ० दो० ३२५); अतएव, प्रभु-चरित को भी अतिपावन कहा; अन्यथा श्रीभरत-चरित की अपेक्षा इसमें न्यूनता आती। आगे अंत में पावन-मात्र ही कहा है; यथा—"रावनारि जस पावन" क्योंकि वहाँ ऐसे संदेह का अवसर नहीं है। 'अति पावन' का यह भी भाव है कि आगे गीध, शबरी आदि कितने ही पतितों को तारेंगे।

(३) 'करत जे बन'—ऊपर चौपाई में 'पुर नर' शब्द से अयोध्याकांड को पुर का एवं तत्संबंधी चरित कहा है और आगे के चरित वन-सम्बन्धी ही होंगे, इसीसे इस कांड का अरण्य (वन) कांड नाम भी है। वन के ही चरित किष्किंधा और सुन्दरकांड में भी हैं, पर इस कांड में वन शब्द भी बहुत आये हैं। वन-शब्द से चित्रकूट का भी अगला चरित आ जायगा; यथा—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना ॥" (दो० १)।

(४) 'सुरनरमुनि भावन'—यद्यपि सुर नर मुनि तीनों तीन प्रकार की प्रकृतिवाले होते हैं, तथापि यह चरित तीनों को भानेवाला है; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते ॥" (दो० २०); इस चरित से तीनों के भय दूर हुए, इससे यह सबका भानेवाला कहा गया है। इस कांड में ही श्रीरामजी राक्षसों के निर्मूल करने की प्रतिज्ञा करेंगे और उसका कार्य भी प्रारंभ करेंगे, इससे यह सुरभावन है। मुनियों के लिये भी रक्षार्थ प्रतिज्ञा है और उन सबके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे, इससे मुनिभावन

होगा। इस वन-चरित की फलश्रुति कही गई है—"रावनारि जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग ॥" अतः नरभावन भी कहा गया है। 'सुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि जयन्त पर कृपा करने से देवताओं का भावन होना प्रथम ही है।

यहाँ तक चरित माहात्म्य कहा गया, आगे चरित कहते हैं—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निजकर भूषन राम बनाये ॥३॥
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर ॥४॥

अर्थ—एक समय सुंदर फूलों को चुनकर श्रीरामजी ने अपने हाथों से आभूषण (नूपुर, कंकन, शीशफूल, बंदी और चंद्रिका आदि) बनाये ॥३॥ प्रभु ने आदर-सहित श्रीसीताजी को पहनाया और सुन्दर स्फटिक शिला पर बैठे ॥४॥

विशेष—'एक बार चुनि···'—भाव यह कि ऐसे शृंगार के चरित तो बहुत हुए हैं, पर यह एक बार की बात है—'सुरपति सुत···'। 'सुहाये' से रंग बिरंग के बहुत-से सुन्दर फूलों का चुनना सूचित किया कि जिस भूषण में जहाँ जिस रंग की आवश्यकता हो, वही वहाँ लगाया जाय। 'भूषन बनाये'—बहुवचन क्रिया से अंग-अंग के बहुत-से भूषणों का बनाना सूचित किया। कैकेयी के वचन—"तापस बेष बिसेष उदासी।" के अनुसार रहते हैं, इसीसे राजसी भूषण-भोग त्यागे हुए हैं, इससे अथवा ग्रीष्म ऋतु के अनुसार फूलों के ही भूषण अपने हाथों से रचकर पहनाते हैं कि श्रीसीताजी वनमें प्रसन्न रहें। कहा भी है—"नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। प्रमुदित रहति दिवस जिमि कोकी ॥" (दो॰ १३६); "सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ॥" (दो॰ १४०); वे सब यहाँ चरितार्थ हैं। इसी प्रसंग पर गी॰ अ॰ ४४ में कहा है—"फटिक सिला मृदु बिसाल···सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग, तिलक करनि का कहौं कला निधान की। माधुरीविलास हास गावत जस तुलसिदास बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥" तथा—"अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम। शिलामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्। मनः शिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः। त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥" (वाल्मी॰ ५।४०।४-५); इन वचनों से यह शृंगार-रहस्य जयंत-प्रसंग का कारण-रूप है।

बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में श्रीसीतारामजी का यहाँ रास-विहार भी कहा गया है; यथा—"चित्रकूटसमं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके। यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुखः। विमलादिसखायुक्तस्त्वणिमादिविभूतिभिः। सप्तावरणसंयुक्ते मन्दिरे रत्नभूषिते ॥ पर्वतस्थानरासेऽसौ विहारं कुरुते सदा ।···" वह प्रसंग भी यहाँ लक्षित किया गया है कि तरह-तरह के शृंगार-रहस्य हुए, उनमें एक बार की यह बात है।

(२) 'बैठे फटिक सिलापर सुन्दर'—स्फटिक-शिला विशाल थी और प्रभु के संबंध में कोमल बन गई थी—'मृदु बिसाल' ऊपर कहा ही है।

श्रीचित्रकूट में इस समय जहाँ स्फटिक-शिला है, वहाँ उसमें उस समय के कोमल हो जाने के चिह्न बने हुए हैं। वहाँ एक देवांगना प्रसिद्ध तीर्थ भी है, जिसका वृत्त यह है कि जयन्त को स्त्री देवांगनाओं के साथ प्रभु की रास-क्रीड़ा देखने आई हुई थी, वह देखकर मोहित हो गई और उस स्थल पर रही, इसीसे वह तीर्थ है।

"सुरपति सुत करनी"—प्रकरण

सुरपति-सुत धरि बायस बेखा। सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥५॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद-मति पावन चाहा ॥६॥

अर्थ—देवराज इन्द्र का पुत्र (जयंत) कौए का वेष धरकर मूर्ख, रघुनाथजी का बल देखना चाहता है ॥५॥ जैसे चींटी समुद्र की थाह लेना चाहे, वैसे ही महानीचमति जयन्त ने उनके बल की थाह पानी चाही ॥६॥

विशेष—(१) 'सुरपति सुत धरि······'—'सुरपति सुत' का भाव यह कि बड़े की परीक्षा बड़ा ही कर सकता है। श्रीरामजी का बल जाँचना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं था, इससे देवराज का पुत्र जो कि अपने बाप के समान बली था, वही आया। यह भी भाव है कि अपने बाप के बल का भरोसा करके आया। यह एक तो देवता है, दिव्य देहवाला, फिर देवराज का ज्येष्ठ पुत्र युवराज है। तब भी पक्षियों में चांडाल कौआ बना, क्योंकि महान् लोगों के साथ छल करनेवाले की जैसी गति होती है, वैसी ही बुद्धि हो गई। इसका बाप इन्द्र भी तो छली, मलिन और अविश्वासी कौए के-से स्वभाववाला है; यथा—"काक समान पाक रिपुरीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (अ० दो० ३०१); पुत्र में भी वैसे ही स्वभाव का हो जाना आश्चर्य नहीं। इसीसे इसने भी छल करना चाहा; यथा—"ता सन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन गेह॥" (दो० १); 'धरि बायस बेषा'—यह चांडाल का-सा कर्म करेगा, इसीलिये वैसा ही शरीर भी धारण किया; यथा—"सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥" (उ० दो० ११२); इसमें भी शाप देते हुए 'सठ' कहा है, वैसा ही यहाँ भी—'सठ चाहत···' कहा गया है।

'सठ चाहत रघुपति···'—चाहता है कि अपना काम भी कर लूँ, और कोई जाने भी नहीं, पर इसे और इसके नीच कर्म को तीनों लोक जानेगा। परिणाम को नहीं सोचा, सहसा अनुचित कार्य में प्रवृत्त हो गया, इसीसे शठ कहा गया। 'चाहत'—इसका कारण यह है कि सब देवता तो रावण-वध की प्रतीक्षा में थे और श्रीरामजी रात-दिन शृङ्गार-कुतूहल में रँगे हैं। इससे इनकी ईश्वरता और बल में उन्हें संदेह हुआ, जैसे श्रीकृष्ण भगवान् की बालक्रीड़ा में श्रीब्रह्माजी को मोह हुआ। बल की व्यवस्था आगे कहते हैं—

(२) 'जिमि पिपीलिका सागर थाहा।'—श्रीरामजी का बल अथाह समुद्र के समान है; यथा—"महिपमती को नाथ साहसी सहस्र बाहु, समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक में। सहित समाज महाराज सो जहाज राज, बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक में। टूटत पिनाक के मनाक बाम राम से, ते नाक बिनु भये भृगु नायक पलक में॥" (क० लं० २५); तथा—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वेता० ६।८); ऐसे अथाह एवं अप्रमेय बल की परीक्षा जयन्त कौआ-रूप से करना चाहता है, इसीसे चींटी और समुद्र का दृष्टान्त दिया। 'पावहिं मोह बिमूढ़' यह उपर्युक्त वाणी यहीं चरितार्थ हुई। इसीसे 'महामंद मति' कहा गया। क्योंकि जो मन-बुद्धि की तर्क से बाहर एवं अप्रमेय है, उसे यह देखना चाहता है।

वायस-शरीर धरने का यह भी कारण कहा जाता है कि वाल्मी० उ० सर्ग १८।१० में यमराज ने कौए को वरदान दिया है कि वह मनुष्य को छोड़ औरों से अवध्य हो, इसीसे इसने सोचा कि ये मनुष्य होंगे, तो मेरा कुछ कर ही न सकेंगे और ईश्वर होंगे, तो उक्त वर की रक्षा करते हुए मुझे न मारेंगे। दूसरा यह कारण है कि काकभुशुंडीजी श्रीरामजी के परम भक्त हैं, कदाचित् मैं चूका भी हूँगा, तो उस नाते से मुझे न मारेंगे; यथा—"प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।" कहा ही है।

सीताचरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंद-मति कारन कागा ॥७॥
चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना ॥८॥

अर्थ—मूर्ख कौआ मन्दबुद्धि होने के कारण श्रीसीताजी के चरणों में चोंच मारकर भागा ॥७॥ खून बह चला तब श्रीरघुनाथजी ने जाना और धनुष पर सींक का बाण रखकर चलाया ॥८।

विशेष—(१) 'सीताचरन चोंच···'—यह प्रसंग वाल्मी० सुं० सर्ग ३८ में विस्तार से कहा गया है। भेद इतना ही है कि वहाँ 'विददार स्तनान्तरे' कहा गया है और इस ग्रंथ में चरणों में चोंच मारना कहा गया है। यह कल्प-भेद है।

वाल्मीकीय रामायण में लिखा है—श्रीसीताजी श्रीरामजी की गोद में सो गई थीं, बहुत देर पर उठीं, तब श्रीरामजी उनकी गोद में सो गये, तब कौए ने आकर स्तनों में घाव किया, चोंच मारी। उस समय गिरे हुए रक्त-बिन्दुओं से श्रीरामजी जाग पड़े और उस कौए को देखा।

पतिव्रता-शिरोमणि श्रीजानकीजी ने आघात सह लिया, पर उन्होंने सोये हुए अपने स्वामी को नहीं जगाया। यह एकान्त का रहस्य है, इसलिये कवि ने व्यंजना से कथा-द्वारा हो बतलाया है। श्रीलक्ष्मण-जी भी वहाँ न थे। सम्भवतः रहस्य-स्थल समझकर पृथक् रहे हों और इसीसे वह कौआ भी बना कि जिससे घरों में जाने से रोक न हो। या, वे कदमूल आदि लाने को गये रहे हों। 'सीताचरन' को वाल्मीकीय रामायण से भी अविरोध दिखाने के लिये लोग 'सीता-आचरन' ऐसा पदच्छेद करके यही अर्थ कर लेते हैं, अंचल को आँचर कहते हैं; यथा—"दुहुँ आचरन्ह लगे मनि मोती।" , बा० दो० ३२६); 'अंचरा पिलाना=स्तन पिलाना' यह मुहावरा है। यह व्यंजनात्मक प्रसंग है, इससे मर्यादा रखते हुए कहा गया है। यह उनका मत है। कोई यों भी कहते हैं कि 'श्रीसीताजी (को) चरण और चोंच (दोनों) से मारा। किस अंग में मारा ? यह वाल्मीकीय मत ही का अध्याहार कर लें।

इन तरह तरह के अर्थों की आवश्यकता नहीं। कल्पभेद की दृष्टि से इतना भेद ही रहेगा तो कोई हानि नहीं, इससे सरलार्थ छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

'मूढ़ मंद मति ···'—उत्तरार्द्ध में चोंच मारने का कारण कहा कि उसे अपने परिणाम का ज्ञान नहीं रहा, अपने हाथों से मरने का उपाय रचा। अतः, मूढ़ कहा गया; यथा—"जातु धान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥" (सुं० दो० २४); श्रीरघुनाथजी का बल और प्रभुत्व नहीं जाना, इससे 'मंदमति' कहा गया ; यथा—"अतुलित बल, अतुलित प्रभुताई। मैं मति मंद जानि नहिं पाई॥" (दो० १); 'कागा' के भाव ऊपर कहे ही गये हैं कि वह छली, मलिन और अविश्वासी है।

(२) 'चला रुधिर रघुनायक जाना ।'—'चला' अर्थात् वह चला, तब लेटे हुए आपके शरीर में स्पर्श हुआ, इससे जाना । 'रघुनायक'—'रघु' यह संज्ञा जीव-मात्र के लिये है, ये जीव-मात्र के नायक हैं। तो क्यों न जान लें ? सब जान लिया कि यह इन्द्र का पुत्र जयंत है। कौआ बनकर बल की परीक्षा के लिये आया है तभी तो ब्रह्मास्त्र चलाया है और रुधिर का जानना तो है ही । स्वयं जाना, श्रीजानकीजी ने नहीं कहा, ऐसा सुशील स्वभाव है। ऐसे ही जब श्रीकौशल्याजी ने पूछा—"तात सुनावहु मोहि निदानू ।···" (अ० दो० ५१) ; तब श्रीकैकेयीजी के अपराध को श्रीरामजी ने भी स्वयं नहीं कहा, किंतु सचिव-सुत ने कहा था । अतः, उनका भी ऐसा ही सुशील स्वभाव है ।

'सींक धनुष सायक संधाना'—यह विहार-स्थल था, इससे धनुषबाण साथ नहीं था । इससे सींक का ही धनुष बना और उसपर बाण भी सींक ही का बनाकर संधान किया । भाव यह भी है कि वह परीक्षा लेने आया है, सींक के बाण का भी आश्चर्य-जनक प्रभाव देखेगा, तो उसे मेरे अपरिमित प्रभाव की प्रतीति हो जायगी । वा, उसे तुच्छ जानकर तुच्छ सींक ही का बाण चलाया । उसे यह भी दिखाया कि काम ने फूल के ही धनुष-बाण से तीनों लोकों को वश कर रक्खा है, हम सींक से ही सबको मार सकते हैं । पुनः उसे थोड़ा ही बल दिखाना है, इससे भी सींक ही का बाण चलाया ; यथा—"सुरपति सुत जानेउ बल थोरा ।" (लं० दो० ३५) ; श्रीरामजी के स्वकीय बाण अमोघ हैं और इसे मारना नहीं है, इससे भी सींक ही चलाई ।

दोहा—अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह ।
तासन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन - गेह ॥१॥

अर्थ—रघुकुल के नायक श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, जिनका दीनों पर सदा स्नेह रहता है, उनसे भी अवगुणों का घर मूर्ख जयन्त ने आकर छल किया ॥१॥

विशेष—श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, इसीसे मुनि, देव, भूमि आदि पर कृपा करके प्रिय परिवार और श्रीअवध का राज्य छोड़कर वन को आये । सदा दीनों पर ही स्नेह करनेवाले हैं । रघु महाराज सर्वस्व-दान करके भी दीनों पर दया का पूर्णतया निर्वाह करते थे, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं और सब लायक हैं; यथा—"पुनि मन बचन करम रघुनायक । चरन कमल बंदउँ सब लायक ॥" (बा० दो० १७) ; फिर इनसे तो छल करना ही न चाहता था ; यथा—"मान्य मीत सों हित चहै, सो न छुवै छल छाँह । ससि त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि तुलसी मन माँह ॥" (दोहावली ३२७) । 'सदा दीन पर नेह'; यथा—"जेहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई ।" (वि० १६५) ; ऐसे स्वामी से भी आकर इसने छल किया, इससे वक्ता लोग इसे मूर्ख और अवगुण गेह कहते हैं ।

प्रेरित मंत्र ब्रह्म - सर धावा । चला भाजि बायस भय पावा ॥१॥
धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं । राम-बिमुख राखा तेहि नाहीं ॥२॥
भा निरास उपजी मन त्रासा । जथा चक्र-भय रिषि दुर्बासा ॥३॥

ब्रह्म-धाम सिव-पुर सब लोका । फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥४॥
काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥५॥

अर्थ—ब्रह्मास्त्र के मंत्र से प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा, कौआ डर गया और भाग चला ॥१॥ अपना (वास्तविक) रूप धरकर पिता (इन्द्र) के पास गया, उसने इसे श्रीराम-विरोधी जानकर नहीं रक्खा ॥२॥ तब वह निराश हो गया, उसके मन में डर उत्पन्न हो गया, जैसे दुर्वासा ऋषि को चक्र से डर हुआ था ॥३॥ ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि समस्त लोकों में भागता फिरा, श्रमित होकर भय और शोक से व्याकुल हो गया ॥४॥ किसीने उसे बैठने तक न कहा, (क्योंकि) श्रीरामजी के द्रोही को कौन रख सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेरित मंत्र ब्रह्म सर' '; यथा—"स दर्भं संस्तरादगृह्य ब्राह्मणोऽस्त्रेण योजयत् । स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम् ॥" (वाल्मी० ५।३८।३१) ; अर्थात् कुश के आसन से एक कुश निकालकर उसे ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित किया, वह प्रलय काल की अग्नि के समान उस पक्षी की ओर होकर जलने लगा । ब्रह्मास्त्र की अपार महिमा है ; यथा—"ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार । जौ न ब्रह्म सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥" (सुं० दो० १९) ; तथा—"ब्रह्म बिसिख ब्रह्मांड दहन छम" (वि० २११) ; वह बाण देखने में सींक था, पर उसमें तेज ब्रह्मास्त्र का था, जैसे कि वह देखने में कौआ, पर था जयंत देवराज का पुत्र ।

(२) 'धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं ।'''—अपना रूप इसलिये धारण किया कि जिससे पिता पहचान ले और पुत्र जानकर प्रीति से रक्षा करे । पिता को पुत्र प्यारा होता है ; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की'''" (वि० २६८) । 'राम बिमुख '''—राम-विमुख को नरक में भी ठौर नहीं मिलता ; यथा—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं ।" (अ० दो० २५१); तब स्वर्ग में कैसे ठौर मिले ; यथा—"बरषा को गोबर भयो, को चहै कोकरै प्रीति । तुलसी तू अनुभवहि अब, राम बिमुख की रीति ॥" (दोहावली ७१) ।

(३) 'भा निरास उपजी मन त्रासा ।'—पिता देवराज हैं, समर्थ हैं, जब उसने ही नहीं रक्खा, तो दूसरा कौन रक्खेगा, इससे निराश हो गया और डर गया । आगे कहा है—"मातु मृत्यु पितु समन समाना ।'''" इससे जान पड़ता है कि पिता उल्टा इसे और मारने दौड़ा । इससे हृदय से भय उपजा ; यथा—"स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः । त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ॥" (वाल्मी० ५।३८।३२) ; 'जथा चक्रभय'' '—दुर्वासा की कथा पूर्व अ० दो० २१७ चौ० ७ में देखिये । वहाँ १ वर्ष लगा और अम्बरीष की ही शरण में रक्षा हुई । वैसे यहाँ भी १ वर्ष भागता रहा, पीछे श्रीसीताजी की कृपा से शरणागति स्वीकृत हुई, तब रक्षा हुई और विष्णु भगवान् के चक्र के समान श्रीरामजी का सींक-बाण तेजस्वी हुआ ।

(४) 'ब्रह्म धाम सिवपुर '''''—पहले ब्रह्मा के लोक को गया कि बाण उनके मंत्र से योजित है, वे चाहें तो बचा लें । फिर शिव-लोक को गया कि वे प्रलय समर्थ के देवता हैं, बचा लें । फिर सब लोकपालों के यहाँ गया, लोक-पाल ; यथा—"रबि ससि पवन बरुन धनधारी । अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥" (बा० दो० १८१) ; इनसबों ने उत्तर दे दिया । 'श्रमित'—करोड़ों योजन चला, व्याकुल हो गया कि अब जीता न बचूँगा । 'भय'—ब्रह्मास्त्र का, 'सोका'—बुरे कृत्य का । कहा भी है—"जौ खल भयेसि राम कर द्रोही । ब्रह्म रुद्र सक राखि न ओही ॥" (लं० दो० २१) ।

(५) 'काहु बैठन कहा न ओही ।'—श्रीरामजी सबकी आत्मा हैं। अतः, इनका द्रोही सभी का द्रोही हो गया, इसीसे उसे किसीने बैठने तक न कहा। कवि भी उसे 'ओही' इस ओछे सर्वनाम से कहते हैं। यद्यपि शरणागत की रक्षा करना धर्म है, तथापि ईश्वर और साधु के द्रोही की सहायता करना भी अधर्म है। यदि कोई हठात् रक्षा करने के लिये उद्यत भी हो, तो कहते हैं—'राखि को सकइ राम कर द्रोही।'—अर्थात् जिसे अपनी भी दुर्दशा करानी हो, वही ऐसे का पक्ष ले। श्रीरामजी से कोई जीव भी तो नहीं सकता; यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्त को वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनाथ को वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य" (वाल्मी० ५।५१।४४)।

मातु मृत्यु पितु समन-समाना। सुधा होइ विष सुनु हरिजाना ॥६॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी ॥७॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर-बिमुख सुनु भ्राता ॥८॥

शब्दार्थ—समन (शमन) = यम। वैतरणी = एक भयंकर दुःखद नदी जो यम के द्वार पर मानी जाती है। मरने के पहले जिसने गोदान किया है, वह सुख से पार हो जाता है। इसमें बदबूदार लहू, हड्डियाँ आदि भरे रहते हैं। इसका विस्तार दो योजन माना गया है।

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनो, हे भ्राता! सुनिये, जो रघुवीर श्रीरामजी से विमुख है, उसके लिये उसकी माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विष के समान हो जाते हैं। मित्र सौ शत्रुओं की करनी करता है और गंगाजी उसे वैतरणी हो जाती हैं। सारा जगत् उसे अग्नि से भी अधिक तप्त हो जाता है ॥६–८॥

विशेष—'मातु मृत्यु···सुनु भ्राता।'—यहाँ यह दिखाया कि राम-विमुख के सभी उल्टे हो जाते हैं। माता-पिता पालनेवाले हैं, वे ही मृत्यु और यम की तरह मारने और दुर्दशा करनेवाले हो जाते हैं। अमृत, अमरत्व छोड़कर मृत्युकर हो जाता है। मित्र अन्य शत्रु से बचानेवाला है, वही सैकड़ों शत्रुओं का काम करने लगता है। गंगाजी तारनेवाली हैं, वही कष्टदायक हो जाती हैं। संसार-भर उसे कष्टदायक ही हो जाता है; यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्यालु सम दाम ॥" (बा० दो० १७५)। 'सुनु भ्राता' से श्रीयाज्ञवल्क्य का श्रीभरद्वाजजी से कहना भी हो सकता है; यथा—"को सिव सम रामहि प्रिय भाई।" (बा० दो० १०४)।

यह तो राम विमुखता की गति कही गई, श्रीराम-कृपा-पात्र की ठीक इससे उल्टी व्यवस्था है; यथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही ॥" (सुं० दो० ४); इसे जल, थल और नभ कहीं भी ठौर न मिली—'गयउ पितु पाहीं'—स्वर्ग (नभ) में, 'बिबुध नदी···'—जल में और 'सब जग'—स्थल में।

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता ॥ ९ ॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही ॥१०॥
आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई ॥११॥

अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई ॥१२॥
निज कृत कर्मजनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥१३॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने जयन्त को व्याकुल देखा, दया लगी, (क्योंकि) सन्तों का चित्त कोमल होता है ॥९॥ (श्रीनारदजी ने) उसको तुरत श्रीरामजी के पास भेजा, (श्रीनारदजी के शिक्षानुसार) उसने पुकारकर कहा कि हे प्रणत हित ! मेरी रक्षा कीजिये ॥१०॥ भय और आतुरता (व्याकुलता एवं शीघ्रता) सहित उसने जाकर चरण पकड़ लिये, और कहा कि हे दयालु ! हे रघुराज ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥११॥ आपका बल और प्रभुता दोनों अतुल हैं। मैं मंदबुद्धि उसको नहीं जान सका ॥१२॥ अपने किये हुए कम से उत्पन्न फल मैंने पा लिया, हे प्रभो ! अब मेरी रक्षा कीजिये, शरण तककर (मानकर) आया हूँ ॥१३॥

विशेष—(१) 'नारद देखा बिकल जयंता।···'—श्रीनारदजी इसे यथार्थ ज्ञान देंगे, इसीसे इनको 'नारद' कहा है; यथा—'नारं ज्ञानं ददातीति नारदः' अर्थात् नार का अर्थ ज्ञान और द का देनवाला है। 'लागि दया···'—संत हैं, इससे दया हो आई; यथा—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३८); यह संतस्वभाव है। भगवान् के भी कोप से संत ही बचा सकते हैं। इसीसे तो कहा है—"राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ० दो० ११९)। जब उसकी मृत के तुल्य दशा हो गई, तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीनारदजी आ गये और उसे बचा लिया, नहीं तो मरा ही था।

(२) 'पठवा तुरत राम पहँ···'—भागते हुए समय में ही कहा कि दूर से ही पुकारकर कहना, जिससे सुन लें। पुकारकर कहने से अभिमान टूटेगा और दीनता आवेगी, तब वह प्रपत्ति का अधिकारी होगा, क्योंकि श्रीमुख-वचन हैं—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४); प्रभु का यह स्वभाव श्रीनारदजी जानते हैं; यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जा कहँ कतहुँ न ठाँउ। आये सरन भजउँ न तजउँ तेहि यह जानत रिषि राउ॥" (गी० सुं० ४५)।

पहले दूर से पुकारकर कहेगा कि हे प्रणतहित ! पाहि (रक्षा कीजिये), यह वाचिकी-मात्र प्रपत्ति करेगा, तब पीछे कायिकी, वाचिकी और मानसी करेगा। ऐसा ही विभीषण ने भी किया है कि पहले दूर से पुकार कर कहा, तब उन्हें वानरों से अभय मिला, फिर समीप जाकर विधिवत् शरणागति की। अभियुक्तों ने कहा भी है—"काक तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः।" (भट्टार्क स्वामी)।

पहले राम-विमुख जानकर कवि ने उसका नाम भी न लिया था। 'मोही' शब्द से संकेत किया था। जब दीनता पर प्रभु की दया से संत के दर्शन हुए तब उसके पाप नाश हुए; यथा—"संत दरस जिमि पातक टरई।" (कि० दो० १६)।

पहले श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी ही समझा सकते थे, पर इसका पूर्ण अभिमान नहीं टूटा था, इस मर्म को जानकर उन्होंने नहीं समझाया था; यथा—"तातें उमा न मैं समुझावा। रघुपति कृपा मरम मैं पावा॥ होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना॥" (उ० दो० ६१)।

(३) 'आतुर सभय गहेसि···'—'आतुर'—श्रीनारदजी ने 'पठवा तुरत' इससे यह 'आतुर' आया। पहले तुरत वचन से पुकारा और फिर तुरत ही आया भी। मन, वचन, कर्म तीनों से शरण हुआ—'सभय' से मन, 'गहेसि' से कर्म और 'त्राहि-त्राहि···' कहने में वचन सूचित किया। 'आतुर

सभय' की व्यवस्था पद्मपुराण में कही गई है; यथा—"पुरतः पतितं देवो धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥ प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्। त्राहित्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्॥" इस प्रसंग से श्रीजानकीजी की निःसीम दया दिखाई गई है कि अभी ही उसने बिना कारण अंग विदीर्ण किया है, आपने स्वामी श्रीरामजी से कहा भी नहीं, जब वह अपने कर्म-फल से दुखित हो भय से घबड़ाकर शरण में आया, तब उल्टा गिरा; अर्थात् श्रीरामजी की ओर पाँव और महारानीजी की ओर शिर हुआ। तब श्रीजी ने कृपा करके उसका सिर प्रभु के चरणों में लगा दिया और उसकी अंतिम दशा पर स्वामी से उसकी रक्षा के लिये 'त्राहि-त्राहि' कहकर उसे बचाया; यथा—"स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतं। वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥" (वाल्मी० ५।३८।३३); इस तरह श्रीसीताजी की जीवों की शरणागति में पुरस्कार-रूपा सूचित किया। वाल्मीकिजी ने यही लक्षित कराया है; यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥" (अ० स० ३१।२); 'त्राहि त्राहि'—भय की वीप्सा है; अर्थात् डर के मारे बार-बार कहा। 'रघुराई'—रघुकुल ही शरण्य है। आप तो उस कुल के राजा हैं, मुझे शरण दें, पुनः रघु=जीव-मात्र के राजा हैं। अतः, मुझ नीच जीव को शरण दें।

(४) 'अतुलित बल ···'—परीक्षक ने स्वयं स्वीकार किया कि परीक्षा मिल गई, आप अतुलित बल एवं प्रभुतावाले हैं। मतिमंद होने के कारण मैं पहले न जान सका था। इसीसे अनजान की चूक क्षम्य है; यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (बा० दो० २८१)।

(५) 'निज कृत कर्म जनित ······'—अर्थात् इसमें आपका कोई दोष नहीं, मैंने अपने कर्म ही का फल पाया; यथा—"निजकृत करम भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१); 'प्रभु'—अर्थात् आपके समान समर्थ चौदहो भुवनों में कोई नहीं है। यह मैंने घर-घर टटोलकर देख लिया; यथा—"त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः।" (वाल्मी० ५।३८।३३)।

सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥१४॥

सोरठा—कीन्ह मोह-बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर-सम॥२॥

अर्थ—(श्रीशिवजी कहते हैं कि) हे भवानी! कृपालु श्रीरामजी ने उसके अत्यन्त आर्त्त वचन सुनकर उसे एक आँख का करके छोड़ दिया॥१४॥ उसने मोह के वश होकर द्रोह (शत्रुता) की थी, (इसपर) उसका वध ही उचित था, तथापि प्रभु ने कृपा करके उसे छोड़ दिया। अतः, रघुवीर श्रीरामजी के समान कृपालु कौन है? (कोई नहीं)॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि कृपाल ···'—अति आरत बानी'; यथा—"प्रनत पाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करै गो तोहि॥" (लं० दो० २०); वैसे जयंत ने भी कहा है—"प्रनतहित पाही", "त्राहि-त्राहि दयालु रघुराई", "अब प्रभु पाहि" इससे श्रीरामजी ने अभय किया। 'अति' शब्द का भाव यह कि थोड़ी भी दीनता को मान लेते हैं; यथा—"सुनत बिनीत बचन प्रभु, कह कृपालु मुसुकाइ।" (सुं० दो० ५१)।

'एक नयन करि तजा भवानी'—इससे बाण की अमोघता भी रक्खी और उसे शिक्षा भी हुई। एक आँख ही फोड़ी, क्योंकि और कोई भी अंग-हीन होने से (जैसे कि एक हाथ एवं एक पैर के काटने से) सदा दुःख रहता, पर एक आँख रहने से दोनों का काम हो जाता है। यह बाण-मर्यादा की रक्षा के साथ उसपर दया है।

(२) 'कीन्ह मोह-बस द्रोह······'—द्रोह का कारण मोह है; यथा—करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ० दो० ३६); 'जद्यपि तेहि ···'—श्रीपार्वतीजी को संदेह हुआ कि जब एक आँख फोड़ी ही, तब शरण होने का क्या फल हुआ ? इसपर श्रीशिवजी न्याय-दृष्टि से कहते हैं कि वध-दंड के बदले एक ही अंग (वह भी उसकी सम्मति से) लेकर छोड़ दिया, इसमें न्याय और छोह दोनों की रक्षा की। यथा—"वमब्रवीत। मोघमस्त्रं न शक्यं तु माह्मं कर्तुं तदुच्यताम्॥ ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्। दत्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः॥" (वाल्मी० ५।३८।३४–३५)। अतः, आँख फोड़ने में भी कृपालुता है; यथा—"वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥" (वाल्मी० ५।३८।३३); अर्थात् महर्षिजी का भी ऐसा ही सम्मत है।

(३) 'प्रभु छाड़ेउ ··को कृपालु···'—सामर्थ्य रहते हुए क्षमा करके कृपा करना प्रायः नहीं देखा जाता, क्योंकि क्रोध में शान्ति का रहना दुर्लभ है; यथा—"क्रोधिहिं सम···ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७); "येहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तो मैं काह कोप करि कीन्हा॥" (बा० दो० २७८); पर श्रीरामजी में यहाँ चरितार्थ है। इसीसे इस प्रसंग के आदि, मध्य और अंत में भी कृपा-गुण कहा गया है; यथा—"अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह।" "सुनि कृपाल अति आरत बानी।" और—"को कृपालु रघुवीर सम।"

इस चरित्र से प्रभु ने अपना बल और प्रताप प्रकट करके सबको दिखाया और देवताओं को धैर्य हुआ कि जब देवराज के पुत्र के शरण होने पर भी श्रीसीताजी के अपराध पर आँख फोड़ी गई, तब इन्हीं (श्रीसीताजी) का अपराध करके अभिमानी राक्षस रावण कैसे बच सकेगा? 'श्रीसीताजी ने कहा भी है—"मेरे लिये एक काक पर जिन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे (श्रीरामजी) उसे कैसे क्षमा कर रहे हैं, जिसने मेरा हरण किया है।" (वाल्मी० ५।३८।३०)।

रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा-समाना॥१॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहिं मोहि जाना॥२॥
सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीतासहित चले दोउ भाई॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने चित्रकूट में बसकर अनेक चरित किये, जो कानों को अमृत के समान (प्रिय) हैं॥१॥ फिर श्रीरामजी ने मन में ऐसा विचार किया कि मुझे सभी जान गये, इससे वहाँ भीड़ होगी॥२॥ (अतः) सब मुनियों से बिदा करा के (वहाँ से) श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई चले॥३॥

विशेष—(१) 'रघुपति चित्रकूट बसि ·····'—इसका उपक्रम—"अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन।···" से हुआ, यहाँ—'रघुपति चित्रकूट···' पर उपसंहार हुआ। इसके अंतर्गत नाना चरित किये, पर उनमें एक बार का ही यहाँ कहा गया; यथा-'एक बार चुनि ···' जिसमें कि अंत में जयंत ने विघ्न किया।

वे चरित भी श्रति-सुधा समान ही थे; अर्थात् सब शृंगार रस के थे और उनके अंतर्गत अन्य रस भी थे। जैसे कि इस एक रस में वर्णित हैं—(१) फूलों के भूषण बनाकर सादर पहनाने में शृंगार रस की पराकाष्ठा है, (क्योंकि यहाँ यही प्रधान है), (२) मुसकान सहित कुछ छेड़छाड़ में हास्य, (३) इसी समय जयन्त के कर्त्तव्य से रक्त को चलना वीभत्स, (४) उसपर प्रभु को क्रोध आना रौद्र, (५) सींक-वाण में भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना वीर, (६) जयन्त का भय से भागना भयानक, (७) दो ही अंगुल पीछे ब्रह्मास्त्र रहा, पर वह जला नहीं, यह अद्भुत, (८) शरण आने पर क्षमा करना, करुणा और (९) सब होने पर भी चित्त स्थिर है, शांत।

श्रीवाल्मीकि मुनि ने कहा था—"चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥" (अ० दो० १३१); अतः,—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये ··" यहाँ चित्रकूट निवास की पूर्ति कही गई।

(२) 'होइहि भीर ····'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के लोग सब जान गये हैं, किसी-न-किसी बहाने से आते-जाते रहेंगे, इससे भीड़ हुआ करेगी। यह हमारी विशेष उदासीन वृत्ति के विरुद्ध होगा। वा, जयंत-प्रसंग से यहाँ के लोग ऐश्वर्य जान गये; अतः, भीड़ हुआ करेगी।

(३) 'सकल मुनिन्ह सन बिदा ····'—विदा होकर जाना शिष्टाचार है; यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन ··" (बा० दो० ४७); "गवन राउ गृह बिदा कराई।" (बा० दो० २१९); 'सकल'—से विदा कराके जाने में सबको संतोष होगा और आपका सरल स्वभाव भी सब जानेंगे। आगे भी कहेंगे—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (दो० ९)।

"प्रभु अरु अत्रि भेंट"—प्रकरण

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥४॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाये। देखि राम आतुर चलि आये॥५॥
करत दंडवत मुनि उर लाये। प्रेम-बारि दोउ जन अन्हवाये॥६॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी जब अत्रि मुनि के आश्रम में गये, तब वे महा मुनि सुनते ही आनंदित हो गये॥४॥ श्रीअत्रिजी शरीर से पुलकित हो गये और उठ दौड़े, (मुनि को दौड़े आते हुए) देखकर श्रीरामजी बड़ी शीघ्रता से चलकर आये॥५॥ दंडवत् करते ही मुनि ने उनको हृदय से लगा लिया और अपने प्रेमाश्रुओं से दोनों जनों को नहला दिया॥६॥ श्रीरामजी की छवि देखकर नेत्र शीतल हुए, तब मुनि आदर सहित उनको अपने आश्रम में लाये॥७॥

विशेष—(१) 'अत्रि के आश्रम ··'—चित्रकूट से चले, तब 'दोउ भाई' कहा गया; यहाँ 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि श्रीअत्रिजी इनके ऐश्वर्य को मानकर दौड़ेंगे। अभी आश्रम की सीमा पर पहुँचे हैं। यह स्थल श्रीचित्रकूट (रामघाट) से ७ मील पर है, वहाँ से श्रीअत्रिजी की कुटी १ मील पर है, जिसे आगे ८ वीं अर्द्धाली में कहेंगे। अर्द्धाली के क्रम में ७ वीं पर मिलना और ८ वीं पर कुटी लिखकर मील का माप

भी बता दिया'। ऐसे ही वाल्मीकि आश्रम पर आते समय भी दो बार आश्रम लिखा गया है ; यथा—"वाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।" (अ० दो० १२४) और—"करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ० दो० १२४) ; यहाँ के-से वहाँ भी दो जगहों के अर्थ हैं।

'सुनत महामुनि ···'—कोल भीलों ने कहा होगा ; यथा—"सब समाचार किरात कोलन्ह आइ तेहि अवसर कहे।" (अ० दो० २२६) ; 'हरषित भयऊ'—यहाँ मन का हर्ष है। आगे—'पुलकित गात' में बाहर का भी हर्ष कहा है। 'महामुनि'—यहाँ के मुनियों में ये प्रधान हैं ; यथा—"रिषि नायक जहँ आयसु देहीं।" (अ० दो० २०७) इसीसे और को 'मुनिन्ह' कहा है ; यथा—"सकल मुनिन्ह सन···" और इन्हें 'महामुनि'।

(२) 'पुलकित गात अत्रि उठि धाये।'—भीतर-बाहर हर्ष भर गया और उठ दौड़े ; यथा—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥" (दो० ९)—सुतीक्ष्ण मुनि, "सुनत अगस्ति तुरत उठिधाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥" (दो० ११)। 'देखि राम आतुर चलि आये।'—मुनि सुन चुके थे, इससे आश्रम से ही उठ दौड़े और श्रीरामजी ने जब मुनि को देखा, तब तेजी से चल कर आये। ये दौड़े नहीं, क्योंकि इनके साथ श्रीमहारानीजी हैं, पर फिर भी आप शील-सिंधु हैं; इससे आतुर चले कि मुनि को दौड़कर अधिक आना न पड़े ; यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू।··· चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला॥" (अ० दो० २४२)।

'करत दंडवत मुनि'···'—दोनों ओर से प्रेम और आतुरता है, इधर इनके दंडवत् करते ही मुनि ने हृदय से लगाया और प्रेमाश्रुओं से नहला दिया। यह अत्यन्त प्रेम की दशा है; यथा—"अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥" (अ० दो० २४४) ; 'अन्हवाये'—शब्द से सूचित किया कि श्रीरामजी ने माधुर्य में दंडवत् की है। मुनि ने इनकी लीला की मर्यादा रखने के लिये उर में लगाया है। पर वे इन्हें ऐश्वर्य भाव से पूजेंगे और वैसी ही स्तुति भी करेंगे। उस पूजा के षोड़शोपचार में स्नान यही जानना चाहिये। प्रभु की दंडवत् के अनुरोध से मुनि ने यहाँ प्रणाम न किया और न विनती ही की, पर आगे दोनों करेंगे और भक्ति का वर भी माँगेंगे।

(४) 'देखि राम छबि नयन जुड़ाने। ···'—श्रीरामजी की छवि ऐसी ही सुखदाई है ; यथा—"तदपि अधिक सुखसागर रामा॥" (बा० दो० १९७) ; मुनियों ने अनुभव भी किया है ; यथा—"भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥" (बा० दो० २०९)—विश्वामित्रजी; "रामहिं चितइ रहे थकि लोचन।" (बा० दो० २९८)—परशुरामजी ; इत्यादि। 'जुड़ाने'—अर्थात् पहले दर्शनों के लिये संतप्त थे, यथा—"चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥" (दो० ७)—शरभंगजी; "देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ० दो० १२४)—वाल्मीकिजी, इत्यादि। मुनि के नेत्र-जल से प्रभु शीतल हुए, और अपने छबि रूपी जल से मुनि के नेत्रों को शीतल किया ; यथा—"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।" (बा० दो० ४९) ; अर्थात् छबि समुद्र और दर्शन जल है। "सादर निज आश्रम तब आने॥'—'आदर' ; यथा—"प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि।" (गी० आ० १७) ; 'प्रेम पट' ; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥" (अ० दो० २११)।

करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मन भाये॥८॥

सो०—प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि।
मुनिबर परम प्रबीन, जोरि पानि अस्तुति करत ॥३॥

अर्थ—पूजा करके सुहावने वचन कहकर उन्होंने प्रभु को उनके मन के अनुकूल कंद-मूल-फल दिये ॥८॥ प्रभु आसन पर विराजे, नेत्र भरकर उनकी शोभा देख परम प्रवीण मुनिश्रेष्ठ हाथ जोड़ कर स्तुति कर रहे हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'करि पूजा'—पूजन १६ प्रकार के होते हैं; यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च॥ सुगंधं सुमनो धूपं दीपनैवेद्यवंदनम्।" इनमें, 'प्रभु आसन आसीन'—यह आसन; 'प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये।' यह स्नान; 'दिये मूल फल प्रभु मन भाये।'—नैवेद्य; 'जोरि पानि अस्तुति करत'—वन्दना है। शेष अंग 'करि पूजा' में समझ लेना चाहिये। 'कहि बचन सुहाये'; यथा—"मोहिं सम भाग्यवंत नहिं दूजा।" (दो० ११) अर्थात् कहा कि आपके पधारने से हम बड़े भाग्यशाली हुए, मुझे घर बैठे दर्शन हुए, अब मेरा आतिथ्य भी स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये; यथा—"करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेम प्रिय होहु। कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु॥" (अ० दो० ११२)।

'मन भाये'—प्रभु की रुचि के अनुकूल एवं प्रभु की इच्छा-भर, पूर्ण खिलाया।

(२) 'प्रभु आसन आसीन ···'—प्रभु जब आसन पर विराजे और मुनि भी सब कृत्य से सावकाश हुए, तब छवि को भरिलोचन (पूर्ण अभिलाषा-सहित) देखने लगे। दर्शनों की अत्यंत अभिलाषा पर ही 'भरिलोचन' शब्द का प्रयोग होता है; यथा—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।···तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची॥" (बा० दो० ४८); जब उन्हें दर्शन हुए, तब लिखते हैं—"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।" (बा० दो० ४९) ऐसे ही उत्कृष्ट अभिलाषा पर ही मनुजी, श्रीअवधवासी और श्रीभुशुंडीजी को श्रीरामजी के दर्शन हुए, तो सर्वत्र 'भरि लोचन' कहा गया है; यथा—"देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा० दो० १४५); "मंगल मूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं···" (अ० दो० २४८); "भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥" (उ० दो० ११०)।

वैसे बहुत अभिलाषा पर दर्शन पाये, अतएव नेत्रों से छवि रूपी-जल को भर रहे हैं; यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति, धन्य जनम सरभंग (दो० ७)।

'मुनिबर परम प्रबीन···'—प्रभु का प्रभाव जानकर वैसी ही स्तुति करते हैं। इसलिये परम प्रवीण कहे गये। श्रीअत्रिजी सप्तर्षियों में हैं, अतएव सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान के एक स्थान हैं। सामान्य प्रलय में सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान इन्हीं में रहता है, फिर इन्हीं से विस्तार पाता है। ये ब्रह्मा के पुत्र हैं, अतः ये भी स्तुति में वैसे ही निपुण हैं; यथा "सुनि बिरंचि मन हरष तन, पुलकि नयन भरि नीर। अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति धीर॥" (बा० दो० १८५)। 'जोरि पानि'—ऐश्वर्य भाव से स्तुति करने की यही रीति है; यथा—"कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता॥" (बा० दो० १९१); "बंदि चरन बोली कर जोरी।" (बा० दो० २३४)।

छंद—नमामि भक्तवत्सलं। कृपालु शील कोमलं।
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं ॥१॥
निकाम - श्याम - सुन्दरं। भवांबु - नाथ - मंदरं।
प्रफुल्ल - कंज - लोचनं। मदादि - दोष - मोचनं ॥२॥

अर्थ—भक्तवत्सल, दयालु और कोमल शील-स्वभाववाले, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। निष्काम भक्तों को अपना धाम देनेवाले आपके चरण-कमलों को मैं भजता हूँ ॥१॥ आप अत्यन्त श्याम सुन्दर, भव सागर को (मथन करनेवाले) मंदराचल-रूप, प्रफुल्ल-कमल के समान नेत्रवाले और मद आदि दोषों के छुड़ानेवाले हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'नमामि भक्तवत्सल ···'—भक्तों के प्रति वत्सलता एवं औरों के प्रति कृपालुता का बर्ताव रखते हैं; यथा– "भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।" (मनु-प्रसंग); "सब पर मोहिं बराबरि दाया।" (उ० दो० ८६); अपराधियों के लिये शील और कोमलता है। जैसे कि जयंत का वध उचित था, पर आपने छोड़ दिया। पहले भक्तवत्सल कहा है, क्योंकि जैसे गऊ को बछड़ा अत्यन्त प्यारा होता है, वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं। गऊ परवश चरने भी जाती है, तो दौड़कर बछड़े के पास आती है। वैसे ही आपके अमानी भक्त बालक के समान हैं, उनके प्यार से आप वहाँ जाते हैं, भाव यह कि हमारे यहाँ आप इसी गुण से पधारे हैं। आप भी राज्य-रूपी बन्धन तोड़ हम वन वासियों को दर्शन दे कृतार्थ करने यहाँ आये हैं; यथा—"नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान। छूटि जान बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान॥" (अ० दो० ५१)। तथा–"भगत बछलता प्रभु कै देखी।" उ० दो० ८२)। गऊ बछड़े की मलिनता को चाटकर साफ करती है, वैसे ही आप भक्तों के दोषों को दूर करके उन्हें शुद्ध कर लेते हैं। 'स्वधामदं'—जो निष्काम होकर आपकी भक्ति करते हैं, उन्हें अपना धाम देते हैं। स्वधाम में साकेत, वैकुंठ आदि सभी कल्प-भेद के धामों का समावेश है। 'अकामिनां'—भाव यह कि कामनावालों को कामना मात्र देकर छुट्टी पा जाते हैं, जो कुछ नहीं चाहते, उन्हें तो धाम ही देते हैं; यथा—"मद्भक्ता यांति मामपि॥" (गीता ७।२३); "यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता ८।२१); धाम का अर्थ लोक, स्वरूप और तेज भी है; अतः, अधिकारानुसार सबकी प्राप्ति बनाई।

(२) 'निकाम-श्याम-सुंदरं ···'—निकाम = अत्यन्त; यथा—"कोपे समर श्रीराम, चले बिसिष निसित निकाम।" (दो० १९); प्रकाम और निकाम अत्यन्तता के वाचक हैं। 'श्याम सुंदरं भवाम्बु···' यथा—"श्यामल गात प्रनत भयमोचन।" (सुं० दो० ४४); भव-सागर को मथकर आप भक्त-रूपी रत्न निकाल लेते हैं, वे रत्नरूपी भक्त कर्म-रूपी कीचड़ से पृथक् हो, स्वस्वरूप-प्रयुक्त गुणों से कान्तिमान हो जाते हैं और सदा के लिये जन्म-मरण से छूट जाते हैं। 'प्रफुल्ल कंज लोचनं' के साथ 'मदादि दोष मोचनं' कहकर जनाया कि आप अपनी कृपा-दृष्टि से उन दोषों को छुड़ाते हैं, वे नेत्र कृपा-रस-पूर्ण हैं। 'मदादि दोष'—काम, क्रोध, लोभ आदि, जिन्हें उ० दो० १२० में मानस रोग कहा है।

यह नगस्वरूपिणी छंद है—इसके चारों चरणों में ८-८ अक्षर होते हैं, दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ वर्ण गुरु (बड़ा) होते हैं, नग पहाड़ को भी कहते हैं, यहाँ से आगे श्रीरामजी को पहाड़ों की चढ़ाई विशेष मिलेगी, यह भाव इस छंद के प्रयोग से सूचित की है।

प्रलंब - बाहु - विक्रमं । प्रभोऽप्रमेय - वैभवं ।
निषंग - चाप - सायकं । धरं त्रि-लोक - नायकं ॥३॥
दिनेश - वंश - मंडनं । महेश - चाप - खंडनं ।
मुनींद्र - संत - रंजनं । सुरारि - वृन्द - भंजनं ॥४॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी लंबी (आजानु) भुजाओं का पराक्रम अतुलनीय है और ऐश्वर्य प्रमाण-रहित है। तर्कश और धनुष-बाण धारण करनेवाले, तीनों लोकों के स्वामी ॥३॥ आप सूर्यवंश के भूषित करनेवाले (भूषण-रूप), श्रीमहादेवजी के धनुष को तोड़नेवाले, मुनि-श्रेष्ठों और संतों को आनंद देनेवाले और असुर समूह के नाशक हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रलंब-बाहु विक्रमं'; यथा—"अतुलितभुजप्रतापबलधाम." (दो० १०)। आपकी भुजाएँ घुटने तक लंबी हैं, इसीसे 'आजानुबाहु' कहलाते हैं। ये भुजाएँ अतुलनीय पराक्रमवाली हैं, इनसे ही शत्रु नहीं बच सकता, फिर भी धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। इनसे त्रिलोक की रक्षा करते हैं, इनके प्रभाव से सूर्य वंश की प्रतिष्ठा है, इन्हीं से श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा गया है। आप मुनि-श्रेष्ठों और संतों के रक्षक एवं आनंद वर्द्धक हैं, इसीलिये असुरों को नाश करते हैं।

(२) 'प्रलंब-बाहु' के कार्य; यथा—"दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ॥" (सुं० दो० ४५); तथा—"तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी ॥ जिमि-जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा ॥···" (उ० दो० ७८); 'अप्रमेय वैभवं' यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई ॥" (दो० १); यह अभी जयंत ने जाँचकर कहा है। 'त्रिलोकनायकं'; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं ॥" (गी० उ० १३); (इस पूरे पद में भुजाओं का महत्त्व देखिये)। 'दिनेश-वंश-मंडन'—सूर्यवंशी सूर्य के समान प्रतापी होते हैं, आप उनसे भी अधिक प्रतापी हैं। 'महेश-चाप-खंडनं' से अप्रमेय बल दिखाया। 'मुनीन्द्र-संत-रंजनं'; यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ-जाइ सुख दीन्ह ॥" (दो० ९); "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥" (सुं० दो० ४७); "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥" (गीता ४।८)।

श्लोक ३ में वीर स्वरूप और ४ में रामायण है। जैसे कि भक्तवत्सल प्रथम ही कहकर मनु-प्रसंग सूचित किया, फिर यहाँ 'दिनेश-वंश-मंडनं' से जन्म-प्रसंग और 'महेश-चाप-खंडन' से ब्याह-प्रसंग कहकर बालकांड पूरा किया।

(३) 'मुनीन्द्र-संत रंजन' से राज्य-त्याग प्रसंग से अयोध्याकांड हुआ। 'सुरारि-वृंद-भंजनं' से अरण्य, किष्किंधा, सुंदर और लंकाकांड की कथा सूचित की। पुनः आगे के—'मनोज-वैरि-वंदितं ···' से राज्याभिषेक आदि और 'विशुद्ध बोध-विग्रहम् समस्त दूषणापह' से शांति पूर्ण राम-राज्य कहकर उत्तरकांड पूरा किया।

मनोज - वैरि - वंदितं । अजादि - देव - सेवितं ।
विशुद्ध - बोध - विग्रहं । समस्तदूषणापहं ॥५॥

नमामि इंदिरापतिं । सुखाकरं सतां गतिं ।
भजे सशक्ति-सानुजं । शचीपति - प्रियानुजं ॥६॥
त्वदंघ्रिमूल ये नराः । भजंति हीनमत्सराः ।
पतंति नो भवार्णवे । वितर्क - वीचि - संकुले ॥७॥
विविक्तवासिनस्सदा । भजंति मुक्तये मुदा ।
निरस्य इंद्रियादिकं । प्रयान्ति ते गतिं स्वकं ॥८॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु श्रीशिवजी से वंदित, ब्रह्मादि देवताओं से सेवित, विशेष शुद्ध ज्ञान-शरीर और समस्त दोषों के हरणकर्त्ता को ॥५॥ मैं नमस्कार करता हूँ। लक्ष्मी के पति सुख की खान, सज्जनों की (एक-मात्र) गति आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इन्द्राणी के पति, इन्द्र के प्रिय भाई (छोटे भाई वामन-रूप), आदि शक्ति श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ आपको मैं भजता हूँ ॥६॥ जो मनुष्य मत्सर-रहित होकर आपके चरण-मूल को भजते हैं, वे वितर्क-रूपी लहरों से पूर्ण संसार-सागर में नहीं गिरते ॥७॥ एकान्तवासी लोग इन्द्रियों के विषयों से उदासीन होकर जो आनंद-पूर्वक मुक्ति के लिये आपका भजन करते हैं, वे अपनी (स्वकीय) गति को प्राप्त होते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'मनोज वैरि······'—'मनोज वैरि' निवृत्तिपरक और 'अजादि देव' प्रवृत्ति-परक सेवक हैं ; अर्थात् संसार की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भी आपकी सेवा करते हैं ; यथा— "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (लं० दो० २१); "ब्रह्मा शंभु फणीन्द्र सेव्यमनिशं···" (उ० मं०) ; श्रीशिवजी सदा आपके यश गाते हैं, अन्य देवता आपके द्वारा नियत किये हुए कार्य करते हैं।

(२) 'विशुद्ध-बोध-विग्रहं' अर्थात् आपका शरीर शुद्ध ज्ञानमय है ; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६)। अर्थात् आपका स्वरूप आधि-व्याधि से रहित है। इसीसे साथ ही 'समस्त दूषणापहं' भी कहा, क्योंकि ज्ञान समस्त दूषणों का नाशक है ; यथा—"जहँ-तहँ रहे पथिक थकि नाना । जिमि इंद्रिय गन उपजे ज्ञाना ॥" (कि० दो० १४)।

(३) 'नमामि इंदिरापतिं···'—श्रीलक्ष्मीजी के अतिरिक्त और भी सब सुखों की खान हैं; यथा— "जो आनंद सिंधु सुख रासी । सीकर ते त्रलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा ॥" (बा० दो० १९६) ; 'इंदिरापति' के साथ 'नमामि' और 'सशक्तिसानुजं' के साथ 'भजे' कहा, भाव यह कि आपके अन्य रूपों को नमस्कार-मात्र करता हूँ। मेरा सेव्य श्रीसीता-लक्ष्मणजी-सहित यही रूप है।

'सतां गतिं'; यथा—"परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।" (वाल्मी० ३।१।२०); "सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिंधुभिः ।" (वाल्मी० १।१।१६); "निवासवृक्षः साधूनां···"(वाल्मी० ४।१५।१९); "पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं ॥" (लं० दो० ११६);' शचीपतिप्रियानुजं'—इन्द्र का राज्य बलि ने छीन लिया था, उसके प्रियत्व से आपने वामन-रूप धारण किया और बलि से भिक्षा माँगकर उसे राज्य दिया।

वामनजी की कथा बा० दो० २९ चौ० ७ में लिखी गई। भाव यह कि इन्द्रादि की रक्षा के लिये वहाँ बलि को छला, वैसे ही यहाँ भी आप देवताओं की रक्षा के लिये छल से मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं, नहीं तो मनुष्य ऐसा कहाँ हो सकता है, जिससे ब्रह्मा का वचन सत्य हो।

(४) 'त्वदंघ्रिमूल'''—चरण का मूल तलवा कहा जाता है, उसमें ही २४ चिह्न होते हैं, जिनसे ऐश्वर्य का पूर्ण ज्ञान होता है। उपासक लोग उन्हींका ध्यान करते हैं। रज भी शिरोधार्य करते और उसीका चरणामृत भी लेते हैं, इसे ही 'पादसेवन भक्ति' कहते हैं। 'पतंति नो भवार्णवे'' यथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ॥" (बा० मं० ६); इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो इन चरणों से विमुख हैं, वे भवसिंधु में पड़ते हैं; यथा—"बहु रोग वियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फलये॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते॥" (उ० दो० १४); 'वितर्कवीचिसंकुले'—नाना प्रकार के विशेष तर्कों का उठना इस भवसिंधु की लहरें हैं; यथा—"ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥' अस संसय मन भयो अपारा।'''" (बा० दो० ५०); "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस " (उ० दो० ५८)। 'मुदा'—सेवा में अपना अहोभाग्य मानते हैं, अतः, आनंद मानकर करते हैं। 'गति स्वकं'—गति शब्द स्त्रीलिंग है; अतएव 'स्वकं' का 'स्वकाम्' भी पाठांतर हो गया है, पर प्राचीन पाठ यही मिलता है। जान पड़ता है कि भाषा सिद्ध होने के लिये कवि ने ही ऐसा रख दिया है, क्योंकि भाषा-निबंध रचने का संकल्प कर चुके हैं। बा० मं० श्लोक ७ देखिये। 'गति स्वकं' यथा—"जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (दो० ४५)। या, यहाँ साधन की कठिनता और मुक्ति की आकांक्षा के अनुरोध से 'गति स्वकं' से कैवल्य-मुक्ति भी ले सकते हैं।

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुं ॥९॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं।
भजामि भाववल्लभं। कुयोगिनां सुदुर्लभं ॥१०॥
स्वभक्त - कल्पपादपं। समं सुसेव्यमन्वहं।
अनूप - रूप - भूपतिं। नतोऽहमुर्विजापतिं।
प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्जभक्ति देहि मे ॥११॥
पठंति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं।
व्रजंति नात्र संशयः। त्वदीय-भक्ति-संयुताः ॥१२॥

अर्थ—आप एक (अद्वितीय), अद्भुत, समर्थ, चेष्टा-रहित, ईश्वर, व्यापक, जगत्-भर के गुरु और सनातन, तुरीय-रूप ही एवं केवल हैं ॥९॥ (पुनः) भाव-प्रिय, कुयोगियों को अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तों के लिये कल्पवृक्ष-रूप, समदृष्टि (वैषम्य-रहित) और निरंतर सेवा करने योग्य आपको मैं निरंतर भजता हूँ ॥१०॥ आपके उपमा रहित भूप-रूप को और पृथिवी की पुत्री श्रीजानकीजी के पति को मेरा

नमस्कार है। मुझपर प्रसन्न होइये, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मुझे अपने चरण-कमलों में भक्ति दीजिये ॥११॥ जो मनुष्य इस स्तुति को आदर-पूर्वक पढ़ते हैं, वे आपकी भक्ति से संयुक्त होकर आपके पद को प्राप्त होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥१२॥

विशेष—(१) 'त्वमेकमद्भुतं प्रभु …'—'एक' अर्थात् आपके समान आप ही हैं ; यथा—"राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); वा, आप अद्वितीय हैं; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥" (छां० ६।२।१) ; यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा ॥" (बा० दो० १८५)। 'अद्भुतं' आपके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अद्भुत हैं ; यथा—"सो सब अद्भुत देखेउँ" (उ० दो० ८०)। 'जगद्गुरु'—सब गुरुओं का गुरुत्व वेद से है, वह वेद भी आपकी सहज श्वास है। 'शाश्वतं'—आदि-अंतरहित, एक-रस सनातन ; यथा—"जो तिहुँ काल एक रस अहई।" (बा० दो० ३४०) ; 'तुरीयमेव'—आप स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों से रहित तुरीयावस्था में ही नित्य हैं। 'भाववल्लभं'—आपको भाव ही प्यारा है ; यथा—"भाववश्य भगवान …" (उ० दो० ९२); "प्रभु भाव गाहक अति कृपाल …" (उ० दो० ११)। 'कुयोगिनां सुदुर्लभं' ; यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी ॥" (उ० दो० ११); "मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥" (उ० दो० ६१) ; "कल्पपादपं" ; यथा—"भक्त-कल्प-पादप-आरामः" (दो० १०) ; एक को दुर्लभ और दूसरे को सुलभ कल्पवृक्ष कहने में विषमता पाई गई, उसपर 'समं' कहा ; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ॥" (अ० दो० २१८); 'सुसेव्यं' यथा—"प्रभु रघुपति तजि सेइय काही। मोसे सठ पर ममता जाही ॥" (उ० दो० १११); 'सम' कहकर 'अन्वहं सुसेव्यं' कहा है। भाव यह कि कुयोगी में भाव नहीं है। इसीसे उनसे दूर हैं, भक्तों में भाव है, इसीसे उनके लिये कल्पवृक्ष हैं, तो निरंतर सेवा ही करनी चाहिये। श्लोक ९ में निर्गुण ऐश्वर्य कहा और १० वें में अपनी प्राप्ति होने की सुगमता कही गई।

(२) 'अनूपरूपभूपतिं …'—आपका भूपति-रूप अनूप है ; यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं चरणांबुज प्रेम सदा सुभदं ॥" (उ० दो० १०१); "भूप रूप तब राम दुरावा।" (दो० ९); भूपति कहकर तब भक्ति माँगते हैं, क्योंकि देना राजा ही का काम है (पुनः आगे सब पाठकों के लिये भी माँगते हैं—

(३) 'पठंति ये स्तवं इदं …'—'नात्र संशयः'—क्योंकि—'भक्ति-संयुताः' कहा है। भक्तों के पतन होने का संदेह नहीं रहता ; यथा—"ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर ॥" (उ० दो० ७८) ; "कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ९।३१), "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५)

दोहा—बिनती करि मुनि नाइ सिर, कह कर जोरि बहोरि।
चरन - सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि ॥४॥

अर्थ—मुनि ने स्तुति करके शिर नवा हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ ! मेरी बुद्धि कभी आपके चरण-कमलों को न छोड़े ॥४॥

विशेष—मुनि पहले तो भक्ति माँग चुके थे—'पदाब्जभक्ति देहि मे' अब यहाँ उसकी अचलता

माँगते हैं कि मेरी बुद्धि उसे कभी न छोड़े। 'करजोरि बहोरि'—पहले कहा गया—'जोरि पानि स्तुति करत' पर बीच में जब कहने लगे—'पठन्ति ये स्तवं इदं' तब इसमें अंगुल्या निर्देश करने में कर-संपुट छूट गया था, इससे फिर हाथ जोड़ना कहा गया।

जीव का स्वभाव चल होता है; यथा—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥" (कि० दो० १५); पुनः त्रिविध एषणा (इच्छा) भी बुद्धि को मलिन कर देती है, यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (उ० दो० ७०), इसलिये सदा के लिये भक्ति की अचलता माँगते हैं कि भगवान् वैसी ही प्रेरणा किये रहें; जिससे मन उनके चरणों में लगा रहे, क्योंकि आप ही उरप्रेरक हैं; यथा—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।" (उ० दो० ११२), पर यहाँ वर देना नहीं कहा गया, क्योंकि प्रभु अपनी ओर से माधुर्य ही ग्रहण किये हुए हैं, आगे कहेंगे-"सेवक जानि तजेउ जनि नेहू।" (दो० ५; तब स्वामी बनकर एवमस्तु कैसे कहें? अतः मन में ही वर दिया। ऐसे ही श्रीजनकजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीवसिष्ठजी के प्रसंग में भी संतुष्ट होने में मन-ही-मन देना समझा गया है; यथा—"बार बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरइ चरन जनि भोरे॥ सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥" (बा० दो० ३४१)—श्रीजनकजी, ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी का अ० दो० १०६ चौ० ८ और अ० दो० १०७ चौ० १ में और श्रीवसिष्ठजी का प्रसंग उ० दो० ४९ और उसकी चौ० १ में देखिये। श्रीअत्रिजी का प्रभु में पुत्र भाव और श्रीअनसुयाजी का श्रीसीताजी में पुत्री-भाव था। यह वाल्मीकीय रामायण के शब्दों से जाना जाता है।

अनसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥१॥
रिषिपतिनी-मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई॥२॥
दिब्य बसन-भूषन पहिराये। जे नित नूतन अमल सुहाये॥३॥

अर्थ—फिर सुशील, विनम्र श्रीसीताजी श्रीअनसूयाजी के चरण पकड़कर उत्तम शील और नम्रता पूर्वक उनसे मिलीं॥१॥ ऋषि श्रीअत्रिजी की स्त्री श्रीअनसूयाजी के मन में विशेष सुख हुआ, उन्होंने आशिष देकर पास बैठा लिया॥२॥ दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाये, जो नित्य-नये स्वच्छ और सुहावने बने रहते हैं॥३॥

विशेष—(१) अनसूयाजी—ये श्रीअत्रिजी की परम पतिव्रता पत्नी हैं, वाल्मी० अ० स० ११७ श्लोक ९-१३ में श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है—"दशवर्षों तक वृष्टि नहीं हुई थी, संसार जलने लगा था, उस समय इन्होंने फल-मूल उत्पन्न किये। गंगाजी को यहाँ लाकर प्रवाहित कराया। दश हजार वर्षों तक इन्होंने कठोर तपस्या की, इनकी तपस्या उग्र है और यह उत्तम नियमों से सुशोभित हैं। इनके व्रतों के प्रभाव से ही ऋषियों के विघ्न दूर हुए थे। देवकार्य के लिये त्वरा रखनेवाली इन्होंने दश रातों की एक रात बनाई। ये ही अनसूया तुम्हारी माता के समान पूज्या हैं और सब प्राणियों की पूज्या तथा तपस्विनी हैं, वैदेही इनके पास जायँ, ये वृद्धा क्रोध-रहित हैं।" इनके सतीत्व के प्रभाव की एवं सिद्धता की और भी बहुत-सी कथाएँ हैं।

श्रीसीताजी ने चरणों का स्पर्श किया, इसपर आशिष दी और 'मिली बहोरि' अतः 'मन सुख अधिकाई।' क्योंकि श्रीसीताजी आनंद रूपा हैं, अतएव इनसे मिलने पर उन्हें बहुत आनंद प्राप्त हुआ। चरण लगना और फिर भेंटना यह उस समय स्त्रियों की रीति थी; यथा—"लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटति

अति अनुरागा ।।" (अ० दो० २२१); "करि प्रनाम भेंटी सब सासू ।" (अ० दो० २११) यहाँ भी श्रीसीताजी ने चरण पकड़े, इन्होंने हृदय से लगा लिया और फिर कंठ से लगकर मिलीं। 'आसिष'; यथा—"अचल होइ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।" (अ० दो० १८); निकट बैठाना आदर है; यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं० दो० १७)।

'मन सुख अधिकाई'—मन; 'आसिष देइ'—वचन और 'बैठाई' कर्म हैं, अर्थात् मन, वचन, कर्म से अनसूयाजी ने इनका आदर किया।

(७) 'दिव्य बसन भूषन'''—दिव्य का अर्थ स्वयं कवि ने कह दिया है—'जे नित नूतन अमल सुहाये' रहते हैं। प्राकृत वस्त्राभूषण पुराने, मैले और शोभा-हीन हो जाते हैं, इनमें वे तीनों दोष नहीं हैं। वस्त्र से षोड़शो शृंगार और आभूषण से द्वादशो आभूषण सूचित किये हैं। श्रीसीताजी ने प्रीतिदान मानकर ग्रहण किया; यथा—"इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ '' मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥" (वाल्मी० २।११८।१८-२१)। अनसूयाजी ने पुत्री भाव मानकर प्रीतिपूर्वक दिव्य वस्त्राभूषण दिये कि १४ वर्ष तक जिसमें ऐसे ही दिव्य बने रहें। प्रीतिदान किसीका भी लेना उचित है। अतः, श्रीसीताजी ने लिया।

> कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी ॥४॥
> मातु - पिता - भ्राता - हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥५॥
> अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥६॥
> धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद-काल परिखियहि चारी ॥७॥
> बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥८॥
> ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥९॥

अर्थ—ऋषि-पत्नी अनसूयाजी ने रसीली कोमल वाणी से कुछ स्त्रियों के धर्म (पातिव्रत धर्म) उनके बहाने से बखान किये ॥४। हे राजकुमारी! सुनिये, माता, पिता, भाई और हितकारी लोग थोड़ा ही (एवं प्रमाण-भर ही सुख) देनेवाले हैं ॥५॥ हे वैदेही! पति अतुल (बे अन्दाज सुख) देनेवाला है जो उसकी सेवा न करे वह अधम है ॥६॥ धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री ये चारों विपत्ति के समय परखे जाते हैं ॥७॥ बूढ़ा, रोगवश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, अत्यन्त क्रोधी एवं अत्यन्त दीन—ऐसे पति का भी अपमान करने से स्त्री यमपुर (नरक) में नाना प्रकार के दुःख भोगती है ॥८-९॥

विशेष—(१) 'कह रिषि बधू सरस '''—'सरस'—रसीली अमृतवत्; यथा—"नाथ दसानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्ह मन पान करि, नहिं अघात मति धीर॥" (उ० दो० ५२); अर्थात् कानों को सुखद, 'कछु ब्याज बखानी'—इनके बहाने कुछ स्त्री-धर्म कहती हैं, इनमें पुत्री भाव है, इससे श्रीगंगाजी की तरह ऐश्वर्य-कथन-पूर्वक स्तुति कर नहीं सकतीं; यथा—"सुनु रघुबीर प्रिया ''तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२) इत्यादि, पर प्रीति से शिक्षा-रूप में अपने भावानुसार कुछ संभाषण किया चाहती हैं, जैसा कि सुनयनाजी और कौशल्याजी ने किया है।

(२) 'मातु-पिता-भ्राता'''—नैहर का प्रेम, आपत्काल और पति में अयोग्यता, ये तीन पातिव्रत्य के बाधक हैं। अतः, पहले इन्हींको समझाती हैं—'मितप्रद'—सामान्य रीति से सन्तान पर माता-पिता

का स्नेह रहता ही है, पर विशेषकर माता का पाँच वर्ष तक और पिता का १० वर्ष आयु तक कन्या पर दुलार रहता है और भाई का इनसे स्नेह कम ही रहता है। फिर भी ये सभी प्रकार के सुख नहीं दे सकते। अतः, इनका देना परिमित कहा गया।

(३) 'अमित दानि भर्ता···'—उपर्युक्त माता-पिता आदि भी परिमित ही लोक-सुख देते हैं, परन्तु पति तन, मन, धन, माँग (सुहाग) सुख और कोख सुख आदि लोक का परिपूर्ण सुख-देता है और साथ ही परलोक सुख भी देता है ; यथा—"पति सेवत सुभ गति लहइ।" (दो० ५); पुनः सन्तान-द्वारा भी परलोक का साधक होता है, क्योंकि संतान के कृत्य से भी माता-पिता का परलोक बनता है।

'मितप्रद' के साथ 'राजकुमारी' कहा है; अर्थात् राजा की भी पुत्री हो तो भी ये लोग परिमित ही दे सकते हैं और 'अमित दानि' के साथ 'वैदेही' कहा; अर्थात् पति-सेवा में देह-सुख की चाह न रहे, किन्तु सर्वोत्तम-भाव से लग जाय।

(४) 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी।···'—आपत्काल में ये चारों खरे निकलें तो इन्हें सच्चा समझना चाहिये; अर्थात् दुःख में धैर्य बना रहे, धर्म बना रहे, मित्रों का स्नेह न घटे और स्त्री की श्रद्धा पति में बनी रहे ; अन्यथा ये खोटे हैं ; यथा—"कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परखिअहि समय सुभाये॥" (अ० दो० २८२); "बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन येहा॥" (कि० दो० ६) ; यहाँ 'नारी' मात्र का प्रस्तुत प्रसंग है, पर साथ ही तीन धैर्य आदि भी शिक्षार्थ एवं उसकी पुष्टि के लिये कहे गये; यथा—"आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरं धने शुचिम्। भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बांधवान्॥" (प्रस्तावरत्नाकर)।

(५) 'वृद्ध रोगबस जड़ ···'—इन्हें दैव ने ही अपमान के योग्य कर दिया है ; यथा—"दीरघ रोगी दारिदी; कटु बच लोलुप लोग। तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर जोग॥" (दोहावली ४७७); तथा—"कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोग बस संतत क्रोधी। बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥···जीवत सव सम ··" (लं० दो० ३०)। उसपर यदि स्त्री ने भी अपमान किया, तो निस्सीम दुःख होता है, इसलिये यह भारी पाप है। यहाँ ८ दोष कहे गये। यदि आठो एक पति में ही हों, तो भी स्त्री उसका अपमान न करे; अर्थात् अपना धर्म देखते हुए उसे पति की आज्ञा पालनी ही चाहिये ; यथा—"दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥" (श्रीमद्भागवत); "दरिद्रं व्याधितं धूर्त्तं भर्त्तारं यावमन्यते। सा शुनी जायते मृत्वा शूकरी च पुनः पुनः॥" (पराशर-संहिता)।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥१०॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥११॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥१२॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥१३॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥१४॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥१५॥

पतिबंचक पर-पति-पति करई । रौरव नरक कलप सत परई ॥१६॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥१७॥

अर्थ—शरीर, वचन और मन से पति के चरणों में प्रेम करना, यह स्त्री के लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है ॥१०॥ जगत में चार प्रकार की पतिव्रताएँ हैं, (यह) वेद, पुराण और संत सभी कहते हैं ॥११॥ कि उत्तम के मन में ऐसा (भाव) बसता है कि स्वप्न में भी संसार में दूसरा पुरुष है ही नहीं ॥१२॥ मध्यम (पतिव्रता) पराये पति को कैसे देखती है कि जैसे वे अपने (सगे) भाई, बाप और बेटे हों ॥१३॥ जो धर्म को विचार कर और कुल (की मर्यादा) को समझकर रह जाती हैं (धर्म को रख लेती हैं, मन को रोके रहती हैं) वे निकृष्ट स्त्रियाँ हैं—ऐसा वेद कहते हैं ॥१४॥ जो अवसर न मिलने एवं (पति आदि के) डर से (पतिव्रता बनी) रह जाती हैं, संसार में उन्हें अधम स्त्री जानना ॥१५॥ पति से छल करनेवाली, जो पराये पुरुषों से प्रीति (वा, व्यभिचार) करती हैं, वे सैकड़ों कल्पों तक रौरव नरक में पड़ी रहती हैं ॥१६॥ क्षण-भर के सुख के लिये सैकड़ों करोड़ (असंख्य) जन्मों के दुःखों को नहीं समझती, उसके समान दुष्टा (बुरी) कौन होगी ? ॥१७॥

विशेष—(१) 'एकइ धर्म एक···'—पुरुषों के लिये नाना प्रकार के धर्म कहे गये हैं, पर स्त्री के इस एक ही से लोक-परलोक सभी बन सकते हैं; यथा—"स्त्रीणामार्यभावानां परमं दैवतं पतिः।" (वाल्मी० २।११७।२४); अन्य धर्म, व्रत और नियम आदि भी स्त्रियों के लिये कहे गये हैं, परन्तु यहाँ ऐसा कहने का भाव यह कि स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, अर्थात् इसके समान दूसरा धर्म नहीं है, यह मुख्य है। 'काय वचन मन···'—शरीर से सेवा, मन से प्रीति और वचन से प्रिय भाषण करे।

(२) "जग पतिव्रता चारि विधि···" से "तेहि सम को खोटी ॥" तक के सब लक्षण ठीक ऐसे ही शिव पुराण में पाये जाते हैं, श्रीवैजनाथजी की टीका एवं और टीकाओं में उद्धृत हैं, यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते।

(३) 'उत्तम के अस बस···'—'बस' अर्थात् निरंतर यही बसा रहता है कि अपने पति के अतिरिक्त और किसीमें पुंस्त्व है ही नहीं, सब जगत् स्त्रीमय है। जैसे कि अनन्य उपासकों की रीति है कि अपने इष्ट के अतिरिक्त दूसरे में ईश्वरबुद्धि नहीं होती। 'सपनेहु आन··' से पूर्वार्द्ध के 'बस' की पुष्टि की गई है। मीराजी की जीवनी में यह चरितार्थ भी है कि वे केवल गिरधर लाल को ही पुरुष मानती थीं। इसीपर उन्होंने महात्मा जीवगोसाईंजी का स्त्री-मुख न देखने का प्रण छुड़ाया है।

(४) 'मध्यम पर पति···'—इनकी दृष्टि में पर-पुरुष में भी पुंस्त्व है, पर ये अपने भाव-रक्षा के लिये उनमें अवस्था क्रम से पिता, सगे भाई और पुत्र के भाव रखती हैं, क्योंकि पिता, सगे भाई और पुत्र में वैकारिक प्रवृत्ति सहसा नहीं होती।

इन्हें मध्यम कहा गया, क्योंकि इन्हें चित्त-विकृत्ति का भय रहता है, यथा—"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबि मनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥" (दो० १६); मनुस्मृति में भी कहा गया है; यथा—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" अर्थात् माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में (अधिक) वास न करे। 'जैसे'—बराबर अवस्थावाले को भाई, बड़े को पिता और छोटे को पुत्र के समान मानती हैं। उपर्युक्त 'होइ बिकल··· ·' वाली कुबुद्धि नहीं आने पाती।

(५) 'धर्म बिचारि समुझि'''—'धर्म बिचारि' से परलोक का भय और 'समुझि कुल' से लोक का भय कहा गया; अर्थात् उभय-लोक बिगड़ने के डर से बची रहती हैं कि हमें पति ही में भाव रखना धर्म है। हमारे माता-पिता और पति का उत्तम, निष्कलंक एवं पवित्र कुल है। उभय कुल की नाक कटेगी, अतएव मुझे अधर्माचरण से सर्वथा बचना ही चाहिये।

(६) 'बिनु अवसर भय ते रह'''—'बिनु अवसर'—घर के शून्य होने का अवसर एवं अन्यत्र किसी के पास जाने के अवसर बिना। 'भय ते'—घर के अमुक-अमुक जानेंगे, तो प्राण ही ले लेंगे, इत्यादि। इसे अधम कहा गया, क्योंकि इसे रखवालों की आवश्यकता है, यह स्वयं अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकती। इसे भी पतिव्रता में ही गिना गया, क्योंकि इसका पाप मन में ही रह गया, ऐसी व्यवस्था कलिकाल में संगत है, क्योंकि—"मानस पुन्य होहिं नहिं पापा" (उ० दो० १०२); कहा गया है इस युग में तो—"गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥" (उ० दो० ९८); ऐसी स्त्रियों की विशेषता है, तो वैसी अधम नारि भी पतिव्रता ही है।

आगे व्यभिचारिणी को कहती हैं, जो इनसे पृथक् हैं—

(७) 'पति बंचक पर पति'''—ऊपर दिखाने को पति से प्रेम करती है, किन्तु भजती है, पराये पति को, यही पति को ठगना है। इन्हें रौरव नरक होता है। भाग० स्कंध ५ अ० २६ में नरकों का वर्णन है, उन २८ नरकों में रौरव तीसरा है। इस नरक में रुरु नामक कीड़े होते हैं। वे सर्प से भी अधिक तीक्ष्ण होते हैं और प्राणी को चारों ओर से काटते हैं।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत-धर्म छाँड़ि छल गहई॥१८॥
पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१९॥

सोरठा—सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम, कहिउँ कथा संसार-हित॥५॥

अर्थ—जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत धर्म को ग्रहण करती है, वह बिना परिश्रम परम गति पाती है॥१८॥ जो पति के प्रतिकूल है, वह जहाँ जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर विधवा हो जाती है॥१९॥ स्त्री स्वाभाविक अपवित्र है, वह पति की सेवा से शुभगति पा जाती है, चारो वेद (पतिव्रता का) यश गाते हैं, आज भी तुलसी भगवान् को प्रिय है॥ हे सीते ! सुनो, तुम्हारा नाम स्मरण करके स्त्रियाँ पातिव्रत धर्म पालन करेंगी, तुमको तो श्रीरामजी प्राण-प्रिय हैं—यह कथा मैंने संसार के हित के लिये कही है॥५॥

विशेष—(१) 'बिनु श्रम'—जप-तप आदि के क्लेश नहीं उठाने पड़ते ; यथा—"कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५)। 'छाँड़ि छल'—स्वार्थ-साधन

एवं मन की कुटिलता छल है ; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (अ० दो० ३००) ; "सरल स्वभाव न मन कुटिलाई ।" (उ० दो० ४५) ; यह भक्ति के विषय में कहा गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये ।

(२) 'पाइ तरुनाई'—युवा अवस्था का सुख उसे किसी जन्म में नहीं मिलता—यह दुर्गति होती है । पति-अनुकूला को परम गति की प्राप्ति और पति प्रतिकूला को दुर्गति की प्राप्ति कही ।

(३) 'सहज अपावनि नारि······'—स्वाभाविक अपावनता और शुभगति परस्पर विरोधिनी हैं, पर वह शुभगति पातिव्रत धर्म से सुगम हो जाती है । 'सुभगति', 'जस गावत' और 'हरिहि प्रिय' से इस एक ही धर्म से सद्गति ; यश और हरि-प्रियत्व तीनों की प्राप्ति कही गई । 'अजहूँ तुलसिका······'—दैत्य कुल की पतिव्रता को इतना महत्त्व मिला कि वह भगवान् की वल्लभा हुई, इसकी कथा—"परम सती असुराधिप नारी । तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥" (बा० दो० १२२) ; में लिखी गई तो मनुष्य कुल की सदाचारिणी स्त्रियों के महत्त्व का क्या कहना ? 'जस गावत श्रुति चारि' से शब्द प्रमाण और—'अजहूँ तुलसिका ······' से प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

(४) 'सुनु सीता तव नाम ····'—जब उपदेश देने लगी थीं, तब 'राजकुमारी' माधुर्य नाम कहा था और यहाँ जब माहात्म्य कहने लगीं तब 'सीता' कहती हैं, क्योंकि यह ऐश्वर्य-सम्बन्धी इनका मुख्य नाम है । 'तव नाम' ; यथा—"जेहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा ॥" (बा० दो० ९९) । 'संसार हित'—पहले भी 'कछु ब्याज बखानी' कहा है, भाव यह कि ऐसा कोई न समझे कि श्रीसीताजी में कुछ त्रुटि थी, इसलिये यह शिक्षा दी गई । पुनः यह उपदेश और साथ ही यह भी कि जो कोई पतिव्रता होना चाहें तो 'सीता' नाम स्मरण करें—संसार के लिये ही कहा गया है ।

सुनि जानकी परम सुख पावा । सादर तासु चरन सिर नावा ॥१॥
तब मुनि सन कह कृपानिधाना । आयसु होइ जाउँ बन आना ॥२॥
संतत मो पर कृपा करेहू । सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥३॥

अर्थ—श्रीजानकीजी ने सुनकर परम सुख पाया और आदर-पूर्वक उनके चरणों में शिर नवाया ॥१॥ तब कृपा-सागर श्रीरामजी ने मुनि से कहा कि आज्ञा हो तो मैं दूसरे वन को जाऊँ ॥२॥ मुझपर निरंतर कृपा करते रहियेगा, सेवक जानकर स्नेह न छोड़ियेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि जानकी परम···'—उन्होंने 'सुनु सीता···' कहकर ऐश्वर्य कहा, पर ये अपने माधुर्य को ही माने हुए हैं, इसीसे इनका 'जानकी' नाम कहा गया और उसी दृष्टि से 'सादर तासु चरन सिर नावा' भी है—यह कृतज्ञता है ।

यद्यपि श्रीसीताजी पतिव्रता शिरोमणि हैं ; यथा "सती सिरोमनि सिय गुन गाथा ।" (बा० दो० ३१) ; तथापि वृद्धा ऋषि-पत्नी से सादर धर्मोपदेश सुनती हैं और कृतज्ञता भी प्रकट करती हैं । यह सबके लिये उपदेश है कि निरभिमानता-सहित बड़ों का उपदेश सुनें, चाहे उसे जानते भी हों ।

"अनसूया के पद गहि सीता ।" उपक्रम है और यहाँ—"सादर तासु चरन सिर न उपसंहार है । ऋषि-पत्नी इन्हें पाकर सुखी हुईं ; यथा—"रिषि पतिनी मन सुख अधिकाई ।"

इन्होंने भी उनके वचनों से सुख पाया ; यथा—"सुनि जानकी परम सुख पावा।" इससे यहाँ—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), यह चरितार्थ है। 'परम सुख'—भूषण-वस्त्र लेने में सुख हुआ और यह पारमार्थिक उपदेश सुनने में परम सुख हुआ। 'सादर तासु चरन सिर नावा।'—यह कृतज्ञता और बिदाई का प्रणाम है और यह भी सूचित किया कि इसका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता, इससे मैं आपको प्रणाम करती हूँ ; यथा—"मो पहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥ तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेम सहित मति धीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब···" (उ० दो० १२५); सुशीलता के कारण कुछ बोलना नहीं कहा गया, आदि-अंत में शिर नवाना-मात्र कहा है।

(२) 'तब मुनि सन कह ···'—'तब'—जब उधर से श्रीजानकीजी आ गईं और इधर साथ ही श्रीरामजी और श्रीअत्रिजी का भी संवाद समाप्त हुआ। 'कृपानिधाना' अर्थात् और मुनियों पर भी कृपा करना चाहते हैं। 'आयसु होउ'—इस वन में श्रीअत्रिजी प्रधान हैं, इसलिये अन्यत्र जाने के लिये इन्हींसे आज्ञा माँग रहे हैं ; यथा—"अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥" (अ० दो० ३०७); श्रीअत्रिजी के आश्रम तक एक ही वन (चित्रकूट) है। आगे फिर दूसरा वन है, इसीसे 'जाउँ बन आना' कहा है।

(३) 'संतत मोपर कृपा ···'—मुनि ने कहा था—"चरन सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि।" उसपर आप कहते हैं—"संतत मोपर ···" अर्थात् आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ; अतः, आपको कृपा और स्नेह ही रखना चाहिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (बा० दो० १६६)—ऐसा कहा है, मुनि ने ऐश्वर्य-दृष्टि से माँगा है। और आपने माधुर्य ही में उत्तर दिया है। भाव यह कि आप मेरी ओर वृत्ति रखिये, तदनुसार मैं सेवा करता रहूँगा ; यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः···स तया श्रद्धया युक्तः···" (गीता ७।२१-२२)।

धर्म-धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी॥४॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥५॥
ते तुम्ह राम अकाम पियारे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥६॥
अब जानी मैं श्रीचतुराई। भजी तुम्हहि सब देव बिहाई॥७॥
जेहि समान अतिसय नहि कोई। ता कर सील कस न अस होई॥८॥

अर्थ—धर्म-धुरन्धर प्रभु के वचन सुनकर ज्ञानी मुनि प्रेम-सहित बोले ॥४॥ ब्रह्मा, शिव, सनकादि सभी परमार्थ-वादी (ज्ञानी) जिसकी कृपा की चाह करते हैं ॥५॥ वही निष्काम भक्तों के प्यारे और दीनबंधु हे राम ! आपने कोमल वचन कहे ॥६॥ अब मैंने श्रीलक्ष्मीजी की चतुराई समझी कि जो उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आपही को भजा (वरण किया) ॥७॥ जिनके समान या जिनसे अधिक कोई नहीं है, उनका शील ऐसा क्यों न हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'धर्म धुरंधर प्रभु कै बानी।'—श्रीरामजी मर्यादा रखते हैं, इसीसे ऐसा कहते हैं, क्योंकि धर्म-धुरंधर हैं ; यथा—"धर्म सेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम।" (अ० दो० २४८)—यह श्रीवसिष्ठजी ने कहा है। एवं—"सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥ कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥" (अ० दो० १२५)—यह वाल्मीकिजी ने

कहा है। 'प्रभु'—अर्थात् आपकी आज्ञा सब मानते हैं—"बिधि हरिहर ससि ··" से "राम रजाइ सीस सबही के ॥" (अ० दो० २५३); वक्र। 'सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी।'—'ज्ञानी' के साथ 'सप्रेम' कहा, क्योंकि ज्ञान की शोभा प्रेम से ही है; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २०१); "सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी ॥" (अ० दो० १७०); ज्ञानी हैं, इसीसे माधुर्य में न भूले, आशिष न देकर ऐसा कह रहे हैं।

(२) 'जासु कृपा अज···'—प्रभु ने कहा था—'संतत मोपर कृपा करेहू।' उसका यह उत्तर है। 'ते तुम्ह राम अकाम···' यह—'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।' का उत्तर है। भाव यह कि स्वार्थी लोग तो स्वार्थ के लिये आपकी कृपा चाहते ही हैं, पर जो निष्काम हैं, वे भी प्यार करते हैं; यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥" (श्रीमद्भागवत)। अर्थात् आपको सकाम-निष्काम सभी चाहते हैं, तो हम कैसे छोड़ सकते हैं? जो आप कहते हैं—'तजेहु जनि नेहू ॥' 'दीन बंधु मृदु···'—हम सब दीन हैं, आप बंधु बनकर हमें बड़ाई देने के लिये ही ऐसे कोमल वचन कहते हैं।

(३) 'अब जानी मैं श्री···'—श्रीलक्ष्मीजी बड़ी चतुरा हैं, इसी से उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आप ही को वरा है, क्योंकि आप ही सबसे बड़े हैं, जो सबसे बड़ा होता है, वही ऐसे नम्र वचन कह सकता है; यथा—"सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्।" (वाल्मी० ५।१३।१०); यही शील गुण है कि स्वयं नम्र होकर औरों को बड़ाई देना, सबसे बड़े में ही ऐसा होता है, वही कहते हैं—

(४) 'जेहि समान अतिसय···'—आपके समान भी कोई नहीं है, तो बड़ा कहाँ से आवेगा; यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वे० ६।८); अर्थात् आप सबसे बड़े हैं, नम्रता की बड़ाई बड़ों में ही होती है।

केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी ॥९॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा ॥१०॥

छंद—तनु पुलक निर्भर प्रेमपूरन नयन मुख-पंकज दिये।
मन-ज्ञान-गुनगोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये ॥
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीर-चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई ॥

अर्थ—हे स्वामी! मैं किस तरह कहूँ कि अब जाइये, हे नाथ! आप ही कहिये, आप तो अंतर्यामी हैं, (अर्थात् ऊपर से ही कहता हूँगा, तो जान ही लेंगे) ॥९॥ ऐसा कहकर धीर मुनि प्रभु को देखने लगे, उनके नेत्रों से जल बह रहा है, शरीर पुलकित है ॥१०॥ शरीर पूर्ण पुलकित है, प्रेम-पूर्ण है। नेत्र मुख-कमल में लगाये हुए हैं। (मन में विचारते हैं कि) मैंने कौन-से जप-तप किये कि

मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियों से परे प्रभु के दर्शन पाये ॥ जप, योग और धर्म-समूह से मनुष्य अनुपम भक्ति को पाता है । रघुवीर श्रीरामजी के पवित्र चरित को श्रीतुलसी दासजी दिन-रात गाते हैं ॥

विशेष--(१) 'केहि बिधि कहउँ··· '—ऐश्वर्य-माधुर्य दोनों दृष्टि से नहीं कहते बनता, माधुर्य से ; यथा—"हम अब बनते बनहि पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बढ़ाई ॥" (अ० दो० २११), आप तो अंतर्यामी हैं, हमारे हृदय की जानकर कहिये कि परम सुकुमार राजकुमार को घोर वन जाने के लिये कैसे कहूँ ? ऐश्वर्य-दृष्टि से स्वामी को सेवक कैसे कहे कि अब जाइये, मैं अनाथ होकर रहूँगा ? यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥" (अ० दो० ५६) । 'अंतर-जामी'—आप अंतर्यामी-रूप से सबमें एवं सर्वत्र हैं, तो कौन जगह नहीं हैं ? जहाँ में जाने को कहूँ; यथा—"जहँ न होव तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ ।" (अ० दो० १२७) ।

इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का एक श्लोक मिलता हुआ सा है; यथा—"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वचः । तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्वित्युदासीनता ।··· ··" अर्थात् 'मत जाइये' ऐसा कहना अमंगल होता है, 'जाओ' ऐसा कहने में स्नेहशून्यता पाई जाती है, 'ठहरिये' ऐसा कहने में प्रभुता (शासन) और 'जैसी इच्छा हो वैसा करो' ऐसा कहने में उदासीनता पाई जाती है। अतः, आप अंतर्यामी हैं, मैं तो कुछ नहीं कह सकता ।

(२) *'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा ।'—धीर हैं तब भी वियोग की संभावना से अधीर हो* गये । नेत्रों से आँसू चल पड़े, शरीर रोमांचित हो आया । इसी दशा में मुख-कमल की मधुरिमा अवलोकन कर रहे हैं। पहले मिलने पर भी यही दशा हुई थी; यथा —"प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये ।" अब जाते समय भी है। भेद यही है कि उस समय आनंद के आँसू थे और इस समय दुःख के । जैसे पूर्व मयना और गिरिजा के विषय में कहा गया है; यथा —"दसा एक समुझब बिलगाना ।" (बा० दो० ६७), 'नयन मुख पंकज दिये'—मुनि के नेत्र रूपी भ्रमर छवि-रूपी मकरंद पान करते हुए मुख-कमल पर ही मँड़रा रहे हैं; यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृङ्ग । सादर पान करत अति ··" (दो० ७); "मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान ।" (बा० दो० २३१)। नेत्र मुख-कमल में लगाये हुए हैं कि न जाने, अब फिर इनके दर्शनों का भाग्य हो कि नहीं, मुनि को प्रभु के दर्शनों की बड़ी आकांक्षा थी, इसीसे इनका कई बार देखना लिखा गया है, यथा —(१) "देखि राम छबि नयन जुड़ाने ।" (२) "भरि लोचन सोभा निरखि ।" (३) "अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा ।" (४) "नयन मुख पंकज दिये ।"

(३) 'मन ज्ञान गुन ···'—आप मन आदि इन्द्रियों से परे हैं ज्ञान (बुद्धि) से भी परे हैं, तीनों गुणों की प्रवृत्ति से भी परे हैं, यथा —"माया गुन ज्ञानातीत अमाना ·" (बा० दो० १९१), "मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥" (बा० दो० ३४०); 'जप तप का किये' अर्थात् इनके दर्शन सम्पूर्ण साधनों के फल हैं, यथा—"सुकृत सकल सुभ-साधन-साजू । राम तुम्हहि अवलोकत आजू ॥" (अ० दो० १०६); इनकी प्राप्ति के योग्य मेरे कुछ भी साधन न थे। प्रभु ने निर्हेतु ही कृपा की है ।

(४) 'जप जोग धर्म समूह ते ···'—'जप' यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ॥" (दो० ३५); यह उपासना है । 'जोग' यथा—"जोग ते ज्ञाना ।" (दो० १५), यह ज्ञान; और 'धर्म-समूह' में कर्मकांड

आ गया; अर्थात् कांड-त्रय की फलरूपा परा भक्ति है; यथा—"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); "जप तप नियम जोग निज धरमा···" से "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८) तक।

(५) 'रघुबीर चरित पुनीत···'—भाव यह कि उक्त भक्ति के लिये मैं केवल पुनीत चरित ही गाता हूँ। जप-योगादि कांड-त्रय से जो अंतःकरण की शुद्धि होती वह इस पुनीत चरित से हो होगी। इसीसे मैं रात-दिन इसीको प्रेम से गाता हूँ। अपने सब साधनों की अवहेलना का कारण कहते हैं—'कठिन काल मल कोस···'।

श्रीगोस्वामीजी ने भरत-चरित की समाप्ति पर ही अयोध्याकांड की समाप्ति—"भरत चरित करि नेम···" इस सोरठे पर की। पर श्रीवाल्मीकिजी के मत से अयोध्याकांड की इति यहाँ के—"कठिन काल मल कोस···" पर लगाई।

इस अरण्यकांड के यहाँ छः दोहों में—"उमा राम गुन गूढ़···" से "कठिन काल मल कोस···" तक के श्रीरामचरित की इन्हीं दो सोरठों में इति लगाई। इसके उपक्रम में—"सकल मुनिन्ह सन विदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥" (दो० २) है, वैसे आगे चरित का उपक्रम—"मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा॥" इस चौपाई से है।

श्रीवाल्मीकिजी के मत में श्रीअत्रिजी का वात्सल्य भाव था; यथा—"सेयं मातेव तेऽनघ।" (वाल्मी० २।११७।१२); यह श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है। इसीसे अनसूयाजी ने श्रीसीताजी को भूषण और वस्त्र पहनाये हैं अतः, श्रीअत्रिजी के यहाँ तक मानों श्रीअयोध्या में ही रहे, इस से आगे कहते हैं—'चले बनहि'। ग्रन्थकार ने इस तरह उनका भी मत रक्खा, इसीसे चरित की फलश्रुति कहकर सोरठे पर इति लगा रहे हैं। इसीसे कुछ लोगों ने आगे दोहे से ही अरण्यकांड के दोहों की गिनती की है, इन छः दोहों को पृथक् गिना है।

दोहा—कलि-मल-समन दमन मन, राम-सुजस सुख मूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर, राम रहहिं अनुकूल॥
सोरठा—कठिन काल मल कोस, धर्म न ज्ञान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस, रामहि भजहिं ते चतुर नर॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का सुन्दर यश कलि के पापों का नाशक, मन का दमन करनेवाला और सुख का कारण है, जो इसे आदर-सहित सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं॥ यह कठिन कलि-काल पाप का खजाना है, इसमें न धर्म है, न ज्ञान, न योग और न जप ही; इसमें जो सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरामजी को ही भजते हैं, वे ही चतुर लोग हैं॥६॥

विशेष—(१) 'कलिमल समन दमन ···'—भाव यह कि जो पाप ग्रसित हृदयवाले हैं, उन्हें उनके पापों को दूर कर यह सुख देता है और जो शुद्ध हृदयवाले इसे सादर सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं। 'कठिन काल···'—कलि पाप का खजाना है; यथा—"कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयो-

निधि जन मन मीना ॥" (बा० दो० २६); "सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार ॥" (उ० दो० १०२)। 'धर्म न ज्ञान न जोग जप' यथा—"नहिं कलि करम न भगति बिबेकू ॥" (बा० दो० २६); देखिये। तब और साधनों में व्यर्थ पचना छोड़कर जो श्रीरामजी को ही भजते हैं, वे ही चतुर हैं ; यथा—"येहि कलि काल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा ॥ रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं ।···" (उ० दो० १२१); थोड़े परिश्रम में बहुत बड़ा कार्य साध लेना चतुरता है, वही यहाँ है। यथा—"युग जुग धरम जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥" काल धरम नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥" (उ० दो० १०३)।

"बिराध-बध" प्रकरण

मुनि-पद-कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर-नर-मुनि-ईसा ॥१॥
आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिबर-बेष बने अति काछे ॥२॥
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥३॥
सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥४॥
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया ॥५॥

अर्थ—मुनि के चरण-कमलों में शिर नवाकर सुर-नर-मुनि के स्वामी श्रीरामजी वन को चले ॥१॥ आगे श्रीरामजी हैं, पुनः पीछे छोटे भाई (श्रीलक्ष्मणजी हैं), मुनि-श्रेष्ठों का अत्यंत सुन्दर वेष बनाये हुए शोभित हो रहे हैं ॥२॥ दोनों के बीच में श्रीजानकीजी कैसी शोभित हो रही हैं कि जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया (शोभित) हो ॥३॥ नदी, वन, पहाड़ और दुर्गम (अटपट) घाट (सभी अपने) स्वामी को पहचान कर सुन्दर मार्ग देते हैं; अर्थात् जहाँ घाट नहीं है, वहाँ नदियाँ सुन्दर घाट कर देती हैं, अथाह जल को गोपद-भर कर देती हैं, वन और पहाड़ सुन्दर कोमल मार्ग कर देते हैं ॥४॥ जहाँ-जहाँ देव (दिव्य शरीर एवं दिव्य गुण-विशिष्ट) श्रीरघुनाथजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ मेघ आकाश में छाया करते जाते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल नाइ ······'—श्रीरामजी ने अपने माधुर्य को रक्खा कि आज्ञा माँगी और प्रणाम करके चले ; पर मुनि ने अपनी ऐश्वर्य-दृष्टि ही रक्खी, आशिष नहीं ही दी और न स्वामी को जाने को कहा। श्रीरामजी के यों ही चल देने का कारण 'सुर नर मुनि ईसा' से कहा गया कि वे सुर आदि की रक्षा के लिये गये, नहीं तो न जाते ; यथा—"तुलसिदास जौं रहउँ मातु-हित को सुर बिप्र भूमि भय टारै। (गी० अ० ९); "तुलसिदास सुर काज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महि आयक।" (गी० अ० ३)। 'चले बनहिं'—इसका यह भाव नहीं कि अभी तक बस्ती में रहे, अब वन को जाते हैं, किंतु श्रीचित्रकूट वन से अब दूसरे वन जाने का भाव है ; यथा—"आयसु होय जाउँ बन आना।" ऊपर कहा गया है। 'सुर नर मुनि ईसा' क्योंकि यहाँ से आगे ब्रह्मादि देवता, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनि एवं शबरी आदि ने ईश्वर ही करके माना भी है। आगे सर्वत्र ऐश्वर्य ही प्रधान रहेगा। पहले अयोध्याकांड में श्रीभरद्वाजजी और श्रीवाल्मीकिजी ने माधुर्य को प्रधान

माना है। इसीसे दोनों के यहाँ आशीर्वाद देना लिखा है और दोनों के ऐश्वर्य कथन पर श्रीरामजी का सकुचाना लिखा है ; यथा—"दीन्हि असीस मुनीस······"—श्रीभरद्वाजजी, "आसिरवाद विप्रवर दीन्हा।"—श्रीवाल्मीकिजी, "सुनि मुनि बचन राम सकुचाने।"—श्रीभरद्वाजजी के यहाँ, सकुचि राम मन महँ मुसुकाने।"—श्रीवाल्मीकिजी के यहाँ। पर ऐसी व्यवस्था आगे ऋषियों के यहाँ नहीं है ; क्योंकि ऐश्वर्य प्रधान चरित हैं।

(२) 'आगे राम अनुज पुनि······'—दोनों भाइयों को एक साथ कहा, क्योंकि तापस-वेष एक-समान है। 'बने अति काछे' से पूर्व-कथित का संकेत कर दिया ; यथा—"तरुन तमाल बरन तन सोहा।··· दामिनि बरन लखन···मुनि पट कटिन्ह···जटा मुकुट सीसन्ह सुभग···" (अ० दो० ११५) ; 'पुनि' शब्द से सूचित कर दिया कि श्रीरामजी के पीछे कोई है, तब श्रीलक्ष्मणजी हैं।

(३) 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ··'—ये दोनों अर्द्धालियाँ अ० दो० १२२ में आ गई हैं। भेद केवल इतना ही है कि यहाँ के 'श्री' की जगह पर वहाँ 'सिय' कहा गया है। इसका कारण यह है कि अरण्यकांड से ऐश्वर्य की प्रधानता है, इसीसे 'सीय' नाम माधुर्य का न रखकर ऐश्वर्यपरक 'श्री' यह लिखा गया है। 'सिय' और 'लखन' इन वात्सल्य-सम्बन्धी नामों का सम्बन्ध अयोध्याकांड तक ही है। अतः, पूर्वोक्त अ० दो० १२२ चौ० १-२ के ही सब भाव यहाँ लेना चाहिये।

वहाँ श्रीरामजी को ब्रह्म, श्रीजानकीजी को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपा-रूपिणी कहा गया और शुद्ध जीव के रूप में श्रीलक्ष्मणजी का होना कहा है। यहाँ फिर कहा गया, क्योंकि आगे यह चरितार्थ होगा। कृपा की ओट लेने से श्रीरामजी जीव-रूपी श्रीलक्ष्मणजी को गीता का उपदेश करेंगे, इतने ही अविद्या-रूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे ये उसी ज्ञान से निशाचरी जान लेंगे। फिर प्रभु की ही कृपादेवी के सकेत से श्रीलक्ष्मणजी को संकेत मिलेगा। जिससे वे शूर्पणखा को कुरूपा करके त्याग करेंगे कि फिर उनकी दृष्टि में वह न आवेगी। फिर उसके प्रतिकार में खर-दूषणादि की बाधाओं को कृपा करके श्रीरामजी ही अपने ऊपर ले लेंगे। उन्हें क्षण-भर में नाश कर देंगे। यह सब कृपादेवी की ओट लेने के भाव हैं। जीव के उद्धार करने में कृपा देवी की शोभा होती है, वही शोभा यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है।

(२) 'सरिता बन गिरि···जहँ-जहँ···'—सरिता आदि सब श्रीरामजी के विराट्-रूप में शरीर हैं, श्रीरामजी सबके शरीरी हैं। अपने आत्मा रूप स्वामी को जानकर सभी सेवा कर रहे हैं, इसीसे ऐश्वर्य परक देव' नाम कहा गया है, आगे शरभंगजी के यहाँ—"सो कछु देव न मोर निहोरा।" कहा है और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ भी—"मुनि आश्रम पहुँचे सुर भूपा।" कहा है, क्योंकि जब सरिता आदि जड़ भी ऐश्वर्य मान रहे हैं, तो ऋषियों के यहाँ तो प्रकट हैं ही। सरिता से जल, गिरि, वन से स्थल और मेघ से नभ के जीवों से सेवित होना कहा है। जीव संसार में तीन ही स्थल के होते हैं ; यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना।" (बा० दो० ३)।

मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता ॥६॥
तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा ॥७॥

अर्थ—विराध दैत्य मार्ग में जाते हुए मिला, समीप आते ही रघुवीर श्रीरामजी ने उसे मार डाला ॥६॥ तुरत ही उसने सुन्दर रूप पाया, उसको दुखी देखकर (शाप का फल भोगते हुए साधन हीन जानकर) अपने लोक को भेजा ॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि आये जहँ···'—'पुनि' शब्द से दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ भगवानों का बर्ताव हुआ, पर यहाँ नहीं, क्योंकि विराध के कारण इधर की राह बंद थी। इधर का कोई आदमी उधर नहीं जाता था, इससे इन्हें समाचार ही नहीं मिला। इसलिये ये आगे बढ़कर लेने नहीं आये।

'सुंदर अनुज···'—श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है कि विराध-वध करके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित हुए (वा० स० ४।१४); वही भाव यहाँ 'सुंदर' शब्द में है।

(२) 'सादर पान करत अति···'—भौंरा रस पीता है, अतः, यहाँ छवि-रूपी रस का अध्याहार कर लेना चाहिये ; यथा—"अरबिंद सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।" (क० बा० १); 'अति धन्य'—"सुकृती पुण्यवान् धन्यः" अर्थात् ये मुनि सुकृती हैं। इसीसे इन्हें ऐसे दर्शन हुए ; यथा— "जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥" (बा० दो० ३०१), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥" (बा० दो० ३३१); "फिरि-फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन॥" (दो० २६)। और ऋषियों का जन्म धन्य है, इनका अति धन्य है।

> कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर - मानस - राज - मराला॥१॥
> जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा॥२॥
> चितवत पंथ रहेउँ दिन - राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥३॥
> नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥४॥
> सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे कृपालु ! हे रघुवीर ! हे शिवजी के हृदय-रूपी मानससरोवर के राज-हंस ! सुनिये ! ॥१॥ मैं ब्रह्मलोक को जाता था, कानों से सुना कि श्रीरामजी वन में आवेंगे ॥२॥ दिन-रात आपका मार्ग देखता रहा, हे प्रभो ! अब आपको देखकर छाती ठंढी हुई ॥३॥ हे नाथ ! मैं सब साधनों से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की है ॥४॥ हे देव ! यह (कृपा करना) कुछ मुझपर आभार (अनुग्रह) नहीं है, हे भक्तों के मन को चुरानेवाले ! आपने अपना प्रण रक्खा है ॥५॥

विशेष—(१) 'कह मुनि सुनु रघुबीर ···'—'रघुबीर'—आप कृपा के आलय और विद्यावीर एवं पराक्रम वीर हैं, तभी विराध को मारा ; यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०); नहीं तो वह किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मरता ही न था। इस कार्य में मुनियों पर दया-वीरता भी है। कृपा-गुण से मुझे दर्शन दिये, नहीं तो किसी और ही मार्ग से चले जाते। 'संकर मानस राज मराल'— यहाँ 'मानस' शब्द में श्लेष है। ऐसा न लेने से रूपक अधूरा रह जाता है ; यथा—"जय महेस मन मानस हंसा।" (बा० दो० २८४); "जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (बा० दो० १७५); इत्यादि में मानस से भिन्न 'मन' कहा गया है, पर यहाँ नहीं है, इसका आशय आगे 'जन मन चोरा' से स्पष्ट है कि मन चुरा लिया गया है। हंस की प्राप्ति मानससर में ही होती है, वैसे आप श्रीशिवजी के ध्यान के ही विषय हैं। वे ही आप स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिये और मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की।

विशेष—(१) 'मिला असुर बिराध·····'—'मग जाता'—यह रास्ते में सभीको लगता था; यथा—"हठि सब ही के पंथहिं लागा।" (बा० दो० १८१); वही भाव यहाँ है। 'रघुबीर'—वीर हैं, तभी उसे आते ही मार डाला। 'आवत ही'—श्रीगोस्वामीजी के कल्प में विराध श्रीसीताजी को छू भी न सका, क्योंकि रावण भी इनकी छाया (माया-सीता) को ही हरण कर सका था, उन्हें विराध कैसे छू पाता? 'निपाता'—यह शब्द ऐसा रक्खा गया है कि वह जिस-जिस तरह से मारा गया है, सब आ जाय।

वाल्मीकीय रामायण आ० स० ३+४ में विराध ने अपनी कथा श्रीरामजी से कही है—"कि मैं जब राक्षस का पुत्र हूँ, शतहृदा मेरी माता का नाम है और मेरा नाम विराध है। ब्रह्मा को प्रसन्न करके मैंने यह वर पाया है कि मैं शस्त्र से न मारा जाऊँ और न मेरा कोई अंग ही कटे। (मैं ऋषियों के मांस खाते हुए विचरता हूँ, सर्ग २) (फिर अपने वध का निश्चय जानकर उसने कहा है कि) हे काकुत्स्थ! आपने मुझे मारा, यह अब मैं जान गया, पहले मोहवश न जाना था। मैं पहले तुम्बरु नामक गंधर्व था, रंभा में आसक्त होने और समय पर कुबेर की सेवा में न पहुँचने से उन्होंने मुझे शाप दिया था, जिससे मैंने राक्षसी तन पाया। मेरी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर कुबेरजी ने कहा कि जब श्रीरामजी रण में तेरा वध करेंगे, तब फिर तू इसी अपने रूप को पाकर स्वर्ग में आवेगा। आज आपकी कृपा से मैं उस भयानक शाप से मुक्त हुआ। अब मैं अपने लोक को जाता हूँ, मेरा शरीर गढ़े में तोपकर आप शरभंगजी के आश्रम को जायँ। जो राक्षस गाड़े जाते हैं, उन्हें श्रेष्ठ लोक प्राप्त होता है, यही राक्षसों का सनातन धर्म है।" फिर वहीं पर गढ़ा खोदकर श्रीलक्ष्मणजी ने जीता ही उसे गाड़ दिया।

(२) 'तुरतहिं रुचिर रूप तेहि पावा।···'—यह रुचिर रूप उसका पूर्व का गंधर्व-रूप है। 'निजधाम'—उपर्युक्त शाप की कथा के अनुसार उसका निजधाम अर्थात् गंधर्वलोक, जहाँ से वह च्युत हुआ था, वहीं भेज दिया गया; यथा—"रघुपति चरन-कमल सिर नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥" (दो० ३३);—कबंध, "बंदि राम पद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा॥" (सुं० दो० ५१);—शुक।

अनसूया-आश्रम से दक्षिण दो मील पर आगे विराध कुंड मिलता है, यह स्थल घोर जंगल में बड़ा चौड़ा गहरा कटे हुए पत्थर में है, बड़ा भयंकर है। जिसे ३-४ गज बाहर से ही कोई भी देख सकता है। उसके नीचे वह भूमि के उगे हुए बड़े बड़े वृक्षों के हरे पत्ते ही देख पड़ते हैं।

शरभंग-देह त्याग-प्रकरण

पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा॥८॥

दोहा—देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग॥७॥

शब्दार्थ—सरभंगा (शर = चिता) = चिता में शरीर भंग किया, इसीसे शरभंग नाम पड़ा।

अर्थ—फिर सुन्दर भाई और श्रीजानकीजी के साथ वहाँ आये, जहाँ शरभंग मुनि थे॥८॥ श्रीरामजी का मुखकमल देखकर मुनि-श्रेष्ठ के नेत्र रूपी भौंरे (छवि-रूपी मकरंद को) सादर पान कर रहे हैं, शरभंगजी का जन्म धन्य है॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि आये जहँ ...'—'पुनि' शब्द से दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ अगवानी का बर्त्ताव हुआ, पर यहाँ नहीं, क्योंकि विराध के कारण इधर की राह बंद थी। इधर का कोई आदमी उधर नहीं जाता था, इससे इन्हें समाचार ही नहीं मिला। इसलिये ये आगे बढ़कर लेने नहीं आये।

'सुंदर अनुज ...'—श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है कि विराध-बध करके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित हुए (वा० स० ४।१४); यही भाव यहाँ 'सुंदर' शब्द में है।

(२) 'सादर पान करत अति ...'—भौंरा रस पीता है, अतः यहाँ छवि-रूपी रस का अध्याहार कर लेना चाहिये; यथा—"अरविंद सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।" (क० बा० १); 'अति धन्य'—"सुकृती पुण्यवान् धन्य." अर्थात् ये मुनि सुकृती हैं। इसीसे इन्हें ऐसे दर्शन हुए; यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥" (बा० दो० ३०१), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥" (बा० दो० ३३२); "फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन॥" (दो० १६)। और ऋषियों का जन्म धन्य है, इनका अति धन्य है।

कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर - मानस - राज - मराला॥१॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन अइहहिं रामा॥२॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन - राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥३॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥४॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे कृपालु! हे रघुबीर! हे शिवजी के हृदय-रूपी मानसरोवर के राजहंस! सुनिये! ॥१॥ मैं ब्रह्मलोक को जाता था, कानों से सुना कि श्रीरामजी वन में आवेंगे॥२॥ दिन-रात आपका मार्ग देखता रहा, हे प्रभो! अब आपको देखकर छाती ठंढी हुई॥३॥ हे नाथ! मैं सब साधनों से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की है॥४॥ हे देव! यह (कृपा करना) कुछ मुझपर आभार (अनुग्रह) नहीं है, हे भक्तों के मन को चुरानेवाले! आपने अपना प्रण रक्खा है॥५॥

विशेष—(१) 'कह मुनि सुनु रघुबीर ...'—'रघुबीर'—आप कृपा के आलय और विद्यावीर एवं पराक्रम वीर हैं, तभी विराध को मारा; यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०); नहीं तो वह किसी भी अस्त्र शस्त्र से मरता ही न था। इस कार्य में मुनियों पर दया-वीरता भी है। कृपा-गुण से मुझे दर्शन दिये, नहीं तो किसी और ही मार्ग से चले जाते। 'संकर मानस राज मराला'—यहाँ 'मानस' शब्द में श्लेष है। ऐसा न लेने से रूपक अधूरा रह जाता है; यथा—"जय महेस मन मानस हंसा।" (बा० दो० २८४); "जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (बा० दो० १४५); इत्यादि में मानस से भिन्न 'मन' कहा गया है, पर यहाँ नहीं है, इसका आशय आगे 'जन मन चोरा' से स्पष्ट है कि मन चुरा लिया गया है। हंस की प्राप्ति मानससर में ही होती है, वैसे आप श्रीशिवजी के ध्यान के ही विषय हैं। वे ही आप स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिये और मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की।

(२) 'जाव रहेउँ बिरंचि के धामा।'''—ब्रह्मलोक-जाने की कथा वाल्मीकीय आ० स० ५ में कही गई है— श्रीरामजी ने शरभंगजी के आश्रम को जाते हुए एक अद्भुत चरित देखा कि हरे घोड़ों के रथ पर सवार, देवांगनाओं से सेवित इन्द्र आकाश में दीप्तिमान है। देव-गंधर्व उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभंगजी से बातें कर रहा है। श्रीरामजी को आते देखकर इन्द्र शीघ्र वहाँ से चल दिया कि अभी श्रीरामजी न देख पावें, रावण-वध के पीछे दर्शन करूँगा। तब श्रीरामजी मुनि के पास आये। स्वागत हो जाने पर श्रीरामजी ने इन्द्र के आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक जीत लिया है। इन्द्र मुझे वहाँ ले जाने के लिये आये थे, पर जब मैंने सुना कि आप समीप आ गये हैं, तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे अतिथि के दर्शन बिना ब्रह्मलोक न जाऊँगा।

(३) 'चितवत पंथ रहेउँ'''—बहुत काल से राह देखता था, अब आपके दर्शन पाने से छाती ठंढी हुई; यथा—"देखि राम छबि नयन जुड़ाने।" (दो० २); यह भी दिखाया कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति से श्रीरामजी के दर्शन बहुत श्रेष्ठ हैं।

(४) 'नाथ सकल साधन मैं हीना'''; यथा—"मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये।" (दो० ६); वही भाव यहाँ भी है। इनके साधन तो बहुत थे, उन्हींसे इन्होंने ब्रह्मलोक-पर्यन्त जीत लिया था। फिर भी अपनेको सब साधन-हीन कहते हैं, क्योंकि प्रभु के दर्शनों की अपेक्षा सब साधन नहीं के समान हैं; अर्थात् अति अल्प हैं। साधन परिमित होते हैं और प्रभु अपरिमित हैं। अतः, उनकी प्राप्ति उन्हीं की कृपा से होती है, साधनों से नहीं। कृपा का अधिकारी दीन है। इसलिये कहते हैं—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।" कहा भी है—"जब लगि मैं न दीन दयालु तैं मैं न दास तैं स्वामी॥" (वि० ११३)।

(५) 'निज पन राखेहु जन मन चोरा।'—दर्शन देने का मैं कृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि यह तो आपका प्रण ही है; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५); अतः आप अपने स्वभाव से ही ऐसा करते हैं। 'जन मन चोरा'—यहाँ तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि शिवजी के मन को चुरा लिया, कवि को खोजे न मिला, इसलिये उन्होंने 'मानस' के ही श्लेष से काम चलाया। पहले 'संकर मानस राज मराला।' कहकर तब 'जन मन चोरा' कहा गया, क्योंकि चोरी खोलनी थी। मन ही चंचलता का कारण है। आप कृपा करके उसे ही चुरा लेते हैं कि भक्ति एक-रस हो। 'देव' अर्थात् आप सबके नियंता एवं समर्थ हैं।

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी॥६॥
जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा॥८॥

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम॥८॥

अर्थ—तबतक आप मुझ दीन के हित के लिये यहाँ रहिये, जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न)

मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप जितने किये थे, वे सब प्रभु को समर्पण करके भक्ति का वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार चिता रचकर शरभंगजी हृदय से सब आसक्ति छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ नील मेघ के-से श्याम शरीरवाले सगुण-रूप श्रीरामजी (आप) मेरे हृदय में निरंतर (सदा) वास कीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तब लगि रहहु···'—जैसे दीन को कृपा करके दर्शन दिये वैसे कुछ और ठहरिये। ठहरने के लिये निहोरा भी करते हैं कि इतना और मेरी प्रार्थना से कीजिये; यथा—"एष पन्था नरव्याघ्र ! मुहूर्तं पश्य तात माम् । यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥" (वाल्मी० ३।५।३७) ।

(२) 'जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा । ···'—पहले इन्हें सुकृत और उनके फल-रूप लोकों की वासना थी, किन्तु श्रीरामजी के दर्शनों से वह धुल गई। इसलिये उनसबों को भक्ति के लिये समर्पण कर दिया; यथा—"सब करि मागहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (अ० दो० १२९); ऐसे ही विभीषणजी ने भी कहा है—"उर कछु प्रथम वासना रही । प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥ अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु···" (सुं० दो० ४८) ।

(३) 'येहि बिधि सर रचि···'—स्थूल चिता-रचना के साथ ही सब साधन-रूपी लकड़ियों की भी चिता बना ली कि जल जायँ, फिर उनकी वासना न रह जाय। 'छाड़ि सब संगा'—क्योंकि हृदय में और भी वासना-रूपी विकारों के रहते प्रभु नहीं बसते; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५); इसलिये सुकृत एवं तज्जन्य लोकों की वासना तथा और भी भावाभाव की आसक्ति छोड़ बैठे।

(४) 'सीता अनुज समेत प्रभु···'—भाव यह कि निर्गुण रूप से सदा बसते ही हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाउ।" (अ० दो० २५७), ऐसे ही हमारे हृदय में भी हैं, पर अब सगुण-रूप से बसिये। जलद आकाश में रहता है, यहाँ हृदय ही आकाश है। मेघ के साथ दामिनि रहती है, यहाँ श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं। वहाँ दामिनि निरंतर नहीं रहती, पर यहाँ निरंतर साथ रहने को माँगते हैं।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा । रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ । प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥२॥
रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी । सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥३॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा । जयति प्रनतहित करुना-कंदा ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर योगाग्नि में शरीर जला दिया और श्रीरामजी की कृपा से वैकुंठ को चल दिये ॥१॥ इससे मुनि भगवान् में लीन न हुए; क्योंकि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्ति का वर माँग लिया था ॥२॥ ऋषि समूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजी की यह (श्रेष्ठ) गति देखकर अपने हृदय में विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनि-वृन्द स्तुति कर रहे हैं—"शरणागत-हितकारी करुणाकर प्रभु की जय हो" ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा।'—मुनि ने अपने सब साधन तो भक्ति के बदले में दे दिये, तब भक्ति के अनुसार ही भगवान् के सगुण रूप का ध्यान माँगा। भक्तों को वैकुंठवास मि

(२) 'जाव रहेउँ बिरंचि के धामा । ···'—ब्रह्मलोक-जाने की कथा वाल्मीकीय आ० स० ५ में कही गई है—श्रीरामजी ने शरभंगजी के आश्रम को जाते हुए एक अद्भुत चरित देखा कि हरे घोड़ों के रथ पर सवार, देवांगनाओं से सेवित इन्द्र आकाश में दीप्तिमान है। देव-गंधर्व उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभंगजी से बातें कर रहा है। श्रीरामजी को आते देखकर इन्द्र शीघ्र वहाँ से चल दिया कि अभी श्रीरामजी न देख पावें, रावण-वध के पीछे दर्शन करूँगा। तब श्रीरामजी मुनि के पास आये। स्वागत हो जाने पर श्रीरामजी ने इन्द्र के आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक जीत लिया है। इन्द्र मुझे वहाँ ले जाने के लिये आये थे, पर जब मैंने सुना कि आप समीप आ गये हैं, तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे अतिथि के दर्शन बिना ब्रह्मलोक न जाऊँगा।

(३) 'चितवत पंथ रहेउँ ···'—बहुत काल से राह देखता था, अब आपके दर्शन पाने से छाती ठंढी हुई; यथा—"देखि राम छबि नयन जुड़ाने।" (दो० २); यह भी दिखाया कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति से श्रीरामजी के दर्शन बहुत श्रेष्ठ हैं।

(४) 'नाथ सकल साधन मैं हीना ···'; यथा—"मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये।" (दो० ६); वही भाव यहाँ भी है। इनके साधन तो बहुत थे, उन्हींसे इन्होंने ब्रह्मलोक-पर्यन्त जीत लिया था। फिर भी अपनेको सब साधन-हीन कहते हैं, क्योंकि प्रभु के दर्शनों की अपेक्षा सब साधन नहीं के समान हैं; अर्थात् अति अल्प हैं। साधन परिमित होते हैं और प्रभु अपरिमित हैं। अतः, उनकी प्राप्ति उन्हीं की कृपा से होती है, साधनों से नहीं। कृपा का अधिकारी दीन है। इसलिये कहते हैं—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।" कहा भी है—"जब लगि मैं न दीन दयालु तैं मैं न दास तैं स्वामी॥" (वि० ११३)।

(५) 'निज पन राखेहु जन मन चोरा।'—दर्शन देने का मैं कृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि यह तो आपका प्रण ही है; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५); अतः आप अपने स्वभाव से ही ऐसा करते हैं। 'जन मन चोरा'—यहाँ तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि शिवजी के मन को चुरा लिया, कवि को खोजे न मिला, इसलिये उन्होंने 'मानस' के ही श्लेष से काम चलाया। पहले 'संकर मानस राज मराला।' कहकर तब 'जन मन चोरा' कहा गया, क्योंकि चोरी खोलनी थी। मन ही चंचलता का कारण है। आप कृपा करके उसे ही चुरा लेते हैं कि भक्ति एक-रस हो। 'देव' अर्थात् आप सबके नियंता एवं समर्थ हैं।

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी ॥६॥
जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा ॥८॥

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम ॥८॥

अर्थ—तबतक आप मुझ दीन के हित के लिये यहाँ रहिये, जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न)

मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप जितने किये थे, वे सब प्रभु को समर्पण करके भक्ति का वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार चिता रचकर शरभंगजी हृदय से सब आसक्ति छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ नील मेघ के-से श्याम शरीरवाले सगुण-रूप श्रीरामजी (आप) मेरे हृदय में निरंतर (सदा) वास कीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तब लगि रहहु···'—जैसे दीन को कृपा करके दर्शन दिये वैसे कुछ और ठहरिये। ठहरने के लिये निहोरा भी करते हैं कि इतना और मेरी प्रार्थना से कीजिये; यथा—"एष पन्था नरव्याघ्र ! मुहूर्तं पश्य तात माम्। यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥" (वाल्मी० ३।५।३७)।

(२) 'जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा।···'—पहले इन्हें सुकृत और उनके फल-रूप लोकों की वासना थी, किन्तु श्रीरामजी के दर्शनों से वह धुल गई। इसलिये उनसबों को भक्ति के लिये समर्पण कर दिया; यथा—"सब करि मागहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (अ० दो० १२६); ऐसे ही विभीषणजी ने भी कहा है—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···" (सुं० दो० ४८)।

(३) 'येहि बिधि सर रचि···'—स्थूल चिता-रचना के साथ ही सब साधन-रूपी लकड़ियों की भी चिता बना ली कि जल जायँ, फिर उनकी वासना न रह जाय। 'छाड़ि सब संगा'—क्योंकि हृदय में और भी वासना-रूपी विकारों के रहते प्रभु नहीं बसते; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५); इसलिये सुकृत एवं तज्जन्य लोकों की वासना तथा और भी भावाभाव की आसक्ति छोड़ बैठे।

(४) 'सीता अनुज समेत प्रभु ··'—भाव यह कि निर्गुण रूप से सदा बसते ही हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७), ऐसे ही हमारे हृदय में भी हैं, पर अब सगुण-रूप से बसिये। जलद आकाश में रहता है, यहाँ हृदय ही आकाश है। मेघ के साथ दामिनि रहती है, यहाँ श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं। वहाँ दामिनि निरंतर नहीं रहती, पर यहाँ निरंतर साथ रहने को माँगते हैं।

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥२॥
रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥३॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा। जयति प्रनतहित करुना-कंदा ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर योगाग्नि में शरीर जला दिया और श्रीरामजी की कृपा से वैकुंठ को चले दिये ॥१॥ इससे मुनि भगवान् में लीन न हुए; क्योंकि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्ति का वर माँग लिया था ॥२॥ ऋषि समूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजी की यह (श्रेष्ठ) गति देखकर अपने हृदय में विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनि-वृन्द स्तुति कर रहे हैं—"शरणागत-हितकारी करुणाकंद प्रभु की जय हो" ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा।'—मुनि ने अपने सब साधन तो भक्ति के बदले में दे दिये, तब भक्ति के अनुसार ही भगवान् के सगुण रूप का ध्यान माँगा। भक्तों को वैकुंठवास मिलता है,

यथा—"यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ।" (गीता ९।२५); इसीसे वैकुंठ गये। भगवान् अमेय वैभववाले हैं, इससे परिमित साधनों के फल-रूप नहीं हैं, अतएव उनकी ही कृपा से उनकी प्राप्ति कही गई। उनके दर्शन भी उनकी ही कृपा से हुए; यथा—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।" और वैकुंठ की प्राप्ति भी; यथा—"राम कृपा बैकुंठ सिधारा।"

(२) 'ताते मुनि हरि लीन···'—पहले लीन होने की इच्छा थी, जैसे कि योगाग्नि से शरीर त्यागने पर कैवल्य-मुक्ति मिलती है; जिसे 'सोहमस्मि-वृत्ति' से साक्षात्कार करने का विधान उत्तरकांड के ज्ञान-दीपक में कहा गया है। पर जब श्रीरामजी के दर्शन हुए तब इनके दर्शनानंद के आगे उस मुक्ति के सुख को फीका समझकर इसी रूप की नित्य-प्राप्ति के लिये वैसा ध्यान माँगा; यथा—"जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।" (गी० आ० ५); फिर उसी निश्चय के अनुसार गति हुई; यथा—"क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" (छां० ३।१४।१); अर्थात् यह पुरुष निश्चयमय है, इस लोक में पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से जाकर होता है, इसलिये वह यहीं पक्का निश्चय करे; तथा—"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्। त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥" (गीता ८।६); 'प्रथमहि भेद भगति वर लयऊ।'—कैवल्य मुक्ति में अभेदत्व है; यथा—"सो त ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव गावहि वेदा॥" (उ० दो० ११०); क्योंकि उसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की अभेद भावना होती है, जिससे ब्रह्म की साधर्म्य प्राप्ति को तल्लीन होना कहा जाता है। पर इन्होंने सगुण-रूप की ध्यान-पूर्वक भेद-भक्ति माँगी कि जिसमें परिकर रूप से भगवान् के साथ रहें; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तै० २।१), सगुण-उपासक कैवल्य मोक्ष नहीं चाहते; यथा—"सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥ ताते उमा मोच्छ नहि पावा। दसरथ भेद भगति मन लावा॥" (लं० दो० ११०)।

(३) 'रिषि-निकाय मुनिवर-गति देखी।'—'गति देखी'—हरिरूप धारण किये हुए वैकुंठ जाते सबने देखा, जैसा कि गृध्रराज के प्रसंग में कहा गया है—"गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा॥···" (दो० ३१); इत्यादि। 'सुखी भए ···'—पहले ब्रह्मलोक-यात्रा पर ही सुखी हुए थे, अब वैकुंठ जाते देखकर विशेष सुखी हुए। यह भी दिखाया कि शरभंगजी सर्व-प्रिय थे। इसीसे इनकी उत्तम गति पर सबने आनंद माना।

(४) 'अस्तुति करहिं···'—उपर्युक्त 'रिषि निकाय' और यहाँ के 'मुनिवृंदा' से वाल्मीकीय आ० स० ६ में कहे हुए अनेक वृत्तिवाले ऋषियों को सूचित किया। पुनः 'प्रनतहित करुना कंदा' से यहाँ की स्तुति भी सूचित की; यथा—"ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः॥ परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०-२१)। इन श्लोकों से मुनियों ने प्रणत हो कर अपने हित के लिये प्रभु से करुणा करने के लिये स्तुति की है।

"बरनि सुतीछन प्रीति पुनि"—प्रकरण

पुनि रघुनाथ चले बन आगे। मुनिबर - बृंद बिपुल सँग लागे॥५॥
अस्थि - समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥६॥

जानत हूँ पूछिय कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी ॥७॥
निसिचर-निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये ॥८॥

दोहा—निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥९॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे वन को चले, मुनि-श्रेष्ठों के बहुत-से समूह साथ हो लिये ॥५॥ हड्डियों के ढेर देखकर श्रीरघुनाथजी को बड़ी दया लगी और उन्होंने मुनियों से पूछा (कि यह हड्डियों का ढेर कैसा है ?) तब मुनियों ने कहा कि हे स्वामी ! आप सर्वदर्शी और अंतर्यामी हैं, अतः जानते हुए भी कैसे पूछते हैं ? ॥६-७॥ निशाचर-समूह ने सब मुनियों को खा डाला है (उन्हीं मुनियों की हड्डियों का यह ढेर है), यह सुनकर रघुवीर श्रीरामजी के नेत्रों में जल भर आया ॥८॥ (तब श्रीरामजी ने) भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की कि मैं पृथिवी को राक्षसों से रहित कर दूँगा। पुनः आपने समस्त मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर सबको सुख दिया ॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि रघुनाथ चले···'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारंभ जनाया कि श्रीअत्रिजी के यहाँ से चलकर शरभंगजी के यहाँ कुछ ठहरे थे; यथा—"तब लगि रहहु दीन हित लागी।" (दो० ७); अब पुनः श्रीरामजी श्रीसुतीक्ष्णजी के वन को चले।

(२) 'मुनिबर बृंद बिपुल सँग लागे।'—क्यों संग लगे ? (क) आगे के अस्थि-समूह दिखाने और दुःख सुनाने को उसी राह से लिवा ले चले; यथा—"एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः॥ शरभंगाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदर.। आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः॥" (व० रमी० ३।१०।१४-१५); अर्थात् अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि··· इन्हीं पापी राक्षसों के वध के लिये, आपको महर्षि लोग उपाय करके इधर लाये हैं। (ख) अपने-अपने आश्रमों पर ले जाने और आतिथ्य सत्कार करने के लिये; यथा—"सकलमुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।" यह आगे कहा है। (ग) कुछ पहुँचाने और इसी मिस से शोभा देखने के लिये भी; यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि सँग लागे॥" (अ० दो० ११३)।

पूर्व श्रीचित्रकूट से अत्रि-आश्रम तक बहुत मुनि थे; यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई।" (दो० २); फिर बीच में विराध के भय से न रहते थे। इधर शरभंगाश्रम से अगस्त्य-आश्रम तक भी बहुत रहते हैं, इसीसे 'बृंद बिपुल' कहा गया है।

(३) 'अस्थि समूह देखि···'—एक-दो हड्डियाँ होतीं तो स्वाभाविक जानकर न पूछते। समूह देखकर ही पूछा, क्योंकि यह देखकर 'अति दाया' लगी। पुनः पूछकर नीति का पालन भी किया, क्योंकि बिना अपराध प्रकट किये किसीको दंड न देना चाहिये, राज-नीति-पालन के सम्बन्ध से 'रघुराया' कहा।

(४) 'सबदरसी सब अंतरजामी'—'सबदरसी' से जनाया कि जो कुछ हुआ आप जानते ही हैं। 'अंतरजामी' से सबके भीतर की बात भी जानना सूचित किया कि हमलोग जो चाहते हैं, यह भी आप जानते

ही हैं। 'नयनजल छाये'—अर्थात् करुणा का उदय हुआ, जिससे तुरत आश्रितों के दुःख दूर करते हैं, यथा—"जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)।

(५) 'निसिचर हीन करउँ महि, भुज ···'—पृथिवी-भर को निशाचर-हीन करने के लिये कहा, क्योंकि—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये।" यह सुन चुके हैं। 'भुजउठाइ'—ऐसी प्रतिज्ञा की रीति है, इससे दृढ़ता एवं सत्यता प्रकट की जाती है; यथा—"चल न ब्रह्म कुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई॥" (बा० दो० १६७); "प्रन बिदेह कर कहहि हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (बा० दो० २४९), इस तरह मुनियों को दृढ़ भरोसा दिया।

(६) 'जाइ जाइ सुख दीन्ह'—जिसकी जैसी अधिक अभिलाषा थी, उसके यहाँ उतने अधिक दिन रहे। सबके यहाँ ठहरते हुए १० वर्ष बिता दिये; कहीं १० मास, कहीं एक वर्ष, कहीं ४ महीने और कहीं ३, ५, ६ महीने रहे। किसी के यहाँ दोबारा भी गये, यह भी 'जाइ-जाइ' कहकर जना दिया। वाल्मी० ३।११। २२-२७ में विस्तार से कहा है, यह सब कुछ इतने ही में जना दिया।

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥१॥
मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥२॥
प्रभु-आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥३॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥४॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥५॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥६॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहि दृढ़ चरन-कमल अनुरागा॥७॥

शब्दार्थ—आतुर = शीघ्रता, तीव्र उत्कंठा से। देवक = देव का; 'क' मिथिला प्रांत का प्रत्यय है।

अर्थ—अगस्त्य मुनि का सुजान शिष्य जिसका नाम सुतीक्ष्ण था, जिनकी भगवान् में प्रीति थी॥१॥ वे मन, वचन, कर्म से श्रीरामजी के सेवक थे। उन्हें स्वप्न में भी किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं था॥२॥ उन्होंने प्रभु का आगमन जैसे ही सुना वैसे ही मनोरथ करते हुए शीघ्रता से दौड़ पड़े॥३॥ हे विधाता! क्या दीनबंधु श्रीरघुनाथजी मुझ से शठ पर दया करेंगे?॥४॥ गोस्वामी श्रीरामजी भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ मुझसे अपने निज (खास) सेवक की तरह मिलेंगे?॥५॥ मेरे जी में दृढ़ भरोसा नहीं है, (क्योंकि) हृदय में भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कुछ भी नहीं है॥६॥ न सत्संग, जोग, जप, यज्ञ ही है और न (स्वामी के) चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग ही है॥७॥

विशेष—(१) 'मुनि अगस्ति कर ···'—गुरु सबंध कहकर विरक्ति सूचित करते हुए उनकी बड़ाई की। 'नाम सुतीछन'—अगस्त्यजी के बहुत-से शिष्य हैं, उनमें ये श्रीसुतीक्ष्ण नाम के हैं, क्योंकि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण (सूक्ष्मदर्शिनी) है। फिर गुण कहते हैं—'रति भगवाना'। भगवान् के किस रूप के उपासक हैं और कैसी वृत्ति के हैं? यह—'मन क्रम बचन राम-पद-सेवक।' कहकर स्पष्ट किया। 'सपनेहुँ आन···' से इनकी अनन्यता कही; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥"(उ० दो० ४५)।

(२) 'प्रभु आगवन श्रवन ···'—'धावा' मात्र कहा गया, इससे जान पड़ता है कि वे आगमन सुनते समय खड़े थे, वैसे ही दौड़ पड़े। बैठे होते तो उठना कहा जाता ; यथा—"पुलकित गात अत्रि उठि धाये।" (दो० ३); "सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये।" (दो० ११)। वे लोग बैठे थे, इससे उठकर दौड़े।

(३) 'हे बिधि दीनबंधु···'—मन में विचारते हैं कि यों तो मैं शठ हूँ, पर दीन हूँ और श्रीरघुनाथजी दीनबंधु हैं, इससे ही सम्भव है कि दया करेंगे। हे विधि ! यह मनोरथ करने की रीति है। ब्रह्मा विधानकर्त्ता हैं और सबकी बुद्धि के देवता हैं, इससे मनचाही बात इनके समक्ष कही जाती है, इसका यह आशय नहीं है कि वे विधि की उपासना करते हैं।

वाल्मीकिजी के कहे हुए १४ स्थानों में—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा ·" (अ० दो १३०) के ११ वें स्थान में सुतीक्ष्णजी की इस समय की स्थिति कही जा सकती है।

(४) 'मोरे जिय भरोस···'—यदि कांड-त्रय-सम्पन्न होता तो कुछ आशा भी होती, मैं वैसा भी नहीं हूँ। भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कहकर तीनों कांड सूचित किये। क्योंकि विहित कर्म के अनुष्ठान का फल ही वैराग्य है ; यथा—"निज निज करम निरत श्रुति रीती ॥ यहिकर फल मन बिषय बिरागा।" (दो० १५)।

(५) 'नहिं सतसंग जोग जप जागा।'—ये सब भक्ति के साधन हैं, यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (दो० ६); अर्थात् भक्ति-प्राप्ति के साधन मुझमें नहीं हैं। यदि श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ अनुराग हो, तो सभी सद्गुण स्वयं आ जाते हैं, वह भी नहीं है। अथवा पूर्वार्द्ध में साधन कहकर उत्तरार्द्ध में स्वाभाविक एवं कृपासाध्य भक्ति का भी निराकरण किया ; यथा—"तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥" (सुं० दो० ६)।

एक बानि करुना - निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥८॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन-पंकज भव-मोचन ॥९॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥१०॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥११॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥१२॥
अबिरल प्रेम - भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु - ओट लुकाई ॥१३॥

शब्दार्थ—बिदिसि (विदिशा) = चारों कोण—अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरघुनाथजी की यह एक (मुख्य) बानि (आदत) है कि जिसे और किसी का आश्रय (एवं भरोसा) नहीं, वह उन्हें प्यारा है ॥८॥ जन्म-मरण के छुड़ानेवाले मुखकमल को देखकर आज मेरे नेत्र सुफल होंगे ॥९॥ वे ज्ञानी मुनि परिपूर्ण प्रेम में निमग्न हैं, हे भवानी ! उनकी वह दशा कही नहीं जा सकती ॥१०॥ उन्हें (पूर्व आदि चारों) दिशा, विदिशा और मार्ग (कुछ भी) नहीं सूझते हैं, मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ — यह भी नहीं जान पड़ता ॥११॥ कभी लौटकर फिर पीछे जाने लगते हैं और कभी प्रभु के गुण गा गाकर नाचने लगते हैं ॥१२॥ मुनि को अविरल (सघन-अविच्छिन्न प्रेमाभक्ति प्राप्त है, प्रभु वृक्ष की आड़ में छिपकर देख रहे हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'एक बानि करुना···'—अर्थात् प्रभु की प्राप्ति में दीनता और अनन्यता ही साधन हैं। दीनता से प्रभु की करुणा होती है और अनन्यता से प्रियत्व। श्रीसुतीक्ष्णजी में ये ही दोनों बातें हैं; यथा—"ऐहि बिधि दीनबंधु रघुराया।···" इसमें अपनी दीनता सूचित की है और—'सपनेहुँ आन भरोस न देवक' एवं—'सो प्रिय जाके गति न आन की।' से अनन्यता कही है। इस बानि का प्रमाण श्रीमुख-वचन है; यथा—"समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥" (कि० दो० ३); 'होइहैं सुफल आजु···'; यथा—"करहु सफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥" (बा० दो० २१८); "निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७४); आज हमारे नेत्रों के होने का श्रेष्ठ फल मिलेगा। इस कथन से मुनि का प्रभु की बानि में विश्वास और अपनी अनन्यता में उनकी दृढ़ता प्रकट हुई।

(२) 'निर्भर प्रेम मगन···'—मुनि ज्ञानी हैं, इसीसे परिपूर्ण प्रेम है, क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७१); 'बदन पंकज' के स्मरण करते एवं उसके 'भव मोचन' माहात्म्य को समझकर निर्भर प्रेम में मुनि मग्न हो गये। उस दशा को श्रीशिवजी अकथ्य कहते हैं। श्रीशिवजी प्रेम-दशा के ज्ञाता हैं; यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४), इसीसे प्रेम-प्रसंग मानों इन्हींके बाँटे पड़ा है; यथा—"बार बार प्रभु चहहि उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥" (सुं० दो० ३२); "उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहि करहि तसि, जसि निष्केवल प्रेम॥" (लं० दो० ११६); "सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ४) इत्यादि।

(३) 'दिसि अरु बिदिसि···'—सूझना नेत्रों का विषय है; यथा—"लोचन सहस न सूझ सुमेरू।" (अ० दो० २६४) और बूझना बुद्धि (हृदय) का विषय है; अर्थात् भीतर और बाहर, दोनों प्रकार की इन्द्रियों में विह्वलता है। इनके नेत्र और मन दोनों लुभाये हुए हैं; यथा—"बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (बा० दो० २१८); दिशा-विदिशा से पंथ का न सूझना और इससे भी अपनापन का भूलना विशेष है। अतः, उत्तरोत्तर विह्वलता अधिक ही होती गई। आगे उस प्रेम की दशा कहते हैं।

(४) 'कबहुँक फिरि पाछे···अबिरल प्रेम'—यही अविच्छिन्न प्रेमाभक्ति के लक्षण हैं; यथा—"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥" (भाग० ११।२।४०)। "निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीला तनुभिः कृतानि। यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गद प्रोत्कंठ उद्गायति रौति नृत्यति॥" (भाग० ७।७।३४)। "वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२४)।

(५) 'प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।'—मुनि प्रेम में मग्न हैं और प्रभु भाव के ही गाहक हैं। अतः, ओट से देख रहे हैं कि यदि मुनि मुझे देख लेंगे, तो फिर यह नृत्य न करेंगे, रंग में भंग हो जायगा। जैसे माता-पिता छिपकर बच्चों के कौतुक देखते हैं; वैसे प्रभु इनका नृत्य देख रहे हैं। यहाँ 'तरु ओट', 'फुलवाड़ी में' 'लता ओट' और बालि के युद्ध में 'बिटप ओट' कहा है। क्योंकि शांत-रस में 'तरु', शृंगार में 'लता' और वीररस में 'बिटप' कहा जाना साहित्यिक कुशलता है।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव-भीरा॥१४॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥१५॥

तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये ॥१६॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा ॥१७॥
भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥१८॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे ॥१९॥

शब्दार्थ—माँझ = में, बीच। बैसा = बैठा; यथा—"अंगद दीख दसानन बैसे।" (लं० दो० १८); यह 'विश्' धातु से निष्पन्न है, जिसका बैठना अर्थ होता है। पनस = कटहल। दुरावा = छिपाया। जगावा = ध्यान-वृत्ति छुड़ाई; यथा—"छूटि समाधि संभु तब जागे।" (बा० दो० ८६)।

अर्थ—जन्म-मरण के भय को हरनेवाले रघुवीर श्रीरामजी अत्यंत प्रेम देखकर मुनि के हृदय में प्रकट हो गये ॥१४॥ मुनि मार्ग में अचल (स्थिर) होकर बैठ गये, उनका शरीर कटहल के फल की तरह पुलकित हो गया (अर्थात् कटहल-फल के ऊपरी काँटों की तरह उनके रोएँ खड़े हो गये) ॥१५॥ तब श्रीरघुनाथजी समीप चले आये, अपने भक्त की दशा देखकर मन में प्रसन्न हुए ॥१६॥ मुनि को श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से जगाया (ध्यान छुड़ाने का यत्न किया), पर वे ध्यान से उत्पन्न सुख को प्राप्त हैं; इससे न जागे ॥१७॥ तब श्रीरामजी ने भूप-रूप (राज-रूप) को छिपा लिया और (उसके बदले) मुनि के हृदय में चतुर्भुज रूप दिखाया ॥१८॥ तब मुनि कैसे व्याकुल हो उठे, जैसे श्रेष्ठ सर्प मणि-हीन होने पर व्याकुल हो जाय ॥१९॥

विशेष—(१) 'अतिसय प्रीति देखि......'—प्रभु का यह नियम है; यथा—"जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।"; "प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४); अतएव मुनि के अत्यन्त प्रेम पर प्रकट हो गये। पुनः यह भी नियम है—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ, सदा करउँ बिश्राम।" (दो० १६); ये सब अंग भी मुनि में हैं; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक ॥" "अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धरि राम। मम हिय गगन इंदु इव, बसहु सदा निःकाम ॥" "निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।"। प्रेम के समान दूसरा भजन नहीं है; यथा—रामहि केवल प्रेम पियारा (अ० दो० १३६); इन्हीं कारणों से उनके हृदय में प्रभु को प्रकट होते ही बना। मुनि अंतर्दृष्टि हो गये थे, इससे श्रीरामजी उनके हृदय में ही प्रकट हो गये; पर ध्यान द्वारा दर्शन देने-मात्र में प्रभु को संतोष नहीं हुआ, अतएव फिर निकट चलकर उन्हें और अधिक सुख देंगे। विलंब के कारण मुनि के संतोष के लिये पहले हृदय में ही दर्शन दिये।

(२) 'हरन भव भीरा'—यह हृदय के ध्यान-दर्शनों का फल कहा गया।

(३) 'पनस फल जैसा' अर्थात् शरीर-भर के रोएँ खड़े हैं, कटहल के भीतर रस भरा होता है, वैसे मुनि के हृदय में प्रेम-रस पूर्ण है।

(४) 'तब रघुनाथ निकट चलि...'—पहले मुनि प्रेम में विह्वल तो थे, पर आँखें खुली थीं, अब ध्यान में आँखें मूँदकर बैठ गये, तब श्रीरामजी निकट चले आये। प्रधानता के कारण 'रघुनाथ' मात्र कहा गया है, पर तीनों मूर्त्तियाँ हैं; यथा—"आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज अ०।८५

धामा ॥" यह आगे कहा है। बाहरी रूप से चलकर आये, तब निकट से दशा अच्छी तरह देखने में आई। 'देखि' अर्थात् वह दशा देखते ही बनती है, कहने में नहीं आती। पूर्व कहा ही है—"कहि न जाइ सो दसा भवानी।" अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥५१॥ मूकास्वादनवत् ॥५२॥" (नारदभक्तिसूत्र)।

'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।'—ऊँचे स्वर से पुकारा, हाथ पकड़कर हिलाया, इत्यादि। 'जाग न ध्यान जनित सुख' ; यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥" (गीता ६।२१-२२)। तथा—"भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः। पुलकाञ्चिताङ्ग औत्कण्ठ्यान्नाश्रुधन्नोदितोऽपि सः॥" (श्रीमद्भागवत ?)।

(५) 'भूप-रूप'''हृदय चतुर्भुज'''—भूप-रूप=द्विभुज राम-रूप। चतुर्भुज=नारायण विष्णु-रूप। श्रीरामजी ने मुनि को जगाने के लिये और उनकी एकरूपानन्यता प्रख्यात करने के लिये, उनके हृदय में चतुर्भुज रूप प्रकट कर दिया कि लोग इस अनन्यता का आदर्श देख लें ; यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटे सुर-साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (अ० दो० २३८); और यह भी सूचित किया कि वह चतुर्भुज-रूप भी हमारा ही है। भगवान् का राम-रूप परात्पर है ; यथा—"बाहू राजन्य कृतः" (पुरुषसूक्त); अर्थात् परमात्मा का सर्व-कारण-रूप द्विभुज ही है; यथा—"द्विभुजः कुंडली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥" (रामतापनीय उ०) "मरीचिमंडले संस्थं बाणाद्यायुधलाञ्छितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः॥" (श्रीनारदपंचरात्र); "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं ज्ञेयं''" (संकर्षण सं० एवं आनंदसंहिता)। प्रथम सृष्टि की इच्छा से नरसंज्ञक व्यापक परमात्मा श्रीरामजी ने जल पैदा किया। तब उसका नाम नार हुआ, उसमें उन्हीं परमात्मा श्रीरामजी ने चतुर्भुज रूप से शयन किया, तब उनका नाम नारायण हुआ ; यथा—"नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः॥" (महाभारत); तथा—"त्रैर्युक्त अयवां नरः॥'''इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।" (वाल्मी० मू०); इत्यादि बहुत प्रमाण हैं। कुरान और बाइबिल में भी परमात्मा का नराकार ही रूप माना गया है।

भगवान् श्रीरामजी के ही चतुर्भुज आदि अभिन्नांश-रूप हैं, तत्त्वतः अभेद हैं। स्वरूपानन्य भक्त लोग एक ही रूप में निष्ठा करते हैं, पर अन्य रूपों से उनका द्वेष नहीं रहता। यहाँ मुनि का अकुला उठना अपने इष्ट-रूप के हटने पर है।

(६) 'मुनि अकुलाइ उठा''''''—पहले बैठ गये थे ; यथा—"मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।" यह पूर्व कहा गया था। अब वे अकुलाकर उठ खड़े हुए। अकुलाने का कारण आगे कहते हैं। 'बिकल हीन मनि'''; यथा—"मनि बिनु फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७) ; सर्प अपनी ही मणि चाहता है, वैसे ये अपने ही इष्ट-रूप को चाहते हैं। बिना उसके व्याकुल हो गये।

परम अनन्य उपासक भगवान् के एक ही रूप में अनन्य होकर फिर रूपान्तर से प्रेम नहीं करते। जैसे भगवान् के ही नृसिंह-रूप धारण करने पर उन्हें शांत करने के लिये श्रीलक्ष्मीजी नहीं गईं। वे यह बोलीं कि ये हमारे इष्ट-रूप नहीं हैं, यद्यपि भगवान् ही हैं।

आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता-अनुज-सहित सुखधामा ॥२०॥
परेउ लकुट इव चरननि्ह लागी। प्रेम-मगन मुनिबर बड़भागी ॥२१॥
भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई ॥२२॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक-तरुहि जनु भेंट तमाला ॥२३॥
राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा ॥२४॥

दोहा—तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार ॥१०॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ सुख के स्थान श्याम-शरीर श्रीरामजी को आगे देखकर ॥२०॥ बड़े ही भाग्यवान् मुनिश्रेष्ठ प्रेम में मग्न होकर लकुटी (पतली छड़ी) की तरह गिरकर चरणों में लग गये ॥२१॥ श्रीरामजी ने अपनी लंबी भुजाओं से पकड़कर उन्हें उठा लिया और बड़ी प्रीति से हृदय में लगाये रक्खा ॥२२॥ मुनि से मिलते हुए कृपालु श्रीरामजी ऐसे शोभित हो रहे हैं; मानों सोने के वृक्ष से तमाल वृक्ष मिल रहा हो ॥२३॥ मुनि खड़े हुए श्रीरामजी के मुख के दर्शन कर रहे हैं। मानों चित्र (तसवीर) में लिखकर उनकी आकृति काढ़ी गई हो (अर्थात् निमेष-रहित जड़ के समान शरीर हो गया, हिलता-डुलता नहीं) ॥२४॥ तब (फिर) मुनि ने हृदय में धैर्य धारण कर और बार-बार प्रभु के चरणों को पकड़कर उन्हें अपने आश्रम में ला अनेक प्रकार से उनकी पूजा की ॥१०॥

विशेष—(१) 'सीता-अनुज सहित सुख धामा।'—पहले ध्यान-जनित सुख पाया था। फिर वह ध्येय रूप के हट जाने से दुखी हो गये थे। अब प्रत्यक्ष देखकर पुनः सुखी हुए। यहाँ 'सुख धामा' कहने से अब प्रत्यक्ष मूर्त्ति के दर्शनों से अधिक सुख पाना सूचित किया।

(२) 'परेउ लकुट इव चरननि्ह लागी। ...'—मुनि ने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, लकुटी पतली छड़ी को कहते हैं, वैसे ये तपस्या आदि नियमों के क्लेश से दुबले हो गये थे। वैसे ही श्रीभरतजी भी वियोग-कृश थे, अतः वहाँ भी कहा गया है; यथा—"भूतल परेउ लकुट की नाईं।" (अ० दो० २३९), और बा० दो० १४७ चौ० ७ भी देखिये। बिना सहारे की लकुटी जैसे गिर पड़ती है वैसे ही मुनि चरणों पर गिर पड़े। 'प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी।'—दण्ड के समान गिरने का कारण प्रेम-मग्नता है और इसीसे ये 'बड़भागी' कहे गये। चरणों के सम्बन्ध में 'बड़भागी' पद सातों कांडों में आये हैं—"अतिसय बड़ भागी चरननि्ह लागी।" (बा० दो० ११)—देखिये। इन चरणों के विमुख अभागी हैं; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।" (वि० १४०)।

(३) 'परम प्रीति राखे उर लाई।'—'राखे' अर्थात् बड़ी देर तक हृदय में लगाये रहे; यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई ॥" (दो० ७१)।

(४) 'मुनिहि मिलत अस सोह' '—मुनि के दो मनोरथ थे—(१) "मिलिहहिं निज सेवक की नाईं।" वह यहाँ पूरा हुआ;—(२) "होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन "

वह भी आगे पूर्ण हुआ ; यथा—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा।" कृपालु श्रीरामजी मुनि से मिल रहे हैं। उपमा में वर्णों की ही समता नहीं, किंतु दोनों वृक्ष के समान जड़ हो गये हैं। 'सोह कृपाला'—इसमें कृपालु की शोभा है कि जिनसे मिलने के लिये ब्रह्मादि तरसते हैं, वे मुनि को उठाकर आलिंगन कर रहे हैं, यह दीनों पर अत्यंत दया है, इसी में प्रभु की शोभा है।

(४) 'तब मुनि हृदय धीर धरि'''—ऊपर कहा गया—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥" इसमें अधीरता स्पष्ट है। इसीसे यहाँ 'धीर धरि' कहा गया। यह मूर्ति ही ऐसी है कि देखकर लोग अधीर हो जाते हैं; यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेखी॥ प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिवेक धरि धीर॥" (बा० दो० २१५); "देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि'''" (बा० दो० २३३); 'गहि पद बारहि बार'—प्रेम के वश होने से बार-बार चरण गहे ; यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं॥" (बा० दो० ३३५); "प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥" (दो० ३३); इत्यादि। 'पूजा बिबिध प्रकार'—षोड़शोपचार की विधियों में प्रत्येक को विशेष रूप से किया। यह व्यवहार का भी सँभाल है।

पहले कहा गया था—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" वह चरितार्थ भी हुआ; यथा—"सपनेहुँ आन भरोस न देवक।"—मन; "परेउ लकुट इव'''पूजा बिबिध प्रकार।"—कर्म; "कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।"—बचन।

मुनि में श्रवणादि नवधा-भक्ति के सब अंग परिपूर्ण हैं, नवधा भक्ति ; यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३) उदाहरण—(१) श्रवण—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा।" (२) कीर्तन—"कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।" (३) विष्णु-स्मरण—"एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय'''" (४) पाद-सेवन—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" (५) अर्चन—"पूजा बिबिध प्रकार।" (६) वंदन—"कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।" (७) दास्य—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक'''।" (८) सख्य—"देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" क्योंकि चतुराई करके साथ होना और प्रभु का हँसना एवं साथ लेना सख्यत्व है। (९) आत्मनिवेदन—"परे लकुट इव चरनन्हि लागी।"

कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करउँ कवन बिधि तोरी॥१॥
महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि - सन्मुख खद्योत अँजोरी॥२॥
श्याम - तामरस - दाम - शरीरं। जटा - मुकुट - परिधन मुनि-चीरं॥३॥
पानि - चाप - सर - कटि-तूनीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥४॥
मोह - बिपिन - घन-दहन-कृशानुः। संत - सरोरुह - कानन - भानुः॥५॥
निसिचर - करि-बरूथ-मृगराजः। त्रातु सदा नो भव - खग-बाजः॥६॥
अरुन - नयन - राजीव - सुवेसं। सीता - नयन - चकोर - निसेसं॥७॥
हर - हृदि - मानस- बाल-मरालं। नौमि राम - उर - बाहु - बिसालं॥८॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि हे प्रभो ! मेरी विनती सुनिये, मैं किस प्रकार से आपकी स्तुति करूँ ? ॥१॥ आपकी निःसीम महिमा के सामने मेरी बुद्धि थोड़ी है, जैसे सूर्य के सामने जुगनू का प्रकाश ॥२॥ श्याम कमल-समूह के समान श्याम शरीर, जटाओं का मुकुट और मुनि-वस्त्र (वल्कल आदि) कटि से नीचे धारण किये हुए हैं ॥३॥ हाथों में धनुष-बाण और कमर में तर्कश कसे हुए, श्रीरघुवीर, आपको मैं निरंतर (सदा) नमस्कार करता हूँ ॥४॥ मोह-रूपी सघन वन को जलाने के लिये अग्नि-रूप, सन्त-रूपी कमल वन के (प्रफुल्लित करने के लिये) सूर्य-रूप ॥५॥ निशाचर-रूपी हाथियों के झुंड के (नाश करने के लिये) सिंह और भव-रूपी पक्षी के (मारने के लिये) बाज-रूप आप सदा मेरी रक्षा करें ॥६॥ लाल कमल के समान लाल नेत्र और सुन्दर वेषवाले श्रीसीताजी के नेत्र-रूपी चकोर के चन्द्रमा ॥७॥ श्रीशिवजी के हृदय-रूपी मानस सरोवर के बाल-हंस, चौड़ी छाती और लम्बी भुजाओंवाले श्रीरामजी, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि प्रभु सुनु···'—विविध प्रकार पूजा कर चुके, उसीके साथ स्तुति भी है। किंतु स्तुति के लिये बड़ी बुद्धि चाहिये; यथा—"मुनिवर परम प्रबीन, जोरि पानि स्तुति करत ॥" (दो० ३) पर मेरी बुद्धि थोड़ी है; अतः, कैसे स्तुति कर सकूँ ? 'रवि सनमुख खद्योत अँजोरी।'—सूर्य के सामने जुगनू कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकता, वैसे आपकी अपरिमित महिमा के आगे मेरी बुद्धि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकती। भाव यह कि सूर्य की ज्योति के समक्ष फीके पड़ते हुए चन्द्रमा एवं तारागण की तरह (आपके) समस्त शिव-ब्रह्मा आदि की बुद्धि भी चकरा जाती है तब मेरी जुगनू-सी बुद्धि की क्या गिनती ? (मुनि की बुद्धि तीव्र है, पर कार्पण्य-रीति से अपनी दीनता कही है। जैसे श्रीगोस्वामीजी का काव्य सर्वोपरि है, पर वंदना में इन्होंने अपनी बड़ी दीनता प्रकट की है) ।

(२) 'श्रीरघुबीर···'—ऊपर जटा-मुकुट आदि मुनिवेष धारण के सम्बन्ध से पिता के आज्ञा-पालन-रूप धर्म-वीरता से और 'पानि' चाप-शर-आदि के द्वारा भू-भार-हरण के लिये वीर-रूप धारण करने से आपकी शोभा है ; इसलिये 'रघुबीर' के साथ शोभावाचक 'श्री' कहा है।

(३) 'मोह-बिपिन-घन···'—मोह आदि भीतरी विकार नाश करके संतों को आप सुखी करते हैं। 'निसिचर करि बरूथ···'—से बाहर के शत्रुओं का नाश कहा। भीतर-बाहर के शत्रुओं का नाश कहकर तब भव का नाश कहा। 'मोह बिपिन'; यथा—"बन बहु बिषम मोह मद माना।" (बा० दो० ३७); 'सीता नयन चकोर निसेसं' यथा—"अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥" (बा० दो० २३१); 'अरुन नयन···'—लाल नेत्र शृंगार और वीर दोनों रसों में युक्त हैं, ऊपर वीर रस और नीचे शृंगार-रस का प्रसंग है।

पहले संतरक्षा, फिर निशाचर वध और तब श्रीसीताजी के नेत्र का विषय होना कहा, फिर पीछे श्रीशिवजी का ध्येय-स्वरूप कहा है, क्योंकि संत-रक्षा के लिये वन को आये, अब निशाचर को मारेंगे और फिर श्रीसीताजी प्राप्त होंगी। तत्पश्चात् श्रीशिवजी राजगद्दी पर स्तुति करके उसी रूप को हृदय में रखकर उसका बालक के समान लालन-पालन करेंगे। इसलिये 'बाल मराल' कहा है।

यण को, "करत दडवत् लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥" (सु० दो० ४०)—श्रीनारदजी को। श्रीभुशुंडीजी को ग्रहण करने के लिये सर्वत्र भुजा पहुँचती ही गई।

संसय - सर्प - ग्रसन - उरगादः। समन - सु - कर्कस - तर्क - विषादः॥९॥
भव - भंजन रंजन - सुर-जूथः। त्रातु सदा नो कृपावरूथः॥१०॥
निर्गुन - सगुन - विषम-सम-रूपं। ज्ञान - गिरा - गोतीतमनूपं॥११॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन - महि - भारं॥१२॥
भक्त - कल्प - पादप - आरामः। तर्जन - क्रोध - लोभ - मद-कामः॥१३॥
अति - नागर - भव-सागर-सेतुः। त्रातु सदा दिनकर - कुल - केतुः॥१४॥
अतुलित-भुज - प्रताप-बल-धामः। कलि - मल - विपुल-विभंजन-नामः॥१५॥
धर्म - वर्म नर्मद गुनग्रामः। संतत संतनोतु मम रामः॥१६॥

शब्दार्थ—सु-कर्कस = अत्यन्त कठोर। अखिल = निःशेष, पूर्ण। अनवद्य = अनिंद्य। पादप = वृक्ष। तर्जन = धमकाने-डाँटनेवाले। नर्मद = सुख देनेवाले। वर्म = कवच। संतनोतु (शंतनोतु) = कल्याण का विस्तार करो।

अर्थ—संशय-रूपी सर्प को निगल जाने के लिये गरुड़-रूप, अत्यन्त कठिन तर्कनाओं के दुःख को नाश करनेवाले॥९॥ भव (जन्म-मरण) को तोड़ने (मिटाने) वाले और देवताओं के समूह को सुखी करनेवाले—कृपा के समूह आप हमारी सदा रक्षा करें॥१०॥ निर्गुण-सगुण, विषम-सम रूप, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से परे, उपमा-रहित॥११॥ निर्विकार, परिपूर्ण, निर्दोष, अपार, पृथिवी के बोझ के नाशक (ऐसे) श्रीरामजी (आप) को मैं नमस्कार करता हूँ॥१२॥ भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के बाग, क्रोध-लोभ-मद और काम को डाँटनेवाले (नाश करनेवाले)॥१३॥ भव-सागर के पार उतरने के लिये पुल (रचने में) अत्यन्त चतुर, सूर्य-वंश की ध्वजा, आप सदा मेरी रक्षा करें॥१४॥ आपकी भुजाओं का प्रताप अपरिमित है, आप बल के धाम हैं, कलियुग के पाप-समूह का नाशक आपका नाम है॥१५॥ धर्म के लिये कवच-रूप जिनके गुण-समूह सुख देनेवाले हैं—ऐसे श्रीरामजी (आप) निरंतर मेरे कल्याण का विस्तार करें॥१६॥

विशेष—(१) 'संसय सर्प ग्रसन···'—पूर्वार्द्ध में संशय-रूपी सर्प का नाश कहा गया और उत्तरार्द्ध में उसकी लहर रूपी कुतर्कों का; यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥" (उ० दो० ९२); अर्थात् संशय और उससे उठे हुए कुतर्क नाश होते हैं। तत्पश्चात् भव का नाश होता है। इन सबके रक्षा करने से कारण 'कृपावरूथः' कहा है। उरगाद = सर्पों का खानेवाला—यह नाम यहाँ कार्य सहित संगत है।

(२) 'निर्गुन-सगुन-विषम-सम रूपं ···'—आप ही निर्गुण हैं और सगुण भी, विषम भी हैं और सम भी; अर्थात् परस्पर विरोधी गुण धारण करते हैं, इसीसे आगे 'अनूपं' कहा है अर्थात् ऐसा और कोई नहीं है। 'विषम-सम'; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८); इसीसे भक्त प्रह्लाद की रक्षा की और हिरण्यकशिपु को मारा।

(३) 'भक्त-कल्प-पादप आरामः ।'—पृथिवी का भार उतार कर सबको सुखी किया इससे कल्पवृक्ष-रूप हुए। पर भक्तों के लिये तो अनेक कल्पवृक्षों के बाग के समान हुए; अर्थात् उनके लिये तो अनेक रूपों से आप सर्वत्र ही हैं, वे जहाँ भी जायँ आपकी छाया में ही रहें; यथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः।" (वाल्मी० ४।१५।११); कल्पवृक्ष तीन ही फलों को देता है, आप मोक्ष भी देते हैं। अतः, आगे 'भवसागर सेतुः' भी कहा है। भव से छूटना मुक्त होना है। 'तर्जन-क्रोध-लोभ-मद-कामः'—ऊपर कल्पवृक्ष के समान कहकर इनसे चारों फलों की प्राप्ति कही। अब उनकी रक्षा का विधान भी कहते हैं कि अर्थ का बाधक क्रोध, धर्म का बाधक लोभ, (कामना) का बाधक मद और मोक्ष का बाधक काम है; यथा—"लोभ ग्रसे सुभ कर्म।" (ब० दो० १७); "सुभ गति पाव कि परतिय गामी।" (ड० दो० ११२), आप इन सबसे रक्षा करते हैं। अर्थात् इनपर चित्त-वृत्ति जाने पर खेद प्राप्त कर देते हैं, फिर विवेक-द्वारा इन्हें हटाते हैं। अतः, आप योग-क्षेम दोनों करनेवाले हैं। क्रोधादि से रक्षा के क्रमशः उदाहरण—"भयउ न नारद मन कछु रोषा।" (बा० दो० १२६); "क्रामा वसनं व्यसन " (ड० दो० ३१); "भरतहिं होइ न राज-मद" (अ० दो० २३१); "बैठे सोइ काम-रिपु कैसे (बा० दो० १०६)।

(४) 'अति नागर भव-सागर-सेतुः'—लंका जाने के लिये पुल बाँधने में आप नागर हैं और भव-सागर के पुल बाँधने में अति नागर हैं। समुद्र में पुल और किसीने नहीं बाँधा, पर आप आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले हैं। यह सुनकर रावण को भी महान् आश्चर्य हुआ था। भवसागर का सेतु आपका चरित और नाम है; यथा—सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।" (बा० दो० १२१); "नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥" (लं० दो० ३)। 'त्रातु सदा'—उपर्युक्त क्रोध, लोभ, मद, काम और भव से सदा रक्षा करें। क्योंकि ये—"मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (दो० ३८); ऊपर कल्पवृक्ष कहा और यहाँ भवसागर-सेतु कहा है; अर्थात् आप लोक-परलोक दोनों के बनानेवाले हैं।

(५) 'अतुलित-भुज-प्रताप-बल-धामः।'—इस चरण में रूप का परत्व कहा है। 'कलिमल-विपुल विभंजन नामः' में नाम का, 'धर्म-वर्म नर्मद गुन-ग्रामः।' में लीला का और 'सबके हृदय निरंतर वासी।' में धाम का परत्व कहा है। इनके बीच में—'संतत संवनोतु मम रामः।' कहकर सूचित किया कि आप इन्हीं नाम, रूप, लीला, धाम के द्वारा रक्षा करते हैं। 'कलिमल-विपुल-विभंजन-नामः।'; यथा—"नाम सकल कलि कलुष निकंदन।" (बा० दो० २२)।

(६) 'धर्म-वर्म नर्मद गुन···'—'धर्म-वर्म'; यथा—"सद्धर्मवर्मौ हि तौ" (कि० मं०); 'नर्मद गुनग्रामः'; यथा—"येहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा।" (सुं० दो० ७); पुनः गुण-ग्राम धर्म-वर्म भी है, क्योंकि इसके श्रवण करने से धर्म का परिज्ञान होता है।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी ॥१७॥
तदपि अनुज-श्री-सहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन - चारी ॥१८॥
जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर - अंतर - जामी ॥१९॥
जो कोसलपति राजिव - नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना ॥२०॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥२१॥

सुनि मुनिबचन राम-मन भाये। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये ॥२२॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही ॥२३॥

अर्थ—यद्यपि आप विरज (अप्राकृत), व्यापक, नाश-रहित और सबके हृदय में निरंतर निवास करनेवाले हैं ॥१७॥ तथापि, हे खरारी! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के सहित वन में विचरनेवाले आप मेरे मन-रूपी वन में बसें ॥१८॥ आपको जो सगुण, निर्गुण और हृदय में रहनेवाले अंतर्यामी-रूप जानते हों, वे जानें, पर मेरे हृदय में तो जो श्रीअयोध्या के राजा कमल-नयन श्रीरामजी हैं, वे ही घर बनावें ॥१९-२०॥ ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं ॥२१॥ मुनि के वचन सुनने पर श्रीरामजी के मन में वे अच्छे लगे, हर्षित होकर उन्होंने फिर मुनि-श्रेष्ठ को हृदय से लगा लिया ॥२२॥ (और बोले) हे मुनि! मुझे परम प्रसन्न जानो, जो वर माँगो वही मैं तुम्हें दूँ ॥२३॥

विशेष—(१) 'जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी ।'—'व्यापक' शब्द के एक ओर 'विरज' और दूसरी ओर 'अविनाशी' देने का भाव यह है कि व्यापक होने से व्याप्य-भूता प्रकृति के विकारों से आप अलग हैं और उसके विनाश होने पर भी आप अविनाशी बने रहते हैं। सर्वत्र व्यापक हैं, तो मेरे हृदय में भी हैं। ऐसा ही दो० १२ चौ० १२-१३ में अगस्त्यजी का, उ० दो० १२ में वेदों का और लं० दो० १११ में इन्द्र का अभिप्राय है।

(२) 'तदपि अनुज-श्री-सहित···'—जैसे दंडकारण्य में बसकर खरादि १४ हजार राक्षसों का वध करते हैं, वैसे मेरे मन-रूपी दंडक-वन में १० इन्द्रिय, १ मन और ३ अंतःकरण, इन चौदहों के सहस्र-सहस्र संकल्प हुआ करते हैं। वे आपके हृदय में बसने से आपमें लग-लगकर रामाकार होते हुए समाप्त हो जायँगे; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६)। 'खरारी' शब्द में भाविक अलंकार भी है; यथा—"सोभा सिंधु खरारी।" (बा० दो० १११)। 'तदपि'—भाव यह है कि उस रूप से रहते हुए भी इस रूप पर विशेष श्रद्धा है।

(३) 'जे जानहिं ते जानहु स्वामी। ··'—अर्थात् मैं तो आपके इसी रूप को सर्वस्व मानता हूँ। पूर्व माँगा था—'कानन-चारी'-रूप को, किंतु यह १४ वर्ष तक के लिये ही है, फिर तो श्रीअयोध्या के राजा होंगे, इसीसे उसे भी माँगा। 'कानन-चारी' के लिये अपने मन को वन कहा और भूप-रूप के लिये भवन कहा, क्योंकि राजा तो महलों में ही रहते हैं। प्रमाण उपर्युक्त—'जदपि बिरज···' वाले ही यहाँ भी हैं।

(४) 'अस अभिमान जाइ···'—और विषय-सम्बन्धी के अभिमान का तो नाश होना ही चाहिये; यथा—"तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै" (वि० १२०); जाति, विद्या, बल, धन आदि का अभिमान न रहना चाहिये, पर सेवकत्व का अभिमान रहना ही चाहिये; यथा—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥" (लं० दो० ७२); क्योंकि—"सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि॥" (उ० दो० ११९)—ऐसा कहा है।

(५) 'बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये।'—एक बार पहले ही हृदय से लगा चुके हैं; यथा—"परम प्रीति राखे उर लाई।" अब यहाँ फिर हृदय से लगाकर अपनी परम प्रसन्नता जनाई, जैसा कि आगे कहा

है—'परम प्रसन्न जानु मुनि···' इसीसे 'बहुरि' पद दिया गया है। 'जो कछु मागहुँ देउँ···'—क्योंकि मुनि आपके 'निज जन' हैं; यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।" और यह श्रीमुख-वचन है—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (दो० ४१)।

> मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥२४॥
> तुम्हहि नीक लागइ रघुराई। सो मोहि देहु दास - सुखदाई ॥२५॥
> अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल - गुन - ज्ञान - निधाना ॥२६॥
> प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा ॥२७॥

> दोहा—अनुज-जानकी-सहित प्रभु, चाप - बान धर राम।
> मम हिय - गगन इंदु इव, बसहु सदा निष्काम ॥११॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि मैंने कभी वरदान नहीं माँगा, मुझे समझ नहीं पड़ता कि क्या असत्य है और क्या सत्य है ॥२४॥ हे श्रीरघुनाथजी! आपको जो अच्छा लगे, वह दासों को सुख देनेवाला वर मुझे दीजिये ॥२५॥ (प्रभु ने कहा—) अविरल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुण एवं ज्ञान के निधान हो जाओ ॥२६॥ (मुनि ने कहा कि) जो वर प्रभु ने दिया, वह मैंने पाया, अब जो मुझे अच्छा लगता है वह दीजिये ॥२७॥ हे प्रभो! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण-धारी रामरूप मेरे निष्काम हृदय-रूपी आकाश में चन्द्रमा की तरह बसें ॥११॥

विशेष—(१) 'मुनि कह मैं बर···'—मुनि ने श्रीरामजी के 'कानन-चारी' और 'कोशलपति' रूप का हृदय में बसना माँगा था, प्रभु ने और माँगने को कहा। इससे वे संदेह में पड़ गये कि संभवतः कुछ और श्रेष्ठ वर रह गया हो, अतएव ऐसा कहने लगे। इसपर जो वर श्रीरामजी ने—'अविरल भगति बिरति···' दिया। यही दासों को सुखदाई वर है और यही उन्हें प्रिय लगता है, यह भी जाना गया।

(२) 'अब सो देहु मोहि जो भावा।'—प्रभु से वर पाने पर और माँगने की इच्छा हो गई; अतः, अब फिर माँगते हैं—'अनुज जानकी सहित···'—तीन बार इन्होंने एक ही वर माँगा, क्योंकि यही सब साधनों का फल है; यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०); जैसे ऊपर दो वरों में दो अवस्थाओं का—वन और राज्य का—ध्यान माँगा है, वैसे यहाँ भी—'मम हिय गगन···'—साकेत-यात्रा एवं वहाँ की नित्य स्थिति माँगी है। इसीलिये 'इंदु' की स्वर्गीय उपमा भी कही गई है। "यद्वाकाशं सनातनम्" यह वाल्मीकीय रामायण के स्वर्गारोहण प्रकरण में कहा गया है। जब श्रीरामजी को 'इंदु' कहा, तब श्रीलक्ष्मणजी बुध हुए और श्रीसीताजी रोहिणी हुईं; यथा—"उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥" (अ० दो०१२२)।

(३) 'बसहु सदा'—चन्द्रमा आकाश में सदा नहीं बसता, पर साकेत-बिहारी साकेत में सदा बसते हैं, वही मेरे हृदय में भी सदा बसें। मेरे हृदय में और कोई कामना कभी न उपजे एवं आप भी कहीं जाने की कभी कामना न करें। 'निष्काम' शब्द 'हृदय', 'राम' और 'बसहु' इन तीनों के साथ है।

स्तुति-भर में 'नौमि' और 'त्रातु' की बराबर आवृत्ति है, अंत में १६ वीं अर्द्धाली में 'संतनोतु' भी कहा है। नौमि के साथ स्वरूप का वर्णन है और त्रातु के साथ मोह, भव आदि बाधकों का वर्णन है। 'संतनोतु' के साथ कल्याण-संबंधी बातें हैं—इस तरह सब संगत हैं।

इस सुतीक्ष्ण-प्रसंग में नवधा-भक्ति पूर्व दिखाई गई, 'प्रेमा' यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" और 'परा'—"मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥" में स्पष्ट है, अतः, इनमें भक्ति के सभी प्रकार पूर्ण हैं।

"प्रभु-अगस्ति-सत्संग"—प्रकरण

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा॥१॥
बहुत दिवस गुरु दरसन पाये। भये मोहि येहि आश्रम आये॥२॥
अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥३॥
देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥४॥

अर्थ—लक्ष्मी-निवास श्रीरामजी 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ऐसा उच्चारण कर हर्षित होकर अगस्त्य मुनि के पास चले॥१॥ (श्रीसुतीक्ष्णजी ने कहा—) मुझे गुरुजी के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये और इस आश्रम में आये बहुत दिन हुए; अर्थात् जबसे इस आश्रम में आया, तबसे गुरुजी के दर्शन नहीं हुए॥२॥ हे प्रभो! अब आपके साथ गुरुजी के पास जाता हूँ। हे नाथ! आपका इसमें निहोरा नहीं है॥३॥ मुनि की चतुरता देखकर कृपा निधान श्रीरामजी ने साथ ले लिया और दोनों भाई (चातुरी पर) हँस पड़े॥४॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु करि रमा निवासा……'—उदारता के सम्बन्ध से रमा-निवास कहा; यथा—"बार-बार बर मागऊँ, हरषि देहु श्रीरंग।" (उ० दो० १४); रमा श्रीजानकीजी का नाम भी है। 'हरषि चले…'—श्रीअगस्त्यजी के दर्शनों के लिये बड़ी उत्कंठा है, इसीसे वहाँ जाने के लिये हर्ष है; यथा—"एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्। अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति॥" (वाल्मी० ३।११।८७); अर्थात् श्रीरामजी इस उत्कंठा से श्रीअगस्त्यजी के यहाँ जा रहे हैं कि वे लोक पूजित एवं सज्जनों के हितैषी हैं, हमारा भी कल्याण करेंगे। 'येहि आश्रम आये'—अर्थात् इनका दूसरा भी आश्रम था, जैसे श्रीवाल्मीकिजी आदि के कई आश्रम पाये जाते हैं।

(२) 'तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं।'—मुनि को साथ-साथ दर्शनों के लिये जाना है, और प्रभु किसी को साथ नहीं लेते; यथा—"बरबस राम सुमंत्र पठाये।" (अ० दो० ९९), "बिदा किये बटु बिनय करि…" (अ० दो० १०९); इत्यादि। इसीसे मुनि ने चतुराई की कि मुझे इसी मार्ग से गुरुजी के दर्शनों के लिये जाना है, मैं कुछ आपके साथी बनकर तो जाता नहीं, अब प्रभु कैसे मना करेंगे? प्रभु हँसे कि हमारे दर्शनों के लिये तो साथ चलते हैं और भार गुरु पर देते हैं। इसपर यह भी कहा जाता है कि पूर्व इन्होंने गुरुजी से गुरु-दक्षिणा के लिये हठ की थी, तब अगस्त्यजी ने कहा कि अच्छा, गुरु-दक्षिणा में श्रीसीतारामजी को ही लेकर तब आना। इसीसे अभी तक न गये थे, आज प्रभु को लेकर जाना चाहते हैं। प्रभु हँसे कि हम को ही गुरु-दक्षिणा में देंगे। 'कृपानिधि'—क्योंकि कृपा करके साथ लिया। प्रभु मन-

वचन-कर्म से इनके अनुकूल हैं—वचन से 'एवमस्तु' कहा, मनमें हर्ष है, और कर्म से 'लिये संग' अर्थात् साथ लेकर चले।

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि - आश्रम पहुँचे सुर भूपा ॥५॥
तुरत सुतीछन गुरु पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ ॥६॥
नाथ कोसलाधीस - कुमारा। आये मिलन जगत - आधारा ॥७॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि-दिन देव जपत हहु जेही ॥८॥
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये ॥९॥

अर्थ—मार्ग में अपनी अनुपम भक्ति कहते हुए देवताओं के राजा (रघुनाथ) श्रीरामजी मुनि के आश्रम पर पहुँच गये ॥५॥ श्रीसुतीक्ष्णजी शीघ्र ही गुरुजी के पास गये और दंडवत् करके ऐसा कहने लगे ॥६॥ हे नाथ ! श्रीअयोध्या के राजा श्रीदशरथजी के राजकुमार, जो कि जगत् के आधार हैं, आपसे मिलने आये हैं ॥७॥ वे श्रीरामजी भाई और श्रीवैदेहीजी के साथ आये हैं। हे देव ! जिन्हें आप दिन-रात जपते रहते हैं ॥८॥ यह सुनते ही श्रीअगस्त्यजी शीघ्र ही उठ दौड़े, भगवान् को देखकर उनके नेत्रों में जल (प्रेमाश्रु) भर आये ॥९॥

विशेष—(१) 'पंथ कहत निज······'—कथा-वार्ता के द्वारा मार्ग शीघ्र कट जाता है जान नहीं पड़ता; यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥" (बा॰ दो॰ ५७); "सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाय सों सिरानो पंथ छन में॥" (क॰ सुं॰ ३१); 'सुर भूपा'—क्योंकि यहाँ देवताओं के कार्य की सम्मति लेंगे और मुनि शस्त्रास्त्र देंगे। 'कहत निज भगति'—क्योंकि मुनि को इसीकी चाह है। अतः, उनके सुख के लिये कहते हैं। जैसे श्रीशबरीजी से एवं अन्यत्र भी भक्ति कही गई है।

(२) 'तुरत सुतीछन गुरु ······'—शीघ्र गये कि जिससे श्रीरामजी को देर तक ठहरना न पड़े, अभी श्रीरामजी द्वार के बाहर ही खड़े हैं। 'करि दंडवत'—संदेशा कहने के पहले ही दंडवत् की, क्योंकि गुरुजी को दंडवत् उस संदेशा से भी अधिक है। तुरत इससे भी गये कि जिससे गुरुजी श्रीरामजी की अगवानी करें। (उपर्युक्त गुरु दक्षिणा के अर्थ से भाव यह है कि दंडवत् करके गुरु-दक्षिणा रूप संदेशा कहा—यही नीति है)।

(३) 'नाथ कोसलाधीस-कुमारा······'—'आये मिलन'—यदि कहते कि श्रीरामजी दर्शन करने आये हैं, तो गुरुजी को बुरा लगता, क्योंकि वे इन्हें इष्ट भाव से जपते हैं, और जो कहते कि आपको दर्शन देने आये हैं, तो श्रीरामजी की लीला मर्यादा के विरुद्ध होता, इससे 'मिलन' कहा।

यहाँ नाम, रूप, लीला, धाम, इन चारों से परिचय दिया—'कोसलाधीस'—से धाम, 'कुमारा' से रूप, 'जगत आधारा' से लीला और—'राम अनुज समेत ···' से नाम कहा। 'कोसलाधीस कुमारा' मात्र में अति व्याप्ति दोष था, क्योंकि श्रीभरतजी आदि का भी सन्देह होता। 'जगत आधारा' में श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी का सन्देह हो सकता था; यथा—"सकल जगत आधार।" (बा॰ दो॰ श्रीलक्ष्मणजी, "भरत भूमि रह राउरि राखी।" (अ॰ दो॰ २६६)—श्रीभरतजी ; इससे

जिनका मंत्र आप जपते हैं, वे 'राम अनुज समेत वैदेही' हैं, तब मुनि उठ दौड़े। आप दिन-रात जिन्हें जपते हैं, वे ही आये हैं; ऐसा कहने से—"देखियहि रूप नाम आधीना।" (बा० दो० २०); का चरितार्थ हुआ; अर्थात् नाम जपने से रूप आकर प्राप्त हो गया।

मुनि - पद - कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई ॥१०॥
सादर कुसल पूछि मुनि ज्ञानी। आसन बर बैठारे आनी ॥११॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु - पूजा। मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा ॥१२॥
जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा। हरपे सब बिलोकि सुखकंदा ॥१३॥

दोहा—मुनि-समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।
सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर ॥१२॥

अर्थ—दोनों भाई मुनि के चरण-कमलों पर पड़ गये; अर्थात् साष्टांग दंडवत् की। अगस्त्य ऋषि ने अत्यन्त प्रीति से उन्हें हृदय से लगा लिया ॥१०॥ ज्ञानी मुनि ने आदर-पूर्वक कुशल पूछ उन्हें लाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाया ॥११॥ फिर बहुत प्रकार से प्रभु की पूजा की और बोले कि मेरे समान भाग्यवान् दूसरा नहीं है ॥१२॥ जहाँ तक और मुनिसमूह थे, वे सब आनंद-कंद (श्रीरामजी) को देखकर प्रसन्न हुए ॥१३॥ मुनियों के समूह में प्रभु सबकी ओर सम्मुख ही बैठे हैं; (अर्थात् पीठ किसीकी ओर नहीं है। यह विश्वतो-मुख प्रभु का रहस्य है,) सब उन्हें एकटक देख रहे हैं। मानों चकोरों का समुदाय शरद ऋतु के चन्द्रमा की ओर देख रहा है ॥१२॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल परे दोउ भाई।'—श्रीजानकीजी का स्वभाव अत्यंत संकोची है, इसीसे संकोचवश सर्वत्र ऋषियों के यहाँ वे प्रणाम नहीं करतीं। गुरु वसिष्ठजी पुरोहित हैं, उन्हें पहचानती हैं। अतः उन्हें प्रणाम करना पाया जाता है; यथा—"गहे चरन सिय सहित बहोरी।" (अ० दो० ८) "सीय आइ मुनिबर पद लागी।" (अ० दो० २४५); वा व्याह-प्रतिज्ञा के अनुसार कर्म-मात्र में श्रीरामजी के साथ समझना चाहिये। श्रीरामजी ने दंडवत् की, मुनि ने अत्यंत प्रीति से हृदय लगाया, यह परस्पर योग्य बर्ताव है।

(२) 'सादर कुसल पूछि'''—'सादर'—प्रेम-पूर्वक बार-बार पूछा। ज्ञानी हैं, जानते हैं, तब भी पूछा, क्योंकि यह शिष्टाचार है।

(३) 'पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा।'—पूजन के बहुत-से भेद हैं। 'बहु प्रकार' में सभी एवं स्वेच्छित लिये जा सकते हैं। जैसे कि पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि। 'प्रभु पूजा'—ये समर्थ ऋषि हैं, अतएव प्रभु की पूजा के योग्य हैं। 'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।'—ऐसा कहना स्वागत है; यथा—"भार भाग राउरि गुन गाथा। कहि न सिराहि सुनहु रघुनाथा॥" (बा० दो० ३४१), "अहोभाग्य मम अमित अति,'''देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७); "देखि मुनि रावरे पद आजु। भयउँ प्रथम गिनती में अबहीं हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० आ० ४७)।

(४) 'हरषे सब बिलोकि सुखकंदा ।'—श्रीअगस्त्यजी पूजन आदि से और मुनि लोग इनके दर्शनों से सुखी हुए, इसीसे श्रीरामजी 'सुख कंद' कहे गये।

(५) 'मुनि समूह महँ बैठे···'—यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन चन्द्र-किरण हैं। चंद्र-किरण से ताप दूर होता है। इनके वचन (जो आगे भूभार-हरण के लिये कहेंगे, उन) से संसार-भर के ताप दूर होंगे; यथा—"ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥" (बा० दो० ११६); "देखि इंदु चकोर समुदाई। "चितवहिं जिमि हरिजन हरिपाई ॥" (कि० दो० १६); "एक टक सब सोहहिं चहुँ-ओरा। रामचन्द्र मुख चंद चकोरा ॥" (अ० दो० ११४); इत्यादि।

यहाँ पर—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०), इस पार्वतीजी के प्रश्न का उत्तर है। चारों ओर सबको मुख ही का सामना है, जैसे आकाश के चंद्रमा से।

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं ॥१॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ ॥२॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारउँ मुनि-द्रोही ॥३॥
मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥४॥
तुम्हरेइ भजन-प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥५॥

अर्थ—तब रघुवीर श्रीरामजी ने मुनि से कहा कि हे प्रभो! आपसे कुछ छिपा नहीं है ॥१॥ आप जानते हैं कि मैं जिस कारण से आया हूँ। इसीसे हे तात! कुछ आपसे समझाकर न कहा ॥२॥ हे प्रभो! अब मुझे उस तरह का मंत्र (सम्मति) दीजिये, जिस तरह मैं मुनि-द्रोही निशाचरों को मारूँ ॥३॥ प्रभु के वचन सुनकर मुनि मुस्कुराये, (और बोले कि) हे नाथ! आपने क्या जानकर मुझसे पूछा है? हे पापों के नाशक! आपके ही भजन-प्रभाव से तो मैं आपकी कुछ थोड़ी-सी महिमा जानता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'तब रघुबीर कहा···'—रावण-वध के लिये विचार करेंगे, अतः, 'रघुबीर' कहा है। तुमसे छिपा नहीं है, इससे यह भी ज्ञात हुआ कि औरों से दुराव रखते हैं, अर्थात् अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं। 'तुम्ह जानहु जेहि···'—भूभार-हरण के लिये पिता की आज्ञा पालन के बहाने यहाँ वन में आया। पुनः आपके पास भी जिसलिये आया, यह सब आप जानते ही हैं। भाव यह कि मेरी इच्छा से ही वनवास हुआ है, फिर आपके पास भी जिस प्रयोजन से आया हूँ, उसे विस्तार से न समझाकर सीधे कह देता हूँ—'अब सो मंत्र ···'—मुनि को 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि ये बड़े समर्थ ऋषि हैं। इल्वल-वातापी जैसे मायावी राक्षसों को मार चुके हैं। रावण भी इनसे डरता था। इन्होंने समुद्र भी सोख लिया था। मंत्र पूछने का प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी राक्षस-मात्र के वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। कोई ऐसी युक्ति कहें, जिससे निशाचरों का वध हो और अकारण-रौद्रता का पाप भी न हो। "खर-दूषणादि के वध पर अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि इसीलिये आपको महर्षि लोग यत्न करके इस स्थान पर ले आये थे" (वाल्मी० ३।३०।३५); इससे जान पड़ता है कि मुनि इस कार्य के योग्य स्थल भी बतलायेंगे। जहाँ रहने पर रावण से वैर होगा और सब राक्षस मारे जायँगे। श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये दो बार मुनि को 'प्रभु' कहा है। पर मुनि भी चूकनेवाले नहीं हैं, इन्होंने चार बार प्रभु

(३ बार प्रभु, १ बार नाथ—यह प्रभु का पर्याय है) कहा है—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी।" "पूछेहु नाथ मोहि···", "है प्रभु परम···", "दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।"।

(२) 'मुनि मुसुकाने सुनि···'—'प्रभु बानी' पर हँसे कि ऐसे समर्थ होकर भी असमर्थ की तरह पूछते हैं। मुझे क्या जानकर पूछते हैं ? भाव यह कि मैं आपको मंत्र बतलाने योग्य कब हो सकता हूँ। इसका समाधान आगे मुनि ने स्वयं किया है; यथा -"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहिं पूछेहु रघुराई॥"। आप नाथ हैं, ब्रह्मांड-नायक है, मैं तो आपका दास हूँ। प्रभु के ये वचन मोहक हैं, इसीसे आगे मुनि वर माँगेंगे; यथा—"यह बर मागउँ···" कि जिससे मुझे भ्रम न हो। जिसके हृदय में प्रभु रहते हैं, उसे भ्रम नहीं होता; यथा—"भरत-हृदय सिय-राम-निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २६४); प्रभु के माधुर्य में भक्तों को भ्रम होने का संदेह रहता है, जैसे कि श्रीरामजी के कृतज्ञता-सूचक वचनों पर हनुमानजी ने डरकर रक्षा के लिये प्रार्थना की है; यथा— "चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत।" (सुं० दो० ३२)।

(३) 'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी।'—प्रभु ने कहा था—"तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ।···" इसका उत्तर यहाँ मुनि दे रहे हैं। भाव यह कि भक्तों को कृपा करके जितना आप जना देते हैं, वह उतना ही जान सकता है, यथा—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६); मैं भी आपके ही भजन-प्रभाव से कुछ जानता हूँ, वह आगे कहते हैं—"ऊमरि तरु···" तथा—"रोक्यो विंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम बल हार्‍यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि॥" (वि० २४७)।

(४) 'जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी।'—अर्थात् जो महिमा आगे कहते हैं, वह कुछ ही कही गई है, तो पूरी महिमा का अंदाजा भी नहीं हो सकता; यथा—"तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ९०)।

श्रीरामजी ने भरद्वाजजी से मार्ग पूछा था—'हम केहि मग जाहीं' क्योंकि आगे जाना था। श्रीवाल्मीकिजी से स्थान पूछा—'कहिय सोइ ठाऊँ' क्योंकि वहाँ पर्णशाला बनाकर कुछ काल रहना था कि श्रीभरतजी आ लें, नहीं तो दूर तक उन्हें दौड़ना पड़ेगा। अगस्त्यजी से मंत्र पूछते हैं, क्योंकि निशाचर-वध की प्रतिज्ञा का निर्वाह करना है। इनके भय से राक्षस इधर नहीं बढ़ सके, अतएव ये ही इनके बारे में मंत्र देंगे।

इन तीनों महात्माओं ने प्रथम हँसकर महिमा परक उत्तर दिये हैं, तब पीछे व्यावहारिक; क्योंकि यह नीति है कि बड़ों को सलाह देते हुए प्रथम उनकी बड़ाई करे, तब सलाह दे। इन तीनों के प्रति 'मग', 'ठाउँ' और 'मंत्र' का प्रयोग भी उपयुक्त है, तीनों में जो जिस बात में निपुण हैं, उनसे वही पूछा गया है। श्रीभरद्वाजजी मार्ग के ज्ञाता हैं; यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४२); अतः, उनसे मार्ग पूछा है। श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामजी का ठाँव (स्थान) बनाने में निपुण हैं; यथा— "रामायन जेहि निरमयेउ।" (बा० दो० १४); रामायन (राम+अयन) अर्थात् श्रीरामजी का घर (स्थान); अतः, उनसे स्थान की बात पूछी। अगस्त्यजी श्रीराम मंत्र के ज्ञाता हैं; यथा -"निसि दिन देव जपत हहु जेही।" यह अभी सुतीक्ष्णजी ने कहा है। वाल्मीकीय रामायण में रावण-वध के लिये इनका श्रीरामजी को मंत्र (आदित्य-हृदय) देना कहा भी गया है और अगस्त्य-संहिता में श्रीराम-मंत्र की व्याख्या है। इसीसे इनसे मंत्र पूछा गया। यह कवि के शब्द-प्रयोग का कौशल सराहनीय है।

ऊमरि-तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥६॥
जीव चराचर जंतु-समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना ॥७॥
ते फल-भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला ॥८॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं ॥९॥
यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री-अनुज-समेता ॥१०॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन-सरोरुह प्रीति अभंगा ॥११॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥१२॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥१३॥

अर्थ—आपकी विशाल माया गूलर के वृक्ष के समान है, अनेक ब्रह्मांड-समूह उसके फल हैं ॥६॥ चर-अचर सभी जीव गूलर-फल के भीतर के छोटे-छोटे जन्तुओं के समान हैं, जो (ब्रह्मांड-रूपी फल के) भीतर बसते हैं, वे (उसके बाहर का) और कुछ नहीं जानते ॥७॥ उन फलों का खानेवाला कठिन भयंकर काल है। वह भी आपके डर से डरता रहता है ॥८॥ वही समस्त लोकपालों के स्वामी होते हुए आपने मुझसे मनुष्य की तरह पूछा है (कि मंत्र कहो,) ॥९॥ हे कृपा के स्थान! मैं यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदय में आप श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वास कीजिये ॥१०॥ अविरल भक्ति, वैराग्य, सत्संग और आपके चरण-कमलों की अटल प्रीति—मेरे हृदय में वास करे ॥११॥ यद्यपि आप अखंड, एवं अनन्त ब्रह्म हैं, अनुभव से प्राप्त होनेवाले हैं, जिन्हें संत भजते हैं ॥१२॥ आपके ऐसे रूप का बखान करता हूँ और (उसे) जानता हूँ, तथापि लौट-लौटकर आपके इस सगुण ब्रह्म-रूप में प्रीति करता हूँ ॥१३॥'

विशेष—(१) 'ऊमरि-तरु बिसाल······' यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड-निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥" (सुं० दो० २०); 'तव माया' अर्थात् इस माया के आप स्वामी हैं। 'ते तुम्ह सकल लोक···'—से ब्रह्मांडों का स्वामी और 'तव भय डरत ···' से काल का स्वामी होना जनाया। इस तरह माया, काल और ब्रह्मांड तीनों का स्वामी होना सूचित किया।

'जीव चराचर जंतु समाना'—इससे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के जीवों का अणुत्व लक्षित कराया है।

(२) 'ते फल भच्छक कठिन··· ···'—काल समस्त ब्रह्मांड और उसके अनन्त जीवों को खा लेता है, पर उसे दया नहीं लगती, इससे कठिन कहा गया। ऐसा भारी है कि अनन्त ब्रह्मांड इसके पेट में समा जाते हैं, इससे कराल है। जैसे फलों को बंदर समूचे निगल जाते हैं, वैसे काल अनंत ब्रह्मांडों को ही निगल जाता है, भाव यह कि ब्रह्मांड के जीवों का ही नाश नहीं होता, ब्रह्मांड भी काल के द्वारा विनाश होते हैं। 'तव डर डरत सदा सोउ काला'; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (सुं० दो० २१); काल भी आपकी आज्ञा से ही ब्रह्मांडों का नाश करता है; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख, ··" (दोहावली ५००); "भयादस्याग्निस्तपति ' मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठ० २।३।३); गूलर वृक्ष की तरह माया बनी ही रहती है, फलों के परिपक्व होने पर काल-द्वारा उनका नाश हुआ करता है; यथा—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१); माया फिर-फिर फला करती है; यथा—"पल्लव फूलत नवल नित···" (उ० दो० ११)।

(३) 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं ।'—ब्रह्मांड अनेक हैं, प्रत्येक में त्रिदेव और इन्द्र, वरुण आदि लोकपाल हैं ; यथा—"लोक-लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्णु सिव मनु दिसि त्राता।" (उ० दो० ८०); उन सबके आप ही स्वामी हैं। पर मनुष्य की तरह असमर्थ बनकर हमसे मंत्र पूछते हैं।

माया जड़ है—"जासु सत्यता ते जड़ माया।" (बा० दो० ११६); इसीलिये इसे जड़ वृक्ष की उपमा दी गई। गूलर वृक्ष में फलों के घौद लगते हैं और इसमें निकाय ब्रह्मांड ; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु, अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)।

(४) 'यह बर माँगउँ कृपा निकेता।'—श्रीरामजी के माधुर्य में भ्रम होने न पावे, इस रक्षा के लिये बीच में वर माँगने लगे, इसपर ऊपर कहा गया है—"तुम्हरेइ भजन प्रभाव···"।

(५) 'जद्यपि ब्रह्म अखंड···अस तव रूप '—ऊपर महिमा ब्रह्म की कही और माँगी सगुण के माधुर्य-रूप की भक्ति, इसीपर समाधान करते हैं कि मैं उसे कहता एवं जानता हूँ, पर मेरी प्रीति तो इसी रूप में है

(६) 'फिरि-फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ।'—क्योंकि—"जेहि सुख लागि पुरारि, असिव बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन। सोई सुख-लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहु लहेउ। ते नहि गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति॥" (उ० दो० ८८); तथा—"जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥" (उ० दो० १२)।

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥१४॥
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥१५॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू॥१६॥
बास करहु तहँ रघुकुल-राया। कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया॥१७॥

अर्थ—आप सदा से सेवकों को बड़ाई देते आये हैं, इसीसे, हे रघुराई! आप मुझसे पूछते हैं॥१४॥ हे प्रभो! एक परम रमणीय और पवित्र स्थान है, उसका पंचवटी नाम है॥१५॥ हे प्रभो! आप दंडक-वन को पवित्र करें, मुनि-श्रेष्ठ शुक्राचार्य के उग्र (घोर) शाप का उद्धार करें॥१६॥ हे रघुकुल राज! आप वहाँ निवास करें और सब मुनियों पर दया करें॥१७॥

विशेष—(१) 'संतत दासन्ह······'—यह अपने प्रश्न—'पूछेहु नाथ मोहि का जानी।' का उत्तर है।

(२) 'है प्रभु परम······'—'मनोहर' से शृंगार-सहित और 'पावन' से शान्त रस पूर्ण सूचित किया। 'पंचवटी'—पाँच वट वृक्षों के कारण यह नाम पड़ा। यह स्थान गोदावरी नदी के तट पर नासिक के पास है।

(३) 'दंडक बन पुनीत····'—मुनिवर शुक्राचार्य के शाप की कथा मा० दो० २३ चौ० ७ में लिखी गई है। दंडक-वन का पुनीत होना और शाप की निवृत्ति आपके वहाँ निवास-मात्र से हो

जायगी। इसीसे साथ ही—"वास करहु तहँ..." कहा गया है, इसीसे मुनियों को सुख भी होगा; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १३); दंडक वन पुनीत करने में 'प्रभु' कहा, क्योंकि उसमें प्रभुता का काम है कि चरणों के स्पर्श-मात्र से सब पावन हो जाय। दया के सम्बन्ध में 'रघुकुल राया' कहा गया, क्योंकि राजा ही संत, विप्र आदि पर दया करते हैं।

मुनि ने गंभीरता से मंत्र दिया कि वहाँ रहने से राक्षसों से वैर होगा, वे लड़ने आवेंगे, क्रमशः मारे जायँगे, श्रीरामजी को अकारण-रौद्रता का दोष भी न लगेगा। इसमें 'जेहि प्रकार मारउ मुनि द्रोही।' का उत्तर हो गया। मुनि की साधुता भी रही, क्योंकि संत लोग किसीका वध नहीं करवाते। पंचवटी का निवास ही निशाचर-वध का हेतु हो जायगा।

(४) 'कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया।'; यथा—"भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे। अपि चात्र वसन् राम तापसान्पालयिष्यसि॥" (वाल्मी० ३।१३।२०)। यहाँ मुनियों पर दया करने में उनके द्रोहियों का वध भी गर्भित है।

दंडक-वन-पावनता, गीध-मैत्री एवं पंचवटी—प्रकरण

चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहि पंचवटी नियराई॥१८॥

दोहा—गीधराज से भेंट भइ, बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु, रहे पर्न गृह छाइ॥१३॥

अर्थ—मुनि की आज्ञा पाकर श्रीरामजी चले, शीघ्र ही पंचवटी के पास पहुँच गये॥१८॥ गृद्धराज से भेंट हुई, उनसे बहुत तरह से प्रीति बढ़ाकर प्रभु गोदावरी नदी के पास पर्णशाला छाकर (बनाकर) रहे॥१३॥

विशेष—(१) 'चले राम मुनि आयसु पाई...'—"हरषि चले कुंभज रिषि पासा।" इसका उपक्रम है और यहाँ—'चले राम...' पर उपसंहार हुआ। इतने में 'प्रभु-अगस्ति-सत्संग' प्रकरण रहा। पहले 'हरषि चले' कहा गया था, फिर अगस्त्यजी के यहाँ बैठ गये थे; यथा—"आसन पर बैठारे आनी।" अतः, फिर चलना कहा।

(२) 'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ'—वाल्मीकीय रा० आ० स० १४ में लिखा है कि पञ्चवटी पहुँचने के प्रथम ही श्रीरामजी ने एक विशालकाय पराक्रमी गृध्रको देखकर उससे परिचय पूछा। उसने प्रिय मधुर वाणी से कहा कि हे वत्स! मुझे अपने पिता का मित्र जानो। बिना और कुछ पूछे ही भाव-ग्राहक प्रभु ने उसकी पूजा की और तब उसके नाम आदि पूछे। फिर उसने सृष्टि के आदि से लेकर कथा कही और अपनेको विनता के द्वितीय पुत्र अरुण का छोटा पुत्र कहा और बताया कि मेरे भाई का नाम सम्पाती और मेरा नाम जटायु है। तुम्हारे यहाँ रहने में मैं सहायक हूँगा। तुम्हारे और श्रीलक्ष्मणजी के न रहने पर मैं श्रीसीताजी की रक्षा करूँगा। तब श्रीरामजी ने जटायु का अभिनन्दन और आलिंगन किया। पुनः उसके द्वारा अपने पिता से उसकी मैत्री की बात को बार-बार पूछा और सुना। फिर उस बलवान् पक्षी को श्रीसीताजी की रक्षा का भार देकर पंचवटी में रहने लगे।

पिता से मित्रता की बात पद्मपुराण में कही गई है, जहाँ शनिस्तोत्र भी है—एक समय सम्वत्सर सुनाते हुए श्रीवशिष्ठजी ने राजा दशरथजी से कहा कि शनि इस साल में रोहिणी की दशा को वेधकर निकल जायँगे, इससे १० वर्ष का अवर्षण होगा। तब राजा ने गुरुजी से उनके मार्ग का निश्चय कर अकेले रथ पर जा उनका सामना किया। राजा तो महातेजस्वी थे, पर इनका रथ प्राकृत होने के कारण शनि की कड़ी दृष्टि से जल गया। राजा आकाश-मार्ग में नीचे गिरने लगे। इतने में जटायु पहुँचे और राजा को अपनी पीठ पर बैठा लिया। तब फिर राजा ने धनुष-बाण चढ़ाकर सामना किया। तब शनि हृदय से डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा। फिर उन्होंने राजा से कहा कि हम तुम्हारे पराक्रम से प्रसन्न हैं, वर माँगो। राजा ने सरल प्रकृति होने से स्वीकार किया और यही वर माँगा कि अबसे आप कभी भी इस दशा का भेदन न करें। शनि ने 'एवमस्तु' कहा।

'रहे परन गृह छाइ'—श्रीचित्रकूट में देवता लोग कोल-किरात वेष से पर्णशाला रच गये थे और आगे किष्किंधा में भी-'प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा, राखी रुचिर बनाइ।" कहा है। पर यहाँ क्यों नहीं बनाई? उत्तर—(क) यहाँ खर के भय से न आ सकते थे, आगे स्पष्ट है; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (दो० २०)। (ख) यह वन उग्रशाप से शापित था, इससे देवता यहाँ न आ सकते थे, प्रभु के आने पर हरा-भरा हुआ, तब प्रभु ने स्वयं पर्णकुटी बनाई। (ग) इस स्थान से श्रीसीताजी का हरण होगा, इससे अपयश के भय से भी नहीं बनाई। वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से योग्य स्थान ढूँढने को कहा, तब उन्होंने भी यही कहा—"स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मा वद।" (वाल्मी० ३।१५।७) जब श्रीरामजी ने स्वयं ढूँढ़कर कहा कि यहाँ बनाओ, तब श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत ही रमणीय शाला रच दी; इस तरह श्रीलक्ष्मणजी भी उक्त अपयश से बचे रहे।

जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥१॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाये॥२॥
खग-मृग-बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥३॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥४॥

अर्थ—जबसे श्रीरामजी ने वहाँ निवास किया, मुनि सुखी हुए और उनका डर जाता रहा॥१॥ पर्वत वन, नदी, तालाब शोभा से पूर्ण हो गये, वे प्रतिदिन अत्यन्त सुहावने हो रहे हैं॥२॥ पक्षियों और पशुओं के झुंड सुखी रहते हैं, भौंरे मधुर गुंजार करते हुए शोभा पा रहे हैं॥३॥ शेषनाग भी उस वन का वर्णन नहीं कर सकते, जहाँ रघुवीर श्रीरामजी प्रत्यक्ष विराजमान हैं॥४॥

विशेष—'सुखी भये मुनि ··'—अगस्त्यजी ने कहा था—"कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया।" उसे यहाँ चरितार्थ किया। दंडक-वन को पुनीत करना मुनि ने पहले कहा था, पर उसका वर्णन आगे करते हैं। क्योंकि श्रीरामजी की दृष्टि में 'मुनिन्ह पर दाया' ही प्रधान कार्य है। ये उसके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

(२) 'गिरि बन नदी · '—वन का सुहावन होना कहकर तब तदाश्रित खग-मृग आदि का आनंद कहा गया कि खग मृग आदि पारस्परिक वैर भूलकर क्रीड़ा करते हैं, यथा—"सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥" (बा० दो० ६५)।

(३) 'सो वन बरनि न सक अहिराजा ।'—न कह सकने का एक कारण तो यही है कि उसकी शोभा दिन-दिन बढ़ती है, जो आज कहेंगे, वह कल फीकी पड़ जायगी, तो देखकर लोग इसे झूठी कहेंगे। दूसरा कारण उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ।'—जिन रघुवीर के भजन के प्रभाव से ही अगस्त्य आदि मुनियों के आश्रमों में पूर्ण शोभा है। वे जहाँ स्वयं विराजे हैं और प्रत्यक्ष हैं तो वहाँ की शोभा निस्सीम ही है, तब वह कैसे कही जाय ?

"पुनि लछिमन उपदेस अनूपा"—प्रकरण

(श्रीराम-गीता)

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छल-हीना ॥५॥
सुर - नर - मुनि - सचराचर साईं । मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ॥६॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा ॥७॥
कहहु ज्ञानहु बिराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥८॥

दोहा—ईस्वर - जीव - भेद प्रभु, सकल कहउ समुझाइ ।
जाते होइ चरन - रति, सोक मोह भ्रम जाइ ॥१४॥

अर्थ—एक बार प्रभु श्रीरामजी सुख-पूर्वक बैठे थे, श्रीलक्ष्मणजी ने छल रहित (सहज स्वभाव से) वचन कहे ॥५॥ कि हे सुर-नर-मुनि एवं चराचर-मात्र के स्वामी ! मैं निज प्रभु की तरह आपसे पूछता हूँ ॥६॥ हे देव ! मुझसे वही समझाकर कहिये, जिससे सबको छोड़कर प्रभु के चरण-रज का सेवन करूँ ॥७॥ ज्ञान, वैराग्य और माया (के स्वरूप एवं उनकी वृत्तियों को) कहिये और वह भक्ति कहिये, जिससे आप दया करते हैं ॥८॥ ईश्वर और जीव का भेद—यह सब समझाकर कहिये, जिसमें आपके चरण में प्रीति हो और शोक, मोह और भ्रम मिट जायँ ॥१४॥

विशेष—(१) 'एक बार प्रभु सुख आसीना ।'—प्रभु श्रीरामजी ने अपने सामर्थ्य से गिरि-वन आदि को और मुनियों को सुखी किया और फिर स्वयं भी सुख-पूर्वक बैठे। आप आश्रितों के सुख से सुखी होते हैं। वन की रमणीयता भी सुख का हेतु है। प्रिया के साथ सुख-पूर्वक विराजने का बाहरी लीला में यह अंतिम दिन है, वास्तविक आपकी क्रीड़ा तो नित्य एक-रस ही है।

यहाँ तत्त्व-जिज्ञासा के योग्य अवसर है; यथा—"एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ॥ ''पारबती भल अवसर जानी। गई संभु पहिं ''" (बा० दो० १०५–१०६)।

(२) 'लछिमन बचन कहे छल हीना।'–जो प्रश्न अपनी जीत और दूसरे की परीक्षा लेने एवं अपनी चतुरता प्रकट करने के लिये होते हैं, वे छल युक्त कहे जाते हैं। वे दोष श्रीलक्ष्मणजी के वचनों में नहीं हैं। यदि कहा जाय कि श्रीलक्ष्मणजी ने स्वयं कहा है—"मन-क्रम-बचन चरन रत होई। कृपासिंधु

हृदयँ कि सोई ॥" (अ० दो० ७१); अर्थात् वे श्रीरामजी के चरणों में पूर्ण अनुरक्त एवं अनन्य हैं। तो फिर यहाँ—'जाते होइ चरन रति' 'सब तजि करउँ···' को प्रश्न का हेतु क्यों कहा ? यह तो छल ही है। इसका उत्तर यह है कि श्रीमुख से सुनकर उनमें और दृढ़ता हो जायगी और श्रीमुख-वाणी पर जगत् का कल्याण होगा; यथा—"तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी ॥" (बा० दो० १११) श्रीलक्ष्मणजी सगुण-भक्ति में जीवों के आचार्य माने जाते हैं। इससे सबके लिये इनका प्रश्न करना योग्य ही है। छल-हीन प्रश्न वक्ताओं को प्रिय लगते हैं; यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल विहीन सुनि सिव मन भाई ॥" (बा० दो० ११०); (इसे भी देखिये)। श्रीलक्ष्मणजी ने गुह को इन ज्ञान विराग आदि के उपदेश भी किये हैं; यथा—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-बिराग भगति रस सानी ॥" (अ० दो० ९१); फिर इन सबको समझाकर कहलावेंगे, जिससे और दृढ़ हो जायँ। पुनः शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना नियम भी है; यथा—"शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।" (दो० ३६); अन्यथा विस्मृति का भय रहता है। यह उपदेश भी है कि सज्जनों को इन्हीं बातों के प्रश्नोत्तर में कालक्षेप करना चाहिये।

(३) 'सुर-नर-मुनि-सचराचर साईं' ; यथा—"बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी।" (बा० दो० १०९); 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं'—श्रीलक्ष्मणजी ने यहाँ अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए प्रश्न किया है; यथा—"दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।" (बा० दो० १०९); जिससे प्रभु को समाधान करते ही बने; यथा—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ॥" (कि० दो० ३); अर्थात् जैसे अनन्य सेवक अपने स्वामी से पूछता है, वैसे ही सरल भाव से मैं पूछता हूँ। यह भी भाव है कि आप प्रभु हैं, प्रभु-सम्मित वचनों से कहें। वही अवश्य मुझ सेवक के लिये कर्त्तव्य होगा। क्योंकि जिसकी आज्ञा सुर-नर-मुनि एवं सचराचर सभी मानते हैं, तो उसको 'निज सेवक' क्यों न मानेगा।

(४) 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि···'—यह रीति है कि जब जिज्ञासु नितान्त अज्ञान बनकर पूछता है; तभी वक्ता विस्तार-पूर्वक और समझाकर कहता है; यथा—"कहिय बुझाइ कृपा निधि मोहीं ॥" (बा० दो० ४५)—श्रीभरद्वाजजी; "मोहि समुझाइ कहहु वृष केतू।" (बा० दो० ११६)—श्रीगिरिजाजी; "कहहु बुझाइ कृपानिधि मोहीं ॥" (उ० दो० ११४)—श्रीगरुड़जी, इत्यादि सब ने ऐसा ही पूछा है। 'सब तजि'; यथा—"जननी जनक बंधु···सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥" -(सु० दो० ४७); "सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक ॥" (कि० दो० ६); अर्थात् जननी जनक आदि की ममता एवं देह सम्बन्धी सुख और मान के छोड़ने पर ही यथार्थ भक्ति होती है।

(५) 'कहहु ग्यान बिराग···' इसमें भक्ति को दूसरे चरण में रक्खा, उसका एक कारण तो यह है कि अपना अभीष्ट अंत में कहा जाता है, क्योंकि उपर्युक्त 'चरण रज सेवा' और 'जाते होइ चरन रति···' ये सब भक्ति के ही विशेष अंग हैं। दूसरा यह भी कारण है कि भक्ति के पास माया नहीं रह सकती, यथा—"भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥ (उ० दो० ११५); इसलिये भक्ति को माया से पृथक् रक्खा।

(७) 'जाते होइ चरन रति ···' इनमें ईश्वर और जीव का भेद जानने से चरण-रति अर्थात् ईश्वर में जीव की भक्ति होगी। यह इसके उत्तर के प्रसंग में स्पष्ट है। ज्ञान से शोक का, वैराग्य से मोह का और माया के जानने से भ्रम का नाश होगा। भक्ति का ज्ञान इसलिये चाहिये कि 'चरन-रति' कैसे हो !

श्रीलक्ष्मणजी का मुख्य उद्देश्य है—"सब तजि करउँ चरन रज सेवा।" इसीके लिये सब जानना चाहते हैं, क्योंकि—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ॰ दो॰ ८८)।

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई ॥१॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव-निकाया ॥२॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥३॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥४॥
एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा ॥५॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥६॥

अर्थ—हे तात ! मैं थोड़े ही में सब समझाकर कहता हूँ, तुम बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुनो ॥१॥ मैं और मेरा, तू और तेरा, यही (भावना ही) माया का स्वरूप है, जिसने समूह जीवों को वश में कर लिया है ॥२॥ इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन जाय, हे भाई ! उन सबको माया जानो ॥३॥ उस माया के दो भेद हैं—एक विद्या दूसरी अविद्या, इन दोनों को भी तुम सुनो ॥४॥ एक (अविद्या) अत्यन्त दुष्टा और बड़ी ही दुःख-रूपा है, जिसके वश में होकर जीव संसार-रूपी कुएँ में पड़ा है ॥५॥ एक (विद्या) जिसके वश में गुण हैं, वह प्रभु की प्रेरणा से जगत् को रचती है, अपना बल उसे कुछ नहीं है ॥६॥

विशेष—(१) 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।'—श्रीलक्ष्मणजी ने दो बार कहा है कि समझाकर कहिये, उसीसे कहते हैं कि हाँ, हम थोड़े ही में समझा कर कहेंगे। भाव यह कि शब्द थोड़े होंगे, पर समझने में आ जायँगे। इनके समझने का विस्तार भारी है। ये अत्यन्त सूक्ष्म विषय हैं, अतएव बुद्धि से निश्चय करते हुए, मन से मनन करते और चित्त में धारण करते जाओ। थोड़े शब्दों में बहुत आशय बोध कराना वक्ता की श्रेष्ठता है और थोड़े ही में बहुत कुछ समझ लेना श्रोता की उत्तमता है। प्रभु अंतर्यामी हैं, यह भी जानते हैं कि शूर्पणखा चल चुकी है, समय थोड़ा है, इससे भी थोड़े ही में कहते हैं।

पूर्व—"उभय बीच श्री सोहइ · " (दो॰ ६); में कहा गया है कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की कृपा के आश्रय हैं; इसलिये प्रभु ने कृपा करके श्रीलक्ष्मणजी को ऐसी बुद्धि-शक्ति दी है कि वे संकेत-मात्र से समझने जायँगे।

(२) 'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'—माया के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः कार्य-द्वारा उसका लक्ष्य कराते हैं कि समस्त जीव ईश्वर के अंश, सच्चिदानंद-स्वरूप और ईश्वर के शरीर हैं; यथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥" (उ॰ दो॰ ११६); "जगत्सर्वं

शरीर ते" (वाल्मी० ६।११७।२७); वे परस्पर भिन्न और अनंत हैं; यथा—"जीव अनंत एक श्रीकंता।" (उ० दो० ७७); किंतु किसी अदृश्य शक्ति के वश अपनी वास्तविक स्थिति से पृथक् हो, स्वतन्त्र सत्तावान् होकर परस्पर 'मैं, मोर, तैं, तोर' के व्यवहार में लीन हो जाते हैं, वही माया है, जिसने समूह जीवों को वश में किया है।

शुद्ध जीव भगवान् का शरीर है, इससे इसका पृथक् स्वत्वाभिमान नहीं रहता। जब यह उस स्थिति से पृथक् हुआ, तब पहले 'मैं' की सत्ता हुई, फिर दूसरे जीवों के प्रति द्वैत-बुद्धि होने से 'तैं' भी हुआ। फिर 'मैं' का सम्बन्धी 'मोर' और 'तैं' का सम्बन्धी 'तोर' हो गया, इसीसे बुद्धि में नानात्व-जगत् बन गया।

'मैं अरु मोर तोर तैं माया' से माया का स्वरूप लक्षित किया। तब 'जेहि बस कीन्हेउँ जीव-निकाया।' से उसका कार्य दिखाया। आगे माया का विस्तार कहते हैं—

(३) 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब ···'—इसका इतना बड़ा विस्तार है कि नेत्र आदि इन्द्रियों और रूप आदि उनके विषय एवं जहाँ तक मन की दौड़ है, सब माया ही का विस्तार है। 'गो-गोचर' से दृश्यमान जगत् और 'जहँ लगि मन जाई' से और-और अदृश्य लोकों को जनाया; यथा—"असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। स्वर्ग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।" (वि० १२५); यहाँ पर यह शंका की जाती है कि मन तो भगवान् में भी जाता है; यथा—"मय्येव मन आधत्स्व ···" (गीता० १२।८); तो वे भी माया ही होंगे, इसलिये आगे भेद कहकर समझावेंगे कि अविद्या माया के सम्बन्ध से अशुद्ध मन का विषय माया है; विद्या माया से शुद्ध मन के विषय भगवान् होते हैं। श्रुतियों में भी ऐसी ही व्यवस्था है; यथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत० २।४); इसमें भगवान् को अशुद्ध मन से अप्राप्य कहा है और—"मनसैवेदमाप्तव्यं, नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति॥" (कठो० २।४।११); इसमें शुद्ध मन से प्राप्त होना कहा गया है।

(४) 'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ ···'—इसमें माया के दो भेदों को कहा—विद्या और अविद्या।

(५) 'एक दुष्ट अतिसय···'; यथा—"वैरी माया सब बिधि गाढ़ी।" (बा० दो० २०१); "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२); 'परा भव कूपा'—अर्थात् स्वयं पड़ा; यथा—"सो माया बस भयो गोसाईं। बँध्यो कीट मर्कट की नाईं॥" (उ० दो० ११६); माया के ही कारण भव-दुःख हैं; यथा—"तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।" (वि० १२०)।

(६) 'एक रचइ जग गुन बस···'—ऊपर एक माया दुष्टा कही गई, उसकी अपेक्षा इसे सुष्टु (भली) सूचित किया। 'रचइ जग'; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। 'गुन बस जाके'—यह त्रिगुणात्मिका है। सृष्टि कर्तृत्व के अतिरिक्त इसी के सत्त्वादि गुणों से भगवान् में श्रद्धा भी होती है। तब जीव निरंतर उनके भजन में लगता है, जिससे इसे भगवान् दिव्य बुद्धि का योग कर देते हैं; यथा—"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०); तब उस बुद्धि के द्वारा मन भगवान् का अनुभव करता है। अन्यथा अशुद्ध मन से भगवान् परे हैं; यथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया मन गुन पार।" (उ० दो० २५)। 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।'; यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥" (गीता ९।१०) ; "सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवंति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥" (गीता १४।४) ; अर्थात् श्रीगोस्वामीजी की परिभाषा में जगत् को भगवान् से भिन्न नानात्व-सत्ता में देखना अविद्या माया का कार्य है और जगत् एवं प्रकृति को भगवान् के शरीर रूप में देखना और प्रकृति के कार्यों को भगवान् की सत्ता और प्रेरणा से जानना विद्या माया की दृष्टि है।

इसका विशेष निर्णय बा० दो० ११७-११८ में देखिये।

इसी विद्या माया के सत्त्वादि गुणों के द्वारा दिव्य बुद्धि भी प्राप्त होती है। उसीसे ज्ञान आदि भी होते हैं। इसीसे क्रम-भंग करके अविद्या को प्रथम ही कहकर इसे पीछे कहा कि इसी विद्या माया के साहचर्य में ज्ञान आदि भी कहे जायँ। जिससे श्रुतियों में कही हुई विद्या का भाव भी इससे अपृथक् रहे; यथा—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (ईशा०); इसमें विद्या से ज्ञानोपासना का अर्थ है।

प्रथम अविद्या को इससे भी कहा कि पहले अज्ञान को कहकर ही ज्ञान कहा जाता है; यथा—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥" (दोहावली २५१) ; अर्थात् अज्ञान को निवृत्त करना ही तो ज्ञान का महत्त्व है। इसलिये प्रथम अज्ञान को कहकर ज्ञान कहा जाता है।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्नों का क्रम से उत्तर नहीं दिया गया, यह क्यों ?

समाधान—श्रोता अज्ञान-दृष्टि से प्रश्न करता है, पर वक्ता ठीक क्रम से ही कहता है। अतः, श्रीरामजी ने पहले माया को ही कहा, क्योंकि पहले तम जनाकर प्रकाश का ज्ञान कराना है।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥७॥
कहिय तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥८॥

अर्थ—ज्ञान वह है जहाँ एक भी मान न हो, सबमें ब्रह्म को समान रूप से देखे ॥७॥ हे तात ! वह परम वैराग्यवान् कहा जाता है, जो त्रिगुणात्मक सिद्धियों को एवं तीनों गुणों के विस्तार ऐश्वर्य रूप तीनों लोकों के विभव को त्याग दे ॥८॥

विशेष—(१) 'ज्ञान मान जहँ ...'—यहाँ गीता अ० १३ में कहे हुए ज्ञान का सारांश बड़ी ही सूक्ष्मता से लिया गया है; यथा—"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥ असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ इसके आदि के 'अमानित्वं' को श्रीरामजी ने अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध में कहा और अंत के 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' को उत्तरार्द्ध में कहा है। तत्त्वज्ञानार्थदर्शन का अर्थ—'यथार्थ ज्ञान का फल—ब्रह्म का सम रूप से सबमें साक्षात्कार होना' है, यह ब्रह्म का दर्शन (देखना) उत्तरार्द्ध में कहा है। इस तरह प्रत्याहार के सदृश सम्पूर्ण जनाया, क्योंकि—'थोरेहि महँ कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा है। इस ज्ञान में—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।' कहा गया

इससे भक्ति-रूप सरस ज्ञान का कथन है; यथा—"उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत···" (उ० दो० ११२); इसे ही—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।···ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥" (गीता ७।१६-१७); में भी कहा है। 'तेषां' से उन चार प्रकार के भक्तों में ही यह ज्ञानी कहा गया है। यही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"राम भगत जग चारि प्रकारा। ··ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा॥" (बा० दो० २१); तथा—"संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥" (बा० दो० ३१)।

अतः ज्ञान और भक्ति दोनों पर्याय हैं, ऐसा ही श्रुतियों में भी कहा गया है; यथा—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत···" से प्रारम्भ कर आगे—"भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥" (छां० ३।१८।१-२); इसमें 'उपक्रम में 'उपासीत' कहा है और उसे ही 'उपसंहार' में 'वेद' भी कहा है, अतः वेदन (ज्ञान) का अर्थ उपासना सिद्ध है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने वेदान्त के आनन्द भाष्य में इसका निर्णय किया है; यथा—"ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या। कुतः? असकृदुपदेशात्। 'निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यात्मदर्शनसाधनत्वेनासकृद्ध्यानकर्तव्यत्वोपदेशात्। निदिध्यासनपदस्यासकृद्ध्यानार्थकत्वात्। असकृद्ध्यानमन्तरेण परमात्मसाक्षात्करानुपपत्तेः। 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेर्ध्रुवत्वमचलत्वं तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथाऽनुपपद्यमानं स्मृतेः सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति। उपास्यविषयिणी स्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते। वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थके एवेत्यावृत्तिः कर्तव्येति॥४।१।१॥

अर्थ—ध्यान और वेदन आदि पदों से उपदिष्ट वेदन की आवृत्ति करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति में 'निदिध्यासितव्यः' कहकर असकृत् ध्यान को आत्मदर्शन का साधन माना है। निदिध्यासन' पद का अर्थ होता है—'अनेक बार ध्यान करना'। जब तक 'असकृत्' अर्थात् अनेक बार ध्यान न किया जावे, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। 'सत्त्वशुद्धौ···' इस छान्दोग्य वचन में ध्रुवा-स्मृति को सर्व ग्रन्थियों के मोक्ष का हेतु कहा गया है। 'ध्रुव' शब्द का 'अचल' अर्थात् 'तैलधारावदविच्छिन्न' अर्थ है। यह अचलत्व अथवा तैलधारावद्विच्छिन्नत्व निरन्तरस्मृति के बिना हो नहीं सकता। अतः, यही अचलत्व स्मृति के सातत्य का उपपादन करके स्मृति की आवृत्ति का ज्ञापन करता है।

प्रश्न—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियों में तो स्मृति का विधान नहीं किया है, किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का ही विधान किया है।

उत्तर—भगवद्विषयक स्मृति को ही 'उपासना' शब्द से कहा है और कहीं 'वेदन' आदि शब्दों से कहा है। ध्यान, उपासना, वेदन और स्मृति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि वेदन और उपासन—ये दोनों समान प्रकरण में बोधित हुए हैं। (जैसे—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत···' ऊपर लिखा गया है। तथा—'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः'। इत्यादि श्रुतियों में वेदन, ध्यान, उपासन ये सब पर्यायवाची हैं। ध्यान का ही अर्थ चिन्ता है, चिन्ता स्मृति-संतान का नाम है। यह अनेक बार स्मृति के बिना बन नहीं सकता।) अतः, वेदन का अनुष्ठान सदा करना चाहिये॥४।१।१॥

शंका—उत्तरकांड में ज्ञान और भक्ति का बहुत कुछ तारतम्य कहा गया है।

समाधान—वहाँ कैवल्यपरक उच्च ज्ञान का प्रसंग है, उसे भी श्रीरामजी यहाँ पर आगे (पृथक्)—'धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।' में कहेंगे और फिर उससे भक्ति को बहुत श्रेष्ठ कहेंगे।

(२) 'ज्ञान मान जहँ···'—का भाव यह कि उपर्युक्त—'मैं, मोर, तैं, तोर' यह भावना ही अहंकार या मान हैं, इसीको माया कहा गया है। इसके दूर होने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है; यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (दो॰ ३१); तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहु न पावै॥" (वि॰ १२०); पहले अज्ञान दृष्टि में—"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" कहा गया था। अब ज्ञान-दृष्टि में—"देख ब्रह्म समान सब माहीं।" कहा जा रहा है। ···

इसी ज्ञान के साहचर्य में वैराग्य के लक्षण भी कहते हैं, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है; यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।" (अ॰ दो॰ १७७); "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ॰ दो॰ ८९)॥

(३) 'कहिय तात सो परम बिरागी।···'—अरूप पदार्थ का स्वरूप उसके धर्म-द्वारा ही जाना जाता है, जैसे क्रोध का स्वरूप क्रोधी के लक्षणों (नेत्र लाल होने, भौंहें टेढ़ी होने आदि) से जाना जाता है। जो सांसारिक पदार्थों का त्याग करे, वह विरागी है और जो दिव्य पदार्थों का भी त्याग करे, वह परम विरागी है। तीनों गुणों की सिद्धियाँ एवं तीनों लोकों के ऐश्वर्य दिव्य पदार्थ हैं। इनके त्यागने के आदर्श श्री भरतजी हैं; यथा—"भरतहि होइ न राज मद, बिधि हरि हर पद पाइ।" (अ॰ दो॰ २३१); श्रीशिवजी भी; यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (मं॰)।

दोहा—माया ईस न आप कहँ, जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्ब-पर, माया प्रेरक सीव॥१५॥

शब्दार्थ—सीव का अर्थ सीम एवं सीमा = काष्ठा, अर्थात् सबकी पराकाष्ठा ईश्वर है।

अर्थ—जो माया, ईश्वर और न अपनेको ही जान (सके), वह जीव कहाता है। सब जीवों पर माया की प्रेरणा करके बंधन और मोक्ष का देनेवाला ईश्वर है॥१५॥

विशेष—(१) 'सीव'; यथा—"जीव सीव सम सुख सयन, सपने कछु करतूति। जागत दीन मलीन सोइ, सकल बिषाद बिभूति॥" (दोहावली २४९); तथा—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था···महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥" (कठ॰ १।३।१०—११); इसमें सीव (सीमा) का ही पर्याय काष्ठा एवं परा गति से ईश्वर कहा गया है।

ऊपर—'ईश्वर-जीव-भेद' परक प्रश्न था, उसपर श्रीरामजी ने यह नहीं कहा कि भेद नहीं है; यथा—"अगुनहि सगुनहिं नहि कछु भेदा।" (बा॰ दो॰ ११५); प्रत्युत् भेद को स्वीकार करके उत्तर में यहाँ कह रहे हैं कि जीव अज्ञ है, क्योंकि तीनों तत्त्वों (माया, ईश्वर, जीव) को नहीं जान सकता और ईश्वर सर्वज्ञ हैं, इसीसे वे सब जीवों को उनके कर्मानुसार बाँधते और छोड़ते हैं; यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" गीता ४।५); अर्थात् भगवान् अपनेको सर्वज्ञ और जीव अर्जुन को अज्ञ कहते हैं। इसे विस्तार से उ॰ दो॰ ७७ में कहा है; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर। मायाबस्य जीव सचराचर। जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥···" अर्थात् स्वभावतः जीव का अज्ञ होना और ईश्वर का सर्वज्ञ होना—यह दोनों में भेद है।

जीव की अज्ञता; यथा—"जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥"

(उ० दो० ७१); इसमें माया का न जानना है। "तब माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥" (कि० दो० १); इसमें ईश्वर का न जानना है। "आनंद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" से "निज सहज अनुभव रूप तू खल भूलि अब आयो कहाँ?" (वि० १३६) तक; इसमें 'आपु (जीव) कहँ' न जानना है।

तीनों का यथार्थ ज्ञान श्रीराम-कृपा से ही होता है; यथा—"तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत-उर-चंदन॥" (अ० दो० १२६); अर्थात् जब श्रीरामजी कृपा करके अपना ज्ञान कराते हैं। तब उनके 'पर' (विराट्) रूप का बोध होता है; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।" (गीता ११।४७); इस ग्रन्थ में भी जहाँ विराट् रूप दिखाना कहा गया है वहाँ कृपा से ही; यथा—"बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।···बिहँसत तुरत गयेउँ मुख माहीं॥···देखि कृपाल बिकल मोहिं, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर आयेउँ···" (उ० दो० ७८-८२); श्रीरामजी की हँसी माया है; यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४); और माया का अर्थ कृपा है; यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च।"। उदाहरण—"सोचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ११); "दाया माया राखना" यह मुहावरा है। विराट्-रूप के जानने से भगवान् के शरीर रूप में प्रकृति और जीव के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान-पूर्वक ऐश्वर्य समेत ईश्वर का ज्ञान होता है। इस तरह ईश्वर की कृपा से उनकी दी हुई दिव्य बुद्धि-द्वारा जीव तीनों को जानता है; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०); ऊपर 'न जानना' जीव के स्वतः ज्ञान से कहा है, यही जीव की अज्ञता है।

इस भेद-ज्ञान से जीव भगवान् की शरण होगा, तब वे अपना उपर्युक्त यथार्थ ज्ञान करावेंगे। तब दृढ़ भक्ति होगी; यथा—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ! पगनि परत।" (वि० २५१); यही श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट भी है; यथा—"जाते होइ चरन रति" अतः, यही अर्थ संगत है।

यहाँ बद्धजीव का लक्षण कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥" (उ० दो० ११६) में देखिये।

(२) 'बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर···'—जो निरंतर भजन करते हैं, उन्हें ईश्वर विद्या माया द्वारा कृपा करके छोड़ते हैं; यथा—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०); जो प्रतिकूल आचरण करते हैं; उन्हें बन्धन-रूप दंड देते हैं, यथा—"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९); तथा—"नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते परहिं महा भव भीरा॥ करहिं मोह बस नर अघ नाना ·· कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥" (उ० दो० ४०) ऐसे विमुखों को वे अशुभ योनियों में डालते हैं—यही बंधन है। पुनः भगवान् अपनी लीला के विधान में नित्य-जीवों को भी अपनी माया के वश करते हैं, जैसे कि गरुड़जी को मोह हुआ; सनकादिक को वैकुंठ में भी क्रोध हुआ, इत्यादि। अतः, ईश्वर की माया-द्वारा सबपर बंधन और मोक्ष का विधान होने से ईश्वर और जीव में स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य भेद भी स्पष्ट हुआ।

प्रश्नकर्ता श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट था—"जाते होइ चरन रति,···" पुनः सम्पूर्ण प्रसंग सुनने पर भी—"लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा।" कहा है। अतः, उन्होंने भी भेदात्मक ही अर्थ ग्रहण किया

है; अन्यथा अभेद होने से उपास्य भाव नष्ट होने पर 'चरन रति' परक 'चरन सिर नावा' कैसे हो सकता ? अतएव, यहाँ जीव और ईश्वर में अज्ञ सर्वज्ञ, परतंत्र स्वतंत्र, शरीर-शरीरी आदि भेद भी स्पष्ट हो गये।

शंका—भेद मानने से द्वैत की शंका है, जिससे भवकूप में पड़ने का भय है; यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परउँ नहिं अस कछु, जतन विचारी ॥" (वि० ११३); "द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११); तथा—"यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति, द्वितीयाद्वैभयं भवति ॥" (बृह० १।४।२) अर्थात् दूसरे से भय होता ही है।

समाधान—उपर्युक्त भेद शरीर-शरीरी-भाव के अन्तर्गत कहे गये हैं। यहाँ शंका का भव-दायक द्वैत इसके विरुद्ध में कहा गया है। जैसे उपर्युक्त द्वैतवाले पद के पूर्वार्द्ध से ही स्पष्ट है कि ये जननी-जनक आदि आपके ही शरीर हैं। इन-इन रूपों से आपने ही सब उपकार किये हैं। इस ऐक्य के विरुद्ध अर्थात् उन्हें पृथक् पृथक् सत्तावान् मानने पर उन-उनके ऋणी होने से भवकूप में पड़ूँगा। अतः, इस द्वैत रूप अज्ञान से रक्षा का यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है। यही द्वैत क्रोध मूलक भी है और इसी को उक्त श्रुति में भी भयदायक कहा है।

जगत् मात्र भगवान् का शरीर है और वे ही प्रत्येक जीवों के कर्मानुसार सबके प्रवर्तक भी हैं। वे सर्वज्ञ हैं, अतः यथान्याय ही बर्ताव कर रहे हैं। जैसे मनुष्य के एक हाथ में फोड़ा होता है, तब वह दूसरे हाथ से उसे चीरता है और फिर दवा भी भरता है, इत्यादि। परन्तु भिन्न भिन्न मानने पर हित पर प्रीति और अहित पर क्रोध होगा ही।

'सोक मोह भ्रम जाइ'—उपर्युक्त शरीर-शरीरी की एकता पर शोकादि का निवृत्त होना श्रुतियों ने भी कहा है; यथा—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ··तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥" (यजु० सं० अ० ४० मंत्र ६।७); अतः यहाँ जिस भेद से शोक मोह आदि का छूटना कहा गया है, उसमें भव मूलक द्वैत की शंका नहीं है।

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान-मोच्छ-प्रद बेद बखाना ॥ १ ॥
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई ॥ २ ॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान-बिज्ञाना ॥ ३ ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥ ४ ॥

अर्थ—धर्म से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है, ज्ञान मोक्ष देनेवाला है—ऐसा वेदों ने कहा है ॥१॥ हे भाई ! जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है, वह भक्तों को सुख देनेवाली है ॥२॥ वह स्वतंत्र है, उसे दूसरे का अवलंब नहीं है। ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं; अर्थात् भक्ति करने से वे स्वतः आ जाते हैं ॥३॥ हे तात ! भक्ति उपमारहित और सुख की जड़ है, जो संत प्रसन्न हों तो वह प्राप्त होती है ॥४॥

विशेष—(१) 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।······'—प्रथम सरस ज्ञान-प्रसंग कह चुके हैं। बीच में ईश्वर-जीव का भेद कहकर यहाँ फिर कैवल्यपरक ज्ञान का प्रसग कहते हैं। इसीसे इसे पृथक्

हैं। यह ज्ञान वही है, जिसे उ० दो० ११६ में दीपक रूप में कहा गया है। यहाँ के सब अंग वहाँ से मिलते हैं—जैसे कि 'सात्विक श्रद्धा' पूर्वक जप तप आदि कहते हुए 'परम धर्म मय पय दुहि भाई।' तक धर्म कहा गया है। फिर आगे—'विमल विराग सुभग सुपुनीता।' तक धर्म का फल-रूप वैराग्य कहा है। पुनः—'योग अगिनि करि · ' में योग कहा गया है, तब विज्ञान आदि अंग कहते हुए—"जो निर्विघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" यह फल कहा है। वैसे ही यहाँ भी धर्म से वैराग्य, योग से ज्ञान और तब, "ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना।" कहा गया है। फिर उसे जैसे वहाँ भक्ति की अपेक्षा सविघ्न अल्प-फल-प्रद आदि कहा है, वैसे आगे यहाँ भी कहते हैं। यह ज्ञान योग-शास्त्र का है, इसे रूच ज्ञान भी कहते हैं। इसी के प्रति कहा गया है—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।" (उ० दो० १२); "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम···" (अ० दो० २९०)।

(२) 'जाते बेगि द्रवउँ मैं··· ··'—इससे रूच ज्ञान को चिरसाध्य और दु:खसाध्य सूचित किया; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥" (उ० दो० ४४); "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥" (गीता १२।५)। 'बेगि द्रवउँ'; यथा—"सकृत प्रनाम किहें अपनाये।" (अ० दो० २९८); "सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।" (सुं० दो० ४३); "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् साधुरेव·· क्षिप्रं भवति धर्मात्मा··" (गीता ९।३०–३१); 'भगत सुखदाई', यथा—"कहहु भगति पथ कवनि प्रयासा। जोग न मख जप-तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५); "प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥" (गीता ९।२)। इसकी अपेक्षा ज्ञान के साधनों को दुःखदाई सूचित किया; यथा—"साधन कठिन विवेक।" (उ० दो० ११९)।

(३) 'सो सुतंत्र अवलंब न आना।'—ज्ञान में धर्म और योग के सहायक होने की जैसी आवश्यकता हुई; वैसी आवश्यकता भक्ति में नहीं पड़ती। इसमें धर्म का कार्य नवधा से और योग का कार्य प्रेमा से (अपने से) ही हो जाता है। भक्ति में ज्ञान विज्ञान की अधीनता यों है कि सरस ज्ञान दो प्रकार के हैं—एक साधन रूप और दूसरा फल-रूप। साधन रूप ज्ञान गीता १८।५०–५३ में कहा गया है। उसके फल-रूप में पराभक्ति वहीं पर आगे ५४ वें श्लोक में कही गई है। उसी ज्ञान की अधीनता यहाँ पर समझनी चाहिये। फल-रूप ज्ञान वही है जो ऊपर—'ज्ञान मान जहँ···' में भक्ति से अभेद कहा गया है। कैवल्यपरक ज्ञान की अधीनता इस प्रकार है कि उसका फल भक्ति में अनायास ही आ जाता है; यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥" (उ० दो० ११८)। विज्ञान उस ज्ञान की छठी भूमिका में ही आ गया है, तो उसकी अधीनता आ ही गई। पुनः सरस विज्ञान की अधीनता; यथा—"ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी। तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥" (उ० दो० ८५)। विज्ञान गुणातीत अवस्था को भी कहा गया है—(उ० दो० ११०), देखिये, वह दशा भक्ति से सहज ही आ जाती है, यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।" (गीता १४।२६)।

(४) 'भगति तात अनुपम सुखमूला।'—'अनुपम'—क्योंकि भगवत् प्राप्ति और कैवल्य पद-प्राप्ति में ऐसा सुलभ साधन दूसरा नहीं है। सुख-मूलकता से भी यह अनुपम है; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ता कर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६); "जेहि सुख लागि पुरारि, असिव वेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई

सुख लवलेस, जिन्ह वारेक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥" (उ० दो० ८८) इत्यादि।

'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।'—संतों की प्रसन्नता से हरि-कथा का यथार्थ रहस्य प्राप्त होता है, तब विवेक होता है, श्रीरामजी में प्रीति होती है और मोह का नाश होता है; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१); "बिनु सत संग बिवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥" (बा० दो० २); "सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥" (उ० दो० ११९); संतों की अनुकूलता से भक्ति की प्राप्ति और संतों की प्राप्ति श्रीराम-कृपा से होती है—यह यहाँ कहा गया, अतएव इस भक्ति को कृपासाध्य सूचित किया। आगे साधन-साध्य भक्ति कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥ ५॥
प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति-रीती॥ ६॥
एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ ७॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ ८॥
संत - चरन - पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-बचन भजन दृढ़ नेमा॥ ९॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥१०॥

अर्थ—मैं भक्ति के साधन विस्तार से कहता हूँ, जिस सुगम मार्ग से मनुष्य मुझे पाते हैं॥५॥ पहले ही ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति करे और अपने-अपने कर्म में वेद की रीति से प्रीति-पूर्वक लगा रहे॥६॥ फिर इसका फल विषयों से वैराग्य हो; तब हमारे धर्म में प्रेम उत्पन्न हो॥७॥ श्रवण कीर्त्तन आदि नव भक्तियाँ दृढ़ हों, मन में मेरी लीला में अत्यन्त प्रीति हो॥८॥ सन्तों के चरणों में अत्यन्त प्रेम हो, मन, वचन और कर्म से भजन का दृढ़ नियम हो॥९॥ गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी और देवता सब मुझको ही जानकर मेरी सेवा में दृढ़ हो॥१०॥

विशेष—(१) 'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।'—इसके साधन भी सुगम ही हैं और प्राणी मात्र इसके अधिकारी हैं। ऊपर ज्ञान-वैराग्य के साधन कहे थे—"धम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" ये कष्ट साध्य थे। अब भक्ति के भी साधन कहते हैं, परन्तु ये सुगम हैं।

(२) 'प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती।'—'विप्र' शब्द का विशेष अर्थ वेद पाठी तत्त्वज्ञ ब्राह्मण के लिये है, इसीसे श्रुतियों में विप्र शब्द ही से ऋषि लोग कहे गये हैं। तथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्र बर···" (उ० दो० ९९); यह भी प्रसिद्ध है। यहाँ 'विप्र' शब्द इसी अर्थ में है, क्योंकि आगे—'निज निज करम निरत श्रुति रीती॥' कहा गया है। जब इनमें प्रीति होगी, तब ये मोह जनित-संशय दूर करेंगे; यथा—"बंदेउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥" (बा० दो० १); तब अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों के ज्ञान पूर्वक उनमें प्रवृत्ति होगी। फिर उन्हीं के द्वारा विधिवत् अनुष्ठान होगा। 'अति प्रीती'—प्रीति तो जन्मना ब्राह्मण मात्र में चाहिये, पर उक्त रीति के श्रेष्ठ विप्रों में अत्यन्त प्रीति हो। क्योंकि—"पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना॥" (दो० ३३)

तात्पर्य यह है कि पूर्व कर्मों के अनुसार ईश्वर ने उन्हें उस कुल में जन्म दिया है और पूज्य होने का अधिकार दिया है। उनका पूजना ईश्वर की आज्ञा का पालन है। पूजा से प्रसन्न होकर वे आशिष देंगे, तो वह भी भगवान् सत्य करेंगे, क्योंकि उन्हीं के आज्ञानुसार अर्चक को निष्ठा है। जैसे जिसे वकालत का सार्टिफिकेट प्राप्त है, वह सामान्य वकील भी अदालत में पैरवी कर सकता है। दूसरा उससे चतुर भी हो, पर उसे वह अधिकार प्राप्त नहीं होता। वैसे ही इन्हें पूज्य होने की उपाधि भगवान् से प्राप्त है।

ब्राह्मणों के सुधार के लिये श्रीगोस्वामीजी ने उन्हें फटकार भी दी है; यथा—"बिप्र निरच्छर लोलुप कामी।···" (उ० दो० ९९); इत्यादि। 'चरन अति प्रीती।'—उनका दास बना रहे, बराबरी न करे, उनकी सेवा करे; तब वे श्रुति की रीति से स्वकर्म करावेंगे।

(३) 'यहि कर फल मन···'—धर्म करने से चित्त शुद्ध होगा, तब विषय मलिन जान पड़ेंगे, तो उनसे विराग होगा; यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥" (भाग० ११।२०।९); फिर वह शुद्ध चित्त परम पवित्र मम (भगवत्) धर्म में अनुरक्त होगा और उसे करने लगेगा; अर्थात् भक्ति करने लगेगा। 'भगवद्धर्म'; यथा—"प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।···" से "पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।" (अ० दो० १२८) तक।

(४) 'श्रवनादिक नव···' यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३); इन नवों के उदाहरण; यथा—"जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।" से "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात। मन मंदिर तिन्हके बसहु···" (अ० दो० १२७-१३०) तक; श्रीवाल्मीकिजी के कहे हुए क्रमशः ये नौ स्थान हैं। सुतीक्ष्ण प्रसंग भी देखिये।

भगति के साधन कहउँ बखानी।···" से "श्रवनादिक···" तक नवधा-भक्ति हुई।

यहाँ से प्रेमा-भक्ति कहते हैं—

'मम लीला रति अति मन माहीं।'—लीला की रति से कृपा, दया, शील आदि गुणों के स्मरण से प्रीति की उमंग होती है; यथा—"सुमिरि सुमिरि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास राम-पद पाइहै प्रेम-पसाउ॥" (वि० १००); "तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई। तो तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४)।

(५) 'संत चरन पंकज अति प्रेमा।'—अर्थात् संतों के चरण-कमलों में अति प्रेम हो; क्योंकि इनके द्वारा परस्पर हरि-गुण-कथन होगा; उससे प्रेम बढ़ेगा; यथा—"यहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (सु० दो० ७); पुनः—'मन क्रम-बचन भजन दृढ़ नेमा।' भी प्रेमा-भक्ति का ही पोषक कहा गया है; यथा—"करि प्रेम निरंतर नेम लिये, पद पंकज सेवत शुद्ध हिये॥" (उ०दो० १३)।

(६) 'गुरु पितु मातु बंधु···'—इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही सब उपकार किये हैं, क्योंकि सब जगत् उनका शरीर है। इस दृढ़ता से जगत् में फैली हुई प्रीति (ममता) सूत्र (ताग) के समान सिमट कर श्रीरामजी के चरणों मे दृढ़ प्रीति होगी। तब इन गुरु आदि को श्रीरामजी का ही शरीर मानता हुआ उनकी दृढ़ सेवा में प्रेमानंद प्राप्त करेगा।

अब आगे परा-भक्ति कहते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥११॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥१२॥

दोहा—बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहिं निष्काम ।
तिन्हके हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम ॥१६॥

भगति जोग सुनि अति सुख पावा । लछिमन प्रभु-चरनन्हि सिर नावा ॥१॥
येहि बिधि गये कछुक दिन बीती । कहत बिराग ज्ञान गुन नीती ॥ २ ॥

अर्थ—मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद हो जाय, नेत्रों से आँसू बहें ॥११॥ काम आदि मद और दम्भ जिसके न हों, हे तात ! मैं सदा उसके वश में रहता हूँ ॥१२॥ जिनको मन, कर्म, वचन से मेरी गति (आश्रय) है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, उनके हृदय-कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ ॥१६॥ भक्ति-योग सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने अत्यन्त सुख पाया और प्रभु के चरणों में शिर नवाया ॥१॥ इस प्रकार वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते हुए कुछ दिन बीत गये ॥२॥

विशेष—(१) 'मम गुन गावत पुलक सरीरा ।'' बस मैं ताके ॥' अर्थात् गुण गाते-गाते ही उपर्युक्त प्रेमा-भक्ति की गाढ़ स्मृति पर शरीर पुलकित एवं वाणी गद्गद होकर नेत्रों से प्रेमानंद के आँसू चलते रहेंगे; यथा—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥" (दो० ६ —सुतीक्ष्णजी। इसमें निरंतर भगवान् वश में रहते हैं, इसीसे हृदय में कामादि नहीं रह पाते ; यथा—"तब लगि हृदय बसहिं खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ॥" (सुं० दो० ४६) । निरंतर वश में रहना ; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना । जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना ॥" (अ० दो० १३०) ; 'मम-गुन गावत' के साथ में निरंतर वश में रहना कहा है ; यथा—"नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥" यह श्रीमुख-वचन है । पुनः कामादि का निराकरण करने पर अपना बसना कहा है, क्योंकि निर्मल हृदय में ही श्रीरामजी सदा रहते हैं ; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥" (सु० दो० ४३) ; "करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहि सिखावउँ ।" (वि० १४२) ; इत्यादि ।

यहाँ तक संक्षेपतः तीनों भक्तियों का वर्णन सूत्र रूप में किया । श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्न—"कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ।" का उत्तर भी पूरा हुआ ।

भक्ति में भी अति गुह्यतम-रूपा जो भगवान् को अनन्योपायोपेय मानने की शरणागति है। जिसके लिये श्रीलक्ष्मणजी ने प्रथम ही अपना मुख्य अभीष्ट कहा है ; यथा—"मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरन रज सेवा ॥" उसका उत्तर चरम (अंतिम) वाक्य में श्रीरामजी कहते हैं—

(८) 'बचन कर्म मन मोरि गति,''' यथा—"मन क्रम बचन राम-पद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक ॥" (दो० ६); 'भजन करहिं निष्काम' यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥" (उ० दो० ४५); कामनाओं की पूर्ति के लिये ही अन्य देवताओं की सकाम आराधना की जाती है ; यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥" (गीता ७।२०); इसीसे अनन्यता की रक्षा के लिये 'बचन करम मन मोरि

साथ ही 'भजन करहिं निष्काम' भी कहा है। अनन्य भक्त के निष्काम हृदय में श्रीरामजी सदा विश्राम करते हैं। अतः, यह उनका निज गृह है; यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु ॥" (अ० दो० १३१); ऊपर ज्ञान का फल मोक्ष कहा गया; वैसे ही भक्ति का फल भगवान् का भक्त के हृदय में वास होना है; यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जानेउ सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनु बान ॥" (दोहावली ९०); वही यहाँ कहा गया। इसी पर श्रीलक्ष्मणजी कृतार्थ हुए। यथा—भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा ॥ यह आगे कहा है। अतः, यहीं पर गीता समाप्त हुई।

गीता के चरम वाक्य से यहाँ के चरम वाक्य का मिलान—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥" (गीता १८।६५।६६)।

(क) 'मन्मना भव···' का भाव यह कि उ० दो० १०३ में सबके हृदय में नित्य चारों युगों की वृत्तियों का होना कहा गया है। तदनुसार सत्ययुग की शुद्धसत्त्वमय वृत्ति में भगवान् में मन रक्खे; यह 'मन्मना भव' का अर्थ है। त्रेता की वृत्ति में थोड़े रजोगुण के संसर्ग से जब कुछ चपलता आवे, तब देवताओं को मेरे शरीर-रूप में जानते हुए यज्ञ-रूप मेरी भक्ति करे; यह 'मद्भक्तः' का अर्थ है। द्वापर की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मद्याजी' अर्थात् मेरी पूजा कर, यह कहा है और फिर कलियुग की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मां नमस्कुरु' यह कहा है; अर्थात् चारों युगों की वृत्तियों के उपाय-रूप मैं ही हूँ। इस श्लोक का भाव यहाँ 'बचन करम मन मोरि गति' में कहा गया।

(ख) 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का भाव यह कि जब भगवान् ने चारों युगों के उपाय-रूप अपनेको ही कहा, तब अर्जुन को यह जानना आवश्यक हुआ कि भीष्म-द्रोण आदि नातेवालों ने मेरे साथ जो तरह-तरह के उपकार किये हैं, उनसे उऋण होने का तो कोई उपाय कहा ही नहीं। उसपर भगवान् कहते हैं कि उन सबके प्रति धर्म करके उन प्रत्येक को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्य सब धर्मों को छोड़कर मुझ पर की ही शरण में आ जा; क्योंकि उन सबके द्वारा प्रेरक-रूप से मैंने ही सब रूपों से तेरे प्रति तरह-तरह के उपकार किये हैं। (पूर्व 'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः, यह अर्जुन के प्रश्न का उपक्रम था; उसी की पूर्ति पर उपसंहार भी हुआ। पूर्व में इन्होंने भीष्म आदि की ही सेवा को धर्म माना भी था। तत्सम्बन्धी शङ्का की पूर्ति पर कृतार्थ हुए) अतः, सर्वात्मना शरणागति करने से 'अहं त्वा···' अर्थात् तुझे किसी भी सामान्य धर्म के छोड़ने का पाप न लगेगा, मैं उन पापों से तुझे छुड़ा दूँगा, शोच मत कर। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का भाव यहाँ के 'भजन करहिं निष्काम' की अनन्यता में आ गया है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का भाव 'तिन्ह के हृदय ···' में कहा गया कि शेष आयु-भोग में फिर कोई शोच न रहेगा; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥" (० दो० ४६); तथा—"भरत हृदय सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥" (अ० दो० २९४); "सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥" (बा० दो० १२५)।

इस गीता में थोड़े ही में सब साधन कह दिये गये हैं, क्योंकि श्रीरामजी ने 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा की थी।

'भगति जोग सुनि···'— सुख तो ज्ञान—वैराग्य आदि के सुनने पर भी हुआ, पर भक्तियोग से से अत्यन्त सुख हुआ। 'सिर नावा'— यह कृतज्ञता एवं प्रेम का सूचक कृत्य है; यथा—"मोपहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥" (उ॰ दो॰ १२४); "प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।" (बा॰ दो॰ ३३५)।

उपक्रम में—'सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा।' कहा है, वैसे ही उपसंहार में—'प्रभु चरनन्हि सिर नावा' कहा गया है।

'येहि बिधि गये कछुक दिन बीती।···'— और जगह वर्ष और महीनों के बीतने की गिनती थी, यहाँ दिन ही कहे गये हैं, क्योंकि अब वनवास के थोड़े दिन प्रयोजन-भर ही रह गये हैं। 'कहत बिराग···' ज्ञान-विराग उपयुक्त प्रसंग में स्पष्ट हैं। 'गुन'; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके।" "तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।" इत्यादि एवं भक्तों के गुण कहे गये। 'नीती'; यथा—"निज निज धरम निरत श्रुति नीती।" 'नीती' को ही अंत में कहा है, क्योंकि शूर्पणखा को अभी ही दंड देना है।

"सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा"—प्रकरण

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट-हृदय दारुन जसि अहिनी॥ ३॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥ ४॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ ५॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥६॥

अर्थ—सापणी के समान दारुण (क्रूर) स्वभाव एवं दुष्ट-हृदयवाली शूर्पणखा जो रावण की बहन थी॥३॥ वह एकबार पंचवटी में गई और दोनों राजकुमारों को देखकर व्याकुल हो गई॥४॥ भुशुंडीजी कहते हैं कि हे सर्पों के शत्रु गरुड़जी! भाई, पिता या पुत्र कोई भी सुन्दर पुरुष हो, उसे स्त्री देखते ही व्याकुल हो जाती है, वह मन को नहीं रोक सकती, जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य को देखकर द्रवित होती है अर्थात् तेज को प्रवाहित करती है॥५–६

विशेष—(१) 'सूपनखा रावन कै बहिनी।'—शूर्पणखा रावण की बहन है, इसका ब्याह काल-कंजवंशी मायावी राक्षस विद्युज्जिह्व से हुआ था, उसे दिग्विजय करने के समय प्रमत्त रावण ने मार डाला था। शूर्पणखा के विलाप करने पर रावण ने इसे खर-दूषण-त्रिशिरा को और १४ हजार बली राक्षसों सेना को देकर जनस्थान का निवास दिया। खरआदि इसके भाई भी थे। यह स्वयं तेजस्विनी थी और अपने बल से सर्वत्र विचरनेवाली थी; यथा—"अहं प्रभावसंपन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।" (वाल्मी॰ ३।१७।२५)। इसके सूप (शूर्प, सूर्प) के समान नख थे, इसीसे यह शूर्पणखा कही जाती थी। रावण की बहन कहकर इसे विधवा जनाया। रावण अधिक प्रसिद्ध था, इससे भी परिचय में कहा गया। दुष्ट-हृदया और क्रूर स्वभाववाली के लिये सर्पिणी की उपमा भी युक्त है,

क्योंकि सर्पिणी भयंकर होती है और ऐसी दारुण-हृदया होती है कि सद्य प्रसूत (तुरत के जने) अपने बच्चों को भी खा जाती है। वैसे यह भी अपने 'निशाचर-वंश' का नाश करेगी।

(२) 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।'—यह दोनों पर मोहित हुई इस विचार से कि एक के साथ स्त्री है, यदि वह न भी ब्याहेगा, तो दूसरा तो अवश्य ही ब्याहेगा। दोनों पर आसक्त होने से कुलटा भी जानी गई। अभी राजकुमारों ने इसे नहीं देखा, नहीं तो यह रुचिर रूप धारण नहीं कर पाती जो आगे कहा है—'रुचिर रूप धरि'''।

(३) 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी।'' '—'उरगारी' का भाव यह कि आप सर्पों के शत्रु हैं, आपके स्वामी भी आज इस सर्पिणी-रूपा राक्षसी की दुर्दशा करेंगे। भ्राता, पिता, पुत्र के प्रति प्रायः कामचेष्टा नहीं होती, तो भी शूर्पणखा जैसी स्त्रियों के लिये यह कठिन ही है, इसीसे मनुस्मृति में कहा है—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" अर्थात् माँ, बहन और कन्या के साथ भी एकान्त में न रहे।

देखिये, इन्हीं महाकवि ने सात्त्विक स्त्रियों के लिये—"सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।" एवं "मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥" (दो० ४); ऐसा कहा है और शूर्पणखा-सी कामातुरा और निर्लज्जा स्त्रियों के प्रति यहाँ ऐसा कहा है। यहाँ सामान्य स्वभाव-कहकर आगे विशेष का उदाहरण देते हैं। यदि ऐसी स्त्रियों का समूह संसार में न होता तो सामान्य स्वभाव-कथन पर कवि को दोष दिया भी जा सकता था। अतः, अल्पश्रुत-समालोचकों का श्रीगोस्वामीजी के ऐसे प्रसंगों पर उन्हें स्त्री-द्वेषी कहना अनुचित है।

'पुरुष मनोहर निरखत नारी।'—यहाँ यह दोनों पर रीझी है, दोनों पुरुष मनोहर हैं। इससे मन को न रोक सकी।

(४) 'जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी।'—रविमणि से सूर्य-कान्त मणि का अर्थ है। यह एक प्रकार का स्फटिक या बिल्लौर है। सूर्य के सामने रखने से इसमें से आँच निकलती है। वैसे ही यहाँ शूर्पणखा ने सुन्दर पुरुषों को देखा, तो उसके हृदय में काम वासना-रूपी अग्नि का उद्दीपन होने लगा। यहाँ सुन्दर पुरुष सूर्य हैं, शूर्पणखा का मन रविमणि और उससे काम-वासना का प्रवाहित होना, रविमणि से तेज का प्रवाहित होना है। काम को अग्नि-रूप कहा भी है, यथा—"कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।" (गीता ३।३९); इस पर कहा जाता है कि 'द्रव' शब्द जल के बहने पर कहा जाना चाहिये, यहाँ अग्नि के साथ क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि 'द्रव' शब्द द्रु धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ भागना, बहना, आक्रमण करना, तरल होना, घुल जाना, पिघलना, उमड़कर बहना होता है—संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ। अत ; 'द्रव' शब्द का अर्थ यहाँ चलना एवं प्रवाहित होना है। ऐसे ही 'स्रव' शब्द का अर्थ भी स्रवना, प्रवाहित होना है, वह भी 'द्रव' शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है ; यथा—"पावकमय ससि स्रवत न आगी।" (सु० दो० ११); "प्रलय पावक-महाज्वाल-माला-वमन'''" (वि० ३८ ; सूर्यकान्त-मणि से जब ज्वाला निकलती है, तब पहले सूर्य-किरणों के योग से उसके परमाणु अवश्य द्रवीभूत होते हैं और तभी वे ज्वाला-रूप में परिणत होते हैं। पदार्थों का परिणाम या रूपान्तर बिना उनके परमाणुओं के द्रवीभूत हुए नहीं हो सकता। अतएव यहाँ द्रव शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥ ७॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँयोग बिधि रचा बिचारी॥ ८॥

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥ ९ ॥
ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥१०॥

अर्थ—सुन्दर रूप धरकर प्रभु के पास आ बहुत मुसकुराती हुई वचन बोली ॥७॥ तुम्हारे समान कोई पुरुष नहीं और न मेरे समान स्त्री है, यह संयोग विधाता ने विचार कर रचा है ॥८॥ मेरे योग्य पुरुष संसार-भर में नहीं है। मैंने तीनों लोकों में ढूँढ़कर देखा है ॥९॥ इसीसे अब तक कुमारी ही रही, तुमको देखकर कुछ मन माना है ॥१०॥

विशेष—(१) 'रुचिर रूप धरि···'—राजकुमार रुचिर-प्रिय हैं, इसीसे महाकवि ने उनके सम्बन्ध में इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया है; यथा—"सेज रुचिर रचि राम उठाये।" (बा० दो० ३५५); "उर अति रुचिर नाग मनि माला।" (बा० दो० २१८); "रुचिर चौतनी सुभग सिर···" (बा० दो० २१९); "तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बास करउँ ··" (अ० दो० १२५); इत्यादि बहुत कहा है। इसीसे राक्षसी भी उन्हें प्रिय लगने के लिये रुचिर रूप ही बनाकर आई। आगे मारीच भी इसीलिये 'रुचिर मृग' बना; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" (दो० २६)। 'बहुत मुसुकाई'—हाव, भाव, कटाक्ष करके, इससे दाम्पत्य-प्रेम का बीज प्रकट किया। स्त्री की मुस्कान पुरुषों के फँसाने का फंदा है।

(२) 'तुम्ह सम पुरुष न मोसम नारी।'—अर्थात् तुम्हारे साथ की स्त्री मेरे समान सुंदरी नहीं है; यथा—"सीतया किं करिष्यसि ॥ विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव। अहमेवानुरूपा ते भार्या रूपेण पश्य माम् ॥" (वाल्मी० ३।१७।२६); इससे स्त्री सुलभ अहंकार प्रकट किया। 'विधि रचा बिचारी।' यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥" (बा० दो० २२२)।

(३) 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। ······'—इस वचन से उसका कुलटा एवं राक्षसी होना सिद्ध हो गया, क्योंकि भले मानस की लड़की जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द-रूप से घूम-फिर नहीं सकती और तीनों लोकों में खोजना राक्षसी माया से ही हो सकता है, मानुषी सामर्थ्य से बाहर है। देखिये, जनकपुर की सखियों ने 'सुनियत' ही कहा है; यथा—"सुर नर असुर नाग मुनि माँही। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं ॥" (बा० दो० २११); इससे जान पड़ता है कि वे परदे में रहनेवाली हैं। खर-दूषणादि पुरुष हैं। अतः, उन्होंने देखना कहा है, यह युक्त है; यथा—"नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे सुने हते हम केते ॥ हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई ॥" (दो० १८); वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने इसे व्यंग से सुन्दरी कहते हुए इसका राक्षसी होना कह भी दिया है; यथा—"त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे।" (वाल्मी० ३।१७।१८)।

(४) 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी।···'—युवा स्त्री बनकर आई है कि शीघ्र मनोरथ पूरा हो। पर इसपर यह संदेह हो सकता है कि कोई दोष होगा, तब तो अभी तक इसका व्याह नहीं हुआ। इसलिये उसका कारण कहती है कि अनुरूप वर खोजने में इतनी अवस्था हो आई। अब आप मिले, परन्तु आपसे भी कुछ ही 'मन माना'। ऐसा कहकर अपनेको रूप-गर्विता नायिका जनाया। 'मन माना' से जनाया कि मैं अपनी रुचि का स्वयंवर करती हूँ; यथा—"करइ स्वयंबर सो नृप बाला।" (बा० दो० १२९); इससे निर्लज्जता भी सिद्ध हुई। यहाँ यह श्रीरामजी को 'तुम्ह' 'तुम्हहि' आदि से संबोधित करती है, पति बनाने के लिये 'अपनाना' सूचित करना है। दूसरा यह भी कारण है कि यह

दोनों भाइयों पर आसक्त हुई है; यथा—"देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।" ऊपर कहा गया, भाषा में दो शब्द भी बहुवचन ही माना जाता है। उसके इसी अभिप्राय से श्रीरामजी ने उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा है, नहीं तो यहीं से दूर कर देते।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥११॥
गइ लछिमन रिपु-भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ॥१२॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥१३॥
प्रभु समर्थ कोसलपुर-राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा॥१४॥

अर्थ—श्रीसीताजी की ओर देखकर प्रभु श्रीरामजी ने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई कुमार है ॥११॥ तब वह श्रीलक्ष्मणजी के पास गई, श्रीलक्ष्मणजी ने उसे शत्रु की बहन जानकर और प्रभु श्रीरामजी को देखकर उससे कोमल वचन कहा ॥१२॥ हे सुंदरी! सुन, मैं तो उनका दास हूँ, पराधीन रहने में तेरा सुपास (सुविधा, सुख से निर्वाह) न होगा ॥१३॥ प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं और श्रीअयोध्या के राजा हैं, वे जो कुछ भी करें, उन्हें सब फबेगा (सोहेगा) ॥१४॥

विशेष—(१) 'सीतहि चितइ कही ·····'—वह श्रीरामजी के लिये बिकल है, पर ऊपर से कहती है कि तुम्हें देखकर कुछ ही 'मन माना' है। श्रीरामजी श्रीसीताजी की ही ओर देखते हुए सूचित करते हैं कि मेरा तो इन्हें निहारने में ही 'मन माना' है, यहाँ से मन अलग जाता ही नहीं; यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।" (सुं० दो० १५); "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दारा पितृकृता इति॥" (वाल्मी० १।७७।२६); मैं इनमें ही व्रत-निष्ठ हूँ। पर-स्त्री को देखता भी नहीं; यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥" (बा० दो० २३०)। न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति॥" (वाल्मी० २।७२।४८) उसने कहा था—"यह सँजोग बिधि रचा बिचारी।" उसपर सूचित करते हैं कि मेरे लिये तो विधि ने इन्हें ही रचा है, अर्थात् मेरा तो इनसे विवाह हो चुका है, इसीसे मेरी दृष्टि इन्हीं पर रहती है। पुनः आगे श्रीलक्ष्मणजी के पास उसे भेजना है, इससे भी श्रीसीताजी को देखकर सूचित करते हैं कि मेरे तो यह एक स्त्री है ही, तब मैं और विवाह कैसे करूँ? जब कि मेरा भाई अभी कुमार ही बैठा है।

'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।'—वह विधवा है, पर छल से कुमारी बन रही है, श्रीरामजी भी राजनीति के अनुसार उत्तर दे रहे हैं कि मेरा छोटा भाई भी (ऐसा ही) कुमार है। भाव यह कि घर में विवाहिता स्त्री के होने पर भी—वैसा ही कुमार है। छली से छलभरी बात करना नीति है—"शठे शाठ्यं समाचरेत्।" पुनः यहाँ हास्य रस का प्रसंग है; यथा—"स्वच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्॥ कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥ अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥···मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥" (वाल्मी० ३।१८।१-१२)। इस प्रसंग के आदि में ही श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामजी को वाक्य-विशारद कहा है; यथा—"इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः॥" (वाल्मी० ३।१७।११); और फिर शूर्पणखा को परिहास में अचतुर कहा है। तात्पर्य यह कि हास्य में ऐसा कथन दोषावह नहीं होता।

'लघु भ्राता'—भाव यह कि जैसे मैं राजकुमार हूँ, वैसे वह भी है, मेरे समान ही ऐश्वर्यवान् है।

(२) 'गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।'—उसने कहा था—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥" इससे उपर्युक्त अर्थ के अनुसार जान गये कि यह राक्षसी है और इन्हें राक्षस-मात्र से वैर है ही, क्योंकि—"निसिचर हीन करउँ महि···" यह प्रतिज्ञा की जा चुकी है। वाल्मीकीय रामायण में इसने स्वयं पूरा परिचय दिया है। अथवा संभवतः श्रीअगस्त्यजी ने कहा भी हो।

(३) 'प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी।'—प्रभु की ओर देखकर उनका रुख पा गये कि इससे हास्य-विनोद की ही बातें करनी चाहिये, नहीं तो ये शत्रु-पक्ष को कब सह सकते थे ?

(४) 'सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।···'—कुल-रीति के अनुसार छोटा भाई दास के समान है; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥" (अ॰ दो॰ १७), अतः, "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" (बा॰ दो॰ १०१); रात-दिन सेवा करनी पड़ेगी, तो सुख कहाँ ? यथा—"कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।" (वाल्मी॰ ३।१८।६)। 'सुंदरि' का यह भाव है कि तुम रानी हो बनने के योग्य हो, श्रीरामजी तुम्हें पाकर औरों से प्रेम न करेंगे; यथा—"को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि। मानुषेषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः॥" (वाल्मी॰ ३।१८।१२)।

(५) 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।···'—प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं, वे कई रानियाँ कर लें, तो उन्हें निबाह सकते हैं, उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता। वे किसी भी जाति की स्त्री ग्रहण कर लें, तो उन्हें कोई जाति से भी नहीं हटा सकता; यथा—"समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा॰ दो॰ ६८); 'कोसलपुर राजा'—अर्थात् श्रीअवध के राजा श्रीदशरथजी के ७०० रानियाँ थीं; ये भी वहीं के राजा हैं, तो अधिक रानियों का करना कोई बड़ी बात नहीं है; यथा—"समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी। आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥" (वाल्मी॰ ३।१८।१०)।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी॥१५॥
लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥१६॥
पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई॥१७॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥१८॥

शब्दार्थ—ब्यसनी=जिसे कोई शौक हो, विलासी। तृन तोड़ना=सम्बन्ध तोड़ना।

अर्थ—सेवक सुख की चाह करे, भिक्षुक प्रतिष्ठा चाहे, व्यसनी धन और व्यभिचारी (परस्त्री-लंपट) सद्गति चाहे॥१५॥ लोभी यश चाहे और दूत अभिमानी हुआ चाहे, तो (मानों) ये प्राणी आकाश से दूध दुहना चाहते हैं॥१६॥ वह फिर लौटकर श्रीरामजी के पास आई। प्रभु श्रीरामजी ने फिर उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा॥१७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि तुझे वही ब्याहेगा, जो लज्जा को तृण के समान तोड़कर त्याग देगा; अर्थात् निर्लज्ज होगा।

विशेष—(१) 'सेवक सुख चह···'—यहाँ सेवक के सुख चाहने का प्रस्तुत प्रसंग है, इसीसे इसे प्रथम कहा गया है। आकाश से दूध दुहना मुहावरा है। इसका अर्थ यह कि असंभव को संभव करना चाहते हैं। भाव यह कि सुख चाहती हो, तो स्वामिनी बनो, स्वामी की हो स्त्री हो। इसीकी पुष्टि के लिये पाँच और दृष्टांत दिये गये हैं।

सेवक का सुख चाहना विकार है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (अ० दो० १००), भिखारी को मान नहीं मिलता। विलासी का रहा-सहा धन भी उड़ जाता है। व्यभिचारी को शुभगति हो नहीं सकती; यथा—"सुभ गति पाव कि पर तिय गामी।" (उ० दो० १११)।

(२) 'पुनि फिरि राम ⋯'—इधर-उधर जाती है, क्योंकि इसकी निष्ठा किसी एक में नहीं है। श्रीरामजी के पास जाने से श्रीलक्ष्मणजी के काम की न रही और श्रीलक्ष्मणजी के पास आने से श्रीरामजी के योग्य भी नहीं रह गई। यही हाल उनका भी होता है, जो अनेक देवताओं की शरण में दौड़ते हैं।

शंका—शूर्पणखा शरण में आई, श्रीरामजी ने उसे क्यों न ग्रहण किया? यथा—"काम मोहित गोपिकन पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत् पिता विरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह॥" (वि० ११४)।

समाधान—यह कपट-वेष में व्यभिचारिणी बनकर आई, अतः मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उसे त्यागकर दंड दिया।

(३) 'जो तृन तोरि⋯'—भाव यह कि जो तेरी तरह निर्लज्ज हो, वही तुझे वरे—यह फटकार है।

तब खिसियानि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥१९॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥२०॥

दोहा—लछिमन अति लाघव सो, नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ, मनहुँ चुनौती दीन्हि॥१७॥

अर्थ—तब चिढ़ी हुई श्रीरामजी के पास गई और वहाँ उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया॥१९॥ श्रीसीताजी को भयभीत देखकर श्रीरघुनाथजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को सकेत से समझाकर कहा॥२०॥ श्रीलक्ष्मणजी ने अत्यन्त फुर्ती से उसे बिना नाक-कान का कर दिया, मानों उसके हाथ (द्वारा) रावण को चुनौती (चैलेंज) दी, अर्थात् ललकारा कि वीर हो, तो सामने आ॥१७॥

विशेष—(१) 'तब खिसियानि ⋯'—कामना की हानि से क्रोध हुआ, इससे भयंकर रूप धारण कर श्रीसीताजी को खाने दौड़ी कि यह न रहेगी, तो मुझे अवश्य ब्याहेंगे। फिर सौत-रहित होकर विचरूँगी; यथा—"इमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्। त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम्॥" (वाल्मी० ३।१८।१९)।

(२) 'सीतहि सभय देखि '—अभय देना श्रीरामजी का विरद है, यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३), "जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं० दो० ४३), इसीसे तुरत भय निवृत्ति का उपाय रच दिया।

(३) 'सैन बुझाई'; यथा—"वेद नाम कहि अँगुरिनि खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥" (बरवा १८); वेद = श्रुति = कान, आकाश = स्वर्ग = नाक। चार अँगुलियों को आकाश की ओर उठाकर फिर झुकाकर उनका खंडन जनाया। आकाश का गुण शब्द है, आकाश से ईश्वर भी लखाया

जाता है, ईश्वरीय शब्द वेद हैं, वे चार हैं भी। वेद का नाम श्रुति है, श्रुति कान को कहते हैं। नाक से नासिका का अर्थ है। दो छिद्र नासिका के और दो कान के—सब मिलकर चार हुए। इन चारों का काटना सूचित किया। प्रकट न कहा, नहीं तो सुनकर वह सचेत हो जाती।

(४) 'लछिमन अति लाघव सो ' '—इतनी फुर्ती से श्रीलक्ष्मणजी ने उसके नाक कान काटे कि वह कुछ कर ही न सकी। यद्यपि वह अपने भाइयों के समान बलवती थी; यथा—"तानहं समतिक्रान्ता···" (वाल्मी० ३।१७।२४)। श्रीलक्ष्मणजी ने तलवार से उसके नाक-कान काटे ; यथा—"उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः॥" (वाल्मी० ३।१८।२१); वह श्रीसीताजी की ओर मुकी थी, इससे इन्हें अपनी ओर आते न देखा। 'चुनौती'; यथा—"सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥" (लं० दो० ३४); तथा—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हें॥" (दो० १०), इत्यादि। अर्थात् उत्तेजना—ललकार आदि देना। 'ताके कर'—में यह भी ध्वनि है कि काटकर उसके हाथ में धर दिये। नाक और कान से स्त्री की शोभा है, इन्हींके भूषणों से शृंगार होता है। इनके कटने पर वह कुरूपा हो जाती है, इससे उसकी अधर्म की प्रवृत्ति मिट जाती है। आजकल भी व्यभिचारिणी की नाक काटे जाने के अभियोग जहाँ-तहाँ होते हुए पाये जाते हैं। इसने तो अपनी कुत्सित चेष्टा के मार्ग में बाधक जानकर श्रीजानकीजी को खा लेने का भी उद्योग किया। जिसके प्रतिकार में मृत्यु-दंड न देकर स्त्री को अवध्य मान केवल इतना ही दंड दिया गया। इससे लीला का अंग भी सम्पन्न करना था, क्योंकि खर आदि और रावण को उतनी उत्तेजना और किसीसे न होती।

वाल्मीकीय रामायण श्रीरामजी के समय की ही निर्मित है, उस समय ऐसी स्त्रियों के लिये ऐसा ही दंड विधान किया जाता था। आ० स० ६९ श्लोक ११–१८ में अयोमुखी नाम राक्षसी को भी ऐसा ही दंड दिया गया है।

"खर-दूषन-वध" प्रकरण

नाक-कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥ १॥
खरदूषन पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥ २॥
तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई॥ ३॥
धाये निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल-गिरि-जूथा॥ ४॥
नाना बाहन नानाकारा। नानायुध-धर घोर अपारा॥ ५॥
सूपनखा आगे करि लीनी। असुभ रूप श्रुति नासा हीनी॥ ६॥

अर्थ—बिना नाक-कान के वह बहुत ही कराल हो गई, मानों (काले) पर्वत से गेरू की धारा बह रही हो॥१॥ विलाप करती हुई खर-दूषण के पास गई, (और बोली) अरे भाई! तेरे पुरुषार्थ और बल को धिक्कार है॥२॥ उन्होंने पूछा, तब उसने सब समझाकर कहा, सुनकर उस निशाचर ने सेना सजाई॥३॥ राक्षस-समूहों के झुंड के-झुंड दौड़े, मानों पक्षयुत काजल के पर्वतों के झुंड हों॥४॥ वे सब अनेक आकार के अनेक वाहन (सवारियों) पर अनेक तरह के अगणित भयंकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए हैं॥५॥ अशुभ-रूपा कान नाक-रहित शूर्पणखा को उन्होंने आगे कर लिया॥६॥

विशेष—(१) 'बिकरारा'—कराल तो यों ही थी, नाक-कान कट जाने से विशेष कराल हो गई। 'बिकरारा'— में अंतिम 'रा' 'ला' के रूप में है, क्योंकि दोनों सवर्ण हैं; यथा—"सरिता नस जारा।" (लं० दो० १४); नाक और कानों के कटने से तीन रक्त-धाराएँ पनाले की तरह चल रही हैं।

(२) 'पौरुष बल'—पुरुषार्थ पराक्रम के अर्थ में है, और बल सेना के अर्थ में है। अथवा कोप में दो बार कहा गया है। अतः, कोप की वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं। 'बिलपाता'— की अंतिम चढ़ी हुई मात्रा अनुप्रास के योग से है; अतः, 'बिलपात गई' ऐसा करके अर्थ करना चाहिये, तो 'बिलपाती' इस स्त्रीलिंगता की अपेक्षा नहीं रह जाती। क्योंकि बिलपत, रोवत, गावत आदि में लिंग भेद की आवश्यकता नहीं रहती।

(३) 'कहेसि बुझाई'— आगे दो० २१ में रावण के यहाँ—"अवध नृपति" से "सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥" तक विस्तार से कहना ही है, इससे यहाँ संकेत-मात्र से बता दिया, वहाँ भारी सभा में कहेंगे।

(४) 'निकर बरूथा'—अनेक प्रकार के बहुत-से झुंड हैं। 'जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा।'— महातमोगुणी होने से अत्यन्त काले और विशाल शरीरवाले हैं, आकाश-मार्ग से आ रहे हैं। पुनः काजल की तरह इन्हें सार-रहित भी जनाया। पवन के झकोरे-जैसे श्रीरामजी के वार से छिन्न-भिन्न हो जायँगे।

'नानायुध'—"मुग्दर, पट्टिश, शूल, खड्ग, चक्र, तोमर, शक्ति, परिघ, गदा, मुसल, वज्र, धनुष, और बाण आदि।" (वाल्मी० ३।२२।१८।१९)।

(५) 'सूपनखा आगे……'—प्रारब्ध-वश राक्षसों ने यह महा अपशकुन स्वयं कर लिया। इसे पहले कहकर और अपशकुन कहे गये, क्योंकि इसका आगे होना भारी अपशकुन है। शत्रु का पता बतलाने के लिये इसे आगे किया।

असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्युबिबस सब झारी॥ ७॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि कटक भट अति हरषाहीं॥ ८॥
कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छुड़ाई॥ ९॥
धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा॥१०॥
लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचर-कटक भयंकर॥११॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर-धनु-पानी॥१२॥
देखि राम रिपुदल चलि आवा। बिहँसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥१३॥

अर्थ—अगणित भयंकर अपशकुन हो रहे हैं, पर वे सब-के-सब मृत्यु के विशेष वश हैं, इससे उन्हें नहीं गिनते॥७॥ गरजते हैं, डपटते हैं, आकाश में उड़ते हैं, सेना देखकर योद्धा अत्यन्त हर्षित होते हैं॥८॥ कोई कहता है कि दोनों भाइयों को जीवित ही पकड़ लो, पकड़कर मारो और स्त्री को छुड़ा लो॥९॥ आकाश-मंडल धूलि से छा गया, तब श्रीरामजी ने भाई को बुलाकर कहा॥१०॥ कि श्रीजानकीजी को लेकर कंदरा में चले जाओ, भयंकर निशाचरों की सेना आ गई है॥११॥ सचेत रहना, प्रभु के ऐसे वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण हाथों में लिये हुए चले॥१२॥ श्रीरामजी ने देखा कि शत्रु का दल चलकर आ गया, तब हँसकर कठिन धनुष चढ़ाया॥१३॥

विशेष—(१) 'असगुन अमित होहिं …' ; यथा—"असगुन अमित होहिं तेहि काला।…" से "जनुकाल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥" तक (लं० दो० ७७) अर्थात् भटों का वाहनों पर से गिरना, घोड़े-हाथियों का चिंघाड़ करके पीछे भागना और वीरों के हथियार हाथ से गिर पड़ना आदि अपशकुन हैं। 'गनहिं न…'—काल के वश होने से बुद्धि-बल हर जाता है; यथा—"कालदंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (लं० दो० ३१)।

(२) 'गर्जहिं तर्जहिं…'—क्योंकि सब मृत्यु के वश हैं और उत्साहपूर्ण हैं, इसीसे अपशकुनों पर ध्यान ही नहीं देते। 'अति हर्षाहीं'—सेना को हर्ष है, भटों को अति हर्ष है। 'कोउ कह जियत धरहु…' इन्हें अपने इन सब बातों पर पूर्ण विश्वास है कि हम अवश्य ऐसा करेंगे। जीतेजी पकड़कर तरह-तरह के कष्ट देकर मारेंगे, वैसे तो तुरत ही मर जायँगे। क्योंकि इन्होंने भारी अपराध किया है। अतः, स्त्री को छुड़ा लो। पुनः उस स्त्री की सुन्दरता सुन चुके हैं। अतः कहते हैं कि पहले स्त्री छुड़ाकर मानसिक दुःख दो, फिर शारीरिक कष्ट दिया जाय।

(३) 'लै जानकिहि जाहु…'—श्रीजानकीजी डर न जायँ, इसलिये इन्हें कंदरा में भेज रहे हैं; यथा—"*मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये।*" (अ० दो० ६१)। अभी ही एक राक्षसी शूर्पणखा को देखकर डर गई थीं, इसलिये कंदरा में भेज रहे हैं कि अब तो अनेक विकट राक्षस आ रहे हैं। उनसे हमारा युद्ध होगा। श्रीलक्ष्मणजी को रक्षा के लिये भेजा कि कहीं कोई निशाचर वहाँ भी न पहुँच जाय।

(४) 'रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी।'—यहाँ दो आज्ञाएँ दी गईं—एक तो श्रीजानकीजी को कंदरा में ले जाना, दूसरी सजग रहना। दोनों का पालन उत्तरार्द्ध में है—'ले जाओ' के प्रति 'चले सहित श्री' और 'रहेहु सजग' के प्रति 'सर धनु पानी' कहा है। 'सुनि प्रभु कै बानी'—का भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी के नाक-कान काटने पर वे सब लड़ने आ रहे हैं। अतः, इन्हें सम्मुख रहना चाहिये, पर इनकी ओर से त्रुटि नहीं है, प्रभु-वाणी के गौरव से जा रहे हैं; *यथा*—"*तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्द्धरः। गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥* प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया। शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स माचिरम्॥ त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या एतान्न संशयः। स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्॥" (वाल्मी० ३।२४।१२-१४); प्रभु की वाणी का गौरव, यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८) तथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (अ० दो० २६८)। प्रभु ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी ? उत्तर यह है कि शूर्पणखा को अपना पराक्रम दिखाना है, जिससे वह रावण से वैसा ही जाकर कहे। श्रीलक्ष्मणजी का प्रभाव तो वह कुछ जान चुकी है। पुनः वे कामरूप १४ हजार राक्षस श्रीरामजी के हाथों मरेंगे; यथा—"खर-दूषन-बिराधबध पंडित।" (उ० दो० ५०)।

(५) 'देखि राम रिपुदल…'—'देखि'—पहले नभ-धूलि से अनुमान किया था, अब उनकी ध्वजा, रथ आदि एवं उनकी सेना भी देख पड़ी। 'बिहँसि' से उत्साह-वृद्धि-क्षात्र-धर्म दिखाया; *यथा*—"छत्रीतन धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर जाना॥" (बा० दो० २८३); आगे स्वयं स्वीकार करेंगे; यथा—'हम छत्री मृगया बन करहीं।" (दो० १८); इस दृष्टि से बिहँसने का यह भी भाव है कि अच्छे शिकार आ गये, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा-पूर्ति का योग लगा। राक्षसों की मूर्खता पर भी हँसे; यथा—"जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं खग सठ मांस अहारी॥ चोंच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० २८); अर्थात् हमारे प्रभाव को नहीं जानते, इसीसे ऐसे आ रहे हैं। बिहँसना कृपा से भी है, क्योंकि उन्हें वैर-भाव से मुक्त करना है।

छंद—कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सो जुग भुजग ज्यों।
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज-प्रभु गजराज-घटा निहारि कै॥
दोहा—आइ गये बगमेल, धरहु धरहु धावत सुभट।
जथा बिलोकि अकेल, बाल-रबिहि घेरत दनुज॥१८॥

अर्थ—श्रीरामजी कठिन धनुष चढ़ाकर शिर पर जटाओं का जूड़ा बाँधते हुए कैसे सोहते हैं। जैसे मरकत मणि के पर्वत पर करोड़ों बिजलियों से दो सर्प लड़ रहे हों॥ कटि में तर्कश कसकर अपने लंबे हाथों से धनुष को पकड़, बाण को सुधारते हुए प्रभु शत्रु की ओर इस तरह देख रहे हैं मानों हाथियों के समूह की ओर सिंह देखता हो॥ भारी-भारी योद्धा (यह कहते हुए कि) पकड़ो, पकड़ो, दौड़ते हुए निकट आ गये, जैसे (उदय-कालीन) बाल सूर्य को अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं॥१८॥

विशेष—(१) 'कोदंड कठिन…'—पहले धनुष चढ़ाकर उसे कंधे पर लटका लिया, तब जटाएँ बाँधीं और पीछे तर्कश कसा, तब फिर हाथों में धनुष-बाण सुधार कर उसे लिये हुए राक्षसों की ओर देख रहे हैं।

(२) 'मरकत सैल पर…'—आपका श्याम शरीर मरकत-शैल के समान कान्तिमान्, गंभीर एवं अचल है। तपस्वियों की जटाओं का अग्र भाग ललाई लिये होता है। इससे उन्हें बिजली के समान कहा है। श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ सर्प के शरीर और हथेलियाँ फण-रूपा हैं। दोनों हाथों से पकड़कर जटाओं को बाँध रहे हैं, यही मानों साँपों का बिजलियों से लड़ना है। 'चितवत मनहुँ…'; यथा—"मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंह किसोरहु चोप॥" (बा० दो० २६७); 'गजराज घटा'—क्योंकि विशालकाय एवं बली राक्षस बहुत हैं। प्रभु सबको अकेले ही सिंह के समान उत्साह के साथ नाश करेंगे।

यहाँ परुषावृत्ति का प्रसंग है। साहित्य की रीति से इसमें टवर्ग एवं ष, ध, अधिक पड़ने चाहिये। उनमें ट वर्ग (ट, ठ, ड, ढ) तो यहाँ एक ही चरण—'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत…' में सब पड़ गये हैं, ऐसा पड़ना दुर्लभ है।

(३) 'आइ गये बगमेल…'—यहाँ बगमेल का अर्थ 'निकट' है; यथा—"हरषि परस्पर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।" (बा० दो० ३०५); यह कहीं-कहीं बाग मिलाये हुए दौड़ने के अर्थ में भी आता है; यथा—"मदन कीन्ह बगमेल।" (दो० ३७)। "सूरसँजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं।" (क० लं० ३३); 'बाल रबिहि घेरत दनुज'—अधिक तेजवाले श्रीरामजी के समीप नहीं आ पाते और न सम्मुख देख ही सकते हैं। इसीसे दूत भेजकर बात करेंगे। सूर्य प्रातःकालीन घेरे हुए दनुजों को जीत लेते हैं, वैसे श्रीरामजी इन्हें जीत लेंगे। यद्यपि विशेष प्रताप-प्रदर्शक तरुण-रवि कहना चाहिये था, पर अभी असुरों के प्रति प्रताप दिखाने का प्रारंभ ही हुआ है। इससे बाल-रवि ही कहा है। पुनः रूपक के अनुरोध से भी—हेमाद्रि आदि ग्रंथों में लिखा है कि मंदेह नामक दैत्य प्रातःकाल

सूर्य को अस्त्र-शस्त्र लिये हुए घेर लेते हैं। संध्या करते समय जो अर्घ्य दिया जाता है, उसकी प्रत्येक बूँदें बाण रूप होकर उन दैत्यों को मारती हैं, ये दैत्य २० हजार कहे गये हैं, उन्हीं का यहाँ रूपक है।

इस प्रसंग में नवो रसों के उदाहरण प्रकट हैं—(१) 'रुचिर रूप धरि···'—शृंगार, (२) 'बोली बचन बहुत मुसुकाई।'—हास्य, (३) 'रूप भयंकर प्रगटत भई।'—भयानक, (४) 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा।'—बीभत्स, (५) 'खर दूषन पहिं गै बिलपाता।'—करुणा, (६) 'धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।'—वीर, (७) 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई।'—शांत, (८) 'सूपनखहिं आगे करि लीनी।'—रौद्र, (९)—'देखहि परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरो।'—अद्भुत, (—यह आगे कहा है)।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर-धारी ॥ १ ॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन ॥ २ ॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥ ३ ॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥ ४ ॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥ ५ ॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीयत भवन जाहु दोउ भाई ॥ ६ ॥
मोर कहा तुम ताहि सुनावहु। तासु बचन सुनि आतुर आवहु ॥ ७ ॥

अर्थ—प्रभु को देखकर वे बाण नहीं चला सकते, निशाचरों की सेना स्थगित हो गई; अर्थात् निश्चेष्ट की तरह खड़ी रह गई ॥१॥ मंत्रियों को बुलाकर खर-दूषण ने कहा—ये कोई मनुष्यों में भूषण-रूप राजपुत्र हैं ॥२॥ नाग, असुर, देवता, मनुष्य और मुनि जितने हैं, हमने कितने को देखा, जीता और मार डाला ॥३॥ पर हे सब भाइयो ! सुनो, हमने तो जन्म-भर में ऐसी सुन्दरता नहीं देखी ॥४॥ यद्यपि इन्होंने हमारी बहन को कुरूपा (नकटी-बूची) कर डाला है, तथापि ये उपमारहित पुरुष वध के योग्य नहीं हैं ॥५॥ "दोनों भाई अपनी छिपाई हुई स्त्री को हमें तुरत दे दो और जीतेजी घर लौट जाओ" ॥६॥ यह मेरा कथन तुम उनसे (जाकर) सुनाओ और उनका वचन (प्रति-उत्तर) सुनकर शीघ्र आओ ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु बिलोकि सर···'—प्रभु का तेज देखकर सब ठिठक रहे; यथा—"कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितये नहिं जात भिया रे। छुवत सरासन सलभ जरै गो ये दिनकर बंस दिया रे ॥" (गी॰ बा॰ ९९)। इससे बाण न चला सके। पुनः प्रभु के शोभा-माधुर्य पर मुग्ध हो रहे; यथा—"रामहि चितइ रहे थकि लोचन।" (बा॰ दो॰ २६८)—परशुरामजी। "थके नारि नर प्रेम पिया से। मनहुँ मृगी मृग देखि दिया से।" (बा॰ दो॰ ११५)। यहाँ के इसी माधुर्य भाव को लेकर—"शोभा बिंधु खरारी।" (बा॰ दो॰ १११)। कहा गया है। आपको देखकर मार्ग की सर्पिणीगण और बिच्छियाँ भी तीक्ष्णता छोड़ देती हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी ॥" (अ॰ दो॰ २६१)। उनका प्रभाव राक्षसों पर पड़ा, तो आश्चर्य नहीं। 'धारी'—उस सेना को कहते हैं, जो लूटने-मारने को दौड़ी आती हो; यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति···" (क॰ उ॰ ७५)। वह सेना भी ठिठक रही।

(२) 'सचिव बोलि बोले···'—श्रीरामजी का तेज-प्रताप देखकर इनको राजा समझा। शूर्पणखा ने श्रीलक्ष्मणजी से सुना भी था—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (दो० १६) ; उसने भी कहा ही होगा। इससे प्रतिष्ठा-पूर्वक मंत्री को बुलाकर भेजा। पुनः इससे भी कि वह ठीक से समझा देगा। अत्यंत सुन्दरता पर नर-भूषण कहा है; यथा—"पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन-सुखदाई॥" (बा० दो० ४०)।

(३) 'नाग असुर सुर नर···सुंदरताई।' ; यथा—"सुरनर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं॥" (बा० दो० २११), नाग-असुर को देखा, सुरों को जीता, नरों और मुनियों को हता; अर्थात् मारा-खाया। पर उनमें कहीं भी किसी में ऐसी सुन्दरता नहीं देखी गई। यहाँ शत्रु के मुख से सौन्दर्य की प्रशंसा किया जाना सौन्दर्य-पूर्णता का सूचक है। इसीसे सुन्दरता की सीमा दिखाने में जहाँ-तहाँ खरारी नाम आता है।

(४) 'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।···'—यद्यपि इन्होंने वध करने के योग्य अपराध किया है, तथापि ये अनुपम पुरुष हैं, इसलिये वध के योग्य नहीं हैं। शास्त्र दृष्टि से किसी अंश में परिपूर्ण पदार्थ भगवद्विभूति समझे जाते हैं। अतएव, उनका नष्ट करना पाप समझा जाता है। इसी दृष्टि से खर-दूषण ऐसा कह रहे हैं कि इनमें सौन्दर्य पदार्थ पूर्ण है। इससे ये वध लायक नहीं हैं। 'अनूपा'; यथा—"बिष्णु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देव अस कोउ न आही। येहि छबि सखी पटतरिय जाही॥" (बा० दो० २२१)। "उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं।···बल-बिनय-बिद्या-सील-सोभा-सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥" (बा० दो० २११)।

(५) 'देहु तुरत निज नारि···'—साथ में स्त्री होने की बात शूर्पणखा ने जना दी है। 'दुराई' अर्थात् हमारे डर से उसे छिपा रक्खा है, देने की इच्छा नहीं है, पर उसे दे दो, तो प्राणसहित लौट जाओ। स्त्री का अपराध किया है, इससे स्त्री लेंगे और तुम्हें छोड़ देंगे। 'जाहु दोउ भाई'—(भाव) चले जाओ, नहीं तो हम तो छोड़ देते हैं, पर यहाँ रहने से हमारा कोई निशाचर भक्षण कर लेगा। 'आतुर आवहु'—देर तक न खड़े रहना, नहीं तो अप्रतिष्ठा होगी।

दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥८॥
हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह-से खल-मृग खोजत फिरहीं॥९॥
रिपु बलवंत देखि नहि डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥१०॥
जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक। मुनि-पालक खल-सालक बालक॥११॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर-बिमुख मैं हतौं न काहू॥१२॥
रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥१३॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ। सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ॥१४॥

अर्थ—दूतों ने श्रीरामजी से जाकर कहा। सुनते ही श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले॥८॥ हम क्षत्रिय हैं, वन में शिकार करते हैं, तुम्हारे समान दुष्ट रूप मृगों (शिकार-पशुओं) को ढूँढ़ते-फिरते हैं॥९॥ शत्रु को बलवान् देखकर नहीं डरते, एक बार काल (यदि लड़ने आवे, तो उस) से भी लड़ते हैं॥१०॥ यद्यपि हम मनुष्य हैं, तथापि दैत्यों के कुल के नाशक, मुनियों के पालन करनेवाले और दुष्टों को दुःख देनेवाले

बालक हैं ॥११॥ जो बल न हो तो घर लौट जाओ, लड़ाई में मुँह फेरे (पीठ दिये) हुए को मैं कभी नहीं मारता ॥१२॥ समर में चढ़ाई करके कपट चातुरी और शत्रु पर कृपा करना महान् कायरपन है ॥१३॥ दूतों ने तुरत आकर सब कहा, सुनकर खर-दूषण का हृदय अत्यन्त जल उठा ॥१४॥

विशेष—(१) 'दूतन्ह कहा राम सन···'—खर-दूषण ने मंत्रियों से कहा था। वे ही कई मिलकर गये। दूत के कार्य में गये, इसीसे दूत कहे गये; जैसे युवराज अंगद दूत के कार्य में दूत कहे गये हैं। 'सुनत राम बोले ···'—सुनते ही उत्तर दिया, क्योंकि खर के आज्ञानुसार दूतों ने उत्तर शीघ्र माँगा है।

(२) 'मुसुकाई'—मुसुकाना उनकी गीदड़भभकी पर है कि हमें बातों से ही डराना चाहते हो, हम ऐसे नहीं हैं; यथा—"रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं।" यह आगे कहा ही है। छोटा आदमी भी इज्जत के पीछे जान देता है, हम ऐसे हैं कि स्त्री देकर चले जायँगे? नहीं जानते कि हम क्षत्रिय हैं? वही आगे कहा है। इसपर भी हँसे कि अभी 'नृप बालक' मानते हो, जान के लाले पड़ेंगे, तब जानोगे। अतः, यहाँ हँसना निरादर के लिये है।

(३) 'हम छत्री मृगया बन···लरहीं॥'—यह खर-दूषण के बल के प्रतिकार रूप में उत्तर है। 'तुम्ह से खल' अर्थात् जो पर-स्त्री को ताकनेवाले राक्षस हैं। 'खोजत फिरहीं'—तुम तो स्वयं आ गये हो, तो कैसे छोड़ेंगे?

(४) 'यद्यपि मनुज दनुज कुल घालक।'—उन्होंने कहा था कि आप नर-भूषण हैं, उसका यह उत्तर है। पुनः 'यह कोउ नृप बालक' का उत्तर—'मुनि पालक खल सालक बालक।' है।

(५) 'जौं न होइ बल······'—यह—'जीयत भवन जाहु दोउ भाई' का उत्तर है। 'काहू'; यथा—"मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जड़म्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥" (श्रीमद्भागवत ?); "अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्। पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि॥" (वाल्मी० ६।८०।३९); 'कपट चतुराई'—हमारे प्राण-रक्षा की ओट लेकर अपने प्राण बचाने की बातें करते हो, यह कपट-चातुरी है। 'रिपु पर कृपा परम कदराई'—कपट-चातुरी कदराई और शत्रु पर कृपा करना तो परम कदराई है।

(६) 'दूतन्ह जाइ तुरत······'—क्योंकि—'तासु बचन सुनि आतुर आवहु।" यह आज्ञा थी। 'उर अति दहेउ'—भगिनी की दशा देखकर हृदय पहले से ही जला था, अब कपटी-कादर भी बनाया गया, सो अत्यन्त जल गया।

छंद—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाये बिकट भट रजनीचरा।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसुधरा॥
प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा॥

दोहा—सावधान होइ धाये, जानि सबल आराति।
लागे बरषन राम पर, अस्त्र-सस्त्र बहु भाँति॥

तिनके आयुध तिल-सम, करि काटे रघुबीर।
तानि सरासन श्रवन लगि, पुनि छाँड़े निज तीर ॥१९॥

शब्दार्थ—तोमर = अस्त्र-विशेष, शर्पला, लकड़ी के डंडे में लोहे का फल लगा हुआ। परिघ = गँड़ासा लोहाँगी। टँकोर = धनुष की प्रत्यंचा का शब्द जो तानकर छोड़ने से होता है। आराति = शत्रु। अस्त्र = वे हथियार जो दूर से फेंके या चलाये जाते हैं, जैसे बाण, शक्ति आदि। शस्त्र = निकट से प्रहार किये जानेवाले खड्ग आदि। या अस्त्र मंत्रित और शस्त्र सामान्य हथियार।

अर्थ—हृदय जल उठा, तब कहा कि पकड़ो, (यह सुनकर) निशाचरों के विकट योद्धा बाण, धनुष, तोमर, शक्ति, शूल, कृपाण (द्विधारा खड्ग), परिघ और फरसा धारण किये हुए दौड़े। प्रभु ने पहले धनुष का टंकार किया जो बड़ा कठोर और घोर भयंकर था। निशाचर उस टंकार से बहरे और व्याकुल हो गये, उस समय उन्हें कुछ होश न रह गया॥ शत्रु को बली जानकर सावधान हो धावा किया, श्रीरामजी पर बहुत तरह के अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे॥ रघुवीर श्रीरामजी ने उनके हथियारों को काटकर तिल के समान कर डाला, फिर धनुष को कान तक खींचकर अपने तीर चलाये॥

विशेष—(१) 'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर···'; यथा—"प्रथम कीन्हि प्रभु धनुष टँकोरा। रिपु दल बधिर भयउ सुनि सोरा॥" (लं० दो० ९९); कठोर शब्दों से बहरे हो गये और घोर भयंकर शब्दों से व्याकुल हो गये। टंकार का शब्द जब तक कानों में गूँजता रहा, तब तक होश नहीं रह गया; यथा—"सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल विकल विचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं॥" (बा० दो० २६१)।

(२) 'सावधान होइ धाये ·····'—पहले असावधानी से धाये थे; यथा—"धाये विकट भट···" जब टंकार सुना, तब सबल शत्रु जानकर सावधानी से चढ़ाई की। 'लागे बरषन राम पर···'; यथा—"ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः॥ शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।" (वाल्मी० ३।२०।१०–११); वर्षा से पहाड़ की हानि नहीं होती, वैसे इन शस्त्रों से श्रीरामजी की कुछ हानि न होगी।

(३) 'तिनके आयुध तिल···'—राक्षसों के शस्त्रास्त्र लोहे के हैं, उन्हें तिल के समान छोटे-छोटे कर डाला, लोहे और तिल का रंग काला होता ही है। आयुधों के काटने की वीरता पर 'रघुवीर' कहा है। 'पुनि छाँड़े निज तीर'—पहले प्रहार से उनके आयुध काटे थे, अब अपनी ओर से बाण चलाकर उन्हें काटेंगे।

छंद—तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल।
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥
अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर बीर।
भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥

तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार। सनमुख ते करहिं प्रहार॥

शब्दार्थ—निसित (निशित)=चोखा, तेज। निकाम=अत्यन्त।

अर्थ—तब भयंकर बाण चले, मानो बहुत-से सर्प फुफकारते हुए जाते हैं। श्रीरामजी ने युद्ध में क्रोध किया, तब उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बाण चलने लगे॥ अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों को देखकर वीर राक्षस मुड़ चले। तीनों भाई (खर-दूषण-त्रिशिरा) बड़े क्रुद्ध हुए कि जो रण से भागकर जायगा॥ उसका हम अपने हाथों से वध करेंगे, तब वे मन से मरना निश्चय करके लौटे और सामने आकर अनेक प्रकार से हथियार चलाने लगे॥

विशेष—(१) यह तोमर छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ मात्राएँ होती हैं और अंत में गुरु-लघु वर्ण रहता है। युद्ध-प्रसंग में यह संगत है, क्योंकि तोमर भी एक आयुध का नाम है।

(२) 'फुंकरत जनु बहु ब्याल'—राक्षसों के वाणों को वर्षा कहा था और श्रीरामजी के वाणों को विषैले क्रोधी सर्पों की उपमा दी। भाव यह कि वर्षा से पर्वत की कुछ हानि नहीं होती, वैसे राक्षसों के प्रहार से श्रीरामजी की हानि न होगी। पर श्रीरामजी के सर्प के समान बाण राक्षसों के प्राण ही लेंगे; यथा—"राम बान अहि गन सरिस, निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तब लगि•" (सुं• दो• ११); फुंकरत' से सक्रोध और विषैले होना जनाया। 'चले बिसिष' तो कहा गया, पर उनका लगना नहीं कहा गया, क्योंकि राक्षस लोग 'मुरि चले'। तब पीठ दिये हुए राक्षसों पर वे बाण न लगे, क्योंकि श्रीरामजी की आज्ञा है; यथा—"समर बिमुख मैं हतउ न काहू।" ऊपर कहा गया है। 'कोपेउ समर श्रीराम'—राम में कोप कहाँ? पर समर में कोप से शोभा है, इसलिये कोप किया। अतः शोभावाचक 'श्री' शब्द लगाया गया। कोप का स्वरूप वाल्मी० ३।२४।३४-३५ में लिखा है कि जैसे प्रलयाग्नि हो एवं दक्ष-यज्ञ का नाश करने में रुद्र ने कोप किया हो।

(३) 'मुरि चले निसचर बीर'—पीठ देने पर भी उन्हें वीर कहा गया, इससे राम-बाण का प्रभाव कहा कि वीरों ने भी पीठ दे दी। वीर न मुड़ते तो वाणों की कौन बड़ाई थी; यथा—"नहिं गजारि जस बधे सृगाला।" (लं• दो• ११)।

(४) 'भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ'—ये तीनों नहीं मुड़े थे, तीनों तीन दिशाएँ घेरे हुए हैं, चौथी दिशा में लड़ाई हो रही है। मरना निश्चय करके फिरे कि भागने पर भी तो मरना ही पड़ेगा तो यश के साथ क्यों न मरें; यथा—"सनमुख मरन बीर कै सोभा।" (लं• दो• ९•)। इसीसे सामने से प्रहार करने लगे।

रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि।
छाड़े बिपुल नाराच। लगे कटन बिकट पिसाच॥
उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन।
चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर-समान॥

भट कटत तन सतखंड। पुनि उठत करि पाखंड।
नभ उड़त बहु भुजमुंड। बिनु मौलि धावत रुंड॥
खग कंक काक सृगाल। कटकटहिं कठिन कराल।

अर्थ—शत्रु को अत्यन्त कुपित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने धनुष में बाण का अनुसंधान (चढ़ा) करके बहुत-से नाराच नाम के बाण छोड़े, उनसे विकट राक्षस कटने लगे॥ छाती, शिर, भुजाएँ, हाथ, पैर जहाँ-तहाँ पृथिवी पर कटकर गिरने लगे। बाण लगने पर चिघाड़ते हैं, धड़ (शिर बिना शरीर) पर्वत के समान गिर रहे हैं॥ योद्धा कटकर सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, फिर माया करके उठ जाते हैं। आकाश में बहुत-सी भुजाएँ और शिर उड़ते हैं, बिना शिर के धड़ दौड़ रहे हैं॥ पक्षी-चील-कौए, गीदड़ कठिन और भयंकर कट्-कट् शब्द कर रहे हैं।

विशेष—(१) 'परम कोपे'—क्योंकि फटकारे भी गये और अब मरने पर तुल गये हैं। 'प्रभु धनुष सर संधानि···'—पहले तीर छोड़े थे, तब राक्षस भागे थे। इससे बाण चलाना बंद कर दिया था, क्योंकि समर-विमुख को नहीं मारते, यह आपका नियम है। जब शत्रु सन्मुख आये, तो अब फिर प्रहार करते हैं, किन्तु अब बाणों में पाँच पंखवाले नाराच का प्रहार करते हैं। इनका चलाना बड़ा कठिन है, ये बाण लोहे के ही होते हैं। अन्य बाण चार पंखवाले होते हैं।

(२) 'लगे कटन···'—अब कटने के भेद कहते हैं—(१) उर में बाण लगते ही चिघाड़ते हैं और शिर कटते ही उनके धड़ पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। किसी के साथ ही उर आदि पाँचों अंग कट जाते हैं। (२) 'भट कटत तन सत खंड'—ये मायावी हैं, सो टुकड़े होने पर भी माया से उठ खड़े होते हैं, मानों कटे ही न थे। पाखंड का अर्थ माया है; यथा—"कृत माया बिस्तार॥ जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड।" (लं० दो० ११)। पहले पाँच ही खंड कहे गये, ये सैकड़ों खंड हो जाते हैं। (३) 'नभ उड़त बहु भुज मुंड··· ··'—इनके शिर, भुजाएँ आदि आकाश ही में उड़ते हैं, भूमि पर नहीं आने पाते, इत्यादि। 'खग कंक काक ·····'—ये उपर्युक्त पहले प्रकार के ही राक्षसों को खाने आये, क्योंकि दूसरे और तीसरे प्रकार के राक्षस तो इन्हें मिलते ही नहीं थे।

छंद—कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं।
बेताल बीर-कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज शिरा।
जहँ तहँ परहि उठि लरहिं धर धरुधरु करहिं भयकर गिरा॥
अंतावरी गहि उड़त गीध-पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम-पुरबासी मनहुँ बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं॥

अर्थ—गीदड़ (सियार) कटकट करते हैं, भूत-प्रेत-पिसाच खप्पड़ में मांस-रक्त जमा करते हैं। वेताल (भूतों की एक योनि) वीरों की खोपड़ियों से ताल बजाते हैं और योगिनियाँ नाच रही हैं॥ रघुवीर श्रीरामजी के प्रचंड-बाण योद्धाओं के कलेजे, भुजाओं और शिरों को टुकड़े टुकड़े काटते हैं। (वे टुकड़े) जहाँ तहाँ गिरते हैं, फिर वे उठकर लड़ते हैं और पकड़ो, पकड़ो, पकड़ो ऐसा भयंकर शब्द करते हैं॥ गृद्ध अँतड़ियाँ पकड़कर उड़ते हैं और (उनका नीचे का छोर) हाथों से पकड़कर पिशाच दौड़ते हैं। मानों संग्राम-रूपी गाँव के रहनेवाले बहुत-से बालक पतंग उड़ा रहे हैं॥

विशेष—(१) 'जोगिनि नंचहीं'—योगिनियाँ मुख्य ६४ कही गई हैं, वे नाच रही हैं।

शंका—यहाँ तो उर, भुज, शिर से अलग हुए रुंड फिर उठ खड़े हो जाते हैं, वो जंबुक आदि खाते किसको हैं?

समाधान—जो अंग कटते हैं, वे पड़े ही रहते हैं, दूसरे शरीर तैयार हो जाते हैं। जैसे आगे रावण के शिर-बाहुओं का दशों दिशाओं में भर जाना कहा जायगा और फिर-फिर उसके नये-नये शिर-भुज होते जायँगे।

(२) 'धर धरुधरु करहिं भयकर गिरा।'—इन राक्षसों के हृदय में धरने की बात पहले से समाई हुई थी, वही शिर कटने पर भी उनके मुखसे निकल रही है; यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई।···धरहु धरहु धावत सुभट···कहेउ कि धरहु धाये···" इत्यादि। 'भयकर'—इसलिये कि इससे श्रीरामजी डर जायँ।

(३) 'अंतावरी गहि·· ···'—गीध समूह गुड्डियाँ हैं, अँतड़ी डोर और पिशाचगण पुरबालक हैं। यहाँ बीभत्स-प्रसंग को भी कवि-शिरोमणि ने क्रीड़ा की उपमा से माधुर्य में ढाल दिया है, ऐसे ही और जगह भी; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६६), तथा—"रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने।" (लं० दो० १०२); इत्यादि कवित्व की सूक्ष्म कुशलता है।

> मारे पछारे उर बिदार बिपुल भट कहरत परे।
> अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे॥
> सर साक्त तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
> करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥
> प्रभु निमिष महँ रिपु सर निवारि प्रचारि डारे सायका।
> दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचर-नायका॥

शब्दार्थ—पछारे=गिराये (बाणों से) कहरत=पीड़ा से आह-आह करते हैं।

अर्थ—मारे हुए, गिराये हुए और हृदय फूटे हुए बहुत-से वीर पड़े कँहरते हैं। अपने दल को व्याकुल देखकर त्रिसिरा आदि योद्धा और खर-दूषण ने उधर मुँह फेरे; अर्थात् वे भी आ झुके। अगणित

निशाचर कोप करके एक बार ही बाण, शक्ति, तोमर, परशु, शूल और कृपाण श्रीरघुवीर पर फेंक रहे हैं ॥ प्रभु श्रीरामजी ने क्षण-भर में शत्रु के बाणों को निवारण करके और ललकारकर अपने बाण छोड़े। समस्त निशाचरों के सेनापतियों के हृदय में दस-दस बाण मारे ॥

विशेष—'त्रिसिरादि खर-दूषन फिरे'—स्वामित्व के कार्य में खर-दूषण आगे कहे गये; यथा-"खर दूषन पहिं गै बिलपाता।" "सुनि खर-दूषन उर अति दहेऊ।" "सचिव बोलि बोले खर-दूषन।" इत्यादि। इज्जत के अवसर पर तीनों समान रहे; यथा—"भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ।" और यहाँ रण-संकट में छोटा भाई त्रिशिरा आगे है, क्योंकि उसका धर्म है कि बड़े को कष्ट न होने दे; यथा—"कौसलेस-सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥" (कि॰ दो॰ १); इसमें भी रण-सम्बन्ध से श्रीलक्ष्मणजी आगे कहे गये हैं।

(२) 'एकहि बारहिं···'—पहले राक्षसों ने देख लिया कि ये आयुध नष्ट करने में निपुण हैं; यथा- "तिन्हके आयुध तिल सम, करि काटे रघुबीर।" (दो॰ १९); इसलिये अब सब एक-साथ ही प्रहार करते हैं कि जिससे रोक न पावें। पर प्रभु ने निमिष में ही सबको निवारण कर दिया, इसीसे शोभा-सूचक 'श्री' इस विशेषण के साथ रघुवीर पद दिया गया है कि आप श्रीमान्, वीर हैं। 'प्रचारि'—सचेत करके, यह युद्ध की श्रेष्ठ नीति है।

(३) 'दस दस बिसिख···'—ये सब रावण के समान बली हैं; यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" (दो॰ २२); रावण को दस-दस बाण मारे गये हैं; यथा—"दस दस बान भाल दस मारे।" (लं॰ दो॰ ९०); पुनः, एक-साथ भी रावण को तीस बाण मारे गये हैं; यथा—"तीस तीर रघुबीर पँवारे।" (लं॰ दो॰ ९०) यहाँ भी तीनों भाइयों के प्रति १०×३=३० बाण हुए।

महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध-धनी।
सुर-मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करयो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु-दल लरि मर्यो॥

दोहा—राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्बान।
करि उपाइ रिपु मारे, छन महुँ कृपा-निधान॥
हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले, सोभित बिबिध बिमान॥२०॥

अर्थ—योद्धा पृथिवी पर गिर पड़ते हैं, फिर उठकर भिड़ते हैं, मरते नहीं, अत्यन्त घनी माया करते हैं। प्रेत तो १४ हजार हैं और श्रीअवध के स्वामी श्रीरामजी अकेले—यह देखकर देवता लोग डरते हैं॥ मायानाथ प्रभु ने देवताओं और मुनियों को भयभीत देखकर अत्यन्त खेल किया। (जिससे) शत्रु-दल सब एक-दूसरे को श्रीराम-रूप देखकर आपस में ही संग्राम करके लड़ मरा॥ सब 'राम-राम'

कहते हुए (राम है, इसे मारो, ऐसा कहते हुए) शरीर छोड़ते हैं और मोक्ष-पद पाते हैं। ऐसा उपाय करके कृपा सागर श्रीरामजी ने क्षण-भर में शत्रुओं को मार डाला॥ प्रसन्न होकर देवता लोग फूल बरसाते हैं और आकाश में नगाड़े बज रहे हैं। श्रीरामजी की स्तुति कर-करके सब देवता तरह तरह के विमानों पर सुशोभित चल दिये ॥२०॥

विशेष—(१) 'महि परत पुनि उठि भिरत ···'—१४ हजार हैं, वे सभी फिर-फिर भी उठते हैं, यही अति घनी माया है ; इसीसे इन्हें प्रेत कहा है कि उतने ही बने हैं। कहा जाता है कि इन्हें श्रीशिवजी का वरदान था कि तुम किसी दूसरे के मारने से न मरोगे। आपस में ही लड़ोगे, तभी मरोगे और परस्पर वैर भी न होगा। 'अवध धनी'—क्योंकि देवताओं की दृष्टि माधुर्य पर ही है। इसीसे वे डरते हैं ; क्योंकि उन्होंने इन्हें श्रीअवध-मात्र का स्वामी माना है।

(२) 'सुर-मुनि सभय प्रभु देखि···'—सुर-मुनि ही हैं ; यहाँ नर नहीं हैं, राक्षसों के भय से यहाँ सामान्य नर न रहते थे। 'माया नाथ'—राक्षस लोग अति घनी माया करते हैं, पर ये तो माया के नाथ हैं। अतः, न मोहे। पुन ये मायानाथ हैं, फिर भी माया न की, किंतु कौतुक किया, जिससे वे परस्पर एक दूसरे को राम-रूप देखते हुए लड़ मरे। वाल्मीकीय रामायण से भी यह कौतुक ऐसा ही सिद्ध होता है, जैसा कि अकंपन ने रावण से कहा है ; यथा—"येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिता॥ तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रत' स्थितम्। इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ॥" (वाल्मी० ३।३१। १९+२०) ; यहाँ अद्भुत-रस है।

(३) 'राम राम कहि तनु तजहिं···'—ये परस्पर युद्ध करके मरे, राम-बाण से नहीं मरे थे, इससे मुक्ति न होती, किन्तु 'राम-राम' कहते हुए मरे, अतः, नाम-माहात्म्य से मुक्त हुए। लंका में बाणों द्वारा मुक्ति होगी ; यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (सुं० दो० ३) ; 'कृपानिधान'—क्योंकि क्षण-मात्र के कौतुक में महान् पापियों को मुक्त किया, उन्हें कष्ट न भोगने पड़े। पुनः देवताओं और मुनियों को भी अभय किया। यहाँ अनखभाव से नामोच्चारण का माहात्म्य है।

(४) 'हरषित बरषहिं सुमन सुर···'—कार्य के पूर्ण होने से हर्षित होकर फूल बरसाना कहा है। अधूरा होता तो मलिन मन से बरसाते ; यथा—"भरतहि प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिन से।" (अ० दो० २०१) ; 'अस्तुति करि करि' अर्थात् प्रत्येक ने पृथक् पृथक् स्तुति की। 'सोभित बिबिध बिमान'—इस युद्ध से उन्हें आनन्द हुआ, इससे शोभित है, यथा—"बरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगल कारी॥" (बा० दो० ४१)। इनका स्तुति करना वाल्मी० ३।३०।३०–३६ में कहा गया है'।

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर-मुनि सबके भय बीते ॥१॥
तब लछिमन सीतहि लै आये। प्रभु-पद परत हरषि उर लाये ॥२॥
सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥३॥
पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुरमुनि सुखदायक ॥४॥

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी ने संग्राम में शत्रु को जीता और सुर, नर, मुनि सबके भय दूर हुए ॥१॥

तब श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी को ले आये, चरणों में पड़ते ही प्रभु ने हर्ष के साथ उनको हृदय से लगा लिया ॥२॥ श्रीसीताजी परम प्रेम से श्यामल-कोमल शरीर के दर्शन कर रही हैं, उनके नेत्र तृप्त नहीं होते ॥३॥ पंचवटी में बसकर श्रीरामजी सुर-मुनियों को सुख देनेवाले चरित कर रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सुर-नर-मुनि सबके भय बीते ।'—समर के समय भी इन्हें भय था; यथा—"सुर-मुनि सभय प्रभु देखि ··" ऊपर कहा है। पहले कहा गया—"अब प्रभु चरित सुनहुँ अति पावन। करत जे बन सुरनरमुनि भावन॥" (दो० १); चले बनहिं सुरनरमुनि ईसा ॥" (दो० ९); वही 'सुरनरमुनि' पद देकर यहाँ सूचित करते हैं कि इन्हीं की रक्षा के लिये चले थे, वही कार्य पूरा किया।

(२) 'प्रभु-पद-परत···'—श्रीलक्ष्मणजी विजय प्राप्त स्वामी श्रीरामजी के चरणों में पड़े। प्रभु ने अपने सहृदय भाई को हृदय से लगा लिया।

(३) 'सीता चितव स्याम · '—ये स्त्री-भाव की शृंगार-दृष्टि से देख रही हैं; यथा—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय। निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० २४१); श्याम वर्ण शृंगार का रूप कहा गया है, यथा—"भ्रू पर मसि बिंदु बिराज। जनु···रजक राखे रसराज।" (गी० बा० १६); 'परम प्रेम'—प्रेम तो सदा ही रहता है। पर आज स्वामी विजयश्री सहित हैं। अतः, परम प्रेम है; यथा—"बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे। मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान्। रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा॥" (वाल्मी० ३।३०।४०)।

इस प्रसंग में नवों रसों का वर्णन है। १—'रुचिर रूप धरि ··'—शृंगार, २—'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।'—हास्य, ३—'नाक कान बिनु भइ बिकरारा।'—बीभत्स, ४—'एक बार कालहु सन लरहीं।'—वीर, ५—'कोपेउ समर श्रीराम।'—रौद्र, ६—'उर सीस भुज···लगे महि परन।'—भयानक, ७—'देखहिं परस्पर राम करि···'—अद्भुत, ८—'राम राम कहि तनु तजहिं ··'—करुणा (मरते समय 'राम, राम' कहना करुणा सूचक भी है।), ९— 'सुर नर मुनि सब के भय बीते।'—शांत।

(४) 'करत चरित सुर-मुनि-सुख-दायक।'—यहाँ 'सुर-मुनि' मात्र ही कहा गया है। उपर्युक्त चौ० १ के अनुरोध से 'नर' भी लेना चाहिये।

खर-दूषणादि के युद्ध-प्रसंग के बहुत अंश रावण के युद्ध-प्रसंग से मिलते हैं, जिससे—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" यह चरितार्थ होता है, पर मैंने यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखा।

"जिमि सब मरम दसानन जाना"—प्रकरण

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा॥५॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी॥६॥
करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥७॥

शब्दार्थ—धुआँ=धुआँ एवं धज्जी धज्जी उड़ना, नाश होना, नाश के अर्थ में अवधी मुहावरा है; यथा—'हम तुम्हारा धुआँ (नाश) देखेंगे। प्रेरा=उत्तेजित किया।

अर्थ--खर-दूषण का नाश देखकर शूर्पणखा ने जाकर रावण को उत्तेजित किया ॥५॥ भारी क्रोध करके वचन बोली--तूने देश और खजाने की सुध भुला दी ॥६॥ मदिरा पीता है और दिन-रात सोता है, तुझे खबर। नहीं कि शत्रु शिर पर चढ़ आया है ॥७॥

विशेष--(१) 'बोली बचन क्रोध करि भारी।'– खर-दूषण से क्रोध करके बोली थी;-- "धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।" और यहाँ 'भारी' क्रोध करके बोली। 'देस कोस कै···'—शत्रु ने जन-स्थान देश ले लिया, अब कोष भी लेगा।

(२) 'करसि पान सोवसि···'—राज्य-कार्य से बेखबर रहना कि इन्द्रादि भी तो मेरे वश हैं, मुझे क्या डर है, इत्यादि नीति-विरुद्ध है, इसलिये आगे नीति कहती है। धर्मोपदेश करना बहन का धर्म भी है; यथा--"यदा यदा हि कौसल्या दासीव च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोप-तिष्ठति।···" (वाल्मी॰ २।१२।६८-६९); इसमें भगिनी-रूप में धर्मोपदेश करना ही लिया गया है।

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥ ८ ॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम-फल पढ़े किये अरु पाये ॥ ९ ॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥१०॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहि बेगि नीति अस सुनी ॥११॥

सोरठा--रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन ॥

शब्दार्थ—प्रनय (प्रणय) = यह प्रीति के आठ अंगों में आदि है; यथा —"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, आनय अंग विभाग॥" इनमें—"मम सब तव मम प्रणय यह" अर्थात् 'मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा सब मेरा है', ऐसा भाव होना प्रणय है। यती = मोक्ष के लिये यत्न करता हुआ सर्वस्व त्यागी। संग = विषयासक्ति।

अर्थ—नीति के बिना राज्य और धर्म के बिना धन की प्राप्ति, हरि के समर्पण किये बिना किया हुआ सत्कर्म ॥८॥ बिना विवेक उत्पन्न किये (पढ़ी हुई) विद्या, इनके पढ़ने, करने और पाने का परिश्रम-मात्र ही फल है; अर्थात् सब व्यर्थ हैं ॥९॥ विषयासक्ति से संन्यासी, बुरी सलाह से राजा, अभिमान से ज्ञान, मदिरा-पान से लज्जा ॥१०॥ प्रणय के बिना प्रीति और मद से गुणवान् का शीघ्र नाश होता है—ऐसी नीति सुनी है ॥११॥ शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, प्रभु (समर्थ राजा) और सर्प, इनको छोटा करके न समझना चाहिये—ऐसा कहकर अनेक प्रकार से विलाप करती हुई वह रोने लगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'राज नीति बिनु···'; यथा—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ॰ दो॰ १११); रावण को नीति में असावधान कहकर उपदेश देना प्रारंभ किया। इससे नीति को ही प्रथम कहा क्योंकि इसीका प्रस्तुत प्रसंग है। शेष बातें इसीकी पुष्टि में उदाहरण के लिये एवं लोकशिक्षा के लिये कही गई हैं। 'धन बिनु धर्मा'--धन पाकर यदि उसे धर्म में न लगाया, तो उसका पाना व्यर्थ ही है, क्योंकि—"सो

धन्य प्रथम गति जाकी।" (उ० दो० १२६); प्रथम गति = सुकृत में लगना। 'हरहि समर्पे बिनु सतकर्मा।'; यथा--"कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥" (भाग० १।५।१२); भानुप्रताप विधिवत् करते थे ; यथा—"करइ जो कर्म करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृपज्ञानी॥" (बा० दो० १५५)।

(२) 'बिद्या बिनु बिवेक उपजाये।'--विवेक न हुआ तो विद्या वंध्या ही रह गई। अतः, उसके पढ़ने का श्रम व्यर्थ हुआ। 'श्रम फल पढ़े' किये अरु पाये।'—इसमें विपरीत क्रमालंकार है, विद्या के साथ 'पढ़े'; सत्कर्म के साथ 'किये' और धन एवं राज्य के साथ 'पाये' को लगाना चाहिये।

'धन बिनु धरमा' से कर्मकांड, 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।' से उपासनाकांड और 'बिद्या बिनु बिवेक···' से ज्ञानकांड कहा गया है।

(३) 'संग ते जती'; यथा—"संग से कामना, कामना-हानि से क्रोध, क्रोध से मोह आदि की अनर्थ-परम्परा होती है"— (गीता २।६२-६३); 'कुमंत्र ते राजा'; यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती ॥" (लं० दो० ८); 'मान ते ज्ञान', यथा —"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४); अर्थात् ज्ञान में तो एक भी मान न चाहिये। 'पान ते लाजा'—इसने अभी ही कहा है—"करसि पान सोवसि दिन राती।" फिर यहाँ नीति के अंग में भी कहा कि इससे लज्जा नहीं रहती; अर्थात् इसीसे तू निर्लज्ज हो गया है, तभी तो मेरी इस दशा पर भी तुझे लाज नहीं है; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी॥" (लं० दो० १७); 'प्रीति प्रनय बिनु'—प्रणय-युक्त प्रीति के उदाहरण में विभीषणजी हैं; यथा—"देव कोस मंदिर संपदा। देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा॥ सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय।" इसपर श्रीरामजी ने कहा है—"तोर कोस गृह मोर सब···" (लं० दो० ११५); इस तरह भाव के बिना प्रीति नहीं रहती। 'नीति अस सुनी' अर्थात् यह पढ़ी हुई नहीं थी, इससे 'सुनी' ऐसा कहा है।

(४) 'रिपु रुज पावक···'— इनमें 'रिपु' और 'प्रभु' दो प्रस्तुत प्रसंग में मान्य हैं, शेष इनकी पुष्टि के लिये, और लोकशिक्षा के लिये हैं। इसने पहले ही कहा था—"सुधि नहिं तव सिरपर आराती।" इससे रिपु को ही प्रथम कहा। इसीका मुख्य प्रयोजन है। शत्रु श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी समर्थ एवं राजा भी हैं, इससे उन्हें 'प्रभु' भी कहा है कि इनकी छोटी अवस्था एवं मनुष्यत्व की अल्पता पर न भूल जाना। अग्नि, रोग और पाप थोड़े से भी शीघ्र बढ़ जाते हैं और असाध्य हो जाते हैं, सर्प छोटा भी विषैला होता ही है। वैसे वैरी और राजा से भी सावधान रहना ही चाहिये ; यथा—"बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥" (बा० दो० १५८); 'लागी रोदन करन'—कि जिससे रावण इन बातों पर अवश्य ध्यान दे।

दोहा—सभा माँझ परि ब्याकुल, बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ ॥२१॥

सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई ॥१॥
कह लंकेस कहसि निज बाता। केइ तव नासा कान निपाता ॥ २ ॥

अर्थ—सभा के बीच में व्याकुल पड़ गई और बहुत तरह से रोकर कहती है कि अरे दश कंधोंवाला रावण! तेरे जीते जी क्या मेरी ऐसी दशा होनी चाहिये? ॥२१॥ यह सुनते ही सभासद व्याकुल हो उठे, उन्होंने उसे समझाया और बाँह पकड़कर उठा लिया ॥१॥ लंकेश रावण ने कहा कि अपनी बात तो कह—किसने तेरी नाक और कान काट लिये हैं? ॥२॥

विशेष—(१) 'तोहि जियत···'—तेरे ऐसे समर्थ विश्व-विजयी के रहते बहन की यह दशा हो, अनाथा की तरह मैं रहूँ, मेरी नाक और कान कटने पर भी एक शिर और दो बाहुवाला जीता रहे! तू तो दश कंधोंवाला है, चलकर मेरा बदला चुका; अन्यथा तेरा मर जाना अच्छा है। "असि गति' का ऐसा भी भाव है कि यह अभी तक मुँह ढाँके थी, अब पूरी बातें कहकर मुँह खोला और दिखा रही है कि मेरी ऐसी दुर्दशा हुई, क्योंकि छिपाये न होती तो रावण अभी तक चुप न रहता।

(२) 'उठे अकुलाई'—व्याकुल हो उठे कि कोई असाधारण शत्रु पैदा हो गया, अन्यथा रावण के डर से तो सभी काँपते हैं, उसकी बहन के नाक कान काटने का साहस कैसे करते? 'समुझाई गहि बाँह उठाई'—समझाया, फिर बाँह पकड़कर उठा लिया, तब उठी। इससे जाना गया कि राक्षसों में मर्यादा का विचार बहुत कम था कि महाराजा की बहन वन-वन में घूमती थी, फिर सभा में आ गिरी और सभासदों ने बाँह पकड़कर उठा लिया।

(३) 'कह लंकेस'—लंका का राजा है, राजा नीति जानते हैं, इसीसे नीति को मानते हुए उसने पूछा। 'निज बाता'—भाव यह कि इधर-उधर की तो बहुत कही, पर अपनी बात कुछ न कही। यह तो कहा कि ये नाक-कान किसने काटे? भाव यह कि औरों को नीति सिखाती है और स्वयं नाक-कान कटा आई। इसने सभासदों से न कहा था, अब रावण के पूछने पर कहेगी, क्योंकि इसीकी प्रेरणा करने तो आई ही है; यथा—"आइ सुपनखा रावन प्रेरा" यह कहा गया है।

अवध-नृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये ॥३॥
समुझि परी मोहि उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी ॥४॥
जिन्हकर भुज-बल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन ॥५॥
देखत बालक काल-समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना ॥६॥
अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता। खल-बध-रत सुर मुनि-सुखदाता ॥७॥

अर्थ—श्रीअवध के राजा दशरथ के पुत्र जो पुरुषों में सिंह के समान हैं, वे वन में (शिकार) खेलने आये हैं ॥३॥ मुझको उनकी करनी ऐसी समझ पड़ी है कि वे पृथिवी को निशाचरहीन कर देंगे ॥४॥ हे दशमुख! जिनकी भुजाओं का बल (आश्रय) पाकर मुनि लोग वन में निर्भय होकर विचर रहे हैं ॥५॥ देखने में तो बालक हैं, पर (पराक्रम में) वे काल के समान हैं और परम धीर हैं, धनुष-विद्या में निपुण और अनेक गुणवाले हैं ॥६॥ दोनों भाइयों में अतोल बल और प्रताप है, वे खलों के वध में तत्पर हैं और सुर-मुनियों को सुख देनेवाले हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'अवध नृपति दसरथ···'—वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने उसे अपना पूरा परिचय दिया है, यह स्पष्ट है। इस ग्रंथ में भी श्रीलक्ष्मणजी ने कहा ही है; यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर

राजा।" (दो० १६); इससे दशरथ-पुत्र कहा। 'पुरुष सिंह···' से 'रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥' तक श्रीरामजी के उत्तर के अनुसार कहा, जो उन्होंने खर-दूषण को दिया है और इसने भी सुना है; यथा- "हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" इत्यादि। 'पुरुष सिंह'—यह इसकी उस मनोवृत्ति का भी परिचायक है, जो कि यह उन्हें ही मर्द औरों को नामर्द समझकर उनपर आसक्त हुई थी; यथा—"तुम्ह सम पुरुष न···" (दो० १६); 'खेलन'—क्रीड़ा एवं विहार करने।

(२) 'जिन्हकर भुज बल···'; यथा—"जबते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १३); 'देखत बालक काल समाना'; यथा—"मुनि पालक खल सालक बालक।" (दो० १८); 'परम धीर धन्वी गुन नाना।' यह उसने अपनी आँखों देखी बात कही है कि सेना-भर से घिर जाने पर भी हँसते ही रहे, इससे परम धीर हैं। धन्वीपना यह कि सबको क्षण-भर में मारा और अपने पर किंचित् आघात भी न होने दिया। ये सब बातें उसके हृदय में बिंध गई हैं, इसीसे कहती है।

सोभा-धाम राम अस नामा। तिन्हके संग नारि एक स्यामा॥ ८॥
रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥ ९॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥१०॥
खर-दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥११॥
खर-दूषन-त्रिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता॥१२॥

दोहा—सूपनखहि समुझाइ करि, बल बोलेसि बहु भाँति।
गयउ भवन अति सोचबस, नींद परइ नहिं राति॥२२॥

शब्दार्थ—स्यामा=सोलह वर्ष तक की स्त्री; यथा—"शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुख शीतला। सर्वावयव शोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता॥" (प्रबोधोदये); लगे पुकारा=यह सहायक होने के अर्थ में मुहावरा है।

अर्थ—शोभा के धाम हैं, उनका 'राम' ऐसा नाम है, उनके साथ एक श्यामा स्त्री है॥८॥ जो रूप (सुन्दरता) की राशि है, उस स्त्री को ब्रह्मा ने सँवार कर बनाया है, सौ करोड़ रतियाँ उसपर निछावर हैं॥९॥ उसके भाई ने मेरी नाक और कान काट लिये, (मैं) तेरी बहन हूँ, यह सुनकर हँसी करते थे॥१०॥ (मेरी पुकार) सुनकर खर-दूषण सहायक हुए, सारा कटक क्षण भर में उन्होंने मार डाला॥११॥ खर-दूषण और त्रिशिरा का संहार सुनकर रावण के सब अंग जल उठे॥१२॥ शूर्पणखा को समझाकर बहुत तरह से अपने बल का वर्णन किया, तब अपने महल में गया, पर अत्यन्त शोच के वश रात में नींद नहीं पड़ रही है॥२२॥

विशेष—(१) 'सोभा-धाम राम···'—उस शोभा में यह स्वयं मोही थी और खर-दूषण को भी कहते सुना है; यथा—"हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥" (दो० १८); वही देखी-सुनी बात कह रही है।

(२) 'रूप रासि बिधि ···'—ब्रह्मांड-भर में एक ही रति अत्यन्त सुंदरी है, वैसी करोड़ों ब्रह्मांडों की रतियाँ मिलकर भी उसकी तुलना के योग्य नहीं हैं। शूर्पणखा ने पहले नीति कहकर रावण की शासन-वृत्ति को उत्तेजित किया, अब उसके कामी स्वभाव को उत्तेजित करने को—'नारि एक स्यामा।' आदि कह रही है। ध्वनि यह भी है कि उसी सुंदरी स्त्री के कारण मेरा अपमान किया है। शोभाधाम की शोभा के वर्णन से अपना आसक्त होना भी सूचित किया।

यह सपत्नी होने गई थी, फिर भी श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन करती है, इससे श्रीसीताजी का सौंदर्य परिपूर्ण सूचित हुआ।

(३) 'तासु अनुज काटे···'—यह—"केहि तव नासा कान निपाता।" का उत्तर है। श्रीलक्ष्मणजी का नाम न कहा, क्योंकि ये शत्रु हैं, शत्रु का नाम नहीं लिया जाता। अथवा इनका नाम वह न जानती थी, चरित-प्रसंग में नहीं आया। 'सुनि तव भगिनि···'—भाव यह कि पूछने पर मैंने अपना नाम और तुम्हारा संबंध बतलाया, तब वे मुझसे हँसी-मज़ाक करने लगे और उन्होंने कहा कि तू अपना विवाह इमसे कर ले। मैं इसपर क्रुद्ध हुई तब मेरी नाक और कान काट लिये; अर्थात् उन्होंने तुम्हें कुछ नहीं गिना।

(४) 'छन महँ सकल···'; यथा—"करि उपाइ रिपु मारेउ, छन महँ कृपानिधान।" (दो० २०)।

(५) 'खर-दूषन त्रिसिरा कर घाता।···'—पहले "छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" कहा था, उसपर तीनों भाइयों के मरने में संदेह था। इससे इनका वध पृथक् भी कहा, इसीसे कवि ने दोहराया है। पहले—'रावण का भी कोई प्रबल शत्रु प्रकट हुआ'—इसपर सभासद व्याकुल हुए थे। जब तीनों *भाइयों का संहार सुना, तब रावण भी सर्वांग से जलने लगा; यथा—"सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू।* मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥" (अ० दो० ११); इसका मानसिक शोच आगे कहेंगे।

शूर्पणखा ने श्रीरामजी के नाम, रूप, धाम, गुण और लीला का परिचय दिया; यथा—"राम अस नामा"—नाम, "दसरथ के जाये" और "सोभा धाम"—रूप, "अवधनृपति"—धाम, "परम धीर धन्वी गुन नाना।"—गुण और "समुझि परी मोहिं उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥"—लीला है।

(६) 'सूपनखहिं समुझाइ करि···'—शूर्पणखा ने कहा था—"तोहि जियत···" उसी वचन से प्रेरित होकर रावण ने समझाया है और बहुत तरह से अपना पुरुषार्थ कहकर उसे धैर्य दिया। इसका बल वाल्मी० ३।३२।४-२३ में कहा गया है। रावण हृदय से तो डर गया है, पर ऊपर से बल कहता है; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (सु० दो० ५१); इसके हृदय की व्यवस्था उत्तरार्द्ध में कही गई है—'अति सोच बस नींद···'—खर और दूषण का क्षण-भर में मारा जाना सुनकर शोच में पड़ गया है, वही आगे कहते हैं—

सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥१॥
खर-दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥२॥
सुर-रंजन भंजन महि-भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥३॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ॥४॥

होइहि भजन न तामस देहा। मन-क्रम-बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥५॥
जौं नर-रूप भूप-सुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥६॥
चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु-तट जहवाँ ॥७॥

अर्थ—देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षियों में मेरे सेवकों (की बराबरी) का भी कोई नहीं है ॥१॥ खर-दूषण (तो) मेरे समान बलवान् थे, उन्हें बिना भगवान् के और कौन मार सकता है ? ॥२॥ देवताओं को आनन्द देनेवाले, पृथिवी के भार को भंजन (हरण) करनेवाले भगवान् ने, जो अवतार लिया है ॥३॥ तो मैं जाकर हठ-पूर्वक उनसे वैर करूँ और प्रभु के बाणों से प्राण छोड़कर भव (संसार) से तरूँ ॥४॥ (मेरे) तामसी शरीर से भजन न होगा, (अतः) मन, कर्म, वचन से दृढ़ मंत्र यही है ॥५॥ और जो मनुष्य रूप कोई राजपुत्र होंगे, तो दोनों को रण में जीतकर उनकी स्त्री को हर लूँगा ॥६॥ वह रथ पर चढ़कर अकेला ही वहाँ चला, जहाँ समुद्र के किनारे मारीच रहता था ॥७॥

विशेष—(१) 'सुर-नर असुर नाग खग माहीं।'—इनमें 'मुनि' को नहीं कहा, क्योंकि युद्ध का प्रसंग कह रहा है और मुनि युद्ध नहीं करते। शोभा आदि के वर्णन में प्रायः मुनि भी कहे गये हैं। 'अनुचर कहँ'—यहाँ 'कहँ' का तात्पर्य 'मारनेवाला' है, क्योंकि—"छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।" यह शूर्पणखा ने कहा है और उसी पर रावण भी आगे कहता है—"तिन्हहि को मारइ''।" 'कोउ नाहीं'; यथा—"कुमुख अकंपन कुलिस रद, धूम-केतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८०); वाल्मी० ३।३१।४-७ में इन्द्र, काल, यम, विष्णु आदि के नाम गिनाकर उन्हें अपनी प्रतिद्वन्द्वता में असमर्थ कहा है और यहाँ 'कोउ' शब्द उनसे अधिक व्यापक है। पुनः यहाँ 'अनुचर' शब्द इसका वहाँ से अत्यधिक महत्व दिखाता है कि अनुचरों की समता का भी कोई नहीं है, तो मेरी समता की कौन बात ?

(२) 'जौं भगवंत''तउ मैं जाइ'' '—अवतार के निश्चय में संदेह है, इसी से 'जौं' कहा है। अवतार संबंध से 'भगवंत' कहा है, क्योंकि भगवान् शब्द का अर्थ उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता होता है। उसी सामर्थ्य से ईश्वर कार्य करता है; वह किसी से वैर नहीं करता, इसलिये हठ से वैर करना कहा है।

(३) 'प्रभु-सर प्रान''' यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (सुं० दो० ३), ईश्वर से तो मुक्ति ही चाहता है।

(४) 'होइहि भजन न तामस देहा।' यथा—"तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माँहीं॥" (सुं० दो० ६)। 'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।'—इसने मुक्ति के लिये वैर और प्रीति इन दो मार्गों का निश्चय किया, उनमें प्रीति में अपना अनधिकार समझ वैर भाव के लिये दृढ़ मंत्र किया। प्रीति करने के लिये इससे १६ बार अनेक सहेतुक वचनों से कहा गया—अरण्यकाण्ड में २ बार, सुंदरकाण्ड में ६ बार, लंकाकाण्ड में ८ बार—पर इसने नहीं माना ऐसी दृढ़ता है।

(५) 'जौं नर-रूप भूप सुत कोऊ।'—अर्थात् नर तो कभी हमें जीत सकता ही नहीं, क्योंकि नर के हाथ मेरी मृत्यु हो नहीं सकती; यथा—"नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥" (लं० दो० २८); अतः, मैं ही उन्हें जीत लूँगा, खर और दूषण को मार ही लिया, तो क्या हुआ ?

इसे न तो भगवंत के अवतार में ही निश्चय है और न नर-रूप ही में, इसीकी परीक्षा कंचन मृग के द्वारा करेगा, अतएव मारीच के पास चला।

महाभारत वन पर्व अ० २७८ में कहा गया है कि रावण त्रिकूट और काल पर्वत को लाँघता हुआ गोकर्ण क्षेत्र में गया। जहाँ उसका पुराना मंत्री मारीच श्रीरामजी के भय से तपस्वी वेष में रहता था। वाल्मी० ३।३५।३७ में भी—"तंतु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदी पतेः।" कहा गया है। पर वाल्मी० १।३०।१८ में—"सम्पूर्ण योजन शतं क्षिप्तः सागर सम्प्लवे॥" कहा गया है, जैसा बा० दो० २०६ चौ० ४ में कहा है। परन्तु यहाँ 'जहवाँ' और 'तहवाँ' से दूर देश मात्र सूचित किया गया है। पूर्व बा० दो० २०६ चौ० ४ के अनुसार यह स्थल लंका के ही एक भाग में जान पड़ता है। 'अकेल' इसलिये कि जिससे यह भेद शत्रु को न मिल जाय, नहीं तो परीक्षा-विधि बिगड़ जायगी।

"पुनि माया सीता कर हरना"—प्रसंग

इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥८॥

दोहा—लछिमन गये बनहिं जब, लेन मूल फल कंद।

जनक-सुता सन बोले, बिहँसि कृपा-सुख-वृन्द॥२३॥

अर्थ—यहाँ श्रीरामजी ने जैसी युक्ति बनाई, हे उमा! वह सुहावनी कथा सुनो॥८॥ जब श्रीलक्ष्मणजी कंद-मूल-फल लेने गये, तब दया और सुख की राशि श्रीरामजी हँसकर श्रीजानकीजी से बोले॥२३॥

विशेष—(१) 'इहाँ राम जसि······'—"पंचवटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक॥" (दो० २०); पर यहाँ का प्रसंग छोड़कर वहाँ (लंका-मारीच-आश्रम) की कथा कहने लगे थे। अब फिर 'इहाँ' का प्रसंग लेते हैं। यह भी सूचित किया कि जिस समय वहाँ के चरित्र हुए, उसी समय यहाँ के ये चरित हुए। एक ही समय दो स्थलों के चरितकथन के 'इहाँ-इहाँ' ही संकेत हैं। पुनः 'इहाँ' से कवि अपनेको इस पक्ष में भी सूचित करते हैं। 'सुनहु उमा'—अर्थात् यह कथा शिव पार्वती के ही संवाद की है, जहाँ होगी, इसी संवाद में मिलेगी। 'राम'—ये सबमें रमण करते हैं, इसीसे रावण का अभिप्राय सीता हरण का जानकर वैसी युक्ति पहले ही से कर रहे हैं। 'जुगुति'—उधर रावण कपट मृग लावेगा, पर आपको कपट नहीं भाता; यथा—मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥" (सु० दो० ४३); इससे उसके प्रतिकार में आप युक्ति बना रहे हैं कि उसी तरह यह 'माया-सीता' भी हैं। 'सोहाई'—क्योंकि यह गोप्य रहस्य है, श्रीलक्ष्मण को भी नहीं जनाया। इसमें ईश्वर के हृदय की अगाधता है। उमा के संबोधन का यह भी भाव है कि इसी चरित में पहले उन्हें मोह था, अब दिखाते हैं कि देख लो, पहले ही से जान करके हरण का प्रबंध कर रहे हैं। अतः, विलाप एवं खोजना सब लीला मात्र था, जो तुम्हें भ्रम था—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।" (बा० दो० ५०)।

(२) 'बिहँसि कृपा सुख वृन्द'—हँसकर श्रीजानकीजी को प्रसन्न कर रहे हैं, यह भी जनाया कि आगे की विरह-लीला आदि हमारे हँसी-खेल हैं। हँसने का यह भी भाव है कि रावण-वध के लिये एवं सबपर कृपा करने तथा सुख देने के लिये स्त्री को लंका भेजकर परोपकार के लिये अब लोक की हँसी

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला । मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥१॥
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा । जौ लगि करउँ निसाचर नासा ॥२॥
जबहिं राम सब कहा बखानी । प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ॥३॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता । तैसेइ सील रूप सुबिनीता ॥४॥
लछिमनहूँ यह मरम न जाना । जो कछु चरित रचा भगवाना ॥५॥

अर्थ—हे प्रिय ! हे सुन्दर पातिव्रत धर्म का पालन करनेवाली ! हे सुशीले ! सुनो, मैं कुछ ललित नर-नाट्य करूँगा ॥१॥ जबतक मैं निशाचरों का नाश करूँ, तबतक तुम अग्नि में निवास करो ॥२॥ जैसे ही श्रीरामजी ने सब बखान कर कहा, वैसे ही प्रभु के चरणों को हृदय में रखकर वे अग्नि में समा गईं ॥३॥ श्रीसीताजी ने वहाँ अपना प्रतिबिंब रक्खा, जिसमें वैसा ही शील, सुन्दरता और अत्यन्त विनम्रता थी ॥४॥ भगवान् ने जो कुछ चरित रचा, उस भेद को श्रीलक्ष्मणजी ने भी न जाना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला ।'—'प्रिया'—भाव यह कि इस नर-नाट्य में रावण बधतक पृथक् होने को कहना है, यह न मानना कि मैं अप्रिय हो गई, नहीं ; तुम तो सदा प्रिया हो। यदि यह कहो कि आप से पृथक् रहने में हमारा व्रत (पातिव्रत धर्म) भंग होगा, उसपर कहते हैं कि तुम 'व्रत रुचिर' हो, हमारी आज्ञा से जाने में तुम्हारा व्रत भी रहेगा। पुनः यह भी शंका नहीं कि खलों के सहवास में तुम्हारे शील का नाश हो, सो नहीं हो सकता ; क्योंकि तुम 'सुशीला' हो । 'व्रत'; यथा—"एकइ धर्म एक व्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥" (दो० ४) ; वा, प्रिया हो ; अतः, हमारा रुख रक्खो, व्रत-रुचिर हो ; अतः, आज्ञा मानो । सुशीला हो ; अतः, उत्तर न दो । श्रीसीताजी इन गुणों की खान हैं ; यथा—"हा गुन खानि जानकी सीता । रूप-सील व्रत नेम पुनीता ॥" (दो० २१); 'मैं कछु करब···'—'कछु'—कवि उसे शब्दों से भी छिपाते हैं । नहीं तो 'यह' कहते । 'ललित'—जिसमें ऐश्वर्य का लेश भी न हो ; यथा—"मनहु महा बिरही अति कामी ।" (दो० ११) ।

(२) 'तुम्ह पावक महँ···'—अग्नि में निवास कराते हैं । अंत में उसीकी साक्षी देकर उसीसे प्रकट करावेंगे ; यथा—"सीता प्रथम अनल महँ राखी । प्रगट कीन्ह चह अंतर साखी ॥" (लं० दो० १०८) ; साक्षी भी अग्नि की दी जाती है ; यथा—"पावक साखी देइकरि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ ।" (कि० दो० ४) ; भाव यह भी है कि तुम भी अपने ऐश्वर्य को अंतर्भूत रक्खो, उसके दुःख देने पर शाप न दे दो, नहीं तो हमारी प्रतिज्ञा ही जायगी । श्रीसीताजी ने रावण से कहा भी है ; यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् । न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥" (वाल्मी० ५।२२।२०) ।

अग्नि में रखने पर ये भाव भी कहे जाते हैं—(क) अग्नि के दिये हुए पिंड से श्रीरामजी का जन्म है । अतएव अग्नि को पिता के समान मानते हैं । स्त्री पिता के यहाँ रखने में सुरक्षित रहती है । (ख) और सत्त्व में इनका तेज न छिपता (ग) सोने की लंका जलाना है । अतएव अग्नि में शक्ति को रक्खा । (घ) श्रीरामजी तपस्वी वेष में हैं । अग्नि भी तपः स्थान है । तपस् अग्नि का नाम भी है। श्रीजानकीजी उसमें रह सकेंगी, अन्यथा व्रतभंग की शंका करतीं ; यथा—"तुम्हहि उचित तप मो कहँ भोगू ।" (अ० दो० ११) ।

(३) 'प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ।'—श्रीजानकीजी 'व्रत रुचिर' हैं, इससे इन्होंने पति-आज्ञा को शिरोधार्य किया । व्रत का स्वरूप; यथा—"काय वचन मन पति-पद प्रेमा ।"; अतएव पति-पद हृदय में रखकर उसे चरितार्थ किया । पुनः यह भी भाव है कि इन चरणों से गंगाजी प्रकट हुई हैं । अतः, इनके धारण से अग्नि में भी शीतलता बनी रहेगी ।

(४) 'निज प्रतिबिंब राखि···'—श्रीरामजी ने प्रतिबिंब रखने को नहीं कहा, पर उनका रुख जानकर यह कार्य किया गया, इससे—"पति रुख लखि आयसु अनुसरहू ।" (बा० दो० ३३१); इस शिक्षा का चरितार्थ हुआ । प्रतिबिंब व्यवहित (पृथक किये हुए) वेश में कैसे रह सकता है ? उत्तर में कहा जाता है—(क) प्रतिबिंब से तात्पर्य अंश का है । (ख) अघट घटना पटीयसी सामर्थ्य से असंभव का संभव कर दिखाना ईश्वरता है । (ग) कोई-कोई यह भी कहते हैं कि वाल्मी० ७।१० में जो शक्ति श्रीसीतारूपा वेदवती नाम से कही गई है, उसमें ही श्रीसीताजी को आवेश प्राप्त हुआ और स्वयं श्रीसीताजी ने अग्नि में निवास किया ।

'तैसइ सील रूप सुबिनीता'—स्त्री में व्रत रुचिर, शील, रूप और नम्रता—ये चार गुण अवश्य चाहिये । वे सब इनके इस रूप में भी कहे गये हैं ।

(५) 'लछिमनहूँ यह मरम न जाना ।···'—श्रीलक्ष्मणजी प्रातःक्रिया करके कंद, फल आदि लेने गये और उसी समय उधर रावण मारीच-आश्रम को गया । वहाँ मारीच से बात हुई, यहाँ श्रीसीताजी से यह सम्मत और अग्नि प्रवेश-लीला हुई । यहाँ श्रीलक्ष्मणजी लौटकर आये और उधर से मारीच मृग रूप में आवेगा । 'लछिमन गये बनहिं···'—उपक्रम है और यहाँ—'लछिमनहूँ यह मरम···' यह उपसंहार है । श्रीलक्ष्मणजी को भी यह मर्म न जनाया, क्योंकि उनके जान लेने पर विरह आदि की 'ललित नर-लीला' करते न बनती और न उनके समझाने की ही लीला होती । फिर श्रीनारदजी का शाप—"नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥" (बा० दो० १३६); यह कैसे सत्य होता ? भगवान् का रहस्य चरित उनकी ही कृपा से वह भी परिमित अंश में ही कोई भी जानता है ।

श्रीपार्वतीजी ने पूछा था—"औरउ राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०); यहाँ भी उसका उत्तर है । श्रीजानकीजी के रहस्यात्मक चरित को श्रीरामजी ही जानते हैं ; यथा—"सिय महिमा रघुनायक जानी ।" (बा० दो० १०६); "लखा न मरम राम बिनु काहू ।" (अ० दो० २५१); वैसे ही यहाँ भी इस अंतरंग-लीला को वे ही जानते हैं । ऐसे ही श्रीरामजी के भी गुह्यतम रहस्य को श्रीजानकीजी ही जानती हैं ; यथा —"अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ । जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ ॥ राम जोगवत सीय-मन प्रिय मनहिं प्रान प्रियाउ ।···" (गी० उ० २५); इत्यादि ।

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा । नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा ॥६॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥७॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥८॥

दोहा—करि पूजा मारीच तब, सादर पूछी बात ।
कवन हेतु मन ब्यग्र अति, अकसर आयहु तात ॥२४॥

शब्दार्थ—अकसर (एक + सर) = अकेले । त्रस्त—घबड़ाया हुआ, भयभीत ।

अर्थ—दशमुख (रावण) वहाँ गया, जहाँ मारीच था और शिर नवाया, (क्योंकि) वह नीच स्वार्थ परायण था ॥६॥ नीच का नवना (नम्रता) अत्यन्त दुःखदायी होता है, जैसे अंकुश, धनुष, सर्प और बिल्ली का ॥७॥ हे भवानी ! दुष्ट की प्रिय वाणी भय देनेवाली होती है, जैसे बिना समय (ऋतु) के फूल ॥८॥ तब मारीच ने पूजा करके आदर-पूर्वक बात पूछी—हे तात ! किस कारण तुम्हारा मन अत्यन्त चिंतित है और क्यों अकेले आये हो ? ॥२४॥

विशेष—(१) 'दसमुख गयउ जहाँ···'—इसका उपक्रम—"चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच···" से हुआ था । बीच में इधर का रहस्य कहा गया, अब फिर वही प्रसंग लेकर यहाँ उपसंहार किया । 'दसमुख'—का भाव यह कि इसके आगे एक मुख वाले मारीच की कुछ न चलेगी ।

'नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा ।'—रावण ने ऊपर से मामा मानकर भक्ति से प्रणाम करना जनाया, पर वह बात नहीं है, क्योंकि आगे मारने की धमकी देगा, इससे यह प्रणाम करना इसका स्वार्थ साधने के लिये है, इसीसे नीचता कही गई । मारीच इसका पुराना मंत्री है और इसके अधीन है, अभी भी राजा मानकर इसकी पूजा करेगा । रावण अभिमानी कैसा है—"रवि ससि पवन बरुन धन धारी।··· आयसु करहिं सकल भयभीता । नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥" (बा० दो० १८१) ; वह अपने अधीन को प्रणाम करे, यह नीचता है । इसे ही कहते हैं—

(२) 'नवनि नीच कै अति दुखदाई ।···'—प्रिय मधुर बोलता हुआ शिर नवाकर प्रणाम किया, इसीलिये दोनों बातों को अंकुशादि और अकाल पुष्प की उपमाओं से दिखाते हैं । अंकुश नया कि तुरत हाथी के मस्तक पर धँसा, धनुष जैसे ही खींचकर विशेष नवाया गया कि उससे किसी पर बाण का घात हुआ । सर्प झुका कि लपक कर काटा, बिल्ली दबकी कि मूँसा आदि को लिया । ये सब दूसरों को दुःख देने ही को नवते हैं । इनमें अंकुश और धनुष दूसरे की प्रेरणा से दुःखद हैं और सर्प-बिल्ली स्वतः एवं प्रेरणा से भी दुःख देते हैं, वैसे ही रावण शूर्पणखा की प्रेरणा से और अपनी इच्छा से भी इस दुःखद-कार्य में प्रवृत्त हुआ है ।

(३) 'भय दायक खल कै प्रिय बानी ।···'—खल प्रायः कठोर ही वाणी बोलते हैं; यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा ।" (बा० दो० ३) ; प्रिय बोलना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है । जैसे अकाल के पुष्प प्रकृति के नियम के विरुद्ध होते हैं और भयदायक कहे गये हैं ; यथा—"दुर्जनैरपि ह्युक्तानि सम्मतानि प्रियाणि च । अकाल कुसुमानीव भयं संजनयन्तिहि ॥" (नीतिशास्त्र) ; इस रीति से खल का प्रिय बोलना भी भयंकर है । प्रिय वचन को फूल की उपमा दी जाती है ; यथा—"मातु बचन सुनि अति अनुकूला । जनु सनेह सुरतरु के फूला ॥" (अ० दो० ५२) ; पर खल की वाणी प्रिय होने पर भी भय दायक है । अतः, उसे अकाल-पुष्प की उपमा दी, क्योंकि ऋतु के विरुद्ध वृक्षों का फूलना उस देश के राजा और प्रजा को भयंकर होता है । वैसे इस वचन से भी मारीच का वध और इसके वंश-भर का नाश होगा ; यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी । रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी ॥" (लं० दो० ४) ; इससे रावण के लिये अपशकुन और श्रीरामजी को लाभ हुआ ।

(४) 'करि पूजा मारीच···'—रावण ने स्वार्थ वश शिर नवाया, पर मारीच ने अपनी मर्याद-रक्षा के लिये उसकी पूजा करके आगमन का हेतु पूछा; यथा—"करि पूजा समेत अनुरागा । मधुर बचन तब

बोलेउ कागा ॥ नाथ कृतारथ भयउ मैं, तव दरसन खगराज। आयसु होइ सो करउँ अब प्रभु आयउ केहि काज ॥" (उ० दो० ६३); इत्यादि।

दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे ॥१॥
होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप नारी ॥२॥
तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर-रूप चराचर-ईसा ॥३॥
तासों तात बैर नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै ॥४॥

अर्थ—अभागे दशानन ने अभिमान सहित सारी कथा उसके सामने कही ॥१॥ (फिर कहा कि) तुम छल करनेवाला कपट मृग बन जाओ, जिस प्रकार मैं राजा की स्त्री को हर लाऊँ ॥२॥ फिर मारीच ने कहा कि हे दशशीस ! सुनो, वे मनुष्य रूप में चराचर के स्वामी हैं ॥३॥ हे तात ! उनसे वैर न कीजिये, उनके मारने से मरना और जिलाने से जीना चाहिये ॥४॥

विशेष—'दसमुख सकल कथा ···'—अभिमान सहित बोलने से 'दसमुख' कहा कि मानों दसों मुखों से कह रहा है। 'अभागे'—क्योंकि श्रीरामजी से वैर ठान रहा है; यथा—"वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहिं ते सिर नावैं ॥ ऐसेहूँ भाग भगे-दसभाल तें जो प्रभुता कवि कोविद गावैं। राम से बाम भये विधि बामहि बाम सबै सुख संपति लावैं ॥" (क० उ० २)। 'तेहि आगे'— एकान्त में उसी के आगे कहा कि और कोई न जाने। 'सहित अभिमान'—हमने इन्द्रादि को छल से वश में कर लिया, तो इन राज पुत्रों की क्या गिनती है ?

(२) 'होहु कपट-मृग···'—वे राजपुत्र हैं शिकार के लिये अवश्य दौड़ेंगे। इसलिये तुम कपट मृग बनो, छल करके उन्हें श्रीसीताजी से दूर कर दो और श्रीरामजी के स्वर में मिलाकर श्रीलक्ष्मणजी को भी पुकारो कि वे भी दूर हो जायँ बस, मैं यती बन कर उनकी स्त्री हरलूंगा, क्योंकि उन्होंने हमारी बहन को कुरूपा किया है। 'छलकारी' यथा—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। ··लछिमन कै प्रथमहि लै नामा।··· (दो० २१)।

(३) 'तेहि पुनि कहा···'—'पुनि' शब्द से वाल्मीकीय रामायण के मत से प्रथमवार का समझाना भी आ गया जो कि अकंपन के कहने से रावण मारीच के पास आया और इसके समझाने से लौट गया था। पीछे शूर्पणखा के कहने पर फिर आया और बहुत कुछ कह सुनकर इसे तैयार किया। 'पुनि' का दूसरा अर्थ फिर एवं तत्पश्चात् भी है। 'दस सीसा'—संबोधन से सूचित किया कि तुम्हारे दसो शिर काटे जायँगे नहीं तो उनसे वैर न करो। 'ते नर रूप···'—तुमने भूल से उन्हें नर माना है, वे रूपमात्र में नर हैं, पर चराचर के स्वामी हैं।

(४) 'तासों तात वैर नहिं कीजै···'—प्रीति और वैर समान में ही हो सकता है, बड़े से वैर करने में हानि होती है; यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३), "नाथ बैर कीजे ताही सों। बुद्धि बल सकिय जीति जाही सों ॥ तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिन करहिं जैसा ॥···तासु विरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा ॥" (लं० दो० ५); 'मारे मरिय जियाये जीजै।'—सुबाहु और खर-दूषण आदि उनके मारने से मरे और मैं जिलाने से ही जीता हूँ, नहीं तो कब मर गया होता। पुनः वे उत्पत्ति, पालन और संहार के कर्ता अर्थात् ईश्वर हैं।

मुनि-मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥५॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं ॥६॥
भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥७॥
जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा ॥८॥

दोहा—जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर-कोदंड।
खर-दूषन-तिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड ॥२५॥

अर्थ—कुमारावस्था में ही वे (विश्वामित्र) मुनि की यज्ञ-रक्षा करने को गये थे। तब उन श्रीरघुनाथजी ने मुझे बिना गाँसी (फल) का बाण मारा था ॥५॥ जिससे क्षण-भर में मैं सौ योजन (४०० कोस) पर आ गिरा, उनसे वैर करना अच्छा नहीं है ॥६॥ मेरी दशा भृङ्गवाले कीड़े की-सी हो गई, मैं जहाँ-तहाँ दोनों भाइयों को ही देखता हूँ ॥७॥ हे तात ! यदि वे मनुष्य ही हैं, तो भी अत्यंत शूर-वीर हैं, उनसे वैर करके पूरा न पड़ेगा ॥८॥ जिन्होंने ताड़का और सुबाहु को मारकर श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा, फिर खर-दूषण-त्रिशिरा का वध किया, क्या मनुष्य ऐसा बलवान् एवं प्रतापी हो सकता है ?

विशेष—(१) 'बिनु फरसर···'—अबकी फल सहित मारेंगे, तो अपने भाई सुबाहु की तरह मर ही जाऊँगा। 'सत जोजन आयउँ ··'; यथा—"सत जोजन गा सागर पारा।" (बा० दो० २०१); वहाँ (बकसर) से ४०० कोस दक्षिण समुद्र है और आगे सागर भी ४०० कोस चौड़ा है। (इसे वहाँ बा० दो० २०१ में भी देखिये); 'कुमारा'—भाव यह कि अब तो युवा अवस्था को प्राप्त हैं।

(२) 'भइ मम कीट भृंग की नाईं।···'—भृङ्ग कीड़े को पकड़ता है, तब उसे चारों तरफ फिराता है और उसे शब्द सुनाता है, वैसे मुझे राम-बाण ने आकाश में फिराया और यहाँ लाकर फेंका। जो कीट भृंग से छूटता है, उसे फिर भय से चारों ओर भृङ्ग ही देख पड़ता है। वैसे भय से चारों ओर जहाँ-तहाँ मुझे वे दोनों भाई ही देख पड़ते हैं ; यथा—"वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनांबरम्। गृहीत धनुषं रामं पाशहस्तमिवांतकम् ॥ अपि राम सहस्राणि भीतः पश्यामि रावण। रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभातिमे ॥" (वाल्मी० ३।३९।१५–१६), भाव यह कि भय के मारे मैं उनके पास जा नहीं सकता।

(३) 'जौं नर तात···'—इसने स्वयं तो श्रीरामजी को ईश्वर ही निश्चय किया है, पर रावण ने नर कहा है; यथा—'हरि आनउँ नृप नारी' अतः उसका रुख लेते हुए श्रीरामजी को नर कहकर उनमें फिर प्रत्यक्ष प्रमाणों से अपना निश्चय ही सिद्ध करेगा कि वे मनुष्य से कोई विलक्षण ही हैं—

(४) 'जेहि ताड़का सुबाहु···'—इसने पहले अपना हाल कहा, फिर ताड़का सुबाहु की दशा की घटना क्रम से कही, क्योंकि पहले ताड़का का वध हुआ था, तब सुबाहु का और फिर धनुर्भंग हुआ। ये सब कार्य नर की शक्ति से बाहर के हैं; यथा—"मारग जात भयावन भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥ घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ॥ ···कमठ पीठ पबि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥···सकल अमानुष करम तुम्हारे।" (बा० दो० ३५६), पुनः खर दूषण के वध पर तो रावण ने स्वयं भी ईश्वरावतार की कल्पना की थी। अभी उसीने मारीच से कहा भी है; यथा—"दसमुख सकल कथा तेहि···"

जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी ॥१॥
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥२॥
तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिं कल्याना ॥३॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानस गुनी ॥४॥

शब्दार्थ—भानस गुनी=रसोई के काम में गुणवान्, मिथिला प्रान्त में रसोई के कार्य को 'भानस' कहते हैं। शस्त्री=आयुध-धारी एवं आयुधवाला। शठ=मूर्ख।

अर्थ—अपने कुल की कुशलता विचार कर घर लौट जाओ, यह सुनते ही रावण जल उठा और उसने बहुत गालियाँ दीं ॥१॥ अरे मूर्ख! गुरु की तरह मुझे ज्ञान सिखाता है। कह तो, संसार में मेरे समान कौन योद्धा है? ॥२॥ तब मारीच ने हृदय में विचार किया कि शस्त्री, भेदी, प्रभु (समर्थ राजा), मूर्ख, धनवान्, वैद्य, भाट, कवि और रसोइया—इन नव से वैर करने से कल्याण नहीं होता ॥३-४॥

विशेष—(१) 'सुनत जरा…'—रावण मानार्थी है, पर मारीच ने उसे न्यून कहकर बार-बार वैर छोड़ने को कहा और शत्रु की बड़ाई की, इसी से वह जल उठा, यथा—"तासों तात बैर नहि कीजे।"; "तिन्ह-सन बैर किये भल नाहीं।"; "तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा।" इत्यादि; इस रीति से जो कोई भी वैर छोड़ने को कहता है, उसीपर खल उठता है, जैसे-"मृत्यु निकट आई खल तोहीं।…"—हनुमानजी पर, "बृद्ध भयसि नत मरतेउँ तोहीं।…"—माल्यवान् पर, "पुनि दसकंठ रिसान अति…"—कालनेमि पर, इत्यादि। शत्रु की बड़ाई पर भी बहुत चिढ़ता है; यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" (सुं० दो० ३१); "आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८)।

(२) 'गुरु जिमि'—क्योंकि मंत्री का धर्म है कि राजा की बड़ाई करके सलाह दे। पर इसने तो उसकी लघुता ही कही, पुनः सलाह भी उसकी रुचि के विरुद्ध दी।

(३) 'नवहि बिरोधे…'; यथा—"शस्त्री मर्मभेदी नृपतिः शठो वैद्यो धनी कविः। बंदी गुणीति व्याख्यातैर्नवभिर्न विरुध्यताम्॥" (चाणक्यनीतिः); इससे भेद इतना ही मात्र है कि 'भानस गुनी' की जगह 'गुणी' मात्र कहा है। विरोध करने से शस्त्री मार डालेगा, मर्मी जो अपना गुप्त भेद जानता है, जैसे रावण के नाभिकुंड में अमृत की बात श्रीविभीषणजी जानते थे। विरोध करने पर उन्होंने रावण को मरवा दिया। नृपति समर्थ होता है। शठ हानि-लाभ जानता ही नहीं; सहसा कुछ अनर्थ कर सकता है। धनी धन देकर किसी से भी हानि करा सकता है। वैद्य विरुद्ध उपचार से रोग बढ़ा सकता है। भाट एवं कवि जगत् में अकीर्ति फैला सकते हैं। रसोइया भोजन में विष मिलाकर प्राण ही ले सकता है, इत्यादि।

यहाँ रावण शस्त्र लिये हुए अवज्ञा पर मारने को उद्यत है, इससे यही 'सस्त्री' प्रस्तुत विषय है, शेष नीति उसी की पुष्टि में कही गई है।

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक-सरना ॥५॥

उतर देत मोहि बधब अभागे। कस न मरउँ रघुपति सर लागे ॥६॥
अस जिय जानि दसानन-संगा। चला राम-पद-प्रेम अभंगा ॥७॥
मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहउँ परम सनेही ॥८॥

अर्थ—दोनों तरह से अपना मरण देखा, तब श्रीरघुनाथजी की ही शरण ताकी (या, श्रीरामजी के बाणों को ही ताका, क्योंकि उनसे मरने पर मुक्ति होती है) ॥५॥ उत्तर देने से यह अभागा मुझे मार डालेगा, (तो) श्रीरघुनाथजी का बाण लगने से ही क्यों न मरूँ? ॥६॥ हृदय में ऐसा जानकर रावण के साथ चला, उसका श्रीरामजी के चरणों में अचल प्रेम है ॥७॥ मन में अत्यन्त हर्ष है कि आज परम स्नेही को देखूँगा, परन्तु रावण को यह (हर्ष) नहीं जनाता ॥८॥

विशेष—(१) 'उभय भाँति देखा…'—यदि इससे प्रीति निबाहते हैं, तो श्रीरामजी के हाथ मरना होगा। वैर करके इसके ही हाथों से मरना होगा; यथा—"आसाद्यते जीवित संशयस्ते मृत्युर्ध्रुवोह्यद्य मयाविरुद्धयतः। एतद्यथावत्परिगण्यबुद्ध्या यदत्र पथ्यं कुरुतत्तथात्वम् ॥" (वाल्मी० ३।४०।२७); अर्थात् 'रामजी के विरोध से जीने में संशय है और मुझसे विरोध करने में आज ही मृत्यु निश्चय जानो' इसे ही—'उभय भाँति…' कहा। 'तब ताकेसि…'; यथा—"इत रावन, उत राम कर, मीच जानि मारीच। कपट कनक मृग-वेष तब, कीन्ह निसाचर नीच ॥" (रामाज्ञा० ३।२।६); वैर-भाव से शरण होने से भी मुक्ति होती है; यथा—"वैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर ॥ देहिं परम गति…" (लं० दो० ४४)।

(२) 'उतर देत मोहि बधब अभागे।'—रावण ने प्रश्न किया था—"कहु जग मोहिं समान को जोधा।" इसका उत्तर मैं दे सकता हूँ कि बड़े योद्धा हो तो चोरी करने को क्यों कहते हो। रण में जीतकर श्रीसीताजी को ले आओ। यह भी कि धनुष तोड़कर पहले ही क्यों न ब्याह लाये? यथा—"जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउँ बल अतुल बिसाला ॥ भंजि धनुष जानकी बियाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥" (बा० दो० ३५); 'अभागे'—श्रीरामजी के वैर करने से अब इसका भाग्य नष्ट हो गया।

(३) 'कस न मरउँ रघुपति सर लागे।'—श्रीरामजी के बाण से मरना श्रेयस्कर है, मुक्ति होगी; यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहि सही।" (सुं० दो० ३) तो इस अभागे के हाथ से क्यों मरूँ? श्रीरामजी के ही बाण से मरूँगा; यथा—"उभयोर्यदि मर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः।" (हनुमन्नाटक)। श्रीरामजी के द्वारा ही मरने पर वाल्मीकीय रामायण से इसका कुछ और भी भाव मिलता है; यथा—"मां निहत्य तु रामो ऽसावचिरात्त्वां वधिष्यति। अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः ॥ दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय। आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबांधवम् ॥" (वाल्मी० ३।४१।१७-१८)। भाव यह कि मैं शत्रु के हाथ से मारा जाऊँगा और साथ ही तुम सपरिवार मारे जाओगे। इससे मैं प्रसन्न हूँ, अर्थात् तुम मुझे मारोगे, तो मैं बदला नहीं ले सकता और इस तरह तो मैं तुम्हें सपरिवार मारकर मानो मरूँगा। इसीका मुझे संतोष है। इसीसे इसने श्रीरामजी के प्रति स्नेह रखते हुए भी छल किया कि जिससे इस दुष्ट का सपरिवार नाश हो, तो मेरी दाह मिटे। श्रीरामजी के पुरुषार्थ का इसे दृढ़ निश्चय था। लौकिक स्वामी रावण से और पारलौकिक स्वामी श्रीरामजी से भी इसने आगे छल ही किया है, इसीसे इसे नीच एवं कपटी कहा गया है; यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन दे चले, गीध राज मारीच ॥" (दोहावली ३०१)।

(४) 'अस प्रिय जानि दसानन संगा।'—"तब मारीच हृदय अनुमाना।" से विचार का उपक्रम हुआ, यहाँ—'अस प्रिय जानि ···' पर उसका उपसंहार है। 'प्रेम अभंगा।'—मरते तक इसका स्नेह बना रहा; यथा—"प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥ ···अतर प्रेम तासु पहिचाना॥" (दो० २६)।

(५) 'मन अति हरष जनाव न तेही।'—श्रीरामजी के बाण से मरकर मुक्त होऊँगा, इसपर तो हर्ष है और 'आजु देखिहउँ परम सनेही।' पर 'अति हर्ष' है, क्योंकि जीव के स्त्री-पुरुष आदि स्नेही हैं और ईश्वर परमस्नेही है, वह गर्भ में भी साथ देता है। 'जनाव न तेही'—अति हर्ष को यदि रावण जान पावेगा, तो संदेह करेगा कि दुःख के समय इसे हर्ष है। अत, इसके मन में मुझसे भी छल है, मेरा कार्य न करेगा—ऐसा समझकर वह यहीं पर मुझे मार डालेगा।

रावण ने अपना मन्त्र, श्रीरामजी ने अपनी युक्ति और मारीच ने अपनी मुक्ति का योग—तीनों ने गुप्त ही रक्खा और इसीसे सफल हुए, कहा भी है—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥" (बा० दो० १६८)।

छंद—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत-पद मन लाइहउँ।
निर्बान-दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुख-सागर हरी॥
दोहा—मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन॥२६॥

अर्थ—अपने परम प्यारे को देख नेत्रों को सुफल करके सुख पाऊँगा। श्रीजानकीजी के साथ और भाई श्रीलक्ष्मणजी समेत कृपा के स्थान श्रीरामजी के चरणों में मन लगाऊँगा॥ जिसका क्रोध मोक्ष देनेवाला है और जिसकी भक्ति अवश्य ही उसे वश करनेवाली है। वे ही सुख सागर भगवान् अपने हाथों से धनुष पर बाण लगाकर मुझे मारेंगे एवं मेरा वध करेंगे॥ धनुष बाण धारण किये हुए मेरे पीछे-पीछे मुझे धरने (पकड़ने) को दौड़ते हुए प्रभु को मैं पीछे फिर-फिरकर देखूँगा—मेरे समान दूसरा धन्य नहीं है॥२६॥

विशेष—(१) 'निज परम प्रीतम ···'—और स्नेही अपने नहीं हैं, ये सदा साथ रहनेवाले सहज सनेही हैं, यथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २११)। अत, अपने हैं, इसीसे 'निज' कहा है। 'श्रीसहित ···'—पहले केवल श्रीरामजी के ही दर्शनों से सुख पाना कहा था अब तीनों को कहते हैं। यहाँ 'सहित' और 'समेत' पर्याय शब्द हैं और एक ही क्रिया में आये हैं, पर रचना क्रम में पुनरुक्ति नहीं है। भाव यह कि पहले जब मैंने देखा था, तब वे श्री (शक्ति) सहित न थे, अब शक्ति सहित देखूँगा, फिर साथ ही भाई समेत को भी देखने की लालसा हुई, जो कि पूर्व साथ थे। तब 'अनुज

समेत' भी कहा ; यथा—"तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत।" (बा० दो० ८०) इसमें भी ऐसा ही प्रयोग है।

(२) 'निर्बान दायक क्रोध'''—क्रोध से मुक्ति होगी ; यथा—'निज पानि सर संधानि''' इससे मैं भव तर जाऊँगा; यथा—'प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (दो० २२); मुक्त होकर सुख सागर हरि को प्राप्त हूँगा। निर्वाण मुक्ति में प्रभु के साधर्म्य गुणों के द्वारा सुख-सागर ही हो जाऊँगा। जैसे चन्दन के साधर्म्य (गंध-गुण प्राधान्य) से आम आदि की लकड़ी भी चन्दन ही कहाती है। पहले दर्शनों से सुख की प्राप्ति कही थी, उसका भी फल कहा —'भगति अवसहिं बस करि'। 'अवसहिं' शब्द में 'व' होता, तो अवश अर्थात् किसी के वश में न होनेवाले, श्रीरामजी का अर्थ होता, पर 'ब' है, जो श्रीगोस्वामीजी की भाषा में 'अवसि' में ही आता है। इस तरह रीझ और खीझ—दोनों का फल कहा; यथा—"रीझे बस होत खीझे देत निज धाम रे।" (वि० ७१); 'सुख सागर' के साथ 'हरी' कहा है, भाव यह कि इस निर्वाण मुक्ति से जन्म-मरण हर लेंगे;यथा—"उभय हरहिं भव संभव खेदा।" (उ० दो० ११४)।

(३) 'मम पाछे धर धावत ''' ; यथा—"कपट कुरंग संग धर धाये।" (सु० दो० ४१) अर्थात् पकड़ने को दौड़ेंगे। न पकड़ पाने पर बाण से मारेंगे, इसलिये 'धरे सरासन बान' कहा है। ऐसा ही गीता आ० ३ में कहा है—"धाये पालिबे जोग मंजु मृग मारेहुँ मजुल छाला।" पुनः 'धर धावत' का यह भी अर्थ है—मेरा पीछा धरे (पकड़े) हुए दौड़ते—जो कि शिकार की रीति है।

(४) 'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ'—दर्शनों का उत्साह बहुत है, इसीसे बार-बार कहा है; यथा—'आजु देखिहउँ'''परम प्रीतम देखि'' फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ', इत्यादि। 'धन्य न मोसम आन।' धन्य का अर्थ है—सुकृती; यथा—"सुकृती पुण्यवान् धन्य."। भगवान् के दर्शन बड़े सुकृत से होते हैं; यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥" (बा० दो० ३०१), भाव यह कि श्रीशिवजी आदि को भी ध्यान में ही जिनके दर्शन होते हैं, वे ही प्रभु मेरे पीछे-पीछे दौड़ेंगे और मैं बार-बार फिर-फिरकर प्रत्यक्ष देखूँगा। पुनः शिवादि उनके पीछे दौड़ते हैं (प्राप्त्यर्थ यत्न करते हैं) और वे ही प्रभु मेरे पीछे धावेंगे, तो मेरे समान धन्य वे भी नहीं हैं। व्यासजी ने भी महापुरुषत्व के साथ इसी छटा का ध्यान किया है ; यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्य लक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसाय-दगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (भाग० ११।५।३४)।

तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट-मृग भयऊ॥१॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक-देह मनि-रचित बनाई॥२॥
सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर बेखा॥३॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। येहि मृग कर अति सुंदर छाला॥४॥
सत्य-संध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥५॥

अर्थ—जब रावण उस बन के निकट गया, तब मारीच कपट-मृग बन गया॥१॥ वह अत्यन्त विचित्र है, कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। उसने मणियों से जटित सोने की देह बनाई है॥२॥ श्रीसीता-जी ने परम सुन्दर हिरण को देखा, उसके अंग-अंग का वेष अत्यन्त मनोहर था॥३॥ वैदेही श्रीजानकीजी

कहती हैं कि हे देव ! हे रघुवीर ! हे कृपालु ! सुनिये, इस मृग का चर्म (खाल) बड़ा ही सुन्दर है ॥४॥ हे सत्य प्रतिज्ञ ! हे प्रभो ! इसे वध करके इसका चर्म लाइये ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि बन निकट'''—पूर्व कहा—"पंचवटी बसि श्रीरघुनायक।" (दो० २०); यहाँ उसे ही 'तेहि' कहा है। 'निकट' का भाव वाल्मी० अ० स० ४२।१३ में कहा गया है कि रावण ने जहाँ से श्रीरामजी का केले से घिरा हुआ आश्रम देखा, वहीं रथ से उतरकर मारीच को उसे दिखाया और तब वहीं पर मारीच कपट मृग बना। रावण ने कहा था—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी।" अतएव वह मृग बना ; यथा—"तब मारीच कपट मृग भयऊ।" मृग ही बना, क्योंकि इस कला में वह कुशल था, इस रूप से श्रीसीताजी के निकट आ सकेगा। उन्हें इससे भय न होगा, तभी देखकर मोहित होंगी और इसका चर्म भी काम का होता है, शूकर आदि का नहीं।

(२) 'अति बिचित्र कछु'''—मृग प्रायः सोने के रंग के होते हैं, अतः देह सोने की ही बनाई और उसमें रंग-विरंग की मणियों की अत्यन्त विचित्रता रची। अत्यन्त विचित्र होता तो कुछ कहा भी जाता, यह तो 'अति विचित्र' है।

(३) 'सीता परम रुचिर मृग देखा।'—यद्यपि वह मृग आश्रम के सभी ओर फिरता था, तथापि उसे श्रीराम-लक्ष्मणजी ने नहीं देखा, सम्भवतः ये पर्णशाला के भीतर थे—"श्रीजानकीजी पुष्प तोड़ती थीं, उधर ही वह बार-बार गया, अतः, उन्हीं की दृष्टि पड़ी।" (वाल्मी० ३।४२।२१-२२)। यह भी कहा जाता है कि माया का मृग 'माया-सीता' की ही दृष्टि में पड़ा।

'परम रुचिर मृग'''; यथा—"उसके सींग इन्द्रनीलमणि के समान थे, मुख कहीं श्वेत और कहीं काला था, लाल कमल के समान मुख, नील-कमल के समान दोनों कान, गर्दन कुछ ऊँची थी, वैदूर्य मणि के समान खुर, इन्द्र-धनुष के समान उसकी पूँछ उठी थी। वह चाँदी के सैकड़ों बिन्दुओं से चित्रित था। सर्वांग नाना धातुओं से चित्रित दर्शनीय और मनोहर रूप था। इत्यादि" (वाल्मी० ३।४२); 'अंग अंग सुमनोहर बेषा।'; यथा—"अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे॥" (वाल्मी० ३।४३।१५) अर्थात् अहा कैसा रूप है, कैसी शोभा है, कैसी सुन्दर बोली है ! विचित्रांग यह अद्भुत मृग मेरा मन हर रहा है। फिर इसी सर्ग में श्रीरामजी ने भी बहुत वर्णन किया है।

(४) 'सुनहु देव रघुबीर कृपाला।'''—'देव' अर्थात् दिव्य-दृष्टि हो इससे जानते ही हो कि यह राक्षस मृग बनकर आया है। 'रघुबीर' हो, अतः दुष्टों का वध करना ही है। 'कृपाला' हो, अतः दुष्टों को मारकर मुनियों पर कृपा करना ही है। यह मुनि-द्रोही है ; यथा—"लै सहाय धावा मुनि-द्रोही।" (बा० दो० २०६); अथवा इसपर कृपा करके मारकर इसे मुक्ति दीजिये। मुझे भी चर्म ला दीजिये।

(५) 'सत्य-संध प्रभु बध करि येही।'''''—आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे पूरा करें और इसका चर्म लाने की भी प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करें। यदि आप कहें कि यह तो माया का है ; अतः, चर्म कैसे मिलेगा ? उसपर कहती हैं—'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं। अतः, उस चर्म को भी सत्य कर सकते हैं। 'कहति बैदेही'—वैदेही शब्द से लक्षित कराते हैं कि ये प्रतिबिंब-रूपा हैं, इसीसे आग्रह कर रही हैं। वास्तविक-रूप से पति से ऐसो हठ न की जाती ; यथा—"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥" (वाल्मी० ३।४३।२१) अर्थात् अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये मैं आपसे यह जो कह रही हूँ, यह कठोर है और

स्त्रियों के लिये अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, फिर भी इस मृग के देखने से मुझे नितान्त कुतूहल उत्पन्न हो गया है। यह श्रीजानकीजी का ही वचन है।

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर-काज सँवारन ॥६॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥७॥
प्रभु लछिमनहिं कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥८॥
सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥९॥
प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाये राम सरासन साजी ॥१०॥
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया-मृग पाछे सो धावा ॥११॥

शब्दार्थ—परिकर = कमर का फेंटा। साँधा = बाण को धनुष के रोदे पर चढ़ाया।

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी जो सब कारण जानते हैं, हर्षपूर्वक देव-कार्य बनाने के लिये उठे ॥६॥ मृग को देखकर कमर का फेंटा बाँधा और हाथों में सुन्दर धनुष लेकर उसपर सुन्दर बाण चढ़ाया ॥७॥ प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी से समझाकर कहा कि हे भाई! वन में बहुत-से निशाचर फिरते हैं ॥८॥ तुम बुद्धि, विवेक, बल और समय का विचार करके श्रीसीताजी की रखवाली करना ॥९॥ प्रभु को देखकर मृग भाग चला, श्रीरामजी ने धनुष सजा (रोदा चढ़ा) कर उसका पीछा किया ॥१०॥ वेद जिसे नेति कहते हैं, श्रीशिवजी जिसको ध्यान में नहीं पाते, वही प्रभु माया-मृग के पीछे दौड़े ॥११॥

विशेष—(१) 'जानत सब कारन'—प्रभु सब जानते हैं कि यह मारीच है और वहाँ रावण भी आया है। वाल्मीकीय रामायण में तो श्रीलक्ष्मणजी ने और श्रीरामजी ने भी स्पष्ट कहा है कि यह मारीच है, इसे तो मुझे मारना ही है, इत्यादि आगे भी कहा गया है; यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (कि० दो० २२)। 'उठे हरषि सुर···'—दूर जाने से रावण आवेगा और श्रीसीताजी का हरण करेगा, तब देव-कार्य सिद्ध होगा। इसलिये दूर तक दौड़कर जाने के लिये परिकर बाँधते हैं। 'रुचिर सर साँधा'—मृग रुचिर है; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" कहा गया। उसके मारने को बाण भी रुचिर ही अनुसंधान करते हैं कि जिससे उसके मायिक शरीर समेत सत्य शरीर को भी वेध दे। श्रीरामजी रुचिर-प्रिय हैं ही, यह पहले लिखा गया है।

(२) 'प्रभु लछिमनहिं·· बुधि बिबेक बल समय बिचारी।' श्रीलक्ष्मणजी को यही समझाया कि समय विचारना यही है कि हमसे रावण से वैर हो चुका है, छल रूप से कोई आवे, तो बुद्धि-विवेक से विचार लेना और सामना करे तो बल से काम लेना। इन बुद्धि आदि से विचार कर काम करने से कोई भी कठिन कार्य हो सकता है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥ कौन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥" (कि० दो० २९)। ये इन बुद्धि आदि से रक्षा का कार्य करेंगे, आगे दो० २७ चौ० ६ पर लिखा जायगा।

(३) 'प्रभुहि बिलोकि चला···'—प्रभु ने मृग को देखा और मृग ने प्रभु को; यथा—"मृगबिलोकि कटि परिकर बाँधा।" तथा—"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।" अर्थात् एक ने दूसरे को देख लिया

और दोनों सावधान हो गये। मारीच ने पहले कहे हुए—"फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ" को भी चरितार्थ किया। 'धाये राम सरासन साजी।' पहले—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" कहा गया था, पर श्रीलक्ष्मणजी को समझाने के समय उतार लिया था, क्योंकि अंगुल्यानिर्देश करना था, इसीसे अब फिर 'सरासन साजी' कहा गया।

(४) 'निगम नेति सिव···'—वेद की वाणी और शिवजी के मन के द्वारा भी ध्यान के विषय नहीं हैं। ध्यान मन से होता है; यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह।" (बा० दो० १११)। वेद की वाणी सर्वश्रेष्ठ है और श्रीशिवजी का मन भी परम स्वच्छ है, तब भी उन्हें दुर्लभ हैं; यथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तै० २।४)। तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४१)। भाव यह कि आप कृपा करके ही वाणी और मन के विषय होते हैं।

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई॥१२॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी॥१३॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा॥१४॥
लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा॥१५॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥१६॥
अंतर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना॥१७॥

दोहा—बिपुल सुमन सुर बरषहिं, गावहिं प्रभु-गुन-गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ॥२७॥

अर्थ—कभी समीप आ जाता और फिर दूर भागता, कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता॥१२॥ इस तरह प्रकट होते, छिपते एवं बहुत छल करते हुए वह प्रभु को दूर ले गया॥१३॥ तब श्रीरामजी ने ताककर कठिन बाण मारा, (जिससे) वह जोरों से पुकार (चीत्कार) करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा॥१४॥ पहले श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पीछे मन में श्रीरामजी का स्मरण किया॥१५॥ प्राण छोड़ते समय अपनी (राक्षसी) देह प्रगट की और स्नेह-सहित श्रीरामजी का स्मरण किया॥१६॥ सुजान प्रभु ने उसके अंतःकरण का प्रेम पहचान कर उसे मुनि-दुर्लभ मुक्ति दी॥१७। देवता (भी) बहुत फूल बरसाते हैं और प्रभु के गुणों की कथा गा रहे हैं, श्रीरघुनाथजी ऐसे दीनबंधु हैं कि असुर को अपना पद दिया॥२७॥

विशेष—(१) 'कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई।'—यह काम शरीर का है और—'कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई।'—यह माया से कर रहा है। निकट आ जाता है कि निराश होकर लौट न जायँ, दूर भागता है कि कहीं यहीं पर न मार दें। इसी तरह आशा देने को प्रकट होता है और

जाता है। 'करत छल भूरी'—क्योंकि रावण ने कहा था—"होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी।" वही चरितार्थ कर रहा है। इसी तरह प्रभु को दूर ले जाना था, वही—'गयो ले दूरी।' से कहा गया है।

(२) 'तब तकि राम कठिन ''''—'तब' अर्थात् जब जान लिया कि इतना दूर आने पर रावण का कार्य भली भाँति हो जायगा, तब—'कठिन सर'—जिससे न बच सके। 'घोर पुकारा'—चीत्कार के साथ कौन शब्द कहा, वही आगे कहते हैं—

(३) 'लछिमन कर प्रथमहिं ''''—प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को श्रीसीताजी की रखवाली में रक्खा था, इसलिये पहले उन्हीं का नाम लिया कि जिससे वे घबड़ाकर चले आवें। यह भी श्रीरामजी के स्वर से मिलते आर्त्त-स्वर में कहा; यथा—"रघुबर दूरि जाइ मृग मार्‌यो। लखन पुकारि राम हरए कहि मरतहूँ बैर सँभार्‌यो॥ सुनहु तात! कोउ तुम्हहिं पुकारत प्राननाथ की नाईं।" (गी० अ० १) छल के लिये श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पुकारा और मुक्ति के लिये मन में श्रीराम-नाम का स्मरण किया; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (दो० ३०); 'प्रान तजत प्रगटेसि'''—स्वामी का कार्य साधकर छल छोड़ दिया, वा बेहोशी में छल छूट गया, तो उसका निज शरीर प्रकट हो गया। 'सुमिरेसि राम'''—अब केवल स्नेह से श्रीराम-नाम का स्मरण किया।

(४) 'अंतर-प्रेम तासु'''—इसने तन से छल किया—कपट मृग बना, फिर वचन से भी छल किया—श्रीलक्ष्मणजी को नाम श्रीरामजी के स्वर में पुकारा। केवल मन शुद्ध है, उसी में प्रेम है, उसे ही श्रीरामजी ने पहचाना और मुनि-दुर्लभ गति दी। कहा ही है—"रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥" (बा० दो० २८); "बचन बेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन सों जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४); इत्यादि चरितार्थ हैं। 'सुजाना'—मन की शुद्ध भावना जान लेने के कारण 'सुजान' कहा है; यथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१६)।

(५) 'बिपुल सुमन सुर'''—'गुनगाथ'—उत्तरार्द्ध में कहा है कि असुर को भी अधमोद्धारणादि गुणों से प्रेरित हो निज पद दिया। असुर था, इससे गो-ब्राह्मण द्रोही और हिंसक था, वैसे को भी मुक्ति दी। 'दीनबंधु'—वह परमार्थ-साधन-संपत्ति से रंक एवं दीन था, उसके सहायक हुए।

मृग-चर्म के लिये भेजते हुए श्रीसीताजी ने जो-जो विशेषण दिये थे, वे सभी चरितार्थ हुए हैं—
देव—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥"
रघुबीर—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।"
कृपाला—"निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ।"
सत्यसंध—"तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ'''"

प्रभु—चर्म भी लाये, आगे वही बिछाया गया है—"तापर रुचिर मृदुल मृगछाला।" (लं० दो० १०); पुनः—"हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुल मनि लखन ललित कर लिये मृगछाला।" (गी० आ० ६)।

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा॥१॥
आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥२॥

जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ॥३॥
भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई । सपनेहु संकट परइ कि सोई ॥४॥
मरम बचन जब सीता बोला । हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला ॥५॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन ससि राहू ॥६॥

अर्थ—दुष्ट को मारकर रघुवीर श्रीरामजी तुरत लौटे, उनके हाथों में धनुष और कमर में तर्कश शोभा पा रहे हैं ॥१॥ जब श्रीसीताजी ने आर्त्त-वाणी सुनी, तब वे अत्यन्त डरकर श्रीलक्ष्मणजी से बोलीं ॥२॥ शीघ्र जाओ, भाई पर अत्यंत संकट है, श्रीलक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे माता ! सुनिये ॥३॥ जिसकी भौं फिरने से सृष्टि का नाश होता है, क्या उसे स्वप्न में भी संकट पड़ सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं ॥४॥ जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन कहा, तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीलक्ष्मणजी का मन डाँवाँडोल (अस्थिर) हो गया ॥५॥ वन और दिशा के सब देवताओं एवं और पशु-पक्षी आदि सब प्राणियों को सौंपकर श्रीलक्ष्मणजी वहाँ को चले, जहाँ रावण रूपी चन्द्रमा को (ग्रसनेवाले) राहु श्रीरामजी थे ॥६॥

विशेष—(१) 'खल बधि तुरत ···'— ऊपर कहा गया कि इसने मरने तक वचन और तन से छल नहीं छोड़ा। इसीसे वक्ता लोग मुक्त होने पर उसे खल ही कहते हैं, श्रीरामकृपा से मुक्ति हो जाती है, पर कुनाम रहता है। 'तुरत फिरे'—क्योंकि उसके पुकारने के शब्दों से आश्रम पर छल होने की शंका हुई; यथा—"हा सीते ! हा लक्ष्मण ! ऐसा जोर से चिल्लाकर यह राक्षस मरा है, यह सुनकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की क्या दशा हुई होगी ? यह सोचकर श्रीरामजी के रोएँ खड़े हो गये। वे दुखी एवं भयभीत हुए।···" (वाल्मी० ३।४४।२४–२६)। इसीसे शीघ्र ही फिरे। खल का वध किया, इससे 'रघुबीरा' कहा और इसीसे चाप, बाण एवं तर्कश का सोहना कहा गया।

(२) 'आरत गिरा सुनी जब सीता।···'—'आरत गिरा' अर्थात् त्राहि-त्राहि लक्ष्मण,- यथा—"त्राहि त्राहि दयालु रघुराई ॥···—सुनि कृपालु अति आरत बानी।" (दो० १); "प्रनत पाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैंगे तोहि ॥" (सुं० दो० २०); यह भी श्रीरामजी के-से स्वर में कहा, यथा "आर्त्तस्वरं तु तं भर्त्तुर्विज्ञाय सदृशं वने। उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीह राघवं ॥" (वाल्मी० ३।४५।१); 'परम सभीता'—भर्त्ता के शब्द हैं और अति संकट के हैं, यह समझकर देह काँपने लगी, रोएँ खड़े हो गये। 'संकट अति'—जब जान लिया कि वे तुम्हारी सहायता बिना नहीं बच सकते, तब ऐसे आर्त्त स्वर से पुकार की है ; अतः, शीघ्र जाओ।

(३) 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता।'—'बिहँसना श्रीसीताजी की असंभव बात पर है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी जानते हैं कि श्रीरामजी पर संकट नहीं पड़ सकता और ये शब्द भी श्रीरामजी के नहीं; किन्तु राक्षस मारीच के हैं; यथा—"न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः ॥ गंधर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।" (वाल्मी ३।४५।१६–१७), इनके हँसने पर श्रीसीताजी बुरा न मानें इसलिये'माता' कहा है।

(४) 'भृकुटि बिलास सृष्टि···' भौंह के इशारे मात्र से संसार भर नाश हो जाता है, तब उनके शरीर के बल का क्या कहना है ? यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लराई ॥" (लं० दो० ४४)। इस एक ही अर्द्धाली में वाल्मी० ३।४५।१०–१५ के भावों से अधिक भाव कह दिया गया।

(५) 'मरम बचन जब सीता बोला। ···'—मर्म वचन वाल्मी० ३।४५।२१-२७ में लिखे गये हैं, यहाँ श्रीगोसाईंजी ने उन्हें लिखना नहीं चाहा, इसीसे शब्द की ध्वनि मात्र से जना दिया कि श्रीलक्ष्मणजी के हँसने पर उन्होंने और भाँति की तर्कना की कि भर्त्ता के दुःख में इसे हर्ष हुआ, तो यह अवश्य उनका अनिष्ट चाहता है। मर्म वचन के शब्द से भी जनाया है कि वे वचन श्रीलक्ष्मणजी के कानों में बाण की तरह लगे हैं और हृदय में घाव कर दिये हैं, यथा—"न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे॥ श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराच संनिभम्।" (वाल्मी० ३।४५।१०-११); उन परुष वचनों से श्रीलक्ष्मणजी के रो‍ँ खड़े हो गये; यथा—"इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम्।" (वाल्मी० ३।४५।२७), 'सीता बोला'—इन दिनों हिन्दी में 'बोलना' क्रिया के साथ ने चिह्न का प्रयोग नहीं है। परन्तु श्रीगोसाईंजी के प्रयोग 'सीता बोला' पर विचार करने से हिन्दी का उपर्युक्त नियम कट जाता है। यहाँ श्रीरामचरितमानस में 'ने' का प्रयोग कहीं भी नहीं मिला है, परन्तु इस जगह (जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन बोला) यह ध्वनि निकलती है कि उस समय 'बोलना' में ने चिह्न का प्रयोग होता था। अभी भी कतिपय विद्वानों के लेखों में 'ने' का प्रयोग दीख पड़ता है। जैसे—श्रीरामचन्द्रजी ने झूठ नहीं बोला (रामजीलाल शर्मा), उन्होंने कभी झूठ नहीं बोला (बाल-विनोद); उसने कई बोलियाँ बोलीं। (पं० अ० प्र० वाजपेयी)।

'हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला।'—प्रभु ने दृढ़ता-पूर्वक आज्ञा दी थी कि श्रीसीताजी की रखवाली करना और उन्हें श्रीरामजी की प्रभुता पर भी दृढ़ विश्वास था, तब क्यों गये ? वहीं पर आस-पास छिपे रहते—ऐसी शंका जो कोई करे, तो उसका यही समाधान है कि स्वयं श्रीलक्ष्मणजी ने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, किन्तु लीलानुरोध से भगवान् ने ही उनसे ऐसा कराया। पुनः यह भी भाव है कि भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती, प्रभु ही प्रेरणा करके उनसे कुछ भी कराते हैं। 'मन डोला'—प्रभु की आज्ञा पर अटल थे, उससे चलायमान हो गये। श्रीसीताजी को छोड़कर श्रीरामजी के पास जाने की इच्छा हुई।

(६) 'बन दिसि देव सौंपि ···'; यथा—"रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।" (वाल्मी० ३।४५।३२); श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—"सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥" (दो० २६); समय पर इन्होंने वैसा ही किया भी; यथा—"बन दिसि देव सौंपि ··" में बुद्धि से रक्षा करना, "भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।···"—में विवेक से और रेखा के भीतर श्रीसीताजी को रखना; यथा—"रामानुज लघुरेख खँचाई। सोउ नहिं लाँघेउ असि मनुसाई॥" (लं० दो० ३५); यह बल से रक्षा करना है।

शंका—तब वन और दिशा के देवताओं ने क्यों न रक्षा की ? यदि रावण से असमर्थ थे, तो श्रीलक्ष्मणजी ही को क्यों न जना दिया ? कि वे बीच से ही लौटकर बचा लेते और प्राणियों ने कुछ न किया ?

समाधान—देवता लोग रावण का सपरिवार नाश कराना चाहते थे। अभी कहते, तो केवल रावण ही मारा जाता, और चराचर प्राणी उससे डर गये।

(७) 'चले जहाँ रावन ससि राहू।'—रावण को चन्द्रमा कहा है, क्योंकि चन्द्रमा भी 'निशि चर' है और रावण की तरह 'कुल-कलंक' भी है; यथा—"रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥" (सु० दो० २१); तथा—"दिन मलीन सकलंक" (बा० दो० २३७)। चन्द्रमा गुरु-तिय-गामी है, वैसे यह भी जगज्जननी का हरनेवाला है। पूर्ण चन्द्र को राहु ग्रसता है, वैसे ही अब

रावण का भी भोग पूरा हो गया। अतः इसे श्रीरामजी नाश करेंगे। राहु का अपराध पहले चन्द्रमा ने किया था, वैसे ही श्रीरामजी का अपराध रावण कर रहा है। इसीके फल-रूप में मारा जायगा।

सूर्य को भी राहु ग्रस लेता है, पर उसकी उपमा न दी, क्योंकि उपर्युक्त धर्म न आते और यह विरोध भी होता कि सूर्य-कुल के सूर्य श्रीरामजी ही इसे मारेंगे और इसका तेज हरेंगे ; यथा—"तासु तेज समान प्रभु आनन।" (लं० दो० १०१), सूर्य चन्द्रमा की छवि हरते हैं ; यथा—"प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही।" (अ० दो० २०८), "ससि छवि हर रवि ··" (दोहावली ३२३)।

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेखा ॥७॥
जाके डर सुर-असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥८॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥९॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥१०॥

शब्दार्थ—सून (शून्य) = सूना, एकान्त, वा शून्याकार (०) की रेखा। बीच = अवसर, मौका।

अर्थ—इसी अवसर पर सूना आश्रम देखकर रावण यती के वेष में समीप आया ॥७॥ जिसके डर से देवता दैत्य डरते हैं, रात में नींद नहीं पड़ती और दिन में अन्न नहीं खा पाते ॥८॥ वही दस सिर वाला रावण कुत्ते की तरह इधर-उधर ताकता हुआ चोरी के लिये चला ॥९॥ हे पक्षिराज गरुड़ ! इसी तरह कुमार्ग में पैर रखते ही तन में तेज, बुद्धि और बल लेश मात्र भी नहीं रह जाते ॥१०॥

विशेष—(१) 'सून बीच दसकंधर देखा'—देखा कि दोनों भाई अब दूर निकल गये, आश्रम पुरुषों से शून्य है। अतः, हरण करने का अवसर है, यथा—"सठ सूने हरि आनेहि मोही।" (सुं० दो० ८); वा, शून्य (०) = रेखा के बीच में देखा। अतः, उसमें से बाहर निकालने के लिये यति-वेष में आया ; यथा—"स व्याहरद्भिक्षि देहि भिक्षामलंघयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम्। जग्राह ··" (हनुमन्नाटक अ० ४) ; अर्थात् रावण के भिक्षा माँगने पर श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी के धनुष के द्वारा चिह्नित रेखा का उल्लंघन किया, त्योंही रावण ने उनका हरण किया। तथा—"रामानुज लघु रेख ··" ऊपर कहा गया है। 'दसकंधर देखा'—अर्थात् दसों दिशाओं में दसों ग्रीवाओं को उठाकर देखता था। इससे यह भी जाना गया कि वह सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ, कहीं पास से ही श्रीलक्ष्मणजी का रेखा-खींचना आदि सब देखता था और इसीसे वह श्रीसीताजी को वहाँ से निकालने के लिये यती बनकर आया कि भिक्षा माँगूँगा और रेखा के भीतर की भिक्षा को बँधी भिक्षा कहकर न लूँगा, तब वे बाहर निकलेंगी। और तप पर सन्देह से बाहर न होंगी। पुन जिस कल्प में जलंधर रावण हुआ, उसमें वृंदा का भगवान् के प्रति ऐसा शाप भी था कि तुमने हमको यती-रूप से छला है। अतः, इसी वेष से हमारा पति भी तुम्हारी स्त्री को हरेगा।

(२) यती का वेष ; यथा—"श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत।" (वाल्मी० ३।४६।३-४) ; अर्थात् उज्ज्वल काषाय (गेरुआ) वस्त्र पहने हुए था, शिर पर शिखा थी, छाता और जूता धारण किये हुए था। बायें कंधे पर उत्तम दंड और कमंडलु धारण किये हुए था। संन्यासी के रूप में वह श्रीसीताजी के पास गया। पुनः महाभारत वन-पर्व अ० २७६ में इसका यति वेष धारण करने में त्रिदंड-धारण करना भी लिखा है। इससे वैष्णव-संप्रदाय के संन्यासी सनातन से होते आ रहे हैं। कुछ श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों से ही

इस प्रथा का मानना भारी भूल है। इससे भी पहले सत्ययुग में भी ध्रुव-प्रह्लादजी को मंत्र दीक्षा की प्राप्ति सुनी जाती है। श्रीरामतापनीयोपनिषद् में भी कहा है; यथा—"मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयं। उपदेक्ष्यसि मन्मंत्रं स मुक्तो भविता शिव ॥" यह श्रीरामजी ने कहा है ; इत्यादि बहुत प्रमाण हैं।

(३) 'जाके डर सुर असुर डेराहीं।'—सुर से स्वर्ग और असुर से पाताल को कहा, मर्त्यलोक नहीं कहा गया। क्योंकि देवता और दैत्यों के समक्ष में नर की कोई गिनती ही नहीं ; यथा—"जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं ॥" (सुं॰ दो॰ २६)।

(४) 'सो दससीस स्वान की नाईं।···'—कुत्ते की चोरी को भँड़िहाई कहते हैं, वह चोरी करने चलता है, तो इधर-उधर भय से ताकता रहता है। रावण यती के वेष में कुत्ते का-सा काम करता है, इससे इसकी कीर्त्ति नष्ट हो जायगी और विजय न होगी ; यथा—"सादूल को स्वाँग करि कूकर की करतूति। तुलसी तापर चहत हैं, कीरति विजय बिभूति ॥" (दोहावली ४१२)।

(५) 'इमि कुपंथ पग देत······'—'कुपंथ'—श्रीसीताजी की चोरी करना कुमार्ग पर चलना है; यथा—"रे त्रिय चोर कुमारग गामी।" (लं॰ दो॰ ३१), इससे रावण का तेज नाश हुआ, इसीसे डरता हुआ वह चोर की तरह जा रहा है; यथा—"सो दससीस स्वान की "। बल का नाश, यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी ॥" (लं॰ दो॰ २१) ; बुद्धि का भी नाश हो गया, क्योंकि समझता है कि श्रीसीताजी का कोई पता ही न पावेगा; पुनः श्रीरामजी राजकुमार ही तो हैं, पता लेकर जायँगे भी तो उन्हें जीत लूँगा।

बुद्धि, बल और तेज के नष्ट हो जाने से इसे विजय नहीं मिल सकती ; यथा—"बुधि बल सकिय जीति जाही सों।"(लं॰ दो॰ ५),"देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।" (सुं॰ दो॰ १७ ; रावण प्रतापी राजा था, पर इस हीन कर्म से उसके तेज और बल नष्ट हो गये; अतः, चोर की तरह जा रहा है।

नाना बिधि करि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई ॥११॥
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥१२॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की सुन्दर कथाएँ रचकर कहीं, राजनीति, भय और प्रीति दिखाई ॥११॥ श्रीसीताजी ने कहा—हे यती गोसाईं ! सुनो, तुम दुष्ट की तरह वचन बोल रहे हो ॥१२॥ तब रावण ने अपना रूप दिखाया और जब नाम भी सुनाया, तब वे डर गईं ॥१३॥

विशेष—(१) 'नाना बिधि करि ·····'—'कथा सुहाई' से शृंगार रस की कथाएँ सूचित कीं। श्रीसीताजी के अंगों की शोभा कही, फिर प्रेमी और प्रेमिकाओं को कथाएँ कहीं। फिर इन्हें राज्य-सुख भोग का प्रलोभन दिया।

(२) 'राजनीति भय प्रीति दिखाई।'—राजनीति की दृष्टि से राज्य मात्र का रत्न राजा का होता है। तुम स्त्रियों में उत्तम रत्न हो, इससे तुम्हारे पास हम आये हैं, हमारे साथ चलो। तुम्हारे भर्त्ता नीति नहीं जानते, तभी तो वहाँ राज्य से च्युत हो गये, तब वन आये। यहाँ भी तुम्हें अकेली छोड़कर चले गये, इत्यादि। भय—यह तो निशाचरों का स्थान है, यहाँ तुम्हारे लिये भ[illegible] रों बाघ, सिंह

आदि भयंकर जीव रहते हैं। अतः, यह तुम्हारे रहने योग्य नहीं है। प्रीति—तुम तो राजमहलों में रहने के योग्य हो, चलकर हमारी लंका को स्वामिनी बनो। वहाँ का राज्य-तिलक पाकर हमारे साथ सुशोभित होओ, हमारी सब स्त्रियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, हम सब प्रकार से रक्षा करेंगे, इत्यादि दोनों दिखाया; यथा—"भय अरु प्रीति नीति देखराई।" (कि॰ दो॰ १८)।

(३) 'कह सीता सुनु जती......'—'गोसाईं' अर्थात् यती तो इन्द्रियजित होते हैं, उनको तो पर-स्त्रियों में माता का भाव रहता है; पर तुम तो दुष्टों के-से वचन कह रहे हो। श्रीसीताजी साधु को इतना मानती हैं कि उसके दुष्ट वचन सुनकर भी वेष की मर्यादा रखती हुई उसके वचन-मात्र को 'दुष्ट के-से' कहती हैं, यह भी नहीं कहा कि तू दुष्ट है।

(४) 'तब रावन निज रूप ......'—जब हमारे यती-रूप के कारण से हमारे वचन को अयोग्य मानती हो, तब अब हम अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हैं, इसे ग्रहण करो। इस रूप से हम तीनों लोक के राजा हैं। 'भई सभय जब नाम सुनावा'—नाम सुनने से अधिक भय हुआ, क्योंकि इसके नाम और दुष्टता को सुन चुकी थीं। इसका नाम रूप की अपेक्षा अधिक भयंकर भी था; यथा—"सीधौं श्रवन सुने नहिं मोहीं। देखउँ अति असंक सठ तोहीं॥" (सु॰ दो॰ १०)।

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा॥१४॥
जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भयेसि कालबस निसिचर-नाहा॥१५॥
सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महँ चरन बंदि सुख माना॥१६॥

दोहा—क्रोधवंत तब रावन, लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन-पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाइ॥२८॥

अर्थ—श्रीसीताजी ने विशेष धैर्य धारण कर कहा कि अरे दुष्ट! खड़ा रह, प्रभु आ गये॥१४॥ सिंह की स्त्री को चाहनेवाले खरगोश के जैसे तुच्छ निशाचरराज! तू काल के वश हुआ है॥१५॥ वचन सुनते ही रावण क्रुद्ध हुआ, पर मन में चरणों की वंदना करके सुखी हुआ॥१६॥ तब क्रोध से भरे हुए रावण ने उन्हें रथ में बैठा लिया और वह आकाश-मार्ग से शीघ्रता एवं व्याकुलता के साथ चल दिया, भय के मारे उससे रथ हाँका नहीं जाता था॥२८॥

विशेष—(१) 'कह सीता धरि धीरज गाढ़ा।'—उसके रूप और नाम से अत्यंत डर गई हैं, इसीसे बहुत भारी धैर्य धरने पर बोल सकीं। 'आइ गये प्रभु'—अर्थात् तुम्हें दंड देने में वे पूर्ण समर्थ हैं। रावण ने इन्हें भय दिखाया था; यथा—"राजनीति भय प्रीति देखाई।" वैसे ये भी उसे भय दिखाती हैं; या—"आइ गये प्रभु ..." इसका प्रभाव भी पड़ा—"भय रथ हाँकि न जाइ।" तुरत कहा है। 'खल रहु ...'—साधु वेष छोड़ने पर अब उसे खल कहती हैं।

(२) 'जिमि हरि बधुहि छुद्र सस ...'—प्रभु कैसे दंड दे सकते हैं, यही दिखा रही हैं कि सिंह की स्त्री के चाहने पर खरगोश की जैसी दुर्दशा हो, वैसी ही तेरी दशा होगी। श्रीसीताजी ने पहले भी कहा था—"को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंह बधुहि जिमि ससक सियारा॥" (अ॰ दो॰

६१); उन्हीं बातों को अवसर पर यहाँ भी कहा। 'निसिचर-नाहा'—भाव यह कि तू स्वजनों एवं आश्रितों के साथ नाश होगा ; यथा—"काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३१), "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥" (सुं० दो० ३५)।

(३) 'सुनत बचन दससीस रिसाना।…'—श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को 'सिंह' और इसे 'क्षुद्र शश' कहा। इस वचन पर उसे क्रोध हुआ ; यथा—"आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥" (सु० दो० ९); रावण मानी है, इससे मान-हानि पर उसे क्रोध हुआ।

(४) 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना।'—श्रीसीताजी के पातिव्रत्य पर चकित होकर रावण ने मानसिक प्रणाम किया कि पतिव्रता को अपने धर्म का ऐसा ही गर्व होना चाहिये। यह—"डाटे पै नव नीच।" (सुं० दो० ५८); की रीति का प्रणाम है। मान-भंग की लज्जा से किया हुआ प्रणाम है। भक्ति-भाव का नहीं, क्योंकि सुष्ठु हृदय एवं भक्ति से प्रणाम करता, तो फिर देवी की शरण होकर क्षमा माँगता। तुरत ही क्रोध और भय कैसे होते ? ये सकामता-बिना नहीं हो सकते। आगे भी श्रीसीताजी को शिर काटने की धमकी देगा। पुनः श्रीरामजी से जीतने के लिये यज्ञ भी करेगा। सेतु-बंधन सुनकर घबड़ा गया, इत्यादि बहुत से मानसिक विकार हुए, जिससे उसकी मानसिक भक्ति खंडित हो जाती है।

(५) 'क्रोधवंत तब रावन, लीन्हेसि रथ…'—किस तरह रथ में बैठाया, इस विषय में मतभेद है, सर्वमत रखते हुए यहाँ रथ में बैठाना ही कहा गया है। 'भय रथ हाँकि न जाइ'—श्रीसीताजी ने कहा था—'आइ गयउ प्रभु…' उसीका भय है; यथा—"भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।" (अ० दो० २४); डर से सर्वांग शिथिल पड़ गये, हाथ काम नहीं देते। रथ यहाँ पहले न था, समय पर स्मरण करके मायामय रथ मँगा लिया ; यथा—"स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः। प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥" (वाल्मी० ३।४२।१६)।

सीता-हरण के हेतु

भगवान् के चरित के अनेक हेतु होते हैं। उनकी ही कृपा से सब कोई यथा-मति अनुमान करते हैं। श्रीसीताजी श्रीरामजी की आदि शक्ति हैं, तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं। माधुर्य में दोनों पति-पत्नी-भाव से विराजमान् हैं। वास्तविक दृष्टि से आप दोनों में कभी वियोग होता ही नहीं। पर नर-नाट्य में इन सती-शिरोमणि का भी हरण होता है और वियोग में श्रीरामजी रोते हैं, इत्यादि। यह चरित जान-बूझकर किया भी जाता है; यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काज सँवारन॥" (दो० २६); वाल्मीकीय रामायण में भी श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार चेताया है कि यह मारीच की माया है, श्रीरामजी ने भी अपना जानना स्पष्ट कर दिया है। इस ग्रंथ में श्रीसीताजी से भी ऐकान्तिक-सम्मत करना स्पष्ट है। वाल्मी० सुं० सर्ग २२ में श्रीसीताजी ने रावण से कह भी दिया है कि मैं अपने तेज से तुझे जला सकती हूँ, पर श्रीरामजी की आज्ञा नहीं है, इत्यादि। तब हरण-लीला के कौन हेतु हैं ? इसपर कुछ हेतु लिखे जाते हैं—

(क) दंडकवन के ऋषियों ने शरणागति की और अपने दुःख सुनाये। इसपर श्रीरामजी ने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की, वाल्मी० ३।६।२५ तथा मानस में भी "भुज उठाय पन कीन्ह" कहा है। इसपर वाल्मी० आ० सर्ग ९ में—'श्रीसीताजी ने श्रीरामजी से कहा कि मनुष्यों की इच्छा से उत्पन्न तीन दोष होते हैं—एक तो मिथ्या वचन, पुनः इससे भी बड़े दो और हैं—पर-स्त्री में भार्या का भाव और बिना विरोध

के क्रूर कर्म करना। इनमें मिथ्या-भाषण और पर-स्त्री की चाह तो आपमें स्वप्न में भी नहीं है, पर तीसरे का संयोग आ बना है, जो आपने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है। राक्षस लोगों ने आपका अपराध नहीं किया, फिर भी उन्हें मारेंगे, तो आपका चरित्र दूषित होगा। अतः, आपका शस्त्र साथ रखना ही ठीक नहीं, तपस्वि-वेष के साथ यह अनुचित है, इसपर आपने एक इतिहास कहा। तब श्रीरामजी ने यही कहा कि मैं शस्त्रास्त्र साधुओं की रक्षा के लिये रखता हूँ कि वे दुःखद वचन सुनावें, तो इनसे उनकी रक्षा करूँ और इसीपर मैंने प्रतिज्ञा कर ली, अब उसे छोड़ नहीं सकता, इत्यादि"।

तब श्रीसीताजी ने हृदय से निश्चय किया कि ऐसा संघटन हो कि राक्षस लोग मेरा हरण करें और इससे दोषी बनें, क्योंकि परस्त्री-हरण आततायीपन है। फिर मुझे न छोड़ने के विचार से युद्ध का सामना करके लड़ेंगे तब मारे जाने पर भर्ता का यश निर्मल रहेगा। इसलिये जान-बूझकर श्रीमहाराणीजी ने यह लीला की है।

इसी तरह दूसरी बार वाल्मीकि-आश्रम में जाने की लीला भी विस्तृत चरित निर्माण के लिये ही हुई है। क्योंकि लंका-विजय करके श्रीरामजी आये और १०००० वर्ष तक उन्होंने राज्य किया, तबतक तो किसीने कुछ नहीं कहा। पीछे श्रीसीताजी ने ही यह हेतु भी रच लिया कि पहले आपने श्रीरामजी से ऋषि-आश्रम को जाने और उनकी पूजा करने का वर माँग लिया और फिर श्रीरामजी जब बाहर आये, तब सखाओं से श्रीसीताजी के विषय में वह निंदा सुनी। जिससे उन्हें वन भेजा और वाल्मीकि के ही आश्रम में पहुँचाया। श्रीवाल्मीकिजी का इनमें पुत्री-भाव था। बिना कारण इनका दूषित होना और इनका रोना सुनकर वे न सह सके, तब उन्होंने ध्यानात्मक सारा चरित रचा। श्रीसीताजी के लंका रहने मात्र के चरित की सफाई देते तो लोग अपूर्ण ही समझते। इसलिये जो चरित पुरजनों ने देखा है उसे भी लिखा कि इसी तरह परोक्ष के चरित को भी सत्य जानें। इसीसे सम्पूर्ण चरित्र को सीता-चरित ही कहा है; यथा—"कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्॥" (वाल्मी० १।४।७); क्योंकि श्रीसीताजी की शुद्धता प्रकट करने के लिये सब रचा गया है। बारह वर्ष में रचा गया, क्योंकि शत्रुघ्नजी मथुरा गये, तब प्रारंभ हुआ था और फिर १२ वर्ष बाद लौटे तब पूरा हुआ था। उसी बीच लव-कुश का यज्ञोपवीत होने पर उन्हें ही वह पढ़ाया गया। फिर यज्ञ में जहाँ संसार-भर के लोग एकत्रित थे वहाँ श्रीवाल्मीकिजी गये। बाहर ही रहते हुए बालकों से पहले नगर में गान कराया गया। तब पीछे राजा श्रीरामजी के यहाँ यह गान हुआ, उसे सभी ने सत्य माना। ब्रह्माजी ने भी आकर साक्षी दी कि इस रामायण के चरित अक्षरशः सब सत्य हैं; बस, वहीं पर श्रीसीताजी अपनी लीला का उपसंहार करती हैं। जबतक पृथिवी रहेगी, यह श्रीरामजी की कीर्ति भी अचल रहेगी, इसीके पठन-पाठन से संसार तरेगा, यह कृपामयी देवी के कृपासमुद्र की एक तरंग है।

(ख) रावण ने देव, यक्ष, गंधर्व आदि की कन्याओं को बलात् ला-लाकर उनसे विवाह किया। कितनी वहाँ कैद थीं। देवताओं ने बार-बार प्रभु के समक्ष दुःख रोये। उन देवियों की दारुण विपत्ति छुड़ाने के लिये करुणावश श्रीसीताजी ने उनकी सान्त्वना के लिये स्वयं भी कैद होना स्वीकार किया और फिर सबको मुक्त कराया।

(ग) रामायण में तीन जगह भागवतापराधों का होना और उनके कराल दंड लिखे गये हैं। (१) विभीषणजी को रावण ने लात मारी और उसके फलरूप में सपरिवार वह मारा गया; यथा—"तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।" (क० उ० ३)। (२) लंका में राक्षसों ने हनुमानजी के बाँधे जाने पर उन्हें लातें मारी हैं। रावण ने तो तेलबोर पट बाँधकर आग लगाने एवं नगरमें फिराने को ही कहा था। उसके फल में उसके सोने के भी घर-बार राख कर दिये गये। (३)

यहाँ स्वयं श्रीमहारानीजी ने यह कार्य करके स्वयं उसका फल भोगा और संसार को शिक्षा दी। परम भागवत श्रीलक्ष्मणजी को जो अत्यन्त अयोग्य वचन कहा, उसके परिणाम में कठिन वियोग का महान् दु:ख भोगा।

हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया ॥१॥
आरति-हरन सरन-सुख-दायक। हा रघुकुल-सरोज-दिननायक ॥२॥
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा ॥३॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही ॥४॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा ॥५॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी ॥६॥

शब्दार्थ—पुरोडास=हवि, यज्ञ का भाग, यज्ञ से बचा हुआ हवि का अवशिष्ट।

अर्थ—हा जगत् के एक ही (अद्वितीय) वीर रघुराज ! किस अपराध से (आपने) दया भुला दी ॥१॥ हे आर्त्ति (दु:ख) हरनेवाले ! हे शरणागत के सुख देनेवाले ! हा रघुकुल कमल के सूर्य ! हा लक्ष्मण ! तुम्हारा दोष नहीं, मैंने क्रोध किया उसका फल पाया ॥२-३॥ वैदेही श्रीसीताजी अनेक प्रकार से विलाप कर रही हैं—कृपा के समूह और स्नेही प्रभु दूर निकल गये ॥४॥ मेरी विपत्ति उन प्रभु को कौन सुनावेगा ? यज्ञ की हवि (खीर) को गधा खाना चाहता है ॥५॥ श्रीसीताजी का भारी विलाप सुनकर स्थावर-जंगम (जड़ चेतन) सभी जीव दुखी हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'हा जगदेक बीर······'; यथा—"हा राम हा रमण हा जगदेक वीर हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम् ॥" (हनुमन्नाटक अं० ४ ; 'जगदेक बीर'—यह धनुर्भंग और जयंत-प्रसंग एवं खरदूषण-वध में आँखों से देखकर कह रही हैं। किंचित् अपराध मेरा किया, उसपर तो जयंत को तीनों लोकों में शरण न मिली। वही मैं हूँ और आप वही वीर हैं, फिर अब मुझे क्यों नहीं बचाते ? यह बात स्पष्ट रूप में श्रीहनुमान्‌जी से आपने सुंदरकाण्ड में कही है। 'रघुराया'—रघु महाराज के पराक्रम को रावण भी मान गया था और आप तो उस कुल के शिरमौर हैं ; अतः, मेरी रक्षा कीजिये।

(२) 'आरति हरन······'—आप आर्त्ति-हरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणागत को सुख देनेवाले हैं; मैं शरणागत हूँ। आप रघुकुल-कमल के सूर्य हैं, मेरे-हरण से कुल संकुचित हो जायगा। अतः, अपने कुल को शीघ्र बचाइये और उसे प्रफुल्लित कीजिये। पहले 'केहि अपराध ' कहा, अब स्वयं अपराध मानती हैं—

(३) 'हा लछिमन······'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी को निर्दोष बना अपना दोष मानकर फिर क्षमा चाहती हैं कि मैंने जो क्रोध किया था, उसका फल पाया ; यथा—"कहे कटु बचन रेख लाँघी मैं तात छमा सो कीजै। परी बधिक बस राजमरालिनि लषनलाल छिनि लीजै ॥" (गी० आ० ७) ; "हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक। ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा ॥" (वाल्मी० ३।४६।२९)।

(४) 'बिबिध बिलाप करति बैदेही।······'; यथा—"बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गये मृग सग परम सनेही।" (गी० आ० ७) ; 'बैदेही' अर्थात् देह सुधि जाती रही। 'भूरि कृपा प्रभु '—आप सुन पाते तो अवश्य रक्षा करते, क्योंकि भूरि कृपावान् हैं और स्नेही हैं, पर आप दूर पड़ गये।

(५) 'बिपति मोरि को प्रभुहि ···'—'को' से यहाँ उनपर तात्पर्य है जिन्हें श्रीलक्ष्मणजी सौंप गये हैं; यथा—"बन दिसि देव सौंपि सब काहू।" इसे गी० आ० ७ में स्पष्ट किया है ; यथा—"बन देवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं। गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों, त्यों पर-हाथ परी हौं ॥" तथा—"दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे। नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्त्तुः शंसत मां हृताम् ॥ यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च। सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ॥" (वाल्मी० ३।४९।३२-३३); 'पुरोडास चह ··· '—इन्द्र का हवि-भाग गदहा चाहता है, पर पा नहीं सकता, चाहे मर भले ही जाय। वैसी ही रावण की गति होगी।

इन पाँच अर्द्धालियों में श्रीसीताजी का विलाप कहा गया। आगे—"हा गुन खानि···" से "मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥" तक की दस अर्द्धालियों में श्रीरामजी का विलाप कहा गया है। कारण यह है, इनके प्रेम के जाननेवाले एक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥" (सुं० दो० १४); सच्चा प्रेम प्रेम-पात्र के हृदय को दहला देता है, चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो ? प्रेमी और प्रेम-पात्र अन्योन्याश्रित हैं, यह यहाँ चरितार्थ है, श्रीसीताजी की विरह-व्याकुलता पर श्रीरामजी उनसे दूना व्याकुल होते हैं। इनका 'बैदेही' शब्द से बेसुध होना कहा गया है, तो वहाँ 'लता तरु पाती' एवं 'खग मृग' से महा विरही एवं प्रमत्त की तरह पूँछना कहा है। महा स्त्रैण की तरह इनके रूप-गुण आदि का बखान करते और विलाप करते हैं। इससे—"तुम्ह ते प्रेम राम कर दूना।" (सुं० दो० १४); यह वचन चरितार्थ हुआ है।

भगवान् का श्रीमुख-वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); अर्थात् भक्त लोग हमारे प्रति जितना व्याकुल होते हैं हम भी उनके लिये उतना ही व्याकुल होते हैं तथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुर तरु सों ज्यों दर्पन मुख कान्ति ॥" (वि० ११३); परन्तु प्रेम-व्याकुलों के प्रति तो श्रीरामजी दूने व्याकुल होते हैं, यह यहाँ पर भक्तों को दिखाया है। इस 'ललित नर लीला' से वियोग-शृंगार का यथार्थ भाव दिखाया है जो कि भक्ति का एक मुख्य अंग है।

(६) 'सीता कै बिलाप सुनि······'—जैसे श्रीरामजी के वियोग में चराचर का दुखी होना कहा गया था; यथा—"बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।···हय गय कोटिन्ह केलि मृग···राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।" (अ० दो० ८३); वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजी के वियोग में भी चराचर का दुखी होना है। क्योंकि आप दोनों तत्त्वतः एक हैं और सबकी आत्मा हैं ; यथा—"अंतरजामी राम-सिय ··" (अ० दो० १५६); इससे इनका विरह सबको व्याप गया।

शंका—अचर जीवों ने कैसे सुना ? और वे कैसे दुखी हुए ?

समाधान—अचर से उनके अधिष्ठातृ-देवताओं का सुनना और उनके दुखी होने से उनके स्थूलांग में भी विकार का पहुँचना अभिप्रेत है ; यथा—"सैल सकल जहँ लगि जग माहीं।···गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥" (बा० दो० ६३); (—यह प्रसंग देखिये)।

चराचर सब दुखी ही हुए, पर कुछ कर न सके ; जिसने सुनकर पुरुषार्थ कर दिखाया, उसे आगे कहते हैं—

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल-तिलक-नारि पहिचानी ॥७॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछबस कपिला गाई ॥८॥

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा ॥९॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे ॥१०॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही ॥११॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने दुःख भरी वाणी सुनकर पहचाना कि ये रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी की पत्नी हैं ॥७॥ अधम निशाचर इन्हें (इस तरह) लिये जाता है, जैसे म्लेच्छ के वश में कपिला गाय पड़ गई हो ॥८॥ (वे बोले) हे श्रीसीते ! हे पुत्रि ! डरो मत, मैं निशाचर का नाश करूँगा ॥९॥ क्रोध में भरा हुआ वह पक्षी कैसे दौड़ा, जैसे पर्वत के तोड़ने को वज्र छूटता है ॥१०॥ रे रे दुष्ट ! खड़ा क्यों नहीं होता ? निर्भय चला जाता है, क्या मुझे जानता नहीं ? ॥११॥

विशेष—(१) 'गीधराज सुनि'''—राजा रावण से लड़ने के सम्बन्ध से 'गीधराज' कहा है, क्योंकि राजा से राजा ही लड़ता है। पुनः राजकुमारी का छुड़ाना और म्लेच्छ से कपिला गाय का बचाना भी राजा का ही कार्य है। 'सुनि आरत बानी' ;—"हा जगदेक बीर ''" से "हा रघुकुल सरोज-दिन-नायक" तक आर्त्त वाणी सुनी और इसीसे उन्हें रघुकुल-तिलक की महारानी जाना।

(२) 'अधम निसाचर लीन्हें जाई।'''—कहाँ तो रघुकुल-श्रेष्ठ की धर्मपत्नी और कहाँ यह अधम राक्षस ? इसका यह कार्य बड़ा ही गर्हित है, जैसे *कपिला गाय का म्लेच्छ द्वारा हरा जाना*। अतएव रक्षा करना सभी का धर्म है, फिर मैं राजा हूँ, गृध्रराज हूँ, मुझे तो अवश्य ही रक्षा करनी चाहिये ; *यथा*—"गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों, त्यों पर हाथ परी हौं ॥ तुलसि दास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो। 'पुत्रि-पुत्रि' ! जनि डरहि, न जैहै नीच, मीच हौं आयो ॥" (गी० आ० ७)।

(३) 'सीते पुत्रि करसि'''—जटायुजी राजा श्रीदशरथजी के सखा हैं, इससे श्रीरामजी इनके पुत्र के समान हैं और ये श्रीसीताजी पुत्र-वधू हैं, इससे कन्या के समान वात्सल्य की अधिकारिणी हैं ; यथा—"अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥" (कि० दो० ८) ; इससे 'पुत्रि' कहा। राक्षस का नाश करूँगा' ऐसा कहकर अभय दिया और श्रीसीताजी को प्रसन्न किया।

(४) 'छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे।'—ऊपर से क्रोध-पूर्वक पंख समेटकर वज्र के समान वेग से चले, वज्र गिरने से पर्वत विदीर्ण हो जाता है, वैसे ही रावण पर भी बीती ; यथा—"चोचन्हि मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥" आगे कहा है।

(५) 'रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही।'''—रावण दुष्ट था, इसीसे प्रायः सभी ने उसे दुष्ट कहा है ; यथा—"बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं।"—श्रीसीताजी, *"यह दुष्ट मारेउ नाथ ''पर द्रोह रत अति दुष्ट।"* (लं० दो० १११)—इन्द्र, वैसे ही यहाँ जटायुजी भी कहते हैं—रे रे दुष्ट'''।

(६) 'न जानेहि मोही।'—यह नहीं जानता कि मैं इनका रक्षक हूँ और वीर हूँ ; *यथा*—"जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।" (वाल्मी० ३।५०।३) ; क्या मुझे नहीं जानता ? इससे जान पड़ता है कि जटायु की शूरता प्रसिद्ध थी। राजा श्रीदशरथजी के साथ इन्होंने शनैश्चर को पराजित किया था, पूर्व कथा कही गई। *जटायुजी ने श्रीसीताजी की रक्षा का भार लिया था ; यथा—"सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥"* (वाल्मी० ३।१४।३४) ; इसीसे यहाँ रक्षा में सन्नद्ध हुए।

आवत देखि कृतांत - समाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना ॥१२॥
की मैनाक की खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई ॥१३॥
जाना जरठ जटायू येहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा ॥१४॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा ॥१५॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहित अस होइहि बहुबाहू ॥१६॥
राम-रोष - पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥१७॥

अर्थ—यमराज एवं मृत्यु के समान जटायु को आते हुए देखकर दशकंध रावण फिरकर मन में अनुमान (विचार) करने लगा ॥१२॥ कि यह या तो मैनाक पर्वत होगा या पक्षियों का स्वामी गरुड़ होगा, पर वह तो अपने स्वामी विष्णु-सहित मेरे बल को खूब जानता है ॥१३॥ फिर (पास आने पर) पहचाना कि यह बुड्ढा जटायु है, मेरे हाथ रूपी तीर्थ में शरीर छोड़ेगा ॥१४॥ यह सुनकर गृद्ध क्रोध से शीघ्र दौड़ा और बोला कि रावण ! मेरा सिखापन सुनो ॥१५॥ श्रीजानकीजी को छोड़कर कुशल पूर्वक घर चले जाओ, नहीं तो, हे बहुत भुजाओंवाले ! ऐसा होगा ॥१६॥ कि श्रीरामजी के क्रोध रूपी अत्यन्त भयंकर अग्नि में तेरा सारा वंश फनगा हो जायगा ॥१७॥

विशेष—(१) 'की मैनाक कि खगपति होई।...'—मैनाक तो इन्द्र के वज्र के डर से समुद्र में जा छिपा था और मेरे डर से इन्द्र भी भागा फिरता है, तब मैनाक मेरे सामने कैसे आवेगा ? कुछ और समीप आने पर पक्षिराज गरुड़ का अनुमान किया और जाना कि यह तो विष्णु सहित भी मेरा कुछ न कर सका था, तो अब अकेला कैसे आवेगा ; यथा—ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥" (वाल्मी० ३।३०।१९)।

(२) 'मम कर तीरथ छाड़िहि देहा।'—रावण को पक्षी आदि से अमरत्व का वर मिला ही है; इससे ऐसा अभिमान का वचन कहा कि यह तो बुड्ढा है। जैसे लोग मोक्ष के लिये तीर्थों में प्राण छोड़ने जाते हैं, वैसे यह मेरे हाथों से मरकर बुढ़ापे के कष्टों से मुक्त होने आता है ; अर्थात् यह तो मानों मरा हुआ है ही।

(३) 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा'—पहले रावण अनुमान ही करता था, मैनाक और गरुड़ तक का अनुमान तो मन में ही किया, पर पास आने पर जटायु को पहचाना, तब—'जाना जरठ...' यह इसने गर्व में आकर वचन से भी कहा—'अहा ! मैं जान गया...' इसीसे आगे 'सुनत गीध' कहा गया है। 'क्रोधातुर धावा'—जब रावण फिरकर अनुमान करता हुआ कुछ ठहर गया, तो जटायु भी धामे वेग में हो गये थे, पर जब उसने ऐसे गर्व के वचन कहे, तब फिर ये क्रोधातुर हो दौड़े। रावण ने इन्हें जरठ कहा और जरठ लोग शिक्षा देते ही हैं ; यथा—"मनहुँ जरठपन अस उपदेसा।" (अ० दो० १) ; इसीसे श्रीजटायुजी कहते हैं—'सुनु मोर सिखावा।'

(४) 'तजि जानकी कुसल गृह जाहू।'—भाव यह कि नहीं छोड़ोगे तो पहले हमसे ही कुशल न होगी; फिर—'राम रोष पावक...'। 'बहु बाहू'—रावण को अपने बाहुओं का बड़ा घमंड है; यथा—"चला भवन निरखत भुज बीसा।" (सु० दो० ६) ; "मम भुज सागर बल जल पूरा। ...बीस पयोधि अगाध अपारा।" (लं० दो० २७); इत्यादि, इसीपर कहते हैं कि वे सब कट जायगे।

(५) 'राम रोष पावक ……'—पतंग का संयोग दीपक से रहता है; यथा—"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।" (दो० ४६); पर यहाँ पावक कहा गया, क्योंकि बहुत पतंगों के पड़ने से दीपक बुझ भी जाता है, इसीलिये 'अतिघोर पावक' कहा है, जिसमें सब जल जायँ और श्रीरामजी की कुछ हानि न हो; यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु।" (सुं० दो० १५); "लखन रोष पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु।" (बा० दो० २६६)।

उतर न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा ॥१८॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहि राखि गीध पुनि फिरा ॥१९॥
चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥२०॥
तब सक्रोध निसिचर खिसियाना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥२१॥
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम करि अद्भुत करनी ॥२२॥

अर्थ—योद्धा दशमुख (रावण) उत्तर नहीं देता, तब तो गृध्र क्रोध करके दौड़ा ॥१८॥ शिर के बाल पकड़कर उसे रथ-विहीन कर दिया, वह पृथिवी पर गिर पड़ा, (तब) गृध्र श्रीसीताजी को (पृथक्) रखकर फिर लौटा ॥१९॥ और चोंचों से मारकर उसके शरीर को विदीर्ण कर डाला, उसे एक दंड-भर मूर्च्छा आ गई ॥२०॥ तब खिसलाकर उस निशाचर ने क्रोध के साथ अत्यन्त भयंकर कृपाण (द्विधारा खड्ग) निकाली ॥२१॥ उससे उसने पक्षी के पक्ष (पखने) काट डाले, तब वह (पक्षी) अद्भुत करनी करके श्रीरामजी का स्मरण करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२२॥

विशेष—(१) 'उतर न देत…'—इसे वीरता का अभिमान है, इससे गृध्र को तुच्छ समझकर उत्तर ही न दिया कि हम करनी करके उत्तर देंगे; यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।" (बा० दो० २७४)। इसीसे अपना अपमान समझकर गृध्रराज क्रोध करके दौड़े।

गृध्रराज का तीन बार क्रोध करके आक्रमण करना कहा गया, यथा—'धावा क्रोधवंत खग'; 'क्रोधातुर धावा'; 'धावा करि क्रोधा'; क्योंकि बीच-बीच में कारण पाकर रुक जाते थे। पहले सीता-हरण पर फिर उसके सगर्व वचन पर और फिर उसके उत्तर न देने पर क्रोध हुआ।

(२) 'धरि कच बिरथ…'—शिर पर मँड़राते हुए केश पकड़ा, क्योंकि यह मर्मस्थल है, इससे खींचने पर अत्यंत पीड़ा होती है और मनुष्य वश में हो जाता है। 'सीतहि राखि…'—हरि-इच्छा से उस समय जटायु की बुद्धि ऐसी न हुई कि वे श्रीसीताजी को श्रीरामजी के पास पहुँचा देते, क्योंकि रावण तो एक दंड तक मूर्च्छित ही रहा। माया-सीता को तो उसका विनाश करने के लिये लंका जाना ही था, नहीं तो वे स्वयं लौट चलतीं।

(३) 'चोंचन्हि मारि बिदारेसि…'—पहले इनका कृतान्त के समान आना कहा गया था, इन्होंने वैसा ही कार्य भी किया कि रावण वर के कारण जीता रह गया, नहीं तो ऐसी दशा होने पर मृत्यु में संदेह न था। 'देही' का अर्थ देह, शरीर है; यथा—"दच्छ-सुक्र-संभव यह देही।" (बा० दो० १३); अंतिम अनुप्रास मिलाने के लिये 'देह' का 'देही' किया गया है।

(४) 'तब सक्रोध निसिचर…'—रावण जब अपमानित होता है, तब इसी कृपाण (चन्द्रहास)

को निकालता है ; यथा—"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥ "चन्द्रहास हरु मम परितापं···" (सुं० दो० ९); वैसे ही यहाँ जटायु से भी अपमानित होने पर इसे निकाला। यह श्रीशिवजी की दी हुई वरदानी कृपाण है, जब अपने बल से न जीता तब दैवबल से मारा।

(५) 'काटेसि पंख परा खग···'— पक्षी का पंख ही द्वारा जीवन होता है, इसके विना वह अत्यन्त दीन हो जाता है; यथा—"जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥" (अ० दो० १२१); "जथा पंख बिनु खग अति दीना ॥" (लं० दो० ५१); पंख ही काटा कि जिससे कष्ट झेल-झेलकर मरे। पुनः हरि की इच्छा से भी ऐसा किया, क्योंकि श्रीसीताजी ने कहा था, यथा—"बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा।" यदि सिर काटा होता, तो यह कार्य न हो सकता। 'सुमिरि राम'; यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई।" (गी० आ० ११); "ईषत्स्थितासुरपतद्भुवि राम राम रामेति संभ्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः ॥" (हनुमन्नाटक) अर्थात् मोक्ष की इच्छावाला वह पक्षी जिसमें अब कुछ ही प्राण शेष हैं, निरंतर राम-राम कहता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा। 'करि अद्भुत करनी'— त्रिलोक-विजयी रावण को मृतप्राय कर दिया और जीते-जी श्रीसीताजी को न जाने दिया। इसपर गीता अा० ८ पूरा पद पढ़ने योग्य है।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी ॥२३॥
करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याध-बिबस जनु मृगी सभीता ॥२४॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी ॥२५॥
येहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ। बन असोक महँ राखत भयऊ ॥२६॥

दोहा—हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति देखाइ।
तब असोक पादप तर, राखिसि जतन कराइ ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम ॥२९॥

अर्थ—श्रीसीताजी को फिर रथ पर चढ़ाकर उतावली से (जल्दी-जल्दी चला,) उसे बहुत डर था (कि कहीं दूसरा सहायक न आ पड़े, अथवा कहीं श्रीरामजी ही न आ जायँ) ॥२३॥ आकाश-मार्ग में श्रीसीताजी विलाप करती हुई (इस तरह) जा रही हैं, जैसे व्याधा के वश पड़ी हुई सभीत मृगी हो ॥२४॥ पर्वत पर बैठे हुए वानरों को देख हरिनाम लेकर वस्त्र डाल दिया ॥२५॥ इस तरह उसने श्रीसीताजी को ले जाकर अशोक वन में रक्खा ॥२६॥ वह दुष्ट बहुत तरह से डर और प्रीति दिखाकर हार गया, तब अशोक-वृक्ष के नीचे उनको यत्न-पूर्वक रक्खा ॥ जिस प्रकार कपट-मृग के साथ श्रीरामजी दौड़े हुए चले थे, उसी छवि को श्रीसीताजी हृदय में रखकर हरिनाम रटती रहती हैं ॥२९॥

विशेष—(१) 'ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता।'—पहले—'जिमि मलेच्छबस कपिलागाई।' कहा था, तब छुड़ानेवाले जटायु आये, क्योंकि म्लेच्छ से गाय को छुड़ानेवाले बहुत लोग होते हैं। अब व्याध-

वश मृगी की उपमा देकर सूचित करते हैं कि अब कोई छुड़ानेवाला न मिलेगा; क्योंकि प्रायः लोग व्याधा से मृगी को छुड़ाने नहीं दौड़ते।

(२) 'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी।'—यह प्रसंग कि० दो० ४ में कहा गया है; यथा—"गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी॥" अतः, हरिनाम का अर्थ राम-नाम होगा। यद्यपि साधारणतया स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेतीं, तथापि आपत्काल में दोष नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में बहुत जगह इनका 'राम' नाम लेना पाया जाता है।

(३) 'हरि-नाम' के श्लोकार्थी बहुत भाव कहे जाते हैं—हे हरि (वानरो)! यह वस्त्र-भूषण हरि (श्रीरामजी) को देना, जो भूभार हरने आ रहे हैं और वे ही तुम्हारे (वालि-संबंधी) दुःख भी हरेंगे। मेरा हरण कहना और यह भी ध्वनि है कि मैं सब दुःखों के हरनेवाले हरि (श्रीरामजी) की पत्नी हूँ, वे मेरा दुःख हरें।

(४) 'पटडारी'—वाल्मी० ४।५४।१-४ में कहा गया है—"पाँच बानरों को गिरिशृंग पर बैठे देखकर श्रीजानकीजी ने उत्तरीय वस्त्र में आभूषण लपेटकर गिरा दिया कि जिससे ये लोग मेरा पता श्रीरामजी को बतावें। घबराहट में रावण इनके इस कर्म को नहीं जान सका।" श्रीसीताजी उसके मरने के लिये उपाय करती जाती हैं, पर वह नहीं जान पाता।

(५) 'बन असोक महँ···'—यह वन रावण का सर्वश्रेष्ठ था, सम्मान के लिये उसमें रक्खा और इससे भी कि इसकी रमणीयता में लुभाई हुई जीवित रहेंगी, अन्यथा प्राण ही न त्याग दें। (पर श्रीसीताजी तो उसे शोकमय देखती थीं)।

(६) 'हारि परा खल···'—बाल्मी ३।५५।५६ से जान पड़ता है कि उसने इन्हें पहले दिव्य रमणीय महलों में रखना चाहा, दिखाने और लुभाने पर इन्होंने उसे कठोर वचन कहे। तब अशोक-वन के भी दिव्य स्थानों में उनकी रुचि न देखकर अशोक-वृक्ष के नीचे रक्खा। प्रीति—"यह किसब राज्य-वैभव तुम्हारी ही है, मेरा जीवन तुम्हारे ही अधीन है। मेरी अनेक उत्तम स्त्रियों की तुम स्वामिनी बनो। तुम मुझे प्राणों से भी प्रिय हो, मेरी बात मानो", इत्यादि (वाल्मी० ३।५५।१३।१८)। भय—"मैथिली, सुनो, बारह महीने तक यदि तुम मेरी बात न मानोगी, तो मेरे रसोइया लोग प्रातःकाल के जलपान के लिये तुम्हें टुकड़े-टुकड़े काट डालेंगे।" इत्यादि (वाल्मी० ३।५६।२३।२५)। वनवास के अनुकूल समझकर श्रीजानकीजी वृक्ष के नीचे रहीं। 'जतन कराइ'—अनुकूल सेवा का प्रबंध करके और यह भी कि कोई उनके पास जा न सके।

(७) 'जेहि बिधि कपट······'—'बिधि'; यथा—"मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान।" (दो० २१); कपट मृग के पीछे दौड़ते हुए आपकी छवि; यथा—"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे। धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥" (गी० आ० ३); तथा गी० अ० ४-५ पूरे पद पढ़ने योग्य हैं, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा। 'श्रीराम'—भाव यह कि माया-मृग के पीछे आप परम शोभा को प्राप्त हैं; यथा—"माया मृगं·"(भाग० ११।५।३४) 'रटति रहति हरि नाम'—अपने क्लेश-हरण के उद्देश्य से राम नाम रटती रहती हैं; यथा—"देखी जानकी जब जाइ।·· रटति निसिबासर निरंतर राम राजिव नयन।" (गी० सुं० २); "रसना रटति नाम ··" (गी० सुं० १८); "नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।" (सु० दो० ३०); "रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११)।

श्रीरघुवीर विरह-वर्णन—प्रकरण

रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेखी ॥१॥
जनकसुता परिहरेहु अकेली। आयेहु तात बचन मम पेली ॥२॥
निसिचरनिकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं ॥३॥
गहि पद-कमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ॥४॥
अनुज समेत गये प्रभु तहवाँ। गोदावरि-तट आश्रम जहवाँ ॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने भाई को आते देखकर ऊपरी (दिखाव-मात्र की) बहुत चिन्ता की ॥१॥ हे तात ! तुमने श्रीजानकीजी को अकेली छोड़ दिया, मेरे वचन टालकर यहाँ चले आये ॥२॥ निशाचरों के झुंड वन में फिरते हैं, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि श्रीसीताजी आश्रम में नहीं हैं ॥३॥ भाई श्रीलक्ष्मणजी ने चरण पकड़कर और फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ ! मेरा कुछ दोष नहीं है ॥४॥ भाई-समेत प्रभु वहाँ गये, जहाँ गोदावरी नदी के किनारे आश्रम था ॥५॥

विशेष—(१) 'रघुपति अनुजहि आवत····'—श्रीरामजी की दृष्टि पंचवटी की ओर ही है, क्योंकि मारीच के छल-वचन सुनकर पहले ही से चिन्ता करते आते थे; यथा—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।" पर कहा गया। यहाँ जब देखते हैं कि सत्य ही श्रीलक्ष्मणजी अकेले चले आ रहे हैं; तब विशेष चिन्ता हो गई। चिन्ता का कारण अगली अर्द्धालियों में कहते हैं। 'बाहिज'—यह बाह्य का अपभ्रंश है; अर्थात् ऊपर से ही; यथा—"बाहिज नम्र देखि मोहिं साईं।" (उ० दो० १०२); चिन्ता मन से होती है, पर श्रीरामजी में ऊपर से दिखाव-मात्र है, क्योंकि पहले ही कह चुके हैं; यथा—"मैं कछु करब ललित नर लीला।" यह चिंता भी क्रीड़ा-रूप होने से दिव्य है; यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यं" (गी० ४।९); दिव्य का अर्थ भी क्रीड़ा-रूप है, क्योंकि दिव-क्रीडार्थक धातु से दिव्य शब्द निष्पन्न होता है।

(२) 'जनक सुता परिहरेहु····'—भाव यह कि श्रीजानकीजी को अकेली छोड़कर उनका अहित और मेरी आज्ञा टालकर मेरा भी अपमान किया। श्रीजानकी के छोड़ने का दोष शब्दों से जनाया है—'जनकसुता' अर्थात् श्रीजनकजी से हम क्या कहेंगे ? यथा—"किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः॥ मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्।" (वाल्मी० ३।५७।११-१२)।

(३) 'मम मन सीता आश्रम नाहीं।'; यथा—"मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्। असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्तते वा॥" (वाल्मी० ३।५७।२१); अर्थात् मेरा मन बहुत ही दीन और दुखी है, बाईं आँख फड़क रही है, लक्ष्मण, निस्संदेह श्रीसीताजी नहीं हैं—कोई उन्हें हर ले गया या मारी गईं अथवा कोई हरे लिये जाता है।

(४) 'कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी।'—भाव यह कि इसमें दोष उन्हींका है; यथा—"हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायेउँ कीन्हेउँ रोषा॥" (दो० २८); देखिये, कैसा भोला-भाला उत्तर है। बड़े भाई और भावज के प्रति कैसा सम्मान है ? कि अपनी सफाई देने के लिये भी श्रीसीताजी के दोष नहीं कहते। 'मेरा दोष नहीं है' इसमें ही सब आ गया; यहाँ सुशीलता की सीमा है। श्रीगोसाईंजी ने जैसे प्रथम मर्म वचन को नहीं कहा; वैसे यहाँ उसे कहने के अत्यावश्यक प्रसंग पर भी बहुत सँभाल किया है।

आश्रम देखि जानकी - हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना ॥६॥
हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥७॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती ॥८॥

शब्दार्थ—पाँती = पंक्ति, कतार; यथा—"रहहु निरंतर गुनगन पाँती॥" (उ० दो० १)।

अर्थ—आश्रम को श्रीजानकीजी से रहित देखकर व्याकुल हुए, जैसे साधारण मनुष्य दीन (व्याकुल) होते हैं ॥६॥ *हा गुणों की खान श्रीजानकि! हा रूप - शील - व्रत - नियम-पवित्र सीते!* (तुम कहाँ हो ?) ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत तरह से समझाया, वे लताओं और वृक्षों की पंक्तियों (कतारों) से पूछते हुए चले ॥८॥

विशेष— (१) 'आश्रम देखि'''—सूने आश्रम के देखने का वर्णन गी० आ० ८ में विस्तार-पूर्वक है—'हेम को हरिन हनि'''—देखिये।

(२) 'जानकी सीता'—यहाँ विषाद में वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं। 'जानकी' कहकर श्रीजनकजी का संबंध और 'सीता' शब्द से अपनेको शीतल करनेवाली कहा है।

(३) 'लछिमन समुझाये बहु भाँती'—'बहु भाँती'; यथा—(क) वाल्मी० ३।६१।१४-१८ के सब भाव जना दिये—"बुद्धिमान! आप विषाद न करें, किन्तु मेरे साथ श्रीसीताजी के ढूँढ़ने का प्रयत्न करें। इस पर्वत में अनेक कंदराएँ हैं। श्रीसीताजी को वन में घूमना बहुत रुचता है, वन को तो देखकर वे पागल हो जाती हैं, वे वन में गई होंगी। कमल के तालाब पर अथवा नदी तीर-पर गई होंगी, जहाँ मछलियाँ हैं और बेंतों का वन है। अथवा हमलोगों को डराने के लिये कहीं वन में छिप गई होंगी। हमलोगों की ढूँढ़ने की गति देखना चाहती होंगी—अतएव हमलोग उनके ढूँढ़ने का ही प्रयत्न करें, जहाँ-जहाँ उनके होने की आशा हो।" (ख) वाल्मी० ३।६६।१-२० में भी बहुत समझाया है—यदि आप ऐसे दुःखों को न सहेंगे, तो अल्प शक्तिवाले सामान्य लोग कैसे सहेंगे। आपत्ति भी सब दिन नहीं रहती; आती है और फिर चली भी जाती है। धैर्य धारण करना चाहिये। आप अपने पराक्रम का स्मरण कर शत्रु के नाश के लिये प्रयत्न करें, इत्यादि। (ग) वाल्मी० ४।१।११४-१२४ में भी समझाया है—रावण पाताल में वा दिति के गर्भ में चला जायगा; तब भी उसे मार कर श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे। आप सावधान हों। उत्साह को धारण करें, इत्यादि।

पर मानस में विशेष समझाना यहीं पर कहा गया है।

हे खग मृग हे मधुकर-श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी ॥९॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ॥१०॥
कुंद-कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥११॥
बरुनपास मनोज - धनु हंसा। गज-केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥१२॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥१३॥

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥१४॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥१५॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥१६॥
पूरन काम राम सुखरासी। मनुज-चरित कर अज अबिनासी ॥१७॥

शब्दार्थ—कपोत = अच्छा कबूतर, जिसकी गर्दन सुन्दर होती है। दाड़िम = अनार। श्रीफल = बेल।

अर्थ—हे पक्षि-गणो ! हे मृग वृंद !! हे भ्रमर-समूह !!! तुम सबने मृगलोचनी श्रीसीताजी को देखा है ? ॥९॥ खंजन, तोता, कबूतर, हरिण, मछली, भ्रमर समूह, मधुर-कूक-कुशल कोयल ॥१०॥ कुंद-कली, अनार, बिजली, शरद-ऋतु के कमल और चन्द्रमा, नागिन ॥११॥ वरुण की फाँस, कामदेव का धनुष, हंस, गज और सिंह, ये सब आज अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं ॥१२॥ बेल, सोना (और) केला, ये सब प्रसन्न हो रहे हैं। जरा भी डर और संकोच इन सबके मन में नहीं है ॥१३॥ हे श्रीजानकीजी ! सुनो आज तुम्हारे बिना ये सभी ऐसे प्रसन्न दीखते हैं, मानों उन्होंने राज्य पा लिया है ॥१४॥ तुमसे (इनकी) ईर्ष्या कैसे सही जाती है ? हे प्रिये ! क्यों नहीं शीघ्र प्रकट हो जाती ? ॥१५॥ इस तरह (सर्व जगत् के) स्वामी खोजते और विलाप करते हैं, मानों महाविरही और अत्यन्त कामी हैं ॥ १६॥ श्रीरामजी पूर्णकाम और आनंद की राशि हैं, अजन्मा और विनाश-रहित हैं वे मनुष्य के से चरित कर रहे हैं ॥१७॥

विशेष—(१) 'हे खग-मृग...'—खग मृग पहले कहे गये हैं। इन्हीं से समाचार मिलेगा। 'खग' जटायु और 'मृग' (वानर) सुग्रीव।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीजानकीजी के शोभा-वर्णन के विषय में कहा था—"सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी ॥" उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागी ॥ ...कुकबि कहाइ अजसु को लेई ॥" (बा० दो० २४६); अर्थात् माता के अंगों का वर्णन पुत्र कैसे करे ? दूसरी उपमाएँ सब प्राकृत स्त्रियों में लगकर जूठी हो चुकी हैं। अब यहाँ पति के मुख से ही पत्नी के अंगों की शोभा का वर्णन सुन्दर ढंग से रूपकातिशयोक्ति अलंकार के द्वारा मर्यादा-सहित कराया है। यह वियोग-शृंगार की ११ अवस्थाओं में 'गुण कथन' संज्ञक अवस्था है।

श्रीरामजी नर-नाट्य करते हुए वन में आ रहे हैं। कवि लोग स्त्रियों के जिन अंगों की उपमा जिन पशु, पक्षी, वृक्ष, फल, बिजली आदि से दिया करते हैं, मार्ग में उन्हें देखकर श्रीसीताजी के उन अंगों का स्मरण हो आता है और विरह का उद्दीपन होने से उपमानों के नाम कहकर उपमेय रूप अंगों का वर्णन करते हैं।

खंजन, हिरण, मीन और कमल की उपमायें प्रायः आँखों के लिये कवि लोग देते हैं; यथा—"अँखियाँ उपमा योग नहीं। कंज खंज मृग मीन होहि नहिं कवि जन वृथा कहीं ॥" (सूर)। शुक-तुंड के समान नासिका; यथा—"चारु चिबुक सुकतुंड बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा ॥" (गी० उ० १२); "नासिका सुभग सुक आननी।" (गी० उ० ५); कपोत से गर्दन की उपमा दी जाती है। भ्रमर-समूह से काले बालों की; यथा—"कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।" (बा० दो० २४१); "कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥" (बा० दो० १४१)। कोयल से स्वर एवं मीठे वचन की; यथा—"बोली मधुर

वचन पिक बयनी।" (अ० दो० ११६); कुंद-कली और अनार के दानों से दाँतों की और दामिनी से (मुस्कान में) दाँतों की चमक की, यथा—"कुलिस कुंद कुड्मल दामिनि दुति दसनन्हि देखि लजाई।" (वि० ६२); दामिनी से वर्ण की, यथा—"दामिनि बरन लखन सुठि नीके।" (अ० दो० ११४), शरद कमल और शशि से मुख की, यथा—"सरद सरबरी नाथ मुख ···" (अ० दो० ११६), "कंज मुख" (वि० ४५) नागिन से लट (चोटी) की, वरुण-पाश से कंठ की रेखाओं की और स्त्रियों की मुसकान की उपमा दी जाती है। मनोज के धनुष से भौंह की; यथा—"भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।" (बा० दो० १४६); हंस और गज (के चालों) से चाल की; यथा—"हंस गमनि तुम्ह नहिं बन जोगू॥" (अ० दो० ६१), "गावत चलीं सिंधुरगामिनी।" (उ० दो० २); सिंह से कमर की, यथा—"केहरि कटि पट पीतधर" (बा० दो० २३३); श्रीफल से पयोधर की उपमा आकृति, गोलाई और कठोरता के लिये दी जाती है। कनक से वर्ण की; यथा—"इन्हते लहि दुति मरकत सोने।" (अ० दो० ११५); कदली से जंघा की, यथा—"जंघा जानु भानु केदलि उर···" (गी० उ० १६)।

नेत्रों की चपलता, सफेदी और श्यामता के लिये खंजन की; जल-भरी, विशाल और उभरी हुई आँखों के लिये मृग की; चमक में मीन की और आकार एवं कोमलता में कमल दल की उपमा दी जाती है। कुंदकली और अनार के दाने मिले हुए, पंक्तिवाले और कोर पर ललाई लिये भी होते हैं, इसीसे दाँतों की उपमा में आते हैं। दाँतों की कान्ति बिजली सी कही जाती है। बिजली की उपमा वर्ण से भी दी जाती है; यथा—"दुलहिनि तड़ित बरन तन गोरी।" (गी० बा० १०२)।

(२) 'नेकु न संक सकुच मन माहीं।'—ऊपर के उपमानों के प्रति—'निज सुनत प्रशंसा।' कहा गया और यहाँ 'श्रीफल कनक कदलि' के प्रति शंका और सकुच न होने का आक्षेप किया गया; क्योंकि इन उपमानों के उपमेय (अंग) सदा आवरण में (ढँके) रहते हैं और ये सब निरावरण हैं। भाव यह कि इन्हें लज्जा और किसीका संकोच नहीं है, इसीसे बाहर देख पड़ते हैं। पुनः शंका इस बात की नहीं है कि श्रीजानकीजी फिर आवेंगी और संकोच इस बात का नहीं है कि हम श्रीसीताजी के अंगों के समान नहीं हैं। और सब उपमाएँ तुम्हारे रहते अपनी निन्दा सुना करती थीं। अब तुम्हारे न रहने पर प्रशंसा सुन रही हैं।

(३) 'सुनु जानकी तोहि बिनु ···'—पहले श्रीफल, कनक और कदली इन तीनों को ही हर्ष होना कहा था, अब 'सकल' (सब) का कहा। श्रीरामजी ने इन सबसे पूछा, पर कोई न बोला कि श्रीसीताजी कहाँ हैं ? इसीपर कहते हैं कि मानों राज्य पा गये हैं, मारे घमंड के बोलते ही नहीं। 'आजू' आज ही से तुम नहीं हो, इसीसे राजा बन बैठे हैं, भाव यह कि उपमान उपमेय का नौकर है, वह आज उपमेय के न रहने पर राज्य करने लगा, यह अनख की बात है, इसी पर आगे कहते हैं—

(४) 'किमि सहि जात अनख···'—सहता तो वह है जो कमजोर होता है। तुम तो इन सबों से बहुत ही उत्कृष्ट हो, तब कैसे सहती हो ? नौकर लोग राजा की गद्दी पर बैठकर घमंड दिखावें—यह बड़े अनख की बात है। अतः, 'बेगि प्रगटसि कस नाहीं।' अर्थात् शीघ्र प्रकट होकर इनका राज्य छीन लो, तभी आपके योग्य हो। 'तोहि पाहीं'—भाव यह भी है कि तुम सर्वसहा (पृथिवी) की कन्या हो, इससे चाहे सह भी लो। पर हे प्रिये ! हमसे तो नहीं सहा जाता (कि गुलाम लोग तुम्हारे पद का घमंड करें) क्योंकि हम तो चक्रवर्ति कुमार हैं। अतः, हमारे प्यार से तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ और इनका घमंड छीन लो।

(५) 'येहि विधि खोजत बिलपत स्वामी ।'—"पूछत चले लता तरु पाती ॥" से "तुम्ह देखी सीता मृग नयनी ॥" तक 'खोजत' और—"हा गुनखानि जानकी सीता ।···खंजन सुक···" से "प्रगटसि कस नाहीं ॥" तक 'बिलपत' कहा गया है। 'स्वामी'; यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी ॥" (बा॰ दो॰ ११८); यह वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभु सबके स्वामी हैं, पर यह 'ललित नर लीला' कर रहे हैं। 'मनहु महा बिरही अति कामी ।'—मानों जगत्-भर के विरही और कामी लोगों से बढ़े हैं।

(६) 'पूरन काम राम···'—पूर्ण-काम ही हैं, तो इन्हें कामना किसकी ? तब वियोग-जन्य विरह कैसा ? आनन्द-राशि हैं तो दुःख कैसा ? 'अज अबिनासी'—अर्थात् जन्म और नाश-रहित हैं, आदि-अंत-रहित हैं; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा ।" (बा॰ दो॰ ११०); फिर भी मनुष्य के-से चरित कर रहे हैं। यह माधुर्य-लीला है।

(७) 'हा गुनखानि जानकी सीता ।' में नाम का, 'रूप सील ब्रत नेम पुनीता ।' में गुण का और 'खंजन सुक कपोत···' से 'सुनु जानकी तोहिं बिनु आजू ।' तक रूप का स्मरण किया गया है।

"पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्हीं"—प्रकरण

आगे परा गीधपति देखा । सुमिरत राम-चरन जिन्ह रेखा ॥१८॥

दोहा—कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबि-धाम मुख, बिगत भई सब पीर ॥३०॥

अर्थ—गृध्रराज को आगे पड़ा हुआ देखा, वह श्रीरामजी का स्मरण कर रहा था, जिनके चरणों में चिह्न हैं ॥१८॥ कृपासागर रघुवीर श्रीरामजी ने अपना कर-कमल उसके शिर पर फेरा, शोभाधाम श्रीरामजी का छविपूर्ण मुख देखकर उसकी सब पीड़ाएँ दूर हो गईं ॥३०॥

विशेष—(१) 'आगे परा गीधपति···'—मनुज-चरित करते हुए आगे बढ़े, तो गृध्र को पड़ा देखा, देखने का प्रकार; यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई । तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गइ सुमिरि सनेह सगाई ॥" (गी॰ अ॰ ११); अर्थात् जब श्रीरामजी कुछ आगे बढ़ गये, तब जटायु के राम-नाम रटने के शब्द उनके कानों में पड़े, तब वे लौट पड़े और इनकी दशा देखकर प्रिया का विरह भूल गये।

'चरन जिन्ह रेखा ।'—श्रीरामजी के दोनों चरणों में २४-२४ चिह्न हैं। वे ही चिह्न श्रीजानकीजी के भी चरणों में हैं, केवल दाहिने-बायें का भेद है। इन्हीं २४ चिह्नों से २४ अवतारों के अंश भी कहे जाते हैं। अतः, ये पूर्ण ऐश्वर्य के बोधक हैं। महारामायण में इन चिह्नों का विशद वर्णन है। 'सुमिरत'—घायल होने के कारण आँखें बंद थीं, इससे जो चरण-चिह्न देखा था; महत्त्व-विचारसहित उन्हींका स्मरण कर रहे थे। 'चरण-रेखा' पद से ध्वनि यह भी है कि चरणों का आगमन चाहते थे, क्योंकि श्रीसीताजी का समाचार सुनाना था; यथा—"मेरे पकड़ हाथ न लागी ।···मरत न मैं रघुबीर बिलोके

तापस वेष बनाये। चाहत चलन प्रान पामर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाये ॥ बार-बार कर मींजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। तुलसी प्रभुकृपाल तेहि अवसर आइ गये दोउ भाई ॥" (गी० आ० १२)।

(२) कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु'''—श्रीरामजी ने कृपा करके कर-कमल से स्पर्श किया; यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (कि० दो० २१); "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल दुसह दुख हरेऊ॥" (उ० दो० ८२); पुनः—'निरखि राम छबि धाम मुख'' कहकर भक्त की ओर से दर्शन करना रहा। भाव यह कि भगवान् कर-कमल फेरें अथवा भक्त उनके दर्शन करें। दोनों प्रकार से पीड़ा दूर होती है; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा॥" (कि० दो० ७); कर-कमल का प्रभाव ही ऐसा है; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥" (वि० १३८); जहाँ भक्तों पर कर फेरने का प्रसंग होता है, वहाँ कमल की उपमा भी देते हैं; अन्यथा युद्ध आदि की कठोरता के प्रसंग में कर-मात्र ही कहते हैं; यथा—"बालि सीस परसेउ निज पानी।" (कि० दो० ६); और—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" आदि। 'सब पीर'—रावण के प्रहार को एवं काल, कर्म आदि की पीड़ा तो दूर हुई, पर सीता-हरण की पीड़ा तो रही ही, क्योंकि आगे करुण-स्वर से कहते हैं—

तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव-भीरा ॥ १ ॥
नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही ॥ २ ॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं ॥ ३ ॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना ॥ ४ ॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कुररी = कराकुल, टिटिहरी—यह एक जल-पक्षी है जो टीं-टीं को-सी ध्वनि करती है।

अर्थ—तब धैर्य धारण कर गृध्रराज बोले—हे भवभय-नाशक श्रीरामजी! सुनिये ॥१॥ हे नाथ! दसमुखोंवाले रावण ने मेरी यह दशा की है, उसी दुष्ट ने श्रीजनक-कुमारी को हर लिया है ॥२॥ हे गोसाईं! वह उन्हें दक्षिण दिशा को ले गया है। श्रीजानकीजी टिटहरी की तरह अत्यन्त विलाप कर रही थीं ॥३॥ हे प्रभो! आपके दर्शनों के लिये अभी तक प्राणों को रख रहा था, हे कृपानिधान! अब वे चलना चाहते हैं ॥४॥ श्रीरामजी ने कहा—हे तात! शरीर रखिये, तब उसने मुख से मुसुकाते हुए यह बात कही ॥५॥

विशेष—(१) 'तब कह गीध बचन'—पीड़ा पहले ही दूर हो गई थी, किन्तु छवि देखकर शिथिलता और अधीरता आ गई, इससे धैर्य धरना पड़ा; यथा—"मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरज धरि कुँवरि हँकारी।" (बा० दो० ३३३); "पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।" (कि० दो० १); 'सुनहु राम भंजन भव भीरा।'—पहले मुखकमल के दर्शन किये, तब 'भंजन भव भीरा' कहते हैं, क्योंकि इसीसे भय छूटता है; यथा—"देखि बदन पंकज भव मोचन॥" (दो० ६)।

(२) 'नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि'''—उसके दस शिर और बीस बाहु थे, वह बड़ा वीर था; इसीसे उसने मुझे जीता। तब वह खल श्रीसीताजी को हर ले गया; अर्थात् हमारे जीते-जी वह

नहीं ले जा सका ; यथा—"रामकाज खगराज आज लरयो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य विहँग बड़ भागी ॥" (गी० आ० ८) ; अपनी गति पर उसे 'दसानन' कहा, उसकी वीरता कही और सीता हरण पर उसे खल कहा; क्योंकि संत लोग अपने अहित पर किसीको बुरा नहीं कहते, पर दूसरे के दुःख देने पर भले ही कुछ कहें। यह भी भाव है कि मुझे अपनी दुर्गति से अधिक श्रीसीताजी का ही दुःख है।

(३) 'लै दच्छिन दिसि··'—"गोसाईं" अर्थात् आप पृथिवी-भर के स्वामी हैं, कहीं भी जाकर वह आपसे छिप नहीं सकता। 'निजपति अति···'—श्रीसीताजी ने विलाप में कहा था—"बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा तदनुसार जटायुजी सुना रहे हैं। स्वयं पक्षी हैं, इससे टिटिहरी की उपमा दी है। वह बड़े करुण-स्वर से 'टीं टीं' करती हुई आकाश में उड़ती है। उसी तरह रोती हुई श्रीसीताजी को वह दुष्ट आकाश मार्ग से ले गया है ; इस तरह श्रीसीताजी का अत्यन्त विलाप सूचित किया।

(४) 'दरस लागि प्रभु ······'—भीष्म ने उत्तरायण सूर्य के लिये प्राण रोक रक्खे थे, वैसे इन्होंने दर्शनों के लिये प्राण रक्खे। 'कृपानिधाना'—आपने कृपा करके वह भी पूरा किया। गृध्रराज की दो लालसाएँ थीं—मरते समय श्रीरघुवीर के दर्शन और श्रीसीताजी की विपत्ति श्रीरामजी को सुनाना। गी० आ० १२ का प्रमाण ऊपर दिया गया। तथा—"न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम् ॥" (हनुमन्नाटक अं० ४) ; उन दोनों इच्छाओं को प्रभु ने पूरा किया।

(५) 'राम कहा तनु राखहु ताता।'; यथा—"मेरे जान तात! कछू दिन जीजै। देखिय आप सुवन-सेवा-सुख मोहिं पितु को सुख दीजै॥ दिव्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ मँगि लीजै। हरि-हर-सुयश सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै।" (गी० आ० १५) ; ये सब भाव यहाँ हैं कि आपके पुत्र नहीं और मेरे पिता नहीं—दोनों की अभिलाषाएँ पूरी हों।

'मुख मुसुकाइ···' यथा—"बोल्यो बिहँग बिहसि रघुबर बलि कहउँ सुभाय पतीजै॥ मेरे मरिबे सम न चारि फल होंहिं तो क्यों न कहीजै। तुलसी उत्तर दियो मौनही परी मानों प्रेम सहीजै॥" (गी० आ० १५)। वही आगे यहाँ भी कहेंगे—'राखउँ देह नाथ केहि खाँगे।' इत्यादि। मुस्कुराये कि क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं?

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ ६॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि खाँगे॥ ७॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात करम निज ते गति पाई॥ ८॥
पर-हित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ ९॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥१०॥

दोहा—सीता-हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल-सहित, कहिहि दसानन आइ॥३१॥

अर्थ— जिनका नाम मरते समय मुख पर आ जाने से अधम भी मुक्त हो जाता है, यह वेद कहते हैं ॥६॥ वही आप मेरे नेत्रों के विषय होकर मेरे आगे प्राप्त हैं, (तो) हे नाथ ! किस कमी (पूर्ति) के लिये शरीर रक्खूँ ? ॥७॥ नेत्रों में जल भरकर श्रीरघुनाथजी कह रहे हैं—हे तात ! आपने अपने कर्म से सद्गति पाई ॥८॥ जिनके मन में पराये का हित बसता है, उनको संसार में कुछ दुर्लभ नहीं है ॥९॥ हे तात ! शरीर त्यागकर मेरे धाम को जाइये, आपको क्या दूँ, आप तो पूर्णकाम हैं ॥१०॥ हे तात ! सीता-हरण की बात पिता से जाकर न कहना। जो मैं राम हूँ ; तो दस मुखोंवाला रावण स्वयं कुल-सहित आकर कहेगा ॥३१॥

विशेष—(१) 'जाकर नाम मरत ' ; यथा—"जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहि कहाँ पुनि पैहौं ? ॥" (गी० आ० १३) ; तथा—"जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥" (कि० दो० ९); "अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥" (गीता ८।५) ; 'अधमउ मुकुति होइ ' यथा—"अपत अजामिल गज गनिकाऊ । भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ ॥" (बा० दो० २५) । 'श्रुति गावा'—वेद भगवान् की साँस और गीता उनके वचन हैं। गीता का प्रमाण ऊपर दिया गया है।

(२) 'गोचर आगे'—'गोचर' पद-मात्र से दृष्टि को पहुँच तक का भाव रहता है, इसलिये 'आगे' भी कहा गया कि अत्यन्त समीप खड़े हैं। 'केहि खाँगे'—अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति से फिर कोई कमी नहीं रह जाती ; यथा—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥" (गीता ६।२२) ; तथा—"श्रवन बचन, मुख नाम, रूप चख, राम उछंग लियो हौं । तुलसी मो समान बड़ भागी को कहि सकै बियो हौं ॥" (गी० अ० १३) ; "मेरे मरिबे सम न चारि फल···" ऊपर लिखा गया। दोहावली में २२२ से २२७ तक इनकी मृत्यु सराही गई है, वहीं पर देखिये।

निषादराज ने कहा है—"समर मरन पुनि सुरसरि तीरा । राम काज छन भंग सरीरा ॥" (अ० दो० १८९) ; ये सब बातें यहाँ प्रत्यक्ष हैं, गंगाजी के मूलभूत ये चरण ही प्राप्त हैं, श्रीरामजी गोद में लिये हुए हैं, इत्यादि बातें बहुत अधिक हैं।

(३) 'जल भरि नयन कहत रघुराई ।'—भक्त के दुःख पर करुणा से आँसू आ गये ; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आये जल राजिव नयना ॥" (सुं० दो० ३१) ; 'रघुराई'—इतने बड़े रघुकुल के राजा होते हुए भी कृतज्ञता ऐसी है कि जटायु के उपकार पर कनौड़े बन रहे हैं। नेत्रों में आँसू भरे हैं। 'तात करम निज ते गति पाई ।'—जटायु ने आपके नाम और रूप से मुक्ति कही है, उसपर कहते हैं कि तुम्हारी सद्गति मेरे नाम-रूप आदि से नहीं, किंतु तुम्हारे कर्म से ही हुई। उस कर्म को आगे कहते हैं—

(४) 'परहित बस जिन्हके ······'—'जग दुर्लभ कछु नाहीं' में अर्थ, धर्म और काम आ गये। 'गति पाई' से मोक्ष भी। पुनः यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥" (गीता १२।४) ; अर्थात् सर्व जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, सबका हित करना भी भगवदुपासना ही है ; यथा—"सदा सर्वगत सर्व-हित, जानि करेहु अति प्रेम ॥" (उ० दो० १६)।

भाव यह कि गति तो तुम अपने कर्म से पाते हो और जो हमारे लिये प्राण दिये—यह हमपर ऋण है।

(५) 'तनु तजि तात जाहु·· '—पहले प्रभु ने तन रखना कहा, जब उसने नहीं स्वीकार किया, तब कहते हैं—'तनु तजि···' । 'तुम्ह पूरन कामा'—देह के लिये ही सब कामनाएँ की जाती हैं, तुम देह भी

नहीं चाहते। देह को मेरी सेवा में लगाया, मुझे संदेशा कहने के लिये ही प्राण भी रक्खे थे। संसार में देह और प्राण ही प्रिय पदार्थ हैं; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७); तो इसके बदले हम तुम्हें क्या दें ? अतः, मेरे धाम को जाओ। भगवान् का धाम उनका शरीर है। जटायु के शरीर-दान के बदले भगवान् अपना दिव्य धाम-रूप दिव्य शरीर दे रहे हैं, फिर भी आप कनौड़े बने हैं, यह आपकी उदारता है। सब कुछ देते हुए भी भक्तों के ऋणी रहना आपका स्वभाव है; यथा—"देवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ॥" (वि० १००)।

(६) 'सीता हरन तात जनि '—जटायु ने रावण से कहा था—"राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (दो० २८); इसे ही प्रतिज्ञा-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं। 'जो मैं राम हूँ तो···' यह शपथ एवं प्रतिज्ञा की रीति है। ये पिता के सखा हैं और अर्चिरादि मार्ग से इन्द्रलोक होते हुए जायँगे, तो संभव है कि उनसे मिलते हुए यह प्रसंग भी उन्हें कहें, इसलिये मना करते हैं। इसका भाव गी० आ० १६ में स्पष्ट है; यथा—"मेरो सुनियो, तात! सँदेसो। सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै हैं अधिक अँदेसो॥ रावरे पुन्यप्रताप अनल महँ अलप दिनन्हि रिपु दहि हैं। कुल समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहैं॥" तथा—"तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः॥ रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कंधरः, सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः॥" (हनुमन्नाटक ५।११)। ऐसा ही अंगदजी ने भी कहा है; यथा—"दिन दस गये···राम-विरोध·" (लं० दो० २०)। 'कहिहि दसानन' अर्थात् वह दसों मुखों से कहेगा क्योंकि उसके मुखों से कहे जाने में महत्त्व है।

गीध देह तजि धरि हरि-रूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा॥१॥
स्यामगात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥२॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने गृध्र-शरीर छोड़कर हरि-रूप धारण किया, वे बहुत-से आभूषण और उपमा-रहित (दिव्य) पीताम्बर पहने हुए हैं॥१॥ उनका श्याम वर्ण शरीर है और विशाल चार भुजाएँ हैं। वे नेत्रों में जल भरे हुए स्तुति कर रहे हैं॥२॥

विशेष—(१) 'हरि-रूपा'—यहाँ चतुर्भुज-रूप से तात्पर्य है, आगे स्पष्ट है। अर्चिरादि मार्ग से जाते हुए वैकुंठ तक इनका चतुर्भुज रूप रहेगा, उससे आगे साकेत-प्राप्ति में द्विभुज-रूप होकर जायँगे। उसी मार्ग में इन्द्रलोक पड़ता है, जिसपर उपर्युक्त संदेशा कहा गया है। किसी-किसी का यह भी मत है कि यहाँ कई कल्पों की मिश्रित कथाओं में से विष्णु-रूप के प्रसंग की प्रधानता है।

छंद—जय राम-रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस - बाहु - प्रचंड - खंडन चंडसर मंडन मही।
पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव-भय-मोचनं॥१॥

बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं ।
गोबिंद गोपर द्वंद्वहर बिज्ञान - घन धरनीधरं ।
जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन-मन-रंजनं ।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खलदल-गंजनं ॥२॥

शब्दार्थ—मही = सत्य, शुद्ध । प्रचंड = प्रबल । चंड = तीक्ष्ण । अव्यक्त = अदृश्य । अप्रमेय = प्रमाण-रहित । द्वन्द्व = जन्म-मरण, शीत-उष्ण आदि परस्पर दो विरुद्ध वस्तुओं का जोड़ा । रंजन = चित्त प्रसन्न करना ।

अर्थ—हे राम ! आपका रूप उपमा-रहित है, आप निर्गुण, सगुण, हैं और सत्य ही शुभ गुणों के प्रेरक हैं, आपकी जय हो । दस शिरवाले रावण की प्रबल भुजाओं के खंडन करने के लिये तीक्ष्ण बाण धारण करनेवाले, पृथिवी को भूषित करनेवाले । सजल (श्याम) मेघ के समान शरीर, कमल के समान मुख और लाल कमल के समान दीर्घ नेत्रवाले, आजानुबाहु, भव-भय के छुड़ानेवाले और कृपालु, हे श्रीरामजी ! आपको मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ ॥१॥ प्रमाण-रहित बलवाले, अनादि, अजन्मा, अदृश्य, अद्वितीय, अगोचर, गोविन्द, इन्द्रियों से परे, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों के हरनेवाले, विज्ञान-समूह, पृथिवी के धारण करनेवाले , जो संत श्रीराम-मंत्र जपते हैं, उन अनन्त दासों के चित्त को आनंद देनेवाले, निष्कामता जिनको प्रिय है या निष्काम भक्तों के जो प्यारे हैं, काम आदि दुष्टों की सेना के नाश करनेवाले, हे श्रीरामजी ! आपको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'जय राम रूप अनूप···'—'अनूप'; यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै ।" (उ० दो० ९२); 'निर्गुन सगुन'—आप गुणों के व्यापार-रूप जगत् के सम्यक् आधार हैं, यह सगुणत्व है और उनसे निर्लिप्त हैं, यही निर्गुणत्व है; यथा—"मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥" (गीता ९।४); "जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने ।" (उ० दो० १२); "जासु गुन रूप नहिं कलित निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भगति दृढ़ करि गही ।" (गी० उ० ६); सगुण होते हुए गुणों के प्रेरक हैं, जिससे त्रिदेवों के द्वारा जगद्व्यापार चलता है; यथा—"बिधि हरिहर बंदित पद रेनू ।" (बा० दो० १४५); एवं शुभ गुणों के प्रेरक हैं, अतः ब्रह्म गायत्री के प्रतिपाद्य ब्रह्म आप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म-गायत्री में परमात्मा से शुभ गुणों की प्रेरणा करने की प्रार्थना है ।

(२) 'दससीस बाहु प्रचंड···'—रावण ने प्रचंड बाहुओं से मेरे पंख काटे हैं । उनके काटने के लिये ही आप तीक्ष्ण बाण धारण किये हुए हैं । जटायुजी को दिव्य शरीर के साथ ही दिव्य ज्ञान भी प्राप्त है, इसीसे भविष्य की बातें कह रहे हैं । पुनः इस दिव्य शरीर से 'जय' कहकर स्तुति-द्वारा अपने पितृ-भावसे आशीर्वाद भी दिया है । जिससे श्रीरामजी निशाचर-वध की प्रतिज्ञा में विजयी हों । इस तरह का भविष्य-वर्णन भाविक अलंकार भी कहा जाता है । 'मंडन मही'—रावण-वध से पृथिवी सुशोभित हुई, इसीसे आप पृथिवी के भूषणरूप हैं; यथा—"दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा महि भूरि रुजा ॥" (उ० दो० १४) ।

(३) 'पाथोद गात·· भव-भय-मोचनं'—सब अंगों को कह अंत में 'भव-भय-मोचनं' कहकर इसे सबके साथ सूचित किया है कि आपके सभी अंग भव-भय के छुड़ानेवाले हैं ; यथा—"स्यामल गात

प्रनत भय मोचन ।" (सुं० दो० ४४); मुख —"देखि बदन पंकज भव-मोचन ।" (दो० ३); नेत्र— "राजीव बिलोचन भव-भय मोचन" (बा० दो० २१०); बाहु—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं । होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं ॥" (गी० उ० १३); 'राजीव आयत लोचनं'—लाल कमल-दल के समान नेत्र कानों के पास तक लंबे हैं ।

(४) 'गोविद गोपर'—गोविंद अर्थात् आप इन्द्रियों और उनके विषयों में भी अंतर्यामी रूप से प्राप्त हैं । साथ ही 'गोपर' भी कहा है कि आप इन्द्रियों से परे भी हैं ; यथा—"मन गोतीत अमल अविनासी ।" (उ० दो० ११०); अर्थात इन्द्रियों के विकारों से आप निर्लिप्त हैं । 'द्वंद्व हर', यथा— "द्वंद्व बिपति भव-फंद बिभंजय ।" (उ० दो० ३४), 'बिज्ञान घन'; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता-बर ।" (उ० दो० ७७); 'धरनीधरं'—आप कमठ और बाराह रूप से पृथिवी के आधार हैं । 'अकाम प्रिय'; यथा—"ते तुम राम अकाम पियारे ।" (दो० ५) । साथ ही 'कामादि खल दल गंजनं' भी कहा है । क्योंकि प्रभु कामी की तरह लीला करते हैं । अतः, उन्हें कोई कामी न समझे, कामी होते तो अकामियों के प्रिय न होते ।

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।
करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं ।
सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अगजग मोहई ।
मम हृदय-पंकज-भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई ॥
जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा ।
पश्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो-बस सदा ।
सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन-धनी ।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी ॥

अर्थ—जिसे वेद निरंजन, ब्रह्म, व्यापक, निर्विकार और अजन्मा कहकर गाते हैं । जिसे मुनि अनेक प्रकार से ध्यान, ज्ञान, वैराग्य, योग (आदि साधन) करके पाते हैं ॥ वही आप करुणा कंद (करुणा रूपी जल की वृष्टि करनेवाले मेघ), शोभा के समूह प्रकट होकर स्थावर-जंगम को मोहित कर रहे हैं । आपके अंग-अंग में बहुत-से कामदेवों की छवि शोभा दे रही है, वही आप मेरे हृदय रूपी कमल के भ्रमर हों ॥३॥ जो अगम और सुगम, निर्मल स्वभाव, विषम और सम एवं सदा शांत रहते हैं । जिनको योगी यत्न करके देखते हैं और सदा मन और इन्द्रियों को वश में किये हुए रहते हैं ॥ सदा दासों के वश में रहनेवाले और तीनों लोकों के स्वामी रमानिवास वे ही श्रीरामजी, जिनकी पवित्र कीर्त्ति संसार के दुःख को नाश करनेवाली है, मेरे हृदय में बसें ॥४॥

विशेष—(१) 'जेहि श्रुति'''करि ध्यान'''—इन दो चरणों में निर्गुन रूप कहा गया । 'मुनि जेहि पावहीं'—मुनि लोग जिसका अनुभव करते हैं ।

(२) 'सो प्रगट करुनाकंद मम हृदय ···' इन दो चरणों में सगुण रूप कहते हैं। 'सो' अर्थात् वही निर्गुन ब्रह्म सगुन होता है, तब शोभा से चराचर को मोहता है; यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६); "देखत रूप चराचर मोहा।" (बा० दो० २०३)। 'करुनाकंद' अर्थात् भक्तों पर करुणा करके ही अवतार लेते हैं; यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५); "अवतरेउ अपने भगत हित ···" (बा० दो० ५१)।

(३) 'जो अगम सुगम सुभाव निर्मल'—कुयोगियों के लिये अगम्य हैं; यथा—"कुयोगिनां सुदुर्लभं" (दो० ३); और योगियों के लिये सुगम हैं; यथा—"पश्यंति जं जोगी जतन करि · " आगे कहा है। 'सुभाव निर्मल'—अगम सुगम होने में आपके स्वभाव में विकार नहीं है; किंतु साधकों के ही स्वभाव भेद से आपके दोनों भाव हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २३३)।

'असम सम सीतल सदा'—यहाँ भी भक्त-अभक्त-हृदय भेद से असम-सम कहे गये हैं; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥···तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८)। आप तो सदा शीतल अर्थात् शांत एकरस ही हैं; यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम ··" (वि० २६६); 'करत मन गो बस सदा'—क्योंकि मलिन मन और इन्द्रियों से रामरूप नहीं देखा जाता, यथा—"मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहि किमि दीना॥" (बा० दो० ११४); 'मम उर बसहु सो···'—श्रीरामजी ने कहा था—"देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।" उसपर कहते हैं—"मम उर बसहु ··" फिर बसने का लाभ भक्ति-द्वारा होता है, इसलिये आगे भक्ति माँगते हैं—

यहाँ छंद में दो नियम-भंग हुए हैं—एक तो एक ही चौपाई (२ अर्द्धालियों) पर छंद अन्यत्र नहीं आया, पर यहाँ है। दूसरा—पिछली चौपाई के अंतिम शब्द को लेकर प्रायः छंद का प्रथम चरण लिखा जाता है, वह भी यहाँ नहीं है, क्योंकि गृध्रराज की मुक्ति भी तो औरों से विलक्षण हुई कि यहीं पर इन्हें दिव्यरूप मिल गया। प्रभु के कार्य में इन्होंने जीर्ण देह दी, तुरत प्रभु ने इन्हें दिव्य देह देकर सदा के लिये देहबंधन से मुक्त किया।

दोहा—अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयउ हरि-धाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम॥३२॥

अर्थ—अविरल भक्ति का वर माँगकर गृध्रराज भगवद्धाम को गये, उनकी क्रिया श्रीरामजी ने अपने हाथों से यथायोग्य (शास्त्रोक्त) रीति से की।

(२) वाल्मी० आ० स० ६८ में लिखा है कि प्रभु ने जटायु के गुणों पर श्रीलक्ष्मणजी के साथ शोच किया। कहा कि सीता-हरण की अपेक्षा मेरे लिये प्राण त्यागनेवाले इन गृध्रराज का दुःख मुझको अधिक है। मेरे लिये जैसे राजा दशरथ पूज्य और मान्य हैं वैसे श्रीजटायुजी भी ; यथा—"राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः । पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥" (श्लोक १९) ; हे लक्ष्मण ! लकड़ी एकत्र करो, मेरे लिये प्राण देनेवाले इन गृध्रराज का मैं अग्निसंस्कार करूँगा। यज्ञ करनेवालों को, अग्नि-होत्रियों को, युद्ध में सामने लड़नेवालों को और भूमिदान करनेवालों को जो गति प्राप्त होती है—तुम उसीको प्राप्त हो। मैं तुम्हारा संस्कार करता हूँ। ऐसा कहकर उनके अपने बाँधवों के समान दुखी होते हुए श्रीरामजी ने दाह-क्रिया की। पिंडदान किया और उस मंत्र का जप किया, जो मृत प्राणी के लिये ब्राह्मण लोग जपते हैं। फिर दोनों भाइयों ने गोदावरी नदी में जाकर स्नान किया और उनके लिये तिलाञ्जलि दी।

इस स्तुति में नाम, रूप, लीला और धाम चारों का महत्त्व आया है। नाम—"जे राम मंत्र जपंत···"; रूप—"जय राम रूप अनूप ··"; लीला—"दससीसबाहुप्रचंडखंडन ··"; धाम—"गीध गयउ हरि धाम।"

कोमल चित्त अति दीन-दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥१॥
गीध अधम खग आमिष-भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥२॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय-अनुरागी ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त कोमल-चित्त, अत्यन्त दीनदयालु और कारण-रहित कृपालु हैं ॥१॥ (उन्होंने) गृध्र अधम पक्षी, मांस के खानेवाले को वही गति दी, जिसको योगी लोग माँगा करते हैं ॥२॥ हे उमा ! सुनो, वे लोग अभागे हैं, जो भगवान् को त्यागकर विषयों के अनुरागी होते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कोमल-चित अति······'—'अति' दीपदेहली है, अत्यन्त कोमल चित्त हैं, इसीसे जटायु के दुःख पर अत्यंत दुखी हुए और शरीर रखने को कहा। अत्यन्त दीन दयालु हैं, इसीसे मुक्ति दी, अपने हाथ दाह-क्रिया की। और लोग कारण पाकर कृपा करते हैं, पर आप बिना कारण ही ; यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥" (उ० दो० ४७) ; "अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (बा० दो० २११)।

शंका—जटायु ने श्रीसीताजी के लिये शरीर तक दे दिया और श्रीरामजी ने स्वयं कहा भी है, यथा—"तात करम निज ते गति पाई।" तब कारणरहित कृपालुता कैसी ?

समाधान—जीवों में पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ की स्फूर्ति श्रीरामजी से ही होती है ; यथा—"पौरुषं नृषु।" (गीता ७।८)। "सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी ॥" (कि० दो० २६), इसीसे यहाँ वक्ता लोग प्रभु की कृपालुता आदि ही कह रहे हैं। गृध्रराज ने स्वयं भी अपनेको अधम आदि कहा है और सद्गति में प्रभु की कृपा ही को माना है। यहाँ उपदेश है कि अपनी करनी का अभिमान न होना चाहिये।

(२) 'गीध अधम खग आमिष भोगी।···'—यहाँ 'आमिष भोगी' को अधमता का लक्षण कहा और यह भी कि मांस भोजी को सद्गति नहीं मिलती ; यथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि।"

(भाग० ५।२६।१४) अर्थात् जो पशु की हत्या करते हैं—वे पशु की देह में जितने रोएँ हैं—उतने ही वर्षों तक नरक में रहते हैं। तथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम्। वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि॥" (मनु० अ० ५); "यावन्ति पशुरोमाणि तावतो नरकान्व्रजेत्।" (कूर्म० पु० उ० अ० १७); "यो भुंक्ते च वृथा मांसं मत्स्यभोजी च ब्राह्मणः। हरेरनिवेद्यभोजी क्रिमिकुण्डं प्रयाति सः॥ स्वलोममान वर्षं च तद्भोजी तत्र तिष्ठति। ततो भवेन्म्लेच्छजातिस्त्रिजन्मनियतो द्विज॥" (ब्रह्मवै० पु० प्र० खं० अ० ३०)। 'गति दीन्ही···'; यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। गति पावहिं जो जाँचत जोगी॥" (अ० दो० ४४)। अर्थात् विधिवत् अष्टांग योग करके भी योगी लोग विनती करके माँगने से जो गति पाते हैं, वही गति दी।

(३) 'सुनहु उमा ते लोग···'—विषय को त्यागकर भगवान् का भजन करने से जीव भाग्यवान् होता है, परम गति पाता है; यथा—"राम भजे गति केहि नहिं पाई।" (उ० दो० १२६) और विषयानुरागी होने से भगवान् से विमुख होकर नरक जाता है, अभागी कहा जाता है; यथा—"अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥" (लं० दो० ४१)। 'ते लोग'—गृध्र ने गति पाई, तो मनुष्य तो परम अधिकारी हैं ही; यथा—"मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना।" (अ० दो० १३३); मनुष्य देह—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" है। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बनाया, वह परम अभागी है।

"कबंध-वध"—प्रकरण

पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥४॥
संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग-मृग तहँ गज पंचानन॥५॥
आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता॥६॥
दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु-पद पेखि मिटा सो पापा॥७॥

शब्दार्थ—बहुताई=अधिकता, सघनता। संकुल=परिपूर्ण।

अर्थ—फिर दोनों भाई श्रीसीताजी को ढूँढ़ते हुए चले, वन की अधिकता (शोभा-सम्पन्नता) देखते जाते हैं॥४॥ लताओं और वृक्षों से परिपूर्ण वह वन सघन है, उसमें बहुत-से पक्षी, मृग, हाथी और सिंह हैं॥५॥ मार्ग में आते हुए कबंध को मारा, उसने सब शाप की बातें कहीं॥६॥ कि मुझे दुर्वासा मुनि ने शाप दिया था, प्रभु के चरणों के दर्शनों से वह पाप मिट गया॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई।'—पहले खोजते थे—"येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।" से गृध्रराज का प्रसंग आ गया, वहाँ देर लगी और श्रीसीताजी का समाचार मिल गया, इससे विरह कुछ कम पड़ा। इसीसे अब केवल 'खोजत' कहते हैं, 'बिलपत' नहीं। पहले लता आदि से पूछते थे, किंतु अब उनकी शोभा ही देखते जाते हैं, पूछते नहीं। परन्तु 'खोजत' शब्द के अर्थ से खोजना अब भी सिद्ध हो रहा है, क्योंकि केवल दक्षिण दिशा को ले जाना ही मात्र तो जाना गया है; यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ···" पर कहीं छिपा रक्खा हो? अत, देखते जाते हैं। 'बन बहुताई' को आगे कहते हैं—'संकुल लता बिटप···'; यथा—"तां दिशं दक्षिणां गत्वा···गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्।

आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोर दर्शनम् ॥" (वाल्मी॰ ३।६९।१-३); अर्थात् दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर गये । 'वह मार्ग गुल्मों [गुल्म वह पौधा है, जिसकी जड़ से कई पौधे निकलें, जैसे ईख, शर (सरपत) आदि] और लताओं, वृक्षों से भरा और घिरा हुआ था, वह देखने में भयानक और प्रवेश करने में कठिन था ।'

(३) 'आवत पंथ कबंध···'— वहाँ से तीन कोस पूर्व क्रौंच वन मिला, फिर मार्ग में मतंगमुनि का भयानक वन मिला । इसके आगे फिर एक सघन वन मिला, उसमें मार्ग पर कबंध मिला । वह बहुत बड़ा था, उसके शिर और गर्दन न थे । वह कबन्ध था, उसके पेट में मुख था, तीखे रोम थे और पर्वत के समान वह ऊँचा था । वह नील मेघ के समान, भयानक और मेघ के समान गरजनेवाला था । ··उसकी छाती में भयानक आँख थी, जिससे वह बहुत देखता था । मुँह में बड़े-बड़े दाँत थे, उसके एक-एक योजन के लंबे हाथ थे जिनसे वह जानवरों को खींचता था ।···वह इन दोनों भाइयों को खाने चला, त्योंही इन्होंने उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं । तब वह भूमि पर गिर पड़ा, फिर दीन होकर पूछा और परिचय पाकर प्रसन्न हुआ । तब उसने अपनी कथा कही—

मैं पहले बड़ा पराक्रमी था । सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्र का-सा मेरा रूप था । पर मैं लोगों को डरवाने के लिये राक्षस बनता और ऋषियों को डरवाता था । अनन्तर स्थूलशिरा नामक ऋषि मुझपर अप्रसन्न हो गये । वे जंगली फल चुनते थे, तब मैंने उन्हें डरवाया था । इसपर उन्होंने क्रोध करके कहा कि तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित-रूप सदा के लिये हो जाय । फिर मेरी प्रार्थना पर वे बोले कि जब श्रीरामजी तुम्हारे हाथ काटकर निर्जन वन में तुम्हें जलायेंगे; तभी तुम अपना सुन्दर रूप पाओगे । मैं दनु का पुत्र हूँ । पीछे मैंने तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे दीर्घायु पाई । तब मैंने अभिमान से इन्द्र को ललकारा । उन्होंने ऐसा वज्र मारा कि मेरा मस्तक और मेरे जंघे शरीर में घुस गये । मेरी प्रार्थना से उन्होंने मुझे मारा नहीं और ब्रह्माजी की बात रक्खी । मेरे जीवन-निर्वाह के लिये १-१ योजन लंबी भुजाएँ दीं और पेट में तीक्ष्ण दाँत दिये । इन्द्र ने कहा था कि जब श्रीरामजी को पकड़ोगे और वे तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम स्वर्ग जाओगे । इसीसे मैं सुन्दर चीजें पकड़ता था कि कहीं श्रीरामजी मिल जायँगे । सलाह देकर मैं आपकी सहायता करूँगा । आप मेरा अग्नि-संस्कार कर दीजिये । यह सूर्यास्त से पहले ही हो जाय । तब मैं दिव्य-ज्ञान-युक्त होकर सलाह दूँगा ।···शरीर के जलते ही अग्नि से उसका दिव्य-शरीर प्रकट हो गया, वह वस्त्राभूषण से युक्त था । वह हंसों के रथ पर सवार था, तेजस्वी एवं शोभायुक्त था । तब उसने श्रीसुग्रीवजी का और श्रीशबरीजी का परिचय दिया ।" (वाल्मी॰ ३।७१-७३) ।

(४) 'तेहिं सब कही साप कै बाता ॥ दुर्बासा···'—दुर्वासाजी के विषय में इतना ही सुना जाता है कि यह किसी कारण उनपर हँसा था, तब उन्होंने इसे शाप दिया कि राक्षस हो जा । शेष कथा उपर्युक्त वाल्मीकीय रामायण की ही लेनी चाहिये । केवल दुर्वासा की जगह स्थूलशिरा मुनि का शाप देना मात्र भेद है । 'प्रभुपद पेखि···'—अर्थात् मुनि ने यही अनुग्रह भी किया था कि श्रीरामजी के चरण आने से ही तेरा उद्धार होगा ।

सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही । मोहि न सोहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही ॥८॥

दोहा—मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव ।

मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥३३॥

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥ १ ॥
पूजिय बिप्र सील गुनहीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥ २ ॥

अर्थ—हे गंधर्व! सुन, मैं तुमसे कहता हूँ—मुझे ब्राह्मण कुल से वैर करनेवाला नहीं सुहाता ॥८॥ मन कर्म वचन से कपट छोड़कर जो पृथिवी के देवता (ब्राह्मणों) की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा शिव आदि सभी देवता उसके वश हो जाते हैं ॥३३॥ संत लोग ऐसा कहते हैं कि शाप देनेवाला, मारनेवाला और कठोर वचन कहनेवाला भी ब्राह्मण पूज्य है ॥१॥ शील और गुणों से रहित भी ब्राह्मण पूज्य है, किन्तु गुणगण और ज्ञान में निपुण भी शूद्र (पूज्य) नहीं है ॥२॥

विशेष—(१) 'मोहि न सुहाइ···'—मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ, अतः ब्राह्मण-द्रोही मेरा द्रोही है, ब्राह्मण का भक्त मेरी प्रसन्नता का पात्र है।

(२) 'मन क्रम वचन कपट '—विप्र-सेवा में कपट का सर्वथा निषेध करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण भगवान् की मूर्त्ति हैं; यथा—"मम मूरति महिदेव मई है।" (वि० १३१) और भगवान् को कपट नहीं भाता; यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४); अर्थात् मन में उनकी भक्ति रहे, तन से सेवा कर्म करे और वचन से प्रिय बोले। उनसे स्वार्थ चाहना कपट है; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००)। अथवा दिखाव के लिये ही सेवा करना छल है।

(३) 'मोहि समेत बिरंचि सिव···', यथा—"जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तव तुम्ह बस बिधि बिष्नु महेसा ॥" (बा० दो० १६४); पर यहाँ दोहे में विष्णु की जगह अपनेको ही कहा है। इस तरह विष्णु भगवान् को अपने अभिन्नांश होने से अपृथक् जनाया। 'जो कर'—किसी भी वर्णाश्रम का हो।

(४) 'सापत ताड़त परुष कहंता।··'—कबंध ने दुर्वासा मुनि का शाप देना कहा था, इसलिये 'सापत' पहले कहा। शाप हृदय के क्रोध से लगता है; अतः, मन का विकार है। 'ताड़त' कर्म का और 'परुष कहंता' वचन-विकार है। ब्राह्मण तीनों से दोषी हों तब भी वे पूज्य ही हैं। ये तीनों बातें श्रीरामजी पर ही बीती हैं। श्रीनारदजी ने शाप दिया, श्रीभृगुजी ने लात मारी और श्रीपरशुरामजी ने परुष वचन कहे, पर आपने तीनों की पूजा ही की; यथा—"साप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्ह।" (बा० दो० १३७);—श्रीनारदजी से। "बिप्र चरन देखत मन लोभा।" (बा० दो० १९८); अर्थात् भृगु के चरण चिह्न को शोभा रूप में धारण किया है। "कर कुठार आगे यह सीसा···कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।·· " (बा० दो० २८०-२८१);—श्रीपरशुरामजी से इस तरह निहोरा किया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है, यथा—"विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः। तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥" (१०।६४।४१-४२)।

(५) 'पूजिय बिप्र सील गुन हीना। ···'—इससे जनाया कि ब्राह्मण जाति से (जन्मना) ही पूज्य है, शूद्र जाति की दृष्टि से पूज्य नहीं। दोषों के होने से ब्राह्मण अपूज्य नहीं हो जाता। उसके सुधार का भार उसके जाति वर्ग एवं राज्य पर है; निम्न वर्ग पर नहीं। निम्न वर्ग यदि श्रद्धा न रख सकें, तो भी लोक संग्रह के लिये अवश्य वर्तें। क्षत्रिय और वैश्य को न कहकर शूद्र ही को कहा क्योंकि शील-गुण हीन ब्राह्मण शूद्र के समान कहा गया है। इसपर कहा है कि ऐसा भी ब्राह्मण पूज्य है, पर शूद्र गुण गण एवं ज्ञान युक्त भी नहीं। तात्पर्य यह कि श्रेष्ठ ब्राह्मण के अभाव में उक्त गुणहीन ब्राह्मण ही पूजे जायँगे; शूद्र श्रेष्ठ भी नहीं पूजे जा सकते। इसपर पूर्वोक्त दो० १५ चौ० ६ भी देखिये।

इसके लिये कोई-कोई श्रीगोस्वामीजी पर जातीय पक्षपात का दोष लगाते हैं। वे यह नहीं समझते कि उन विरक्त महापुरुष से जाति-पाँति का क्या संपर्क है, जो कहते हैं—"लोग कहैं पोच सुनि सोच न सँकोच मेरे, ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।" (वि० ७१); "मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति।" (क० उ० १०७) इत्यादि। श्रीगोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। वे सनातन मर्यादा का भंग होना नहीं सह सकते थे। जैसे मर्यादा भंग देखकर ही श्रीबलरामजी श्रेष्ठ आसन पर बैठे हुए पुराण कहनेवाले सूत पर हल लेकर दौड़े थे। व्यास आदि महर्षियों ने भी ब्राह्मणों का महत्त्व बहुत कहा है।

कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा ॥ ३ ॥
रघुपति-चरन-कमल सिर नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई ॥ ४ ॥

अर्थ—अपना (खास, मुख्य) धर्म कहकर उसे समझाया, अपने चरणों में उसका प्रेम देखकर वह मन में भाया अर्थात् उसपर प्रसन्न हु ॥३॥ श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में शिर नवा अपनी गति पाकर वह आकाश को गया ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि निज धर्म···'—'निज धर्म'—ब्राह्मण भक्ति। पहले इसके पाप मिटे; यथा—"प्रभु पद देखि मिटा सो पापा।" ऊपर कहा है, तब धर्म की प्राप्ति हुई; यथा—"कहि निज धर्म ताहि समुझावा।" फिर धर्म-फल-रूप राम-पद-प्रीति कही गई; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (दो० ६); तब कृतज्ञता एवं विदाई के रूप में प्रणाम किया। वा, निज धर्म से द्विजभक्ति प्राप्त हुई, उससे हरि-पद-प्रीति होती है; यथा—"भूत दया द्विज गुरु सेवकाई।···सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); अतः, 'निज पद प्रीति देखि' कहा गया। 'मन भावा'—क्योंकि उपदेश का फल तुरत उसमें देखा। इससे प्रसन्न हुए; यथा—"उनके बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥" (उ० दो० ९१)।

(२) 'आपनि गति'—पूर्व में गंधर्व था, वही रूप पाया, यह रूप पाने पर अभी श्रीरामजी ने उसे—'सुनु गंधर्व···' कहा भी है। वाल्मीकीय रामायण में भी उसका पूर्व रूप गंधर्व का ही होना कहा गया है।

"सबरी गति दीन्हीं"—प्रकरण

ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी के आश्रम पगु धारा ॥ ५ ॥
सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के बचन समुझि जिय भाये ॥ ६ ॥
सरसिज-लोचन बाहु बिसाला। जटा-मुकुट सिर उर बनमाला ॥ ७ ॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई ॥ ८ ॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद-सरोज सिर नावा ॥ ९ ॥

अर्थ—उदार श्रीरामजी उसको गति देकर श्रीशबरीजी के आश्रम में पधारे ॥५॥ श्रीशबरीजी ने

कर्म की दशा है। ये मन, वचन, कर्म से प्रेम में डूबी हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।' यह अत्यन्त प्रेम के कारण है; यथा—"प्रेम विवस पुनि पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५)। यह स्त्रियों की प्रेम दशा है। "बार बार नावइ पद सीसा।" (कि० दो० ६) यह सुग्रीवजी की प्रेम-दशा है।

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥१०॥

दोहा—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि ॥३४॥

अर्थ—आदर-पूर्वक जल लाकर (दोनों भाइयों के) चरण धोये, फिर सुन्दर आसन पर उनको बैठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल, फल लाकर श्रीरामजी को दिये। प्रभु ने बार-बार उन (फलों) की प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

विशेष—(१) 'सादर जल लै चरन…'—चरण धोना खड़े-खड़े ही हुआ, 'सुंदर आसन'—पुष्प आदि से सुसज्जित एवं पवित्र कुश का आसन।

(२) 'कंद मूल फल सुरस अति'—सुरस तो और मुनियों के कंद आदि भी थे, पर इनके 'अति सुरस' हैं। इन फलों में प्रधानतया प्रेम की ही माधुरी है; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। "घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥" (वि० १६४)। भाव यह कि औरों के यहाँ अपनी श्रेष्ठता का कुछ मान रहा और शबरी नीच एवं मान रहित है; अतः, इसने शुद्ध प्रेम से दिया। इसीसे वाल्मीकिजी ने भी इसीके यहाँ श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से पूजित होना कहा है; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (मूल रा०)। 'प्रेम सहित प्रभु खाये…'—बार-बार बखानते हैं, जितने कौर (ग्रास) लेते हैं, उतनी बार तो अवश्य ही बखानते हैं; यथा—"प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि…" (गी० आ० १०)। भोजन की प्रसंसा करने का शास्त्र में निषेध है, पर यहाँ तो प्रेम प्रधान है। प्रेम में नियम का उतना बंधन नहीं है, दूसरे बखान करनेवाले 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं—समर्थ को दोष नहीं होता; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८)।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने फल नहीं खाया। पर गीतावली में स्पष्ट लिखा है; यथा—"प्रभु खात माँगत देत सबरी…धालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल पाग के॥" (गी० आ० १०); गीतावली का यह पूरा पद पढ़ने ही योग्य है, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा जाता।

वाल्मीकीय रामायण और मानस रामायण में जूठे फल का खाना नहीं लिखा है। पर कुछ ग्रंथों में है; यथा—"स्वावे वन बेर लागी राम की औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं॥" (भक्तमाल टी० म० र० बो० क० ३५); 'प्रेम्णातिशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः॥" (प्रेमपत्तन); "फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने॥" (पद्मपुराण); अर्थात् बचे-खुचे जूठे चार फलों को प्रेम से भोजन करके श्रीरामजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दी॥ फल-मूल लाकर और खाकर उनको परीक्षा की तत्पश्चात् महात्मा श्रीरामजी को उन्हें निवेदन किया॥

देखा कि श्रीरामजी घर में आये, तब वह मुनि के वचन स्मरण कर मन में प्रसन्न हुईं ॥६॥ कमल के समान नेत्र, विशाल (आजानु) बाहु, शिर पर जटाओं का मुकुट और हृदय (छाती) पर वन-माला धारण किये हुए ॥७॥ सुन्दर श्याम गौर दोनों भाइयों के चरणों में श्रीशबरीजी लिपट गईं ॥८॥ प्रेम में डूबी हैं, मुँह से वचन नहीं निकलते, वे बार-बार चरण-कमलों में शिर नवा रही हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'उदारा'—विराध, शरभंग, खर-दूषणादि, मारीच, जटायु और कबंध को गति दी। अब शबरी को भी गति देने जा रहे हैं—इससे उदार कहे गये। इनमें शरभंग ही एक मुनि थे, शेष सब अपात्र ही थे, पर उदार शिरोमणि ने सबको गति दी; यथा—"पात्रापात्र विवेकेन देशकालाद्यपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरे ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); 'पगु धारा'—जाने के अर्थ में आदर-सूचक मुहावरा है; यथा—"पुर पगु धारिय देइ असीसा।" (अ० दो० ११८); 'सबरी के आश्रम'—संतों के स्थान आश्रम कहाते हैं, श्रीशबरीजी तो श्रीरामजी की परम उपासिका हैं; यथा—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" (दो० ३५)। इसीसे इनकी कुटी को भी आश्रम कहा गया; यथा—"अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥" (वाल्मी० ३।७४।४), यह आश्रम मतंग ऋषि के आश्रम में ही है; यथा—"तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥" (वाल्मी० ३।७३।२५)।

(२) 'मुनि के बचन समुझि जिय भाये।'—"जब श्रीरामजी चित्रकूट में थे, तभी मतंग मुनि परधाम जाते समय शबरीजी से कह गये थे कि तुम इसी आश्रम में रहो, तुम्हें श्रीरामजी के दर्शन प्राप्त होंगे। वे तुम्हारे अतिथि सत्कार को ग्रहण करेंगे और तुम उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर अक्षय श्रेष्ठ लोकों को जाओगी। तब से श्रीशबरीजी वन के फल संचित करके श्रीरामजी की बाट देखा करती थीं।" (वाल्मी० ३।७४-१७); अब श्रीरामजी का आना उनके वचन (आशिष) से मान रही हैं, यह सोचकर कि मेरे भाग्य ऐसे कहाँ थे। यह भी भाव है कि मुनि के वचनों से इनके महत्त्व का भी ज्ञान हुआ कि ये ही परब्रह्म हैं; इससे भी अति-प्रीति है।

(३) 'सरसिज लोचन …'—यहाँ लोचन से शृंगार का वर्णन होने से कोई यहाँ शृंगार-भावना को प्रधान कहते हैं। पर इनका श्रीरामजी में वात्सल्य भाव है; यथा—"सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।…तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई।" (गी० आ० १७); और माता की दृष्टि पुत्र के मुख पर पड़ती है; यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (बा० दो० ३५७); "जननी जियत बदन बिधु जोइहि।" (बा० दो० ६०)। नेत्र भी मुखमंडल में ही है, अतएव श्रीशबरीजी की दृष्टि के अनुसार कहा गया है। 'बर बन माला'—वनमाला प्रथम यहाँ नहीं कही गई थी, संभवतः यहाँ के मुनियों ने पहनाई हो। श्रीकौशल्याजी के समक्ष भी प्रकट होने पर वनमाला कही गई है; यथा—"भूषन बनमाला…" (बा० दो० १९१)। वैसे यहाँ भी, इससे भी इनका वात्सल्य भाव प्रकट है। वनमाल में—तुलसी, कुंद, मदार, पारिजात और कमल—ये पाँच दल-पुष्प होते हैं। उनमें तुलसी प्रधान है। इसके द्वारा श्रीशबरीजी को आश्वासन भी देते हैं कि हमने दैत्य (जलंधर) की स्त्री को पावन करके धारण किया है, फिर तुम्हें तो अवश्य ही धारण एवं आदर करेंगे।

(४) 'सबरी परी चरन लपटाई'—प्रेम की विह्वलता से चरणों में लिपटना कहा गया है। यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।"(अ० दो० ५१)—यह श्रीकौशल्याजी के लिये भी कहा गया है।

(५) 'प्रेम मगन मुख …'—'प्रेम मगन—मन की दशा, 'बचन न आवा'—वचन और 'सिरनावा'—

कर्म की दशा है। ये मन, वचन, कर्म से प्रेम में डूबी हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।' यह अत्यन्त प्रेम के कारण है; यथा—"प्रेम विवस पुनि पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५)। यह श्रावों की प्रेम दशा है। "बार बार नावइ पद सीसा।" (कि० दो० ९) यह सुग्रीवजी की प्रेम-दशा है।

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥१०॥

दोहा—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि ॥३४॥

अर्थ—आदर-पूर्वक जल लाकर (दोनों भाइयों के) चरण धोये, फिर सुन्दर आसन पर उनको बैठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल, फल लाकर श्रीरामजी को दिये। प्रभु ने बार-बार उन (फलों) की प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

विशेष—(१) 'सादर जल लै चरन ...'—चरण धोना खड़े-खड़े ही हुआ, 'सुंदर आसन'— पुष्प आदि से सुसज्जित एवं पवित्र कुश का आसन।

(२) 'कंद मूल फल सुरस अति ...'—सुरस तो और मुनियों के कंद आदि भी थे, पर इनके 'अति सुरस' हैं। इन फलों में प्रधानतया प्रेम की ही माधुरी है; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। ...घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ॥" (वि० १६४)। भाव यह कि औरों के यहाँ अपनी श्रेष्ठता का कुछ मान रहा और शबरी नीच एवं मान रहित है; अतः, इसने शुद्ध प्रेम से दिया। इसीसे वाल्मीकिजी ने भी इसीके यहाँ श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से पूजित होना कहा है; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (मूल रा०)। 'प्रेम सहित प्रभु खाये ...'—बार-बार बखानते हैं, जितने कौर (ग्रास) लेते हैं, उतनी बार तो अवश्य ही बखानते हैं; यथा—"प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि..." (गी० आ० १७)। भोजन की प्रसंसा करने का शास्त्र में निषेध है, पर यहाँ तो प्रेम प्रधान है। प्रेम में नियम का उतना बंधन नहीं है, दूसरे बखान करनेवाले 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं—समर्थ को दोष नहीं होता; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥" (बा० दो० ६८)।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने फल नहीं खाया। पर गीतावली में स्पष्ट लिखा है; यथा—"प्रभु खात माँगत देत सबरी ...बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल खाग के ॥" (गी० आ० १७); गीतावली का यह पूरा पद पढ़ने ही योग्य है, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा जाता।

वाल्मीकीय रामायण और मानस रामायण में जूठे फल का खाना नहीं लिखा है। पर कुछ ग्रंथों में है; यथा—"ल्यावे वन बेर लागी राम की औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं ॥" (भक्तमाल टी० भ० र० बो० क० ३५); 'प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्ट भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः ॥" (प्रेमपत्तन); "फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने ॥" (पद्मपुराण); अर्थात् बचे-खुचे जूठे चार फलों को प्रेम से भोजन करके श्रीरामजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दी ॥ फल-मूल लाकर और खाकर उनकी परीक्षा की तत्पश्चात् महात्मा श्रीरामजी को उन्हें निवेदन किया ॥

श्रीशबरीजी श्रीरामजी को परब्रह्म जानती थीं, फिर भी उनका वात्सल्य भाव था। इस भाव से दोष नहीं होता। शबरीजी प्रेम से-विह्वल थीं, उन्हें देहाध्यास भी नहीं था। श्रीरामजी स्वयं भी कह रहे हैं—"मानउँ एक भगति कर नाता। जाति पाँति कुल धरम बड़ाई।···भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥" इत्यादि। यदि कहा जाय कि प्रभु तो मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, तो उत्तर यह है कि शबरी की दृष्टि में वे राजकुमार नहीं हैं। प्रभु भक्तों के भाव के अनुसार वर्त्तते हैं। इस दृष्टि से वह पक्ष भी संगत हो सकता है।

श्रीगोस्वामीजी ने उस पक्षवालों के लिये भी 'सुरस' पद देकर अवकाश दे दिया है कि उसने स्वाद की परीक्षा करके 'सुरस' कन्द-मूल-फल दिये होंगे। पर स्वयं तो स्पष्ट नहीं लिखा है।

पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥१॥
केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥३॥

अर्थ—हाथ जोड़कर आगे खड़ी हुई तथा प्रभु को देखकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गई॥१॥ (और बोली—) मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? क्योंकि मैं अधम जाति की हूँ और बड़ी ही जड़बुद्धि हूँ॥२॥ स्त्री अधम-से-अधम में भी अत्यन्त अधम होती हैं, उनमें भी हे पाप नाशक! मैं ओछी बुद्धि की हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'पानि जोरि आगे···'—अभी तक बैठी-बैठी फल आदि खिला रही थी, प्रभु के भोजन कर लेने पर हाथ जोड़कर खड़ी हुई, अभी तक चित्तवृत्ति पूजा में भी बँटी थी। इससे सामान्य रूप में प्रीति बढ़ी थी, अब एकाग्र-चित्त से दर्शन करने लगी, तो अत्यन्त प्रीति बढ़ी। कैसी बढ़ी? इसे ध्वनि से जनाया कि वह खड़ी हुई शबरीजी नहीं हैं मानों अत्यन्त बढ़ी हुई उनकी मूर्तिमती प्रीति ही है।

(२) 'केहि बिधि अस्तुति···'—पूजा के पीछे स्तुति करनी चाहिये, उसपर कहती हैं कि स्तुति करने की योग्यता विद्या-बुद्धि से होती है, वह मुझमें नहीं है। अधम जाति की होने से विद्या नहीं पढ़ सकी और बुद्धि जड़ ही नहीं, किंतु अत्यंत जड़ है। स्त्रियों की बुद्धि स्वभावतः जड़ होती है; यथा—"अबला अबल सहज जड़ जाती॥" (उ॰ दो॰ ११४); मैं अधम जाति की हूँ, इससे भारी जड़मति हूँ। 'तुम्हारी'—कहाँ आप! कि जिसकी स्तुति में ब्रह्मादिक असमर्थ हैं और कहाँ मैं अधम जाति एवं भारी जड़मति! अर्थात् आप अपनी कृपा से ही प्रसन्न हों।

(३) 'अधम ते अधम···'—जाति की अधम तो पहले ही कह चुकी है कि भील की जाति अधम है। उन अधमों में भी मैं अधम हूँ; अर्थात् जाति से भी निकाली हुई भ्रष्ट हूँ; यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि···" (दो॰ ३६); अथवा नारी होने से मैं अधम हूँ फिर मैं तो वर्णसंकर जाति में हूँ, इससे अति अधम हूँ। 'अघारी'—आप पाप के नाश करनेवाले हैं और मैं पापिनी हूँ; यथा—"मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई।" (बा॰ दो॰ २१०)।

भगवान् श्रीरामजी अपने नाम, रूप, लीला और धाम सभी से पापनाशक हैं नाम; यथा—"जासु नाम

पावक अघ-तूला।" (अ० दो० २४७); रूप; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सुं० दो० ४४); लीला; यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५); धाम; यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (उ० दो० २८)।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥४॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥५॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने कहा—हे भामिनि! बात सुनो, मैं एक भक्ति का ही सम्बन्ध मानता हूँ॥४॥ जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता (इनके होते हुए भी) भक्ति से रहित मनुष्य कैसा सोहता है, जैसा बिना जल का मेघ (शोभा-रहित) देख पड़ता है॥५-६॥

विशेष—(१) 'मानउँ एक भगति कर नाता'; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४); "अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥" (उ० दो० १५); "ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता ९।२९); भक्ति के समक्ष जिन नातों को नहीं मानते, उन्हें आगे गिनाते हैं—

• (२) 'जाति पाँति कुल··· भगति-हीन···'-शबरीजी ने अपनेको 'अधम जाति' कहा था, इसीसे नाता-निराकरण में पहले जाति ही कही। जाति-पाँति आदि जो १० गिनाई गई हैं, इनका गौरव भक्ति का बाधक है; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥" (कि० दो० ६); ये दसो गुण बिना जल के बादल हैं; अतः, व्यर्थ हैं। 'सोहइ'—का भाव यह कि इन गुणों से युक्त व्यक्ति इनसे अपनी शोभा मानता है, पर वह दूसरों की दृष्टि में वैसा ही शोभा-हीन है, जैसा बिना जल का बादल। भक्ति जल है; यथा—"राम भगति जल मम मन मीना।" (उ० दो० ११०); इससे युक्त होने से उन गुणों की भी शोभा है। कहा भी है—"भक्त्या तुष्यति केवलैर्न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥"

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥७॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥८॥

दोहा—गुरु - पद - पंकज - सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान॥३५॥

अर्थ—मैं तुमसे नवधा-भक्ति कहता हूँ, सावधान होकर सुनो और (उसे) मन में धारण करो॥७॥ संतों की संगति (करना) प्रथम भक्ति है, मेरी कथाओं के प्रसंगों में प्रेम करना दूसरी भक्ति है॥८॥

अभिमान-रहित होकर गुरुजी के चरण-कमलों की सेवा करना तीसरी भक्तिजी है, कपट छोड़कर मेरे गुण-समूह का गान करना चौथी भक्ति है ॥३५॥

विशेष—(१) 'नवधा भगति कहउँ···'—जिस भक्ति के बिना सब गुण व्यर्थ हैं, उसे कहते हैं—नवधा (नव=नौ, धा=प्रकार) अर्थात् वह नौ प्रकार की है। सुनकर उसे मन में धारण करो।

श्रीरामजी पहले भी श्रीलक्ष्मणजी से नवधा-भक्ति कह आये हैं ; यथा—"श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं ॥" (दो० १५); पर उससे यह नवधा भिन्न है। वह प्रवृत्ति-युक्त अधिकारियों की है और यह निवृत्तिवालों की है, क्योंकि यह तपस्विनी श्रीशबरीजी से कही जा रही है।

(२) 'संतन्ह कर संगा'—बहुत-से संतों से सत्संग करे, न जाने किससे पदार्थ की प्राप्ति हो।

(३) 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'—पहले संतों का संग करना कहकर तब कथा-प्रसंग में रति कही, क्योंकि सत्संग से ही कथा-प्रसंग का मर्म जाना जाता है ; यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१); कथा के प्रसंगों में प्रीति का होना यह कि कथाओं के सुनने में प्रेम करना और उनका तात्पर्य समझना।

(४) 'गुर-पद-कंज-सेवा···'—अमान होकर अर्थात् उनका मान करे, स्वयं अमान रहे, दास बनकर उनकी सेवा करे। गुरु-भक्ति, यथा—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" (श्वेता० ६।२३); अर्थात् परमात्मा देव में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भक्ति देव में है, वैसी ही गुरु में—ये अर्थ उस महात्मा के ही जानने में आते हैं। इस श्रुति का तात्पर्य यह कि गुरु-भक्ति से भगवत्तत्व हृदय में प्रकाशित होता है; अन्यथा सुनी अनसुनी हो जाती है। ऊपर कथा प्रसंग में रति कहकर तब गुरुभक्ति कहने का यही आशय है कि अमान होकर गुरुजी के द्वारा कथा के रहस्य को समझे, तब वह रहस्य हृदय में प्रकाशित होगा; यथा—"सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक···" (बा० दो० 1) कहा ही है; यथा—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।" (उ० दो० ८९); तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" (गीता ४।३४); तथा—"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ तत्र भागवतान्धर्मांञ्छिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः। अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥" (भाग० ११।३।२१-२२), अर्थात् जिसको अपना परम कल्याण जानने की इच्छा हो, उसे वेद के ज्ञाता और परब्रह्म में स्थित शान्त-स्वरूप गुरु की शरण में जाना चाहिये। और गुरु को ही आत्मा एवं इष्टदेव समझकर निष्कपटभाव से उनकी सेवा करके उन भागवत धर्मों को सीखना चाहिये, जिनसे अपने-आपको दे डालनेवाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं—यह प्रबुद्ध नाम योगीश्वर ने महाराजा निमि से कहा है।

(५) 'मम गुनगन, करइ कपट तजि गान।'—किसी को रिझाने एवं धन कमाने के लिये गुण-गान करना कपट-सहित है। पहले 'रति-कथा प्रसंग' में सुनकर विचारना कहा गया था। तब गुरु-निष्ठा द्वारा उसका साक्षात्कार करना कहा। अब स्वयं भी गान (कीर्त्तन) करने को कहते हैं। ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही किया है; यथा—"मैं पुनि निज गुरु-सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।···भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (बा० दो० ३०); कीर्त्तन-भक्ति का माहात्म्य श्रीमद्भागवत में लिखा है ; यथा—"सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्। प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथातमोऽर्कोऽभ्रमिवाति वातः ॥" (१२।१२।४७); अर्थात् कीर्त्तन के प्रभाव से भगवान् शीघ्र ही भक्तों के हृदयावशिष्ट हो जाते हैं और भक्तों के हृदय के सम्पूर्ण विकारों का विनाश कर देते हैं। जैसे सूर्य तम को और वायु बादलों को; अर्थात् पहले

ज्ञान-रूप सूर्य के द्वारा अज्ञानान्धकार हटाते हैं, फिर काम-क्रोधादि रूपी मेघपटल को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और भक्तों के हृदयाकाश को निर्मल कर देते हैं; तथा—"य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि। अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत्॥" (भाग० ११।३१।२७-२८); अर्थात् जो मनुष्य देवदेव भगवान् के दिव्य जन्म-कर्मों का श्रद्धा-पूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है। भगवान् हरि के मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओं को सुनने तथा उनका गान करने से मनुष्य परमहंसों की गति-स्वरूप भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त होता है।

मंत्र-जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद-प्रकासा॥ १॥
छठ दमसील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन-धर्मा॥ २॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा॥ ३॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥ ४॥
नवम सरल सब सन छल-हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥ ५॥

अर्थ—मेरे मंत्र का जप और मेरा दृढ़ विश्वास, यह पाँचवीं भक्ति वेदों में प्रसिद्ध है॥१॥ दमशील (इन्द्रिय-दमन में तत्पर), बहुत कर्मों से वैराग्य और निरंतर सज्जनों के धर्म में तत्पर रहना छठी भक्ति है॥२॥ जगत्-भर को एक समान मुझ मय (राम-मय) देखे और संतों को मुझसे अधिक देखे, यह सातवीं भक्ति है॥३॥ जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना, स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना, यह आठवीं भक्ति है॥४॥ सरल (सीधा-सादा) स्वभाव, सबसे छल-रहित, हृदय में मेरा भरोसा एवं हर्ष-दीनता न होना, यह नवीं भक्ति है॥५॥

विशेष—(१) 'मंत्र जाप मम···'—जप; यथा—"मनोमध्येस्थितो मंत्रो मंत्रमध्ये स्थितं मनः। मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥" अर्थात् मंत्र का अर्थ हृदय में स्थिर हो और मन मंत्र ही के आराधन में लगा रहे, इन दोनों की एकत्रता जप है। ऐसे ही नित्य जप करे; यथा—"मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा॥" (अ० दो० १२८); साथ ही मंत्रार्थभूत मंत्र के देवता एवं उनके शब्दार्थ भूत उनके गुणों पर चित्त रहना चाहिये; यथा—"मननात्त्राणनान्मंत्रः।" तथा—"मंत्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। दृढ़ विश्वास भी चाहिये; क्योंकि बिना विश्वास के सिद्धि नहीं होती; यथा—"*कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।*" (*उ० दो० ८९*); *बिना विश्वास* के देवता का साक्षात्कार नहीं होता; यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥" (बा० मं०)। 'वेद-प्रकासा'—ऋग्वेद की मंत्र-रामायण, रामतापनीय और रामोपनिषद् से राम-मंत्र विशेष प्रसिद्ध है।

(२) 'छठ दमसील···'—दमशील होना संत-लक्षण है; यथा—"सम-दम-नियम-नीति नहिं डोलहिं।" (उ० दो० ३८); 'बिरति बहु कर्मा'; यथा—"नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोक प्रद सब त्यागहू।" (दो० ३६); तथा—"अन्ये विहाय सकलं सदसच्चकार्यं श्रीरामपंकजपदं सततं स्मरन्ति···" (महारामायण), तात्पर्य यह कि शरीर-निर्वाह-मात्र कर्म करे, बहुत न करे कि जिससे भजन

का अवकाश न मिले। 'सज्जन-धर्मा'; यथा—"जननी-जनक-बंधु-सुत-दारा।'''सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥'''अस सज्जन'''" (सुं० दो० ४७)।

(३) 'सातवँ सम''; "सरग-नरक-अपबरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु-बाना॥" (अ० दो० १३१)। भाव यह कि भगवान् सबमें समान भाव से हैं। जगत् का बर्त्ताव उन्हीं की प्रेरणा से प्रत्येक जीव के परस्पर कर्मानुसार हो रहा है। ऐसी दृष्टि से व्यवहार में राग-द्वेष न होगा। उसका जगद्व्यवहार ही भक्ति-रूप में हो जायगा; यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित.। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगीमयि वर्तते॥" (गीता ६।३१)। 'मोते संत अधिक'''; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'''" से "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥" (उ० दो० ११९) तक देखिये। संत श्रीरामजी को अत्यन्त प्यारे हैं, इससे भी उन्हें अधिक मानने को कहा। उनकी सेवा को श्रीरामजी अपनी सेवा की अपेक्षा अधिक मानते हैं। पहुँचे हुए संत शीघ्र श्रीरामजी को मिला देते हैं।

(४) 'आठवँ जथालाभ संतोषा'''—देह-निर्माण के साथ ही प्रारब्ध बन जाता है, तदनुसार निर्वाह होगा ही, अतएव संतोष रखना ही चाहिये। जिससे राग-द्वेष की बाधा न हो। पराया दोष देखने से अपना हृदय मैला होगा। उसकी बागडोर परमात्मा के हाथ है, वह सुधारेगा ही। किन्तु यह व्यवहार-रहित संतों के लिये है। पहले ही कहा गया कि यह नवधा-भक्ति निवृत्तिपरक है। व्यवहार-सहित संतों के लिये—"जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।" (बा० दो० १); कहा गया है। वहाँ 'दुरावा' का अर्थ दूर करना, हटाना है, ढाँक देना नहीं, क्योंकि ढकने में तो और उसे घूस मिलेगी, दुःख सहना क्यों कहा गया है?

(५) 'नवम सरल सब सन छल हीना।'''—सरलता संत-लक्षण है; यथा—"सरल सुभाय न मन कुटिलाई।" (उ० दो० ४५); 'मम भरोस'''—भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं और हमारे रक्षक हैं; ऐसा विचार रहने पर सब छर-भार उन्हीं पर रहेगा, इससे लाभ-हानि की रुचि ही न होगी, तब हर्ष एवं दीनता क्योंकर होगी; यथा—"यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।" (वि० १०१)।

नव महुँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ ६॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥ ७॥
जोगि-बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥ ८॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ ९॥

अर्थ—जिनको (हृदय में) नौ में से एक भी भक्ति होती है—स्त्री-पुरुष और चर-अचर कोई भी हो—वही मुझे अतिशय प्रिय है। हे भामिनि! तुममें तो सभी प्रकार की भक्तियाँ दृढ़ हैं॥६-७॥ योगी लोगों को जो गति दुर्लभ है, तुम्हें आज वह सुगमता से प्राप्त हो गई॥८॥ (क्योंकि) मेरे दर्शनों का परम उपमा-रहित फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा जाता है॥९॥

विशेष—(१) 'सोइ अतिसय प्रिय'''—प्रिय तो सभी हैं, पर भक्त अतिशय प्रिय हैं; यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।"; "पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥" (उ० दो० ८५); 'भामिनि'—क्योंकि श्रीशबरीजी भक्ति-संबंधी दिव्य गुणों से दीप्तिमती

है। 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे'—औरों में एक प्रकार की भक्ति का होना, फिर भी उसका दृढ़ होना दुर्लभ है, पर तुममें तो सभी प्रकार की (नवधा, प्रेमा, परा) भक्तियाँ हैं और वे सब दृढ़ हैं।

(२) 'जोगिबृंद दुर्लभ गति '—योगी लोग योगशास्त्र की रीति से साधन करके भी कठिनता से मुक्ति पाते हैं ; यथा—"जो निर्बिघ्न पंथ निरबहई ··" (उ० दो० ११८)।

(३) 'मम दरसन फल परम'··'—जीव का सहज (स्वाभाविक) स्वरूप ; यथा—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)। यह मायावश हुआ, तब योग-शास्त्र के कैवल्य ज्ञान के साधनों से फिर इसका मुक्त होना भी कहा गया है। वहाँ तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणों से निर्मुक्त होने पर 'सोऽहमस्मि' यह वृत्ति प्राप्त हुई। तब ग्रन्थि निर्मुक्त होने पर उसका कृतार्थ (मुक्त) होना कहा गया है। वही अवस्था यहाँ दर्शन-मात्र से कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो—"जोगिबृन्द दुर्लभ ··" में फल कहा गया, उसी का इस—"मम दरसन फल·" से समाधान किया गया है कि इसने श्रीरामजी के दर्शनों के द्वारा ही उपर्युक्त फल प्राप्त किया है।

इस तरह कि ऊपर 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे', से कहा गया कि इसमें सब प्रकार की नवधा, प्रेमा, परा भक्तियाँ दृढ़ हैं। यहाँ केवल नवधा ही के नवो प्रकार का अर्थ नहीं है, अन्यथा 'सकल प्रकार' की जगह नवो प्रकार कहा जाता। नवधा-मात्र कहने के लिये आपने प्रतिज्ञा की थी, इसलिये उतना ही कहा। "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (वाल्मी० मू०); से भी इनमें सब भक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इन तीनों भक्तियों के सहित इसने अच्छी तरह श्रीरामजी के दर्शन किये हैं, उसी का महत्त्व यहाँ श्रीरामजी ने कहा है।

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा-भक्ति के साथ श्रीरामजी के दर्शन करता रहता है। इसमें इन्द्रियों के विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः, चित्तवृत्ति भगवान् में ही रहती है। फिर प्रेमा भक्ति-द्वारा सूक्ष्म शरीर के दोषों को शुद्ध करता हुआ, श्रीरामजी में चित्त रखता है और बुद्धि से उनके कृपा, सौहार्द आदि गुणों का विचार होने पर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों सहित प्रीति की उमंग में निमग्न रहता है। अत, दर्शनों में बाधा नहीं होती। पुनः पराभक्ति के दृढ़ अनुराग के प्रारंभ में विरहाग्नि से कारण-शरीर (वासनामय) के भस्म होने पर तुरीयावस्था में साधक स्वतः प्राप्त होता है, जो अवस्था वहाँ 'सोऽहमस्मि' इस वृत्ति पर कही गई है। इस पराभक्ति में भगवान् के प्रति इसकी स्वतः एकरस गाढ़ स्मृति रहती है ; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥" (अ० दो० १३०); इसमें ग्रंथि छोड़ने की बाधाएँ (जो ज्ञान में कही गई हैं) कुछ नहीं कर पातीं ; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५)। अतः, यह उन ग्रंथियों से भी निर्मुक्त हो जाता है।

यहाँ तक के सब कार्य केवल श्रीरामजी के दर्शन-मात्र से हुए। अवस्थानुसार मन आदि इन्द्रियों के आधार के लिये नवधा आदि भक्तियाँ थीं। श्रुति भी यही कहती है ; यथा—"भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुंडक० २।२।८)।

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबर-गामिनी॥१०॥
पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव-मिताई॥११॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥१२॥
बार बार प्रभु-पद सिर नाई। प्रेम-सहित सब कथा सुनाई॥१३॥

अर्थ—हे भामिनि ! करिवरगामिनी श्रीजनकसुता का कुछ समाचार जानती हो तो कहो ॥१०॥ हे रघुराई ! पंपासर पर जाइये, वहाँ सुग्रीव से मित्रता होगी ॥११॥ हे देव ! हे रघुवीर ! वह सब हाल कहेगा। हे मति धीर ! जानते हुए भी आप मुझसे पूछते हैं ॥१२॥ बार-बार प्रभु के चरणों में सिर झुकाकर प्रेम पूर्वक सब कथाएँ सुनाईं ॥१३॥

विशेष—(१) 'जनक सुता कै……'—यहाँ श्रीजानकीजी को हुलिया भी सूचित करते हैं कि वे श्रीजनकजी की कन्या हैं, श्रेष्ठ हाथी की-सी उनकी चाल है। हंस-गामिनी नहीं कहा, क्योंकि संभवतः शबरीजी ने हंस न देखा हो, पर हाथी तो अवश्य देखा होगा, क्योंकि उसी वन के प्रति कहा है; यथा-"बहु खग मृग तहँ गज पंचानन ॥" (दो॰ ११)।

(२) 'पंपासरहि जाहु'''सो सब'''—इसने मतंगजी से सुन रक्खा है, ऊपर लिखा गया कि वे इसे श्रीरामजी का महत्त्व और उनका आकर दर्शन देना आदि भविष्य बातें समझाकर परधाम गये थे। 'देव'— अर्थात् आप दिव्य ज्ञान से सब जानते ही हैं। 'रघुवीर' और 'मतिधीर' हैं, अतः, शत्रु को मारेंगे। क्योंकि बुद्धि और बल से ही विजय होती है; यथा-"बुधि बल सकिय जीति जाही सों।" (सुं॰ दो॰ ५)।

(३) 'बार-बार प्रभु-पद सिर नाई'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में शिर नवाती है; यथा—"पद अंबुज गहि बारहि बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥" (सुं॰ दो॰ १८); "अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा।" बार-बार कर दंड प्रनामा॥" (उ॰ दो॰ १८)। 'सब कथा सुनाई'—जो इससे गुरुजी कह गये थे कि श्रीरामजी पधारेंगे, तुम उनका आतिथ्य कर और दर्शन करके शरीर त्याग देना। कथा ऊपर सूक्ष्म रूप में दी गई। बा॰ आ॰ स॰ ७४ में विस्तार से है। श्रीजानकीजी के विषय की कथा तो सुग्रीवजी कहेंगे—यह शबरीजी पहले ही कह चुकी हैं।

विशेष—(१) 'हरि-पद लीन भइ······'—श्रीशबरीजी राम-पदानुरागिनी थीं, इसीसे 'पद लीन भइ' भी कहा गया ; यथा—"सबरी परी चरन लपटाई ।"; "पुनि-पुनि पद सरोज सिर नावा ।"; "सादर जल लै चरन पखारे ।"; "बार-बार प्रभु पद सिर नाई ।"; "हृदय पद पंकज धरे ।" वैसे ही यहाँ—"हरि पद लीन भइ" कहा गया है । तथा—"छलिन की छोड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति, कीन्हीं लीन आपमें सुनारी भोड़े भील की ।" (क० उ० १७); पद का स्वरूप और परम पद (धाम) भी अर्थ होता है । धाम भी भगवान् का शरीर एवं स्वरूप है । अतः, 'आपमें' और 'पद' में लीन होने का तात्पर्य यह कि भगवद्धाम को प्राप्त हुई, यही अर्थ 'जहँ नहिं फिरे' से भी सूचित किया; यथा—"यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।" (गीता ८।२१); सब प्रकार के मुक्त जीव परम धाम को ही जाते हैं, वे फिर संसार में नहीं आते । इसपर अनन्त श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य-प्रणीत वेदान्त के आनंद भाष्य ४।४।२२ की व्याख्या देखिये । श्रीमदाचार्य चरण ने श्रुति, स्मृति, इतिहास के प्रमाणों के साथ विस्तार से कहा है ।

(२) 'नर विविध कर्म···'—'नर'—यह संबोधन देकर उपदेश देते हैं कि ऐसी स्त्री को भी मुक्ति दी, तो तुम तो नर होने से उत्तम अधिकारी हो । 'विस्वास करि'—क्योंकि बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती ; यथा—"बिनु बिस्वास भगति नहिं " (उ० दो० ९०); विश्वास यह कि जब शबरी को मुक्ति दी, तब मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे; यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।···किं पुन र्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।···भजस्व माम् ॥" (गीता ९।३०।३३) । 'राम-पद-अनुरागहू ।' यहाँ पदानुरागिनी का प्रसंग है, इससे यही कहते हैं । 'विविध कर्म'—भक्ति से भिन्न जो भाँति-भाँति के कर्म हैं, वे शोक-प्रद हैं ; यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं । रक्त बीज सम बाढ़त जाहीं ॥" (वि० १२८) । 'बहु मत' ; यथा—"बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।" (वि० १७३) ।

(३) 'जाति हीन अघ जन्म महि ······'—'जाति हीन' इससे लोक-नष्टता और 'अघ जन्म महि' से परलोक-नष्टता सूचित की । जाति हीनता यह कि शबर-जाति वर्णाश्रम में परिगणित है ।

"बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा । जेहि बिधि गये सरोवर-तीरा ॥"—प्रकरण

चले राम त्यागा बन सोऊ । अतुलित बल नर-केहरि दोऊ ॥१॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा । कहत कथा अनेक संबादा ॥२॥
लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा । देखत केहिकर मन नहिं छोभा ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने उस वन को भी छोड़ा और आगे चले, वे दोनों भाई अतुल बलवान् और मनुष्यों में सिंह (के समान) हैं ॥१॥ प्रभु विरही की तरह दुःख कर रहे हैं और (विरह-विषाद के) अनेक संवाद की कथाएँ कहते हैं ॥२॥ हे श्रीलक्ष्मणजी ! वन की शोभा देखो, इसे देखकर किसका मन चलायमान न होगा ? अर्थात् सभी का मन क्षुभित हो जायगा ॥३॥

विशेष—(१) 'चले राम त्यागा बन सोऊ ।'—'सोऊ' अर्थात् मतंग वन को छोड़कर, उससे भी आगे पंपासर के वन को चले । वनों के विभाग पृथक्-पृथक् हैं—

1. गंगातट से चित्रकूट एवं अत्रि-आश्रम तक एक वन है ; यथा—"सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ ॥" (अ० दो० १०४); पुनः—"कहेउँ राम बन-गवन सुहावा ।" (अ० दो० १२१) ।

२ अत्रि के यहाँ से शरभंगाश्रम तक विराधवाला वन है ; यथा—"तब मुनि सन कह कृपानिधाना । आयसु होइ जाउँ बन आना ॥" (दो० ५) ।

३ शरभंगाश्रम से अगस्त्याश्रम तक एक वन है ; यथा—"पुनि रघुनाथ चले वन आगे ।" (दो० ८) ।

४. फिर पंचवटी और जनस्थान का वन है, यथा—"दंडक वन पुनीत प्रभु करहू ।" (दो० १३) ।

५. तब आगे क्रौंच-वन, कबंध-वाला वन और मतंग-वन आदि कई वन मिले । इन्हें—"चले बिलोकत बन बहुताई ।" (दो० ३२) ; से जनाया गया है ।

६. अब मतंग-वन से पंपातट के वन को जा रहे हैं अतः, 'चले राम त्यागा···' कहा गया ।

(२) 'अतुलित बल नर-केहरि दोऊ ।'—ऐसे घोर वन में क्रीड़ापूर्वक विचरना सिंह के समान बलवान् मनुष्य का ही काम है । जैसे, एक ही सिंह वन के लिये बहुत है,वैसे ये एक ही विश्व-भर की विजय कर सकते हैं, फिर भी दोनों हैं, तो क्या कहना ? सिंह की तरह गहर वन में आनंद क्रीड़ाकर रहे हैं ।

(३) 'बिरही इव प्रभु करत···'—'इव' पद से विरह की लीला-मात्र सूचित की गई । भीतर से तो क्रीड़ा ही है । श्रीजानकीजी का वियोग भी लीला-मात्र ही है, इन्होंने अग्नि में निवास किया है, तब भी श्रीरामजी में ही हैं, अग्नि भी श्रीरामजी का तेज ही है । पहले भी कहा गया—"मनहुँ महा बिरही अति कामी ।" (दो० २९), तथा—"बिरह बिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥" (बा० दो० ४८) ।

(४) 'कहत कथा अनेक···'—नल, पुरुरवा आदि के अनेक विषाद के प्रसंग कहते हैं । 'देखत केहि कर मन नहिं छोभा ।'—किसे कामोद्दीपन नहीं होता ?

नारि-सहित सब खग-मृग-बृंदा । मानहुँ मोरि करतहहिं निंदा ॥४॥
हमहि देखि मृग-निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥५॥
तुम्ह आनंद करहु मृग-जाये । कंचन-मृग खोजन ये आये ॥६॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं । मानहुँ मोहि सिखावन देहीं ॥७॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय ॥८॥
राखिय नारि जदपि उर-माहीं । जुबती-सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥९॥

शब्दार्थ—राखिय = रक्षा किये जाने के योग्य ।

अर्थ—सब पक्षी और पशुओं के झुंड स्त्री-सहित हैं, मानों मेरी निंदा कर रहे हैं, (कि ऐसे ही तुम भी अपनी स्त्री को साथ लिये रहते, तो आज रोना क्यों पड़ता ?) ॥४॥ हमें देखकर मृगों के झुंड भागते हैं, तब मृगियाँ कहती हैं कि हे मृगपुत्र ! तुमको डर नहीं है, (तुम क्यों भागते हो ?), तुम आनंद करो, तुम तो मृग से पैदा हुए हो, ये तो सोने के मृग को खोजने आये हैं ॥५-६॥ हाथी हथिनियों को साथ लगा लेते हैं, मानों मुझे शिक्षा देते हैं, (कि इस तरह सदा स्त्री को साथ रखना चाहिये था) ॥७॥ अच्छी तरह मनन किये हुए शास्त्र को भी बार बार देखना चाहिये । अच्छी तरह से

सेवा किये हुए राजा को भी वश में न समझना चाहिये ॥८। स्त्री सदा रक्षा किये जाने के योग्य है, चाहे वह हृदय (गोद) में ही रहती हो, (क्योंकि) स्त्री, शास्त्र और राजा वश में नहीं रह सकते ॥९॥

विशेष—(१) यहाँ ६ अर्द्धालियों में अत्यन्त क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा है। प्रायः लोग औरों की निन्दा किया करते हैं, परन्तु कभी पश्चात्ताप एवं ग्लानिवश मनुष्य अपना भी उपहास स्वयं करता है। वह यहाँ श्रीरामजी दिखा रहे हैं, पशुओं के झुंड जोड़े-सहित रहते हैं। यह देखकर खीझते हैं कि ये पशु भी हमसे बुद्धिमान् हैं, ये जोड़ा सहित फिरते हुए मेरी निंदा प्रकट कर रहे हैं कि तुमसे तो हम ही लोग चतुर हैं।

(२) 'हमहि देखि मृग'''तुम्ह आनंद करहु''''''—मृग मनुष्यों को देखकर भागते हैं, कुछ दूरी पर जाकर खड़े हो जाते हैं और फिर पीछे देखने लगते हैं—यह उनका स्वभाव है। उनके भागने और खड़े हो जाने पर दो कल्पनाएँ करते हैं—'हमहि देखि '''—देखकर भागते हैं कि हमको मारेंगे। पुनः—'मृगी कहहिं'''—जब मृगी गण कहती हैं कि तुम न डरो, तब खड़े हो जाते हैं

मृगियाँ ताना मारती हैं कि हे मृगो ! तुम तो मृग से पैदा हुए हो, तुम्हें ये क्या करेंगे ? ये तो सोने का मृग खोजने आये हैं, भाव यह है कि भला कहीं सोने का भी मृग होता है ? ये इतना भी नहीं जानते, इसीसे कंचन के लिये स्त्री गँवा दी। कंचन देकर भी कंचनी (स्त्री) की रक्षा करनी चाहिये, पर इन्होंने तो उलटा ही किया। मृगियों को भय नहीं, क्योंकि शिकारियों की यह मर्यादा है कि वे मादा पर अस्त्र नहीं चलाते।

खग-मृग छोटे हैं। अतः, उनका ताना मारना एवं निन्दा करना कहा गया, पर हाथी बड़े और गंभीर होते हैं, अतः, उनका उपदेश करना कहते हैं—

(३) 'संग लाइ करिनी'''—सूड़ से इशारा करके साथ ले लेते हैं, इस प्रकार हाथी सिखाते हैं कि तुम्हारे तो हाथ हैं, हाथ से पकड़े रहते तो स्त्री कैसे जाती ? मृगियाँ स्त्री हैं इससे उन्होंने ताना मारा, पर ये हाथी पुरुष हैं, इससे शिक्षा देते हैं। शिक्षा का और स्वरूप आगे दो अर्द्धालियों में कहते हैं—

(४) 'सास्त्र सुचिंतित राखिय नारि '''; यथा—"शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयमाराधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः। क्रोडे कृतापि युवती परिरक्षणीया शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥" (सुभाषित रत्नभाण्डागारम्); अर्थ चौपाइयों का ही है। 'बस नहिं लेखिय' का भाव 'परिशंकनीयः' से स्पष्ट हो जाता है कि सुसेवित राजा से भी शंकित ही रहना चाहिये। 'राखिय नारि''' का भाव भी 'क्रोडे कृतापि''' से स्पष्ट हो जाता है कि चाहे स्त्री गोद में भी बैठी हो, तब भी उसकी रक्षा करनी ही चाहिये।

ऊपर लोभी मानकर निंदा करने की और अनभिज्ञ मानकर शिक्षा देने की कल्पना की है। आगे वसंत की शोभा पर भय की भी कल्पना करते हैं—

देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥१०॥

दोहा—बिरह-बिकल-बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर-खग, मदन कीन्हि बगमेल ॥

देखि गयउ भ्राता-सहित, तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहु तब, कटक हटकि मन जात ॥३७॥

अर्थ—हे तात ! शोभायमान वसन्त-ऋतु को देखो, प्रिया के विना मुझे उससे भय उत्पन्न हो रहा है ॥१०॥ मुझे विरह से व्याकुल, निर्बल और निपान्द (बिल्कुल) अकेला जानकर कामदेव ने (सुशोभित) वन, भ्रमरों और पक्षियों के साथ चढ़ाई की ॥ उसका दूत पवन मुझे भाई के साथ (अकेला नहीं) देख गया, तब मानों उसकी बात सुनकर कामदेव ने (सुसज्जित) कटक को रोककर डेरा डाल दिया ॥३७॥

विशेष—(१) 'बसंत सुहावा···भय उपजावा'—विरही को सुहावनी वस्तु अधिक दाहक होती है, इसीसे भय होता है कि मेरी क्या दशा होगी, वा प्रिया की क्या दशा होगी ? यथा—"श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषी च मे प्रिया । नूनं वसंतमासाद्य परित्यक्षति जीवितम् ॥" (वाल्मी० ४।१।५०) ।

यहाँ कामोद्दीपक पदार्थों को देखकर भय होना कहा गया है, ऐसे ही वियोग-शृंगार की दस दशाएँ कही गई हैं ; जैसे—(१) अभिलाषा, (२) चिंता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) संप्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता और (१०) मृत्यु ।

(२) 'बिरह बिकल बलहीन···'—विरही को वन की शोभा, भ्रमरों की गुंजार और पक्षियों की बोली एवं रूप-रंग आदि की शोभा विरह को अधिक उद्दीप्त करती हैं । इसीसे इन्हें लेकर काम की चढ़ाई करना कहते हैं । 'बगमेल' का अर्थ दो० १८ तथा बा० दो० ३०५ पर भी लिखा गया है । ऊपर बसंत कह कर तब काम की चढ़ाई कही, क्योंकि वसंत काम का सेनापति है, वह चढ़ाई करने में साथ रहता है ; यथा—"तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ । निज माया बसंत निरमयऊ ॥" (बा० दो० १२५); "भूप बाग बर देखेउ जाई । जहँ बसंत रितु रही लोभाई ॥ ··मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं ।···" (बा० दो० २२६–२९) । पुनः वन-पक्षी आदि की शोभा भी सर्वत्र ऐसे स्थलों पर कही गई है । 'निपट अकेल'—भाव-प्रिया के विना अकेला तो हूँ ही, पर उसने तो बिल्कुल ही अकेला जान लिया था (कि भाई भी नहीं हैं) ।

(३) 'तासु दूत सुनि बात'—यहाँ 'बात' शब्द श्लिष्ट है, वचन और वायु दोनों अर्थों में है । वायु दूत है ; यथा—"त्रिविधि बयारि बसीठी आई ।" आगे कहा है । यहाँ दूत को 'बात' पुँल्लिंग कहा है, क्योंकि 'देखकर लौटना' कहना है । आगे जब उसे सबको चुनौती देना कहेंगे, तब 'बयारी' स्त्रीलिंग कहेंगे, क्योंकि स्त्री पुरुषों को वश करनेवाली होती है । हमको निर्मल जानकर धावा तो किया, पर जब देखा कि उनके रक्षक बड़े प्रबल भाई भी साथ हैं, जिनसे वह जीत न सकेगा, तब रुक गया । तात्पर्य यह कि दूसरे के साथ रहने पर काम जोर नहीं करता, अकेले ही में अधिक प्रमाद करता है, क्योंकि 'मन जात' है, अर्थात् मन को दूसरा आधार न रहने से वह प्रकट होता है ।

बिटप बिसाल लता अरुझानी । बिबिध बितान दिये जनु तानी ॥१॥
कदलि ताल बर ध्वजा-पताका । देखि न मोह धीर मन जाका ॥२॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना । जनु बानैत बने बहु बाना ॥३॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये । जनु भट बिलग बिलग होइ छाये ॥४॥

कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥५॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥६॥
तीतर लावक पदचर-जूथा। बरनि न जाइ मनोज-बरूथा ॥७॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन गन बरना ॥८॥
मधुकर-मुखर भेरि सहनाई। त्रिविध बयारि बसीठी आई ॥९॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे ॥१०॥

शब्दार्थ—ढेक=पानी के किनारे रहनेवाली एक चिड़िया। महोख=कौए के बराबर का एक पक्षी, इसके पैर काले और पूँछ काली, आँखें लाल और शेष अंग खैरे रंग के या लाल होते हैं। बिसरात (सं० वेसरः)=खच्चर।

अर्थ—बड़े-बड़े वृक्षों में लताएँ लपटी हुई हैं, मानों अनेक चँदोवे तान दिये गये हैं ॥१॥ केले और ताल (ताड़ के वृक्ष) ध्वजा और पताका हैं, इन्हें देखकर जिसका मन मोहित न हो, वही धीर पुरुष है ॥२॥ अनेक वृक्ष अनेक प्रकार से फूले हुए हैं, मानों बहुत बानेबन्द (वीर) बहुत-से बाने धारण किये हुए सुशोभित हैं ॥३॥ कहीं-कहीं सुन्दर वृक्ष शोभायमान हैं, मानों योद्धा हैं जो (सेना से) अलग-अलग होकर छाये (ठहरे) हैं ॥४॥ कोयलें बोलती हैं वे ही मानों मतवाले हाथी (चिंघाड़ते) हैं, ढेक और महोख मानों ऊँट और खच्चर हैं ॥५॥ मोर चकोर, तोते, कबूतर और हंस—ये सब उत्तम ताजी घोड़े हैं ॥६॥ तीतर और लवा पैदल-सिपाहियों के झुंड हैं, कामदेव की सेना का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥७॥ पर्वत की शिलाएँ रथ हैं, पानी के झरने नगाड़े हैं, पपीहा भाट हैं, जो गुण गण (विरुद) वर्णन करते हैं ॥८॥ भ्रमरों की गुंजार भेरी और शहनाई हैं, शीतल, मंद, सुगन्ध—तीनों प्रकार की हवा आ रही है, वही दूत का आना है ॥९॥ चतुरंगिनी सेना साथ में लिये हुए (काम) सबको चुनौती (ललकार) देता हुआ विचरता है ॥१०॥

विशेष—(१) 'कदलि ताल बर···'—केला वृक्ष छोटा और ताड़ बड़ा होता है, वैसी ही क्रमशः ध्वजा और पताका की ऊँचाई होती है। 'जनु बानैत···'—बानैत वीर तरह तरह के शस्त्र लिये हुए, यूथ-के-यूथ भिन्न-भिन्न रंग की वर्दियाँ पहने रहते हैं, वैसे ही वृक्षों के विविध रंग के पुष्प हैं। 'तीतर लावा पदचर जूथा'—इन्हें पैदल आदि न कहकर 'पदचर' कहा गया है, क्योंकि ये पक्षी अधिक पाँव से ही चलते हैं। 'कूजत पिक···'—वसन्त का समय है, फूल फूल रहे हैं, काली कोयलें बौरे (फूले) हुए आम के वृक्षों पर बैठी हैं। आम की बौरें ही मानों सोने की जंजीर (सीकड़) हैं। वायु लगने से पल्लव के साथ कोयल कुछ हिलती है, इसीसे उसे 'माते' कहा है। 'पारावत मराल सब ताजी'-ये झुंड-के-झुंड साथ रहते हैं, ऐसे ही घोड़सवार सेना के झुंड-के-झुंड भी साथ रहते हैं। 'रथ गिरि सिला'—यहाँ सेना पड़ी है, इसी से शिला (अचल) कहा है। 'चातक बंदी गुन गन बरना।'; यथा—"बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम।" (अ० दो० १०५); वैसे ही चातक काम के गुण-गण गाता है, 'पिय-पिय' इसके शब्द हैं, अर्थात् तुम सबको प्रिय हो; यथा—"समुझि कामसुख सोचहिं भोगी।" (बा० दो० ८६)। पुनः 'पिय' अर्थात् सबके पति हो, क्योंकि काम से सबकी उत्पत्ति होती है; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" (गीता १०।२८); 'त्रिविध बयारि बसीठी आई।' काम ने डेरा डाल दिया है, ऊपर कहा गया उसीकी ओर से त्रिविध बयारि दूत रूप में आई है। आकर मानों कहती है कि अभी काम की शरण हो; यथा—"चली सुहावनि त्रिबिधि बयारी।

कृसानु बढ़ावनि हारी ॥" (बा० दो० १२५)। अर्थात् त्रिविध वायु से कामोद्दीपन होता है, जिससे हृदय उसके बश हो जाता है।

(७) 'चतुरंगिनी सेन ···'—'गज माते'—गज; 'बर बाजी'—घोड़े; 'पदचर जूथा'—पैदल और 'रथ गिरि सिला'—रथ; ये चारों चतुरंगिनी सेना हैं। 'बिचरत सबहि···'—सबको ललकारता फिरता है, प्रतिभट पाता ही नहीं; यथा—"रन मद मत्त फिरै जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥" (बा० दो० १८१)।

लछिमन देखत काम - अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ॥११॥
येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥१२॥

दोहा—तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि ॥३८॥

अर्थ—हे श्रीलक्ष्मणजी ! काम की सेना देखकर जो धैर्यवान बने रह जाते हैं, उनकी संसार में साख (बंधी हुई मर्यादा) है ॥११॥ स्त्री इसका एक परम बल है, उससे जो बच जाय, वही बड़ा भारी योद्धा है ॥१२॥ हे तात ! काम, क्रोध और लोभ, ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। विज्ञान के धाम मुनियों के मन को भी पल-मात्र में ये विचलित कर देते हैं॥ चाह और दंभ लोभ के बल हैं, काम के स्त्रीमात्र बल हैं और क्रोध का बल परुष वचन है—मुनि श्रेष्ठ विचारकर यह कहते हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'लछिमन देखत '—बन और बसंत की शोभा-वर्णन में श्रीलक्ष्मणजी को प्रथम ही संबोधन किया; यथा—"लछिमन देखु बिपिन कै सोभा।" 'देखहु तात बसंत सुहावा।" पर काम की सेना वर्णन में पीछे यहाँ कहा—'लछिमन देखत···' इस तरह कामादि तीनों में विलक्षणता दिखाई। 'रहहिं धीर··'—इस सेना के आगे धैर्यवान् भी भाग जाते हैं; यथा—'भागेउ बिबेक सहाय सहित ·" (बा० दो० ८४) पर जो खड़े रह गये, उनकी संसार में सुभटों में गणना होती है। ऊपर कहा था—"देखि न मोह धीर मन जाका।" उसी को यहाँ कहते हैं कि वे लोक-प्रसिद्ध होते हैं ; यथा—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥" (कुमारसंभव '; यह मानों श्रीलक्ष्मणजी की बड़ाई है।

(२) 'येहि के एक परम बल नारी'—चतुरंगिनी सेना बल है और नारी परम बल है। वा, काम स्वयं बली है, सेना द्वारा प्रबल है और नारी के द्वारा परम बली है। इसे जीते वह भट, सेना समेत को जीते वह सुभट और नारी सहित को जीते, वह भारी सुभट है। नारी के द्वारा ही इसके पाँचों बाण चलते हैं—स्त्री की चाल में आकर्षण, चितवन में उचाटन, हँसी में मोहन, बोलने में वशीकरण और रति में मारण।

(३) 'तात तीनि अति प्रबल ·····' ; यथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।

तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।" (दो० ४१)। पहले नारी को परम खल कहा था। अब तीन और भी कहते हैं। यहाँ काम का प्रकरण है; पर तीनों कहे गये, क्योंकि काम ही क्रोध और लोभ भी हो जाता है; यथा—"काम एष क्रोध एष···" (गीता ३।३७); "कामै क्रोध लोभ बनि दरसै तीनों एकै तन में (काष्ठजिह्वा स्वामी)। तीनों के तीन प्रकार के बल भी पृथक्-पृथक् कहे गये, क्योंकि तीनों अपने-अपने बलों से अति प्रबल हैं।

यहाँ काम का प्रसंग है, इसलिये 'काम' को पहले कहा है—'काम क्रोध मद लोभ।' ऐसे ही—"लोभ के इच्छा ····" इस अगले दोहे में 'लोभ' की प्रधानता है और—"क्रोध मनोज लोभ मद माया।·" आगे कहा है। उसमें 'क्रोध' की प्रधानता है। भाव यह कि तीनों एक-से-एक प्रबल हैं, कम कोई नहीं है।

(४) 'मुनि बिज्ञान धाम मन··'; यथा "नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम बादी॥·को जग काम नचाव न जेही।·केहिकर हृदय क्रोध नहिं दहा।···केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न यहि संसार॥" (उ० दो० ११।७०)—इसमें नारद का नाम पहले कहा है, क्योंकि वे विश्वमोहनी से काम वश हुए फिर क्रोध किया, इसकी कथा बालकाण्ड में विस्तार से है।

(५) 'लोभ के इच्छा दंभ बल··· ···'—जब किसी विषय की चाह होती है, साथ ही दंभ रचा जाता है; तब लोभ की जीत होती है। अपनेको श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय एवं महात्मा आदि सूचित करने की चेष्टाएँ दंभ हैं। स्त्री से प्रीति-व्यवहार हुए कि काम की विजय हुई। क्रोध की जय भी कठोर वचन बोलने के साथ जानना चाहिये। अतः, इच्छा उठते ही उसे दबा दे, स्त्री की चाह न होने पावे और कठोर वचन सुनकर उत्तर न दे, ये तीनों से बचने के उपाय हैं।

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥१॥
कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥२॥
क्रोध मनोज लोभ मद-माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥३॥
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला॥४॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब-सपना॥५॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी सत, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे हैं, चराचर-मात्र के स्वामी और सबके अंतःकरण के जाननेवाले एवं प्रेरक हैं॥१॥ उन्होंने कामी लोगों की दीन दशा दिखाकर धीर पुरुषों के मन में वैराग्य को दृढ़ किया है (कि स्त्रियों की आसक्ति से ऐसी दीन दशा होती है, अतएव इनसे वैराग्य ही रखना चाहिये)॥२॥ क्रोध, काम, लोभ, मद और माया—ये सब श्रीरामजी की कृपा से छूट जाते हैं॥३॥ (जैसे कि) जिसपर वह नट प्रसन्न होता है, वह मनुष्य इन्द्रजाल में नहीं भूलता॥४॥ हे उमा! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि हरि-भजन सत्य है और समस्त जगत् स्वप्नवत् (झूठ) है॥५॥

विशेष—(१) 'गुनातीत सचराचर······'—जब ऐसे हैं, तो अज्ञान से रोते क्यों हैं, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'कामिन्ह कै दीनता देखाई।···'—ऊपर—"देखहु तात बसंत सुहावा।··· एवं—बिरह बिकल बल हीन मोहि··" इत्यादि कथन से कामियों की दीन दशा दिखाकर धीरों को

वैराग्य की शिक्षा दी। दीनता; यथा—"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जगलीका॥" धीरता; यथा—"देखि न मोह धीर मन जाका।" इत्यादि रीति से दोनों बातें दिखाईं; यथा—"आत्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथमश्चचार।" (भाग० ९।१०।११)।

(२) 'क्रोध मनोज लोभ•••'—ये सब श्रीरामजी की दया से छूट जाते हैं, तो उन्हें काम आदि विकार कैसे व्याप सकते हैं; यथा—"जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई।" (बा० दो० ११७)—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥" (बा० दो० ११५); श्रीरामजी की दया से इनका छूटना; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जब दाया॥ नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०); तथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना।" से "तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव सूला॥" (सु०दो०४६); इत्यादि अरण्य, किष्किंधा और सुंदर इन तीनों कांडों की वन-लीला में श्रीरामजी की दया से ही कामादि का छूटना कहा है। श्रीरामजी की दया कैसे हो? इसका उपाय उनकी भक्ति है; यथा—"कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।" (दो० १६); अतः, आगे भक्ति कहते हैं—

(३) 'सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला•••'—इन्द्रजाल का खेल झूठा होता है, वैसे 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व जगत् झूठा है। इसे ही आगे 'जगत सब सपना' कहकर स्पष्ट किया है। जिसे पूर्व अ० दो० ९१-९२ में विस्तार से कहा गया है। सुत-वित-देह-गेहादि भगवान् के शरीर हैं, इनके कार्य उन्हीं के खेल हैं जिसपर वे अनुकूल होते हैं, उसे यह बात जना देते हैं कि सारा जगत् मेरा ही शरीर है। तब उसकी दृष्टि में नानात्व सत्ता निवृत्त हो जाती है, फिर राग-द्वेष की जड़ ही नहीं रह जाती; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।" (गीता ११।४७); अर्थात् प्रसन्न (अनुकूल) होकर भगवान् ने अर्जुन को विराट् रूप दिखाया, तब उन्होंने सब जगत् को भगवान् के शरीर-रूप में ही देखा। पुन:, इस प्रसन्नता के कार्य को अनन्य भक्ति से ही होना कहा है; यथा—"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥" (गीता ११।५४)। तात्पर्य यह कि भजन करने से श्रीरामजी अनुकूल हो जाते हैं तो वे नानात्व जगत् की स्वप्नवत् सत्ता निवृत्त करा देते हैं। तब कामादि विकारों की जड़ ही कट जाती है। उसी को श्रीशिवजी अनुभव से कहते हैं।

(४) 'उमा कहउँ मैं अनुभव•• '—इसी कांड की लीला में उमा को सती तन में मोह हुआ था। इसलिये सीता-खोज-प्रसंग में यहाँ बार-बार 'उमा' के ही संबोधन आये हैं; यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी" (दो० १२); "राम उमा सब अंतरजामी।" एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव ••" यहाँ कहा है। 'सत हरि भजन जगत सब सपना।'—जब जगत् की नानात्व सत्ता रूपी स्वप्न की सत्यता निवृत्त होती है तब चराचरात्मक जगत् रूप से सुख देनेवाले भगवान् ही साक्षात्कार होते हैं और फिर जगत्-व्यवहार ही भजन रूप हो जाता है; यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥" (गीता ६।३१); "सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम।" (उ० दो० १६); नानात्व-सत्ता-निवृत्ति का उपाय भी श्रीमुख से कहा गया है; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा•••अस सज्जन मम उर बस•••" (सुं० दो० ४८)।

पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा॥१॥

संत - हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी ॥७॥
जहँ-तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार-गृह जाचक - भीरा ॥८॥

दोहा—पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥
सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म-सीलन्ह के, दिन सुख-संजुत जाहिं ॥३९॥

अर्थ—फिर प्रभु पंपा नाम के सुन्दर और गहरे सरोवर के तट पर गये ॥६॥ सन्त के हृदय-जैसा उसका निर्मल जल है, उसमें मन को हरनेवाले चार घाट बाँधे गये हैं ॥७॥ तरह-तरह के पशु जहाँ-तहाँ जल पी रहे हैं, मानों दाता के घर भिक्षुओं की भीड़ लगी हो ॥८॥ घनी पुरइनि की ओट में शीघ्र जल का पता नहीं चलता, जैसे माया से ढँका रहने पर निर्गुण ब्रह्म नहीं देख पड़ता (नहीं अनुभव होता)॥ सब मछलियाँ अत्यन्त गहरे जल में सदा एकरस सुखी रहती हैं, जैसे धर्मात्माओं के दिन सुख-सहित बीतते हैं ॥३९॥

विशेष—(१) 'पुनि प्रभु गये···'—'पुनि' शब्द से प्रसंग का बदलना सूचित किया। विरह-वर्णन करते हुए सरोवर तक आने का प्रसंग पूरा हुआ, अब आगे सर का वर्णन है। 'पंपा नाम'—'पंपानामक' नदी से यह सर हुआ है, इसीसे इसका नाम पंपा-सर है। 'संत-हृदय जस···'—तालाब के जल में काई की मलिनता और सेंवार-रूपी दोष रहते हैं, वे इसमें नहीं हैं, जैसे संतों के हृदय में विषय-रूपी काई और विषय-कथा-रूपी सेंवार नहीं रहते ; यथा—"काई-विषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११५); "संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय-कथा-रस नाना॥" (बा० दो० ३८); उनका हृदय विषयरस से नीरस होता है।

(२) 'जनु उदार-गृह···'—जैसे उदार के यहाँ से याचक सब कुछ पाते हैं, वैसे ही इसमें सभी प्रकार के जीवों के लिये जल का सुपास है।

(३) 'पुरइनि सघन ओट जल···'—यहाँ माया के आवरण को पुरइनि की और निर्गुण ब्रह्म को जल की उपमा दी गई है। 'मैं, मोर, तैं, तोर' इस तरह की भावना माया कहलाती है, यह भावना जगत् को ब्रह्म का शरीर न मानने से होती है। इसी से 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' के रूप में नानात्व दृष्टि का विलास रहता है। जैसे पुरइन के बहुत-से पत्ते मिलकर आवरण-से बने रहते हैं, वैसे ही इस नानात्व के व्यष्टिभेद (चर-अचर) बहुत हैं। जैसे पुरइनि के हटने से जल प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे नानात्व-दृष्टि के हटने से जगत् ब्रह्म के शरीर-रूप में दिखलाई पड़ता है, यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१); अर्थात् यह सब (जगत्) निश्चय ही ब्रह्म है—यह सगुण का देखना होता है। पुनः ब्रह्म सर्व जगत् का आधार होता हुआ भी इन सबसे निर्लिप्त है, ऐसा निश्चय होना निर्गुण ब्रह्म का देखना है ; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (लं० दो० ११२); "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गीता ९।४)। अर्थात् मुझ अव्यक्त-

मूर्त्ति अव्यक्त से यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत मुझमें स्थित हैं; (मेरे आधार से ही उन की स्थिति है) किन्तु, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ (उनसे निर्लिप्त हूँ)। अतः, भगवान् का सर्वाधार होना सगुणत्व और सबसे निर्लिप्त रहना उनका निर्गुणत्व है।

(४) 'सुखी मीन सब एकरस'''—'मीन सब' के जोड़ में 'धर्मशीलन्ह' यह बहुवचन कहा गया है। अनेक प्रकार की मछलियों की तरह अनेक प्रकार के धर्मात्मा हैं। धर्म अति अगाध जल है, इससे भी सुख होता है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥" (उ० दो० २०)। 'दिन सुख-संजुत जाहिं' अर्थात् बीतते जाते हैं। जब पुण्य-भोग समाप्त होते हैं, तब फिर उन्हें स्वर्ग से मर्त्यलोक में आना पड़ता है; यथा—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।" (गीता ९।२१)। किष्किंधाकांड में कहा है—"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा॥" (दो० १६); अर्थात् हरि-शरण में प्राप्त होने से फिर कोई बाधा नहीं रहती; यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ९।३१) यह धर्म और प्रपत्ति में भेद है।

पहले वियोग शृंगार कहकर तब यहाँ शांत-रस कहा, क्योंकि यहाँ आते ही काम के वेग का शांत होना दिखाना था।

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥१॥
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥२॥
चक्रबाक-बक खग-समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥३॥
सुंदर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥४॥
ताल-समीप मुनिन्ह गृह छाये। चहुँ दिसि कानन-बिटप सुहाये॥५॥

अर्थ— अनेक रंग के कमल खिले हुए हैं, बहुत-से भौंरे मधुर शब्द से गुंजार कर रहे हैं॥१॥ जल-मुर्ग और कलहंस ऐसे बोल रहे हैं, मानों प्रभु को देखकर उनकी प्रशंसा कर रहे हों॥२॥ चकवा, बगुला आदि पक्षियों के समुदाय देखते ही बनते हैं, वर्णन नहीं किये जा सकते॥३॥ सुंदर पक्षिगणों की बोलियाँ सुहावनी लगती हैं, मानों जाते हुए बटोही को बुलाये लेती हों॥४॥ तालाब के पास मुनियों के आश्रम बने हुए हैं, चारों ओर वन के वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं॥५॥

विशेष—(१) 'बिकसे सरसिज'''—पुरइन कहकर ही कमल कहना था, पर बीच में मछलियाँ कही गईं, क्योंकि जैसे पुरइनि की ओट में जल है, वैसे ही जल की ओट में मछलियाँ हैं। अतः, साथ ही उन्हें भी कहा। 'नाना रंगा'—कमल कई रंग के होते हैं। जैसे, राजीव और कोकनद लाल, पुण्डरीक श्वेत और नीलोत्पल श्याम रंग के होते हैं। पीत रंग के भी कमल अन्य देशों में सुने जाते हैं। बा० दो० ४० भी देखिये। भ्रमर कमल के पूर्णस्नेही होते हैं, इसलिये साथ ही उन्हें भी कहा। उनके पीछे जल-पक्षी भी कमल के स्नेही कहे जाते हैं। अतः, उन्हें भी कहते हैं—'बोलत जल-कुक्कुट कलहंसा।'''—प्रशंसा यह कि आपने कृपा कर हमें भी दर्शन दे कृतार्थ किया, ऐसे शील-स्वभाववाले आपकी जय हो।

(२) 'बिकसे सरसिज नाना रंगा।' से 'बरनि नहिं जाई।' तक सर के भ्रमर और पक्षी कहे गये हैं। 'सुंदर खगगन गिरा सुहाई।' से 'कोकिल धुनि करहीं।' तक बाग के; यथा—"बहु रंग कंज

अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। आराम रम्य पिकादि खग-रव जनु पथिक हंकारहीं॥" (उ० दो० २१); 'देखत बनइ' अर्थात् स्वरूप से सुंदर हैं। 'जात पथिक जनु लेत बोलाई' से स्वर (वाणी) की सुंदरता कही गई है कि उसे सुनकर बटोही स्वयं आकर वहाँ बैठ जाते हैं; यथा—"आराम रम्य पिकादि···" ऊपर कहा गया है।

शंका—यहाँ 'कल हंसा' और 'बक' भी साथ कहे गये हैं, पर ऐसा तो नहीं होता; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत" (वि० १८५)।

समाधान—यहाँ पर पंपा-सर की उदारता है, उदार के यहाँ पात्रापात्र का विचार नहीं रहता; यथा—"जनु उदार-गृह जाचक-भीरा।"

चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस पलास रसाला॥६॥
नवपल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक-पटली कर गाना॥७॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥८॥
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥९॥

दोहा—फल-भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर-उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ॥४०॥

अर्थ—चंपा, मौलसिरी, कदम्ब, तमाल, पाटल (पाड़र), कटहल, ढूल (ढाक), आम॥६॥ आदि के अनेक वृक्ष नये पत्तों और सुगंधित फूलों से युक्त हैं, भ्रमर-पंक्तियाँ गान कर रही हैं॥७॥ शीतल, मंद और सुगंधित मन हरनेवाली सुन्दर हवा स्वाभाविक ही सदा चलती रहती है॥८॥ कोकिलाएँ कुहू-कुहू ध्वनि कर रही हैं, उनके रसीले शब्द सुनकर मुनियों के ध्यान छूट जाते हैं॥९॥ फल के बोझ से सभी वृक्ष नम्र होकर (झुककर) पृथिवी के पास आ रहे हैं (पृथ्वी को चूम रहे हैं); अर्थात् फलों से लदी हुई डालें झुक आई हैं, जैसे परोपकारी पुरुष श्रेष्ठ सम्पत्ति पाकर नम्र होते हैं॥४०॥

विशेष—(१) 'नव पल्लव कुसुमित तरु···'—से जनाया गया कि वसंत की बहार है। इसी से कोयलों का कूकना भी कहा गया है। 'सुसंपति'—जो सम्पत्ति धार्मिक वृत्ति द्वारा उपार्जित की गई हो; जो दूसरों को दुःख देकर संचित हो, वह नहीं।

(२) 'फल-भारन नमि···' यथा—"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥" (भर्तृहरि-नीति-शतक)।

देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा॥१॥
देखी सुंदर तरुबर-छाया। बैठे अनुज-सहित रघुराया॥२॥
तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये॥३॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥४॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर तालाब देखकर श्रीरामजी ने (उसमें) स्नान किया और परम सुख पाया ॥१॥ एक सुन्दर, श्रेष्ठ वृक्ष की छाया देखकर (वहाँ) श्रीरघुनाथजी भाई के साथ बैठ गये ॥२॥ तब वहाँ सभी देवता और मुनि आये, स्तुति करके अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥३॥ कृपालु श्रीरामजी परम प्रसन्नता से बैठे हुए भाई से रसीली कथाएँ कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम अति रुचिर तलावा। ...'—इतने लक्षण कहकर तब उसे अति रुचिर कहा गया। 'पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा'—प्रभु ने तीर पर खड़े होकर उसकी शोभा देखी और भाई से प्रशंसा की, इतने समय में मार्ग-श्रम भी दूर हो गया, तब स्नान किया और परम सुख पाया। इस तरह वैद्यकशास्त्र के नियम का भी निर्वाह किया कि श्रम निवृत्त करके स्नान करना चाहिये।

(२) 'तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये।...'—'पुनि'—अब दोबारा आये हैं, एक बार चित्रकूट में भी आये थे; यथा—"अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला॥ राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।..." (अ० दो० १३१); पर यहाँ श्रीरामजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, अभी श्रीनारदजी भी आकर स्वयं दंडवत् करेंगे। कारण यह है कि अयोध्या-कांड तक माधुर्य-लीला थी, तब आप मुनियों और देवताओं को प्रणाम आदि विशेष माधुर्य दृष्टि से करते थे, किन्तु इस कांड से ऐश्वर्य-प्रधान लीला चल रही है। इसी से श्रीरामजी को 'राम' 'प्रभु' 'देव' 'ईश' 'नाथ' आदि, श्रीजानकीजी को 'श्री' 'सीता' 'रमा' और श्रीलक्ष्मणजी को 'लछिमन' आदि ऐश्वर्यपरक नाम ही कहे गये हैं। 'सिय' और 'लषन' माधुर्यपरक नाम यहाँ नहीं हैं। मंगलाचरण ही में 'श्रीराम-भूप-प्रियम्' से जना दिया है। श्रीरामजी के लिये 'प्रभु' विशेषण तो बहुत आये हैं। श्रीसीताजी के लिये भी चार जगह 'जानकी', एवं 'जनकसुता' विशेषण कहे गये हैं, जहाँ माधुर्य के प्रकरण थे। इन सबोंके उदाहरण विस्तार-भय से नहीं लिखे गये।

(३) 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। ...'—परम प्रसन्न बैठे, तब कथा कहने लगे। कथा सुख-पूर्वक ही कहना चाहिये; यथा—"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे ..." (दो० ११), तब कथा कही। पुनः; यथा—"फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई॥ कहत अनुज सन कथा अनेका।" (कि० दो० १२); वैसे ही यहाँ—'बैठे परम प्रसन्न ...' कहा गया है। कथा—यहाँ पंपासर की उत्पत्ति, उसका माहात्म्य और नाम का हेतु, आदि; यथा—"मुनि सन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य-प्रभाऊ॥" (अ० दो० ३११), "सचिवहिं अनुजहिं प्रियहिं सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई॥" (अ० दो० ८६)। इत्यादि।

"प्रभु-नारद-संवाद"—प्रकरण

बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद-मन भा सोच बिसेखी ॥५॥
मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा ॥६॥
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसर आई ॥७॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥८॥
गावत राम-चरित मृदु बानी। प्रेम-सहित बहु भाँति बखानी ॥९॥

करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर-लाई ॥१०॥
स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे ॥११॥

दोहा—नाना बिधि बिनती करि, प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि ॥४१॥

अर्थ—भगवान् को विरह युक्त देखकर श्रीनारदजी के मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ कि मेरा शाप स्वीकार करके श्रीरामजी अनेक दुःखों के भार सह रहे हैं ॥६॥ ऐसे प्रभु को जाकर देखूँ, फिर ऐसा अवसर न बन आवेगा ॥७॥ यह विचार कर श्रीनारदजी हाथ में वीणा लिये वहाँ गये, जहाँ प्रभु सुख से बैठे थे ॥८॥ प्रेम-पूर्वक कोमलवाणी से बहुत तरह बखान करके राम-चरित गा रहे हैं ॥९॥ दंडवत् करते हुए उनको श्रीरामजी ने उठा लिया और बहुत देर तक छाती से लगा रक्खा ॥१०॥ स्वागत पूछकर पास बैठा लिया, श्रीलक्ष्मणजी ने आदर-पूर्वक उनके चरण धोये ॥११॥ अनेकों प्रकार से विनय (स्तुति) करके और प्रभु को प्रसन्न हृदय जानकर, श्रीनारदजी ने कमल-समान हाथों को जोड़ (ये) वचन कहे ॥४१॥

विशेष—(१) 'बिरहवंत भगवंतहि······'—पहले जब भगवान् विरही की दशा दिखा रहे थे, तभी श्रीनारदजी का यह विचार हुआ था, फिर जब प्रभु सुख से बैठे, तब तक वे आ गये।

(२) 'मोर साप करि···'—वे ईश्वर हैं, समर्थ हैं, चाहते तो शाप न मानते, पर उन्होंने कृपा करके उसको स्वीकार किया कि मेरा ऋषित्व न जाय। शाप; यथा—"नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥ साप सीस धरि···" (बा० दो० १३७); वही यहाँ—"बिरहवंत भगवंतहि देखी।" में चरितार्थ है।

(२) 'नाना दुख-भारा'; यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरु-तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात ॥" (अ० दो० २११); इन दुःखों के अतिरिक्त यह विरह की दशा और भी अत्यन्त दुःखद है।

(३) 'पुनि न बनिहि अस अवसर आई'—इस समय एकान्त है, फिर तो वानरों की भीड़ हो जायगी। तब तो उत्तर-कांड में 'सीतल अमराई' में ही अवसर मिलेगा।

(४) 'गावत राम-चरित···'—प्रेम-पूर्वक चरित-गान से भगवान् बहुत शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं, कहा भी है; यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" 'मृदु बानी'—वीणा से मिलती हुई कोमल-वाणी से। 'प्रेम सहित'—क्योंकि भगवान् की प्रसन्नता का मुख्य हेतु प्रेम ही है, यों तो वेश्या-कत्थक आदि भी गाते ही हैं, पर उनकी दृष्टि ताल स्वर ही पर विशेष रहती है। 'राम-चरित'—यहाँ 'हरि-चरित' 'प्रभु-चरित' आदि न कहकर 'राम-चरित' ही कहा गया है, इससे साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी के ही चरित को सूचित किया गया है।

शंका—शाप तो क्षीरशायी भगवान् को दिया गया था, तब उसकी संगति इस चरित के साथ कैसे होगी? क्योंकि यह मानस का चरित तो साकेत विहारी का ही है; यथा—"अपर हेतु सुनु···जेहि

कारन भयउ अगुन अरूपा। भइउ भयेउ कोसलपुर भूपा ॥"सो सब कहिहउँ..." (बा० दो० १२०); श्रीनारदजी ने यहाँ कैसे कहा ?—"मोर साप करि अंगीकारा।..." इत्यादि।

समाधान—यह समग्र चरित साकेत-विहारी का ही है, पर सब अवतारों में चरित एक ही होता है, अन्यथा नारद-शाप-जन्य सीता-हरण एवं विरह न हो, तो लीला अधूरी ही रहेगी। जैसे, श्रीभृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, पर उस चिह्न को भगवान् सब अवतारों में धारण करते हैं। पुनः शालिग्राम होने का शाप भी विष्णु भगवान् को ही हुआ, पर सब विग्रह उसमें पूजे जाते हैं। इत्यादि। भगवान् के सब रूप में तत्त्वतः अभेद है। शाप अंगीकार करने पर यहाँ श्रीनारदजी उनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं और कृतज्ञता की दृष्टि से आये हैं। 'ऐसे प्रभुहि' अर्थात् ऐसा कृपालु और कौन होगा ?

(५) 'लछिमन सादर चरन पखारे।'—श्रीनारदजी ने श्रीरामजी को स्वामी मानकर दंडवत् की इसीसे श्रीलक्ष्मणजी ने चरण धोये।

(६) 'नाना बिधि बिनती...'—'सहत राम नाना दुःख-भारा।" अतएव—"नाना बिधि बिनती करि।" अपराध-क्षमा के लिये विनती की।

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥१॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥४॥
जन कहुँ कछु अदेय नहि मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥५॥

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक ! सुनिये, आप सुन्दर, अगम और सुगम वर के देनेवाले हैं ॥१॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आप अंतर्यामि-रूप से जानते ही हैं तथापि मैं एक वर माँगता हूँ, मुझे दीजिये ॥२॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो, क्या मैं अपने भक्त से कभी छिपाव करता हूँ ? ॥३॥ कौन-सी वस्तु मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम नहीं माँग सकते हो ? ॥४॥ मेरे पास भक्त के लिये कुछ भी अदेय (न देने योग्य पदार्थ जिसे मैं न दे सकूँ) नहीं है—ऐसा विश्वास तुम भूलकर भी न छोड़ना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु उदार सहज...'—'रघुनायक'—रघु महाराज भी बड़े उदार थे जिन्होंने अपना सर्वस्व ही दान कर दिया और आप तो उस कुल के 'नायक' हैं, राजा हैं; अतः माँगता हूँ। उदार एवं राजा कहकर माँगने की रीति है; यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं" (लं० दो० १०१); 'सुंदर अगम सुगम...'—'सुंदर' अर्थात् आप परिणाम में दुःखद वर दास को नहीं देते। जैसे, मैंने विश्वमोहिनी की प्राप्ति के लिये आपका रूप माँगा, तो मेरे लिये कुपथ्य जानकर आपने मुझे नहीं दिया। 'अगम सुगम'; यथा—"तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपिनाईं ॥" (बा० दो० १४८)।

(२) 'देहु एक बर...'—आप 'स्वामी' हैं, इसीसे माँगता हूँ; यथा—"अरि जाव सो दीह जो जाँचत औरहिं।" (क० उ० २६); 'एक बर'—यद्यपि आप अनेक वर भी दे सकते हैं, तथापि मैं एक ही

वर माँगूँगा। अथवा एक (मुख्य) वर ही मैं चाहता हूँ, उसे दीजिये। यह वरदान मुख्य है, क्योंकि इससे मैं राम-नाम का ऋषि बनूँगा।

(२) 'जन सन कबहुँ...'; यथा—"सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कवन दुराउ।" (गी० सुं० ४५)। 'मुनि'—आपने तो सब शास्त्रों का भी मनन किया है, इसीसे जानते हैं।

(३) 'कवन वस्तु...'—भाव यह कि मुझे वस्तु नहीं, किंतु जन ही प्रिय हैं।

(४) 'अस बिस्वास तजहु जनि मोरे।'—ऐसा कहना साभिप्राय है, क्योंकि एक बार—"आपन रूप देहु..." यह वर माँगने पर न मिला था, इसी से यहाँ जोर देकर कहते हैं कि इस बार भूलकर भी विश्वास न छोड़ना।

तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई ॥६॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥७॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका ॥८॥

दोहा—राका-रजनी भगति तव, रामनाम सोइ सोम।
अपर नाम उड़ुगन बिमल, बसहु भगत-उर-ब्योम ॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ, कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति, प्रभु-पद नायउ माथ ॥४२॥

अर्थ—तब श्रीनारदजी ने प्रसन्न होकर कहा, मैं ऐसा वर माँगता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ ॥६॥ यद्यपि प्रभु के अनेक नाम हैं और वेद ने एक-से एक को अधिक कहा है ॥७। तथापि हे नाथ! 'राम' नाम सब नामों से अधिक (प्रभावशाली) है, (यह) पाप-रूपी पक्षि-समूह के लिये बधिक हो ॥८॥ आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात है, राम-नाम उस पूर्णिमा का (पूर्ण) चन्द्र है, अन्य सब नाम निर्मल तारागण हैं, (यह उन सबों के साथ) भक्त के निर्मल हृदय-रूपी आकाश में बसे॥ दयासागर श्रीरघुनाथजी ने मुनि से 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा, तब श्रीनारदजी के मन में अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने प्रभु के चरणों में शिर नवाया ॥४२॥

विशेष—(१) 'तब नारद बोले हरषाई।...'—'तब'—जब श्रीरामजी ने वचन दिया -'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।' तब उनकी रुचि जानकर हर्ष-पूर्वक बोले। इससे पहले संदेह था, अतएव हर्ष नहीं था; यथा—"नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि।" यहाँ मात्र कहा गया है। 'करउँ ढिठाई'—ये सामान्य नियम से अधिक बात माँगते हैं, इससे अन्य ऋषित्व के वर पानेवाले ऋषियों की अपेक्षा इनकी ढिठाई होगी।

(२) 'जद्यपि प्रभु के नाम...'; यथा—"विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तादृङ्नामसहस्रेण रामनाम समं मतम्॥ श्रीरामेति परं नाम रामस्यैव सनातनम्। सहस्रनामसदृशं विष्णोर्नारायणस्य च॥" (विष्णुपुराणे व्यासवाक्यम्), अर्थात् विष्णु भगवान् का प्रत्येक नाम सब वेदों में श्रेष्ठ है।

कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा ॥'''सो सब कहिहउँ '" (बा० दो० १४०); श्रीनारदजी ने यहाँ कैसे कहा ?—"मोर साप करि अंगीकारा।'''" इत्यादि।

समाधान—यह समग्र चरित साकेत-विहारी का ही है, पर सब अवतारों में चरित एक ही होता है, अन्यथा नारद-शाप-जन्य सीता-हरण एवं विरह न हो, तो लीला अधूरी ही रहेगी। जैसे, श्रीभृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, पर उस चिह्न को भगवान् सब अवतारों में धारण करते हैं। पुनः शालिग्राम होने का शाप भी विष्णु भगवान् को ही हुआ, पर सब विग्रह उसमें पूजे जाते हैं। इत्यादि। भगवान् के सब रूप में तत्त्वतः अभेद है। शाप अंगीकार करने पर यहाँ श्रीनारदजी उनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं और कृतज्ञता की दृष्टि से आये हैं। 'ऐसे प्रभुहिं' अर्थात् ऐसा कृपालु और कौन होगा ?

(५) 'लछिमन सादर चरन पखारे।'—श्रीनारदजी ने श्रीरामजी को स्वामी मानकर दंडवत् की इसीसे श्रीलक्ष्मणजी ने चरण धोये।

(६) 'नाना विधि बिनती'''—' सहत राम नाना दुःख-भारा।" अतएव—"नाना विधि बिनती करि।" अपराध-क्षमा के लिये बिनती की।

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥१॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥४॥
जन कहँ कछु अदेय नहि मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥५॥

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक ! सुनिये, आप सुन्दर, अगम और सुगम वर के देनेवाले हैं ॥१॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आप अंतर्यामि-रूप से जानते ही हैं तथापि मैं एक वर माँगता हूँ, मुझे दीजिये ॥२॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो, क्या मैं अपने भक्त से कभी छिपाव करता हूँ ? ॥३॥ कौन-सी वस्तु मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम नहीं माँग सकते हो ? ॥४॥ मेरे पास भक्त के लिये कुछ भी अदेय (न देने योग्य पदार्थ जिसे मैं न दे सकूँ) नहीं है—ऐसा विश्वास तुम भूलकर भी न छोड़ना ॥५॥

वैसे ही और नामों से भगवान् के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म जाने जाते हैं, जिनसे उनमें प्रीति बढ़ती है और श्रीराम नाम तो अपने प्रभाव से पाप का नाश कर प्रेमामृत टपकाता है और अपने अर्थ-रूप-प्रकाश से अज्ञान-रूपी तम का भी नाश करता है; अन्य उपाय-रूपी ओषधियों का पोषण करता है। इस तरह (चन्द्रमा रूप) से यह भक्तों के हृदय में बसे। अथवा 'भगत' शब्द से मैं जो भक्त हूँ, उसके हृदय का अर्थ लेने से भाव यह है कि मेरे हृदय में इस तरह बसे। जैसे चन्द्रमा अमृत स्रवता है, तो ओषधियाँ सजीव होती हैं। वैसे ही मेरे द्वारा राम-नाम के प्रकाश से अमृत स्रवे, उससे लोग भक्ति-रूपी सजीवता पावें। इस तरह माँगने में अपना भक्ति-अधिपत्य माँगना भी आ जाता है। 'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।' का आधिपत्य तो प्राप्त ही हुआ।

इस दृष्टान्त से और नामों से सम्बन्ध एवं अधिकता भी जना दी कि यह उन सबका स्वामी है। बड़ाई में अधिक और पाप-रूपी तम के नाश करने में अधिक है।

(४) 'एवमस्तु मुनि सन कहेउ'—'कृपासिंधु'—क्योंकि श्रीरामजी ने मुनि पर अगाध कृपा की। अगम्य वर दिया। 'हरष अति'—वर देने की स्वीकृति पर 'बोले हरषाई' कहा गया था, जब पा गये तब यहाँ 'अति हरष' हुआ। अतएव कृतज्ञता ज्ञापन 'प्रभु-पद नायउ माथ' कहा गया है।

जैसे श्रीमनुजी ने रूप के माधुर्य-भाव का विभुत्व माँगा था, वैसे ही श्रीनारदजी ने नाम के 'अघ-खग-गन-बधिका' भाव का आधिपत्य रूप में विभुत्व माँगा है। रूप और नाम तुल्य हैं, इसलिये दोनों के माँगने में शब्द भी समान आये हैं—

श्रीनारदजी	श्रीमनुजी
१—सुनहु उदार परम रघुनायक।	दानि सिरोमनि कृपानिधि···
२—सुंदर अगम सुगम बरदायक॥	सुगम अगम कहि जात···
३—देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥	सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
४—जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं। मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं॥
५—अस बर मागउँ करउँ ढिठाई।	प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।
६—एवमस्तु मुनि सन कहेउ,	एवमस्तु करुनानिधि बोले।

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी॥१॥
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥४॥
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥५॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥६॥

इन सबसे अनन्त गुण फलदायक रामनाम है ॥ 'श्रीराम' यह नाम साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी का ही सनातन से है, यह विष्णु नारायण के अनन्त नामों के समान है।

(३) 'राम सकल नामन्ह ते अधिका', यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्र नामतत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥" (पद्मपुराण); इसमें 'सहस्र नामता' कहा गया है, अर्थात् सहस्र नामों का समूह, जैसे, जनता का अर्थ जनसमूह होता है। अर्थात् विष्णु-सहस्रनाम, गोपाल-सहस्रनाम आदि अनेकों नाम समूह एक 'राम' नाम के तुल्य हैं।

तात्पर्य यह कि ब्रह्म सच्चिदानंद-स्वरूप है, उसका अर्थ श्रीराम-नाम ही में पूर्णरूप से है; यथा—"चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानंदवाच्यं स्यात्सच्चिदानंदमव्ययम् ॥" (महारामायणे) अर्थात् चिद्वाचक रकार है सद्वाचक आकार है और आनंदवाचक मकार है, इन तीनों से सच्चिदानंद सिद्ध होता है। वह एकरस अविनाशी है। और नाम जैसे, माधव, केशव, विष्णु, नारायण, ईश्वर आदि नाम ब्रह्म के गुण-कर्म द्वारा उसके वाचक हैं, साक्षात् स्वरूपवाचक नहीं हैं। गुण-कर्म स्वरूप (शरीर) से होते हैं, इस तरह राम-नाम सब भगवन्नामों का भी प्रकाशक है; यथा—"विष्णुर्नारायणः कृष्णो वासुदेवो हरिः स्मृतः।" नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकम् ॥" (महारामायण); "विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥" (पद्मपुराणब्रह्मवाक्य नारदं प्रति); इत्यादि।

जैसे, इस लोक में जन्म-समय के अनुसार नर-शरीर का नाम रक्खा जाता है, वह उसके स्वरूप का वाचक होता है, उसी नाम में उसकी कुंडली के अनुसार जन्मभर की व्यवस्था रहती है। फिर उसके गुण-कर्म से भी पंडित, वकील, कारीगर, रायबहादुर आदि नाम होते हैं और वे सब नाम उसी व्यक्ति के बोधक होते हैं। पर वे सब स्वरूपवाचक नाम के अधीन एवं आधार पर रहते हैं। इसका विशेष विचार 'श्रीरामतापनीयोपनिषद् भाष्य' और 'रामस्तवराज भाष्य' में है। विद्वानों को वहीं पर देखना चाहिये।

'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।'—यह, श्रीनारदजी श्रीराम-नाम के विषय में अधिकता इसी भाव की माँग रहे हैं कि यह व्याधा की तरह अपने व्यसन से ढूँढ़-ढूँढ़कर पाप-रूपी पक्षियों को निर्दय भाव से मारा करे। जापक का हृदय आकाश है और उसमें पाप-सम्बन्धी संकल्प पक्षियों की तरह रहा करते हैं, यह उन्हें ढूँढ़ ढूँढ़कर मारे, जापकों के अनुसंधान की अपेक्षा न करे।

तात्पर्य यह है कि और नाम एवं मंत्र अर्थानुसंधान सहित जप करने से पाप का नाश करते हैं। यथा—"तज्जपस्तदर्थं भावनम्" (योग सूत्र); "मननात्त्राणनान्मंत्र।" (रामतापनीय ४०)। अर्थात् मंत्रार्थानुसार देवता की शक्ति के समक्ष अपने पापों के नाश का अनुसंधान करते हुए मंत्र का जप करे, तब पाप नाश होते हैं। श्रीनारदजी माँगते हैं कि राम-नाम में यह नियम न रहे। चाहे किसी तरह भी जिह्वा से कहा जाय तो भी यह पापों का नाश करे; यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥" (बा० दो० २७) "विवसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं ॥" (बा० दो० ११८) "दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु।" रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोषु ॥" (वि० १५६)। तथा—"प्रमादादपि संस्पृष्टो यथाऽनलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं रामनाम दहेदघम् ॥" (ब्रह्मपुराणे ब्रह्मवाक्यं नारद प्रति) इत्यादि बहुत प्रमाण हैं। वाराह पुराण में यवन की कथा इसके चरितार्थ रूप में प्रसिद्ध है।

(४) 'राका-रजनी भगति तव'''—जैसे चन्द्रमा तारागणों के साथ रात को सुशोभित करता है।

वैसे ही और नामों से भगवान् के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म जाने जाते हैं, जिनसे उनमें प्रीति बढ़ती है और श्रीराम नाम तो अपने प्रभाव से पाप का नाश कर प्रेमामृत टपकाता है और अपने अर्थ-रूप-प्रकाश से अज्ञान-रूपी तम का भी नाश करता है; अन्य उपाय-रूपी ओषधियों का पोषण करता है। इस तरह (चन्द्रमा रूप) से यह भक्तों के हृदय में बसे। अथवा 'भगत' शब्द से मैं जो भक्त हूँ, उसके हृदय का अर्थ लेने से भाव यह है कि मेरे हृदय में इस तरह बसे। जैसे चन्द्रमा अमृत स्रवता है, तो ओषधियाँ सजीव होती हैं। वैसे ही मेरे द्वारा राम-नाम के प्रकाश से अमृत स्रवे, उससे लोग भक्ति-रूपी सजीवता पावें। इस तरह माँगने में अपना भक्ति-ऋषित्व माँगना भी आ जाता है। 'होउ नाम अघ-खग-गन-बधिका।' का ऋषित्व तो प्राप्त ही हुआ।

इस दृष्टान्त से और-नामों से सम्बन्ध एवं अधिकता भी बता दी कि यह उन सबका स्वामी है। बड़ाई में अधिक और पाप-रूपी तम के नाश करने में अधिक है।

(४) 'एवमस्तु मुनि सन कहेउ···'—'कृपासिंधु'—क्योंकि श्रीरामजी ने मुनि पर अगाध कृपा की। अगम्य वर दिया। 'हरष अति'—वर देने की स्वीकृति पर 'बोले हरषाई' कहा गया था, अब पा गये तब यहाँ 'अति हरष' हुआ। अतएव कृतज्ञता ज्ञापन 'प्रभु-पद नायउ माथ' कहा गया है।

जैसे श्रीमनुजी ने रूप के माधुर्य-भाव का विभुत्व माँगा था, वैसे ही श्रीनारदजी ने नाम के 'अघ-खग-गन-बधिका' भाव का ऋषित्व रूप में विभुत्व माँगा है। रूप और नाम तुल्य हैं, इसलिये दोनों के माँगने में शब्द भी समान आये हैं—

श्रीनारदजी	श्रीमनुजी
१—सुनहु उदार परम रघुनायक।	दानि सिरोमनि कृपानिधि···
२—सुंदर अगम सुगम बरदायक॥	सुगम अगम कहि जात···
३—देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥	जो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
४—जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं। मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं॥
५—जद्यपि बर माँगउँ करउँ ढिठाई।	प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।
६—एवमस्तु मुनि सन कहेउ,	एवमस्तु करुनानिधि बोले।

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी॥१॥
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥४॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥५॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥६॥

शब्दार्थ—सहरोसा=सहर्ष का अपभ्रंश है ; यथा—"सदेह देउँ आजु सहरोसा।" (बा० दो० १००)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी को बहुत ही प्रसन्न जानकर श्रीनारदजी फिर कोमल वचन बोले ॥१॥ हे श्रीराम ! हे रघुराज !! जब आपने अपनी माया प्रेरित करके मुझे मोहित किया था ॥२॥ तब मैंने विवाह करना चाहा था, हे प्रभो ! आपने किस कारण से नहीं करने दिया था ? ॥३॥ (प्रभु ने कहा—) हे मुनि ! सुनो, मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक कहता हूँ कि जो सबका भरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं ॥४॥ मैं सदा उनकी रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालक की रक्षा करती है ॥५॥ जब शिशु (छोटा) बच्चा अग्नि या सर्प को दौड़कर पकड़ना चाहता है, तब वहाँ माता दौड़कर अलग करके उसे रखती (बचाती) है ॥६॥

विशेष—(१) 'अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी।'—पहले प्रभु प्रसन्न थे; यथा—"प्रभु प्रसन्न जिय जानि।" कहा गया। भक्त का मनोरथ पूर्ण करने से अब 'अति प्रसन्न' हैं। भाव यह है कि प्रसन्न रहना तो उनका स्वभाव ही है। पर वे भक्तों के मनोरथ-सिद्ध करने में अत्यन्त सुख मानते हैं। 'पुनि नारद बोले···'—'पुनि' से अब दूसरा प्रसंग सूचित किया, ऐसे ही प्रभु 'सुनु' पद से प्रसंग बदलेंगे ; यथा—"सुनु मुनि तोहि कहउँ···" फिर—"सुनु मुनि कह पुरान···", इत्यादि।

(२) 'राम जबहि प्रेरेहु···'—'निज माया' ; यथा—"श्रीपति निज माया तब प्रेरी।" (बा० दो० १२८), वह विद्या माया है ; यथा—"हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापइ विद्या॥" (उ० दो० ७८)।

(३) 'भजहि जे मोहिं तजि सकल भरोसा।' ; यथा—"ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणंयाताः कथंतांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशी कुर्वन्ति-मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ · साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥" (भाग० ९।५।६५-६८), 'जिमि बालक राखइ महतारी।'—जैसे, और काम करते हुए भी मा का चित्त बच्चे पर ही रहता है, वैसे ही मैं सावधानी से अमानी भक्तों की रक्षा करता हूँ ; यथा—"खेलत बालक व्याल सँग, मेलत पावक हाथ। तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों, राखत सिय रघुनाथ॥" (दोहावली १११) ; इसी तरह यहाँ भी आगे कहते हैं—

(४) 'गह सिसु बच्छ अनल ···'—'अरगाई' का अर्थ यहाँ पर 'अलगाई' का है ; अर्थात् अलग करके, 'ल' की जगह पर 'र' आदेश हुआ है, क्योंकि—'रलयोरभेदः' कहा गया है ; यथा—"सरिता नस आरा।" (लं० दो० १४)। अरगाई को 'अलं गानं' का विकृत रूप मानकर 'चुप रहने' का अर्थ भी होता है, वह यदि यहाँ लें तो 'चुपके से' बचा लेती है, ऐसा अर्थ होगा। शिशु छोटी अवस्था के अर्थ में है और बच्छ, (वत्स) 'बच्चा' के अर्थ में है। 'अनल'—क्रोध की उपमा में है ; यथा—"रावण-क्रोध-अनल निज·" (सुं० दो० ४१) ; 'अहि' अर्थात् सर्प काम की उपमा में है ; यथा—"काम-भुजंग डसत जब जाही।" (वि० १२७)। जैसे माता बच्चे को अग्नि और सर्प से बचाती है, वैसे ही मैं भक्त को क्रोध और काम से बचाता हूँ। इन्हीं दो बातों को आगे भी कहते हैं—"दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।"

प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहि पाछिलि बाता॥७॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥८॥

जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥९॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं ॥१०॥

दोहा—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया-रूपी नारि ॥४३॥

अर्थ—सयाना होने पर उस पुत्र पर माता प्रीति करती है, पर वह पिछली बात (अग्नि और सर्प से बचाना) नहीं करती, (क्योंकि जानती है कि प्रौढ़ पुत्र तो स्वयं अपनी रक्षा के लिये समर्थ है) ॥७॥ ज्ञानी मेरे सयाने पुत्र के समान हैं और अमानी (मान रहित) दास बालक (छोटे) पुत्र के समान हैं ॥८॥ दास को मेरा बल है और उस ज्ञानी को अपना बल है; काम और क्रोध (ज्ञानी और दास) दोनों के शत्रु हैं ॥९॥ यह विचार कर पंडित (बुद्धिमान्) लोग मुझे भजते हैं, ज्ञान पाने पर भी भक्ति नहीं छोड़ते ॥१०॥ काम, क्रोध, लोभ, मद आदि मोह की प्रबल सेनाएँ हैं, उनमें माया-रूपिणी स्त्री अत्यन्त कठिन दुःख देनेवाली है ॥४३॥

विशेष—(१) 'बालक सुत सम दास अमानी'—मान तो ज्ञानी में भी नहीं होता; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४); पर वह अपनी रक्षा में समर्थ रहता है। दास अमानी हैं और बालक सुत के समान भोरे एवं असमर्थ हैं। बालकों की तरह इन्हें मान नहीं होता; यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३०); मान दोनों ही को बाधक है; यथा—"मान ते ज्ञान पान ते लाजा।···नासहिं बेगि···" (दो० २०); एवं—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३६)। 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।'; यथा—"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥" (गीता ३।३७); श्रीनारदजी जब पहले अमानी भक्त थे, तब भगवान् ने उन्हें दोनों से बचाया है; यथा—"काम-कला कछु मुनिहि न ब्यापी।" (बा० दो० १२५), "भयउ न नारद मन कछु रोषा।" (बा० दो० १२६); भगवान् ने ही रक्षा की है; यथा—"यह रखवार रमापति जासू।" (बा० दो० १२५); यह कहा गया है। उसे न समझने से जब श्रीनारदजी को गर्व हुआ, तो माया के द्वारा भगवान् ने उन्हें काम-क्रोध के बश करके समझा दिया जिससे वे सदा के लिये समझ गये।

(२) 'यह बिचारि पंडित···'—ज्ञान में अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी और भक्ति में भगवान् समर्थ रक्षक रहते हैं; यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२), "ये तु सर्वाणि···तेषामहं समुद्धर्ता···" (गीता १२।६–७); इसलिये वे ज्ञान की पूर्णावस्था पर भी भजन करते ही रहते हैं; यथा—"सुक-सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" "आत्मारामाश्च मुनयो···।"—बा० दो० १६, चौ० २ देखिये। पूर्व 'ज्ञानमान जहँ···' (दो० १४); पर सरस ज्ञान का भक्ति से अभेद कहा गया है। 'पंडित'—सदसद्विवेकिनी बुद्धि को पंडा कहा जाता है। अतः, पंडित वही है, जो असत रूप जगत्व्यवहार को छोड़कर भगवान् का भजन करे; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन···" (दो० ३८)।

(३) 'काम क्रोध लोभादि·····'—'आदि' शब्द देकर छहों विकारों को जना दिया। उनमें काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह ये पाँच कहे गये हैं, मत्सर को और भी ले लेना चाहिये। कामादि

दुःखद हैं। मोह दारुण दुःखद और नारि अति दारुण दुःखद है। इसीको आगे विस्तार से कहते हैं। काम का यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है। इसीसे इसे आदि में कहा है और अंत में नारि के द्वारा भी उसीका वर्णन है। 'धारि'—लूटने को धाई हुई सेना धारि है और ये कामादि जीव के सद्गुणों को लूटनेवाले हैं।

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता ॥१॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥२॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहिं हरषप्रद बरषा एका ॥३॥
दुर्बासना कुमुद - समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥४॥
धर्म सकल सरसीरुह - बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ॥५॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥६॥
पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥७॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥८॥

दोहा—अवगुन - मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि ॥४४॥

शब्दार्थ—सुख मंदा = मंद सुख वाली। पलुहइ = हरा-भरा होता है।

अर्थ—हे मुनि! सुनो, पुराण, वेद और संत कहते हैं कि मोह-रूपी वन के लिये स्त्री वसन्त-ऋतु है ॥१॥ जप, तप, नियम रूपी सारे जलाशयों को स्त्री ग्रीष्म-ऋतु होकर सबको पूरा सोख लेती है ॥२॥ काम, क्रोध, मद और मत्सर मेढक हैं, इन्हें हर्ष देने में वर्षा की तरह यह एक ही है ॥३॥ सब दुर्वासनाएँ कुईं के समुदाय (झुंड) हैं, उनको यह सदा सुख देनेवाली शरद्-ऋतु है ॥४॥ सब धर्म कमलों के झुंड हैं, यह मंद सुखवाली उन्हें हिम-ऋतु होकर जला डालती है ॥५॥ फिर ममता-रूपी यवास-समूह स्त्री-रूपी शिशिर-ऋतु को पाकर हरा भरा हो जाता है ॥६॥ पाप-रूपी उल्लुओं के समूह को सुखी करनेवाली, स्त्री घोर अँधेरी रात है ॥७॥ बुद्धि, बल, शील, सत्य ये सब मछलियाँ हैं और स्त्री वंशी के समान है—ऐसा प्रवीण लोग कहते हैं ॥८॥ अवगुण की जड़, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखों की खान (मद भरी हुई) स्त्री है। अतएव हे मुनि! मैंने जी में ऐसा जानकर, तुमको रोका है ॥४४॥

विशेष—(१) 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति…'—'सुनु मुनि' शब्द से यह वर्णन मुनियों के लिये सूचित किया, क्योंकि उपसंहार में भी 'मुनि मैं यह जिय जानि' कहा है। किन्तु गृहस्थों के लिये तो अपनी लीला द्वारा पतिव्रता स्त्री की रक्षा एवं उसका ढूँढ़ना ही दिखला रहे हैं; यथा—"पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई ॥" (दो० ३१); आगे भी कहा है—"सीतान्वेषण-तत्परौ" (कि० मं०) यहाँ उपक्रम में ही नारी को 'अति दारुन दुखद' कहा गया है और उपसंहार में भी 'प्रमदा सब दुखखानि' कहकर इसे दुखमय जनाया; यथा—"जन्म-पत्रिका बरति कै, देखहु हृदय बिचारि। दारुन बैरी मीच के,

बीच बिराजति नारि ॥" (दोहावली २६८); अर्थात् फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुंडली का छठा शत्रु का और सातवाँ स्त्री का तथा आठवाँ मृत्यु का स्थान है, तदनुसार शत्रु और मृत्यु के बीच होने से यह दारुण है।

'मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।'—वसंत ऋतुराज है और मोह भी आसुरी सम्पत्ति में राजा है; यथा—"जीति मोह-महिपाल दल···" (बा० दो० ३३५); राजा के द्वारा राजा का बढ़ना कहा गया है। राजा अपने दल को बढ़ाया ही करता है, वैसे ही मोह भी अपनी सेना की वृद्धि में लगा रहता है। मोह ही सब विकारों का मूल भी है; यथा—"मोह सकल ब्याधिन कर मूला।" (उ० दो० १२०); इसीसे पहले इसीका वर्णन किया गया कि स्त्री के संग से पहले मोह की वृद्धि होती है। स्त्री को त्यागने का उपदेश देते हुए, उसका ऋतुओं से रूपक बाँधा गया है। ऋतु स्त्रियों के रजोधर्म को भी कहते हैं। ऋतुमती स्त्री सर्वथा त्याज्य है। उस समय उसका स्पर्श महान् पापों का भागी बनाता है। आयुर्वेद से भी अत्यन्त वर्जित है।

वसंत से वन शोभायमान हो जाता है, वैसे ही स्त्री के आने से मोह (देहाभिमान) के विलासी साज बढ़ने लगते हैं, जिसकी सीमा नहीं। ये मोहादि श्रीनारदजी में स्त्री की वासना होते ही बढ़े थे, आगे मिलान लिखा जायगा।

(२) 'जप तप नेम जलासय भारी। ···'—'भारी' कहकर सूचित करते हैं कि ग्रीष्म-ऋतु में भी भारी जलाशय नहीं सूखते। पर स्त्री-रूप ग्रीष्म में तो जप, तप, नियम-रूपी सरित, कूप, तड़ाग नितान्त सूख जाते हैं। अर्थात् इनमें एक बूँद भी जल नहीं रह पाता। स्त्री झाड़-पोंछकर सोख लेती है। जप आदि तीन ही कहे गये हैं, क्योंकि जलाशय भी प्रायः उपर्युक्त तीन ही प्रकार के कहे जाते हैं, जो सूख सकते हैं। 'भारी'—से पहले के किये हुए जप आदि का नष्ट करना सूचित किया।

(३) 'काम क्रोध मद मत्सर भेका।···'—कामादि चारों को मेढ़क कहा गया, क्योंकि मेढ़क चार तरह के होते हैं। ये ग्रीष्म में टुकड़े-टुकड़े होकर सूख जायँ, तो भी वर्षा पाते ही जी उठते हैं और मोटे होकर टर-टर करने लगते हैं। वैसे ही विरक्त के शुद्ध मन में भी स्त्री को पाकर कामादि जग उठते हैं; यथा—"देखि मुनेहु मन मनसिज जागा।" (बा० दो० ८५); तथा—"विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे॥" (उ० दो० १२१)।

(७) 'पाप-उलूक-निकर···'—उल्लू रात में सुखी होता है, वैसे चोरी, व्यभिचार आदि पाप रात में होते हैं। स्त्री के संबंध से चोरी व्यभिचार आदि पाप होते हैं; इसीसे इसे अँधेरी रात कहा गया है।

(८) 'बुधि बल सील सत्य सब मीना।···'—इन चारों को मछलियाँ कहा गया है, क्योंकि मछलियाँ भी चार जातियों की होती हैं; यथा—"धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥" (बा॰ दो॰ ३६); वंसी जल में निमग्न मछलियों को चारे के लोभ में फँसाकर मृत्यु को प्राप्त कराती है। वैसे ही स्त्रियाँ अपने मंद-सुख में फँसाकर विषय-वारि के मीन-रूप पुरुषों को मृत्यु-रूपी चौरासी लाख योनियों में भेजती हैं।

यहाँ तक का क्रमशः तात्पर्य यह है कि मोह होने से जप, तप, नियम का नाश होता है और काम, क्रोध, मद, मत्सर बढ़ते हैं। इनके बढ़ने में धर्म नाश हुए, तब ममता बढ़ी। फिर पाप की वृद्धि हुई और तब बुद्धि, बल, शील और सत्य नाश हुए। ये सब क्रमशः स्त्री-संग से होते हैं।

(९) 'प्रमदा सब दुख-खानि'—उपर्युक्त नारी शब्द का लक्ष्यार्थ यहाँ खोला गया है कि यहाँ उन्हीं नारियों से तात्पर्य है, जो सदा मद से भरी हुई रहती हैं, अन्यथा स्त्रियाँ तो ऐसी भी हैं कि जिनके स्मरण से पापों का नाश होता है। प्रमदा का सब दुःखों की खान होना भर्तृहरिशतक में भी कहा है, यथा—"सत्यं जना वच्मि न पक्षपातात्लोकेषु सर्वेश्वपि तथ्यमेतत्। नान्यं मनोहारि नितंबिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्यः॥" 'ताते कीन्ह निवारन'—यह श्रीनारदजी के प्रश्न—"प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा।" का उत्तर है।

जो दोष यहाँ स्त्री की आसक्ति से कहे गये हैं, वे सब श्रीनारदजी में स्त्री की चाह होने से आये थे—

स्त्री की आसक्ति के दोष	श्रीनारदजी में (—बा॰ दो॰ १२४-१२८),
१—मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।	मुनिहि मोह मन हाथ पराये। मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।
२—जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥	जप तप कछु न होइ तेहि काला।
३—काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष-प्रद बरषा एका॥	हे बिधि मिलइ कौन बिधि बाला।—काम सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।—क्रोध हृदय रूप अहमिति अधिकाई।—मद मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे।—मत्सर
४—दुर्वासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥	करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥ —यह योगी के लिये दुर्वासना है।
५—धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥	"पर संपदा सकहु नहिं देखी।" से "सदा कपट ब्यवहार॥" तक के कठोर वचनों से इनके सेवक-धर्म का नाश हुआ।
६—पुनि ममता जवास अधिकाई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥	मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी। —यह ममता है।

७—पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥	मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मोरे॥
८—बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना॥	समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।—बुद्धि का नाश अति आरत···करहु कृपा हरि···।—बल का नाश मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। —शील का नाश बहुक बनाइ भूप सन भाखे। —सत्य का नाश

सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनि-तनु पुलक नयन भरि आये॥१॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥२॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी॥३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिज्ञान - बिसारद॥४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन - भव - भीरा॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के सुन्दर वचन सुनकर मुनि का शरीर पुलकित हो गया और उनके नेत्र (आँसू से) भर आये॥१॥ (वे सोचने लगे कि) कहिये तो, किस स्वामी की ऐसी रीति है? किसकी सेवक पर ममता और प्रीति है॥२॥ जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते वे ज्ञान के दरिद्र, मन्द (बुद्धि) और अभागे हैं॥३॥ फिर श्रीनारद मुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञानप्रवीण श्रीरामजी! सुनिये॥४॥ हे रघुवीर! हे भव-भय के दूर करनेवाले! हे नाथ! सन्तों के लक्षण कहिये॥५॥

विशेष—(१.) 'सुनि रघुपति के बचन सुहाये।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।' है। 'कहहु कवन प्रभु के असि रीती। सेवक पर ···'; यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५)। ऊपर कहा ही गया कि जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही आप सेवक की रक्षा करते हैं। दूसरे स्वामी तो सेवक को हेय दृष्टि से देखते हैं। 'भ्रमत्यागी'—क्योंकि भ्रम भजन का बाधक है; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" (सुं० दो० २१), 'न भजहिं' से उपासना-रहित, 'ज्ञान रंक' से ज्ञान-रहित और 'मंद अभागी' से कर्म रहित कहकर कांडत्रयहीन कहा।

(२) 'पुनि सादर बोले···' अब दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। अत. 'पुनि' कहा गया। 'बिज्ञान बिसारद'—ये जो प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर विज्ञान की दृष्टि से चाहते हैं। इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जैसे—"तब बिज्ञान-निरूपिनी···" से "तेजरासि बिज्ञान मय" (उ० दो० ११७); तक से स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हीं का ग्रहण करना विज्ञान-साधन है; यथा—"म च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६)।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥६॥
षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥७॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥८॥

(७) 'पाप उलूक-निकर ' '—उल्लू रात में सुखी होता है, वैसे चोरी, व्यभिचार आदि पाप रात में होते हैं। स्त्री के संबंध से चोरी व्यभिचार आदि पाप होते हैं, इसीसे इसे अँधेरी रात कहा गया है।

(८) 'बुधि बल सील सत्य सब मीना।...'—इन चारों को मछलियाँ कहा गया है, क्योंकि मछलियाँ भी चार जातियों की होती हैं; यथा—"धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥" (बा० दो० ३६); वंशी जल में निमग्न मछलियों को चारे के लोभ में फँसाकर मृत्यु को प्राप्त कराती है। वैसे ही स्त्रियाँ अपने मद सुख में फँसाकर विषय-वारि के मीन-रूप पुरुषों को मृत्यु-रूपी चौरासी लाख योनियों में भेजती हैं।

यहाँ तक का क्रमशः तात्पर्य यह है कि मोह होने से जप, तप, नियम का नाश होता है और काम, क्रोध, मद मत्सर बढते हैं। इनके बढने में धर्म नाश हुए, तब ममता बढ़ी। फिर पाप की वृद्धि हुई और तब बुद्धि, बल, शील और सत्य नाश हुए। ये सब क्रमशः स्त्री-संग से होते हैं।

(९) 'प्रमदा सब दुख खानि'—उपर्युक्त नारी शब्द का लक्ष्यार्थ यहाँ खोला गया है कि यहाँ उन्हीं नारियों से तात्पर्य है, जो सदा मद से भरी हुई रहती हैं, अन्यथा स्त्रियाँ तो ऐसी भी हैं कि जिनके स्मरण से पापों का नाश होता है। प्रमदा का सब दुःखों की खान होना भर्तृहरिशतक में भी कहा है; यथा—"सत्यं जना वच्मि न पक्षपातात्लोकेषु सर्वेष्वपि तथ्यमेतत्। नान्य मनोहारि नितंबिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्यः॥" 'ताते कीन्ह निवारन'—यह श्रीनारदजी के प्रश्न—"प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा।" का उत्तर है।

जो दोष यहाँ स्त्री की आसक्ति से कहे गये हैं, वे सब श्रीनारदजी में स्त्री के चाह होने से आये थे—

स्त्री की आसक्ति के दोष	श्रीनारदजी में (—बा० दो० १२७-१३८)
१—मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।	मुनिहि मोह मन हाथ पराये। मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।
२—जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥	जप तप कछु न होइ तेहि काला।
३—काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष-प्रद बरषा एका॥	हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।—काम सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।—क्रोध हृदय रूप अहमिति अधिकाई।—मद मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे।—मत्सर
४—दुर्वासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥	करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥ —यह योगी के लिये दुर्वासना है।
५—धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥	"पर संपदा सकहु नहिं देखी।" से "सदा कपट ब्यवहार॥" तक के कठोर वचनों से इनके सेवक-धर्म का नाश हुआ।
६—पुनि ममता जवास अधिकाई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥	मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी। —यह ममता है।

७—पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥	मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मोरे॥
८—बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना॥	समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।—बुद्धि का नाश अति आरत···करहु कृपा हरि···।—बल का नाश मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। —शील का नाश कछुक बनाइ भूप सन भाखे। —सत्य का नाश

सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनि-तन पुलक नयन भरि आये॥१॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥२॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी॥३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिज्ञान - बिसारद॥४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन - भव - भीरा॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के सुन्दर वचन सुनकर मुनि का शरीर पुलकित हो गया और उनके नेत्र (आँसू से) भर आये॥१॥ (वे सोचने लगे कि) कहिये तो, किस स्वामी की ऐसी रीति है? किसकी सेवक पर ममता और प्रीति है॥२॥ जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते वे ज्ञान के दरिद्र, मन्द (बुद्धि) और अभागे हैं॥३॥ फिर श्रीनारद मुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञानप्रवीण श्रीरामजी! सुनिये॥४॥ हे रघुवीर! हे भव-भय के दूर करनेवाले! हे नाथ! सन्तों के लक्षण कहिये॥५॥

विशेष—(१.) 'सुनि रघुपति के बचन सुहाये।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।' है। 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर···'; यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ॰ दो॰ १५)। ऊपर कहा ही गया कि जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही आप सेवक की रक्षा करते हैं। दूसरे स्वामी तो सेवक को हेय दृष्टि से देखते हैं। 'भ्रमत्यागी'—क्योंकि भ्रम भजन का बाधक है; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" (सुं॰ दो॰ २१), 'न भजहिं' से उपासना-रहित, 'ज्ञान रंक' से ज्ञान-रहित और 'मंद अभागी' से कर्म रहित कहकर कांडत्रयहीन कहा।

(२) 'पुनि सादर बोले···' अब दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। अतः 'पुनि' कहा गया। 'बिज्ञान बिसारद'—ये जो प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर विज्ञान की दृष्टि से चाहते हैं। इसलिये ये 'विशेषण दिये गये हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जैसे—"तब बिज्ञान-निरूपिनी···" से - "तेजरासि बिज्ञान मय" (उ॰ दो॰ ११७); तक से स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हीं का ग्रहण करना विज्ञान-साधन है; यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६)।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥६॥
षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥७॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥८॥

सावधान मानद मद-हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥९॥

दोहा—गुनागार संसार - दुख - रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन-सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥४५॥

अर्थ—हे मुनि! सुनिये, सन्तों के गुण कहता हूँ, जिन गुणों से मैं उनके वश में रहता हूँ ॥६॥ छहों विकारों को जीते हुए, निष्पाप, निष्काम, स्थिरचित्त, निष्किंचन, पवित्र, सुख के स्थान ॥७। निःसीम ज्ञानवाले (अपरोक्ष ज्ञानवाले), चेष्टा-रहित, अल्पभोगी (थोड़े भोजन-वस्त्र आदि में निर्वाह करनेवाले), सत्य को सार रूप में ग्रहण करनेवाले, कवि (काव्यकर्ता), कोविद (व्याख्याकर्ता), योगी ॥८॥ (कर्त्तव्य में) सावधान, दूसरों को मान देनेवाले (स्वयं मान-रहित) मदों (गाँजा, भांग आदि) का सेवन नहीं करनेवाले, धीर, धर्म की व्यवस्था में बड़े निपुण ॥९॥ गुणों के घर, संसार-दुःख-रहित और संदेह से विशेष रहित होते हैं, उनको मेरे चरणकमल को छोड़कर न देह ही प्रिय है और न गेह ही ॥४५॥

विशेष—(१) 'गुन कहउँ ''बस रहऊँ।'—भाव-गुण तो उनमें और भी बहुत होते हैं, पर मैं यहाँ उन्हीं गुणों को कहता हूँ जिनसे मैं उनके वश में हो जाता हूँ, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥" (श्रीमद्भागवत ९।४।६३-६६) गुण सूत्र एवं रस्सी को भी कहते हैं, मानों ये गुण ही मुझे बाँध लेनेवाले हैं।

(२) 'षट बिकार जित'—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर—ये छः विकार शत्रु-रूप हैं, इन्हें संत जीत लेते हैं। 'अचल'—राग-द्वेषादि से शुद्ध स्थिर चित्त। 'अकिंचन'—जिन्हें धन, बड़ाई एवं स्वर्ग आदि की चाह नहीं है और उनके संग्रह भी नहीं करते; यथा—"तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥" (बा० दो० १६०); 'सुचि'—मन, वचन और कर्म से पवित्र।

(३) 'अमित बोध अनीह···' 'अमित बोध'—भगवान् अमित एवं अप्रमेय हैं, उनका बोध प्राप्त रहने से संत अमित-बोध कहाते हैं, क्योंकि भगवान् के जानने पर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; यथा—"यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥" (छां० ६।१।४)। अर्थात् हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिंड द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है उसके विकार (घट आदि) केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। 'मित भोगी'; यथा—"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।··" (गीता ६।१७); हरि-यश वर्णन से कवि, शास्त्रों के मर्म जानने से कोविद (पंडित), सदा भगवान् में चित्त रखने से योगी कहे जाते हैं।

(४) 'सावधान'—उचित व्यवहार एवं परमार्थ में चित्त से दृढ़ता रखनेवाले। 'धीर'; यथा—"ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये" (पार्वती-मंगल २०); 'धर्म गति परम प्रबीना'—धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः, उसका जानना परम प्रवीणता है।

(५) 'गुनागार'—उपर्युक्त गुण एवं और भी सद्गुणों के घर हैं। 'संसार-दुख-रहित'—वे देह से अपनेको भिन्न मानते हैं। संसार के दुःख कर्मानुसार देह को होते हैं, पर वे इनसे निर्लिप्त रहते हैं; यथा—"ताहि न व्याप त्रिविध भव सूला।" (सुं० दो० ४६); 'विगत संदेह'—सद्गुरु-द्वारा अपने 'ध्येय ज्ञेय' के विषय में संदेह निवृत्त किये रहते हैं। 'देह न गेह' अर्थात् मैं, मेरा—यह भावना त्यागे हुए हैं; यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे॥" (अ० दो० ३१)।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥१॥
सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहि सन प्रीती॥२॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु-गोविंद-बिप्र-पद-प्रेमा॥३॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥४॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥५॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पाऊ॥६॥
गावहिं सुनहि सदा मम लीला। हेतु-रहित परहित-रत सीला॥७॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहि सारद श्रुति तेते॥८॥

शब्दार्थ—सम=समान-चित्त, (शम)=वासना त्याग। अमाया=निष्कपट, दिखाऊ नहीं। दम=बाह्येन्द्रिय-निग्रह। हेतु-रहित=निःस्वार्थ, बिना कारण।

अर्थ—कानों से अपने गुण सुनते सकुचाते हैं, दूसरों के गुण सुनकर बहुत प्रसन्न होते हैं॥१॥ सम-चित्त और शीतल-स्वभाववाले हैं, नीति को नहीं छोड़ते, सरल-स्वभाववाले होते हैं और सभी से प्रीति रखते हैं॥२॥ जप, तप, व्रत, दम, संयम, नियम तथा गुरु-गोविंद और ब्राह्मण के चरणों में प्रेम है॥३॥ श्रद्धा, क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता, मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम॥४॥ वैराग्य, विवेक, विशेष नम्रता, विज्ञान, वेद-पुराण का यथार्थ ज्ञान (ये गुण उनमें होते हैं)॥५॥ वे दंभ, अभिमान और मद कभी नहीं करते, बुरे रास्ते पर भूलकर भी पाँव नहीं देते॥६॥ सदा मेरी लीला कहते-सुनते हैं, बिना कारण एवं निःस्वार्थ परोपकार में तत्पर रहने का उनका स्वभाव होता है एवं शीलवान् होते हैं॥७॥ हे मुनि! सुनिये, साधुओं के जितने गुण हैं, उन्हें शारदा और वेद भी नहीं कह सकते; अर्थात् कहकर पार नहीं पा सकते॥८॥

विशेष—(१) 'निज गुन श्रवन···' गुणागार हैं; अतः, वह गुण-कथन यथार्थ ही है, तो भी सुनकर सकुचते हैं, भाव यह कि हर्ष से भी रहित हैं। 'पर गुन सुनत···'—जैसे जैसे सुनते हैं, हर्ष अधिक होता जाता है। 'सम'—शत्रु-मित्र के प्रति। 'सीतल'; यथा—"जो कोइ कोप भरइ मुख बैना। सनमुख हतइ गिरा सर पैना॥ तुलसी तऊ लेस रिसि नाहीं। सो सीतल कहिये जग माँही॥" (वैराग्य संदी० ३१); अर्थात् क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती। 'नहिं त्यागहिं नीती'—कैसा भी अवरेब आ पड़े, तो भी नीति का पालन करते ही हैं। 'जप तप···प्रेमा'—'प्रेमा' का अन्वय सबके साथ है। जप आदि के करने में और गुरु-गोविंद-विप्र के चरणों में प्रेम है। 'बिग्यान'—प्रकृति-वियुक्त आत्मा का ज्ञान—देखिये दो० ४४ चौ० ४। 'दंभ मान मद करहिं न काऊ।'—यहाँ 'मद' अतरंग कहा गया है और ऊपर—'सावधान मानद मद हीना।' में

मद जानना चाहिये, क्योंकि वह सावधानता आदि बहिरंग वृत्तियों के साथ है और यह मान आदि अंतरंग के साथ है, इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। बहिरंग मद भाँग, गाँजा, अफीम आदि हैं—ये उनका सेवन नहीं करते।

(२) 'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला'''—'हेतु-रहित' शब्द दीपदेहली है। लीला कहने में स्वार्थ-साधन की दृष्टि नहीं रखते; जैसे कि कोई-कोई व्यास पहले ही द्रव्य की ठहरौनी करके कथा कहते हैं, किन्तु ये अपना कृत्य मानकर कथा कहते-सुनते हैं; यथा—"मम लीला रति अति मन माहीं।" (दो० १५) "कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" (गीता १०।६); 'हेतु-रहित परहित-रत सीला।'—अर्थात् परोपकार भी निःस्वार्थ-भाव एवं अपने सहज स्वभाव से करते हैं; यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (उ० दो० ४६); "पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खग राया॥" (उ० दो० १२०), क्योंकि—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०)। 'गावहिं' के साथ 'सुनहिं' भी कहा है, अर्थात् यह अभिमान नहीं करते कि हम तो स्वयं कथा जानते हैं तो दूसरे की क्यों सुनें ?

स्त्रियों में आसक्ति के जो जो दोष कहे गये हैं, सन्तों में उनके विपर्यय में गुण कहे गये हैं। जैसे कि वहाँ—'मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।' कहा, तो यहाँ—'अमित बोध' एवं 'बिरति बिवेक' कहा है। वहाँ जप-तप आदि का सोखना और यहाँ उनका किया जाना कहा गया है, इत्यादि। तात्पर्य यह कि स्त्री-त्याग से ही इनमें ये गुण हैं।

'सुनु मुनि साधुन के गुन जेते'।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनु मुनि साधुन के गुन कहऊँ।" से हुआ था। 'प्रभु-नारद-संवाद' प्रकरण यहाँ पूरा हुआ।

छंद—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद-पंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत-गुन निज मुख कहे॥
सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि-रँग रये॥

दोहा—रावनारि-जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम-भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग॥
दीप-सिखा-सम जुबति-तनु, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम-मद, करहि सदा सतसंग॥४६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम

❁ तृतीयः सोपानः समाप्त ❁

अर्थ—'शारदा शेष नहीं कह सकते'—यह सुनते ही श्रीनारदजी ने प्रभु के चरण-कमल पकड़े। (कि) ऐसे दीनबंधु और कृपालु प्रभु ने श्रीमुख से अपने भक्तों के गुणों (एवं उनके महत्त्व) को ऐसा कहा है॥ बार-बार चरणों में शिर नवाकर श्रीनारदजी ब्रह्मलोक को गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं, जो आशा छोड़कर भगवान् के प्रेम रँग में रँग गये हैं॥ रावण के शत्रु श्रीरामजी के पवित्र यश को जो लोग गाते और सुनते हैं। वे विना वैराग्य, जप और योग के ही दृढ़ रामभक्ति पाते हैं॥ स्त्री का शरीर दीप की शिखा (लौ) के समान है, अरे मन! तू उसका फनगा न हो, काम और मद को छोड़कर श्रीरामजी का भजन कर और सदा सत्संग किया कर॥४६॥

विशेष—(१) 'कहि सक न सारद सेष'—शारदा ब्रह्मलोक की रहनेवाली है और शेष पाताल के हैं। शारदा अनन्त मुखों से और शेषजी सहस्र मुखों से कहनेवाले हैं। जब ये भी न कह सके, तो मर्त्य लोक का कोई भी कैसे कह सकता है; यथा—"बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥ सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥" (बा० दो० ३)। 'दीन बंधु कृपाल'—यह प्रभु की दीनबंधुता और कृपालुता है कि अपने मुख से भक्तों के गुण कहते हैं, उन्हें बड़ाई देते हैं। साधुओं के गुणों को अमित एवं अनन्त सिद्ध किया। कवि भी इसी अभिप्राय से 'कहि सक न' को दो बार कहा है। 'नारद सुनत पद पंकज गहे।'—भाव यह कि ये गुण भक्तों में आपके चरणों की भक्ति करते हुए इन्हीं की कृपा से प्राप्त होते हैं; यथा—"यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०); आप स्वयं गुण देकर फिर उन्हीं गुणों पर रीझते हैं।

(२) 'सिर नाइ बारहिं बार···'—विदाई के समय प्रणाम करना ही चाहिये। पुनः संत-लक्षण सुने, उसकी कृतज्ञता के लिये एवं अत्यंत प्रेम से बार-बार प्रणाम किया; यथा—"सोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० १२२); "प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५); 'आस बिहाइ'—क्योंकि आशा रहते हुए हरि का प्रेम नहीं होता। 'रये'—रँगे के अर्थ में है।

(३) 'रावनारि जस पावन···'—सुर-मुनि की रक्षा के लिये रावण से निष्कपट युद्ध किया, जो क्षत्रिय का धर्म है; इसलिये इस यश को पावन कहा। इस कांड में रावण से वैर हुआ, उसके वर्ग के राक्षसों से युद्ध भी हुआ, इससे अभी से 'रावणारि जस···' कहा है। 'गावहिं सुनहिं'—वक्ता-श्रोता दोनों को आशीर्वाद देते हैं, यह तीन वक्ताओं की इति है। श्रीगोस्वामीजी की इति आगे लगी है। 'जो लोग'—कोई भी वर्णाश्रम के हों, सब अधिकारी हैं।

(४) 'राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु···' यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई। रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावई॥" (दो० ६); यहाँ वही बात दृढ़ की गई है, केवल 'धर्म समूह' की जगह 'बिराग' कहा गया है, इसमें भी अंतर नहीं है; यथा—"धर्म ते बिरति···" (दो० १५); वहाँ कहा कि ये सब अनुपम भक्ति के साधन हैं, और यहाँ कहा कि विना उन साधनों के ही केवल इस चरित के कथन-श्रवण से दृढ़ भक्ति प्राप्त हो जाती है।

अयोध्याकांड की इति में—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति।" कहा गया था और यहाँ कहते हैं कि विना वैराग्य आदि के ही दृढ़ भक्ति मिलती है, यह अधिकता है।

(५) 'दीप सिखा सम···'—श्रीरामजी ने कहा था—'प्रमदा सब दुख खानि' उसी को लेकर श्रीगोस्वामीजी अपनी इति लगाते हैं। दीप शिखा सुंदर होती है, पर फनगों को भस्म कर देती है। वैसे ही स्त्रियाँ तन से सुंदरी हैं, पर आसक्त होनेवालों के धर्म-कर्म को भस्म कर देती हैं। 'रावनारि

यस···' कहकर साथ ही यह दोहा भी कहकर यह भी जनाया कि इसी कारण रावण का नाश हो रहा है। 'जुवति' शब्द का भाव यह कि स्त्री का तन युवावस्था का ही दीप-शिखा के समान है। जैसे ऊपर 'प्रमदा' पर कहा गया था। 'भजहिं राम तजि काम मद'—काम-मद में पड़ने से श्रीनारदजी की-सी दशा होगी। कामादि भक्ति के बाधक हैं और सत्संग भक्ति का साधक है। अतः, 'सदा सत्संग' करना कहा है; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१); श्रीशिवजी ने भी ऐसा ही माँगा है; यथा—"पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग।" (उ० दो० १४); श्रीगोस्वामीजी ने कहा है—"यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्म वश भ्रमत जग योनि संकट अनेकम्। तत्र त्वद्भक्ति सज्जनसमागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्॥" (वि० ५७)। तथा—"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥" (श्रीमद्भाग० ११।१२।१–२); अर्थात् हे उद्धव! दूसरे समस्त सङ्गों के निवारण करनेवाले सत्सङ्ग से, मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसी से नहीं होता।

इस कांड में प्रथम ही जयंत को सींक के बाण से व्याकुल करना, खर, आदि का आपस में ही लड़ मरना, गृद्धराज का वहीं से चतुर्भुज रूप होना, सोने के मृग की कथा आदि अद्भुत हैं। अतः, इसमें अद्भुत रस प्रधान कहा जाता है।

इस कांड में काम मोहित शूर्पणखा को दंड देना, पर स्त्री चाहनेवाले राक्षसों का वध और अंत में विरक्तों को स्त्री त्याग की विशद शिक्षा दी गई है, इसीसे इस सोपान का नाम 'विमल-वैराग्य-संपादन' है।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

चतुर्थ सोपान (किष्किंधाकाण्ड)

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—इन्दीवर = नीलकमल। उभौ = दोनों। आढ्य = पूर्ण। नुत = स्तुत। वर्म = कवच।

अर्थ—कुन्दपुष्प और नीलकमल के समान सुन्दर, अत्यन्त बलवान्, विज्ञान के धाम, शोभापूर्ण, श्रेष्ठ-धनुर्धर, वेदों से प्रशंसित, गौ और ब्राह्मणवृंद जिनको प्रिय हैं, माया से मनुष्य रूप धारण किये हुए, रघुकुल में श्रेष्ठ, सद्धर्म के लिये कवच रूप (रक्षक), हितकारी, श्रीसीताजी की खोज में तत्पर, मार्ग में प्राप्त दोनों रघुवर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी हमको निश्चय भक्ति देनेवाले हैं॥ १ ॥

विशेष—(१) कुन्द का पुष्प श्वेत होता है, वैसे स्वच्छ गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी और नील कमल के समान श्याम वर्ण श्रीरामजी हैं; यथा—"गौर किसोर वेष वर काछे।···लछिमन नाम ··" (बा० दो० २२०); "श्याम सरोज दाम सम सुन्दर, प्रभु···" (सु० दो० ६); दोनों सुन्दर हैं; यथा—"कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक।" (बा० दो० २१५); दोनों अतिबली हैं; यथा—"राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके।" (बा० दो० २९२); दोनों विज्ञान-धाम हैं; यथा—"सबगुन ज्ञान-विज्ञान सालो।" (वि० ५५)—श्रीरामजी। श्रीलक्ष्मणजी ने निषाद को विज्ञान की शिक्षा दी है; दोनों शोभा-पूर्ण हैं; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा।" (बा० दो० २२१); दोनों श्रेष्ठ धनुर्धर हैं; यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक विख्याता॥" (लं० दो० ४८); दोनों श्रुति से प्रशंसित हैं, यथा—"जय सगुन-निर्गुन रूप ··" (उ० दो० १२); अंशी श्रीरामजी की स्तुति में अंश रूप श्रीलक्ष्मणजी की भी स्तुति है, यथा-"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। ···· " (बा० दो० १८६); 'गोविप्रवृन्दप्रियौ'; यथा—"भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तन···" (अ० दो० ९३); 'मायामानुषरूपिणौ'; यथा—"मायामनुष्यं हरिम्।" (सुं० मं०); "अंसन्ह सहित देह धरि ताता।" (बा० दो० १५१); 'सद्धर्मवर्मौ'; यथा—"धर्म वर्म नर्मद गुन-ग्रामः।"

शब्दार्थ—ब्रह्म=वेद; यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विप्रः प्रजापतिरित्यमरः।" अम्भोधि=समुद्र। अव्यय=निर्विकार, अविनाशी। कृतिनः=सुकृती लोग।

अर्थ—जो वेद समुद्र से उत्पन्न, पापों का प्रकर्ष नाशक, अविनाशी, श्रीमान् शंभु भगवान् के सुन्दर श्रेष्ठ मुख चन्द्र में सदैव शोभायमान, भव-रोग की औषधि, सुख के करनेवाले और श्रीजानकीजी के जीवन-स्वरूप, सुन्दर श्रेष्ठ श्रीराम-नाम-रूपी अमृत को निरंतर पान करते हैं, वे सुकृती धन्य हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं'; यथा—"वेद प्रान सो" (बा॰ दो॰ १८); "यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा॰ दो॰ ६); 'कलिमलप्रध्वंसनं'; यथा—"कलिमल विपुल विभंजन नामः।" (बा॰ दो॰ १०); श्रीशिवजी सदा जपते हैं—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा॰ दो॰ १०७); 'संसारामय भेषजं'; यथा—"जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।" (उ॰ दो॰ १२४); 'सुखकरं'; यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा॰ दो॰ १६); "जपहि नाम जन आरत भारी। मिटइ कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा॰ दो॰ २१); 'श्रीजानकीजीवनं' यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट॥" (सुं॰ दो॰ ३०); 'धन्यास्ते कृतिनः', यथा—"तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥" (वि॰ ४६)।

यहाँ श्रीराम-नाम को अमृत रूप कहा गया है। अमृत समुद्र से निकला, यह वेद-रूपी समुद्र से; अर्थात् वेदों को मथन करने से सार-रूप राम-नाम निकला। विचार मंदराचल, मुनि और संत देवता हैं, श्रीशिवजी मथनेवाले हैं, क्योंकि वेदों का ही उपबृंहण रूप रामायण है, उसे मथकर श्रीशिवजी का राम-नाम ही लेना कहा गया है; यथा—"सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृत है॥" (वि॰ २५४), वेद के कर्म, ज्ञान, उपासना आदि और रत्न हैं, राम नाम अमृत है। वह अमृत देवताओं को अमर करने और दैत्यों को नाश करने के लिये निकाला गया। वैसे यह अमृत भी कलिमल को नाश करने और जापकों को अमर करने के लिये है। उस अमृत के पीनेवालों का पुनर्जन्म होता है, पर इसके पीनेवालों का आवागमन छूट जाता है। 'प्रध्वंसनं' का भाव यह है कि इससे कलिमल जड़ मूल से नाश हो जाता है। 'श्रीमत्—शंभु' का भाव यह कि ऐसे शोभायमान कल्याण करनेवाले ईश्वर भी इसे निरंतर जपते हैं। पुनः उन्हें ये दोनों विशेषणों के भाव राम नाम ही से प्राप्त हुए; यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥" (बा॰ दो॰ २५)। 'सुखेन्दु'—मुख को चन्द्रमा कहने का भाव यह कि वह अमृत चन्द्रमा में रहता है, वैसे यह श्रीशिवजी के मुख-चंद्र पर सदा सुशोभित रहता है; यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनग अराती॥" (बा॰ दो॰ १०७); इसीके सम्बन्ध से मुख-चंद्र की भी शोभा है। अतः, 'श्रीमत्' कहा गया है। किन्तु वह चंद्रमा सदा शोभित नहीं रहता। 'संसारामयभेषजं'—वह अमृत संसारी जीवन ही दे सकता है, भव-रोग से नहीं बचा सकता, पर यह भव-रोग से भी बचाता है। वह पीने से घटता है—यह 'अव्यय' है। इसकी महिमा सब देश काल में पूर्ण रहती है, घटती नहीं। 'श्रीजानकीजीवनं', कहकर इसका रहस्य बतलाया है कि श्रीजानकीजी ने इसका सेवन करके जीवन बनाया है। इसकी रीति उनसे सीखो; यथा—"जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।" (क॰ उ॰ ३४); अर्थात् जिसने श्रीजानकीजी के जीवन के ज्ञान को नहीं जाना, तो उसका ज्ञान कहावत (कहानी) मात्र है, उसने क्या जाना अर्थात् कुछ नहीं।

(आ० दो० १०); 'हितौ', यथा—"तन धन धाम राम हितकारी।" (उ० दो० ४६); "लाड़ लाड़िले लखन हित हौ जन के।" (वि० ३७); 'सीतान्वेषणतत्परौ'; यथा—"पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले···" (आ० दो० ३१); 'पथिगतौ'; यथा— "दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई।" (आ० दो० ३१); 'भक्तिप्रदौ'; यथा—"अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना॥" (आ० दो० १०)—श्रीरामजी। "सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥" (अ० दो० ९३)—श्रीलक्ष्मणजी।

(२) 'कुन्देन्दीवर'—में 'कुन्द' शब्द से श्रीलक्ष्मणजी की उपमा है और 'इन्दीवर' से श्रीरामजी की। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी पहले क्यों कहे गये? उत्तर—(क) व्याकरण की यह रीति है कि जब छोटे-बड़े शब्दवाले दो नाम साथ आते हैं, तो छोटा प्रथम रक्खा जाता है, यहाँ 'कुन्द' छोटा और 'इन्दीवर' बड़ा है। (ख) यहाँ मार्ग में चलते हुए का ध्यान है, श्रीरामजी विरही हैं, श्रीलक्ष्मणजी सावधान हैं, इससे संभवतः आगे हैं।

विशेषणों के क्रम के भाव—पहले कुन्द और कमल के समान सुन्दर कहने में बल का संदेह रहा, इसलिये 'अतिबलौ' कहा। फिर बल के अहंकार में ज्ञान-विज्ञान होने में सन्देह रहा, अतः 'विज्ञानधामौ' भी कहा। विज्ञानी लोग प्रायः शोभा से युक्त नहीं होते, इसपर 'शोभाढ्यौ' कहा। शोभावालों में प्रायः मृदुता के कारण वीरता में संदेह रहता है; अतः, 'वरधन्विनौ' कहा। ये सब बातें मनुष्य में असम्भव हैं, इसलिये 'श्रुतिनुतौ' कहकर ईश्वरता कही। तब इस रूप में क्यों आये, अतः 'गोविप्रवृन्दप्रियौ मायामानुषरूपिणौ' कहा। पुनः 'सद्धर्मवर्मौ' से अवतार का कार्य कहा कि धर्म की मर्यादा-रक्षा के लिये आये। फिर 'सीतान्वेषणतत्परौ' से धर्म-रक्षा का कार्य चरितार्थ किया कि पतिव्रता स्त्री का खोजना धर्म है; अतः, खोज रहे हैं। कवि इतनी स्तुति क्यों कर रहे हैं? इसका कारण 'भक्तिप्रदौ' से कहा कि भक्ति पाने के लिये।

(३) 'मायामानुषरूपिणौ'—'माया वयुन ज्ञान' पर्याय वाचक शब्द हैं। अतः, अपने ज्ञान से, अपनी इच्छा से अर्थ होगा; यथा—"इच्छा मय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट···" (बा० दो० १५१); माया का अर्थ कृपा भी है। अतः, अपनी कृपा से नर-वेष में लीला करते हैं। मनुष्य रूपता यह कि बाल, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर मनुष्य की-सी लीला करते हैं।

इस चतुर्थ सोपान के चरित किष्किंधा देश में हुए, पुनः किष्किंधा पर्वत-श्रेणी का भी नाम है, जो किष्किंधा देश में है। वहाँ बालि-सुग्रीव की राजधानी है, इसीसे इस कांड का नाम 'किष्किंधा' पड़ा।

इस छंद का नाम शार्दूलविक्रीड़ित है, क्योंकि श्रीरामजी सिंह के सम न निर्भय विचर रहे हैं। अतः, इसी छन्द से उनकी स्तुति की गई।

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥२॥

शब्दार्थ—ब्रह्म=वेद; यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विप्रः प्रजापतिरित्यमरः।" अम्भोधि=समुद्र। अव्यय=निर्विकार, अविनाशी। कृतिनः=सुकृती लोग।

अर्थ—जो वेद समुद्र से उत्पन्न, पापों का प्रकर्ष नाशक, अविनाशी, श्रीमान् शंभु भगवान् के सुन्दर श्रेष्ठ मुख-चन्द्र में सदैव शोभायमान, भव-रोग की ओषधि, सुख के करनेवाले और श्रीजानकीजी के जीवन-स्वरूप, सुन्दर श्रेष्ठ श्रीराम-नाम-रूपी अमृत को निरंतर पान करते हैं, वे सुकृती धन्य हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं'; यथा—"वेद प्रान सो" (बा० दो० १९); "यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा० दो० ९); 'कलिमलप्रध्वंसनं'; यथा—"कलिमल विपुल विभंजन नामः।" (बा० दो० १०); श्रीशिवजी सदा जपते हैं—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा० दो० १०७); 'संसारामयभेषजं'; यथा—"जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।" (उ० दो० १११); 'सुखकरं'; यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९); "जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटइ कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१); 'श्रीजानकीजीवनं' यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट॥" (सुं० दो० ३०); 'धन्यास्ते कृतिनः'; यथा—"तेन तप्तं हुतं दत्तमेवा-खिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥" (वि० ४६)।

यहाँ श्रीराम-नाम को अमृत रूप कहा गया है। अमृत समुद्र से निकला, यह वेद-रूपी समुद्र से; अर्थात् वेदों को मथन करने से सार-रूप राम-नाम निकला। विचार मंदराचल, मुनि और संत देवता हैं, श्रीशिवजी मथनेवाले हैं, क्योंकि वेदों का ही उपबृंहण रूप रामायण है, उसे मथकर श्रीशिवजी का राम-नाम ही लेना कहा गया है; यथा—"सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृत है॥" (वि० २५४), वेद के कर्म, ज्ञान, उपासना आदि और रत्न हैं, राम-नाम अमृत है। वह अमृत देवताओं को अमर करने और दैत्यों को नाश करने के लिये निकाला गया। वैसे यह अमृत भी कलिमल को नाश करने और जापकों को अमर करने के लिये है। उस अमृत के पीनेवालों का पुनर्जन्म होता है, पर इसके पीनेवालों का आवागमन छूट जाता है। 'प्रध्वंसनं' का भाव यह है कि इससे कलिमल जड़ मूल से नाश हो जाता है। 'श्रीमत्—शंभु' का भाव यह कि ऐसे शोभायमान कल्याण करनेवाले ईश्वर भी इसे निरंतर जपते हैं। पुनः उन्हें ये दोनों विशेषणों के भाव राम-नाम ही से प्राप्त हुए; यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥" (बा० दो० २५)। 'मुखेन्दु'—मुख को चन्द्रमा कहने का भाव यह कि यह अमृत चन्द्रमा में रहता है, वैसे यह श्रीशिवजी के मुख-चंद्र पर सदा सुशोभित रहता है; यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनग अराती॥" (बा० दो० १०७); इसीके सम्बन्ध से मुख-चंद्र की भी शोभा है। अतः, 'श्रीमत्' कहा गया है। किन्तु वह चंद्रमा सदा शोभित नहीं रहता। 'संसारामयभेषजं'—वह अमृत संसारी जीवन ही दे सकता है, भव-रोग से नहीं बचा सकता, पर यह भव-रोग से भी बचाता है। वह पीने से घटता है—यह 'अव्यय' है। इसकी महिमा सब देश काल में पूर्ण रहती है, घटती नहीं। 'श्रीजानकीजीवनं', कहकर इसका रहस्य बतलाया है कि श्रीजानकीजी ने इसका सेवन करके जीवन बनाया है। इसकी रीति उनसे सीखो; यथा—"जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।" (क० उ० ३६); अर्थात् जिसने श्रीजानकीजी के जीवन के ज्ञान को नहीं जाना, तो उसका ज्ञान कहावत (कहानी) मात्र है, उसने क्या जाना अर्थात् कुछ नहीं।

(२) 'जानकी-जीवन-ज्ञान'—श्रीजानकीजी ने अपनी प्रतिबिंब रूपा (अंश-भूता) विद्यामाया को लंका भेजकर श्रीराम-नामाराधन से संसार का ज्ञान और उससे निवृत्ति दिखाई है। वैसे ही मुमुक्षु को भी श्रीराम-कृपा से सदसद्विवेकिनी बुद्धि मिलती है ; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०) ; तब शरीरासक्ति रूपा अशोक वाटिका—जो मोह-रूपी रावण की क्रीड़ा-स्थली है—यह इसे शोकमय दीखती है और प्रवृत्ति (अविद्यात्मक जगत्) रूपा लंका—यद्यपि मोहा सक्तों के लिये स्वर्णमयी अर्थात् बहुमूल्य रूप से प्रिय है—तथापि इसे दुःख-रूपा एवं अप्रिय लगती है। प्रमाण—"वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग रचित मन दनुजमय-रूप धारी।···कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर··· मोह दस मौलि···जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन वसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता। ··प्रबल वैराग्यदारुन प्रभंजन तनय···" (वि० ५८)।

इस दुःख की निवृत्ति के लिये राम-नाम का जप करना चाहिये; यथा—"जेहि विधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छवि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥"(अ० दो० २१); तब जैसे वहाँ रावण-प्रेरित राक्षसियाँ नाना प्रकार के भयंकर रूप धर-धरकर श्रीजानकीजी को डरपाती थीं। वैसे इसका हृदय ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जायगा, प्रारब्धानुसार जो मोह प्रेरित नाना प्रकार के रजोगुणी प्राकृत संकल्प होंगे, उनसे इसे भय लगेगा। फिर कुछ काल में श्रीराम सम्बन्धी शुद्ध संकल्प होने लगेंगे; यथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११); यहाँ राम-नाम-जप से संकल्पों का उसी के अनुरूप हो जाना और इसी से कथा सुनने की भ्रांति का अनुमान कहा गया है। तब वहाँ के श्रीहनुमानजी की प्राप्ति की तरह यहाँ श्रीराम-प्रेरित प्रबल वैराग्य प्राप्त होगा, उससे शरीरासक्ति उजाड़ और प्रवृत्ति राख के समान कुरूप एवं हेय हो जायगी। तब श्रीरामजी का तेज जानकर जीव श्रीविभीषणजी की तरह अनन्योपायतावुद्धिसहित (अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर एक प्रभु-मात्र को अपना उपाय समझ) शुद्ध शरणागति प्राप्त करेगा। पुनः श्रीरामजी इसके देहाभिमान-रूपी सागर को बाँधकर मोह-परिवार-रूपी विकारों को दैवी संपत्ति रूपी वानरों के द्वारा नाश करेंगे और इसे (मुमुक्षु को) शुद्ध स्वरूप का राजा बनावेंगे, जिससे यह च्युत हुआ था; यथा—"निष्काज राज विहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्‍यो॥" (वि० १२१) ; मुक्त होने पर जीव का राजा होना कहा गया है ; यथा—"स स्वराड्भवति" (छां० ७।२५।२) फिर श्रीविभीषणजी ने श्रीजानकीजी को लाकर श्रीरामजी को सौंपा और वे अग्नि-परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी को नित्यश्री में लीन हुईं। वैसे जीव भी ज्ञानाग्नि द्वारा पूर्व कार्य श्रीरामजी की ही आदि शक्ति के द्वारा होना निश्चय करेगा। वे (विभीषणजी) श्रीअयोध्या आकर दिव्य रूप से श्रीरामजी के परिकर हुए। वैसे यह निवृत्त हृदय में दिव्यधाम-सहित भगवान् के दिव्य शेषत्व (सेवा) का अनुभव करेगा। श्रीविभीषणजी फिर श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा वस्त्राभूषण पहनवाकर लंका भेजे गये, जिससे वे श्रीलक्ष्मणजी की तरह रात-दिन सेवायुक्त रहें, तो कल्पान्त में नित्य धाम को जायँगे। वैसे यह भी भजन-सहित अवशिष्ट प्रारब्ध (आयु) समाप्त कर नित्य-धाम को प्राप्त करेगा।

(३) 'धन्यास्ते कृतिनः'—भाव यह कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिये सुकृत करनेवाले धन्य नहीं हैं, पुण्य क्षीण होने पर नीचे गिरते हैं, सदा भव-प्रवाह में गोते खाते रहते हैं। पर ये धन्य हैं, जो रामनामामृत पीते हैं। धन्य कहे जाने का कारण उपर्युक्त 'जानकी-जीवन ज्ञान' है।

'पिबंति सततं'—रात-दिन हर अवस्था में हर घड़ी जपा करते, जिह्वा खाली नहीं रहती। जैसे कि इस श्लोक में श्रीजानकीजी और श्रीमच्छंभु का रात-दिन जपना कहा गया है। ऊपर श्लोक में नामी की और इसमें नाम की वंदना है।

सो०—मुक्ति-जन्म-महि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि-कर।
जहँ बस संभु-भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥
जरत सकल सुरबृंद, विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद, को कृपाल संकर-सरिस ॥

अर्थ—मुक्ति की जन्मभूमि, ज्ञान की खान, पापों का नाश करनेवाली और जहाँ श्रीशिव-पार्वतीजी सदा वसते हैं; यह जानकर उस काशी का सेवन कैसे न किया जाय; अर्थात् अवश्य उसमें वास करना चाहिये ॥ जिस कठिन हालाहल विष से सब देव-समूह जल रहे थे, उसे जिन श्रीशिवजी ने पी लिया, हे मन्द बुद्धि मन! तू उनको क्यों नहीं भजता? शंकरजी के समान कौन कृपालु है?॥

विशेष—(१) विशेषणों के क्रमशः भाव—'मुक्ति-जन्म-महि'; यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह श्रुति है, अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती; यथा—"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" यह श्रुति है, इसपर कहते हैं—'ज्ञान-खानि' है, परन्तु पापों के क्षय हुए बिना ज्ञान नहीं होता; यथा—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।" इसपर कहा—'अघ हानि-कर' है। इस तरह तीनों श्रुतियों के भावों को कहकर शंका की जगह नहीं रक्खी। पहले काशी का माहात्म्य कहकर तब 'संभु-भवानि' का बसना कहा कि यह उनका स्थान है। 'संभु', अर्थात् कल्याण के कर्त्ता हैं; यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥" (बा० दो० ११८)। 'भवानि' नाम से यह जनाया कि जब से श्रीशिवजी (भव) हैं, तभी से ये भी हैं, सती। पार्वती आदि नाम पीछे के हैं। तब ऐसी काशी तो अवश्य सेवन करने योग्य है। यहाँ वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण है।

जगत् में जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६); काशी तीनों के सेवन करने योग्य है—विषयी के लिये 'अघ हानि-कर' है; साधक (मुमुक्षु) के लिये सत्संग द्वारा 'ज्ञान खानि' है और सिद्धों के लिये 'मुक्ति-जन्म-महि' है। वा, सहज वास से पाप नाश करती है, सत्संग से ज्ञान देती है और वहाँ मरने पर मुक्ति देती है।

यहाँ काशी का माहात्म्य कहने का भाव यह कि मानस सप्त सोपान रूपी सात कांडों में है, उनमें यह चौथा कांड है। ऐसे ही मुक्ति देनेवाली सातो पुरी कही गई हैं; यथा—"अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्तिदायिकाः॥" इनमें अयोध्या का नाम प्रथम आया है और काशी का चौथा। इसलिये पहले (बाल) कांड में श्रीअयोध्याजी का माहात्म्य कहा गया था, वैसे इस चौथे (किष्किंधा) कांड में काशी का माहात्म्य कहा गया। इसी रीति से सातों कांडों का मोक्षदायक होना जनाया।

पहले सोरठे में काशी वास करना कहा गया, ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी॥" (वि० २२); उसमें बसने से पाप नाश होकर ज्ञान का प्राप्त होना कहकर अधिकारी होने पर आगे काशी के स्वामी श्रीशिवजी की सेवा करने को कहते हैं। फिर श्रीराम-चरित कहेंगे, क्योंकि—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥" (उ० दो० १०५)।

(२) 'जरत सकल सुरबृंद···'—'जरत सकल सुरबृंद' से विष की विषमता और 'जेहि पान

किये' से श्रीशिवजी का सामर्थ्य कहा। इसकी कथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको।" (बा० दो० १८); पर लिखी गई है। 'सकल सुरबृंद' का भाव यह कि देवताओं के कई भेद हैं—वसु-बृंद, रुद्र-बृंद, आदित्य बृंद आदि - वे सभी बृंद जलने लगे थे। 'तेहि न भजसि मतिमंद'—भाव यह कि श्रीशिवजी ने देवताओं को विष की ज्वाला से बचाया, वैसे भजन करने पर तुम्हें भी विषयाग्नि की ज्वाला से बचावेंगे; यथा—"मन करि विषय अनल बन जरई।" (बा० दो० ३२); 'को कृपाल संकर सरिस'—तुमपर भी कृपा करेंगे और शंकर (कल्याणकर्त्ता) होंगे।

प्रथम तीन कांडों में श्रीशिवजी को इस ग्रंथ के आचार्य मानकर पहले उनकी वंदना की थी, क्योंकि आचार्य का पद भगवान् से भी बड़ा है, किन्तु इस कांड से इन्होंने हनुमान् रूप से श्रीरामजी का प्रत्यक्ष दासत्व ग्रहण किया है। अतः, उनके स्वामी श्रीरामलक्ष्मणजी की वंदना पहले और वह भी देववाणी में करके तब भाषा में सेवक की वंदना करना उचित माना है; यथा—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहि सुजान। रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान्॥" (दोहावली १४१); आगे बराबर श्रीशिवजी की नीचे ही वंदना करेंगे, क्योंकि अब वे श्रीहनुमान् रूप से सेवक-भाव में हैं। सुंदरकाण्ड में श्रीहनूमान्‌जी ही वंदना करेंगे, क्योंकि उसमें उनका चरित प्रधान है।

ऐतिहासिक दृष्टिवाले यों भी कहते हैं कि शैव-वैष्णव-विरोध मिटाने के लिये दोनों के इष्ट की एक साथ वंदना करते हुए पहले तीन कांडों में श्रीशिवजी को प्रथम स्थान दिया, तब पीछे चार कांडों में श्रीरामजी को। पर इस ग्रंथ से उपर्युक्त आचार्य-भाव से एवं—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (उ० दो० ४५) की दृष्टि ही युक्त है।

ऊपर श्रीरामजी के विषय में नामी और नाम की वंदना है, वैसे यहाँ श्रीशिवजी के प्रसंग में धाम और धामी की वंदना है। इनके नाम की वंदना नहीं की, क्योंकि ये स्वयं श्रीराम-नाम जपते हैं। अतः, इष्ट की समता का दोष होता; यथा—"साम्यं नाम च शंकरस्य च हरेः" यह दस नामापराधों में एक अपराध कहा गया है।

"मारुति-मिलन"—प्रकरण

आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया॥१॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बलसींवा॥२॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल-रूप-निधाना॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे चले और ऋष्यमूक पर्वत निकट आ गया; अर्थात् उसके समीप पहुँच गये॥१॥ वहाँ (उस पर्वत पर) मंत्रियों के साथ श्रीसुग्रीवजी रहते थे। अतुलित बल की सीमा श्रीराम-लक्ष्मणजी को आते हुए देखकर॥२॥ वे अत्यन्त डरकर बोले कि हे हनुमान्! सुनो, ये दोनों पुरुष बल और रूप के निधान (समुद्र) हैं॥३॥

विशेष—(१) 'आगे चले बहुरि रघुराया।'—पहले कह चुके हैं—"पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले···" (आ० दो० ३१); फिर श्रीशबरीजी के यहाँ ठहरे, तब वहाँ से भी चले; यथा—"चले राम त्यागा

मन सोऊ।" (आ० दो० ११)। तब पंपासर पर बैठ गये थे ; यथा—"बैठे अनुज सहित रघुराया।" (आ० दो० ४०); वहीं पर श्रीनारदजी से सत्संग हुआ। उसी जगह से अब फिर आगे चले। इस तरह अरण्यकाण्ड से इस कांड का सम्बन्ध भी दिखाया—'रघुराया' शब्द से प्रसंग मिलाया। अभी श्रीनारदजी को स्त्री-त्याग की शिक्षा दी और स्वयं स्त्री को खोजने चले हैं, इसका भाव यह कि गृहस्थ को स्त्री का संग्रह उचित है और विरक्त को त्याग ; 'रघुराया'—राजा हैं। अतः, नीति से काम लेंगे। पहले श्रीसुग्रीवजी से मित्रता करेंगे, उसके शत्रु को मारेंगे और उससे अपना कार्य करावेंगे।

(२) 'रिष्यमूक पर्वत नियराया।'—इस पर्वत का नाम लिखा गया, क्योंकि यहाँ पर श्रीरामजी का कुछ कार्य होगा। श्रीसुग्रीवजी मिलेंगे, फिर और कार्य होगा। इसका ऋष्यमूक नाम क्यों ?—(क) मृगों में गोकर्ण, केन, ऋष्य-संज्ञक मृग होते थे, वे इस पर्वत पर मूक (चुप) रहते थे, इसी से यह नाम हुआ। (ख) ऋषि—अमूक अर्थात् इस पर्वत पर ऋषि लोग वेद-पाठ, नाम-जप और चरित-पाठ आदि करते थे—इससे ऐसा नाम था। (ग) इसपर सत्यवादी ही ऋषि रहते थे, झूठे और अधर्मी यहाँ जाकर मर जाते थे।

(३) 'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।'—राज्य के सात अंग हैं—राजा, मंत्री, कोष, देश, किला और सेना। इनमें श्रीसुग्रीवजी के पाँच अंग नष्ट हैं, केवल मंत्री और स्वय (राजा) ही रह गये। किन्तु मंत्री प्रधान अंग है, इससे साथ रक्खा है ; यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।" (सुं० दो० ४०); यह श्रीविभीषणजी के लिये कहा गया है, यहाँ श्रीसुग्रीवजी को राज्य मिलेगा और श्रीविभीषणजी को भी आगे मिला है। श्रीशबरीजी ने पंपासर पर ही सुग्रीव-मिताई को कहा था, पर यहाँ ऋष्यमूक पर श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, भाव यह कि यहाँ तक पंपासर की ही भूमि है, उसीकी सीमा के भीतर यह भी है।

'आवत देखि अतुल बलसींवा।'—देखकर ही बल जान लिया ; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझई। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझई॥" (जानकी-मंगल ११); बलवान् लोग देखकर ही बली का अंदाजा कर लेते हैं ; यथा—"देखी मैं दसकंठ-सभा सब मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३)—यह श्रीहनुमान्जी ने रावण से कहा है।

(४) 'अति सभीत कह···'—सभीत तो सदा ही रहते थे ; यथा—"इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥" (दो० ५); अब इन 'अतुल बलसींव' को देखकर अति सभीत हो गये। श्रीसुग्रीवजी को वीर का प्रयोजन है, इसलिये प्रभु ने उन्हें वीर-स्वरूप का बोध कराया ; यथा—"तावृष्यमूकस्य समीपचारी चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ॥ शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी वितत्रसे नैव चिचेष्ट किञ्चित्॥···दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम चिन्तापरीतो भयभारभग्न.॥" (वाल्मी० ४।१।१२०-१२१); 'सुनु' यह अशांति गर्भित संबोधन भी श्रीसुग्रीवजी का सभीत होना सूचित करता है। 'बल-रूप-निधाना'—बल और रूप दोनों प्रायः साथ नहीं होते, पर इनमें हैं, इससे ये कोई अवश्य विलक्षण पुरुष हैं।

धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सैन बुझाई॥४॥
पठये बालि होहिं मन मैला। भागउँ तुरत तजउँ यह सैला॥५॥
बिप्र-रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मचारी का रूप धारण करके तुम जाकर देखो और उनके हृदय का भाव अपने

से जानकर सकेत (इशारे) से हमको समझाकर कह देना ॥४॥ यदि वे वालि के भेजे हुए हों और मन के मैले (दुष्ट-चित्त) हों, तो मैं तुरत भागूँगा और इस पर्वत को छोड़ दूँगा ॥५॥ ब्राह्मण रूप धारण करके वानर श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये और शिर नवाकर इस तरह पूछने लगे ॥६॥

विशेष—(१) 'धरि बटु रूप देखु'''—'बटु' का अर्थ आगे कहा है; यथा—"विप्र-रूप धरि' यह रूप इसलिये धारण करने को कहा कि वानर शठ-बुद्धि होते हैं और उनसे प्रवीणता से बातचीत करनी है। इसलिये योग्य रूप को कहा; यथा—"कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥" (वाल्मी० ४।३।२); पुनः ब्रह्मचारी अवध्य होते हैं, विद्याध्ययन के लिये वन में रहते हैं, शुद्ध-हृदय होते हैं। अतः, इनसे लोग अपनी बात कह देते हैं। भस्मासुर से भगवान् ने बटु-रूप से ही मर्म पूछा था और उसने कह दिया था। यदि विपक्ष के होंगे, तो बटु जानकर न मारेंगे। विद्यार्थी चपल-स्वभाववाले होते हैं। अतः, बिना प्रयोजन भी इनका पूछना अनुचित न माना जायगा।

श्रीहनुमानजी श्रीविभीषणजी के यहाँ और श्रीभरतजी के यहाँ भी इसी रूप से जाकर मिले हैं। यह वेष मंगलकारी भी माना जाता है। इन कारणों से भी यही रूप धारण किया है।

'कहेसु जानि जिय'''—सभाषण एवं चेष्टाओं से उनके हार्दिक भाव जान लेना; यथा—"इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च॥ लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि।" शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवगम। व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टताऽनयोः॥" (वाल्मी० ४।२।१४–२०)। 'सैन बुझाई'—कहीं कराग्रभाग से संकेत करना कहा है, कहीं और तरह, इसलिये यहाँ संकेत को गुप्त ही रक्खा है।

(२) 'पठये बालि होहिं मन मैला'—बाली मन का मैला है, अतएव उसके भेजे होंगे, तो इनका भी मन मैला ही होगा। जो बिना कारण दूसरे का वध करने जाता है, उसका हृदय प्रसन्न नहीं होता, बातों से लख पड़ेगा। 'पठये बालि होहिं'—इसका कारण वाल्मी० ४।२।२०–२३ में कहा गया है कि सुग्रीवजी कहते हैं कि इन दोनों पुरुष-श्रेष्ठों को वालि ने ही भेजा है, क्योंकि राजाओं के अनेक मित्र होते हैं। विश्वास करना उचित नहीं।" बाली बुद्धिमान् है, बड़ी योग्यता से काम करता है, हमें सावधान रहना चाहिये, इत्यादि। कहा भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८); इस दृष्टि से उसने दूसरे को अवश्य भेजा होगा।

'मन मैला'—यह संकेत में भी लिया जा सकता है कि जो वे बालि के पठाये हुए हों तो तुम मन से उदास हो जाना, तो हम जान लेंगे, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी ने कहा है—"ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुंगव।" (वाल्मी० ४।२।२६); अर्थात् तुम हमारे सम्मुख खड़े होकर उनसे पूछना। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी चेष्टा को हम लक्ष्य करते रहेंगे।

'भागउँ तुरत तजउँ यह सैला'—भाव यह कि पास आ जाने पर इनसे न बचेंगे। अभी भागने का अवसर है, श्रीसुग्रीवजी को भागने का बड़ा बल है, क्योंकि शीघ्रगामी सूर्य के अंश से उत्पन्न हैं। इसीसे चौदहों भुवनों में वालि ने पीछा किया, पर उन्होंने इन्हें नहीं पाया।

श्रीहनुमान्‌जी को ही भेजा, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी के अति सभीत होने से और मंत्री भी घबड़ा गये थे। पर श्रीहनुमान्‌जी नहीं घबड़ाये और उन्हें समझाया है, वाल्मी० ४।२।१३–१८ में विस्तार से कहा है। श्रीसुग्रीवजी श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमत्ता भी जानते हैं; यथा—"हनूमतीह विद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम॥

व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ॥" (वाल्मी० ५।३५।१०); यह श्रीरामजी से श्रीसुग्रीवजी ने ही कहा है।

(४) 'माथ नाइ'—श्रीहनुमानजी विप्र-रूपमें गये, तब श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को 'छत्री-रूप' में जानकर भी शिर क्यों नवाया ? इसका उत्तर यह है कि अत्यन्त तेजस्वी देखकर देव-बुद्धि से उन्हें प्रणाम किया, क्योंकि आगे इनके प्रश्नों से स्पष्ट है; यथा—"की तुम्ह तीनि देव महँ···" इत्यादि। अर्थात् आपका रूप-मात्र क्षत्रिय का है, पर हैं, कोई देवता ही ; यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ ॥ ·· मानुषौ देवरूपिणौ ॥" (वाल्मी० ४।३।११-१२); इत्यादि। इनके तेज-प्रताप से चकित होकर बिना जाने ही राजा जनक ने, सतानंद-आदि के साथ इनका अभ्युत्थान किया; यथा—"उठे सकल जब रघुपति आये।" (बा० दो० २१४); वहाँ भी धनुष-बाण आदि इनके क्षत्रिय के चिह्न थे ही। उनके चित्त में भी देव-बुद्धि ही आई, यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति···" (बा० दो० २१५); तब तो स्वतः शिर झुकाना अनिवार्य है; यथा—"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥" (मनुस्मृति आचाराध्याय); अर्थात् बूढ़े के आने पर जवान के प्राण ऊपर को चढ़ जाते हैं, उठने और अभिवादन से फिर ज्यों-के-त्यों हो जाते हैं। जिनके किंचित् प्रताप को पाकर अंगद रावण की सभा में गये, तो शत्रु रावण की सभा ने इनका अभ्युत्थान किया; यथा—"उठे सभासद कपि कहँ देखी।" (लं० दो० १९); तब स्वयं उन्हें विप्र का प्रणाम करना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

को तुम्ह स्यामल - गौर - सरीरा। छत्री - रूप फिरहु बन बीरा ॥७॥
कठिन भूमि कोमल - पद - गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥८॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता ॥९॥

अर्थ—साँवले और गोरे शरीरवाले आप (दोनों) कौन हैं ? जो वीर हैं और क्षत्रिय के रूप में वनमें फिर रहे हैं ॥७॥ हे स्वामी ! यह भूमि कठोर है और आप (दोनों) कोमल चरणों से चल रहे हैं। आप किस कारण से वन में विचर रहे हैं ? ॥८॥ (आप दोनों के) कोमल, मन को हरण करनेवाले और सुन्दर शरीर हैं और इनसे आप दोनों वन में कठिन घाम और हवा सह रहे हैं—यह किस लिये ? ॥९॥

विशेष—(१) 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।···'—श्रीरामजी अधिक तेजस्वी हैं और आगे-आगे चल रहे हैं, इससे इन्हें बड़ा मानकर 'स्यामल' यह पहले कहा है; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (बा० दो० १९७)। 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'—अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए देखकर क्षत्रिय-रूप और वीर कहा; यथा—"देखि कुठार बान धनु धारी। भइ लरिकहि रिसि बीर बिचारी ॥" (बा० दो० २८१); पुनः वन में वीर ही निर्भय विचर सकते हैं। अस्त्र-शस्त्र की करालता देखकर भी वीर कहते हैं। वाल्मी० ४।३।१५-१६ में श्रीहनुमान्‌जी ने विस्तार से इनके शस्त्रों का वर्णन करते हुए इनकी वीरता सराही है। 'छत्री रूप'—आप (दोनों) क्षत्रिय नहीं हैं, देवता हैं, पर क्षत्रिय के रूप धारण किये हुए हैं।

(२) 'कठिन भूमि'—का भाव यह कि आप दोनों इसपर चलने योग्य नहीं हैं; यथा—"जो

जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमन मय मारग कीन्हा ॥" (अ० दो० १२०); 'कोमल पद गामी'— भाव यह कि इन कोमल चरणों से आप पैदल चलने के योग्य नहीं हैं, सवारी पर ही चलने योग्य हैं; यथा—"ये विचरहिं मग बिनु पद त्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥" (अ० दो० ११९); 'बिचरहु बन'—का भाव यह कि आप तो महलों में विचरने के योग्य हैं; यथा—"तरुबर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥" (अ० दो० ११८); 'स्वामी'—लक्षणों से तो आप स्वामी (राजा) जान पड़ते हैं; यथा—"राज लखन सब अंग तुम्हारे।" (अ० दो० १११); यथा—"उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ ससागरवनां कृत्स्नां विंध्यमेरुविभूषिताम् ॥" (वाल्मी० ४।३।१५)।

(३) 'मृदुल मनोहर सुन्दर···'—आगे अभी थोड़े ही दिनों में कहेंगे—"गत ग्रीषम बरषा रितु आई।" (दो० ११); अतः, अभी ग्रीष्म ऋतु है, दो घड़ी दिनचढ़े पंपा सर पर आये, स्नान किया। फिर श्रीनारदजी से बातचीत करके चले, चार कोस चलकर दो पहर को यहाँ पहुँचे हैं, इसी से—'कहहु दुसह बन आतप बाता।' कहते हैं। असह्य धूप और लू की लपट चल रही थी। श्रीभरतजी ने कहा है—"बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात ॥" .(अ० दो० २११) ; पर यहाँ 'आतप बात' दो ही कहे गये हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी यह नहीं जानते कि इन्हें ऐसे ही १३ वर्ष हो गये, वे तो प्रत्यक्ष की ही बात कहते हैं।

पुनः मृदुल आदि के भाव ये हैं कि ये तो कुंकुम-कस्तूरी आदि से लेपन के योग्य हैं, दर्शन करने योग्य हैं। यहाँ इन तीनों अर्द्धालियों में 'बन' शब्द आया है—'बिचरहु बन', 'दुसह बन', 'फिरहु बन' इससे जाना जाता है कि इन्हें बन में विचरते देखकर श्रीहनुमान्‌जी को बड़ा दुःख हुआ, इसीसे आगे कहा है—"लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।" इसी तरह श्रीभरतजी को भी इनके बन के कष्ट सहने का ही दुःख था; यथा—"राम लखन सिय बिनु पग पनही। करि मुनि बेष फिरत बन बन ही ॥···येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (अ० दो० २११); इत्यादि।

श्रीहनुमान्‌जी के प्रश्नों से भी इनमें उनकी ऐश्वर्य-भावना स्पष्ट है कि कठिन भूमि पर चलते हुए भी आपके चरण कोमल ही हैं और दुरसह धूप और लू सहने पर भी 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता' बने हुए हैं, इससे आप कोई दिव्य तनवाले ही हैं, प्राकृत नहीं; अतः कौन हैं?

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ ॥१०॥

दोहा—जगकारन तारन भव, भंजन धरनी-भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज-अवतार ॥१॥

अर्थ—क्या आप तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में से कोई हैं? या आप दोनों नर-नारायण हैं? ॥१०॥ या आप जगत् के कारण (पैदा करनेवाले), भव (सागर) से पार करनेवाले और पृथिवी का भार भंजन (नाश) करनेवाले हैं, जिससे सम्पूर्ण भुवनों (लोकों) के स्वामी होते हुए भी (आपने) मनुष्य का अवतार लिया है? ॥१॥

विशेष—(१) 'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ'—विशेष तेजस्वी होने से देवताओं में भी श्रेष्ठ जानकर त्रिदेव में होना पूछते हैं, 'कोऊ' अर्थात् आप शिव-विष्णु हैं या ब्रह्मा-विष्णु हैं। श्याम-गौर वर्ण

के अनुसार इस तरह कल्पना है , यथा—"कोउ कह नर-नारायन, हरि हर कोउ। कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ।" (बरवा अ० १२); फिर सोचा कि त्रिदेव तीन हैं, वे होते तो तीनों साथ ही होते। ये दो हैं, अतः नर-नारायण होंगे, क्योंकि उनकी भी जोड़ी ऐसी ही है, वे परस्पर ऐसे ही प्रीतिवाले भी हैं; यथा—"नरनारायन सरिस सुभ्राता।" (बा० दो० १६); वे अवतार भी लेते हैं। इसपर भी उत्तर न मिला, तब तीसरा प्रश्न करते हैं—

(२) 'जगकारन तारन भव···'—पहले तीन में प्रश्न किया, फिर दो में और अंत में 'अखिल भुवनपति'—इससे एक के ही दो होने का प्रश्न किया ; यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा॥" (बा० दो० २१५); स्थूल से अनुमान करते हुए सूक्ष्म में करना नियम है ; यथा—"श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपे भगवतो यतिः। स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेत्॥" (श्रीमद्भागवत स्कंध ५); शुद्ध हृदय के भक्तों का अनुमान यथार्थ ही होता है; यथा—"बचन तुम्हार न होइ अलीका।" (बा० दो० २१५); अर्थात् जैसे श्रीजनकजी का अनुमान ठीक ही था, वैसे इनका भी यह तीसरा (निष्कर्ष-रूप) अनुमान ठीक ही है।

(३) 'अखिल भुवन पति'—का भाव यह कि सम्पूर्ण भुवन रावण-द्वारा पीड़ित है और उस भार से पृथिवी दबी हुई है; अतः, आपने मनुष्य का अवतार लिया है, क्योंकि रावण की मृत्यु मनुष्य ही के हाथ है, यथा—"रावन मरन मनुज कर जाँचा।" (बा० दो० ४८); "स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥" (वाल्मी० २।१।७); पुनः "अखिल भुवन पति" से "जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥" (बा० दो० ११०); 'का' और 'मनुज' से मनुसम्बन्ध से जायमान होनेवाले साकेत-विहारी के अवतार का भी लक्ष्य है।

'जगकारन' और 'तारन भव' से जगत् में जीवों का जन्म होना और जगत् से उनका छूटना दोनों ही कार्य श्रीरामजी के हाथों से होना सूचित किया ; यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (आ० दो० १५); "तुलसिदास यह जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।" (वि० १०२), इससे भी परम तत्त्व ही कहा। "भंजन धरनी भार" से "हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।" (बा० दो० १८६); पर और "लीन्ह मनुज अवतार" से "अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ··" (बा० दो० १८६); पर लक्ष्य है कि आप वही हैं क्या ?

ऐसे ही भक्त श्रीविभीषणजी का अनुमान भी सत्य ही था; यथा—"की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥" (सुं० दो० ५), श्रीभरतजी ने ऐसा ही जाना भी है ; यथा—"सेवक बचन सत्य सब जाने।" (अ० दो० २३७)।

कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु-बचन मानि बन आये॥१॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥२॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥३॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥४॥

अर्थ—हम कोसल (श्रीअयोध्या) के राजा श्रीदशरथजी के पुत्र हैं, पिता का वचन मानकर वन में आये हैं॥१॥ हम दोनों का नाम राम-लक्ष्मण है, हम दोनों भाई हैं, साथ में सुंदरी सुकुमारी स्त्री,

भी ॥२॥ यहाँ (वन में) निशाचर ने वैदेही को हर लिया, हे विप्र! हम उसे ढूँढ़ते-फिरते हैं ॥३॥ हमने अपना परिचय विस्तार से कहा, हे विप्र! अब अपनी कथा समझाकर कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'कोसलेस दसरथ…'—श्रीहनुमान्‌जी ने पूछा था—"को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्रीरूप फिरहु बन बीरा।' का उत्तर—"कोसलेस दसरथ के जाये।'—'नाम राम-लछिमन दोउ भाई।" इसका यह उत्तर है। "कवन हेतु बन बिचरहु स्वामी॥ मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत…" का उत्तर—'हम पितु बचन मानि बन आये।', "संग नारि…" से "हम खोजत तेही॥" तक है।

शेष तीन प्रश्नों के उत्तर न दिये, जो—"की तुम्ह तीनि देव महँ…" से "लीन्ह मनुज अवतार॥" तक कहे गये हैं, क्योंकि अपने ऐश्वर्य को गुप्त रखना है; यथा—"गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" (बा० दो० ४८)।

'कोसलेस' से धाम, 'दसरथ के जाये' से रूप 'नाम राम लछिमन' से नाम और 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।' से लीला सूचित की; ये चारो नित्य हैं; यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंदविग्रहम्॥" (वसिष्ठ-संहिता) इसी से चारों के द्वारा अपना परिचय दिया।

(२) 'संग नारि सुकुमारि सुहाई।'—भाव यह कि वह वन आने के योग्य न थी, पर स्नेह के कारण आई; यथा—"पुरते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिये मग में डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥ फिरि बूझति हैं चलनोऽब केतिक, पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै? । तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥" (क० अ० ११)।

(३) 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।…'—सीता-हरण तो पंचवटी में हुआ, तो 'इहाँ' ऐसा क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी ने उत्तर में कहा कि हम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं, पिता की आज्ञा से वन आये, हमारे साथ यह भाई और स्त्री दोनों आये, पर 'इहाँ' वैदेही को निशाचर ने हर लिया। श्रीअयोध्या को 'वहाँ' मानकर वन को 'इहाँ' कहते हैं; अर्थात् वन में।

कोई-कोई 'इहाँ' से ऋष्यमूक का अर्थ लेकर 'हरी' से सुग्रीव, 'निसिचर' से रावण और 'वैदेही' से श्रीजानकीजी का अर्थ करते हैं और सीता-हरण को अध्याहार से लेते हैं। परन्तु 'खोजत तेही' इसमें 'तेही' यह एकवचन है, यदि तीनों के लिये होता, तो 'तिन्हहि' ऐसा बहुवचन का प्रयोग होता, अतः यह अर्थ ठीक नहीं है।

'वैदेही'—शब्द से श्रीजानकीजी के स्वभाव का भीरु होना भी सूचित किया कि वे निशाचर के डर से देह-रहित हो जायँगी, यह संभव है। पुनः विदेह का सम्बन्ध-सूचक नाम देकर विप्र से सहायता भी चाहते हैं, क्योंकि विप्र, मुनि आदि से विदेह का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। खोजने में उनका हुलिया भी कहा। पुनः 'वैदेही' शब्द से देह-रहित अर्थात् प्रतिबिंब-रूपा सीता का बोधक गूढ़ोक्ति भी है।

(४) 'आपन चरित कहा हम गाई।'—अर्थात् जो हमने कहा, यही हमारा चरित है—"कोसलेस दसरथ के जाये।"—बालकांड, 'हम पितु बचन मानि बन आये।'—अयोध्याकांड, 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।'—अरण्यकांड और 'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।' यह किष्किंधाकांड के वर्त्तमान चरित तक कहा है।

'कहहु विप्र निज कथा बुझाई।'—'बुझाई' शब्द से लक्षित करते हैं कि जैसे आपने कहा कि आप क्षत्रिय-रूप हो, पर नर नहीं हो, वैसे हम भी पूछते हैं कि आपके वचन सामान्य विप्र के से नहीं हैं, अतः आप कौन हैं ? समझाकर कहिये ; यथा—"नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्। नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।···अनया चित्रया वाचा···" (वाल्मी० ४।३।२८-३४) ; अर्थात् इतने गुण मनुष्य रूप विद्यार्थी में नहीं हो सकते।

(४) 'आपन चरित···'—हमने तो अपना चरित कह दिया। 'गाई'—सरल भाव से एवं विस्तारपूर्वक कि विपत्ति के कारण हम वन में फिर रहे हैं। आप अपनी कथा समझा कर कहें कि आप कौन हैं और गुरु-सेवा छोड़कर वन में क्यों फिर रहे हैं ? या किसी के भेजने से आये हैं कि आपपर भी कोई विपत्ति है, जो ऐसे घोर वन में और दुःसह 'आतप-वात' (लू) में विचर रहे हैं।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥५॥
पुलकित तनु मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥६॥
पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्हीं। हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही ॥७॥

अर्थ—प्रभु को पहचान श्रीहनुमान्‌जी चरण पकड़कर (भूमि पर) पड़ गये, अर्थात् उन्होंने साष्टाङ्ग दण्डवत् की। (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा ! वह सुख वर्णन नहीं किया जा सकता ॥५॥ शरीर पुलकायमान हो गया है, मुख में वचन नहीं आता, वे सुन्दर वेष की रचना को देख रहे हैं ॥६॥ फिर धैर्य धरकर स्तुति की, अपने नाथ (इष्ट) को पहचान कर हृदय में आनन्द एवं प्रेम है ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु पहिचानि···'—कैसे पहचाना ? (क) श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य भगवान् से वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया है। रामचरित का बीज-रूप वेद में भी है, उससे यह सुनकर जान गये। (ख) इन्होंने सूर्य को गुरुदक्षिणा माँगने को कहा था, तब उन्होंने अपने अंशभूत श्रीसुग्रीवजी की रक्षा करना माँगा था कि उन्हें विपत्ति-पर्यंत रक्षा करना, इस-इस तरह से श्रीरामजी आवेंगे, तुम्हें बड़ा लाभ होगा, इत्यादि—उन्हीं बातों को प्रत्यक्ष घटित देखा, इससे जान गये। (ग) श्रीरामजी के जन्म से ही सब चरित श्रीनारदजी इन्हें सुनाया करते थे ; यथा—"राम-जनम सुभ काज सब, कहत देव ऋषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमग न अमाइ ॥" (रामाज्ञा-प्रश्न ४।४।१) ; इससे यहाँ चरित सुनकर जान गये, किन्तु इस समय तापस-वेष की रचना कुछ और है, इससे 'देखत रुचिर बेष की रचना।' कहा गया है। (घ) ये शिवरूप से आकाशवाणी के समय थे, वहाँ के वचनों से मिलाकर जान गये, जो वहाँ सुना था 'हम कोसलपुरी में श्रीदशरथजी के यहाँ प्रकट होंगे, नारद-वचन सत्य करेंगे। उन्हीं के अनुसार यहाँ चरित सुना, इससे जान गये। पुनः श्रीरामजी ने श्रीमुख से चरित सुनाया, इससे माया निवृत्त हुई, तुरत बोध हो गया। जैसे तारा को ज्ञान दिया, माया हरी और श्रीदशरथजी को 'चितइ' (देख) कर ही दृढ़ ज्ञान दिया, एवं करस्पर्श से श्रीसुग्रीवजी को बल दिया, इत्यादि।

'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना'—शिवजी उस शरीर के सुख को अत्यन्त जानकर अवर्ण्य कह रहे हैं; यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मनते भिन्न···" (उ० दो० ५)। "सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ॥" "प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना ॥" (उ० दो० ८९)।

श्रीहनुमान्‌जी की कथा

पुञ्जिकस्थला नाम की परम सुन्दरी श्रेष्ठ अप्सरा थी, वह शाप वश कुंजर वानर की कन्या अञ्जना नाम की वानरी हुई। वही केशरी वानर की स्त्री हुई। एक समय वह मनुष्य का रूप धरकर वस्त्राभरण से सुशोभित हो पर्वत के शिखर पर बैठी थी। वायुदेव प्रभाव से महा बलवान्, महापराक्रमी और महा तेजस्वी पवन के समान ही हनुमान्‌जी केशरी के क्षेत्रज और पवन के औरस पुत्र हुए। उसी अवस्था में ये महावन में सूर्य का उदय देखकर और उसे फल समझकर लेने के लिये कूदकर आकाश को उछले, उस दिन सूर्य ग्रहण का पर्व था। राहु ने इन्हें देखकर इन्द्र से पुकार की, इन्द्र ने आकर क्रोध पूर्वक इनपर वज्र चलाया, जिससे इनकी बाईं हनु टेढ़ी हो गई और उसीसे 'हनुमान्' नाम पड़ा। पुत्र पर आघात सुन वायु ने तीनों लोकों में अपनी गति रोक दी। सब घबड़ाये, देवताओं के सहित ब्रह्माजी वायु को मनाने आये। वायु के प्रसन्न होने पर ब्रह्मा-सहित सभी देवताओं ने इन्हें अपने-अपने अस्त्र शस्त्रों से अभय होने का वर दिया, इत्यादि। यह कथा वाल्मी० ४।६६।८-२८ के अनुसार सूक्ष्म रूप में है, वाल्मी० ७।३५-३६ में भी इनकी कथा विस्तार से है और प्रसिद्ध है।

(२) 'पुलकित तनु मुख''' '—श्रीहनुमान्‌जी मन, वचन, कर्म तीनों से निमग्न हो गये हैं; यथा—'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।'—यह सुख मन का धर्म है। 'पुलकित तन'—यह तन एवं कर्म और 'मुख आव न बचना' यह वचन की दशा है।

'देखत रुचिर बेष कै रचना।'—इस वेष का यथार्थ में इन्हीं ने अनुभव किया है, आगे लंका में श्रीजानकीजी के पूछने पर इन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से श्रीराम-लक्ष्मण के सर्वांग का वर्णन किया है—वाल्मी० सुं० स० ३५ देखिये।

(३) 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।'—श्रीरामजी की शोभा देखकर अधीर हो गये; यथा—"देखि भानु कुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि सयानी।'''" (बा० दो० २३३); तथा आ० दो० १० भी देखिये। 'हरष हृदय निज नाथहि चीन्हीं।'—ऊपर 'सुख' कहा गया। यहाँ फिर 'हर्ष' कहा गया है। हर्ष का प्रीति भी अर्थ होता है; यथा—"श्लोकमुत्प्रीति. प्रमदो हर्ष इत्यमरः" यही प्रीति का अर्थ यहाँ लेना चाहिये। पुनरुक्ति का बचाव यों भी है कि ऊपर—'सो सुख उमा''' में देखी हुई ऊपर की दशा कही गई है और यहाँ उनके हृदय का अनुभूत सुख कहते हैं। सुं० दो० ३२ भी देखिये।

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥८॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥९॥

दोहा—एक मैं मंद मोहबस, कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ, दीनबंधु भगवान॥२॥

अर्थ—हे स्वामी! मैंने जो पूछा, वह न्याय (उचित) था, (क्योंकि मैंने मायावश होने से नहीं

पहचाना था), पर आप कैसे मनुष्यों की तरह पूछते हैं ? (अर्थात् आप तो सर्वज्ञ ईश्वर हैं, अतएव मनुष्यों की तरह आपका पूछना अन्याय है) ॥८॥ मैं तो आपके मायावश भूला हुआ फिरता हूँ, इसी से मैंने प्रभु को नहीं पहचाना ॥९॥ एक तो मैं मंद हूँ, मोहवश हूँ, हृदय का कुटिल और अज्ञान हूँ। उसपर भी हे प्रभो ! हे दीनबंधु !! हे भगवान् !! आपने मुझे भुला दिया, (अन्यथा ऐसा हमसे प्रश्न ही न करते—'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।') ॥२॥

विशेष—(१) 'तव माया बस···'—आपकी माया प्रबल है; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौ दाया॥" (दो० १०); उसने वश में कर लिया, इससे पाया गया कि न पहचानने में माया का ही दोष है, मैं निर्दोष हूँ, इसपर अपने दोष कहते हैं—'एक मैं मंद···'—ये मंदता आदि दोष वानर जाति के हैं, पर कार्पण्य भक्ति की रीति से अपने में कहते हैं; यथा—"कबित बिबेक एक नहिं मोरे।" (बा० दो० ८)—यह गोस्वामीजी ने कहा है। साथ ही प्रभु को दीनबंधु भगवान् भी कहा है; यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।" (अ० दो० १३०); आप दीनबंधु हैं, मुझ दीन के सहायक हों, भगवान् हैं, अतः मुझे सँभाल सकते हैं। पर आपने भुला दिया, यही मेरा अभाग्य है, इसी में जीव की हानि है ; यथा—"तुलसी की बलि बार-बार ही सँभार कीबी, जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान है॥" (क० उ० ८०)।

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे॥१॥
नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥२॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई॥३॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥४॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥५॥

अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि मुझमें बहुत अवगुण हैं, तथापि (यह) सेवक प्रभु को भोरे न पड़े ; अर्थात् अवगुणी होने पर भी मुझ सेवक को आप न भुलावें, क्योंकि हे नाथ ! जीव आपकी माया से मोहित है, वह आपकी ही कृपा से छूट सकता है ॥१-२॥ उसपर भी हे रघुबीर ! आपकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं कुछ भी भजन का उपाय नहीं जानता ॥३॥ सेवक स्वामी के और पुत्र माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है, तो हे प्रभो ! उन्हें पालन करते ही बनता है; अर्थात् ऐसे ही मैं सेवक आप प्रभु पर निर्भर हूँ, तो आप मेरा पालन ही करें ॥४॥ ऐसा कहकर अकुलाकर चरणों पर गिर पड़े, हृदय में प्रीति छा गई और श्रीहनुमान्जी ने अपना (वानर) शरीर प्रकट कर दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'जदपि नाथ अवगुन······'—पहले अपनेमें चार ही अवगुण कहे थे—मंद, मोहवश, कुटिल-हृदय और अज्ञान। अब कहते हैं कि इतने ही नहीं, किंतु बहुत-से अवगुण हैं और इन्हीं से मैं आपको भूल गया, पर हे प्रभो !—'सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे।' (यह प्रार्थना करते हैं) भाव यह कि आप मेरे अवगुणों पर दृष्टि न देकर मुझे सँभालिये, अपनाइये ; क्योंकि—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (उ० दो० १)।

(२) 'नाथ जीव तव······'—पहले कहा था—'तव माया बस फिरउँ भुलाना।···' उसपर यहाँ कहते हैं कि यह आपकी ही कृपा से छूट सकता है, मैं माया-मोहित हूँ, कृपया छुड़ाइये ; यथा—"दैवी

ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)। "बंध मोच्छप्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥" (आ॰ दो॰ १५); "अतिसय प्रबल देव तव माया।···" ऊपर देखिये।

यहाँ पर ब्रह्म-स्वरूप, जीव-स्वरूप, उपाय-स्वरूप, फल-स्वरूप और विरोधि-स्वरूप—इन पाँचों स्वरूपों के ज्ञान भी समझाये गये हैं—

क—ब्रह्म-स्वरूप—'सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।'; 'पुनि प्रभु मोहिं···'।

ख—जीव-स्वरूप—"तव माया बस फिरउँ···मोर न्याउ मैं··" अर्थात् माया के वश होना, फिर प्रभु की कृपा से छूटना जीव की व्यवस्था है।

ग-उपाय-स्वरूप—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" इसमें उपाय शून्य शरणागति ही कही गई है।

घ—फल-स्वरूप—'परेउ गहि चरना'; 'परेउ चरन अकुलाइ।' अर्थात् प्रभु की प्राप्ति ही फल-स्वरूपा है।

ङ—विरोधि-स्वरूप—'माया बस' 'माया मोहा' आदि माया।

इनके जानने को अर्थपञ्चक ज्ञान कहते हैं; यथा—"प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलंप्राप्तेस्तथा प्राप्ति-विरोधि च॥ ज्ञातव्यमेतदर्थानां पञ्चकं मंत्रवित्तमैः।" (रहस्यत्रय)।

(३) 'तापर मैं रघुबीर······'—भजन का उपाय (साधन); यथा—"भगति के साधन कहउँ बखानी।' (आ॰ दो॰ १५); 'कछु'—थोड़ा भी भजन हो, तब भी माया कुछ नहीं कर सकती; यथा—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (उ॰ दो॰ ११५); 'जानउँ नहिं'—जीव के तरने के दो उपाय हैं, एक भजन और दूसरा आपका छोह, सो एक को तो ये कहते हैं कि मैं जानता ही नहीं, दूसरे के लिये प्रार्थना करते हैं—

(४) 'सेवक सुत पति······'—सेवक कुछ सेवा-रूप पुरुषार्थ करता है, यह उपर्युक्त पहले में है और सुत पुरुषार्थ-हीन है, वह केवल माता के ही भरोसे रहता है, यही उपाय शून्य-शरणागति है। श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से भी कहा है; यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (आ॰ दो॰ ४१)। अंत में अपनी स्थिति इसीमें कहकर चरणों पर आकुल हो पड़ गये—

(५) 'अस कहि परेउ चरन······'—इसी से श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं; यथा—"है तुलसी के एक गुन, अवगुन निधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग॥" (दोहावली ८५); यहाँ तन-मन-वचन से शरणागति हुई—'अस कहि'—में वचन की, 'परेउ चरन···'—में तन की, और 'प्रीति उर छाई'—में मन की शरणागति है।

प्रीति की विह्वलता में कपट-तन छूट जायगा, तब श्रीरामजी हृदय से लगावेंगे, क्योंकि श्रीमुख वचन भी है; यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं॰ दो॰ ४३); बहुत स्तुति करने पर भी बिना कपट छूटे नहीं अपनाया—यह साधकों के लिये शिक्षा है।

'रहइ असोच······'—योग-क्षेम से निश्चिन्त रहता है; यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः

पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२); उदाहरण—"लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा । यह महिमा जानहिं दुरवासा ॥" (अ० दो० २१०)।

श्रीहनुमान्‌जी भक्तों में आदर्श हैं, इनमें भक्ति के सब अंग हैं, पर फिर भगवान्‌ की अपेक्षा में उन्हें कुछ न गिनते हुए वे कार्पण्य-शरणागति की रीति से स्तुति कर रहे हैं, जो भक्ति का परम आवश्यक अंग है।

तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥६॥
सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ॥७॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक-प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥८॥

दोहा—सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥३॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीहनुमान्‌जी को उठाकर हृदय से लगाया और अपने नेत्रों के जल से सींचकर उन्हें शीतल किया ॥६॥ (और बोले—) हे कपि ! सुनो, तुम अपने हृदय में अपनेको ओछा मत मानो, तुम मुझे श्रीलक्ष्मणजी से दूने प्रिय हो ॥७॥ सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझे सेवक प्रिय है, (क्योंकि) वह (सेवक) भी अनन्यगति होता है; अर्थात्‌ उसका एक मैं ही प्रिय हूँ, दूसरा नहीं ॥८॥ हे हनुमान्‌ ! वही अनन्य है, जिसकी ऐसी बुद्धि न टले कि स्थावर-जंगमात्मक (सारा जगत्‌) स्वामी भगवान्‌ का रूप है और मैं सेवक हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति उठाइ उर लावा ।'—'तब'—जब श्रीहनुमान्‌जी निष्कपट-शरीर द्वारा मन, वचन, कर्म से शरण हुए । यद्यपि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, तथापि कपटमय होने से विप्र-तन को भी हृदय से नहीं लगाया । अतएव निश्छल भाव पर ही प्रभु कृपा करते हैं—यह निश्चय हुआ । श्रीभरतजी के वचनों में भी यही ध्वनि है; यथा—"कपटी-कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा । ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥" (उ० दो० १); 'सींचि जुड़ावा'—प्रेमाश्रु से श्रीहनुमान्‌जी का वह ताप दूर हुआ, जो 'मोहि बिसारेउ' इसमें था, जान गये कि मुझपर स्वामी अनुकूल हैं, प्रेमाश्रु उनकी हार्दिक प्रीति के प्रकाशक हैं।

(२) 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना ।'—श्रीहनुमान्‌जी ने अपनेमें बहुत अवगुणों का होना और प्रभु के द्वारा अपना भुलाया जाना कहा था, वही उनके हृदय में अपने प्रति न्यूनता है।

'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।'—दूना कहने का भाव—(क) यह सर्व-साधारण का मुहावरा है, इससे अत्यन्त प्रेम प्रकट किया जाता है; यथा—"तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ।" (दो० २०), "भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे ।" (उ० दो० ७); इत्यादि । (ख) श्रीलक्ष्मणजी का शरीर-सम्बन्धी नाता है, वे भाई हैं और श्रीहनुमान्‌जी का स्नेह का नाता है। स्नेह के नाते को श्रीरामजी अधिक मानते हैं; यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ।" (वि० १६४); "अनुज राज संपति बैदेही । देह-गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना ।···मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५)। (ग) जब एक बच्चे के पीछे दूसरा बच्चा होता है, तो माँ को यह नव-जात

शिशु बड़े की अपेक्षा अधिक प्यारा होता है, वैसे ही प्रभु भी नये शरणागत का अधिक प्यार करते हैं, इत्यादि ।

इस कथन से उनके हृदय का संकोच दूर किया, जिसे उन्होंने कार्पण्य में कहा था ।

(३) 'समदरसी मोहि कह······'—सब कोई कहते हैं, पर मैं सेवक के लिये उनका स्नेही हो जाता हूँ ; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (गीता ९।२९) ; अर्थात् मैं सब प्राणियों के प्रति समान हूँ, न मेरा कोई शत्रु है और न मित्र, परन्तु जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे चित्त में और मैं उनके चित्त में रहता हूँ। 'अनन्य गति सोऊ'—उनका भी मैं ही प्रिय हूँ, दूसरा नहीं ; यथा—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥" (गीता ७।१७) ; तथा—"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" (भाग० ९।४।६८) ; अर्थात् साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, वैसे मैं भी उनसे भिन्न कुछ नहीं जानता। इसका मर्म ; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति" (वि० २२१) ; "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११)

(४) 'मैं सेवक सचराचर रूप······'—सारा जगत् स्वामी का रूप है ; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते···" (वाल्मी० ६।११७।२५) ; "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः ॥" (भाग० ११।२।४१) ; "बिस्वरूप रघुबंस मनि।" (लं० दो० १४)। मैं सेवक हूँ, यह बुद्धि सदा अचल रहे। बुद्धि टलने की संभावना है, क्योंकि यह मन में आवेगा कि मैं भी भगवान् का शरीर हूँ, तो भगवान् ही हूँ, इसलिये सेवक-भाव में दृढ़ बुद्धि रखना कहते हैं कि जैसे मनुष्य के शरीर ही में चरण, हस्त आदि सेवक-भाव से रहते हैं; यथा—"सेवक कर पद नयन से···" (अ० दो० ३०६) ; वैसे सचराचर रूप प्रभु का मैं सेवक हूँ। यही भाव सदा दृढ़ रहे ; यथा—"सीय राम-मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥" (बा० दो० ७) ; "निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ० दो० ११२) श्रीमुख-वचन है—"अब गृह जाहु सखा सब,. भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्ब हित, जानि करेहु अति प्रेम ॥" (उ० दो० १६)। 'हनुमंत'—इस संबोधन से जाना गया कि रूप प्रकट होने के साथ ही श्रीहनुमान्जी ने अपना नाम भी कहा था। वाल्मीकीय रामायण में इन्होंने अपना पूरा परिचय दिया ही है, वा, यहाँ ऐश्वर्य-दृष्टि है। अतः, सर्वज्ञता से जानकर प्रभु ने कहा है।

श्रीहनुमान्जी ने कहा था—"जानउँ नहिं कछु भजन उपाई।" उसीपर प्रभु ने भजन के उपाय एवं भक्ति के स्वरूप कहे हैं।

देखि पवनसुत पति - अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला ॥१॥

अर्थ—स्वामी को अनुकूल देखकर श्रीहनुमान्जी हृदय में हर्षित हुए, उनके सब शूल (दुःख) जाते रहे ॥१॥

विशेष—'देखि'—पहले मन में मान लिया था कि प्रभु ने मुझे भुला दिया, अब प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रभु ने उन से हृदय लगाया है। 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।' कहकर अपने मन की दशा कही है

और वचन से अनन्य भक्ति की शिक्षा दी है, इस तरह तन-मन-वचन से उन्हें प्रसन्न देखा है। इसीसे श्रीहनुमान्‌जी के सब शूल मिट गये। शूल—मैंने प्रभु को न पहचाना, मायावश हो गया, प्रभु ने मुझे भुला दिया, इत्यादि। वा, जन्म, जरा और मरण—ये त्रिविध शूल भी निवृत्त हो गये; यथा—"तुम्ह कृपालु जा पर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिबिधि भव सूला॥" (सुं० दो० ४६); "जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)। वा, प्रभु अर्थात् परम समर्थ स्वामी को अनुकूल पाकर वालि के द्वारा होनेवाले दु:खों की भी निवृत्ति समझी, जो कि इन्हीं (मन्त्री) लोगों ने बलात् श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर उसे वालि के कोप का भाजन किया था, जिससे श्रीसुग्रीवजी की बड़ी हानि हुई थी।

श्रीहनुमानजी पहले स्वयं कृतार्थ होकर अब श्रीसुग्रीवजी के हित का प्रयत्न करते हैं—

"सुग्रीव-मिताई"—प्रकरण

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥२॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे॥३॥
सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि॥४॥
येहि बिधि सकल-कथा समुझाई। लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई॥५॥

अर्थ—हे नाथ! इस पर्वत पर वानरों के स्वामी श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, वे श्रीसुग्रीवजी आपके दास हैं॥२॥ हे नाथ! उनसे मित्रता कीजिये और दीन जानकर उन्हें निर्भय कीजिये॥३॥ वे श्रीसीताजी की खोज करावेंगे, जहाँ-तहाँ करोड़ों वानरों को भेजेंगे॥४॥ इस तरह सब कथा समझाकर दोनों जनों (व्यक्तियों) को पीठ पर चढ़ा लिया॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ सैल पर कपिपति रहई।'—यद्यपि इस समय कपिपति वालि है, तथापि श्रीसुग्रीवजी भी पहले कपिपति होकर राज्य कर चुके हैं; यथा—"मोहिं राज दीन्हेउ बरि आई।" (दो० ५); यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (आ० दो० १६), यह श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को कहा है। पुनः आगे मित्रता करानी है, मित्रता समान में होती है। अतः, श्रीरामजी नरपति हैं, तो श्रीसुग्रीवजी कपिपति हैं। 'कपिपति' कहने से नाम जानने की इच्छा होती, इसलिये 'सुग्रीव' कहा। प्रभु को वहाँ ले जाने के लिये उनका सम्बन्ध भी कहा—'दास तव अहई' अर्थात् आपके चलने पर वे कृतार्थ होंगे।

शंका—अभी तो श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी को देखा भी नहीं, तो दास कैसे?

समाधान—श्रीसुग्रीवजी ईश्वर के भक्त हैं और श्रीरामजी ईश्वर हैं। वा, ब्रह्मा के वचन से वे श्रीरामजी का स्मरण करते हैं; यथा—"हरि मारग चितवहिं मति धीरा॥" (बा० दो० १८७); इस तरह वे दास हैं। 'सैल पर कपिपति रहई'—इस तरह कहकर श्रीसुग्रीवजी को दुखी सूचित किया कि राजा होकर पहाड़ पर रहते हैं, इसीसे आगे श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव।" (दो० ५); और पूछकर फिर उसकी निवृत्ति का उपाय किया है।

(२) 'तेहि सन नाथ...'—पहले श्रीसुग्रीवजी को 'कपिपति' और 'तव दास' कहा था। कहते हैं—'तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।' अर्थात् राजा को राजा से ही मित्रता करनी चाहिये;

"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २१) ; पुनः वह आपका दास है। अतः,—'दीन जानि तेहि अभय करीजै।'—भाव यह कि वे शत्रुभय से दीन हैं और आप दासों के अभय-दाता हैं ; यथा—"सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पट पीत सँभार न।" (वि० २०६)। अतः, उसकी दीनता छुड़ाइये ; यथा—"कृत भूप विभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०६)।

(३) 'सो सीता कर खोज···'—पहले श्रीसुग्रीवजी को दास कहा था, अब 'दासत्व' कहते हैं ; यथा— 'सो सीता कर खोज कराइहि' श्रीसीताजी की खोज कराना सेवा है ; यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि विधि मिलिहि जानकी आई॥" (दो० ४) ; पहले कहा था—'तेहि अभय करीजै' तब कहते हैं—'सो सीता कर खोज कराइहि' भाव यह कि जब आप उसे शत्रु-रहित राजा बनावेंगे, तब वह आपका कार्य करने के योग्य होगा। 'जहँ-तहँ' अर्थात् चारों ओर सर्वत्र। 'कोटि' शब्द अनन्तवाची है।

(४) 'येहि विधि सकल कथा समुझाई।'—श्रीरामजी ने कहा था—"कहहु विप्र निज कथा बुझाई।" उत्तर देकर उपसंहार में कहते हैं—'येहि बिधि सकल···'। 'समुझाई'—क्योंकि श्रीरामजी ने ही बुझाकर कहने को कहा था। पुनः व्यवहार साफ चाहिये। दोनों में मैत्री करानी है इसलिये दोनों के कर्त्तव्य स्पष्ट कह दिये कि आप उन्हें शत्रु रहित कर दें और वे आपकी स्त्री की खोज करावें।

'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'—श्रीरामजी को पैदल चलते देखकर श्रीहनुमान्‌जी को बड़ा दुःख हुआ था; यथा—'कठिन भूमि···मृदुल मनोहर···' पर कहा गया था, इसीसे यहाँ दोनों जनों को पीठ पर चढ़ा लिया। वानर-रूप में हैं, पैरों से पहाड़ पर चढ़ेंगे ; यथा —"भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुंजरः॥" (वाल्मी० ४।४।३४)।

पीठ पर चढ़ाया कि देखते ही श्रीसुग्रीवजी जान लेंगे कि सुहृद् हैं। पीठ पर आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं।

जब सुग्रीव राम कहँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥६॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटउ अनुज-सहित रघुनाथा॥७॥
कपि कर मन बिचार येहि रीती। करिहहि बिधि मो सन ये प्रीती॥८॥

अर्थ—जब श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी को देखा, तब अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना॥६॥ वे चरणों में सिर नवाकर उनसे आदर-पूर्वक मिले। श्रीरघुनाथजी (भी) भाई-सहित उनसे गले लगकर मिले॥७॥ वानर श्रीसुग्रीवजी इस रीति से मन में विचार करते हैं कि हे विधि! क्या ये मुझसे प्रीति करेंगे? अर्थात् मैं इनकी प्रीति के योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैं दीन वानर और ये समर्थ मनुष्य हैं॥८॥

विशेष—(१) 'जब सुग्रीव राम कहँ देखा।···'—प्रभु के दर्शनों से उनके प्रताप में प्रतीति हुई और ऐश्वर्य समझ इनसे अपने भावी कल्याण का होना मानकर अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना। श्रीरामजी को ही देखा, क्योंकि ये प्रधान हैं, इसलिये आगे हैं और श्रीलक्ष्मणजी पीछे हैं।

(२) 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा।'–श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था–'सो श्रीसुग्रीवजी दास तव अहई।' तदनुसार श्रीसुग्रीवजी ने चरणों में मस्तक लगाकर (अर्थात् साष्टांग) प्रणाम किया। केवल शिर झुकाना ही

होता तो 'पद' शब्द न रहता ; यथा—"नाथ नाइ पूछत अस भयऊ।" (दो० १), "नाइ सीस करि विनय बहुता।" (सुं० दो० २१)। पुनः श्रीरामजी के लिये उन्होंने कहा था—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।" तदनुसार प्रभु भाई-सहित श्रीसुग्रीवजी से मित्र-भाव से गले लगकर मिले; यथा—'भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा।' कहा है। 'सादर' का भाव यह कि श्रीसुग्रीवजी के मन से पूर्व की शंकाएँ जाती रहीं, पुनः कुछ फल-फूल आदि लेकर भी मिले।

(२) 'कपि कर मन विचार···'—श्रीरामजी के मन का विचार पहले से था, श्रीशबरीजी ने ही कह रक्खा था, यथा—"तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।" (आ० दो० ३५); पुनः श्रीहनुमान्‌जी के कहने से भी ; यथा—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।" इसपर श्रीसुग्रीवजी के मन में अब विचार हो रहा है, भाव यह कि दोनों ओर से प्रीति की स्फूर्ति हुई, क्योंकि पारस्परिक अभिलाषा से प्रीति दृढ़ होती है।

दोहा—तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥४॥

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा॥१॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी ने दोनों ओर की सब कथाएँ सुनाईं और अग्नि को साक्षी देकर दोनों की प्रीति दृढ़ कराके जोड़ दी ; अर्थात् दृढ़ प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रीति हुई॥४॥ दोनों ने प्रीति की, कुछ अन्तर न रक्खा, तब श्रीलक्ष्मणजी ने सब श्रीरामचरित कह सुनाया॥१॥

विशेष—(१) 'तब'—अब दोनों की उत्कृष्ट इच्छा देखी। दोनों ओर की कथा सुनाने का प्रयोजन यह कि जिससे दोनों के कर्त्तव्य पहले से निश्चित रहें कि किसे क्या करना होगा। श्रीरामजी की ओर से कहा—"ये श्रीरामजी श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र हैं, अजेय और सत्य-संध हैं, पिता की आज्ञा से वन में आये हैं, वन में इनकी स्त्री को रावण ने हर लिया है, उसी को ढूँढ़ते हुए यहाँ आये हैं, आप (सुग्रीव) को इनकी स्त्री का पता लगाना होगा।" (वाल्मी० ४।५।१–७)। श्रीसुग्रीव की ओर से कहा—"सुग्रीव को इनके भाई बालि ने राज्य से हटा दिया है, बालि इनसे शत्रुता रखता है, उसने इनकी स्त्री भी हर ली है, इससे भागे-भागे फिरते हैं। ये सूर्य-पुत्र श्रीसुग्रीवजी श्रीसीताजी की खोज में आपकी सहायता करेंगे। आपको इनकी सहायता करनी होगी।" (वाल्मी० ४।११–२८)।

(२) 'पावक साखी देइ करि'—"श्रीहनुमानजी ने लकड़ी रगड़कर अग्नि प्रकट की, वह बीच में रख दी गई, उसकी पुष्प आदि से पूजा की गई। फिर श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी ने उस जलती हुई अग्नि की प्रदक्षिणा की। इस प्रकार दोनों आपस में मित्र बन गये और दोनों प्रसन्न हुए। एक दूसरे को देखते हुए तृप्त नहीं होते। 'आप मेरे मित्र हैं, हृदय से प्रिय हैं, हम दोनों के दुःख-सुख समान है।' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा।" (वाल्मी० ४।५।१४–१७), अग्नि के समक्ष ही दोनों ने एक दूसरे की उक्त सहायता करने की प्रतिज्ञा की; यथा—"त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते।" (वाल्मी० ४।२२।२२); अग्नि को साक्षी देकर प्रीति जोड़ने की उस समय रीति थी, यथा—"अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ।" (वाल्मी० ७।३३।१८); अर्थात् अग्नि की साक्षी देकर दोनों (रावण और राजा अर्जुन) ने अहिंसक मैत्री स्थापित की।

तथा—"त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः ॥" (वाल्मी॰ ७। ३४।४०); यह रावण ने बालि से कहा है कि मैं अग्नि को साक्षी देकर स्नेह-पूर्ण मैत्री सदा के लिये चाहता हूँ।

अग्नि की साक्षी होने का प्रयोजन यह है कि मित्रता वाक्य-प्रतिज्ञा-द्वारा की जाती है। वाक् के देवता अग्नि हैं और सबके हृदय की गति भी जानते हैं, क्योंकि सबके हृदय में भी बसते हैं; यथा—"तौ कृपानु सब कै गति जाना।" (लं॰ दो॰ १०७)। अतः, प्रतिज्ञा के अन्यथा करनेवाले को वे भस्म कर डालने का दंड दें।

(३) 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।'—'बीच रखना'—भेद रखना, छिपाव रखना—यह मुहावरा है। कुछ भेद न रक्खा, क्योंकि भेद रहने से विश्वास नहीं होता और विश्वास बिना प्रीति दृढ़ नहीं होती। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के सब चरित कहे। श्रीहनुमान्‌जी ने दोनों ओर की तत्कालीन ही कथा कही थी, जिसमें दोनों की स्त्री-सम्बन्धी ही वार्त्ता थी, इससे वहाँ 'कथा' स्त्रीलिंग के रूप में कही गई और यहाँ 'चरित' इस पुँल्लिंग प्रयोग से जनाते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी की पुरुषार्थ-सम्बन्धी कथाएँ कहीं—ताटका, सुबाहु, मारीच, विराध, कबंध, खर-दूषण आदि के वध के चरित कहे, जिनसे श्रीरामजी में श्रीसुग्रीवजी का विश्वास हो। अपनी गुप्त बातें कहना और मित्र की पूछना नीति भी है; यथा—"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥" (भर्तृहरि-शतक)।

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी ॥२॥
मंत्रिन्ह-सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा ॥३॥
गगन - पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता ॥४॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने नेत्रों में जल भरकर कहा—हे नाथ ! श्रीमिथिलेश-कुमारीजी मिलेंगी ॥२॥ यहाँ एक बार मैं मंत्रियों के साथ बैठा हुआ (कुछ) विचार कर रहा था ॥३॥ पराये एवं शत्रु के वश में पड़ी बहुत विलाप करती हुई आकाश मार्ग से जाती (श्रीमिथिलेश-कुमारी को) मैंने देखा है ॥४॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव···'—'नयन भरि बारी'—मित्र के दुःख में दुखी हुए, स्त्री विरह इनपर भी है, इससे वियोग-दुःख अच्छी तरह जानते हैं। कहा भी है—"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥" (दो॰ ७); 'मिलहिं'—यह इससे जाना कि श्रीसीताजी ने हमको देखकर सहिदानी डाल दी है और दैवात् श्रीरामजी भी आ गये, तो कार्य होने की सम्भावना है। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामचरित कहते हुए धनुर्भंग और श्रीमैथिलीजी का ब्याह आदि सब कहा था, इसीसे मिथिलेश कुमारी' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा है। यह नाम-कथन भी साभिप्राय है। भाव यह कि वे, पृथिवी भर मथने पर मिलेंगी, हम उनके लिये पृथिवी-भर मथ डालेंगे और दुष्टों का मान मथकर उन्हें ले आवेंगे।

(२) 'मंत्रिन्ह-सहित इहाँ···'—'इहाँ' इस पद से देश का निश्चय किया कि इसी जगह की बात है। 'एक बारा' इससे काल कहा, किन्तु इसका स्मरण नहीं है कि कौन दिन था। आगे वस्तु भी कहेंगे; यथा—'हमहि देखि दीन्हेंउ पट डारी।' इस तरह देश, काल और वस्तु तीनों से परिचय दिया। 'करत बिचारा'—क्या मुझे आयु-भर दुःख ही भोगना पड़ेगा ? न जाने, भगवान् मेरा दुःख कब छुड़ावेंगे, इत्यादि।

(३) 'परबस परी बहुत बिलपाता।'; यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥" (आ० दो० ३०)। 'पर' इस शब्द का अर्थ यहाँ अन्य और शत्रु का है।

राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥५॥
माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥६॥

अर्थ—राम ! राम !! हा राम !!! ऐसा पुकारती थीं, हमको देखकर उन्होंने अपना वस्त्र गिरा दिया॥५॥ श्रीरामजी ने उसे तुरत माँगा और श्रीसुग्रीवजी ने तुरत ही (लाकर) दिया, वस्त्र को हृदय से लगाकर श्रीरामजी ने अति शोच किया॥६॥

विशेष—(१) 'राम राम हा राम…'—इस तरह रोने का प्रयोजन यह कि सुननेवाले जान जायँ कि ये श्रीरामजी की पत्नी हैं और तब वे मुझको खोजते हुए श्रीरामजी को संदेशा कहें। वस्त्र भी गिराया कि यह चिह्न दें। सामान्यतया पति का नाम लेना निषिद्ध है; यथा—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥" यह स्मृति का वचन है कि 'कल्याण चाहनेवाला इनके नाम न ले, यह उक्ति सामान्य दशा के लिये है, यहाँ तो श्रीसीताजी आपद्दशा में हैं। इससे आत्मरक्षार्थ पति का नाम ले-ले रोती थीं ; यथा—"क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च भामिनी।… तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात्।" (वाल्मी० ४।५८।१६-१८); ये संपाति के वचन हैं कि राम-राम कहने से हम उन्हें सीता मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिचय कराने के लिये उन्होंने नाम लिया है, यही सुग्रीवजी ने भी इसी प्रसंग पर कहा है, यथा—"अनुमानाच्च जानामि मैथिली सा न संशयः।… क्रोशंती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।" (वाल्मी० ४।६।९-१०); इसपर आ० दो० २९ 'रटति रहति हरिनाम' यह भी देखिये। कुछ लोग 'राम राम हा राम' यह सुग्रीव का पुकारना अर्थ करते हैं, पर प्रमाणों से उक्तार्थ ही संगत जान पड़ता है।

(२) 'माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा।'—'तुरत' यह दीपदेहली है, श्रीरामजी ने तुरत माँगा और सुग्रीवजी ने तुरत लाकर दिया; यथा—"तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्। आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे॥ एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्। प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया॥ उत्तरीयं गृहीत्वातु स तान्याभरणानि च। इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः॥" (वाल्मी० ४।६।१३-१५); अर्थात् श्रीरामजी ने शीघ्र माँगा और श्रीसुग्रीवजी ने शीघ्र ही लाकर दिखाया। 'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।'—शोच तो पहले से ही था, किन्तु प्रिया के चिह्न पाने से अति शोच हो गया; यथा—"हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ।" (वाल्मी० ४।६।१०); अर्थात् हा प्रिये ! ऐसा कहकर रोते हुए श्रीरामजी पृथिवी पर गिर पड़े, धैर्य छूट गया। तथा—"भूषन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन कंप पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के॥…" (गी० कि० १); यह पूरा पद पढ़ने योग्य है, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा गया।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥७॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥८॥

दोहा—सखा-बचन सुनि हरषे, कृपासिंधु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव ॥५॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि हे श्रीरघुवीर ! सुनिये, शोच का त्याग कीजिये और मन में धैर्य लाइये ॥७॥ मैं सब प्रकार आपकी सेवा करूँगा, जिससे श्रीजानकीजी आकर आपको मिलें ॥८॥ कृपा के सागर, बल की सीमा (सबसे बली) श्रीरामजी मित्र के वचन सुनकर प्रसन्न हुए (और बोले कि) हे सुग्रीव ! तुम किस कारण वन में बसते हो, हमसे कहो ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु रघुबीरा।'—वीर कहकर सूचित करते हैं कि आपको अधीर न होना चाहिये; यथा—"बीर अधीर न होहिं।" (अ० दो० १११); शोच करते रहने पर धैर्य नहीं रहता, इसलिये शोच छोड़िये और धैर्य धारण कीजिये। पुनः 'रघुबीर' इस पद से वीरता सूचित करते हैं; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० १८३); आप तो उस कुल में परम श्रेष्ठ हैं। अतः, आप को अपने पुरुषार्थ का भरोसा करना चाहिये। शोच वीर रस का नाशक है। अतः, इसे त्यागिये और धैर्य वीरता-वर्द्धक है, इसका आश्रयण कीजिये, तब आप शत्रु को जीतेंगे।

इस अर्द्धाली में वाल्मी० ४।७।५-११ के सब भाव आ गये हैं।

(२) 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।...'—यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें सखा बनाया है, तथापि श्रीरामजी के गुणों से वश होकर श्रीसुग्रीवजी अपनेको दास ही मानते हैं; इन्होंने ही रावण से कहा है; यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सखादासोऽस्मि राक्षस। (वाल्मी० ७।१।१०) इसीसे सहायता पद न कहकर 'सेवकाई' इस पद का प्रयोग करते हैं। 'सब प्रकार'—अर्थात् श्रीसीताजी का पता लगाना, शत्रु से लड़ना, श्रीजानकीजी को ले आकर आपको सौंपना। 'आई'—आपको जाना भी न पड़ेगा; यथा—"सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम। करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम्॥ रावणं सगणं हत्वा..." (वाल्मी० ४।७।३-४)। श्रीसुग्रीवजी ने अपना दुःख भूलकर श्रीरामजी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की, वैसे श्रीरामजी भी अपना दुःख भूलकर श्रीसुग्रीवजी के दुःख-निवारण के लिये उन्हें पूछते और प्रतिज्ञा करते हैं; यथा—"प्रिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान-प्रिया बिसराई।" (वि० १६४)।

(३) 'सखा बचन सुनि हरषे...'—जो दुःख में सहायता करे, वह सखा है—'सहायं स्यात्तीति सखा।' श्रीसुग्रीवजी ने वैसा ही कहा है, इससे हर्षित हुए। 'कृपा-सिंधु बल-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर कृपा करेंगे और बल से उनके बलशाली शत्रु को मारेंगे। इसीलिये प्रश्न कर रहे हैं—"कारन कवन बसहु बन..." यह पूछ रहे हैं, यद्यपि श्रीहनुमान्‌जी ने 'उभय दिसि की कथा' में उन्हें कहा है, तथापि श्रीरामजी श्रीसुग्रीवजी से कहलाते हैं कि वह स्वयं बालि का अपराध कहे, तब हम उसे दंड दें—यह नीति है।

नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई ॥१॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ ॥२॥
अर्द्ध राति पुर-द्वार पुकारा। बाली रिपु-बल सहै न पारा ॥३॥

अर्थ—हे नाथ बालि और मैं दोनों भाई हैं, हम दोनों में ऐसी प्रीति थी कि उसका वर्णन नहीं

किया जा सकता ॥१॥ हे प्रभो ! मय दानव का पुत्र, जिसका नाम मायावी था, वह हमारे ग्राम में आया ॥२॥ और आधी रात के समय नगर के द्वार (फाटक) पर (आकर) उसने पुकारा (ललकारा), वालि शत्रु के बल को न सह सकता था ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रीति रही'—अर्थात् पहले थी, अब प्रीति नहीं है। 'मायावी तेहि नाऊँ।'—वह माया से युक्त था और इसीसे उसका नाम भी मायावी था। 'हमरे गाऊँ'—जब वह आया, तब श्रीसुग्रीवजी किष्किंधा में ही रहते थे, इससे वही उनका ग्राम था। 'अर्द्धराति पुर-द्वार'''—रात में राक्षसों का बल बढ़ जाता है; यथा—"जातुधान प्रदोष बल पाई।" (लं० दो० ४४); "भाइ प्रदोष हरष दसकंधर।" (लं० दो० ४९); अतः, आधी रात में पूरा बली होकर आया, उसने पुर के द्वार पर से ही पुकारा। भय के मारे भीतर न आ सका। द्वार पर खड़ा रहा कि जो निकलेगा उसे मारूँगा और वालि के निकलने पर युक्ति से लड़ूँगा, उसे प्रबल जानूँगा, तो भाग जाऊँगा। 'पुकारा' यथा—नर्देतिस्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे।" (वाल्मी० ४।९।५); अर्थात् क्रोध-पूर्वक वालि को युद्ध के लिये ललकारता हुआ गरजने लगा। रात में इससे भी आया कि वानर दिन के ही शूर हैं, रात में इन्हें बैरा नहीं पड़ता, अतः भागने में मुझे न पावेगा।

वालि और सुग्रीव

"एक समय सुमेरु पर्वत पर तपस्या करते हुए ब्रह्मा के अश्रु-बिंदु से एक बंदर उत्पन्न हुआ। उसका नाम ऋक्षराज था। एक बार वह पानी में अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा और गिरते ही एक सुंदर स्त्री बन गया। उस स्त्री से इन्द्र के अंश से वालि और सूर्य के अंश से सुग्रीव उत्पन्न हुए। पीछे उस (ऋक्षराज) ने उस स्त्री-रूप को छोड़ फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया और ब्रह्मा की आज्ञा से किष्किंधा में आकर राज्य करने लगा।" (हिन्दी-शब्दसागर)।

"वालि महाबली था, वह चारों दिशाओं के समुद्रों पर नित्य संध्या करने के लिये जाता और लौट आता था। एक बार रावण छल से उसे जीतने गया, किन्तु, वालि ने उसे पकड़कर काँख में दबा लिया और शेष समुद्रों की संध्या करके किष्किंधा में लाकर छोड़ा। रावण ने हार मानकर संधि कर ली। गोलभ नाम के गन्धर्व से इसने १५ वर्ष तक युद्ध किया और उसे मार डाला"। —वाल्मी०

भी वानर यहाँ आवेगा, तो मेरे देखते ही वह पत्थर हो जायगा। बालि अनुग्रह कराने के लिये मुनि के पास आया, पर उन्होंने नहीं सुना" (वाल्मी० ४।११); "दुंदुभी के मारे जाने पर उसका छोटा भाई मायावी बालि से बदला लेने की घात में था और बालि से उसका, स्त्री के कारण भी वैर हो गया था" (वाल्मी० ४।६)।

धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गयउँ बंधु-सँग लागा ॥४॥
गिरिवर-गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई ॥५॥
परखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवउँ तब जानेसु मारा ॥६॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर-धार तहँ भारी ॥७॥

अर्थ—बालि उसे देखकर दौड़ा और वह इसे देखकर भागा, मैं भी भाई (बालि) के संग लगा हुआ चला गया ॥४॥ वह एक बड़े पर्वत की बड़ी गुफा में जा घुसा, तब बालि ने मुझसे समझाकर कहा ॥५॥ कि पन्द्रह दिन तक मेरी राह देखना (इन्तिजारी करना), उतने दिनों में न आया, तो जानना कि बालि मारा गया, (आशय यह कि तब तुम यहाँ से चले जाना) ॥६॥ हे खरारि! मैं वहाँ महीना भर रहा, उस (गुफा) से रुधिर की भारी धारा निकली ॥७॥

विशेष—(१) 'धावा बालि देखि···'—बालि बिना कुछ विचारे रात में ही दौड़ पड़ा, क्योंकि- "बाली रिपु बल सहै न पारा।" कहा ही गया है। वह मायावी देखते ही भागा, उसका युद्ध॰ उत्साह न रह गया। 'मैं पुनि'—'पुनि' तत्पश्चात् के अर्थ में है। इसे मैं के पहले के चाहिये ; यथा—"मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८); "मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी' (अ० दो० ६१); 'गयउँ बंधु सँग लागा'—मैं ही स्नेहवश साथ लग गया ; यथा—"ततोऽहम सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥" (वाल्मी० ४।९।८); यह श्रीसुग्रीवजी की प्रीति है। पुन आगे बालि ने इन्हें गुफा में नहीं घुसने दिया, स्वयं घुसा, यह उसकी प्रीति है, इस तरह उपर्युक्त 'प्रीति रही कछु बरनि न जाई।'—यह चरितार्थ हुआ।

(२) 'गिरिवर-गुहा पैठ सो···'—हम दोनों को देखकर वह भागा और उसी भय से बिल में भी पैठ गया ; यथा—"स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्। असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम्॥" (वाल्मी० ४।९।९); गुफा में घुसने का यह भी कारण हो सकता है कि वहाँ उसके और भी साथी थे, यथा—"निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥" (वाल्मी० ४।१०।२२); इससे भी कि वानर अंदर में न आ सकेगा, आयगा भी, तो साथियों के साथ मैं इसे वहाँ घेरकर मार दूँगा। 'कहा बुझाई'—बालि ने समझाकर कहा कि तुम यहीं पर रहो, ऐसा न हो कि इसके कुछ साथी बाहर से बिल को घेर लें, या इसे मूँद ही दें, इसलिये तुम यहीं पर सावधान होकर रहो ; यथा—"इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः। यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम् ॥" (वाल्मी० ४।९।१२); अर्थात् तुम सावधान होकर यहाँ रहो, जबतक मैं शत्रु को मारता हूँ।

उसको नियत अवधि से दूने दिनों तक वहाँ रहे। 'खरारी'-आप खर (दुष्ट) के शत्रु हैं, मेरी इसमें दुष्टता नहीं है, दुष्टता वालि की है। कोई मास दिवस के अर्थ १२ दिन का करते हैं, पर इसमें तो श्रीसुग्रीवजी ही दोषी होते हैं, और यहाँ वे अपनी सफाई और वालि के दोष दिखा रहे हैं, अतः उपयुक्त भाव ही संगत है। 'रुधिरधार तहँ भारी'—क्योंकि विशालकाय मायावी अपने साथियों के साथ मारा गया, इससे बहुत रुधिर बहा।

> बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई ॥ ८ ॥
> मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं ॥ ९ ॥
> बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा ॥१०॥
> रिपु-सम-मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी ॥११॥
> ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ॥१२॥

अर्थ—उसने वालि को मार डाला, मुझे भी आकर मारेगा, (यह विचार) गुहा के द्वार पर एक शिला लगाकर मैं चला आया ॥८॥ मंत्रियों ने नगर को बिना स्वामी (राजा) का देखा, तो मुझे बरजोरी राज्य दिया ॥९॥ वालि उसे मारकर घर आया, मुझे (राजगद्दी पर बैठा) देखकर हृदय में बहुत बुरा माना ॥१०॥ उसने मुझे शत्रु के समान (जोरों से) मारा और मेरा सर्वस्व (सब पदार्थ) तथा स्त्री—दोनों हर लिये ॥११॥ हे रघुवीर! हे कृपालु! उसके भय से मैं समस्त लोकों में विह्वल होकर फिरता रहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'बालि हतेसि'—यह इससे जाना कि उसकी नियत अवधि से दूने दिन बीत गये और रुधिर-प्रवाह के प्रथम असुरों के शब्द सुन पड़े, पर वालि के नहीं; यथा—"नदतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः। न रवस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः॥ अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।" (वाल्मी॰ ४।९।१८-१९); 'मोहि मारिहि आई'—जब उसने वालि को मार डाला, तब मैं उससे कब बच सकता हूँ? 'सिला देइ…'—भारी शिला डाल दी कि इसके उठाने में मायावी दब जायगा, वा उठा ही न सकेगा; यथा—"शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता॥ अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।" (वाल्मी॰ ४।१९।७-८)।

(२) 'मोहि देखि जिय भेद बढ़ावा।'—केवल सिंहासन पर बैठ जाने मात्र से जी में भेद न आता, क्योंकि उसने अवधि से दूने काल तक प्रतीक्षा की और इन्हें राज्य भी हठ से ही दिया गया था। पुनः वालि के राजा होने के साथ सुग्रीवजी युवराज पद पा चुके थे; यथा—"पित्र्ये पदे कृतो वाली सुग्रीवो वालिनः पदे॥" (वाल्मी॰ १६।१८ इससे वालि के पश्चात् इनका राज्य पाने का अधिकार भी था ही। भेद इससे बढ़ाया कि इसने राज्य के लोभ ही से गुहा-द्वार पर शिला डाल दी कि वालि लौटने से मार्ग न पावे और मैं उसका राज्य और उसकी रानी तारा को भी प्राप्त करूँ; यथा—"ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते॥ राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह। मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः॥" (वाल्मी॰ ४।१९।८-९); 'देखि मोहि'—देखते ही क्रोध में भर गया, लोगों से पूछ-ताछ भी न की।

(३) 'रिपु सम मोहि…'—वालि ने समझा कि यह मेरा मारा जाना चाहता था। अतः, शत्रु है, इस बुद्धि से शत्रु की नाईं मारा। पुनः मेरा राज्य और सर्वस्व चाहता था, इससे सर्वस्व हर लिया और

मेरे जीते-जी मेरी स्त्री तारा को ग्रहण किया; यह समझकर मेरी स्त्री को भी हर लिया, जो कि उसके लिये अग्राह्य थी, इसलिये 'अरु नारी' को सर्वस्व से पृथक् कहा। 'ताके भय रघुबीर कृपाला'—आप वीरता से उसे मारें और कृपाकर मेरा भय निवृत्त करें। 'सकल भुवन'—समस्त पृथिवी के विभागों में; यथा—"तद्भयाच्च मही सर्वां क्रान्तवानस्मि सार्णवाम् ॥" (वाल्मी० ४।१०।२७); अर्थात् वन-सागर-सहित पृथिवी-भर चारों दिशाओं की सीमा तक बालि ने पीछा नहीं छोड़ा।

इहाँ सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ॥१३॥

अर्थ—वह यहाँ शापवश नहीं आता, तो भी मैं मन में डरता रहता हूँ ॥१३॥

विशेष—जब कहीं भी बालि ने पीछा नहीं छोड़ा, तब श्रीहनुमान्‌जी ने मुझे इस ऋष्यमूक पर ठहरने की सलाह दी और मतंग के शाप का भी स्मरण कराया; यथा—"ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान्वाक्यमब्रवीत्।···मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले। प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत् ॥" (वाल्मी ४।४६।२१-२२); 'तदपि सभीत···'—स्वयं नहीं आ सकता, पर औरों को भेजा करता है, मेरे मारने के उपाय में लगा रहता है; यथा—"यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव। बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥" (वाल्मी० ४।८।३४); अर्थात् उसने मेरे मारने के लिये बहुत वानर भेजे, मैंने उन सबों को मार डाला।

श्रीसुग्रीवजी ने तन, धन और मन—इन तीनों के दुःख कहे—'रिपु सम मोहि मारेसि···'—में तन का; 'हरि लीन्हेसि सर्बसु···'—में धन का और 'सभीत रहउँ मन माहीं।'—में मन का दुःख है।

"बालि-मान-भंग"—प्रकरण

सुनि सेवक-दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ॥१४॥

दोहा—सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान ॥६॥

अर्थ—सेवक का दुःख सुनकर दीनों पर दया करनेवाले श्रीरघुनाथजी की दोनों विशाल (आजानु) भुजाएँ फड़क उठीं ॥१४॥ हे श्रीसुग्रीवजी! सुनिये, मैं बालि को एक ही बाण से मारूँगा। ब्रह्मा और रुद्र की शरण जाने पर भी उसके प्राण न बचेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'फरकि उठीं दोउ भुजा···'—आश्रित का दुःख-निवारण करने के लिये दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं कि कब उसे मारें। 'दीन दयाला' कहकर साथ ही भुजाओं का फड़कना कहा गया, इससे दीन पर करुणा का पूर्ण उदय हो आया। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा भी था—'दीन जानि तेहि अभय करीजे।' यहाँ श्रीसुग्रीवजी ने अपने मुख से अपना दुःख सुनाते हुए दीनता कही—"तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।" इसी पर करुणा का उदय हुआ। करुणा; यथा—"आश्रितार्त्यमिना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः अत्यंतमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्‌द्रवत्। कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्।

द्रवीच्छाद्‌दु.खदु.खित्वमार्चानां रक्षणं त्वरा ॥ परदु'खानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); अर्थात् आश्रित के दु'ख-रूपी अग्नि से जिसका हृदय बर्फ की तरह पिघल जाय, चित्त अत्यंत कोमल हो जाय, अश्रुपात आदि होने लगें। आश्रित के दुःख का निवारण कैसे करूँ? कब करूँ? इस इच्छा से आश्रित के दु.ख से दुखी होकर आर्त्तों के रक्षार्थ त्वरा का होना (भुजा आदि का फड़कना); दूसरे के दुःख के अनुसंधान से समर्थ भगवान् का विह्वल हो जाना, करुणा-रूप गुण है, यह आर्त्तों का भयनिवारक है।

यहाँ करुणा के पूर्ण अंग हैं—श्रीसुग्रीवजी आश्रित हैं, यह 'जोरी प्रीति दृढाय' इस प्रसंग से स्पष्ट है; यथा—"रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः, गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥'''संप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥" (वाल्मी० ४।५।११-१२); अर्थात् श्रीसुग्रीवजी ने अपना हाथ फैलाया और श्रीरामजी ने उनका हाथ पकड़ा। जैसे पाणि-ग्रहण से भार्या का रक्षण-भार भर्त्ता पर हो जाता है, वैसे ही अब श्रीसुग्रीवजी के रक्षक श्रीरामजी हुए। उनकी रक्षा के लिये अत्यन्त त्वरा से श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ भी फड़क उठीं; क्योंकि दोनों के द्वारा धनुष-बाण से बालि को मारना है। श्रीसुग्रीवजी ने अपना भय भी कहा, इसपर श्रीरामजी विह्वल हो गये, बाँहें फड़कने लगीं, बस, आपने सहसा प्रतिज्ञा ही कर ली कि मैं उसे एक ही बाण में मारूँगा। विह्वलता में भविष्य को न सोचा कि इसमें मुझे गाली सुननी होगी; यथा—"मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।" (दो० ८); इसका उत्तर आपसे न बन पड़ा, तभी तो कहा गया है; यथा—"सहि न सके दारुन दु.ख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥" (वि० १६६)।

यदि विह्वलता न होती, तो करुणा गुण की पूर्णता ही न होती, परमात्मा में सब गुण पूर्ण होते हैं। अवतार लेकर आप अपने इन कृपा, सुशीलता, सौहार्द्य, करुणा आदि गुणों को प्रकाशित करते हैं। इस में कष्ट भी सहने पड़ते हैं; यथा—"राम. भगत हित नर तन धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी ॥" (बा० दो० २४), वैसे ही इस गुण के प्रकट करने में गाली भी सहनी पड़ी। यह बालि-वध-औचित्य पर उत्तम समाधान है।

बालि को समझाते हुए भी आपने उसका यही दोष कहा है; यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी ॥" (कि० दो० ८); बस, फिर बालि ने इसे स्वीकार कर लिया; यथा—"सुनहु राम'' "

(२) 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ ;''—उक्त करुणा गुण से अति शीघ्र आश्रित के दु'ख निवारण करने के लिये एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा करते हैं, एक ही बाण से मारेंगे, भाव यह कि किंचित् भी विलंब न करेंगे। वा, श्रीसुग्रीवजी को अपना बल दिखाकर उनका विश्वास दृढ़ कराने के लिये भी एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा की। 'ब्रह्म रुद्र सरनागत''' ; यथा—"जौ खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥" (सु० दो० २१); उदाहरण—"ब्रह्म धाम सिव-पुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही ॥" (आ० दो० १)। यदि कहा जाय कि वह तो श्रीरामजी का द्रोही नहीं है, उसपर आगे मित्र-धर्म कहते हैं जिससे मित्र द्रोही को आपना द्रोही सिद्ध करेंगे।

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥१॥

निज दुख गिरि-सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु-समाना ॥२॥

जिन्हके असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई ॥३॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥४॥

अर्थ—जो मित्र के दुःख से दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से भारी पाप लगता है ॥१॥ पर्वत के समान भारी अपने दुःखों को धूल के समान (अल्प) जाने और मित्र का दुःख धूल के समान (थोड़ा) भी हो, तो उसे सुमेरु पर्वत के समान जाने ॥२॥ जिनके (हृदय में) स्वाभाविक ही ऐसी बुद्धि नहीं है, वे मूर्ख क्यों हठ करके मित्रता करते हैं ? ॥३॥ (मित्र को) कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलावे, उसके गुण प्रकट करे और अवगुणों को दूर करे ॥४॥

विशेष—(१) 'बिलोकत पातक भारी।'—क्योंकि पापी के संसर्ग से भी पाप लगता है; यथा—"ब्रह्महा स्वर्णहा वापि सुरापी गुरुतल्पगः। चत्वारो नरकं यान्ति तत्संसर्गी च पञ्चमः॥" (मनु० ?), देखने मात्र से भारी पाप लगता है, अर्थात् वे महापापी हैं। 'निज दुख गिरि सम···'—भाव यह कि जब तक अपने दुःखों को अल्प न मानेगा, तब तक मित्र के दुःख भारी न जान पड़ेंगे। इसके आदर्श श्रीरामजी ही हैं—राज्य छूटा, वनवास हुआ, राक्षस द्वारा श्रीजानकीजी का हरण हुआ—इस तरह पर्वत के समान दुःखों को तृण के समान मानकर भुला दिया और श्रीसुग्रीवजी के दुःख को भारी मानकर शीघ्र ही दूर किया; यथा—"तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।" (वि० १६७)।

(२) 'सहज न आई'—जो बुद्धि स्वभावतः रहती है, वह सदा एकरस रहती है, वही 'सहज' है और जो देखा-देखी एवं सिखाने से आती है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती। 'हठि'—शास्त्र मना करते हैं कि ऐसे लोग मित्रता न करें, तब भी मित्रता करके दोष के भागी बनते हैं, इसी से शठ हैं।

मित्रता के दोष कहकर आगे मित्र के धर्म (गुण) कहते हैं—

(३) 'कुपथ निवारि···'—पहले कुपथ का निवारण होता है, तब सुपथ की बुद्धि होती है। वैसे ही कहा गया है। 'गुन प्रगटइ···'—शिक्षा-द्वारा उनमें गुणों का विकास करावे और अवगुण हों तो उन्हें दूर करने की शिक्षा दे एवं आग्रह करे, परलोक-हानि का भय दिखावे, इत्यादि परलोक सुधारना कहा। आगे उनसे बर्ताव की रीति कहते हैं।

देत-लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥ ५ ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र-गुन एहा ॥ ६ ॥
आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥ ७ ॥
जाकर चित अहि-गति-सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥ ८ ॥

अर्थ—देने-लेने के विषय की शंका मन में न रक्खे, बल के अन्दाज-भर (पुरुषार्थ-भर) सदा हित किया करे ॥५॥ विपत्ति के समय (सामान्य दशा से) सौगुना स्नेह करे—वेद और संत कहते हैं कि संत-मित्र (अच्छे मित्र) के (वा, संत और मित्र के) लक्षण ये ही हैं ॥६॥ सामने (मुख पर) तो कोमल वचन बनाकर कहे, पीछे बुराई (हानि) करे और मन में कुटिलता रक्खे ॥७॥ हे भाई ! जिसका चित्त साँप की चाल के समान (टेढ़ा) है, ऐसे कुमित्र के त्यागने में ही भलाई है ॥८॥

विशेष—(१) 'देत लेत मन ···'—अर्थात् अपना और मित्र का धन एक ही माने; यथा—"तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।" (लं॰ दो॰ ११६); 'देत' शब्द प्रथम देकर सूचित करते हैं कि देने का विचार पहले रक्खे। 'बल, अनुमान'—बल से कम करने में कपट होगा और अधिक किसी आवेश से कर भी डालेगा तो पीछे पश्चात्ताप होगा और उसे दूषित मानने लग जायगा।

(२) 'बिपति काल कर·· ' कहा भी है; यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परखिअहि चारी॥" (अा॰ दो॰ ४); तथा—"पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटी करोति। आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥" (भर्तृहरिशतक)।

(३) 'बनाई'—ऐसा बनाकर झूठ कहते हैं कि सत्य की प्रतीति हो। इनके मन, वचन और कर्म तीनों में कपट रहता है—'मन कुटिलाई'—में मन, 'आगे कह मृदु बचन बनाई।'—में वचन और 'पाछे अनहित'—में कर्म है। 'पाछे अनहित' में करना आदि क्रिया-सूचक शब्द गुप्त हैं, क्योंकि कुमित्र छिपाकर ही अहित करते भी हैं। 'परिहरेहि भलाई'—पहले उन्हें मित्रता करने से मना किया; यथा—'ते सठ कत हठि करत मिताई।' जो वे न मानें, उसपर कहते हैं कि उन्हें त्यागने ही से भलाई है, अन्यथा वे दुःख देंगे; यथा—"कपटी मित्र सूल सम चारी।" आगे कहते ही हैं। 'चित अहि गति सम —इनके मन, मति और चित्त तीनों की मलिनता कही गई—'मन कुटिलाई' 'असि मति सहज न भाई।' 'जाकर चित अहि गति सम भाई।' सर्प सदा टेढ़ा ही चलता है, वैसे इनके चित्त में सदा कुटिलता ही रहती है।

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल-सम चारी॥ ९॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥१०॥

अर्थ—मूर्ख सेवक, कृपण (कंजूस) राजा, कुलिस्त्र (कर्कशा) स्त्री और कपटी मित्र ये चारों शूल के समान (दुःख देनेवाले) हैं॥९॥ हे सखा! मेरे बल (भरोसे) पर तुम शोच छोड़ो, मैं तुम्हारे काम सब प्रकार से करूँगा॥१०॥

श्रीसुग्रीवजी— श्रीरामजी—

३. सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। सब विधि घटब काज मैं तोरे।

४. जेहि विधि मिलिहि जानकी आई। सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा ॥११॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराये। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये ॥१२॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती ॥१३॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे श्रीरघुवीर! सुनिये, बालि महाबली और अत्यन्त रणधीर है ॥११॥ दुंदुभी की हड्डियाँ और ताड़ के वृक्ष दिखाये, श्रीरघुनाथजी ने उन्हें विना परिश्रम ही गिरा दिया ॥१२॥ श्रीरामजी का अपरमित (निस्सीम) बल देखकर श्रीसुग्रीवजी की प्रीति बढ़ी, ये बालि को मारेंगे—ऐसा विश्वास हुआ ॥१३॥

विशेष—(१) 'बालि महाबल अति रनधीरा'—श्रीरामजी ने कहा था—"सखा सोच त्यागहु बल मोरे।" उसपर श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि आपके बल है और बालि के 'महाबल' है; आप वीर हैं और वह 'अति रनधीर' है, तब आप उसे कैसे मारेंगे? फिर श्रीसुग्रीवजी बालि के उक्त सामर्थ्य को प्रमाणित करने के लिये 'दुंदुभि अस्थि' को और 'सप्त ताल' इन वृक्षों को दिखाया कि देखिये! यह हड्डी का ढेर उस दुंदुभी का है, जिसे मारकर और फिर उठाकर इतनी दूरी पर बालि ने फेंक दिया है, जिसका सूखा पंजर भी उठाना औरों को कठिन है, फिर सातों ताल के वृक्षों को दिखाया कि जिन्हें बालि एक साथ ही हिलाया करता था।

"इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने पूछा कि आपको कैसे विश्वास हो सकता है? कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे। तब श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि यदि श्रीरामजी इन हड्डियों को एक पैर से दो सौ धनुष की दूरी पर फेंक दें और एक ही बाण से सातों ताल-वृक्षों में से एक को भी काट डालें, तो मैं समझूँगा कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे। तब श्रीरामजी ने पैर के अंगूठे से ही सम्पूर्ण हड्डियों को उठाकर उन्हें दश योजन की दूरी पर फेंक दिया। फिर श्रीसुग्रीवजी ने संशय किया कि बालि ने जब इसे फेंका, तब यह पंजर मांस-रक्त से भरा होने से बहुत भारी था, फिर वह युद्ध में थका हुआ भी था, अतः, केवल हड्डियों के फेंकने से विश्वास नहीं हो सका, अतएव कृपया वृक्ष काटने का कर्म भी करें।

तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर एक बाण चलाया, वह सातों तालवृक्षों को फोड़ (काट) कर पर्वत और पृथिवी को फोड़ता हुआ पाताल को चला गया। एक ही मुहूर्त्त में वह बाण फिर लौटकर श्री-रामजी के तरकश में आ गया। तब पूर्ण विश्वासी होकर श्रीसुग्रीवजी परम हर्षित हुए।" (वाल्मी० ४।११-१२); यहाँ 'बिनुप्रयास' कहा गया, वही वाल्मीकिजी ने 'पादांगुष्ठेन <u>लीलया</u>' कहा है। दुंदुभी की कथा ऊपर दो० ५ की चौ० १-२ में दी गई है।

सप्तताल-वृक्षों के विषय में कहीं की कथा है कि एक समय बालि एक फल लाकर उसे सर के तट पर रख स्नान करने लगा; इतने में एक सर्प आकर उसपर गुंडरी लगा बैठ गया। बालि ने आकर देखा, तो उस सर्प को शाप दे दिया कि तूने हमारे भक्ष्य को मलिन कर दिया, अतः, तेरे शरीर से फूटकर यह वृक्ष हो जायगा। गुंडरी लगाये हुए सर्प के ऊपर इन वृक्षों की स्थिति होने से एक साथ इनका एक बाण से वेधना अत्यन्त कठिन था। पुनः हनुमन्नाटक अ० ५ में कहा गया है कि इनको

जड़ शेषजी की पीठ तक थी और एक साथ ही यदि सातों न बेधे जायँ, तो ये मारनेवाले ही को मार डालते थे।

ऊपर जो कहा गया कि श्रीरामजी का बाण पाताल तक गया और लौटकर तरकश में आया, इस वाल्मीकिजी के वचन से भी शेषजी तक जड़ का होना सिद्ध है।

(२) 'देखि अमित बल···'— पहले जब श्रीलक्ष्मणजी ने सब रामचरित कहा था, तब इन्होंने सुना था कि धनुर्भंग एवं खरदूषणादि बहुत राक्षसों का बध श्रीरामजी ने किया है। स्वयं श्रीरामजी ने भी कहा था कि मैं बालि को एक ही बाण से मार दूँगा। पर सुनकर श्रीसुग्रीवजी को बालि-बध की प्रतीति न हुई थी। क्योंकि उसने कहा था ; यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा।" यहाँ जब उसने आँख से देखा कि इनमें तो अमित बल है, जो कि 'बालि महाबल···' की अपेक्षा कहीं अधिक है। "तब तो सुग्रीवजी श्रीरामजी को हाथ जोड़ प्रणाम कर कहने लगे कि आप तो देवताओं के सहित इन्द्र को भी रण में मार सकते हैं, फिर बालि की कौन बात ?" (वाल्मी० ४।१२।८) ; मैं आप-सा मित्र पाकर परम भाग्यशाली हुआ, वही यहाँ 'भइ परतीती' का भाव है। 'बाढ़ी प्रीती'—प्रीति तो पहले से हो थी; यथा—"कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।" अब पूर्ण प्रतीति होने पर वह प्रीति बढ़ चली।

बार-बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥१४॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥१५॥
सुख-संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥१६॥
ये सब राम-भगति के बाधक। कहहिं संत तब पद-अवराधक ॥१७॥

अर्थ—बार-बार चरणों में सिर नवाते हैं, प्रभु को पहचानकर कपीश श्रीसुग्रीवजी मन में हर्षित हुए ॥१४॥ जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब ये वचन बोले—हे नाथ ! आपकी कृपा से अब मेरा मन अचल हुआ ॥१५॥ सुख, संपति, परिवार और बड़ाई, इन सबको छोड़कर मैं आपकी सेवा करूँगा ॥१६॥ हे श्रीरामजी ! आपके चरणों की आराधना करनेवाले संत कहते हैं कि ये सब राम-भक्ति के बाधक हैं॥१७॥

विशेष—(१) 'बार-बार नावइ पद सीसा।'—ऊपर 'बाढ़ी प्रीती' कहा गया, उसी से बार-बार प्रणाम करते हैं ; यथा—"प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० २३५) ; ऐश्वर्य ज्ञान से भी बार-बार प्रणाम करते हैं ; यथा—"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥" (गीता ११।३९)। यह भगवान् का ऐश्वर्य जानने पर अर्जुन ने कहा है।

श्रीसुग्रीवजी की क्रमशः कर्म, मन और वचन की प्रीति प्रकट हुई—'बार-बार नावइ पद सीसा।'—में कर्म की, 'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।'—में मन की और 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला।'—में वचन की प्रीति है। प्रभु को जानने से क्रमशः प्रतीति, प्रीति और भक्ति होती है, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीती बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८९)। वैसी प्रतीति यहाँ हुई; यथा—"बालि बधब इन्ह भइ परतीती।" फिर प्रीति हुई ; यथा—"देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" पुनः आगे भक्ति भी हुई ; यथा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।" सेवा करना भक्ति है।

(२) 'उपजा ज्ञान बचन···'—पहले वचन अज्ञान के थे कि बालि शत्रु है, इत्यादि। प्रभु को

जानना ही ज्ञान है, इसी से 'प्रभुहि जानि' कहकर तब 'उपजा ज्ञान' कहा है। जब प्रभु का ज्ञान होता है, तब प्रभु ही सर्व जगत् के शरीरी जाने जाते हैं। तब जगत् के द्वारा होनेवाले व्यवहार जड़-चेतन-रूप के द्वारा प्रभु ही का करना निश्चय होता है, वह भी अपने कर्मानुसार होता है। ऐसा जानने से किसी से भी शत्रु-मित्र का भाव नहीं रह जाता। पुनः सब रूपों से सुख देनेवाले प्रभु में प्रीति बढ़ती है। यही दशा श्रीसुग्रीवजी की हुई है। 'नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'—प्रभु ने कृपा करके दर्शन दिये, पुनः अपना प्रभुत्व भी स्वयं जनाया। तब ऐश्वर्य-ज्ञान से उक्त रीति से समता आ गई और मन स्थिर हुआ। अतः, इस कार्य को ज्ञान-द्वारा न कहकर प्रभु-द्वारा ही होना कहते हैं। आगे भी इन्होंने हो कहा है; यथा—"यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (दो० २०)।

(३) 'सुख संपति परिवार बड़ाई।···' ये सब राम···'—श्रीसुग्रीवजी को प्रतीति हो गई कि अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रभु बालि को मारकर मुझे सुख आदि देंगे, इसी से इन सुख आदि को त्यागकर भजन करने को कहते हैं कि ये सब श्रीराम-भक्ति के बाधक हैं। सांसारिक सुखों को पाकर लोग आलसी हो जाते हैं। पुनः विलासिता से ही इन्द्रियाँ खाली नहीं होतीं, भजन कैसे हो? संपत्ति होने से उसकी सँभाल में चित्त रहता और तत्सम्बंधी राग द्वेष से भी चित्त मलिन रहता है। परिवारवाले को भी भजन का अवकाश नहीं रहता, कभी कोई रोगी हुआ, कोई मरा और कोई पैदा हुआ, इत्यादि व्यवहारों से ही उसे छुट्टी नहीं रहती। बड़ाई प्राप्त होने पर अभिमान होता ही है और फिर श्रीठाकुरजी के मंदिरों और संतों को शिर झुकाने में लाज लगती है। भगवान् की सेवा-झाड़ू आदि में भी लज्जा लगती है, इत्यादि। इसीसे इन्हें छोड़कर भजन करने को कहते हैं। 'कहहिं संत···'—संत लोग भजन करते हैं, तो ये सब उन्हें बाधक जान पड़ते हैं, इसीसे वे ही ऐसा कहते हैं। और लोग तो इन चारों को पाकर अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सुख-संपत्ति वित्तैषणा है, परिवार पुत्रैषणा और बड़ाई लोकैषणा है—ये तीनों एषणाएँ बुद्धि को मलिन करनेवाली हैं; यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (उ० दो० ७०)। इसी से आत्मज्ञानी लोग भिक्षा से निर्वाह करके भजन करते हैं और तीनों ऐषणाओं का त्याग करते हैं; यथा —"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥" (बृहदा० ३।५।१)।

इन सुख आदि को पाकर आगे श्रीसुग्रीवजी स्वयं भी प्रभु को भूल जायँगे; यथा—"सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥" (दो० १७)।

सत्रु-मित्र सुख-दुख जग माहीं। माया-कृत परमारथ नाहीं॥१८॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥१९॥
सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥२०॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन-राती॥२१॥

अर्थ—संसार में जितने शत्रु-मित्र और दुःख-सुख (आदि द्वन्द्व) हैं, वे सब माया के किये हुए हैं, परमार्थ (ज्ञान-दृष्टि) में वे कुछ नहीं हैं॥१८॥ हे श्रीरामजी! बालि तो मेरा परम हितैषी है कि जिसकी कृपा से दुःख के नाश करनेवाले आप मुझे मिले (अर्थात् उसके कोप ने मुझे प्रसाद का फल दिया, वह मुझे दीन बनाकर न निकालता, तो मैं यहाँ दीन होकर क्यों रहता और क्यों आपके दर्शन होते?)॥१९॥

और जिस से स्वप्न में भी लड़ाई हो तो जागने पर उसे समझकर संकोच हो (कि मैं ऐसे परमहित से स्वप्न में भी नाहक लड़ा) ॥२०॥ हे प्रभो ! अब आप इस तरह की कृपा करें कि सब छोड़कर मैं दिन-रात (आपका) भजन करूँ ॥२१॥

विशेष—(१) 'शत्रु-मित्र दुख-सुख···'—शत्रु-मित्र आदि भाव मायाकृत हैं, इसे ही लक्ष्मणगीता अ० दो० ६१ चौ० ८ में 'मोह-मूल' कहा है, वहाँ भी देखिये। अज्ञान से जगत् में नानात्व-दृष्टि होती है, उसी से मन शत्रु-मित्र आदि की कल्पना कर लेता है, इसी दृष्टि को द्वैत भी कहते हैं ; यथा—"जौ निज मन परिहरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा ॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई ॥" (वि० १२४)। इसी दृष्टि से 'मैं, मोर, तैं, तोर' यह मायिक वृत्ति है।

(२) 'बालि परम हित···'—सांसारिक उपकार करनेवाला हितैषी है और पारमार्थिक हित-कर्त्ता परम हितैषी।

(३) 'सपने जेहि सन···'—ऐसे हितैषी से यदि स्वप्न में भी मुझसे लड़ाई हो तो जागने पर मुझे संकोच हो—मैं ऐसा चाहता हूँ; अर्थात् अब मैं उससे लड़ना नहीं चाहता। 'समन बिषादा'—संसृति-दुःख हरनेवाले।

(४) 'अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती।'—यह चरण दीपदेहली है, ऊपर की अर्द्धाली के भी साथ है कि बालि से स्वप्न में भी लड़ाई हो, तो जागने पर मन में संकोच हो। अब इस तरह की कृपा करिये—यह पूर्व से सम्बन्ध है और सब छोड़कर भजन करूँ, अब इस प्रकार कृपा कीजिये—यह पर से सम्बन्ध है।

प्रभु ने जो कहा था—"सखा सोच त्यागहु···मैं मारिहउँ बालिहि···" वह कृपा अब मैं नहीं चाहता। इनके मत में कृपा से ही सब कुछ होता है। ऊपर भी लिखा गया। तथा—"अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी ॥" (सुं० दो० ४८); अर्थात् विभीषणजी का भी यही मत है। भजन के सम्बन्ध में तीन बार कहा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ··"; "ये सब राम-भगति···"; "सब तजि भजन करउँ···" तीनों बार 'सब' शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि एक भी विकार रहने से भजन नहीं होता। यहाँ माया का आवरण हटने पर ज्ञान होने से वैराग्य एवं उसके फल रूप में भक्ति माँगी गई है। अतः, ज्ञान-विराग का फल भक्ति है ; यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी ॥ भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥" (उ० दो० ११९)।

सुनि बिराग-संजुत कपि-बानी। बोले बिहँसि राम धनु-पानी ॥२२॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई ॥२३॥
नट-मर्कट-इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥२४॥
लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप-सायक गहि हाथा ॥२५॥

अर्थ—कपि की वैराग्य संयुक्त वाणी सुन धनुर्धर श्रीरामजी हँसकर बोले ॥२२॥ जो कुछ तुमने कहा वही सब सत्य है, पर हे सखा ! मेरा वचन झूठ न होगा; अर्थात् बालि मारा जायगा और

तुम्हें राज्य और स्त्री मिलेगी ॥२३॥ हे गरुड़ ! वेद ऐसा कहते हैं कि श्रीरामजी नट-मर्कट की तरह (जैसे मदारी बंदर को नचाता है वैसे ही) सभी को नचाते हैं ॥२४॥ श्रीसुग्रीवजी को साथ लेकर और हाथों में धनुष-बाण लेकर श्रीरघुनाथजी चले ॥२५॥

विशेष—(१) 'सुनि बिराग संजुत कपि बानी ।''' '—यहाँ निर्वेद (वैराग्य) है, यथा—"जेहि तेहि बिधि संसार सुख, देखत उपजै खेद। उदासीनता जगत ते, सो कहिये निर्वेद ॥" इसीसे विराग संयुक्त वाणी कही गई है। 'कपि बानी'—कपि का चपल स्वभाव प्रसिद्ध है, वैसे इनकी यह वृत्ति स्थिर न रहेगी। अभी इन्हें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों प्राप्त हैं, यथा—"उपजा ज्ञान", "सब परिहरि"; "भजन करौं दिन राती।" पीछे तीनों न रहेंगे, यथा—"बिषय मोर हरि लीन्हेउँ ज्ञाना।" (दो० १८)—यह ज्ञान न रहा। "पावा राज कोष पुर नारी।" (दो० १७)—यह वैराग्य न रहा। "सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।" (दो० १७)—यह भक्ति न रही।

'बोले बिहँसि राम धनु पानी ।'—यहाँ बिहँसने के साथ श्रीरामजी को 'धनुपानी' कहा है। भाव यह है कि श्रीसुग्रीवजी का प्रथम से जो दुःख था उसे श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं भी कहा। तब उनकी रुचि पूर्ति के लिये प्रभु ने प्रतिज्ञा की। अब ज्ञान होने पर वे उससे हटना चाहते हैं, पर श्रीरामजी के दर्शन जिस वासना से किये जायँ, उस वासना की सिद्धि अवश्य होनी चाहिये; यथा-"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥" (सुं० दो० ४९); अर्थात् श्रीविभीषणजी ने भी कहा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥" (सु० दो० ४८); इसपर श्रीरामजी ने अपने दर्शनों की सफलता के लिये उक्त वासना का भोग उन्हें दिया ही। ऐसे ही ध्रुव भी प्रथम राज्य-वासना सहित घर से चले, तो पीछे ज्ञान होने पर उन्हें ३६००० वर्ष राज्य-भोग कर लेने पर ही नित्य लोक की प्राप्ति हुई।

ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी की वासना-पूर्त्ति के लिये आपने धनुष-बाण से बालि को मारने की प्रतिज्ञा की है, वह पूरी करेंगे। इसलिये बिहँसकर माया द्वारा उसे अपने अनुकूल किया। जैसे श्रीकौशल्याजी और श्रीविश्वामित्रजी पर हँसकर माया डाली है; यथा—"उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसकाना। चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।" (बा० दो० १९१), "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी ॥" (बा० दो० २१५)। इनके भाव प्रसंग पर लिखे जा चुके हैं। कृपा के द्वारा यह माया का प्रयोग नित्य पार्षदों पर करके लीला का विधान करते हैं। इसीसे हँसकर प्रयोग करते हैं; यथा—"माया हास'''" (लं० दो० १४)। "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो० ११०); अभियुक्तों ने कहा भी है—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादय। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदार स्तोत्र)—अर्थात् भगवान् अपने आश्रितों पर अपनी इच्छा से ही उत्पत्ति-विनाश और फिर उन्हें मुक्त करने का बर्ताव लीला-विधान एवं कोई वैदिक विधान दृढ़ करने के लिये करते हैं। जैसे हो यहाँ श्रीसुग्रीवजी के कहे हुए विचारों को—"जो तुम कहेहु सत्य सब सोई।" रूप से स्वीकार करते हुए भी "सखा बचन मम मृषा न होई।" का विधान करेंगे और तुरत ही श्रीसुग्रीवजी बालि से लड़ने चलेंगे। 'सत्य सब सोई'—से श्रीसुग्रीवजी के उक्त विचारों का श्रीरामजी ने समर्थन किया कि शास्त्रोक्त दृष्टि तो यही है कि सब एषणाओं से रहित हो एवं राग-द्वेष छोड़कर भगवद्भजन करे।

(२) 'नट-मर्कट इव'''—श्रीसुग्रीवजी शीघ्र ही श्रीरामजी की इच्छा के अनुकूल हो गये और

बालि से प्रत्यक्ष लड़ने को प्रस्तुत हो गये। इसी पर श्रीभुशुंडीजी कहते हैं कि श्रीसुग्रीवजी ही नहीं, सारा जगत् श्रीरामजी की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। मदारी (नट) बंदर को जैसा चाहता है, नचाता है; वैसे ही श्रीरामजी जीवों को नचाते हैं। सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही काम कराते हैं। वानर नट के अधीन है वैसे जीव ईश्वर के अधीन हैं। प्रमाण—"राम कीन्ह चाहँ सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (बा० दो० १२७); "राम-रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५१); "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥" (दो० १०); "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१); अर्थात् सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर स्थित है, वह शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए सब जीवों को (उनके कर्मानुसार) अपनी माया से भ्रमाता है।

(३) 'लै सुग्रीव संग रघुनाथा।...'—ऊपर नट-रूप में श्रीरामजी की प्रधानता थी। 'नट' शब्द पहले था, वैसे ही यहाँ चलने में श्रीरघुनाथजी मुख्य हैं; क्योंकि अपनी इच्छाप्राधान्य में श्रीसुग्रीवजी को ले जा रहे हैं। श्रीरामजी मर्यादा के संस्थापक हैं; अतः, माधुर्य की दृष्टि से उपदेश देते हैं कि मित्र के कार्य में स्वयं अगुआ होकर उपस्थित रहना चाहिये, मित्र की प्रेरणा की राह देखने की आवश्यकता नहीं; 'रघुनाथा'—रघुवंशी सभी सत्य-संध होते आये; यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई।" (अ० दो० २७); ये तो उस कुल के नाथ हैं, फिर प्रतिज्ञा का निर्वाह क्यों न करें? 'चाप सायक' मात्र कहा है, तरकश नहीं, क्योंकि एक ही बाण से बालि-वध की प्रतिज्ञा की है। शेष शस्त्र और तरकश श्रीलक्ष्मणजी के पास हैं। वा, ऐसे भी प्रसंग हैं, जहाँ तरकश नहीं कहा गया, पर आगे उसके कार्य देखे गये हैं; यथा—"लछिमन चले सकोप तब, बान सरासन हाथ।" (लं० दो० ५१); इससे आगे—"नाना बिधि प्रहार कर सेषा।" कहा गया है। वैसे यहाँ भी आगे—'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' कहा है, तो वह बाण कहाँ से आया? अतएव तरकश भी रहना संभव है।

तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा॥२६॥
सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥२७॥
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥२८॥
कोसलेस-सुत लछिमन-रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥२९॥

दोहा—कह बाली सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जौं कदापि मोहि मारहिं, तौ पुनि होउँ सनाथ॥७॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीसुग्रीवजी को भेजा, वे बल पा पास जाकर गरजे॥२६॥ सुनते ही बालि क्रोध में भरकर शीघ्र दौड़ा, उसकी स्त्री (तारा) ने हाथ से (उसके) चरण पकड़कर समझाया॥२७॥ हे पति! सुनिये, जिनसे सुग्रीव मिला हुआ है (मित्रता की है), वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं॥२८॥ वे श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं। जो काल को भी रण में जीत सकते हैं॥२९॥ बालि ने कहा—हे भीरु (स्वभावतः डरनेवाली)! हे प्रिये!! श्रीरघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित् मुझे मारेंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा॥७॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति सुग्रीव पठावा ।···'—'तब'—जब किष्किंधा के निकट पहुँच गये। 'गर्जेसि जाइ निकट'—किष्किंधा नगर भारी है, अतएव राजमहल के निकट जाकर गरजा कि जिससे यह गर्जन महल के भीतर भी बालि सुन सके। तभी वह लड़ने को आवेगा। 'बल पावा'—श्रीसुग्रीवजी के श्रीरामजी से पाया हुआ बल है और उसके महाबल है; यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा।" यह कहा गया है। इससे अबकी युद्ध में श्रीसुग्रीवजी हारेंगे, फिर जब श्रीरामजी विशाल बल देकर इन्हें भेजेंगे, तब नाना विधि की लड़ाइयाँ होंगी; यथा—"पठवा पुनि बल देइ बिसाला"; "पुनि नाना विधि भई लड़ाई।" आगे कहा है। वा, वचन का बल पाकर, जो कि श्रीरामजी ने कहा है कि मैं उसे एक ही बाण से सत्य ही मारूँगा। अथवा प्रभु के निकट होने का बल पाकर।

(२) 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा।'—क्योंकि—"बाली रिपु बल सहै न पारा।" कहा गया है। क्रोधातुर होने से विचार नहीं रहता, इसीसे 'नारि समुझावा' कहा है।

'गहि कर चरन···'—वाल्मी० ४।२५ में तारा का समझाना कहा गया है। तारा ने कहा कि सुग्रीव जैसे अहंकार से गरज रहा है, इसका विशेष कारण है। अंगद ने दूतों के मुख से सुना है कि सुग्रीव के हित करने के लिये प्रसिद्ध वीर श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअयोध्या से आये हुए हैं। वे बड़े दुर्जय हैं। शत्रु-सेना के नष्ट करने में प्रलयाग्नि के समान हैं, साधुओं के आश्रयदाता और पीड़ितों के रक्षक हैं। दुःखियों के सहायक, यश के भाजन और ज्ञान-विज्ञान से युक्त हैं। अतः, उनसे मेल कर लीजिये, सुग्रीव को युवराज पद देकर उसका पालन कीजिये। इसीमें भलाई है, इत्यादि।

'गहि कर चरन' का भाव यह भी कहा जाता है कि पहले कर पकड़ा और समझाना चाहा, यथा—"कर गहि पतिहि भवन निज आनी।" (लं० दो० ५); पर उसने क्रोध में न सुना। तब चरण पकड़कर रोकने को बैठ गई और फिर समझाया।

(३) 'सुनु पति'—आप हमारे रक्षक हैं, इसलिये मेरी प्रार्थना सुनिये। 'तेज बल सींवा'—तेजस्वी देखने में छोटा भी हो, तो उसे लघु न जानना चाहिये ; यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी।" (बा० दो० २५५)। जहाँ तेज वहाँ बल भी है ; यथा—"तेज-प्रताप-रूप जहँ तहँ बल बूझइ।" (जानकीमंगल ५१) 'कोसलेस सुत'—से अवतार सूचित किया, जैसे कि आकाशवाणी से सुना गया है; यथा—"कोसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥···तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई ॥" (बा० दो० १८६)। इत्यादि। क्योंकि आगे बालि भी ईश्वर ही कहेगा ; यथा—'समदरसी रघुनाथ' इत्यादि। 'लछिमन रामा'—श्रीलक्ष्मणजी को यहाँ छन्दानुरोध से आगे कहा है। यह भी हो सकता है कि यहाँ—'कालहु जीति सकहिं संग्रामा।' का प्रसंग है, युद्ध में छोटा भाई आगे रहता है ; यथा—"त्रिसिरादि खर दूषन फिरे।" (आ० दो० २०)। 'कालहु जीति···'—योगी लोग भी काल को योग-बल से जीत सकते हैं, पर ये तो उसे संग्राम में भी जीत सकते हैं ; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला ॥" (सुं० दो० ३८); "तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता।" (लं० दो० ८२)। तब तुम उनसे लड़ने के योग्य नहीं हो।

(४) 'कह बाली सुनु भीरु···'—तारा डर गई है, इससे उसे 'भीरु' कहा, किन्तु स्त्रियों के लिये यह आदरार्थ भी है। पुनः उसकी प्रसन्नता के लिये 'प्रिय' भी कहा है। 'जौं कदापि'—पहले तो वे समदर्शी हैं और रघुवंशी सद-सरल स्वभाव और नीतिमान होते हैं। ये तो उस कुल के नाथ हैं, तो किसी का पक्ष लेकर मुझे क्यों मारेंगे। कदाचित् मारें, क्योंकि भक्तों के लिये आप विषमदर्शी हो

जाते हैं ; यथा—"जद्यपि सम तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८) ; तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। श्रीरामजी के बाण से मरकर परम गति पाऊँगा ; यथा—"राम बालि निज धाम पठावा।" (दो० १०) ; "रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहि सही।" (लं० दो० ३) 'तौ पुनि=तो भी।

अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी ॥१॥
भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महा धुनि गर्जा ॥२॥
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि-प्रहार बज्र-सम लागा ॥३॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला ॥४॥
एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहि मारेउँ सोऊ ॥५॥

अर्थ—महा अभिमानी बालि ऐसा कहकर और श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान (तुच्छ) समझकर चला ॥१॥ दोनों जुट पड़े (लड़ गये) बालि ने उसे बहुत डाँटा एवं धमकाया और वह घूँसा मारकर बड़े जोर से गरजा ॥२॥ तब श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे, घूँसे की चोट उन्हें वज्र के समान लगी ॥३॥ हे रघुवीर ! हे कृपालु ! मैंने जो आपसे कहा था कि यह मेरा भाई नहीं है, किन्तु काल है, (वही सत्य है) ॥४॥ तुम दोनों भाई एकरूप हो, इसी भ्रम से मैंने उसको नहीं मारा (कि बाण कहीं तुम्हें न लग जाय) ॥५॥

विशेष—'अस कहि चला महा अभिमानी।'—बालि क्रोधावेश में था, इससे तारा की शिक्षा का प्रभाव उसपर न पड़ा, यथा—"क्रोधिहि सम… ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। कालवश है, इसीसे अभिमान हुआ है; यथा—"काल बरय उपजा अभिमाना॥" (लं० दो० ७) ; नारि शिक्षा न मानने से भी महा अभिमानी कहा गया ; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (दो० ८) ; 'चला'—पहले क्रोधातुर धाया। जब स्त्री के समझाने से क्रोध का वेग शांत हो गया। अतएव तब 'चला' कहा गया। 'तृन समान…'—श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान मानने से 'अभिमानी' और आगे श्रीरामजी के आश्रित होने का चिह्न देखकर भी श्रीसुग्रीवजी को तुच्छ मानकर मारना चाहेगा, इससे 'महा अभिमानी' है ; यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥" (दो० ८)।

(२) 'भिरे उभौ बाली …'—श्रीरामजी के बल से श्रीसुग्रीवजी भी बराबर भिड़े, इन्होंने बालि का भय नहीं माना ; यथा—"उमा बिभीषन रावनहिं, सनमुख चितव कि काउ। सो अब भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ॥" (लं० दो० ९३)। 'बाली अति तर्जा'—सुग्रीव तर्जा, तब बालि अति तर्जा। सुग्रीव गरजा था; यथा—"गर्जेसि जाइ निकट बल पावा।" और बालि सुग्रीव को मारकर महा ध्वनि से गरजा, इससे अपनी जीत जनाई; यथा—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।" (सुं० दो० १०)। अर्थात् अक्ष को मारकर श्रीहनुमान्‌जी भी ऐसे ही गरजे थे।

(३) 'तब सुग्रीव बिकल होइ…'—वज्रपात के पीछे गरजन होता है, वैसे ही मुष्टि-प्रहार करके वह गरजा। वज्रपात की ध्वनि सुनकर लोग व्याकुल हो जाते हैं, यहाँ श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे। वज्र इन्द्र चलाते हैं, वैसे यहाँ इन्द्र के अंशभूत बालि ने मुष्टि-प्रहार किया।

(४) 'मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। · ·'—'मैं जो कहा'—यह पूर्व की बात पर लक्ष्य कराते हैं, यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५)। शत्रु के समान ही काल भी मारना चाहता है। 'रघुबीर कृपाला'—अर्थात् उससे लड़ने योग्य मैं नहीं हूँ, यथा—"ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥" (दो० ५)। आप रघुवीर हैं, इससे काल को मारने में समर्थ हैं, यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८०)। कृपालु हैं, अतएव हमपर कृपा करके उसे मारें। चोट खाने पर भी श्रीसुग्रीवजी ने कोमल ही वचन कहा। यह मित्र के प्रति दृढ श्रद्धा दिखाई। श्रीसुग्रीवजी ने पहले वालि को शत्रु कहा, तब उसके वध के लिये श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की थी। पीछे वह उसे 'परम हित' कहने लगा। तब श्रीरामजी उसे कैसे मारते? क्योंकि वे तो 'प्रनत कुटुम्ब पाल' हैं। अब एक ही चोट में इन्होंने उसे फिर काल कहा, तब मारेंगे। इसीसे पहले कम बल दिया था और अब विशाल बल देकर भेजेंगे। तब पीछे उसे मारेंगे।

(५) 'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। ···'—श्रीरामजी नर-नाट्य कर रहे हैं। माधुर्य में जैसे रोना, खोजना आदि संभव है, वैसे भ्रम भी सम्भव है, यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ॥ · अलङ्कारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च। त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थ परस्परम्॥ स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर। विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वा नोपलक्षये॥ ततोऽहंरूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम। नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्॥ · त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया। मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात्कपीश्वर॥" (वाल्मी० ४।१२।१६+३०–३४)। अर्थात् तुम दोनों वीर अश्विनी कुमार के समान एक-से थे। अलंकार, वेष, ऊँचाई तथा गमन से तुम दोनों समान थे। स्वर, तेज, दृष्टि, विक्रम और वचन से समान थे। इसी रूप-समता की आशंका से मैं रुक गया और मोहित हो जाने से शत्रु नाशक बाण नहीं चलाया। मेरे अज्ञान या शीघ्रता से यदि तुम मारे जाते तो मेरी मूर्खता और लड़काई समझी जाती।

आशय यह भी है कि अभी वह वालि को 'परम हित' कह चुका था। उसने कपि स्वभाव से ही कहा था। एक बार हराकर उससे 'बंधु न होइ मोर यह काला।' कहलाना था, जैसा ऊपर भी कहा गया। पुनः एक ही ओर की जीत में रण की शोभा नहीं, वालि ऐसे वीर को भी रण कर्म का यश देना था। पुन दोबारा अधिक बल सहित और चिह्न सहित भेजकर उसे अपना आश्रित होना भी दिखाना था कि जब वह भागवतापराध करेगा, तो वध-रूप दंड पावेगा। आगे कहा भी है—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।···"

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥६॥
मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥७॥
पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप-ओट देखहिं रघुराई॥८॥

दोहा—बहु छल-बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब, हृदय माँझ सर तानि॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी के शरीर पर हाथ फेरा, उनका शरीर वज्र (के समान दृढ़ हो)

गया और सब पीड़ा चली गई ॥६॥ उनके गले में फूलों की माला पहना दी और फिर भारी बल देकर (लड़ने को) भेजा ॥७॥ फिर अनेक प्रकार से लड़ाई हुई, श्रीरघुनाथजी वृक्ष की आड़ से देख रहे हैं ॥८॥ जब श्रीसुग्रीवजी बहुत छल और बल करके भय मानकर हृदय से हार गये, तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर और उसे जोर से खींचकर वालि के हृदय में बाण मारा ॥९॥

विशेष—(१) 'कर परसा सुग्रीव सरीरा।···'—आश्वासन करते हुए शरीर भर पर हाथ फेरा कि मित्र तुम्हें बड़ी चोट लगी, पर वस्तुतः इन्हें बल देने और तन वज्र के समान करने को ऐसा किया। पहले श्रीसुग्रीवजी का मन युद्ध से हट गया था कि बालि से अब न लड़ूँगा। तब उसके मन को उद्यत किया, तब कहा गया—'नट मर्कट इव···' और यहाँ तन से थक गया था, तब हाथ फेरकर उसे वज्र के समान किया। 'तन भा कुलिस···'—बालि ने इसे तृण के समान माना था; यथा—"तृन समान सुग्रीवहिं जानी।" कहा गया। उसे ही श्रीरामजी ने वज्र के समान बना दिया, इससे—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ३३)। इस विरुद को चरितार्थ किया।

(२) 'बल देइ बिसाला'—विशाल बल उतना ही दिया कि वह बालि से लड़ सके, मारने भर को न दिया, अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा जाती। बल दिया; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥···" (सुं० दो० २०) ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी के तन में बल दिया।

(३) 'मेली कंठ सुमन की माला'—गज-पुष्पी लता लेकर श्रीलक्ष्मणजी ने कंठ में पहना दी; यथा—"ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम्। लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कंठे व्यसर्जयत्॥" (वाल्मी० ४।१२।४०)। 'मेली कंठ'—कंठ में लगी हुई (कंठी की तरह) पहनाई, जिससे लड़ाई में टूट न जाय। बालि ने पहले श्रीरामजी को समदर्शी कहा था, इससे इन्होंने उसे नहीं मारा था। अब इसे अपने आश्रित होने का चिह्न देकर उसे संकेत करते हैं कि अब यह भागवत है। अतः इससे द्वेष बुद्धि न करो, अन्यथा मैं मारूँगा; यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७)। "सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८)।

(४) 'पुनि नाना बिधि······'—'नाना बिधि'; यथा—"वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः॥ मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः। तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव॥" (वाल्मी० ४।१६।२८–२९)। अर्थात् शाखा युक्त वृक्षों, पर्वत शिखरों, वज्र के समान नखों, मुक्कों, लातों और बाहुओं से बार-बार दोनों का घोर युद्ध हुआ, जैसे इन्द्र और वृत्रासुर का हुआ था। 'बिटप ओट देखहिं'—खड़े होकर प्रकट देखते तो श्रीसुग्रीवजी की अधीरता होती कि हमें लड़ाकर आप कौतुक देखते हैं। पुन. ओट का यह भी भाव है कि बालि के हृदय में भक्ति भी है; यथा—"जेहि जोनि जनमौं···" आगे कहा है। सामने होने से कहीं प्रणाम आदि किया, तो प्रतिज्ञानुसार मारते न बनता और उसे बाण द्वारा शुद्ध करके परमगति देनी है, क्योंकि वह वीर है, उसे वीर गति ही चाहिये। कौतुक देखने से 'रघुराई' कहा है; यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥" (लं० दो० ७); राजा लोग कौतुक देखते ही हैं।

(५) 'बहु छल बल सुग्रीव करि···'—युद्ध में छल भी एक प्रकार की रण-कला है। यह अनुचित नहीं माना जाता, क्योंकि दोनों पक्ष सावधान रहते हैं। यह एक प्रकार की चातुरी है, जो बुद्धि का युद्ध है। शारीरिक बल कम पड़ने पर योद्धा छल-कला से भी लड़ते हैं। इसे कूटनीति भी कहते हैं, इसमें अपने

कार्य की वास्तविक दशा प्रतिपक्षी को नहीं जान पड़ती। वह कुछ का कुछ समझता है। श्रीसुग्रीवजी ने छल, बल दोनों के द्वारा हृदय से हार मानी और अपने पुरुषार्थ का भरोसा छोड़ प्रभु की सहायता चाही तब श्रीरामजी ने खूब खींचकर बाण छोड़ा, क्योंकि महाबलों को भी एक ही बाण से मारना है; यथा—"हीयमानमथापश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम्। प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः॥ ततो रामो महातेजा आर्त्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम्।···राघवेण महाबाणो वालि-वक्षसि पातितः॥" (वाल्मी० ४।१६।२१-२५)।

छाती में ही बाण मारा, क्योंकि उसके हृदय का अहंकार दूर करना है, बाण लगते ही उसके हृदय में प्रीति हुई भी; यथा—"हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।" आगे कहा है। पुनः शिर इसलिये नहीं काटा कि उसे बहुत कुछ कहना-सुनना है।

परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥१॥
स्याम गात सिर जटा बनाये। अरुन नयन सर-चाप चढ़ाये॥२॥
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥३॥

अर्थ—बाण के लगने से वालि व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा फिर प्रभु को आगे देखकर उठ बैठा॥१॥ श्रीरामजी श्याम शरीर हैं, शिर पर जटा बनाये हुए हैं, लाल नेत्र हैं, बाण लिये हुए हैं और धनुष को चढ़ाये हुए हैं॥२॥ वालि ने बार-बार दर्शन करके (श्रीरामजी के) चरणों में चित्त लगा दिया, उसने प्रभु को पहचानकर अपना जन्म सुफल (कृतार्थ) माना॥३॥

विशेष—(१) 'परा बिकल महि···'—इतना बड़ा वीर एक ही बाण के लगने से गिरकर व्याकुल हो गया, यह राम-बाण के अद्भुत प्रभाव का द्योतक है; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहिं एक सर।" (लं० दो० ३३); 'पुनि उठ बैठि···'—यह प्रभु के दर्शन-प्रभाव से उत्पन्न वालि का साहस है कि ऐसा कठोर बाण लगने पर भी वह उठ बैठा। 'देखि प्रभु आगे'—श्रीरामजी दया करके उसे स्वयं दर्शन देने गये; यथा—"बहु मान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव। उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ राम-लक्ष्मणौ॥" (वाल्मी० ४।१०।१३); अर्थात् दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने वालि का सम्मान किया और उसके पास गये। प्रभु के उसके पास जाने का एक यह भी कारण था कि छिप कर मारने से वालि के हृदय में जो मेरे प्रति निंदा का भाव है उसका निराकरण वह प्रश्नोत्तर द्वारा कर ले।

वालि ने पहले ही कहा था—"जौं कदापि मोहि मारिहैं, तौ पुनि होउँ सनाथ।" इस के अनुसार वह अपनेको कृतार्थ ही मानता है और इसी से उसके हृदय में प्रीति भी है। पर उसने विचार किया कि इससे लोक में प्रभु की निन्दा होगी, अतएव मैं कठोर वचनों से पूर्व पक्ष करके उनके ही मुख से समाधान करा लूँ; अन्यथा प्रभु क्यों समाधान करेंगे? और इसका निराकरण न होने से नैतिक दृष्टिवाले प्रभु के चरित में दोष लगावेंगे।

(२) 'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये'—वीर-रस एवं आर्त्त-दुःख-हरण-प्रसंगों में प्रभु के नेत्र लाल कहे गये हैं और साथ ही लाल कमल की उपमा भी दी गई है, परन्तु वध के प्रसंग में कठोरता का भाव होने के कारण प्रायः कमल की उपमा नहीं देते हैं, केवल लाल ही (लाल डोरे पड़े हुए) कहते हैं, यह श्रीगोस्वामीजी की सँभार है; यथा—"अरुन नयन उर बाहु बिसाला।" यह श्रीविश्वामित्रजी की रक्षा के एवं ताड़का आदि के वध के प्रसंग में कहा गया है। "भुज प्रलंब कंजारुन लोचन।"—श्रीविभीष-

णजी की रक्षा-प्रसंग में और "जलजारुन लोचन भूप बरं।" (लं० दो० १०१) ; यह पृथिवी-मात्र के भार उतारने पर ब्रह्माजी ने कहा है, इत्यादि। 'सर चाप चढ़ाये'—यहाँ श्रीरामजी ने धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया है, केवल वे धनुष-मात्र चढ़ाये हुए हैं ; यथा—"धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।" (दो० १७), "धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।" (दो० १६) ; जब रोदा पर बाण रक्खा जाता है, तब उसे संधानना कहते हैं ; यथा—"संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।" (सुं० दो० ५७); "सर संधान कीन्ह करि दापा।" (लं० दो० ७४) । इत्यादि, जहाँ संधानना कहा जाता है, वहाँ वह बाण अवश्य चलाया जाता है, निष्फल नहीं जाता। अतः, यहाँ केवल धनुष-मात्र का चढ़ाना कहा गया है।

प्रभु द्वंद्व-प्रविष्ट हैं, अतः, बालि-वध के लिये दूसरा बाण नहीं ले सकते। इस युद्ध-नीति से यह बाण हाथ में लिये हुए हैं कि यदि कोई बालि के पक्ष का आ जाय, तो उसे मारूँ।

(३) 'पुनि पुनि चितइ···'—श्रीरामजी का स्वरूप मनोहर है, इसलिये वह बार-बार देखता है ; यथा—"पुनि पुनि रामहि चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।" (बा० दो० २१९) ; दर्शनों से उसकी तृप्ति नहीं होती ; यथा—"दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०) ; इसीसे बार-बार देखता है। यह तो उसकी हार्दिक प्रीति के अनुसार 'पुनि-पुनि चितइ' का भाव है।

पुनः बाहरी वृत्ति से जो वह कठोर वचन कहेगा, तदनुसार भी बार-बार देखता है कि ये तो सब उत्तम लक्षणों से युक्त हैं, फिर भी इन्होंने मेरे साथ विषमता क्यों की ? नीति के अनुसार मुझसे क्यों न पूछ लिया ? फिर देखता है कि सुग्रीव से इनका कौन कार्य होगा ? "यदि हमसे कहे होते, तो हम तुरत रावण को बाँधकर श्रीसीताजी को ला देते।" (वाल्मी० ४।१७।४७-४८)। छिपे क्यों रहे ? इत्यादि भावों का विचार करता हुआ बार-बार देखता है।

(४) 'चरन चित दीन्हा'—अंतरंग प्रीत्यात्मक दृष्टि से देखता है कि मैं इनके किस अंग का ध्यान करूँ ? मन में निश्चय करके उसने चरणों में ही चित्त लगाया। बहिरंग-दृष्टि से भी सोचता है कि इन्होंने जो कुछ भी किया है वह यथार्थ ही होगा, क्योंकि लक्षणों से ये साक्षात् ईश्वर ही प्रतीत होते हैं और ईश्वर के सब कार्यों को जीव समझ भी तो नहीं सकता। अतएव उसके विधान न्यायपूर्वक ही होते हैं, ऐसा विश्वास करके उसमें प्रीति करनी चाहिये ; यथा—"अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहि भजहिं तरक सब त्यागी॥" (लं० दो० ७२) । इसी से उसने दास्य-भाव से चरणों में ही चित्त लगाया और इसी में अपने जन्म को सफल माना ; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम।" (वि० १३१) ; 'प्रभु चीन्हा'—बालि ने श्रीवत्स आदि प्रभु के चिह्नों से उन्हें ईश्वर जाना, अथवा मुझे एक ही बाण से मारकर व्याकुल कर दिया, अतएव ये नर नहीं हैं, ईश्वर ही हैं ; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (लं० दो० ३२)।

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥४॥
धर्म-हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥५॥
मैं बैरी सुग्रीव पियारा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥६॥

अर्थ—हृदय में प्रीति है, पर मुख में कठोर वचन लिये हुए हैं, वह श्रीरामजी की ओर देखकर बोला॥४॥ हे गोसाईं ! आपने तो धर्म के लिये अवतार लिया है, पर मुझे व्याध की तरह (छिपकर

क्यों) मारा, (इससे आपको कौन सा धर्म का लाभ हुआ ?) ॥५॥ मैं वैरी हूँ ? सुग्रीव प्यारा है ? हे नाथ ! आपने किस अवगुण से मुझे मारा ? ॥६॥

विशेष—(१) 'मुख बचन कठोरा'—ऊपर कहा गया कि वालि बाह्य-वृत्ति से ही कठोर वचन कह रहा है, किन्तु प्रत्युत्तर से श्रीरामजी को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। पर साथ-ही साथ लोक-शिक्षा के लिये यह भाव भी है कि इसका कायिक अभिमान बाण लगने से ही न रहा, 'हृदय प्रीति' से मानसिक शुद्धि भी है ही, रह गई वाचिक, उसे भी श्रीरामजी इसको निरुत्तर करके तोड़ेंगे; यथा—"बधु बधू रत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि ॥" (दोहावली १५०), 'बोला चितइ ·'—श्रीरामजी की ओर देखकर अभिमान-पूर्वक बोला, क्योंकि बालि को बुद्धि का अभिमान है कि मानों श्रीरामजी उत्तर दे ही न सकेंगे।

(२) 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं'—"गोसाईं" शब्द व्यंग्यात्मक भी है कि आपने तो पृथिवी का भार उतारने के लिये अवतार किया है, आप गो (पृथिवी) के स्वामी अर्थात् क्षत्रिय हैं। पर व्याधे की तरह किसी वीर को अनजाने मारना क्षत्रिय का धर्म नहीं है, इससे तो आप स्वयं अधर्मी होकर पृथिवी का भार हो रहे हैं, तो आपको पाकर भी पृथिवी अनाथ ही रह गई, क्योंकि अधर्मी राजा के रहने से पृथिवी सनाथ नहीं होती; यथा—"त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा। प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥" (वाल्मी० ४।१७।४०)। धर्म के लिये ही आपने अवतार लिया, पर यह तो आपने उसके प्रतिकूल ही किया।

(३) 'मैं बैरी सुग्रीव पियारा।····'—आपने समदर्शी होते हुए भी मुझे वैरी और सुग्रीव को प्यारा समझा—यह अधर्म किया। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मुझे बिना अवगुण के (सिद्ध किये) मारा, यह आपने नीति-विरुद्ध किया—यह भी अधर्म है। भाव यह कि भाई-भाई हम दोनों लड़ते थे, आपको दोनों का न्याय करना उचित था, न कि किसी एक का पक्ष लेना। (क) व्याध की नाईं मारना, (ख) विषम दर्शी होना, (ग) बिना अवगुण (दोष) सिद्ध किये मारना। यहाँ बालि इन तीन बातों के उत्तर चाहता है।

अनुज-बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥७॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई ॥८॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ॥९॥
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ॥१०॥

अर्थ—अरे शठ ! सुन, छोटे भाई की स्त्री, बहन, पुत्र की स्त्री और कन्या ये चारों समान हैं ॥७॥ इन्हें जो बुरी दृष्टि से देखे, उसका वध करने से पाप नहीं होता ॥८॥ अरे मूर्ख ! तुझे अत्यन्त अभिमान है, तूने स्त्री की शिक्षा पर कान नहीं दिये, अर्थात् नहीं माना ॥९॥ मेरे बाहु बल के आश्रित जानकर भी उस सुग्रीव को, अरे अधम अभिमानी ! तूने मारना चाहा था ॥१०॥

विशेष—(१) 'अनुज-बधू भगिनी ·'—'अनुज बधू' ही पहले कहा गया, क्योंकि यहाँ उसी का प्रस्तुत प्रसंग है। इनपर कुदृष्टि-मात्र रखनेवालों का वध उचित है, फिर तूने तो भाई के जीते जी ही उसकी स्त्री को अपनी भार्या मानकर काम-भाव से ग्रहण किया। ऐसे दोष का दंड वध ही है और उचित दंड

देना मेरा धर्म है, इसी से मैंने तुझे मारा। यदि न मारता तो अधर्म होता; यथा—"न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥ प्रचरेत नरः कामात्तस्य दंडो वधः स्मृतः।" (वाल्मी० ४।१८।२२-२३); अर्थात् कन्या, बहन और छोटे भाई की स्त्री के प्रति जो काम-भाव रक्खे, उसका दंड वध ही है। अतः, हम कुलीन क्षत्रिय होकर इस पाप को नहीं सह सके, इसलिये तुम्हें मारा है। पुनः—"अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥" (मनु०); अर्थात् जो राजा अपराधियों को दंड न दे और निरपराधियों को दंड दे, वह अपयश का भागी होता है और साथ ही नरक को जाता है।

(२) 'जोई'—यदि बालि कहे कि यह धर्म-विधान आपके समान श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, किन्तु मैं तो वानर हूँ, तो कहते हैं कि 'जोई' इन्हें कुदृष्टि से देखे, वही दंडनीय है। पुनः यदि वह ऐसा कहे कि हम भाई-भाई लड़ते थे तो आपने मुझे क्यों मारा ? उसपर कहते हैं कि ऐसे पापी को 'जोई' (कोई भी) मारे तो उसे पाप नहीं होगा। क्योंकि पर-स्त्री हरनेवाला आततायी है और—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधो दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।" (मनु० ८।३५०-३५१); अनिष्ट करने को आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार डालने से मारनेवाले को दोष नहीं होता। आततायी के लक्षण; यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः॥" (वसिष्ठस्मृति ३।१६); अर्थात् आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लिये हुए मारने को उद्यत, धन-हरण करनेवाला, जमीन (खेत) छीननेवाला और स्त्री का हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं। इनमें अन्तिम तीन प्रकारों से बालि आततायी है। 'अविचारयन्' में छिपकर मारने का भी उत्तर आ गया है कि बिना विचारे चाहे जैसे मारे, उसे दोष नहीं होता।

वाल्मी ४।१८।३२-३३ में दो श्लोक मनुस्मृति के हैं, जिनका भाव यह है कि पापी मनुष्य राजा के द्वारा पाप का दंड भोगकर निष्पाप हो जाता है और पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग को जाता है। शारीरिक दंड एवं निर्वासन से चोर आदि पापी मुक्त हो जाते हैं। राजा यदि दंड न दे, तो वही उस पाप का भागी होता है॥

इस दृष्टि से एक ही बाण से मार मैंने तुम्हें शुद्ध करके परधाम के योग्य बनाकर धर्म किया है। इसमें पाप नहीं; यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम्॥" (वाल्मी० ४।१७।८), अर्थात् वह अस्त्र उस वीर बालि को स्वर्ग में ले जानेवाला हुआ, श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए बाण ने उसे उत्तम गति दी। यह बालि के उपर्युक्त पहले प्रश्न का उत्तर हुआ। इसमें "धरम हेतु······" का उत्तर हो गया।

'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'।' का वाचिक उत्तर तो हुआ, परन्तु हृदय-ग्राही नहीं हो सका, नहीं तो श्रीगोस्वामीजी स्वयं ऐसा न कहते ; यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० १६६); "का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निर्बाहु। जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९१)। बालि ने भी इसे बरियाई का ही उत्तर माना है ; यथा—"सुनहु राम स्वामी सन···" इसका यथार्थ उत्तर वही है, जो पूर्व दो० ५ चौ० १४ पर करुणा-गुण-परक कहा गया है।

(३) 'मूढ़ तोहि अतिसय · मम भुज···'—'नारि' (तारा) की शिक्षा में श्रीरामजी का ऐश्वर्य-कथन है। बालि 'समदरसी रघुनाथ'—जानकर भी उनके आश्रित को मारने चला, इसीसे 'महा-अभिमानी' कहा गया, फिर श्रीरामजी ने अपनी ओर से श्रीसुग्रीवजी को अपने आश्रित होने का चिह्न-रूप

'सुमन की माला' पहना और विशाल बल देकर अपनेको स्वयं भी जनाया, तो भी वालि ने उनके आश्रित को मारना चाहा, इससे उसका अभिमान चरम कोटि को पहुँच गया, इसी से उसे 'अधम अभिमानी' कहा गया है। अधम-अभिमानियों के वध के लिये ही प्रभु का अवतार है ; यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥···तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥" (बा० दो० १२०) ; अर्थात् वालि अधम-अभिमानी है, अतः उसे मारकर प्रभु ने धर्म की ही रक्षा की है और साथ ही उन्होंने भक्तों की पीड़ा का भी हरण किया है। उसने स्त्री की शिक्षा नहीं मानी, इससे उसे 'मूढ़' कहा गया और प्रभु के आश्रित को मारना चाहा ; इससे 'अधम-अभिमानी' हुआ। श्रीरामजी तो भक्तों का अभिमान नहीं रहने देते, यहाँ तक कि श्रीनारदजी का भी अभिमान दूर करने में उन्होंने जो कठोर व्यवहार किया—प्रसिद्ध ही है।

'मैं बैरी सुग्रीव पियारा' का उत्तर यहाँ दिया है कि तू हमारे आश्रित को मारना चाहा था, इसी से तू 'मम बैरी' है ; यथा—सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८) ; और 'सुग्रीव पियारा' है ; यथा—"रामहिं सेवक परम पियारा।" (अ० दो० २१८)। प्रभु के आश्रितों से द्रोह करना अवगुण है। इसमें 'अवगुन कवन' का भी उत्तर हो गया।

दोहा—सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंत काल गति तोरि ॥९॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! सुनिये, स्वामी से मेरी चतुराई चल नहीं सकती, हे प्रभो ! मुझे अंतकाल में आपकी गति (शरण) प्राप्त हुई, तो क्या अब भी मैं पापी हूँ ? (अर्थात् मैं आपकी शरण हूँ और इसी से अब मुझमें पाप नहीं रह गया।) ॥९॥

विशेष—'स्वामी सन चल न चातुरी'; यथा—"प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।" (वाल्मी० ४।१८।४१), अर्थात् श्रेष्ठों के सामने छोटे बोल भी नहीं सकते। 'अंतकाल गति तोरि'; यथा—"मामप्यवगतं धर्माद्व्यतिक्रांतपुरस्कृतम्। धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥" (वाल्मी० ४।१८।५०); अर्थात् सबसे बड़ा धर्म-त्यागी मैं भी आपके यहाँ आया हूँ। हे धर्मज्ञ ! धर्मयुक्त वचनों से आप मेरी रक्षा करें। 'अजहूँ मैं पापी' ? अर्थात् आपकी शरण होते ही सब पाप नाश हो जाते हैं ; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥" (सुं० दो० ४४) ; पुनः ऊपर चौ० ७-८ के प्रसंग में मनुस्मृति के दो श्लोकों के भाव कहे गये हैं कि राज-दंड मिलने पर प्राणी पापों से मुक्त हो जाते हैं, उस दृष्टि से भी वालि ने कहा कि क्या आपके बाणों से दंडित होने पर भी मैं पापी ही हूँ ? अर्थात् अब मुझे पापी न कहिये। फिर जब अंत समय में आप मेरे सम्मुख प्राप्त हैं, तो मैं पापी कहाँ रहा ? यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सात हयजान सों।" (गी० सुं० ४४)।

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि-सीस परसेउ निज पानी ॥१॥
अचल करउँ तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥२॥

अर्थ—बालि की अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही श्रीरामजी ने बालि के शिर पर अपना हाथ

फेरा ॥१॥ (और बोले कि) मैं तुम्हारी देह को अचल करता हूँ, तुम प्राण रक्खो (जीने की इच्छा करो)। बालि ने कहा कि हे कृपानिधान ! सुनिये ॥२॥

विशेष—(१) 'अति कोमल बानी'—बालि ने अंत में दीन होकर कहा—"प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंतकाल गति तोरि।" ये उसके अत्यंत कोमल शब्द हैं। श्रीरामजी के द्वारा बाण से मारे जाने पर भी उन्हें 'स्वामी' कहा और पूर्ण आदर का भाव रक्खा, इसी से 'अति कोमल बानी' यह कहा गया है। पहले उसने 'मुख बचन कठोरा' कहा था, उस वाग् दोष की भी निवृत्ति अब हो गई। 'बालि सीस परसा निज पानी।'—बालि के विशेष नम्र वचनों को सुनकर प्रभु ने आश्वासन देते हुए उसके शिर पर हाथ फेरा है। प्रायः भक्तों के शिर पर फेरे जानेवाले हाथ की कमल से उपमा दी जाती है; यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (दो० १२); "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।" (उ० दो० ८१); किन्तु जहाँ युद्ध की कठोरता के प्रसंग हैं, वहाँ हाथ की उपमा कमल से नहीं रहती; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" (दो० ७); इन दोनों भेदों के उदाहरण—"कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहउ नाथ सीस मेरे···" (वि० १३८); इस पूरे पद में देखने योग्य हैं। यहाँ भी युद्ध-प्रसंग होने से कर के साथ कमल विशेषण नहीं है।

(२) 'अचल करउँ तनु······'—बालि ने कहा था—'मारेहु मोहि', 'नाथ मोहि मारा' इसपर कहते हैं कि मैंने तुम्हारे तन में बाण मारा है, सो उसे अचल किये देता हूँ, तुम प्राणों को रक्खो। भाव यह कि मेरी प्रतिज्ञा है; यथा—"ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरहिं प्रान।" पर मैं तो ब्रह्म-रुद्र से परे हूँ। अतः, मेरी शरण आने पर तुम्हारे प्राण रह सकते हैं। इस तरह अचल तन से चिर-जीवित रहो। 'कृपा निधाना'—में बालि का कथन है कि मुझ पापी पर कृपा की, दर्शन दिये, शिर पर हाथ रक्खा, इत्यादि। वह शरीरत्याग को ही श्रेष्ठ मानता है, और इसी को आगे कहा है—

जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥३॥
जासु नाम-बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी ॥४॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥५॥

अर्थ—मुनि जन्म-जन्म अभ्यास करते हैं, (तो भी) अंत समय 'राम' नहीं कह आता (यह ऐसा दुर्लभ है) ॥३॥ जिसके नाम के बल से श्रीशंकरजी काशी में सबको समान अविनाशिनी मुक्ति देते हैं ॥४॥ वही प्रभु मेरे नेत्रों के विषय-रूप में आकर प्राप्त हुए। हे प्रभो ! क्या फिर ऐसा (संयोग) बनाने से बनेगा; अर्थात् ऐसी उत्तम मृत्यु फिर बनाने से नहीं बन सकेगी ॥५॥

विशेष—(१) 'जन्म-जन्म मुनि······'—अंतकाल आपके रूप की प्राप्ति तो दुर्लभ है ही, आपके नाम की प्राप्ति के लिये भी मुनि लोग जन्म-जन्म निरन्तर यत्न (अभ्यास) करते रहते हैं, जिससे वे मुक्त होकर आपको पावें; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); "जाकर नाम मरत मुनि-दुर्लभ तुम्हहि कहाँ पुनि पैहौं।" (गी० आ० १३)।

(२) 'जासु नाम-बल संकर कासी।···'—मुक्ति की एक अवस्था (जीवन्-मुक्ति) नाशशील भी होती है; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (उ० दो० १२); वैसी गति श्रीशिवजी नाम के द्वारा नहीं देते, किन्तु अविनाशिनी गति देते

हैं ; यथा—"मुकुत भइ जहँ नहि फिरे ।" (आ० दो० ३१) ; "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गीता १५।६) ; 'समगति' ; यथा—"जो गति अगम महा मुनि दुलभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सो गति मरन काल अपने पुर देत सदा सिव सबहि समान ॥" (वि० ३) ; "जो गति अगम महा मुनि गावहिं । तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ॥" (वि० ७) ; शंकर=कल्याण-कर; भाव यह कि आप तो जीवमात्र को एक समान ऐसी उत्तम गति देकर उनका कल्याण करते हैं ।

पहले कहा गया है कि अंतकाल में राम-नाम कहने से मुक्ति होती है, फिर कहते हैं कि श्रीशिवजी के द्वारा सुनने से मुक्ति होती है, अर्थात् कहने और सुनने दोनों ही से मुक्ति होती है ।

(३) 'मम लोचन गोचर'''—भाव यह कि मुनि लोग और काशी वासी लोग आपके नाम ही को पाते हैं और उसके द्वारा मरने पर फिर कहीं नित्य-धाम में रूप को पाते हैं और मुझे तो यहीं आँखों के आगे आप स्वयं प्राप्त हैं, तो मेरा-सा भाग्य उन लोगों का भी नहीं है ।

छंद—सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं ।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं ।
मोहि जानि अति अभिमानबस प्रभु कहेउ राखु सरीरही ।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही ॥

अर्थ—जिसका गुण 'नेति' (=यही नहीं, इतना ही नहीं जो मैंने कहा है) कहकर श्रुतियाँ सदा गाया करती हैं और जिन्हें, पवन और मन को जीतकर एवं मन और इन्द्रियों को नीरस (शब्दादि विषयों से विरक्त) करने पर मुनि लोग कभी, कहीं ध्यान में पाते हैं, वे ही आप मेरे नेत्रों का विषय हुए ; अर्थात् मेरे आगे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं ॥ मुझे अत्यन्त अभिमान के वश जानकर, हे प्रभो ! आपने कहा कि अपने शरीर को रख । ऐसा कौन शठ होगा, जो हठ-पूर्वक कल्प-वृक्ष को काटकर उससे बबूल की बारी बनायेगा , अर्थात् उससे बबूल को रूँधेगा ॥

विशेष—(१) 'जिति पवन मन गो निरस करि ''''—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—ये पंच प्राण कहलाते हैं । इन्हें ब्रह्माण्ड पर चढ़ा लेना इनका जीतना है । मन को वश एवं एकाग्र करना उसे जीतना है । मन का जीतना और नीरस करना दोनों ही कहे गये हैं ; यथा—"रे मन सबसों निरस ह्वै, सरस राम पद होहि ।" (दोहावली ५१) ; "जीतहु मनहि सुनिय अस, रामचन्द्र के राज ।" (उ० दो० २२) ।

पहले पवन जीता जाता है, तब मन और फिर इन्द्रियाँ नीरस होती हैं, तब ध्यान किया जाता है, वैसे ही क्रम से कहे गये हैं । मन और पवन एक-दूसरे के सापेक्ष हैं, इसीसे साथ जीते जाते हैं । यथा—"दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि । यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिः ॥" (हठप्रदीप) ; इसी से दोनों साथ लिखे गये हैं । 'मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं' ; यथा—"जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥" (अ० दो० २०६) ।

तात्पर्य यह है कि जिनका नाम मुनियों को दुर्लभ, गुणवेदों को दुर्लभ और ध्यानयोगियों को दुर्लभ है, वे ही आप मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं।

(२) 'मोहि जानि अति''''''—प्रभु ने कहा था—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" इसी पर बालि ने कहा—'मोहि जानि''' 'प्रभु' अर्थात् आप मेरे शरीर को अचल करने में समर्थ है।

(३) 'कौन सठ हठि काटि सुरतरु'' '''—आपकी प्राप्ति कल्प-वृक्ष के समान चारों फलों को देनेवाली है, उससे इस नश्वर देह की अचलता चाहना मानों कल्पवृक्ष से बबूल रूँधना है। यहाँ शरीर को बबूल कहा गया है, क्योंकि इसमें सुख-दुःख-रूपी काँटे भरे हुए हैं। भगवान् से देह-सुख चाहना, कल्प-वृक्ष से बबूल रूँधना है, ऐसा तो शठ ही कर सकता है।

बालि किसी भी तन से भक्ति ही चाहता है, तो उसे यह तन भी रखना अनुकूल ही होता, पर इसको नाश करने को प्रभु-प्रतिज्ञा जानकर ही उसने तद्विरुद्ध इच्छा नहीं की।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ राम-पद अनुरागऊँ।
यह तनय मम सम बिनय-बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिये॥

दोहा—राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु-त्याग।
सुमन-माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानइ नाग॥१०॥

अर्थ—हे नाथ! अब मुझपर करुणा करके देखिये और जो वर माँगता हूँ वह दीजिये। कर्म के वश जिस योनि में मेरा जन्म हो, वहाँ राम-पद में मेरा अनुराग हो॥ हे प्रभो! हे कल्याण-दाता! यह मेरा पुत्र विनय और बल में मेरे ही समान है। इसकी बाँह पकड़ लीजिये (अर्थात् इसे मैं आपको सौंपता हूँ) और, हे सुर-नर-नाह! अंगद को अपना दास बनाइये॥ श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति करके बालि ने (इस तरह) देह त्याग की, जैसे हाथी अपने गले से फूल की माला का गिरना न जाने; अर्थात् बालि को शरीर-त्याग का कुछ भी दुःख नहीं हुआ॥१०॥

विशेष—(१) 'अब नाथ करि करुना'''—श्रीरामजी ने तन अचल करने को कहा है, परंतु यह उनकी कृपा-दृष्टि नहीं है। वह सोचता है कि मैंने इनके आश्रित को मारना चाहा था, इसी से अभी तक प्रभु के नेत्र क्रोध से लाल हैं; यथा—"अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' ऊपर कहा गया है। इसलिये बालि ने विनती की कि हे नाथ! करुणा करके देखिये। 'देहु जो बर माँगऊँ'—का भाव यह है कि आपने जो—'अचल करउँ तन''' का वरदान देने को कहा है, यह मैं नहीं चाहता, किन्तु मैं जो वही वर मुझे दीजिये। प्रभु की दृष्टि को करुणापूर्ण कराके तब माँगा, क्योंकि उसे दुर्लभ वर .

(२) 'जेहि जोनि जनमउँ···'—भाव यह कि तन कोई भी क्यों न हो, मुझे आपका पदानुराग रहे। भक्त लोग किसी भी रीति से भगवान् का संयोग ही चाहते हैं ; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि०२३१) ; तथा—"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्। तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥" अर्थात् विह्वल चित्त से एक भक्त विधाता से प्रार्थना करता है कि पाँचों तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही, हे प्रभो ! आप इतना कर दीजिये कि जल प्रियतम के कुंड में, अग्नि उनके दर्पण में, पृथिवी उनके मार्ग में, वायु उनके पंखे में और आकाश-तत्त्व उनके आँगन में जाकर मिल जायँ।

(३) 'यह तनय मम सम ···'—उसी समय अंगद भी वहाँ आ गये थे। 'मम सम बिनय बल'—का भाव यह है कि अंगद आपके कार्य के योग्य है। 'कल्यानप्रद'—इसका भी कल्याण कीजिये। 'लीजिये गहि बाँह'—बाँह पकड़कर इसे अपनाइये ; यथा—"तुलसी तृन जल कूल को, निरधन निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै बाँह गहे की लाज॥" (दोहावली ५११) ; अर्थात् बालि के मन में यह भाव है कि अंगद की बाँह पकड़ने से इसकी रक्षा का पूर्ण भार इन्हीं के ऊपर रहेगा और श्रीसुग्रीवजी के बाद इसे ही राज्य मिलेगा। 'सुर-नर-नाह'—जैसे आप सुर-नर की रक्षा करते हैं, वैसे ही इसकी भी रक्षा करें। अथवा आपकी सेवा तो बड़े-बड़े देवता और मनुष्य करते हैं, यह कौन विशेष सेवा करेगा ? पर मेरे वर माँगने से आप इसे अपना दास बना लीजिये।

(४) 'राम-चरन दृढ़ प्रीति करि···'—'दृढ़ प्रीति' ; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ *सब के ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥*" (सुं० दो० ४७) ; बालि ने पहले प्रभु से राम-चरण-अनुराग माँगा, तब पुत्र को उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो गया और अब सभी ओर से ममता खींचकर उसने राम-चरण में दृढ़ प्रीति की, इसीसे मरने का दुःख उसे नहीं हुआ। जैसे हाथी की सूँड़ से माला खिसक पड़े, वैसे ही अनायास शरीर छूट गया।

'सुमन माल जिमि ···'—यहाँ ध्वनि से वाल्मी० ४।२३।१५–१७ में वर्णित इन्द्र की दी हुई माला का देना भी जनाया गया, जिसे बालि ने अंत समय में श्रीसुग्रीवजी को दिया था। वह माला दिव्य थी, बालि के पहने हुए ही शरीर त्याग होने से वह प्रभा-हीन हो जाती। इसलिये सौहार्द से बालि ने पहले ही इन्हें माला दे दी।

मानस में पञ्चसंस्कार

इस ग्रंथ के सातों कांडों में किष्किंधाकांड मध्य का है, अतएव यह समग्र ग्रंथ का हृदय-रूप कहा जाता है। इसके पहले के तीन कांड ऊपर के और पीछे के तीनों नीचे के ढकन हैं। इस तरह के बने डब्बे में यत्नपूर्वक रक्खे रत्न की तरह यह कांड है। पुनः "बालकांड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किंधा सोहै।" ऐसा भी कहा गया है। इससे ग्रंथकार ने अपना (वैष्णवों का) परम रहस्य-रूप पंच संस्कार इसी में गुप्त रीति से सजा रक्खा है। नाम, कंठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा (धनुष-बाण) और मंत्र, ये ही पञ्च संस्कार हैं। नाम ; यथा—"आपन दास अंगद कीजिये" इसपर श्रीरामजी ने अंगद की बाँह पकड़ी और उसे अपना दास माना। कंठी ; यथा—"मेलो कंठ सुमन की

माला ।"—इसमें 'सुमन को' पद श्लिष्ट है । 'मनका' माला के बड़े-बड़े दाने को कहते हैं, और 'मनकी' छोटे दाने को, जिनकी कंठी बनती है । सु उपसर्ग यहाँ उत्तम काष्ठ के अर्थ से तुलसी को 'मनकी' का बोधक है । उसकी माला जब कंठ में मेली जायगी, तो दोहरा होने पर ही कंठ से संलग्न रहेगी, अन्यथा हृदय पर लटक जायगी । ऊर्ध्वपुण्ड्र; यथा—"पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हें । सुफल जनम माना प्रभु चीन्हें ॥" ऊर्ध्वपुण्ड्र भी 'हरिपादाकृति' ही है, यहाँ बालि के प्रभु-चरणों में चित्त देने का वही भाव है । इसी ऊर्ध्वपुण्ड्र से वैष्णव लोग अपने जन्म की सफलता भी मानते हैं । इसे ही 'प्रभु चीन्हें' अर्थात् प्रभु का चिह्न भी मानते हैं । मुद्रा; यथा—बाण से प्रभु ने बालि के सब पापों का नाश किया और उसी से उसे परम पद भी दिया; यथा—"ददर्श तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् । रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम् ॥" (वाल्मी० ४।१७।८); (अर्थ ऊपर कहा गया है ।); बाण के माहात्म्य के साथ-साथ धनुष का भी है । मंत्र; यथा—"जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥ जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥" इसमें एक अर्द्धाली में मंत्र का जपना और दूसरी में शिवजी के द्वारा कान में मंत्र का सुनाया जाना कहा गया है । मंत्र और नाम अभेद हैं; यथा—"सर्वेषां राममंत्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम् । षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम् ॥" (मत्स्यपुराण); पुनः राम-नाम राममंत्र का बीज है, मंत्र का अवशिष्ट अंश बीज का विवरण (अर्थ) है । 'जन्म जन्म मुनि…'—'जन्म-जन्म' अर्थात् नित्य प्रातःकाल, क्योंकि सोकर जागना जन्म के समान माना जाता है, इसी से प्रातःकाल प्राण-प्रतिष्ठा और भूत-शुद्धि आदि विधियाँ की जाती हैं । 'मुनि' अर्थात् मंत्र का अर्थ मनन करते हुए । 'जतन कराहीं' अर्थात् गुप्त रूप से जप करते हैं । 'अंत राम कहि'—अंतकाल तक नित्य ऐसे 'राम' कहते (जपते) हुए । 'आवत नाहीं'—फिर संसार में नहीं आते । दूसरी अर्द्धाली में शिवजी का मंत्रोपदेश देना स्पष्ट ही है; यथा—"रुद्रो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम् ।" (रामतापनीय ४०); मंत्रोद्धार सर्वत्र गुप्त ही रहता है, वैसे यहाँ भी है, विस्तार-भय से सूक्ष्म में ही कहा गया । इन पाँचों संस्कारों का रहस्यात्मक वर्णन मेरे ग्रंथ 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' में देखें ।

राम बालि निज धाम पठावा । नगर लोग सब ब्याकुल धावा ॥१॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा । छूटे केस न देह सँभारा ॥२॥
तारा बिकल देखि रघुराया । दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बालि को निजधाम (परम गति) भेज दिया, नगर के सब लोग व्याकुल होकर दौड़े ॥१॥ तारा अनेक प्रकार से विलाप कर रही है, उसके शिर के बाल छूटे हुए हैं, देह की सँभाल नहीं है ॥२॥ तारा को व्याकुल देखकर श्रीरघुनाथजी ने उसे ज्ञान दिया और माया हर ली ॥३॥

विशेष—(१) 'निज धाम'—बालि श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से निष्पाप हो गया, फिर उसने श्रीरामजी के दर्शन पाये और उनके चरणों में दृढ़ प्रीति करके शरीर-त्याग किया । अतः, प्रभु के 'निज धाम' (साकेत धाम) को गया । श्रीरामजी यहाँ खड़े हैं, अतएव उनका ही निज (स्वकीय) धाम का अर्थ लेना होगा; यथा—"ददर्श तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् । रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम् ॥" (वाल्मी० ४।१७।८); इसमें स्वर्ग शब्द नित्यधाम का वाचक है, क्योंकि आगे 'परमां गतिम्' स्पष्ट है । वाल्मीकीय रामायण की 'शिरोमणि' टीका में स्वर्ग शब्द का अर्थ, वैदिक प्रमाणों से, दशरथजी के सम्बन्ध में परधाम का ही किया गया है । जब उसने श्रीराम-चरण में दृढ़ प्रीति करके

प्राण छोड़े, तब तो—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३); "यान्तिमद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५); के अनुसार परमधाम अर्थ करना ही पड़ेगा। 'नगर लोग सब···'—"लोगों के व्याकुल होने का कारण उनका भय है कि अब हमलोगों को वालि-पक्ष का मानकर श्रीसुग्रीवजी वैर का बदला लेंगे"—वाल्मी० ४।१९ में कहा है। अथवा वालि उन्हें विशेष रूप से पालन करता था, अतएव प्रिय था। इससे उसकी मृत्यु सुनकर सब व्याकुल होकर दौड़े।

(२) 'नाना विधि बिलाप'' '—तारा का विलाप वाल्मी० ४।२०-२४ में विस्तार से कहा गया है, उसे ही *'नाना बिधि' से यहाँ सूचित किया गया। 'छूटे केस न देह संभारा'—से उसका शोक से व्याकुल* होना जनाया गया; यथा—"शोक-बिकल दोउ राज-समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ० दो० २७५); ज्ञान न रहा, इसीसे नाना प्रकार से विलाप करती है। धैर्य न रहने से देह की सँभाल नहीं है और लाज न रहने से केश छूट गये हैं।

"तारा सुषेण वानर की कन्या और वालि की स्त्री है, वालि ने श्रीसुग्रीवजी से कहा है कि तारा सूक्ष्म विषयों के विवेचन करने तथा नाना प्रकार के उत्पात-सूचक विषयों के जानने में अत्यन्त पटु है। इसकी सम्मति से किये गये कार्य अवश्य सिद्ध होते हैं।" (वाल्मी० ४।२२।१३-१४); पुराणों के अनुसार यह पंच-कन्याओं में-से है, *जिनका स्मरण मांगलिक माना जाता है।* अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मंदोदरी—ये ही पंच-कन्याएँ हैं।

(३) 'तारा बिकल देखि······'—श्रीरघुनाथजी कोमल स्वभाव के हैं। अतः, इसकी व्याकुलता पर उन्हें दया आ गई। इसी से उसे ज्ञान देकर उसका शोक निवृत्त किया; यथा—"सोक निवारेउ सबहि कर, निज बिज्ञान प्रकास॥" (अ० दो० १५६); प्रभु ने पहले ज्ञान देकर माया दूर की और जब उसने प्रभु से भक्ति माँगी तो उन्होंने दया-दृष्टि से विचारा कि मेरे सम्मुख प्राप्त होकर इसका शोक एवं अज्ञान रहना ठीक नहीं; इससे उन्होंने अपनी अलौकिक वाक्शक्ति से ज्ञान देकर उसका अज्ञान हर लिया।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा॥४॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥५॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु, इन पाँचो तत्त्वों से यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया है॥४॥ वह शरीर प्रत्यक्ष तेरे सामने सोया हुआ है और जीव नित्य है, तो तुम किसके लिये रो रही हो?॥५॥

विशेष—(१) 'छिति जल पावक······'—यहाँ तत्त्वों का वर्णन शरीर-रचना के क्रम से है जो—*'पंच रचित···' से स्पष्ट है। भाव यह कि माता का रज पृथिवी-तत्त्व है और पिता का वीर्य जल-तत्त्व* है। इनका खौलकर पिंड बन जाना अग्नि तत्त्व से होता है, उसमें का पोला भाग आकाश-तत्त्व है और फिर उसमें प्राण का आना वायु-तत्त्व है। पुनः सुन्दरकांड दो० ५८ में—"गगन समीर अनल जल धरनी।" यह क्रम कहा गया है, क्योंकि वहाँ पाँचों तत्त्वों के उत्पत्ति-क्रम के वर्णन का प्रसंग है; यथा—"तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु ··" (सुं० दो० ५८); और श्रुति में भी तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार कहा गया है; *यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः॥* आकाशाद्वायुः॥

वायोरग्निः ॥ अग्नेरापः ॥ अद्भ्यः पृथिवी ॥ पृथिव्या ओषधयः ॥ ओषधीभ्योऽन्नम् ॥ अन्नात्पुरुषः ॥" (तैत्तरीय० २।१)।

'अति अधम सरीरा ।'—जीव का सहज स्वरूप उत्तम है, वासनामय होने से कारण शरीर मध्यम है, सूक्ष्म-शरीर अधम है और पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर अति अधम है, क्योंकि वह सप्त धातुमय एवं अत्यंत विकारी है।

(२) 'प्रगट सो तनु तव आगे सोवा ।'—जिस तन के लिये तुम रोती हो, वह तो तुम्हारे सामने ही लेटा हुआ प्रकट है। इस देह का प्रकाशक जो जीव है, वह नित्य पदार्थ है। तब इस अनित्य पाञ्चभौतिक तन में नित्य पदार्थ सदा कैसे रह सकता है ? इसीलिये इसमें से उसका पृथक् होना अनिवार्य ही है और यही मरण कहा जाता है। जो बात अनिवार्य है, उसके लिये रोना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि अनित्य देह की कितनी ही रक्षा की जाय, वह नाश होगी ही और नित्य जीव को कोई कितना ही मारे-काटे उसका नाश हो ही नहीं सकता। इसपर गीता २।११-३० में (बीस श्लोकों में) सुन्दर व्याख्या है, उसे अवश्य देखना चाहिये। विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा गया।

'प्रगट'—देह प्रकट है और जीव अप्रकट है; यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥" (गीता २।२९); अर्थात् जीव इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना सभी आश्चर्यजनक हैं।

'जीव नित्य'; यथा—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥" (गीता २।२०); वाल्मीकीय ४।२४।४२-४४ में श्रीरामजी ने तारा को समझाया है, जिसका सारांश यह है कि बालि की मृत्यु के लिये विधाता का विधान इसी तरह का है। समस्त संसार उसी के विधानानुसार चलता है, ऐसा ही वेद का विधान है, तुम भी उसके इस विधान से संतुष्ट रहो, वीर-स्त्रियाँ वीर-गति-प्राप्त पति के लिये शोच नहीं करतीं।

इतनी ही बातों से पति-शोक में छाती पीटती हुई व्याकुल तारा को ज्ञान प्राप्त हो गया, यह श्रीरामजी की वाणी का ही प्रभाव है; यथा—"आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन ॥" (वाल्मी० ४।२४।४४)।

उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परमभगति बर माँगी ॥६॥

उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥७॥

तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म बिधिवत सब कीन्हा ॥८॥

अर्थ—जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब चरणों में लगी और वर माँगकर परम भक्ति ले ली ॥६॥ (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा ! गोस्वामी श्रीरामजी सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं; अर्थात् सब जीव श्रीरामजी की प्रेरणा से परस्पर वर्ताव करते हैं ॥७॥ (जब तारा ने ज्ञान-द्वारा परम भक्ति का वर माँगकर पति के साथ सहमरण का विचार छोड़ दिया) तब श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी और उन्होंने विधिपूर्वक बालि के सब मृतक-कर्म किये ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजा ज्ञान चरन तब···'—श्रीरामजी की वाणी के प्रभाव से तारा को उसी

त्पण ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब उसने पति के साथ सहमरण-रूपी पति-भक्ति को त्यागकर श्रीरामजी की परम भक्ति माँग ली, क्योंकि ज्ञान आदि सभी साधनों का फल हरि-भक्ति ही है; यथा—"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); तारा को ज्ञान तो श्रीरामजी ने स्वयं दिया, पर प्रभु-भक्ति उसे माँगने से मिली, क्योंकि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है; यथा—"सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत मद माया॥" (उ० दो० ५४), "प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥" (उ० दो० ८४); इत्यादि।

(२) 'उमा दारु-जोषित की नाईं। ···'—श्रीरामजी गोस्वामी अर्थात् इन्द्रियों के प्रेरक स्वामी हैं। अंतर्यामी-रूप से उन्हें प्रेरित कर सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं। जैसे कठपुतली नचानेवाला परदे की ओट से तार-द्वारा उसे नचाता है, वैसे ही श्रीरामजी नानात्व जगत् की ओट से गुण (सत्वादि एवं करुणा, वात्सल्य आदि) रूपी तार-द्वारा सबको नचाते हैं; यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥" (बा० दो० १०४); "यथा दारमयी योषि-नृत्यते कुहकेच्छया। एवमीश्वरतंत्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः॥" (श्रीमद्भागवत); अर्थात् जैसे नट की इच्छानुसार कठपुतली नाचती है, वैसे ही यह जीव ईश्वराधीन होकर सुख-दुःख के लिये चेष्टा करता है।

श्रीरामजी जीवों के कर्मानुसार गुण-रूपी तार (डोर) के द्वारा स्वेच्छा से सभी को नचाते हैं और वह तार दूसरों को नहीं दिखाई पड़ता, इसी तरह अपना भविष्य कोई नहीं जान पाता। जीव चेतन होते हुए भी प्रभु की इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता और न अपने यत्न से कुछ पाने ही में स्वतंत्र है, इससे यह जड़ के समान परतंत्र कहा गया है। ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान, भक्ति आदि प्राप्त कर सकता है। श्रीसुग्रीवजी के विषय में भी कहा गया है; यथा—"नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥" श्रीसुग्रीवजी पुरुष थे, इससे वहाँ मर्कट पुरुष रूप कहे गये। तारा स्त्री है, इसलिये कठपुतली कही गई। कपीश की बात खगेश से और तारा (स्त्री) की उमा से कही गई। दोनों जगह नचानेवाले प्रभु को 'राम' शब्द से कहा गया। 'रमु क्रीड़ायां' धातु के अनुसार राम शब्द क्रीड़ा-सूचनार्थ है। 'सबहि' शब्द दोनों जगह है और उसका अर्थ समस्त जगत् है। एक जगह जगत् को मर्कट-रूप में चैतन्य कहा और दूसरी जगह उसे दारुयोषित के रूप में जड़ कहा है। इस भेद का कारण यह है कि खगेश उपासना-घाट के हैं और उमा ज्ञान-घाट की हैं। उपासना की दृष्टि से प्राकृत चेष्टाएँ जीवों की अपनी हैं, इसमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि और उसके कार्य श्रीरामजी की कृपा से प्राप्त होते हैं। अतएव सब जीव मर्कट की तरह हैं; यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। (अ० दो० १३०); "निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूसै।" (वि० २६६)। ज्ञान दृष्टि से उभय प्रकार की चेष्टाएँ परमात्मा की ही सत्ता से होती हैं; यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (बा० दो० १२४)। अतः, सब जीव कठपुतली की तरह हैं; यथा—"सतरंज को सो साज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ···" (वि० २५६)।

(३) 'तब सुग्रीवहि···'—"श्रीसुग्रीवजी बालि की मृत्यु और तारा आदि का रोना देखकर करुणार्द्र हो आत्महत्या करने पर उद्यत हो गये, तब श्रीरामजी ने समझाया और प्रेत-कर्म के लिये उन्हें आज्ञा दी।" (वाल्मी० ४।२५।१-११)। 'विधिवत'—श्रीसुग्रीवजी ने बालि की अन्त्येष्टि क्रिया अंगद के द्वारा ही करवाई, क्योंकि पिता की क्रिया का श्रेष्ठ अधिकार पुत्र ही [illegible] शास्त्रोक्त विधियों से राजा के योग्य तैयारी से सभी विधान किये गये। वाल्मी० ४।२५ में [illegible] हैं।

सुग्रीव-राज्याभिषेक—प्रकरण

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई॥९॥
रघुपति-चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा॥१०॥

दोहा—लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन - बिप्र - समाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुबराज॥११॥

अर्थ—श्रीरामजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को समझाकर कहा कि जाकर सुग्रीव को राज्य दो॥९॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से सब चले॥१०॥ श्रीलक्ष्मणजी ने पुरजन और विप्र-समाज को शीघ्र बुलाया। श्रीसुग्रीवजी को राज्य और श्रीअंगदजी को युवराज-पद दिया॥११॥

विशेष—(१) 'समुझाई'—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से श्रीअंगदजी को युवराज-पद देने के लिये कहा और समझाया कि यदि उसे यह पद नहीं देंगे, तो लोग कहेंगे कि वालि तो अपना पुत्र इन्हें सौंप गया, पर इन्होंने उसका कुछ भी उपकार नहीं किया और हो सकता है कि पीछे श्रीसुग्रीवजी भी उसकी अवहेलना करें। अतः, उसके युवराज होने से हमारा कृपापात्र समझकर उसे पुत्र के समान सुख से रक्खेंगे। आगे स्पष्ट है; यथा—"राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ युवराज॥" यहाँ गुप्त रूप से कहने का कारण यह है कि श्रीरामजी का स्वभाव संकोची है, श्रीसुग्रीवजी के सम्मुख शीलवश यह नहीं कह सके कि श्रीसुग्रीवजी का पुत्र उत्तराधिकारी नहीं होगा। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे गुप्त ही रक्खा और कार्य हो जाने पर खोला।

(२) 'रघुपति चरन···'—चरणों में प्रणाम करके विदा होना शिष्टाचार है। 'रघुपति'—का भाव यह है कि एक तो सभी रघुवंशी धर्मात्मा हैं, फिर आप तो उनमें श्रेष्ठ हैं, अतएव धर्म और नीति के अनुसार ही किया। इस कार्य में सुग्रीव और वालि के वंश की भी भलाई की। 'प्रेरित रघुनाथा'—वालि के मारे जाने पर सभी विकल थे कि हमें वालि के पक्ष का (विरोधी) मानकर सुग्रीवजी के पक्षवाले दुःख देंगे। उसपर संकेत से श्रीरामजी ने लक्षित करा दिया कि अंगद का यौवराज्य भी होगा, तब सब प्रसन्न होकर कृतज्ञता से चरणों में प्रणाम करके चले।

(३) 'लछिमन तुरत बोलाये···'—स्वामी के आज्ञा-पालन में शीघ्रता एवं श्रद्धा से शीघ्र ही अभिषेक में बुलाये जाने योग्य पुरजनों और विप्रों को बुलाया। संभवतः मुहूर्त भी शीघ्रता का था और लौटकर शीघ्र ही स्वामी की सेवा में आना भी था। सबके समक्ष ही श्रीसुग्रीवजी को राज्य और अंगदजी को युवराज-पद दिया।

उमा राम-सम हित जग माहीं। गुरु-पितु-मातु-बंधु-प्रभु नाहीं॥१॥
सुर-नर-मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥२॥

अर्थ—हे पार्वती! संसार में श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु, पिता, माता, भाई

कोई नहीं है ॥१॥ देवता, मनुष्य और मुनि, सबकी यह रीति है कि स्वार्थ के लिये ही सब प्रीति करते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'उमा राम सम···' यह चौपाई वैदर्भी काव्य की रीति की है, जिसमें मधुर वर्णों द्वारा मधुर रचना की जाती है। इसमें दो-दो-दो अक्षरों के सब मधुर पद हैं।

इसमें कहा गया है कि श्रीरामजी सबसे बड़े हितकारी हैं, आगे अर्द्धाली—'सुर-नर मुनि···' से उसका हेतु भी कहा है कि सब स्वार्थ-दृष्टि से ही हित करते हैं, पर श्रीरामजी निर्हेतु कृपालु हैं ; यथा—"अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥" (वि० १६६) ; सुर-मुनि स्वार्थी हैं ; यथा—"जे सुर सिद्ध मुनीस जोग बिद बेद-पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥" (वि० २३६); नर; यथा—"सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत जब जाको काज तब मिलै पाय परिसो ॥" (वि० २६४)।

श्रीसुग्रीवजी का हित करने में श्रीरामजी का वास्तव में कोई स्वार्थ नहीं है ; यथा—"का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति निर्वाहु। जासु बंधु बध्यो व्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९१) ; "कपि सुग्रीव बंधु-भय व्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥" (वि० १६६) ; "दीन जानि तेहि अभय करीजै।" (दो० ४) ; यह श्रीहनुमान्जी ने कहा है।

शंका—यहाँ कहा गया कि श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु भी नहीं हैं, तो—"तुम ते अधिक गुरहि जिय जानी।···" (अ० दो० १२८) ; एवं—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" यह किस भाव से कहा है ?

समाधान—गुरु का महत्त्व ईश्वर-प्राप्ति के सम्बन्ध से है, गुरु की कृपा से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उनमें गुरुत्व-शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त रहती है, उस शक्ति-सम्बन्ध से उतने अंश में वे ही परब्रह्म हैं, दिव्य गुण उत्पन्न करने से ब्रह्मा, भक्ति-प्रदान-द्वारा शिष्य का पालन करने से विष्णु और मोहादि दुर्गुणों के संहार करने से गुरु शिव-रूप भी हैं। फिर भी वे अपने शिष्यों के लिये ही हैं। और ईश्वर का ऐश्वर्य सब पर है। भगवान् ने ही गुरु-सेवा को अधिक गौरव स्वयं दिया है कि जिससे जीव गण शीघ्र कृतार्थ हों, यह भी उनकी ही दया है। वास्तव में सब नातों द्वारा उन्हीं की प्रेरणा से कार्य होते हैं ; यथा—"जासों सब नाते फुरैं तासों न करी पहिचान।" (वि० १९०) ; "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपो तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनुहेतु हित नहिं तैं लखा ॥" (वि० १३५) ; इसी से कहा है—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानै दृढ़ सेवा ॥" (आ० दो० १५) ; तथा—"राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामि सनेही ॥" (क० उ० ३६) ; "जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।" (वि० ११३)।

यहाँ ईश्वरी सत्ता का महत्त्व कहा गया है। जहाँ गुरु को अधिक कहा है, वहाँ सौलभ्य गुण को लेकर कहा गया है ; जैसे—"कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।" (बा० दो० २२) ; इसमें भी नाम जप का फल रूप की प्राप्ति है, पर सौलभ्य अंश में अधिक कहा है।

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥३॥

सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर-सुभाऊ ॥४॥
जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं ॥५॥

अर्थ—जो (सुग्रीव) रात-दिन बालि के भय से व्याकुल रहता था, जिसके शरीर में बहुत घाव हो गये थे और चिन्ता के मारे जिसकी छाती जला करती थी ॥३॥ उसी सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया, रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव अत्यन्त ही कृपालु है ॥४॥ जो मनुष्य जानते हुए भी ऐसे प्रभु को छोड़ देते हैं, वे विपत्ति के जाल में क्यों न फँसेंगे ? ॥५॥

विशेष—(१) 'बालि त्रास व्याकुल ...'—श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं कहा है—"तदपि सभीत रहउँ मनमाहीं।"; "सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।" (दो० ५); 'तनु बहु व्रन'; यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५); इसी से तन में बहुत घाव हो गये थे। 'चिंता जरइ छाती'—यह भीतरी दुःख भी कहा।

(२) 'अति कृपाल'—श्रीरामजी ने किसी स्वार्थ दृष्टि से उसका हित नहीं किया, किन्तु दीन जानकर उसपर अत्यन्त कृपा की है, यथा—"बलि बली बल बालि दलि, सखा कीन्ह कपि राज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीब निवाज॥" (दोहावली १५८); अर्थात् बालि अत्यन्त बली था, स्वार्थ चाहते तो उसीको मित्र बनाते, उसने कहा भी है—"आप मुझे आज्ञा दिये होते, तो मैं रावण को एक ही दिन में गला बाँध कर ला देता, एवं श्रीजानकीजी को ला देता।" (वाल्मी० ४।१७।४९-५१); फिर उन्हें किसी से भी सहायता लेने की आवश्यकता ही क्या थी ?; यथा—"काम खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्। वशे दाशरथी कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते॥" (वाल्मी० ४।२६।२२); अर्थात् श्रीरामजी बाणों-द्वारा देवता, दैत्य और महानागों को अपने वश में कर सकते हैं, तो भी वे तुम्हारी (श्रीसुग्रीवजी की) प्रतिज्ञा को देख रहे हैं। जाम्बवान् ने भी कहा है—"तव निज भुज बल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥...राम सोवहिं आनि हैं।" (दो० ३०)। 'रघुबीर' अर्थात् वे पंच वीरता युक्त हैं उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

(३) 'जानत हूँ अस प्रभु...'—'जाल'—समूह तथा फँसानेवाला। 'प्रभु'—वे जाल काटने में समर्थ हैं। ऐसे कृपालु प्रभु को न भूलना चाहिये, यह उपदेश है। इस प्रसंग में यह भी भाव है कि आगे श्रीसुग्रीवजी कुछ भूल गये, इससे विषय जाल में फँस गये, तब श्रीलक्ष्मणजी के डाँटने से उन्हें चेत हुआ, इससे सबको सावधान रहना चाहिये।

पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृप-नीति सिखाई ॥६॥
कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा ॥७॥
गत ग्रीषम-बरषारितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई ॥८॥
अंगद-सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू ॥९॥

अर्थ—फिर श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार से राज-नीति की शिक्षा दी ॥६॥ फिर प्रभु ने कहा—हे कपीश सुग्रीव ! सुनो मैं चौदह वर्ष तक पुर (बस्ती) में नहीं

जाऊँगा ॥७॥ ग्रीष्म ऋतु बीत गई, वर्षा ऋतु आ गई, मैं आपके समीप ही पर्वत पर स्थिर निवास करूँगा ॥८॥ अङ्गदजी के साथ तुम राज्य करो, मेरा कार्य सदा हृदय से स्मरण रखना ॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि सुग्रीवहिं·····'—बुलाना पड़ा, क्योंकि राज्य पाते ही विषय के वश हो गये, श्रीरामजी के पास भी न आते थे। इसलिये उचित राजनीति की शिक्षा देने के लिये बुलाया। राज्य का योग कर दिया अब उसके क्षेम के लिये नीति सिखाते हैं। कहा भी है—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२); नीति, यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥ धरम हीन प्रभु-पद बिमुख, काल बिबस दस सीस। तेहि परिहरि गुन आये, सुनहुँ कोसलाधीस॥" (लं० दो० ३८); पुनः—"मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कहँ एक। पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित बिवेक॥ राज धरम सरबस एत नोई। ·····" (अ० दो० ३१५); "माली भानु किसानु सम, नीति निपुन नरपाल। प्रजा भागबस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥" (दोहावली ५०७); इत्यादि राजनीतियाँ नीति के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

(२) 'कह प्रभु सुनु·····'—इससे जान पड़ता है कि श्रीसुग्रीवजी ने घर पर पधारने की प्रार्थना की थी। उसपर प्रभु कहते हैं—'दस चारि' = १४ वर्ष तक मैं पुर (बस्ती) में नहीं जा सकता। प्रभु ने पहले 'दश' कहकर तब 'चारि' कहा, क्योंकि अधिक वर्ष बीत गये, अब थोड़े ही रह गये हैं। 'पुर' आदि के भाव अ० दो० ५३ और ८८ में भी देखिये। 'हरीसा'—श्रीसुग्रीवजी राजा हुए हैं, अतः सम्मान के लिये प्रभु ने स्वयं भी कहा है।

प्रभु ने श्रीसुग्रीवजी को यहाँ 'हरीसा', श्रीविभीषणजी को 'भ्राता' (लं० दो० ११५) और निषादराज को 'सखा सुजाना' (अ० दो० ८७) कहा है। उत्तरोत्तर अधिक सम्मान भी दिया है, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी बुलाने पर आये और श्रीविभीषणजी तो स्वयं आये और उन्होंने विनती भी विशेष की। निषाद-राज का प्रेम उन दोनों से भी अधिक है। इन्होंने तो अपना धरनि-धन आदि कुछ माना ही नहीं। इसी से विदाई के समय प्रभु ने इनका अधिक आदर किया है, इसी से कहा है—"सदा रहेहु पुर आवत जाता।" (उ० दो० १९)।

(३) 'गत ग्रीषम बर्षा ···'—ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म के ये दोनों महीने उद्योग के योग्य थे, पर वे बीत गये। वर्षा-ऋतु आ गई; अर्थात् श्रावण लग गया। वर्षा के चार महीने होते हैं, उन महीनों में जो जहाँ रहते हैं, वहीं रह जाते हैं। इस समय दुगम स्थानों में जाने के काम प्रायः बंद से रहते हैं; यथा—"पूर्वोयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः॥ नायमुद्योग-समयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्। अस्मिन्वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः॥" (वाल्मी० ४।२६।१४।१५), इससे शिक्षा भी है कि सब कार्य समय पर ही करना चाहिये; यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय हरन अपराध। समयहि साधे काज सब, समय सराहहि साधु॥" (दोहावली ४४८); इसका आशय यह है कि वर्षा के बाद वैसे वैसे काम करने चाहिये।

(४) 'रहिहउँ निकट' का भाव यह कि तुम घर पर चलने को कहते हो, पर वहाँ तो मैं नहीं आ सकता, हाँ, वियोग का भय न करो, पास ही रहूँगा। साथ ही यह भी भाव है कि नवीन राज्य पर विघ्न आना भी संभव है, तो रक्षा के लिये मैं पास ही हूँ।

(५) 'अंगद सहित करेहु·····'—अंगद की अवहेलना न करना, राज्य-कार्य में उसकी भी सम्मति

लेते रहना। इससे वालि के पक्ष की प्रजा भी तुम्हारे अनुकूल ही रहेगी। 'संतत हृदय'''—क्योंकि कार्य में बराबर चित्त रहने से वह भुलाता नहीं और तत्संबंधी बहुत सी युक्तियाँ भी सूझती रहती हैं। 'हृदय धरेहु'— भाव यह कि बिना उद्योग आरम्भ हुए प्रकट भी न हो, समय पर ही प्रकट हो।

शैल-प्रवर्षण-वास—प्रकरण

जब सुग्रीव भवन फिरि आये। राम प्रबरषन गिरि पर छाये ॥१०॥

दोहा—प्रथमहि देवन्ह गिरि-गुहा, राखेउ रुचिर बनाइ।
राम कृपानिधि कछुक दिन, बास करहिंगे आइ ॥१२॥

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप-निकर मधु-लोभा ॥१॥
कंद मूल फल पत्र सुहाये। भये बहुत जब ते प्रभु आये ॥२॥

अर्थ—जब श्रीसुग्रीवजी घर लौट आये, तब श्रीरामजी ने प्रवर्षण पर्वत पर स्थिर निवास किया ॥१०॥ देवताओं ने पहले ही से पर्वत की एक गुफा को सुन्दर बना रक्खा था कि कृपासागर श्रीरामजी आकर यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे ॥१२॥ फूला हुआ सुन्दर वन अत्यन्त सुशोभित है, मधु (पुष्प रस) के लोभ से भ्रमर-समूह गुंजार कर रहे हैं ॥१॥ जब से प्रभु आये, तब से सुन्दर कंद, मूल, फल और पत्ते बहुत हुए (क्योंकि ये प्रभु के काम आवेंगे) ॥२॥

विशेष—(१) 'राम प्रबरषन गिरि पर छाये।'; यथा—"आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्।" (वा० ४।२७।१)। प्रस्रवण प्रवर्षण का पर्याय है, अर्थात् जहाँ बहुत वर्षा होती है। यह पर्वत माल्यवान् गिरि का एक भाग है; यथा—"वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥" (वाल्मी० ४।२८।१); यह पर्वत किष्किंधा के पास ही है। इससे पूर्वोक्त—"रहिहउँ निकट सैल पर छाई।" यह चरितार्थ हुआ।

(२) 'प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा'''—यह देवताओं के द्वारा बनाई गई थी, इसी से 'गुहा' कही गई; यथा—"देवखातं बिले गुहा गह्वरम्" 'कृपानिधि'—क्योंकि इसमें रहकर श्रीरामजी हमारे श्रम को सफल करने की कृपा करेंगे।

प्रश्न—चित्रकूट में तो श्रीरामजी के पहुँचने पर कुटी बनाई गई। गोदावरी-तट पर भी कुटी में ही रहते थे। यहाँ गुहा क्यों बनी और पहले ही क्यों बनाई गई?

उत्तर—पहले चित्रकूट से श्रीरामजी के लौटने का भी संदेह था, इससे उनके आने पर बनाई गई। वह संदेह यहाँ नहीं है, क्योंकि बहुत समय बीत चुका है। वहाँ प्रभु 'प्रिया' सहित रहते थे, इससे पर्णशाला ही बनाई गई। यहाँ कंदरा का अनुकूल होना विचारकर उसे ही बनाया। वर्षा में बनाने में कठिनाई होती, इसीलिये पहले ही से उसे बना रक्खा था।

(३) 'सुंदर बन कुसुमित…'— वाल्मी० ४।२७-२८ (इन सर्गों) में इस वन का विस्तृत वर्णन है। यही 'सुंदर' शब्द से बताया। 'कुसुमित' है; अतः, 'अति सोभा' है। 'गुंजत मधुप-निकर…'— मधु पीने के लोभी हैं, इससे 'मधुप' कहा। मधुप = मधु पीनेवाले। यहाँ स्थावर की सेवा है।

आगे जंगम की सेवा कहते हैं—'मधुकर खग-मृग…' इत्यादि।

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज-सहित सुरभूपा ॥३॥
मधुकर खग-मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध-मुनि प्रभु की सेवा ॥४॥
मंगल-रूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते ॥५॥
फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई ॥६॥

अर्थ—मन को हरनेवाला अनुपम (एवं जल पूर्ण) पर्वत देखकर देवताओं के सम्राट् श्रीरामजी भाई के साथ वहाँ रह गये ॥३॥ देवता, सिद्ध और मुनि—भ्रमर, पक्षी तथा वन्य-पशु (वा, हिरण) के शरीर धारण कर-करके प्रभु की सेवा करने लगे ॥४॥ जबसे रमापति श्रीरामजी ने यहाँ निवास किया, तबसे यह वन मंगल-रूप हो गया ॥५॥ स्फटिक की एक अत्यन्त उज्ज्वल शिला सुशोभित है, उसी पर दोनों भाई सुख पूर्वक विराजमान हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'देखि मनोहर सैल…'—पहले वन की शोभा कहकर तब शैल का वर्णन है। अतः, वह वन पहाड़ पर है, यह निश्चय हुआ। अनूप का अर्थ उपमा-रहित है। इसका कारण 'अनूप' के श्लेषार्थ से ही निकलता है; यथा—"अनुगता आपो यस्मिंस्तदनूपम्। जलप्रायमनूपं स्यात्—इत्यमरः।" अर्थात् जलप्राय स्थान, जिसपर जल बहुत होता है, प्रवर्षण नाम से भी वही सिद्ध होता है।

'सुरभूपा'—क्योंकि देवांश रूप वानरों की रक्षा करते हुए यहाँ विराज रहे हैं। अपना रक्षक जानकर ही प्रत्यक्ष-रूप से देवताओं ने गुहा का निर्माण किया है। पुनः वे मधुकर आदि रूपों से सेवा भी कर रहे हैं।

(२) 'मधुकर खग-मृग…'—ये रूपान्तर से आये, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से सेवा करने से ऐश्वर्य खुलता और उससे ब्रह्माजी के वचन झूठे होते। पुनः मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजी देवताओं से सेवा लेते भी नहीं। वे लोग चित्रकूट में भी कोल-किरातों के रूप से आये थे, क्योंकि वहाँ पर्णकुटी बनानी थी; यथा—"कोलकिरात बेष सब आये। रचे परन तृन सदन सोहाये ॥" (अ० दो० १३३); और यहाँ श्रीरामजी विरही हैं, और उनके मन को रमाना है, इसीलिये भ्रमरादि रूपों से आये। भ्रमर अपनी सुन्दर गुंजार से, पक्षी अपनी मधुर सुरीली बोली से और मृग अपने सुन्दर नेत्र दिखाकर स्वामी की सेवा करते हैं; यथा—"मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी ॥"(अ०दो०१३०)।

यहाँ मुनि मधुप हैं, वेद-पाठ आदि उनकी गुंजार हैं, फिर मनन करनेवाले की तरह मौन हो जाते हैं। सिद्ध लोग पक्षी हैं, इनका एक जगह से दूसरी जगह पर उड़कर जाना, सिद्धि बल से स्थानांतर को जाने की तरह है। देवता मृग हैं, विषयी होने से मृगवत् चंचल स्वभाववाले होते हैं। ऊपर जो मधुप कहे गये; यथा—"गुंजत मधुप निकर मधु लोभा।" वे प्राकृत हैं और ये दिव्य हैं। वे मधु के लोभी हैं और ये सेवा के लोभी हैं।

'रमापति'—श्रीलक्ष्मीजी से मंगल होता है। यहाँ श्रीरामजी के निवास से वन मंगल-स्वरूप हो गया, अतएव इन्हें 'रमापति' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि इनके निवास से वन मंगलमय हो गया। अब इन्हें किसी तरह का भी खेद नहीं है। विरह का नाट्य तो ऊपरी है। तथा—इनकी श्रीजी तो (गुप्त-रूप से) साथ ही हैं।

"बरनत बरषा"—प्रकरण

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृप-नीति बिबेका ॥७॥
बरषा-काल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाये ॥८॥

दोहा—लछिमन देखु मोर-गन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति-रत हरष जस, बिष्णु-भगत कहँ देखि ॥१३॥

अर्थ—(श्रीरामजी) छोटे भाई से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और सदसद्विवेक (विचार) की अनेक कथाएँ कहते हैं ॥७॥ वर्षा-काल में मेघ आकाश में छाये (फैले) हुए हैं, (और) गरजते हुए बड़े ही सुहावने लगते हैं ॥८॥ हे श्रीलक्ष्मणजी! देखो, मोरों के समूह मेघ को देखकर नाचते हैं, जैसे वैराग्यवान् गृहस्थ विष्णु-भक्त को देखकर हर्षित होते हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'कथा अनेका'—वाल्मीकीय रामायण में इस प्रसंग पर वन का वर्णन करते हुए विरह तथा अन्य व्यवहारों की भी उपमाएँ दी गई हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णु पुराण में वर्षा के वर्णन के साथ ही ज्ञान, वैराग्य और राजनीति की भी उपमाएँ हैं, वैसा ही विषय विस्तार-पूर्वक यहाँ भी कहा गया है। किंतु सर्वसंवरत्ता के लिये 'कथा अनेका' भी कहा है। श्रीरामजी अपने आचरण से शिक्षा देते हैं कि ऐसी ही बातों में कालक्षेप करना चाहिये।

प्रथम भक्ति कही गई, क्योंकि अरण्य-कांड में श्रीलक्ष्मणजी ने इसी का मुख्य प्रश्न किया था और इसी पर वे अत्यंत सुखी हुए थे; यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन···" (आ॰ दो॰ १६); वहाँ सब बातें समझा चुके हैं, यहाँ केवल कथा कहते हैं, क्योंकि इन्हीं बातों में कालक्षेप करना आपको प्रिय है।

(२) 'बरषा काल मेघ ···'—'परम सुहाये'—आकाश में छाये हुए मेघ सुहावने लगते हैं और गरजते हुए 'परम सुहाये' लगते हैं। पुनः 'वर्षा-काल' के योग से भी मेघ और गर्जन की शोभा है। समयानुकूल बातें सुहावनी होती ही हैं।

मेघ आठ महीने भूमि से जल खींचते हैं तब नहीं जान पड़ता, पर जब वर्षा ऋतु में बरसते हैं, तब उनकी शोभा होती है। ऐसे ही नीति से चलनेवाले राजा जब प्रजा से कर लेते हैं, तब किसी को नहीं जान पड़ता, और जब वे वही धन प्रजा को देते हैं, तब उनकी शोभा होती है—यहाँ नीति है।

आगे का—'लछिमन देखु' दोहे इसी से है, मेघ और मोर दोनों के नृत्य दिखाने में है।

(३) 'लछिमन देखु मोर-गन···' ; यथा—"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनंदन् शिखंडिनः। गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥" (भाग० १०।२०।२०) ; अर्थात् मेघों के आगमन-रूपी उत्सव से प्रसन्न होकर मोरगण आनंदित होते हैं (मेघों को देखकर नाचने लगते हैं) जैसे गृहस्थी में तपे एवं श्रान्त (दुखी) और वैराग्य को प्राप्त गृहस्थ विष्णु भक्त के आगमन से प्रसन्न होते हैं।

पहले सजल मेघों का गरजना कहकर तब मोरों का नाचना कहा गया है। क्योंकि मेघों का गर्जन सुनकर और इन्हें देखकर मोर नाचने लगते हैं। 'बारिद पेखि'—मोर समझते हैं कि ये हमको वारि+द= जल देंगे, इसीसे नाचते हैं। ऐसे ही 'बिरति-रत गृही' हर्षित रहते हैं कि हमें विष्णु-भक्त से श्रीराम-यश सुनने को मिलेगा।

गृही का धर्म पालन करने से वैराग्य होता है और तब वैष्णव धर्म में प्रीति होती है ; यथा—"निज निज कर्म निरत श्रुति-रीती ॥ यहि कर फल मन विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥" (आ० दो० १५) ; 'गृही बिरति रत' के उदाहरण में मनु महाराज एवं श्रीजनकजी हैं।

विष्णु-भक्त वारिद और राम-यश जल ; यथा—"वेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम सुजस बर बारी।" (बा० दो० ३५) ; गृही संत के दर्शनों से सुखी होते हैं ; यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।" (उ० दो० १२०)। जैसे मेघ के गर्ज-गर्जकर बरसने पर मोर हर्षित हो नाचते हैं। वैसे ही संत गर्ज-गर्जकर राम-यश रूपी जल बरसाते हैं, जिससे गृही हर्षित होते हैं। जैसे मोर ग्रीष्म की ताप से तपे रहते हैं, वैसे ही गृही गृह-जाल एवं विषयाग्नि से तपे रहते हैं। इसी से दोनों शीतल होने से सुखी होते हैं। एक तो सामान्य मेघ से ही मोर सुखी होते हैं, पर गरजने बरसनेवाले से तो अत्यंत ही सुखी होते हैं। इसी तरह गृही सामान्य संत के दर्शनों से तो सुखी होते ही हैं, पर श्रीराम-यश वक्ता के दर्शनों से अत्यंत सुखी होते हैं। इस दोहे में भक्ति और वैराग्य कहा गया है। वर्षा के प्रारंभ में मोरों का हर्ष कहना कवियों की रीति है ; यथा—"वर्षा ही हरषित कहहिं, केकी केसव दास।" (कवि-प्रिया)।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया-हीन डरपत मन मोरा॥१॥
दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥२॥

अर्थ—मेघों के समूह आकाश में घोर गर्जन कर रहे हैं, प्रिया (श्रीसीताजी से) हीन होने से मेरा मन डरपता है॥१॥ बिजली की चमक बादल में नहीं रहती (ठहरती नहीं), जैसे दुष्ट की प्रीति स्थिर नहीं रहती॥२॥

विशेष—(१) 'घन घमंड नभ···'—'घमंड' का अर्थ समूह है और गर्व पूर्वक भी है। विरह में घन-गर्जन प्रतिकूल होने से यह उसके गर्व का द्योतक है। 'प्रिया-हीन'—ऊपर मोर का आनंद से नाचना कहा है, इसी से कहते हैं कि उसकी मयूरी को राक्षस ने नहीं हरण किया, इसी से वह नाचता है, पर मेरी प्रिया श्रीसीताजी तो हरण की गई हैं, अतएव मेरा मन डरपता है, मेघ का गरजना, बिजली की चमक और मोर का नाचना आदि शृंगार रस के उद्दीपक विभाव हैं, अतएव विरही को दुखदायी हैं, इसी से प्रभु ने अपने मन का डरना कहा है। स्त्री की आसक्ति से वियोग का दुःख हुआ ; अतः, इससे वैराग्य रखना चाहिये, यह लोगों को शिक्षा है—यहाँ वैराग्य है।

कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ की ४० अर्द्धालियों में कहीं भी श्रीरामजी ने अपने विषय में कोई बात

नहीं कही और प्रत्येक चौपाई में दो-दो बातें (दृष्टान्त और दार्ष्टान्त) कही गई हैं, यहाँ भी वैसा ही अर्थ करना चाहिये, अतएव 'मन मोरा' का 'मन मोड़े हुए' अर्थ होगा; अर्थात् विषयों से मन मोड़े हुए उदासीन लोगों को डर लगता है, क्योंकि मेघ कामदेव का समाज है और इसका गर्जन उसकी ललकार है।

(२) 'दामिनि दमक रह न····'— मेघ आकाश में है और मोर नीचे भूमि पर। फिर भी इसकी प्रीति उसमें है, इसी से उसे देखकर नाचता है और बिजली भी मेघ से ही उत्पन्न होती है, पर उसमें उसकी प्रीति नहीं है ; इसी से वह उसमें स्थिर नहीं रहती। तात्पर्य यह कि अच्छे लोग दूर रहकर भी प्रीति का निर्वाह करते हैं और चंचल स्वभाववाले दुष्ट लोग सगे सम्बन्धी के भी अपने नहीं होते। अतः, इनसे दूर ही रहना चाहिये-—यहाँ नीति है।

बरषहिं जलद भूमि निअराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ॥३॥
बूँद-अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे ॥४॥

अर्थ—बादल पृथिवी के समीप आकर (नीचे झुककर) बरस रहे हैं, जैसे विद्वान् विद्या पाकर नम्र हो जाते हैं ॥३॥ बूँदों की चोट पहाड़ कैसे सहते, जैसे दुष्टों के वचन संत सहते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बरषहिं जलद भूमि····'; यथा—"ज्यालम्बमाना जलदा वर्षन्ति स्फूर्जिताम्बराः। यथा विद्यामुपालभ्य नमन्ति गुणिनो जनाः ॥" (विष्णुपुराण); 'जलद'=जल देनेवाले, मेघ जल देते हैं और पंडित लोग विद्यार्थियों को विद्या दान देते हैं, जैसे मेघ जल के भार से नवते हैं, वैसे ही पंडित भी अधिक विद्या पाकर नम्र होते हैं। अबुध नहीं; यथा—"अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये ॥" (उ० दो० १०५); अतः, विद्वान् को विनम्र होना चाहिये—यहाँ नीति है।

(२) 'बूँद अघात सहहिं····'—संत पर्वत हैं और दुष्टों के वचन बूँदों के समान हैं, जैसे बूँदें अनेक होती हैं, वैसे ही वचन भी अनेक हैं। गिरि जड़ हैं, उनमें जल प्रवेश नहीं कर पाता, वैसे ही संत लोग भी जड़ की तरह कुवचन सह लेते हैं, हृदय में क्षोभ नहीं हो पाता। यद्यपि वृक्ष-पशु भी बूँद सहते ही हैं, तथापि इन्हें कुछ क्षोभ तो होता ही है। इसी से पर्वत की ही उपमा दी गई है। इससे उपदेश है कि संतों को क्षमा चाहिये—यहाँ नीति है।

जो वचन औरों के लिये वज्र के समान हैं; यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा।" (बा० दो० ३); वे ही संतों के लिये पानी की बूँदों के समान शीतल हैं। मिलान ; यथा—"गिरयो वर्ष-धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः। अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः ॥" (भाग० १०।२०।१५)।

'सहहिं गिरि कैसे' में यह भी ध्वनि है कि वे कैसे सहते हैं? हमसे तो नहीं सहा जाता। भाव यह कि विरही को वर्षा दुःखद लगती है; यथा—"बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥" (सुं० दो० १४)।

छुद्र नदी भरि चलीं तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई ॥५॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी ॥६॥

शब्दार्थ—तोराई—त्वरा से, तेजी से, वेग से। इतराना=घमंड करना, ठसक दिखाना।

अर्थ—छोटी नदी भरकर वेग से चलने लगी, जैसे थोड़ा भी धन पाकर दुष्ट घमंड करने लगता है ॥५॥ पृथिवी पर पानी पड़ते ही मटमैला हो गया है, जैसे जीव को माया लिपट गई हो ॥६॥

विशेष—(१) 'छुद्र नदी भरि ······'—क्षुद्र नदी का पेट भारी नहीं है, इसी से थोड़े ही जल में वह सीमा के बाहर हो जाती है और लोगों के घर, वृक्ष, कूपों आदि को डुबाती हुई अंत में सूख जाती हैं। ऐसे ही दुष्ट थोड़े ही धन से फूला नहीं समाता, उसका धन भी उपद्रव में लगकर शीघ्र ही (त्वरा से) समाप्त हो जाता है। फिर सदा उनका पेट जलता ही रहता है। जैसे क्षुद्र नदी मूलरहित है, वैसे ही दुष्ट का धन भी हरि भक्ति-रहित है, इसी से शीघ्र नाश हो जाता है; यथा—"राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं॥ (सुं० दो० २१) । दुष्ट की सम्पत्ति अन्याय से आती है, इसी से बुरे कर्मों में ही लगती भी है। मिलान, यथा—"ऊहुरुन्मार्गगामीनि निम्नगांभांसि सर्वतः। मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥" (विष्णुपुराण)—यहाँ नीति है।

दुष्ट के मन, वचन, कर्म तीनों नष्ट हैं, यथा—"खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।"—यह मन का दोष है और प्रीति मन का धर्म है। "खल के बचन संत सह जैसे।"—यह वचन का दोष है और—"जस थोरेहु धन खल इतराई।"—यह कर्म का दोष है।

पहाड़ों के पानी को नदी-द्वारा चलाकर आगे भूमि के जल का वर्णन करते हैं—

(२) 'भूमि परत भा ढावर···'—पत्थर पर गिरा हुआ पानी कम गँदला होता है, पर भूमि पर पड़ने से बहुत ही मैला हो जाता है। गिरि की उपमा ऊपर संतों से दी गई; यथा—"बूँद अघात ··" और यहाँ भूमि की उपमा माया से दी जाती है। भाव यह कि जो जीव साधु-कुल में जन्म लेते हैं, उनमें माया कम व्याप्त होती है; यथा—"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।···यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन॥" (गीता ६।४२।४३); और जो मायिक जीवों के यहाँ जनमते हैं, वे पूर्ण-रूप से माया में लिप्त होते हैं। 'भूमि परत'—उपमान और उपमेय दोनों के साथ है। जल जब आकाश में था, तब निर्मल था, परन्तु भूमि में पड़ते ही धूल-सहित होकर गँदला हो गया। वैसे ही जीव जब गर्भ में था, तब तक इसे ज्ञान था; यथा—"तोहिं दियो ज्ञान विवेक जन्म अनेक की तब सुधि भई ··" से "अब लग जाइ भजउँ चक्रपानी॥" तक (वि० १३६)। और यह निर्मल था, पर भूमि पर पड़ते ही माया लिप्त हो गई, यह रजोगुणी नातों में ओत-प्रोत हुआ। रज और जल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, प्रयत्न करने पर अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसे ही मायिक नाते और जीव भी हरि-गुरु-कृपा-सहित प्रयत्न करने से पृथक् हो जाते हैं। इसपर वि० १३६ पूरा पद पढ़ने योग्य है।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा ॥७॥
सरिता-जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥८॥

दोहा—हरित भूमि तृन-संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड-बाद ते, लुप्त होहिं सदग्रंथ ॥१४॥

अर्थ—जल एकत्र हो-होकर तालाबों में भर रहा है, जैसे सद्गुण (एक एककर) सज्जन के पास

आते हैं ।।७।। नदी का जल समुद्र में आकर अचल (स्थिर) हो जाता है, जैसे जीव हरि को पाकर अचल हो जाता है ।।८।। पृथिवी घास से परिपूर्ण होकर हरी हो गई है, (इससे) मार्ग नहीं समझ पड़ता जैसे पाखंड-वाद से श्रेष्ठ ग्रंथ लुप्त हो जाते हैं ।।१४।।

विशेष—(१) 'समिटि-समिटि जल ·····'—पहाड़ों के जल का नदियों में और भूमि के जल का तालाबों में जाना कहा गया । 'समिटि-समिटि' का भाव यह है कि सज्जनों के हृदय में सद्गुण क्रमशः आते हैं । 'आवा' अर्थात् स्वयं आते हैं, सज्जनों को प्रयास नहीं करना पड़ता, जैसे कि तालाबों में सभी ओर के जल स्वतः चले आते हैं ; यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ।। जिमि सरिता सागर महँ जाहीं । यद्यपि ताहि कामना नाहीं ।।" (बा० दो० २९१) ; "बल सहि सींचति पति लहत, सुजन कलेस न काय । गढ़ि-गुढ़ि पाहन पूजिये, गंडकि सिला सुभाय ।।" (दोहावली) जैसे तालाब के जल से लोगों का उपकार होता है, उसी तरह सज्जन अपने सद्गुणों से परोपकार करते हैं और क्षुद्र नदी की तरह दुष्ट अपने धनरूपी जल की बाढ़ से सबको दुःख ही देता है ।

(२) 'सरिता जल जलनिधि ·· ···'—जो जल तालाब से निकलकर या, यों ही नालों के द्वारा सीधे नदी में गया, वह समुद्र को चला । 'सरिता' अर्थात् 'सरति गच्छति इति सरित्' आगे अचल होना है, अतः इसे अभी चल कहते हैं । सरिता-जल की तरह जीव भी हरि-प्राप्ति के पहले चल (जंगम) ही रहते हैं ; यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ।। फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।।" (उ० दो०४२) ।

'जल निधि'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही जीव-मात्र का अधिष्ठान ईश्वर है । 'होइ अचल'—जैसे जल नदियों में प्राप्त होकर भी अचल न हुआ, समुद्र में ही पहुँचकर अचल हुआ, वैसे ही अन्य देवी, देवताओं की उपासना से उन्हें प्राप्त होकर जीव अचल नहीं होता, किंतु इसका आवागमन बना ही रहता है, क्योंकि वे देवता तो स्वयं भव-प्रवाह (जन्म-मरण के चक्र) में पड़े हुए 'चल' हैं ; यथा—"भव प्रवाह संतत हम परे । अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ।।" (लं० दो० १०८) ।

जल पहले समुद्र में ही था, मेघ-द्वारा आकर्षित होकर वृष्टि से भूमि पर आया । फिर संयोग से नदियों में प्राप्त हो समुद्र में पहुँचकर ही अचल हुआ । वैसे ही जीव भी माया के योग से हरि से पृथक् हुआ, फिर सत्संग से हरि को ही पाकर अचल हुआ अर्थात् जन्म-मरण से रहित हुआ । जो जीव महात्माओं के आश्रित नहीं हुआ वह भव-प्रवाह में ही पड़ा रहा । 'होइ अचला' ; यथा —"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।" (गीता १५।६) ; और भी कहा है ; यथा—"राम सरूप सिंधु समुहानी ।" (बा० दो० ३९)—यहाँ ज्ञान है । इसमें पूर्णोपमा है—सरिता-जल और जीव; जलनिधि और हरि, उपमेय-उपमान हैं ; 'जिमि' वाचक और 'अचल होइ' धर्म है । यहाँ उपमा का तात्पर्य अचल होने ही से है । जैसे कि 'कमल सम कोमल चरण' में कोमलता धर्म है और उपमा का प्रयोजन कोमलता से ही है, कमल के रंग आदि चाहे जैसे हों ।

(३) 'हरित भूमि तृन····'—पहले भूमि पर जल वर्षा होना कहा गया, अब उसके द्वारा उपजने-वाले तृण के विषय में कहते हैं । 'पाखंड-वाद' ; यथा—"साखी सब्दी दोहरा, कहि कहनी उपखान । भगति निरूपहिं कलि भगत, निंदहिं बेद पुरान ।।" (दोहावली ५५४) ; तृणों की तरह पाखंड-वाद वैदिक समीचीन मार्ग का आच्छादक है । जैसे तृण काटने से मार्ग खुल जाते हैं, वैसे ही पाखंडवाद के ग्रंथों का खंडन करने से वेद-मार्ग-प्रतिपादक सद्ग्रंथ प्रकाशित हो जाते हैं और समीचीन मार्ग खुल जाते हैं ।

यथा—"मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः। नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥ ... जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे। पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥" (भाग० १०।२०।१६-२३)।

अवतरण—वर्षा के चार महीने होते हैं, इनमें ऊपर—'सरिता-जल जलनिधि महँ जाई।...' तक श्रावण मास का वर्णन किया गया है। इस दोहे से आगे भादों का प्रारंभ होना जनाया है; क्योंकि 'दादुर धुनि...' में सामवेदियों की श्रावणी का रूपक है, जो भादो में होती है। इससे आगे के दोहे में क्वार और फिर कार्त्तिक का भाव रहेगा। इसी तरह चारों दोहों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति ये चारो कहे गये हैं। पहले दोहे में—'गृही विरति रत...' से निष्काम कर्म प्रारंभ करके 'होइ अचल जिमि ...' तक कर्ममार्ग सूचित किया गया है। पुनः इस दोहे में पाखंड खंडन, वेद-पाठ और विवेक साधन से प्रारंभ करके ज्ञान का साधन कहते हुए—"जिमि इन्द्रिय गन उपजे ज्ञाना।" तक ज्ञान-मार्ग कहा गया है। पुनः 'पाइ सुसंग' से प्रारंभ कर—'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।' तक भक्ति-मार्ग कहा गया है, फिर—'जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।' से लेकर 'सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।" तक शरणागति कही गई है।

दादुर-धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु-समुदाई॥१॥
नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥२॥

अर्थ—चारों ओर से मेढ़कों की ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती है, मानों ब्रह्मचारियों के समुदाय (वृंद) वेद पढ़ रहे हों॥१॥ अनेक (तरह के) वृक्ष नवीन पत्तों से युक्त हो गये हैं, जैसे साधन करने वालों का मन विवेक-प्राप्त होने पर होता है॥२॥

विशेष—(१) 'दादुर-धुनि चहु दिसा सुहाई।...'—वेदध्वनि सुहावनी होती है, वैसी ही इस समय दादुर-ध्वनि भी सुहावनी लग रही है। श्रीरामजी जहाँ बैठे हैं उसके चारों ओर के जलाशयों में मेढ़क बोल रहे हैं और वह ध्वनि सुहावनी लग रही है। ब्राह्मण लोग भी ग्राम के चारों ओर तालाबों पर बैठकर श्रावणी किया करते हैं; अर्थात् वेद पढ़ते हैं। वेद ध्वनि सुहावनी तो सभी को लगती है, पर सब साधारण को समझ में नहीं आती। वैसे ही दादुर की ध्वनि सुहावनी तो लगती है, पर समझ में नहीं आती। सामवेदियों की श्रावणी भादो में होती है; यथा—"मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्मब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्याय समयः सामगानामुपस्थितः॥" (वाल्मी० ४।२८।५४); अर्थात् भादो का महीना वेद पढ़नेवाले साम ब्राह्मणों के लिये अध्ययन का समय है; अर्थात् उपाकर्म काल है। मेघ-गर्जन सुनकर दादुर बोलते हैं। वैसे ही ऊँचे बैठे हुए पूर्णवैदिक आचार्य के वाक्य सुनकर बटुगण जोर से वेद-पाठ करने लगते हैं। मिलान; यथा—"श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूकाः व्यसृजन्गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥" (भाग० १०।२०।९)।

(२) 'साधक-मन जस ...'—साधकों का तन वृक्ष, साधन ग्रीष्म का ताप, श्रम धूप सहना और साधन से कामादि दूर होना पत्तों का झड़ना और विवेक होना नवीन पल्लव होना है। जैसे पल्लव स्वयं आ जाते हैं वैसे विवेक भी स्वयं ही आ जाता है। पर पहले वृक्ष के समान जड़ होकर साधन-कष्ट सहने में अचल रहना होता है। मिलान; यथा—"पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्त्तयः। प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया॥" (भाग० १०।२०।२१)।

वर्षा में इतनी वातुओं का वर्णन होता है, यथा—"वर्षा हंस पयान बक, दादुर चातक मोर। केवक पुंज कदंब अल, क्यों दामिनी घन घोर॥" (कविप्रिया)।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल-उद्यम गयऊ॥३॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी॥४॥

अर्थ—मदार और जवासे बिना पत्ते के हो गये, जैसे सुन्दर राज्य में दुष्ट का उद्यम (धंधा) जाता रहा ॥३॥ ढूँढने पर भी कहीं धूल नहीं मिलती जैसे क्रोध धर्म को दूर कर देता है। (अर्थात् क्रोध करने से धर्म का पता भी नहीं रहता) ॥४॥

विशेष—(१) 'अर्क जवास पात बिन भयऊ।...'—ग्रीष्म-ऋतु में जब और-और वृक्ष-पौधे बिना पत्ते के हो गये थे, तब आक और जवासे में पत्ते हुए थे और वर्षा-ऋतु में जब सबों में पत्ते हुए, तब ये दोनों पल्लवहीन हुए। इसी तरह कुराज्य होने से जहाँ सब लोग दुखी होते हैं, वहाँ दुष्ट सुखी होते हैं। यहाँ ग्रीष्म कुराज्य और वर्षा सुराज्य हैं। मदार-(आक) के पत्ते बड़े और जवासे के छोटे होते हैं, इनसे वर्षा-ऋतु-रूपी सुराज्य में दुष्टों के छोटे-बड़े सभी उद्यमों का नाश होना कहा गया है। सुराज्य में दुष्ट तो रहते ही हैं, पर उनके उद्यम नहीं रह जाते। जैसे कि अर्क-जवासे के पौधे (धड़) मात्र वर्षा में भी बने रहते हैं। जैसे अर्क और जवास दो के नाम दिये गये, क्योंकि ये दो ही हैं, वैसे ही सुराज्य में दुष्ट विरल ही रहते हैं। जिस तरह वर्षा में पल्लववाले वृक्ष बहुत रहते हैं, उसी तरह सुराज्य में सज्जन भी बहुत होते हैं। अतः, उन्हें 'अनेका' से कहा गया; यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका।" पुनः सुराज्य में जो दो-एक खल वर्षा में आक और जवासे की तरह होते हैं, वे प्रसिद्ध हो ही जाते हैं, इसी से कवि ने भी उनके नाम दे दिये हैं। सब कोई उन्हें जान लेते हैं, इससे उनका उद्यम भी नहीं चलता; यथा—"बभूवुर्निश्छदा वृक्षा अर्कयावासकास्तथा। सुराज्ये तु यथा राजन् न चलन्ति खलोद्यमाः॥" (विष्णुपुराण)—यहाँ नीति है।

(२) 'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।'—क्रोध तमोगुण से होता है, तमोगुण से किया हुआ धर्म भी व्यर्थ हो जाता है; यथा—"तामस धर्म करहिं नर, जप-तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनि पर, बये न जामहिं धान॥" (उ० दो० १०१)। धर्म को धूलि कहने का भाव—जैसे धूलि सूक्ष्म और अनन्त होती है, वैसे धर्म की गति भी बड़ी सूक्ष्म है और धर्म अनन्त प्रकार के हैं। जिस तरह वर्षा होने से कीचड़ की अधिकता होती है, वैसे ही क्रोध से अविवेक और अनीति बढ़ती हैं—यहाँ विवेक है।

ससि-संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी॥५॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥६॥

शब्दार्थ—ससि (सं० शस्य)=कृषी, नई घास, अन्न।

अर्थ—धान्य से लदी हुई पृथिवी कैसी शोभित हो रही है, जैसी परोपकार करनेवाले की सम्पत्ति (शोभित होती है) ॥५॥ रात में अंधकार और बादल होने से जुगनू प्रकाशित एवं शोभित होते हैं, मानों पाखंडियों का समाज आ जुटा हो॥६॥

विशेष—(१) 'ससि सम्पन्न सोह...'—खेती पृथिवी की सम्पत्ति है, इससे पृथिवी की शोभा

है। क्योंकि खेती से समस्त जीवों का उपकार होता है। इसी से पृथिवी की गणना उपकारियों में है; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० १२४)। यहाँ दृष्टान्त में उपकारी की सम्पत्ति की शोभा कही गई और दार्ष्टान्त में (उपकारी) पृथिवी की। इस तरह अन्योन्य-शोभा-सापेक्षत्व सूचित किया; अर्थात् सम्पत्ति से उपकारी की शोभा है और उपकारी से सम्पत्ति की; यथा—"मणिना वलयं वलयेन मणिर्मणिना वलयेन विभाति करः। पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः॥ शशिना च निशा निशया च शशिः शशिना निशया च विभाति नभः।···(सुभाषित-रत्नभाण्डागारम्) इत्यादि। यहाँ नीति है; यथा—"क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥" (भाग० १०।२०।१२)।

(२) 'निसि तम घन···'—दिन में भी कभी-कभी अंधकार हो जाता है; यथा—"कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम।" (दो० १५); पर उसमें जुगुनू की शोभा नहीं होती। इसलिये 'निसितम' कहा। 'बिराजा'—केवल अँधेरी रात में 'राजते' हैं और घन-घटाच्छादित अँधेरी रात में तो 'विशेष राजते' हैं। 'घन' का यह भी भाव है कि जब तारागण एवं चन्द्रमा आदि का प्रकाश नहीं रहता, तभी इनकी शोभा होती है। वैसे ही जहाँ अज्ञानियों की सभा-रूपी अँधेरी रात रहती है और तारागणों की तरह सामान्य विद्वान् और चन्द्रमा की तरह श्रेष्ठ विद्वान् नहीं होते, वहीं पर जुगनू रूपी दंभियों का समाज शोभा पाता है। दंभी अपने चमत्कार से अज्ञान-तम को नहीं दूर कर सकते; यथा—"निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति नो ग्रहाः। यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥" (भाग० १०।२०।८)।

महा बृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी॥७॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह-मद-माना॥८॥

अर्थ—अत्यधिक वर्षा होने से क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं॥७॥ चतुर किसान खेतों को निराते (घास आदि निकालते) हैं, जैसे पंडित लोग मोह, मद और मान का त्याग करते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'महा बृष्टि चलि······'—स्त्रियों की मर्यादा ही क्यारी है और उनकी स्वतंत्रता महा वृष्टि है। जैसे अति वृष्टि के आघात से क्यारियाँ टूट-फूटकर बह जाती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ स्वतंत्र होने से धर्म च्युत हो बिगड़ जाती हैं, अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। जिस तरह महा वृष्टि होने से ही क्यारी फूटती है, उसी तरह अधिक स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ भी बिगड़ती हैं। इसीलिये कहा है—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रास्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥" (हितोपदेश)।

(२) 'कृषी निरावहिं चतुर ···· '—तृणों को पृथक् करके अन्न को रक्षा करना किसानों की चतुराई है। ऐसे ही मोह, मद और मान को त्याग कर भक्ति-रूपी खेती की रक्षा करना बुद्धिमानों की चतुराई है। तृण आदि बोये नहीं जाते, स्वतः उपजते हैं। वैसे ही मोह, मद और मान स्वभाव ही से उपजते हैं, इन्हें न दबाने से ये ही शुभ गुणों को दबा देते हैं; यथा—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३९)—यहाँ ज्ञान है; यथा—"कृषिं संस्कृत्य शुंधन्ति पटीयांसः कृषीवलाः। यथा कामादिकं त्यक्त्वा बुधाश्चित्तं पुनन्ति च॥" (विष्णुपुराण)।

देखियत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥९॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥१०॥

शब्दार्थ—ऊषर = वह भूमि जहाँ रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न हो। (हिन्दी-शब्दसागर)

अर्थ—चक्रवाक पक्षी नहीं देख पड़ते हैं, जैसे कलि को पाकर धर्म भाग जाते हैं ॥९॥ ऊसर में वर्षा होती है, पर घास नहीं जमती। जैसे हरिभक्त के हृदय में काम नहीं उत्पन्न होता ॥१०॥

विशेष—(१) 'देखियत चक्रवाक…'—जैसे चक्रवाक पक्षी कहीं रहते तो अवश्य हैं, पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही धर्म भी ग्रन्थों में ही लिखा रह जाता है, कलियुग में लोगों के द्वारा आचरित होते नहीं देखा जाता ; यथा—"सकल धर्म विपरीत कलि, कलपित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार बन, दुरे पुरान सद्ग्रन्थ ॥" (दोहावली ५५६)। 'धर्म पराहीं'—यहाँ धर्म का भागना कहा गया; क्योंकि धर्म को वृषभ-रूप और कलि को कसाई का रूप कहा जाता है ; यथा—काशी कामधेनु कलि कुहत कसाई है।" (क० उ० १८१)—मिलान ; यथा—"संप्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः संप्रति चक्रवाकाः।" (वाल्मी० ४।२८।१६)—यहाँ नीति है।

(२) 'ऊपर बरषइ तृन नहिं जामा।…'—वर्षा से सर्वत्र भूमि में तृण जमते हैं, पर ऊसर में क्यों नहीं जमते ? इसका कारण यह कि वहाँ की जमीन इतनी ठोस (कठोर) और कंकरीली होती है, जिससे उसके नीचे जल प्रवेश ही नहीं कर पाता, ऊपर ही से बह जाता है। इसी से वह भूमि सरस नहीं होती, अतः उसमें तृण नहीं जमते। वैसे ही हरिजनों के हृदय में केवल हरि की ही कामना रहती है, उनको सब इन्द्रियों के विषय हरि ही रहते हैं। जैसे नेत्रों से हरि के दर्शन और रसना से उन्हीं का प्रसाद-सेवन आदि। उसी सम्बन्ध से उनकी भीतर और बाहर की वृत्ति हरि में ही लगी रहती है। इससे उनके चित्त में काम का प्रवेश ही नहीं हो पाता ; यथा—"कन्दर्प नाग मृगपति मुरारि।" (वि० ६४); "आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (गीता २।७०) 'हरिजन' शब्द से भी ध्वनित है कि वे हरि अपने जनों की रक्षा करते हैं ; यथा—"बालक सुत सम दास अमानी ॥"; "करउँ सदा तिन्हकी रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी ॥" (आ० दो० ४२)—यहाँ ज्ञान है।

बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा-बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥११॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना ॥१२॥

दोहा—कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं।
कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग ॥१५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के छोटे-छोटे जीवों से पूर्ण पृथिवी सुशोभित है, जैसे अच्छे राजा को पाकर प्रजा की वृद्धि होती है और फिर (प्रजा-वृद्धि से राजा की शोभा होती है ॥११॥ जहाँ-तहाँ अनेक बटोही ठहर गये

हैं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होने से इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं ॥१२॥ कभी हवा बड़े जोर से चलती है, (जिससे) जहाँ-तहाँ मेघ नष्ट हो जाते हैं, जैसे कुपुत्र के पैदा होने से (उसके द्वारा) कुल के अच्छे धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ कभी दिन में घोर अँधेरा हो जाता है और कभी सूर्य प्रकट होते हैं। जैसे कुसंग पाकर ज्ञान का नाश होता है और सुसंग से ज्ञान उत्पन्न होता है ॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रजा बाढ़ ···'; यथा—"धरनि धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ।" (दोहावली ५१२); अर्थात् उत्तम राजा के सद्धर्माचरण से प्रजा बढ़ती है, फिर प्रजा की वृद्धि से राजा की शोभा होती है। यहाँ 'विविध जंतु' और 'प्रजा' एवं 'महि' और 'सुराजा'—उपमेय और उपमान हैं। 'जिमि' वाचक और 'बाढ़ा' धर्म है। अतः पूर्णोपमा अलंकार है। 'जिमि इन्द्रिय गन ···'—यहाँ इन्द्रियाँ ही पथिक हैं, क्योंकि जहाँ तहाँ विषयों की ओर दौड़ा करती हैं। ज्ञान होने से जीव आप्तकाम हो जाता है और वह सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता है। इससे इन्द्रियाँ निष्क्रिय होकर शिथिल हो जाती हैं; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।" (दो० १०); "कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें॥" (उ० दो० १११) कहा भी है—"बालम के संग सोइ गईं पाँचो जनी।" (कबीर)—यहाँ ज्ञान है।

(२) 'जहँ तहँ मेघ बिलाहिं'—जैसे पवन के एक ही झकोरे से कितने ही मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वैसे ही एक कुपुत्र के होने से अनेक सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्षा के आदि में—'मेघ नभ छाये' कहा और यहाँ अंत में 'मेघ बिलाहिं' कहा है।

(३) 'कबहुँ दिवस महँ···'—क्षण में सूर्य छिप जाते हैं और फिर क्षण ही में प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही कुसंग से शीघ्र ही ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसंग से शीघ्र ही उसका विकास होता है। वर्षा के आदि में "गृही बिरति रत···" कहा गया था और अंत में "बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि" कहा गया है। ज्ञान के उदय पर प्रसंग की समाप्ति की है इसी से 'उपजइ' और 'सुसंग' को बाद में कहा है—यहाँ ज्ञान और नीति दोनों हैं।

शरद्-वर्णन—प्रकरण

बरषा बिगत सरद-रितु आई। लछिमन देखहु परम सोहाई ॥१॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा-कृत प्रगट बुढ़ाई ॥२॥
उदित अगस्ति पंथ-जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ॥३॥

अर्थ—हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा बीत गई और परम शोभायमान शरद्-ऋतु आ गई ॥१॥ फूले हुए कास से सब पृथिवी छा गई, मानो वर्षा-ऋतु ने अपना बुढ़ापा प्रकट किया है ॥२॥ अगस्त्य (तारा) का उदय हुआ और मार्ग का जल सोख लिया गया, जैसे संतोष लोभ को सोख लेता है ॥३॥

विशेष—(१) 'बरषा बिगत' से वर्षा-वर्णन-प्रकरण की इति हुई। 'सरदरितु आई' से शरद्ऋतु के वर्णन का प्रसंग प्रारंभ हुआ। जैसे वर्षा-वर्णन के प्रारंभ में 'लछिमन देखु मोरगन ···' कहा गया था, वैसे ही शरद के प्रारंभ में भी 'लछिमन देखहु' कहा है। वर्षा को—'गरजत लागत परम सुहाये।' कहा था, वैसे यहाँ भी—'देखहु परम सोहाई' कहते हैं। एक बात समाप्त करके दूसरी प्रारंभ करते हुए 'लछिमन देखहु' कहा है, ऐसी ही रीति भी है; यथा—"सुनु मुनि कह पुरान···" "सुनु मुनि संतन्ह···" इत्यादि आ० दो० ४३-४४ में श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से कहा है। 'परम सोहाई'—वर्षा ऋतु सुन्दर तो थी, पर

उसमें कीच आदि के दोष थे और नदियों का जल भी मलिन था। शरद में ये दोष नहीं हैं, प्रत्युत स्वच्छता आदि गुण हैं और यह ऋतु श्रीसीताजी की शोध के उद्योग करने के योग्य है—यहाँ नीति है।

जैसे वर्षा के वर्णन में मेघ मुख्य हैं और वे श्यामता प्रकट करनेवाले हैं, वैसे शरद् के वर्णन में उज्ज्वलता प्रधान है। इसलिये इसके आदि में कास का फूलना कहा गया।

श्वेत केशों से बुढ़ापे का अनुमान होता है, वैसे ही कास के फूल श्वेत होकर मानों ऋतु का बुढ़ापा सूचित कर रहे हैं। शरद्-ऋतु के वर्ण्य विषय; यथा—"अमल-अकास प्रकास-ससि, मुदित कमल कुल कास। पथी पितर पयान नृप, सरद सुकेसव दास॥" (कविप्रिया)।

(२) 'उदित अगस्ति पंथ-जल...'—अगस्त्य महर्षि ने समुद्र सोख लिया था, उन्हींके नाम का यह (अगस्त्य) तारा है। इसका भी प्रभाव है कि इसके उदय से वर्षा का अन्त और जल का शोषण होता है। इसमें तालाब आदि का भी जल सूखता है, पर मार्ग का तो बिल्कुल सूख जाता है, इसीसे यहाँ कहा गया। इसी प्रकार संतोष के उदय होने से कामना नहीं रह जाती, तब लोभ कहाँ रह सकता है? यथा—"बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥" (उ० दो० ८९)। जल रहने से कीचड़ के द्वारा मार्ग मलिन रहते हैं और उसके सूख जाने पर साफ हो जाते हैं। इसी तरह लोभ से हृदय मलिन रहता है, जिससे परमार्थ-मार्ग भी मलिन ही रहता है; यथा—"सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने॥" (वि० २३५) अर्थात् थिर हृदय से ही भजन होता है और फिर उससे सुख होता है। जैसे अगस्त्य का आकाश में उदय होता है, वैसे ही संतोष का आविर्भाव हृदयाकाश में होता है।

सरिता-सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा॥४॥
रस-रस सूख सरित-सर-पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥५॥
जानि सरद रितु खंजन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये॥६॥

शब्दार्थ—रस रस = रसे रसे, धीरे-धीरे। ममता = अपनापन, मदीयत्व।

अर्थ—नदियों और तालाबों में निर्मल जल ऐसा सोहता है, जैसा मद और मोहरहित होने से संतों का हृदय॥४॥ नदियों और तालाबों का पानी धीरे-धीरे सूख रहा है, जैसे ज्ञानी धीरे-धीरे ममता का त्याग करते हैं॥५॥ शरद ऋतु जानकर खंजन-पक्षी आते हैं, जैसे समय पाकर सुन्दर सुकृत आते हैं। अर्थात् उनके फल दिखाई पड़ते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'सरिता सर निर्मल .....'—वर्षा का जल भूमि में पड़कर मैला हो गया था; यथा—"भूमि परत भा ढाबर पानी।" कहा गया है। वही जल नदी और तालाब में भी गया। इससे वे भी मैले हो गये और शरद में जब वे निर्मल हुए, तभी उनकी शोभा कही गई। वैसे ही पहले प्राकृतिक दोष के कारण सन्त मद और मोह से युक्त थे। उनमें विचरनेवाले संत सरिता-रूप और स्थायी रहनेवाले तालाब-रूप हैं। उनके हृदय जल एवं मद और मोह मल हैं। ये उभय प्रकार के संत भी भगवान् के ज्ञान से मद और मोह रहित होकर शोभा पाते हैं; यथा—"सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन्। ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम्॥" (विष्णुपुराण-पंचमांश)। 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'—

'अहं-मम' अज्ञान से होते हैं, इनका ज्ञान से त्याग होता है, ज्ञान के साधनों में कहा भी गया है; यथा—"असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।" (गीता १३।८); तथा—"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥···तेहि कि मोह ममता नियराई।" (अ० दो० २७६)—यहाँ ज्ञान है; यथा—"शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः। ममत्वं क्षेत्रपुत्रादिरूढं सर्वे यथा बुधाः॥" (विष्णुपुराण-पंचमांश)।

(२) 'जानि सरद रितु खंजन···'—पहले दो प्रकार से धर्म का चला जाना कहा गया था, एक क्रोध से और दूसरा कलि से; यथा—"करहि क्रोध जिमि धरमहि दूरी।" और—"कलिहि पाइ जिमि धरम पराहीं।" इनमें जो धर्म क्रोध के कारण दूर चला गया, वह तो लौटकर नहीं आ सका और जो कलि के कारण भागा था, वह सुसमय पाकर (अच्छा काल पाकर) फिर आ गया। जिस तरह खंजन प्रायः निर्जन स्थानों एवं पहाड़ों में रहते हैं और जाड़े के दिनों में नीचे उतर आते हैं; वैसे ही सुकृत के फल समय पाकर प्राप्त होते हैं, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही। जनक सुकृत मूरति बैदेही॥" (बा० दो० ३०१)। खंजन के विषय में ही कहा गया, क्योंकि यह नियमित समय पर आता है।

पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥७॥
जल संकोच बिकल भइँ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन-हीना॥८॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥९॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥१०॥

अर्थ—न कीचड़ है और न धूल; इससे पृथिवी ऐसी शोभित है, जैसे नीति-निपुण राजा की करनी॥७॥ जल के संकोच (कमी) हो जाने से मछलियाँ व्याकुल हुईं, जैसे धन-रहित होने से अज्ञानी कुटुम्बी व्याकुल होते हैं॥८॥ बिना बादलों के आकाश निर्मल सोह रहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर हरिभक्त शोभित होते हैं॥९॥ शरद-ऋतु की वर्षा कहीं-कहीं और थोड़ी-थोड़ी होती है, जैसे कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'पंक न रेनु सोह···' ग्रीष्म में धूल से और वर्षा में पंक से पृथिवी अशोभित थी अब दोनों के दूर होने से शोभित है। ऐसे ही 'नीति-निपुण नृप की करनी' होती है; अर्थात् राजा न किसी पर गर्म हो और न शीतल, किन्तु उसे तो नीति के अनुसार ही करना चाहिये। ऐसी करनी को धरणी की उपमा दी गई, क्योंकि यह करनी प्रजा को धरनी की तरह धारण करने में समर्थ होती है। नहीं तो प्रजा नष्ट हो जाय—यहाँ नीति है।

(२) 'जल संकोच बिकल भइँ मीना।···'—पहले जल का 'रस-रस सूखना' कहा गया था। अब जल इतना कम हो गया कि मछलियाँ विकल होने लगीं। 'अबुध' अर्थात् गुण हीन हैं, इसी से धन की प्राप्ति नहीं कर सकते और परिवार भारी है। अतः, पालने की चिन्ता में विकल होते हैं; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं॥" (उ० दो० १२०); जैसे मीन को आगे जल की आशा नहीं, वैसे इन्हें आगे धन मिलने की आशा नहीं, क्योंकि अबुध हैं। पाहुनों का सम्मान भी नहीं कर पाते, यही मीन के शरदातप का-सा दुःख है। मीनों का रहा-सहा जल सूर्य खींच लेते हैं, वैसे अबुधों का शेष धन भी महा-

जन आदि ले लेते हैं, इससे व्याकुलता बढ़ जाती है। 'अबुध' हैं, इससे सुख-दुःख के सहनेवाली सम-बुद्धि भी नहीं होती, जिससे कि दुःख न व्यापे, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माँही॥" (अ० दो० १५१); यहाँ नीति और ज्ञान है। मिलान; यथा—"गाधवारिचरा तापमविदन् शरदर्कजम्। यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥" (भाग० १०।२०।३८)।

(३) 'हरिजन इव परिहरि सब आसा।'—हरिजन एक हरि से आशा करते हैं और किसी से नहीं; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहाँ बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); हरि से भी केवल हरि ही को चाहते हैं और सभी आशाओं का त्याग कर देते हैं, तभी वे शोभा पाते हैं, नहीं तो शोक से मलिन रहते हैं; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम॥" (दोहावली १६)। जैसे घन से आकाश मलिन रहता, वैसे ही आशा से हरिजन मलिन रहते हैं—यहाँ वैराग्य है।

(४) 'कहुँ कहुँ वृष्टि···'—शारदी (शरद्-ऋतु की) वृष्टि कहीं-कहीं होती है और वह भी थोड़ी ही होती है। वैसे ही कोई एक मेरी (प्रभु) भक्ति पाते हैं, वह भी थोड़ी, पूर्ण नहीं, अर्थात् भक्ति अत्यंत दुर्लभ है; यथा—"नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक···" से "सब ते सो दुर्लभ सुर राया। राम भगति रत गत मद माया॥" (उ० दो० ५३) तक, तात्पर्य यह कि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है, क्योंकि ज्ञान के पानेवाले अनेक कहे गये; यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥" जैसे शारदी वृष्टि से मुक्ता आदि बहुत पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे भक्ति से भी मुक्ति आदि बहुत बातें सिद्ध होती हैं—यहाँ भक्ति है।

दोहा—चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि॥१६॥

शब्दार्थ—श्रम=परिश्रम, दुःख; यथा—"देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो।" (लं० दो० ६१)।

अर्थ—राजा (विजय के लिये), तपस्वी (तप के लिये), व्यापारी (वाणिज्य के लिये) और भिखारी (भिक्षाटन के लिये) हर्षित होकर नगर छोड़कर चले। जैसे हरिभक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (आश्रम के) दुःख को छोड़ देते हैं॥१६॥

विशेष—(१) जब तक भक्ति प्राप्त न थी तबतक आश्रमों में रहकर उनके धर्मसेवन के क्लेश सहते थे और धर्म को नहीं छोड़ते थे, क्योंकि दूसरा आधार नहीं था। जब भक्ति प्राप्त हो गई, तब निर्भीक होकर हर्षपूर्वक आश्रम-धर्म छोड़ दिया, क्योंकि उन्हें—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); एवं—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥" (भाग० ११।५।४१); इत्यादि से हरि का भरोसा हो जाता है। भक्ति-प्राप्ति का तात्पर्य पूर्ण (परा) भक्ति से है। जो लोग ऐसे भक्त हैं, उन्हें कर्म छोड़ने के दोष नहीं होते; यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ (भाग० ११।२०।९) अर्थात् भगवान् कहते हैं कि साधक को कर्म तभी तक करना अति आवश्यक है जब उत्पन्न न हो; अथवा मेरी कथा के श्रवण आदि में जब तक श्रद्धा नहीं पैदा हो।

(२) चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। इन आश्रमों में से जिसी में भक्ति प्राप्त हो जाय वह और उसके आगे के आश्रमों के साधन छूट सकते हैं। यों भी तो गृही होने पर ब्रह्मचर्याश्रम छूट जाता है, वानप्रस्थ में आने से गृहस्थाश्रम छूट जाता है और संन्यास में प्राप्त होने पर वानप्रस्थ छूट जाता है। वैसे ही जिस आश्रम से ही पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाय तो उसके आचार से वे आश्रम छूट जाते हैं। क्योंकि भक्ति सब साधनों का फल स्वरूप है; यथा—"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)—यहाँ भक्ति है।

पहले ही कहा गया है—"जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।" अर्थात् वर्षा के कारण जहाँ-वहाँ पथिक ठहरे हुए थे। फिर क्रमशः वर्षा का बीतना, मार्ग के जल का सूखना, पंक और रेणु की निवृत्ति इत्यादि मार्ग की सभी कठिनाइयों का दूर होना कहा गया; तब पथिकों का चलना कहा। उनमें 'नृप' के विषय में पहले कहा गया, क्योंकि यही यहाँ का प्रस्तुत प्रसंग है कि सभी राजा तो चल दिये, पर सुग्रीव राजा हमारे कार्य के लिये नहीं चले अर्थात् श्रीसीताजी की खोज में वे प्रवृत्त नहीं हुए; यथा—"अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज। उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः॥ इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज। न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥" (वाल्मी० ४ ३० ६०-६१)।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥१॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥२॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग-रव नाना रूपा॥३॥

अर्थ—जो मछलियाँ अथाह जल में हैं वे सुख से हैं। जैसे भगवान् की शरण में एक भी बाधा नहीं रहती॥१॥ कमलों के फूलने से तालाब कैसा शोभित है जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होने से शोभित होता है॥२॥ भौंरे गूँजते हैं, उनके शब्द अनुपम हैं। सुन्दर पक्षी अनेक रूप के हैं। वे सुन्दर शब्द कर रहे हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सुखी मीन जे···'—पहले 'संकोच जलवाली' मीनों की विकलता कही गई। उसी के समक्ष अगाध जल की मीनों की निर्भयता कहते हैं। इससे यह भी जनाया कि जो हरि शरणागति छोड़कर परिवार ही का सेवन करते हैं, वे दुखी रहते हैं। हरि की शरण में बाधा नहीं होने पाती, हरि अपने आश्रितों की रक्षा करते ही हैं, उन्हीं की बाधा निवारण के लिये तो वे अवतार भी लेते हैं, इसी से आगे अवतार कहा गया है; यथा—'फूले कमल सोह···'। शरणागति का स्वरूप भी दिखलाया है कि जैसे मछली का 'जल जीवन जल गेह' है, वैसे ही भक्त के भी उपाय-उपेय (फल) भगवान् ही होते हैं; यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाविवेकिभि.॥" (रहस्यत्रय); कहा भी है—"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।" (वि० २६९)। मीन की एक मात्र गति जल ही है, वैसे हरिभक्त के भी हरि ही गति हैं; यथा—"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम्॥" (गीता० ७।१८); "परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०)।

'अबुध कुटुंबी' को इतना ज्ञान नहीं है कि जगत् मात्र के रक्षक प्रभु की शरण में जायँ, वे पूर्णतया सार-सँभार करेंगे ही। इसी से दुखी भी रहते हैं। शरणागत होनेवालों का अपना कर्तव्य कुछ

रह ही नहीं जाता ; यथा—"सोवै सुख तुलसी भरोसे राम नाम के।" (क० उ० १०२) "त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया." (भाग १०।२।३३)। "भीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा० दो० १२५)। शरणागत की भी सर्वात्मना स्थिति हरि ही में रहनी चाहिये। मन, वचन और कर्म से इन्हीं की सेवा में लगा रहे।

(२) 'फूले कमल सोह'''—यहाँ मल सगुण ब्रह्म है और जल निर्गुण ब्रह्म है, यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म।" (आ० दो० ३६); कमल के फूलने से जिस तरह सर को शोभा होती है उसी तरह सगुण होने से निर्गुण ब्रह्म को भी शोभा होती है ; यथा—"सरोः शोभते राजीवैः कथं विकसितैर्नृप। सत्त्वादिभिरथाच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं यथो॥" (विष्णुपुराण)। मानस में कमल चार रंग के कहे गये हैं—श्वेत, पीत, रक्त और श्याम। वैसे ही सगुण ब्रह्म के भी चार रंग कहे गये हैं; यथा—आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः॥ "शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।" (भाग० १०।८।१३)—अर्थात् युगानुसार भगवान् श्वेत, लाल, पीत और श्याम रूप धारण करते हैं। इस समय श्यामता को प्राप्त हैं।

पहले आश्रम धर्म से भक्ति-प्राप्ति का वर्णन हुआ; यथा—"जिमि हरि भगति पाइ श्रम'''" तब भक्ति की रीति और भगवान् का रक्षकत्व कहा गया—"जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।" फिर कहा गया कि इन्हीं के लिये हरि अवतार भी लेते हैं; यथा—"फूले कमल'''" पश्चात् उपमा द्वारा भक्तों का प्रभु-गुण-गाना कहते हैं; यथा—"गुंजत मधुकर मुखर'''"—जैसे क्वार के प्रारम्भ की सूचना कास के फूल द्वारा दी गई वैसे ही कार्तिक के आरंभ को यहाँ कमल के फूलने से सूचित किया। भ्रमर कमल का विशेष स्नेही होता है, तत्पश्चात् जल पक्षी। वैसे ही क्रम से इनका वर्णन भी करते हैं कि कमल के फूलने पर भ्रमर गूँजते हैं। ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने पर मुनि एवं दास लोग प्रभु का गुण-गान करते हैं; यथा—"विकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु बिराग पाइ सकल सोक कूप गृह बिहाइ भृत्य प्रेम म फिरत गुनत गुन तिहारे॥" (गी० बा०२०)। मुनि लोग ही पक्षी रूप कहे गये हैं; यथा—"बोलत खग निकर मुखर'''मनहुँ बेद बंदी मुनिबृंद सूत मागधादि बिरद बदत जय-जय-जयति कैटभारे।" (गी० बा० ३०)। निर्गुण ब्रह्म का गान नहीं करते बनता उसका गान सगुणत्व में ही होता है—यही ज्ञान है।

चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर-संपति देखी॥४॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही॥५॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संत-दरस जिमि पातक टरई॥६॥

अर्थ—रात को देखकर चकवे के मन में दुःख होता है। जैसे दूसरे की सम्पत्ति को देखकर दुष्ट दुखी होते हैं॥४॥ पपीहे रट लगाये हुए हैं। (क्योंकि) उन्हें अत्यन्त प्यास है। जैसे शंकरजी का द्रोही सुख नहीं पाता।५॥ शरद ऋतु की ताप (धूप) को रात में चन्द्रमा हर लेता है, जैसे संतों के दर्शनों से पाप दूर होते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'चकवाक मन''' सम्पत्ति जैसे सबको विश्राम और सुख देती है, जैसे रात। पर जैसे वही रात चकवे को दुखदायी होती है, वैसे ही पर-संपत्ति भी दुर्जनों को दुःखद होती है;

यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥" (उ० दो० १८); रात्रि के नाश से चकवे वैसे ही सुखी होते हैं, जैसे पर संपति के नाश से दुष्ट; यथा—"परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥" (बा० दो० ३)।

(२) 'चातक रटत तृषा अति ···'—जैसे वर्षा के रहते हुए भी चातक को सुख नहीं, वैसे ही सुख-साज के रहते हुए भी शंकर-द्रोही को सुख नहीं होता। क्योंकि उसने शं+कर=कल्याणकर्त्ता से ही द्रोह किया—यहाँ विवेक है।

यहाँ से शंकर, संत, हरि, ब्राह्मण और सद्गुरु इन पाँचों की सेवा क्रम से कहते हैं। इन्हींके मध्य में हरि की प्राप्ति लिखी गई है, जिसका भाव यह है कि उपर्युक्त पाँचों संसार-सागर से उद्धार करनेवाले हैं और शेष चारों की सेवा से हरि मिलते हैं; यथा—"द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।" (वि० १३६)। तथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥" (बा० दो० ३०१),—शिव-सेवा से; "भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन॥" (वि० २०३)—संत-सेवा से, "मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव॥" (आ० दो० ३३)—'द्विज-सेवा से; और—"श्रीहरि गुरु पद कमल भजहु मन तजि अभिमान। जेहि सेवत हरि पाइये सुख निधान भगवान॥" (वि० २०३)—सद्गुरु सेवा से। अर्थात् जिसे हरि प्राप्ति की इच्छा हो, वह इन चारों उपायों को करे।

(३) 'सरदातप निसि ससि···'—'निसि ससि' अर्थात् चन्द्रमा तो कभी-कभी दिन में भी रहता है, पर उसको आतप-हरण-शक्ति का विकास रात को ही होता है। यहाँ संत को और आगे हरि को चन्द्रमा के समान कहा गया है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।" (वि० ५७); जैसा सुख हरि के दर्शनों से संतों को मिलता है, वैसा ही सुख-संत के दर्शनों से इतर लोगों को होता है, परन्तु जैसे संत के दर्शनों से पाप का नाश होना कहा गया, वैसे हरि के दर्शनों से संतों का पाप हरना नहीं कहा गया, क्योंकि संत निष्पाप होते हैं—उनमें पाप होता ही नहीं। 'टरई' का भाव यह कि पाप टर जाता है, पर यदि संतों के-से आचरण न धारण किये जायँ तो फिर भी पाप होता है। जैसे प्रत्येक निशि में चन्द्रमा ताप हरण करता है और फिर भी नित्य ताप होता ही है—यहाँ संत-भक्ति है।

देखि इंदु चकोर-समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥७॥
मसक-दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा॥८॥

दोहा—भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद रितु पाइ।
सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय-भ्रम-समुदाइ॥१७॥

अर्थ—चकोरवृन्द चन्द्रमा को देखते हैं, जैसे हरिजन हरि को पाकर उनके दर्शन करते हैं॥७॥ मच्छड़ और डाँस (विषैली मक्खी) हिम (जाड़ा) के डर से नाश हो गये, जैसे ब्राह्मण से वैर करने से कुल का नाश होता है॥८॥ पृथिवी में जो जीव परिपूर्ण (व्याप्त) थे, वे शरद ऋतु को पाकर नाश हो गये, जैसे सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम-समूह चले जाते हैं॥१७॥

विशेष—(१) 'देखि इंदु चकोर ···'—वर्षाकाल में चकोर घनघोर-घटाओं के कारण चन्द्रमा को नहीं देख पाते, अब देखते हैं। 'चितवहिं जिमि ···'—हरि की प्राप्ति दुर्लभ है, जो ऊपर अर्द्धाली ५ में भी कही गई है। संत जब प्रभु को पाते हैं, तब चकोर के समान एकटक देखते ही रहते हैं अर्थात् तैलधारावत् अच्छिन्न एकरस प्रेम करते हैं। जैसे अनन्त तारागणों को छोड़कर चकोर चन्द्रमा को ही देखता है, वैसे ही हरिजन अनन्त देवों को छोड़कर एक हरि ही से लौ लगाते हैं; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥" (बा० दो० ११); आह्लादमय हरि भी चन्द्रमा की तरह एक ही हैं और हरिजन चकोरों की तरह अनन्त हैं—यहाँ अनन्य-भक्ति है।

(२) 'मसक दंस बीते ·····'—मच्छड़ छोटे और डाँस बड़े होते हैं; अर्थात् छोटे-बड़े सभी द्विज-द्रोही मच्छर-डाँस की तरह नाश हो जाते हैं; यथा—"दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।" (अ० दो० १२५)—यहाँ विवेक है। 'हिम त्रासा' से कार्तिक का अंत कहा गया है।

(३) 'भूमि जीव संकुल रहे ···'—ऊपर जलचर और थलचर कह चुके; यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।"—जलचर; "गुंजत मधुकर ··" "सुंदर खगरव ···" "मसक दंस बीते ···" नभचर। अब यहाँ से "भूमि जीव··" इन थलचरों के विषय में कहा जाता है। 'संशय'— किसी वस्तु के विषय में तरह तरह का ज्ञान होना, जिससे यह न जान पड़े कि कौन ठीक है और कौन नहीं। भ्रम—जैसे नाव पर बैठकर चलें तो आप, और समझें कि तट के ओर-ओर वृक्ष आदि चल रहे हैं, ऐसे ही देहेन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में मान लेना भ्रम है; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गीता ३।२७) सद्गुरु से ब्रह्मनिष्ठ गुरु का अर्थ है।

शरद ऋतु का उपक्रम—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।" से हुआ था, यहाँ—"सद्गुरु मिले जाहिं···" पर उसका उपसंहार हुआ।

वर्षा और शरदऋतु के वर्णन में विविध विषय

वर्ण धर्म—"बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।"—में ब्राह्मण का; "प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा।"—में क्षत्रिय का; 'उपकारी कै सम्पति जैसी।—में वैश्य का और "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।" में शूद्र का धर्म कहा गया है, यह चौपाई शूद्र के प्रति घटित होती है, क्योंकि द्विज-सेवा ही इनका मुख्य धर्म है।

आश्रम-धर्म—"सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।"—ब्रह्मचारी का। "गृही बिरति रत हरष जस···"—गृहस्थ का। "साधक मन जस मिले बिबेका।"—वानप्रस्थ का और "जिमि इन्द्रिय गन उपजे ज्ञाना।"—संन्यास का।

परमार्थ विधि—क्रोध-रहित कर्म करे; यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" और साधन-सहित विवेक को प्राप्त करे; यथा—"साधक मन जस मिले बिबेका।'; निष्काम भक्ति करे; यथा "हरिजन इव परिहरि सब आसा।"

काण्डत्रय के फल—कर्म के फल सुख-दुःख हैं; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही।" "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।"; ज्ञान का फल—"सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥"; उपासना का फल—"चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई।"

माया, जीव और ब्रह्म के लक्षण—

माया—"बनु जीवहिं माया लपटानी।" अर्थात् जीव के स्वरूप पर आवरण रखना माया का लक्षण है। "होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।" अर्थात् हरि से पृथक् होना और फिर उनमें प्राप्त होना ही जीव का लक्षण है। निगुन ब्रह्म सगुन भये जैं सा॥"—यह ब्रह्म का लक्षण है।

वर्षा के प्रदर्शन में इन्द्रधनुष का वर्णन नहीं किया गया, क्योंकि यह निषिद्ध है; यथा—"न दिवेन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः॥" (मनु०); अर्थात् इन्द्रधनुष को देखकर दूसरे को दिखाना मना है। वर्षा-वर्णन के पहले दोहे की अपेक्षा दूसरे में ड्योढ़ी चौपाइयाँ हैं, इससे दूसरे मास में महावृष्टि का होना सूचित किया गया है।

"राम-रोष कपित्रास"—प्रकरण

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥१॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनउँ॥२॥

अर्थ—वर्षा बीत गई, निर्मल ऋतु आ गई। हे तात! श्रीसीताजी का समाचार न मिला॥१॥ एक बार किसी प्रकार एवं कैसा भी समाचार पाऊँ तो काल को जीतकर निमेष-भर में ले आऊँ॥२॥

विशेष—(१) 'बरषा गत ···'—पहले भी—'बरषा बिगत सरद ऋतु आई' कहा गया था, उसका भाव यह था कि विशेष वर्षा तो बीत गई, किन्तु अब शरदऋतु आई है, जिसमें सामान्य वर्षा होती है, जैसा कि वहीं पर—"कहुँ-कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।" से स्पष्ट है। वहाँ 'बि गत' 'बि' उपसर्ग विशेष के अर्थ में है और यहाँ 'गत' मात्र देकर वर्षा का नितान्त निवृत्त होना कहा है, अर्थात् चतुर्मास (वर्षा का चौमासा) बीत गया; यथा—"व्यतीतांश्चतुरोमासान्विहरन्नावबुध्यते।" (वाल्मी० ४।३०।७८)। इसी से आगे शरद-ऋतु न कहकर 'निर्मल रितु' कहा है; अर्थात् आकाश नितान्त साफ हो गया।

कोई-कोई यों भी कहते हैं कि वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को दिखाने में 'बिगत' कहा था और यहाँ सीता-सुधि पाने के विषय में उसी को 'गत' कहा है।

(२) 'एक बार कैसेहुँ···'—'कैसेहुँ' अर्थात् मृत वा जीवित होने की। क्योंकि आगे इन्हीं दो प्रकारों की व्यवस्था कही गई है कि मृतक होंगी, तो काल के यहाँ होंगी, फिर निमिष अर्थात् अत्यन्त अल्प काल में ही काल को जीतकर श्रीजानकीजी को लाऊँगा। और यदि जीवित होने का समाचार मिले, तो अन्य उपायों के द्वारा लाऊँगा, चाहे जहाँ कहीं भी होंगी। 'कैसेहुँ' शब्द से मरण का भाव जना दिया, पर प्रिया के विषय में असंगल शब्द का प्रयोग श्रीरामजी से नहीं होने पाया; जैसे—"देखी साधु मान अनुहारी॥" (अ० दो० १२५); पर कहा गया है। यहाँ काल के जीतने में अपने बल का वर्णन किया।

कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई॥३॥
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज-कोष-पुर-नारी॥४॥

अर्थ—कहीं भी रहें, पर यदि वह जीती होंगी तो, हे तात! उन्हें यत्न करके लाऊँगा॥३॥ श्रीसुग्रीवजी

ने भी मेरी सुधि भुला दी, (क्योंकि) वे सब राज्य, कोश, नगर और स्त्री पा गये, अर्थात् राज्यादि चार में यदि एक भी शेष रहता, तो वे न भूलते, या, उन्हें एक ही का मद बहुत था, पर चार एकत्र हो गये, तब तो कुछ कहना ही नहीं ? ॥४॥

विशेष—(१) 'कतहुँ रहउ जौ जीवित होई'…'—पहले उन्होंने श्रीसीताजी के काल-वश होने की सम्भावना की, क्योंकि इसका कारण है कि निशाचरों ने खा लिया होगा ; यथा—"नर अहार रजनीचर चरहीं ।" (अ० दो० ६२) ; अथवा वे स्वयं राक्षसों के भय से नहीं जी सकी होंगी ; यथा—"चित्र लिखित कपि देखि डेराती ।" (सु० दो० ५२) ; वा, हमारे विरह में उन्होंने प्राण त्याग दिये होंगे ; यथा—"इदं हि हृदये बुद्धिर्मम संपरिवर्तते । नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥" (वाल्मी० ४।१।५१) ; अर्थात् मेरे विरह में श्रीसीताजी अच्छी तरह नहीं रह सकतीं । जीवित होने में 'जौ' दुविधा वाचक कहा । 'कतहुँ रहउ' का भाव यह है कि यह तो निश्चय है कि सब जीव मरने पर काल के यहाँ जाते हैं । पर जीवित रहने में ही संदेह है कि न जाने उस राक्षसने कहाँ ले जाकर रक्खा होगा । अतः, सर्वत्र उन्हें खोजने का यत्न करना पड़ेगा । इससे कुछ विलंब हो सकता है, पर काल के यहाँ से तो उसको जीतकर पल-भर में ले आऊँगा । यत्न से लाने में बुद्धि का गौरव कहा गया । बल और बुद्धि से ही जय प्राप्त होती है । भाव यह कि हम श्रीसुग्रीवजी ही के भरोसे नहीं हैं ।

(२) 'सुग्रीवहु' का भाव यह है कि काल तो हमारे विपक्ष में है ही ; यथा—"कीन्ह मातु मिस काल कुचाली ।" (अ० दो० २५१) ; उसने ही हमपर विपत्ति डाली । उसपर श्रीसुग्रीवजी ने भी मेरी सुध भुला दी । भाव यह है कि जैसे हम काल को जीतेंगे, वैसे ही कृतघ्नी सुग्रीव को भी मारेंगे । 'बिसारी' अर्थात् जानकर मेरी सुधि भुला दी ।

जेहि सायक मारा मैं बाली । तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ॥५॥
जासु कृपा छूटहि मद-मोहा । ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा ॥६॥

अर्थ—जिस बाण से मैंने वालि को मारा है, उसी बाण से मूढ़ को (क्या) कल मारूँ ? (तो सारी उसकी विलासिता खाक में मिल जाय ?) ॥५॥ हे उमा ! जिसकी कृपा से मद और मोह छूट जाते हैं, उसे क्या स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं, यह तो विरहातुर नर का नाट्य है) ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ।'—यहाँ 'हतउँ' यह अपूर्ण क्रिया है, अर्थात् 'मारूँ' । पूर्ण क्रिया 'मारूँगा' के लिये 'मारिहउँ' होना चाहिये, पर ऐसा नहीं है । अतः, 'हतउँ' का अर्थ 'क्या मारूँ ?' एवं 'यदि मारूँ' यह है । श्रीरामजी विरह का नाट्य कर रहे हैं, अथवा विरह से पीड़ित मनुष्य की तरह कह रहे हैं । श्रीसुग्रीवजी से स्वार्थ-भाव से मित्रता तो थी नहीं, यदि स्वार्थ-साधन के लिये मित्रता करते तो वालि से ही करते । श्रीसुग्रीवजी आर्त्त एवं अर्थार्थी भक्त हैं । अतः, उनकी रक्षा करना ही भगवान् का उद्देश्य है । उसने अग्नि की साक्षी देकर मित्रता की थी, प्रभु ने वचन-मात्र के दंड से उन्हें पाप-मुक्त किया, अन्यथा अग्निदेव ही उसे दंड देते । वचन-मात्र से भी इतना ही कहते हैं कि कल मारूँगा, पर ऐसा होगा नहीं, क्योंकि वह तो आज ही शरण में आ जायगा ।

(२) 'जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा ।…' ; यथा—"क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम की दाया ॥" (सु० दो० १८) ; यहाँ 'मद और मोह' दो ही कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों क्रोध के मूल

हैं। जब वे मूल ही उनकी कृपा से छूटते हैं, तो उन्हीं का कार्य-रूप क्रोध इन्हें कैसे हो सकता है? 'स्वप्न में भी न होगा' यह मुहावरा है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर-चरन रति मानी ॥७॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ॥८॥

दोहा—तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुना-सींव।
भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव ॥१८॥

अर्थ—मुनि, ज्ञानी और जिन लोगों ने रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति मान ली है, वे ही इस चरित (के मर्म) को जानते हैं ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु को क्रोधयुक्त जाना, (तब उन्होंने) धनुष चढ़ाकर बाण को हाथ में लिया; अर्थात् श्रीसुग्रीवजी को मारने के लिये उद्यत हो गये ॥८॥ तब करुणा की सीमा श्रीरघुनाथजी ने भाई को समझाया कि हे तात! सुग्रीव सखा है, उसे भय दिखाकर ही ले आओ; अर्थात् किसी को सखा बनाकर मारना उचित नहीं है ॥१८॥

विशेष—(१) 'जानहिं यह चरित्र···'—मुनि से अधिक ज्ञानी और ज्ञानी से अधिक उपासक प्रभु के चरित को जानते हैं। इसी प्रकार क्रम से कहा गया है। 'लछिमन क्रोध···'—श्रीलक्ष्मणजी ने जाना, पर प्रभु क्रोधयुक्त हैं नहीं।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी भी तो 'रघुबीर-चरन रति मानी' हैं ही; यथा—"मारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी ॥" (बा० दो० १९७); फिर क्यों नहीं जान सके?

समाधान—श्रीरामजी ने यह मर्म उन्हें नहीं जनाया, इससे उन्होंने नहीं जाना; यथा—"लछिमन हूँ यह मरम न जाना।" (आ० दो० २३); श्रीरामजी को ललित नरलीला करनी है, नर-शरीर में क्रोध, भ्रम, आदि का होना संभव है, इसीलिये ये वैसा ही चरित्र करते हैं। प्रभु का रहस्य उन्हीं के जनाये से, वह भी परिमित अंश में ही कोई जानता है। यदि श्रीलक्ष्मणजी जान लेते तो प्रभु से विरह आदि की लीला नहीं करते बनती।

(२) 'तब अनुजहि समुझावा···'—'करुना-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर भी अत्यन्त करुणा है। इसलिये भाई को समझाया। 'अनुजहि' और 'सखा'—का भाव यह है कि तुम हमारे छोटे भाई हो और श्रीसुग्रीवजी सखा अर्थात् हमारे समान हैं। अतः, वे तुम्हारे द्वारा आदरणीय हैं। समझाना वाल्मी० ४।३१।६-८ में कहा गया है—"जब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि मैं आज ही असत्यवादी सुग्रीव को मारता हूँ। रहा सीता-शोध, वह अंगद के द्वारा करा लूँगा। तब श्रीरामजी ने कहा कि तुम्हारे समान मनुष्य को ऐसा पाप नहीं करना चाहिये। जो कोप को विवेक से शान्त करते हैं, वे ही वीर पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हे श्रीलक्ष्मणजी! साधु-चरित्रवाले तुमको सुग्रीव के मारने की बात नहीं सोचनी चाहिये। पहले जो मैत्री की गई है, उसका स्मरण करो। काल बीत जाने के सम्बन्ध में कोमल वचनों से रुखाई दूर करके तुम सुग्रीवजी से कहना।"

यह भी समझाया कि अपने ही बनाये हुए को बिगाड़ना नहीं चाहिये; यथा—"आपने निवाजे

कोपे कीजे लाज महाराज, मेरी ओर हेरि कै न बैठिये रिसाइ के। पालि कै कृपाल ब्याल बालको न मारिये, औ काटिये न नाथ बिषहू को रूख लाइ कै॥" (क० उ० ११)।

इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। राम-काज सुग्रीव बिसारा॥१॥
निकट जाइ चरनन्हि सिर नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥२॥

अर्थ—यहाँ (किष्किंधा नगर में) पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने हृदय में विचार किया कि श्रीसुग्रीवजी ने राम कार्य भुला दिया॥१॥ समीप जाकर उन्होंने चरणों में प्रणाम किया और साम, दाम, भेद और दंड, इन चारों तरह से उन्हें कहकर समझाया॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ पवन सुत '—भुला देना इससे जाना कि स्मरण होता, तो वर्षा के बीतते ही हमसे कार्य करने को कहे होते, पर कभी इन्होंने चर्चा भी नहीं की। श्रीहनुमान्‌जी नहीं भूले, क्योंकि इनका तो राम-कार्य के लिये अवतार ही है; यथा—"राम काज लगि तव अवतारा।" (कि० दो० २९)। पुनः इन्होंने ही बीच में पड़कर दोनों तरफ से प्रतिज्ञा सहित मैत्री कराई थी। इनके हृदय में सदा श्रीरामजी बसते हैं, इससे प्रमाद नहीं हो सका और ये सावधान रहे।

(२) यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसुग्रीवजी में एवं श्रीरामजी में मन, वचन, कर्म की भक्ति प्रकट की—'हृदय बिचारा'—मन; 'चरनन्हि सिर नावा'—कर्म और 'कहि समुझावा'—वचन है। 'निकट जाइ'—इसलिये कि जिससे दूसरा कोई न सुने। इस बात के प्रकट होने में राजा की लघुता है। प्रणाम करके मंत्र कहना नीति है। 'चारिहु बिधि'—श्रीरामजी परम श्रेष्ठ हैं, उन्होंने आपसे आकर प्रीति की और पहले आपका उपकार किया। अतः, आपको उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये—यह साम है। उन्होंने आपको राज्य दिया, अतः बदले में उनका कार्य करना चाहिये—यह दाम है। बालि ने अंगद को सौंपा है, यदि अप्रसन्न होकर श्रीरामजी उसे ही राज्य दे दें तो आप क्या कर सकेंगे? अतः, उनका कार्य शीघ्र कीजिये—यह भेद है। फिर जिन्होंने बालि को मारा, उनके सामने आप क्या हैं?—यह दंड है।

वाल्मी० सर्ग २९ में श्रीहनुमान्‌जी का समझाना विस्तार से है। 'इहाँ' अर्थात् इस समय कवि की स्थिति परम भक्त श्रीहनुमान्‌जी की ओर है। 'बिचारा' श्रीरामजी ने कहा भी था—"संतत हृदय धरेहु मम काजू।" (दो० ११), तब भी इन्होंने भुला दिया। 'पवन सुत'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना।" (दो० २९); इसी से इन्होंने बुद्धि से विचार कर कहा।

सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना॥३॥
अब मारुत-सुत दूत-समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर-जूहा॥४॥
कहहु पाख महुँ आव न जोई। मोरे कर ताकर बध होई॥५॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने श्रीहनुमान्‌जी के वचन सुनकर अत्यन्त भय माना (और कहा—) कि विषय ने मेरा ज्ञान हर लिया॥३॥ हे पवनपुत्र! अब जहाँ-जहाँ वानरों के यूथ (झुन्ड) हैं, वहाँ-वहाँ बहुत-से दूतों को भेजो॥४॥ और दूतों एवं सर्वत्र के वानर यूथों से कहो एवं कहला दो कि जो कोई एक पक्ष (१५ दिन) में नहीं आवेगा, उसका वध मेरे हाथों से होगा॥५॥

विशेष—'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।'—पहले ज्ञान था; यथा—"उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला। सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (दो० ६)। उसी पर यहाँ लक्ष्य है। विषय ज्ञान को हर लेता है; यथा—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥" (गीता २।६७); 'अब मारुत सुत···'—मारुत सुत शीघ्रता के लक्ष्य से कहा गया कि वायु-वेग से दूतों को भेजो, वैसे ही तेजी से वे सब जायँ और वैसे ही तेजी से आनेवालों को बुलावें। 'दूत समूहा'; यथा—"शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्। प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः॥···आनयन्तु हरीन्सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम॥" (वाल्मी० ४।३७।१२-१५); अर्थात् सौ हजार करोड़ दूत शीघ्र जायँ और मेरे अधीन वानरों को शीघ्र ले आवें। 'जहँ-तहँ' वाल्मी० ४।३७।२२।२५ में कैलास, हिमालय, विन्ध्याचल आदि पर्वतों एवं क्षीरसमुद्र के तट के, तमाल वन के तथा और भी नदियों वनों के नाम दिये गये हैं, वे ही यहाँ 'जहँ तहँ' से कहे गये। इससे अन्य रामायणों के मतों का भी समावेश हो गया। 'जूहा' यूथा का अपभ्रंश है। 'मोरे कर'—दूसरे के हाथों से चाहे बच भी जाते।

तब हनुमंत बोलाये दूता। सब कर करि सनमान बहूता॥६॥
भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिर नाई॥७॥
येहि अवसर लछिमन पुर आये। क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये॥८॥

दोहा—धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।
व्याकुल नगर देखि तब, आयउ बालि-कुमार॥१९॥

अर्थ—(जब श्रीसुग्रीवजी ने आज्ञा दी) तब श्रीहनुमान्‌जी ने दूतों को बुलाया और सबका बहुत सम्मान करके॥६॥ सबको भय, प्रीति और नीति दिखाई, सब वानर चरणों में शिर नवाकर चले॥७॥ (दूतों के भेजे जाने पर) उसी समय श्रीलक्ष्मणजी नगर में आये, उनका क्रोध देखकर वानर जहाँ-तहाँ से दौड़े॥८॥ तब (जब अस्त्र धारण किये हुए वानरों को दौड़ते देखा, तब उन्हें लड़ने पर उद्यत जानकर) श्रीलक्ष्मणजी धनुष चढ़ाकर बोले कि (अग्निबाण से) नगर को जलाकर राख कर दूँगा। तब नगर-वासियों को व्याकुल देखकर वालि-पुत्र अंगदजी उनके पास आये॥१९॥

विशेष—(१) 'तब हनुमंत बोलाये···'—'तब' जब राजा की आज्ञा मिली। 'करि सनमान'—यथा—"लै लै नाम सकल सनमाने।" (अ० दो० ११०); सम्मान के द्वारा उनमें अपना प्रेम दिखाया। कहा कि तुम सब सुग्रीवजी के विश्वासी एवं मित्र हो, तुम्हारा उन्हें बड़ा भरोसा है, इत्यादि।

(२) 'भय अरु प्रीति नीति ···'—पक्ष-भर में जो न आवेगा, राजा उसे स्वयं मारेंगे—यह भय, शीघ्र आनेवाले एवं कार्य करनेवाले पर राजा प्रसन्न होंगे और तदनुसार पारितोषिक देंगे—यह प्रीति और दूतों को नीति बतलाई। नीति में यह भी कहा है कि सुग्रीव राजा का यह पहला कार्य है, इसमें त्रुटि करने-वाला पूर्व के विरोधी पक्ष का समझा जायगा। श्रीसुग्रीवजी ने केवल भय दिखाने की आज्ञा दी थी, इसी से भय को पहले कहा। नीति और प्रीति को इन्होंने अपनी ओर से कहा—यह इनकी स्वामि-भक्ति है।

(३) 'क्रोध देखि जहँ-तहँ...'—भय दिखाने के लिये श्रीलक्ष्मणजी क्रोध की चेष्टा किये हुए हैं, उनके नेत्र लाल और भौंहें चढ़ी हुई हैं, वे धनुष के रोदे से कठोर शब्द कर रहे हैं। 'जहँ-तहँ कपि धाये'—चारों तरफ मोरचेबंदी करने लगे कि किसी ओर से जाकर श्रीसुग्रीवजी को मारने न पावें। वरान लड़ने पर उद्यत देखकर श्रीलक्ष्मणजी का क्रोध और बढ़ गया।

(४) 'धनुष चढ़ाइ कहा...'—कहने मात्र पर नगर-भर व्याकुल हो गया, यह कथन भय-दर्शन के लिये ही है; यथा—"भय देखाय लै आवहु"-यह श्रीरामजी की आज्ञा है, इसका पूरा प्रभाव पड़ा। 'धनुष चढ़ाइ'—पहले धनुष चढ़ाना कहा गया था; यथा—"लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥" पर यहाँ फिर चढ़ाना कहा गया, इससे जाना गया कि उस समय श्रीरामजी के समझाने पर धनुष उतार दिया था। यहाँ इन लोगों की मोरचेबंदी देखकर इन्हें लड़ने को उद्यत जान फिर धनुष पर रोदा चढ़ाया। 'करउँ पुर छार'—क्योंकि पुरवालों ने लड़ने की तैयारी की। इसी से सबको जलाना कहते हैं। 'बालि कुमार'—बालि ने सौंपा है, इससे हमपर कृपा ही करेंगे, यह जानकर अंगद आया। पुनः बालि के बसाये हुए पुर पर आपत्ति देखकर उसकी रक्षा करने के लिये आया तथा बालि की तरह धीर एवं विनीत है—इससे आया। इन कारणों के प्रकट करने को 'बालि-कुमार' कहा है।

> चरन नाइ सिर बिनती कीन्ही। लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही॥१॥
> क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भय अकुलाना॥२॥
> सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥३॥
> तारा-सहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु-सुजस बखाना॥४॥
> करि बिनती मंदिर लै आये। चरन पखारि पलँग बैठाये॥५॥

अर्थ—अंगदजी ने चरणों में शिर नवाकर विनती की। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे अभय बाँह दी; अर्थात् उसे अपने कोप से निर्भय कर दिया॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी क्रोधयुक्त हैं, ऐसा कानों से सुनकर श्रीसुग्रीवजी भय से अत्यन्त व्याकुल हो गये और बोले॥२॥ हे हनुमान्! सुनो, तारा को साथ ले जाकर प्रार्थना करके राजकुमार को समझाओ; अर्थात् शान्त करो॥३॥ तारा के साथ जाकर हनुमान्जी ने चरणों की वंदना करके प्रभु का सुयश वर्णन किया॥४॥ विनती करके महल में ले आये, चरणों को धोकर उन्हें पलँग पर बैठाया॥५॥

विशेष—(१) 'अभय बाँह'—यह मुहावरा है कि तुम्हें कोई भय नहीं है, हम नगर न जलायेंगे।

(२) 'सुनि काना'—ये महल के भीतर थे, इससे इन्होंने कानों से ही सुना। बाहरवाले वानरों ने उनका क्रोध देखा भी था; यथा—"क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये।" ऊपर अंगदजी का अभय होना कहकर श्रीसुग्रीवजी का सुनना कहा गया, इससे सूचित किया कि अंगदजी ने ही आकर कहा, जैसा कि वाल्मी० ४।३१–३२ में स्पष्ट कहा है।

(३) 'अति भय अकुलाना'—श्रीहनुमान्जी के ही समझाने से उन्होंने परम भय माना था, अब श्रीलक्ष्मणजी को क्रुद्ध सुनकर तो अत्यन्त ही व्याकुल हो गये। सोचते हैं कि श्रीरामजी होते तो उन्हें मित्र के नाते समझा भी लेते, इनपर तो मेरा वश नहीं है।

(४) 'संग लै तारा ।'—स्त्री पर बड़े लोग दया ही करते हैं. तारा बड़ी बुद्धिमती भी है, बालि ने कहा भी था—यह पूर्व कहा गया और श्रीहनुमान्‌जी बुद्धि, विवेक और विज्ञान के निधान हैं एवं श्रीरामजी के विशेष कृपापात्र हैं, इन्हीं ने मैत्री कराई थी। अतएव ये दोनों समझा सकेंगे। अंगद को अभय-बाँह दे चुके हैं। अतः, उसकी माता पर भी दया ही करेंगे। अतः, मेरा अपराध भी क्षमा करेंगे। समझाना यह कि आपने अपने हाथ से जिसका तिलक किया है, उसे स्वयं न मारना चाहिये, इस नीति से राजकुमार को समझाना। 'कुमारा'—श्रीरामजी राजा हैं, उन्होंने श्रीसुग्रीवजी को मित्र बनाकर बराबर का पद दिया है। अतः, आप (कुमार) के द्वारा वे सम्मान के पात्र हैं। 'बिनती'—जैसे कि नाग-पत्नी की विनती से श्रीकृष्ण भगवान्‌ ने नाग को बचाया है।

(५) 'तारा सहित जाइ···'—श्रीलक्ष्मणजी द्वार पर ही थे। अतः, ये लोग वहीं तक गये। 'प्रभु सुजस' यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ।" (दोहावली ४०); "न घटे जन जो रघुबीर बढ़ायो!" (क० उ० १०)। "सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृति समन, सोक-श्रम-सींव सुग्रीव आरति हरन।" (गी० सु० ४६); राम-भक्तों को प्रसन्न करने का यह सहज उपाय है कि उन्हें राम-यश सुनावे; क्योंकि यही उनका जीवन धन है, यथा—"राम भगत जन जीवन धन से।"; "सेवक सालि पाल जलधर से।" (बा० दो० ३१–३२)।

'तारा सहित' एवं 'संग लै तारा' से श्रीहनुमान्‌जी की प्रधानता है, वाल्मीकीय रामायण में तारा की ही प्रधानता है।

(६) 'करि बिनती मंदिर लै आये।'—श्रीलक्ष्मणजी भीतर नहीं आना चाहते थे, तब भीतर चलने के लिये विनती की; यथा—"तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया। अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम्॥" (वाल्मी० ४।३३।६१); अर्थात् तारा ने कहा, आइये, किसी के घर में जाकर स्त्रियों को देखना न चाहिये—इस मर्यादा का आपने पालन किया, पर मित्र-भाव से सज्जनों का पर स्त्री को देखना अनुचित नहीं है, अतएव आप भीतर चलिये। मंदिर में ले आने से श्रीलक्ष्मणजी का अधिक सम्मान हुआ। चरण धोये, पलँग पर बैठाया, एवं और भी सेवा की। श्रीसुग्रीवजी भीतर बुलाकर फिर भी कोप शांत कराके मिले, क्योंकि बाहर श्रीलक्ष्मणजी की डाँट-फटकार से प्रजा के सामने मान-हानि थी, यहाँ तो घर की बात घर में ही है।

श्रीलक्ष्मणजी यहाँ राम-कार्य में आये हुए हैं, सेवक की रुचि रखने के लिये सेवा-ग्रहण करके पलँग पर बैठना इनके लिये अनुचित नहीं है। उदासीन व्रत तो श्रीरामजी के लिये ही है। इसी से वे नगर में नहीं आते थे, पर ये सर्वत्र आते-जाते थे।

तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥६॥
नाथ बिषय-सम मद कछु नाहीं। मुनि-मन मोह करइ छन माहीं॥७॥
सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहुबिधि समुझावा॥८॥
पवन-तनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गये दूत-समुदाई॥९॥

दोहा—हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगे करि, आये जहँ रघुनाथ ॥२०॥

अर्थ—(जब श्रीलक्ष्मणजी शान्त हुए) तब श्रीसुग्रीवजी ने उनके चरणों में सिर नवाया, श्रीलक्ष्मणजी ने हाथ पकड़कर उन्हें गले से लगा लिया ॥६॥ (श्रीसुग्रीवजी ने कहा—) हे नाथ! विषय के समान और कोई मद नहीं है, यह मुनियों (मनन-शीलों) के मन को भी क्षण-भर में मोहित कर लेता है ॥७॥ विनम्र वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने सुख पाया और उनको बहुत प्रकार से समझाया ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी ने सब कथाएँ सुनाईं, जिस तरह दूत समूह गये; अर्थात् चारों तरफ भेजे जानेवाले दूतों की व्यवस्था कह सुनाई ॥९॥ तब अंगद आदि वानरों को साथ लेकर और श्रीरामजी के भाई श्रीलक्ष्मणजी को आगे कर श्रीसुग्रीवजी हर्षित होकर चले और जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, वहाँ आये ॥२०॥

विशेष—(१) 'कपीस'—ये राजा हैं, अतएव इन्होंने नीति के अनुसार किया कि पहले अंगदजी आ मिले, फिर तारा एवं श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा उनका क्रोध शान्त कराया, तब मिले और उनके चरणोंपर पड़े।

(२) 'नाथ विषय सम मद'—मद अज्ञानियों को ही मोहित करता है, पर यह (विषय-रूप) मद ज्ञानियों को भी मोहता है। यह मन को मलिन कर देता है; यथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११४)। 'मुनि मन मोह करइ'; यथा—"सुदु शयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्। प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रोयथा मुनिः॥ घृताच्यां किल संसक्तो दशवर्षाणि लक्ष्मण। अहो मन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः॥" (वाल्मी० ४।३५।६-७)। 'बहु बिधि समुझावा'—आप श्रीरामजी के सखा हैं, उनके तुल्य हैं, अतः सम्मान्य हैं, पर मैंने श्रीरामजी के विरह के दुःख से ही कुछ क्रोध किया था, अब कोई भय नहीं। हाँ, अब शीघ्र चलकर अपने सखा को समझाइये। 'बिनीत बचन'—वाल्मी० ४।३६ में विस्तार से दिये गये हैं कि पहले की नष्ट राज्यश्री, कीर्ति और चिरंतर वानरों का राज्य श्रीरामजी की कृपा से ही मुझे पुनः प्राप्त हुए हैं। उनका बदला चुकाने एवं सहायता करने में कौन समर्थ हो सकता है। वे स्वयं श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे, रावण को मारेंगे।...मैं भी पीछे-पीछे जाऊँगा। विश्वास के कारण या स्नेह के कारण यदि इस दास से अपराध हो गया है, तो उसे क्षमा करें, क्योंकि दासों से अपराध हो ही जाते हैं, इत्यादि।

(३) 'पवन-तनय सब कथा...'—पहले उन्हें कुपित जानकर न कहा था, अब प्रसन्न जानकर सुनाते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने ही सब व्यवस्थाएँ की थीं, इससे उन्होंने ही कहा। ये मंत्री और परम वाक्य-विशारद भी हैं। 'पवन-तनय'—क्योंकि इनके वचन, भी श्रीलक्ष्मणजी को वायु की तरह शीतल करनेवाले हैं।

(४) 'हरषि चले सुग्रीव......'—हर्षित होकर चले, क्योंकि राम-कार्य प्रारम्भ कर चुके हैं और श्रीलक्ष्मणजी भी अनुकूल हो गये। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के अनुज हैं, इसलिये उन्हें आगे किया, तब स्वयं और फिर अंगद आदि हैं। अंगदजी का नाम स्पष्ट कहा गया है, क्योंकि श्रीरामजी ने कहा ही था—"अंगद सहित करहु तुम राजू।" (दो० ११); अत, इन्हें साथ रखने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे। चलने की रीति भी जनाई कि आगे श्रीलक्ष्मणजी हैं, फिर श्रीसुग्रीवजी और तब अंगद आदि।

नाइ चरन सिर कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहि न खोरी ॥१॥
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जो दाया ॥२॥
विषय-बस्य सुर-नर-मुनि-स्वामी। मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे नाथ ! मेरा कुछ दोष नहीं है ॥१॥ हे देव ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है, हे श्रीरामजी ! जो आप कृपा करें तो छूटे ॥२॥ हे स्वामी ! सुर, नर, मुनि सभी विषय के वश हैं, (तो) मैं पामर (नीच) पशु अत्यन्त कामी कपि किस गणना में हूँ ? ॥३॥

विशेष – (१) 'नाइ चरन सिर कह ······'—हाथ जोड़कर शिर नवाना श्रीरामजी को प्रिय है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै ॥" (वि० १३५) ; चरण के सम्बन्ध से शिर नवाना साष्टांग दंडवत् के अर्थ में है; अन्यथा केवल 'माथ नाइ' आदि कहते ; यथा—"माथ नाइ पूछत अस भयऊ।" (दो० १) ; अंगदजी एवं तारा और श्रीहनुमान्जी ने भी चरणों की वंदना और विनती ही की थी ; यथा—"चरन नाइ सिर बिनती कीन्हीं।"–अंगदजी, "चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ॥"—तारा और हनुमान्जी, इसी भाँति सुग्रीवजी ने भी किया।

'नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी'''—भाव यह कि माया आपकी ही है, आपही की प्रेरणा से बाँधना और छोड़ना ये दोनों ही कार्य होते हैं ; यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव।" (आ० दो १५) ; "तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै।" (वि० १०२) ; भाव यह कि मैंने तो प्रथम ही माँगा था कि वैसी कृपा कीजिये, जिससे सब छोड़कर भजन करूँ पर आपने माया का सम्बन्ध कर दिया तो मैं क्या करूँ ? अतः, अब ऐसी कृपा कीजिये कि मोह से बचकर आपका भजन करूँ ; यथा—"काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे। सोइ कछु करहु हरहु ममता मम फिरहुँ न तुम्हहि बिसारे ॥" (वि० ११२)।

(२) 'अतिसय प्रबल देव ''' ; यथा—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन।" (उ० दो० ६२) ; "जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।" (वि० ९८)। 'छूटइ नाथ करहु जौ दाया' ; यथा—"सो दासी'''छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि।" (उ० दो० ७१) ; "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता ७।१४) ; तथा वि० ११६ और १२३ इन पूरे-पूरे पदों को भी पढ़िये।

(३) 'बिषय-बस्य सुर-नर मुनि'''—सुर में श्रेष्ठ इन्द्र अहल्या में आसक्त हुए, मनुष्यों में आदि पुरुष मनुजी ने स्वयं कहा है; यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।" (बा० दो० १४२), मुनि नारदजी के विषय वश होने की कथा आ ही चुकी है। सुर सत्त्वप्रधान हैं ; अतः, ज्ञान-रूप ही होते हैं। 'मानुष तनु गुन ग्यान निधाना ॥" (अ० दो० २६३), यह नरों के लिये कहा ही है। मुनि मननशील एवं विज्ञान धाम होते हैं, जब वे विषय वश हो जाते हैं, तो वानर पशु जो कि अत्यन्त कामी होते हैं, उन्हें क्या कहना ? यथा—"महर्षयो धर्मतपोभिरामाः कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥" (वाल्मी० ४।३३।५७)—ये तारा के वचन श्रीलक्ष्मणजी से हैं कि धर्म और तप से शोभित मोह रहित महर्षि भी विषयाभिलाषी हो जाते हैं। तो स्वभाव से ही चंचल वानर और फिर राजा यदि सुख में आसक्त हुआ तो क्या आश्चर्य है ? श्रीसुग्रीवजी ने ऐसा ही निश्छल भाव से श्रीलक्ष्मणजी से भी कहा है ; यथा—"नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं ॥" (दो० ११)।

यहाँ तक बाह्येन्द्रिय-विषय शब्दादि कहे गये, आगे अन्तःकरण के आच्छादन करनेवाले कामादि विकारों को कहते हैं—

नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥४॥
लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह-समान रघुराया ॥५॥
यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥६॥
तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ॥७॥

अर्थ— स्त्री का नयन-बाण जिसको नहीं लगा, जो घोर क्रोधरूपी अँधेरी रात में जागता रहता है; अर्थात् क्रोध आने पर भी जो सावधान रहता है ॥४॥ लोभरूपी पाश (फंदा, बंधन) से जिसने अपना गला नहीं बँधाया, अर्थात् जो लोभ में नहीं फँसा, हे श्रीरघुनाथजी ! वह मनुष्य आपके ही समान है ॥५॥ ये गुण साधनों से नहीं प्राप्त होते । आपकी कृपा से ही कोई-कोई पाता है ॥६॥ तब श्रीरघुनाथजी हँसकर बोले कि हे भाई ! तुम मुझे भरत जैसे (भरतजी की तरह) प्रिय हो ॥७॥

विशेष—'नारि नयन सर...' जैसे कि भौंहें कमान और नेत्र की पुतली बाण हैं और अंजन काजल आदि के सहित नेत्रों का होना बाणों का गाँसी लगे हुए एवं विष बुझे हुए होना है । कटाक्ष चलाना प्रहार करना है । श्रीसुग्रीवजी काम-वश हुए, इसीसे प्रस्तुत प्रसंग को पहले कहते हैं । 'घोर क्रोध तम निसि ...'—क्रोध अँधेरी रात की तरह है, क्योंकि इसमें भी लोगों को उचित-अनुचित नहीं सूझता; यथा—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल । जेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥" (बा० दो० २७७) ।

(२) 'लोभ-पास जेहि...'—लोभ नट रूप है, आशा पाश है; यथा—"लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि ।" (वि० १५८); "लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचे ।" (क० उ० ११८) । 'गर न बँधाया' बन्दर स्वयं बँधता है, वैसे जीव भी आशा में स्वयं बँधता है ।

काम, क्रोध और लोभ को क्रम से कहा, क्योंकि तीनों अत्यन्त प्रबल हैं; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ । मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (अ० दो० ३८) यथा—"को न क्रोध निरदह्यो...भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान ते बाँचे ।..." (क० उ० ११७-११८)—इन पूरे-पूरे पदों को पढ़िये ।

'सो नर तुम्ह-समान ...'—भाव यह कि ईश्वर के बिना कोई भी इनसे सर्वथा अपनी शक्ति से नहीं बच सकता । इसीसे कोई भी जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता, यथा—"जीव कि ईस समान ।" (उ० दो० १११); विकार छः हैं, पर तीन ही कहे गये, क्योंकि काम से मद, क्रोध से मोह और लोभ से ईर्ष्या होती है । अत , तीन के ही जीतने में छहों से विजयी हो सकता है ।

(३) 'यह गुन साधन ते... '—और गुण क्रिया साध्य भी हैं; यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना ।" (आ० दो० १५); पर यह गुण क्रिया साध्य नहीं है, केवल कृपासाध्य ही है । कृपा से भक्तों में ही ये गुण होते हैं, जैसे श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी इत्यादि में हैं । अन्यत्र भी कहा है—"क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम की दाया ॥" (आ० दो० ३८) ।

(४) 'तब रघुपति बोले मुसुकाई ।'—श्रीसुग्रीवजी काम के वश हो गये थे और कहते हैं कि कामादि आपकी कृपा से छूटते हैं, इससे सूचित किया कि मुझपर आपकी कृपा नहीं है । इसपर प्रभु

ने हँसकर अपनी कृपा सूचित की ; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो० १९७)। हँसकर प्रसन्नता प्रकट करके श्रीसुग्रीवजी के हृदय की ग्लानि दूर की। इसपर भी हँसना कहा जाता है कि जीव जब भूलता है, तब किसी भी रीति से मुझपर ही दोष रखता है ; यथा—"दोष-निलय यह विषय सोक प्रद कहत संत श्रुति टेरे। जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ॥" (वि० १८०)।

'तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई'—श्रीहनुमान्‌जी श्रीसुग्रीवजी के मंत्री हैं, उन्हें श्रीलक्ष्मणजी के प्रियत्व की उपमा दी थी; यथा—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।" (दो० ३) श्रीसुग्रीवजी राजा हैं, और श्रीहनुमान्‌जी से बड़े हैं, इसलिये राजा और श्रीलक्ष्मणजी से बड़े श्रीभरतजी के समान कहा है। श्रीभरतजी भाई हैं, वैसे श्रीसुग्रीवजी भी हैं ; यथा—"त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।" (वाल्मी० ६।१२७।४१) ; यह भी भाव है कि दासत्व संबंध से श्रीहनुमान्‌जी को श्रीलक्ष्मणजी के समान और सख्यत्व में इन्हें श्रीभरतजी के समान कहा है। हँसने से और श्रीभरतजी के समान प्रिय कहने से श्रीसुग्रीवजी का भय जाता रहा।

"जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये"—प्रकरण

अब सोइ जतन करहु मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि होत बतकही, आये बानर-जूथ।
नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस-बरूथ ॥२१॥

अर्थ—अब मन लगाकर वही उपाय करो, जिस तरह श्रीसीताजी की खबर मिले ॥८॥ इस तरह बात-चीत हो रही थी कि वानरों के यूथ (झुंड) आ गये। सब दिशाओं में अनेक रंगों और जातियों के वानरों के झुंड दिखाई देने लगे ॥२१॥

विशेष—(१) 'अब सोइ जतन'''—अभी तक विषय में मन लगाये हुए थे, अब सीता-शोध में मन लगाओ, फिर न भूलना, जो हुआ सो हुआ। श्रीसुग्रीवजी ने तो कहा था; यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥" पर सर्वज्ञ प्रभु ने उतना ही कहा, जितना कि उनसे होना है, श्रीसीताजी का लाना तो प्रभु के अपने ही पुरुषार्थ से होगा।

(२) 'येहि बिधि होत बतकही'' '—'बतकही' शब्द का भाव बा० दो० ८ चौ० २ पर लिखा गया, वहीं देखिये। यहाँ वानरों के यूथों के आगमन से स्पष्ट है कि पहले जो श्रीहनुमान्‌जी ने दूतों को भेजा था और पक्ष भर की अवधि दी थी, वह पक्ष भर हो गया। उस समय के वचन से जान पड़ता है कि पक्ष के भीतर आना कठिन था। इससे पूर्वोक्त—"येहि अवसर लछिमन पुर आये।" का भाव पक्ष पूर्ति के लगभग करना होगा। 'नाना बरन'—वाल्मी० ४।३८।२७-३४ में इनका विशद वर्णन है। ये सब असंख्य कहे गये, इनकी कई जातियाँ और कई रंग भी थे। सब भयंकर, वीर और विशालकाय थे, क्योंकि राक्षसों से युद्ध के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से पैदा हुए हैं।

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा ॥१॥
आइ राम-पद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा ॥२॥
अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥३॥
यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई ॥४॥

अर्थ—हे उमा ! मैंने वानरी सेना देखी है, वह मूर्ख है जो उनकी गणना करना चाहे (अर्थात् वह असंख्य थी, तो गिनने का प्रयास करना मूर्खता ही है) ॥१॥ सब आ-आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं और उनके मुख के दर्शनों से कृतार्थ होते हैं ॥२॥ सेना में एक भी वानर ऐसा नहीं था कि जिससे श्रीरामजी ने कुशल न पूछी हो ॥३॥ प्रभु के लिये यह कुछ बड़ी बात नहीं है, (क्योंकि) रघुराई श्रीरामजी विश्व (विराट्) रूप और व्यापक हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'मैं देखा'—श्रीशिवजी भी वहाँ देवताओं के साथ थे ; यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा ॥" (दो० १२) ; इसीसे कहते हैं कि मैं अपनी देखी बात कहता हूँ।

यहाँ सभी आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं, श्रीरामजी सबसे कुशल पूछते हैं और वे सब दर्शनों से अपनेको सनाथ मानते हैं, क्योंकि जिन स्वामी की राह देखते थे, वे ही प्राप्त हुए ; यथा—"हरि मारग चितवहिं मतिधीरा।" (बा० दो० १८०) ; अभी तक अनाथ थे, अब नाथ को पाकर सनाथ हुए, इससे अपनेको कृतार्थ मानते हैं। सब परिचित की तरह श्रीरामजी को दंडवत् प्रणाम करते हैं और असंख्य वानरों में प्रत्येक से श्रीरामजी कुशल पूछते हैं, यह उनका रहस्य है। श्रीपार्वतीजी ने 'औरउ राम रहस्य अनेका।' का प्रश्न किया था। उसके उत्तर में यह भी एक रहस्य है। दंडवत् करना सेवक का धर्म है और सेवक का सम्मान करना यह स्वामी का धर्म है। श्रीरामजी स्वामित्व में बड़े सावधान हैं ; यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हैं।" माधुर्य की दृष्टि में यह आश्चर्य बात है कि एक ही श्रीरामजी सबसे कैसे कुशल पूछते हैं, इसी से ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान करते हैं।

(२) *'बिस्व रूप ब्यापक…'—अर्थात् व्यापक और व्याप्य दोनों वे स्वयं हैं। संसार भर उनका* शरीर है और सबमें वे ही परमात्मा रूप से व्याप्त हैं, तब सबसे कुशल पूछना उनके लिये कौन अधिकता है ; यथा—"येह यदि बात राम के नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं ॥" (अ० दो० २९१)।

(३) 'सो मूरुख जो करन चह लेखा।'—महर्षि वाल्मीकीजी ने इनकी संख्या के विषय में जिन शब्दों से कहा है, उनसे इनका अनन्त होना ही सिद्ध है ; यथा—"शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिभिस्तथा। अयुतैश्चावृता वीर शंकुभिश्च परंतप ॥ अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः। समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥" (वाल्मी० ६।२८।३१-३२) ; अर्थात् किसी यूथप के साथ सौ वानर, किसी के साथ सौ हजार एवं करोड़, दस हजार, शंकु (लाख करोड़), अर्बुद (हजार शंकु), सौ अर्बुद, मध्य अर्बुद (दस अर्बुद); अन्त्य अर्बुद (मध्य अर्बुद के दस गुने), समुद्र (अन्त्य के दस गुने) और किसी के साथ परार्द्ध (समुद्र के बीस गुने। वानर हैं। आगे ग्रन्थकार ने भी कहा है ; यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (सुं० दो० ५४) ; पर एक-एक यूथप के साथ उक्त रीति से ही वानर हैं, तब तो संख्या करना असंभव

ही है। इतने थे कहाँ? इसपर भी कहा है; यथा—"गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥" (बा० दो० १८७)।

देश और काल के अनुरोध से सृष्टि के क्रम में परिवर्त्तन हुआ करता है। आजकल के वानरों के चिबुक नहीं होती। ये प्राकृत वानर भी उस समय थे, श्रीवाल्मीकिजी ने जहाँ तहाँ कहा है। पर श्रीहनुमान्‌जी के चिबुक थी, जिसपर इन्द्र के वज्र सहने से हनुमान् नाम हुआ। उसी जाति के सब वानर थे, वे बड़े वीर थे। उनका केवल मस्तिष्क मात्र मनुष्य की अपेक्षा कम होता था। मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक जंगलीपन होता था। उनसे पहले ही राक्षसों की सृष्टि बढ़ी थी, जिनके संहार के लिये इन वानरों की सृष्टि हुई थी। इनका विकाश हुआ और फिर काल पाकर लोप भी हो गया। इनका विकाश रामावतार के समय में पराकाष्ठा को पहुँच गया और फिर नाश का समय भी आ गया। कारण स्पष्ट ही है कि ये सब भगवान् के नित्य धाम के परिकर हैं, भगवान् के साथ ही इन्हें भी परधाम जाना था; यथा—*"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥"'''सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥"* (दो० २६)।

> ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई॥५॥
> राम-काज अरु मोर निहोरा। बानर-जूथ जाहु चहुँ ओरा॥६॥
> जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयेहु भाई॥७॥
> अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराये॥८॥

अर्थ—आज्ञा पाकर सब जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये। तब सुग्रीवजी ने सबको समझाकर कहा॥५॥ कि यह श्रीरामजी का कार्य है और मुझपर तुम्हारा उपकार (कृतज्ञता, एहसान) है। हे वानरों के समूहो! तुम चारों ओर जाओ॥६॥ और जाकर, हे भाई! जनक-पुत्री (सीताजी) का पता लगाओ और महीने-भर में वापस आ जाना॥७॥ जो कोई बिना पता लगाये (एक मास की) अवधि बिताकर आवेगा, मुझे उसका वध करवाना ही पड़ेगा; अर्थात् मैं उसे अवश्य मारूँगा॥८॥

विशेष—(१) 'ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई।'—'आयसु पाई' दीपदेहली है; अर्थात् श्रीरामजी की आज्ञा पाकर वानर यूथ जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये, क्योंकि अत्यन्त भीड़ के कारण चलने का अवकाश नहीं था। पुनः श्रीरामजी की ही आज्ञा पाकर श्रीसुग्रीवजी ने सबको समझाकर कहा। वाल्मी० ४।४० में कहा है कि श्रीसुग्रीवजी ने सेना की प्रशंसा करते हुए श्रीरामजी से कहा कि ये सब आपके अधीन हैं, इच्छानुसार आज्ञा दीजिये। इसपर श्रीरामजी ने कहा कि हे सौम्य! वैदेही का पता लगाना चाहिये, श्रीसीताजी जीवित हैं कि नहीं, वे कहाँ हैं, रावण कहाँ है, इत्यादि। इस कार्य के कर्ता हम और श्रीलक्ष्मणजी नहीं हैं, किन्तु आप ही हैं, आप ही इनके स्वामी हैं। अतः, इन्हें आज्ञा दें। 'समुझाई'— वाल्मीकीय रामायण में पृथिवी-भर का हाल वानरों को समझाना लिखा है, वह भी आ गया, शेष समझाना आगे है—

(२) 'राम काज अरु मोर निहोरा।'''—राम-कार्य मुख्य है, क्योंकि उससे परलोक बनेगा, अतः, उसे प्रथम कहा। 'मोर निहोरा'—पीछे कहा, क्योंकि इससे हम प्रसन्न होंगे, तो लौकिक पदार्थ जो माँगोगे, वही देंगे। इससे लोक बनेगा। 'राम-काज' का स्वरूप आगे कहते हैं—

(३) 'जनक सुता कहँ खोजहु जाई।'''—'जनक-सुता'—का भाव यह कि श्रीसीताजी को अपने जनक (पिता) की पुत्री (सगी बहन) मानकर तत्परता से खोजना। यदि पता लगा दोगे, तो वही यश पाओगे जो श्रीजनकजी को सुता-प्रदान करने से प्राप्त हुआ है; यथा—"जो सुख सुजस लोक पति चहहीं।''' सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी।" (बा० दो० ३४२)।

'मास दिवस महँ आयेहु भाई।'—प्रीति और भय दोनों दिखाना है. इस अर्द्धाली में 'भाई' संबोधन से प्रीति दिखा रहे हैं, यह मित्र रूप से आज्ञा है। यह भी आशय है कि जो महीने के भीतर श्रीसीताजी का पता लगाकर आयेगा, वह हमारा भाई ही होगा, हमारे तुल्य ऐश्वर्य भोगेगा, भारी अपराध पर भी वह हमारा भाई (सम्मान का पात्र) ही होगा। यही भाव वाल्मी० ४।४१।४७-४८ का है।

(४) 'अवधि मेटि जो बिनु '''—अर्थात् पता लगने से यदि अवधि बीत जाने पर आवे, तब भय नहीं है। जो पता भी न लगावे और न अवधि बिताकर आवे; वही दंड के योग्य होगा। अर्थात् वह हमारे यहाँ मरने को ही आवेगा। यह प्रभु-रूप से आज्ञा है। इसी से तीन दिशाओं के वानर अवधि के भीतर ही आ गये हैं।

'मास दिवस' के श्लेषार्थ से चार प्रकार के सेवक (उत्तम, मध्यम, नीच, लघु) का भाव भी कहा जाता है। मास=१२, मास+दिवस (१२+७)=१९, मास= ३० दिन। जो १२ दिन में ही आवे, वह अत्यन्त शीघ्रगामी होने से उत्तम है; जो १९ दिन में आवे, वह मध्यम; जो ३० दिन में आवे वह नीच भक्त है, (पर जो पता लेकर अवधि बीते भी आवे, तो वह तीसमार अर्थात् बड़ा बहादुर है।) और जो अवधि भी बिताकर आवे और पता भी न लावे, वह लघु है और मेरा शत्रु है, यह वध होने के लिये ही आवेगा।

यद्यपि श्रीजटायुजी और श्रीसुग्रीवजी से भी जाना गया है कि रावण श्रीसीताजी को ले गया और दक्षिण दिशा को गया है और उधर ही रहता भी है। तथापि सब दिशाओं को वानर भेजे गये, क्योंकि चोरी की वस्तु लोग प्रायः अन्यत्र ही रखते हैं, न जाने किस दिशा में उन्हें छिपाकर रक्खा हो? इसीसे सर्वत्र खोज कराते हैं।

दोहा—बचन सुनत सब बानर, जहँ तहँ चले तुरंत।
तब सुग्रीव बोलाये, अंगद नल हनुमंत ॥२२॥

सुनहु नील - अंगद - हनुमाना। जामवंत मति-धीर सुजाना ॥१॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता - सुधि पूछेहु सब काहू ॥२॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु ॥३॥

अर्थ—(सब) वचन सुनते ही सब वानर तुरत जहाँ-तहाँ चल दिये, तब श्रीसुग्रीवजी ने अंगद, नल और हनुमान्‌जी को बुलाया ॥२२॥ (और कहा—) हे नील, अंगद, हनुमान् और जाम्बवान्! सुनिये, आप लोग धीर-बुद्धि और चतुर हैं ॥१॥ आप सब सुभट मिलकर दक्षिण दिशा को जायँ और सब किसी से श्रीसीताजी का पता पूछें ॥२॥ मन, कर्म और वचन से वही उपाय विचारें और श्रीरामजी का कार्य अच्छी तरह से करें ॥३॥

विशेष—(१) 'जहँ-तहँ चले तुरंत'—"उत्तर दिशा में शतबलि, पूर्व में विनत और पश्चिम में सुषेण भेजे गये।" (वाल्मी० ४।४५); 'तुरंत' शब्द से इन सबका उत्साह सूचित किया। पर ये तीन दिशाओं के वानर चलते समय आतुरी में श्रीरामजी का प्रणाम करना भूल गये, क्योंकि इनके द्वारा कार्य-सिद्धि भी नहीं होगी। दक्षिणवाले प्रणाम करके चलेंगे; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले सकल सुमिरत रघुराई॥" आगे कहा है। अतः, ये ही श्रीसीताजी का पता पावेंगे और यश के भागी होंगे। कहा भी है—"संग नील नल कुमुद गद, जामवंत जुबराज। चले राम पद नाइ सिर, सगुन सुमंगल साज॥" (रामाज्ञा ३-७ २)।

'सुनहुँ नील अंगद'''—इन वानरों के नाम भी लिये, क्योंकि ये सब प्रधान-प्रधान हैं। नील-सेनापति, अंगद युवराज श्रीहनुमान्‌जी मंत्री और श्रीजाम्बवान्‌जी ऋक्षराज एवं मंत्री भी हैं। सम्मान के लिये इनके नाम लिये गये; यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने॥" (अ० दो० ११०)।

(२) *'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।'*—तीन दिशाओं में एक-एक मुख्य भट भेजे गये हैं, दक्षिण में समस्त सुभटों को भेजते हैं, क्योंकि जटायु से खबर मिल चुकी है कि रावण श्रीसीताजी को हर कर दक्षिण ले गया है। अतः, वहाँ युद्ध की संभावना है। 'मिलि'—सब वीर मिलकर भारी कार्य भी कर सकते हैं। 'सब काहू'—छोटे-बड़े सभी से पूछना, न जाने किससे समाचार मिल जाय।

इस दिशा में श्रीअंगदजी को प्रधान करके भेजते हैं, इसलिये बुलाने में उन्हें प्रथम कहा है। पुनः नील आदि के नाम छन्दानुरोध से हैं। श्रीअंगदजी के साथ मुख्य वानर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान् और तार के नाम वाल्मी० ४।५०।५-६ में कहे गये हैं।

(३) *'मन क्रम बचन सो'''*—यत्न, विचारना मन का कार्य, संचारना कर्म और सीता-सुधि पूछना वचन का कार्य है। आज्ञानुसार इन लोगों ने किया भी है; यथा—"इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।" (दो० २५)—मन; "चले सकल बन खोजत ''" (दो० २३)—कर्म; और—"सब मिलि कहहिं परस्पर बाता।" (दो० २५)—यह वचन है।

मन, कर्म और वचन के साक्षी क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि हैं। इनमें 'रामचन्द्र' में चन्द्र शब्द ध्वनि से लिया गया और सूर्य तथा अग्नि के नाम अगली अर्द्धाली में आये हैं। भाव यह कि मन आदि तीनों से छल न हो, नहीं तो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा दंड देंगे।

भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी॥४॥
तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका॥५॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥६॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन-अनुरागी॥७॥

अर्थ—सूर्य को पीठ से और अग्नि को उर (छाती) से सेवन करना चाहिये, (अर्थात् धूप तापना हो तो सूर्य की ओर पीठ करके बैठे और आग तापने में अग्नि के सम्मुख बैठे—यह वैद्यक का नियम है, इसके विरुद्ध में शारीरिक हानि होती है।) परन्तु स्वामी की सेवा सब छल छोड़कर सब भावों से करनी

चाहिये ॥४॥ माया (तन, धन, पुत्र, कलत्र की ममता) त्याग करके परलोक का सेवन करे, (तो) भव (संसारासक्ति) से उत्पन्न जितने शोक हैं, वे सब मिट जायँ ॥५॥ हे भाई ! देह धरने का यही फल है कि सब काम एवं कामनाएँ छोड़कर श्रीरामजी का भजन किया जाय ॥६॥ जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों का अनुरागी है, वही गुणवान् है और वही बड़भागी है; अर्थात् आप लोग श्रीरामजी के प्रेम से उनके कार्य में लग रहे हैं, अतएव बड़भागी हैं ॥७॥

विशेष—'भानु पीठि सेइय···'—सूर्य पीठ से सेवन करने से सुखदायी होते हैं, अग्नि उर से सेवन करने से और स्वामी सब भावों (माता, पिता, गुरु, स्वामि आदि सभी भावों) से सेवन करने से सुखदायी होते हैं। 'छल त्यागी'—भाव यह कि सूर्य और अग्नि के सेवन में स्वार्थ-साधन रूप छल रहता है; सेवा में स्वार्थ ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००), अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ ही छल है। सूर्य के सेवन में यह स्वार्थ है कि पीठ से सेवन करने से वह वात और शीत का नाशक है। सामने से सेवन करने से दृष्टि की हानि होती है। वैसे ही अग्नि को सामने से तापने से जठराग्नि बढ़ती है। पीठ से सेवन करने पर काम (वीर्य) की हानि होती है। यह समझकर स्वार्थ-दृष्टि से सेवन किया जाता है। पर यह दृष्टि स्वामी की सेवा में न होनी चाहिये, किन्तु उसका सब भावों से निःस्वार्थ होकर सेवन करना चाहिये।

यह भी भाव है कि सूर्य का लोग पीछे से सेवन करते हैं और अग्नि का आगे से; पर स्वामी की सेवा सब भावों से जैसे उनके आगे की सेवा करे वैसे ही परोक्ष (पीछे) की भी सेवा करनी चाहिये। ऐसा न करे ; यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥" (दो० ६)। 'सर्व भाव' और 'छल त्यागी'; यथा —"पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ॥" (उ० दो० ८७)।

सारांश यह कि मन, तन और वचन से देह की ममता त्यागकर निःस्वार्थ भाव पूर्वक सब प्रकार से स्वामी की सेवा करनी चाहिये, ऐसा ही इन वानरों ने किया भी है ; यथा—"राम काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह॥" (दो० २१)। यही यथार्थ अर्थ है, इसके लोग बहुत तरह से अर्थ करते हुए 'बज तेरही' कहते हैं, विस्तार भय से यहाँ वे अर्थ नहीं लिखे गये।

(२) 'तजि माया सेइय परलोका।···'—माया; यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया।" (आ० दो० १४); अर्थात् देह और तत्सम्बन्धियों की ममता ही माया है; यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे॥" (क० उ० ३०)।

(३) 'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम···'—देह जड़-चेतन जगत् के द्वारा निष्पन्न हुआ है। इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही इसका पालन-पोषण किया है, अतएव इसे उनके ही काम में लगाना इसकी सफलता एवं कृतज्ञता है। अन्यथा इन्द्रियाँ विषयों की ओर ही रहेंगी, विषय सेवन इस देह का फल नहीं है, यथा—"एहि तन कर फल बिषय न भाई।" (उ० दो० ४३); "मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय-पी के।" (वि० १७५)। अर्थात् और शरीर प्रकृति-प्रवाह में नियमित विषय भोगने के लिये हैं, पर मनुष्य देह ही ; "साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" है; अतः, इससे ही परलोक बनाना चाहिये, तभी इसकी सफलता है। 'भाई' यह मित्र संमित प्रिय सम्बोधन है।· इन प्रधान वानरों से प्रीतिमात्र दिखाते हैं और धर्मोपदेश द्वारा कार्य कराना चाहते हैं। पहले सामान्य वानरों के प्रति भय और

प्रीति दोनों दिखाये थे ; यह ऊपर कहा गया। किन्तु वह भय-प्रदर्शन भी इन वानरों के समक्ष ही समष्टि में कहा गया है, इसी से इन लोगों ने भी अपने पर माना है; यथा—"इहाँ गये मारिहि कपिराई।" (दो० १५); यह सर्वप्रधान अंगदजी का वचन है। बड़ों का उपदेश देने की यही रीति है कि सामान्यों के द्वारा बड़ों को भी लक्ष्य करा दिया जाता, जैसे श्रीशिवजी ने देववृन्द के उपदेश के द्वारा ब्रह्माजी को भी समझाया था; यथा—"बिधिहि भयो आचरज बिसेषी।···सिव समुझाये देव सब ··" (बा० दो० ३१४)।

(४) 'सोइ गुनज्ञ सोई···'—'सोइ' और 'सोई' का भाव यह कि इसके बिना चाहे कितने भी गुण क्यों न हो, वह गुणवान् नहीं और कितना भी ऐश्वर्य हो पर वह बड़भागी नहीं है; यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद-मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि हिलोरे॥" (वि० ११४); "बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा०)। राम-पदानुरागियों को ही सातो कांडों में बड़भागी कहा गया है ; यह—"अतिसय बड़भागी चरनन्ह लागी···" (बा० दो० २१०); पर लिखा गया है। इसके प्रतिकूल अभागी हैं; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी॥" (वि० १४०)।

आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥८॥
पाछे पवन-तनय सिर नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥९॥
परसा सीस सरोरुह - पानी। कर-मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥१०॥
बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल-बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥११॥

अर्थ—आज्ञा माँग चरणों में शिर नवा सब प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए चले॥८॥ (सबसे) पीछे श्रीहनुमान्जी ने शिर नवाया, (इनसे) कार्य का होना जानकर प्रभु ने उनको पास बुलाया॥९॥ अपना हस्त-कमल श्रीहनुमान्जी के शिर पर फेरा, अपना जन (भक्त) जानकर हाथ की अँगूठी दी॥१०॥ (और कहा कि) बहुत तरह से श्रीसीताजी को समझाना, हमारा बल और विरह कहकर तुम शीघ्र आना॥११॥

विशेष—(१) 'आयसु माँगि चरन···'—यहाँ आज्ञा श्रीरामजी से माँगनी है, श्रीसुग्रीवजी ने तो स्वयं आज्ञा दी है ; यथा—"सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहु।" आगे के 'सुमिरत रघुराई' एवं 'पाछे पवन तनय सिर नावा।···' से भी स्पष्ट है। 'चले हरषि'—प्रस्थान के समय हर्ष होना कार्य-सिद्धि का शकुन है। पुनः राम-कार्य करने को मिला, इससे अपनेको बड़भागी मानने पर हर्ष हुआ।

ये लोग मन, वचन, कर्म से राम-कार्य में लगे ; यथा—"हरषि सुमिरत"—मन से, "सिर नाई। चले"—कर्म से और "आयसु माँगि" यह वचन से है। श्रीरामजी के स्मरण से कार्य की सिद्धि होती है, इसलिये 'सुमिरत' चले।

(२) 'पाछे पवन-तनय सिर नाया।··'—श्रीहनुमानजी के पीछे प्रणाम करने का कारण यह कि और वानरों को समझाकर श्रीसुग्रीवजी इनसे कुछ बातें कर रहे थे, वे वचन वाल्मी० ४।४४।१-७ में कहे गये हैं, जिनसे श्रीहनुमान्जी के द्वारा कार्य होने का श्रीसुग्रीवजी का दृढ़ निश्चय जाना गया, तब—'जानि काज प्रभु निकट बुलावा।'—अर्थात् श्रीरामजी ने जान लिया कि इन्हीं से कार्य होगा ; यथा—"ज्ञानि सिरोमनि जानि जिय, कपि बल-बुद्धि निधान। दीन्हि मुद्रिका मुदित प्रभु, पाइ मुदित हनुमान॥"

(रामाज्ञा ३।१।६); वाल्मी० ४।३।३३–३५ से भी स्पष्ट है कि श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमत्ता से श्रीरामजी बहुत ही प्रसन्न हुए थे। 'प्रभु निकट बुलावा'—क्योंकि कुछ गुप्त रहस्यात्मक विरह का संदेश कान में लग कर कहना था ; यथा—"कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहउँ मैं विद्यमान की। कहँ हरि सिव-अज-पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥" (गी० सुं० ११); यही सँदेश श्रीहनुमान्‌जी ने सुं० दो० १४ में कहा है।

(३) 'परसा सीस सरोरुह-पानी।...'—इन हस्तकमलों के स्मरण-मात्र से भव-सागर का तरना भी सुगम हो जाता है ; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥" (गी० उ० १३); इसी से इनके शिर पर हाथ फेरा, क्योंकि इन्हें समुद्र-पार जाना है, जिससे वह सुगम हो जाय। प्यार की मुद्रा तो है ही। पुनः यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥" (वि० १३८); इससे श्रीहनुमान्‌जी को लंकापुरी जलाने का पाप, अग्नि का ताप और सुरसा, सिंहिका एवं मेघनाद की माया न लगेगी। 'जन जानी'—श्रीरामजी ने—शिर पर हाथ फेरना, कान में गुप्त बात कहना और मुद्रिका देना आदि पर्याय—इन्हें अपना विश्वासी एवं कृपा-पात्र जानकर ही किये। 'कर मुद्रिका दीन्हि'—यह मुद्रिका श्रीसीताजी के विश्वास के लिये दी ; यथा—"अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा। मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति।" (वाल्मी० ४।४४।१२), अर्थात् इससे श्रीसीताजी तुम्हें हमारे पास से आया हुआ जानेंगी और देखकर घबड़ायँगी नहीं ; यथा—"दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी।" (सुं० दो० १२); अर्थात् विश्वास के लिये यह मुद्रिका दी गई थी। मुद्रिका को मुख में रख लिया ; यथा—"गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवन पूत सिर नायो॥" (गी० सुं० १)।

(४) 'बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु'—समझाना सुंदरकांड में कहा गया है, यहाँ श्रीरामजी ने कान में गुप्त कहा है, इसी से श्रीगोस्वामीजी ने भी यहाँ गुप्त ही रक्खा है। 'बेगि तुम्ह आयेहु'—शीघ्र आना, जिससे हम शीघ्र उनकी प्राप्ति के उपाय करें। पुनः यह भी भाव है कि तुम्हीं आना, श्रीसीताजी को साथ न लाना, यह श्रीहनुमान्‌जी के वचनों से सिद्ध होता है ; यथा—"अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥" (सुं० दो० १५); 'तुम्ह आयेहु', अर्थात् यह यश तुम्हीं को प्राप्त होगा। अतः, इस कथन में आशिष भी है। 'सीतहि'—ऐसा समझाना कि जिससे वे शीतल हों। 'बल' और 'विरह' दोनों कहना, केवल विरह कहने से बल-हीन समझेंगी ; यथा—"तब प्रभु नारि बिरह बल हीना।" (सुं० दो० २१), और यदि बल ही कहोगे, तो समझेंगी कि हमारे लिये प्रयास ही क्यों करेंगे। अतः, दोनों कहने से आशा करेंगी। 'बल' के अर्थ में यहाँ सेना का भी अर्थ है कि पूरे दल-बल से आ रहे हैं, इससे उन्हें विश्वास होगा। बल तो श्रीसीताजी जानती ही हैं ; यथा—"तात सक्र-सुत कथा सुनायेहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझायेहु॥" (सुं० दो० २६); यह उन्हीं का वचन है।

हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥१२॥

जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥१३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी ने अपना जन्म सफल समझा और कृपानिधान श्रीरामजी को हृदय में धरकर वे चले॥१२॥ देवताओं के रक्षक प्रभु सब बातें जानते हैं, फिर भी वे राजनीति की रक्षा करते हैं॥१३॥

"विवर-प्रवेस"—प्रकरण

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥३॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना ॥४॥
चढ़ि गिरि-सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥५॥
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त प्यास लगने से सब अत्यन्त व्याकुल हो गये, जल नहीं मिलता और वे सघन वन में भूल गये हैं ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने मन में अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपान के मरना चाहते हैं ॥४॥ पर्वत के शिखर पर चढ़कर चारों ओर देखा, (तो) पृथिवी के एक बिल में एक कौतुक दिखाई पड़ा ॥५॥ चकवे, बगले और हंस उड़ते हैं और बहुत-से पक्षी उसमें प्रवेश करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने।'''—ढूँढ़ने में अधिक श्रम हुआ, इससे अत्यन्त प्यासे हो गये, सबके कंठ, ओष्ठ और तालू सूख गये। यहाँ तक कि सघन वन में दिशा भूल गये।

(२) 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना'''—श्रीहनुमान्‌जी को प्यास न लगी, क्योंकि इनपर श्रीरामजी की विशेष कृपा हुई है। फिर रामनामांकित मुद्रिका मुख में है, राम-नाम अमृत-रूप है ही; यथा—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।" यह मंगलाचरण में कहा गया। ये सदा रामनाम जपते हैं और इनके हृदय में सदा धनुर्धर श्रीरामजी का ध्यान भी रहता है।

(३) 'चढ़ि गिरि सिखर'''—सघन वन था, इससे कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, अत पर्वत पर चढ़े, उसपर भी वन था, अतः शिखर पर चढ़ना पड़ा। 'कौतुक'—रंग-बिरंग के नाना पक्षियों का प्रवेश करना और भीगे-पाँखों के साथ उनका निकलना कौतुक ही है। पुनः हंस और बक का एकत्र होना कौतुक (आश्चर्यजनक) ही तो है।

(४) 'चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं।'''; यथा—"अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम्। तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन्॥ जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः।" (वाल्मी० ४।५०।६।१०)।

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा। सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा ॥७॥
आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥८॥

दोहा—दीख जाइ उपबन बर, सर बिकसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज ॥२४॥

अर्थ—पहाड़ से उतरकर श्रीहनुमानजी आये और सबको ले जाकर वह बिल दिखाया ॥७॥ सभी ने श्रीहनुमान्‌जी को आगे कर लिया और बिल में पैठ गये, देरी नहीं की, (क्योंकि सब अत्यन्त प्यासे

विशेष—(१) 'हनुमत जनम सुफल करि माना ।'—इनका अवतार ही राम-कार्य के लिये है; यथा—"राम-काज लगि तव अवतारा।" (दो० २९); इसी से जब राम-कार्य करने को मिला, तब इन्होंने जन्म की सफलता मानी, यद्यपि अभी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, पर जब श्रीरामजी ने शिर पर हाथ फेरा मुद्रिका दी और 'श्रीसीताजी को समझाकर शीघ्र लौटना'—यह कहा, तब इन्हें कार्य-सिद्धि का दृढ़ निश्चय हो गया। क्योंकि प्रभु के वचन अन्यथा नहीं हो सकते, यथा—"स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियो।" (लं० दो० १७)। हृदय धरि कृपा निधाना'—हृदय में विचारते जाते हैं कि प्रभु ने बड़ी कृपा की। आगे श्रीजानकीजी से भी कहा है—"कहँ हम पसु साखा मृग···" ऊपर लिखा गया है।

(२) 'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता।···'—प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, अत जानते हैं और संकल्प मात्र से रावण को मार भी सकते हैं, पर आपका अवतार देवता (ब्रह्मा) के वचन की रक्षा (सत्य करने) के लिये है, अतएव मनुष्य की तरह राजनीति से चल रहे हैं। ऐसी नीति है कि पहले दूत के द्वारा शत्रु का समाचार लेकर तब उससे युद्ध करना चाहिये। ऐसे ही पहले भी कहा गया; यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काज सँवारन॥" (आ० दो० २९)।

"सीता खोज सकल दिसि धाये"–प्रकरण

दोहा—चले सकल बन खोजत, सरिता सर गिरि खोह।
राम-काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह ॥२३॥

कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा। प्रान लेहिं एक-एक चपेटा ॥१॥
बहु प्रकार गिरि-कानन हेरहिं। कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं ॥२॥

अर्थ—सब वानर सभी वनों, नदियों, तालाबों, पहाड़ों और कंदराओं को ढूँढ़ते चले जाते हैं। राम-कार्य में मन तन्मय है, शरीर का ममत्व भूल गया है ॥२३॥ जो कहीं निशाचर से भेंट होती है तो सब एक-ही-एक थप्पड़ लगाकर उसके प्राण ले लेते हैं ॥१॥ बहुत तरह से पर्वत और वन देखते हैं, कोई मुनि मिल जाते हैं, तो उन्हें सब घेर लेते हैं (क्योंकि मुनि सर्वज्ञ होते हैं, अतः प्रार्थना करने पर—श्रीसीताजी कहाँ होंगी—ध्यान कर के बतला देंगे।) ॥२॥

विशेष—(१) 'चले सकल बन खोजत···'—पहले भी चलना कहा गया—'चले हृदय सुमिरत रघुराई।' पर यह विदाई के सम्बन्ध में है और यहाँ 'खोजते हुए' यह चलने के सम्बन्ध में कहते हैं, अत पुनरुक्ति नहीं है।

(२) 'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा।···'—खर-दूषणादि के मारे जाने पर इधर से राक्षस भाग गये हैं, इससे कहीं-कहीं मिलते हैं, उसे रावण समझकर मारते हैं, श्रीरामजी ने कहा ही है—"इहाँ हरी निसिचर बैदेही।" (दो० १); वाल्मी० ४।४८।१७–२१ में कहा गया है कि एक राक्षस को देखकर अंगदजी ने उसे रावण समझकर ऐसा मूका मारा कि वह मर गया।

'कोउ मुनि मिलइ···'—निशाचरों के भय से वहाँ मुनि कम रहते हैं।

"विवर-प्रवेस"—प्रकरण

लागि तृषा अतिसय अकुलाने । मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥३॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सब बिनु जलपाना ॥४॥
चढ़ि गिरि-सिखर चहूँ दिसि देखा । भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥५॥
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त प्यास लगने से सब अत्यन्त व्याकुल हो गये, जल नहीं मिलता और वे सघन वन में भूल गये हैं ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने मन में अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपान के मरना चाहते हैं ॥४॥ पर्वत के शिखर पर चढ़कर चारों ओर देखा, (तो) पृथिवी के एक बिल में एक कौतुक दिखाई पड़ा ॥५॥ चकवे, बगले और हंस उड़ते हैं और बहुत-से पक्षी उसमें प्रवेश करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने ।'''—ढूँढ़ने में अधिक श्रम हुआ, इससे अत्यन्त प्यासे हो गये, सबके कंठ, ओष्ठ और तालू सूख गये । यहाँ तक कि सघन वन में दिशा भूल गये ।

(२) 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना'''—श्रीहनुमान्‌जी को प्यास न लगी, क्योंकि इनपर श्रीरामजी की विशेष कृपा हुई है । फिर रामनामाङ्कित मुद्रिका मुख में है, राम-नाम अमृत-रूप है ही ; यथा—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।" यह मंगलाचरण में कहा गया । ये सदा रामनाम जपते हैं और इनके हृदय में सदा धनुर्धर श्रीरामजी का ध्यान भी रहता है ।

(३) 'चढ़ि गिरि सिखर ''—सघन वन था, इससे कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, अत पर्वत पर चढ़े, उसपर भी वन था, अत शिखर पर चढ़ना पड़ा । 'कौतुक'—रंग बिरंग के नाना पक्षियों का प्रवेश करना और भीगे-पाँवों के साथ उनका निकलना कौतुक ही है । पुन. हंस और बक का एकत्र होना कौतुक (आश्चर्यजनक) ही तो है ।

(४) 'चक्रबाक बक हंस उड़ाही ।'''; यथा—"अवकीर्णं लताबृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् । तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।" (वाल्मी० ४।५०।८।१०) ।

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा । सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा ॥७॥
आगे कै हनुमंतहि लीन्हा । पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥८॥

दोहा—दीख जाइ उपवन बर, सर बिकसित बहु कंज ।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज ॥२४॥

अर्थ—पहाड़ से उतरकर श्रीहनुमानजी आये और सबको ले जाकर वह बिल दिखाया ॥७॥ सभी ने श्रीहनुमान्‌जी को आगे कर लिया और बिल में पैठ गये, देरी नहीं की, (क्योंकि सब अत्यन्त प्यासे

थे)॥८॥ वहाँ जाकर देखा कि उत्तम उपवन और सुन्दर तालाब है, जिसमें बहुत-से कमल खिले हुए हैं और वहीं एक सुन्दर मन्दिर है, जिसमें एक बड़ी तपस्विनी स्त्री बैठी हुई है ॥२४॥

विशेष—(१) 'गिरि ते उतरि पवनसुत······'—शीघ्रता से उतरे, इससे 'पवनसुत' कहा। सबको ले जाकर दिखाया, क्योंकि अनुमान की वस्तु में दूसरों की भी सम्मति ले लेनी चाहिये। पुनः इस कौतुक को सभी देखना चाहेंगे और देखने से कुछ धैर्य होगा, जिससे वहाँ तक चलने का साहस करेंगे। जल का अनुमान इससे है कि पक्षी भीगे-पंख बाहर निकलते हैं।

(२) 'आगे करि हनुमंतहि लीन्हा।'···—बिल में अँधेरा है, भय लगता है। श्रीहनुमान्‌जी भारी पराक्रमी हैं और ये सावधान भी हैं। 'हनुमंत' शब्द का भाव यह कि इनकी चिबुक इन्द्र के वज्र को भी सहने में समर्थ है, आगे से कोई बाधा होगी, तो सह लेंगे। बिल के पैठने में वानरों की प्रधानता है, श्रीहनुमान्‌जी गौण हैं, क्योंकि प्यासे वे ही लोग हैं। पैठने का प्रकार ; यथा—"अन्योन्यं संपरिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्। ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः संभ्रान्ताः सलिलार्थिनः॥···आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा।" (वाल्मी० ४।५०।२१–२२) ; अर्थात् जल के प्यासे, जल चाहनेवाले, विवेक-रहित, चंचल वानर परस्पर पकड़े हुए एक योजन तक उस बिल में चले गये।···जब वे जीवन से निराश हो गये, तब उन्हें प्रकाश देख पड़ा।

(३) 'दीख जाइ उपवन बर··· '—'उपवन बर'—श्रेष्ठ नजरबाग, जो मन्दिर के पास टहलने एवं जी रमाने के लिये था। इस श्रेष्ठ उपवन का वर्णन वाल्मी० ४।५०।२४–३७ में है। 'रुचिर मंदिर' का वहीं पर विस्तृत वर्णन है, वहाँ के वृक्षादि स्वर्ण के ही हैं और उनके फल-फूल आदि भी। यहाँ 'बर' और 'रुचिर' शब्द मात्र से लक्ष्य करा दिया गया है। 'नारि तप पुंज' ; यथा—"ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः। तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्॥ तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा।···" (वाल्मी० ४।५०।३७–३८); अर्थात् शूर वानरों ने कुछ दूर पर एक स्त्री देखी, वह काले रंग की साड़ी पहने और नियमित आहार करनेवाली थी, अपने तेज से प्रकाशित उस तपस्विनी को देखकर वानर विस्मित हो गये। तप के कारण उसमें तेज था ; यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)।

दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछें निज बृत्तांत सुनावा ॥१॥
तेहि तब कहा करहु जलपाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना ॥२॥
मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये ॥३॥

अर्थ—सबने उसे दूर से प्रणाम किया और उसके पूछने पर अपना-अपना समाचार सुनाया (श्रीहनुमान्‌जी ने सबकी ओर से कहा) ॥१॥ तब उसने कहा कि जलपान करो, अनेक रसीले सुन्दर फल खाओ ॥२॥ (आज्ञा पाकर) सबने स्नान किया, मीठे फल खाये और फिर उसके पास सब चले आये ॥३॥

विशेष—(१) 'दूरि ते ताहि ·····'—डर के मारे पास न गये कि तपस्विनी है, कहीं ढिठाई करने से अपना अनादर समझकर शाप न दे दे। पुनः तपस्विनी ही जानकर भक्ति के साथ उसे प्रणाम भी किया। सबकी ओर से एक श्रीहनुमान्‌जी ने ही समाचार सुनाया है, वाल्मी० ४।५० में स्पष्ट लिखा है, क्योंकि ये ही अगुआ हैं।

(२) 'तेहि तब कहा करहु जल पाना। ·····'—पहले जल पीने ही को कहा, क्योंकि सुन चुकी है, ये सब प्यासे हैं। पीछे फल खाना कहा।

(३) 'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। · '—थके हुए थे, इससे उन वानरों ने पहले स्नान ही किया, स्नान के साथ ही जल भी पी लिया, क्योंकि पृथक् पीना नहीं कहा गया है। कपि-स्वभाव से एवं भक्त होने से स्नान पहले किया।

'तासु निकट पुनि'······'—श्रीहनुमान्जी ने अपना हाल कहकर उसकी व्यवस्था जानने का भी प्रश्न किया था, पर उसने कहा था कि आपलोग पहले जल-पान, भोजन कर लें, तब कहूँगी। वही बात सुनने के लिये उसके निकट आये। 'चलि आये'—चलकर धीरे-धीरे आये, दौड़कर नहीं, क्योंकि धृष्टता करने से डरते हैं।

तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई ॥४॥
मूँदहु नयन बिवर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥५॥

अर्थ—उसने अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाई और कहा कि अब मैं वहाँ जाऊँगी, जहाँ रघुराई श्रीरामजी हैं ॥४॥ (इस बिल में जो चला आता है, उसका जीवित लौटना दुष्कर है। मैं तुम्हें अपने तपोबल से निकाल सकती हूँ, तुम सब बिना आँख मूँदे भी नहीं निकल सकते, अतएव) आँखें मूँदो और बिल को छोड़कर बाहर जाओ, श्रीसीताजी को पाओगे, पछताओ मत ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि सब आपनि कथा सुनाई।'—वाल्मी० ४।५१ में इस प्रकार कथा है—"उस तपस्विनी ने श्रीहनुमान्जी से कहा—महातेजस्वी मय नाम का एक महा मायावी राक्षस था। उसी ने इस समस्त वन को माया से बनाया है। पहले दानवों में श्रेष्ठ विश्वकर्मा हो गये हैं॥ उन्होंने ही यह सोने का उत्तम भवन बनाया है। हजार वर्ष तक उन्होंने बड़े घोर वन में बड़ी तपस्या की॥ ब्रह्मा से वर में उन्होंने शुक्राचार्य का समस्त धन (शिल्प-विद्या और शिल्प की सामग्री) पाया। इससे वे वशी होकर अपनी सृष्टि के उपभोग में समर्थ हुए॥ मयदानव ने इस वन में कुछ दिनों तक सुख-पूर्वक वास किया। पुनः वही हेमा नाम की अप्सरा पर अनुरक्त हुआ॥ इन्द्र ने वज्र से मयदानव को मार दिया, ब्रह्मा ने यह उत्तम वन हेमा को दे दिया।···मैं मेरु सावर्णि की कन्या हूँ, मेरा स्वयंप्रभा नाम है॥ मैं हेमा के इस घर की रक्षा करती हूँ। मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने-गाने में निपुण है॥ मैंने हेमा को वर दिया है, इसलिये मैं उसके घर की रक्षा करती हूँ।"

हेमा जब ब्रह्म-लोक जाने लगी, तब मुझसे उसने कहा कि तुम यहीं रहकर तपस्या करो। त्रेतायुग में भगवान् अवतार लेंगे। वे भू-भार-हरण करने के लिये वन में आवेंगे। उनकी भार्या को ढूँढ़ते हुए वानर आवेंगे, तुम उनका पूजन करना और फिर भगवान् श्रीरामजी के पास जाकर स्तुति करना, तब तुम योगियों के प्राप्य विष्णु लोक को जाओगी।

'मैं अब जाब···'—मेरे यहाँ रहने की अवधि इतनी ही थी।

(२) 'पैहहु सीतहिं'—यह तपस्विनी की आशिष भी है। उसने और पता न कहा, क्योंकि वह दिव्य-दृष्टि से जानती है कि संपाती के द्वारा खबर मिलेगी। उसके पंख भी इन सबके स्पर्श से जमेंगे और चन्द्रमा मुनि के वचन भी सत्य होंगे। 'जनि पछिताहू'—वाल्मी० ४।५२ में कथा है कि जिस दिन

बिल में वानर लोग पैठे, उसी दिन श्रीसुग्रीवजी के द्वारा नियत अवधि समाप्त हो गई। तब सब वानर शोकवश हो गये। उन्होंने स्वयंप्रभा से प्रार्थना की कि हमें बिल के बाहर कर दीजिये। तब उसने आश्वासन देते हुए कहा कि मत पछताओ और उपर्युक्त रीति से बाहर कर दिया।

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥६॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नायेसि माथा ॥७॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्हीं। अनपायनी भगति प्रभु दीन्हीं ॥८॥

दोहा—बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु - आज्ञा धरि सीस।
उर धरि राम-चरन जुग, जे बंदत अज - ईस ॥२५॥

अर्थ—आँखें मूँद करके फिर सब वीर देखते हैं कि वे सब समुद्र के तीर पर खड़े हैं ॥६॥ तब स्वयंप्रभा वहाँ गई, जहाँ श्रीरघुनाथजी हैं, जाकर उसने श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में शिर नवाया ॥७॥ और उसने बहुत तरह से विनती की, प्रभु ने उसे अविनाशिनी भक्ति दी ॥८॥ प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य करके उनके युगल-चरण-कमलों को—जिनकी वंदना ब्रह्मा और महेश करते हैं—हृदय में धरकर, वह (स्वयंप्रभा) बदरिकाश्रम को गई ॥२५॥

विशेष—(१) 'नयन मूँदि पुनि...'—बिल में खड़ा होकर आँखें मूँद ली थीं, पल-मात्र में आँखें खोलकर फिर देखा तो सब समुद्र के तट पर अपने को वैसे ही खड़ा पाया। 'बीरा'—वीरता से तप का प्रभाव अधिक जनाया।

(२) 'नाना भाँति बिनय...'—विनय भक्ति की प्राप्ति के लिये ही की, इसे तप के फल रूप में श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, इनके दर्शन-फल रूप में श्रीराम-दर्शन और श्रीराम-दर्शन के भी फल-रूप में उनकी भक्ति प्राप्त हुई।

(३) 'प्रभु आज्ञा धरि सीस'—'प्रभु' हैं, अतएव इनकी आज्ञा अपेल है ; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८) ; "नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥ मातु-पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी ॥" (बा० दो० ७६) ; 'जे बंदत अज ईस'—चरणों को हृदय में धारण करते हुए इस महिमा को विचारती है कि जो जगत्-भर को उत्पन्न करते हैं और संहार करते हैं, ऐसे ईश्वर-कोटि के ब्रह्मा और शिवजी भी जिनकी वंदना करते हैं, उन्हीं के मैंने दर्शन किये, हमारे बड़े भाग्य हैं, यथा—"अहो भाग्य मम अमित अति, राम-कृपा सुख पुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज ॥" (सुं० दो० ४७)।

संपाति-मिलाप—प्रकरण

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं ॥१॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लिये करब का भ्राता ॥२॥

कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥३॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई ॥४॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही ॥५॥

अर्थ—यहाँ वानर मन में विचारते हैं कि अवधि बीत गई, (बिल में पहुँचे तक १ मास की अवधि बीत गई,) पर कार्य कुछ न हुआ ॥१॥ सब मिलकर आपस में बातें करते हैं कि भाई ! सुधि लिये बिना क्या करेंगे ? अर्थात् बचने का कोई उपाय नहीं है ॥२॥ नेत्रों में जल भरकर अंगदजी ने कहा कि दोनों प्रकार से हमारी मृत्यु हुई ॥३॥ यहाँ तो श्रीसीताजी की सुधि न मिली और वहाँ जाने पर कपिराज मारेंगे ॥४॥ वे तो पिता के वध होने पर ही मुझे मार डालते, पर श्रीरामजी ने मेरी रक्षा की, इसमें उन (सुग्रीव) का कुछ एहसान (उपकार) नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) वानरों को मन, वचन, कर्म से शोच है; यथा—'इहाँ बिचारहिं कपि <u>मन</u> माहीं।···' "कहहिं परस्पर <u>बाता</u>", "बिनु सुधि लिये <u>करब</u> का भ्राता।" अर्थात् इनका शोच क्रमशः मन, वचन और फिर कर्म में आया।

(२) 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु'—एक 'इहाँ' दूसरी 'उहाँ'—यहाँ सुधि न पाने पर प्रायोपवेशन करने से मरना होगा और वहाँ जाने पर श्रीसुग्रीवजी मारेंगे।

(३) 'पिता बधे पर मारत···'—क्योंकि नीति है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८); अर्थात् शत्रु के वंश को ही निश्शेष कर देना चाहिये। 'राखा राम···'—वाल्मी० ४।५३।१७–१९ में कहा गया है कि श्रीसुग्रीवजी तो मुझसे पहले से ही वैर रखते थे, उन्होंने मेरा अभिषेक नहीं किया, किन्तु धर्मात्मा श्रीरामजी ने किया है। अपराध देखकर श्रीसुग्रीवजी तीव्र दंड दे मारेंगे, मेरे जीवन-नाश को देख मित्रों को भी दुःख होगा, मित्रगण कर ही क्या सकेंगे ? इससे यहीं पवित्र समुद्र-तीर पर मैं प्रायोपवेशन करूँगा।

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं। मरन भयउ कछु संसय नाहीं ॥६॥
अंगद-बचन सुनत कपि बीरा। बोलि न सकहिं नयन बह नीरा ॥७॥
छन-एक सोच मगन होइ गये। पुनि अस बचन कहत सब भये ॥८॥
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जइहैं जुबराज प्रबीना ॥९॥
अस कहि लवन-सिंधु-तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि पुनि अंगद'''—सबसे कहने का प्रयोजन यह कि सब लोग चतुर हैं। जीने का कोई उपाय बतायेंगे। 'अब संसय नाहीं'—भाव यह कि पिता के वध पर श्रीसुग्रीवजी के मारने में संशय था, क्योंकि श्रीरामजी रक्षक थे। अब तो हमने श्रीरामजी का ही कार्य नहीं किया, तब तो सुग्रीवजी निश्चय ही मेरा वध करेंगे।

(२) 'अंगद-बचन सुनत सब बीरा।'''—सब वीर हैं, इससे शोचवश होने पर इतने अधीर न थे। अंगदजी के वचन सुनकर सबके आँसू बहने लगे। सब अत्यन्त डर गये कि जब अंगदजी का ही वध श्रीसुग्रीवजी करेंगे, तब और कोई कैसे बच सकता है। 'बीरा'—वीर हैं, पुरुषार्थ का काम होता तो करते और युवराज का दुःख-निवारण करते, पर यहाँ कोई वश नहीं चलता।

(३) 'हम सीता कै सुधि'''—वाल्मी० ४५३ में तार वानर ने इस विषय पर सलाह दी थी कि हमलोग श्रीसुग्रीवजी के पास न जायँगे, और उसी स्वयंप्रभा के बिल में छिपकर सुख से पड़े रहेंगे। तब सर्ग ५४ में उस सम्मति का श्रीहनुमान्‌जी ने खंडन किया है कि इस बिल का एवं स्वयंप्रभा की माया का खंडन करना श्रीलक्ष्मणजी के लिये कुछ नहीं है। पुन. सब वानर भी इसमें सहमत न होंगे, तब अंगदजी ने प्रायोपवेशन (अनशन व्रत करके मरने) का ही निश्चय किया। वह भाव यहाँ के 'नहि जैहहिं' से सूचित कर दिया कि न जायँगे, तो इस जगह रहेंगे। 'प्रबीना'— भाव यह है कि आप चतुर हैं। जानते ही हैं और ऐसी नीति है कि सब राजा ऐसी कड़ी आज्ञा दें, तो कार्य करके ही उसके पास जाय। पुन. वाल्मी० ४।५४ में श्रीहनुमान्‌जी ने अंगद की प्रशंसा की है कि तुम तेज, बल, पराक्रम से पूर्ण हो, बुद्धि में बृहस्पति के समान और बल में बालि के समान हो, इत्यादि 'प्रवीण' शब्द में आ गये।

उपर्युक्त दो प्रकार की मृत्यु में एक प्रकार का समाधान तो वानरों ने किया। पर दूसरी प्रकार का न कर सके और सभी प्रायोपवेशन की विधि से आचमन करके कुश बिछाकर उसपर बैठे। 'तट'— पहले तीर पर थे; अर्थात् लहर से जल बढ़ने की सीमा तक थे, अब तट (जल के पास) जाकर बैठे। समुद्र तीर्थपति है उसके तट कुश पर बैठकर प्राण त्यागना श्रेष्ठ है।

वानर लोग मन, वचन, कर्म तीनों से शोक में हैं; यथा—"सोच सगल होइ गये'—मन, दृभे उसाई'—कर्म और 'अस वचन कहत सब भये'—यह वचन है।

जामवंत अंगद - दुख देखी। कहीं कथा उपदेस बिसेखी ॥११॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥१२॥
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म - अनुरागी ॥१३॥

दोहा—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर-महि-गो-द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥२६॥

अर्थ—जाम्बवान्‌जी ने अंगदजी का दुःख देखकर विशेष उपदेश की कथाएँ कहीं ॥११॥ हे तात!

श्रीरामजी को मनुष्य मत मानो, उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजित और अजन्मा समझो ॥१२॥ हम सब सेवक अत्यन्त बड़भागी हैं। जो कि सगुण ब्रह्म के निरंतर अनुरागी हैं ॥१३॥ प्रभु अपनी इच्छा से देवता, पृथिवी, गौ और ब्राह्मणों के लिये जहाँ अवतार लेते हैं, वहाँ सब मोक्षों को छोड़कर सगुण उपासक उनके साथ रहते हैं ॥२६॥

विशेष—(१) 'दुख देखो। कही कथा ...'—क्योंकि कथा से दुःख दूर होता है; यथा—"रामचन्द्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीताकर दुख भागा॥" (सुं० दो० ११); 'कथा उपदेस बिसेषी'—कथा के द्वारा जो उपदेश होता है, वह परमार्थ-संबंध-सहित होता है—इससे विशेष है।

(२) 'नर जनि मानहु'—भाव यह कि तुमने उन्हें नर मान रक्खा है, इसी से व्याकुल हो गये हो। पर वे नर नहीं हैं, ईश्वर हैं। तब हम लोगों की दुर्दशा कैसे होगी, जब कि उन्हीं की आज्ञा के अनुसार कार्य में तत्पर हैं—वे ही कल्याण का संयोग करेंगे।

'निर्गुन ब्रह्म अजित......'—निर्गुण से सगुण हुए हैं, हम सब सेवक वानर हुए हैं। 'अजित'—काल, कर्म, गुण, स्वभाव से अजेय हैं। 'अज' जीवों की तरह कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किंतु स्वेच्छा से अवतार लेते हैं। 'अति बड़भागी'—वैराग्यवान् होने से 'भागी', ज्ञानवान् होने से 'बड़भागी' और सेवक होने से 'अति बड़भागी' हैं। 'नर जनि मानहु'; यथा—"सो नर क्यों दस सीस अभागा।...राम मनुज कस रे सठ बंगा। ......" (लं० दो० २५); "सो नर क्यों दस-कंध... ..." (लं० दो० १२)।

(३) 'निज इच्छा प्रभु... ...'—पहले निर्गुण ब्रह्म का सगुण होना आदि कहा था। उसका हेतु यहाँ कहते हैं; यथा—"इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१); 'सुर महि गो द्विज लागि'—यह अवतार लेने का प्रयोजन है। मोक्ष सब—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि मुक्तियों को भी त्याग देते हैं और भक्ति के अनुरागी होते हैं; यथा—"जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (अ० दो० २०४); इत्यादि।

> एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरि - कंदरा सुनी संपाती ॥१॥
> बाहेर होइ देखि बहु कीसा। मोहि अहार दीन्ह जगदीसा ॥२॥
> आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चलेउ अहार बिनु मरऊँ॥३॥
> कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्हि बिधि एकहिं बारा ॥४॥

अर्थ—इस तरह बहुत प्रकार की कथाएँ कह रहे हैं, (इनके वचन) पहाड़ की कंदरा में संपाती ने सुने ॥१॥ बाहर निकलकर बहुत-से वानरों को देखकर (वह बोला कि) मुझे जगदीश ने आहार दिया ॥२॥ आज सभी को खाऊँगा, बिना भोजन के बहुत दिन बीत गये, मैं मर रहा था ॥३॥ कभी पेट-भर भोजन नहीं मिलता था, आज विधाता ने एक ही बार (परिपूर्ण) दे दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कथा कहहिं बहु भाँती'—ऊपर कथा कहना केवल श्रीजाम्बवान्‌जी का ही लिखा गया है और यहाँ 'कहहिं' बहुवचन से सबका कहना कहा गया है, इसका भाव यह कि जाम्बवान्‌जी कहते हैं, शेष सब उसे अनुमोदन करते हैं, इन्हीं में कोई विषय लेकर दूसरे कुछ भिन्न प्रकार से भी इसी से 'बहु भाँती' भी कहा है। वाल्मी० ४।५५।२१-२२ में सब वानरों का परस्पर कथा

सब वीर व्याकुल हो गये हैं, पराक्रम की सुधि नहीं है, कहा ही है—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २१८)।

(२) 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी।····'—कुशासन पर बैठे थे, घबड़ाकर उठ पड़े। शोच तो सभी को है, जाम्बवान्‌जी के मन में विशेष शोच है कि हमारे देखते हुए क्या सब वानर खा लिये जायँगे? अंगदजी के दुःख को इन्होंने कथा कहकर दूर किया। किन्तु इस आपत्ति के हटाने का उपाय इन्हें नहीं सूझता था। किसी-किसी का यह भी मत है कि प्रायोपवेशन के नियमबद्ध होने से लड़ नहीं सकते थे, इससे भी विशेष शोच हुआ कि गृध्र के द्वारा अपमृत्यु होगी।

(३) 'कह अंगद·······'—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने उनको समझाया था, वैसे जाम्बवान्‌जी के शोच को अंगद दूर करेंगे, क्योंकि दोनों ही समान बुद्धियुक्त हैं। अंगद ने उसको जाति की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करने का उपाय निश्चय किया और कहा—'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।' जाम्बवान्‌जी ने कहा था—"हम सब सेवक अति बड़भागी।" उसपर अंगदजी कहते हैं कि जटायुजी के समान धन्य कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने राम-कार्य में शरीर ही त्याग दिया और फिर वहीं पर दिव्य देह पाकर हरि-धाम को गये, अतएव वे 'परम बड़भागी' हैं। पुनः श्रीरामजी के लिये लड़े और उन्होंने उनकी गोद में बैठकर शरीर-त्याग किया। श्रीरामजी ने स्वहस्त से उनकी अन्त्येष्टि किया की, इत्यादि कारणों से वे परम बड़भागी हैं। यहाँ अंगदजी की परम नीति-निपुणता है।

सुनि खग हरष-सोकजुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥९॥
तिन्हहिं अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥१०॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति-महिमा बहु बिधि बरनी ॥११॥

दोहा—मोहि लै जाहु सिंधु-तट, देउँ तिलांजलि ताहि।
वचन - सहाइ करबि मैं, पैहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

अर्थ—हर्ष-शोकयुक्त वाणी सुनकर जटायु पक्षी वानरों के समीप आया, वानर लोग डरे ॥९॥ उसने उन्हें निर्भय करके (समीप) जाकर (जटायु की) कथा पूछी, उन्होंने उसे सम्पूर्ण कथा सुनाई ॥१०॥ भाई की करनी सुनकर संपाती ने बहुत तरह से श्रीरघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥११॥ (और कहा—) मुझे समुद्र के किनारे ले चलो, मैं उसे तिलाञ्जलि दूँ, फिर मैं वचन से तुम्हारी सहायता करूँगा (अर्थात् बतलाऊँगा कि श्रीसीताजी कहाँ हैं), जिन्हें ढूँढ़ते हो उन्हें पाओगे ॥२७॥

विशेष—(१) 'हरष सोक जुत बानी'—जटायु का पुरुषार्थ और उसकी सद्‌गति हर्ष का कारण है और मृत्यु होने की बात शोक का हेतु है। 'आवा निकट'—अब वह जटायु का समाचार पूछने के लिये समीप आया, पर वानरों ने समझा कि खाने को ही आता है, इससे इन्होंने भय माना।

(२) 'तिन्हहि अभय करि····'—पहले अभय किया कि जिसमें वानर भाग न जायँ, तब समीप गया, इसलिये 'जाई' क्रिया पीछे दी गई है। 'कथा सकल'—पहले जटायु की कथा संक्षेप में कही गई थी। अब उसे विस्तार-पूर्वक कहा।

कि श्रीरामजी का वनवास, राजा दशरथजी का मरण, जनस्थान का युद्ध, श्रीजानकीजी का हरण, श्रीजटायुजी का वध, वालि-वध और श्रीरामजी का कोप कहते हुए वानर भयभीत हो गये। यह प्रसंग भी 'कहहिं' में आ गया। 'गिरि कंदरा सुनी संपाती'—कथा-श्रवण के प्रभाव से संपाती को श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, उसके पंख जमे और सभी दुःख दूर हुए। वानर लोग सीता-शोध के लिये व्याकुल थे, कथा कहने के प्रभाव से बैठे-बैठे ही सम्पाती के द्वारा सुध मिल गई।

(२) 'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।'—जगदीश जगत् भर के ईश्वर (प्रेरक) हैं और पालक हैं, इसी से प्रेरणा करके इतने वानरों को इकट्ठा कर मरने पर उद्यत कर दिया और मेरे भोजन का प्रबंध कर दिया। नहीं तो अपने पराक्रम से मुझे इतने वानर कैसे मिलते ?

(३) 'आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ'—सब मरने को बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा ; यथा—"परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम्। उवाचैवद्वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवंगमान्॥" (वाल्मी० ४।५६।५); अर्थात् वह जीवित वानरोंको खाने के लिये नहीं कहता। 'दिन बहु चलेउ···'—यह पक्ष-हीन था, इसका पुत्र सुपार्श्व इसे आहार कभी-कभी ला देता था। पर गृध्रों को क्षुधा अधिक होती है, इसी ने कहा है—"तीक्ष्णकामास्तु गंधर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजंगमाः। मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम्॥" (वाल्मी० ४ ५९।१); इसी से इसका पेट नहीं भरता था। 'आजु दीन्हि विधि एकहि बारा।'; यथा—"विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्त्तते। यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः॥" (वाल्मी० ४।५६।४) ; अर्थात् जिस तरह कर्म के अनुसार लोक में मनुष्यों को फल मिलता है, वैसे ही पूर्वार्जित कर्म से प्राप्त यह भोजन मेरे लिये आया है।

डरपे गीध - बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना ॥५॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी। जामवंत मन सोच बिसेषी ॥६॥
कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू - सम कोउ नाहीं ॥७॥
राम - काज - कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी ॥८॥

अर्थ—गृध्र संपाती के वचन कानों से सुनकर सब डरे (और बोले—) हमने जान लिया, अब सत्य ही हमारा मरण हुआ ॥५॥ गृध्र को देखकर सब वानर उठ खड़े हुए, तब जाम्बवान् के मन में विशेष सोच हुआ ॥६॥ श्रीअंगदजी ने मन में विचारकर कहा कि श्रीजटायुजी के समान कोई धन्य नहीं है ॥७॥ वह परम बड़भागी राम-कार्य के लिये शरीर छोड़कर हरिपुर को गया ॥८॥

विशेष—(१) 'डरपे गीध-बचन सुनि···' ; यथा—"ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः। चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति॥" (वाल्मी० ४।५७।२) ; अर्थात् प्रायोपवेशन में बैठे हुए वे सब वानर गृध्र को देखकर "यह हम सबको खा जायगा।" ऐसा भयानक विचार करने लगे। इसका स्वरूप और इसके वचन दोनों भयंकर हैं। 'अब भा मरन सत्य'—भाव यह कि प्रायोपवेशन से चाहे मृत्यु न भी होती, पर अब तो यह अवश्य ही सबको खा जायगा।

शंका—ये लोग ऐसे भारी-भारी वीर हैं, क्या सब मिलकर भी उससे न लड़ सकते थे ?

समाधान—श्रीसीताजी की शोध न पाने से और उपर्युक्त दोनों प्रकार की मृत्यु के भय से

सब वीर व्याकुल हो गये हैं, पराक्रम की सुधि नहीं है, कहा ही है—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २१८)।

(२) 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी।···'—कुशासन पर बैठे थे, घबड़ाकर उठ पड़े। शोच तो सभी को है, जाम्बवान्‌जी के मन में विशेष शोच है कि हमारे देखते हुए क्या सब वानर खा लिये जायँगे? अंगदजी के दुःख को इन्होंने कथा कहकर दूर किया। किन्तु इस आपत्ति के हटाने का उपाय इन्हें नहीं सूझता था। किसी-किसी का यह भी मत है कि प्रायोपवेशन के नियमबद्ध होने से लड़ नहीं सकते थे, इससे भी विशेष शोच हुआ कि गृध्र के द्वारा अपमृत्यु होगी।

(३) 'कह अंगद······'—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने उनको समझाया था, वैसे जाम्बवान्‌जी के शोच को अंगद दूर करेंगे, क्योंकि दोनों ही समान बुद्धियुक्त हैं। अंगद ने उसको जाति की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करने का उपाय निश्चय किया और कहा—'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।' जाम्बवान्‌जी ने कहा था—"हम सब सेवक अति बड़भागी।" उसपर अंगदजी कहते हैं कि जटायुजी के समान धन्य कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने राम-कार्य में शरीर ही त्याग दिया और फिर वहीं पर दिव्य देह पाकर हरि-धाम को गये, अतएव वे 'परम बड़भागी' हैं। पुनः श्रीरामजी के लिये लड़े और उन्होंने उनकी गोद में बैठकर शरीर-त्याग किया। श्रीरामजी ने स्वहस्त से उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की, इत्यादि कारणों से वे परम बड़भागी हैं। यहाँ अंगदजी की परम नीति-निपुणता है।

सुनि खग हरष-सोकजुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥९॥
तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥१०॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति-महिमा बहु बिधि बरनी ॥११॥

दोहा—मोहि लै जाहु सिंधु-तट, देउँ तिलांजलि ताहि।
वचन-सहाइ करबि मैं, पैहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

अर्थ—हर्ष-शोकयुक्त वाणी सुनकर जटायु पक्षी वानरों के समीप आया, वानर लोग डरे ॥९॥ उसने उन्हें निर्भय करके (समीप) जाकर (जटायु की) कथा पूछी, उन्होंने उसे सम्पूर्ण कथा सुनाई ॥१०॥ भाई की करनी सुनकर संपाती ने बहुत तरह से श्रीरघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥११॥ (और कहा—) मुझे समुद्र के किनारे ले चलो, मैं उसे तिलाञ्जलि दूँ, फिर मैं वचन से तुम्हारी सहायता करूँगा (अर्थात् बतलाऊँगा कि श्रीसीताजी कहाँ हैं), जिन्हें ढूँढ़ते हो उन्हें पाओगे ॥२७॥

विशेष—(१) 'हरष सोक जुत बानी'—जटायु का पुरुषार्थ और उसकी सद्‌गति हर्ष का कारण है और मृत्यु होने की बात शोक का हेतु है। 'आवा निकट'—अब वह जटायु का समाचार पूछने के लिये समीप आया, पर वानरों ने समझा कि खाने को ही आता है, इससे इन्होंने भय माना।

(२) 'तिन्हहि अभय करि···'—पहले अभय किया कि जिसमें वानर भाग न जायँ, तब समीप गया, इसलिये 'जाई' क्रिया पीछे दी गई है। 'कथा सकल'—पहले जटायु की कथा संक्षेप में कही थी। अब उसे विस्तार-पूर्वक कहा।

पहले अभिमान किया, उसका फल दुःख मिला। अब श्रीराम भक्तों के दर्शनों से इसके पाप क्षीण हुए। नवीन पंख हुए और यह सुखी हुआ।

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही ॥५॥
बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देह-जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥

अर्थ—वहाँ एक मुनि थे, जिनका चन्द्रमा नाम था, मुझको देखकर उनको दया लगी ॥५॥ उन्होंने बहुत तरह से ज्ञान सुनाया और देह-जनित (देह-विषयक) अभिमान को छुड़ाया ।६॥

विशेष—(१) 'मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही। · '—चन्द्रमा मुनि अत्रिजी के पुत्र थे ये ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। इनका आत्रेय और निशाकर भी नाम है। 'लागि दया'—क्योंकि संत कोमल चित्त होते हैं ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)।

(२) 'बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा।'—वाल्मी० ४।६२ ६३ में कथा है—संपाती जब पंख जलने से गिरा, तब चन्द्रमा मुनि के दर्शन होने पर और उनके पूछने पर इसने अपना हाल कहा, तब ऋषि ने ध्यान किया और फिर इससे कहा कि तुम मरन की बुद्धि न करो, तुम्हारे पंख फिर जमेंगे। इन्होंने फिर श्रीरामजी के जन्म से यहाँ तक की कथा कही और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अभी सपक्ष कर सकता हूँ। पर इससे तुम न जाने कहाँ चले जाओ, तो राम-कार्य में हानि होगी। अत', तुम यहीं पर रहकर समय की प्रतीक्षा करो और यहाँ रहते हुए, लोक का कल्याण करो। इन्होंने और भी अनेक वाक्यों से मुझे समझाया, तब मैंने आत्मघात की इच्छा छोड़ दी। प्राणों की रक्षा के लिये मुनि ने जो बुद्धि दी थी। उसी से मेरे सब दुःख दूर होते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा से अंधकार दूर होता है।

(३) 'देह-जनित अभिमान छुड़ावा'।—देह जनित अभिमान छूटने का ज्ञान गीता २।११–३० में विस्तार से है, वहीं देखना चाहिये। तात्पर्य यह है कि देह अनित्य है, अतएव नाशवान् है, कितना भी प्रबंध किया जाय, पर कभी नाश होगा ही और जीवात्मा नित्य है, अतएव अविनाशी है, किसी भी बाधा से किसी तरह इसका नाश नहीं हो सकता। जीव और देह भिन्न-भिन्न स्वभाव के पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। विवेकी लोग देह के धर्मों को जीवात्मा में नहीं मानते। आधि व्याधि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को देह का ही धर्म मानकर स्वयं उससे भिन्न रहते हैं।

त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचरपति हरिही ॥७॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता ॥८॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥९॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु-काजू ॥१०॥

अर्थ—त्रेता युग में ब्रह्म (श्रीरामजी) मनुष्य का शरीर धारण करेंगे, उनकी स्त्री को निशाचर राज हरण करेगा ॥७॥ उसकी खोज में प्रभु दूत भेजेंगे, उनके मिलने पर तू पवित्र हो जायगा ॥८॥ तेरे पंख जमेंगे, चिन्ता मत कर, तू उन्हें श्रीसीताजी को दिखा देना ॥९॥ मुनि की वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुनकर प्रभु का कार्य करो ॥१०॥

(३) 'बंधु कै करनी'—'करनी' शब्द श्लेषार्थी है, एक तो पुरुषार्थपरक है; यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४); दूसरे उसकी मृतक-क्रियापरक है; यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी।" (अ० दो० १७०)। दोनों प्रकार की करनी उसकी प्रशंसनीय हैं, जैसे कि रावण ऐसे वीर से संग्राम करके उसे मूर्च्छित कर दिया और श्रीसीताजी की रक्षा के लिये प्राण दिये। दूसरे श्रीरामजी ने स्वयं उसकी मृतक-क्रिया की और उसे परम उत्तम गति दी; यथा—"गीध अधम खग, आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥" (आ० दो० ३२); "दसरथ ते दसगुन भगति, सहित तासु कृत काज।" (दोहावली २२७); श्रीरघुनाथजी की महिमा वर्णन की कि उन्होंने ऐसे अधम को भी गति दी।

(४) 'मोहि लै जाहु सिंधु-तट'—संपाती पहले पहाड़ के ऊपर ही कंदरा में से निकलकर ऊँचे पर किन्तु वानरों के समीप आया था। ऊपर से ही कहता था कि ये मरने को तो बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा। बानर लोग भयभय से स्वयं डर गये थे; क्योंकि वह तो पंख हीन होने से नीचे उतर भी नहीं सकता था। भाई का मरन सुना है, अतएव अब उसे सूतक लगा, भाई को तिलांजलि देना चाहता था, इसलिये उतारने की प्रार्थना की और इन्हें श्रीसीताजी का समाचार बतलाने का वचन दिया।

इसमें उसका कुछ गुप्त आशय भी है कि जब इनके स्पर्श से मेरे पक्ष जम आवेंगे, तब समझूँगा कि ये रामदूत हैं और तब श्रीसीताजी की खबर बतलाऊँगा। चन्द्रमा मुनि ने यही पहचान कही थी। संपाती को श्रीहनुमान्‌जी उस पर्वत पर से उतारकर लाये थे; यथा—"जयति धर्मांसु-संदग्ध-संपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह-दाता।" (वि० २८)।

अनुज - क्रिया करि सागर-तीरा। कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा॥१॥
हम दोउ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गये रबि निकट उड़ाई॥२॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि-नियरावा॥३॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥४॥

अर्थ—समुद्र के तीर पर भाई की क्रिया करके अपनी कथा कही—हे वीर वानरो! सुनो॥१॥ हम दोनों भाई पहली (एवं चढ़ती) जवानी में उड़कर सूर्य के निकट जाने के लिये गये॥२॥ वह तेज न सह सका, इससे लौट आया, मैं अभिमानी था, इससे सूर्य के समीप गया॥३॥ सूर्य के अत्यन्त अपार तेज से मेरे पंख जल गये, तब मैं घोर चिकार करके पृथिवी पर गिर पड़ा॥४॥

विशेष—(१) 'अनुज क्रिया करि·····'—क्रिया करके पहले शुद्ध होकर तब कथा कही। अपनी वीरता की कथा कही, जिससे इन सब वीरों का भी उत्साह बढ़े और राम-कार्य में तत्पर हों। 'मैं अभिमानी ···'—मुझे बल का बड़ा अभिमान था, भाई से अधिक अपना बल दिखाने को और आगे बढ़ा। अभिमान का फल दुःख है, वही मुझे मिला। 'रबि तेज अपारा'—सूर्य का तेज भूमि पर भी नहीं सहा जाता, तो समीप का क्या कहना? 'करि घोर चिकारा'—पंख जलने का दुःख और फिर पृथिवी की भी ठोकर लगा, इससे चिल्ला उठा।

(२) जटायुजी की कथा अरण्यकांड में दी गई है, यह (संपाती) उसी का बड़ा भाई था। इसने

पहले अभिमान किया, उसका फल दुःख मिला। अब श्रीराम भक्तों के दर्शनों से इसके पाप क्षीण हुए। नवीन पंख हुए और यह सुखी हुआ।

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही ॥५॥
बहु प्रकार तेहिं ज्ञान सुनावा। देह-जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥

अर्थ—वहाँ एक मुनि थे, जिनका चन्द्रमा नाम था, मुझको देखकर उनको दया लगी ॥५॥ उन्होंने बहुत तरह से ज्ञान सुनाया और देह-जनित (देह-विषयक) अभिमान को छुड़ाया ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही। ···'—चन्द्रमा मुनि अत्रिजी के पुत्र थे, ये ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। इनका आत्रेय और निशाकर भी नाम है। 'लागि दया'—क्योंकि संत कोमल चित्त होते हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)।

(२) 'बहु प्रकार तेहिं ज्ञान सुनावा।'—वाल्मी० ४।६२-६३ में कथा है—संपाती जब पंख जलने से गिरा, तब चंद्रमा मुनि के दर्शन होने पर और उनके पूछने पर इसने अपना हाल कहा, तब ऋषि ने ध्यान किया और फिर इससे कहा कि तुम मरन की बुद्धि न करो, तुम्हारे पंख फिर जमेंगे। उन्होंने फिर श्रीरामजी के जन्म से यहाँ तक की कथा कही और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अभी सपक्ष कर सकता हूँ। पर इससे तुम न जाने कहाँ चले जाओ, तो राम-कार्य में हानि होगी। अतः, तुम यहीं पर रहकर समय की प्रतीक्षा करो और यहाँ रहते हुए, लोक का कल्याण करो। उन्होंने और भी अनेक वाक्यों से मुझे समझाया, तब मैंने आत्मघात की इच्छा छोड़ दी। प्राणों की रक्षा के लिये मुनि ने जो बुद्धि दी थी। उसीसे मेरे सब दुःख दूर होते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा से अंधकार दूर होता है।

(३) 'देह-जनित अभिमान छुड़ावा'।—देह जनित अभिमान छूटने का ज्ञान गीता २।११-३० में विस्तार से है, वहीं देखना चाहिये। तात्पर्य यह है कि देह अनित्य है, अतएव नाशवान् है, कितना भी प्रबंध किया जाय, पर कभी नाश होगा ही और जीवात्मा नित्य है, अतएव अविनाशी है, किसी भी बाधा से किसी तरह इसका नाश नहीं हो सकता। जीव और देह भिन्न-भिन्न स्वभाव के पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। विवेकी लोग देह के धर्मों को जीवात्मा में नहीं मानते। आधि-व्याधि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को देह का ही धर्म मानकर स्वयं उससे भिन्न रहते हैं।

त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचरपति हरिही ॥७॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता ॥८॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥९॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु-काजू ॥१०॥

अर्थ—त्रेता युग में ब्रह्म (श्रीरामजी) मनुष्य का शरीर धारण करेंगे, उनकी स्त्री को निशाचर राज हरण करेगा ॥७॥ उसकी खोज में प्रभु दूत भेजेंगे, उनके मिलने पर तू पवित्र हो जायगा ॥८॥ तेरे पंख जमेंगे, चिन्ता मत कर, तू उन्हें श्रीसीताजी को दिखा देना ॥९॥ मुनि की वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुनकर प्रभु का कार्य करो ॥१०॥

विशेष—(१) 'त्रेता ब्रह्म मनुज तनु ··'—त्रेता कहने से यह वृत्तान्त सत्ययुग का सूचित किया। 'त्रेता ब्रह्म मनुज-तनु धरिही।'—बालकांड; 'तासु नारि निसिचर पति हरिही।'—अरण्यकांड ; तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता॥"—किष्किंधाकांड, यहाँ तक की कथा चन्द्रमा मुनि ने कही थी, वही सम्पाती ने यहाँ कही। अयोध्याकांड नहीं कहा गया, क्योंकि वह भरत-चरित है और यहाँ राम-चरित ही के कहने का प्रयोजन था। 'पठइहि प्रभू दूता'—'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, सब जानते हैं, फिर भी राजनीति की मर्यादा से दूत भेजेंगे। उन दूतों के मिलने (दर्शनों) से तू पवित्र होगा। 'करसि जनि चिंता'—पंख न होने की चिंता मत कर, ये जमेंगे। पहले पंख जमना कहकर चिन्ता दूर करके तब श्रीसीताजी का दिखाना कहा है, भाव यह कि पहले पंख जम जायँगे, तब तू श्रीसीताजी को दिखाना। इतना काल कैसे बीतेगा? इस चिन्ता के निवारण के लिये ज्ञान कहा है।

(२) 'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।'—वाणी यों सत्य हुई कि मेरे पंख जम आये, तब शेष वचन भी सत्य ही होंगे। श्रीसीताजी तुम्हें मिलेंगी। अतएव मेरे वचनों पर विश्वास करके प्रभु का काम करो। 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, तुम्हें सामर्थ्य देंगे। पूर्व कहा था—"बचन सहाइ करबि मैं" यहीं कर रहा है—'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू' वाल्मी० ४।६३।१०–१३ में भी ऐसा ही कहा है कि मुनि के प्रसाद से हमारे जले हुए पंख फिर जम आये। अतः, विश्वास के साथ यत्न करो, श्रीसीताजी को पाओगे।

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका॥११॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच-रत अहई॥१२॥

दोहा—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं, गीधहिं दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ, कछुक सहाय तुम्हार॥२८॥

अर्थ—त्रिकूट पहाड़ पर लंका बसी हुई है, वहाँ स्वाभाविक निःशंक रावण रहता है॥११॥ वहाँ अशोक का उपवन है, जहाँ पर श्रीसीताजी शोक में निमग्न बैठी हैं॥१२॥ मैं देख रहा हूँ, पर तुम नहीं देख सकते, क्योंकि गृध्र की अपार दृष्टि होती है। मैं बुड्ढा हो गया, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता॥२८॥

विशेष—(१) 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस···'—जाम्बवान् ने पूछा था—"क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्। तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥" (वाल्मी० ४ ५८।१) ; अर्थात् श्रीसीताजी कहाँ हैं, किसने देखा और किसने उनका हरण किया है। यह सब आप कहें और वानरों के रक्षक हों। इसपर संपाती ने कहा है कि तीन कूटवाले पहाड़ पर लंका बसी है ; अर्थात् वह गिरि-दुर्ग बड़ा दुर्गम है ; यथा—"गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥" (बा० दो० १००), 'रावन सहज असंका'—रावण स्वाभाविक निश्शंक है, कुछ दुर्ग (किले) के भरोसे पर नहीं ; यथा—"सहज असंक लंकपति ··" (सुं० दो० १६) "सुनासीर सत सरिस सो ··परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि सोच न ताहि॥" (लं० दो० १०)।

(२) 'तहँ असोक उपबन···'—श्रीसीताजी को 'असोक उपवन' में कहकर रावण के निवास से पृथक् सूचित किया। 'बैठि' अर्थात् सदा बैठी ही रहती हैं; यथा—"देखि मनहिं महँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा॥" (सुं० दो० ७); यह अशोक उपवन भी उन्हें शोकरहित नहीं कर सकता, प्रत्युत् शोकरूप हो रहा है।

(३) 'मैं देखउँ तुम्ह नाहीं···'—वाल्मी० ४।५८।२९-३० में संपाती ने कहा है कि मैं यहीं से श्रीजानकीजी को देखता हूँ। हमलोगों को गरुड़ के समान शक्तिप्राप्त है। भोजन के बल से तथा स्वभाव से सौ योजन एवं इससे भी आगे तक हमलोग देख सकते हैं।

जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो रामकाज मति-आगर॥१॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम-कृपा कस भयउ सरीरा॥२॥
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥३॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥४॥

अर्थ—जो चार सौ कोस का समुद्र लाँघे और बुद्धिमान् हो, वह श्रीराम-कार्य करे; अर्थात् उसे बल और बुद्धि दोनों की आवश्यकता है॥१॥ मुझे देखकर मन में धैर्य धरो, (यह देखते ही हो कि मैं कैसा था और श्रीराम-कृपा से कैसा हो गया, यह श्रीरामजी का ही प्रभाव है) कि श्रीराम-कृपा से मेरा शरीर कैसा हो गया? ॥२॥ पापी भी जिनका नाम स्मरण करते हैं और अत्यन्त अपार भवसागर को तर जाते हैं॥३॥ तुम उनके दूत हो, कादरपना छोड़कर श्रीरामजी को हृदय में रखकर उपाय करो॥४॥

विशेष—(१) 'जो नाँघइ सत जोजन सागर···'—पहले संपाती ने सभी को श्रीराम-कार्य के लिये उत्साहित किया था; यथा—"सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।" अब वह कहता है कि प्रस्तुत कार्य में एक ही व्यक्ति का काम है, जो ४०० कोस के समुद्र को लाँघ सके और वह बुद्धि का भी तीव्र हो। पहले गिरि त्रिकूट मात्र कहा था, यहाँ यह भी बताया कि वह ४०० कोस के सागर के पार है।

(२) 'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।'—इसने पहले वानरों का अधीर होना जानकर उन्हें धैर्य धरने को कहा। फिर आगे कायरता छोड़ने को भी कहा है।

(३) 'पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं।···'—सम्पाती ने पहले अपना प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। अब वे और पापियों का उदाहरण देते हैं, जो वेद-पुराणों में कहे गये हैं—यह शब्द-प्रमाण है। 'पापिउ'—पापी भवसागर तरने में असमर्थ हैं वे भी, 'अति अपार भव सागर'—भाव यह कि वे अत्यन्त असमर्थ भी अति अपार को पार कर जाते हैं, तुम्हारा तो श्रीरामजी से सम्बन्ध है, अतएव समर्थ हो, फिर इस १०० योजन के परिमित सागर के तरने में क्या है?

(४) 'तासु दूत तुम्ह···'—भाव पापियों से प्रभु का सम्बन्ध नहीं है, तो भी वे नाम-स्मरण मात्र से भवसागर तरते हैं तुम तो उनके दूत हो। 'राम हृदय धरि'—जिनकी कृपा से मेरे पंख जमे, पापी भवसागर तरते हैं, उन्हीं को हृदय में धरकर उपाय करो तो अवश्य सिद्धि होगी।

"सुनि सब कथा समीर कुमारा"—प्रकरण

अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्हके मन अति बिसमय भयऊ॥५॥
निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा॥६॥

जरठ भयउँ अब कहै रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बललेसा ॥७॥
जबहि त्रिविक्रम भयउ खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ॥८॥

दोहा—बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्ही, सात प्रदच्छिन धाइ ॥२९॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसा कहकर जब गृध्र चला गया, तब उन सब वानरों के मन में अत्यन्त विस्मय हुआ, (कि इतना चौड़ा समुद्र कैसे लाँघा जायगा, पुनः गृध्र का पङ्ख जमना आदि का विस्मय तो था ही) ॥५॥ अपना-अपना बल सब किसी ने कहा, पर समुद्र के पार जाने में संदेह ही रक्खा ॥६॥ ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी ने कहा कि अब मैं बूढ़ा हो गया, शरीर में पहलेवाले बल का लेशमात्र भी नहीं रह गया (नहीं तो यह कार्य कुछ न था) ॥७॥ जब खर के शत्रु भगवान् वामन रूप हुए तब हमारी तरुण अवस्था थी और भारी बल था ॥८॥ बलि के बाँधने के समय प्रभु बढ़े, उस शरीर का वर्णन नहीं हो सकता, मैंने दो ही घड़ी में उस शरीर की सात प्रदक्षिणाएँ दौड़कर कीं (ऐसा मेरा बल था) ॥२९॥

विशेष—(१) 'निज निज बल सब···'—पूर्वार्द्ध में संदिग्ध रह गया कि किसने कितना कहा, उसका उत्तरार्द्ध में निर्णय कर दिया कि सौ योजन के भीतर ही में सभी रह गये। पहले वानरों ने कहा, तब जाम्बवान्‌जी ने कहा, फिर अंगदजी ने कहा। इस क्रम से निश्चय हुआ कि जब अंगदजी सौ योजन जा सकते हैं, तब जाम्बवान् नब्बे और शेष वानर अस्सी योजन के भीतर ही रह गये। ऐसा ही वाल्मी० ४।६५ में प्रमाण भी है कि अपना-अपना बल कहते हुए गज ने १०, गवाक्ष ने २०, शरभ ने ३०, ऋषभ ने ४०, गंधमादन ने ५०, मैन्द ने ६०, द्विविद ने ७० और सुषेण ने ८० योजन तक कूदना कहा। तब जाम्बवान्‌जी ने ९० योजन तक जाना कहा और यह भी कहा कि इस वृद्धावस्था में भी मैं इतना जा सकता हूँ।···पीछे अंगदजी ने कहा कि मैं १०० योजन जा सकता हूँ, पर लौटने की शक्ति मुझ में रहेगी कि नहीं इसमें संदेह है। इसपर जाम्बवान्‌जी ने अंगद की बहुत सराहना की और कहा कि आप हजारों योजन जा सकते हैं, पर स्वामी प्रेषक होता है प्रेष्य नहीं। इत्यादि सम्पूर्ण प्रसंग यहाँ मिलता है।

(२) 'खरारी'—अर्थात् खर राक्षस के शत्रु श्रीरामजी। विष्णु-नारायण आदि से श्रीरामजी का तत्त्वतः अभेद है, ये सब श्रीरामजी के अभिन्नांश हैं, इसीसे इनमें प्रत्येक के अवतार और उनसे विस्तार किये हुए गुण प्रत्येक में माने जाते हैं, जैसे कि अजामिल ने नारायण नाम लिया था, पर वह श्रीरामजी के नाम-प्रभाव में कहा गया है; यथा—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव-बूड़त काढ़े।···जोइ प्रभु त्यौं सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े।" (क० उ० ५)। 'अस कहि गरुड़'—गरुड़ सम्बोधन इससे है कि संपाती इनके वंश का सम्बन्धी है, इनके भाई अरुण का पुत्र है।

(३) 'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ'—बढ़ने और बाँधने के सम्बन्ध से 'प्रभु' शब्द दिया गया। प्रभु का अर्थ समर्थ है, यह सामर्थ्य इन्हीं में था, इन्द्रादि देवता हार चुके थे। 'सो तनु बरनि न जाइ'—जिसकी विशालता का वर्णन करना भी अशक्य है उसकी मैंने दो ही घड़ी में सात प्रदक्षिणाएँ कीं, मुझमें ऐसा भारी बल था। 'उभय घड़ी'—का भाव यह कि वह रूप दो ही घड़ी रहा, इसी से दौड़कर प्रदक्षिणा की, नहीं तो दौड़कर प्रदक्षिणा नहीं की जाती।

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा ॥१॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइय किमि सबही कर नायक ॥२॥

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना । का चुप साधि रहेहु बलवाना ।।३।।
पवन-तनय बल पवन-समाना । बुधि बिबेक बिग्यान-निधाना ।।४।।
कवन सो काज कठिन जग माहीं । जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ।।५।।
राम-काज लगि तव अवतारा । सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ।।६।।

अर्थ—अंगदजी ने कहा कि मैं पार तो चला जाऊँगा, पर लौटती बार के लिये जी में कुछ संशय है ।।१।। जाम्बवान्‌जी ने कहा—तुम सब लायक हो, पर तुम सबही के नायक (नेता, प्रेषक, स्वामी) हो, हम तुमको कैसे भेजें ? ।।२।। ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी कहते हैं कि हे बलवान् हनुमान्! सुनो, तुम क्या चुप साधे हुए हो ? ।।३।। तुम पवन के पुत्र हो, (अतः) पवन के समान बली हो और बुद्धि, विवेक और विज्ञान का खजाना हो ।।४।। संसार में कौन-सा काम कठिन है जो हे तात! तुमसे न हो सके ।।५।। श्रीरामजी के कार्य के लिये तुम्हारा अवतार है, यह सुनते ही श्रीहनुमान्‌जी पर्वत के समान विशाल शरीरवाले हो गये ।।६।।

विशेष—(१) 'जिय संसय कछु फिरती बारा ।'—श्रीसुग्रीवजी ने वानरों को चारों दिशाओं में वहाँ तक जाने को कहा है, जहाँ तक सूर्य का प्रकाश है । उसके बीच में ही सातों महासागर आ जाते हैं, वाल्मी० ४ । ४३-४४ में स्पष्ट कहा गया है । इससे निश्चित है कि सामान्य वानर भी सब समुद्र लाँघ सकते थे, और सेतु बाँधने पर भी बहुत आकाश मार्ग ही से गये हैं, पुनः श्रीहनुमान्‌जी ने अपनी अप्राकृत वानरी जाति का स्वभाव कहते हुए कहा भी है—"कामगं कामचारिणम् ।" (वाल्मी० ४।१।२१)। अर्थात् हम इच्छानुसार रूप धर सकते हैं और जहाँ चाहें जा सकते हैं। पुनः वाल्मी० ५ । ३१।३५-३७ में भी कहा है कि हम लोग मन के संकल्प से काम करनेवाले हैं, ऊपर-नीचे और सामने कहीं भी हमलोगों की गति नहीं रुकती, इत्यादि-इत्यादि ।

तब इन बड़े-बड़े सुभटों का इस सौ योजन के समुद्र के विषय में ऐसा कहना कुछ हेतु से है । जाम्बवान् आदि को मालूम है कि श्रीहनुमान्‌जी को अपने बल-विस्मृति का शाप है, उन्हें उत्साहित करके उनका वीर्य जगाना है । लंका जाने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, उनसे बचने की योग्यता श्रीहनुमान्‌जी में ही है, किसी और को उतने वरदान नहीं प्राप्त हैं । उन्हें सहिदानी भी प्राप्त है, अतएव उन्हींका वहाँ जाना योग्य है । इसलिये सबने योग्यतानुसार कुछ-कुछ पराक्रम अधिक कहते हुए, उतना ही कहा कि जितने में कार्य होने में संशय ही रहे, तो सबकी असमर्थता पर श्रीहनुमान्‌जी उत्साहित किये जायँगे । यथा—"जब अंगदादिन की मति गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदिबेको पलुगो ।" (क० कि० १); 'संशय राखा'—'राखा' शब्द में यह अभिप्राय गर्भित है कि इन लोगों ने जान-मानकर संशय रख छोड़ा था कि जिसपर श्रीहनुमान्‌जी प्रेरित किये जायँ । वही आगे कहते हैं—

(२) 'जामवंत कह तुम्ह सब लायक ।... ...'—उपर्युक्त रीति से अंगदजी ने भी संशय रक्खा, उसपर अंगदजी की न्यूनता होती, क्योंकि वे वालि के समान बली हैं, इसलिये जाम्बवान्‌जी सँभालते हैं । वाल्मी० ४।६५।२०-२७ में जाम्बवान्‌जी ने ऐसा ही कहा है कि आपकी शक्ति हम जानते हैं, आप सौ या हजार योजन जा सकते हैं, पर आप स्वामी हैं, प्रेषक हैं, प्रेष्य नहीं । आप इस कार्य के मूलभूत हैं अतएव रक्ष्य हैं । इसपर फिर अंगदजी ने कहा कि फिर कार्य कैसे हो ? तब जाम्बवान्‌जी ने श्रीहनुमान्‌जी को उत्साहित किया ।

(३) 'कहइ रीछ पति सुनु ····'—'रीछपति' कहकर बोलने का कारण जनाया कि ये बड़े और बूढ़े हैं, अतएव ये ही श्रीहनुमान्‌जी को प्रेरित कर सकते हैं। 'हनुमाना' और 'बलवाना' शब्द से बाल्यावस्था के बल का स्मरण कराते हैं कि तुमने इन्द्र के वज्र को भी सह लिया है, इसी से 'हनुमान्' नाम पड़ा है। तुमने वज्र के मद को चूर्ण कर दिया। बाल्यावस्था में ऐसे बलवान् थे और अब तो तरुण-अवस्था है। 'का चुप साधि रहेहु'—सभी ने अपना-अपना बल कहा है, पर तुम बलवान् होते हुए भी चुप क्यों हो?

(४) 'पवन-तनय बल ·····'—यहाँ जाम्बवान्‌जी ने 'पवन तनय' शब्द से इनके जन्म की कथा का स्मरण कराया, जो कि वाल्मी० ७।३५–३६ में कही गई है। 'बल'; यथा—"जयति जय बाल-कपि-केलि-कौतुक-उदित-चंडकर-मंडल-ग्रास-कर्त्ता। राहु-रवि सक्र-पवि-गर्व-खर्वी करन सरन भय-हरन, जय भुवन-भर्त्ता॥" (वि० २५); पवन के पुत्र हो, अतः, समुद्र के लाँघने में उन्हीं के समान बल है। आगे छली और बली राक्षसों से काम पड़ेगा। उसमें बुद्धि, विवेक और विज्ञान से काम लेना होगा वह भी तुममें पूर्ण है। बुद्धि से व्यवहार समझोगे, विवेक से उचित-अनुचित समझोगे और विज्ञान से कार्य का अनुभव करोगे।

(५) 'राम काज लगि तव अवतारा।'—अभी तक अपनी प्रशंसा थी, इससे चुप थे, जब श्रीराम-कार्य के लिये ही इनका अवतार कहा गया, तब बढ़े और गरज उठे। "सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।"—श्रीराम-कार्य के लिये अपना जन्म सुनकर हरषे और शरीर बढ़ाया, तो वे पर्वताकार हो गये; यथा—"राम-काज लगि जन्म सुनि, हिय हरषे हनुमान्।" (रामाज्ञा ५।१।७); पुनः—'का चुप साधि रहेहु' का उत्तर—'सिंह नाद करि बारहिं बारा।' से देंगे। जाम्बवान्‌जी ने पाँच बातें कहीं, उनके उत्तर हनुमान्‌जी ने भी वैसे ही दिये।

जाम्बवान्‌जी	हनुमान्‌जी
(१) का चुप साधि रहेहु बलवाना।	सिंहनाद करि बारहिं बारा।
(२) पवन तनय बल पवन समाना।	लीलहिं नाँघउँ जलनिधि खारा।
(३) बुधि बिवेक बिग्यान निधाना।	सहित सहाइ रावन ही मारी।
(४) कवन सो काज कठिन जगमाहीं।···	आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।
(५) राम काज लगि तव अवतारा।	सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।

कनक-बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥७॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा॥८॥
सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥९॥
जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावन दीजहु मोही॥१०॥

के साथ रावण को मारकर, त्रिकूट गिरि को उखाड़ कर यहाँ ले आऊँगा ? ॥९॥ हे जाम्बवान्‌जी ! मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिये उचित (कर्त्तव्य की) शिक्षा दीजिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'कनक बरन तन···'—सुमेरु गिरि सोने का है, भारी है और सब पर्वतों का राजा है। वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी स्वर्ण-वर्ण, शरीर से भारी और वानरों के राजा हैं, यथा—"वानराणाम-धीशम्।" (सुं० मं०); "कबीश्वरकपीश्वरौ" (बा० मं०); इत्यादि।

(२) 'उचित सिखावन दीजहु मोही।'—भाव यह कि आपकी प्रेरणा से मैंने अपना बल कहा। जैसा कि पूर्व औरों ने कहा है, पर मेरे लिये उचित कर्त्तव्य क्या है ? यह आप कहें। क्योंकि जो मैंने रावण वध आदि कहा था, उसमें श्रीरामजी का अपमान है ; यथा—"जौं न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥ तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाँउ। तव जुबतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लेइ जाउँ॥" (लं० दो० ३०); भाव यह कि श्रीरामजी अपनी मर्यादा को अपने ही बाहुबल से सुरक्षित रखना चाहते हैं। यही आगे जाम्बवान्‌जी कहेंगे—'तब निज भुज बल राजिव नयना।······' इत्यादि। उनकी स्त्री को रावण हर ले गया, उन्हें दूसरा कोई लौटा लावे यह उनके योग्य नहीं।

यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें कहा ही है—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।' तथापि ये वीर-रस के आवेश में भूल गये और अधिक कह गये, जो कि सम्भवतः इनसे न हो सकता ; यथा—"रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा॥" (बा० दो ४८)।

यहाँ जाम्बवान्‌जी के वचन उद्दीपन विभाव, प्रसन्नता एवं बल कथन आदि अनुभाव, चपलता आदि संचारी और श्रीराम-कार्य का उत्साह स्थायी भाव है। अतः, वीर-रस है।

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥११॥
तब निज भुज-बल राजिव-नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥१२॥

छंद—कपि-सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजस सुर - मुनि - नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर - पद - पाथोज - मधुकर दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे तात ! तुम जाकर इतना ही करो (अभी अधिक पराक्रम का काम नहीं है) कि श्रीसीताजी को देख-आकर खबर कहो ॥११॥ राजीवलोचन श्रीरामजी अपने बाहु-बल से, कौतुक (लीला) के लिये वानरी सेना साथ लेंगे ॥१२॥ वानरी सेना साथ लिये हुए, निशाचरों का नाश करके श्रीरामजी श्रीसीताजी को लावेंगे। तीनों लोकों के पवित्र करनेवाले इस सुन्दर यश को सुर, मुनि और श्रीनारदजी आदि बखान करेंगे॥ (और) जिसे सुनते, गाते, कहते और समझते हुए मनुष्य परम पद पाते हैं— जिसे रघुबीर-पद-कमल का मधुकर श्रीतुलसीदासजी गाते हैं॥

विशेष—(१) 'राजिव-नैना'— यह दीपदेहली है। प्रायः कृपा के प्रसंग में ही 'राजीव-नयन' विशेषण दिया जाता है; यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ३१)। भाव यह है कि भुजबल से राक्षसों को मारेंगे और मुक्त करेंगे, यह उनपर कृपा है और साथ में वानरों को सेना लेंगे, यह वानरों पर कृपा है; यथा—"उमा राम मृदु चित करुना कर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥ (लं० दो० ४३)। "दीन आनि कपि किये सनाथा, तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥" (लं० दो० ११६)।

संपाती ने चन्द्रमा मुनि की कही हुई किष्किंधा कांड तक की कथा कही थी। चन्द्रमा मुनि ब्रह्माजी के अवतार हैं। ब्रह्माजी के ही अवतार जाम्बवान्‌जी भी हैं। वे आगे की कथा (सुंदरकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक की) सुनाते हैं; यथा—"तुम्ह जाई। सीतहिं देखि कहहु सुधि आई॥"—यह सुंदरकांड है। "तब निज भुज बल••" से "राम सीतहिं आनि हैं।" तक—लंकाकांड और—"त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥" यह उत्तरकांड है; यथा—"बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (उ० दो० ५१); "राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥" (बा० दो० २४)।

(२) 'जो सुनत गावत कहत समुझत•••'—यहाँ सुयश का माहात्म्य कहते हैं। 'सुनत'=श्रोता, 'गावत'=राग से गानेवाले, 'कहत'=वक्ता, व्यास रूप से कहनेवाले और 'समुझत'=अर्थ एवं भाव को समझनेवाले। ये चारों क्रमशः सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति पाते हैं। श्रोता कुछ दूर से सुनते हैं, इससे सालोक्य पाते हैं। गायक के समीप भगवान् रहते हैं; यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" इससे सामीप्य पाते हैं। वक्ता (व्यास) भगवान् का रूप है अतएव वह सारूप्य पाता है और समझनेवाले सायुज्य के अधिकारी हैं; यथा—"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।" (अ० दो० ११६)।

इन चारों में से अपनेको श्रीगोस्वामीजी गानेवाला कहते हैं; यथा—'दास तुलसी गावई' और लोग परम पद पाते हैं, श्रीतुलसीदासजी 'रघुबीर-पद-पाथोज-मधुकर' हैं; अर्थात् श्रीराम-पद-प्रीति चाहते हैं। इससे सूचित किया कि इस चरित से परम पद और श्रीराम-पद-प्रीति, दोनों ही मिलते हैं; यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ० दो० १२८); 'पद पाथोज मधुकर'; यथा—"पद कमल परागा रस अनुरागा। मम मन मधुप करइ पाना॥" (बा० दो० २१०); भ्रमर मकरंद-पान करता है और फिर गुंजार करता है। वैसे ही मैं (तुलसीदास) राम-पद-कमल में अनुराग करता हूँ और चरित गाता हूँ। जाम्बवान्‌जी के मुख से अपना सम्बन्ध कहलाना—'भाविक अलंकार' है।

श्रीरामजी की शरण हुए, तब उन्हें वानर-रूप करके जितावेंगे और अपने भक्ष्य-रूप वानरों के द्वारा पराजित होने से राक्षसगण अभिमान रहित होकर मुक्त होंगे ; यथा—"सतरंज को-सो साज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ बहु बेष बहु मुख सारदा कहति॥" (वि० २४१)। आप वानरों और निशाचरों के संग्राम का कौतुक करेंगे।

दोहा—भव-भेषज रघुनाथ-जस, सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का यश भव-रोग की दवा है, इसे जो स्त्री-पुरुष सुनते हैं, उनके सब मनोरथ त्रिशिरा के शत्रु श्रीरामजी सिद्ध करते हैं॥

विशेष—(१) 'सकल मनोरथ सिद्धि' में इह लोक सुख और 'भव-भेषज' से परलोक-सुख की प्राप्ति सूचित की ; यथा—"जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना विधि पावहिं॥ सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्त काल रघुपति पुर जाहीं॥" (उ० दो० १४); 'सिद्धि करहिं त्रिसिरारि'—शारदादि की वाणी में स्वतः प्रभाव है और हमारी वाणी त्रिशिरारि श्रीरामजी के द्वारा सिद्धि देगी।

(२) 'त्रिसिरारि'—पाठ की जगह 'त्रिपुरारि' पाठान्तर भी है। त्रिपुरारि पाठ माननेवालों का कहना है कि कांड के आदि में काशी-पुरी और शिवजी की वंदना की गई थी, तदनुसार यहाँ उपसंहार में भी शिवजी का ही फल-दातृत्व संगत है, क्योंकि यह चौथा कांड चौथी पुरी (काशी) के समान है। शिवजी का फल-दातृत्व भी युक्त है ; यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥" (बा० दो० १५)।

पर, और कांडों की फल श्रुति देखने से त्रिसिरारि पाठ के अनुसार श्रीरामजी का ही फल-दातृत्व ठीक है; यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं॥"—बालकांड ; "समर-विजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान॥"—लंकाकांड; "सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुवर हरे॥"—उत्तरकांड ; वैसे ही यहाँ भी—"तिन्ह कर सकल मनोरथ, सिद्धि करहिं त्रिसिरारि।" कहा जाना ठीक है।

सो०—नीलोत्पल तनु श्याम, काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिय तासु गुन-ग्राम, जासु नाम अघ-खग-बधिक॥३०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल-कलिकलुष-विध्वंसने विशुद्ध-संतोष-संपादनो नाम
❀ चतुर्थ सोपान समाप्त ❀

अर्थ—नील-कमल के समान श्याम शरीर है, जिसमें करोड़ों कामों से भी अधिक शोभा है। जिनका नाम पाप रूपी पक्षियों के लिये बहेलिया-रूप है, उनके गुण- (चरित) समूह सुनिये॥३०॥

कलि के समस्त पापों का नाशक, विशुद्ध-संतोष प्राप्त करनेवाला श्रीरामचरित-मानस का यह चौथा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) यहाँ 'तनु श्याम' से रूप, 'गुन-ग्राम' से कथा और 'जासु नाम' से नाम कहा गया। इनके सेवन की विधि—"श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थल है।" (क० उ० ३७); अर्थात् कानों से गुण-ग्राम सुनना, मुख से नाम-कीर्तन एवं जप करना और हृदय में रूप का ध्यान करना चाहिये।

(२) 'नीलोत्पल तनु श्याम, काम कोटि सोभा अधिक।' से रूप का नियम किया कि जिस रूप से मनु-महाराज के सामने प्रकट हुए, उसी का ध्यान करो; यथा—"नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम। लाजहिं तनु-सोभा निरखि, कोटि-कोटि सतकाम॥" (बा० दो० १४६)। यह मनु के सामने प्रकट होने पर कहा गया है। 'सुनिय तासु गुन ग्राम' से लीला का नियम किया कि उसी (मनु-प्रार्थित मूर्त्ति) का चरित्र मानसरामायण सुनो; यथा—"लीला कीन्ह जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा॥" (बा० दो० १४०); और 'जासु नाम अघ खग बधिक' से नाम का नियम किया कि रामनाम ही जपो; यथा—"राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।" (आ० दो० ४१)।

इस कांड के उपक्रम में नाम, रूप और लीला तीनों कहे गये थे, वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी तीनों का माहात्म्य कहा गया।

फलश्रुति के अनुसार ही सोपान का नाम होता है, जैसे कि बालकांड में 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल' का वर्णन है, वे सब कर्म हैं, कर्म का फल सुख है, इसीसे प्रथम सोपान सुखसंपादन कहा गया है। अयोध्याकांड की फलश्रुति में 'प्रेम' और 'वैराग्य' की प्राप्ति कही गई है, इसी से द्वितीय सोपान का नाम 'प्रेम-वैराग्य-सम्पादन' है, अरण्यकांड की फलश्रुति में 'शुद्ध वैराग्य, कहा गया है, इसी से उसे 'विमल-वैराग्य-संपादन' कहा है। इस कांड में मनोरथ-सिद्धि कही गई है, मनोरथ-सिद्धि से संतोष होता है, इसलिये इसे 'विशुद्ध-संतोष सम्पादन' कहा है। सुंदरकांड में भव-सिंधु तरना कहा है, यह ज्ञान का कार्य है, इसीसे उसे ज्ञान सम्पादन कहा है। लंकाकांड में 'कामादि-हर विज्ञान-कर' कहा है; इसी से 'विज्ञान-सम्पादन' और उत्तरकांड की फलश्रुति में 'अविरल हरि-भक्ति' कही गई है; यथा—"तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।" इसी से उस सातवें सोपान का नाम 'अविरल-हरि-भक्ति-सम्पादन' है।

कर्म प्रेम-वैराग्य, विमल-वैराग्य, संतोष, ज्ञान, विज्ञान और अविरल हरि-भक्ति की प्राप्ति भी इसी क्रम से होती है, कहा भी है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।" (उ० दो० १२८); अर्थात् साधक को पहले निष्काम कर्म से प्रेम वैराग्य, फिर विमल वैराग्य, तब संतोष, फिर ज्ञान, तब विज्ञान और पीछे अविरल हरि-भक्ति मिलती है।

प्रश्न—यह कांड ३० ही दोहों का छोटा क्यों बनाया गया?

उत्तर—यह कांड श्रीरामजी का हृदय है; यथा—"बालकांड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किधा सोहै॥ सुंदर ग्रीव मुखारविंद लंका कहि गायो। जेहि महँ रावन आदि निसाचर सर्व समायो॥ मस्तक उत्तर-कांड गनु, यहि बिधि तुलसीदास भनु। आदि अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस राम-तनु॥" यह छंद प्रसिद्ध है। शरीर के मध्य में हृदय-स्थल छोटा होता है, वैसे ही यह कांड भी छोटा है। हृदय में बहुत कुछ अभिप्राय रहते हैं, वैसे ही इस कांड में बहुत आशय भरे हुए हैं।